संख्या २५-३० ["फलाग्लिक" से "रक्तरसा" तक] शब्द १२८११

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

[पाँचवाँ खंड]

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल
जगन्मोहन वर्म्मा
रामचंद्र वर्म्मा
भगवानदीन

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९३०

मूल्य ६)
डाकव्यय अतिरिक्त

संकेताक्षरों का विवरण

अं०=अँगरेज़ी भाषा
अ०=अरबी भाषा
अनु० अनुकरण शब्द
अने०=अनेकार्थनाममाला
अप०=अपभ्रंश
अयोध्या०=अयोध्यासिंह उपाध्याय
अर्द्धमा०=अर्द्ध मागध
अल्पा० अल्पार्थक प्रयोग
अव्य०=अव्यय
आनंदघन=कवि आनंदघन
इब०=इबरानी भाषा
उ०=उदाहरण
उत्तरचरित=उत्तररामचरित
उप०=उपसर्ग
उभ०=उभयलिंग
कठ० उप०=कठवल्ली उपनिषद्
कबीर=कबीरदास
केशव=केशवदास
कोंक०=कोंकण देश की भाषा
क्रि०=क्रिया
क्रि० अ०=क्रिया अकर्मक
क्रि० प्र०=क्रिया प्रयोग
क्रि० वि०=क्रिया विशेषण
क्रि० स०=क्रिया सकर्मक
क्व०=क्वचित् अर्थात् इसका प्रयोग बहुत कम देखने में आया है।
खानखाना=अब्दुर्रहीम खानखाना
गि० दा० वा गि० दास=गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
गिरिधर=गिरिधरराय (कुंडलियावाले)
गुज०=गुजराती भाषा
गुमान=गुमान मिश्र
गोपाल=गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
चरण=चरणचंद्रिका
चिंतामणि=कवि चिंतामणि त्रिपाठी
छीत=छीतस्वामी
जायसी=मलिक मुहम्मद जायसी
जावा०=जावा द्वीप की भाषा
ज्यो०=ज्योतिष
डिं०=डिंगल भाषा
तु० तुरकी भाषा
तुलसी=तुलसीदास
तोष=कवि तोष
दादू=दादूदयाल
दीनदयालु=कवि दीनदयालु गिरि
दूलह=कवि दूलह
दे०=देखो
देव=देव कवि (मैनपुरीवाले)
देश०=देशज
द्विवेदी=महावीरप्रसाद द्विवेदी
नागरी=नागरीदास
नाभा=नाभादास
निश्चल=निश्चलदास
पं०=पंजाबी भाषा
पद्माकर=पद्माकर भट्ट
पर्या०=पर्य्याय
पा०=पाली भाषा
पु०=पुंल्लिंग
पु० हिं०=पुरानी हिंदी
पुर्त्त०=पुर्त्तगाली भाषा
पू० हिं०=पूर्वी हिंदी
प्रताप=प्रतापनारायण मिश्र
प्रत्य०=प्रत्यय
प्रा०=प्राकृत भाषा
प्रिया=प्रियादास
प्रे०=प्रेरणार्थक
प्रे० सा०=प्रेमसागर
फ़०=फ़रासीसी भाषा
फ़ा०=फ़ारसी भाषा
बंग०=बँगला भाषा
बरमी०=बरमी भाषा
बहु०=बहुवचन
बिहारी=कवि बिहारीलाल
बुं० खं०=बुंदेलखंड की बोली
बेनी=कवि बेनी प्रवीन
भाव=भाववाचक
भूषण=कवि भूषण त्रिपाठी
मतिराम=कवि मतिराम त्रिपाठी
मला०=मलायम भाषा
मलूक०=मलूकदास
मि०=मिलाओ
मुहा०=मुहाविरा
यू०=यूनानी भाषा
यौ०=यौगिक तथा दो वा अधिक शब्दों के पद
रघु० दा०=रघुनाथदास
रघुनाथ=रघुनाथ बंदीजन
रघुराज=महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश
रसखान=सैयद इब्राहीम
रसनिधि=राजा पृथ्वीसिंह
रहीम=अब्दुर्रहीम खानखाना
लक्ष्मणसिंह=राजा लक्ष्मणसिंह
लल्लू०=लल्लूलाल
लश०=लशकरी भाषा; अर्थात् हिन्दुस्तानी जहाजियों की बोली
लाल=लाल कवि (छत्र-प्रकाशवाले)
लै०=लैटिन भाषा
वि०=विशेषण
विश्राम=विश्रामसागर
व्यंग्यार्थ=व्यंग्यार्थकौमुदी
व्या०=व्याकरण
व्यास=अंबिकादत्त व्यास
शं० दि०=शंकर दिग्विजय
शृं० सत०=शृंगार सतसई
सं०=संस्कृत
संयो०=संयोजक अव्यय
संयो० क्रि०=संयोज्य क्रिया
स०=सकर्मक
सबल=सबलसिंह चौहान
सभा० वि०=सभाविलास
सर्व०=सर्वनाम
सुधाकर=सुधाकर द्विवेदी
सूदन=सूदन कवि (भरतपुरवाले)
सूर=सूरदास
स्त्रि०=स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त
स्त्री०=स्त्रीलिंग
स्पे०=स्पेनी भाषा
हिं०=हिंदी भाषा
हनुमान=हनुमन्नाटक
हरिदास=स्वामी हरिदास
हरिश्चंद्र=भारतेंदु हरिश्चंद्र

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है।
† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है।
‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप ग्राम्य है।

हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

[पाँचवाँ खंड]

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल | जगन्मोहन वर्म्मा

रामचंद्र वर्म्मा | भगवानदीन

प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९३०

मूल्य ६) डाकव्यय अतिरिक्त

के० पी० दर द्वारा इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद में मुद्रित
काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस द्वारा प्रकाशित

संकेताक्षरों का विवरण

अं०=अँगरेज़ी भाषा
अ०=अरबी भाषा
अनु० अनुकरण शब्द
अने०=अनेकार्थनाममाला
अप०=अपभ्रंश
अयोध्या०=अयोध्यासिंह उपाध्याय
अर्द्धमा० अर्द्ध मागध
अल्पा०=अल्पार्थक प्रयोग
अव्य०=अव्यय
आनंदघन=कवि आनंदघन
इब०=इबरानी भाषा
उ० उदाहरण
उत्तरचरित=उत्तररामचरित
उप०=उपसर्ग
उभ०=उभयलिंग
कठ० उप० कठवल्ली उपनिषद्
कबीर=कबीरदास
केशव=केशवदास
कोंक०=कोंकण देश की भाषा
क्रि०=क्रिया
क्रि० अ०=क्रिया अकर्मक
क्रि० प्र०=क्रिया प्रयोग
क्रि० वि०=क्रिया विशेषण
क्रि० स०=क्रिया सकर्मक
क्व०=क्वचित् अर्थात् इसका प्रयोग बहुत कम देखने में आया है।
खानखाना=अब्दुर्रहीम खानखाना
गि० दा० वा गि० दास=गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
गिरिधर=गिरिधरराय (कुंडलियावाले)

गुज०=गुजराती भाषा
गुमान=गुमान मिश्र
गोपाल=गिरिधरदास (बा० गोपालचंद्र)
चरण=चरणचंद्रिका
चिंतामणि=कवि चिंतामणि त्रिपाठी
छीत=छीतस्वामी
जायसी=मलिक मुहम्मद जायसी
जावा० जावा द्वीप की भाषा
ज्यो०=ज्योतिष
डिं०=डिंगल भाषा
तु० तुर्की भाषा
तुलसी=तुलसीदास
तोष=कवि तोष
दादू=दादूदयाल
दीनदयालु=कवि दीनदयालु गिरि
दूलह=कवि दूलह
दे०=देखो
देव=देव कवि (मैनपुरीवाले)
देश०=देशज
द्विवेदी=महावीरप्रसाद द्विवेदी
नागरी=नागरीदास
नाभा=नाभादास
निश्चल=निश्चलदास
पं०=पंजाबी भाषा
पद्माकर=पद्माकर भट्ट
पर्या०=पर्याय
पा०=पाली भाषा
पु०=पुल्लिंग
पु० हिं०=पुरानी हिंदी

पुर्त्त०=पुर्त्तगाली भाषा
पू० हिं०=पूर्वी हिंदी
प्रताप=प्रतापनारायण मिश्र
प्रत्य०=प्रत्यय
प्रा०=प्राकृत भाषा
प्रिया=प्रियादास
प्रे०=प्रेरणार्थक
प्रे० सा० प्रेमसागर
फ़०=फ़रासीसी भाषा
फ़ा०=फ़ारसी भाषा
बंग० बँगला भाषा
बरमी० बरमी भाषा
बहु०=बहुवचन
बिहारी=कवि बिहारीलाल
बुं० खं० बुंदेलखंड की बोली
बेनी=कवि बेनी प्रवीन
भाव=भाववाचक
भूषण=कवि भूषण त्रिपाठी
मतिराम=कवि मतिराम त्रिपाठी
मला० मलायम भाषा
मलूक०=मलूकदास
मि०=मिलाओ
मुहा०=मुहाविरा
यू०=यूनानी भाषा
यौ०=यौगिक तथा दो वा अधिक शब्दों के पद
रघु० दा०=रघुनाथदास
रघुनाथ=रघुनाथ बंदीजन
रघुराज=महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश
रसखान=सैयद इब्राहीम
रसनिधि=राजा पृथ्वीसिंह
रहीम=अब्दुर्रहीम खानखाना

लक्ष्मणसिंह=राजा लक्ष्मणसिंह
लल्लू०=लल्लूलाल
लश०=लशकरी भाषा; अर्थात् हिन्दुस्तानी जहाजियों की बोली
लाल=लाल कवि (छत्रप्रकाशवाले)
लै०=लैटिन भाषा
वि०=विशेषण
विश्राम=विश्रामसागर
व्यंग्यार्थ=व्यंग्यार्थकौमुदी
व्या०=व्याकरण
व्यास=अंबिकादत्त व्यास
शं० दि० शंकर दिग्विजय
शृं० सत० शृंगार सतसई
सं० संस्कृत
संयो०=संयोजक अव्यय
संयो० क्रि०=संयोज्य क्रिया
स०=सकर्मक
सबल=सबलसिंह चौहान
सभा० वि०=सभाविलास
सर्व० सर्वनाम
सुधाकर=सुधाकर द्विवेदी
सूदन=सूदन कवि (भरतपुरवाले)
सूर=सूरदास
स्त्रि० स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त
स्त्री०=स्त्रीलिंग
स्पे०=स्पेनी भाषा
हिं०=हिंदी भाषा
हनुमान=हनुमन्नाटक
हरिदास=स्वामी हरिदास
हरिश्चंद्र=भारतेंदु हरिश्चंद्र

---

* यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि यह शब्द केवल पद्य में प्रयुक्त होता है।
† यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि इस शब्द का प्रयोग प्रांतिक है।
‡ यह चिह्न इस बात को सूचित करता है कि शब्द का यह रूप ग्राम्य है।

फलालीन, फलालेन, फलालैन–संज्ञा पुं० [अं० फ्लानेल] एक प्रकार का ऊनी वस्त्र जो बहुत कोमल और ढीली ढाली बुनावट का होता है।

फलाम्लिक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की इमली की चटनी।

फलार†–संज्ञा पुं० दे० "फलाहार"।

फलारिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार एक प्रकार का अरिष्ट जो बवासीर के रोगी को दिया जाता है।

फलार्थी–संज्ञा पुं० [सं० फलार्थिन्] वह जो फल की कामना करे। फलकामी।

फलाशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो फल खाता हो। फल खानेवाला। (२) तोता।

फलाशी–संज्ञा पुं० [सं० फलाशिन्] वह जो फल खाता हो। फल खानेवाला।

फलासंग–संज्ञा पुं० [सं०] वह आसक्ति जो किसी कार्य के फल पर हो।

फलासव–संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार दाख, खजूर आदि फलों के आसव जो २६ प्रकार के होते हैं।

फलास्थि–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल का पेड़।

फलाहार–संज्ञा पुं० [सं०] फलों का आहार। केवल फल खाना। फल-भोजन।

फलाहारी–संज्ञा पुं० [सं० फलाहारिन्][स्त्री० फलाहारिणी] फल-खानेवाला। जो फल खाकर निर्वाह करता हो।

वि० [हिं० फलाहार+ई (प्रत्य०)] फलाहार संबंधी। जिसमें अन्न न पड़ा हो। जो केवल फलों से बना हो।

फलि–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसका मांस भारी, चिकना, बलकारक और स्वादिष्ट होता है।

फलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की निष्पावी जो हरे रंग की होती है। (२) सरपत आदि के आगे का नुकीला भाग।

फलित–वि० [सं०] (१) फला हुआ। (२) संपन्न। पूर्ण।

यौ०—फलित ज्योतिष=ज्योतिष का वह अंग जिसमें ग्रहों के योग से शुभाशुभ फल का निरूपण किया जाता है। **विशेष**–दे० "ज्योतिष"।

संज्ञा पुं० (१) वृक्ष। पेड़। (२) पत्थर फूल। छरीला।

फलितव्य–वि० [सं०] जो फलने के योग्य हो। फलने लायक।

फलिन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह वृक्ष जिसमें फल लगते हों। (२) कटहल। (३) श्योनाक वृक्ष। (४) रीठा।

फलिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रियंगु। (२) अग्निशिखा वृक्ष। (३) मूसली। (४) इलायची। (५) मेंहदी। नखकरंज। (६) श्योनाक। (७) भायमाणा लता। (८) जल-पीपल। (९) दुधिया। दूधी। (१०) दाख का बना हुआ आसव।

फली–संज्ञा पुं० [सं० फालिन्] (१) श्योनाक। (२) कटहल। (३) वह वृक्ष जिसमें फल लगते हों।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रियंगु। (२) मूसली। (३) अमड़ा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० फल+ई (प्रत्य०)] छोटे छोटे पौधों में लगनेवाले वे लंबे और चिपटे फल जिनमें गूदा नहीं होता बल्कि उसके स्थान पर एक पंक्ति में कई छोटे छोटे बीज होते हैं। ये फल खाए नहीं जाते बल्कि कच्चे ही तरकारी आदि के काम में आते हैं। प्रायः सभी फलियाँ खाने में बहुत पौष्टिक होती हैं और सूख जाने पर पशुओं के भी खाने के काम में आती हैं। जैसे, मटर की फली, सेम की फली।

फलीता–संज्ञा पुं० [अ० फतीला] (१) बड़ आदि के बररोह या छाल आदि के रेशों से बटी हुई रस्सी का टुकड़ा जिससे तोड़ेदार बंदूक दागने के लिए आग लगाकर रखी जाती है। पलीता। (२) बत्ती। (३) पत्ती डोर जो गोट लगाते समय सुंदरता के लिए कपड़े के भीतर किनारा छोड़ कर ऊपर से बखिया की जाती है।

फलीभूत–वि० [सं०] लाभदायक। फलदायक। जिसका फल या परिणाम निकले। जैसे, परिश्रम फलीभूत होना।

फलेंदा–संज्ञा पुं० [सं० फलेंद्र] एक प्रकार का जामुन जिसका फल बड़ा, गूदेदार और मीठा होता है। इसके पेड़ और पत्ते भी जामुन से बड़े होते हैं। फरेंद।

पर्य्या०—नंद। राजजंबु। महाफला। सुरभिपत्रा। महाजंबु।

फलेंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] फलेंदा। बड़ा जामुन।

फलेपाकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंधमुस्ता।

फलेपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गूमा।

फलेरुहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटलि या पाडर का वृक्ष।

फलोत्तमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काकली दाख। (२) दुग्धिका। दुधिया। (३) त्रिफला।

फलोत्पत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] आम का पेड़।

फलोदक–संज्ञा पुं० [सं०] एक यक्ष का नाम।

फलोदय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाभ। (२) हर्ष। (३) देवलोक।

फलोद्भव–वि० [सं०] जो फल से उत्पन्न हुआ हो।

फल्क–संज्ञा पुं० [सं०] विसारितांग।

फल्गु–वि० [सं०] (१) असार। जिसमें कुछ तत्व न हो। (२) निरर्थक। व्यर्थ। (३) क्षुद्र। छोटा। (४) सामान्य। साधारण।

संज्ञा स्त्री० [सं०] बिहार की एक नदी का नाम। गया तीर्थ इसी नदी के किनारे है।

फल्गुन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन। (२) फाल्गुन मास।

वि० फाल्गुनी नक्षत्र संबंधी।

फल्गुनक–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक जाति का नाम।

फल्गुनाल–संज्ञा पु० [सं०] फाल्गुन मास ।

फल्गुनी–संज्ञा स्त्री० दे० "फाल्गुनी" ।

फल्गुनीभव–संज्ञा पु० [सं०] बृहस्पति का एक नाम ।

फल्गुलुका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार वायु कोण की एक नदी का नाम ।

फल्गुवाटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कठूमर ।

फल्गुवृत, फल्गुवृंताक–संज्ञा पु० [सं०] एक प्रकार का श्योनाक ।

फल्य–संज्ञा पु० [सं०] फूल ।

फल्की–संज्ञा पु० [सं० फल्किन्] एक प्रकार की मछली जिसे फलुई कहते हैं ।

फल्ला–संज्ञा पु० [देश०] एक प्रकार का रेशम जो बंगाल के रामपुर हाट नामक स्थान से आता है । इसका रंग पीलापन लिए सफेद होता है और यह तँबूरी से कुछ घटिया होता है ।

फसकड़ा†–संज्ञा पु० [अनु०] पालथी । पलथी । जैसे, जहाँ देखो वहीं फसकड़ा मारकर बैठ जाते हैं ।

क्रि० प्र०—मारना ।

फसकना†–क्रि० अ० [अनु०] (१) कपड़े का मसकना या दबने आदि के कारण कुछ फट जाना । मसकना । (२) बैठना । धँसना ।

वि० (१) जो जल्दी मसक या फट जाय । (२) जो जल्दी धँसे या बैठ जाय ।

फसकाना†–क्रि० अ० [अनु०] (१) कपड़े को मसकाना या दबाकर कुछ फाड़ना । (२) धँसाना । बैठाना ।

फसल–संज्ञा स्त्री० [अ० फस्ल] (१) ऋतु । मौसम । (२) समय । काल । जैसे, बोने की फसल, काटने की फसल । (३) शस्य । खेत की उपज । अन्न । जैसे, खेत की फसल । (४) वह अन्न की उपज जो वर्ष के प्रत्येक अयन में होती है । अन्न के लिए वर्ष के दो अयन माने गये हैं, खरीफ़ और रबी । सावन से पूस तक में उत्पन्न होनेवाले अन्नों को खरीफ़ की फसल कहते हैं और माघ से आषाढ़ तक में उपजनेवाले को रबी की फसल ।

फसली–वि० [सं०] ऋतु संबंधी । ऋतु का । जैसे, फसली बुखार ।

संज्ञा पु० (१) एक प्रकार का संवत् । इसे दिल्ली के सम्राट् अकबर ने हिजरी संवत् को जिसका प्रचार मुसलमानों में था और जिसमें चंद्रमास की रीति से वर्ष की गणना थी, बदल कर सौर मास में परिवर्त्तन करके चलाया था । अब ईस्वी संवत् से यह ५८३ वर्ष कम होता है । इसका प्रचार उत्तरीय भारत में फसल या खेती बारी आदि के कामों में होता है । (२) हैजा ।

फसाद–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० फसादी] (१) बिगाड़ । विकार । (२) बलवा । विद्रोह (३) ऊधम । उपद्रव । (४) झगड़ा लड़ाई । (५) विवाद ।

क्रि० प्र०—करना ।—उठाना ।—खड़ा करना ।—दबना ।—दबाना ।—मचना ।—मचाना ।

फसादी–वि० [फा०] (१) फसाद खड़ा करनेवाला । उपद्रवी । (२) झगड़ालू । लड़ाका । (३) नटखट । पाजी ।

फसिल–संज्ञा स्त्री० दे० "फसल" ।

फस्त–संज्ञा स्त्री० दे० "फस्द" ।

फस्द–संज्ञा स्त्री० [[अ० फस्द] नस को छेदकर शरीर का दूषित रक्त निकालने की क्रिया ।

मुहा०—फस्द खोलना=नस वा धमनी को छेद कर रक्त निकालना । फस्द खुलवाना=(१) शरीर का दूषित रक्त निकलवाना । (२) पागलपन की चिकित्सा कराना । होश की दवा कराना । फस्द लेना=(१) शरीर का दूषित रक्त निकलवाना । (२) पागलपन की चिकित्सा कराना ।

फहम–संज्ञा स्त्री० [अ०] ज्ञान । समझ । विवेक । उ०—(क) फहमै आगे फहमै पाछे फहमै दहिने डेरी । फहमै पर जो फहम करत है सोई फहम है मेरी ।—कबीर । (ख) जल चाहत पावक लहौं विष होत अमी को । कलिकुचालि संतन कही सोइ सही, मोहिं कछु फहम न तरनि तमी को ।—तुलसी । (ग) आये सुक सारन बोलाए ते कहन लागे, पुलके सरीर सेना करत फहम ही ।—तुलसी ।

फहमाइस–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) शिक्षा । सीख । (२) आज्ञा । हुकुम ।

क्रि० प्र०—करना ।—देना ।—होना ।

फहरना–क्रि० अ० [सं० प्रसरण] फहराना का अकर्मक रूप । वायु में उड़ाना । फड़फड़ाना । उ०—(क) घरहि चली यमुना जल भरि के । सखिन बीच नागरी बिराजति भई प्रीति उर हरि के । मंद मंद गति चलत अधिक छबि अंचल रहेउ फहरि के । मोहन मोको मोहनी लगाई संगहि चले डगरिके ।—सूर । (ख) फहरैं फुहारे नीर नहरैं नदी सी बहैं, छहरैं छबीन छाम छीटन की छाटी है ।—पद्माकर ।

फहरान–संज्ञा स्त्री० [हिं० फहराना] फहराने का भाव या क्रिया । उ०—(क) वा पट की फहरानि । कर धरि चक्र चरण की धावनि नहिं बिसरति वह बानि ।—सूर । (ख) अंचर की फहरानि हिये थहरानि उरोजन पीन तटी की ।—देव ।

फहराना–क्रि० स० [सं० प्रसारण] उड़ाना । कोई चीज़ इस प्रकार खुली छोड़ देना जिसमें वह हवा में हिलने और उड़ने लगे । जैसे, हवा में दुपट्टा फहराना, झंडा फहराना ।

क्रि० अ० फहरना । वायु में पसरना । हवा में रह रह कर हिलना या उड़ना । उ०—(क) काया देवल मन ध्वजा विषय लहर फहराय । मन चलता देवल चले ताको सरबस

जाय।—कबीर। (ख) घंट घंटि-धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिं पायक फहराहीं।—तुलसी। (ग) चारिहूँ ओर ते पौन झकोर झकोरनि घोर घटा घहरानी। ऐसे समय पद्माकर काहू के आवत पीतपटी फहरानी।—पद्माकर।

फहरानि*—संज्ञा स्त्री० दे० "फहरान"।

फहरिस्त—संज्ञा स्त्री० दे० "फेहरिस्त"।

फहश—वि० [अ० फ़ुहश] फूहड़। अश्लील।

फाँक—संज्ञा स्त्री० [सं० फलक] (१) किसी गोल या पिंडाकार वस्तु का काटा या चीरा हुआ टुकड़ा। गोल मटोल वस्तु का वह खंड जो किसी सीध में बराबर काटने से अलग हो। छूरी, आरी आदि से अलग किया हुआ टुकड़ा। उ०—छोरी बंदि विदा करि राजा राजा होय कि रांको। जरासंध को जोर उधेर्यो फारि कियो द्वै फाँको।—गोपाल। (२) किसी फल का एक सिरे से दूसरे सिरे तक काटकर अलग किया हुआ टुकड़ा। जैसे, नीबू, आम, अमरूद, ख़रबूजे आदि की फाँक। (३) खंड। टुकड़ा। उ०—टघरि टघरि चामीकर के कंगूर गिरें फटकि फरस फूटि फूटि फाँके फहराहिं।

विशेष—टूट फूट कर अलग होनेवाले टुकड़े के लिए इस शब्द का व्यवहार बहुत कम मिलता है।

(४) लकीरें जिनसे कोई गोल या पिंडाकार वस्तु सीधे टुकड़ों में बँटी दिखाई दे। जैसे, खरबूजे की फाँकें।

फाँकड़ा—वि० [देश०] (१) बाँका। तिरछा। (२) हृष्ट पुष्ट। तगड़ा। मुस्टंडा। मज़बूत।

फाँकना—क्रि० स० [हिं० फाका] चूर, दाने या बुकनी के रूप की वस्तु को दूर से मुँह में डालना। कण या चूर्ण को दूर से मुँह में फेंक कर खाना। जैसे, चीनी फाँकना। उ०—लपसी लौंग गनै इकसारा। खाँड़ परिहरि फाँकै छारा।—कबीर।

मुहा०—धूल फाँकना=(१) खाने को न पाना। (२) ऐसे स्थान में जाना या रहना जहाँ बहुत गर्द हो। (३) दुर्दशा भोगना।

फाँका—संज्ञा पुं० [हिं० फेंकना] (१) किसी वस्तु को दूर से फेंक कर मुँह में डालने की क्रिया या भाव। फंका।

मुहा०—फाँका मारना=किसी वस्तु को फाँकना।

(२) उतनी वस्तु जो एक बार में फाँकी जाय।

फाँकी†—संज्ञा स्त्री० दे० "फाँक"।

फाँग, फाँगी—संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार का साग। उ०—(क) रुचि तल जानि लोनिका फाँगी। कढ़ी कृपालु दूसरे माँगी।—सूर। (ख) पोई परवर फाँग फरी पुनि। टेंटी टेंट सो छोलि कियो पुनि।—सूर।

फाँट†—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाटना, फटना वा सं० पट्ट] (१) यथाक्रम कई भागों में बाँटने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—बाँधना।—लगाना।

(२) क्रम से बाँटा हुआ भाग। अलग अलग किए हुए कई भागों में से एक भाग। (३) दर या पड़ता जिसके अनुसार कोई वस्तु बाँटी जाय।

संज्ञा स्त्री० [?] (१) ओषधि को गरम पानी में औटाना। काढ़ा बनाने की क्रिया या भाव। (२) क्वाथ। काढ़ा।

फाँटना—क्रि० स० [हिं० फाट] (१) किसी वस्तु को कई भागों में बाँटना। विभाग करना। (२) जड़ी बूटी आदि को पानी में औटाना। काढ़ा करना।

फाँटबंदी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाट+फा० बंदी] वह काग़ज़ जिसमें किसी गाँव में नामुकम्मल पट्टीदारों के हिस्सों के अनुसार उस गाँव की आमदनी आदि की बाँट लिखी रहती है।

फाँटा—संज्ञा पुं० [हिं० फाटना] लोहे या लकड़ी का वह झुका हुआ या कोणयुक्त टुकड़ा जो मिलकर कोण बनाती हुई दो वस्तुओं को परस्पर जकड़े रखने के लिए जोड़ पर जड़ दिया जाता है। कोनिया।

फाँड़—संज्ञा पुं० दे० "फाँड़ा"।

फाँड़ा†—संज्ञा पुं० [सं० फोंड=पेट] दुपट्टे या धोती का कमर में बँधा हुआ हिस्सा।

क्रि० प्र०—कसना।—बाँधना।

मुहा०—फाँड़ा बाँधना या कसना=किसी काम के लिये मुस्तैद होना। कटिबद्ध होना। फाँड़ा पकड़ना=(१) इस प्रकार पकड़ना जिसमें कोई मनुष्य भागने न पावे। (२) स्त्री का किसी पुरुष को अपने भरण पोषण आदि के लिये जिम्मेदार ठहराना।

फाँद—संज्ञा स्त्री० [हिं० फाँदना] उछाल। उछलने का भाव। कूदकर जाने की क्रिया या भाव।

संज्ञा स्त्री० पुं० [हिं० फंदा] (१) रस्सी, बाल, सूत आदि का घेरा जिसमें पड़ कर कोई वस्तु बँध जाय। फंदा। पाश। (२) चिड़िया आदि फँसाने का फंदा या जाल। उ०—(क) तीतर गीव जो फाँद है नितहिं पुकारै दोष।—जायसी। (ख) प्रेम फाँद जो परा न छूटा। जीव दीन्ह पर फाँद न टूटा।—जायसी।

विशेष—कवियों ने इस शब्द को प्रायः पुंलिंग ही माना है।

फाँदना—क्रि० अ० [सं० फणन, हिं० फानना] झोंक के साथ शरीर को ऊपर उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा पड़ना। कूदना। उछलना। उ०—दग मृगनैननि के कहूँ फाँदि न पावै जान। जुलुफ फँदा मुख भूमि पै रोपे बधिक सुजान।—रसनिधि।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० स० (१) उछलकर पार करना। कूदकर लाँघना। शरीर उछालकर किसी वस्तु के आगे जा पड़ना। डाँकना। जैसे, नाली फाँदना, गड्ढा फाँदना। (२) नर (पशु) का मादा पर जोड़ा खाने के लिए जाना।

क्रि० स० [हिं० फंदा] फंदे में डालना । फँसाना । उ०—कुटिल अलक सुभाय हरि के भुवनि पै रहे आय । मनो मन्मथ फांदि फंदन मीन विधि लट तपाय ।—सूर ।
†क्रि० स० दे० "फानना" ।

फाँदा†—संज्ञा पुं० दे० "फंदा" ।

फाँदी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फंदा] (१) वह रस्सी जिससे कई वस्तुओं को एक साथ रखकर बाँधते हैं । गट्ठा बाँधने की रस्सी । (२) गन्नों का गट्ठा । एक में बँधे हुए बहुत से गन्नों का बोझ ।

फाँफी—संज्ञा स्त्री० [सं० पर्पटी] (१) बहुत महीन झिल्ली । बहुत बारीक तह । (२) दूध के ऊपर पड़ी हुई मलाई की बहुत पतली तह । (३) पतली सफ़ेद झिल्ली जो आँख की पुतली पर पड़ जाती है । माँड़ा । जाला ।

फाँस—संज्ञा स्त्री० [सं० पाश] (१) पाश । बंधन । फंदा । उ०—माया मोह लोभ अरु मान । ए सब त्रय गुण फाँस समान ।—सूर । (२) वह रस्सी जिसका फंदा डालकर शिकारी पशु पक्षी फाँसते हैं । उ०—(क) दृष्टि रही ठगलाडू , अलक फाँस पड़ गीव । जहाँ भिखारिन बाँचइ तहाँ बँचइ को जीव ?—जायसी । (ख) वरुण फाँस ब्रजपतिहिं छिन माहिं छुड़ावै । दुखित गयंदहि जानिके आपुनि उठि धावै ।—सूर ।
संज्ञा स्त्री० [सं० पनस] (१) बाँस, सूखी लकड़ी आदि का कड़ा तंतु जो शरीर में चुभ जाता है । बाँस या काठ का कड़ा रेशा जिसकी नोक काँटे की तरह हो जाती है । महीन काँटा । उ०—(क) कबीर करेजे गड़ि रही वचन वृक्ष की फाँस । निकसाए निकसै नहीं रही सो काहू गाँस ।—कबीर । (ख) नस पानन की काढ़े हेरी । अधर न गड़ै फाँस तेहि केरी ।—जायसी ।

क्रि० प्र०—गड़ना ।—चुभना ।—निकलना ।—निकालना ।—लगना ।

(२) बाँस, बेंत आदि को चीरकर बनाई हुई पतली तीली । पतली कमाची । उ०—अमृत ऐसे बचन में रहिमन रस की गाँस । जैसे मिसिरिहु में मिली निरस बाँस की फाँस ।—रहीम ।

मुहा०—**फाँस चुभना**=जी में खटकनेवाली बात होना । कसकनेवाली बात होना । ऐसी बात होना जिससे चित्त को दुःख पहुँचे । **फाँस निकलना**=कंटक दूर होना । ऐसी वस्तु या व्यक्ति का न रह जाना जिससे दुःख या खटका हो । कष्ट पहुँचानेवाली वस्तु का हटना । **फाँस निकालना**=कंटक दूर करना । ऐसी वस्तु या व्यक्ति को दूर करना जिससे कुछ कष्ट या किसी बात का खटका हो ।

फाँसना—क्रि० स० [सं० पाश, प्रा० फाँस] (१) बंधन में डालना । बाँधना । पकड़ना । पाश में बाँधना । जाल में फँसाना । उ०—निरखि यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध सों युद्ध माँड्यो । सूर प्रभु ठटी ज्यों भयो चाहे सो त्यों फाँसि करि कुँअर अनिरुद्ध बाँध्यो ।—सूर । (२) धोखे में डालना । धोखा देकर अपने अधिकार में करना । वशीभूत करना । (३) किसी पर ऐसा प्रभाव डालना कि वह वश में होकर कुछ करने के लिए तैयार हो जाय । जैसे, किसी बड़े आदमी को फाँसो तब रुपया मिलेगा ।

संयो० क्रि०—लाना ।—लेना ।

फाँसी—संज्ञा स्त्री० [सं० पाशी] (१) फँसाने का फंदा । पाश । उ०—लालन बाल के द्वै ही दिना ते परी मन आय सनेह की फाँसी ।—मतिराम । (२) वह रस्सी या रेशम का फंदा जिसमें गला फँसने से घुट जाता है और फँसनेवाला मर जाता है ।

क्रि० प्र०—लगना ।

(३) रेशम या रस्सी का फंदा जो दो ऊँचे खंभे गाड़ कर ऊपर से लटकाया जाता है और जिसे गले में डाल कर अपराधियों को प्राणदंड दिया जाता है ।

मुहा०—**फाँसी खड़ी होना**=(१) फाँसी के खंभे इत्यादि गड़ना । फाँसी दिये जाने की तैयारी होना । (२) प्राण जाने का डर होना । डर की बड़ी भारी बात होना । जैसे, जाते क्यों नहीं, क्या वहाँ फाँसी खड़ी है ? **फाँसी चढ़ना**=पाश द्वारा प्राणदंड पाना । **फाँसी चढ़ाना**=गले में फंदा डालकर प्राणदंड देना ।

(४) वह दंड जो अपराधी को फंदे के द्वारा मारकर दिया जाय । पाश द्वारा प्राणदंड । मौत की सज़ा जो गले में फंदा डालकर दी जाय ।

क्रि० प्र०—होना ।

मुहा०—**फाँसी देना**=पाश द्वारा प्राणदंड देना । गले में फंदा डाल कर मार डालना । **फाँसी पाना**=पाश द्वारा प्राणदंड पाना । किसी अपराध में गले में फंदा डालकर मार डाला जाना ।

फाइल—संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) मिसिल । नत्थी । (२) लोहे का तार जिसमें काग़ज़ या चिट्ठियाँ नत्थी की जाती हैं । (३) सामयिक पत्रों आदि के कुछ पूरे अंकों का समूह ।

फाका—संज्ञा पुं० [अ० फ़ाक़ः] उपवास । निराहार रहना ।

यौ०—फाकाकशी । फाकेमस्त ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—**फाका पड़ना**=उपवास होना । **फाकों का मारा**=भोजन न मिलने से अत्यंत शिथिल । भूख से मरता हुआ । **फाकों मरना**=भूखों मरना । उपवास का कष्ट सहना ।

फाकामस्त, फाकेमस्त—वि० [फ़ा०] जो खाने पीने का कष्ट उठाकर भी कुछ चिंता न करता हो । जो पैसा पास न रख कर भी बेपरवा रहता हो ।

फ़ाख़्तई—वि० [हिं० फ़ाख़्ता] पंडुक के रंग का । भूरापन लिए हुए लाल ।

संज्ञा पुं० एक रंग का नाम। यह रंग ललाई लिए भूरे रंग का होता है। आठ माशे वायोलेट को आध सेर मजीठ के काढ़े में मिलाकर इसे बनाते हैं।

फाख़ता–संज्ञा स्त्री० [अ०] [वि० फाख्तई] पंडुक। धवँरखा।

फाग–संज्ञा पुं० [हिं० फागुन] (१) फागुन के महीने में होनेवाला उत्सव जिसमें लोग एक दूसरे पर रंग या गुलाल डालते और वसंतऋतु के गीत गाते हैं। उ०—तेहि सिर फूल चढ़हिं जेहि माथे मन भाग। आछंद सदा सुगंध वह जनु वसंत औ फाग।—जायसी।

क्रि० प्र०—खेलना।

(२) वह गीत जो फाग के उत्सव में गाया जाता है।

फागुन–संज्ञा पुं० [सं०] शिशिर ऋतु का दूसरा महीना। माघ के बाद का महीना। फाल्गुन।

विशेष—यद्यपि इस महीने की गिनती पतझड़ या शिशिर में है, पर वसंत का आभास इसमें दिखाई देने लगता है। जैसे, नई पत्तियाँ निकलना आरंभ होना, आमों में मंजरी लगना, टेसू फूलना इत्यादि। इस महीने की पूर्णिमा को होलिका दहन होता है। यह आनंद का महीना माना जाता है। इस महीने में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें फाग कहते हैं।

फागुनी–वि० [हिं० फागुन] फागुन संबंधी। फागुन का।

फाजिल–वि० [अ० फ़ाज़िल] (१) अधिक। आवश्यकता से अधिक। ज़रूरत से ज़्यादा। ख़र्च या काम से बचा हुआ।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।—होना।

(२) विद्वान्।

फाटक–संज्ञा पुं० [सं० कपाट] (१) बड़ा द्वार। बड़ा दरवाज़ा। तोरण। उ०—चारों ओर ताँबे का कोट और पक्की चुआन चौड़ी खाई स्फटिक के चार फाटक तिनमें अष्टधाती किवाँड़ लगे हुए……।—लल्लू। (२) दरवाजे पर की बैठक। (३) ‡मवेशीखाना। कांजी हौस।

संज्ञा पुं० [हिं० फटकना] फटकन। पछोड़न। भूसी जो अनाज फटकने से बची हो। उ०—फाटक दै कर, हाटक माँगत भोरी निपटहि जानि।—सूर।

फाटना–क्रि० अ० दे० "फटना"। उ०—(क) धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हाल। कूर्म टूट भुइँ फाटी तिन हस्तिन की चाल।—जायसी। (ख) दूध फाटि घृत दूधे मिला नाद जो मिला अकास। तन छूटै मन तहँ गया जहाँ धरी मन आस।—कबीर।

फाड़खाऊ‡–वि० [हिं० फाड़+खाना] (१) फाड़ खानेवाला। कटखना। (२) क्रोधी। बिगड़ैल। चिड़चिड़ा। (३) भयानक। घातक।

फाड़न–संज्ञा स्त्री० पुं० [हिं० फाड़ना] (१) कागज़, कपड़े आदि का टुकड़ा जो फाड़ने से निकले। (२) दही के ताज़े मक्खन की छाँछ जो आग पर तपाने से निकले।

फाड़ना–क्रि० स० [सं० स्फाटन, हिं० फाटना] (१) किसी पैनी या नुकीली चीज़ को किसी सतह पर इस प्रकार मारना या खींचना कि सतह का कुछ भाग हट जाय या उसमें दरार पड़ जायँ। चीरना। विदीर्ण करना। जैसे, नाखून से कपड़े फाड़ना, पेट फाड़ना। उ०—पेट फारि हरनाकुस मारयो जय नरहरि भगवान।—सूर।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—फाड़ खाना=क्रोध से झल्लाना। बिगड़ना। चिड़चिड़ाना।

(२) झटके से किसी परत होनेवाली वस्तु का कुछ भाग अलग कर देना। टुकड़े करना। खंड करना। धज्जियाँ उड़ाना। जैसे, थान में से कपड़ा फाड़ना, कागज़ फाड़ना, हवा का बादल फाड़ना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(३) जुड़ी या मिली हुई वस्तुओं के मिले हुए किनारों को अलग अलग कर देना। संधि या जोड़ फैलाकर खोलना। जैसे, आँख फाड़ना, मुँह फाड़ना। (४) किसी गाढ़े द्रव पदार्थ को इस प्रकार करना कि पानी और सार पदार्थ अलग अलग हो जायँ। जैसे, (क) खटाई डालकर दूध फाड़ना। (ख) चोट पर लगने से फिटकरी खून फाड़ देती है।

फाणित–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राब। (२) शीरा।

फातिहा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रार्थना। उ०—कबीर काली सुंदरी होइ बैठी अल्लाह। पढ़ै फातहा गैब का हाजिर को कहै नाहि।—कबीर। (२) वह चढ़ावा जो मरे हुए लोगों के नाम पर दिया जाय। उ०—हलवाई की दूकान और दादे का फातिहा।

फानना–क्रि० स० [सं० फारण] धुनना। रूई को फटकना।

†क्रि० स० [सं० उपायन] किसी काम को आरंभ करना। अनुष्ठान करना। कोई काम हाथ में लेना। किसी काम में हाथ लगा देना।

फानूस–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक प्रकार का दीपाधार जिसके चारों ओर महीन कपड़े या कागज़ का मंडप सा होता है। कपड़े या कागज़ से मढ़ा हुआ पिंजरे की शकल का चिरागदान। एक प्रकार की बड़ी कंदील।

विशेष—यह लकड़ी का एक चौकोर वा अठपहल ढाँचा होता था जिस पर पतला कपड़ा मढ़ा रहता था। इसके भीतर पहले चिरागदान पर चिराग रख कर लोग फरश पर रखते थे। उ०—बाल छबीली तियन में बैठी आप छिपाइ। अरगट ही फानूस सी परगट होति लखाइ।—बिहारी।

(२) शीशे की मृदंगी, कमल वा गिलास आदि जिसमें बत्तियाँ जलाई जाती हैं। (३) समुद्र के किनारे का वह ऊँचा स्थान जहाँ रात को इसलिये प्रकाश जलाया जाता है कि जहाज़ उसे देखकर बंदर जान जाय। कंदीलिया। (४) [अं० फरनेस] ईंटों आदि की भट्ठी जिसमें आग सुलगाई जाती है और जिस के ताप से अनेक प्रकार के काम लिए जाते हैं। जैसे, लोहा, ताँबा, गंधक आदि गलाना।

फाफर-संज्ञा पुं० [सं० पर्पट] कूटू। कूल्हू। दे० "कूटू"।

फाफा-संज्ञा स्त्री० [अनु०] दाँत गिर जाने से 'फा फा' करके बोलनेवाली बुढ़िया। पोपली बुढ़िया।

मुहा०—फाफा कुटनी=इधर उधर करनेवाली स्त्री। बुढ़िया जो कुटनपन करती वा इधर उधर करती हो।

फाब*-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रभा, प्रा० पभा=विपर्यय] शोभा। फबन। छबि। उ०—कहै पद्माकर फराकत फरसबंद, फहरि फुहारन की फरस फबी है फाब।—पद्माकर।

फाबना*†-क्रि० अ० दे० "फबना"।

फायदा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) लाभ। नफा। प्राप्ति। आय। जैसे, इस रोज़गार में बड़ा फायदा है। (२) प्रयोजन सिद्धि। मतलब पूरा होना। जैसे, उससे पूछने से कुछ फायदा नहीं, वह न बतावेगा। (३) अच्छा फल। अच्छा नतीजा। भला परिणाम। जैसे, महात्माओं का उपदेश सुनने से बहुत फायदा होता है। (४) उत्तम प्रभाव। अच्छा असर। बुरी से अच्छी दशा में लाने का गुण। जैसे, इस दवा ने बहुत फायदा किया।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—फायदे का=फायदा पहुँचानेवाला। लाभदायक।

फायदेमंद-वि० [फा०] लाभदायक। उपकारक।

फायर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) आग। (२) दे० "फैर"।

फायरमैन-संज्ञा पुं० [अं०] वह कर्मचारी जो इंजन में कोयला झोंकने का काम करता है।

फाया-संज्ञा पुं० दे० "फाहा"।

फार*†-संज्ञा पुं० [हिं० फारना] (१) फार। फाल। खंड। उ०—चमकहि बीज होइ उजियारा। जेहि सिर परे होइ दुइ फारा।—जायसी। (२) दे० "फाल"।

फारखती-संज्ञा स्त्री० [अ० फारिग+खती] वह लेख या कागज जिसके द्वारा किसी मनुष्य को उसके दायित्व से मुक्त किया जाय। वह कागज या लेख जो इस बात का सबूत हो कि किसी के जिम्मे जो कुछ था, वह अदा हो गया। चुकती। बेबाकी।

क्रि० प्र०—लिखना।

फारना*—क्रि० स० दे० "फाड़ना"।

फारम-संज्ञा पुं० [अं०] (१) दरखास्त, बहीखाते, रसीद आदि के नमूने जिनमें यह दिखाया रहता है कि कहाँ क्या क्या बात लिखनी चाहिए। (२) छपाई में एक पूरा तख़्ता जो एक बार एक साथ छापा जाता हो। (३) छापने के लिए बैठाए हुए उतने अक्षर जितने एक तख़्ता छापने के लिए पूरे हों।

फारस-संज्ञा पुं० दे० "पारस"।

फारसी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] फारस देश की भाषा।

फारा†-संज्ञा पुं० [सं० फाल] (१) फाल। कतरा। कटी हुई फाँक। उ०—रींधे ठाढ़ सेब के फारे। छौंकि साग पुनि सौंधि उतारे।—जायसी। (२) दे० "फाल"। (३) दे० "फरा"।

फार्म-संज्ञा पुं० दे० "फारम"।

फाल-संज्ञा स्त्री० [सं०] लोहे की चौकोर लंबी छड़ जिसका सिरा नुकीला और पैना होता है और जो हल की अँकड़ी के नीचे लगा रहता है। जमीन इसी से खुदती है। कुस। कुसी।

विशेष—सं० में यह शब्द पुं० है।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। (२) बलदेव। (३) फावड़ा। (४) नौ प्रकार की दैवी परीक्षाओं या दिव्यों में से एक जिसमें लोहे की तपाई हुई फाल अपराधी को चटाते थे और जीभ के जलने पर उसे दोषी और न जलने पर निर्दोष समझते थे।

संज्ञा स्त्री० [सं० फलक वा हिं० फाड़ना] (१) किसी ठोस चीज़ का काटा या कतरा हुआ पतले दल का टुकड़ा। जैसे, सुपारी की फाल। (२) कटी सुपारी। छालिया।

संज्ञा पुं० [सं० प्लव] (१) चलने या कूदने में एक स्थान से उठाकर आगे के स्थान में पैर डालना। डग। फलांग। उ०—धनि बाल सुचाल सों फाल भरे लौ मही रँग लाल में बोरति है।—सेवक।

मुहा०—फाल भरना=कदम रखना। डग भरना। फाल बाँधना=फलाँग मारना। कूदकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। उछलकर लाँघना। उ०—कहै पद्माकर त्यों हुंकरत, फुंकरत, फैलत फलात, फाल बाँधत फलंका में।—पद्माकर।

(२) चलने या कूदने में उस स्थान से लेकर जहाँ से पैर उठाया जाय उस स्थान तक का अंतर जहाँ पैर पड़े। क़दम भर का फासला। पैंड। उ०—(क) तीन फाल वसुधा सब कीनी सोइ वामन भगवान।—सूर। (ख) धरती करते एक पग, दरिया करते फाल। हाथन परबत तोलते तेऊ खाये काल।—कबीर।

फालकृष्ट-वि० [सं०] (१) हल से जोता हुआ। जैसे, फालकृष्ट भूमि। (२) जो हल से जोते हुए खेत में उत्पन्न हो।

विशेष—बहुत से व्रतों में फालकृष्ट पदार्थ नहीं खाए जाते।

फालतू-वि० [हिं० फाल=टुकड़ा+तू (प्रत्य०)] (१) जो काम में आने से बच रहे। आवश्यकता से अधिक। ज़रूरत से ज़्यादा। अतिरिक्त। बढ़ती। जैसे,—इतना कपड़ा फालतू है; तुम ले जाओ। (२) जो किसी काम के लायक़ न हो। निकम्मा जैसे,—क्या हमीं एक फालतू आदमी हैं जो इतनी दूर दौड़े जायँ?

फालसई-वि० [फा० फ़ालसा] फालसे के रंग का। ललाई लिए हुए हलका ऊदा।

विशेष—इस रंग के लिए कपड़े को तीन बोर देने पड़ते हैं। पहले तो कपड़े को नील में रँगते हैं, फिर कुसुम के पहले उतार के रंग में रँगते हैं जो जेठा रंग होता है। फिर फिटकरी या खटाई मिले पानी में बोर कर निखार देने से रंग साफ़ निकल आता है।

फालसा-संज्ञा पुं० [फा०] [सं० परूषक, परूष, प्रा० फरूस] एक छोटा पेड़ जिसका धड़ ऊपर नहीं जाता और जिसमें छड़ी के आकार की सीधी सीधी डालियाँ चारों ओर निकलती हैं। डालियों के दोनों ओर सात आठ अंगुल लंबे चौड़े गोल पत्ते लगते हैं जिनपर महीन रोइयाँ सी होती हैं। पत्ते की ऊपरी सतह की अपेक्षा पीछे की सतह का रंग हलका होता है। डालियों में यहाँ से वहाँ तक पीले फूल गुच्छों में लगते हैं जिनके झड़ जाने पर मोती के दाने के बराबर छोटे छोटे फल लगते हैं। पकने पर फलों का रंग ललाई लिए ऊदा और स्वाद खटमीठा होता है। बीज एक या दो होते हैं। फालसा बहुत ठंढा समझा जाता है, इससे गरमी के दिनों में लोग इसका शरबत बना कर पीते हैं। वैद्यक में कच्चे फल को वातघ्न और पित्तकारक तथा पक्के फल को रुचिकारक, पित्तघ्न और शोथनाशक लिखा है।

पर्य्या०—परूषक। गिरिपीलु। शोषण। पारावत।

संज्ञा पुं० [?] शिकारियों की बोली में वह जंगली जानवर जो जंगल से निकलकर मैदान में चरने को आवे।

फालिज-संज्ञा पुं० [अ०] एक रोग जिसमें प्राणी का आधा अंग सुन्न या बेकार हो जाता है। अर्धांग अधरंग। पक्षाघात।

विशेष—इसमें शरीर के संवेदन सूत्र या गतिवाहक सूत्र निष्क्रिय हो जाते हैं। संवेदन सूत्रों के निष्क्रिय होने से अंग सुन्न हो जाता है, उसमें संवेदना नहीं रह जाती, और गतिवाहक सूत्रों के निष्क्रिय होने से अंग का हिलना डोलना बंद हो जाता है।

मुहा०—फालिज गिरना=अधरंग रोग होना। अंग सुन्न पड़ जाना।

फालूदा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] पीने के लिए बनाई हुई एक चीज़ जिसका व्यवहार प्रायः मुसलमान करते हैं।

विशेष—गेहूँ के सत्तू से बने हुए नशास्ते को बारीक काट कर शरबत में मिला कर रखते हैं और ठंढा हो जाने पर पीते हैं। यह गरमी के दिनों में पिया जाता है।

फाल्गुन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूर्वा नामक सोमलता। शतपथ ब्राह्मण में इसे दो प्रकार का लिखा है, एक लोहितपुष्प, दूसरा चारुपुष्प। (२) एक चांद्रमास का नाम जिसमें पूर्णमासी के दिन चंद्रमा का उदय पूर्वा फाल्गुनी या उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में होता है। यह महीना, माघ के समाप्त हो जाने पर प्रारंभ होता है। इसी महीने की पूर्णिमा की रात को होलिका दहन होता है। दे० "फागुन"। (३) अर्जुन का नाम। (४) अर्जुन नामक वृक्ष। (५) एक तीर्थ का नाम। (६) बृहस्पति का एक वर्ष जिसमें उसका उदय फाल्गुनी नक्षत्र में होता है।

फाल्गुनि-संज्ञा पुं० [सं०] अर्जुन।

फाल्गुनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) फाल्गुन मास की पूर्णिमा (२) पूर्वा फाल्गुनी और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र।

फावड़ा-संज्ञा पुं० [सं० फाल, प्रा० फाड] मिट्टी खोदने और टालने का चौड़े फल का लोहे का एक औज़ार जिसमें डंडे की तरह का लंबा बेंट लगा रहता है। फरसा। कस्सी।

क्रि० प्र०—चलाना।

मुहा०—फावड़ा चलाना=खेत में काम करना। फावड़ा बजना=खुदाई होना। खुदना। खुदकर गिरना। ध्वस्त होना। फावड़ा बजाना=खोदना। खोदकर ढाना या गिराना। जैसे, वह ज़रा चूँ करे तो मकान पर फावड़ा बजा दूँ।

फावड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फावड़ा] (१) छोटा फावड़ा। (२) फावड़े के आकार की काठ की एक वस्तु जिसमें घोड़ों के नीचे की घास, लीद आदि हटाई जाती है या मैला आदि हटाया जाता है।

फाश-वि० [फा० फाश] खुला। प्रकट। ज्ञात।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—परदा फाश करना=छिपी हुई बात खोलना। भेद प्रकट करना।

फासफरस-संज्ञा पुं० [यूना० अं०] पाश्चात्य रासायनिकों के द्वारा जाना हुआ एक अत्यंत ज्वलनशील मूल द्रव्य जिसमें धातु का कोई गुण नहीं होता और जो अपने विशुद्ध रूप में कहीं नहीं मिलता—आक्सिजन, कलसियम, और मगनेशिया के साथ मिला हुआ पाया जाता है। इसका प्रसार संसार में बहुत अधिक है क्योंकि यह सृष्टि के सारे सजीव पदार्थों के अंगविधान में पाया जाता है। वनस्पतियों, प्राणियों की हड्डियों, रक्त, मूत्र, लोम आदि में यह व्याप्त रहता है। बहुत थोड़ी गरमी या रगड़ पाकर यह जलता है। हवा में खुला रखने से यह धीरे धीरे जलता

है और लहसुन की सी गंध भरी भाप छोड़ता है। अँधेरे में देखने से उसमें सफ़ेद लपट दिखाई पड़ती है। यदि गरमी अधिक न हो तो यह मोम की तरह जमा रहता है और छुरी से काटा या खुरचा जा सकता है। पर १०८ मात्रा का ताप पाकर यह पिघलने लगता है और ५५० मात्रा के ताप में भाप होकर उड़ जाता है। यह बहुत सी धातुओं के साथ मिल जाता है और उनका रूपांतर करता है। इसे तेल या चरबी में घोलने पर ऐसा तेल तैयार हो जाता है जो अँधेरे में चमकता है। दियासलाई बनाने में इसका बहुत प्रयोग होता है। और भी कई चीज़ें बनाने में यह काम आता है। औषध के रूप में भी यह बहुत दिया जाता है क्योंकि डाक्टर लोग इसे बुद्धि का उद्दीपक और पुष्ट मानते हैं। ताप के मात्राभेद से फासफरस का गहरा रूपांतर भी हो जाता है। जैसे, बहुत देर तक २१२ मात्रा की गरमी से कुछ कम गरमी में रखने से यह लाल फासफरस के रूप में हो जाता है। तब यह इतना ज्वलनशील और विषैला नहीं रह जाता और हाथ में अच्छी तरह लिया जा सकता है।

फासला–संज्ञा पुं० [अ०] दूरी। अंतर।

फास्ट–वि० [अं०] (१) तेज। (२) शीघ्र चलनेवाला। शीघ्रगामी। वेगवान्। जैसे, फास्ट पैसिंजर।

विशेष—जब घड़ी की चाल बहुत तेज होती है, तब उसे फास्ट कहते हैं।

फाहा–संज्ञा पुं० [सं० फाल=रूई का वा सं० पोत=कपड़ा, प्रा० पोय, हिं० फोया] (१) तेल, घी आदि चिकनाई में तर की हुई कपड़े की पट्टी वा रूई का लच्छा। फाया। साया। (२) मरहम से तर पट्टी जो घाव, फोड़े आदि पर रखी जाती है।

फाहिशा–वि० [अ०] छिनाल। पुंश्चली।

फिंकरना†–क्रि० अ० दे० "फेंकरना"।

फिंकवाना–क्रि० स० [हिं० फेंकना] फेंकने का प्रेरणार्थक रूप। फेंकने का काम कराना।

फिंगक–संज्ञा पुं०[सं०] फिंगा नामक पक्षी।

फिंगा–संज्ञा पुं० [सं० फिंगक] एक प्रकार का पक्षी जिसके पर भूरे, चोंच पीली और पंजे लाल होते हैं। यह सिंध से आसाम तक ऐसे बड़े बड़े मैदानों में जहाँ हरी घास अधिकता से होती है, छोटे छोटे झुंडों में पाया जाता है। इसके झुंड में से जहाँ एक पक्षी उड़ता है, वहाँ बाकी सब भी उसीका अनुकरण करते हैं। इसकी लंबाई प्रायः डेढ़ बालिश्त होती है और यह वर्षा ऋतु में तीन अंडे देता है। फेंगा।

फिकई–संज्ञा स्त्री० [?] चेने की तरह का एक मोटा अन्न जो बुंदेलखंड में होता है।

फिकर‡–संज्ञा स्त्री० दे० "फिक्र"।

फिकार–संज्ञा पुं० [?] चेने की तरह का एक मोटा अन्न। फिकई।

फिकिर‡–संज्ञा स्त्री० दे० "फिक्र"।

फिक्र–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चिंता। सोच। खटका। दुःखपूर्ण ध्यान। उदास करनेवाली भावना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) ध्यान। विचार। चित्त अस्थिर करनेवाली भावना। जैसे,—काम के आगे उसे खाने पीने की भी फिक्र नहीं रहती।

मुहा०—फिक्र लगना=ऐसा ध्यान बना रहना कि चित्त अस्थिर रहे। ख्याल या खटका बना रहना।

(३) उपाय की उद्भावना। उपाय का विचार। यत्न। तदबीर। जैसे,—अब तुम अपनी फिक्र करो, हम तुम्हारी मदद नहीं कर सकते।

फिक्रमंद–वि० [फा०] चिंताग्रस्त।

फिचकुर–संज्ञा पुं० [सं० पिछ=लार] फेन जो मूर्छा या बेहोशी आने पर मुँह से निकलता है।

क्रि० प्र०—निकालना।—बहना।

फिट–अव्य० [अनु०] धिक्। छी। थुड़ी। (धिक्कारने का शब्द)

यौ०—फिट फिट=धिक्कार है, धिक्कार। थुड़ी है। छी छी। लानत है।

फिटकरी–संज्ञा स्त्री० दे० "फिटकिरी"।

फिटकार–संज्ञा पुं० [हिं० फिट+कार] (१) धिक्कार। लानत।

क्रि० प्र०—खाना।—देना।

मुहा०—मुहँ पर फिटकार बरसना=फिट्टा मुंह होना। चेहरा फीका या उतरा हुआ होना। मुख मलिन होना। मुख की कांति न रहना। श्रीहत होना।

(२) शाप। कोसना। बद दुआ।

मुहा०—फिटकार लगना=शाप लगना। शाप ठीक उतरना।

(३) हलकी मिलावट। बास। भावना। जैसे,—इसमें केवड़े की फिटकार है।

फिटकिरी–संज्ञा स्त्री०[सं० स्फटिका, स्फटिकारि, फाटकी] एक मिश्र खनिज पदार्थ जो सलफ़ेट आफ़ पोटाश और सलफ़ेट आफ़ अलमीनियम के मिलकर पानी में जमने से बनता है। यह स्वच्छ दशा में स्फटिक के समान श्वेत होता है, इसीसे इसे स्फटिका या फिटकिरी कहते हैं। मैल के योग से फिटकिरी लाल, पीली और काली भी होती है। यह पानी में घुल जाती है और इसका स्वाद मिठाई लिए हुए बहुत ही कसैला होता है। हिंदुस्तान में बिहार, सिंध, कच्छ, और पंजाब में फिटकिरी पाई जाती है। सिंधु नद के किनारे कालाबाग और छिछली घाटी के पास कोटकिल फिटकिरी निकलने के प्रसिद्ध स्थान हैं। फिटकिरी मिट्टी के साथ मिली रहती है। मिट्टी को लाकर छिछले हौज़ों में बिछा देते हैं और ऊपर से पानी डाल देते हैं। अलमीनियम सलफेट पानी

में घुलकर नीचे बैठ जाता है जिसे फिटकिरी का बीज कहते हैं। इस बीज (अल्मीनम सलफ़ेट) को गरम पानी में घोलकर ६ भाग सलफ़ेट आफ़ पोटाश मिला देते हैं। फिर दोनों को आग पर गरम करके गाढ़ा करते हैं। पाँच छः दिन में फिटकिरी जम जाती है। फिटकिरी का व्यवहार बहुत कामों में होता है। कसाव के कारण इसमें संकोचन का गुण बहुत अधिक है। शरीर में पड़ते ही यह तंतुओं और रक्त की नलियों को सिकोड़ देती है जिससे रक्तस्राव आदि कम या बंद हो जाता है। फिटकिरी के पानी से धोने से आई हुई आँख भी अच्छी होती है। वैद्यक में फिटकिरी गरम, कसली, झिल्लियों को संकुचित करनेवाली तथा वात, पित्त, कफ, व्रण और कुष्ट को दूर करनेवाली मानी जाती है। प्रदर मूत्रकृच्छ्र, वमन, शोथ, त्रिदोष और प्रमेह में भी वैद्य इसे देते हैं। कपड़े की रँगाई में तो यह बड़े ही काम की चीज़ है। इससे कपड़े पर रंग अच्छी तरह चढ़ जाता है। इसीसे कपड़े को रँगने के पहले फिटकिरी के पानी में बोर देते हैं जिसे जमीन या अस्तर देना कहते हैं। रँगने के पीछे भी कभी कभी रंग निखारने और बराबर करने के लिए कपड़े फिटकिरी के पानी में बोरे जाते हैं।

फिटकी–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) छींटा। (२) सूत के छोटे छोटे फुचरे जो कपड़े की बुनावट में निकले रहते हैं।
*संज्ञा स्त्री० दे० "फिटकिरी"।

फिटन–संज्ञा स्त्री० [अं०] चार पहिये की एक प्रकार की खुली गाड़ी जिसे एक या दो घोड़े खींचते हैं।

फिट्टा–वि० [हिं० फिट] फटकार खाया हुआ। अपमानित। उतरा हुआ। श्रीहत। उ०—आप में तो सकत नहीं, फिर ऐसे राजा का, फिट्टे मुँह। हम कहाँ तक आपको सताया करेंगे। इनशा०।
मुहा०—फिट्टा मुँह=उतरा या फीका पड़ा हुआ चेहरा।

फ़ितना–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह उपद्रव जो अचानक किसी कारण से उठ खड़ा हो। झगड़ा। दंगा फसाद।
क्रि० प्र०—उठना।—उठाना।
(२) एक फूल का नाम। (३) एक प्रकार का इत्र।

फितरती–वि० [अ० फ़ितरत+ई] (१) चालाक। चतुर। (२) फितूरी। मायावी। धोखेबाज़।

फितूर–संज्ञा पुं० [अ० फ़ूतूर] [वि० फितूरी] (१) न्यूनता। घाटा। कमी।
क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।
(२) विकार। विपर्य्यय। खराबी।
क्रि० प्र०—आना।—उठना।—पड़ना।
(३) झगड़ा। बखेड़ा। दंगा फसाद। उपद्रव।
क्रि० प्र०—उठना।—करना।—पड़ना।—मचाना।

फितूरी–वि० [हिं० फितूर] (१) झगड़ालू। लड़ाका। (२) उपद्रवी। फसादी।

फिदवी–वि० [अ० फिदाई से फा०] स्वामिभक्त। आज्ञाकारी।
संज्ञा पुं० [स्त्री० फिदविया] दास।

फिद्दा–संज्ञा पुं० दे० "पिद्दा"।

फिनिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक गहना जो कान में पहना जाता है। उ०—छोटी छोटी ताजैं शीश राजैं प्रहराजैं सम, छोटी छोटी फिनियाँ फबी हैं छोटे कान में।—रघुराज।

फिनीज–संज्ञा स्त्री० [स्पे० पिनज] एक छोटी नाव जिस पर दो मस्तूल होते हैं और जो डाँड़े से चलाई जाती है।

फिया‡–संज्ञा स्त्री० [सं० प्लीहा] प्लीहा। तिल्ली।

फिरंग–संज्ञा पुं० [अ० फ्रांक] (१) युरोप का देश। गोरों का मुल्क। फिरंगिस्तान।
विशेष—फ्रांक नाम का जरमन जातियों का एक जत्था था जो ईसा की तीसरी शताब्दी में तीन दलों में विभक्त हुआ। इनमें से एक दल दक्षिण की ओर बढ़ा और गाल (फ्रांस का पुराना नाम) से रोमन राज्य उठाकर उसने वहाँ अपना अधिकार जमाया। तभी से फ्रांस नाम पड़ा। सन् १०९६ और १२५० ई० के बीच युरोप के ईसाइयों ने ईसा की जन्मभूमि को तुर्कों के हाथ से निकालने के लिए कई चढ़ाइयाँ कीं। फ्रांक शब्द का परिचय तभी से तुर्कों को हुआ और वे युरोप से आनेवालों को फिरंगी कहने लगे। धीरे धीरे यह शब्द अरब, फ़ारस आदि होता हुआ हिंदुस्तान में आया। हिंदुस्तान में पहले पुर्त्तगाली दिखाई पड़े इससे इस शब्द का प्रयोग बहुत दिनों तक उन्हीं के लिए होता रहा। फिर युरोपियन मात्र को फिरंगी कहने लगे।
(२) भावप्रकाश के अनुसार एक रोग। गरमी। आतशक।
विशेष—पहले पहल भावप्रकाश में ही इस रोग का उल्लेख दिखाई पड़ता है और किसी प्राचीन वैद्यक ग्रंथ में नहीं है। भावप्रकाश में लिखा है कि फिरंग नाम के देश में यह रोग बहुत होता है इससे इसका नाम फिरंग है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि फिरंग रोग फिरंगी स्त्री के साथ संभोग करने से हो जाता है। इस रोग के तीन भेद किये हैं—बाह्य फिरंग, आभ्यंतर फिरंग और बहिरंतर्भव फिरंग। बाह्य फिरंग विस्फोटक के समान शरीर में फूट फूट कर निकलता है और घाव या व्रण हो जाते हैं। यह सुखसाध्य है। आभ्यंतर फिरंग में संधि स्थानों में आमवात के समान शोथ और वेदना होती है। यह कष्टसाध्य है। बहिरंतर्भव फिरंग एक प्रकार असाध्य है।

फिरंगबात-संज्ञा पुं० [फिरंग+सं० वात] वातज फिरंग। दे० "फिरंग (२)"।

फिरंगी-वि० [हिं० फिरंग] (१) फिरंग देश में उत्पन्न। (२) फिरंग देश में रहनेवाला। गोरा। (३) फिरंग देश का। संज्ञा पुं० [स्त्री० फिरंगिन] फिरंग देश वासी। युरोपियन। उ०—हबशी रूमी और फिरंगी। बड़ बड़ गुनी और तेहि संगी।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० विलायती तलवार। युरोप देश की बनी तलवार। उ०—चमकती चपला न, फेरत फिरंगैं भट, इंद्र को चाप रूप बैरष समाज को।—भूषण।

फिरंट-वि० [हिं० फिरना] (१) फिरा हुआ। विरुद्ध। खिलाफ। (२) बिगड़ा हुआ। विरोध या लड़ाई पर उद्यत। जैसे,—बात ही बात में वह मुझसे फिरंट हो गया।

क्रि० प्र०—होना।

फिर-क्रि० वि० [हिं० फिरना] (१) जैसा एक समय हो चुका है वैसा ही दूसरे समय भी। एक बार और। दोबारा। पुनः। जैसे, इस बार तो छोड़ देता हूँ, फिर ऐसा काम न करना। उ०—नैन नचाय कही मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी।—पद्माकर।

यौ०—फिर फिर-बार बार। कई दफ़ा। उ०—फिर फिर बूझति, कहि कहा, कह्यो साँवरेगात। कहा करत देखे कहा अली! चली क्यों जात?—बिहारी।

(२) आगे किसी दूसरे वक्त। भविष्य में किसी समय। और वक्त। जैसे,—इस समय नहीं है फिर ले जाना। (३) कोई बात हो चुकने पर। पीछे। अनंतर। उपरांत। बाद में। जैसे,—(क) फिर क्या हुआ? (ख) लखनऊ से फिर कहाँ जाओगे? उ०—मेरा मारा फिर जियै तो हाथ न गहौं कमान।—कबीर। (४) तब। उस अवस्था में। उस हालत में। जैसे,—(क) जरा उसे छोड़ दो फिर देखो कैसा झल्लाता है। (ख) उसका काम निकल जायगा फिर तो वह किसी से बात न करेगा। उ०—सुनतै धुनि धीर छुटै छन में फिर नेकहु राखत चेत नहीं।—हनुमान। तुम पितु-ससुर-सरिस हितकारी। उतर देउँ फिर अनुचित भारी।—तुलसी।

मुहा०—फिर क्या है?=तब क्या पूछना है। तब तो किसी बात की कसर ही नहीं है। तब तो कोई अड़चन ही नहीं है। तब तो सब बात बनी बनाई है।

(५) देश संबंध में आगे बढ़कर। और चलकर। आगे और दूरी पर। जैसे,—उस बाग के आगे फिर क्या है? (६) इसके अतिरिक्त। इसके सिवाय। जैसे, वहाँ जाकर उसे किसी बात का पता न लगेगा, फिर यह भी तो है कि वह जाय या न जाय।

फिरक-संज्ञा स्त्री० [हिं० फिरना] एक प्रकार की छोटी गाड़ी जिस पर गाँव के लोग चीजों को लादकर इधर उधर ले जाते हैं (रुहेलखंड)।

फिरकना-क्रि० अ० [हिं० फिरना] (१) थिरकना। नाचना। (२) किसी गोल वस्तु का एक ही स्थान पर घूमना। लट्टू की तरह घूमना या चक्कर खाना।

फ़िरक़ा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) जाति। (२) जत्था। (३) पंथ। संप्रदाय।

फिरकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फिरकना] (१) वह गोल या चक्राकार पदार्थ जो बीच की कीली को एक स्थान पर टिकाकर घूमता हो। (२) लड़कों का एक खिलौना जिसे वे नचाते हैं। फिरहरी। (३) चकई नाम का खिलौना। उ०—नई लगनि कुल की सकुचि विकल भई अकुलाय। दुहूँ ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय।—बिहारी। (४) चमड़े का गोल टुकड़ा जो तकवे में लगाकर चरखे में लगाया जाता है। चरखे में जब सूत कातते हैं तब उसके लच्छे को इसी के दूसरे पार लपेटते हैं। (५) लकड़ी, धातु वा कद्दू के छिलके आदि का गोल टुकड़ा जो तागा बटने के तकवे के नीचे लगा रहता है। (६) मालखंभ की एक कसरत जिसमें जिधर के हाथ से मालखंभ लपेटते हैं उसी ओर गर्दन झुकाकर फुरती से दूसरे हाथ के कंधे पर मालखंभ को लेते हुए उड़ान करते हैं।

यौ०—फिरकी का नक्कीकस=मालखंभ की एक कसरत। इसमें एक हाथ अपनी कमर के पास से उलटा ले जाते हैं और दूसरे हाथ से बगल में मालखंभ दबाते हैं और फिर दोनों हाथों की उंगलियों को गठ लेते हैं। इसके पीछे जिधर का हाथ कमर पर होता है उसी ओर सिर और सब धड़ को घुमा कर सिर को नीचे की ओर झुकाते हुए मालखंभ में लगा कर दंडवत करते हैं। फिरकी दंड-एक प्रकार की कसरत या दंड जिसमें दंड करते समय दोनों हाथों को जमा कर दोनों हाथों के बीच में से सिर देकर कमान के समान हाथ उठाये बिना चक्कर मारकर जिस स्थान से चलते हैं फिर वहीं आ जाते हैं।

(७) कुश्ती का एक पेंच। जब जोड़ के दोनों हाथ गर्दन पर हों अथवा एक हाथ गर्दन पर और एक भुजदंड पर हो तब एक हाथ जोड़ की गर्दन पर रख कर दूसरे हाथ से उसके लँगोट को पकड़े और उसे सामने झोंका देते हुए बाहरी टाँग मारकर गिरा दे।

फिरता-संज्ञा पुं० [हिं० फिरना] [स्त्री० फिरती] (१) वापसी। (२) अस्वीकार। जैसे, हुंडी की फिरती।

वि० वापस। लौटाया हुआ। जैसे,—लिया हुआ माल कहीं फिरता होता है?

क्रि० प्र०—करना।—होना।

फिरना—क्रि० अ० [हिं० फेरना का अकर्मक रूप] (१) इधर उधर चलना। कभी इस ओर कभी उस ओर गमन करना। इधर उधर डोलना। ऐसा चलना जिसकी कोई एक निश्चित दिशा न रहे। भ्रमण करना। जैसे, (क) वह धूप में दिन भर फिरा करता है। (ख) वह चंदा इकट्ठा करने के लिए फिर रहा है। उ०—(क) खेह उड़ानी जाहि घर हेरत फिरत सो खेह। पिय आवहिं अब दृष्टि तेहि अंजन नयन करेह।—जायसी। (ख) तृखित निरखि रविकर भव वारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी।—तुलसी। (ग) फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रताप सोच नहिं सपने।—तुलसी। (२) टहलना। विचरना। सैर करना। जैसे,—संध्या को इधर उधर फिर आया करो।

यौ०—घूमना फिरना।

(३) चक्कर लगाना। बार बार फेरे खाना। लट्टू की तरह एक ही स्थान पर घूमना अथवा मंडल बाँधकर परिधि के किनारे घूमना। नाचना या परिक्रमण करना। जैसे, लट्टू का फिरना, घर के चारों ओर फिरना। उ०—(क) फिरत नीर जोजन लख वाका। जैसे फिरै कुम्हार के चाका।—जायसी। (ख) फिरैं पाँच कोतवाल सो फेरी। काँपै पाँव चपत वह पौरी।—जायसी। (४) ऐंठा जाना। मरोड़ा जाना। जैसे,—ताली किसी ओर को फिरती ही नहीं है। (५) लौटना। पलटना। वापस होना। जहाँ से चले थे उसी ओर को चलना। प्रत्यावर्तित होना। जैसे,—(क) वे घर पर मिले नहीं मैं तुरंत फिरा। (ख) आगे मत जाओ, घर फिर जाओ। उ०—(क) आय जनमपत्री जो लिखी। देय असीस फिरे ज्योतिषी।—जायसी। (ख) पुनि पुनि विनय करहिं कर जोरी। जो यहि मारग फिरिय बहोरी। दरसन देब जानि निज दासी। लखी सीय सब प्रेम-पियासी।—तुलसी। (ग) अपने धाम फिरे तब दोऊ जानि भई कछु साँझ। करि दंडवत परसि पद ऋषि के बैठे उपवन माँझ।—सूर।

संयो० क्रि०—आना।—जाना।—पड़ना।

(६) किसी मोल ली हुई वस्तु का अस्वीकृत होकर बेचनेवाले को फिर दे दिया जाना। वापस होना। जैसे, जब सौदा हो गया तब चीज़ नहीं फिर सकती।

संयो० क्रि०—जाना।

(७) एक ही स्थान पर रहकर स्थिति बदलना। सामना दूसरी तरफ़ हो जाना। जैसे,—धक्का लगने से मूर्ति का मुँह उधर फिर गया।

संयो० क्रि०—जाना।

(८) किसी ओर जाते हुए दूसरी ओर चल पड़ना। मुड़ना। घूमना। चलने में रुख बदलना। जैसे,—कुछ दूर सीधी गली में जाकर मंदिर की ओर फिर जाना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—किसी ओर फिरना=प्रवृत्त होना। झुकना। मायल होना। जैसे, उसका क्या जिधर फेरो उधर फिर जाता है। उ०—तसि मति फिरी अहइ जसि भावी।—तुलसी। जी फिरना=चित्त न प्रवृत्त रहना। उचट जाना। हट जाना। विरक्त हो जाना।

(९) विरुद्ध हो पड़ना। खिलाफ़ हो जाना। विरोध पर उद्यत होना। लड़ने या मुकाबला करने के लिए तैयार हो जाना। जैसे, बात ही बात में वह मुझसे फिर गया।

मुहा०—(किसी पर) फिर पड़ना=विरुद्ध होना। क्रुद्ध होना। बिगड़ना।

(१०) और का और होना। परिवर्तित होना। बदल जाना। उलटा होना। विपरीत होना। जैसे, मति फिरना। उ०—काल पाइ फिरति दसा, दयालु! सब ही की, तोहि बिनु मोहिं कबहूँ न कोउ चहैगो। बचन, करम हिय कहौं राम सौंह किए तुलसी पै नाथ के निबाहे निबहैगो।—तुलसी।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—सिर फिरना=बुद्धि भ्रष्ट होना। उन्माद होना।

(११) बात पर दृढ़ न रहना। प्रतिज्ञा आदि से विचलित होना। हटना। जैसे, वचन से फिरना, कौल से फिरना।

संयो० क्रि०—जाना।

(१२) सीधी वस्तु का किसी ओर मुड़ना। झुकना। टेढ़ा होना। जैसे, इस फावड़े की धार फिर गई है।

संयो० क्रि०—जाना।

(१३) चारों ओर प्रचारित होना। घोषित होना। जारी होना। सबके पास पहुँचाया जाना। जैसे, गश्ती चिट्ठी फिरना, दुहाई फिरना। उ०—(क) नगर फिरी रघुबीर दुहाई।—तुलसी। (ख) भइ ज्योनार फिरी खँडवानी। फिर अरगजा कुहकुह आनी।—जायसी। (१४) किसी वस्तु के ऊपर पोता जाना। लीप या पोतकर फैलाया जाना। चढ़ाया जाना। जैसे, दीवार पर रंग फिरना, जूते पर स्याही फिरना। (१५) यहाँ से वहाँ तक स्पर्श करते हुए जाना। रखा जाना।

फिरवा—संज्ञा पुं० [हिं० फिरना] (१) सोने का एक आभूषण जो गले में पहना जाता है। (२) सोने की अँगूठी जो तार को कई फेरे लपेटकर बनाई गई हो।

फिरवाना—क्रि० स० [हिं० 'फेरना' का प्रे०] फेरने का काम कराना। क्रि० स० [हिं० 'फिराना' का प्रे०] फिराने का काम कराना।

फिराक—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वियोग। विछोह। (२) चिंता। सोच। खटका। (३) टोह। खोज।

मुहा०—फिराक में रहना=खोज में रहना। फ़िक्र या तलाश में रहना।

फिराना—क्रि० स० [हिं० फिरना] (१) इधर उधर चलाना। कभी इस ओर कभी उस ओर ले जाना। इधर उधर डुलाना। ऐसा चलाना कि कोई एक निश्चित दिशा न रहे। (२) टहलाना। सैर कराना। जैसे, जाओ, इसे बाहर फिरा लाओ। (३) चक्कर देना। बार बार फेरे खिलाना। लट्टू की तरह एक ही स्थान पर घुमाना अथवा मंडल या परिधि के किनारे घुमाना। नचाना या परिक्रमण कराना। जैसे, लट्टू फिराना, मंदिर के चारों ओर फिराना। उ०—(क) फिरैं लाग बोहित तहँ आई। जस कुम्हार धरि चाक फिराई।—जायसी। (ख) हस्ति पाँच जो आगे आए। ते अंगद धरि सूँड़ फिराए।—जायसी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(४) ऐंठना। मरोड़ना। जैसे, ताली उधर को फिराओ। उ०—मद गजराज द्वार पर ठाढ़ो हरि कह्यो नेकु बचाय। उन नहिँ मान्यो सम्मुख आयो पकर्‍यो पूँछ फिराय।—सूर। (५) लौटाना। पलटाना। उ०—तुम नारायण भक्त कहावत। काहे को तुम मोहिँ फिरावत।—सूर। (६) एक ही स्थान पर रखकर स्थिति बदलना। सामना एक ओर से दूसरी ओर करना। दे० "फेरना"। उ०—मुख फिराय मन अपने रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा।—जायसी।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(७) किसी ओर जाते हुए को दूसरी ओर चला देना। घुमाना। दे० "फेरना"। (८) और का और करना। परिवर्तन करना। बदल देना। दे० "फेरना"। (९) बात पर दृढ़ न रहने देना। विचलित करना। दे० "फेरना"।

फिरार—संज्ञा पुं० [अ०] [वि० फिरारी] भागना। भाग जाना।

मुहा०—फिरार होना=भागना। चल देना।

फिरारी—वि० [फ़ा०] (१) भागनेवाला। भगेड़ू। भगोड़ा। (२) वह अपराधी जो दंड पाने के भय से भागता फिरता हो।

फिरि*†—क्रि० वि० दे० "फिर"।

फिरियाद*‡—संज्ञा स्त्री० [अ० फरियाद] (१) वेदनासूचक शब्द। ओह। हाय। (२) दुहाई। आवेदन। पुकार। उ०—सुख में सुमिरन ना किया दुख में कीनी याद। कहै कबीर ता दास की कैसे लगे फिरियाद।—कबीर।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—होना।—लाना।—लगना।

फिरियादी*†—वि० [फ़ा० फरियादी] (१) फरियाद करनेवाला। अपना दुखड़ा सुनाने के लिए पुकार करनेवाला। (२) आवेदन करनेवाला। नालिश करनेवाला।

फिरिश्ता—संज्ञा पुं० [फ़ा० फरिश्ता] देवदूत।

फिरिहरा—संज्ञा पुं० [हिं० फिरना] एक पक्षी का नाम जिसकी छाती लाल और पीठ काले रंग की होती है।

फिरिहरी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० फिरना+हारा (प्रत्य०)] फिरकी नाम का खिलौना जिसे बच्चे नचाते हैं।

फिर्का—संज्ञा पुं० दे० "फिरका"।

फिल्ली—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) लोहे की छड़ का एक टुकड़ा जो जुलाहों के करघे में तूर में लगाया जाता है। † (२) पिँडली।

फिश्—अव्य० [अनु०] धिक्। फिट्। घृणासूचक अव्यय।

फिस—वि० [अनु०] कुछ नहीं।

विशेष—जब कोई आदमी बड़ी तैयारी या मुस्तैदी से कोई काम करने चलता है और उससे नहीं हो सकता तब तिर-स्कार रूप में यह शब्द कहा जाता है। जैसे,—बहुत कहते थे कि यह करेंगे वह करेंगे पर सब फिस।

मुहा०—टाँय टाँय फिस=थी तो बड़ी धूम पर हुआ कुछ नहीं। **फिस हो जाना**=हवा हो जाना। न रह जाना। जैसे, इरादा फिस होना, मामला फिस होना।

फिसड्डी—वि० [अनु० फिस] (१) जिससे कुछ करते धरते न बने। जिसका कुछ किया न हो। जो काम हाथ में लेकर उसे पूरा न कर सके। (२) जो काम में पीछे रहे। जो किसी बात में बढ़ न सके।

फिसफिसाना—क्रि० अ० [अनु० फिस] (१) फिस होना। (२) ढीला पड़ना। शिथिल होना। जोर के साथ न चलना।

फिसलन—संज्ञा स्त्री० [हिं० फिसलना] (१) फिसलने की क्रिया या भाव। चिकनाई के कारण न जमने या ठहरने की क्रिया या भाव। रपटन। (२) ऐसा स्थान जहाँ चिकनाई के कारण पैर या और कोई वस्तु न जम सके। चिकनी जगह जहाँ पड़ने से कोई वस्तु न ठहरे, सरक जाय।

फिसलना—क्रि० अ० [सं० प्र+सरण] (१) चिकनाहट और गीलेपन के कारण पैर आदि का न जमना। चिकनाई के कारण पैर आदि का न ठहर सकना, सरक जाना। रपटना। खिसलना। जैसे, कीचड़ में पैर फिसलना, पत्थर पर जमी काई पर शरीर फिसलना।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

(२) प्रवृत्त होना। झुकना। जैसे,—जिधर अपना लाभ देखते हो उसी ओर फिसल जाते हो।

मुहा०—जी फिसलना=मन प्रवृत्त या मोहित होना।

वि० जिस पर फिसल जायँ। बहुत चिकना। जैसे, फिस-लना पत्थर।

फिसलाना—क्रि० स० [हिं० फिसलना] किसी को ऐसा करना कि वह फिसल जाय।

फ़िहरिश्त-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सूची। सूचीपत्र। बीजक।

फीचना‡-क्रि० स० [अनु० फिच् फिच्] पछारना। कपड़े को पटक कर साफ करना। धोना।

फी-अव्य० [अ०] प्रति एक। हर एक। जैसे,—(क) फ़ी आदमी दो आने लगेंगे। (ख) फी रुपया दो आना सूद मिलता है।

फीका-वि० [सं० अपक्व, प्रा० अपिक्क] (१) स्वादहीन। सीठा। नीरस। बे ज़ायका। जो चखने में अच्छा न लगे। अरुचिकर। उ०—(क) माया तरवर त्रिविध का साख त्रिषय संताप। शीतलता सपने नहीं फल फीका तन ताप।—कबीर। (ख) जे जल देखा सोई फीका। ताकर काह सराहे नीका।—जायसी। (ग) प्रभु पद प्रीति न सामझ नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागहि फीकी।—तुलसी। (घ) देह गेह सनेह अर्पण कमल लोचन ध्यान। सूर उनको भजन देखत फीको लागत ज्ञान।—सूर। (२) जो चटकीला न हो। जो शोख न हो। धूमला। मलिन। उ०—(क) चलब नीति मग राम पग नेह निबाहब नीक। तुलसी पहिरिय सो बसन जो न पखारे फीक।—तुलसी। (ख) चटक न छाड़त घटत हूँ सज्जन नेह गँभीर। फीको परे न बरु फटै रँग्यो चोल रंग चीर।—बिहारी।

क्रि० प्र०—करना।—पकड़ना।—होना।

(३) बिना तेज का। कांतिहीन। प्रभाहीन। बेरौनक़। मंद। जैसे, चेहरा फीका पड़ना। उ०—दुलहा दुलहिन मिलि गए फीकी परी बरात।—कबीर। (४) प्रभावहीन। व्यर्थ। निष्फल। उ०—(क) प्रभु सों कहत सकुचात हौं परो जिनि फिरि फीको। निकट बोलि बलि बरजिये परिहरि ख्याल अब तुलसी दास जड़ जी को।—तुलसी। (ख) नीकी दई अनाकनी फीकी पड़ी गुहारि। मनो तज्यो तारन विरद बारिक बारन तारि।—बिहारी।

फीता-संज्ञा पुं० [पुर्त०] (१) नेवार की पतली धज्जी, सूत, आदि जो किसी वस्तु को लपेटने या बाँधने के काम में आता है। उ०—खेलत चंग से चित्त चली ज्यों उँधी रघुराज के प्रेम के फीता।—रघुराज। (२) पतला किनारा वा कोर।

फीफरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "पेफरी"।

फीरनी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० फिरनी] एक प्रकार की खीर जो दूध में चावल का बारीक आटा पकाकर बनाई जाती है। इसे मुसलमान अधिक खाते हैं।

फीरोजा-संज्ञा पुं० [फ़ा० मि० सं० परेज, पेरोज] एक प्रकार का नग या बहुमूल्य पत्थर जो हरापन लिए नीले रंग का होता है।

विशेष—इसमें अलमीनियम फासफेट और कुछ लोहे और ताँबे का योग होता है। अच्छा फीरोजा फारस की पहाड़ियों में होता है जहाँ से रूम होता हुआ यह युरोप गया। अमेरिका से भी फीरोजा बहुत आता है। उसकी गिनती रत्नों में है और यह आभूषणों में जड़ा जाता है। हलके मोल के पत्थर पच्चीकारी में भी काम आते हैं। वैद्य लोग इसका व्यवहार औषध के रूप में भी करते हैं। यह कसैला, मीठा और दीपन कहा गया है।

पर्य्या०—हरिताश्म। भस्मांग। पेरोज।

फीरोजी-वि० [फ़ा०] फीरोजे के रंग का। हरापन लिए नीला।

विशेष—इस रंग में कपड़ा इस प्रकार रँगा जाता है। पहले कपड़े को तूतिये के पानी में रँगते हैं, फिर तूतिये से चौगुना चूना मिले पानी में उसे बोर देते हैं और फिर पानी में निथारते हैं। यह क्रिया तीन बार करते हैं।

फील-संज्ञा पुं० [फ़ा०] हाथी। उ०—झालरि झुकत झलकत झपे फीलन पैं अली अकबर खाँ के सुभट सराह के। अरि उर रोर सोर परत संसार घोर बाजत नगारे नरवर नाह के।—गुमान।

फीलखाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] हथिसार। हस्तिशाला। वह घर जहाँ हाथी बाँधा जाता हो।

फीलपा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक रोग जिसमें पैर फूल कर हाथी के पैर की तरह हो जाता है। यह रोग शरीर के दूसरे अंगों पर भी आक्रमण करता है।

फीलपाया-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) ईंटे का बना हुआ मोटा खंभा जिस पर छत ठहराई जाती है। इसे पीलपाया भी कहते हैं। (२) दे० "फीलपा"।

फीलवान-संज्ञा पुं० [फ़ा०] हाथीवान।

फीली-संज्ञा स्त्री० [सं० पिंड] पिंडली। घुटने के नीचे एड़ी तक का भाग। उ०—सिंह की चाल चलै डग ढीली। रोवा बहुत जाँघ औ फीली।—जायसी।

फील्ड-संज्ञा पुं० [अं०] (१) खेत। मैदान। (२) गेंद खेलने का मैदान।

फीस-संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) कर। शुल्क। (२) मेहनताना। उजरत। जैसे, डाक्टर की फीस, स्कूल की फीस।

क्रि० प्र०—लगाना।

फुँकना-क्रि० स० [हिं० फूँकना] (१) फूँकने का अकर्मक रूप। (२) जलना। भस्म होना।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) नष्ट होना। बरबाद होना। व्यर्थ खर्च होना। जैसे, इतना रुपया फुँक गया। (४) मुँह की हवा भरकर निकाला जाना।

संज्ञा पुं० (१) बाँस, पीतल आदि की नली जिसमें मुँह की हवा भरकर आग पर छोड़ते हैं। फुँकनी। (२) प्राणियों के शरीर का वह अवयव जिसमें मूत्र रहता है। यह पेड़ू के पास होता है।

फुँकनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फुंकना] (१) नली जिसमें मुँह की हवा भरकर आग पर इसलिए छोड़ते हैं जिसमें वह दहक जाय। (२) भाथी।

फुँकरना-क्रि० अ० [हिं० फुंकार] फूत्कार छोड़ना। फूँ फूँ शब्द करना। मुहँ से हवा छोड़ना। उ०—(क) तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल।—तुलसी। (ख) कहै पद्माकर त्यों हुंकरत फुंकरत, फैलत फलात फाल बाँधत फलंका में।—पद्माकर।

फुँकवाना- क्रि० स० [हिं० 'फूंकना' का प्रे०] (१) फूँकने का काम कराना। (२) मुँह से हवा का झोंका निकलवाना। (३) जलवाना। भस्म करवाना।

फुँकाना-क्रि० स० [हिं० 'फूकना' का प्रे०] फूँकने का काम कराना।

फुँकार-संज्ञा पु० [अनु०] साँप बैल आदि के मुँह वा नाक के नथनों से बलपूर्वक वायु के बाहर निकलने से उत्पन्न शब्द। फूत्कार। उ०—तुम जाहु बालक छाड़ि यमुना स्वामि मेरो जागिहै। अंग कारो मुख विकारी दृष्टि परे तोहि लागिहै..........तब धाइ धायो जाइ जगायो मानो छूटी हाथियाँ। सहस फन फुंकार छाँड़े जाई काली नाथियाँ।—सूर।

फुँदना-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+फंद ?] (१) फूल के आकार की गाँठ जो बंद, इजारबंद, चोटी बाँधने या धोती कसने की डोरी, झालर आदि के छोर पर शोभा के लिए बनाते हैं। फुलरा। झब्बा। उ०—उठी सो धूम नयन गरुवानी। लागी परै आँसु बहिरानी। भीने लागि चुए कटमुंदन। भीजे भँवर कमल सिर फुंदन।—जायसी। (२) तराजू की डंडी के बीच की रस्सी की गाँठ। (३) कोड़े की डोरी के छोर पर की गाँठ।

फुँदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फंदा] फंदा। गाँठ। उ०—लीन्ही उसास मलीन भई दुति दीन्ही फुँदी फुफुदी की छिपाइ कै।—देव।

फुंसी-संज्ञा स्त्री० [सं० पनसिका, पा० फनस] छोटी फोड़िया।

यौ०—फोड़ा फुंसी।

फुआरा†-संज्ञा पुं० दे० "फुहारा"।

फुकना-क्रि० अ० दे० "फुँकना"।

संज्ञा पुं० दे० "फुँकना"।

फुकाना-क्रि० स० दे० "फुँकाना"।

फुचड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] कपड़े, दरी, कालीन, चटाई आदि बुनी हुई वस्तुओं में बाहर निकला हुआ सूत या रेशा। जैसे,—थान में जो जगह जगह फुचड़े निकले हैं उन्हें कैंची से काट दो।

क्रि० प्र०—निकलना।

फुट-वि० [सं० स्फुट] (१) जिसका जोड़ा न हो। अयुग्म। एकाकी। अकेला। (२) जो लगाव में न हो। जो किसी सिलसिले में न हो। जिसका संबंध किसी क्रम या परंपरा से न हो। पृथक्। अलग।

संज्ञा पुं० [अं० फुट] आयत-विस्तार का एक अँगरेज़ी मान। लंबाई चौड़ाई मापने की एक माप जो १२ इंच या ३६ जौ के बराबर होती है।

फुटकर-वि० [सं० स्फुट+कर=(प्रत्य०)।] (१) अयुग्म। विषम। फुट। जिसका जोड़ा न हो। एकाकी। अकेला। (२) अलग। पृथक्। जो लगाव में न हो। जिसका संबंध किसी क्रम या परंपरा के साथ न हो। जिसका कोई सिलसिला न हो। जैसे, फुटकर कविता। (३) भिन्न भिन्न। कई प्रकार का। कई मेल का। (४) खंड खंड। थोड़ा थोड़ा। इकट्ठा नहीं। थोक का उलटा। जैसे,—(क) (१) वह फुटकर सौदा नहीं बेंचता। (ख) चीज इकट्ठा लिया करो फुटकर लेने में ठीक नहीं पड़ता।

फुटकल-वि० दे० "फुटकर"।

फुटका-संज्ञा पुं० [सं० स्फोटक] (१) फफोला। छाला। आबला।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(२) धान, मक्के, ज्वार आदि का लावा।

संज्ञा पुं० [देश०] वह कड़ाह जिसमें गन्ने का रस पकता है।

फुटकी-संज्ञा स्त्री० [सं० पुटक] (१) किसी वस्तु के छोटे लच्छे, या जमे हुए कण जो पानी, दूध आदि में अलग अलग दिखाई पड़ते हैं। बहुत छोटी अंठी। जैसे, (क) दूध फट गया है, उसमें फुटकियाँ सी दिखाई पड़ती हैं। (ख) घुले हुए बेसन की फुटकियाँ। (२) खून, पीब आदि का छींटा जो किसी वस्तु (जैसे, मल, थूक आदि) में दिखाई दे। (३) एक प्रकार की छोटी चिड़िया। फुदकी।

फुटनोट-संज्ञा स्त्री० [अं०] वह टिप्पणी जो किसी लेख वा पुस्तक के पृष्ठ में नीचे की ओर दी जाती है।

फुटपाथ-संज्ञा पुं० [अं०] (१) शहरों में सड़क की पटरी पर का वह मार्ग जिसपर मनुष्य पैदल चलते हैं। (२) पगडंडी।

फुटबाल-संज्ञा पुं० [अं०] बड़ा गेंद जिसे पैर की ठोकर से उछाल कर खेलते हैं।

फुटेहरा-संज्ञा पुं० [हिं० फूटना+हरा=फल] (१) मटर वा चने का दाना जो भूनने से ऐसा खिल गया हो कि छिलका फट गया हो। (२) चने का भुना हुआ चबैन।

फुटैल-वि० दे० "फुट्टैल"।

फुट्ट-वि० दे० "फुट"।

फुट्टैल–वि० [सं० स्फुट, पा० फुट+ऐल (प्रत्य०)] (१) झुंड वा समूह से अलग। अकेला रहनेवाला। (२) जिसका जोड़ा न हो। जो जोड़े से अलग हो। (विशेषत: जानवरों के लिए) वि० [हिं० फूटना] फूटे भाग्य का। अभागा। उ०—स्वारथ सब इंद्रिय समूह पर विरहा धीर धरत। सूरदास घर घर की फुटेरी कैसे धीर धरत।—सूर।

फुदकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) उछल उछल कर कूदना उछलना। (२) हर्ष से फूल जाना। उमंग में आना। फूले न समाना।

फुदकी–संज्ञा० स्त्री० [हिं० फुदकना] एक छोटी चिड़िया जो उछल उछल कर कूदती हुई चलती है।

फुनंग–संज्ञा स्त्री० [सं० पुलक] वृक्ष वा शाखा का अग्रभाग वा अंकुर। जैसे,—अगर कोई दरख्त की फुनंग पर जा चढ़े··· तो भी काल नहीं छोड़ता।

फुन–अव्य० [सं० पुन:] फिर। पुन:।

फुनगी–संज्ञा स्त्री० [सं० पुलक] वृक्ष और वृक्ष की शाखाओं का अग्रभाग। फुनंग। अंकुर।

फुनना–संज्ञा पुं० दे० "फुंदना"।

फुप्फुस–संज्ञा पुं० [सं०] फेफड़ा।

फुफँदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+फंद] लहँगे के इज़ारबंद या स्त्रियों की धोती कसने की डोरी की गाँठ जो कमर पर सामने की ओर रहती है और जिसके खींचने से लहँगा या धोती खुल जाती है। नीवी। उ०—आँगी कसै उकसै कुच ऊँचे हँसै हुलसै फुफँदीन की फूँदैं।—देव।

फुफकाना–क्रि० अ० [अनु०] फुफकारना। उ०—कोप करि जौ लौं एक फन फुफकावे काली, तौ लौं बनमाली सोऊ फन पै फिरत हैं।—पद्माकर।

फुफकार–संज्ञा पुं० [अनु०] फूँक जो साँप मुँह से निकालता है। साँप के मुँह से निकली हुई हवा का शब्द। फुँकार। फूत्कार।

फुफकारना–क्रि० अ० [हिं० फुफकार] साँप का मुँह से फूँक निकालना। मुँह से हवा निकालकर शब्द करना। फूत्कार करना। जैसे, साँप का फुफकारना।

फुफी*–संज्ञा स्त्री० दे० "फूफी"।

फुफुनी–संज्ञा स्त्री० दे० "फुफँदी"।

फुफू*†–संज्ञा स्त्री० दे० "फूफी"।

फुफेरा–वि० [हिं० फूफा+रा] [स्त्री० फुफेरी] फूफा से उत्पन्न। जैसे, फुफेरा भाई, फुफेरी बहिन।

फुर†–वि० [हिं० फुरना] सत्य। सच्चा। उ०—(क) वह सँदेस फुर मानि कै लीन्हो शीश चढ़ाय। संतो है संतोष सुख रहहु तो हृदय जुड़ाय।—कबीर। (ख) सुदिन सुमंगल-दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [अनु०] उड़ने में परों का शब्द। पंख फड़फड़ाने की आवाज़। जैसे,—चिड़िया फुर से उड़ गई।

विशेष—'चट' 'पट' आदि अनु० शब्दों के समान यह भी 'से' विभक्ति के साथ ही आता है।

फुरकना–क्रि० स० [अनु०] जुलाहों की बोली में किसी वस्तु को मुँह में चबा कर साँस के ज़ोर से थूकना।

फुरकाना†–क्रि० स० दे० "फड़काना"।

फुरती–संज्ञा स्त्री० [सं० स्फूर्ति=फुरति] शीघ्रता। तेजी। उ०—द्विविद करि क्रोध मधुपुरी आयो······लख्यो बलराम यह सुभट बड़ है कोऊ हल मुसल शस्त्र अपनो संभाज्यो। द्विविद लै शाल को वृक्ष सम्मुख भयो फुरति करि राम तनु फेंकि मार्‍यो।—सूर।

फुरतीला–वि० [हिं० फुरती+ईला] [स्त्री० फुरतीली] जिसमें फुरती हो। जो सुस्त न हो। जो काम में ढिलाई न करे। तेज़।

फुरना–क्रि० अ० [सं० स्फुरण, प्रा० फुरण] (१) स्फुटित होना। निकलना। उद्‌भूत होना। प्रकट होना। उदय होना। उ०—(क) लोग जानै बौरो भयो गयो यह काशी पुरी फुरी मति अति आयो जहाँ हरि गाइये।—प्रिया०। (ख) नील नलिन श्याम, शोभा अगनित काम, पावन हृदय जेहि उर फुरति।—तुलसी। (२) प्रकाशित होना। चमक उठना। झलक पड़ना। उ०—आधी रात बीती सब सोये जिय जान आन राक्षसी प्रभंजनी प्रभाव सो जनायो है। बीजरी सी फुरी भाँति बुरी हाथ छुरी लोह-चुरी डीठि जुरी देखि अंगद लजायो है।—हनुमान। (३) फड़कना। फड़फड़ाना। हिलना। उ०—(क) उग्यो न धनु जनु वीर विगत महि किधौं कहु सुभट दुरे। रोपे लषन विकट भृकुटी करि भुज अरु अधर फुरे।—तुलसी। (ख) अजहुँ अपराध न जानकी की भुज बाम फुरे मिलि लोचन सों।—हनुमान। (४) स्फुटित होना। उच्चरित होना। मुँह से शब्द निकलना। उ०—(क) इनमें को वृषभानु किशोरी·········सूर सोच सुख करि भरि लोचन अंतर प्रीति न थोरी। सिथिल गात मुख बचन फुरति नहिं ह्वै जो गई मति भोरी।—सूर। (ख) उठि के मिले तंदुल हरि लीन्हें मोहन बचन फुरे। सूरदास स्वामी की महिमा टारी नाहिं टरे।—सूर। (५) पूरा उतरना। सत्य ठहरना। ठीक निकलना। जैसा सोचा समझा या कहा गया था वैसा ही होना। उ०—फुरी तुम्हारी बात कही जो मों सों रही कन्हाई।—सूर। (६) प्रभाव उत्पन्न करना। असर करना। लगना। उ०—(क) फुरे न यंत्र मंत्र नहिं लाग चले गुणी गुण हारे। प्रेम प्रीति की व्यथा तप्त तनु सो मोहिं डारति मारे।—सूर। (ख) यंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जाति।—सूर। (७) सफल होना। सोचा हुआ परिणाम उत्पन्न करना। उ०—फुरै न कछु उद्योग जहँ उपजै अति मन सोच।—पद्माकर।

फुरफुर–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) उड़ने में परों की फरफराहट से उत्पन्न शब्द। डैनों का शब्द। (२) पर आदि की रगड़ से उत्पन्न शब्द।

फुरफुराना–क्रि० अ० [अनु० फुरफुर] (१) 'फुर फुर' करना। उड़कर परों का शब्द करना। जैसे, चिड़ियों या फतिंगों का फुरफुराना। (२) किसी हल्की छोटी वस्तु (जैसे, रोएँ, बाल आदि) का हवा में इधर उधर हिलना। हलकी वस्तु का लहराना।

क्रि० स० (१) पर या और कोई हलकी वस्तु हिलना जिससे फुरफुर शब्द हो। जैसे, पर फुरफुराना। (२) कान में रुई की फुरेरी फिराना। जैसे,—कान में खुजली है तो फुरेरी डालकर फुरफुराओ।

फुरफुराहट–संज्ञा स्त्री० [अनु०] 'फुरफुर' शब्द होने का भाव। पंख फड़फड़ाने का भाव।

फुरफुरी–संज्ञा स्त्री० [अनु० फुरफुर] 'फुरफुर' शब्द होने का भाव। पंख फड़फड़ाने का भाव। उ०—राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली।—शिवप्रसाद।

मुहा०—फुरफुरी लेना=उड़ने के लिये पंख हिलाना।

फुरमान–संज्ञा पुं० [फ़ा० फरमान] (१) राजाज्ञा। अनुशासन-पत्र। (२) मानपत्र। सनद। (३) आज्ञा। आदेश। उ०—मंगल उत्पत्ति आदि का सुनियो संत सुजान। कहै कबीर गुरु जाग्रत समरथ का फुरमान।—कबीर।

फुरमाना‡–क्रि० स० [फ़ा० फरमान] कहना। आज्ञा देना। दे० "फरमाना"। उ०—तब नहिं होते गाय कसाई। कहु बिसमिलह किन फुरमाई।—कबीर।

फुरसत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अवसर। समय। (२) पास में कोई काम न होने की स्थिति। किसी कार्य्य में न लगे रहने की अवस्था। काम से निबटने या खाली होने की हालत। अवकाश। निवृत्ति। छुट्टी। जैसे, इस वक्त फुरसत नहीं है दूसरे वक्त आना।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।—होना।

मुहा०—फुरसत पाना=नौकरी से छूटना। बरखास्त होना। (लश०)। फुरसत से=खाली वक्त में। धीरे धीरे। बिना उतावली के। जैसे, यह काम दे जाओ, मैं फुरसत से करूँगा।

(३) बीमारी से छुटकारा। रोग से मुक्ति। आराम।

फुरहरना‡–क्रि० अ० [सं० स्फुरण] स्फुरित होना। निकलना। प्रादुर्भूत होना। उ०—छप्पन कोटि बसंदर बरा। सवा लाख पर्वत फुरहरा।—जायसी।

फुरहरी–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) पर को फुलाकर फड़फड़ाना। उ०—सबै उड़ान फुरहरी खाई। जो भा पंख पाँख तन लाई।—जायसी।

क्रि० प्र०—खाना।—लेना।

(२) फड़फड़ाहट। फड़कने का भाव। फड़कना। उ०—फरकि फरकि बाम बाहु फुरहरी लेत खरकि, खरकि खुलै मैन सर खोजहै।—देव।

क्रि० प्र०—खाना।—लेना।

(३) कपड़े आदि के हवा में हिलने की क्रिया या शब्द। फरफराहट। (४) कँपकँपी। फुरेरी। कंप और रोमांच। दे० "फुरेरी।" उ०—नहिं अन्हाय नहिं जाय घर चित चिहुट्यो तकि तीर। परसि फुरहरी लै फिरति बिहँसति धँसति न नीर।—बिहारी।

मुहा०—फुरहरी लेना=काँपना। थरथराना।

(५) दे० "फुरेरी।"

फुराना–क्रि० स० [हिं० फुर] (१) सच्चा ठहराना। ठीक उतारना। (२) प्रमाणित करना।

क्रि० अ० दे० "फुरना"।

फुरेरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फुरफुराना] (१) सींक जिसके सिरे पर हलकी रुई लपेटी हो, और जो तेल, इत्र, दवा आदि में डुबो कर काम में लाई जाय। (२) सरदी, भय आदि के कारण थरथराहट होना और रोंगटे खड़े होना। रोमांच-युक्त कंप।

मुहा०—फुरेरी आना=झुरझुरी होना। सरदी, डर आदि के कारण कँपकँपी होना। फुरेरी लेना=(१) सरदी, भय आदि के कारण काँपना। कँपकँपी के साथ रोंगटे खड़े करना। थरथराना। उ०—नहिं अन्हाय नहिं जाय घर चित चिहुट्यो तकि तीर। परसि फुरहरी लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर।—बिहारी। (२) फड़फड़ाना। फड़कना। हिलना। उ०—फरकि फरकि बाम बाहु फुरहरी लेति, खरकि खरकि उठै मैन सर खोजहै।—देव। (३) होशियार होना। चौकना। एक बारगी सँभल जाना।

फुर्ती–संज्ञा स्त्री० दे० "फुरती"।

फुर्सत–संज्ञा स्त्री० दे० "फुरसत"।

फुलका–संज्ञा पुं० [हिं० फूलना] (१) फफोला। छाला। उ०—तब तिय कर फुलका करि आयो। कछु दिन में ताते सुत जायो।—रघुराज। (२) हलकी और पतली रोटियाँ। चपाती। (३) एक छोटा कड़ाह जो चीनी के कारखाने में काम आता है।

फुलचुही–संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+चूसना] नीलापन लिए काले रंग की एक चमकती चिड़िया जो फूलों पर उड़ती फिरती है। इसकी चोंच पतली और कुछ लंबी होती है जिससे वह फूलों का रस चूसती है। उ०—रायमुनि तुम औरतमुही। अलि मुख लागि भई फुलचुही।—जायसी।

फुलझड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+ झड़ना] (१) एक प्रकार की

आतशबाज़ी जिससे फूल की सी चिनगारियाँ निकलती हैं। उ०—बिहँसी शशि तरई जनु फरी। कैधौं रैन छुटै फुलझरी।—जायसी।

क्रि० प्र०—छोड़ना।

(२) कही हुई कोई ऐसी बात जिससे कुछ आदमियों में झगड़ा विवाद या और कोई उपद्रव हो जाय। आग लगानेवाली बात।

क्रि० प्र०—छूटना।—छोड़ना।

फुलझरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "फुलझड़ी"।

फुलनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूलना] एक बारहमासी घास जो प्रायः ऊसर भूमि में होती है।

फुलरा-संज्ञा पुं० [हिं० फूल] फुँदना।

फुलवर-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+वार] एक कपड़ा जिसपर रेशम के बेल बूटे बुने या कढ़े होते हैं।

फुलवाई*-संज्ञा स्त्री० दे० "फुलवाड़ी"। उ०—(क) एक सखी सिय संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई।—तुलसी। (ख) इक दिन शुक्रसुता मन आई। देखौं जाय फूल फुलवाई।—सूर।

फुलवाड़ी-संज्ञा स्त्री० दे० "फुलवारी"।

फुलवारी*-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+वारी] (१) पुष्पवाटिका। उद्यान। बगीचा। उ०—(क) आपुहि भूल फूल फुलवारी आपुहि चुनि चुनि खाई। कहैं कबीर तेई जन उबरे जेहि गुरु लियो जगाई।—कबीर। (ख) पुनि फुलवारि लागि चहुँ पासा। वृक्ष बेधि चंदन भइ बासा।—जायसी। (२) कागज़ के बने हुए फूल और वृक्षादि जो ठाट पर लगा कर विवाह में बरात के साथ निकाले जाते हैं।

फुलसरा-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+सार] काले रंग की एक चिड़िया जिसके सिर पर सफ़ेद छींटे होते हैं।

फुलसुँघी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+सूँघना] एक चिड़िया। फुलचुही।

फुलहारा-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+हारा] [स्त्री० फुलहारी] माली। उ०—लैके फूल बैठ फुलहारी। पान अपूरब धरे सँवारी।—जायसी।

फुलांग-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+अंग] एक प्रकार की भांग।

फुलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूलना] (१) दे० "सरफुलाई"। (२) खुखंडी। (३) एक प्रकार का बबूल जो पंजाब में सिंधु और सतलज नदियों के बीच की पहाड़ियों पर होता है। इसके पेड़ बहुत ऊँचे नहीं होते और विशेष कर खेतों की बाढ़ों पर लगाए जाते हैं। इसकी लकड़ी मज़बूत और ठोस होती है और कोल्हू की जाठ और गाड़ियों के पहिये आदि बनाने के काम में आती है। इससे एक प्रकार का गोंद निकलता है जो औषध में काम आता है और अमृतसर का गोंद कहलाता है। फुलाह।

फुलाना-क्रि० स० [हिं० फूलना] (१) किसी वस्तु के विस्तार या फैलाव को उसके भीतर वायु आदि का दबाव पहुँचा कर बढ़ाना। भीतर के दबाव से बाहर की ओर फैलाना। उ०—(क) हरषित खगपति पंख फुलाए।—तुलसी।

मुहा०—मुँह फुलाना वा गाल फुलाना=मान करना। रिसाना। रूठना।

(२) किसी को पुलकित वा आनंदित कर देना। किसी में इतना आनंद उत्पन्न करना कि वह आपे के बाहर हो जाय। उ०—तुलसी भनित भली भामिनि उर सों पहिराइ फुलावों।—तुलसी। (३) किसी में गर्व उत्पन्न करना। गर्वित करना। घमंड बढ़ाना। जैसे,—तुम्हीं ने तो तारीफ़ कर करके उसे और फुला दिया है। (४) कुसुमित करना। फूलों से युक्त करना। उ०—चावर है गेहूँ रहे कबौं उरद है आय। कबहुँ मुदगर चिबुक तिल सरसों देत फुलाय।—मुबारक।

क्रि० अ० दे० "फूलना"।

फुलायल‡-संज्ञा पुं० दे० "फुलेल"।

फुलाव-संज्ञा पुं० [हिं० फूलना] फूलने की क्रिया या भाव। फूलने की अवस्था। उभार या सूजन।

फुलावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूलना] फूलने की क्रिया या भाव। उभार या सूजन।

फुलावा-संज्ञा पुं० [हिं० फूल] स्त्रियों के सिर के बालों को गूँथने की डोरी जिसमें फूल वा फुँदने लगे रहते हैं। खजुरा।

फुलिंग*-संज्ञा पुं० [सं० स्फुलिंग, प्रा० फुलिंग] चिनगारी। उ०—जोन्ह लगै अब पावक पुंज औ कुंज के फूल फुलिंग ज्यों लागे।

फुलिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल] (१) किसी कील या छड़ के आकार की वस्तु का फूल की तरह उभरा और फैला हुआ गोल सिरा। (२) कील या काँटा जिसका सिरा फूल की तरह फैला हुआ, गोल और मोटा हो। (३) एक प्रकार की लौंग (गहना) जो कान में पहनी जाती है।

फुलिसकेप-संज्ञा पुं० [अं० फूल्सकैप] एक प्रकार का चिकना सफेद कागज़ जिसके भीतर हल्की लकीरें पड़ी रहती हैं।

विशेष—पहले इसके तख्ते में मनुष्य के सिर का चित्र बना रहता था जिस पर नोकदार टोपी होती थी। इसी कारण इसे 'फूलस कैप' कहने लगे जिसका अर्थ बेवकूफ की टोपी होता है। अब इस कागज में अनेक चिह्न बनाए जाते हैं। इस कागज की माप १२×१५ वा १२½×१६ इंच होती है।

फुलुरिया-संज्ञा स्त्री० [देश०] कपड़े का एक टुकड़ा जो छोटे बच्चों के चूतड़ के नीचे इसलिए बिछाया वा रखा जाता है कि उनका मल दूसरी जगह न लगे। गँदतरा।

फुलेरा-संज्ञा पुं० [हिं० फूल] फूल की बनी हुई छतरी जो देवताओं के ऊपर लगाई जाती है ।

फुलेल-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+तेल] (१) फूलों की महक से बासा हुआ तेल जो सिर में लगाने के काम में आता है । सुगंधयुक्त तेल ।

विशेष—तिल को धोकर छिलका अलग कर देते हैं । ताज़े फूलों की कलियाँ चुनकर बिछा दी जाती हैं और उनके ऊपर तिल छितरा दिए जाते हैं । तिलों के ऊपर फिर फूलों की कलियाँ बिछाई जाती हैं । कलियों के खिलने पर फूलों की महक तिलों में आ जाती है । इस प्रकार कई बार तिलों को फूलों की तह पर फैलाते हैं । जितना ही अधिक तिल फूलों में बासा जाता है उतनी ही अधिक सुगंध उसके तेल में होती है । इस प्रकार बासे हुए तिलों को पेलकर कई प्रकार के तेल तैयार होते हैं; जैसे, चमेली का तेल, बेले का तेल । गुलाब के तेल को गुलरोगन कहते हैं । उ०—(क) उर धारी लटैं छूटीं आनन पै, भीजी फुलेलन सों, आली हरि संग केलि ।—सूर । (ख) रे गंधी, मतिमंद तू अतर दिखावत काहि । करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि ।—बिहारी ।

(२) एक पेड़ जो हिमालय पर कुमाऊँ से दारजिलिंग तक होता है । इसके फल की गिरी खाई जाती है और उससे तेल भी निकलता है जो साबुन और मोमबत्ती बनाने के काम में आता है । लकड़ी हलके भूरे रंग की होती है जिसकी मेज़, कुरसी आदि बनती है ।

फुलेली-संज्ञा स्त्री० [हिं० फुलेल] काँच आदि का वह बड़ा बरतन जिसमें फुलेल रखा जाता है ।

फुलेहरा†-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+हार] सूत, रेशम आदि के बने हुए झब्बेदार बंदनवार जो उत्सवों में द्वार पर लगाए जाते हैं । उ०—प्रदीप पाँति भावती सुमंगलानि गावती । सुदाम दाम पावती फुलेहरानि लावती ।—रघुराज ।

फुलौरा-संज्ञा पुं० [हिं० फुलौरी] बड़ी फुलौरी । पकौड़ा ।

फुलौरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+बरी] चने या मटर आदि के बेसन की बरी । बेसन की पकौड़ी । उ०—पापर, बरी, फुलौरि, मिथौरी । कूरबरी, कचरी, पीठौरी ।—सूर ।

विशेष—बेसन को पानी में खूब फेटकर उसे खौलते हुए घी या तेल में थोड़ा थोड़ा करके डालते हैं जिसमें फूल और पक कर गोल गोल बरी बन जाती हैं ।

फुल्ल-वि० [सं०] फूला हुआ । विकसित ।

फुल्लदाम-संज्ञा पुं० [सं० फुल्लदामन्] उन्नीस वर्ण की एक वृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १७ वाँ वर्ण लघु होता है ।

फुल्ली-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल] (१) फुलिया । (२) फूल के आकार का कोई आभूषण या उसका कोई भाग ।

फुवारा-संज्ञा पुं० दे० "फुहारा" ।

फुस-संज्ञा स्त्री० [अनु०] वह शब्द जो मुँह से साफ फूटकर न निकले । बहुत धीमी आवाज़ ।

मुहा०—फुस से=बहुत धीरे से । अत्यंत मंद स्वर से । जैसे, जो बात होती है वह उसके पास जाकर फुस से कह आता है ।

फुसकारना*†-क्रि० अ० [अनु०] फूँक मारना । फूत्कार छोड़ना । उ०—ऐसो फैल परत फुसकारत ही में मानों तारन को वृंद फूतकारन गिरत है ।—पद्माकर ।

फुसड़ा-संज्ञा पुं० दे० "फुचड़ा" ।

फुसफुसा-वि० [हिं० फूस, अनु० फुस] (१) जो दबाने में बहुत जल्दी चूर चूर हो जाय । जो कड़ा या करारा न हो । नरम । ढीला । (२) फुस से टूट जानेवाला । कमज़ोर । (३) जो तीक्ष्ण न हो । मंदा । मद्धिम । जैसे, फुसफुसा तंबाकू ।

फुसफुसाना-क्रि० स० [अनु०] फुसफुस करना । इतना धीरे धीरे कहना कि शब्द व्यक्त न हो । बहुत ही दबे हुए स्वर से बोलना ।

फुसलाना-क्रि० स० [हिं० फिसलाना] (१) बच्चों को शांत रखने के लिए किसी प्रकार उनका ध्यान दूसरी ओर ले जाना । भुलाकर शांत और चुप रखना । बहलाना । जैसे,—बच्चों को फुसलाना सब नहीं जानते । (२) अनुकूल करने के लिए मीठी मीठी बातें कहना । किसी बात के पक्ष में या किसी ओर प्रवृत्त करने के लिये इधर उधर की बातें करना । भुलावे की बातें करना । चकमा देना । झाँसा देना । बहकाना । उ०—बुद्धि की निकाई कछु जाति है न गाई लाल ऐसी फुसलाई है, मिलाई लाल उर सों ।—रघुनाथ । (३) मीठी मीठी बातें कहकर अनुकूल करना । इधर उधर की बातें करके किसी ओर प्रवृत्त करना । भुलावा देकर अपने मतलब पर लाना । जैसे, (क) वह हमारे नौकर को फुसला ले गया । (ख) दूसरे फरीक ने गवाहों को फुसला लिया ।

संयो० क्रि०—लेना ।

(४) मनाना । संतुष्ट करने के लिए प्रिय और विनीत वचन कहना । उ०—राजा ने उन ब्राह्मणों के पाँव पड़ पड़ अनेक भाँति फुसलाया समझाया, पर उन तामसी ब्राह्मणों ने राजा का कहना न माना ।—लल्लू ।

फुहार-संज्ञा पुं० [सं० फूत्कार=फूँक से उठा हुआ पानी का छींटा या बुलबुला] (१) पानी का महीन छींटा । जलकण । (२) महीन बूँदों की झड़ी । झींसी । उ०—बारि फुहार भरे बदरा सोइ सोहत कुंजर से मतवारे ।—श्रीधर ।

क्रि० प्र०—पड़ना।

फुहारा-संज्ञा पुं० [हिं० फुहार] (१) जल का महीन छींटा। (२) जल की वह टोंटी जिसमें से दबाव के कारण जल की महीन धार या छींटे वेग से ऊपर की ओर उठकर गिरा करते हैं। जल के छींटे देनेवाला यंत्र। जलयंत्र। उ०—फहरैं फुहारे, नीर नहरैं नदी सी बहैं, छहरैं छबीली छाम छींटिन की छींटी है।—पद्माकर।

फुही-संज्ञा स्त्री० [हिं० फुहार] (१) पानी का महीन छींटा। सूक्ष्म जलकण। (२) महीन महीन बूँदों की झड़ी। झींसी। उ०—(क) सुर बरषत सुमन सुदेस मानो मेघ फुही। मुखमंडित रोरी रँग सेंदुर माँग छुही।—सूर। (ख) फूलि भरें अँग पूरे पराग, परैं रसरूप की चारु फुही सी।

फूँक-संज्ञा स्त्री० [अनु० फू फू] (१) मुँह को बटोर कर वेग के साथ छोड़ी हुई हवा। वह हवा जो ओठों को चारों ओर से दबा कर झोंक से निकाली जाय। जैसे,—वह इतना दुबला-पतला है कि फूँक से उड़ सकता है।

मुहा०—फूँक मारना=जोर से मुँह की हवा छोड़ना। जैसे, आग दहकाने या दिया बुझाने के लिए।

(२) साँस। मुँह की हवा। उ०—कुँवर और उमराव बने बिगरे कछु नाहीं। फूँक माहिं वे बनत फूँक ही सों मिटि जाहीं।—श्रीधर।

मुहा०—फूँक निकल जाना=दम निकल जाना। प्राण निकल जाना।

(३) मंत्र पढ़कर मुँह से छोड़ी हुई वायु जो उस मनुष्य की ओर छोड़ी जाती है जिस पर मंत्र का प्रभाव डालना होता है। उ०—परम परख पाय, न्हाय जमुना के नीर पूरि के पराग अंगराग के अगर तें। द्विजदेव की सौं द्विजराज अंजली के काज जौ लौं चहै पानिप उठाए कंज कर तैं। तौ लौं बन जाय मनमोहन मिलापी कहूँ, फूँक सी चलाई फूँकि बाँसुरी अधर तें। स्वासा काढ़ी नासा तें, वासा तें भुजाएँ काढ़ीं अंजसी न अंजली तें, आखरौ न गर तें।—द्विजदेव।

यौ०—झाड़ फूँक=मंत्र तंत्र का उपचार।

क्रि० प्र०—चलाना।—मारना।

फूँकना-क्रि० स० [हिं० फूँक] (१) मुँह को बटोर कर वेग के साथ हवा छोड़ना। ओठों को चारों ओर से दबाकर झोंक से हवा निकालना। जैसे,—(क) यह बाजा फूँकने से बजता है। (ख) फूँक दो तो कोयला दहक जाय। (ग) उसे फूँक दो तो उड़ जाय। उ०—पुनि पुनि मोहिं दिखाइ कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू।—तुलसी।

विशेष—जिस पर वायु छोड़ी जाती है वह इस क्रिया का कर्म होता है, जैसे,—गर्द फूँक दो उड़ जाय।

संयो० क्रि०—देना।

मुहा०—फूँक फूँक कर पैर रखना या चलना=(१) बचा बचा कर चलना। पैर रखने के पहले जगह को फूँक लेना जिसमें चींटी आदि जीव हट जायँ, पैर के नीचे दब कर न मरने पाएँ। (२) बहुत बचाकर कोई काम करना। बहुत सावधानी से कोई काम करना। कोई बात फूँकना=कान में धीरे से कोई बात कहना। बहकाना। कान भरना।

(२) मंत्र आदि पढ़कर किसी पर फूँक मारना।

यौ०—झाड़ना फूँकना।

(३) शंख, बाँसुरी आदि मुँह से बजाए जानेवाले बाजों को फूँक कर बजाना। जैसे, शंख फूँकना। (४) मुँह की हवा छोड़ दहकाना। फूँककर प्रज्वलित करना। जैसे, आग फूँकना। (५) जलाना। भस्म करना। उ०—(क) या पयाल को फूँकिए तनियक लाई आग। लहना पाया ढूँढ़ता धन्य हमारा भाग।—कबीर। (ख) ताको जननी की गति दीनी परम कृपाल गोपाल। दीन्हों फूँकि काठ तन वाको मिलि कै सकल गुवाल।—सूर।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(६) धातुओं को रसायन की रीति से जड़ी बूटियों की सहायता से भस्म करना। जैसे, सोना फूँकना, पारा फूँकना। (७) नष्ट करना। बरबाद करना। व्यर्थ व्यय कर देना। फजूल खर्च कर देना। उड़ाना। जैसे, धन फूँकना, रुपये पैसे फूँकना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

यौ०—फूँकना तापना=व्यर्थ खर्च कर देना। उड़ाना।

(८) जलाना। रुलाना। दुख देना। (९) चारों ओर फैला देना। प्रकाशित कर देना। जैसे, खबर फूँक देना।

फूँका-संज्ञा पुं० [हिं० फूँक] (१) भाथी या नली से आग पर फूँक मारना। फूँक मारने की क्रिया। (२) बाँस की नली में जलन पैदा करनेवाली ओषधियाँ भरकर और उन्हें स्तन में लगाकर फूँकना जिससे गायें स्तन में दूध चुरा न सकें और उनका सारा दूध बाहर निकल आए।

क्रि० प्र०—देना।—मारना।

(३) बाँस आदि की नली जिससे फूँका मारा जाता है। (४) फोड़ा। फफोला।

फूँद-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+फंद] फुँदना। फुलरा। झब्बा। उ०—आँगी कसै, उकसै कुच ऊँचे हँसे हुलसै फुफुँदीन की फूँदैं।—देव।

फूँदा*†-संज्ञा पुं० (१) दे० "फुँदना"। उ०—(क) रत्नजटित गजरा बाजूबंद शोभा भुजन अपार। फूँदा सुभग फूल

फूले मनो मदन विटप की डार।—सूर। (१) (ख) मोहन मोहनी अंग सिंगारत। बेनी ललित ललित कर गूँथत निरखत सुंदर। माँग सँवारत सीसफूल धरि पारि पोंछत फूँदन झवा निहारत।—सूर।

यौ०—फूँद फुँदारा=फुँदनेवाला। फुलरेवाला। उ०—हाथ हरी हरी छाजै छरी अरु जूती चढ़ी पग फूँद फुँदौरी।—देव।

(२) फुफुँदी।

फूई-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूही] (१) घी का फूल या बुलबुलों का समूह जो तपाते समय ऊपर आ जाता है। (२) फफूँदी। भुकड़ी।

फूट-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूटना] (१) फूटने की क्रिया या भाव। (२) वैर। विरोध। बिगाड़। अनबन।

क्रि० प्र०—कराना।—होना।

यौ०—फूट फटक=अनबन। बिगाड़।

मुहा०—फूट डालना=भेद डालना। भेद भाव या विरोध उत्पन्न करना। झगड़ा डालना। उ०—नारद हैं ये बड़े सयाने घर घर डारत फूट।—सूर।

(३) एक प्रकार की बड़ी ककड़ी जो खेतों में होती है और पकने पर फट जाती है।

मुहा०—फूट सा खिलना=पक कर या खस्ता होकर दरकना।

फूटन-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूटना] (१) टुकड़ा जो फूट कर अलग हो गया हो। (२) शरीर के जोड़ों में होनेवाली पीड़ा। जैसे, हड़फूटन।

फूटना-क्रि० अ० [सं० स्फुटन, प्रा० फुडन] (१) खरी या करारी वस्तुओं का दबाव या आघात पाकर टूटना। खरी वस्तुओं का खंड खंड होना। भग्न होना। करकना। दरकना। जैसे, घड़ा फूटना, चिमनी फूटना, रेवड़ी फूटना, बताशा फूटना, पत्थर फूटना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—उँगलियाँ फूटना=खींचने या मोड़ने से उँगलियों के जोड़ का खट खट बोलना। उँगलियाँ चटकाना।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग खरी या करारी वस्तुओं के लिये होता है, चमड़े, लकड़ी आदि चीमड़ वस्तुओं के लिए नहीं होता। उ०—(क) यह तन काँचा कुंभ है लिए फिरै था साथ। उपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथ।—कबीर। (ख) कबिरा, राम रिझाइ ले मुख अमरित गुन गाइ। फूटा नग ज्यों जोरि मन संधिहि संधि मिलाइ।—कबीर।

(२) ऐसी वस्तुओं का फटना जिनके ऊपर छिलका या आवरण हो और भीतर या तो पोला हो अथवा मुलायम या पतली चीज़ भरी हो। जैसे, कटहल फूटना, सिर फूटना, फोड़ा फूटना।

(३) नष्ट होना। बिगड़ना। जैसे, आँख फूटना। भाग्य फूटना।

मुहा०—फूटी आँख का तारा=कई बेटों में बचा हुआ एक बेटा। बहुत प्यारा लड़का। फूटी आँखों न भाना=तनिक भी न सुहाना। बहुत बुरा लगना। अत्यंत अप्रिय लगना। जैसे, अपनी चाल से वह फूटी आँखों नहीं भाता। (स्त्रि०)। फूटी आँखों न देख सकना=बुरा मानना। जलना। कुढ़ना। जैसे, वह मेरे लड़के को फूटी आँखों नहीं देख सकती। (स्त्रि०)। फूटे मुँह से न बोलना=दो बात भी न करना। अत्यंत उपेक्षा करना।

(४) भेद कर निकलना। भीतर से झोंक के साथ बाहर आना। जैसे, सोता फूटना, धार फूटना। (५) शरीर पर दाने या घाव के रूप में प्रकट होना। फोड़े आदि की तरह निकलना। जैसे, दाने फूटना, कोढ़ फूटना, गरमी फूटना। (६) कली का खिलना। प्रस्फुटित होना। (७) जुड़ी हुई वस्तु के रूप में निकलना। अवयव, जोड़ या वृद्धि के रूप में प्रकट होना। अंकुर, शाखा आदि का निकलना। जैसे, कल्ला फूटना, शाखा फूटना। उ०—बिरवा एक सकल संसारा। पेड़ एक फूटीं बहु-डारा।—कबीर। (८) अंकुरित होना। फटकर अँखुवा निकलना। जैसे, बीज फूटना। (९) शाखा के रूप में अलग होकर किसी सीध में जाना। जैसे,—थोड़ी दूर पर सड़क से एक और रास्ता फूटा है। (१०) बिखरना। फैलना। व्याप्त होना। उ०—(क) दिसन दिसन सों किरनैं फूटहिं। सब जग जानु फुलझरी छूटहिं।—जायसी। (ख) रैंड़ा रूख भया मलयागिरि चहुँ दिसि फूटी बास।—कबीर। (११) निकलकर पृथक् होना। संग या समूह से अलग होना। साथ छोड़ना। जैसे, गोल से फूटना। (१२) पक्ष छोड़ना। दूसरे पक्ष में हो जाना। जैसे, गवाह फूटना। (१३) अलग अलग होना। विलग होना। संयुक्त न रहना। मिलाप की दशा में न रहना। जैसे, जोड़ा फूटना, संग फूटना। उ०—(क) जिनके पद केशव पानि हिये सुख मानि सबै दुख दूर किये। तिनको सँग फूटत ही फिट रे फटि कोटिक टूक भयो न हिये।—केशव। (ख) तू जुग फूटै न मेरी भटू यह काहू कह्यो सखिया सखियान तें। कंज से पानि से पाँसे परे अँसुआ गिरे खंजन सी अँखियान तें।—नृपशंभु। (१४) शब्द का मुँह से निकलना। जैसे, मुँह से बात फूटना।

मुहा०—फूट फूट कर रोना=बिलख बिलख कर रोना। बहुत विलाप करना। फूट बहना=रो पड़ना।

(१५) बोलना। मुँह से शब्द निकलना। जैसे, कुछ तो फूटो। (स्त्रि०)। (१६) व्यक्त होना। प्रकट होना। प्रकाशित होना। उ०—अंग अंग छबि फूटि कढ़ति सब निरखत पुर

नर नारि।—सूर। (१७) पानी का इतना खौल जाना कि उसमें छोटे छोटे बुलबुलों के समूह दिखाई देने लगें। पानी का खदखदाने लगना। (१८) किसी भेद का खुल जाना। गुह्य बात का प्रगट हो जाना। जैसे,—कहीं बात फूट गई तो बड़ी मुश्किल होगी। उ०—संतन संग बैठि बैठि लोक लाज खोई। अब तो बात फूटि गई जानत सब कोई। (१९) रोक या परदे का दबाव के कारण हट जाना। बाँध, मेड़ आदि का टूट जाना। जैसे, बाँध फूटना। (२०) पानी या और किसी पतली चीज़ का रस कर इस पार से उस पार निकल जाना। जैसे,—यह कागज़ अच्छा नहीं है इस पर स्याही फूटती है। (२१) जोड़ों में दर्द होना।

फूटा–वि० [हिं० फूटना] [स्त्री० फूटी] भग्न। टूटा हुआ। फूटा हुआ। जैसे, फूटी कौड़ी। फूटी आँख।

संज्ञा पुं० (१) वह बालें जो टूटकर खेतों में गिर पड़ती हैं। (२) जोड़ों का दर्द।

फूत्कार–संज्ञा पुं० [सं०] मुँह से हवा छोड़ने का शब्द। फूँक। फुफकार। जैसे, सर्प का फूत्कार।

फूफा–संज्ञा पुं० [हिं० फूफी] फूफी का पति। बाप का बहनोई।

फूफी–संज्ञा स्त्री० [अनु०। वा सं० पितृश्वसा, पा० पितुच्छा, प्रा० पिउच्छा] बाप की बहिन। बूआ।

फूफू–संज्ञा स्त्री० दे० "फूफी"।

फूल–संज्ञा पुं० [सं० फुल्ल] (१) गर्भाधानवाले पौधों में वह ग्रंथि जिसमें फल उत्पन्न करने की शक्ति होती है और जिसे उद्भिदों की जननेंद्रिय कह सकते हैं। पुष्प। कुसुम। सुमन।

विशेष—बड़े फूलों के पाँच भाग होते हैं—कटोरी, हरा पुट, दल (पंखड़ी), गर्भकेसर और परागकेसर। नाल का वह चौड़ा छोर, जिसपर फूल का सारा ढाँचा रहता है, कटोरी कहलाता है। इसी के चारों ओर जो हरी पत्तियाँ सी होती हैं उनके पुट के भीतर कली की दशा में फूल बंद रहता है। ये आवरण पत्र भिन्न भिन्न पौधों में भिन्न भिन्न आकार प्रकार के होते हैं। घुंडी के आकार का जो मध्य भाग होता है उसके चारों ओर रंग बिरंग के दल निकले होते हैं जिन्हें पखड़ी कहते हैं। फूलों की शोभा बहुत कुछ इन्हीं रँगीली पंखड़ियों के कारण होती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि फूल में प्रधान वस्तु बीच की घुंडी ही है जिस पर परागकेसर और गर्भकेसर होते हैं। क्षुद्र कोटि के पौधों में पुट, पंखड़ी आदि कुछ भी नहीं होती, केवल खुली घुंडी होती है। वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से तो घुंडी ही वास्तव में फूल है और बाकी तो उसकी रक्षा या शोभा के लिए हैं। दोनों प्रकार के केसर पतले सूत के आकार के होते हैं। परागकेसर के सिरे पर एक छोटी टिकिया सी होती है जिसमें पराग या धूल रहती है। यह परागकेसर पुं० जननेंद्रिय है। गर्भकेसर बिलकुल बीज में होते हैं जिनका निचला भाग या आधार कोश के आकार का होता है जिसके भीतर गर्भांड बंद रहते हैं और ऊपर का छोर या मुँह कुछ चौड़ा सा होता है। जब परागकेसर का पराग झड़कर गर्भकेसर के इस मुँह पर पड़ता है तब भीतर ही भीतर गर्भकोश में जाकर गर्भांड को गर्भित करता है, जिससे धीरे धीरे वह बीज के रूप में होता जाता है और फल की उत्पत्ति होती है। गर्भाधान के विचार से पौधे कई प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिनमें एक ही पेड़ में स्त्री० फूल और पुं० फूल अलग अलग होते हैं। जैसे, कुम्हड़ा, कद्दू, तुरई, ककड़ी इत्यादि। इनमें कुछ फूलों में केवल गर्भकेसर होते हैं और कुछ फूलों में केवल परागकेसर। ऐसे पौधों में गर्भकोश के बीच पराग या तो हवा से उड़कर पहुँचता है या कीड़ों द्वारा पहुँचाया जाता है। मक्के के पौधे में पुं० फूल ऊपर टहनी के सिरे पर मंजरी के रूप में लगते हैं और जीरे कहलाते हैं और स्त्री० फूल पौधे के बीचो बीच इधर उधर लगते हैं और पुष्ट होकर बाल के रूप में होते हैं। ऐसे पौधे भी होते हैं जिनमें नर मादा अलग अलग होते हैं। नर पौधे में परागकेसरवाले फूल लगते हैं और मादा पौधे में गर्भकेसरवाले। बहुत से पौधों में गर्भकेसर और परागकेसर एक ही फूल में होते हैं। किसी एक सामान्य जाति के अंतर्गत संकरजाति के पौधे भी उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे किसी एक प्रकार के नीबू का पराग दूसरे प्रकार के नीबू के गर्भकोश में जा पड़े तो उससे एक दोगला नीबू उत्पन्न हो सकता है। पर ऐसा एक ही जाति के पौधों के बीच हो सकता है। फूल अनेक आकार प्रकार के होते हैं। कुछ फूल बहुत सूक्ष्म होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। जैसे, आम के, नीम के, तुलसी के। ऐसे फूलों को मंजरी कहते हैं। फूलों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से सजावट और सुगंध के लिए होता आया है। अब तक संसार में बहुत सा सुगंध द्रव्य (तेल, इत्र आदि) फूलों ही से तैयार होता है। सुकुमारता, कोमलता और सौंदर्य्य के लिए फूल सब देश के कवियों में प्रसिद्ध रहा है।

मुहा०—**फूल आना**=फूल लगना। **फूल उतारना**=फूल तोड़ना। **फूल चुनना**=फूल तोड़कर इकट्ठा करना। **फूल झड़ना**=मुँह से प्रिय और मधुर बातें निकलना। उ०—झरत फूल मुँह ते वहि केरी।—जायसी। **क्या फूल झड़ जायँगे?**=क्या ऐसा सुकुमार है कि अमुक काम करने के योग्य नहीं है? **फूल लोढ़ना**=फूल चुनना। **फूल सा**=अत्यंत सुकुमार, हलका या सुंदर। **फूल सूँघ कर रहना**=बहुत कम खाना। जैसे, वह खाती नहीं तो क्या फूल सूँघ कर रहती है?

(हिं० व्यंग्य) फूलों का गहना=(१) फूलों की माला, हार आदि सिंगार या सजावट का सामान। (२) ऐसी नाजुक और कमजोर चीज जो थोड़ी देर की शोभा के लिए हो। फूलों की छड़ी=वह छड़ी जिसमें फूलों की माला लपेटी रहती है और जिससे चौथी खेलते हैं। फूलों की सेज=वह पलंग या शय्या जिसपर सजावट और कोमलता के लिए फूलों की पखड़ियाँ बिछी हों। आनंद की सेज। (शृंगार की एक सामग्री) पान फूल सा—अत्यंत सुकुमार।

(२) फूल के आकार के बेल बूटे या नक्काशी। उ०—मनि फूल रचित मखतूल की झलन जाके तूल न कोउ।—गोपाल। (३) फूल के आकार का गहना जिसे स्त्रियाँ कई अंगों में पहनती हैं। जैसे, करनफूल, सीसफूल। उ०—(क) कानन कनकफूल छबि देहीं।—तुलसी। (ख) कानन कनकफूल, उपवीत अनुकूल पियरे दुकूल बिलसत आछे छोर हैं।—तुलसी। (ग) पुनि नासिक भल फूल अमोला। पुनि राते मुख खाय तमोला।—जायसी। (घ) पायल औ पगपान सुनूपुर। चुटकी फूल अनौट सुभूपुर।—सूदन। (४) चिराग की जलती बत्ती पर पड़े हुए गोल दमकते दाने जो उभरे हुए मालूम होते हैं। गुल।

मुहा०—फूल पड़ना-बत्ती में गोल दाने दिखाई पड़ना। फूल झड़ना-बुझना (चिराग का)।

(५) आग की चिनगारी।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(६) पीतल आदि की गोल गाँठ या घुंडी जिसे शोभा के लिए छड़ी, किवाड़ के जोड़ आदि पर जड़ते हैं। फुलिया। (७) सफेद या लाल धब्बा जो कुष्ट रोग के कारण शरीर पर जगह जगह पड़ जाता है। सफेद दाग। श्वेत कुष्ट।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(८) सत्त। सार। जैसे, अजवायन का फूल।

क्रि० प्र०—निकालना।—उतारना।

(९) वह मद्य जो पहली बार का उतरा हो। कड़ी देशी शराब।

विशेष—यह शराब बहुत साफ़ होती है और जलाने से जल उठती है। इसी को फिर खींचकर दोआतशा बनाते हैं। उ०—थोड़ो ही सो चाखिया भाँड़ा पीया धोय। फूल पियाला जिन पिया रहे कलालाँ सोय।—कबीर।

(१०) आटे चीनी आदि का उत्तम भेद। (११) स्त्रियों का वह रक्त जो मासिक धर्म में निकलता है। रज। पुष्प।

क्रि० प्र०—आना।

(१२) गर्भाशय। (१३) घुटने या पैर की गोल हड्डी। चक्की। टिकिया। (१४) वह हड्डी जो शव जलाने के पीछे बच रहती है और जिसे हिंदू किसी तीर्थस्थान या गंगा में छोड़ने के लिए ले जाते हैं।

क्रि० प्र०—चुनना।

(१५) सूखे हुए साग या भाँग की पत्तियाँ (बोलचाल)। जैसे, मेथी के दो फूल दे देना। (१६) किसी पतले या द्रव पदार्थ को सुखाकर जमाया हुआ पत्तर या वरक़। जैसे, स्याही के फूल। (१७) एक मिश्र या मिली जुली धातु जो ताँबे और राँगे के मेल से बनती है। यह धातु उजली और स्वच्छ चाँदी के रंग की होती है और इसमें रखने से दही या और खट्टी चीज़ें नहीं बिगड़तीं। अच्छा फूल बेधा कहलाता है। साधारण फूल में चार भाग ताँबा और एक भाग राँगा होता है पर बेधा फूल में १०० भाग ताँबा और २७ भाग राँगा होता है और कुछ चाँदी भी पड़ती है। यह धातु बहुत खरी होती है और आघात लगने पर चट टूट जाती है। इसके लोटे, कटोरे, गिलास, आबखोरे आदि बनते हैं। फूल काँसे से बहुत मिलता जुलता है पर काँसे से इसमें यह भेद है कि काँसे में ताँबे के साथ जस्ते का मेल रहता है और उसमें खट्टी चीज़ें बिगड़ जाती हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० फूलना] (१) फूलने की क्रिया या भाव। प्रफुल्ल होने का भाव। उत्साह। उमंग। उ०—(क) फूलि फूलि तरु फूल बढ़ावत। मोहत महा मोद उपजावत।—केशव। (ख) फरक्यो चंपतराय को दच्छिन भुज अनुकूल। बड़ी फौज उमड़ी सुनी भई जुद्ध की फूल।—लाल। (२) आनंद। प्रसन्नता। उ०—(क) करिए अरज कबूल। जो चित चाहत फूल।—सूदन। (ख) फूल श्याम के उर लगे फल श्याम उर आय।—रहीम।

फूलकारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+फा० कारी] बेल बूटे बनाने का काम।

फूलगोभी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+गोभी] गोभी की एक जाति जिसमें मंजरियों का बँधा हुआ ठोस पिंड होता है जो तरकारी के काम में आता है। इसके बीज असाढ़ से कुआर तक बोए जाते हैं। इसके बीज की पहले पनीरी तैयार करते हैं। फिर पौधों को उखाड़ उखाड़ कर क्यारियों में लगाते हैं। कहीं कहीं पौधे कई बार एक स्थान से उखाड़ दूसरे स्थान में लगाए जाते हैं। दो ढाई महीने पीछे फूलों की घुँडियाँ दिखाई देती हैं। उस समय कीड़ों से बचाने के लिए पौधों पर राख छितराई जाती है। कलियों के फूटकर अलग होने के पहले ही पौधे काट लिए जाते हैं।

फूलडोल—संज्ञा पुं० [हिं० फूल+डोल] एक उत्सव जो चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मनाया जाता है। इस दिन भगवान्

कृष्णचंद्र के लिए फूलों का डोल वा झूला सजाया जाता है। मथुरा और उसके आस पास के स्थानों में यह उत्सव मनाया जाता है।

फूलढोंक-संज्ञा पुं० [?] एक जाति की मछली जो भारत के सभी प्रांतों में पाई जाती है और हाथ भर तक लंबी होती है।

फूलदान-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+दान (प्रत्य०)] (१) पीतल आदि का बना हुआ बरतन जिसमें फूल सजाकर देवताओं के सामने रखा जाता है। (२) गुलदस्ता रखने का काँच, पीतल, चीनी मिट्टी आदि का गिलास के आकार का बरतन।

फूलदार-वि० [हिं० फूल+दार (प्रत्य०)] जिस पर फूल पत्ते और बेल बूटे काढ़कर, बुनकर, छापकर वा खोदकर बनाए गए हों।

फूलना-क्रि० अ० [हिं० फूल+ना (प्रत्य०)] (१) फूलों से युक्त होना। पुष्पित होना। फूल लाना। जैसे,—यह पौधा वसंत में फूलेगा। उ०—(क) फूलै फरै न बेत जदपि सुधा बरसहिँ जलद।—तुलसी। (ख) तरुवर फूलै फलै परिहरै अपनो कालहि पाइ।—सूर।

संयो० क्रि०—जाना।—उठना।—आना।

मुहा०—फूलना फलना=धन, धान्य, संतति आदि से पूर्ण और प्रसन्न रहना। सुखी और संपन्न होना। बढ़ना और आनंद में रहना। उन्नति करना। उ०—फूलौ फरौ रहौ जहँ चाहौ यहै असीस हमारी।—सूर। फूलना फलना=प्रफुल होना। उल्लास में रहना। प्रसन्न होना। उ०—फूली फाली फूल सी फिरती विमल विकास। भोर तरैयाँ होयँगी चलत तोहि पिय पास।—बिहारी।

(२) फूल का संपुट खुलना जिससे उसकी पंखड़ियाँ फैल जायँ। विकसित होना। खिलना। उ०—(क) फूले कुमुद केति उजियारे। मानहु उए गगन महँ तारे।—जायसी। (ख) फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन, कहै रघुनाथ भरे चैन रस सियरे।—रघुनाथ। (३) भीतर किसी वस्तु के भर जाने या अधिक होने के कारण अधिक फैल या बढ़ जाना। डील डौल या पिंड का पसरना। जैसे, हवा भरने से गेंद फूलना, गाल फूलना, भिगोया हुआ चना फूलना, पानी पड़ने से मिट्टी फूलना, कड़ाह में कचौरी फूलना। (४) सतह का उभरना। आस पास की सतह से उठा हुआ होना। (५) सूजना। शरीर के किसी भाग का आस पास की सतह से उभरा हुआ होना। जैसे,—जहाँ चोट लगी वहाँ फूला हुआ है और दर्द भी है।

संयो० क्रि०—आना।

(६) मोटा होना। स्थूल होना। जैसे,—उसका बदन बादी से फूला है। (७) गर्व करना। घमंड करना। इतराना। जैसे,—ज़रा तुम्हारी तारीफ़ कर दी बस तुम फूल गए। उ०—(क) कबहुंक बैठ्यो रहसि रहसि के ढोटा गोद खेलायो। कबहुँक फूलि सभा में बैठ्यो मूछनि ताव दिखायो।—सूर। (ख) बैठि जाइ सिंहासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली।—तुलसी।

मुहा०—फूला फिरना=गर्व करते हुए घूमना। घमंड में रहना। उ०—मनवा तो फूला फिरै कहै जो करता धर्म। कोटि करम सिर पर चढ़ै चेति न देखै मर्म।—कबीर।

(८) प्रफुल्ल होना। आनंदित होना। उल्लास में होना। बहुत खुश होना। मगन होना। उ०—(क) परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन फिरैं मगन मन भूले।—तुलसी। (ख) अति फूले दशरथ मन ही मन कौशल्या सुख पायो। सौमित्रा कैकयि मन आनँद यह सब ही सुत जायो।—सूर। (ग) फूलै फरकत लै फरी पल कटाच्छ करवार। करत, बचावत पिय नयन पायक घाय हजार।—बिहारी।

मुहा०—फूला फिरना या फूला फूला फिरना=प्रसन्न घूमना। आनंद में रहना। उल्लास में रहना। उ०—(क) जसुमति रानी देति बधाई भवन रतन अपार। फूली फिरति रोहिणी मैया नखसिख किए सिंगार।—सूर। (ख) आजु दशरथ के आँगन भीर।...फूले फिरत अयोध्यावासी गनत न त्यागत पीर। परिरंभन हँसि देत परस्पर आनँद नैनन नीर।—सूर। (ग) फूले फूले फिरत हैं आज हमारो ब्याह।—(प्रचलित)। फूले अंग न समाना=आनंद का इतना अधिक उद्वेग होना कि बिना प्रकट किए रहा न जाय। अत्यंत आनंदित होना। उ०—(क) उठा फूलि अंग नाहिँ समाना। कंथा टूक टूक भहराना।—जायसी। (ख) स्यामंतक मणि जांबवती सह आए द्वारिका नाथ। अति आनंद कोलाहल घर घर फूले अँग न समात।—सूर। (ग) चेरी चंदन हाथ कै रीझि चढ़ायो गात। विह्वल छितिधर डिंभ शिशु फूले वपु न समात।—केशव।

(९) मुहँ फुलाना। रूठना। मान करना। जैसे, वह तो वहाँ फूलकर बैठा है।

फूलबिरंज-संज्ञा पुं० [हिं० फूल+बिरंज] एक प्रकार का धान जिसका चावल अच्छा होता है। यह भादों उतरते कुआर के प्रारंभ में पककर काटने योग्य हो जाता है।

फूलमती-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल+मत (प्रत्य०)] एक देवी का नाम। शीतला रोग के एक भेद की यह अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है। इसकी उपासना नीच जाति के लोग करते हैं। यह राजा वेणु की कन्या कही जाती है।

फूलवारा-संज्ञा पुं० [देश०] चिउली नाम का पेड़।

फूलसँपेल-वि० [हिं० फूल+साँप] (बैल या गाय) जिसका एक सींग दाहनी ओर और दूसरा बाईं ओर को गया हो।

फूला-संज्ञा पुं० [हिं० फूलना] (१) खीला। लावा। (२) वह कड़ाह जिसमें गन्ने का रस पकाया या उबाला जाता है। (३) एक रोग जो प्रायः पक्षियों को होता है। इसमें पक्षी फूल जाता है और उसके मुहँ में काँटे निकल आते हैं जिससे वह मर जाता है। (४) आँख का एक रोग जिसमें काली पुतली पर सफ़ेद दाग़ या छींटा सा पड़ जाता है। फूली।

फूली-संज्ञा स्त्री० [हिं० फूल] (१) सफ़ेद दाग़ जो आँख की पुतली पर पड़ जाता है। इससे मनुष्य की आँख की दृष्टि कुछ कम हो जाती है और यदि वह सारी पुतली भर पर या उसके तिल पर होता है तो दृष्टि बिल्कुल मारी जाती है। (२) एक प्रकार की सब्ज़ी। (३) एक प्रकार की रूई जो मथुरा के आसपास होती है।

फूवा‡-संज्ञा स्त्री० दे० "फूफी"।

फूस-संज्ञा पुं० [सं० तुष, पा० भूस, फुस] (१) सूखी हुई लंबी घास जो छप्पर आदि छाने के काम में आए। उ०—(क) कायर का घर फूस का भभकी चहूँ पलीत। शूरा के कछु डर नहीं गचगीरी की भीत।—कबीर। (ख) कबीर प्रगटहि राम कहि छानै राम न गाय। फूस क जोड़ा दूर करु बहुरि न लागै लाय।—कबीर। (२) सूखा तृण। खर। तिनका।

फूहड़-वि० [सं० पव गोबर+घट=गढ़ना] (१) जिसकी चाल ढाल बेढंगी हो। जिसका ढंग भद्दा हो। जो किसी कार्य्य को सुचारु रूप से न कर सके। जिसे कुछ करने का ढंग न हो। बेशऊर। (इस शब्द का प्रयोग अधिकतर स्त्रियों के लिए होता है)। उ०—फूहर वही सराहिए परसत टपकै लार। —गिरिधर। (२) जो देखने में बेढंगा लगे। भद्दा।

फूहर†-वि० दे० "फूहड़"।

फूहा-संज्ञा पुं० [देश०] रुई का गाला।

फूही-संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) पानी की महीन बूँद। (२) महीन बूँदों की झड़ी।

फेंक-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेंकना] फेंकने की क्रिया या भाव।

फेंकना-क्रि० स० [सं० प्रेपण, प्रा० पेखण] (१) झोंक के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर डालना। इस प्रकार गति देना कि दूर जा गिरे। अपने से दूर गिराना। जैसे, तीर फेंकना, ढेला फेंकना, पत्थर फेंकना। उ०—बलरामजी ने उसकी दोनों पिछली टाँगे पकड़ फिरायकर ऊँचे पेड़ पर फेंका।—लल्लू।

मुहा०—घोड़ा फेंकना=घोड़ा सरपट दौड़ाना।

(२) कुश्ती आदि में पटकना। दूर चित गिराना। (३) एक स्थान से लेजाकर और स्थान पर डालना। जैसे, (क) यहाँ बहुत सा कूड़ा पड़ा है, फेंक दो। (ख) जो सड़े आम हों उन्हें फेंक दो।

संयो० क्रि०—देना।

(४) असावधानी से इधर उधर छोड़ना या रखना। बेपरवाई से डाल देना। जैसे,—(क) किताबें इधर उधर फेंकी हुई हैं सजा कर रख दो। (ख) कपड़े योंही फेंक कर चले जाते हो, कोई उठा ले जायगा। (५) बेपरवाई से कोई काम दूसरे के ऊपर डालना। खुद कुछ न करके दूसरे के सुपुर्द करना। अपना पीछा छुड़ाकर दूसरे पर भार डाल देना। जैसे,—वह सब काम मेरे ऊपर फेंक कर चला जाता है। (६) भूल से कहीं गिराना या छोड़ना। भूल कर पास से अलग कर देना। गँवाना। खोना। जैसे,—बच्चे के हाथ से अँगूठी ले लो, कहीं फेंक देगा।

संयो० क्रि०—देना।

(७) जुए आदि के खेल में कौड़ी, पाँसा गोटी आदि आदि का हाथ में लेकर इसलिए ज़मीन पर डालना कि उनकी स्थिति के अनुसार हार जीत का निर्णय हो। जैसे, पाँसा फेंकना, कौड़ी फेंकना। (८) तिरस्कार के साथ त्यागना। ग्रहण न करना। छोड़ना। परित्याग करना। उ०—कंचन फेंकि काँच कर राख्यो। अमरित छाँडि मूढ़ विष चाख्यो। —लल्लू। (९) अपव्यय करना। फ़ज़ूल खर्च करना। जैसे,—ऐसे काम में क्यों व्यर्थ रुपया फेंकते हो? (१०) उछालना। ऊपर नीचे हिलाना डुलाना। झटकना पटकना। जैसे, (क) बच्चे का हाथ पैर फेंकना। (ख) मिरगी में हाथ पैर फेंकना। (११) (पटा) चलाना। (पटा) ले कर घुमाना या हिलाना डुलाना।

फेंकरना†*-क्रि० अ० [अनु० फेंफें+करना] (१) गीदड़ का रोना या बोलना। उ०—कटु कुठायँ करटा रटहिँ फेंकरहिँ फेरु कुभाँति। नीच निसाचर मीचु बस अनी मोह मद माति। —तुलसी। (२) फूट फूट कर रोना। चिल्ला चिल्ला कर रोना।

फेंकाना-क्रि० स० ['फेंकना' का प्रे०] फेंकने का काम कराना।

फेंगा†-संज्ञा पुं० दे० "फिंगा"।

फेंट-संज्ञा स्त्री० [हिं० पेट या पेटी] (१) कमर का घेरा। कटि का मंडल। उ०—फेंट पीतपट, साँवरे कर पलास के पात। हँसत परस्पर ग्वाल सब बिमल बिमल दधि खात। —सूर। (२) धोती का वह भाग जो कमर में लपेट कर बाँधा गया हो। कमर में बाँधा हुआ कोई कपड़ा। पटुका। कमरबंद। उ०—(क) खायबे को कछु भाभी दीनी श्रीपति मुख तें बोले। फेंट उपर ते अंजुलि तंदुल बल करि हरि जू खोले।—सूर। (ख) श्याम सखा को गेंद चलाई। श्रीदामा मुरि अंग बचायो गेंद पर्‍यो कालीदह जाई। धाय गह्यो तब फेंट श्याम की देहु न मेरी गेंद मँगाई।—सूर। (ग) लाल की फेंट सों लै कै गुलाल लपेटि गई अब लाल के गाल सों।—रघुनाथ।

मुहा०—फेंट धरना या पकड़ना=जाने न देना। रोकना। इस प्रकार पकड़ना कि भागने न पाए। उ०—(क) अब लौं तो तुम विरद बुलायो भई न मोसों भेंट। तजौ बिरद कै मोहि उबारौ सूर गही कसि फेंट।—सूर। (ख) जो तू राम नाम चित धरतो। अब को जन्म आगिलो तेरो दोऊ जन्म सुधरतो। यम को त्रास सबै मिटि जातो भगत नाम तेरो परतो। तंदुल घिरित सँवारि श्याम को संत परोसो करतो। होतो नफा साधु की संगति मूल गाँठि ते टरतो। सूरदास बैकुंठ पैंठ में कोउ न फेंट पकरतो।—सूर। फेंट कसना या बाँधना=कटिबद्ध होना। कमर कसकर तैयार होना। सन्नद्ध होना। उ०—(क) ढोल बजावती गावती गीत मचावती धूँधुर धूरि के धारन। फेंट फते की कसे द्विजदेव जू चंचलता बस अंचल तारन।—द्विजदेव। (ख) पाग पेंच खैंच दै, लपेटि पट फेंट बाँधि, ऐंड़े ऐंड़े आवैं पैने टूटे डीम डीम ते।—हनुमान।

(३) फेरा। लपेट। घुमाव।

संज्ञा स्त्री० [हिं० फेंटना] फेंटने की क्रिया या भाव।

फेंटना—क्रि० स० [सं० पिष्ट, प्रा पिट्ठ+ना (प्रत्य०)] (१) गाढ़े द्रव पदार्थ को उँगली घुमा घुमा कर हिलाना। लेप या लेई की तरह चीज को हाथ या उँगली से मथना। जैसे, पीठी फेंटना, बेसन फेंटना, तेल फेंटना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) उँगली से हिलाकर खूब मिलाना। जैसे,—इस बुकनी को शहद में फेंट कर चाट जाओ। (३) गड्डी के तासों को उलट पलट कर अच्छी तरह मिलाना।

फेंटा—संज्ञा पुं० [हिं० फेंट] (१) कमर का घेरा। (२) धोती का वह भाग जो कमर में लपेटकर बाँधा गया हो। (३) पटुका। कमरबंद। उ०—अब मैं नाच्यों बहुत गुपाल। काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।······ तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना बिधि दै ताल। माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल।—सूर। (४) वह वस्त्र जो सिर पर लपेटकर बाँधा जाता है। छोटी पगड़ी। (५) अटेरन पर लपेटा हुआ सूत। सूत की बड़ी अंटी।

फेंटी—संज्ञा स्त्री० [हिं० फेंट] सूत का पोला। अटेरन पर लपेटा हुआ सूत।

फेंसी—वि० [अं०] दे० "फैंसी"।

फेकरना†—क्रि० अ० [हिं० फेकारना] (सिर का) खुलना। (सिर का) आच्छादन-रहित होना। नंगा होना। उ०—फेकरे मूँड़ चँवर जनु लाए। निकसि दाँत मुँह बाहर आए।—जायसी।

क्रि० अ० दे० "फेंकरना"।

फेकारना†—क्रि० स० [सं० अप्रखर=बिना झूल का ?] (सिर) खोलना या नंगा करना।

फेण—संज्ञा पुं० दे० "फेन"।

फेदा‡—संज्ञा पुं० [देश०] घुँइया। अरुई।

फेन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० फेनिल] (१) महीन महीन बुलबुलों का वह गठा हुआ समूह जो पानी या और किसी द्रव पदार्थ के खूब हिलने, सड़ने या खौलने से ऊपर दिखाई पड़ता है। झाग। बुद्बुद्-संघात।

क्रि० प्र०—उठना।—निकलना।

(२) रेंट। नाक का मल।

फेनक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फेन। झाग। (२) टिकिया के आकार का एक पकवान या मिठाई। बतासफेनी। (३) शरीर धोने या मलने की एक क्रिया (संभवतः रीठी आदि के फेन से धोना जिस प्रकार आज-कल साबुन मलते हैं)।

फेनका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पानी में पका हुआ चावल का चूर।

फेनदुग्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दूधफेनी नाम का पौधा जो दवा के काम में आता है। यह एक प्रकार की दुधिया घास है।

फेनना‡—क्रि० स० [हिं० फेन] किसी तरल वस्तु को उँगली घुमाते हुए इस प्रकार हिलाना कि उसमें से झाग उठने लगे।

फेनमेह—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मेह। इसमें वीर्य्य फेन की भाँति थोड़ा थोड़ा गिरता है। यह श्लेष्मज माना जाता है।

फेनल—वि० [सं०] फेनयुक्त। फेनिल।

फेनाग्र—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्बुद्। बुलबुला।

फेनाशनि—संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

फेनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] फेनी नाम की मिठाई।

फेनिल—वि० [सं०] फेनयुक्त। जिसमें फेन हो। फेनवाला।

संज्ञा पु० रीठा। रीठी।

फेनी—संज्ञा स्त्री० [सं० फेनिका] लपेटे हुए सूत के लच्छे के आकार की एक मिठाई।

विशेष—ढीले गुँधे हुए मैदे को थाली में रखकर घी के साथ चारों ओर गोल बढ़ाते हैं फिर उसे कई बार उँगुलियों पर लपेटकर बढ़ाते हैं। इस प्रकार बढ़ाते और लपेटते जाते हैं। अंत में घी में तलकर चाशनी में पागते या यों ही काम में लाते हैं। यह मिठाई दूध में भिगोकर खाई जाती है। उ०—(क) फेनी पापर भूँजे भए अनेक प्रकार। भइ जाउर भिजियाउर सीझी सब जेवनार।—जायसी। (ख) घेवर फेनी और सुहारी। खोवा सहित खाव बलिहारी।—सूर।

फेफड़ा—संज्ञा पुं० [सं० फुप्फुस+ड़ा (प्रत्य०)] शरीर के भीतर थैली के आकार का वह अवयव जिसकी क्रिया से जीव साँस

लेते हैं। वक्षआशय के भीतर श्वास प्रश्वास का विधान करनेवाला कोश। साँस की थैली जो छाती के नीचे होती है। फुप्फुस।

विशेष—वक्षआशय के भीतर वायुनाल में थोड़ी दूर नीचे जाकर इधर उधर दो कनखे फूटे रहते हैं जिनसे लगा हुआ माँस का एक एक लोथड़ा दोनों ओर रहता है। थैली के रूप के ये ही दोनों छिद्रमय लोथड़े दाहने और बाएँ फेफड़े कहलाते हैं। दाहना फेफड़ा बाएँ फेफड़े की अपेक्षा चौड़ा और भारी होता है। फेफड़े का आकार बीच से कटी हुई नारंगी की फाँक का सा होता है जिसका नुकीला सिरा ऊपर की ओर होता है। फेफड़े का निचला चौड़ा भाग उस परदे पर रखा रहता है जो उदराशय को वक्षआशय से अलग करता है। दाहने फेफड़े में दो दरारें होती हैं जिनके कारण वह तीन भागों में विभक्त दिखाई पड़ता है, पर बाएँ में एक ही दरार होती है जिससे वह दो ही भागों में बँटा दिखाई पड़ता है। फेफड़े चिकने और चमकीले होते हैं और उनपर कुछ चित्तियाँ सी पड़ी होती हैं। प्रौढ़ मनुष्य के फेफड़े का रंग कुछ नीलापन लिए भूरा होता है। गर्भस्थ शिशु के फेफड़े का रंग गहरा लाल होता है जो जन्म के उपरांत गुलाबी रहता है। दोनों फेफड़ों का वज़न सेर सवा सेर के लगभग होता है। स्वस्थ मनुष्य के फेफड़े वायु से भरे रहने के कारण जल से हलके होते हैं और पानी में नहीं डूबते। परंतु जिन्हें न्यूमोनिया क्षय आदि बीमारियाँ होती हैं उनके फेफड़े का रुग्ण भाग ठोस हो जाता है और पानी में डालने से डूब जाता है। गर्भ के भीतर बच्चा साँस नहीं लेता इससे उसका फेफड़ा पानी में डूब जायगा। पर जो बच्चा पैदा होकर कुछ भी जिया है उसका फेफड़ा पानी में नहीं डूबेगा। जीव साँस द्वारा जो हवा खींचते हैं वह श्वासनाल द्वारा फेफड़े में पहुँचती है। इस टेंटुवे के नीचे थोड़ी दूर जाकर श्वासनाल के इधर उधर दो कनखे फूटे रहते हैं जिन्हें दाहनी और बाईं वायुप्रणालियाँ कहते हैं। फेफड़े के भीतर घुसते ही ये वायुप्रणालियाँ उत्तरोत्तर बहुत सी शाखाओं में विभक्त होती जाती हैं। फेफड़े में पहुँचने के पहले वायुप्रणाली लचीली हड्डी के छल्लों के रूप में रहती है पर भीतर जाकर ज्यों ज्यों शाखाओं में विभक्त होती जाती हैं त्यों त्यों शाखाएँ पतली और सूत के रूप में होती जाती हैं, यहाँ तक कि ये शाखाएँ फेफड़े के सब भागों में जाल की तरह फैली रहती हैं। इन्हींके द्वारा साँस से खींची हुई वायु फेफड़े के सब भागों में पहुँचती है। फेफड़े के बहुत से छोटे छोटे विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग को सूक्ष्म आकार का फेफड़ा ही समझिए जिसमें कई घर होते हैं। ये घर वायुमंदिर कहलाते हैं और कोठों में बँटे होते हैं। इन कोठों के बीच सूक्ष्म वायुप्रणालियाँ होती हैं। नाक से खींची हुई वायु जो भीतर जाती है उसे श्वास कहते हैं। जो वायु नाक से बाहर निकाली जाती है उसे प्रश्वास कहते हैं। भीतर जो साँस खींची जाती है उसमें कारबन, जलवाष्प तथा और हानिकारक पदार्थ बहुत कम मात्रा में होते हैं और आक्सिजन गैस जो प्राणियों के लिये आवश्यक है अधिक मात्रा में होती है पर, भीतर से जो साँस बाहर आती है उसमें कारबन या अंगारक वायु अधिक और आक्सिजन कम रहती है। शरीर के भीतर जो अनेक रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं उनके कारण ज़हरीली कारबन गैस बनती रहती है। इस गैस के कारण रक्त का रंग कालापन लिए हो जाता है। यह काला रक्त शरीर के सब भागों से इकट्ठा होकर दो महाशिराओं के द्वारा हृदय के दाहने कोठे में पहुँचता है। हृदय से यह दूषित रक्त फिर फुप्फुसीय धमनी (दे० "नाड़ी") द्वारा दोनों फेफड़ों में आ जाता है। वहाँ रक्त की बहुत सी कारबन गैस बाहर निकल जाती है और उसकी जगह आक्सिजन आ जाता है, इस प्रकार फेफड़ों में जाकर रक्त शुद्ध हो जाता है। लाल शुद्ध होकर फिर वह हृदय में पहुँचता है और वहाँ से धमनियों द्वारा सारे शरीर में फैलकर शरीर को स्वस्थ रखता है।

फेफड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० पपड़ी] गरमी या खुश्की से ओठों के ऊपर चमड़े की सूखी तह। प्यास या गरमी से सूखे हुए ओठ का चमड़ा।

मुहा०—फेफड़ी बाँधना या पड़ना=ओठ सूखना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० फेफड़ा] चौपायों का एक रोग जिसमें उनके फेफड़े सूज आते हैं और उनका रक्त सूख जाता है।

फफरी—संज्ञा स्त्री० दे० "फेफड़ी"। उ०—मथुरापुर में शोर पर्‌यो। गर्जत कंस वंस सब साजे मुख को नीर हर्‌यो। पीरो भयो, फेफरी अधरन हिरदय अतिहि डर्‌यो। नंदमहर के सुत दोउ सुनि के नारिन हरख भर्‌यो।—सूर।

फेरंड—संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़। सियार।

फेर—संज्ञा पुं० [हिं० फेरना] (१) चक्कर। घुमाव। घूमने की क्रिया, दशा या भाव।—(क) ओहि क खंड जस परबत मेरू। मेरुहि लागि होइ अति फेरू।—जायसी। (ख) फेर सों काहे को प्राण निकासत सूधेहि क्यों नहिं लेत निकारी।—हनुमान।

मुहा०—फेर खाना=घुमाव का रास्ता तय करना। सीधा न जाकर इधर उधर घूमकर अधिक चलना। जैसे,—मैं तो इसी रास्ते जाऊँगा, उधर उतना फेर खाने कौन जाय? फेर पड़ना=घुमाव का रास्ता पड़ना। सीधा न पड़ना। जैसे,—उधर से मत जाओ बहुत फेर पड़ेगा, मैं सीधा रास्ता बताता हूँ। फेर बँधना=क्रम या तार बँधना। सिलसिला लगना। फेर बाँधना=

सिलसिला डालना। तार बाँधना। **फेर की बात**=घुमाव की बात। बात जो सीधी सादी न हो।

(२) मोड़। झुकाव।

मुहा०—**फेर देना**=घुमाना। मोड़ना। रुख बदलना।

(३) परिवर्तन। उलट पलट। रद बदल। कुछ से कुछ होना।

यौ०—उलट फेर।

मुहा०—**दिनों का फेर**=समय का परिवर्तन। जमाने का बदलना। एक दशा से दूसरी दशा की प्राप्ति (विशेषतः अच्छी से बुरी दशा की)। उ०—(क) दिनन को फेर होत मेरु होत माटी को। (ख) हंस बगा के पाहुना कोइ दिनन का फेर। बगुला कहा गरबिया बैठा पंख बिखेर।—कबीर। (ग) मरत प्यास पिँजरा पर्‌यो सुआ समय के फेर। आदर दै दै बोलियत बायस बलि की बेर।—बिहारी। **कुफेर**=(१) बुरे दिन। बुरी दशा। (२) बुरा अवसर। बुरा दाँव। **सुफेर**=(१) अच्छे दिन। अच्छी दशा। (२) अच्छा अवसर। अच्छा मौका। उ०—पेट न फूलत बिनु कहे कहत न लागत बेर। सुमति बिचारे बोलिए समुझि कुफेर सुफेर।—तुलसी।

(४) बल। अंतर। फ़र्क। भेद। जैसे,—यह उनकी समझ का फेर है। उ०—(क) कबिरा मन दीया नहीं तन करि डारा जेर। अंतर्यामी लखि गया बात कहन का फेर।—कबीर। (ख) नदिया एक घाट बहुतेरा। कहैं कबीर कि मन का फेरा।—कबीर। (ग) मीता! तू या बात को हिये गौर करि हेर। दरदवंत बेदरद को निसि बासर को फेर।—रसनिधि। (घ) दरजी चाहत थान को कतरन लेहुँ चुराय। प्रीति ब्योंत में, भावते! बड़ो फेर परि जाय।—रसनिधि।

यौ०—हेर फेर।

(५) असमंजस। उलझन। दुबधा। अनिश्चय की दशा। कर्तव्य स्थिर करने की कठिनता। जैसे, वह बड़े फेर में पड़ गया है कि क्या करे। उ०—घट महँ बकत चकत भा मेरू। मिलहि न मिलहि परा तस फेरू।—जायसी।

मुहा०—**फेर में पड़ना**=असमंजस में होना। कठिनाई में पड़ना। **फेर में डालना**=असमंजस में डालना। अनिश्चय की कठिनता सामने लाना। किंकर्तव्य-विमूढ़ करना। जैसे, तुमने तो उसे बड़े फेर में डाल दिया।

(६) भ्रम। संशय। धोखा। जैसे,—इस फेर में न रहना कि रुपया हजम कर लेंगे। उ०—माला फेरत जुग गया गया न मन का फेर। कर का मनका छोड़ के मन का मनका फेर।—कबीर। (७) चाल का चक्कर। षट्चक्र। चालबाजी। जैसे,—तुम उसके फेर में मत पड़ना वह बड़ा धूर्त है।

मुहा०—**फेर में आना या पड़ना**=धोखा खाना। **फेरफार की बात**=चालाकी की बात।

(८) उलझाव। बखेड़ा। झंझट। जंजाल। प्रपंच। जैसे,—(क) रुपए का फेर बड़ा गहरा होता है। (ख) तुम किस फेर में पड़े हो, जाओ अपना काम देखो।

मुहा०—**निन्नानवे का फेर**=सौ रुपए पूरे करने की धुन। रुपया बढ़ाने का चसका।

विशेष—इस पर यह कहानी है कि दो भाई थे जिनमें एक दरिद्र और दूसरा धनी था। पहला भाई दरिद्र होने पर भी बड़े सुख चैन से रहता था। उसकी निश्चिंतता देख बड़े भाई को ईर्षा हुई। उसने एक दिन धीरे से अपने दरिद्र भाई के घर में निन्नानवे रुपए की पोटली डाल दी। दरिद्र रुपए पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, पर गिनने पर उसे मालूम हुआ कि सौ में एक कम है। तभी से वह सौ रुपए पूरे करने की चिंता में रहने लगा और पहले से भी अधिक कष्ट से जीवन बिताने लगा।

(९) युक्ति। उपाय। ढंग। कौशल-रचना। तदबीर। डौल। उ०—(क) फेर कछु करि पौरि तें फिरि चितइ मुसकाय। आई जामन लेन को नेहै चली जमाय।—बिहारी। (ख) आज तो तिहारे कूल बसे रहैं रूखमूल सोई सूल कौबो पैंड़ो रात ही बनायबो। बात है न आरस की, रति न सियारस की, लाख फेर एक बार तेरे पार जायबो।—हनुमान।

यौ०—फेरफार।

मुहा०—**फेर लगाना**=उपाय या ढंग रचना। युक्ति लगाना।

(१०) अदला बदला। एवज़। कुछ लेना और कुछ देना।

यौ०—**हेरफेर**=लेन देन। व्यवसाय। जैसे,—वहाँ लाखों का हेर-फेर होता है।

(११) हानि। टोटा। घाटा। जैसे,—उनकी बातों में आकर मैं हज़ारों के फेर में पड़ गया।

मुहा०—**फेर में पड़ना**=हानि उठाना। घाटा सहना।

(१२) भूत प्रेत का प्रभाव। जैसे,—कुछ फेर है इसीसे वह अच्छा नहीं हो रहा है।

* (१३) ओर। दिशा। पार्श्व। तरफ। उ०—सगुन होहिँ सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर। प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर—तुलसी।

* अव्य० फिर। पुनः। एक बार और। उ०—(क) सुनि रवि नाउँ रतन भा राता। पंडित फेर उहै कहु बाता।—जायसी। (ख) ऐहै न फेर गई जो निशा तन यौवन है धन की परछाहीं।—पद्माकर।

संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल। गीदड़।

फेरना—क्रि० सं० [सं० प्रेरण, प्रा० पेरन] (१) एक ओर से दूसरी ओर ले जाना। भिन्न दिशा में प्रवृत्त करना। गति बदलना। घुमाना। मोड़ना। जैसे,—गाड़ी पश्चिम जा रही

थी उसने उसे दक्खिन की ओर फेर दिया। उ०—(क) मैं ममता मन मारि ले घट ही माहीं घेर। जब ही चालै पीठ दै आँकुस दै दै फेर।—कबीर। (ख) लोभ, मोह, मद, क्रोध बोधरिपु फिरत रैन दिन घेरे। तिनहिँ मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारे फेरे।—तुलसी। (ग) सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ। सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) पीछे चलाना। जिधर से आता हो उसी ओर भेजना या चलाना। लौटाना। वापस करना। पलटाना। जैसे,—वह तुम्हारे यहाँ जा रहा था, मैंने रास्ते ही से फेर दिया। उ०—जे जे आए हुते यज्ञ में परिहैं तिनको फेरन।—सूर।

संयो० क्रि०—देना।

(३) जिसके पास से (कोई पदार्थ) आया हो उसी के पास पुनः भेजना। जिसने दिया हो उसी को फिर देना। लौटाना। वापस करना। जैसे,—(क) जो कुछ मैंने तुम से लिया है सब फेर दूँगा। (ख) यह कपड़ा अच्छा नहीं है, दूकान पर फेर आओ। (ग) उनके यहाँ से जो न्योता आवेगा वह फेर दिया जायगा। उ०—दियो सो सीस चढ़ाय ले आछी भाँति अएरि। जापै चाहत सुख लयो ताके दुखहिं न फेर।—बिहारी।

संयो० क्रि०—देना।

(४) जिसे दिया था उससे फिर ले लेना। एक बार देकर फिर अपने पास रख लेना। वापस लेना। लौटा लेना। जैसे,—(क) अब दूकानदार कपड़ा नहीं फेरेगा। (ख) एक बार चीज देकर फेरते हो।

संयो० क्रि०—लेना।

(५) चारों ओर चलाना। मंडलाकार गति देना। चक्कर देना। घुमाना। भ्रमण कराना। जैसे, मुगदर फेरना, पटा फेरना, बनेठी फेरना।

मुहा०—माला फेरना=(१) एक एक गुरिया या दाना हाथ से खिसकाते हुए माला को चारो ओर घुमाना। माला जपना। (एक एक दाने पर हाथ रखते हुए ईश्वर या किसी देवता का नाम या मंत्र कहते जाते हैं जिससे नाम या मंत्र की संख्या निर्दिष्ट होती जाती है)। उ०—कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेरु। माला फेरो साँस की जामें गाँठ न मेरु।—कबीर। (२) बार बार नाम लेना। रट लगाना। धुन लगाना। जैसे,—दिन रात इसी की माला फेरा करो।

(६) ऐंठना। मरोड़ना। जैसे,—पेच को उधर फेरो। (७) यहाँ से वहाँ तक स्पर्श कराना। किसी वस्तु पर धीरे से रख कर इधर उधर ले जाना। छुलाना या रखना। जैसे, घोड़े की पीठ पर हाथ फेरना। उ०—अवनि कुरंग, विहग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलन सुभग सरासन सायक फेरत।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मुहा०—हाथ फेरना=(१) स्पर्श करना। इधर उधर छूना। (२) प्यार से हाथ रखना। सुहलाना। जैसे, पीठ पर हाथ फेरना। (३) हथियाना। ले लेना। हजम करना। उड़ा लेना। जैसे, पराये माल पर हाथ फेरना।

(८) पोतना। तह चढ़ाना। लेप करना। जैसे, कलई फेरना, रंग फेरना, चूना फेरना।

मुहा०—पानी फेरना=धो देना। रंग बिगाड़ना। नष्ट करना।

(९) एक ही स्थान पर स्थिति बदलना। सामना दूसरी तरफ़ करना। पार्श्व परिवर्त्तित करना। जैसे,—(क) उसे उस करवट फेर दो। (ख) वह मुझे देखते ही मुँह फेर लेता है।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(१०) स्थान वा क्रम बदलना। उलट पलट या इधर उधर करना। नीचे का ऊपर या इधर का उधर करना। जैसे, पान फेरना। (११) पलटना। और का और करना। बदलना। भिन्न करना। विपरीत करना। विरुद्ध करना। जैसे, मति फेरना, चित्त फेरना। उ०—(क) फेरे भेख रहै भा तपा। धूरि लपेटे मानिक-छपा।—जायसी। (ख) सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी।—तुलसी। (१२) माँजना। बार बार दोहराना। अभ्यस्त करना। उद्धरणी करना। जैसे, पाठ फेरना। (१३) चारों ओर सब के सामने ले जाना। सब के सामने ले जाकर रखना। घुमाना। जैसे, जनवासे में पान फेरना। उ०—फेरे पान फिरा सब कोई। लागा ब्याहचार सब होई।—जायसी। (१४) प्रचारित करना। घोषित करना। जैसे, डौंड़ी फेरना। (१५) चला-कर चाल ठीक करना। घोड़े आदि को ठीक चलने की शिक्षा देना। चाल चलाना। निकालना। जैसे,—वह सवार बहुत अच्छा घोड़ा फेरता है। उ०—फेरहिँ चतुर तुरँग गति नाना।—तुलसी।

फेर-पलटा—संज्ञा पुं० [हिं० फेर+पलटा] गौना। द्विरागमन।

फेरफार—संज्ञा पुं० [हिं० फेर] (१) परिवर्त्तन। उलट फेर। उलट पलट। जैसे,—इसमें इधर बहुत फेरफार हुआ है। (२) अंतर। बीच। फर्क। (३) टालमटूल। बहाना। उ०—भानु सो पढ़न हनुमान गयो भानु मन अनुमानि सिसुकेलि कियो फेरफार सो।—तुलसी। (४) घुमाव फिराव। पेच। चक्कर जैसे, फेरफार की बात।

फेरव—वि० [सं०] (१) धूर्त्त। चालबाज। (२) हिंस्र। दुःख पहुँचानेवाला।

संज्ञा पुं० (१) शृगाल। गीदड़। (२) राक्षस।

फेरवट-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] (१) फिरने का भाव। (२) लपेटने में एक एक बार का घुमाव। फेरा। (३) घुमाव फिराव। पेच। चक्कर। जैसे, फेरवट की बात। (४) फेर-फार। अंतर। फ़र्क़।

फेरवा-संज्ञा पुं० [हिं० फेरना] सोने का वह छल्ला जो तार को दो तीन बार लपेट कर बनाया जाता है। लपेटुआ।

‡ संज्ञा पुं० दे० "फेरा"।

फेरा-संज्ञा पुं० [हिं० फेरना] (१) किसी स्थान या वस्तु के चारों ओर गमन। परिक्रमण। चक्कर। जैसे,—वह ताल के चारों ओर फेरा लगा रहा है। उ०—चारि खान में भरमता कबहुँ न लगता पार। सो फेरा सब मिट गया सतगुरु के उपकार।—कबीर।

क्रि० प्र०—करना।—लगाना।

(२) लपेटने में एक एक बार का घुमाव। लपेट। मोड़। बल। जैसे,—कई फेरे देकर तागा लपेटा गया है।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(३) बार बार आना जाना। इधर से उधर घूमना। जैसे,—(क) इधर वह दिन में कई फेरे लगाता है। (ख) फकीर फेरा लगा रहा है। उ०—भँवर जो सब फूलन का फेरा। बास न लेइ, मालतिहि हेरा।—जायसी।

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—लगाना।

(४) इधर उधर से आगमन। घूमते फिरते आ जाना या जा पहुँचना। जैसे,—वे कभी तो मेरे यहाँ फेरा करेंगे। उ०—(क) पींजर महँ जो परेवा घेरा। आप मजार कीन्ह तहँ फेरा।—जायसी। (ख) जहँ सतसंग कथा माधव की सपनेहु करत न फेरो।—तुलसी। (५) लौटकर फिर आना। पलटकर आना। जैसे,—इस समय तो जा रहा हूँ फिर कभी फेरा करूँगा। उ०—कहा भयो जो देश द्वारका कीन्हों जाय बसेरो। आपुन ही या ब्रज के कारन करिहैं फिरि फिरि फेरो।—सूर। (६) आवर्त्त। घेरा। मंडल।

फेराफेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] हेरा फेरी। इधर का उधर। क्रमपरिवर्त्तन। उलट।

फेरि*-अव्य० [हिं० फिर] फिर। पुनः। दुबारा। उ०—दास इते पर फेरि बुलावत यों अब आवत मेरी बलैया।—दास।

मुहा०—फेरि फेरि=बार बार। उ०—हरे हरे हेरि हेरि हँसि हँसि फेरि फेरि कहत कहा नीकी लगत।—देव।

फेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] (१) दे० "फेरा"। (२) दे० "फेर"। (३) परिक्रमा। प्रदक्षिणा। भाँवरी। जैसे,—सोमवती की फेरी।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।—देना।

मुहा०—फेरी पड़ना=भाँवर होना। विवाह के समय वर कन्या का साथ साथ मंडपस्तंभ की परिक्रमा करना।

(४) योगी या फकीर का किसी बस्ती में भिक्षा के लिए बराबर आना। उ०—(क) आशा को ईंधन करूँ मनसा करूँ भभूत। जोगी फिरि फेरी करूँ यों बनि आवै सूत।—कबीर। (ख) रूप नगर दृग जोगिया फिरत सो फेरी देत। छबि मनि पावत हैं जहाँ पल झोरी भरि लेत।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(५) कई बार आना जाना। चक्कर। उ०—न्योते गये नँदलाल कहूँ सुनि बाल बिहाल वियोग की घेरी। ऊतर कौनहूं कै पद्माकर दै फिरि कुंजगलीन में फेरी।—पद्माकर। (६) किसी वस्तु को बेचने के लिये उसे लादकर गाँव गाँव गली गली घूमना। भाँवरी। (७) वह चरखी जिसपर रस्सी पर ऐंठन चढ़ाई जाती है।

फेरीवाला-संज्ञा पुं० [हिं० फेरी+वाला] घूम घूमकर सौदा बेचनेवाला व्यापारी।

फेरु-संज्ञा पुं० [सं०] गीदड़।

फेरुआ†-संज्ञा पुं० दे० "फेरवा"।

फेरौरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० फेरना] टूटे फूटे खपरैलों को छाजन से निकालकर उनके स्थान में नये नये खपरैले रखने की क्रिया।

फेल-संज्ञा पुं० [अ०] कर्म्म। काम। कार्य्य। जैसे, बुरा फेल।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

वि० [अं०] अकृतकार्य्य। जिसे कार्य्य में सफलता न हुई हो। जैसे, इम्तहान में फेल होना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

फ़ेलो-संज्ञा पुं० [अं०] सभासद। सभ्य। जैसे, विश्वविद्यालय का फ़ेलो।

फेल्ट-संज्ञा पुं० [अं०] नमदा। जमाया हुआ ऊन। जैसे, फ़ेल्ट की टोपी।

फ़ेस-संज्ञा पुं० [अं०] (१) चेहरा। मुँह। (२) सामना। (३) टाइप का वह ऊपरी भाग जो छपने पर उभरता है। (४) घड़ी का सामने का भाग जिस पर सूई और अंक रहते हैं।

फेहरिस्त-संज्ञा स्त्री० दे० "फ़िहरिस्त"।

फैंसी-वि० [अं०] (१) देखने में सुन्दर। अच्छी काट छाँट या रंग ढंग का। रूप रंग में मनोहर। जैसे, फैंसी छाता, फैंसी धोती। (२) दिखाऊ। जो ऊपर से देखने में सुन्दर पर टिकाऊ न हो। तड़कभड़क का।

फ़ैक्टरी-संज्ञा स्त्री० [अं०] कारखाना।

फ़ैज़-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वृद्धि। लाभ। (२) फल। परिणाम।

मुहा०—अपने फ़ैज़ को पहुँचना=अपने कर्म का उचित फल पाना।

फ़ैदम–संज्ञा पुं० [अं०] गहराई की एक नाप जो छः फुट की होती है। पुरसा।

फ़ैर–संज्ञा स्त्री० [अं० फायर] बंदूक, तोप आदि हथियारों का दगना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

फैल*‡–संज्ञा पुं० [अ० फ़ेल] (१) काम। कार्य्य। उ०—शैल तजि बैल तजि फैल तजि गैलन में, हेरत उमा को यों उमापति हिते रहे।—पद्माकर। (२) क्रीड़ा। खेल। (३) नखरा। मकर।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।

*संज्ञा स्त्री० [सं० प्रसृत, वा प्रहित, प्रा० पयल्ल] (१) फैला हुआ। (२) विस्तृत। लंबा चौड़ा।

फैलना–क्रि० अ० [सं० प्रहित वा प्रसृत, प्रा० पयल्ल+ना (प्रत्य०)] (१) लगातार स्थान घेरना। यहाँ से वहाँ तक बराबर रहना। जैसे,—जंगल नदी के किनारे से पहाड़ तक फैला है।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) अधिक स्थान छेंकना। ज़्यादा जगह घेरना। अधिक व्यापक होना। विस्तृत होना। पसरना। संकुचित या थोड़े स्थान में न रहना। अधिक बड़ा या लंबा चौड़ा होना। इधर उधर बढ़ जाना। जैसे,—(क) खूब फैलकर बैठना। (ख) गरमी पाकर लोहा फैल जाता है। (ग) पाँव धरै जित ही वह बाल तहीं रंग लाल गुलाल सो फैले।—शंभु। (३) मोटा होना। स्थूल होना। मोटाना। जैसे,—उसका बदन फैल रहा है। (४) आवृत करना। छाना। व्यापक होना। भरना। व्यापना। दूर तक रखा या पड़ा रहना। जैसे, धूल फैलना, जाल फैलना। उ०—कदम अनार आम अगर अशोक थोक लतन समेत लोने लोने लगि भूमि रहे। फूलि रहे, फलि रहे, फैलि रहे, फबि रहे, झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे।—पद्माकर। (५) संख्या बढ़ना। बढ़ती होना। वृद्धि होना। जैसे, कारबार फैलना। उ०—फले फूले फैले खल, सीदे साधु पल पल, बाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है।—तुलसी। (६) इकट्ठा न रहना। छितराना। बिखरना। अलग अलग दूर तक इधर उधर पड़ा रहना। जैसे,—(क) हाथ से गिरते ही माला के दाने इधर उधर फैल गए। (ख) सिपाहियों को देखते ही डाकू इधर उधर फैल गए। (७) किसी छेद या गड्ढे का और बड़ा हो जाना या बढ़ जाना। अधिक खुलना। जैसे, मुँह फैलना। (८) मुड़ा न रहना। पूरा तन कर किसी ओर बढ़ना। जैसे, फोड़े के तनाव से हाथ फैलता नहीं है। (९) प्रचार पाना। चारों ओर पाया जाना या होना। क्रमशः बहुत से स्थानों में विद्यमान होना या मिलना। बहुतायत से मिलना। जैसे,—आंदोलन फैलना, बीमारी फैलना, प्लेग फैलना। जैसे, (क) गोभी अभी फैली नहीं है। (१०) इधर उधर दूर तक पहुँचना। जैसे, सुगंध फैलना, स्याही फैलना, खबर फैलना। (११) प्रसिद्ध होना। बहुत दूर तक ज्ञात या विदित होना। मशहूर होना। जैसे, यश फैलना, नाम फैलना, बात फैलना। उ०—(क) राव रतनसेन के कुमार को सुजस फैलि रह्यो पुहुमी में ज्यों प्रवाह गंगापथ को।—मतिराम। (ख) अब तो बात फैलि गई जानत सब कोई।—गीत। (१२) आग्रह करना। हठ करना। ज़िद करना। (१३) भाग का ठीक ठीक लग जाना। तकसीम दुरुस्त उतरना।

फैलसूफ़–वि० [यू० फिलसफ=दार्शनिक] फ़िज़ूल खर्च।

फैलसूफ़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० फैलसूफ] फ़िज़ूलखर्ची।

फैलाना–क्रि० स० [हिं० फैलना] (१) लगातार स्थान घिरवाना। यहाँ से वहाँ तक बराबर बिछाना, रखना या ले जाना। जैसे,—उसने अपना हाता नदी के किनारे तक फैला लिया है।

संयो० क्रि०—देना।—डालना।—लेना।

(२) अधिक स्थान घिरवाना। विस्तृत करना। पसारना। विस्तार बढ़ाना। अधिक बड़ा या लंबा चौड़ा करना। इधर उधर बढ़ाना। जैसे, तार फैलाना, आटे की लोई फैलाना। (३) संकुचित न रखना। सिमटा हुआ, लपेटा हुआ, या तह किया हुआ न रखना। पसारना। जैसे, सूखने के लिए कपड़ा फैलाना। उड़ने के लिए पर फैलाना। (४) व्यापक करना। छा देना। भर देना। दूर तक रखना या स्थापित करना। जैसे,—(क) यहाँ क्यों कूड़ा फैला रखा है। (ख) चिड़ियों को फँसाने के लिए जाल फैलाना। (५) इकट्ठा न रहने देना। बिखेरना। अलग अलग दूर तक कर देना। जैसे,—बच्चे के हाथ में बताशे मत दो, इधर उधर फैलाएगा। (६) बढ़ाना। बढ़ती करना। वृद्धि करना। जैसे, कारबार फैलाना। (७) किसी छेद या गड्ढे को और बड़ा करना या बढ़ाना। अधिक खोलना। जैसे, मुँह फैलाना, छेद फैलाना। (८) मुड़ा न रखना। पूरा तान कर किसी ओर बढ़ाना। जैसे,—(क) हाथ फैलाओ तो दें। (ख) पैर फैला कर सोना। (९) प्रचलित करना। किसी वस्तु या बात को इस स्थिति में करना कि वह जनता के बीच पाई जाय। इधर उधर विद्यमान करना। जारी करना। जैसे, विद्रोह फैलाना, द्वेष फैलाना, विद्या फैलाना, बीमारी फैलाना। उ०—राज काज दरबार में फैलावहु यह रत्न।—हरिश्चंद्र। (१०) इधर उधर दूर तक

पहुँचाना। जैसे, सुगंध फैलाना, स्याही फैलाना। (११) प्रसिद्ध करना। बहुत दूर तक ज्ञात या विदित कराना। चारों ओर प्रकट करना। जैसे, यश फैलाना, नाम फैलाना। (१२) आयोजन करना। विस्तृत विधान करना। उपक्रम करना। धूमधाम से कोई बात खड़ी करना। जैसे, ढंग फैलाना, ढोंग फैलाना, आडंबर फैलाना। (१३) गणित की क्रिया का विस्तार करना। (१४) हिसाब किताब करना। लेखा लगाना। विधि लगाना। जैसे, ब्याज फैलाना, हिसाब फैलाना, पड़ता फैलाना। (१५) गुणा भाग के ठीक होने की परीक्षा करना। वह क्रिया करना जिससे गुणा या भाग के ठीक या न ठीक होने का पता चल जाय।

फैलाव–संज्ञा स्त्री० [हिं० फैलाना] (१) विस्तार। प्रसार। पसार। (२) लंबाई चौड़ाई। (३) प्रचार।

फ़ैशन–संज्ञा पुं० [अं०] (१) ढंग। धज। तर्ज़। वज़ः। चाल। (२) रीति। प्रथा। चलन।

फ़ैसला–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वादी प्रतिवादी के बीच उपस्थित विवाद का निर्णय। दो पक्षों में किसकी बात ठीक है इसका निबटेरा। (२) किसी व्यवहार या अभियोग के संबंध में न्यायालय की व्यवस्था। किसी मुक़दमे में अदालत की आख़िरी राय।

क्रि० प्र०—करना।—सुनाना।—होना।

फोंक–संज्ञा पुं० [सं० पुंख] तीर के पीछे की नोक जिसके पास पर लगाए जाते हैं और जिसे रोदे पर चढ़ाकर चलाते हैं। इस नोक पर गड्ढा या खड्डी बनी रहती है जिसमें धनुष की डोरी बैठ जाती है। उ०—(क) रति संग्राम वीररस माते। हैं हरि शूरशिरोमणि अजहूं नहिन संभारत ताते।.......परिमल लुब्ध मधुप जहँ बैठत उड़ि न सकत तेहि ठाँते। मनहुँ मदन के हैं शर पाए फोंक बाहरी बाते।—सूर। (ख) शोभन सिंगार रस की सी छींट सोहै फोंक कामशर की सी कहौं युगतिनि जोरि जोरि।—केशव। (ग) समर में अरिगज-कुंभन में हनौ तीर फोंक लौं समात वीर ऐसो तेजधारी है। रावरे कुचन की बराबरी चहत याते सालत है तिन्हैं सेवा करत तिहारी है।—गुमान। (घ) बान करोर एक मुँह छूटहिँ। बाजहिँ जहाँ फोंक लहि फूटहिं।—जायसी।

वि० [देश०] दलालों की बोली में 'चार'।

फोंकलाय–वि० [देश०] चौदह। (दलाल)

फोंका–संज्ञा पुं० [सं० पुंख या हिं० फुंकना] (१) लंबा और पोला चोंगा। फोंफी। (२) मटर आदि पोली डंठलवाले शस्यों की फुनगी। (३) दे० "फूका"।

क्रि० प्र०—लगाना।—मारना।—देना।—करना।

(४) दे० "सरफोका"।

फोंकागोला–संज्ञा पुं० [हिं० फोंक+गोला] तोप का लंबा गोला।

फोंदा*–संज्ञा पुं० दे० "फुँदना" "फूँदना"। उ०—यमुना पुलिनहि रच्यो रंग सुरंग हिंडोलनो। रमत रामश्याम संग ब्रजबालक सुख पावत हँसि बोलनो...............गावत-मलार सुराग रागिनी गिरिधरन लाल छबि सोहनो। पंच रंगबरन बरन पाटहि पवित्रा विच विच फोंदा मोहनो।—सूर।

फोंफर†–वि० [अनु०] (१) पोला। सावकाश। (२) फोक। निःसार। खोख।

फोंफी†–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) गोल लंबी नली। छोटा चोंगा। (२) बाँस की नली जिससे सोनार लोहार आदि आग धौंकते हैं। (३) नाक में पहनने की पोली कील। छूंछी।

फोक–संज्ञा पुं० [सं० स्फोट या सं० बल्कल, हिं० बोकला हिं० फोकला] (१) सार निकल जाने पर बचा हुआ अंश। वह वस्तु जिसका रस या सत निकाल लिया गया हो। सीठी। (२) भूसी। तुष। वह वस्तु जिसमें छिलका ही छिलका रह गया हो, असल चीज़ निकल गई हो। (३) बिना स्वाद की वस्तु। फीकी या नीरस चीज़।

संज्ञा पुं० [देश०] एक तृण जिसका साग, बनाकर लोग खाते हैं। सूक्ष्मपुष्पी।

विशेष—यह मारवाड़ की ओर होता है और रेचक और ठंढा माना जाता है। वैद्यक में यह रक्तपित्त और कफ़ का नाशक कहा गया है।

फोकट–वि० [हिं० फोक] तुच्छ। जिसका कुछ मूल्य न हो। निःसार। व्यर्थ। उ०—(क) खल प्रबोध जग सोध मन को निरोध कुल सोध। करहिँ ते फोकट पचि मरहिं सपनेहु सुख न सुबोध।—तुलसी। (ख) कलि में न विराग न ज्ञान कहूँ सब लागत फोकट झूँठ जटो।—तुलसी। (ग) जोरत ये नाते नेह फोकट फीको। देह के दाहक गाहक जी को।—तुलसी। (घ) करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले रूख फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना विनासिनी के सुगति साधन भई उदर भरनि।—तुलसी।

मुहा०—फोकट का=(१) बिना परिश्रम का (२) बिना मूल्य का। मुफ़्त। जैसे,—क्या यह फोकट का है जो योंही दे दें। फोकट में=बिना श्रम और व्यय के। मुफ़्त में। यों ही।

फोकला†–संज्ञा पुं० [सं० बल्कल, हिं० बोकला] [स्त्री० फोकलाई] किसी फल आदि के ऊपर का छिलका।

फोकस–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह बिंदु जहाँ पर प्रकाश की छितराई हुई किरनें एकत्र हों। इस बिंदु पर ताप और प्रकाश की मात्रा अधिक हो जाती है जैसे उन्नतोदर या आतशी शीशे में दिखाई पड़ता है। (२) फोटो लेने के लिए लेंस द्वारा उस वस्तु की छाया को जिसका छायाचित्र लेना है नियत स्थान पर स्थित रूप से लाने की क्रिया।

क्रि० प्र०—लेना ।

फोट–संज्ञा पुं० दे० "स्फोट" ।

फोटो–संज्ञा पुं० [अं०] फोटोग्राफी के यंत्र द्वारा उतारा हुआ चित्र । छायाचित्र । प्रतिबिंब ।

क्रि० प्र०—उतारना ।—खींचना ।

मुहा०—फोटो लेना=फोटोग्राफी के यंत्र द्वारा किसी का फोटो वा छायाचित्र खींचना ।

फोटोग्राफ–संज्ञा पुं० [अं०] फोटो । छायाचित्र । दे० "फोटो" ।

फोटोग्राफर–संज्ञा पुं० [अं०] फोटोग्राफी का काम करनेवाला ।

फोटोग्राफी–संज्ञा स्त्री० [अं०] प्रकाश की किरनों द्वारा रासायनिक पदार्थों में उत्पन्न कुछ परिवर्तनों के सहारे वस्तुओं की आकृति वा प्रतिकृति उतारने की क्रिया ।

विशेष—प्रकाश की सहायता से चित्र उतारने की कला वा युक्ति । यह काम संदूक के आकार के एक यंत्र के सहारे से किया जाता है जिसे केमरा कहते हैं । इसके आगे की ओर बीच में गोल लंबा चोंगा सा निकला रहता है जिसमें एक गोल उन्नतोदर शीशा लगा रहता है जिसे लेंस कहते हैं । दूसरी ओर एक शीशा और एक किवाड़ होता है जो खटके से खुलता और बंद होता है । केमरे के बीच का भाग भाथी की तरह होता है जो यथेच्छ घटाया और बढ़ाया जा सकता है । लेंस के सामने चोंगे के बंद करने का ढक्कन होता है । कमरे के भीतर अँधेरा रहता है और उसमें सिवाय आगे से लेंस की ओर से और किसी ओर से प्रकाश आने का मार्ग नहीं होता है । जिस वस्तु की प्रतिकृति लेनी होती है वह सामने ऐसे स्थान पर होता है जहाँ उस पर सूर्य का प्रकाश अच्छे प्रकार पड़ता हो । उसके सामने कुछ दूर पर केमरे का मुँह उसकी ओर करके रखते हैं । फिर लेंस का ढक्कन खोलकर चित्र लेनेवाला दूसरी ओर के द्वार को खोलकर सिर पर काला कपड़ा (जिसमें कहीं से प्रकाश न आवे) डालकर देखता है कि उस वस्तु की प्रतिकृति ठीक दिखाई देती है कि नहीं । इसे फोकस लेना कहते हैं । इसके बाद लेंस के सामने के ढक्कन को फिर बंद कर देते हैं और दूसरी ओर लकड़ी के बंद चौकठे में रखे प्लेट को, जिसमें रासायनिक पदार्थ लगे रहते हैं, बड़ी सावधानी से, जिसमें प्रकाश उसे स्पर्श न करने पाए लगा देते हैं, फिर लेंस के मुँह को थोड़ी देर तक के लिए खोल देते हैं जिसमें प्लेट पर उस पदार्थ की छाया अंकित हो जाय । ढक्कन फिर बंद कर दिया जाता है और अंकित प्लेट बड़ी सावधानी से बंद चौखटे में बंद करके रख दिया जाता है । उस प्लेट को अँधेरी कोठरी में ले जाकर लाल लालटेन के प्रकाश में रासायनिक मिश्रणों में कई बार डुबाते हैं और अंत में फिटकरी के पानी में डालकर ठंढे पानी की धार उस पर गिराते हैं । इस क्रिया से प्लेट काले रंग का हो जाता है और उसपर पदार्थ अंकित दिखाई पड़ने लगता है, इसे निगेटिव कहते हैं । इसी निगेटिव पर रासायनिक पदार्थ लगे हुए काग़ज़ के टुकड़ों को अँधेरी कोठरी के भीतर सटा कर प्रकाश दिखाते और रासायनिक मिश्रणों में धोते हैं । इस प्रकार काग़ज़ पर प्रतिकृति अंकित हो जाती है । इसी को फोटो कहते हैं ।

प्रकाश के प्रभाव से वस्तुओं के रंगों में परिवर्तन होता है । इस बात का कुछ कुछ ज्ञान लोगों को पहले से था । चमड़ा सिझाते समय सूर्य का प्रकाश पाकर चमड़े का रंग बदलता हुआ बहुत से लोग देखते थे । सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इटली के एक मनुष्य को, जिसका नाम पोर्टो था, वृक्ष के सघन पत्तों में से होकर सूर्य्य की किरणों का प्रकाश छनते देखकर उत्सुकता हुई । उसने अपने घर की कोठरी की दीवार में एक छोटा सा छेद किया । फिर बाहर की ओर दीपक जलाकर दूसरी ओर एक पदार्थ टाँगकर परीक्षा करने लगा । दीपशिखा उसे पर्दे पर उलटी लटकी दिखाई पड़ी । वह इस प्रकार दूसरे पदार्थों की प्रतिकृतियाँ भी पर्दे पर लाने का यत्न करने लगा । सुबीते के लिए उसने एक नतोदर शीशा उस छेद में लगा दिया । उसी समय फ्रांस देश के एक और वैज्ञानिक ने परीक्षा करके नाइट्रेट आफ सिलवर (Nitrate of silver) नामक रासायनिक मिश्रण बनाया जो यद्यपि सफ़ेद होता है पर सूर्य की किरन पड़ते ही धीरे धीरे काला होने लगता है । सन् १७२० में स्विज़रलैंड के एक विद्वान चार्ल्स ने अँधेरी कोठरी में नाइट्रेट आफ सिलवर के सहारे से चित्र बनाने की चेष्टा की । चित्र तो खिंच गया पर स्थायी न हो सका । बहुत से वैज्ञानिक चित्र को स्थायी करने की चेष्टा करते रहे । अंत को सौ बरस पीछे, एमन्योपस नामक एक वैज्ञानिक की सहायता से डगर साहेब ने पारे के रासायनिक मिश्रण द्वारा चित्र को स्थायी करने में सफलता प्राप्त की । डगर ने चित्र को पहले पोटास ब्रोमाइड में डुबा डुबा कर देखा पर अंत में उसे हाइपो सल्फाइट सोडा द्वारा पूरी सफलता हुई । इसी समय एक अंग्रेज ने गैलिक एसिड और नाइट्रेट आफ सिलवर की सहायता से काग़ज़ पर चित्र छापने की विधि निकाली । धीरे धीरे यह विद्या उन्नति करती गई और सन् १८५० में प्लेट पर चित्र लिए जाने लगे । १८७२ में डा० मैडाक्स ने जेलेटीन की सहायता से प्लेट बनाने की प्रथा जारी की जो उत्तरोत्तर उन्नत होकर अब तक प्रचलित है । अब आर्द्र प्लेट का बहुत कम व्यवहार होता है, प्रायः सब जगह शुष्क प्लेट काम में लाया जाता है ।

फोड़ना—क्रि० स० [सं० स्फोटन, प्रा० फोडन] (१) खरी या करारी वस्तुओं को दबाव या आघात द्वारा तोड़ना। खरी वस्तुओं को खंड खंड करना। दरकाना। भग्न करना। विदीर्ण करना। जैसे, (क) घड़ा फोड़ना, चने फोड़ना, बरतन फोड़ना, चिमनी फोड़ना, पत्थर फोड़ना। (ख) अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। उ०—रोवहिं रानी तजैं पराना। फोरहिं चुरी, करहिं खरिहाना।—जायसी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

यौ०—तोड़ना फोड़ना।

मुहा०—उँगलियाँ फोड़ना=उँगलियों को खींच या मोड़कर उनके जोड़ों को खटखट बुलाना। उँगलियाँ चटकाना।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग खरी या करारी वस्तुओं के लिए होता है, चमड़े, लकड़ी आदि चीमड़ वस्तुओं के लिए नहीं।

(२) ऐसी वस्तुओं को आघात या दबाव से विदीर्ण करना जिनके भीतर या तो पोला हो अथवा मुलायम या पतली चीज़ भरी हो। जैसे, कटहल फोड़ना, फोड़ा फोड़ना, सिर फोड़ना। उ०—सूर रहै रस अधिक कहे नहिँ गूलर को सो फल कोरे।—सूर।

मुहा०—आँख फोड़ना=आँख नष्ट करना। आँख को ऐसा कर डालना कि उससे दिखाई न दे।

(३) केवल आघात या दबाव से भेदन करना। धक्के से दरार डालकर उस पार निकल जाना। जैसे, (क) पानी बाँध फोड़कर निकल गया। (ख) गोली दीवार फोड़कर निकल गई।

विशेष—किसी धारदार वस्तु (तलवार, तीर भाला) के चुभ या धँस कर उस पार होने को फोड़ना नहीं कहेंगे। उ०—(क) पाहन फोरि गंग इक निकली चहुँ दिसि पानी पानी। तेहि पानी दुइ परबत बूड़े दरिया लहर समानी।—कबीर। (ख) ब्रह्मरंध्र फोरि जीव यों मिल्यो त्रिलोकि जाय। गेह चूरि ज्यों चकोर चंद्र में मिल्यो उड़ाय।—केशव। (४) शरीर में ऐसा विकार या दोष उत्पन्न करना जिससे स्थान स्थान पर घाव या फोड़े हो जायँ। जैसे,—पारा कभी मत खाना, शरीर फोड़ देगा। (५) जुड़ी हुई वस्तु के रूप में निकालना। अवयव, जोड़ या वृद्धि के रूप में प्रकट करना। अंकुर, कनखे, शाखा आदि निकालना। जैसे, पौधे का कनखे या शाखा फोड़ना। (६) शाखा के रूप में अलग होकर किसी सीध में जाना। जैसे,—नदी कई शाखाएँ फोड़कर समुद्र में मिली है। (७) पक्ष छुड़ाना। एक पक्ष से अलग करके दूसरे पक्ष में कर लेना। जैसे,—उसने हमारे दो गवाह फोड़ लिये। (८) साथ छुड़ाना। संग में न रहने देना। जैसे, हम लोग साथ ही साथ चले थे तुम इन्हें कहाँ फोड़ कर ले चले? (९) भेदभाव उत्पन्न करना। मैत्री या मेलजोल से अलग कर देना। फूट डालकर अलग करना। (१०) गुप्त बात सहसा प्रकट कर देना। एकबारगी भेद खोलना। जैसे, बात फोड़ना, भंडा फोड़ना।

फोड़ा—संज्ञा पुं० [सं० स्फोटक वा पिडिका, प्रा० फोड] [स्त्री० अल्प० फोड़िया] एक प्रकार का शोथ या उभार जो शरीर में कहीं पर कोई दोष संचित होने से उत्पन्न होता है और जिसमें जलन और पीड़ा होती है तथा रक्त सड़कर पीब के रूप में हो जाता है। व्रण। आपसे आप होनेवाला उभरा हुआ घाव।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार व्रण या घाव दो प्रकार के होते हैं—शारीर और आगंतुक। चरकसंहिता में भी निज और आगंतुक ये दो भेद कहे गए हैं। शारीर वा निज व्रण वह घाव है जो शरीर में आपसे आप भीतरी दोष के कारण उत्पन्न होता है। इसी को फोड़ा कहते हैं। वैद्यक के अनुसार वात, पित्त, कफ या सन्निपात के दोष से ही शरीर के किसी स्थान पर शारीर व्रण या फोड़ा होता है। दोषों के अनुसार व्रण के भी वातज, पित्तज, कफज तीन भेद किए गए हैं। वातज व्रण कड़ा या खुरखुरा, कृष्णवर्ण, अल्पस्रावयुक्त होता है और उसमें सूई चुभने की सी पीड़ा होती है। पित्तज व्रण बहुत दुर्गंधयुक्त होता है और उसमें दाह, प्यास और पसीने के साथ ज्वर भी होता है। कफज व्रण पीलापन लिए, गीला, चिपचिपा और कम पीड़ावाला होता है।

फोड़िया—संज्ञा पुं० [हिं० फोड़ा, वा सं० पिडिका] छोटा फोड़ा। फुनसी।

फोता—संज्ञा पुं० [फा०] (१) पटुका। कमरबंद। (२) पगड़ी। सिरबंद। (३) वह रुपया जो प्रजा उस भूमि या वित्त के लिए जो उसके अधिकार या जोत में हो राजा वा जिमींदार को दे। पोत। उ०—साँचो सो लिखवार कहावै। काया ग्राम मसाहत करिकै जमा बाँधि ठहरावै। मन्मथ करै कैद अपनी में जान जहतिया लावै। माँड़ि माँड़ि खलिहान क्रोध को फोता भजन भरावै।—सूर। (४) थैली। कोष। थैला। (५) अंडकोश।

फोतेदार—संज्ञा पुं० [फा०] (१) खजांची। कोषाध्यक्ष। (२) तहवीलदार। रोकड़िया।

फोनोग्राफ—संज्ञा पुं० [अं०] एक यंत्र जिसमें पूर्व में गाए हुए राग, कही हुई बातें और बजाए हुए बाजों के स्वर आदि चूड़ियों में भरे रहते हैं और ज्यों के त्यों सुनाई पड़ते हैं। यह संदूक के आकार का होता है। इसके भीतर चक्कर लगे रहते हैं जो चाबी देने से आपसे आप घूमने लगते हैं। इसके बीच में एक खूँटी या धुरी होती है जिसकी एक नोक

संदूक के ऊपर बीच में निकली रहती है। यंत्र के दूसरे ओर किनारे पर एक परदा होता है जिसके छोर पर सूई लगी रहती है। इसी परदे पर बजाते समय एक चोंगा लगा दिया जाता है।

चूड़ियाँ जिनपर गीत, राग या कही हुई बातें अंकित रहती हैं रोटी के आकार की होती हैं। उनपर मध्य से आरंभ करके परिधि तक गई हुई महीन रेखाओं की कुंडलियाँ होती हैं। चूड़ियों में आवाज़ इस प्रकार अंकित की जाती या भरी जाती है—एक यंत्र होता है जिसके एक सिरे पर चोंगा और दूसरे सिरे पर सूई लगी रहती है। गाने, बजाने या बोलनेवाला चोंगे की ओर बैठ कर गाता बजाता या बोलता है। उस शब्द से वायु में लहरियाँ उत्पन्न होकर चोंगे के दूसरे सिरे पर की सूई को संचालित करती हैं। इसी समय चूड़ी भी घुमाई जाती है और उस पर बोले हुए शब्द, गाए हुए राग या बाजे की ध्वनि के कंपचिह्न, सूई द्वारा अंकित होते जाते हैं। जब फिर उसी प्रकार का शब्द सुनना होता है तब वही चूड़ी फोनोग्राफ में संदूक के बीच में निकली हुई कील में लगा दी जाती है और किनारे के परदे में लगी सूई चूड़ी की पहली या आरंभ की रेखा पर लगा दी जाती है। कुंजी देने से भीतर के चक्कर घूमने लगते हैं जिससे चूड़ी कील के सहारे नाचती है और सूई लकीरों पर घूमकर चोंगे में उसी प्रकार के वायु-तरंग उत्पन्न करती है जिस प्रकार के चूड़ी में अंकित हुए थे। ये ही वायुतरंग उस कल में लगे हुए पुर्जों को हिलाते हैं जिससे चोंगे में से होकर चूड़ी में भरे हुए शब्दों या स्वरों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि कुछ धीमी होती है और धातु की झनझनाहट और सूई की खरखराहट के कारण कुछ दूषित हो जाती है। फिर भी सुननेवाले को पूर्व के शब्दों और स्वरों का बोध पूरा पूरा होता है। फोनोग्राफ में स्वरों का उच्चारण व्यंजनों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है और व्यंजनों में स और ज का उच्चारण इतना अस्पष्ट होता है कि उनमें कम भेद जान पड़ता है। शेष व्यंजन कुछ स्पष्ट होने पर भी अपना बोध कराने के लिए पर्याप्त होते हैं। इस यंत्र के आविष्कारक अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अडीसन साहब हैं।

फोनोटोग्राफ–संज्ञा पुं० [अं०] एक यंत्र जिसके द्वारा बोलनेवाले के शब्दों से उत्पन्न वायुतरंगों का अंकन होता है। यह यंत्र एक पीपे के आकार का होता है। पीपे का एक मुँह तो बिलकुल खुला रहता है और दूसरी ओर कुछ यंत्र लगे रहते हैं। यंत्र में एक पतला परदा होता है जिसपर एक पतली सूई लगी रहती है। इसी सूई से शब्द द्वारा उत्पन्न वायुतरंगें चूड़ी पर अंकित होती हैं। दे० "फोनोग्राफ"।

फोया–संज्ञा पुं० [सं० फाल=रुई का] रूई के गाले का टुकड़ा। रूई का एक लच्छा।

फोरना*†–क्रि० स० दे० "फोड़ना"।

फोरमैन–संज्ञा पुं० [अं०] कारखानों में कारीगरों और काम करनेवालों का सरदार वा जमादार। जैसे, प्रेस का फ़ोरमैन, लोहारखाने का फ़ोरमैन।

फ़ोलियो–संज्ञा पुं० [सं०] काग़ज़ के तख्ते का आधा भाग।

फोहा–संज्ञा पुं० [सं० फाल=रूई का] रूई के गाले का छोटा टुकड़ा। फाहा।

फ़ोहारा–संज्ञा पुं० दे० "फुहारा", "फुहार"।

फौआरा–संज्ञा पुं० दे० "फुहारा"।

फौकना‡–क्रि० अ० [अनु०] डींग मारना। बढ़ बढ़कर बातें करना।

फ़ौज–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) झुंड। जत्था। (२) सेना। लश्कर। उ०—(क) सार बहै लोहा झरै टूटै जिरह जँजीर। अविनाशी की फौज में माड़ो दास कबीर।—कबीर। (ख) सुनि बल मोहन बैठि रहसि मैं कीनो कछु विचार। मागध मगध देश ते आयो साजे फ़ौज अपार।—सूर। (ग) हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सनमुख फौज रेंगाई।—तुलसी। (घ) नाह गरज नाहर गरज बचन सुनायो टेरि। फँसी फौज के बीच में हँसी सबनि मुख हेरि—बिहारी।

फ़ौजदार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] सेना का प्रधान। सेनापति। सेना का छोटा अफ़सर।

फ़ौजदारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) लड़ाई झगड़ा। मार पीट।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) वह अदालत या न्यायालय जहाँ ऐसे मुकदमों का निर्णय होता हो जिनमें अपराधी को दंड मिलता है। कंटकशोधन दंडनियम।

विशेष—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायशासन के दो विभाग दिखाई पड़ते हैं—धर्मस्थीय और कंटकशोधन। कंटकशोधन अधिकरण में आजकल के फ़ौजदारी के मामलों का विवरण है और धर्मस्थीय में दीवानी के। स्मृतियों में दंड और व्यवहार ये दो शब्द मिलते हैं।

फ़ौजी–वि० [फ़ा०] फ़ौजसंबंधी। सैनिक। जैसे, फ़ौजी आदमी, फ़ौजी क़ानून।

फ़ौत–वि० [अ०] नष्ट। मृत। गत।

मुहा०—मतलब फौत होना=कार्य्य नष्ट होना।

फ़ौरन–क्रि० वि० [अ०] तुरंत। तत्काल। चटपट।

फ़ौलाद–संज्ञा पुं० [फ़ा० पोलाद] एक प्रकार का कड़ा और अच्छा लोहा जिसके हथियार बनाए जाते हैं। खेड़ी।

फ़ौलादी–वि० [फ़ा०] (१) फ़ौलाद का बना हुआ। जैसे,

फ़ौलादी जिरह। (२) दृढ़। कठिन। मज़बूत। जैसे, फ़ौलादी बदन।

संज्ञा स्त्री० बल्लम की छड़। भाले की लकड़ी।

फ़ौवारा–संज्ञा पुं० दे० "फुहारा"।

फ्याहुर–संज्ञा पुं० [सं० फेरु] गीदड़। शृगाल।

फ़्रांसीसी–वि० [फ़्रांस] (१) फ़्रांस देश का। फ़्रांस देश में उत्पन्न। (२) फ़्रांस देश में रहनेवाला। फ़्रांस देशवासी।

फ़्राक–संज्ञा पुं० [अं० फ़्राक] लंबी आस्तीन का ढीला ढाला कुरता जिसे प्रायः बच्चों को पहनाते हैं।

यौ०—गंजी फ़्राक=बनियान।

फ़्रिस्केट–संज्ञा स्त्री० [अं०] लोहे की चद्दर का बना हुआ चौखटा जो हाथ से चलाए जानेवाले प्रेस के डाले में जड़ा रहता है। छापने के समय काग़ज़ के तख्ते को डाले पर रख कर इसी चौखटे से ऊपर से बंद कर देते हैं, फिर डाले को गिरा कर प्रेस में दबाते हैं। काग़ज़ के तख्ते पर उन उन जगहों पर जो फ़्रिस्केट के छेद से खुली रहती हैं मैटर छप जाता है और शेष अंश ढके रहने से सादा रहता है।

फ़्री–वि० [अं०] (१) स्वतंत्र। जिसपर किसी की दाब न हो। (२) कर या महसूल से मुक्त। मुक्त। जैसे, फ़्री स्कूल, फ़्री पढ़ना।

फ़्रीट्रेड–संज्ञा पुं० [अं०] वह वाणिज्य जिसमें माल के आने जाने पर किसी प्रकार का कर या महसूल न लिया जाय।

फ़्रीमेसन–संज्ञा पुं० [अं०] फ़्रीमेसनरी नाम के गुप्त संघ का सभ्य।

फ़्रीमेसनरी–संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार का गुप्त संघ या सभा जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ यूरप अमेरिका तथा उन सब स्थानों में हैं जहाँ यूरोपियन हैं।

विशेष—इस सभा का उद्देश्य समाज की रक्षा करनेवाले सत्य, दान, औदार्य्य, भ्रातृभाव आदि का प्रचार कहा जाता है। फ़्रीमेसनों की सभाएँ गुप्त हुआ करती हैं और उनके बीच कुछ ऐसे संकेत होते हैं जिनसे वे अपने संघ के अनुयायियों को पहचान लेते हैं। ये संकेत कोनिया, परकार आदि राजगीरों के कुछ औज़ार के चिह्न कहे जाते हैं। प्राचीन काल में यूरोप में उन कारीगरों या राजगीरों की इसी नाम की एक संस्था थी जो बड़े बड़े गिरजे बनाया करते थे। इन्हीं संकेतों के कारण जो असली कारीगर होते थे वे ही भरती हो पाते थे। इसी आदर्श पर सन् १७१७ ई० में फ़्रीमेसन संस्थाएँ स्थापित हुईं जिनका उद्देश्य अधिक व्यापक रखा गया।

फ़्रेंच–वि० [अं०] फ़्रांस देश का।

फ़्रेंच पेपर–संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का हलका पतला और चिकना काग़ज़।

फ़्रेम–संज्ञा पुं० [अं०] चौकठा।

फ़्लाईब्वाय–संज्ञा पुं० [अं०] प्रेस में वह लड़का जो प्रेस पर से छपे हुए काग़ज़ जल्दी से झपट कर उतारता है और उन पर आँख दौड़ा कर छपाई की त्रुटि की सूचना प्रेसमैन को देता है।

फ़्लूट–संज्ञा पुं० [अं०] बंसी की तरह का एक अँगरेज़ी बाजा जो फूँक कर बजाया जाता है।

ब

ब–हिंदी का तेईसवाँ व्यंजन और पवर्ग का तीसरा वर्ण। यह ओष्ठ्य वर्ण है और दोनों होठों के मिलाने से इसका उच्चारण होता है। इसलिए इसे स्पर्श वर्ण कहते हैं। यह अल्पप्राण है और इसके उच्चारण में संवार, नाद और घोष नामक वाह्य प्रयत्न होते हैं।

बँउखा‡–संज्ञा पुं० [सं० बाहु] काले धागे का एक बंध जिसमें झब्बे लगे रहते हैं और जिसे स्त्रियाँ बाँह में कोहनी के ऊपर बाँधती हैं।

बंक–वि० [सं० वक्र, वंक] (१) टेढ़ा। तिरछा। (२) पुरुषार्थी। विक्रमशाली। (३) दुर्गम। जिस तक पहुँच न हो सके। उ०—(क) जो बंक गढ़ लंक सो ढका ढकेलि ढाहिगो।—तुलसी। (ख) लंक से बंक महागढ़ दुर्गम ढाहिबे दाहिबे को कहरी है।—तुलसी

संज्ञा पुं० [अं० बैंक] वह कार्य्यालय या संस्था जो लोगों का रुपया सूद देकर अपने यहाँ जमा करती अथवा सूद ले कर लोगों को ऋण देती है, लोगों की हुंडियाँ लेती और भेजती है तथा इसी प्रकार के दूसरे महाजनी के कार्य्य करती है।

बंकट–वि० [सं० वंक] वक्र। टेढ़ी। उ०—(क) ठठकति चलै मटकि मुँह मोरै बंकट भौंह मरोरै।—सूर। (ख) भृकुटि बंकट चारु लोचन रही युवती देखि।—सूर।

संज्ञा पुं० [?] हनुमान। (डिं०)

बंकनाल–संज्ञा स्त्री० [हिं० बंक+नाल] सुनारों की एक नली जो बहुत बारीक टुकड़ों की जोड़ाई करने के समय चिराग़ की लौ फूँकने के काम आती है। बगनहा।

बंकराज–संज्ञा पुं० [सं० बंकराज] एक प्रकार का सर्प। उ०—पातराज, कृष्णराज, बंकराज, शंखचूर और मणिचूर आदि साँप बड़े फनवालों में हैं।—सर्पाघात-चिकित्सा।

बंकवा–संज्ञा पुं० [सं० बंक] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है। इसका चावल सैकड़ों वर्ष तक रह सकता है।

बंकसाल–संज्ञा पुं० [देश०] जहाज़ का वह बड़ा कमरा जिसमें मस्तूलों पर चढ़ानेवाली रस्सियाँ या जंजीरें आदि तैयार या ठीक करके रखी जाती हैं।

बंका†–वि० [सं० वंक] (१) टेढ़ा। तिरछा। (२) बाँका। (३) पराक्रमी। बलशाली।

संज्ञा पुं० [देश०] हरे रंग का एक कीड़ा जो धान के पौधों को हानि पहुँचाता है।

बंकाई†–संज्ञा स्त्री० [सं० वंक+आई (प्रत्य०)] टेढ़ापन। तिरछापन। उ०—आछु बंकाई ही बढ़ै तरुणि तुरंगम तान।—बिहारी।

बंकी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बाँक"।

बंकुर†–वि० दे० "बंक"।

बंकुरता*–संज्ञा स्त्री० [सं० वक्रता] टेढ़ाई। टेढ़ापन। उ०—आनन में मुसक्यान सुहावनी, बंकुरता अँखियान छई है।—भिखारीदास।

बंग–संज्ञा पुं० दे० "वंग"।

बंगई–संज्ञा स्त्री० [सं० वंग] एक प्रकार की बढ़िया कपास जो सिलहट में बहुत पैदा होती है।

बंगनापाली–संज्ञा स्त्री० एक देशी मुसलमानी रियासत।

बँगला–वि० [हिं० बंगाल] बंगाल देश का। बंगाल संबंधी। जैसे, बँगला मिठाई, बँगला जूड़ा।

संज्ञा पुं० (१) एकतला कच्चा मकान जिसपर फूस वा खपड़ों का छप्पर पड़ा हो। (२) वह छोटा हवादार और चारों ओर से खुला हुआ एक मंजिल का मकान जिसके चारों ओर बरामदे हों। पहले इस प्रकार के मकान बंगाल में अधिकता से होते थे। उन्हीं की देखा देखी अँगरेज़ भी अपने रहने के मकान बनाने और उन्हें बँगला कहने लगे थे। (३) वह छोटा हवादार कमरा जो प्रायः मकानों की सब से ऊपरवाली छत पर बनाया जाता है। (४) बंगाल देश का पान।

संज्ञा स्त्री० बंगाल देश की भाषा।

बंगलिया–संज्ञा पुं० [हिं० बंगाल] (१) एक प्रकार का धान। (२) एक प्रकार का मटर।

बँगली†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बगल] स्त्रियों का एक आभूषण जो हाथों में चूड़ियों के साथ पहना जाता है।

बंगली–संज्ञा पुं० [?] घोड़ा। (डिं०)

बंगसार–संज्ञा पुं० [?] पुल की तरह बना हुआ वह चबूतरा जो समुद्र में दूर तक चला जाता है और जिस पर से लोग जहाज़ पर चढ़ते वा उससे उतरते हैं। बनसार।

बंगा†–वि० [सं० बंक] (१) टेढ़ा। (२) मूर्ख। बेवकूफ़। (३) लड़ाई झगड़ा करनेवाला। उद्दंड।

बंगारी–संज्ञा पुं० [सं० बंग+अरि] हरताल। (डिं०)

बंगाल–संज्ञा पुं० [सं० बंग] (१) बंग देश जो भारत का पूरबी भाग है। (२) एक राग का नाम जिसे कुछ लोग मेघ राग का और कुछ भैरव राग का पुत्र मानते हैं।

बंगालिका–संज्ञा स्त्री० [?] एक रागिनी जिसे कुछ लोग मेघ राग की स्त्री मानते हैं।

बंगाली–संज्ञा पुं० [हिं० बंगाल+ई (प्रत्य०)] (१) बंगाल देश का निवासी। (२) संपूर्ण जाति का एक राग।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बंग] बंगदेश की भाषा। बँगला।

बँगुरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बँगली"।

बंगू–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार की मछली जो प्रायः दक्षिण तथा बंगाल की नदियों में होती है। (२) भौंरा वा जंगी नामक खिलौना जिसे बालक नचाते हैं।

बंगेमा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कछुआ जो गंगा और सिंधु में होता है। इसका माँस खाने योग्य होता है।

बंचक–संज्ञा पुं० [सं० वंचक] धूर्त। पाखंडी। ठगनेवाला। उ०—लखि सुवेष जगबंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजियत तेऊ।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [देश०] जीरे के रूप रंग तथा आकार प्रकार की एक घास का दाना जो पहाड़ी देशों में पैदा होता है और जीरे में मिलाकर बेचा जाता है।

बंचकता, बंचकताई*†–संज्ञा स्त्री० [सं० वंचकता] छल। धूर्तता। चालबाज़ी।

बंचन–संज्ञा पुं० [सं० वंचन] छल। ठगपना।

बंचनता–संज्ञा स्त्री० [सं० वंचनता] ठगी। छल। उ०—दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता पर बंचनताति घनी।—तुलसी।

बंचना–संज्ञा स्त्री० [सं० वंचना] ठगी।

*†क्रि० स० [सं० वंचन] ठगना। छलना। उ०—बंचेहु मोहि जौन धरि देहा। सोइ तनु धरहु साप मम एहा।—तुलसी।

बंचर–संज्ञा पुं० दे० "वनचर"।

बँचवाना–क्रि० स० [हिं० बाँचना] पढ़वाना। दूसरे को पढ़ने में प्रवृत्त करना।

बंचित–वि० दे० "वंचित"।

बंछना*†–क्रि० स० [सं० वांछा] अभिलाषा करना। इच्छा करना। चाहना।

बंछनीय*†–वि० दे० "वांछनीय"।

बंछित*†–वि० दे० "वांछित"।

बंज–संज्ञा पुं० दे० "बनिज"।

संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय प्रदेश का एक प्रकार का बलूत का पेड़ जिसकी लकड़ी का रंग ख़ाकी होता है। इसको सिल और मारू भी कहते हैं।

बंजर–संज्ञा पुं० [सं० वन+ऊजड़] वह भूमि जिसमें कुछ उत्पन्न न हो सके। ऊसर।

बंजारा–संज्ञा पुं० दे० "बनजारा"।

बंजुल, बंजुलक–संज्ञा पुं० दे० "वंजुल"।

बंझा–वि० [सं० वंध्या] (वह स्त्री) जिसके संतान न हो। बाँझ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वंध्या] वह स्त्री जिसमें संतान पैदा करने की शक्ति न हो। बाँझ।

बँटना–क्रि० अ० [सं० बटन] (१) विभाग होना। अलग अलग हिस्सा होना। जैसे,—यह प्रदेश तीन भागों में बँटा है। (२) कई व्यक्तियों को अलग अलग दिया जाना। कई प्राणियों के बीच सब को प्रदान किया जाना। जैसे,—(क) वहाँ गरीबों को कपड़ा बँटता है। (ख) अब तो सब आम बँट गये, तुम्हारे लिए एक भी न बचा।

संयो० क्रि०—जाना।

संज्ञा पुं० दे० "बटना"।

बँटवाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँटना] बाँटने की मज़दूरी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बाटना] पिसवाने की मज़दूरी।

बँटवाना–क्रि० स० [सं० वितरण] बाँटने का काम दूसरे से कराना। सब को अलग अलग करके दिलवाना। वितरण कराना।

क्रि० स० [सं० वर्तन] पिसवाना।

बंटा–संज्ञा पुं० [सं० वटक, हिं० बटा=गोला] [स्त्री० अल्प० बंटी] गोल अथवा चौकोर कुछ छोटा डब्बा। जैसे, पान का बंटा, ठाकुर जी के भोग का बंटा।

वि० छोटे क़द का। छोटे आकारवाला।

बँटाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँटना] (१) बाँटने का काम। वितरण करना। (२) बाँटने की मज़दूरी। (३) बाँटने का भाव। (४) दूसरे को खेत देने का वह प्रकार जिसमें खेत जोतनेवाले से मालिक को लगान के रूप में धन नहीं मिलता बल्कि उपज का कुछ अंश मिलता है। जैसे,—अब की बार सब खेत बँटाई पर उठा दो।

बँटाना–क्रि० स० [हिं० बाँटना] (१) भाग करा लेना। हिस्सा कराकर अपना अंश ले लेना। (२) किसी काम में हिस्सेदार होने के लिए या दूसरे का बोझ हलका करने के लिए शामिल होना। जैसे, दुःख बँटाना।

मुहा०—हाथ बँटाना=दे० "हाथ" के मुहा०।

बँटावन*†–वि० [हिं० बँटाना] बँटानेवाला। हिस्सा करानेवाला। उ०—बोलत नहीं मौन कह साधी बिपति बँटावन बीर।—सूर।

बंटी—संज्ञा स्त्री० [डिं०] हिरन आदि पशुओं को फँसाने का जाल या फँदा।

संज्ञा स्त्री० दे० "बंटा"।

बँटैया‡–संज्ञा पुं० [हिं० बँटाना+ऐया (प्रत्य०)] बँटा लेनेवाला। बँटानेवाला। हिस्सा लेनेवाला।

बंडल–संज्ञा पुं० [अं०] काग़ज़ या कपड़े आदि में बँधी हुई छोटी गठरी। पुलिंदा जैसे, अख़बारों का बंडल, किताबों का बंडल, कपड़ों का बंडल।

बँड़वा‡–वि० दे० "बाँड़ा"

बंडा–संज्ञा पुं० [हिं० बंटा] एक प्रकार का कच्चू या अरुई जो आकार में गोल, गाँठदार और कुछ लंबोतरी होती है।

संज्ञा पुं० [सं० बंध] छोटी दीवार से घिरा हुआ वह स्थान जिसमें अन्न भरा जाता है। बड़ी बखारी।

बंडी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँड़ा=कटा हुआ] (१) बिना अस्तीन की मिरज़ई। फतुही। कुरती। (२) बगलबंदी नामक पहनने का वस्त्र।

बँडेरा–संज्ञा पुं० दे० "बँडेरी"।

बँडेरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बरेड़ा=बड़ा या सं० वरदंड] वह लकड़ी जो खपरैल की छाजन में मँगरे पर लगती है। यह दो पलिया छाजन में बीचोबीच लंबाई में लगाई जाती है। उ०—ओरी का पानी बँडेरी जाय। कंडा डूबै सिल उतराय।—कबीर।

बंद–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह पदार्थ जिससे कोई वस्तु बाँधी जाय। (२) पानी रोकने का धुस्स। रोक। पुश्ता। मेंड़। बाँध। विशेष—दे० "बाँध"। (३) शरीर के अंगों का कोई जोड़।

क्रि० प्र०—जकड़ जाना।—ढीले होना।

(४) वह पतला सिला हुआ कपड़े का फ़ीता जिससे अँगरखे, चोली आदि के पल्ले बाँधे जाते हैं। तनी। (५) काग़ज़ का लंबा और बहुत कम चौड़ा टुकड़ा। (६) उर्दू कविता का टुकड़ा या पद जो पाँच या छः चरणों का होता है। (७) बंधन। क़ैद।

वि० [फ़ा०] (१) जिसके चारों ओर कोई अवरोध हो। जो किसी ओर से खुला न हो। जैसे,—(क) जो पानी बंद रहता है, वह सड़ जाता है। (ख) चारों ओर से बंद मकान में प्रकाश या हवा नहीं पहुँचती। (२) जो इस प्रकार घिरा हो कि उसके अंदर कोई जा न सके। (३) जिसके मुँह अथवा मार्ग पर दरवाज़ा, ढकना या ताला आदि लगा हो। जैसे, बंद संदूक़, बंद कमरा, बंद दूकान। (४) जो खुला न हो। जैसे, बंद ताला। (५) जिसका मुँह या आगे का मार्ग खुला न हो। जैसे,—(क) कमल रात को बंद हो जाता है। (ख) शीशी बंद करके रख दो। (६) (किवाड़, ढकना, पल्ला आदि) जो ऐसी स्थिति में हो जिससे कोई वस्तु भीतर से

बाहर न जा सके और बाहर की चीज़ अंदर न आ सके। जैसे, किवाड़ आप से आप बंद हो गए। इसका ढकना बंद कर दो। (७) जिसका कार्य्य रुका हुआ या स्थगित हो। जैसे,—कल दफ़्तर बंद था। (८) जो चला न चलता हो। जो गति या व्यापारयुक्त न हो। रुका हुआ। थमा हुआ। जैसे, मेहँ बंद होना, घड़ी बंद होना, लड़ाई बंद होना। (९) जिसका प्रचार, प्रकाशन या कार्य आदि रुक गया हो। जो जारी न हो। जिसका सिलसिला जारी हो। जैसे,—(क) इस महीने में कई समाचारपत्र बंद हो गए। (ख) घाटा होने के कारण उन्होंने अपना सब कारबार बंद कर दिया। (१०) जो किसी तरह की क़ैद में हो। वि० दे० "बंध"।

बंदगी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) भक्तिपूर्वक ईश्वर की वंदना। ईश्वराराधन। (२) सेवा। ख़िदमत। (३) आदाब। प्रणाम। सलाम।

बंदगोभी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बंद+गोभी] करमकल्ला। पातगोभी।
संज्ञा पुं० [सं० वंदनी=गोरोचन] (१) रोचन। रोली। (२) ईंगुर। सिंदुर। सेंदुर। उ०—बदन भाल नयन बिच काजर—गीत।

बंदन—संज्ञा पुं० दे० "वंदन"।

बंदनता—संज्ञा स्त्री० [सं० वंदनता] वंदनीयता। आदर या वंदना किये जाने की योग्यता। उ०—चंद्रहि बंदत हैं सब केशव ईश ते बंदनता अति पाई।—केशव।

बंदनवार—संज्ञा पुं० [सं० वंदनमाला] फूल, पत्ते, दूब इत्यादि की बनी हुई वह माला जो मंगल कार्य्यों के समय द्वार आदि पर लटकाई जाती है। फूलों या पत्तों की झालर जो मंगल सूचनार्थ द्वार पर या खंभों और दीवारों आदि में बाँधी जाती है। तोरण।

बंदना—संज्ञा स्त्री० दे० "वंदना"।
क्रि० स० [सं० वंदन] प्रणाम करना। नमस्कार करना। वंदना करना। उ०—बंदउँ सबहिं धरणि धरि माथा।—तुलसी।

बंदनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वंदनी=माथे पर बनाया हुआ चिह्न] स्त्रियों का एक भूषण जो आगे की ओर सिर पर पहना जाता है। इसे बंदी या सिरबंदी भी कहते हैं।
वि० दे० "वंदनीय"। उ०—गौरी सम जगवंदनी नारि सिरोमणि आप।—रघुराज।

बंदनीमाल—संज्ञा स्त्री० [सं० वंदनमाल] वह लंबी माला जो गले से पैरों तक लटकती हो। उ०—अंजन होय न लसत तौ दिग इन नैन बिसाल। पहराई जनु मदन गुरु श्याम बंदनी-माल।—रसनिधि।

बंदर—संज्ञा पुं० [सं० वानर] एक प्रसिद्ध स्तनपायी चौपाया जो अनेक बातों में मनुष्य से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। इसकी प्रायः पैंतिस जातियाँ होती हैं जिनमें से कुछ तो एशिया और यूरोप और अधिकांश उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में पाई जाती हैं। इनमें से कुछ जातियाँ तो बहुत ही छोटी होती हैं, इतनी छोटी कि जेब तक में आ सकती हैं और कुछ इतनी बड़ी होती हैं कि उनका आकार आदि मनुष्य के आकार तक पहुँच जाता है। छोटी जातियों के बंदर चारों हाथों-पैरों और बड़ी जातियों के दोनों पैरों से चलते हैं। प्रायः सभी जातियाँ वृक्षों पर रहती हैं। पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो वृक्षों के नीचे किसी प्रकार की छाया आदि का प्रबंध करके रहती और जंगलों आदि में घूमती हैं। प्रायः सभी जातियों के बंदरों की शारीरिक गठन आदि मनुष्यों की सी होती है। इसीलिए ये "वानर" (आधे मनुष्य) कहे जाते हैं। ये केवल फल और अन्न आदि ही खाते हैं, मांस बिलकुल नहीं खाते। कुछ जातियों के बंदरों के मुँह में ३२ और कुछ के मुँह में ३६ दाँत होते हैं। इनमें बहुत कुछ बुद्धि भी होती है और ये सहज में पाले तथा सिखाये जा सकते हैं तथा इनसे अनेक प्रकार के छोटे बड़े काम लिए जा सकते हैं। प्रायः सभी जातियों के बंदर झुंडों में रहते हैं, अकेले नहीं। ये एक बार में केवल एक ही बच्चा देते हैं। इनमें शक्ति भी अपेक्षाकृत बहुत होती है। चिंपैंजी, ओरंगोटैंग, गिबन, लंगूर आदि सब इसी जाति के हैं।
पर्य्या०—कपि। मर्कट। बलीमुख। शाखामृग।
मुहा०—बंदर-घुड़की या बंदर-भभकी=ऐसी धमकी या डाँट डपट जो केवल डराने या धमकाने के लिए ही हो। ऐसी धमकी जो दृढ़ या बलिष्ठ से काम पड़ने पर कुछ भी प्रभाव न रख सकती हो।
संज्ञा पुं० [फ़ा०] समुद्र के किनारे जहाज़ों के ठहरने के लिए बना हुआ स्थान। बंदरगाह।

बंदरगाह—संज्ञा पुं० [फ़ा०] समुद्र के किनारे का वह स्थान जहाँ जहाज़ ठहरते हैं।

बँदरा†—संज्ञा पुं० दे० "बनरा"।

बंदली—संज्ञा पुं० [देश०] रुहेलखंड में पैदा होनेवाला एक प्रकार का धान जिसे रायमुनिया और तिलोकचंदन भी कहते हैं।

बंदवान—संज्ञा पुं० [सं० बंदी+वान] बंदीगृह का रक्षक। क़ैदख़ाने का अफ़सर।

बंदसाल†—संज्ञा पुं० [सं० वंदीशाला] वह स्थान जहाँ क़ैदी रखे जाते हों। बंदीगृह। क़ैदख़ाना। जेल।

बंदा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) सेवक। दास। जैसे,—ये सब ख़ुदा के बंदे हैं।

(२) शिष्ट या विनीत भाषा में उत्तमपुरुष, पुल्लिंग, "मैं" के स्थान पर आनेवाला शब्द जैसे,—बंदा हाज़िर है, कहिये, क्या हुकुम है।

बंदानी—संज्ञा पुं० [?] (१) गोलंदाज़। तोप चलानेवाला। (लश्करी)। (२) एक प्रकार का गुलाबी रंग जो पियाजी रंग से कुछ गहरा और असली गुलाबी रंग से बहुत हलका होता है।

बंदारु—वि० [सं० वंदारु] (१) बंदनीय। बंदन करने योग्य। (२) पूजनीय। आदरणीय। उ०—देव! बहुलवृंदारका वृंद-बंदारु-पद बंदि मंदारमालोरधारी।—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "बंदाल"।

बंदाल—संज्ञा पुं० [?] देवदाली। घघर बेल।

बंदि—संज्ञा स्त्री० [सं० बंदिन्] क़ैद। कारानिवास। उ०—(क) सिर पर कंस कबहुँ सुनि पाई। सकुल तुमहिँ बँदिमाहिँ डराई।—रघुनाथ। (ख) बेद लोक सबै साखी, काहू की रती न राखी, रावन की बंदि लागे अमर मरन—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "बंदी"।

बंदिया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बंदनी] बंदी नामक भूषण जो स्त्रियाँ सिर पर पहनती हैं। उ०—हाथ गहे गहिहौं हठ साथ जराय की बंदिया बेस दुसाला।

बंदिश—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बाँधने की क्रिया या भाव। (२) प्रबंध। रचना। योजना। जैसे,—शब्दों की कैसी अच्छी बंदिश है। उन्हें फँसाने के लिए बड़ी बड़ी बंदिशें बाँधी गई हैं।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(३) षड्यंत्र।

बंदी—संज्ञा पुं० [सं०] चारणों की एक जाति जो प्राचीन काल में राजाओं का कीर्तिगान किया करती थी। भाट। चारण। दे० "वंदी"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बंदनी] एक प्रकार का आभूषण जिसे स्त्रियाँ सिर पर पहनती हैं। दे० "बंदनी"।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] क़ैदी

यौ०—बंदीघर। बंदीख़ाना। बंदीछोर।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] [बंदा का स्त्री०] दासी। चेरी।

बंदीख़ाना—संज्ञा पुं० [फ़ा०] जेलख़ाना। क़ैदख़ाना।

बंदीघर—संज्ञा पुं० [सं० बंदीगृह] क़ैदख़ाना। जेलख़ाना।

बंदीछोर*†—संज्ञा पुं० [फ़ा० बंदी+हिं० छोर] (१) क़ैद से छुड़ानेवाला। (२) बंधन से मुक्त करानेवाला।

बंदीवान—संज्ञा पुं० [सं० वंदिन्] क़ैदी। उ०—(क) मूआ को क्या रोइये जो अपने घर जाय। रोइय बंदीवान को जो हाटै हाट बिकाय।—कबीर। (ख) दादू बंदीवान है बंदी छोर दिवान। अब जिन राखहु बंदि में मीरा-मेहरबान।—दादू।

बंदूक़—संज्ञा पुं० [अ०] नली के रूप का एक प्रसिद्ध अस्त्र जो धातु का बना होता है। इसमें पीछे की ओर थोड़ा सा स्थान बना होता है जिसमें गोली रखकर बारूद या इसी प्रकार के किसी और विस्फोटक पदार्थ की सहायता से चलाई जाती है। इसमें से जो गोली निकलती है वह अपने निशाने पर ज़ोर से जा लगती है। इसका उपयोग मनुष्यों को और दूसरे जीवों को मार डालने अथवा घायल करने के लिए होता है। आजकल साधारणतः सैनिकों को युद्ध में लड़ने के लिए यही दी जाती है। यह कई प्रकार की होती है। जैसे, कड़ाबीन, राइफ़ल आदि।

क्रि० प्र०—चलाना।—छोड़ना।—दाग़ना।—भरना।

मुहा०—बंदूक़ भरना=बंदूक़ चलाने के लिए उसमें गोली रखना। बंदूक़ चलाना, छोड़ना, मारना या लगाना=बंदूक़ में गोली भरकर उसका घोड़ा दबाना जिससे गोली निकलकर निशाने पर जा लगे। बंदूक़ छतियाना=(१) बंदूक़ को छाती के साथ लगाकर उसका निशाना ठीक करना। बंदूक़ को ऐसी स्थिति में करना जिससे गोली अपने ठीक निशाने पर जा लगे। (२) बंदूक़ चलाने के लिए तैयार होना।

बंदूक़ची—संज्ञा पुं० [फ़ा०] बंदूक़ चलानेवाला सिपाही।

बंदूख†—संज्ञा स्त्री० दे० "बंदूक़"।

बंदेरी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बंदा+एरी (प्रत्य०)] दासी। चेरी। उ०—चढ़ा हाथ इसकंदर बेरी। सकति छाँड़ि के भई बँदेरी।—जायसी।

बंदोबस्त—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) प्रबंध। इंतिज़ाम। (२) खेती के लिए भूमि को नापकर उसका राज्यकर निर्धारित करने का काम।

यौ०—बंदोबस्त इस्तमरारी=भूमि-संबंधी वह कर निर्धारण जिसमें फिर कोई कमी-बेशी न हो सके। मालगुज़ारी का इस प्रकार ठहराया जाना कि वह फिर घट बढ़ न सके।

(३) वह महकमा या विभाग जिसके सुपुर्द खेतों आदि को नापकर उनका कर निश्चित करने का काम हो।

बंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन। उ०—तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि आपु बँधावा।—तुलसी। (२) गाँठ। गिरह। उ०—जेतोई मजबूत कै हित बँध बाँधो जाय। तेतोई तामें सरस भरत प्रेम रस आय।—रसनिधि। (३) क़ैद। उ०—कृपा कोप बध बंध गोसाईं। मोपर करिय दास की नाईं।—तुलसी। (४) पानी रोकने का धुस्स। बाँध। (५) कोकशास्त्र के अनुसार रति के मुख्य सोलह आसनों में से कोई आसन। उ०—चले धाय नव कुंज दोउ मिलि किशलय सेज बिराजे। परिरंभन सुख रास हास मृदु सुरति केलि सुख साजे। नाना बंध विविध रस क्रीड़ा खेलत स्याम अपार।—सूर।

विशेष—मुख्य सोलह आसन ये हैं—(१) पद्मासन। (२) नागपाद। (३) लतावेष्ट। (४) अर्द्धसंपुट। (५) कुलिश। (६) सुंदर। (७) केशर। (८) हिल्लोल। (९) नरसिंह। (१०) विपरीत। (११) क्षुब्धक। (१२) धेनुक। (१३) उत्कंठ। (१४) सिंहासन। (१५) रतिनाग। (१६) विद्याधर। (६) योग शास्त्र के अनुसार योग साधन की कोई मुद्रा। जैसे, उड्डियानबंध, मूलबंध, जालंधरबंध, इत्यादि। (७) निबंध-रचना। गद्य या पद्य लेख तैयार करना। उ०—ताते तुलसी कृत कथा रचित महर्षि प्रबंध। विरचौं उभय मिलाय के राम स्वयंबर बंध।—रघुराज। (८) चित्रकाव्य में छंद की ऐसी रचना जिससे किसी विशेष प्रकार की आकृति या चित्र बन जाय। जैसे, छत्रबंध, कमलबंध, खड्गबंध, चमरबंध इत्यादि। (९) जिससे कोई वस्तु बाँधी जाय। बंद। जैसे, रस्सी, फ़ीता इत्यादि। (१०) लगाव। फँसाव। उ०—बेधि रही जग बासना निरमल मेद सुगंध। तेहि अरघान भँवर सब लुबुधे तजहिँ न बंध।—जायसी। (११) शरीर। (१२) बनानेवाले मकान की लंबाई और चौड़ाई का योग।

बंधक—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह वस्तु जो लिए हुए ऋण के बदले में धनी के यहाँ रख दी जाय। रेहन। (ऐसी वस्तु ऋण चुकाने पर वापस हो जाती है।)

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—धरना।

(२) विनिमय। बदला करनेवाला। (३) वह जो बाँधता हो। बाँधनेवाला।

बंधकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यभिचारिणी स्त्री। बदचलन औरत। (२) वेश्या या रंडी।

बंधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँधने की क्रिया। (२) वह जिससे कोई चीज़ बाँधी जाय। जैसे,—इसका बंधन ढीला हो गया है। (३) वह जो किसी की स्वतंत्रता आदि में बाधक हो। प्रतिबंध। फँसा रखनेवाली वस्तु। जैसे, संसार में बाल बच्चों का भी बड़ा भारी बंधन होता है। (४) वध। हत्या। (५) हिंसा। (६) रस्सी। (७) वह स्थान जहाँ कोई बाँध कर रखा जाय। कारागार। कैदखाना। (८) शिव। महादेव। (९) शरीर का संधिस्थान। जोड़।

मुहा०—बंधन ढीला करना=बहुत अधिक मारना पीटना।

बंधनग्रंथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर में वह हड्डी जो किसी जोड़ पर हो।

बंधनपालक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कारागार का रक्षक हो।

बँधना—क्रि० अ० [सं० बंधन] (१) बंधन में आना। डोरी तागे आदि से घिरकर इस प्रकार कसा जाना कि खुल या बिखर न सके या अलग न हो सके। बद्ध होना। छूटा हुआ न रहना। बाँधा जाना। (२) रस्सी आदि द्वारा किसी वस्तु के साथ इस प्रकार संबंध होना कि कहीं जा न सके। जैसे, घोड़ा बँधना, गाय बँधना।

संयो० क्रिया०—जाना।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग, अन्यान्य अनेक क्रियाओं की भाँति, उस चीज़ के लिए भी होता है जो बाँधी जाती है, और उसके लिये भी जिससे बाँधते हैं। जैसे, (क) सामान बँधना, (ख) गठरी बँधना और (ग) रस्सी बँधना।

(३) क़ैद होना। बंदी होना। (४) स्वच्छंद न रहना। ऐसी स्थिति में रहना जिसमें इच्छानुसार कहीं आ जा न सकें या कुछ कर न सकें। प्रतिबंध रहना। फँसना। अटकना। (५) प्रतिज्ञा या वचन आदि से बद्ध होना। शर्त वग़ैरह का पाबंद होना। (६) गँठना। ठीक होना। दुरुस्त होना। जैसे, मज़मून बँधना। (७) क्रम निर्धारित होना। कोई बात इस प्रकार चली चले, यह स्थिर होना। चला चलनेवाला कायदा ठहराना। जैसे, नियम बँधना, बारी बँधना। उ०—तीनहुँ लोकन की तरुणीन की बारी बँधी हुती दंड दुहू की।—केशव। (८) प्रेमपाश में बद्ध होना। मुग्ध होना। उ०—अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल।—बिहारी।

विशेष—दे० "बाँधना"।

संज्ञा पुं० [सं० बंधन] (१) वह वस्तु (कपड़ा या रस्सी आदि) जिससे किसी चीज़ को बाँधें। बाँधने का साधन। (२) वह थैली जिसमें स्त्रियाँ सीने पिरोने का सामान रखती हैं।

बँधनि—संज्ञा स्त्री० [सं० बंधन, हिं० बंधना] (१) बंधन। जिसमें कोई चीज़ बँधी हुई हो। (२) जो किसी चीज़ की स्वतंत्रता आदि में बाधक हो। उलझाने या फँसानेवाली चीज़। उ०—सीता मन वा बँधनि तें कौन सकै अब छोरि।—रसनिधि।

बंधनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर के अंदर की वे मोटी नसें जो संधिस्थान पर होती हैं और जिनके कारण दो अवयव आपस में जुड़े रहते हैं। शरीर का बंधन। (२) (वह) जिससे कोई चीज़ बाँधी जाय। जैसे, रस्सी, सिक्कड़ आदि।

बंधनीय—संज्ञा पुं० [सं०] सेतु। पुल।

वि० जो बाँधने के योग्य हो।

बंधमोचनिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योगिनी का नाम।

बंधव—संज्ञा पुं० "बाँधव"।

बँधवाना–क्रि० स० [हिं० बाँधना का प्रे०] (१) बाँधने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बाँधने में प्रवृत्त करना। (२) देना आदि नियत कराना। मुकर्रर कराना। (३) क़ैद कराना। (४) (तालाब, कूआँ, पुल आदि) बनवाना। तैयार कराना।

बंधान–संज्ञा पुं० [हिं० बँधना] (१) किसी कार्य्य के होने अथवा किसी पदार्थ के लेने देने आदि के संबंध में बहुत दिनों से चला आया हुआ निश्चित क्रम या नियम। लेन देन आदि के संबंध की नियत परिपाटी। जैसे,—यहाँ फ़ी रुपया एक पैसा आढ़त लेने का बंधान है। (२) वह पदार्थ या धन जो इस परिपाटी के अनुसार दिया या लिया जाय। (३) पानी रोकने का धुस्स। बाँध। (४) ताल का सम। (संगीत)। उ०—(क) उघटहि छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान। सुनि किंनर गंधर्ब सराहत बिथके हैं बिबुध बिमान।—तुलसी। (ख) तुरग नचावहिं कुँवर बर अकनि मृदंग निसान। नागर नट चितवहिं चकित डिगहिं न ताल बँधान।—तुलसी। (ग) मिथिलापुर के नर्तक नाना। नाचै डगैं न ताल बँधाना।—रघुराज।

बँधाना–क्रि० स० [हिं० बंधन] (१) बाँधने के लिए प्रेरणा करना। बाँधने का काम दूसरे से कराना। बँधवाना। (२) धारण कराना। जैसे, धीरज बँधाना। हिम्मत बँधाना। (३) क़ैद कराना। विशेष—दे० "बँधवाना"।

बंधाल–संज्ञा पुं० [हिं० बँधान] नाव या जहाज़ में वह स्थान जिसमें रसकर या छेदों में से आया हुआ पानी जमा होता है और जो पीछे उलीचकर बाहर फेंक दिया जाता है। गमतखाना। गमतरी।

बँधिका–संज्ञा स्त्री० [हिं० बंधन] वह डोरी जिससे ताने की साँथी बाँधी जाती है। (जुलाहे)।

बंधित–वि० [सं० बंध्या] बंध्या। बाँझ। (डिंगल)।

बंधी–संज्ञा पुं० [सं० बंधिन्] वह जो बँधा हुआ हो। वह जिसमें किसी प्रकार का बंधन हो।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० बंधना=नियत होना] बँधा हुआ क्रम। वह कार्यक्रम जिसका नित्य होना निश्चित हो। बंधेज। जैसे,—(क) उनके यहाँ रोज सेर भर बंधी का दूध आता है। (ख) आप भी बँधी लगा लीजिये तो रोज़ की झंझट से छूट जाइएगा।

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।

बंधु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाई। भ्राता। (२) वह जो सदा साथ रहे या सहायता करे। सहायक। (३) मित्र। दोस्त। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन भगण और दो गुरु होते हैं। इसे दोधक भी कहते हैं। उ०—बाण न बात तुम्हैं कहि आवै। सोइ कहौ जिय तोहिं जो भावै। का करिहौ हम योंहि बरैंगे। हैहयराज करी सु करैंगे।—केशव। (५) पिता। (६) बंधूक पुष्प।

बँधुआ–संज्ञा पुं० [हिं० बँधना+उआ (प्रत्य०)] कैदी। बंदी। उ०—बँधुआ को जैसे लखत कोइ कोइ मनुप सुतंत।—लक्ष्मणसिंह।

बंधुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुपहरिया का फूल जो लाल रंग का होता है। (२) दुपहरिया फूल का पौधा।

बंधुजीव, बंधुजीवक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुलदुपहरिया का पौधा। (२) दुपहरिया का फूल।

बंधुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बंधु होने का भाव। (२) भाईचारा। (३) मित्रता। दोस्ती।

बंधुत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधु होने का भाव। बंधुता। (२) भाईचारा। (३) मित्रता। दोस्ती।

बंधुदत्त–संज्ञा पुं० [सं०] वह धन जो कन्या को विवाह के समय माता-पिता या भाइयों आदि से मिलता है। स्त्री-धन।

बंधुदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुराचारिणी स्त्री। बदचलन औरत। (२) वेश्या। रंडी।

बंधुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुकुट। (२) दुपहरिया का फूल। (३) बहरा मनुष्य। (४) हंस। (५) बिडंग। (६) काकड़ासिंगी। (७) दक। बगला नामक पक्षी। (८) पक्षी।

वि० [सं०] (१) रम्य। मनोहर। सुंदर। (२) नम्र।

बंधुल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुराचारिणी स्त्री से उत्पन्न पुरुष। बदचलन औरत का लड़का। (२) वेश्यापुत्र। रंडी का लड़का।

वि० (१) सुंदर। ख़ूबसूरत। (२) नम्र।

बँधुवा–संज्ञा पुं० दे० "बँधुआ"।

बंधूक–संज्ञा पुं० (१) दे० "बंधुक"। (२) दोधक नामक वृत्त का एक नाम। इसे 'बंधु' भी कहते हैं। दे० "बंधु"।

बंधेज–संज्ञा पुं० [हिं० बंधना+एज (प्रत्य०)] (१) नियत समय पर और नियत रूप से मिलने या दिया जानेवाला पदार्थ या द्रव्य। (२) नियत समय पर या नियत रूप से कुछ देने की क्रिया या भाव। (३) किसी वस्तु को रोकने या बाँधने की क्रिया या युक्ति। (४) रुकावट। प्रतिबंध। (५) वीर्य को जल्दी स्खलित न होने देने की युक्ति। बाजीकरण।

बंध्य–संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा पुल जिसके नीचे से पानी न बहता हो। पानी रोकने के लिए बनाया हुआ धुस्स। बाँध।

बंध्या–वि० स्त्री० [सं०] (वह स्त्री) जो संतान न पैदा कर सके। बाँझ।

यौ०—बंध्यापुत्र।

बंध्यापन–संज्ञा पुं० दे० "बाँझपन"।

बंध्यापुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] कोई ऐसा भाव या पदार्थ जिसका अस्तित्व ही असंभव हो। ठीक वैसा ही असंभव भाव या पदार्थ जैसे बंध्या का पुत्र। कभी न होनेवाली चीज़।

बंपुलिस–संज्ञा स्त्री० [बं ?+अं० पुलिस] मलत्याग के लिए म्यूनिसिपैलिटी आदि का बनवाया हुआ वह स्थान जहाँ सर्व साधारण बिना रोक टोक जा सकें।

बंब–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) बं बं शब्द। बं बं, शिव शिव, हर हर, इत्यादि शब्दों की ऊँची ध्वनि जो शैव लोग भक्ति की उमंग में आकर किया करते हैं। (२) युद्धारंभ में वीरों का उत्साहवर्द्धक नाद। रणनाद। हल्ला। उ०—(क) कूदत कबंध के कदंब बंब सी करत धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ बान के।—तुलसी। (ख) ठिल्यौ बुँदेला बंब दै बासा घेरयौ जाय।—लाल।

क्रि० प्र०—बोलना।—देना।

(३) नगारा। दुंदुभी। डंका। उ०—(क) कब नारद बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया।—कबीर। (ख) त्यों बहलोलखान रिस कीन्ही। तुरतहिं बंब कूच की दीन्ही।

बंबा–संज्ञा पुं० [अ० मंबा] (१) जल-कल। पानी की कल। पंप। (२) सोता। स्रोत। (३) पानी बहाने का नल।

बँबाना–क्रि० अ० [अनु०] गौ आदि पशुओं का बाँ बाँ शब्द करना। रँभाना।

बंबुर‡–संज्ञा पुं० दे० "बबूल"।

बंबू–संज्ञा पुं० [मलाया० बम्बू=बाँस] चंडू पीने की बाँस की छोटी पतली नली।

क्रि० प्र०—पीना।

बँभनाई‡–संज्ञा स्त्री० [सं० ब्राह्मण] (१) ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणपन। (२) हठ। जिद्द। दुराग्रह। (क०)।

बंस–संज्ञा पुं० दे० "वंश"।

बंसकार–संज्ञा पुं० [सं० वंश] बाँसुरी। उ०—सिंह संख डफ बाजन बाजे। बंसकार महुअरि सुर साजे।

बंसरी–संज्ञा स्त्री० दे० "बंसी"।

बंसलोचन–संज्ञा पुं० [सं० वंशलोचन] बाँस का सार भाग जो उसके जल जाने के बाद सफेद रंग के छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में पाया जाता है। यह रंगपुर, सिलहट और मुरशिदाबाद में लंबी पोरवाले बाँसों की गाँठों में से उनको जलाने पर निकलता है। बंसकपूर।

बंसार–संज्ञा पु० [देश०] बंगसाल। भंडार। (लश्करी)।

बंसी–संज्ञा स्त्री०[सं० वंशी] (१) बाँस की नली का बना हुआ एक प्रकार का बाजा। यह बालिश्त सवा बालिश्त लंबा होता है, और इसमें सात स्वरों के लिए सात छेद होते हैं। यह बाजा मुँह से फूँककर बजाया जाता है। बाँसुरी। वंशी। मुरली। (२) मछली फँसाने का एक औज़ार। इसमें एक लंबी पतली छड़ी के एक सिरे पर डोरी बँधी होती है और दूसरे सिरे पर अंकुश के आकार की लोहे की एक कँटिया बँधी रहती है। इसी कँटिया में चारा लपेटकर डोरी को जल में फेंकते हैं और छड़ी को शिकारी पकड़े रहता है। जब मछली वह चारा खाने लगती है तब वह कँटिया उसके गले में फँस जाती है और वह खींचकर निकाली जाती है। (३) मागधी मान में ३० परमाणु की तौल। त्रसरेणु। (४) विष्णु, कृष्ण और राम जी के चरणों का रेखाचिह्न। (५) एक प्रकार का तृण जो धान के खेतों में पैदा होता है। इसको 'बाँसी' भी कहते हैं। इसकी पत्तियाँ बाँस की पत्तियों के आकार की होती हैं। इससे धान को बड़ी हानि होती है।

संज्ञा पु० [?] एक प्रकार का गेहूँ।

बंसीधर–संज्ञा पुं० [सं० वंशीधर] श्रीकृष्ण।

बँहगी–संज्ञा स्त्री० [सं० वह] भार ढोने का एक उपकरण जिसमें एक लंबे बाँस के टुकड़े के दोनों सिरों पर रस्सियों के बड़े बड़े छींके लटका दिए जाते हैं। इन्हीं छींकों में बोझ रख देते हैं और लकड़ी को बीच में से कंधे पर रख कर ले चलते हैं।

क्रि० प्र०—उठाना।—ढोना।

ब–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वरुण। (२) सिंधु। (३) भग। (४) जल। (५) सुगंधि। (६) बयन। (७) ताना। (८) कुंभ।

बउर†*–संज्ञा पुं० दे० "बौर" वा "मौर"।

बउरा†*–वि० दे० "बावला"।

बउराना†*–क्रि० अ० दे० "बौराना"।

बक–संज्ञा पुं० [सं० वक] (१) बगला। (२) अगस्त नामक पुष्प का वृक्ष। (३) कुबेर। (४) बकासुर। (५) एक राक्षस जिसे भीम ने मारा था। (६) एक ऋषि का नाम।

वि० बगले सा सफेद। उ०—अहहिं जो केश भँवर जेहि बसा। पुनि बक होहिँ जगत सब हँसा।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वच, हिं० बकना] बकबकाहट। प्रलाप। बकवाद।

क्रि० प्र०—लगना।

यौ०—बकबक वा बकझक=बकवाद। प्रलाप। व्यर्थवाद। उ०—ऐसे बकझक खिझलायकर सुरपति ने मेघपति को बुलाय भेजा।—लल्लू।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।

बकचंदन–संज्ञा पुं० [सं० वकचंदन] एक वृक्ष का नाम जिसकी पत्तियाँ गोल और बड़ी होती हैं। इसका पेड़ ऊँचा और लकड़ी दृढ़ होती है। इसका फल लंबा और पतला होता है जिसमें छः से आठ नौ अंगुल लंबे तीन चार दल होते हैं। यह ऊपर कुछ ललाई लिए और भीतर पीलापन लिए भूरे रंग का होता है। फल सिर के दरद में पीसकर लगाए जाते हैं। भकचंदन।

बकचन–संज्ञा पुं० दे० "बकचंदन"।

बकचा–संज्ञा पुं० दे० "बकुचा"।

बकर्चिचिका–संज्ञा स्त्री० [सं० वकार्चिचिका] एक प्रकार की मछली। इस मछली के मुँह की जगह लंबी चोंच सी होती है। कौवा मछली।

बकची–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की मछली। (२) दे० "बकुची"।

बकठाना–क्रि० स० [सं० विकुंठन] किसी बहुत कसैली चीज़ जैसे कटहल के फूल या तेंदू आदि के फल खाने से मुँह का सूख जाना, उसका स्वाद बिगड़ जाना और जीभ का सुकड़ जाना।

बकतर–संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की जिरह या कवच जिसे योद्धा लड़ाई में पहनते हैं। यह लोहे की कड़ियों का बना हुआ जाल होता है और इससे गोली और तलवार से वक्षस्थल की रक्षा होती है। उ०—कबिरा लोहा एक है गढ़ने में है फेर। ताही का बकतर बना, ताही की शमशेर।—कबीर।

बकता*–वि० दे० "वक्ता"।

बकतिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली जो संयुक्त प्रांत, बंगाल और आसाम की नदियों में होती है।

बकध्यान–संज्ञा पुं० [सं० वकध्यान] ऐसी चेष्टा, मुद्रा या ढंग जो देखने में तो बहुत साधु और उत्तम जान पड़े, पर जिसका वास्तविक उद्देश्य बहुत ही दुष्ट और अनुचित हो। उस बगले की सी मुद्रा जो मछली पकड़ने के लिए बहुत सीधा सादा बनकर ताल के किनारे खड़ा रहता है। पाखंडपूर्ण मुद्रा। बनावटी साधुभाव। उ०—रण ते भागि निलज गृह आवा। इहाँ आइ बकध्यान लगावा।—तुलसी।

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग ऐसे समय होता है जब कोई व्यक्ति अपना बुरा उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अथवा झूठमूठ लोगों पर अपनी साधुता प्रकट करने के लिए बहुत सीधा-सादा बन जाता है।

बकध्यानी–वि० [हिं० वकध्यानिन्] बगले की तरह बनावटी ध्यान करनेवाला। जो देखने में सीधा सादा पर वास्तव में दुष्ट और कपटी हो।

बकनख–संज्ञा पुं० [सं० वकनख] महाभारत के अनुसार विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

बकना–क्रि० स० [सं० वचन] (१) ऊटपटाँग बात कहना। अयुक्त बात बोलना। व्यर्थ बहुत बोलना। उ०—(क) जेहि धरि सखी उठावहिँ सीस विकल नहिं डोल। धर कोइ जीव न जानइ मुखरे बकत कुबोल।—जायसी। (ख) बाद ही बाद बदी के बकै मति बोर दे बंज विषय विष ही को।—रत्नाकर। (२) प्रलाप करना। बड़बड़ाना। उ०—(क) काजी तुम कौन किताब बखाना। झंखत बकत रह्यो निशि बासर मत एकौ नहिं जाना।—कबीर। (ख) नाहिन केशव साख जिन्हैं बकि के तिनसों दुखवै मुख कोरो।—केशव।

संयो० क्रि०—चलना।—जाना।—डालना।

मुहा०—बकना झकना=बड़बड़ाना। बिगड़कर व्यर्थ की बातें करना।

बकपंचक–संज्ञा पुं० [सं० वकपञ्चक] कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी से पूर्णमासी तक का समय जिसमें मांस, मछली आदि खाना बिलकुल मना है।

बकम–संज्ञा पुं० दे० "बक्कम"।

बकमौन–संज्ञा पुं० [सं० वक+मौन] अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने के लिए बगले की तरह सीधे बनकर चुपचाप रहने की क्रिया या भाव।

वि० चुपचाप अपना काम साधनेवाला। उ०—मुख में कर में काख में हिय में चोर बकमौन। कहै कबीर पुकारि के पंडित चीन्हो कौन।—कबीर।

बकयंत्र–संज्ञा पुं० [सं० वकयंत्र] वैद्यक में एक यंत्र का नाम। यह काँच की एक शीशी होती है जिसका गला लंबा और सामने बगले के गले की तरह झुका होता है। इस यंत्र से काम लेने के समय शीशी को आग पर रख देते हैं और झुके हुए गले के सिरे पर दूसरी शीशी अलग लगा देते हैं जिसमें तेल या अरक़ आदि जाकर गिरता है।

बकर-कसाव–संज्ञा पुं० [हिं० बकरी+अ० कस्साब=कसाई] [स्त्री० बकर-कसाबिन] बकरों का माँस बेचनेवाला पुरुष। चिक।

बकरना–क्रि० स० [हिं० बकार अथवा बकना] (१) आपसे आप बकना। बड़बड़ाना। उ०—यशोदा ऊखल बाँध्यो श्याम। मनमोहन बाहर ही छोड़े आपु गई गृह काम। दही मथत मुख ते कछु बकरति गारी दै दै नाम। घर घर डोलत माखन चोरत षट् रस मेरे धाम।—सूर। (२) अपना दोष या करतूत आप से आप कहना। क़बूल करना। जैसे,—जब मंत्र पढ़ा जायगा तब जो चोर होगा वह आप से आप बकरेगा।

बकरा–संज्ञा पुं० [सं० वर्कर] [स्त्री० बकरी] एक प्रसिद्ध चतुष्पाद पशु जिसके सींग तिकोने, गठीले और ऐंठनदार तथा पीठ की ओर झुके हुए होते हैं, पूँछ छोटी होती है, शरीर से एक प्रकार की गंध आती है, और खुर फटे होते हैं। यह जुगाली करके खाता है। कुछ बकरों की ठोढ़ी के नीचे लंबी दाढ़ी भी होती है और कुछ जातियों के बकरे बिना सींग के भी होते हैं। कुछ बकरों के गले में जबड़े के

नीचे या दोनों ओर स्तन की भाँति चार चार अंगुल लंबी और पतली थैली होती है जिसे गलस्तन या गलथन कहते हैं। बकरों की अनेक जातियाँ हैं, कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई जंगली, कोई पालतू, किसी के बाल छोटे और किसी के लंबे और बड़े होते हैं। आर्यजाति को बकरों का ज्ञान बहुत प्राचीन काल से है। वेदों में 'अज' शब्द गौ के साथ ही साथ कई जगह आया है। बकरे की चर्बी से देवताओं को आहुति देने का विधान अनेक स्थलों में है। वैदिक काल से लेकर स्मृति काल तक और प्रायः आज तक अनेक स्थानों में, भारतवर्ष में, यह प्रथा थी कि जब किसी के यहाँ कोई प्रतिष्ठित अतिथि आता था तो उसके सत्कार के लिए गृहपति बड़े बकरे को मारकर उसके मांस से अतिथि का आतिथ्यसत्कार करता था। बकरे के मांस, दूध और यहाँ तक कि बकरे के संग रहने को भी वैद्यक में यक्ष्मा रोग का नाशक माना है। बकरी का दूध मीठा और सुपाच्य तथा लाभदायक होता है पर उसमें से एक प्रकार की गंध आती है जिससे लोग उसके पीने में हिचकते हैं। वेदों में 'आज्य' शब्द घी के लिए आता है जिससे जान पड़ता है कि आर्यों ने पहले पहल बकरी के दूध से घी निकालना प्रारंभ किया था। यद्यपि सब जाति की बकरियाँ दुधार नहीं होतीं, फिर भी कितनी ऐसी जातियाँ भी हैं जो एक सेर से पाँच सेर तक दूध देती हैं। बकरियों के अयन में दो थन होते हैं और वे छः महीने में एक से चार तक बच्चे जनती है। बच्चों के मुँह में पहले चौभर को छोड़कर नीचे के दाँत नहीं होते पर छठे महीने आठ दाँत निकल आते हैं। ये दाँत प्रति वर्ष दो दो करके टूटते जाते हैं और उनके स्थान में नये दाँत जमते जाते हैं और पाँचवें वर्ष सब दाँत बराबर हो जाते हैं। यही अवस्था बकरे की मध्य आयु की है। बकरों की आयु प्रायः तेरह वर्ष की होती है पर कभी कभी वे इससे भी अधिक जीते हैं। इनके खुर छोटे और कड़े होते हैं और बीहड़ स्थानों में जहाँ दूसरे पशु आदि नहीं जा सकते, बकरा अपने पैर जमाता हुआ मज़े में चला जाता है। हिमालय में तिब्बती बकरियों पर ही लोग माल लादकर सुख से तिब्बत से भारत की तराई में लाते और यहाँ से तिब्बत ले जाते हैं। अंगूरा, कश्मीरी आदि जाति की बकरियों के बाल लंबे, अत्यंत कोमल और बहुमूल्य होते हैं और उनसे पश्मीने, शाल दुशाले आदि बनाए जाते हैं। बकरा बहुत गरीब पशु होता है और कड़ुए, मीठे, कटीले सब प्रकार के पेड़ों की पत्तियाँ खाता है। यह भेड़ की भाँति डरपोक और निर्बुद्धि नहीं होता बल्कि साहसी और चालाक होता है। बधिया करने पर बकरे बहुत बढ़ते और हृष्ट पुष्ट होते हैं। उनका माँस भी अधिक अच्छा होता है। उ०—बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल। जो नर बकरी खात हैं तिनको कवन हवाल।—कबीर।

पर्या०—अज। छाग। बकर।

बकराना—क्रि० स० [हिं० बकरना] दोष या करतूत कहलाना। कबूल कराना।

बकरिपु—संज्ञा पुं० [सं० बकरिपु] भीमसेन का एक नाम।

बकल—संज्ञा पुं० दे० "बकला"।

बकलस—संज्ञा पुं० [अं० बकल्स] एक प्रकार की चौकोर या लंबोतरी विलायती अँकुसी या चौकोर छल्ला जो किसी बंधन के दो छोरों को मिलाए रखने या कसने के काम में आता है। यह लोहे, पीतल या जर्मनसिल्वर आदि का बनता है और विलायती बिस्तरबंद या वेस्टकोट आदि के पिछले भाग अथवा पतलून की गेलिस आदि में लगाया जाता है। कहीं कहीं, जैसे जूतों पर, इसे केवल शोभा के लिए भी लगाते हैं। बकसुआ।

बकला—संज्ञा पुं० [सं० वल्कल] (१) पेड़ की छाल। (२) फल के ऊपर का छिलका।

बकली—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक वृक्ष जो लंबा और देखने में बहुत सुंदर होता है। इसकी छाल सफ़ेद और चिकनी होती है। इसकी लकड़ी चमकीली और अत्यंत दृढ़ होती है। यह वृक्ष बीजों से उगता है और इसके पेड़ मध्यभारत और हिमालय पर तीन हज़ार फुट तक की ऊँचाई तक होते हैं। इसकी लकड़ी से आरायशी और खेती के सामान बनाए जाते हैं तथा इसके लट्ठे रेल की सड़क पर पटरी के नीचे बिछाए जाते हैं। इसका कोयला भी अच्छा होता है और पत्ते चमड़ा सिझाने में काम आते हैं। इस पेड़ से एक प्रकार का गोंद निकलता है जो कपड़े छापने के काम में आता है। इसे धावा, धव आदि भी कहते हैं। गुलरा। धवरा। खरधवा। (२) फल आदि का पतला छिलका।

बकवती—संज्ञा स्त्री० [सं० बकवती] एक नदी का प्राचीन नाम।

बकवाद—संज्ञा स्त्री० [हिं० बक+वाद] व्यर्थ की बात। बकबक। सारहीन वार्त्ता। उ०—(क) खलक मिला खाली रहा बहुत किया बकवाद। बाँझ झुलावे पालना तामें कौन सवाद।—कबीर। (ख) ऊधो तैं कत चतुर कहावत। जे नहिं जाने पीर पराई है सर्वज्ञ जनावत............। कहि कहि कपट संदेसन मधुकर कत बकवाद बढ़ावत। कारो कुटिल निठुर चित अंतर सूरदास कवि गावत—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—होना।

बकवादी—वि० [हिं० बकवाद+ई (प्रत्य०)] बकवाद करनेवाला। बक बक करनेवाला। बहुत बात करनेवाला। बक्की।

बकवाना—क्रि० स० [हिं० बकना का प्रे०] बकने के लिए प्रेरणा करना। किसी से बकवाद कराना।

बकवास–संज्ञा स्त्री० [हिं० बकना+वास (प्रत्य०)] (१) बकवाद। व्यर्थ की बातचीत। बकबक।
क्रि० प्र०—करना—मचाना। होना।
(२) बकबक करने की लत। बकवाद मचाने का स्वभाव।
(३) बकवाद करने की इच्छा।
क्रि० प्र०—लगना।

बकवृत्ति–संज्ञा पुं० [सं० बकवृत्ति] वह पुरुष जो नीचे ताकनेवाला, शठ और स्वार्थ साधने में तत्पर तथा कपटयुक्त हो। बकध्यान लगानेवाला मनुष्य।
वि० कपटी। धोखेबाज़।

बकव्रती–वि० [सं० बकव्रतिन्] बकवृत्तिवाला। कपटी।

बकस–संज्ञा पुं० [अं० बाक्स] (१) कपड़े आदि रखने के लिए बना हुआ चौकोर सन्दूक। (२) घड़ी गहने आदि रखने के लिए छोटा डिब्बा। खाना। जैसे, घड़ी का बक्स, गले के हार का बकस।

बकसना*–क्रि० स० [फ़ा० बख्श+हिं० ना] (१) कृपापूर्वक देना। प्रदान करना। उ०—(क) प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये। पाइ सखा सेवक जाचक भरि जन्म न दूसर द्वार गये।—तुलसी। (ख) नासिक ना यह सुक है ध्याइ अनंग। बेसर को छबि बकसत मुकुतन संग।—रहीम। (२) छोड़ देना। क्षमा करना। माफ़ करना। उ०—(क) तब देवकी अधीन कह्यो यह मैं नहिं बालक जायो। यह कन्या मोहि बकस बीर तू कीजै मो मन भायो।—सूर। (ख) कन्हैया तू नहिं मोहिं डरात।…… ………पूत सपूत भयो कुल मेरे अब मैं जानी बात। सूरश्याम अबलौं तोहिँ बकस्यो तेरी जानी घात।—सूर।

बकसा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो पानी में या जलाशयों के किनारे होती है। चौपाये इसे बड़े चाव से खाते हैं।

बकसाना*†–क्रि० स० [हिं० बख्शना] "बकसना" का प्रेरणार्थक रूप। क्षमा कराना। माफ़ कराना। उ०—(क) चूक परी मोतें मैं जानी मिलैं इयाम बकसाऊँरी। हाहा करि दसनन तृण धरि धरि लोचन जलनि ढराऊँ री।—सूर। (ख) पूजि उठे जब ही शिव को तब ही विधि शुक्र बृहस्पति आए। कै विनती मिस कश्यप के तिन देव अदेव सबै बकसाए।—केशव।

बकसी–संज्ञा पुं० दे० "बख्शी"।

बकसीला†–वि० [हिं० बकठाना] जिसके खाने में मुँह का स्वाद बिगड़ जाय और जीभ ऐंठने लगे।

बकसीस*–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बख़शिश] (१) दान। उ०—प्रेम समेत राय सब लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्ह दीन्हा।—तुलसी। (२) इनाम। पारितोषिक। उ०—(क) केशौदास तेहि काल करोइ है आयो काल सुनत श्रवण बकसीस एक देश की।—केशव। (ख) आप चढ़ी सीस मोहि दीन्हीं बकसीस औ हजार सीसवारे की लगाई अटहर है।—पद्माकर। (ग) निकमे असीस दै दै लै लै बकसीसैं देव अंग के वसन मनि मोती मिले मेले के।—देव

बकसुआ, बकसुवा–संज्ञा पुं० दे० "बकलस"।

बकाइन–संज्ञा पुं० दे० "बकायन"।

बकाउर–संज्ञा स्त्री० दे० "बकावली"।

बकाना–क्रि० स० [हिं० (बकना) का प्रेरण० रूप] (१) बकबक करने पर उद्यत करना। बकबक कराना। (२) कहलाना। रटाना। उ०—गहे अँगुरिया तात की नँद चलन सिखावत। अरबराइ गिरि पवत हैं कर टेकि उठावत। बार बार बकि श्याम सों कछु बोल बकावत। दुहुँघा द्वै दँतुली भई अति मुख छवि पावत।—सूर।

बकायन–संज्ञा पुं० [हिं० बड़का+नीम ?] नीम की जाति के एक पेड़ का नाम जिसकी पत्तियाँ नीम की पत्तियों के सदृश पर उनसे कुछ बड़ी होती हैं। इसका पेड़ भी नीम के पेड़ से बड़ा होता है। फल नीम की तरह पर नीलापन लिए होता है। इसकी लकड़ी हलकी और सफ़ेद रंग की होती है। इससे घर के संगहे और मेज़ कुरसी आदि बनाई जाती हैं और इस पर वारनिश और रंग अच्छा खिलता है। लकड़ी नीम की भाँति कड़ुई होती है, इससे उसमें दीमक घुन आदि नहीं लगते। वैद्यक में इसे कफ़, पित्त और कृमि नाशक लिखा है और वमन आदि को दूर करनेवाला और रक्त शोधक माना है। इसके फूल, फल, छाल और पत्तियाँ औषध के काम आती हैं। बीजों का तेल मलहम में पड़ता है। इसके पेड़ समस्त भारतवर्ष में और पहाड़ों के ऊपर तक होते हैं। यह बीज से उगता है।
पर्य्या०—महानिंब। द्रेका। कार्मुक। कैटर्य्य। केशमुष्टिक। पवनेष्ट। रम्यकक्षीर। काकेड़। पार्वत। महातिक्त।

बकाया–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बचा हुआ। बाक़ी। शेष। (२) बचत।

बकारि–संज्ञा पुं० [सं० बकारि] बकासुर को मारनेवाले, श्रीकृष्ण।

बकारी–संज्ञा स्त्री० [सं० 'व'कार या वाक्य] वह शब्द जो मुँह से प्रस्फुटित हो। मुँह से निकलनेवाला शब्द।
क्रि० प्र०—निकलना।
मुहा०—बकारी फूटना मुँह से शब्द वा वर्णों का उच्चारण होना। शब्द निकलना। बात निकलना।

बकावली–संज्ञा स्त्री० दे० "गुलबकावली"।

बकासुर–संज्ञा पुं० [सं० बकासुर] एक दैत्य का नाम जिसे कृष्ण ने मारा था।

बकी–संज्ञा स्त्री० [सं० बकी] बकासुर की बहिन पूतना का एक

नाम जो अपने स्तन में विष लगाकर कृष्ण को मारने के लिए गई थी। कृष्ण ने उसका दूध पीते समय ही उसे मार डाला था।

बकुचना*–क्रि० अ० [हिं० बकुचा, सं० विकुंचन] सिमटना। सुकड़ना। संकुचित होना। उ०—लाज के भार लची तरुनी बकुची बरुनी सकुची सतरानी।—देव।

बकुचा–संज्ञा पुं० [हिं० बकुचना] [स्त्री० बकुची] छोटी गठरी। बकचा। उ०—(क) जाही जूही बकुचन लावा। पुहुप सुदरसन लागु सुहावा।—जायसी। (ख) कमरी थोरे दाम की आवै बहुतै काम। खासा मखमल बाफता उन कर राखै मान। उनकर राखै मान बुंद जहँ आड़े आवै। बकुचा बाँधे मोट राति को झारि बिछावै।—गिरधरराय।

बकुचाना†–क्रि० स० [हिं० बकुचा] किसी वस्तु को बकुचे में बाँधकर कंधे पर लटकाना या पीछे पीठ पर बाँधना।

बकुची–संज्ञा स्त्री० [सं० बाकुची] एक पौधे का नाम जो हाथ सवा हाथ ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ एक अंगुल चौड़ी होती हैं और डालियाँ पृथ्वी से अधिक ऊँची नहीं होतीं और इधर उधर दूर तक फैलती हैं। इसका फूल गुलाबी रंग का होता है। फूलों के झड़ने पर छोटी छोटी फलियाँ घौद में लगती हैं जिनमें दो से चार तक गोल गोल चौड़े और कुछ लंबाई लिए दाने निकलते हैं। दानों का छिलका काले रंग का, मोटा और ऊपर से खुरदुरा होता है। छिलके के भीतर सफेद रंग की दो दालें होती हैं जो बहुत कड़ी होती हैं और बड़ी कठिनाई से टूटती हैं। बीज से एक प्रकार की सुगंध आती है। यह औषध में काम आता है। वैद्यक में इसका स्वाद मीठापन और चरपरापन लिए कड़ुवा बताया गया है और इसे ठंढा, रुचिकर, सारक, त्रिदोषघ्न और रसायन माना है। इसे कुष्टनाशक और त्वचारोग की औषधि भी बतलाया है। कहीं कहीं काले फूल की भी बकुची होती है।

पर्य्या०—सोमराजी। कृष्णफला। बाकुची। पूतिफला। बेजानी। कालमेषिका। अबल्गुजा। ऐंदवी। शूलोत्था। कांबोजी। सुपर्णिका।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बकुचा] छोटी गठरी।

मुहा०—बकुची बाँधना वा मारना=हाथ पैर समेट के गठरी के आकार का बन जाना। जैसे,—वह बकुची मारकर कूदा।

बकुचौहाँ‡–वि० [हिं० बकुचा+औहाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० बकुचौही] बकुचे की भाँति। बकुचे के समान। उ०—मधुकर कान्ह कही नहिँ होही। कै ये नई सीख सिखई हरि निज अनुराग बिछोही। राखौ सचे कूबरी पीठि पै ये बातैं बकुचौंही। स्याम सो गाहक पाय सयानी खोलि देखाइहै गोंही।—तुलसी।

बकुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भास्कर। सूर्य्य। (२) तुरही। (३) बिजली।

संज्ञा पुं० दे० "बक्कुर"।

बकुरना–क्रि० अ० दे० "बकरना"।

बकुराना‡–क्रि० स० [हिं० बकुरना का प्रेरण० रूप] कबूल कराना। मंजूर कराना। कहलाना।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसी अवस्था में होता है जब किसी को भूत लगा होता है। लोग उससे भूत का नाम पता आदि कहलाने के लिए प्रयोगादि द्वारा बाध्य करते हैं और उससे नाम पता आदि कहलवाते हैं।

बकुल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मौलसिरी। (२) शिव। महादेव। (३) एक प्राचीन देश का नाम।

बकुल टरर–संज्ञा पुं० [हिं० बकुला+टरर अनु०] पानी की एक चिड़िया जिसका रंग सफेद होता है और जो डील डौल में आदमी के बराबर ऊँची होती है।

बकुला†–संज्ञा पुं० दे० "बगला"।

बकेन, बकेना†–संज्ञा स्त्री० [सं० वाष्कयणी] वह गाय या भैंस जिसे बच्चा दिये साल भर से अधिक हो गया हो और जो बरदाई न हो और दूध देती हो। ऐसी गाय का दूध अधिक गाढ़ा और मीठा होता है। लवाई का उलटा।

बकेल‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बकला] पलास की जड़ जिसे कूटकर रस्सी बनाते हैं।

बकैयाँ–संज्ञा पुं० [सं० वक्र+ऐय। (प्रत्य०)] बच्चों के चलने का वह ढंग जिसमें वे पशुओं के समान अपने दोनों हाथ और दोनों पैर ज़मीन पर टेककर चलते हैं। घुटनों के बल चलना।

बकोट–संज्ञा स्त्री० [सं० प्रकोष्ठ वा अभिकोष्ठ पा० पकोट्ठ] (१) पंजे की वह स्थिति जो किसी वस्तु को ग्रहण करने या नोचने आदि के समय होती है। हाथ की उँगलियों की संपुटाकार मुद्रा। (२) किसी पदार्थ की उतनी मात्रा जो एक बार चंगुल में पकड़ी जा सके। जैसे,—एक बकोट आटा। (३) बकोटने या नोचने की क्रिया या भाव।

बकोटना–क्रि० स० [हिं० बकोट] बकोट से किसी को नोचना। नाखूनों से नोचना। पंजा मारना। निखोटना। उ०—होती जो पै कुबरी ह्याँ, सखी, मारि लातन मूकन बकोटती केती।—रसखान।

बकोरी*–संज्ञा स्त्री० दे० "गुलबकावली"। उ०—कोइ सो बोलसर पुहुप बकोरी। कोई रूप मंजरी गोरी।—जायसी।

बकौड़ा‡–संज्ञा पुं० [हिं० बक्कल] पलाश की कूटी हुई जड़ जिससे रस्सी बटी जाती है।

संज्ञा पुं० दे० "बकौरा"।

बकौरा‡–संज्ञा पुं० [हिं० बाँका] वह टेढ़ी लकड़ी जो बैलगाड़ी के

दोनों ओर पहिये के ऊपर लगाई जाती है। इसी के बीच में छेद करके धुरी लगाई जाती है और दोनों छोर पहिये के दोनों ओर की पटरी में साले या बैठाये हुए होते हैं। पैगनी। पैंजनी।

बक्कम—संज्ञा पुं० [अ० बकम] एक वृक्ष जो भारतवर्ष में मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बर्मा में उत्पन्न होता है। इसका पेड़ छोटा और कँटीला होता है। लकड़ी काले रंग की तथा दृढ़ और टिकाऊ होती है। फटती या टेढ़ी नहीं होती। इससे मेज़ कुर्सी आदि बन सकती है और रंग और रोगन से इसपर अच्छी चमक आती है। इसकी लकड़ी, छिलके और फलों से लाल रंग निकलता है जिससे सूत और ऊन के कपड़े रँगे जाते हैं और जो छींट की छपाई में भी काम आता है। इसके बीज बरसात में बोए जाते हैं। पतंग।

बक्कल—संज्ञा पुं० [सं० वल्कल, पा० बक्कल] (१) छिलका। (२) छाल।

बक्का†—संज्ञा पुं० [देश०] सफ़ेद या ख़ाकी रंग के एक प्रकार के छोटे छोटे कीड़े जो धान की फसल में लगते हैं और उसके पत्ते और बालों को खाकर उसे निर्जीव कर देते हैं। ये कीड़े जहाँ चाटते हैं वहाँ सफ़ेद हो जाता है।

बक्काल—संज्ञा पुं० [अ०] वह जो आटा, दाल, चावल या और चीज़ें बेचता हो। वणिक। बनिया।

यौ०—बनिया बक्काल।

बक्की—वि० [हिं० बकना] बकवाद करनेवाला। बहुत बोलने या बकबक करनेवाला।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का धान जो भादों के महीने के अंत में पकता है। इसके धान की भूसी काले रंग की होती है और चावल लाल होता है। यह मोटा धान माना जाता है।

बक्कुर—†संज्ञा पुं० [सं० वाक्य] मुँह से निकला हुआ शब्द। बोल। वचन।

क्रि० प्र०—फूटना।—निकलना।

बक्खर—संज्ञा पुं० दे० 'बाखर'।

संज्ञा पुं० [देश०] कई प्रकार के पौधों की पत्तियों और जड़ों आदि को कूटकर तैयार किया हुआ वह ख़मीर जो दूसरे पदार्थों में खमीर उठाने के लिए डाला जाता है। यह प्रायः खोए आदि में डाला जाता है। बंगाल में इसका व्यवहार अधिक होता है।

बक्स—संज्ञा पुं० दे० "बकस"।

बखत†—संज्ञा पुं० दे० "वक्त"।

संज्ञा पुं० दे० "वख़्त"।

बखतर—संज्ञा पुं० दे० "बकतर"।

बखर—संज्ञा पुं० (१) दे० "बाखर"। (२) दे० "बक्खर"।

बखरा—संज्ञा पुं० [फ़ा० बख़रः] (१) भाग। हिस्सा। बाँट। (२) दे० "बाखर"।

संज्ञा पुं० [देश०] घोड़े की पीठ पर पलान आदि के नीचे रखने के लिए फाल या सूखी घास आदि का दोहरा किया हुआ वह मुट्ठा जिस पर टाट आदि लपेटा रहता है। यह घोड़े की पीठ पर इसलिए रखा जाता है जिसमें घाव न हो जाय। बाखर। सुक्की।

बखरी‡—संज्ञा स्त्री० [हिं० बखार का स्त्री० अल्प०] एक कुटुंब के रहने के योग्य बना हुआ मिट्टी, ईंटों आदि का अच्छा मकान। (गाँव)

बखरैत‡—वि० [हिं० बखरा+ऐत (प्रत्य०)] हिस्सेदार। साझीदार।

बखसीस*†—संज्ञा स्त्री० दे० "बख़शीश"। उ०—प्रफुलित ह्वै कै आनि दीन्हे जसोदा रानी झीनिए झगुली तामें कंचन को तगा। नाचै फूल्यो अँगनाई सूर बखसीस पाई माथे को चढ़ाइ लीनो लाल को बगा।—सूर।

बखसीसना*‡—क्रि० स० [फ़ा० बख़शिश] देना। बख़शना। उ०—त्यौं वे सब बेदना खेद पीड़ा दुखदाई। जिन बखसीसति सदा घमंडहि मूरखताई।—श्रीधर पाठक।

बखान—संज्ञा पुं० [सं० व्याख्यान पा० बक्खान] (१) वर्णन। कथन। उ०—(क) कबिरा संस्कृत संसार में पंडित करै बखान। भाषा भगति दृढ़ावही न्यारा पद निर्बान।—कबीर। (ख) बपु जगत काको नाउँ लीजै हो जदु जाति गोत न जानिये। गुणरूप कछु अनुहार नहिँ कहि का बखान बखानिये।—सूर। (२) प्रशंसा। गुणकीर्तन। स्तुति। बड़ाई। उ०—(क) तेहि रावन कहँ लघु कहसि, नर कर करसि बखान। रे कपि बर्बर खर्बखल अब जाना तव ज्ञान।—तुलसी। (ख) दिन दस आदर पायकै करिले आपु बखान। जौ लगि काग सराध-पख तब लगि तब सनमान।—बिहारी। (ग) आवत गलानि जो बखान करो ज्यादा, यह मादा मलमूत और मज्जा की सलीता है।—पद्माकर।

बखानना—क्रि० स० [हिं० बखान+ना] (१) वर्णन करना। कहना। उ०—(क) ताते मैं अति अल्प बखाने। थोरहि महँ जानि हैं सयाने।—तुलसी। (ख) तुम्हैं वेद ब्रह्मण्य बखानत। ताते तुमरी अस्तुति ठानत।—सूर। (ग) वे चलि ह्याँ ते गए अनत, हम का अब अपनी बात बखानैं।—पद्माकर। (घ) यहि प्रकार सुक कथा बखानी। राजा सों बोले मृदुबानी। (२) प्रशंसा करना। सराहना। तारीफ़ करना। उ०—(क) नागमती पद्मावति रानी। दोऊ महा सतसती बखानी।—जायसी। (ख) ते भरतहि भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने।—तुलसी। (३) गाली-

गलौज देना। बुरा भला कहना। जैसे,—बात छिड़ते ही उसने उसके सात पुरखा बखान कर रख दिये।

बखार†–संज्ञा पुं० [सं० प्राकार] [स्त्री० अल्प० बखारी] दीवार या टट्टी आदि से घेर कर बनाया हुआ गोल और विस्तृत घेरा जिसमें गाँवों में अन्न रखा जाता है। यह कोठिले के आकार का होता है। पर इसके ऊपर पाट नहीं होता और यह बिलकुल खुले मुँह का होता है।

बखारी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बखार] छोटा बखार।

बखिया–संज्ञा पुं० [फा०] एक प्रकार की महीन और मज़बूत सिलाई। इसमें सूई को पहले कपड़े में से टाँका लगाकर आगे निकालते हैं; फिर पीछे लौटाकर आगे की ओर टोक मारते हैं जिससे सूई पहले स्थान से कुछ आगे बढ़ कर निकलती है। इसी प्रकार बार बार सीते हैं। बखिया दो प्रकार का होता है—(१) उस्तादाना या गाँठी जिसमें ऊपर की लौट मिलाई के टाँके एक दूसरे से मिले हुए दानेदार होते हैं और (२) दौड़ या बया जिसमें दो चार दानेदार उस्तादी बखिया के अनंतर कुछ थोड़ा अवकाश रहता है।

मुहा०—बखिया उधेड़ना=भेद खोलना। कलई खोलना। भंडा फोड़ना।

बखियाना–क्रि० स० [हिं० बखिया] किसी चीज़ पर बखिया की सिलाई करना। बखिया करना।

बखीर†–संज्ञा स्त्री० [हिं० खीर का अनु०] वह खीर जिसमें दूध के स्थान में गुड़, चीनी या ईख का रस डाला गया हो। मीठे रस में उबाला हुआ चावल।

बखील–वि० [अ०] कृपण। सूम। कंजूस।

बखूबी–क्रि० वि० [फ़ा०] (१) अच्छे प्रकार से। भली भाँति। अच्छी तरह से। जैसे, काग़ज़ भेजने के पहले आप उसे बख़ूबी देख लिया करें। (२) पूर्णरूप से। पूर्णतया। पूरी तरह से। जैसे,—यह दावात बख़ूबी भरी हुई है।

बखेड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बखेरना] (१) उलझाव। झंझट। उलझन। जैसे,—इस काम में बहुत बखेड़ा होगा। (२) झगड़ा। टंटा। विवाद। जैसे,—अब उन लोगों में भारी बखेड़ा खड़ा होगा। (३) कठिनता। मुश्किल। (४) व्यर्थ विस्तार। आडंबर। भारी आयोजन।

क्रि० प्र०—करना।—फैलाना।—मचाना।—होना।

बखेड़िया–वि० [हिं० बखेड़ा+इया (प्रत्य०)] बखेड़ा करनेवाला। जो बखेड़ा या झगड़ा खड़ा करे। झगड़ालू।

बखेरना–क्रि० स० [सं० विकिरण] चीज़ों को इधर उधर या दूर दूर रखना। फैलाना। छितराना। जैसे, खेत में बीज बखेरना। उ०—(क) काटि दससीस भुज बीस सीस बरि राम यश दसो दिसि सौगुनों बखेरि हैं।—हनुमन्नाटक। (ख) कहो दस सीस भुज बीसन बखेरों आगे कहो जाय घेरों गढ़ विनती पतीजिये।—हनुमन्नाटक। (ग) तमाशा है मज़ा है सैर है क्या क्या अहा! हा!! हा!!! मसख़िर ने अजब कुछ रंग क़ुदरत का बखेरा है।—नज़ीर।

बखेरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटे क़द का एक प्रकार का कँटीला वृक्ष जिसके फल रँगने और चमड़ा सिझाने के काम में आते हैं। यह पूर्वीय बंगाल, आसाम और बर्मा आदि में होता है। इसे कुंती भी कहते हैं।

बखोरना‡–क्रि० स० [हिं० बक्कुर] टोकना। छेड़ना।—उ० साँकरी खोरि बखोरि हमैं किन खोरि लगाय खिसैबो करो कोई।—देव।

बख्त–संज्ञा पुं० [फ़ा०] भाग्य। क़िसमत। तक़दीर।

यौ०—बदबख्त। कंबख्त।

बख्तर–संज्ञा पुं० [फा० बक्तर] लोहे के जाल का बना हुआ कवच। सन्नाह। बकतर। उ०—चारि मास घन बरसिया, अति अपूर्व शर नीर। पहिरे जबतर बख्तर छुभै न एकौ तीर।—कबीर।

बख्शना–क्रि० स० [फा० बख्श] (१) देना। प्रदान करना। (२) त्यागना। छोड़ना। जाने देना। क्षमा करना। माफ़ करना। उ०—कामी कबहु न हरि भजै मिटै न संशय मूल। और गुनह सब बखशिहै कामी डाल न भूल।—कबीर।

बख्शवाना, बख्शाना–क्रि० स० [हिं० बख्शना का प्रेर०] बख्शाने का प्रेरणार्थक रूप। किसी को बख़्शने में प्रवृत्त करना।

बख्शिश–संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) उदारता। दानशीलता। (२) दान। (३) क्षमा।

बख्शीश–संज्ञा पुं० दे० "बख़्शिश"।

बग†–संज्ञा पुं० [सं० बक] बगुला। उ०—(क) उज्वल देखि न धीजिये, बग ज्यों माँड़े ध्यान। धौरे बैठि चपेटसी, यों लै बूड़ै ज्ञान।—कबीर। (ख) बग उलूक झगरत गये अवध जहाँ रघुराउ। नीक सगुन निबरहि झगर होइहि धरम निआउ।—तुलसी।

बगई‡–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की मक्खी जो कुत्तों पर बहुत बैठती है। कुकुरमाछी। (२) एक प्रकार की घास जिसकी पत्तियाँ बहुत पतली और लंबी होती हैं। यह सूखने पर पंसारियों की पुड़ियाँ आदि बाँधने के काम आती है। कहीं कहीं लोग इसे भाँग के साथ पीस कर पीते भी हैं, जिससे उसका नशा बहुत बढ़ जाता है।

बगछुट, बगटुट–क्रि० वि० [हिं० बाग+छुटना वा टूटना] सरपट। बेतहाशा। बड़े वेग से। जैसे, बगछुट भागना या भगाना। उ०—वहाँ जो मेरे सामने एक हिरनी कनौतियाँ उठाये गई थी, उसके पीछे मैंने घोड़ा बगछुट फेंका था।—इंशा अल्लाह ख़ाँ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा घोड़ों की चाल के संबंध में ही होता है। पर कभी कभी हास्य या व्यंग्य में लोग मनुष्यों के संबंध में भी बोल देते हैं।

बगदना†–क्रि० अ० [सं० विकृत, हिं० बिगड़ना] (१) बिगड़ना। ख़राब होना। (२) बहकना। भूलना। (३) च्युत होना। ठीक रास्ते से हट जाना।

बगदर‡–संज्ञा पुं० [देश०] मच्छर।

बगदवाना‡–क्रि० स० [हिं० बगदना] (१) बिगड़वाना। ख़राब कराना। (२) भुलवाना। भ्रम में डालना। (३) लुढ़काना। गिरा देना। (४) प्रतिज्ञा भंग कराना। अपने वचन से हटाना।

बगदहा*‡–वि० [हिं० बगदना+हा (प्रत्य०)] [स्त्री० बगदही] चौंकने या बिगड़नेवाला। बिगड़ैल। उ०—तुम चदि काहे न टेरौ कान्हा गइयाँ दूर गई। धाई जात सबन के आगे जेहि वृषभानु दई। घेरे न घिरत तुम बिनु माधौ जू मिलत नहीं बगदई। बिडरत फिरत सकल बन महियाँ एकइ एक गई।—सूर।

बगदाना†–क्रि० स० [हिं० बगदना] (१) बिगाड़ना। ख़राब। करना। (२) च्युत करना। ठीक रास्ते से हटाना। (३) भुलाना। भटकाना।

बगना*†–क्रि० अ० [सं० वक=गति] घूमना फिरना। उ०—नंद रु यशोदा के लड़ाइते कुँअर हिय हेरे ग्वार गोरिन के खोरिन बगे रहैं। चैन न परत देव देखे बिनु बैन सुने मिलत घनै न तब नैन उमगे रहैं।—देव।

बगनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास जिसे कहीं कहीं लोग भाँग के साथ पीस कर पीते हैं। इससे उसका नशा बहुत बढ़ जाता है। दे० "बगई"। उ०—बगनी भंगा खाइ कर मतवाले माजी।—दादू।

बगमेल–संज्ञा पुं० [हिं० बाग+मेल] (१) दूसरे के घोड़े के साथ बाग मिला कर चलना। पाँति बाँधकर चलना। बराबर बराबर चलना। उ०—जो गज मेलि हौद सँग लागे। तो बगमेल करहु सँग लागे।—जायसी। (२) बराबरी। समानता। तुलना। उ०—भूधर भनत ताकी बास पाय सोर करि कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेला में।—भूधर। क्रि० वि० पंक्तिबद्ध। बाग मिलाए हुए। साथ साथ। उ०—(क) आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावत सुभट। यथा विलोकि अकेल बाल-रविहि घेरत दनुज।—तुलसी। (ख) हरखि परस्पर मिलन हित कछुक चले बगमेल। जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल।—तुलसी।

बगर*†–संज्ञा पुं० [सं० प्रघण, पा० पघण] (१) महल। प्रासाद। (२) बड़ा मकान। घर। उ०—(क) आस पास वा बगर के जहँ विहरत पशु छंद। व्रज बड़े गोप परजन्य सुत नीके श्री नव नंद।—नाभा। (ख) गोपिन के अँसुवन भरी सदा उसोस अपार। डगर डगर नै ह्वै रही बगर बगर के बार।—बिहारी। (ग) मैं तो चाहे छाहों पै मोंको यह न छावत है, फेरि लेति फेरि व्याधि आपने बगर की।—पद्माकर। (३) घर। कोठरी। उ०—(क) टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख जोति। फिरति रसोई के बगर जगरमगर दुति होति।—बिहारी। (ख) जगर जगर दुति दूनी केलि मंदिर में, बगर बगर धूप अगर बगारे तू।—पद्माकर। (४) द्वार के सामने का सहन। आँगन। उ०—(क) नंद महर के बगर तन अब मेरे को जाय। नाहक कहुँ गड़ि जायगो हित काँटो मन पाय।—रसखानि। (ख) राम डर रावन के नगर डगर घर बगर डगर आजु कथा भाजि जान की।—हनुमान। (५) वह स्थान जहाँ गाएँ बाँधी जाती हैं। बगार। बाटी। उ०—(क) नगर बसे नगरे लगे सुनिये नागर नारि। पगरे रगरे सुमन के डारे बगर बहारि।—रसनिधि। (ख) यसुमति तेरो बारो नान्हो अति अचगरो। दूध दही माखन लै डारि देत सगरो। भोर उठि नित्य प्रति मोंसों करत है झगरो। ग्वालबाल संग लिये सब घेरि रहै बगरो।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "बगल"। उ०—तसवा की सरिया में सोने के किनरिया उजरिया करत मुख जोति। अगर बगर जरतरवा लगल बाड़ै जगर मगर दुति होति।—बिरहा।

बगरना*†–क्रि० अ० [सं० विकिरण] फैलना। बिखरना। छितराना। उ०—(क) तनपोषक नारि नरा सिगरे। परनिंदक ते जग मों बगरे।—तुलसी। (ख) रीझे श्याम नागरी रूप। तैसी ये लट बगरीं ऊपर स्रवत नीर अनूप।—सूर। (ग) बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरो बसंत है।—पद्माकर।

बगरा†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली जो संयुक्त प्रांत और बंगाल में होती है। यह छः सात अंगुल लंबी होती है और ज़मीन पर उछलती या उड़ान भरती है। यह खाने में स्वादिष्ट होती है। इसे डुआ भी कहते हैं।

बगराना†–क्रि० स० [हिं० बगरना का सक० रूप] फैलाना। छितराना। छिटकाना। उ०—(क) ते दिन बिसरि गए इहाँ आए। अति उन्मत्त मोह मद छाये फिरत केश बगराए।—सूर। (ख) सजनी दूहँ गोकुल में विष सो बगरायो है नंद के साँवरियाँ।—रसखानि। (ग) जानिये आली यह छोहरा जसोमति को बाँसुरी बजाइगो विष बगराइगो।—रसखानि।

क्रि० अ० बगरना। फैलना। बिखरना। उ०—कहाँ लौं

बरनौं सुंदरताई। अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई।—सूर।

बगरिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जो कच्छ और काठियावाड़ में पैदा होती है।

बगरी†—संज्ञा पुं० [हिं० बगरना] एक प्रकार का धान जो भादों के अंत में पकता है। यह काले रंग का होता है। इसका चावल लाल और मोटा होता है। इसे तैयार करने में विशेष परिश्रम नहीं होता, केवल बीज बिखेर कर छोड़ दिए जाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बगर] बखरी। घर। मकान। उ०—घाट बाट सब देखत आवत युवती डरन मरति हैं सिगरी। सूर श्याम तेहि गारी दीनो जो कोई आवै तुमरी बगरी।—सूर।

बगल—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बाहु मूल के नीचे की ओर का गड्ढा। काँख। उ०—उसके अस्तबल का दारोग़ा एक हबशी ग़ुलाम था। वही उसको बगल में हाथ देकर घोड़े पर सवार कराता था।—शिवप्रसाद।

यौ०—बगलगंध।

(२) छाती के दोनों किनारों का भाग जो बाँह गिराने पर उसके नीचे पड़ता है। पार्श्व।

यौ०—बगलबंदी।

मुहा०—बगल गरम करना=सहवास करना। प्रसंग करना। बगल में दबाना=(१) किसी चीज को बाहु के नीचे छाती के किनारे रखना या लेना। (२) धोखा देकर वा बलात् किसी वस्तु को अपने अधिकार में लाना। अधिकार करना। ले लेना। उ०—लैगे अनूप रूप संपति बगल दाबि उचिके अचान कुच कंचन पहार से।—देव। बगल में धरना=(१) बगल में छिपाना। बगल में दबाना। उ०—बूँद सुहावनी री लागत मत भीजै तेरी चूनरी। मोहिं दे उतारि धर राखौं बगल में तू न री।—हरिदास। (२) अधिकार में लाना। छीन लेना। बगलें बजाना=बहुत प्रसन्नता प्रकट करना। खूब खुशी मनाना।

(३) सामने और पीछे को छोड़ इधर उधर का भाग। किनारे का हिस्सा।

मुहा०—बगलें झाँकना=इधर उधर भागने का यत्न करना। बचाव का रास्ता ढूँढ़ना।

(४) कपड़े का वह टुकड़ा जो अँगरखे या कुरते आदि की आस्तीन में कंधे के जोड़ के नीचे लगाया जाता है। यह टुकड़ा प्रायः तीन चार अंगुल का और तिकोना या चौकोना होता है। (५) समीप का स्थान। पास की जगह। जैसे,—सड़क की बगल में ही वह नया मकान बना है।

बगलगंध—संज्ञा पुं० [हिं० बगल+गंध] (१) वह फोड़ा जो बगल में होता है। कँखवार। (२) एक प्रकार का रोग जिसमें बगल से बहुत बदबूदार पसीना निकलता है।

बगलबंदी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बगल+बंद] एक प्रकार की मिरजई जिसके बंद बगल के नीचे लगते हैं।

बगला—संज्ञा पुं० [सं० बक+ला (प्रत्य०)] [स्त्री० बगली] सफ़ेद रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जिसकी टाँगें, चोंच और गला लंबा और पूँछ नाममात्र की, बहुत छोटी होती है। इसके गले पर के पर अत्यंत कोमल होते हैं और किसी किसी के सिर पर चोटी भी होती है। यह पक्षी झुंड में या अलग अलग दिन भर पानी के किनारे मछली, केकड़े आदि पकड़ने की ताक में खड़ा रहता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं जिनके वर्ण और आकार आदि भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे,—(क) अंजन, नारी वा सेन जिसका रंग नीलापन लिए होता है, (ख) बगली, खोच बगला वा गड़हबगलिया जो छोटी और मटमैले रंग की होती है और धान के खेतों, तालों और गड़हियों आदि में रहती है; (ग) गैबगला वा सुरखिया बगला जो ढंगरों के झुंड के साथ तालों में रहता है और उनके ऊपर के छोटे छोटे कीड़ों को खाता है; (घ) राजबगला जो तालों और झीलों में रहता है और जिसका रंग अत्यंत उज्वल होता है। यह बड़ा भी होता है और इस जाति के तीन वर्ष से अधिक अवस्था के पक्षियों के सिर पर चोटी होती है। बगलों का शिकार प्रायः उनके कोमल परों के लिए किया जाता है। वैद्यक में इसका मांस मधुर, स्निग्ध गुरु और अग्निप्रकोपक तथा श्लेष्मवर्द्धक माना गया है। उ०—(क) बगली नीर बिटारिया सायर चढ़ा कलंक। और पखेरू पीविया हंस न बोरे चंच।—कबीर। (ख) बद्दलनि बुनद बिलोको बगलान बाग बंगलान बेलिन बहार बरसा की है।—पद्माकर।

मुहा०—बगला भगत=(१) धर्म्मध्वजी। (२) कपटी। धोखेबाज।

†संज्ञा पुं० [हिं० बगल] थाली की बाढ़। अँवठ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक झाड़ीदार पौधा जो गमलों में शोभा के लिए लगाया जाता है।

बगलामुखी—संज्ञा पुं० [देश०] तांत्रिकों के अनुसार एक देवी जिसकी आराधना करने से आराधक अपने विरोधी की वाक्शक्ति को स्थगित या बंद कर सकता है।

बगलियाना—क्रि० अ० [हिं० बगल+इयाना (प्रत्य०)] बगल से होकर जाना। राह काटकर निकलना। अलग हटकर चलना या निकलना।

क्रि० स० (१) अलग करना। पृथक् निकालना। (२) बगल में लाना या करना।

बगली—वि० [हिं० बगल+ई (प्रत्य०)] बगल से संबंध रखनेवाला। बगल का।

मुहा०—बगली घूँसा=वह घूँसा जो बगल में होकर मारा जाय। वह वार जो आड़ में छिपकर या धोखे से किया जाय।

संज्ञा स्त्री० (१) ऊँटों का एक दोष जिसमें चलते समय उनकी जाँघ की रग पेट में लगती है। (२) मुगदर हिलाने का एक ढंग जिसमें पहले मुगदर को ऊपर उठाते हैं, फिर उसे कंधे पर इस प्रकार रखते हैं कि हाथ मुठिया पकड़े नीचे को सीधा होता है और मुगदर का दूसरा सिरा कंधे पर होता है। फिर एक हाथ को ऊपर ले जाकर मुगदर को पीछे सरकाते जाते हैं यहाँ तक कि वह पीठ पर लटक जाता है। इसी बीच में दूसरे हाथ के मुगदर को इसी प्रकार ले जाते हैं जिस प्रकार पहले हाथ के मुगदर को पीठ पर झुलाया था और तब फिर पहले हाथ का मुगदर, हाथ नीचे ले जाकर, कंधे पर इस प्रकार लाते हैं कि उसका दूसरा सिरा फिर कंधे पर आ जाता है। इसी प्रकार बराबर करते रहते हैं। (३) वह थैली जिसमें दर्जी सूई तागा रखते हैं और जिसको वे चलते समय कंधे पर लटका लेते हैं। यह चौकोर कपड़े की होती है जिसके तीन पाट दोहर दोहर कर सी दिये जाते हैं और चौथे में एक डोरी लगा दी जाती है जिसे थैली पर लपेटकर बाँधते हैं। यह थैली चौकोर होती है और इसके दो ओर एक फीता वा डोरी के दोनों सिरे टाँके रहते हैं जिसे बगल में लटकाते समय जनेऊ की तरह गले में पहन लेते हैं। तिलादानी। (४) वह सेंध जो किवाड़ की बगल में सिटकिनी की सीध में चोर इसलिए खोदते हैं कि उसमें से हाथ डालकर सिटकिनी खसकाकर किवाड़ खोल लें।

क्रि० प्र०—काटना।—मारना।

(५) वह लकड़ी जिसमें हुक्केवाले गड़गड़े को अटकाकर उनमें छेद करते हैं। (६) अंगे, कुरते आदि में कपड़े का वह टुकड़ा जो आस्तीन के साथ कंधे के नीचे लगाया जाता है। बगल।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बगला] स्त्री-वक। बगला नामक पक्षी की मादा।

बगली टाँग—संज्ञा स्त्री० [हिं० बगली टाँग] कुश्ती का एक पेच जिसमें प्रतिपक्षी के सामने आते ही उसे अपनी बगल में लाकर और उसकी टाँग पर अपना पैर मारकर उसे गिरा देते हैं।

बगली बाँह—संज्ञा स्त्री० [हिं० बगली+बाँह] एक प्रकार की कसरत जिसमें दो आदमी बराबर बराबर खड़े होकर अपनी बाँह से दूसरे की बाँह पर धक्का देते हैं।

बगली लँगोट—संज्ञा पुं० [हिं० बगली+लँगोट] कुश्ती का एक पेंच।

बगलौहाँ†—वि० [हिं० बगल+औहाँ] [स्त्री० बगलौहीं] बगल की ओर झुका हुआ। तिरछा। उ०—सकुचीली कामिनि की पुरुषन पै बगलौहीं। चाह भरी देर लौं चारु चितवन तिरछौहीं।—श्रीधर पाठक।

बगसना*‡—क्रि० स० दे० "बख्शना"। उ०—(क) बगसि वितुंड दिये सुंडन के झुंड रिपु मुंडन की मालिका दई ज्यों त्रिपुरारी को।—पद्माकर। (ख) सरबस बगसि अमित सुख रासू। है बनितन इक पति सुन सासू।—पद्माकर

बगा*†—संज्ञा पुं० [हिं० बागा] जामा। बागा। उ०—नंद उदै सुनि आयो हो वृषभानु को जगा।.................. ....नाचै फूल्यो आँगनाई सूर बखसीस पाई माथे के चढ़ाइ लीनो लाल को बगा।—सूर।

*संज्ञा पुं० [सं० बक] बगला। उ०—शूरा थोरा ही भला, सत का रोपै पगा। घना मिला केहि काम का सावन का सा बगा।—कबीर।

बगाना*‡—क्रि० स० [हिं० बगना का प्रे०] टहलाना। सैर कराना। घुमाना। फिरना। उ०—लघु लघु कंचन के हय हाथी स्यंदन सुभग बनाई। तिन महँ धाय चढ़ाय कुमारन लावहिँ अजिर बगाई।—रघुराज।

क्रि० अ० भागना। जल्दी जल्दी जाना। उ०—बार बार बैल को निपट ऊँचो नाद सुनि, हूँकरत बाघ विरुझानों रस रेला में। 'भूधर' भनत ताकी बास पाय सोर करि कुत्ता कोतवाल को बगानो बगमेला में।—भूधर।

बगार—संज्ञा पुं० [देश०] वह स्थान जहाँ गाएँ बाँधी जाती हैं। घाटी।

बगारना—क्रि० स० [सं० विकिरण, हिं० बगरना] (१) फैलाना। छिटकाना। पसारना। बिखेरना। उ०—(क) चौक में चौकी जराय जरी तेहि पै खरी बार बगारत सौंधे।—पद्माकर। (ख) जगर मगर दुति दूनी केलि मंदिर में बगर बगर धूप अगर बगार्‍यो तू।—पद्माकर। (२) दे० "बगराना"। उ०—बाल बिहाल परी कब की दबकी या प्रीति की रीति निहारो। त्यों पद्माकर है न तुम्हें सुधि कीनो जो बैरी बसंत बगारो।—पद्माकर।

बगावत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बागी होने का भाव। (२) बलवा। विद्रोह। (३) राजद्रोह।

बगिया*†—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बाग+हिं० इया (प्रत्य०)] बागीचा उपवन। छोटा बाग। उ०—(क) बन घन फूलहि टेसुवा बगियन बेलि। चले विदेस पियरवा फगुआ खेलि।—रहीम। (ख) हँसी खुसी गोइयाँ मोरी बगिया पधारी त जोतिया बरत महताब। देखतै गोरी क मुँह-रँगवा उड़ा बलबिरवा के हथवा गुलाब।—बिरहा।

बगीचा—संज्ञा पुं० [फ़ा० बागचा] [स्त्री० अल्प० बगीची] वाटिका उपवन। छोटा बाग। उ०—(क) लैके सब संचित रत

मंथन को भय मानि। मनों बगीचा बीच गृह बस्यो छीरनिधि आनि।—गुमान। (ख) शिरोमणि बागन बगीचन बनन बीच हुते रखवारे तहाँ पंछी की न गति है।—हनुमान।

बगुलपतोख†–संज्ञा पुं० [हिं० बगला+पतोख] एक प्रकार की पानी की चिड़िया। यह मुरगाबी से छोटी होती है। इसका रंग सफ़ेद होता है और इसके पैर और चोंच काली होती है।

बगुला–संज्ञा पुं० दे० "बगला"।

बगूला–संज्ञा पुं० [हिं० बाउ+गोला] वह वायु जो गरमी के दिनों में कभी कभी एक ही स्थान पर भँवर सी घूमती हुई दिखाई देती है और जिससे गर्द का एक खंभा सा बन जाता है। वह वायुस्तंभ आगे को बढ़ता जाता है। इसका व्यास और ऊँचाई कभी कम और कभी अधिक होती है। इसे गँवार लोग भवानी का रथ कहते हैं। कभी कभी बड़े व्यासवाले बगूले में पड़कर बड़े बड़े पेड़ और मकान तक उखड़कर उड़ जाते हैं। यह बगूला जब समुद्र या नदियों में होता है तो उसे 'सूंड़' कहते हैं और इसमें पानी नल की भाँति ऊपर खिंच जाता है। बवंडर। वातचक्र।

बगेड़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "बगेरी"। उ०—धरी परेवा पांडुक हेरी। केहा कदरौ अउर बगेरी।—जायसी।

बगेरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] सारे भारत में पाई जानेवाली खाकी रंग की एक छोटी चिड़िया जो डील डौल में गौरैया के समान होती और मैदानों में जलाशयों के पास पाई जाती है। यह ज़मीन के साथ इस तरह चिमट जाती है कि सहज में दिखाई नहीं देती। यह झुंडों में रहती है। इसे संस्कृत में भरद्वाज कहते हैं। बगौधा। बघेरी। भरुही।

बगैचा†–संज्ञा पुं० दे० "बगीचा"।

बगैर–अव्य० [अ०] बिना।

बगौधा‡–संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० बगौधी] बगेरी नाम की चिड़िया।

बग्गी, बग्घी–संज्ञा स्त्री० [अं० बोगी] चार पहिये की पाटनदार गाड़ी जिसे एक वा दो घोड़े खींचते हैं।

बघंबर–संज्ञा पुं० [सं० व्याघ्रांबर] (१) बाघ की खाल जिसपर साधू लोग बैठ कर ध्यान लगाते हैं। उ०—(क) बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ कोए बसन भगौहैं बेष रखियाँ।—देव। (ख) सार की सारी सो भारी लगै धरिवे कह सीस बघंबर पैया। हाँसी सो दासी सिखाइ लई हैं वेई जो वेई रसखानि कन्हैया। जोग गयो कुबजा की कलानि मैं री कब ऐहै जसोमति मैया। हाहा न ऊधो कुढ़ावो हमैं अब ही कहि दे ब्रज बाज बधैया।—रसखानि। (२) बाघ की खाल की तरह बना हुआ कंबल।

बघनहाँ†–संज्ञा पुं० [हिं० बाघ+नहँ=नाखून] [स्त्री० अल्प० बघनहीं] (१) एक प्रकार का हथियार जिसमें बाघ के नहँ के समान चिपटे टेढ़े काँटे निकले रहते हैं। यह उँगलियों में पहना जाता है और इससे हाथापाई होने पर शत्रु को नोच लेते हैं। शेरपंजा। (२) एक आभूषण जिसमें बाघ के नाख़ून चाँदी वा सोने में मढ़े होते हैं। यह गले में तागे में गूँथ कर पहना जाता है। उ०—कँठुला कंठ बघनहाँ नीके। नयन सरोज अयन सरसी के।—तुलसी।

बघनहियाँ*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाघ+नह] दे० "बघनहाँ (२)"। उ०—बड़े बड़े मोतिन की माला बड़े बड़े नैन नान्ही नान्ही भृकुटी कुटिल बघनहियाँ।—केशव।

बघना*–संज्ञा पुं० दे० "बघनहाँ (२)"। उ०—आजु गई हौं नंद भवन में कहा कहौं गृह चैनु री। ⋯सीप जैमाल श्याम उर सोहै बिच बघना छबि पावै री। मानो द्विज शशि नखत सहित है उपमा कहत न आवै री।—सूर।

बघरूरा‡–संज्ञा पुं० [हिं० वायु+गँड़रा] बगूला। चक्रवात। बवंडर उ०—चित्र की सी पुत्रिका की रूरे बघरूरे माँह शंबर छोड़ाय लई कामिनी की काम की।—केशव।

बघार–संज्ञा पुं० [हिं० बघारना] (१) वह मसाला जो बघारते समय घी में डाला जाय। तड़का। छौंक।

क्रि० प्र०—देना।

(२) बघारने की महँक।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।

बघारना–क्रि० स० [सं० अवघारण=बघारण] (१) कलछी या चम्मच में घी को आग पर तपाकर और उसमें हींग, जीरा आदि सुगंधित मसाले छोड़कर उसे दाल आदि की बटलोई में मुँह ढाँककर छोड़ना जिसमें वह दाल आदि भी सुगंधित हो जाय। छौंकना। दागना। तड़का देना। (२) अपनी योग्यता से अधिक, बिना मौके या आवश्यकता से अधिक चर्चा करना। जैसे, वेदांत बघारना, अँगरेज़ी बघारना।

मुहा०—शेखी बघारना=बहुत बढ़ बढ़ कर बातें करना। शेखी हाँकना।

बघेरा†–संज्ञा पुं० [हिं० बाघ] लकड़बग्घा।

बघेलखंड–संज्ञा पुं० [हिं० बघेल (जाति)+खंड] मध्य भारत में एक प्रदेश जिसमें किसी समय बघेल राजपूतों का राज्य था। यह प्रदेश मध्य भारत की एजेंसी के अंतर्गत है और इसमें रीवाँ, नागोर, मैहर इत्यादि राज्य अंतर्भूत हैं।

बघेली‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाघ+ऐला (प्रत्य०)] बरतन खरादनेवालों का वह खूँटा जिसका ऊपरी सिरा आगे की ओर कुछ बढ़ा होता है। इस सिरे को घाई या नाक कहते हैं और इसी पर रख कर बरतन खरादा या कूना जाता है।

बघैरा‡–संज्ञा पुं० दे० "बगेरी"।

बच*–संज्ञा पुं० [सं० वचः] वचन। वाक्य। बात। उ०—(क)

जौं मोरे मन बच अरु काया । प्रीति राम पद कमल अमाया ।—तुलसी । (ख) नैनन ही बिहँसि बिहँसि कौलों बोलिहौ जू बच हूँ तो बोलिये बिहँसि मुख बाल सों । केशव । (ग) ताते मिलि मन भावती सों बलि झांते हहा बच मान हमारो ।—पद्माकर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वचा] एक प्रकार का पौधा जो काश्मीर से आसाम तक और मनीपुर और बर्मा में दो हज़ार से छ हज़ार फुट तक ऊँचे पहाड़ों पर पानी के किनारे होता है । इसकी पत्ती सौसन की पत्ती के आकार की पर उससे कुछ बड़ी होती है । इसके फूल नरगिस के फूल की तरह पीले होते हैं । पत्तियों की नाल लंबी होती है । पत्तियों से एक प्रकार का तेल निकाला जाता है जो खुला रहने से उड़ जाता है । इसकी जड़ लाली लिए सफ़ेद रंग की होती है जिसमें अनेक गाँठें होती हैं । पत्तियाँ खाने में कडुई, चर्परी और गरम होती हैं और उनमें से तेज़ गंध निकलती है । वैद्यक में इसे वमनकारक, दीपन, मल और मूत्रशोधक और कंठ को हितकर माना है तथा शूल, शोथ, वातज्वर, कफ, मृगी और उन्माद का नाशक लिखा है । यह गठिया में ऊपर से लगाई भी जाती है । भावप्रकाश में बच तीन प्रकार की लिखी गई है—बच, खुरासानी बच और महाभरी बच । खुरासानी बच सफ़ेद होती है । इसे मीठी बच भी कहते हैं । यह मति और मेधावर्धक तथा आयुवर्धक होती है । महाभरी को कुलीजन भी कहते हैं । यह कफ और खाँसी को दूर करती है, गले को साफ़ करती, रुचि को बढ़ाती तथा मुख को शुद्ध करती है

पर्य्या०—उग्रगंधा । षड्ग्रंथा । गोलोमी । शतपर्त्रिका । मंगल्या । जटिला । तीक्ष्णा । लोमशा । भद्रा । कांगा ।

बचकाना‡–वि० [हिं० बच्चा+काना (प्रत्य०)] [स्त्री० बचकानी] (१) बच्चों के योग्य । बच्चों के लायक । जैसे, बचकाना जूता । (२) बच्चों का सा । थोड़ी अवस्था का ।

बचत–संज्ञा स्त्री० [हिं० बचना] (१) बचने का भाव । बचाव । रक्षा । उ०—होती जो पै बचत कहूँ धीरज ढालन ओट । चतुरन हिये न लागती नैन बान की चोट ।—रसनिधि । (२) बचा हुआ अंश । वह भाग जो व्यय होने से बच रहे । शेष । (३) लाभ । मुनाफ़ा ।

बचन*†–संज्ञा पुं० [सं० वचन] (१) वाणी । वाक । उ०—तुलसी सुनत एक एकनि सों जो चलत बिलोकि निहारे । मूकनि बचन लाहु मानों अंधन गहे हैं बिलोचन तारे ।—तुलसी । (२) वचन । मुँह से निकला हुआ सार्थक शब्द । उ०—(क) रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाहु बरु बचन न जाई ।—तुलसी । (ख) कत कहियत दुख देन कों रचि रचि बचन अलीक । सबै कहाउर हैं लखैं लाल महाउर लीक ।—बिहारी ।

मुहा०—बचन डालना=माँगना । याचना करना । बचन तोड़ना वा छोड़ना=प्रतिज्ञा से विचलित होना । कहकर न करना । प्रतिज्ञा भंग करना । बचन देना=प्रतिज्ञा करना । बात हारना । उ०—निदान यशोदा ने देवकी को बचन दे कहा कि तेरा बालक मैं रक्खूँ गी ।—लल्लूलाल । बचन पालना वा निभाना=प्रतिज्ञा के अनुसार कार्य्य करना । जो कुछ कहना वह करना । बचन बाँधना=प्रतिज्ञा कराना । बचनबद्ध करना । उ०—नंद यशोदा बचन बँधायो । ता कारण देही धरि आयो ।—सूर । बचन लेना=प्रतिज्ञा कराना । बचन हारना–प्रतिज्ञाबद्ध होना । बात हारना ।

बचनविदग्धा–संज्ञा स्त्री० दे० "वचनविदग्धा" ।

बचना–क्रि० अ० [सं० वंचन=न पाना] (१) । कष्ट या विपत्ति आदि से अलग रहना । रक्षित रहना । संभावना होने पर भी किसी बुरी या दुःखद स्थिति में न पड़ना । जैसे,—शेर से बचना, गिरने से बचना । दंड से बचना । उ०—(क) अक्षर ग्रास सबन को होई । साधक सिद्ध बचै नहिं कोई ।—कबीर । (ख) बहुत दुखैहै दुख की खानी । तब बचिहो जब रामहि जानी ।—कबीर । (ग) घन घहराय घरी घरी जब करिहै झरनीर । चहुँ दिसि चमकै चंचला क्यों बचिहै बलबीर ।—शृंग० सत० । (२) किसी बुरी बात से अलग रहना । जैसे,—बुरी संगत से बचना । (२) किसी के अंतर्गत न आना । छूट जाना । रह जाना । जैसे,—वहाँ कोई नहीं बचा जिसपर रंग न पड़ा हो । (४) खरचने या काम में आने पर शेष रह जाना । बाकी रहना । उ०—(क) मीत न नीत गलीत यह जो धरिये धन जोरि । खाये खरचे जो बचे तो जोरिये करोरि ।—बिहारी । (ख) बची खुची किरनन को निज कर मनहु उठावत । उ०—रत्नावली । (५) अलग रहना । दूर रहना । परहेज़ करना । जैसे,—तुम्हें तो इन बातों से बहुत बचना चाहिए । (६) पीछे या अलग होना । हटना । जैसे, गाड़ी से बचना ।

क्रि० स० [सं० वचन] कहना । उ०—अबल प्रह्लाद बल देत मुख ही बचत दास ध्रुव चरण चित्त सीस नायो । पांडु सुत बिपतमोचन महादास लखि द्रौपदी चीर नाना बढ़ायो ।—सूर ।

बचपन–संज्ञा पुं० [हिं० बच्चा+पन (प्रत्य०)] (१) लड़कपन । बाल्यावस्था । (२) बच्चा होने का भाव ।

बचवैया*‡–संज्ञा पुं० [हिं० बचाना+वैया (प्रत्य०)] बचानेवाला । रक्षक ।

बचा†*–संज्ञा पुं० [फा० । सं० वत्स, पा० वच्छ, हिं० बच्चा ।] [स्त्री० बच्ची] लड़का । बालक । उ०—तुलसी सुनि सूर सराहत हैं जग में बलसालि है बाल बचा ।—तुलसी ।

बचाना–क्रि० स० [हिं० बचना] (१) आपत्ति या कष्ट आदि में न पड़ने देना। रक्षा करना। उ०—(क) बिनु गुरु अक्षर कौन छुड़ावै। अक्षर जाल ते कौन बचावै।—कबीर। (ख) लाठी में गुण बहुत हैं सदा राखिये संग। गहिरी नदि नारा जहाँ तहाँ बचावे अंग।—गिरधर। (ग) चहूँ ओर अवनीस बने घेरे छबि छावै। महाराज को शत्रु घात सों सजग बचावै।—गोपाल। (२) प्रभावित न होने देना। अलग रखना। (३) व्यय न होने देना। खर्च न होने देना। खर्च करके कुछ रख छोड़ना। (४) छिपाना। चुराना। जैसे, आँख बचाना। उ०—पीठि दै लुगाइन की डीठहि बचाय, ठकुराइन सुनाइन के पायन परति है।—प्रताप। (५) किसी बुरी बात से अलग रखना। दूर रखना। जैसे,—बच्चों को सिगरेट तमाकू आदि से बचाना चाहिए। (६) ऐसे रोग से मुक्त करना जिसमें मरने की आशंका हो। (७) पीछे करना। हटाना।

बचाव–संज्ञा पुं० [हिं० बचाना] बचने का भाव। रक्षा। त्राण। उ०—कहा कहति तू भई बावरी। ऐसो कैसे होय सखी री घर पुनि मेरो है बचाव री। सूर कहति राधा सखि आगे चकित भई सुनि कथा रावरी।—सूर।

बचिया–संज्ञा स्त्री० [हिं०बच्चा=छोटा] कसीदे के काम में छोटी छोटी बूटियाँ।

बचुआ†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली जो सिंध, उड़ीसा, बंगाल और आसाम की नदियों में होती है। साधारणतः वह बालिश्त भर लंबी होती है। पर इस जाति की कोई कोई बड़ी मछली हाथ डेढ़ हाथ तक भी लंबी होती है।

बचूना†–संज्ञा पुं० [हिं० बच्चा] भालू का बच्चा। (कलंदर)

बचो–संज्ञा पुं० [देश०] एक बारहमासी लता जो काश्मीर, सिंध और काबुल में होती है। इसकी जड़ से मजीठ की तरह का रंग निकलता है। यह बीज और जड़ दोनों से उत्पन्न होती है। तीन वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक में इसकी जड़ पककर तैयार होती है। इसकी पत्तियाँ पशु और विशेषतः ऊँट बड़े चाव से खाते हैं।

बच्चा–संज्ञा पुं० [फ़ा०। सं० वत्स, प्रा० वच्छ] [स्त्री० बच्ची] (१) किसी प्राणी का नवजात और असहाय शिशु। जैसे, गाय का बच्चा, हाथी का बच्चा, कुत्ते का बच्चा, मुर्गी का बच्चा इत्यादि।

मुहा०—बच्चा देना=प्रसव करना। गर्भ से उत्पन्न करना।

(२) लड़का। बालक।

मुहा०—बच्चों का खेल=बहुत सुगम कार्य्य। सहज काम।

वि० अज्ञान। अनजान। जैसे,—अभी तुम इस काम में बच्चे हो।

बच्चाकश–वि० [फ़ा०] बहुत बच्चे जननेवाली (स्त्री०)। (विनोद)

बच्चादान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] गर्भाशय। कोख।

बच्ची–संज्ञा स्त्री० [हिं० बच्चा+ई (प्रत्य०)] (१) वह छोटी घोड़िया जो छत वा छाजन में बड़ी घोड़िया के नीचे लगाई जाती है। (२) वह बाल जो होंठ के नीचे बीच में जमता है। (३) दे० "बच्चा"।

बच्छ–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० वच्छ] (१) बच्चा। बेटा। उ०—बहुरि बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात। कबहिं बोलाइ लगाइ हिय हरषि निरखिहउँ गात।—तुलसी। (२) गाय का बच्चा। बछड़ा। उ०—(क) राम जननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छ जिमि धेनु लवाई।—तुलसी। (ख) बच्छ पुच्छ लै दियो हाथ पर मंगल गीत गवायो। जसुमति रानी कोख सिरानी मोहन गोद खेलायो।—सूर।

बच्छनाग–संज्ञा पुं० दे० "बछनाग"।

बच्छल*†–वि० [सं० वत्सल, प्रा० वच्छल] माता पिता के समान प्यार करनेवाला। वत्सल। उ०—सुनि प्रभुवचन हरखि हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना।—तुलसी।

बच्छस–*†संज्ञा पुं० [सं० वक्षस्] छाती। वक्षस्थल। उ०—जानत सुभाव ना प्रभाव भुजदंडन को, खंडन को छत्रिन के बच्छस कपाट को।—तुलसी।

बच्छा†–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० वच्छ] [स्त्री० बछिया] (१) गाय का बच्चा। बछड़ा। बछवा। (२) किसी जानवर का बच्चा। (क०)

बछ*†–संज्ञा पुं० [सं० वत्स प्रा० वच्छ] गाय का बच्चा। बछड़ा। उ०—हरि जू सों कहियो हो जैसे गोकुल आवैं।······ ················बाल बिलख मुख गौ न चरति तृण बछ पय पियन न धावैं। देखत अपनी अँखियन ऊधो हम कहि कहा जनावैं। सूर श्याम बिनु तपत रैनि दिन मिले भलेहि सचुपावैं।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "बच"।

बछड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बच्छ+ड़ा (प्रत्य०)] [स्त्री० बछड़ी, बछिया] गाय का बच्चा। उ०—(क) माँ! मैं बछड़े चराने जाऊँगा।—लल्लू। (ख) कब की हौं हेरति, न हेरे हरि पावत हूँ, बछवा हेरानो सो हेराय नैक दीजिये।—मतिराम। (ग) करि विचार छिन में हरि मारो सो बछरा बन आज। ता पाछे जो बकासुर आयो घात कियो ब्रजराज।—सूर।

बछनाग–संज्ञा पुं० [सं० वत्सनाभ] एक स्थावर विष। यह नेपाल के पहाड़ों में होनेवाले पौधे की जड़ है। इसे सींगिया, तेलिया और मीठा विष भी कहते हैं। यह देखने

में हिरन के सींग के आकार का होता है। इसका रंग कड़ुए तेल की तरह कालापन लिए पीला होता है और स्वाद मीठा होता है। इसकी जड़ के रेशों के बीच में गोंद की तरह गूदा होता है जो गीले रहने पर तो नरम रहता है पर सूखने पर बहुत कड़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार का और बछनाग होता है जो काला और इससे बड़ा होता है और जिसके ऊपर छोटे छोटे दाग़ होते हैं जो गाँठ की तरह मालूम पड़ते हैं। इसे काला बछनाग वा कालकूट कहते हैं। यह सिकम की पहाड़ियों में होता है। ये दोनों ही विष हैं और दोनों के खाने से प्राणियों की मृत्यु होती है। वैद्यक में बछनाग का स्वाद मीठा, प्रकृति गरम और गुण वात, कफनाशक और कंठ रोग और सन्निपात को दूर करनेवाला बतलाया गया है। इसका प्रयोग अनेक औषधों में होता है। निघंटु में वत्सनाभ, हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रक, शृंगक, कालकूट और ब्रह्मपुत्र, ये इसके नौ भेद बतलाए गए हैं।

पर्य्या०—काकोल। गरल। विष। दारद।

बछरा*–संज्ञा पुं० दे० "बछड़ा"।

बछरू†–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० वच्छ] बछड़ा। गाय का बच्चा। उ०—(क) कह्यो गोपाल चरत है गोसुत बैठि कलेऊ कीजै। शीतल छाँह वृक्ष की सुंदर निर्मल जमुना को जल पीजै। भोजन करत सखा इक बोल्यो बछरू कतहूँ दूरि गये। यदुपति कह्यो घेरि हौं आनौं तुम जेंवहु निश्चिंत भये।—सूर। (ख) हंसा संशय छूटी कहिया। गैया पियै बछरू को दुहिया।—कबीर। (ग) जियबो मरिबो उभौ यह नाहिँ आपने हाथ। जानत हैं वे नंदसुत बिहँसत बछरुन साथ।—गिरिधर।

बछल*†–वि० दे० "वत्सल"।

बछवा‡–संज्ञा पुं० [हिं० वच्छ] [स्त्री० बछिया] बछेड़ा। गाय का बच्चा। उ०—(क) बैल बियाय गाय भइ बाँझा। बछवै दुहिया तिन तिन साँझा।—कबीर। (ख) जब छोटे छोटे बछड़ों और बछियाओं की पूँछें पकड़कर उठें और गिर पड़ें।—लल्लू।

मुहा०—बछिया का बाबा या ताऊ=मूर्ख। अज्ञान। निर्बुद्धि। बेवकूफ़।

बछा†–संज्ञा पुं० दे० "बच्छा।

बछेड़ा–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० वच्छ, पु० हिं० बच्छ] घोड़े का बच्चा। उ०—सुरंग बछेरे नैन तुव जद्यपि हैं नाकंद। मन सौदागर ने कह्यो हैं बहुतहि परसंद।—रसनिधि।

बछेरू*–संज्ञा पुं० दे० "बछड़ा"

बछौंटा†–संज्ञा पुं० [हिं० बाछ+औंटा (प्रत्य०)] वह चंदा जो हिस्से के मुताबिक लगाया या लिया जाय।

बजंत्री–संज्ञा पुं० [हिं० बाजा] बाजा बजानेवाला। बजनियाँ। उ०—बजंत्री बजाने लगे।—लल्लू।

बजकंद–संज्ञा पुं० [सं० वज्रकंद] एक बड़ी लता जो भारत के जंगलों में पैदा होती है। इसकी जड़ विषैली और मादक होती है परंतु उबालने से खाने योग्य हो सकती है।

बजकना†–क्रि० अ० [अनु०] किसी तरल पदार्थ का सड़कर या बहुत गंदा होकर बुलबुले फेंकना। बजबजाना।

बजका†–संज्ञा पुं० [हिं० बजकना] चने की दाल या बेसन की बनी हुई बड़ी बड़ी पकौड़ियाँ जो पानी में भिगोकर दही में डाली जाती हैं।

बजट–संज्ञा स्त्री० [अं०] आगामी वर्ष या मास आदि के लिए भिन्न भिन्न विभागों में होनेवाले आय और व्यय का लेखा जो पहले से तैयार करके मंजूर कराया जाता है। भविष्य में होनेवाली आय और व्यय का अनुमित लेखा।

बजड़ना†–क्रि० स० [?] (१) टकराना। (२) पहुँचना।

बजड़ा–संज्ञा पुं० दे० "बजरा"।

बजनक–संज्ञा पुं० [पश्तो] पिस्ते का फूल जो रेशम रँगने के काम में आता है।

बजना–क्रि० अ० [हिं० बाजा] (१) किसी प्रकार के आघात या हवा के ज़ोर से बाजे आदि में से शब्द उत्पन्न होना। बोलना। जैसे, डंका बजना, बाँसुरी बजना। उ०—(क) एरी मेरी ब्रजरानी तेरी वर वानी किधौं बानी ही की बीणा सुख मुख में बजत है।—केशव। (ख) यों न मनोहर बैन बजै सुसजै तन सोहत पीत पटा है। यों दमकै चमकै झमकै दुति दामिनि की मनो स्याम छटा है।—रसखानि। (ग) मोहन तू या बात को अपने हिये बिचार। बजत तँबूरा कहुँ सुने गाँठ गँठीले तार।—रसनिधि। (२) किसी वस्तु का दूसरी वस्तु पर इस प्रकार पड़ना कि शब्द उत्पन्न हो। आघात पड़ना। प्रहार होना। जैसे, सिर पर डंडा या जूता बजाना। उ०—लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्राण बजै। तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।—तुलसी। (३) शस्त्रों का चलना। जैसे, लाठी बजना, तलवार बजना। (४) अड़ना। हठ करना। जिद करना। उ०—(क) प्रीति करी तुमसों बजिकै सुबिसारि करी तुम प्रीति घने की।—पद्माकर। (ख) घरी बजी घरियार सुनि बजि के कहत बजाइ। बहुरि न पैहै यह घरी हरि चरनन चित लाइ।—रसनिधि। (५) प्रख्याति पाना। प्रसिद्ध होना। कहलाना। उ०—गुन प्रभुता पदवी जहां तहाँ बनै सबकार। मिलै न कछु फल आक ते बजै नाम मंदार।—दीनदयाल गिरि।

‡ संज्ञा पुं० [सं० वादन वा बाजा] (१) वह जो बजता हो। बजनेवाला बाजा। (२) रुपया। (दलाल)।

† वि० [हिं० बजाना] बजनेवाला। जैसे, बजना बाजा।

बजनियाँ†–संज्ञा पुं० स्त्री० [हिं० बजना+इया (प्रत्य०)] बाजा बजानेवाला। उ०—सेवक सकल बजनियाँ नाना। पूरन किये दान सनमाना।—तुलसी।

बजनिहाँ†–संज्ञा पुं० दे० "बजनियाँ"।

बजनी, बजनू‡–वि० [हिं० बजना] बजनेवाला। जो बजता हो। उ०—घुघरू बजनी, रजनी उजियारी।

बजबजाना†–क्रि० अ० [अनु०] किसी तरल पदार्थ का सड़ने या गंदा होने के कारण बुलबुले छोड़ना।

बजमारा*†–वि० [हिं० बज्र+मारा] [स्त्री० बजमारी] वज्र से मारा हुआ। जिस पर वज्र पड़ा हो। उ०—(क) दान लेहु देहु जान काहे को कान्ह देत हौ गारी। जो कोऊ कह्यो करै री हठ याही मारग आवै बजमारी।—सूर। (ख) ये अलि इकंत पाइ पायन परैहैं आय हौं न तब हेरी या गुमान बजमारे सों।—पद्माकर। (ग) जा बजमारे अब मैं तोगों भूलि कछु नहिं कहिहौं।—अयोध्या०।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः स्त्रियाँ गाली या शाप के रूप में करती हैं।

बजरंग*–वि० [सं० वज्रांग] वज्र के समान दृढ़ शरीरवाला।

बजरंगबली–संज्ञा पुं० [सं० वज्रांग+बली] हनुमान। महावीर।

बजरंगी बैठक–संज्ञा स्त्री० [हिं० बजरंग+बैठक] एक प्रकार की बैठक। (कसरत)।

बजर*†–संज्ञा पुं० दे० "वज्र"।

बजरबट्टू–संज्ञा पुं० [हिं० बज्र+बट्टा] एक वृक्ष के फल का दाना वा बीज जो काले रंग का होता है और जिसकी माला लोग बच्चों को नजर से बचाने के लिए पहनाते हैं। इसका पेड़ ताड़ की जाति का है और मलाबार में समुद्र के किनारे और लंका में उत्पन्न होता है। बंगाल और बर्मा में भी इसे लोग बोते और लगाते हैं। इसकी पत्तियाँ बहुत बड़ी और तीन साढ़े तीन हाथ व्यास की होती हैं और पंखे, चटाई, छाते आदि बनाने के काम में आती हैं। यूरोप में इसकी नरम और कोमल पत्तियों से अनेक प्रकार के कटावदार फीते बनाये जाते हैं और इसके रेशे से बुरुश बनाये और जाल बुने जाते हैं। इसकी रस्सियाँ भी बटी जा सकती हैं। इसके फल बहुत कड़े होते हैं और यूरोप में उनसे बटन, माला के दाने और छोटे छोटे पात्र बनाए जाते हैं। मलाबार में इसके पेड़ों को लोग समुद्र के किनारे बागों में लगाते हैं। यह पेड़ चालीस बयालीस वर्ष तक रहता है और अंत में पुराना होकर गिर पड़ता है। इसे नजरबट्टू और नजरबंटा भी कहते हैं। उ०—माजूफल शंख रुद्र-अक्ष त्यों बजरबट्टू, तुलसी की गुलिका सुधारे छबि छाजे है।—रघुराज।

बजरबोंग†–संज्ञा पुं० [हिं० वज्र+बोंग (अनु०)] (१) एक प्रकार का धान जो अगहन महीने में पककर तैयार होता है। इसका चावल बहुत दिनों तक रह सकता है। (२) बाँस का मोटा और भारी डंडा।

बजर-हड्डी–संज्ञा स्त्री० [हिं० वज्र+हड्डी] घोड़े का एक रोग जो उसके पैरों की गाँठों में होता है। इसमें पहले एक फोड़ा होता है जो पककर फूट जाता है और तब वहाँ घाव हो जाता है जो बराबर बढ़ता जाता है और गाँठ की हड्डी फूल आती है। इससे घोड़ा बेकाम हो जाता है। यह रोग बड़ी कठिनाई से अच्छा होता है।

बजरा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार की बड़ी और पटी हुई नाव जिसमें नीचे की ओर एक छोटी कोठरी और एक बड़ा कमरा होता है और ऊपर खुली छत होती है। (२) दे० "बाजरा"।

बजरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० वज्र] (१) कंकड़ के छोटे छोटे टुकड़े जो गच के ऊपर पीटकर बैठाए जाते हैं और जिनपर सुरखी और चूना डालकर पलस्तर किया जाता है। कंकड़ी। (२) ओला। (३) छोटा नुमायशी कँगूरा जो किले आदि की दीवारों के ऊपरी भाग में बराबर थोड़े थोड़े अंतर पर बनाया जाता है और जिसकी बगल में गोलियाँ चलाने के लिए कुछ अवकाश रहता है। उ०—है जो मेघगढ़ लाग अकासा। बजरी कटी कोट चहुँ पासा।—जायसी। (४) दे० "बाजरा"।

बजवाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बजवाना+ई (प्रत्य०)] वह पुरस्कार जो बाजा आदि बजाने के बदले में दिया जाय। बजाने की मज़दूरी।

बजवाना–क्रि० स० [हिं० बजाना का प्रे०] बजाने के लिए किसी को प्रेरणा करना। किसी को बजाने में प्रवृत्त करना। उ०—जहँ भूप उतरत गतशंका। तहँ प्रथम बजवावत डंका।—गोपाल।

बजवैया†–वि० [हिं० बजाना+वैया (प्रत्य०)] बजानेवाला। जो बजाता हो। उ०—बंसी हूँ मैं आपही सप्त सुरन में आपु। बजवैया पुनि आपुही रिझवैया पुनि आपु।—रसनिधि।

बजा–वि० [फ़ा०] उचित। ठीक। वाजिब। जैसे, आपका फ़रमाना बिलकुल बजा है।

मुहा०—बजा लाना=(१) पूरा करना। पालन करना। जैसे, हुकुम बजा लाना। (२) करना। जैसे, आदाब बजा लाना।

बजागि*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बज्र+आगि] वज्र की आग। विद्युत्।

बिजली। उ०—आगि लगै तेरे काल के शीश परो हर जाय बजागि परौ जू। आजु मिलौ तो मिलौ ब्रजराजहि नाहिं तो नीके ह्वै राज करौ जू।—केशव।

बजाज-संज्ञा पुं० [अ० बज्जाज] [स्त्री० बजाजिन] कपड़े का व्यापारी। कपड़ा बेचनेवाला। उ०—(क) बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।—तुलसी। (ख) अपने गोपाल लाल के मैं बागे रचि लेउँ। बजाजिन ह्वै जाउँ निरखि नैनन सुख देउँ।—सूर।

बजाजा-संज्ञा पुं० [फा०] बजाजों का बाजार। वह स्थान जहाँ बजाजों की दूकानें हों। कपड़े बिकने का स्थान।

बजाजी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) कपड़ा बेचने का व्यापार। बजाज का काम। (२) बजाज की दूकान का सामान। बिक्री के लिए ख़रीदा हुआ कपड़ा। (क्व०)

बजाना-क्रि० स० [हिं० बाजा] (१) किसी बाजे आदि पर आघात पहुँचा कर अथवा हवा का ज़ोर पहुँचा कर उससे शब्द उत्पन्न करना। जैसे, तबला बजाना, बाँसुरी बजाना, सीटी बजाना, हारमोनियम बजाना आदि। उ०—(क) यंत्र बजावत हौं सुना टूटि गए सब तार। यंत्र बिचारा क्या करे गया बजावनहार।—कबीर। (ख) मुरली बजाई तान गाई मुसकाइ मंद, लटकि लटकि माई नृत्य में निरत है।—पद्माकर। (ग) ते हित गाय बजावत नाचत बर अनेक सिंगार बनायो।—केशव। (घ) कहु नाचत गावत कहूँ कहूँ बजावत बीन। सब में राजत आपु ही सब ही कला प्रबीन।—रसनिधि। (२) किसी प्रकार के आघात से शब्द उत्पन्न करना। चोट पहुँचाकर आवाज़ निकालना। जैसे, ताली बजाना।

मुहा०—(१) बजाकर=डंका पीटकर। खुल्लमखुल्ला। उ०—(क) सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई।—तुलसी। (ख) जब ते हरि अधिकार दियो। ....अब मानिहै दोष आपनो हम ही बेच्यो आइ। सूरदास प्रभु के अधिकारी एही भए बजाइ।—सूर। (२) ठोंकना बजाना=अच्छी प्रकार परीक्षा करना। देखभालकर भली भाँति जाँचना।

विशेष—यह मुहाविरा मिट्टी के बरतन के ठोंकने बजाने से लिया गया है। जब लोग मिट्टी के बरतन लेते हैं तब हाथ में लेकर ठोंककर और बजाकर उसके शब्द से फूटे टूटे या साबित होने का पता लगाते हैं।

(३) किसी चीज़ से मारना। आघात पहुँचाना। चलाना। जैसे, लाठी बजाना, तलवार बजाना, गोली बजाना। उ०—हरी भूमि गहि लेइ दुवन सिर खड्ग बजावै। पर उपकारज करै पुरुष में शोभा पावै।—गिरिधर।

क्रि० स० पूरा करना। जैसे, हुक्म बजाना।

बजाय-अव्य० [फा०] स्थान पर। जगह पर। बदले में। जैसे, अगर आपके बजाय मैं वहाँ पर होता तो कभी यह बात न होने पाती।

बजार*‡-संज्ञा पुं० [फा० बाजार] वह स्थान जहाँ बिक्री के लिए दूकानों में पदार्थ रखे हों। हाट। पैंठ। बाजार। उ०—(क) हीरा परा बजार में रहा छार लपटाय। बहुतक मूरख चलि गए पारखि लिया उठाय।—कबीर। (ख) चारु बजार बिचित्र अबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी।—तुलसी। (ग) छूटे दृग गज मीत के बिच यह प्रेम बजार। दीजै नैन दुकान के मुहकम पलक केवार।—रसनिधि।

बजारी-वि० [हिं० बाजार+ई (प्रत्य०)] (१) बाजार से संबंध रखनेवाला। बाजारू। (२) साधारण। सामान्य। उ०—कीर्ति बड़ी करतूति बड़ी जन बात बड़ी सो बड़ोई बजारी।—तुलसी। (३) दे० "बाजारी"।

बजारु‡-वि० दे० "बाजारू"।

बजुआ‡-संज्ञा पुं० दे० "बाजू"।

बजुल्ला‡-संज्ञा पुं० [फा० बाजू+उल्ला (प्रत्य०)] बाँह पर पहनने का बिजायठ नाम का आभूषण।

बजूखा-संज्ञा पुं० दे० "बिजूखा"।

बज्जना*‡-क्रि० अ० दे० "बजना"।

बज्जर*†-संज्ञा पुं० दे० "वज्र"।

बज्जात†-वि० [फा० बदज़ात] दुष्ट। बदमाश। पाजी।

बज्जाती-संज्ञा स्त्री० [फा० बदज़ाती] दुष्टता। बदमाशी। पाजीपन।

बज्र-संज्ञा पुं० दे० "वज्र"।

बज्री-संज्ञा पुं० [सं० वज्रिन्] इंद्र।

बझना*†-क्रि० अ० [सं० बद्ध, प्रा० बज्झ+ना (प्रत्य०)] (१) बंधन में पड़ना। बँधना। उ०—(क) चली प्रात ही गोपिका मटुकिन लै गोरस।.........जीव पर्यो या ख्याल में अरु गए दसादस। बझे जाय खगबृंद ज्यों प्रिय छबि लटकनि लस।—सूर। (ख) सुने नाना पुरान मिटत नहिं अज्ञान पढ़ै न समुझै जिमि खग कीर। बझत बिनहि पास सेमर सुमन आस करत चरत तेऊ फल बिनु हीर।—तुलसी। (२) अटकना। उलझना। फँसना। (३) हठ करना। टेक करना। उ०—उपरोहित निमिवंश को शतानंद मुनिराय। लियो नेग बझि राम सों, मम हिय बसो सदाय।—रघुराज।

बझवट†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँझ+वट (प्रत्य०))] (१) बाँझ स्त्री। (२) गाय, भैंस या कोई मादा पशु जो बाँझ हो। (३) अन्न के पौधों के डंठल जिनसे बालें तोड़ ली गई हों।

बझान–संज्ञा स्त्री० [हिं० बझना] बझने की क्रिया या भाव। बझाव।

बझाना※‡–क्रि० स० [हिं० बझना का सकर्मक रूप] बंधन में लाना। उलझाना। फँसाना। उ०—(क) नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावों। नाम लगि लाय लासा ललित वचन कहि ब्याध ज्यों विषय विहंगन बझावों।—तुलसी। (ख) जनु अति नील अलकिया बंसी लाय। मो मन बार बधुअवा, मीन बझाय।—रहीम। (ग) रूप-प्रवाह नदीतट खेलत मैन सिकारी बझावत मीन है?—प्रवीन।

बझाव–संज्ञा पुं० [हिं० बझना] (१) बझने का भाव। फँसने की क्रिया या भाव। (२) उलझाव। अटकाव। उ०—काँट कुरोप लपेटनि लोटनि ठाँवहिं ठाँव बझाव रे। जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेट लगाव रे।—तुलसी।

बझावट–संज्ञा स्त्री० [हिं० बझना+आवट (प्रत्य०)] (१) बझने की क्रिया या भाव। (२) उलझाव। अटकाव।

बझावना※†–क्रि० स० दे० "बझाना"।

बट–संज्ञा पुं० [सं० वट] (१) दे० "वट"। (२) बड़ा नाम का पकवान। बरा। उ०—(क) तिमि बतासफेनी बासौंधी। विविध बटी बट माँड़ौ औंधी।—रघुराज। (ख) पायस चंद्रकिरन सम सोहैं। चंद्राकार विविध बट जोहैं।—रघुराज। (ग) ओदन दुदल बटी बट ब्यंजन पय पकवान अपारा।—रघुराज। (३) गोला। गोल वस्तु। उ०—नट बट तेरे दगन को कौन सकत है पाय।—रसनिधि। (४) बट्टा। लोढ़िया। (५) बाट। बटखरा। (६) रस्सी की ऐंठन। बटाई। बल।

संज्ञा पुं० [हिं० बाट] मार्ग। रास्ता। उ०—छूटी घुँघरारी लट, लूटी हैं बधूटी बट टूटी घट लाज तें न जूटी परी कहरैं।—दीनदयालगिरि।

बटई–संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त्तक] बटेर नाम की चिड़िया। उ०—तीतर बटई लवा न बाँचो। सारस गूँज पुछार जो नाची।—जायसी।

बटखर–संज्ञा पुं० दे० "बटखरा"।

बटखरा–संज्ञा पुं० [सं० वटक] नियत गुरुत्व का पत्थर, लोहे आदि का टुकड़ा जो वस्तुओं की तौल निश्चित करने के काम में आता है। तौलने का मान। बाट। जैसे, सेर भर का बटखरा।

बटन–संज्ञा स्त्री० [हिं० बटना] रस्सी आदि बटने या ऐंठने की क्रिया या भाव। ऐंठन। बल।

संज्ञा पुं० [अं०] (१) चिपटे आकार की कड़ी गोल घुंडी जो कोट, कुरते, अंगे आदि में टँकी रहती है और जिसे छेद में डाल देने से खुली जगह बंद हो जाती है और कपड़ा बदन को पूरी तरह से ढक लेता है। बुताम। (२) एक प्रकार का बादले का तार।

बटना–क्रि० स० [सं० वट=बटना] कई तंतुओं तागों या तारों को एक साथ मिलाकर इस प्रकार ऐंठना या घुमाना कि वे सब मिलकर एक हो जायँ। ऐंठन देकर मिलाना। जैसे, तागा बटना, रस्सी बटना।

संयो० क्रि०—देना।—डालना।—लेना।

संज्ञा पुं० रस्सी बटने का औज़ार।

क्रि० अ० [हिं० बट्टा=पीसने का पत्थर] सिल पर रखकर पीसा जाना। पिसना। उ०—हितमत जो जानो चहौ सीखौ याके पास। बटै कुटै न तजै तऊ केसर रंग सुबास।—रसनिधि।

संयो० क्रि०—जाना।

संज्ञा पुं० [सं० उद्वर्त्तन, प्रा० उब्बट्टन] उबटन। सरसों, चिरौंजी आदि का लेप जो शरीर की मैल छुड़ाने के लिए मला जाता है।

बटपरा†※–संज्ञा पुं० दे० "बटपार"। उ०—(क) चित वित बचन न हरत हठि लालन दग बरजोर। सावधान के बटपरा वे जागत के चोर।—बिहारी। (ख) बन बाटन पिक बट-परा तकि बिरहिन मत मैन। कुहू कुहू कहि कहि उठे करि करि राते नैन।—बिहारी। (ग) नेह नगर में कहु तुहीं कौन बसै सुख चैन। मनधन लूटत सहज में लाल बटपरा नैन।—रसनिधि।

बटपार–संज्ञा पुं० [हिं० बाट+पड़ना] [स्त्री० बटपारिन] राह बाट में डाका डालनेवाला। डाकू। लुटेरा। उ०—(क) छबि-मुकता लूटन लगे आय जरा बटपार। बैठि बिसूरैं सहर के बासी कर कटतार।—रसनिधि। (ख) बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठाँवहि ठाँव बैठ बटपारा।—जायसी। (ग) मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा।—तुलसी।

बटपारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० पटपार] बटपार का काम। डकैती। ठगी। लूट।

‡ संज्ञा पुं० दे० "बटपार"।

बटम–संज्ञा पुं० [?] पत्थर गढ़नेवालों का एक औज़ार जिससे कोना साधते हैं। कोनिया।

बटमार–संज्ञा पुं० [हिं० बाट+मारना] मार्ग में मारकर छीन लेनेवाला। ठग। डाकू। लुटेरा।

बटला–संज्ञा पुं० [सं० वर्तुल, प्रा० बट्टुल] चावल, दाल आदि पकाने का चौड़े मुँह का गोल बरतन। बड़ी बटलोई। देग। देगचा। उ०—तँबिया कलसा कूँडि ततहरा बटली बटला। दुकरा और परात डिबा पीतर के चकला।—सूदन।

बटली–संज्ञा स्त्री० [हिं० बटला] बटलोई।

बटलोई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बटला] दाल, चावल आदि पकाने का चौड़े मुँह का गोल बरतन। देग। देगची। पतीली।

बटवाना–क्रि० स० दे० "बँटवाना"।

बटवायक–संज्ञा पुं० [हिं० बाट+पायक] रास्ते में पहरा देने वाला। चौकीदार। (पुराना)।

बटवार–संज्ञा पुं० [हिं० बाट+सं० पाल, या हिं० बार, वाला] (१) राह बाट की चौकसी रखनेवाला कर्मचारी। पहरेदार। (२) रास्ते का कर उगाहनेवाला।

बटा*–संज्ञा पुं० [सं० वटक] [स्त्री० अल्प० बटिया] (१) गोला। वर्त्तुलाकार वस्तु। (२) गेंद। उ०—(क) झटकि चढ़ति उतरति अटा नेकु न थाकति देह। भई रहति नट को बटा अटकी नागरि नेह।—बिहारी (ख) लै चौगान बटा कर आगे प्रभु आए जब बाहर।—सूर। (ग) अध ऊरध आवत जात भयो चित नागरि को नट कैसो बटा। (३) ढोंका। रोड़ा। ढेला। उ०—तैं बटपार बटा कर्‍यो बाट को बाट में प्यारे की बाट बिलोको।—देव। (४) बटाऊ। बटोही। पथिक। राही। उ०—लै नग मोर समुद भा बटा। गाढ़ परैं तौ लै परगटा।—जायसी।

बटाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बटना] (१) बटने या ऐंठन डालने का काम। (२) बटने की मजदूरी।

संज्ञा स्त्री० दे० "बँटाई"।

बटाऊ–संज्ञा पुं० [हिं० बाट=रास्ता+आऊ (प्रत्य०)] बाट चलनेवाला। बटोही। पथिक। मुसाफिर। राही। उ०—(क) राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।—तुलसी। (ख) ऐसे भए रहत ये मो पै जैसे कोउ बटाऊ। सोऊ तौ बूझे ते बोलत इनमें यहौ न भाऊ।—सूर। (ग) बीर बटाऊ पंथी हो तुम कौन देस तें आए। यह पाती हमरी लै दीजै जहाँ साँवरे छाए।—सूर।

मुहा०—**बटाऊ होना**=राही होना। चलता होना। चल देना। उ०—(क) चेटक लाय हरहिं मन जौं लहि गथ है फेंट। साँट नाठ उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट।—जायसी। (ख) भए बटाऊ नेह तजि बाद बकति बेकाज। अब अलि देत उराहनो उर उपजति अति लाज।—बिहारी।

बटाक‡*–वि० [हिं० बड़ाक ?] बड़ा। ऊँचा। उ०—कौन बड़ी बात त्रयी ताप के हरनहार राम के कटाक्ष ते बटाक पद पायो है।—हनुमान।

बटाना†–क्रि० अ० [पू० हिं० पटाना=बंद होना] बंद हो जाना। जारी न रहना। उ०—सात दिवस जल बरषि बटान्यो आवत चल्यो ब्रजहि अन्नावत।—सूर।

बटाली–संज्ञा स्त्री० [लश०] बढ़इयों का एक औज़ार। रुखानी। (लश०)

बटिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० बटा=गोला] (१) छोटा गोला। गोल मटोल टुकड़ा। जैसे,—शालग्राम की बटिया। (२) कोई वस्तु सिल पर रखकर रगड़ने या पीसने के लिए पत्थर का लंबोतरा गोल टुकड़ा। छोटा बट्टा। लोढ़िया।

बटी–संज्ञा स्त्री० [सं० वटी] (१) गोली। (२) बड़ी नाम का पकवान। उ०—ओदन दुदल बटी बट व्यंजन पय पकवान अपारा।—रघुराज।

*संज्ञा स्त्री० [सं० वाटी] वाटिका। उपवन। बगीचा। उ०—सूर्पनखा नाक कटी रामपद चिह्न पटी सोहै बैकुंठ की बटी सी पंचवटी है।—रघुराज।

बटु–संज्ञा पुं० दे० "वटु"।

बटुआ–संज्ञा पुं० दे० "बटुवा"।

बटुक–संज्ञा पुं० दे० "वटुक"।

बटुरना†–क्रि० अ० [सं० वर्तुल, प्रा० बट्टुल, बट्टुड़+ना (प्रत्य०)] (१) सिमटना। फैला हुआ न रहना। सरक कर थोड़े स्थान में होना। (२) इकट्ठा होना। एकत्र होना।

संयो० क्रि०—जाना।

बटुरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक कदन्न। खेसारी। मोट।

बटुला†–संज्ञा पुं० [सं० वर्तुल, प्रा० बट्टुल] चावल दाल पकाने का चौड़े मुँह का बरतन। बड़ी बटलोई।

बटुवा–संज्ञा पुं० [सं० वर्तुल] (१) एक प्रकार की गोल थैली जिसके भीतर कई खाने होते हैं। यह कपड़े या चमड़े की होती है और इसके मुँह पर डोरे पिरोए रहते हैं जिन्हें खींचने से मुँह खुलता और बंद होता है। इसे यात्रा में लोग प्रायः साथ रखते हैं क्योंकि इसके भीतर बहुत सी फुटकर चीज़ें (पान का सामान, मसाला इत्यादि) आ जाती हैं। †(२) बड़ी बटलोई या देग़।

बटेर–संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त्तक, प्रा० बट्टा] तीतर या लवा की तरह की एक छोटी चिड़िया। इसका रंग तीतर का सा होता है पर यह उससे छोटी होती है। इसका मांस बहुत पुष्ट समझा जाता है इससे लोग इसका शिकार करते हैं। लड़ाने के लिए शौक़ीन लोग इसे पालते भी हैं। यह चिड़िया हिंदुस्तान से लेकर अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस और अरब तक पाई जाती है। ऋतु के अनुसार यह स्थान भी बदलती है और प्रायः झुंड में पाई जाती है। यह धूप में रहना पसंद नहीं करती, छाया ढूँढ़ती है।

मुहा०—**बटेर का जगाना**=रात को बटेर के कान में आवाज़ देना। (**बटेरबाज़**)। **बटेर का बह जाना**=दाना न मिलने के कारण बटेर का दुबला हो जाना।

बटेरबाज–संज्ञा पुं० [हिं० बटेर+फ़ा० बाज़] बटेर पालने या लड़ानेवाला।

बटेरबाज़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बटेर+फ़ा० बाजी] बटेर पालने या लड़ाने का काम।

बटेरा‡—संज्ञा पुं० [हिं० बटा] कटोरा।

बटोई‡—संज्ञा पुं० दे० "बटोही"।

बटोर—संज्ञा पुं० [हिं० बटोरना] (१) बहुत से आदमियों का इकट्ठा होना। जमावड़ा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) वस्तुओं का ढेर जो इधर उधर से बटोर कर या इकट्ठा करके लगाया गया हो। (३) कूड़े करकट का ढेर। (पालकी के कहार)।

बटोरन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बटोरना] (१) वस्तुओं का ढेर जो इधर उधर से झाड़ बटोर कर लगाया गया हो। (२) कूड़े करकट का ढेर। (३) खेत में पड़ा हुआ अन्न का दाना जो बटोर कर इकट्ठा किया जाय।

बटोरना—क्रि० स० [हिं० बटुरना] (१) फैली या बिखरी हुई वस्तुओं को समेटकर एक स्थान पर करना। जैसे, गिरे हुए दाने बटोरना, कूड़ा बटोरना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) दूर तक गई हुई वस्तु को समेटकर थोड़े स्थान में करना। समेटना। फैला न रहने देना। जैसे, अपनी चद्दर बटोर लो। (३) इधर उधर पड़ी चीज़ों को बिन बिनकर इकट्ठा करना। चुनकर एकत्र करना। जैसे, सड़क पर दाने बटोरना। (४) इकट्ठा करना। एकत्र करना। जुटाना। जैसे, रुपया बटोरना, पंचायत के लिए आदमी बटोरना।

बटोहिया‡—संज्ञा पुं० दे० "बटोही"।

बटोही—संज्ञा पुं० [हिं० बाट+वाह (प्रत्य०)] रास्ता चलनेवाला। पथिक। राही। मुसाफ़िर।

बट्ट‡—संज्ञा पुं० [हिं० बटा] (१) बटा। गोला। (२) गेंद। उ०—प्रेम रंग लट्टपट्ट आवैं जायँ झट्टपट्ट देववृंद देखे परै मानो नट्ट बट्ट हैं।—रघुराज। (३) ऐंठन। मरोड़। बटाई। (४) बल। शिकन। (५) बाट। बटखरा।

बट्टन—संज्ञा पुं० [हिं० बटना] बादले से भी पतला तार जो एक तोले में ८०० वा ९०० गज़ होता है।

बट्टा—संज्ञा पुं० [सं० वार्त्त, प्रा० वाट्ट=बनियाई] (१) कमी जो व्यवहार या लेन देन में किसी वस्तु के मूल्य में हो जाती है। दलाली। दस्तूरी। डिसकाउंट। जैसे,—माल बिक जाने पर बट्टा काटकर आपको दाम दे दिया जायगा। उ०—बट्टा काटि कसूर भरम को फेरन लै लै डारै।—सूर।

यौ०—ब्याज बट्टा।

मुहा०—बट्टा काटना=दस्तूरी आदि निकाल लेना।

(२) पूरे मूल्य में वह कमी जो किसी सिक्के आदि को बदलने या तुड़ाने में हो। वह घाटा जो सिक्के के बदले में उसी सिक्के की धातु अथवा छोटा या बड़ा सिक्का लेने में सहना पड़े। वह अधिक द्रव्य जो सिक्का भुनाने या उसी सिक्के की धातु लेने में देना पड़े। भाँज। जैसे, (क) रुपया तुड़ाने में यहाँ एक पैसा बट्टा लगेगा। (ख) आज कल चाँदी लेने में दो आना बट्टा लगेगा।

क्रि० प्र०—देना।—लगना।—लेना।

(३) खोटे सिक्के धातु आदि के बदलने या बेचने में वह कमी जो उसके पूरे मूल्य में हो जाती है। जैसे—रुपया खोटा है इसमें दो आना बट्टा लगेगा।

मुहा०—बट्टा लगना=दाग लगना। कलंक लगना। ऐब हो जाना। त्रुटि या कसर हो जाना। जैसे, इज़्ज़त या नाम में बट्टा लगना, साख में बट्टा लगना। बट्टा लगाना—कलंक लगाना। ऐब लगाना। दूषित करना। बदनाम करना। जैसे, बड़ों के नाम पर बट्टा लगाना।

(४) टोटा। घाटा। नुक़सान। हानि।

क्रि० प्र०—सहना।

यौ०—बट्टाखाता।

संज्ञा पुं० [सं० बटक, हिं० बटा=गोला] [स्त्री० अल्प० बट्टी, बटिया] (१) पत्थर का गोल टुकड़ा जो किसी वस्तु को कूटने या पीसने के काम में आवे। कूटने या पीसने का पत्थर। लोढ़ा।

यौ०—सिलबट्टा।

(२) पत्थर आदि का गोल टुकड़ा। (३) गोल डिब्बा जिसमें पान या जवाहिरात रखते हैं। (४) कटोरा या प्याला जिसे औंधा रखकर बाजीगर यह दिखाते हैं कि उसमें कोई वस्तु आ गई, या उसमें से कोई वस्तु निकल गई।

यौ०—बट्टेबाज़।

(५) एक प्रकार की उबाली हुई सुपारी।

बट्टाखाता—संज्ञा पुं० [हिं० बट्टा+खाता] वह बही या लेखा जिसमें नुक़सान लिखा जाय। डूबी हुई रक़म का लेखा या बही।

मुहा०—बट्टेखाते लिखना=नुक़सान के लेखे में डालना। घाटा या नुक़सान मान लेना। गया हुआ समझना। जैसे, अब यह २) बट्टेखाते लिखिए।

बट्टाढाल—वि० [हिं० बट्टा+ढालना] इतना चौरस और चिकना कि उस पर कोई गोला लुढ़काया जाय तो लुढ़कता जाय। खूब समतल और चिकना। उ०—यह भी जानना आवश्यक है कि ज़मीन अर्थात् थल सभी जगह बराबर एक सी बट्टाढाल मैदान नहीं है, किसी जगह बहुत ऊँची हो गई है।—शिवप्रसाद।

बट्टी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बट्टा] (१) छोटा बट्टा। पत्थर आदि का

गोल छोटा टुकड़ा। (२) कूटने पीसने का पत्थर। लोढ़िया। (३) समडौल कटा हुआ टुकड़ा। बड़ी टिकिया। जैसे, साबुन की बट्टी, नील की बट्टी।

बट्टू—संज्ञा पुं० [देश०] (१) धारीदार चारखाना। (२) ताली। बजरबट्टू। एक प्रकार का ताड़ जो सिंहल में और मलाबार के तट पर होता है।

संज्ञा पुं० [सं० बर्वट] बजरबट्टू। बोड़ा। लोबिया।

बट्टेबाज़—वि० [हिं० बट्टा+फा० बाज़] (१) नज़रबंद का खेल करनेवाला। जादूगर। (२) धूर्त्त। चालाक।

बठिया†—संज्ञा स्त्री० [देश०] पाथे हुए सूखे कंडों का ढेर। उपलों का ढेर।

बठूचना—क्रि० अ० [हिं० बैठना] बैठना। (दलाल)

बठूसना—क्रि० अ० [हिं० बैठना] बैठना। (दलाल)

बड़ंगा—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+अंग] लंबा बल्ला जो छाजन के बीचोबीच लंबाई के बल आधार रूप में रहता है। बँडेरी।

बड़ंगी—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+अंग ?] घोड़ा। (डिं०)

बड़ंगू—संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण का एक जंगली पेड़ जो कोकन, मलाबार, त्रावंकोर आदि की ओर बहुत होता है। इसमें से एक प्रकार का तेल निकलता है।

बड़—संज्ञा स्त्री० [अनु० बड़बड़] बकवाद। प्रलाप। जैसे, पागलों की बड़।

संज्ञा पुं० [सं० बट] बरगद का पेड़।

यौ०—बड़कौला। बड़बट्टा।

†वि० दे० "बड़ा"।

बड़का†—वि० दे० "बड़ा"।

बड़कुइयाँ—संज्ञा पुं० [देश०] कच्चा कुआँ।

बड़कौला—संज्ञा पुं० [हिं० बड़+कोंपल] बरगद का फल।

बड़गुल्ला—संज्ञा पुं० [हिं० बड़+बगुला] एक प्रकार का बगला।

बड़दुमा—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+फा० दुम] वह हाथी जिसकी पूँछ की कँगनी पाँव तक हो। लंबी दुम का हाथी।

बड़प्पन—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+पन] बड़ाई। श्रेष्ठ या बड़ा होने का भाव। महत्व। गौरव। जैसे,—तुम्हारा बड़प्पन इसी में है कि तुम कुछ मत बोलो।

विशेष—वस्तुओं के विस्तार के संबंध में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता। इससे केवल पद, मर्य्यादा, अवस्था आदि की श्रेष्ठता समझी जाती है।

बड़फन्नी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ा+फन्नी] बहुत चौड़ी मठिया।

बड़बट्टा—संज्ञा पुं० [हिं० बड+बट्टा] बरगद का फल।

बड़बड़—संज्ञा स्त्री० [अनु०] बकवाद। व्यर्थ का बोलना। फिज़ूल की बातचीत। प्रलाप।

क्रि० प्र०—करना।—मचाना।—लगाना।

बड़बड़ाना—क्रि० अ० [अनु० बड़बड़] (१) बक बक करना। बकवाद करना। व्यर्थ बोलना। प्रलाप करना। (२) कोई बात बुरी लगने पर मुँह में ही कुछ बोलना। खुलकर अपनी अरुचि या क्रोध न प्रकट करके कुछ अस्फुट शब्द मुँह से निकालना। बुड़बुड़ाना। जैसे,—मेरे कहने पर गया तो, पर कुछ बड़बड़ाता हुआ।

बड़बड़िया—वि० [अनु० बड़बड़] बड़बड़ानेवाला। बकवादी।

बड़बोल—वि० [हिं० बड़ा+बोल] (१) बहुत बोलनेवाला। अनर्गल प्रलाप करनेवाला। बोलने में उचित अनुचित आदि का ध्यान न रखनेवाला। उ०—का वह पंखि कूट मुँह फोटे। अस बड़बोल जीभ मुख छोटे।—जायसी। (२) बढ़ बढ़ कर बोलनेवाला। शेखी हाँकनेवाला।

बड़बोला—वि० [हिं० बड़ा+बोल] बड़ी बड़ी बातें करनेवाला। बढ़ बढ़ कर बतें करनेवाला। लंबी चौड़ी हाँकनेवाला। सीटनेवाला।

बड़भाग—वि० दे० "बड़भागी"।

बड़भागी—वि० [हिं० बड़ा+भागी, सं० भागिन्] बड़े भाग्यवाला। भाग्यवान्। उ०—अहह तात लछिमन बड़भागी। राम पदारविंद अनुरागी।—तुलसी।

बड़रा—वि० [हिं० बड़ा+रा (प्रत्य०)] [स्त्री० बड़री] बड़ा। उ०—फेरि चलीं बड़री अँखियान ते छूटि बड़ी बड़ी आँसू की बूँदें। रघुनाथ।

बड़राना—क्रि० अ० दे० "बर्राना"।

बड़वा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़ी। (२) अश्विनी रूपधारिणी सूर्य्यपत्नी संज्ञा। (३) अश्विनी नक्षत्र। (४) दासी। (५) नारी विशेष। (६) वासुदेव की एक परिचारिका। (७) एक नदी। (८) बड़वाग्नि।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो भादों के अंत और कुआर के आरंभ में हो जाता है।

बड़वाग्नि—संज्ञा पु० [सं०] समुद्राग्नि। समुद्र के भीतर की आग या ताप।

विशेष—भूगर्भ के भीतर जो अग्नि है उसीका ताप कहीं कहीं समुद्र के जल को भी खौलाता है। कालिकापुराण में लिखा है कि काम को भस्म करने के लिए शिव ने जो क्रोधानल उत्पन्न किया था उसे ब्रह्मा ने बड़वा या घोड़ी के रूप में करके समुद्र के हवाले कर दिया जिसमें लोक की रक्षा रहे। पर वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि बड़वाग्नि और्व ऋषि का क्रोध रूपी तेज है जो कल्पांत में फैलकर संसार को भस्म करेगा।

बड़वानल—संज्ञा पुं० दे० "बड़वाग्नि"।

बड़वानलचूर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] एक चूर्ण जिसके सेवन से अजीर्ण का नाश और क्षुधा की वृद्धि होती है। (वैद्यक)

बड़वानलरस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़वाग्नि। (२) एक

रसौषध जो कई धातुओं के भस्म के योग से बनती है। इसका मधु के साथ सेवन करने से मेद रोग जाता रहता है।

बड़वामुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़वाग्नि। (२) शिव का मुख। (३) कूर्म के दक्षिण कुक्षि में स्थित एक जनपद। (४) एक रसौषध। पारा, गंधक, ताँबा, अभ्रक, सोहागा, कर्कचलवण, जवाखार, सज्जीखार, सेंधा नमक, सोंठ, अपामार्ग, पलाश और वरुणक्षार सम भाग लेकर और अम्लवर्ग के रस में भावना दे और फिर चीते के रस में बार बार सौंदकर लघुपुट पाक द्वारा तैयार करे। इसके सेवन से ज्वर और संग्रहणी रोग दूर होते हैं।

बड़वार†–वि० दे० "बड़ा"। उ०—सकल बरातिन वसन अपारा। रह्यो जौन जस लघु बड़वारा —रघुराज।

बड़वारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़वार] (१) बड़प्पन। महत्व। (२) बड़ाई। प्रशंसा।

बड़वाल–संज्ञा स्त्री० [देश०] हिमालय के उस पार की तराई की भेड़ों की एक जाति।

बड़वासुत–संज्ञा पुं० [सं०] अश्विनी कुमार।

बड़वाहृत–संज्ञा पुं० [सं०] पंद्रह प्रकार के दासों में से एक। वह जो किसी दासी के साथ विवाह करके दास हुआ हो। (स्मृति)।

बड़हंस–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+हंस] एक राग जो मेघराग का पुत्र माना जाता है। कुछ लोग इसे संकर राग मानते हैं जो रुद्राणी, जयंती, मारू, दुर्गा और धनाश्री के मेल से बनता है। कहीं कहीं यह मधुमाधव, शुद्ध हम्मीर और नरनारायण के मेल से बना कहा गया है।

बड़हंससारंग–संज्ञा पुं० [हिं० बड़हंस+सारंग] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

बड़हंसिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो हनुमत् के मत से मेघराग की स्त्री कही गई है।

बड़हर–संज्ञा पुं० दे० "बड़हल"।

बड़हल–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+फल] एक बड़ा पेड़ जो संयुक्त प्रदेश, पश्चिमी घाट, पूर्व बंगाल और कमाऊँ की तराई में बहुत होता है। इसके पत्ते छः सात अंगुल लंबे और पाँच छः अंगुल चौड़े और कर्कश होते हैं। फूल बेसन की पकौड़ी के समान पीले पीले गोल गोल होते हैं। उनमें पंखड़ियाँ नहीं होतीं। फल पकने पर पीले और छोटे शरीफ़े के बराबर पर बड़े बेडौल होते हैं। वे गोल गोल उभार के कारण बट्टों से मिलकर बने मालूम होते हैं। खाने में खटमीठे लगते हैं, पके गूदे का रंग पीलापन लिए लाल होता है। इसके फूल और कच्चे फल अचार और तरकारी के काम में आते हैं। बड़हल के हीर की लकड़ी कड़ी और पीली होती है और नाव तथा सजावट के सामान बनाने के काम की होती है। आसाम में इसकी छाल से दाँत साफ़ करते हैं। वैद्य लोग इसके फल को बहुत बादी मानते हैं।

बड़हार–संज्ञा पुं० [हिं० वर+आहार] विवाह हो जाने के पीछे वर और बरातियों की ज्योनार।

बड़ा–वि० [सं० वर्द्धन, प्रा० बड्ढन, हिं० बढ़ना या सं० वड्] (१) खूब लंबा चौड़ा। अधिक विस्तार का। जिसका परिमाण अधिक हो। दीर्घ। विशाल। बृहत्। महान्। जैसे, बड़ा मकान, बड़ा खेत, बड़ा पहाड़, बड़ी नदी, बड़ा घोड़ा, बड़ा डील, बड़ा गोला।

मुहा०—दीया बड़ा करना=दीया बुझाना। (बुझना शब्द अमंगलसूचक है इससे उसके स्थान पर बड़ा करना या बढ़ाना बोलते हैं)। बड़ा घर=कैदखाना। कारागार। (व्यंग्य)।

(२) अवस्था में अधिक। जिसकी उम्र ज़्यादा हो। अधिक वयस् का। जैसे, दोनों भाइयों में कौन बड़ा है, बड़ा बेटा। (३) परिमाण, विस्तार या अवस्था का। मान, माप या वयस् का। जैसे (क) वह घर कितना बड़ा है? (ख) वह लड़का कितना बड़ा होगा? (४) पद, शक्ति, अधिकार, मान मर्यादा, विद्या, बुद्धि आदि में अधिक। गुरु। श्रेष्ठ। बुज़ुर्ग। जैसे, (क) बड़े लोगों के सामने नम्र रहना चाहिए। (ख) बड़े अफ़सरों के सामने वह कुछ नहीं बोल सकता। (ग) बड़ी अदालत।

मुहा०—बड़ा घर=प्रतिष्ठित और धनी घराना।

(५) गुण, प्रभाव आदि में अधिक या उत्तम। जिसका अधिक या बहुत अच्छा फल या परिणाम हो। जिसका असर या नतीजा ज़्यादा हो। महत्व का। भारी। जैसे,—(क) अपनी ज़िंदगी में उन्होंने बड़े बड़े काम किये हैं। (ख) यह बड़ी भारी बात हुई। (ग) साहित्य में उनका बड़ा नाम है। (घ) यह तुमने बड़ा अपराध किया।

मुहा०—बड़ा आदमी=(१) धनी मनुष्य। (२) ऊँचे पद या अधिकार का आदमी। प्रसिद्ध मनुष्य।

(६) किसी बात में अधिक। बढ़कर। ज़्यादा। जैसे, बड़ा कारख़ाना, बड़ा बेवक़ूफ़।

मुहा०—बड़ी बड़ी बातें करना=डींग हाँकना। शेखी बघारना।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग विवाद या झगड़े में लोग व्यंग से भी बहुत करते हैं। जैसे, (क) बड़े बोलनेवाले बने हो। (ख) बड़े धन्नासेठ आए हैं। मात्रा या संख्या में अधिक के लिए भी लोग इस शब्द का प्रयोग 'बहुत' के स्थान पर कर देते हैं। जैसे, वहाँ बड़ी भेड़ें इकट्ठी हैं, उसके पास बड़ा रुपया है।

संज्ञा पुं० [सं० वटक, हिं० वटा] [स्त्री० अल्प० बड़ी] (१) एक पकवान जो मसाला मिली हुई उर्द की पीठी की गोल

चक्राकार टिकियों को घी या तेल में तल कर बनता है। (२) एक बरसाती घास जो उत्तरीय भारत के पटपरों में सर्वत्र होती है। इसे सुखाकर घोड़ों और चौपायों को खिलाते हैं।

बड़ाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ा+ई (प्रत्य०)] (१) बड़े होने का भाव। परिमाण या विस्तार का आधिक्य। घेरे, डील डौल, फैलाव वग़ैरह की ज़्यादती। (२) पद, मान, मर्यादा, वयस्, विद्या, बुद्धि आदि का आधिक्य। इज़्ज़त, दरजे, उम्र वग़ैरह की ज़्यादती। बड़प्पन। श्रेष्ठता। बुज़ुर्गी। जैसे, (क) छोटाई बड़ाई का ध्यान रखकर बातचीत करना चाहिए। (ख) अपनी बड़ाई अपने हाथ है। (३) परिमाण या विस्तार। घेरा, फैलाव, डील डौल आदि। जैसे, जितना बड़ा कमरा हो उतनी बड़ी चटाई बनवाओ। (४) महिमा। प्रशंसा। तारीफ़।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—बड़ाई देना=आदर करना। सम्मान करना। प्रतिष्ठा प्रदान करना। इज़्ज़त बख़्शना। उ०—यहि विधि प्रभु मोहिँ दीन बड़ाई। बड़ाई मारना=शेख़ी हाँकना। झूठी तारीफ़ करना।

बड़ाकुँवार–संज्ञा पुं० [हिं० बाँस+कुवार] केवड़े के आकार का एक पेड़ जिसके पत्ते किरिच की तरह बहुत लंबे लंबे निकले होते हैं।

बड़ाकुलंजन–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+कुलंजन] मोथा कुलंजन। बृहत्कुलंज।

बड़ादिन–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+दिन] (१) वह दिन जिसका मान बड़ा हो। (२) २५ दिसंबर का दिन जो ईसाइयों के त्योहार का दिन है। इस दिन ईसा के जन्म का उत्सव मनाया जाता है।

बड़ापीलू–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+पीलू] एक प्रकार के रेशम का कीड़ा।

बड़ाबोल–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+बोल] अहंकार का शब्द। घमंड की बात।

बड़ासबरा–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+सबरी] वह औज़ार जिससे कसेरे टाँका लगाते हैं। बरतन में जोड़ लगाने का औज़ार।

बड़ी–वि० स्त्री० दे० "बड़ा"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ा] (१) आलू, पेठा आदि मिली हुई पीठी की छोटी छोटी सुखाई हुई टिकिया जिसे तलकर खाते हैं। बरी। कुम्हड़ौरी। (२) माँस की बोटी। (डिं०)

बड़ी इलायची–संज्ञा स्त्री० दे० "इलायची"।

बड़ी कटाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी+कटाई] बड़ी जाति की भटकटैया। बनभंटा। बड़ी कंटकारी।

बड़ी गोटी–संज्ञा स्त्री० [?] चौपायों की एक बीमारी।

बड़ी दाख–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी+दाख] बड़ी जाति का अंगूर जिसमें बीज होते हैं और जिसे सुखाकर मुनक्का बनाते हैं। दे० "अंगूर"।

बड़ी माता–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी+माता] शीतला। चेचक।

बड़ी मैल–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक चिड़िया जो बिल्कुल ख़ाकी रंग की होती है।

बड़ी मौसली–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी+मौसली] थाली में नक़्क़ाशी बनाने के लिए लोहे का एक ठप्पा जिससे तीली के आगे नक़्क़ाशी बनाते हैं।

बड़ी राई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी+राई] एक प्रकार की सरसों जो लाल रंग की होती है। लाही।

बड़ूजा*‡–संज्ञा पुं० दे० "बिड़ौजा"।

बड़े मोती का फूल–संज्ञा पुं० [?] थाली में नक्काशी करने का लोहे का एक ठप्पा जिसे ठोंककर तीली के आगे नक्काशी बनाते हैं।

बड़ेरर–संज्ञा पुं० [देश०] बवंडर। चक्रवात। वेग से घूमती हुई वायु। उ०—जब चेटकी कुटी नियरायो। तब एक घोर बड़ेरर आयो।—रघुराज।

बड़ेरा†*–वि० [हिं० बड़ा+रा (प्रत्य०)] [स्त्री० बड़ेरी] (१) बड़ा। बृहत्। महान्। (२) प्रधान। मुख्य। (३) प्रधान पुरुष। मुखिया।

संज्ञा पुं० [सं० वडभि, प्रा० वड्ढि+रा] [स्त्री० अल्प० बड़ेरी] (१) छाजन में बीच की लकड़ी जो लंबाई के बल होती है और जिस पर सारा ठाट होता है। (२) कुएँ पर दो खंभों के ऊपर ठहराई हुई वह लकड़ी जिसमें घिरनी लगी रहती है।

बड़े लाट–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+अं० लार्ड] हिन्दुस्तान में अंगरेज़ी साम्राज्य का प्रधान शासक।

बड़ौखा–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा+ऊख] एक प्रकार का गन्ना जो बहुत लंबा और नरम होता है।

बड़ौना†*–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ापन] बड़ाई। महिमा। प्रशंसा। तारीफ़। उ०—सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। योग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।—जायसी।

बढ़–वि० [हिं० बढ़ना] बढ़ा हुआ। अधिक। ज़्यादा।

यौ०—घट बढ़=छोटा बड़ा।

संज्ञा स्त्री० बढ़ती। ज़्यादती।

यौ०—घट बढ़।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अकेले नहीं होता है।

बढ़ई–संज्ञा पुं० [सं० वर्द्धकि, प्रा० वड्ढइ] काठ को छील और गढ़कर अनेक प्रकार के सामान बनानेवाला। लकड़ी का काम करनेवाला।

बढ़ती–संज्ञा स्त्री० [हिं० बढ़ना+ती (प्रत्य०)] (१) तोल या गिनती

में अधिकता । मान या संख्या में वृद्धि । मात्रा का आधिक्य । जैसे, अनाज की बढ़ती, रुपये पैसे की बढ़ती ।

विशेष—विस्तार की वृद्धि के लिए अधिकतर "बाढ़" शब्द का प्रयोग होता है । जैसे, पौधे की बाढ़, आदमी की बाढ़, नदी की बाढ़ ।

(२) धन धान्य की वृद्धि । धन संपत्ति आदि का बढ़ना । उन्नति । जैसे, दाता, तुम्हारी बढ़ती हो ।

बढ़दार†-संज्ञा स्त्री० [देश०] टाँकी । पत्थर काटने का औज़ार ।

बढ़न†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बढ़ना] वृद्धि । बाढ़ । आधिक्य ।

बढ़ना-क्रि० अ० [सं० वर्द्धन, प्रा० वड्ढन] (१) विस्तार या परिमाण में अधिक होना । डील डौल या लंबाई चौड़ाई आदि में ज़्यादा होना । वर्द्धित होना । वृद्धि को प्राप्त होना । जैसे, पौधे का बढ़ना, बच्चे का बढ़ना, दीवार का बढ़ना, खेत का बढ़ना, नदी बढ़ना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—बात बढ़ना=(१) विवाद होना । झगड़ा होना । (२) मामला टेढ़ा होना ।

(२) परिमाण या संख्या में अधिक होना । गिनती या नाप तौल में ज़्यादा होना । जैसे, धन धान्य का बढ़ना, रुपये पैसे का बढ़ना, आमदनी बढ़ना, ख़र्च बढ़ना ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३) अधिक व्यापक, प्रबल या तीव्र होना । बल, प्रभाव, गुण आदि में अधिक होना । असर या ख़ासियत वग़ैरह में ज़्यादा होना । जैसे, रोग बढ़ना, पीड़ा बढ़ना, प्रताप बढ़ना, यश बढ़ना, कीर्ति बढ़ना, लालच बढ़ना । (४) पद, मर्य्यादा, अधिकार, विद्या बुद्धि, सुख संपत्ति आदि में अधिक होना । दौलत, रुतबे या इख्तियार में ज़्यादा होना । उन्नति करना । तरक्की करना । जैसे, (क) पहले उन्होंने २०) की नौकरी की थी, धीरे धीरे इतने बढ़ गए । (ख) आजकल सब देश भारतवर्ष से बढ़े हुए हैं ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—बढ़कर चलना=इतराना । घमंड करना ।

(५) किसी स्थान से आगे जाना । स्थान छोड़कर आगे गमन करना । अग्रसर होना । चलना । जैसे, (क) तुम बढ़ो तब तो पीछे के लोग चलें । (ख) बढ़े आओ, बढ़े आओ ।

संयो० क्रि०—आना ।—जाना ।

मुहा०—पतंग बढ़ना=पतंग का और ऊँचाई पर जाना ।

(६) चलने में किसी से आगे निकल जाना । जैसे, दौड़ने में वह तुमसे बढ़ जायगा ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(७) किसी से किसी बात में अधिक हो जाना । जैसे, पढ़ने में वह तुमसे बढ़ जायगा ।

यौ०—बढ़ चढ़ कर, या बढ़ा चढ़ा=अधिक उन्नत । विशेषतर ।

(८) भाव का बढ़ना । ख़रीदने में ज़्यादा मिलना । सस्ता होना । जैसे, आजकल अनाज बढ़ गया है ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(९) लाभ होना । मुनाफ़े में मिलना । जैसे, कहो, क्या बढ़ा ? (१०) दूकान आदि का समेटा जाना । बंद होना । जैसे, पुजापा बढ़ना, दूकान बढ़ना ।

विशेष—"बंद होना" अमंगलसूचक समझकर लोग इस क्रिया का व्यवहार करने लगे हैं ।

(११) दीपक का निर्वाण होना । चिराग़ का बुझना । उ०—ज्यों रहीम गति दीप की कुल कुपूत गति सोय । बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ।—रहीम ।

बढ़नी†-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्द्धनी, प्रा० वड्ढनी] (१) झाड़ू । बुहारी । कूचा । मार्जनी । (२) पेशगी अनाज या रुपया जो खेती या और किसी काम के लिए दिया जाता है ।

बढ़वारि†-संज्ञा स्त्री० दे० "बढ़ती" ।

बढ़ाना-क्रि० स० [हिं० बढ़ना] (१) विस्तार या परिमाण में अधिक करना । विस्तृत करना । डील डौल, आकार, या लंबाई चौड़ाई में ज़्यादा करना । वर्द्धित करना । जैसे, दीवार बढ़ाना, मकान बढ़ाना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

मुहा०—बात बढ़ाना=झगड़ा करना । बात बढ़ाकर कहना=अत्युक्ति करना ।

(२) परिमाण, संख्या या मात्रा में अधिक करना । गिनती या नाप तोल आदि में ज़्यादा करना । जैसे, आमदनी बढ़ाना, ख़र्च बढ़ाना, ख़ुराक बढ़ाना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(३) फैलाना । लंबा करना । जैसे, तार बढ़ाना । (४) बल, प्रभाव, गुण आदि में अधिक करना । असर या ख़ासियत वग़ैरह में ज़्यादा करना । अधिक व्यापक, प्रबल या तीव्र करना । जैसे, दुःख बढ़ाना, क्लेश बढ़ाना, यश बढ़ाना, लालच बढ़ाना ।

संयो० क्रि०—देना ।—लेना ।

(५) पद, मर्यादा, अधिकार, विद्या बुद्धि, सुख संपत्ति आदि में अधिक करना । दौलत या रुतबे वग़ैरह का ज़्यादा करना । उन्नत करना । तरक्की देना । जैसे, राजा साहब ने उन्हें ख़ूब बढ़ाया । (६) किसी स्थान से आगे ले जाना । आगे गमन कराना । अग्रसर करना । चलाना । जैसे, घोड़ा बढ़ाना, भीड़ बढ़ाना ।

मुहा०—पतंग बढ़ाना=पतंग और ऊँचे उड़ाना ।

(७) चलने में किसी से आगे निकाल देना । (८) किसी बात में किसी से अधिक कर देना । ऊँचा या उन्नत कर

देना। (९) भाव अधिक कर देना। सस्ता बेचना। जैसे,—बनिये गेहूँ नहीं बढ़ा रहे हैं। (१०) विस्तार करना। फैलाना। जैसे, कारबार बढ़ाना। (११) दूकान आदि समेटना। नित्य का व्यवहार समाप्त करना। कार्यालय बंद करना। जैसे, दूकान बढ़ाना, काम बढ़ाना। (१२) दीपक निर्वाप्त करना। चिराग़ बुझाना। उ०—अंग अंग नग जगमगत दीपसिखा सी देह। दिया बढ़ाए हू रहै बड़ो उजेरो गेह।—बिहारी।

क्रि० अ० चुकना। समाप्त होना। बाक़ी न रह जाना। ख़तम होना। उ०—(क) मेघ सबै जल बरखि बढ़ाने विवि गुन गए सिराई। वैसोई गिरिवर ब्रजवासी दूनो हरख बढ़ाई।—सूर। (ख) राम मातु उर लियो लगाई। सो सुख कैसे बरनि बढ़ाई।—रघुराज। (ग) गिन तिन मेरे अघन की गिनती नहीं बढ़ाय। असरनसरन कहाय प्रभु मत मोहिं सरन छुड़ाय।—रसनिधि।

बढ़ाली†—संज्ञा स्त्री० [देश०] कटारी। कटार।

बढ़ाव—संज्ञा पुं० [हिं० बढ़ना+आव (प्रत्य०)] (१) बढ़ने की क्रिया या भाव। (२) फैलाव। विस्तार। आधिक्य। अधिकता। ज़्यादती। (३) उन्नति। वृद्धि। तरक़्क़ी।

बढ़ावन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बढ़ावना] गोबर की टिकिया जो बच्चों की नज़र झाड़ने में काम आती है।

बढ़ावना†—क्रि० स० दे० "बढ़ाना"।

बढ़ावा—संज्ञा पुं० [हिं० बढ़ाव] (१) किसी काम की ओर मन बढ़ानेवाली बात। हौसला पैदा करनेवाली बात जिसे सुनकर किसी को कोई काम करने की प्रबल इच्छा हो। प्रोत्साहन। उत्तेजना। जैसे, पहले तो लोगों ने बढ़ावा देकर उन्हें इस काम में आगे कर दिया, पर पीछे सब किनारे हो गए।

क्रि० प्र०—देना।

मुहा०—बढ़ावे में आना=उत्साह देने से किसी टेढ़े काम में प्रवृत्त हो जाना।

(२) साहस या हिम्मत दिलानेवाली बात। ऐसे शब्द जिनसे कोई कठिन काम करने में प्रवृत्त हो। जैसे,—तुम उनके बढ़ावे में मत आना।

बढ़िया—वि० [हिं० बढ़ना] उत्तम। अच्छा। उम्दा।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का कोल्हू। (२) एक तौल जो डेढ़ सेर की होती है। (३) गन्ने, अनाज आदि की फसल का एक रोग जिससे कनखे नहीं निकलते और दाब बंद हो जाती है।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार की दाल।

बढ़ेल—संज्ञा स्त्री० [देश०] हिमालय पर की एक भेड़ जिससे ऊन निकलता है।

बढ़ेला—संज्ञा पुं० [सं० बराह] बनेला सूअर। जंगली सूअर।

बढ़ैया†—वि० [हिं० बढ़ाना, बढ़ना] (१) बढ़ानेवाला। उन्नति करानेवाला। (२) बढ़नेवाला।

† संज्ञा पुं० दे० "बढ़ई"। उ०—अति सुन्दर पालनो गढ़ि ल्याव, रे बढ़ैया।—सूर।

बढ़ोतरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाढ़+उतर] (१) उत्तरोत्तर वृद्धि। बढ़ती। (२) उन्नति।

बणिक्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाणिज्य करनेवाला। व्यापार व्यवसाय करनेवाला। बनियाँ। सौदागर। (२) बेचनेवाला। विक्रेता। उ०—शाकबणिक् मणिगुण गण जैसे।—तुलसी। (३) ज्योतिष में छठा करण।

बणिक्पथ—संज्ञा पुं० [सं०] वाणिज्य। व्यापार की चीज़ों की आमदनी रफ़्तनी।

बणिग्बंधु—संज्ञा पुं० [सं०] नील का पौधा।

बणिग्वह—संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

बणिज्—संज्ञा पुं० दे० "बणिक्"।

बत—संज्ञा स्त्री० [हिं० 'बात' का संक्षिप्त रूप] बात।

विशेष—इसका प्रयोग यौगिक शब्दों में ही होता है। जैसे बतकही, बतबढ़ाव, बतरस।

संज्ञा स्त्री० [अ०] बतख।

बतक—संज्ञा स्त्री० दे० "बतख"।

बतकहाव—संज्ञा पुं० [हिं० बात+कहाव] (१) बातचीत। (२) कहा सुनी। विवाद। बातों का झगड़ा।

बतकही—संज्ञा स्त्री० [हिं०बात+कहना] बातचीत। वार्त्तालाप। उ०—(क) करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान। मुखसरोज-मकरंद छवि करत मधुप इव पान।—तुलसी। (ख) मनहु हर उर जुगल मारध्वज के मकर लागि स्रवननि करत मेरु की बतकही।—तुलसी।

बतख—संज्ञा स्त्री० [अ० बत] हंस की जाति की पानी की एक चिड़िया जिसका रंग सफ़ेद, पंजे झिल्लीदार और चोंच आगे की ओर चिपटी होती है। चोंच और पंजे का रंग पीलापन लिए लाल होता है। यह चिड़िया पानी में तैरती है और ज़मीन पर भी अच्छी तरह चलती है। इसका डीलडौल भारी होता है, इससे यह न तेज़ दौड़ सकती है न उड़ सकती है। तालों और जलाशयों में यह मछली आदि पकड़कर खाती है। शहरों में भी इसे लोग पालते हैं। वहाँ नालियों के कीड़े आदि चुगती यह प्राय: दिखाई पड़ती है।

बतचल—वि० [हिं० बात+चलाना] बकवादी। बक्की। उ०—जानी जात सूर हम इनकी बतचल चंचल लोल।—सूर।

बतबढ़ाव—संज्ञा पुं० [हिं० बात+बढ़ाव] बात का विस्तार। व्यर्थ बात बढ़ाना। झगड़ा बखेड़ा बढ़ाना। विवाद। उ०—अब जनि बतबढ़ाव खल करई। सुनि मम बचन मान परिहरई।—तुलसी।

बतरस–संज्ञा पुं० [हिं० बात+रस] बातचीत का आनंद। बातों का मज़ा।

बतरान†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बतराना] बातचीत।

बतराना†–क्रि० अ० [हिं० बात+आना (प्रत्य०)] बातचीत करना। उ०—छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नहिं बतराय। ऊख महूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय।—बिहारी।

बतरौहाँ*†–वि० [हिं० बात] [स्त्री० बतरौहीं] बातचीत की ओर प्रवृत्त। वार्त्तालाप का इच्छुक।

बतलाना–क्रि० स० दे० "बताना"।

† क्रि० अ० बातचीत करना।

बतवन्हा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की नाव। इस नाव में लोहे के काँटे नहीं लगाए जाते। यह केवल बेंत से बाँधी जाती है। यह नाव चटगाँव की ओर चलाई जाती है।

बताना–क्रि० स० [हिं० बात+ना (प्रत्य०) या सं० वदन=कहना] (१) कहना। कहकर जानकार करना। जानकारी कराना। अभिज्ञ करना। जताना। कथन द्वारा सूचित करना। जैसे,—(क) रखी हुई वस्तु बताना, रास्ता बताना, भेद बताना, युक्ति बताना, कोई बात बताना। (ख) बताओ तो मेरे हाथ में क्या है।

संयो० क्रि०—देना।

(२) किसी की बुद्धि में लाना। समझाना। बुझाना। हृदयंगम कराना। जैसे, अर्थ बताना, हिसाब बताना, अक्षर बताना।

संयो० क्रि०—देना।

(३) किसी प्रकार सूचित कराना। जताना। निर्देश करना। दिखाना। प्रदर्शित करना। जैसे, (क) उँगली से बताना, हाथ उठाकर रास्ता बताना। (ख) सूखा नाला यह बता रहा है कि पानी इधर नहीं बरसा है।

संयो० क्रि०—देना।

(४) कोई काम करने के लिये कहना। किसी कार्य्य में नियुक्त करना। कोई कार्य्य निर्दिष्ट करना। कोई काम धंधा निकालना। जैसे, मुझे भी कोई काम बताओ आजकल ख़ाली बैठा हूँ। (५) नाचने गाने में हाथ उठाकर भाव प्रकट करना। भाव बताना। उ०—कभी नाचना और गाना कभी। रिझाना कभी औ बताना कभी।—मीर हसन। (६) दंड देकर ठीक रास्ते पर लाना। ठीक करना। मार पीटकर दुरुस्त करना। जैसे,—बड़ी नटखटी कर रहे हो, आता हूँ तब बताता हूँ।

मुहा०–अब बताओ=(१) अब कहो क्या करोगे। अब क्या उपाय है? जैसे, पानी तो आ गया, अब बताओ। (२) अब तो मेरे वश में हो, अब क्या कर सकते हो। अब तो फँस गए हो, अब क्या कर सकते हो। जैसे, वहाँ तो बहुत बढ़ बढ़ कर बोलते थे, अब बताओ।

संज्ञा पुं० [सं० वर्त्तक=एक धातु] हाथ का कड़ा। कड़े का ढाँचा।

संज्ञा पुं० [हिं० बरतना] फटी पुरानी पगड़ी जो नीचे रहती है और जिसके ऊपर अच्छी पगड़ी बाँधी जाती है।

बताशा–संज्ञा पुं० दे० "बतासा"।

बतास‡–संज्ञा स्त्री० [सं० वातासह] (१) वात का रोग। गठिया।

क्रि० प्र०—धरना।—पकड़ना।

(२) वायु। हवा।

बतासफेनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बतासा+फेनी] टिकिया के आकार की एक मिठाई।

बतासा—संज्ञा पुं० [हिं० बतास=हवा] (१) एक प्रकार की मिठाई जो चीनी की चाशनी को टपकाकर बनाई जाती है। टपकने पर पानी के बुलबुले से बनते जाते हैं जो जमने पर खोखले और हलके होते हैं और पानी में बहुत जल्दी घुलते हैं।

मुहा०—बतासे सा घुलना=(१) शीघ्र नष्ट होना। (शाप)। (२) क्षीण और दुबला होना।

(२) एक प्रकार की आतशबाज़ी जो अनार की तरह छूटती है और जिसमें बड़े बड़े फूल से गिरते हैं। (३) बुलबुला। बुद्बुद्।

बतिया–संज्ञा पुं० [सं० वर्तिका, प्रा० बत्तिआ=बत्ती] थोड़े दिनों का लगा हुआ कच्चा छोटा फल। छोटा, कोमल और कच्चा फल। उ०—इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जो तर्जनि देखत मरि जाहीं।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० ‡ दे० "बात"।

बतियाना†–क्रि० अ० [हिं० बात] बातचीत करना।

बतियार–संज्ञा स्त्री० [हिं० बात] बातचीत। उ०—सतसंगन की बतियारा। सो करत फिरत हुसियारा।—विश्राम।

बतू–संज्ञा पुं० दे० "कलाबत्तू"। उ०—चोली चुनावट चिह्न चुभे चपि होत उजागर चिह्न बतू के।—घनानंद।

बतौतकुंती–संज्ञा स्त्री० [हिं० बात] कान में बातचीत करने की नक़ल जो बंदर करते हैं। (कलंदर)

बतौर–क्रि० वि० [अ०] (१) तरह पर। रीति से। तरीक़े पर। जैसे,—बतौर सलाह के यह बात मैंने कही थी।

(२) सदृश। समान। मानिंद।

बत्तक–संज्ञा पुं० दे० "बत्तख़"।

बत्तिस†–वि० दे० "बत्तीस"।

बत्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त्ति, प्रा० बत्ति] (१) सूत, रुई, कपड़े आदि की पतली छड़। सलाई या चौड़े फ़ीते के आकार का टुकड़ा जो बट या बुनकर बनाया जाता है और जिसे तेल

में डालकर दीआ जलाते हैं। चिराग़ जलाने के लिये रुई या सूत का बटा हुआ लच्छा।

यौ०—मोमबत्ती। धूपबत्ती। अगरबत्ती।

मुहा०—बत्ती लगाना=जलती हुई बत्ती छुला देना। जलाना। आग लगाना। भस्म करना। संझा बत्ती-संध्या के समय दीपक जलाना।

(२) मोमबत्ती।

मुहा०—बत्ती चढ़ाना=शमादान में मोमबत्ती लगाना।

(३) दीपक। चिराग़। रोशनी। प्रकाश।

मुहा०—बत्ती दिखाना=उजाला करना। सामने प्रकाश दिखाना।

यौ०—दीया बत्ती।

(४) लपेटा हुआ चीथड़ा जो किसी वस्तु में आग लगाने के लिये काम में लाया जाय। फलीता। पलीता। (५) पतली छड़ या सलाई के आकार में लाई हुई कोई वस्तु। बत्ती की शकल की कोई चीज़। जैसे, लाह की बत्ती, मुलेठी के सत की बत्ती, लपेटे हुए काग़ज़ की बत्ती। (६) फूस का पूला जिसे मोटी बत्ती के आकार में बाँधकर छाजन में लगाते हैं। मूठा। उ०—अचरज बँगला एक बनाया। ऊपर नीवँ, तले घर छाया। बाँस न बत्ती बंधन घने। कहो सखी! घर कैसे बने! (७) कपड़े की वह लंबी धज्जी जो घाव में मवाद साफ़ करने के लिये भरते हैं।

क्रि० प्र०—देना।

(८) पगड़ी या चीरे का ऐंठा हुआ कपड़ा। (९) कपड़े के किनारे का वह भाग जो सीने के लिये मरोड़कर पकड़ा जाता है।

बत्तीस-वि० [सं० द्वात्रिंशत, प्रा० बत्तीसा] तीस से दो अधिक। जो गिनती में तीस से दो ज़्यादा हो।

संज्ञा पुं० (१) तीस से दो अधिक की संख्या। (२) उक्त संख्या का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—३२।

बत्तीसा-संज्ञा पुं० [हिं० बत्तीस] एक प्रकार का लड्डू जिसमें पुष्टई के बत्तीस मसाले पड़ते हैं।

बत्तीसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बत्तीस] (१) बत्तीस का समूह। (२) मनुष्य के नीचे ऊपर के दाँतों की पंक्ति (जिनकी पूरी संख्या बत्तीस होती है।)

मुहा०—बत्तीसी झड़ पड़ना=दाँत गिर पड़ना। बत्तीसी दिखाना=दाँत दिखाना। हँसना। बत्तीसी बजना=जाड़े के कारण दाढ़ों का कँपना। गहरा जाड़ा लगना।

बथान†-संज्ञा पुं० [सं० वत्स+स्थान, हिं० बच्छथान] गोगृह। गायों के रहने की जगह।

बथुआ-संज्ञा पुं० [सं० वास्तुक, पा० वात्थुअ] एक छोटा पौधा जो जौ, गेहूँ आदि के खेतों में उपजता है और जिसका लोग साग बनाकर खाते हैं। इसकी पत्तियाँ छोटी छोटी और फूल घुंडी के आकार के होते हैं जिनमें काले दाने के समान बीज पड़ते हैं। वैद्यक में बथुआ जठराग्निजनक, मधुर, पित्तनाशक, क्षार, अर्श और कृमिनाशक, नेत्रहित-कारी, स्निग्ध मलमूत्रशोधक और कफ के रोगियों को हितकारी माना गया है।

बद्-संज्ञा स्त्री० [सं० बर्ध्म=गिलटी] (१) गरमी की बीमारी के कारण या योंही सूजी हुई जाँघ पर की गिलटी। गोहिया। बाघी।

क्रि० प्र०—निकलना।

(२) चौपायों का एक छूत का रोग जिसमें उनके मुँह से लार बहती है, उनके खुर और मुँह में दाने पड़ जाते हैं। सींग से लेकर सारा शरीर गरम हो जाता है।

वि० [फ़ा०] (१) बुरा। ख़राब। अधम। निकृष्ट।

यौ०—बदअमली। बदइंतज़ामी। बदकार। बदक़िस्मत। बदख़त। बदख़्वाह। बदगुमान। बदगोई। बदचलन। बदज़बान। बदज़ात। बदतमीज़। बददुआ। बदनसीब। बदनाम। बदनीयत। बदनुमा। बदपरहेज़। बदबख़्त। बदबू। बदमज़ा। बदमस्त। बदमाश। बदमिज़ाज। बदरंग। बदलगाम। बदशकल। बदसलूकी। बदसूरत। बदहज़मी। बदहवास।

(३) बुरे आचरण का मनुष्य। दुष्ट। खल। नीच। जैसे, बद अच्छा, बदनाम बुरा।

संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त=पलटा, बदला] पलटा। बदला। एवज़। उ०—तब इक मित्रहि कह्यो बुझाई। तुम हमरी बद पहरे जाई।—रघुराज।

मुहा०—बद में-एवज में। बदले मे। स्थान पर। उ०—गुरुगृह जब हम बन को जात। तुरत हमारे बद में लकरी लावत सहि दुख गात।—सूर।

बदअमली-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बद+अ० अमल] राज्य का कुप्रबंध। अशांति। हलचल।

क्रि० प्र०—फैलाना।—मचना।

बदइंतज़ामी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कुप्रबंध। अव्यवस्था।

बदकार-वि० [फ़ा०] (१) बुरे काम करनेवाला। कुकर्मी। (२) व्यभिचारी। पर स्त्री या परपुरुष में रत। जैसे, बदकार आदमी, बदकार औरत।

बदकारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) कुकर्म। (२) व्यभिचार।

बदक़िस्मत-वि० [फ़ा० बद+अ० क़िस्मत] बुरी क़िस्मत का। मंदभाग्य। अभागा।

बदख़त-वि० पुं० [फ़ा०] बुरा लेख। बुरी लिपि। बुरे अक्षर।

वि० बुरा लिखनेवाला। वह जिसका लिखने में हाथ न बैठा हो।

बदख़्वाह-वि० [फा०] बुरा चाहनेवाला । अनिष्ट चाहनेवाला । ख़ैरख़्वाह का उलटा ।

बदगुमान-वि० [फा०] बुरा संदेह करनेवाला । संदेह की दृष्टि से देखनेवाला ।

बदगुमानी-संज्ञा स्त्री० [फा०] किसी के ऊपर मिथ्या संदेह । झूठा शुबहा ।

बदगोई-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) किसी के संबंध में बुरी बात कहना । निंदा । (२) चुगली ।

बदचलन-वि० [फा०] कुमार्गी । बदराह । बुरे चालचलन का । लंपट ।

बदचलनी-संज्ञा स्त्री० [फा०] (१) बदचलन होने की क्रिया या भाव । दुश्चरित्रता । (२) व्यभिचार ।

बदज़बान-वि० [फा०] बुरा बोलनेवाला । गाली गलौज करनेवाला । कटुभाषी ।

बदज़ात-वि० [फा० बद + अ० जात] बुरी असलियत या ख़ासियत का । खोटा । ओछा । नीच ।

बदतमीज़-वि० [फा०] जिसे अच्छी बुरी चाल की पहचान न हो । अशिष्ट । जो शिष्टाचार न जानता हो । गँवार । बेहूदा ।

बदतर-वि० [फा०] और भी बुरा । किसी की अपेक्षा बुरा । जैसे, यह तो उससे भी बदतर है ।

बददियानती-संज्ञा स्त्री० [फा०+अ०] बेईमानी । दग़ाबाज़ी । धोखेबाज़ी । विश्वासघात ।

बददुआ-संज्ञा स्त्री० [फा०+अ०] शाप । अहितकामना जो शब्दों द्वारा प्रकट की जाय ।

क्रि० प्र०—देना ।

बदन-संज्ञा पुं० [फा०] शरीर । देह ।

यौ०—तन बदन ।

मुहा०—तन बदन की सुध न रहना-(१) अचेत रहना । बेहोश रहना (२) किसी ध्यान में इतना लीन होना कि किसी बात की खबर न रहे । बदन टूटना-शरीर की हड्डियों में पीड़ा होना । जोड़ों में दर्द होना जिससे अंगों को तानने और खींचने की इच्छा हो । बदन तोड़ना-पीड़ा के कारण अंगों को तानना और खींचना ।

संज्ञा पुं० दे० "वदन" ।

बदनसीब-वि० [फ़ा०+अ०] अभागा । जिसका भाग्य बुरा हो ।

बदनसीबी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दुर्भाग्य ।

बदनतौल-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बदन+हिं० तौल] मलखंभ की एक कसरत जिसमें हत्था करते समय मलखंभ को एक हाथ से लपेटकर उसी के सहारे सारा बदन ठहराते या तौलते हैं । इसमें सिर नीचे और पैर सीधे ऊपर की ओर रहते हैं ।

बदननिकाल-संज्ञा पुं० [फा० बदन+हिं० निकालना] मलखंभ की एक कसरत जिसमें मलखंभ के पास खड़े होकर दोनों हाथों की कैंची बाँधते हैं । इसमें खेलाड़ी का मुँह नीचे, कमर मलखंभ से सटी हुई और पैर ऊपर को होते हैं ।

बदना*-क्रि० स० [सं० वद=कहना] (१) कहना । वर्णन करना । उ०—विष्णु शिवलोक सोपान सम सर्वदा दास तुलसी बदत विमल बानी ।—तुलसी । (२) मान लेना । स्वीकार करना । सकारना । जैसे, किसीको साखी बदना, गवाह बदना । उ०—हाथ छुड़ाए जात हौ निबल जानि कै मोहि । हिरदय में से जाइयो मर्द बदौंगी तोहि । (३) नियत करना । ठहराना । पहले से स्थिर करना । ठीक करना । निश्चित करना । कहकर पक्का कर लेना । जैसे, कुश्ती का मुक़ाम बदना । दाँव बदना । उ०—(क) श्याम गए बदि अवधि सखी री ।—सूर । (ख) दूती सों संकेत बदि लेन पठाई आप ।—केशव ।

मुहा०—बदा होना=भाग्य में बदा होना । भाग्य में लिखा होना । प्रारब्ध में होना । जैसे,—अब तो चलते हैं जो बदा होगा सो होगा । बद कर (कोई काम करना)-(१) जान बूझ कर । पूरी दृढ़ता के साथ । पूरे हठ के साथ । टेक पकड़कर । जैसे,—जिस काम को मना करते हैं वह बद कर करता है । (२) बेधड़क । ललकार कर । छेड़ कर । आप अग्रसर होकर । जैसे,—न जाने क्यों वह मुझसे बद कर झगड़ा करता है । बदकर कहना=दृढ़ता के साथ कहना । पूरे निश्चय के साथ कहना । जैसे, हम बदकर कहते हैं कि तुम्हारा यह काम हो जायगा ।

(४) सफलता पर जीत और असफलता पर हार मानने की शर्त पर कोई बात ठहराना । बाज़ी लगाना । होड़ लगाना । शर्त लगाना । जैसे,—(क) आज उस मैदान में उन दोनों पहलवानों की कुश्ती बदी है । (ख) हम उससे कुश्ती बदेंगे । (५) गिनती में लाना । लेखे में लाना । कुछ समझना । कुछ ख़याल करना । बड़ा या महत्व का मानना । जैसे,—वह लड़का इतना धृष्ट हो गया है कि किसीको कुछ भी नहीं बदता । उ०—(क) बदत काहू नहीं निधरक निदरि मोहिँ न गनत । बार बार बुझाय हारी भौंह मो पै तनत ।—सूर । (ख) जोबनदान लेउँगो तुमसों । जाके बल तुम बदति न काहुहि कहा दुरावति मो सों ।—सूर । (ग) बड़े कहावत आप हू गरुवे गोपीनाथ । तौ बदिहौं जो राखिहौ हाथनि लखि मन हाथ ।—बिहारी ।

बदनाम-वि० [फा०] जिसका बुरा नाम फैला हो । जिसकी कुख्याति फैली हो । जिसकी निंदा हो रही हो । कलंकित । जैसे,—बद अच्छा, बदनाम बुरा ।

बदनामी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अपकीर्त्ति । लोकनिंदा । कलंक ।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बदनीयत–वि० [फ़ा० बद+अ० नीयत] (१) जिसकी नीयत बुरी हो। जिसका अभिप्राय दुष्ट हो। नीचाशय। (२) जिसके मन में धोखा आदि देने की इच्छा हो। बेईमान।

बदनीयती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेईमानी। दग़ाबाज़ी।

बदनुमा–वि० [फ़ा०] जो देखने में बुरा लगे। कुरूप। भद्दा। भोंडा।

बदपरहेज़–वि० [फ़ा०] कुपथ्य करनेवाला। जो खाने पीने आदि का संयम न रखता हो।

बदपरहेज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कुपथ्य। खाने पीने आदि में असंयम।

बदबख़्त–वि० [फ़ा०] बदक़िस्मत। अभागा।

बदबाछा–संज्ञा पुं० [फ़ा० बद+हिं० बाछ] वह हिस्सा जो बेईमानी करने से मिला हो।

बदबू–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दुर्गंध। बुरी गंध। बुरी बास।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।—फैलना।

बदबूदार–वि० [फ़ा०] दुर्गंधयुक्त। जिसमें से बुरी बास आती हो।

बदमज़ा–वि० [फ़ा०] (१) दुःस्वाद। बुरे स्वाद का। ख़राब ज़ायक़े का। (२) आनंदरहित। जैसे, तबीयत बदमज़ा होना।

बदमस्त–वि० [फ़ा०] (१) नशे में चूर। अति उन्मत्त। नशे में बावला। (२) कामोन्मत्त। लंपट।

बदमस्ती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मतवालापन। उन्मत्तता। (२) कामोन्मत्तता। कामुकता। लंपटता।

बदमाश–वि० [फ़ा० बद+अ० मआश=जीविका] (१) बुरे कर्म से जीविका करनेवाला। दुर्वृत्त। (२) खोटा। दुष्ट। पाजी। लुच्चा। नटखट। (३) दुराचारी। बदचलन।

बदमाशी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बद+अ० मआश] (१) बुरी वृत्ति। जघन्य वृत्ति। दुष्कर्म। खोटाई। (२) नीचता। दुष्टता। पाजीपन। नटखटी। शरारत। (३) व्यभिचार। लंपटता।

बदमिज़ाज–वि० [फ़ा०] दुःस्वभाव। बुरे स्वभाव का। जो जल्दी अप्रसन्न हो जाय। चिड़चिड़ा।

बदमिज़ाजी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बुरा स्वभाव। चिड़चिड़ापन।

बदरंग–वि० [फ़ा०] (१) बुरे रंग का। जिसका रंग अच्छा न हो। भद्दे रंग का। (२) जिसका रंग बिगड़ गया हो। विवर्ण।

संज्ञा पुं० (१) ताश के खेल में जो रंग दाँव पर गिरना चाहिए उससे भिन्न रंग। (२) चौसर के खेल में एक एक खिलाड़ी की दो गोटियों में वह गोटी जो रंग न हो।

बदरंगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रंग का फ़ीकापन या भद्दापन।

बदर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेर का पेड़ या फल। (२) कपास। (३) कपास का बीज। बिनौला।

क्रि० वि० [फ़ा०] बाहर। जैसे, शहर बदर करना।

मुहा०—बदर निकालना=जिम्मे रक़म निकालना। किसीके हिसाब में उसके नाम बाकी बताना।

बदरनवीसी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) हिसाब किताब की जाँच। (२) हिसाब में गड़बड़ रक़म अलग करना।

बदरा‡–संज्ञा पुं० [हिं०] बादल। मेघ। उ०—कौन सुनै कासों कहौं सुरति बिसारी नाह। बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] वराहक्रांती का पौधा।

बदरामलक–संज्ञा पुं० [सं०] एक पौधा। पानी आमला।

विशेष—इसके पौधे जलाशयों के पास होते हैं। पत्ते लंबे लंबे और फल लाल लाल बेर के समान होते हैं। टहनियों में छोटे छोटे काँटे भी होते हैं।

बदराह–वि० [फ़ा०] (१) कुमार्गी। कुमार्गगामी। बुरी राह पर चलनेवाला। (२) दुष्ट। बुरा। उ०—बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।—बिहारी।

बदरि–संज्ञा पुं० [सं०] बेर का पौधा या फल। उ०—जिनहि बिध कर बदरि समाना।—तुलसी।

बदरिकाश्रम–संज्ञा पुं० [सं०] तीर्थ विशेष जो हिमालय पर है। यहाँ नर-नारायण तथा व्यास का आश्रम है।

विशेष—यह तीर्थ श्रीनगर (गढ़वाल) के पास अलकनंदा नदी के पच्छिमी किनारे पर है। कहते हैं कि भृगुतुंग नामक शृंग के ऊपर एक बदरीवृक्ष के कारण बदरिकाश्रम नाम पड़ा। महाभारत में लिखा है कि पहले यहाँ गंगा की गरम और ठंढी दो धाराएँ थीं, और रेत सोने की थी। यहाँ पर देवताओं ने तप करके विष्णु को प्राप्त किया था। गंधमादन, बदरी, नरनारायण और कुबेरशृंग इसी तीर्थ के अंतर्गत हैं। नरनारायण अर्जुन ने यहाँ बड़ा तप किया था। पांडव महाप्रस्थान के लिये इसी स्थान पर गए थे। पद्मपुराण में वैष्णवों के सब तीर्थों में बदरिकाश्रम श्रेष्ठ कहा गया है।

बदरिया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बदरी", "बदली"।

बदरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बेर का पेड़ या फल।

बदरीच्छदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बेर। (२) एक सुगंध द्रव्य जो शायद किसी समुद्री जंतु का सूखा मांस हो।

बदरीनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] बदरिकाश्रम नाम का तीर्थ।

बदरीनारायण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बदरिकाश्रम के प्रधान देवता। (२) नारायण की मूर्त्ति जो बदरिकाश्रम में है।

बदरीपत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] एक सुगंध द्रव्य।

बदरीफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] नील शेफालिका का पौधा।

बदरीवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेर का जंगल। (२) बदरिकाश्रम।

बदरून-संज्ञा पुं० [?] पत्थर की जाली की एक प्रकार की नक्काशी जिसमें बहुत से कोने होते हैं।

बदरौंह†-वि० [फ़ा० बद+रौ=चाल] कुमार्गी। बदचलन। उ०—इंद्री उदर बड़ाई कारन होत जात बदरौंह।—देव स्वामी।

†संज्ञा पुं० [हिं० बादर+औंह (प्रत्य०)] बदली का आभास।

बदल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक के स्थान पर दूसरा होना। परिवर्त्तन। हेरफेर।

यौ०—अदल बदल। रदबदल।

(२) पलटा। एवज़। प्रतिकार।

बदलगाम-वि० [फ़ा०] जिसे भला बुरा मुँह से निकालते संकोच न हो। मुँहज़ोर।

बदलना-क्रि० अ० [अ० बदल+ना (प्रत्य०)] (१) और का और होना। जैसा रहा हो उससे भिन्न हो जाना। परिवर्त्तित होना। जैसे, (क) इतने ही दिनों में उसकी शकल बदल गई। (ख) इसका रंग बदल गया।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) एक के स्थान पर दूसरा हो जाना। जहाँ जो वस्तु रही हो वहाँ वह न रहकर दूसरी वस्तु आ जाना। जैसे, (क) मेरा छाता बदल गया। (ख) फाटक पर पहरा बदल गया।

मुहा०—किसीसे बदल जाना=किसीके पास अपनी चीज चली जाना और अपने पास उसकी चीज आ जाना। जैसे, यह मेरा छाता नहीं है, किसीसे बदल गया है। (वास्तव में 'किसीसे' अभिप्राय किसीकी वस्तु से है)।

(३) एक स्थान से दूसरे स्थान पर नियुक्त होना। एक जगह से दूसरी जगह तैनात होना। जैसे, वह कलक्टर यहाँ से बदल गया।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० स० (१) और का और करना। जैसा रहा हो उससे भिन्न करना। परिवर्त्तित करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(२) एक के स्थान पर दूसरा करना। जिस स्थान पर या जिस व्यवहार में जो वस्तु रही हो उसे न रखकर दूसरी रखना या उपस्थित करना। एक वस्तु के स्थान की पूर्त्ति दूसरी वस्तु से करना। जैसे, घर बदलना, कपड़ा बदलना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—बात बदलना=पहले एक बात कहकर फिर उससे विरुद्ध दूसरी बात कहना।

(३) एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु लेना या एक वस्तु लेकर दूसरी वस्तु देना। विनिमय करना। जैसे, (क) खोटा रुपया बदलना। (ख) चाँदी बदलकर सोना लेना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

बदलवाना-क्रि० स० [हिं० बदलना का प्रे०] बदलने का काम कराना।

बदला-संज्ञा पुं० [अ० बदल, हिं० बदलना] (१) एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु लिया जाना, या एक वस्तु लेकर दूसरी वस्तु दिया जाना। परस्पर लेने और देने का व्यवहार। विनिमय।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

(२) एक पक्ष की वस्तु के स्थान पर दूसरे पक्ष की वस्तु जो उपस्थित की जाय। एक की वस्तु के स्थान पर दूसरा जो दूसरी वस्तु दे। एक वस्तु की हानि या स्थान की पूर्त्ति के लिये उपस्थित की हुई दूसरी वस्तु। जैसे, चीज़ खो गई, तो खो गई उसका बदला लेकर क्या आए हो?

(३) किसी वस्तु के स्थान की दूसरी वस्तु से पूर्त्ति। किसी चीज़ की कमी या नुक़सान दूसरी चीज़ से पूरा करना या भरना। पलटा। एवज़। जैसे, दूसरे की चीज़ है खो जायगी तो बदला देना पड़ेगा।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मुहा०—बदले=(१) बदले में। स्थान की पूर्त्ति में। जगह पर। एवज में। जैसे, इस तिपाई को हटाकर इसके बदले एक कुरसी रखो। (२) हानि की पूर्त्ति के लिये। नुक़सान भरने के लिये। जैसे, घड़ी खो जायगी तो इसके बदले दूसरी घड़ी देनी होगी।

(४) एक पक्ष के किसी व्यवहार के उत्तर में दूसरे पक्ष का वैसा ही व्यवहार। एक दूसरे के साथ जैसी बात करे दूसरे का उसके साथ वैसी ही बात करना। पलटा। एवज़। प्रतीकार। जैसे, (क) बुराई का बदला भलाई से देना चाहिए। (ख) मैंने तुम्हारे साथ जो इतनी भलाई की उसका क्या यही बदला है?

मुहा०—बदला देना=उपकार के पलटे में उपकार करना। प्रत्युपकार करना। किसी से कुछ लाभ उठाकर उसे लाभ पहुँचाना। बदला लेना=अपकार के पलटे में अपकार करना। किसी के बुराई करने पर उसके साथ बुराई करना। जैसे, तुमने आज उसे मारा है उसका बदला वह ज़रूर लेगा।

(५) किसी कर्म का परिणाम जो भोगना पड़े। प्रतिफल। नतीजा। जैसे, तुम्हें इसका बदला ईश्वर के यहाँ मिलेगा।

बदलाना-क्रि० स० [हिं० बदलना का प्रे०] बदलवाना।

बदली-संज्ञा स्त्री० [हिं० बादल का अल्प०] फैलकर छाया हुआ बादल। घनविस्तार। जैसे, आज बदली का दिन है।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बदलना] (१) एक के स्थान पर दूसरी वस्तु की उपस्थिति।

यौ०—अदला बदली।

(२) एक स्थान से दूसरे स्थान पर नियुक्ति। तबदीली। तबादला। जैसे, यहाँ से उसकी बदली दूसरे ज़िले में हो गई। (३) एक के स्थान पर दूसरे की तैनाती। जैसे, अभी पहरे की बदली नहीं हुई है।

बदलौवल‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० बदलना] अदल बदल। हेर फेर।

बदशकल-वि० [फ़ा०] कुरूप। बेडौल। भद्दी सूरत का।

बदसलूकी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बद+ अ० सलूक] (१) बुरा व्यवहार। अशिष्ट व्यवहार। (२) अपकार। बुराई।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बदसूरत-वि० [फ़ा० बद+अ० सूरत] कुरूप। भद्दी सूरतवाला। बेडौल।

बदस्तूर-क्रि० वि० [फ़ा०] मामूली तौर पर। जैसा था या रहता है वैसा ही। जैसे का तैसा। ज्यों का त्यों। बिना फेरफार। जैसे, जो बातें पहले थीं अब भी बदस्तूर क़ायम हैं।

बदहज़मी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अपच। अजीर्ण।

बदहवास-वि० [फ़ा०] (१) बेहोश। अचेत। (२) व्याकुल। विकल। उद्विग्न। (३) श्रांत। शिथिल। पस्त।

बदान-संज्ञा स्त्री० [हिं० बदना] बदे जाने की क्रिया या भाव। प्रतिज्ञापूर्वक पहले से किसी बात का स्थिर किया जाना। किसी बात के होने का पक्का। जैसे, आज कुश्ती की बदान है।

बदाबदी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बदना] दो पक्षों की एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिज्ञा या हठ। लाग डाट। होड़ा होड़ी। होड़। उ०—कौन सुनै कासों कहौं सुरति बिसारी नाह। बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह।—बिहारी।

बदाम-संज्ञा पुं० दे० "बादाम"।

बदामी-वि० [फ़ा०] दे० "बादामी"।

संज्ञा पुं० कौड़ियाले की जाति का एक पक्षी। एक प्रकार का किलकिला।

बदि*†-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त=पलटा] पलटा। बदला। एवज़। स्थानापन्न करने या होने का भाव।

अव्य० (१) बदले में। एवज़ में। पलटे में। उ०—(क) एक कौर लीजै पितु की यदि एक कौर बदि मोरा। एक कौर कैकेयी की बदि एक सुमित्रा कोरा।—रघुराज। (ख) बोले कुरुपति वचन सुहाए। हम, नरेश, सब की बदि आए।—रघुराज। (२) लिये। वास्ते। ख़ातिर। उ०—इनकी बदि हम सहत यातना। हरिपार्षद अब आन बात ना।—रघुराज।

बदी-संज्ञा स्त्री० [?] कृष्ण पक्ष। अँधेरा पाख। जैसे, सावन बदी तीज।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बुराई। अपकार। अहित। जैसे, नेकी बदी साथ जाती है।

क्रि० प्र०—करना। होना।

बदूख*‡-संज्ञा स्त्री० दे० "बंदूक"।

बदे†-अव्य० [सं० वर्त=पलटा] (१) वास्ते। लिये। ख़ातिर। अर्थ। (२) दलाली समेत दाम (दलाल)।

बदौलत-क्रि० वि० [फ़ा०] (१) आसरे से। द्वारा। अवलंब से। कृपा से। जैसे, जिसकी बदौलत रोटी खाते हो उसी के साथ ऐसा? (२) कारण से। सबब से। वजह से। जैसे, तुम्हारी बदौलत यह सब सुनना पड़ता है।

बद्दर*‡-संज्ञा पुं० दे० "बादल"। उ०—बद्दर की छाहीं, वैसो जीवन जग माहीं।

बद्दल-संज्ञा पुं० दे० "बादल"। उ०—बद्दल समान मुगलद्दल उड़े फिरैं।—भूषण।

बद्दू-संज्ञा पुं० [देश०] अरब की एक असभ्य जाति जो प्रायः लूटपाट किया करती है।

वि० बदनाम।

बद्ध-वि० [सं०] (१) बँधा हुआ। जो या जिससे बाँधा गया हो। बंधन में पड़ा हुआ या बाँधने में काम आया हुआ।

यौ०—बद्धपरिकर। बद्धशिख।

(२) अज्ञान में फँसा हुआ। संसार के बंधन में पड़ा हुआ। जो मुक्त न हो। जैसे, बद्धजीव। (३) जिसपर किसी प्रकार का प्रतिबंध हो। जिसके लिए कोई रोक हो। (४) जिसकी गति, क्रिया, व्यवहार आदि परिमित और व्यवस्थित हो। जो किसी हद हिसाब के भीतर रखा गया हो। जैसे, नियमबद्ध, मर्यादाबद्ध। (५) निर्धारित। निर्दिष्ट। स्थिर। ठहराया हुआ। (६) बैठा हुआ। जमा हुआ।

यौ०—बद्धमूल।

(७) सटा हुआ। जुड़ा हुआ। एक दूसरे से लगा हुआ।

यौ०—बद्धांजलि।

बद्धक-संज्ञा पुं० [सं०] बँधुवा। क़ैदी।

बद्धकोष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] मल अच्छी तरह न निकलने की अवस्था या रोग। पेट का साफ़ न होना। क़ब्ज़। क़ब्ज़ियत।

बद्धगुदोदर-संज्ञा पुं० [सं०] पेट का एक रोग जिसमें हृदय और नाभि के बीच पेट कुछ बढ़ आता है और मल रुक रुककर थोड़ा थोड़ा निकलता है।

विशेष—वैद्यक के अनुसार जब अँतड़ियों में अन्न, मिट्टी, बालू आदि जमते जमते बहुत सी इकट्ठी हो जाती है तब मल बहुत कष्ट से थोड़ा थोड़ा निकलता है। चिकनी, चिपचिपी चीज़ें अधिक खाने से यह रोग प्रायः हो जाता है और इसमें वमन में मल की सी दुर्गंध आती है।

बद्धपरिकर-वि० [सं०] कमर बाँधे हुए। तैयार।

बद्धमुष्टि–वि० [सं०] जिसकी मुट्ठी बँधी हो अर्थात् देने के लिये न खुलती हो । कृपण । कंजूस ।

बद्धमूल–वि० [सं०] जिसने जड़ पकड़ ली हो । जो दृढ़ और अटल हो गया हो ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

बद्धयुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वंशी बजाने में उसके छिद्रों पर से उँगली हटाकर उसे खोलने की क्रिया । (संगीत) ।

बद्धरसाल–संज्ञा पुं० [सं०] उत्तम जाति का एक प्रकार का आम ।

बद्धवर्च्चस्–वि० [सं०] मलरोधक ।

बद्धशिख–वि० [सं०] जिसकी शिखा या चोटी बँधी हो ।

विशेष—बिना शिखा बाँधे जो कुछ धर्म्म कार्य किया जाता है वह निष्फल होता है ।

संज्ञा पुं० शिशु । बच्चा ।

बद्धशिखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] उच्चटा । भूम्यामलकी ।

बद्धसूतक–संज्ञा पुं० [सं०] रसेश्वर दर्शन के अनुसार बद्ध रस या पारा जो अक्षत, लघुद्रावी, तेजोविशिष्ट, निर्मल और गुरु कहा गया है ।

विशेष—रसेश्वर दर्शन में देह को स्थिर या अमर करने पर मुक्ति कही गई है । यह स्थिरता रस या पारे की सिद्धि द्वारा प्राप्त होती है ।

बद्धी–संज्ञा स्त्री० [सं० बद्ध] (१) वह जिससे कुछ कसें या बाँधें । डोरी । रस्सी । तसमा । जैसे, तबले की बद्धी । (२) माला या सिकड़ी के आकार का चार लड़ों का एक गहना जिसकी दो लड़ें तो गले में होती हैं और दो लड़ें दोनों कंधों पर से जनेऊ की तरह होती हुई छाती और पीठ तक गई रहती हैं ।

बद्धोदर–संज्ञा पुं० [सं०] बद्धगुदोदर रोग ।

बध–संज्ञा पुं० [सं०] वह व्यापार जिसका फल प्राण-वियोग हो । मार डालना । हनन । हत्या ।

बधक–वि० [सं०] बध करनेवाला ।

बधगराड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाध+गराड़ी] रस्सी बटने का औज़ार ।

बधत्र–संज्ञा पुं० [सं०] अस्त्र ।

बधना–क्रि० स० [सं० बध+ना (प्रत्य०)] मार डालना । बध करना । हत्या करना ।

संज्ञा पुं० [सं० वर्द्धन=मिट्टी का गड़ुवा] (१) मिट्टी या धातु का टोंटीदार लोटा जिसका व्यवहार अधिकतर मुसलमान करते हैं । (२) चूड़ीवालों का एक औज़ार ।

बधभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ अपराधियों को प्राणदंड दिया जाता हो ।

बधाई–संज्ञा स्त्री० [सं० वर्द्धन, हिं० बढ़ना, बढ़ती, बढ़ाई] (१) वृद्धि । बढ़ती । (२) पुत्रजन्म पर होनेवाला आनंदमंगल । बेटा होने का उत्सव या ख़ुशी । (३) मंगल अवसर का गाना बजाना । मंगलाचार । उ०—नंद घर बजति अनंद बधाई ।—सूर ।

क्रि० प्र०—बजना ।

(४) आनंद । मंगल । उत्सव । ख़ुशी । चहल पहल ।

(५) किसी संबंधी, इष्ट मित्र आदि के यहाँ पुत्र होने पर आनंद प्रकट करनेवाला वचन या सँदेसा । मुबारकबाद ।

क्रि० प्र०—देना ।

(६) इष्ट मित्र के शुभ, आनंद या सफलता के अवसर पर आनंद प्रकट करनेवाला वचन या संदेसा । मुबारकबाद । जैसे, (क) जीत की बधाई, पास होने की बधाई । (ख) तुम्हें इसकी बधाई है ।

क्रि० प्र०—देना ।

(७) उपहार जो मंगल या शुभ अवसर पर दिया जाय ।

बधाना–क्रि० स० [हिं० बधना का प्रे०] बध कराना । दूसरे से मरवाना ।

बधाया–संज्ञा पुं० [हिं० बधाई] बधाई । उ०—जब तें राम ब्याहि घर आये । नित नव मंगल मोद बधाये ।—तुलसी ।

बधावना–संज्ञा पुं० दे० "बधावा" ।

बधावा–संज्ञा पुं० [हिं० बधाई] (१) बधाई । (२) आनंद मंगल के अवसर का गाना बजाना । मंगलाचार ।

क्रि० प्र०—बजना ।

(३) उपहार जो संबंधियों या इष्टमित्रों के यहाँ से पुत्र जन्म, विवाह आदि मंगल अवसरों पर आता है । (मिठाई, फल, कपड़े गहने आदि) ।

क्रि० प्र०—आना ।—जाना ।—भेजना ।

बधिक–संज्ञा पुं० [सं० वधक] (१) बध करनेवाला । मारनेवाला । हत्यारा । (२) प्राणदंड पाए हुए का प्राण निकालनेवाला । जल्लाद । (३) व्याध । बहेलिया ।

बधिया–संज्ञा पुं०[हिं० बध=मारना] (१) वह बैल या और कोई पशु जो अंडकोश कुचल या निकालकर 'षंढ कर दिया गया हो । नपुंसक किया हुआ चौपाया । ख़स्सी । आख़्ता । चौपाया जो आँडू न हो ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

मुहा०—बधिया बैठना=घाटा होना । टोटा होना । दिवाला निकलना । (लश०) ।

(२) एक प्रकार का मीठा गन्ना ।

बधियाना‡–क्रि० स० [हिं० बधिया] बधिया करना । बधिया बनाना ।

बधिर–संज्ञा पुं० [सं०] जिसमें श्रवण-शक्ति न हो । जिसमें सुनने की शक्ति न हो । बहरा ।

बधिरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रवण शक्ति का अभाव। बहरापन।

बधू–संज्ञा स्त्री० दे० "वधू"।

बधूक–संज्ञा पुं० दे० "बंधूक"।

बधूटी–संज्ञा स्त्री० [सं० वधूटी] (१) पुत्र की स्त्री। पतोहू। (२) सुवासिनी। सुहागिन स्त्री। सौभाग्यवती स्त्री। (३) नई आई हुई बहू।

बधूरा–संज्ञा पुं० [हिं० बहुधूर] अंधड़। बगूला। बवंडर। चक्रवात। उ०—(क) ज्यों बधूरा बाव मध्य मध्य बधूरा बाव। त्यों ही जग मध्ये ब्रह्म है ब्रह्म मध्ये जगत सुभाव।—कबीर। (ख) चढ़ै बधूरे चंग ज्यौं ज्ञान ज्यौं सोक समाज। करम धरम सुख संपदा, त्यौं जानिबे कुराज।—तुलसी।

बधैया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बधाई"।

बध्य–वि० [सं०] मारने के योग्य।

बन–संज्ञा पुं० [सं० वन] (१) जंगल। कानन। अरण्य। (२) समूह। (३) जल। पानी। उ०—बाँध्यो बननिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीश।—तुलसी। (४) बगीचा। बाग। उ०—बासव बरुण विधि बन ते सोहावनो, दसानन को कानन बसंत को सिंगार सो।—तुलसी। (५) निराने या नींदने की मज़दूरी। निरौनी। निँदाई। (६) वह अन्न जो किसान लोग मज़दूरों को खेत काटने की मज़दूरी के रूप में देते हैं। (७) कपास का पेड़। कपास का पौधा। उ०—सन सूक्यो बीत्यो बनौ ऊखौ लई उखार। अरी हरी अरहर अजौं धर धरहर जिय नार।—बिहारी। (८) वह भेंट जो किसान लोग अपने ज़मींदार को किसी उत्सव के उपलक्ष में देते हैं। शादियाना। (९) दे० "वन"।

बनआलू–संज्ञा पुं० [हिं० बन+आलू] पिंडालू और ज़मींकंद आदि की जाति का एक प्रकार का पौधा जो नेपाल, सिकिम, बंगाल, बरमा और दक्षिण भारत में होता है। यह प्रायः जंगली होता है और बोया नहीं जाता। इसकी जड़ प्रायः जंगली या देहाती लोग अकाल के समय खाते हैं।

बनउर‡–संज्ञा पुं० (२) दे० "बिनौला"। (२) दे० "ओला"।

बनकंडा–संज्ञा पुं० [हिं० वन+कंडा] वह कंडा जो वन में पशुओं के मल के आपसे आप सूखने से तैयार होता है। अरना कंडा।

बनक*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना] (१) बनावट। सजावट। सजधज।—द्विजदेव की सौं ऐसी बनक निकाई देखि, राम की दोहाई मन होत हैं निहाल मम।—द्विजदेव। (२) बाना। वेष। भेस।

संज्ञा स्त्री० [सं० वन+क (प्रत्य०)] बन की उपज। जंगल की पैदावार। जैसे, गोंद, लकड़ी, शहद आदि।

बनककड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० बनकर्कटी] पापड़े का पेड़ जो सिकिम से लेकर शिमले तक पाया जाता है। इस पौधे से एक प्रकार का गोंद और एक प्रकार का रंग भी निकाला जाता है। इसका गोंद दवा के काम आता है।

बनकटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का बाँस जिससे पहाड़ी लोग टोकरे बनाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० वन+काटना] जंगल काटकर उसे आबाद करने का स्वत्व वा अधिकार जो ज़मींदार या मालिक की ओर से किसानों आदि को मिलता है।

बनकर–संज्ञा पुं० [सं० वनकर] (१) एक प्रकार का अस्त्रसंहार। शत्रु के चलाए हुए हथियार को निष्फल करने की एक युक्ति। (२) जंगल में होनेवाले पदार्थों अर्थात् लकड़ी घास आदि की आमदनी। (३) सूर्य्य। (डिंगल)

बनकला–संज्ञा पुं० [हिं० बन+कला] एक प्रकार का जंगली पेड़।

बनकस–संज्ञा पुं० [हिं० बन+कुश] एक प्रकार की घास जिसे बनकुस, बँभनी, मोय और बाभर भी कहते हैं। इससे रस्सियाँ बनाई जाती हैं।

बनकोरा–संज्ञा पुं० [दे०] लोनिया का साग। लोनी।

बनखंड–संज्ञा पुं० [सं० वनखंड] जंगल का कोई भाग। जंगली प्रदेश।

बनखंडी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+खंड=टुकड़ा] (१) बन का कोई भाग। (२) छोटा सा बन।

संज्ञा पुं० बन में रहनेवाला। जंगल में रहनेवाला। उ०—उसी व्यथा से है परिपीड़ित, यह बनखंडी आप।

बनखरा–संज्ञा पुं० [हिं० बन+खरा ?] वह भूमि जिसमें पिछली फ़सल में कपास बोई गई हो।

बनखोर–संज्ञा पुं० [देश०] कौर नामक वृक्ष। विशेष—दे० "कौर"।

बनगाव–संज्ञा पुं० [हिं० बन+फ़ा० गाव, हिं० गौ०] (१) एक प्रकार का बड़ा हिरन जिसे रोझ भी कहते हैं। (२) एक प्रकार का तेंदू वृक्ष।

बनचर–संज्ञा पुं० [सं० वनचर] (१) जंगल में रहनेवाला पशु। वन्य पशु। (२) बन में रहनेवाला मनुष्य। जंगली आदमी। (३) जल में रहनेवाले जीव। जैसे, मछली, मगर आदि।

बनचरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की जंगली घास जिसकी पत्तियाँ ज्वार की पत्तियों की तरह होती हैं। बरो।

संज्ञा पुं० जंगली पशु।

बनचारी–संज्ञा पुं० [सं० वनचारिन्] (१) बन में घूमनेवाला। (२) बन में रहनेवाला आदमी। (२) जंगली जानवर।

(४) मछली, मगर, घड़ियाल, कछुवा आदि जल में रहनेवाले जंतु।

बनचौंर, बनचौंरी–संज्ञा स्त्री० [सं० वन+चमरी] नेपाल के पहाड़ों में रहनेवाली एक प्रकार की जंगली गाय जिसकी पूँछ की चँवर बनाई जाती है। सुरागाय। सुरभी।

बनज–संज्ञा पुं० [सं० वनज] (१) कमल। उ०—(क) जय रघुबंश-बनज-बन-भानू।—तुलसी। (२) जल में होनेवाले पदार्थ। जैसे, शंख, कमल, मछली आदि।

संज्ञा पुं० [सं० वाणिज्य] वाणिज्य। व्यवसाय। व्यापार। रोजगार।

बनजर–संज्ञा स्त्री० दे० "बंजर"।

बनजात–संज्ञा पुं० [सं० वनजात] कमल। उ०—बरन बरन विकसे बनजाता।—तुलसी।

बनजारा–संज्ञा पुं० [हिं० बनिज+हारा] (१) वह व्यक्ति जो बैलों पर अन्न लादकर बेचने के लिए एक देश से दूसरे देश को जाता है। टांडा लादनेवाला व्यक्ति। टँड़िया। टँड़वरिया। बंजारा। उ०—सब ठाट पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेंगे बनजारा।—नज़ीर। (२) बनिया। व्यापारी। सौदागर। उ०—(क) चितउर गढ़ कर इक बनजारा। सिंहलदीप चला बैपारा।—जायसी। (ख) हठी मरहठी तामें राख्यो ना मवास कोऊ, छीने हथियार सबै डोलैं बनजारे से।—भूषण।

बनजी*†–संज्ञा पुं० [सं० वाणिज्य] (१) व्यापार। रोज़गार। (२) व्यापारी। रोज़गार करनेवाला।

बनज्योत्स्ना–संज्ञा स्त्री० [सं० वनज्योत्स्ना] माधवी लता।

बनड़ा–संज्ञा पुं० [?] बिलावल राग का एक भेद। यह राग झंपताल पर गाया जाता है।

बनड़ाजैत–संज्ञा पुं० [?] एक शालक राग जो रूपक ताल पर बजता है।

बनड़ादेवगरी–संज्ञा पुं० [?] एक शालक राग जो एक ताले पर बजाया जाता है।

बनत–संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना+त (प्रत्य०)] (१) रचना। बनावट। (२) अनुकूलता। सामंजस्य। मेल। (२) मखमल वा किसी रेशमी कपड़े पर सलमें सितारे की बनी हुई बेल जिसके दोनों ओर हाशिया होता है। जिस बेल के एकही ओर हाशिया होता है उसे चपरास कहते हैं।

बनताई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+ताई (प्रत्य०)] बन की सघनता वा भयंकरता।

बनतुरई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+तुरई] बंदाल।

बनतुलसी–संज्ञा स्त्री० [सं० वन+तुलसी] बबई नाम का पौधा जिसकी पत्ती और मंजरी तुलसी की सी होती हैं। बर्बरी।

बनद*–संज्ञा पुं० [सं० वनद] बादल। मेघ।

बनदाम–संज्ञा स्त्री० [सं० वनदाम] बनमाला।

बनदेवी–संज्ञा स्त्री० [सं० बनदेवी] किसी बन की अधिष्ठात्री देवी।

बनधातु–संज्ञा स्त्री० [सं०] गेरू या और कोई रंगीन मिट्टी। उ०—बका बिदारि चले ब्रज को हरि। सखा संग आनंद करत सब अंग अंग बनधातु चित्र करि।—सूर।

बनना–क्रि० अ० [सं० वर्णन, प्रा० वण्णन=चित्रित होना, रचाजाना।] (१) सामग्री की उचित योजना द्वारा प्रस्तुत होना। तैयार होना। रचा जाना। जैसे, सड़क बनना, मकान बनना, संदूक बनना।

मुहा०—बना रहना=(१) जीता रहना। संसार में जीवित रहना। जैसे,—ईश्वर करे यह बालक बना रहे। (२) उपस्थित रहना। मौजूद रहना। ठहरा रहना। जैसे,—यह तो आपका घर ही है, जब तक आप चाहें, बने रहें।

(२) किसी पदार्थ का ऐसे रूप में आना जिसमें वह व्यवहार में आ सके। काम में आने के योग्य होना। जैसे, रसोई बनना, रोटी बनना। (३) ठीक दशा या रूप में आना। जैसा चाहिए वैसा होना। जैसे, अनाज बनना। हजामत बनना। (४) किसी एक पदार्थ का रूप परिवर्त्तित करके दूसरा पदार्थ हो जाना। फेरफार या और वस्तुओं के मेल से एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में हो जाना। जैसे, चीनी से शरबत बनना। (५) किसी दूसरे प्रकार का भाव या संबंध रखनेवाला हो जाना। जैसे, शत्रु का मित्र बनना। (६) कोई विशेष पद, मर्यादा या अधिकार प्राप्त करना। जैसे, अध्यक्ष बनना, मंत्री बनना, निरीक्षक बनना। (७) अच्छी या उन्नत दशा में पहुँचना। धनी मानी हो जाना। जैसे,—वे देखते देखते बन गए। (८) वसूल होना। प्राप्त होना। मिलना। जैसे,—अब इस अलमारी के पाँच रुपये बन जायँगे। (९) समाप्त होना। पूरा होना। जैसे,—अब यह तस्वीर बन गई। (१०) आविष्कार होना। ईजाद होना। निकलना। जैसे,—आज कल कई नई तरह के टाइपराइटर बने हैं। (११) मरम्मत होना। दुरुस्त होना। जैसे, उनके यहाँ घड़ियाँ भी बनती हैं और बाइसिकलें भी। (१२) संभव होना। हो सकना। जैसे,—जिस तरह बने, यह काम आजही कर डालो। उ०—बनै न बरनत बनी बराता।—तुलसी।

मुहा०—प्राणों पर या जान पर आ बनना=ऐसा संकट या कठिनता पड़ना जिसमें प्राण जाने का भय हो।

(१३) आपस में निभना। पटना। मित्रभाव होना। जैसे,—आज कल उन लोगों में ख़ूब बनती है। (१४) अच्छा सुन्दर या स्वादिष्ट होना। जैसे,—रँगने से यह मकान बन गया। (१५) सुयोग मिलना। सुअवसर

मिलना। जैसे,—जब दो आदमियों में लड़ाई होती है, तब तीसरे की ही बनती है।

संयो० क्रि०—आना।—पड़ना।

(१६) स्वरूप धारण करना। जैसे,—थिएटर में वह बहुत अच्छा अफ़ीमची बनता है। (१७) मूर्ख ठहरना। उपहासास्पद होना। जैसे,—आज तो तुम ख़ूब बने। (१८) अपने आपको अधिक योग्य गंभीर अथवा उच्च प्रमाणित करना। महत्व की ऐसी मुद्रा धारण करना जो वास्तविक न हो। जैसे,—वह छोकरा हम लोगों के सामने भी बनता है।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—बनकर=अच्छी तरह। भली भाँति। पूर्णरूप से। उ०—(क) मनमोहन सों बिछुरे इतही बनिकै न अबै दिन द्वै गये हैं। सखि वे हम वे तुम वेई बनो पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।—पद्माकर। (ख) यमपुर द्वारे लगे तिनमें केवारे कोऊ हैं न रखवारे ऐसे बनकै उजारे हैं।—पद्माकर।

(१९) ख़ूब सिंगार करना। सजना। सजावट करना।

यौ०—बनना सँवरना, बनना ठनना=ख़ूब अच्छी तरह अपनी सजावट करना। ख़ूब श्रृंगार करना।

बननि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना] (१) बनावट। (२) बनाव सिंगार।

बननिधि–संज्ञा पुं० [सं० वननिधि] समुद्र।

बन पिंडालू–संज्ञा पुं० [हिं० बन+पिंडालू] एक जंगली वृक्ष जो बहुत बड़ा नहीं होता। इसकी लकड़ी ज़र्दी लिए भूरे रंग की और कंघी, क़लमदान या नक्काशीदार चीज़ें बनाने के काम में आती है। यह पेड़ मध्य देश, बंगाल और मद्रास में होता है।

बनपट*–संज्ञा पुं० [सं०] वृक्षों की छाल आदि से बनाया हुआ कपड़ा।

बनपति–संज्ञा पुं० [सं० वनपति] सिंह। शेर।

बनपथ–संज्ञा पुं० [सं० वनपथ] (१) समुद्र। (२) वह रास्ता जिसमें जल बहुत पड़ता हो। (३) वह रास्ता जिसमें जंगल बहुत पड़ता हो।

बनपाट–संज्ञा पुं० [हिं० बन+पाट] जंगली सन। जंगली पटुआ।

बनपाती*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+पत्ती] वनस्पति।

बनपाल–संज्ञा पुं० [सं० वनपाल] बन या बाग़ का रक्षक। माली।

बनप्रिय–संज्ञा पुं० [सं० वनप्रिय] कोयल। कोकिल।

बनफल–संज्ञा पुं० [हिं० बन+फल] जंगली मेवा।

बनफ़्शई–वि० [फ़ा०] बनफ्शे के रंग का।

बनफ़्शा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की वनस्पति जो नेपाल, काश्मीर और हिमालय पर्वत के दूसरे स्थानों में ५००० फुट तक की ऊँचाई पर होती है। इसका पौधा बहुत छोटा होता है जिसमें बहुत पतली और छोटी शाखाएँ निकलती हैं जिनके सिरे पर बैंगनी, या नीले रंग के ख़ुशबूदार फूल होते हैं। इसकी पत्तियाँ अनार की पत्तियों से कुछ मिलती जुलती होती हैं। इसकी जड़, फूल और पत्तियाँ तीनों ही औषधि के काम में आते हैं। साधारणतः फूल और पत्तियों का व्यवहार ज़ुकाम और ज्वर आदि में होता है और जड़ दस्तावर दवाओं के साथ मिलाकर दी जाती है। फूलों और जड़ का व्यवहार वमन कराने के लिए भी होता है और ख़ाली फूल पेशाब लानेवाले माने जाते हैं।

बनबकरा–संज्ञा पुं० [हिं० बन+बकरा] एक प्रकार का पक्षी जो काश्मीर और भूटान आदि ठंढे देशों में पाया जाता है। यह रंग में भूरा और लंबाई में लगभग एक फुट के होता है। यह घास और पत्तियों से भूमि पर या नीची झाड़ियों में घोंसला बनाता है। अपरैल से जून तक इसके अंडे देने का समय है। यह एक बार में तीन चार अंडे देता है।

बनबास–संज्ञा पुं० [सं० वनवास] (१) बन में बसने की क्रिया या अवस्था। (२) प्राचीन काल का देशनिकाले का दंड। जलावतनी।

बनबासी–संज्ञा पुं० [सं० वनवासी] (१) बन में रहनेवाला। वह जो बन में बसे। (२) जंगली।

बनबाहन–संज्ञा पुं० [सं० वनवाहन] जलयान। नाव। नौका। उ०—जब पाहन भे बन-बाहन से उतरे बनरा जय राम रढ़ै।—तुलसी।

बनबिलाव–संज्ञा पुं० [हिं० बन+बिलाव=बिल्ली] उत्तर भारत, बंगाल और उड़ीसा में मिलनेवाला बिल्ली की जाति का और उससे बहुत ही मिलता जुलता एक जंगली जंतु जिसे लोग प्रायः बिल्ली ही मानते हैं। यह बिल्ली से कुछ बड़ा होता है और इसके हाथ पैर छोटे तथा दृढ़ होते हैं। इसका रंग मटमैला भूरा होता है और इसके शरीर पर काले लंबे दाग़ और पूँछ पर काले छल्ले होते हैं। यह प्रायः दलदलों में रहता है और वहीं मछली पकड़कर खाता है। यह कुछ अधिक भीषण होता है और कभी कभी कुत्तों या बछड़ों पर भी आक्रमण कर बैठता है।

बनमानुष–संज्ञा पुं० [हिं० बन+मानुष] (१) बंदरों से कुछ उन्नत और मनुष्य से मिलता जुलता कोई जंगली जंतु। जैसे, गोरिल्ला, चिंपैंजी आदि। (२) बिलकुल जंगली आदमी। (परिहास)

बनमाला–संज्ञा स्त्री० [सं० वनमाला] तुलसी, कुंद, मंदार, परजाता और कमल इन पाँच चीज़ों की बनी हुई माला। ऐसी माला का वर्णन हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्य में विष्णु,

कृष्ण, राम आदि देवताओं के संबंध में बहुत आता है। कहा है कि यह माला गले से पैरों तक लंबी होनी चाहिए।

बनमाली–संज्ञा पुं० [सं० वनमाली] (१) बनमाला धारण करनेवाला। (२) कृष्ण। (३) विष्णु। नारायण। (४) मेघ। बादल। उ०—बनमाली ब्रज पर बरसत बनमाली बनमाली दूर दुख केशव कैसे सहौं।—केशव। (५) बन से घिरा हुआ देश। जिस प्रदेश में घने बन हों। उ०—बनमाली ब्रज पर बरसत बनमाली बनमाली दूर दुख केशव कैसे सहौं।—केशव।

बनमुर्गा–संज्ञा पुं० [हिं० बन+फ़ा० मुर्ग] जंगली मुरगा।

बनमुर्गिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+फ़ा० मुर्गी+इया (प्रत्य०)] हिमालय की तराई में रहनेवाला एक प्रकार का पक्षी जिसका गला और सीना सफ़ेद, सारा शरीर आसमानी रंग का और चोंच जंगली रंग की होती है। यह पक्षी भूमि पर भी चलता है और पानी में भी तैर सकता है। इसका मांस खाया जाता है।

बनरखा–संज्ञा पुं० [हिं० बन+रखना=रक्षा करना] (१) जंगल की रखवाली करनेवाला। बन का रक्षक। (२) बहेलियों तथा जंगल में रहनेवालों की एक जाति। इस जाति के लोग प्रायः राजा महाराजाओं को शिकार के संबंध की सूचनाएँ देते हैं और शिकार के समय जंगली जानवरों को घेर कर सामने लाते और उनका शिकार कराते हैं।

बनरा*‡–संज्ञा पुं० दे० "बंदर"।

संज्ञा पुं० [हिं० बनना] (१) वर। दूल्हा। (२) विवाह समय का एक प्रकार का मंगल गीत। उ०—गावैं विधवा अपन कहि बनरा दुलहिन केर।—रघुनाथदास।

बनराज*†–संज्ञा पुं० [सं० बनराज] (१) बन का राजा, सिंह। शेर। (२) बहुत बड़ा पेड़।

बनराय–संज्ञा पुं० दे० "बनराज"।

बनरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बनरा का स्त्री०] नववधू। नई ब्याही हुई वधू। उ०—सखी लखु सिय बनरी घर आई। परिछन करि सब सासु उतारी पुनि पुनि लेत बलाई।—रघुराज।

बनरीठा–संज्ञा पुं० [हिं० बन+रीठा] एक प्रकार का जंगली रीठा जिसकी फलियों से लोग सिर के बाल साफ़ करते हैं। इसका पेड़ कांटेदार होता है और सारे भारत में पाया जाता है। इसके पत्ते खट्टे होते हैं; इसलिए कहीं कहीं लोग उसकी तरकारी बना कर भी खाते हैं। एला।

बनरीहा–संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+रीहा (रीस) या सं०रुह=पौधा] एक प्रकार की घास जिसकी छाल से सुतली वा सूत बनाया जा सकता है। यह घास खसिया पहाड़ी पर बहुतायत से होती है। इसे रीसा या बनकटरा भी कहते हैं। कुछ लोग इसी को बनरीठा भी कहते हैं, परंतु वह इससे भिन्न है।

बनरुह–संज्ञा पुं० [सं० वनरुह] (१) जंगल में आपसे आप होनेवाला वृक्ष या पौधा। जंगली पेड़। (२) कमल। उ०—रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित फेरत चाप विशिष बनरुह कर।—तुलसी।

बनरुहिया–संज्ञा स्त्री० [सं० वनरुह] एक प्रकार की कपास।

बनवना*‡–क्रि० स० दे० "बनाना"।

बनवर‡–संज्ञा पुं० दे० "बिनौला"।

बनवसन*–संज्ञा पुं० [सं० वनवसन] वृक्षों की छाल का बना हुआ कपड़ा।

बनवा–संज्ञा पुं० [सं० वन=जल+वा (प्रत्य०)] पनडुब्बी नामक जल-पक्षी।

संज्ञा पुं० [सं० वन=जंगल] एक प्रकार का बछनाग।

बनवाना–क्रि० स० [हिं० बनाना का प्रे० रूप] दूसरे को बनाने में प्रवृत्त करना। बनाने का काम दूसरे से कराना।

बनवारी–संज्ञा पुं० [सं० बनमाली] श्रीकृष्ण का एक नाम।

बनवासी–संज्ञा पुं० [सं० वनवासी] बन का निवासी। जंगल में रहनेवाला।

बनवैया†–संज्ञा पुं० [हिं० बनाना+वैया (प्रत्य०)] बनानेवाला।

बनसपती–संज्ञा स्त्री० दे० "वनस्पति"।

बनसार–संज्ञा पुं० [सं० वन=जल+सार ?] जहाज़ पर चढ़ने और उससे उतरने का स्थान। बंगसार। (लश०)

बनसी–संज्ञा स्त्री० दे० "वंशी"।

बनस्थली–संज्ञा स्त्री० [सं० वनस्थली] जंगल का कोई भाग। वनखंड।

बनस्पति–संज्ञा पुं० दे० "वनस्पति"।

बनस्पति विद्या–संज्ञा स्त्री० दे० "वनस्पति शास्त्र"।

बनहटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी नाव जो डाँड़ से खेई जाती है।

बनहरदी–संज्ञा स्त्री० [सं० वनहरिद्रा] दारु हल्दी। दारु हरिद्रा।

बना–संज्ञा पुं० [हिं० बनना] [स्त्री० बनी] वर। दूल्हा।

संज्ञा पुं० [?] एक छंद का नाम जिसमें १०, ८ और १४ के विश्राम से ३२ मात्राएँ होती हैं। इसका दूसरा और प्रसिद्ध नाम 'दंडकला' है।

बनाइ(य)–क्रि० वि० [हिं० बनाकर=अच्छी तरह] (१) बिलकुल। निपट। अत्यंत। नितांत। उ०—(क) देखि घोर तप शक्र उर कंपित भयो बनाइ। मनमथ सकल समाज जुत आदर कीन्ह बुलाइ। (ख) हरि तासों कियो युद्ध बनाई। सब सुर मन में गये डराई।—सूर। (२) भली भाँति। अच्छी तरह। उ०—सूर गुरु महिसुर संत की सेवा करइ बनाइ।

बनाउ–संज्ञा पुं० दे० "बनाव"।

बनाउरि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बाणावली"।

बनाग्नि–संज्ञा स्त्री० [सं० वनाग्नि] दावानल। दवारि।

बनात-संज्ञा स्त्री [हिं० बाना] एक प्रकार का बढ़िया ऊनी कपड़ा जो कई रंगों का होता है।

बनाती-वि० [हिं० बनात+ई (प्रत्य०)] (१) बनात संबंधी। (२) बनात का बना हुआ।

बनाना-क्रि० स० [हिं० बनना का स० रूप] (१) रूप या अस्तित्व देना। सृष्टि करना। प्रस्तुत करना। रचना। तैयार करना। जैसे,—(क) यह सारी सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई है। (ख) अभी हाल में कुछ नए कानून बनाए गए हैं। (ग) वे आजकल एक महाकाव्य बना रहे हैं। (घ) इस सड़क पर एक अस्पताल बन रहा है।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

मुहा०—बना कर=खूब अच्छी तरह। भली भाँति। पूर्ण रूप से। जैसे,—आज यह लड़का ख़ूब बनाकर पीटा गया है। बनाए रखना=जीवित रखना। जीता रहने देना। जैसे, ईश्वर आपको बनाए रखें। (आशीर्वाद)

(१) किसी पदार्थ को काट छाँटकर गढ़कर, संवारकर पकाकर या और किसी प्रकार तैयार करना। ऐसे रूप में लाना जिसमें वह व्यवहार में आ सके। रूप परिवर्तित करके काम में आने लायक़ करना। जैसे, क़लम बनाना, भोजन बनाना, कुरता बनाना। (३) ठीक दशा या रूप में लाना। जैसा होना चाहिए वैसा करना। जैसे, अनाज बनाना, हजामत बनाना, बाल बनाना (कंघी से सँवारना), तरकारी बनाना (छील या काटकर ठीक करना या पकाना)। (४) एक पदार्थ के रूप को बदलकर दूसरा पदार्थ तैयार करना। जैसे, गुड़ से चीनी बनाना, मक्खन से घी बनाना। (५) दूसरे प्रकार का भाव या संबंध रखनेवाला कर देना। जैसे, दुश्मन को दोस्त बनाना, संबंधी बनाना। (६) कोई विशेष पद, मर्यादा या शक्ति आदि प्रदान करना। जैसे, सभापति बनाना, मनेजर बनाना, तहसीलदार बनाना, नेता बनाना। (७) अच्छी या उन्नत दशा में पहुँचाना। जैसे,—उन्होंने अपने आपको कुछ बना लिया। (८) उपार्जित करना। वसूल करना। प्राप्त करना। जैसे,—उसने बहुत रुपया बनाया। (९) समाप्त करना। पूरा करना। जैसे,—अभी तस्वीर नहीं बनाई। (१०) आविष्कार करना। ईजाद करना। निकालना। जैसे,—उन्होंने एक नई तरह की बाइसिकिल बनाई है जो पानी पर भी चलती है और ज़मीन पर भी। (११) मरम्मत करना। दोष दूर करके ठीक करना। जैसे, घड़ी बनाना, बाइसिकिल बनाना। (१२) मूर्ख ठहराना। उपहासास्पद करना। जैसे,—आज वहाँ सब लोगों ने मिल कर इन्हें ख़ूब बनाया।

बनाफर-संज्ञा पुं० [सं० वन्यफल ?] क्षत्रियों की एक जाति। आल्हा ऊदल इसी जाति के क्षत्रिय थे।

बनाबंत, बनावनत*†-संज्ञा पुं० [हिं० बनना+अबनना] विवाह करने के विचार से किसी लड़के और लड़की की जन्मपत्रियों का मिलान। इसे 'बनता बनत' भी कहते हैं।

क्रि० प्र०—बनना।—मिलना।

बनाम-अव्य० [फ़ा०] नाम पर। नाम से। किसी के प्रति।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा अदालती कार्रवाइयों में वादी और प्रतिवादी के नामों के बीच में होता है। यह वादी के नाम के पीछे और प्रतिवादी के नाम के पहले रखा जाता है। जैसे, रामनाथ (वादी) बनाम हरदेव (प्रतिवादी)।

बनाय†-क्रि० वि० [हिं० बनाकर=अच्छी तरह] (१) बिलकुल। पूर्णतया। उ०—पवन सुवन लंकेश हू खोजत खोजत जाय। जामवंत कहँ लखत भे शर जर्जरित बनाय।—रघुराज। (२) अच्छी तरह से। उ०—लाग्यो पुनि सेवा करन नृप संतन की आय। कनक थार सातहुन के धोये चरन बनाय।—रघुनाथ।

बनार-संज्ञा पुं० [?] (१) चाकसू नामक ओषधि का वृक्ष। (२) कासमर्द। काला कसौंदा। (३) एक प्राचीन राज्य जो वर्त्तमान काशी की उत्तर सीमा पर था। कहते हैं कि "बनारस" का नाम इसी राज्य के नाम पर पड़ा है।

बनारसी-वि० [हिं० बनारस+ई (प्रत्य०)] (१) काशी संबंधी। काशी का। जैसे, बनारसी दुपट्टा, बनारसी जरी। (२) काशीनिवासी।

बनारी-संज्ञा स्त्री० [सं० प्रणाली] एक बालिश्त लंबी और छः अंगुल चौड़ी लकड़ी जो कोल्हू की खुदी हुई कमर में कुछ नीचे लगी रहती है और जिससे नीचे नाँद में रस गिरता है।

बनाल, बनाला-संज्ञा पुं० दे० "बंदाल"।

बनाव-संज्ञा पुं० [हिं० बनना+आव (प्रत्य०)] (१) बनावट। रचना। (२) शृंगार। सजावट।

यौ०—बनावसिंगार।

(३) तरकीब। युक्ति। तदबीर। उ०—जो नहिं जाउँ रहइ पछितावा। करत विचार न बनइ बनावा।—तुलसी।

बनावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बनाना+वट (प्रत्य०)] (१) बनने या बनाने का भाव। रचना। गढ़न। जैसे, इन दोनों कुरसियों की बनावट में बहुत अंतर है। (२) ऊपरी दिखावा। आडंबर। जैसे, जिन आदमियों में बनावट होती है, वे शीघ्र ही लोगों की आँखों से गिर जाते हैं।

बनावटी-वि० [हिं० बनावट] बनाया हुआ। नक़ली। कृत्रिम। जैसे, बनावटी हीरा।

बनावन-संज्ञा पुं० [हिं० बनाना] कँकड़ियाँ, मिट्टी, छिलके

और दूसरे फालतू पदार्थ जो अन्न आदि को साफ़ करने पर निकलें। बिनन। जैसे,—इस गेहूँ में बनावन कम निकलेगा।

बनावनहारा-संज्ञा पुं० [हिं० बनाना+हारा (प्रत्य०)] (१) बनानेवाला। वह जिसने बनाया हो। रचयिता। (२) सुधार करनेवाला। वह जो बिगड़े हुए को बनाए।

बनास-संज्ञा स्त्री० [देश०] राजपूताने की एक नदी का नाम जो अर्वली पर्वत से निकल कर चंबल में मिलती है।

बनासपती-संज्ञा स्त्री० [सं० वनस्पति] (१) जड़ी, बूटी, पत्र, पुष्प इत्यादि। पौधों, पेड़ों वा लताओं के पंचांग में से कोई अंग। फल फूल पत्ता आदि। उ०—आनि बनासपती वनते सब तीरथ के जल कुंभ भरे हैं। आम को मौर धरौ तेहि ऊपर केसर सों लिखि पीत करे हैं।—हनुमान। (२) घास, साग पात इत्यादि। उ०—ऐसी परीं नरम हरम पातसाहन की, नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं।—भूषण।

बनि*†-वि० [हिं० बनना] पूर्ण। समस्त। सब। उ०—अमित काल मैं कीन्ह मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भल भूरी।—तुलसी।

बनिक-संज्ञा पुं० दे० "वणिक"।

बनिज-संज्ञा पुं० [सं० वाणिज्य] (१) व्यापार। वस्तुओं का क्रय विक्रय। रोज़गार। (२) व्यापार की वस्तु। सौदा। उ०—(क) कलियुग वर बिपुल बनिज नाम नगर खपत।—तुलसी। (३) मालदार मुसाफ़िर। धनी यात्री। (ठग)

बनिजना*†-क्रि० स० [सं० वाणिज्य, हिं० बनिज+ना (प्रत्य०)] (१) व्यापार करना। लेन देन करना। ख़रीदना और बेचना उ०—(क) सायक चाप तुरै बनिजाति हौ लिए सबै तुम जाहु—सूर। (ख) यह बनिजति वृषभान सुता तुम हम सों बैर बढ़ावति।—सूर। (ग) इन पर घर उत है घरा बनिजन आये हाट। करम करीना बेचिकै उठि कै चालो बाट।—कबीर। (२) मोल ले लेना। अपने अधीन कर लेना। उ०—गातन ही दिखराइ बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी।—देव।

बनिजारा-संज्ञा पुं० दे० "बनजारा" या "बंजारा"।

बनिजारिन, बनिजारी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बंजारा] बनजारा जाति की स्त्री। उ०—(क) लीन्हे फिरति रूप त्रिभुवन को ए नोखी बनिजारिन।—सूर। (ख) गातन ही दिखराय बटोहिन, बातन ही बनिज बनिजारी।—देव।

बनित*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना] बानक। वेश। साज बाज। उ०—चढ़ि यदुनंदन बनित बनाय कै। साजि बरात चले यादव चाय कै।—सूर।

बनिता-संज्ञा स्त्री० [सं० वनिता] (१) स्त्री। औरत। (२) भार्या। पत्नी।

बनिया-संज्ञा पुं० [सं० वणिक] [स्त्री० बनियाइन] (१) व्यापार करनेवाला व्यक्ति। व्यापारी। वैश्य। (२) आटा, दाल, चावल आदि बेचनेवाला। मोदी।

बनियाइन-संज्ञा स्त्री० [अं० बैनियन] जुर्राबी बुनावट की कुरती या बंडी जो शरीर से चिपकी रहती है। गंजी।

बनिस्बत-अव्य [फ़ा०] अपेक्षा। मुक़ाबले में। जैसे, उस कपड़े की बनिस्बत यह कपड़ा कहीं अच्छा है।

बनिहार-संज्ञा पुं० [हिं० बन+हार (प्रत्य०) अथवा हिं० बन्नी] वह आदमी जो कुछ वेतन अथवा उपज का अंश देने के वादे पर ज़मीन जोतने, बोने, फ़सल आदि काटने और खेत की रखवाली करने के लिए रखा जाय।

बनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बन] (१) बनस्थली। बन का एक टुकड़ा। (२) वाटिका। बाग। जैसे, अशोक बनी। उ०—अति चंचल जहँ चलदलै बिधवा बनी न नारि। मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि।—केशव।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बना] (१) नववधू। दुलहिन। (२) स्त्री। नायिका। उ०—अँगिया की तनी खुलिजात घनी सु बनी फिरि बाँधति है कसि कै।—देव।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बन] दक्षिण देश में उत्पन्न होनेवाली एक प्रकार की कपास।

संज्ञा पुं० [सं० बणिक] बनिया। उ०—बनी को जैसो मोल है।—घनानंद।

बनीनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बनी+ईनी (प्रत्य०)] वैश्य जाति की स्त्री। बनिये की स्त्री। उ०—नवजोबनी की जोबनी की जोति जीति रही, कैसी बनी नीकी बनीनी की छबि छाती में।—देव।

बनीर*-संज्ञा पुं० [सं० वानीर] बेंत।

बनेठी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बन+सं० यष्ठि] वह लंबी लाठी जिसके दोनों सिरों पर गोल लट्टू लगे रहते हैं। इसका व्यवहार पटेबाज़ी के अभ्यास और खेलों आदि में होता है।

यौ०—पटा-बनेठी।

बनेला-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रेशम का कीड़ा।

बनैला-वि० [हिं० बन+ऐला (प्रत्य०)] जंगली। वन्य। जैसे, बनैला सूअर।

बनोबास*†-संज्ञा पुं० दे० "वनवास"।

बनौटी-वि० [हिं० बन+औटी (प्रत्य०)] कपास के फूल का सा। कपासी। उ०—देखी सोनजुही फिरत सोनजुही से अंग। दुति लपटनि पट सेतहू करति बनौटी रंग।—बिहारी।

बनौरा‡-संज्ञा स्त्री० [सं० वन=जल+ओला] वर्षा के साथ गिरनेवाला ओला। पत्थर। हिमोपल।

बनौवा-वि० [हिं० बनाना+औवा (प्रत्य०)] बनावटी। कृत्रिम। नक़ली।

बन्नात-संज्ञा स्त्री० दे० "बनात"।

बन्नी–संज्ञा स्त्री० [देश०] अन्न का तिहाई अथवा और कोई भाग जो खेत में काम करनेवालों को काम करने के बदले में दिया जाता है।

बन्हि–संज्ञा स्त्री० दे० "वह्नि"।

बपंस‡–संज्ञा पुं० [हिं० बाप+सं० अंश] पिता से मिला हुआ अंश। बपौती। दाय।

बप*†–संज्ञा पुं० [सं० वप्र] बाप। पिता।

यौ०—बपमार=पिता को मारनेवाला। पितृघातक।

बपमार–वि० [हिं० बाप+मारना] (१) पिता का घातक। वह जो अपने पिता की हत्या करे। (२) सब के साथ धोखा और अन्याय करनेवाला।

बपतिस्मा–संज्ञा पुं० [अं०] ईसाई संप्रदाय का एक मुख्य संस्कार जो किसी व्यक्ति को ईसाई बनाने के समय किया जाता है। इसमें पादरी हाथ में जल लेकर अभिमंत्रित करता और ईसाई होनेवाले व्यक्ति पर छिड़कता है। यह संस्कार विधर्मियों को ईसाई बनाने के समय भी होता है और ईसाइयों के घर जन्मे हुए बालकों का भी होता है। इस संस्कार के समय संस्कृत होनेवाले का एक अलग नाम भी रखा जाता है जो उसके कुल-नाम के साथ जोड़ दिया जाता है। संस्कार के समय का यह नाम उनमें से कोई होता है जो इंजील में आए हैं।

बपना*†–क्रि० स० [सं० वपन] बीज बोना। उ०—कहु को लहे फल रसाल बबुर बीज बपत।—तुलसी।

बपु–संज्ञा पुं०[सं० वपु] (१) शरीर। देह। (२) अवतार। (३) रूप।

बपुरा†–वि० [सं० वराक ?] बेचारा। अशक्त। गरीब। अनाथ। उ०—शिव बिरंचि कहँ मोहै कोहै बपुरा आन।

बपौती–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाप+औती (प्रत्य०)] बाप से पाई हुई जायदाद। पिता से मिली हुई संपत्ति।

बप्पा†–संज्ञा पुं० [हिं० बाप] पिता। बाप।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग कुछ प्रांतों में प्रायः संबोधन रूप में होता है। जैसे, अरे मैया, अरे बप्पा।

बफारा–संज्ञा पुं० [हिं० भाप+आरा (प्रत्य०)] (१) औषध मिश्रित जल को औटा उसकी भाप से शरीर के किसी रोगी अंग को सेंकने का काम।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

(२) वह औषध जिसकी भाप से इस प्रकार का सेंक किया जाय।

बफौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाप] भाप से पकाई हुई बरी।

विशेष—बटलोई में अदहन चढ़ाकर उसके मुँह पर बारीक कपड़ा बाँध देते हैं। जब पानी खूब उबलने लगता है तब कपड़े पर बेसन वा उर्द की पकौड़ी छोड़ते हैं जो भाप से ही पकती है। इन्हीं पकौड़ियों को बफौरी कहते हैं।

बबकना–क्रि० अ० [अनु०] उत्तेजित होकर ज़ोर से बोलना। बमकना।

बबर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) बर्बरी देश का शेर। बड़ा शेर। सिंह। (२) एक प्रकार का मोटा कम्मल जिसमें शेर की खाल की सी धारियां बनी होती हैं।

बबा–संज्ञा पुं० दे० "बाबा"।

बबुआ†–संज्ञा पुं० [हिं० बाबू] (१) बेटे या दामाद के लिए प्यार का संबोधन शब्द। (पूरब)। (२) ज़मींदार। रईस। (पूरब)

बबुई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाबू का स्त्री०] (१) बेटी। कन्या। (२) छोटी ननद। पति की छोटी बहन। (३) किसी ठाकुर सरदार या बाबू की बेटी।

बबुर–संज्ञा पुं० दे० "बबूल"।

बबूल–संज्ञा पुं० [सं० बब्बूरः] मझोले कद का एक प्रसिद्ध काँटेदार पेड़ जो भारत के प्रायः सभी प्रांतों में जंगली अवस्था में अधिकता से पाया जाता है। गरम प्रदेश और रेतीली ज़मीन में यह बहुत अच्छी तरह और अधिकता से होता है। कहीं कहीं यह वृक्ष सौ सौ वर्ष तक रहता है। इसमें छोटी छोटी पत्तियाँ, सूई के बराबर काँटे और पीले रंग के छोटे छोटे फूल होते हैं। इसके अनेक भेद हैं जिनमें कुछ तो छोटी छोटी कँटीली बेलें हैं और बाकी बड़े बड़े वृक्ष। कुछ जातियों के बबूल तो बागों आदि में केवल शोभा के लिए लगाए जाते हैं, पर अधिकांश से इमारत और खेती के कामों के लिए बहुत अच्छी लकड़ी निकलती है। इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत और भारी होती है और यदि कुछ दिनों तक किसी खुले स्थान में पड़ी रहे तो प्रायः लोहे के समान हो जाती है। इसकी लकड़ी ऊपर से सफ़ेद और अंदर से कुछ कालापन लिए लाल रंग की होती है। इससे खेती के सामान, नावें, गाड़ियों और एक्कों के धुरे तथा पहिए आदि अधिकता से बनाए जाते हैं। जलाने के लिए भी यह लकड़ी बहुत अच्छी होती है क्योंकि इसकी आँच बहुत तेज़ होती है; और इसी लिए इसके कोयले भी बनाए जाते हैं। इसकी पतली पतली टहनियाँ, इस देश में, दातुन के काम में आती हैं और दाँतों के लिए बहुत अच्छी मानी जाती हैं। इसकी जड़, छाल, सूखे बीज और पत्तियाँ ओषधि के काम में भी आती हैं, और छाल का उपयोग चमड़ा सिझाने और रँगने में भी होता है, पत्तियाँ और कच्ची फलियाँ पशुओं के लिए चारे का काम देती हैं और सूखी टहनियों से लोग खेतों आदि में बाढ़ लगाते हैं। सूखी फलियों से पक्की स्याही भी बनती है और फूलों से शहद की मक्खियाँ शहद निकालती हैं। इसमें गोंद भी होता है जो और गोंदों से बहुत अच्छा समझा जाता है। कुछ

प्रांतों में इस पर लाख के कीड़े रखकर लाख भी पैदा की जाती है। रामबबूल, खैर, फुलाई, करील, बनरीठा, सोनकीकर आदि इसी की जाति के वृक्ष हैं। कीकर।

बबूला-संज्ञा पुं० (१) दे० "बगूला"। (२) दे० "बुल्बुला"। (३) दे० "पस्सी बबूल"।

संज्ञा पुं० [देश०] हाथियों के पाँव में होनेवाला एक प्रकार का फोड़ा।

बब्बू‡-संज्ञा पुं० दे० "बाबू"।

संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का उल्लू।

बभनी-संज्ञा स्त्री० [सं० ब्राह्मणी] (१) एक प्रकार का कीड़ा जो बनावट में छिपकली के समान पर जोंक सा पतला होता है। इसके शरीर पर लंबी सुंदर धारियाँ होती हैं जिनके कारण वह बहुत सुंदर जान पड़ता है। एक सरीसृप। (२) कुश की जाति का एक तृण जिसे बनकुस भी कहते हैं।

बभूत-संज्ञा स्त्री० "भभूत" या "विभूति"।

बम-संज्ञा पुं० [अं० बाब] विस्फोटक पदार्थों से भरा हुआ लोहे का बना वह गोला जो शत्रुओं की सेना अथवा क़िले आदि पर फेंकने के लिए बनाया जाता है और जो गिरते ही फट कर आस पास के मनुष्यों और पदार्थों को भारी हानि पहुँचाता है।

क्रि० प्र०—गिरना।—गिराना।—चलना।—चलाना।—फेंकना।—मारना।

संज्ञा पुं० [अनु०] (१) शिव के उपासकों का वह "बम" "बम" शब्द जिसके विषय में यह माना जाता है कि इसके उच्चारण से शिव जी प्रसन्न होते हैं।

विशेष—कहा जाता है कि शिवजी ने कुपित होकर जब दक्ष का सिर काट लिया तब बकरे का सिर जोड़ा गया जिससे वे बकरे की तरह बोलने लगे। इससे जब लोग गाल बजाते हुए 'बम' 'बम' करते हैं तब शिव प्रसन्न होते हैं।

मुहा०—बम बोलना या बोल जाना=शक्ति, धन आदि की समाप्ति हो जाना। कुछ न रह जाना। खाली हो जाना। दिवाला हो जाना।

(२) शहनाईवालों का वह छोटा नगाड़ा जो बजाते समय बाईं ओर रहता है। मादा नगाड़ा। नगड़िया।

संज्ञा पुं० [कनाड़ी बंबूबाँस] (१) बग्घी। फिटन आदि में आगे की ओर लगा हुआ वह लंबा बाँस जिसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते हैं। (२) एक्के, गाड़ियों आदि में आगे की ओर लगा हुआ लकड़ियों का वह जोड़ा जिसके बीच में घोड़ा खड़ा करके जोता जाता है।

बमचख-संज्ञा स्त्री० [अनु० बम+चीखना] (१) शोर। गुल। (२) लड़ाई। झगड़ा। विवाद।

क्रि० प्र०—मचना।—मचाना।

बमना*†-क्रि० स० [सं० वमन] मुँह से उगलना। वमन करना। कै करना। उ०—मुष्टिक एक ताहि कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी।—तुलसी।

बमीठा-संज्ञा पुं० [हिं० बाँबी+ईठा (प्रत्य०)] बाँबी। वल्मीक।

बमुक़ाबला-क्रि० वि० [फ़ा०] (१) मुक़ाबले में। समक्ष। सामने। (२) मुक़ाबले पर। विरुद्ध। विरोध में।

बमूजिब-क्रि० वि० [फ़ा०] अनुसार। मुताबिक़। जैसे, हुकुम के बमूजिब।

बमेला†-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली।

बमोट†-संज्ञा पुं० दे० "बमीठा"।

बम्हनपियाव‡-संज्ञा पुं० [सं० ब्राह्मण+हिं० पिलाना] ऊख को पहले पहल पेरने के समय उसका कुछ रस ब्राह्मणों आदि को पिलाना जो आवश्यक और शुभ माना जाता है।

बम्हनरसियाव-संज्ञा पुं० दे० "बम्हनपियाव"।

बम्हनी-संज्ञा स्त्री० [सं० ब्राह्मण, हिं० बाम्हन] (१) छिपकली की तरह का एक पतला कीड़ा जो आकार में प्रायः उससे आधा होता है। इसकी पीठ काली, दुम और मुँह लाल चमकीले रंग का होता है। पीठ पर चमकीली धारियाँ होती हैं। (२) आँख का एक रोग जिसमें पलक पर एक छोटी फुंसी निकल आती है। बिलनी। गुहाँजनी। (३) वह गाय जिस की आँख की बिरनी झड़ गई हो। (४) हाथी का एक रोग जिसमें उसकी दुम सड़कर गिर जाती है। (५) एक प्रकार का रोग जो ऊख को बहुत हानि पहुँचाता है। (६) लाल रंग की भूमि।

बयंड-संज्ञा पुं० [हिं० गयद=सं० गजेंद्र] हाथी। (डिं०)

बय-संज्ञा स्त्री० दे० "वय"।

बयन*†-संज्ञा पुं० [सं० वचन] वाणी। बोली। बात।

बयना*†-क्रि० स० [सं० वपन, प्रा० बयन] बोना। बीज जमाना या लगाना। उ०—(क) पूजि पग देवी के निकसि देव मंदिर ते देवी रुकुमिनि हरि हरी विष बै गयो।—देव। (ख) सूर सुरपति सुन्यौ बयौ जैसो लुन्यो प्रभु कह गुन्यो गिरि सहित बैहै।—सूर। (ग) सींचे सीप सरोजकर बये विटप बर बेलि। समउ सुकालु किसान हित सगुन सुमंगल केलि।—तुलसी।

क्रि० स० [सं० वचन या वर्णन] वर्णन करना। कहना। उ०—दल फल फूल दूब दधि रोचन जुवतिन भरि भरि थार लये। गावत चलीं भीर भइ बीथिन बदिन बाँकुरे विरद बये।—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "बैना"।

बयनी*†-वि० [हिं० बयन] बोलनेवाली। जो बोलती हो।

बयर‡-संज्ञा पुं० दे० "बैर"।

बयल-संज्ञा पुं० [डिं०] सूर्य।

बयस–संज्ञा स्त्री० दे० "वय" । 'बायन' ।

बयसर–संज्ञा स्त्री० [देश०] कमखाब बुननेवालों की वह लकड़ी जो उनके करघे में गुल्ले के ऊपर और नीचे लगती है ।

बयसवाला*†–वि० [सं० वयस+हिं० वाला] [स्त्री० बयसवाली] युवक । जवान ।

बयस-सिरोमनि*†–संज्ञा पुं० [सं० वयसशिरोमणि] युवावस्था । जवानी । यौवन । उ०—बय किसोर सरिपार मनोहर बयससिरोमनि होने ।—तुलसी ।

बया–संज्ञा पुं० [सं० वयन=बुनना ।] गौरैया के आकार और रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जिसका माथा बहुत चमकदार पीला होता है । यह पाला जाता है और सिखाने से, संकेत करने पर, हलकी हलकी चीज़ें, जैसे, कौड़ी, पत्ती आदि, किसी स्थान से ले आता है । यह अपना घोंसला सूखे तृणों से बहुत ही कारीगरी के साथ और इस प्रकार का बनाता है कि उसके तृण बुने हुए मालूम होते हैं ।

संज्ञा पुं० [अ० बायः=बेचनेवाला] वह जो अनाज तौलने का काम करता हो । अनाज तौलनेवाला । तौलैया । उ०—प्रेमनगर में दग बया नोखे प्रगटे आइ । दो मन को कर एक मन भाव दियो ठहराइ ।—रसनिधि ।

बयाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बया+आई (प्रत्य०)] अन्न आदि तौलने की मज़दूरी । तौलाई ।

बयान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) बखान । वर्णन । ज़िक्र । चर्चा । (२) हाल । विवरण । वृत्तांत ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

बयाना–संज्ञा पुं० [अ० बै+फा० प्रत्य०—आना] वह धन जो कोई चीज़ खरीदने के समय अथवा किसी प्रकार का ठेका आदि देने के समय, उसकी बातचीत पक्की करने के लिये बेचनेवाले अथवा ठेका लेनेवाले को दिया जाय । किसी काम के लिये दिए जानेवाले पुरस्कार का कुछ अंश जो बातचीत पक्की करने के लिये दिया जाय । पेशगी । अगाऊ ।

विशेष—बयाना देने के उपरांत देने और लेनेवाले दोनों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस निश्चय की पाबंदी करें जिसके लिए बयाना दिया जाता है । बयाने की रक़म पीछे से दाम या पुरस्कार चुकाते समय काट ली जाती है ।

बयाबान†–संज्ञा पुं० [फ़ा० बियाबान] (१) जंगल । (२) उजाड़ ।

बयार, बयारि*†–संज्ञा स्त्री [सं० वायु] हवा । पवन । उ०—(क) तिनुका बयारि के बस । ज्यों भावै त्यों उड़ाइ लै जाइ आपने रस ।—स्वा० हरिदास । (ख) देखि तरु सब अति डराने हैं बड़े बिस्तार । गिरे कैसे बड़ो अचरज नेकु नहीं बयार ।—सूर । (ग) कानन भूधर बारि बयारि महा विष व्याधि दवा अरि घेरे ।—तुलसी ।

मुहा०—बयार करना=ऊपर पंखा हिलाना जिससे हवा लगे । उ०—भोजन करत कनक की थारी । द्रुपदसुता तहँ करति बयारी ।

बयारा†–संज्ञा पुं० [हिं० बयार] (१) हवा का झोंका । (२) तूफ़ान ।

बयारी–संज्ञा स्त्री० दे० 'वियारी", "ब्यालू" ।

दे० "बयारि" ।

बयाला†–संज्ञा पुं० [सं० वाह्य+आला] (१) दीवार में का वह छेद जिससे झाँककर बाहर की ओर की वस्तु देखी जा सके । (२) ताख । आला । (३) पटाव के नीचे की ख़ाली जगह । (४) गढ़ों में वह स्थान जहाँ तोपें लगी रहती हैं । (५) कोट की दीवार में वह छोटा छेद या अवकाश जिसमें से तोप का गोला पार करके जाता है । उ०—तिमि घरनाल और करनालैं सुतरनाल जंजालै । गुरगुराब रहँकले भले तहँ लागे विपुल बयालैं ।—रघुराज ।

बयालिस–संज्ञा पुं० [सं० द्विचत्वारिंशत्, प्रा० विचत्तालीसा] (१) चालीस और दो की संख्या । (२) इस संख्या का सूचक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—४२ ।

वि० जो गिनती में चालीस से दो अधिक हो ।

बयालीसवाँ–वि० [हिं० बयालिस+वाँ० (प्रत्य०)] जो क्रम में बयालिस के स्थान पर हो । इकतालिसवें के बाद का ।

बयासी–संज्ञा पुं० [सं० द्वि+अशीति, प्रा० बिअसी] (१) अस्सी और दो की संख्या । (२) इस संख्या का सूचक अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है ।—८२ ।

वि० जो संख्या में अस्सी और दो हो ।

बरंग–संज्ञा पुं० [देश०] (१) मध्य प्रदेश में होनेवाला छोटे क़द का एक पेड़ जिसकी लकड़ी सफ़ेद और मुलायम होती है और इमारत तथा खेती के औज़ार बनाने के काम में आती है । इसकी छाल के रेशों से रस्से भी बनते हैं । पोला । (२) बख़्तर । कवच । (डिं०)

बरंगा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) छत पाटने की पत्थर की छोटी पटिया जो प्रायः डेढ़ हाथ लंबी और एक बित्ता चौड़ी होती है । (२) वे छोटी छोटी लकड़ियाँ जो छत पाटते समय धरनों के बीचवाला अंतर पाटने को लगाई जाती हैं । उ०—बरंगा बरंगी करी यों जरी हैं । मनो ज्वाल ने बाहु लच्छों करी हैं ।—सूदन ।

बर–संज्ञा पुं० [सं० वर] (१) वह जिसका विवाह होता हो । दूल्हा । दे० "वर" । उ०—(क) जद्यपि बर अनेक जग माँहीं । एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ।—तुलसी । (ख) बर अरु बधू आप जब जाने रुक्मिनि करत बधाई । रति अरु काम प्रगट ता दिन ते कवि मिलि कीरति गाई ।—सूर ।

मुहा०—बर का पानी=विवाह से पहले नहछू के समय का वर का स्नान किया हुआ पानी जो एक पात्र में एकत्र करके कन्या

के घर भेजा जाता है और जिससे फिर कन्या नहलाई जाती है। (जिस पात्र में वह जल जाता है वह पात्र चीनी, खाँड़ आदि से भरकर लड़केवालों के घर लौटा दिया जाता है।)

(२) वह आशीर्वादसूचक वचन जो किसी की प्रार्थना पूरी करने के लिये कहा जाय। दे० "वर"। उ०—यह बर माँग्यो दियो न काहू। तुम मम मन ते कहूँ न जाहू।—केशव।

वि० श्रेष्ठ। अच्छा। उत्तम।

मुहा०—बर परना=बढ़ निकलना। श्रेष्ठ होना। उ०—अर ते टरत न बर परैं दई मरकि मनु मैन। होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चित चतुराई नैन।—बिहारी।

संज्ञा पुं० [सं० बल] बल। शक्ति। उ०—(क) परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये।—तुलसी। (ख) खीन लंक टूटी दुख भरी। बिन रावन केहि बर होय खरी।—जायसी।

संज्ञा पुं० [सं० वट] वट वृक्ष। बरगद। उ०—कौन सुभाव री तेरो पर्‌यो बर पूजत काहे हिये सकुचाती।—प्रताप।

अव्य० [फ़ा०] ऊपर।

मुहा०—बर आना या पाना=बढ़कर निकलना। मुक़ाबले में अच्छा ठहरना। जैसे,—झूठ बोलने में तुमसे कोई बर नहीं पा सकता (या आ सकता)।

वि० (१) बढ़ा चढ़ा। श्रेष्ठ (२) पूरा। पूर्ण। (आशा या कामना आदि के लिये) जैसे, मुराद बर आना।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कीड़ा जिसे खाने से पशु मर जाते हैं।

* अव्य [सं० वरं, हिं० वरु] वरन्। बल्कि। उ०—सुनि रोवत सब हाय विरह ते मरन भलो बर।—व्यास।

बरअंग-संज्ञा स्त्री० [डिं०] योनि।

बरई-संज्ञा पुं० [हिं० बाड़=क्यारी] [स्त्री० बरइन] (१) एक जाति जिसका काम पान पैदा करना या बेचना होता है। (२) इस जाति का कोई आदमी। तमोली।

बरकंदाज-संज्ञा पुं० [अ०+फ़ा०] (१) वह सिपाही या चौकीदार आदि जिसके पास बड़ी लाठी रहती हो। (२) तोड़ेदार बंदूक़ रखनेवाला सिपाही। (३) चौकीदार। रक्षक।

बरकत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) किसी पदार्थ की अधिकता। बढ़ती। ज़्यादती। बहुतायत। कमी न पड़ना। पूरा पड़ना।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग साधारणतः यह दिखलाने के लिए होता है कि वस्तु आवश्यकतानुसार पूरी है और उसमें सहसा कमी नहीं हो सकती। जैसे,—(क) इकट्ठी ख़रीदी हुई चीज़ में बड़ी बरकत होती है। (ख) जिस चीज़ में तुम हाथ लगा दोगे, उसकी बरकत जाती रहेगी।

मुहा०—बरकत उठना=(१) बरकत न रह जाना। पूरा न पड़ना। (२) वैभव आदि की समाप्ति या अंत आने लगना। ह्रास का आरंभ होना। जैसे,—अब तो उनके घर से बरकत उठ चली। बरकत होना=(१) अधिकता होना। वृद्धि होना। (२) उन्नति होना।

(२) लाभ। फायदा। जैसे,—(क) जैसी नीयत वैसी बरकत। (ख) इस रोज़गार में बरकत नहीं है। (३) वह बचा हुआ पदार्थ या धन आदि जो इस विचार से पीछे छोड़ दिया जाता है कि इसमें और वृद्धि हो। जैसे,—(क) थैली बिलकुल ख़ाली मत कर दो, बरकत का एक रुपया तो छोड़ दो। (ख) अब इस घड़े में है ही क्या, ख़ाली बरकत बरकत है। (४) समाप्ति। अंत। (साधारणतः गृहस्थी में लोग यह कहना कुछ अशुभ समझते हैं कि अमुक वस्तु समाप्त हो गई; और उसके स्थान पर इस शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे,—आजकल घर में अनाज की बरकत है।) (५) एक की संख्या। (साधारणतः लोग गिनती के आरंभ में एक के स्थान में शुभ या वृद्धि आदि की कामना से इस शब्द का व्यवहार करते हैं। जैसे, बरकत, दो, तीन, चार, पाँच आदि।) (६) धन दौलत। (क्व०)। (७) प्रसाद। कृपा। जैसे,—यह सब आप के क़दमों की बरकत है कि आपके आते ही रोगी अच्छा हो गया। (कभी कभी यह शब्द व्यंग्यरूप से भी बोला जाता है। जैसे,—यह आपके क़दमों की ही बरकत है कि आपके आते ही सब लोग उठ खड़े हुए।)

बरकती-वि० [अ० बरकत+ई (प्रत्य०)] (१) बरकतवाला। जिसमें बरकत हो। जैसे,—ज़रा अपना बरकती हाथ उधर ही रखना। (व्यंग्य)। (२) बरकत संबंधी। बरकत का। जैसे, बरकती रुपया।

बरक़दम-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक प्रकार की चटनी जिसके बनाने की विधि इस प्रकार है—पहले कच्चे आम को भूनकर उसका पना निकाल लेते हैं और तब उसमें चीनी, मिर्च शीतलचीनी, केसर, इलायची आदि डाल देते हैं।

बरकना‡-क्रि० अ० [हिं० बरकाना] (१) कोई बुरी बात न होने पाना। न घटित होना। निवारण होना। बचना। जैसे, झगड़ा बरकना। (२) अलग रहना। हटना। दूर रहना।

बरक़रार-वि० [फ़ा० बर+अ० करार] (१) क़ायम। स्थिर। जिसकी स्थिति हो। (२) उपस्थित। मौजूद।

क्रि० प्र०—रहना।

बरकाज-संज्ञा पुं० [सं० वर+कार्य] विवाह। ब्याह। शादी। उ०—प्रबल प्रचंड बरिबंड बर वेष बपु बरिबेके बोले बैदेही बरकाज के।—तुलसी।

बरकाना†–क्रि० अ० [सं० वारण, वारक] (१) कोई बुरी बात न होने देना। निवारण करना। बचाना। जैसे, झगड़ा बरकाना। (२) पीछा छुड़ाना। बहलाना। फुसलाना। उ०—खेलत खुशी भए रघुबंशिन कोशलपति सुख छाये। दै नवीन भूषन पट सुन्दर जस तस कै बरकाये।—रघुराज।

बरख*†–संज्ञा पुं० [सं० वर्ष] बरस। साल।

बरखना–क्रि० अ० [सं० वर्षण] पानी बरसना। वर्षा होना।

बरखा*–संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा] (१) मेह गिरना। जल का बरसना। वृष्टि। उ०—का बरखा जब कृषी सुखाने।—तुलसी। (२) वर्षाऋतु। बरसात का मौसिम।

बरखाना*–क्रि० स० [सं० वर्षा] (१) बरसाना। (२) ऊपर से इस प्रकार छितराकर गिराना कि बरसता हुआ मालूम हो। (३) बहुत अधिकता से देना।

बरखास*†–वि० दे० "बरख़ास्त"। उ०—करि भूपति नूतन विदा कियो सभा बरखास। भरत शत्रुहन संग लै गए आपु रनिवास।—रघुराज।

बरख़ास्त–वि० [फ़ा०] (१) (सभा आदि) जिसका विसर्जन कर दिया गया हो, जिसकी बैठक समाप्त हो गई हो। जैसे, दरबार, कचहरी, स्कूल आदि बरख़ास्त होना। जो बंद कर दिया गया हो। उ०—सुनिकै सभासद अभिलषित निज निज अयन गमनत भए। भूपति सभा बरख़ास्त करि किय शयन अति आनँदमए।—रघुराज। (२) जो नौकरी से हटा या छुड़ा दिया गया हो। मौकूफ़।

बरख़िलाफ़–क्रि० वि० [फ़ा० बर+अ० ख़िलाफ़] प्रतिकूल। उलटा। विरुद्ध।

बरगंध†–संज्ञा पुं० [सं० वर+गंध] सुगंधित मसाला।

बरग–संज्ञा पुं० [फ़ा० बर्ग] पत्ता पत्र। जैसे, बरग। बनफशा। बरग गावज़ुबाँ।

बरगद–संज्ञा पुं० [सं० वट, हिं० बड़] बड़ का पेड़। पीपल गूलर आदि की जाति का एक प्रसिद्ध बड़ा वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में बहुत अधिकता से पाया जाता है। अनेक स्थानों पर यह आप से उगता है, पर इसकी छाया बहुत घनी और ठंढी होती है, इसलिये कहीं कहीं लोग छाया आदि के लिये इसे लगाते भी हैं। यह बहुत दिनों तक रहता, बहुत जल्दी बढ़ता और कभी कभी अस्सी या सौ फुट की ऊँचाई तक जा पहुँचता है। इसमें एक विशेषता यह होती है कि इसकी शाखाओं में से जटा निकलती है जो नीचे की ओर आकर ज़मीन में मिल जाती है और तब एक नए वृक्ष के तने का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार एक ही बरगद की डालों में से चारों ओर पचासों जटाएँ नीचे आकर जड़ और तने का काम देने लगती हैं जिससे वृक्ष का विस्तार बहुत शीघ्रता से होने लगता है। यही कारण है कि बरगद के किसी बड़े वृक्ष के नीचे सैकड़ों हजारों आदमी तक बैठ सकते हैं। इसके पत्तों और डालियों आदि में से एक प्रकार का दूध निकलता है जिससे घटिया रबर बन सकता है। यह दूध फोड़े फुंसियों पर, उनमें मुँह करने के लिये, और गठिया आदि के दर्द में लगाया जाता है। इसकी छाल का काढ़ा बहुमूत्र होने में लाभदायक माना जाता है। इसके पत्ते जो बड़े और चौड़े होते हैं, प्रायः दोने बनाने और सौदा रखकर देने के काम में आते हैं। कहीं कहीं, विशेषतः अकाल के समय में, ग़रीब लोग उन्हें खाते भी हैं। इसमें छोटे छोटे फल लगते हैं जो गरमी के शुरू में पकते हैं और ग़रीबों के खाने के काम में आते हैं। यों तो इसकी लकड़ी फुसफुसी और कमज़ोर होती है और उसका विशेष उपयोग नहीं होता, पर पानी के भीतर वह ख़ूब ठहरती है इसलिए कुएँ की जमवट आदि बनाने के काम आती है। साधारणतः इसके संदूक और चौखटे बनते हैं। पर यदि यह होशियारी से काटी और सुखाई जाय तो और सामान भी बन सकते हैं। डालियों में से निकलनेवाली मोटी जटाएँ बहँगी के डंडे, गाड़ियों के जूए और खेमों के चोब बनाने के काम आती हैं। इस पेड़ पर कई तरह के लाख के कीड़े भी पल सकते हैं। हिंदू लोग बरगद को बहुत ही पवित्र और स्वयं रुद्र स्वरूप मानते हैं। इसके दर्शन तथा स्पर्श आदि से बहुत पुण्य होना और दुःखों तथा आपत्तियों आदि का दूर होना माना जाता है और इसीलिये इस वृक्ष का लगाना भी बड़े पुण्य का काम माना जाता है। वैद्यक के अनुसार यह कषाय, मधुर, शीतल, गुरु, ग्राहक और कफ, पित्त, व्रण, दाह तृष्णा, मेह तथा योनि दोषनाशक माना गया है।

पर्य्या०—न्यग्रोध। बहुपात। वृक्षनाथ। यमप्रिय। रक्तफल। शृंगी। कर्म्मज। ध्रुव। क्षीरी। वैश्रवणावास। भांडीर। जटाल। अवरोही। विटपी। स्कंदरुह। महाच्छाय। भृंगी। यक्षावास। यक्षतरु। नील। बहुपाद। वनस्पति।

बरगेल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का लवा (पक्षी) जिसके पंजे कुछ छोटे होते हैं और जो पाला जाता है।

बरचर–संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय में होनेवाला एक प्रकार का देवदार वृक्ष जिसकी लकड़ी भूरे रंग की होती है। घेसी। पहूँगी। खेव।

बरचस–संज्ञा पुं० [सं० वर्चस्क] विष्ठा। मल। (डिं०)

बरछा–संज्ञा पुं० [व्रश्चन=काटनेवाला ?] [स्त्री० बरछी] भाला नामक हथियार जिसे फेंककर अथवा भोंककर मारते हैं। इसमें प्रायः एक बालिश्त लंबा लोहे का फल होता है और एक बड़ी लाठी के सिरे पर जड़ा होता है। यह प्रायः सिपाहियों या शिकारियों के काम का होता है। भाला।

बरछैत-संज्ञा पुं० [हिं० बरछा+ऐत (प्रत्य०)] बरछा चलानेवाला। भाला-बर्दार। उ०—सहस दोय बरछैत जे न कबहूँ मुख मोरत।—सूदन।

बरजन*†-क्रि० अ० [सं० वर्जन] मना करना। रोकना। निवारण करना। निषेध करना।

बरजनि*†-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्जन] (१) मनाही। (२) रुकावट। (३) रोक।

बरजबान-वि० [फ़ा०] जो जबानी याद हो। मुखाग्र। कंठस्थ।

बरजोर-वि० [हिं० बल, बर+फ़ा० जोर] (१) प्रबल। बलवान्। जबरदस्त। उ०—ते रनरोर कपीस किसोर बड़े बरजोर परे फग पाए।—तुलसी। (१) अत्याचार अथवा अनुचित बल प्रयोग करनेवाला।

क्रि० वि० (१) ज़बरदस्ती। बलपूर्वक। (२) बहुत ज़ोर से।

बरजोरन-संज्ञा पुं० [सं० वर=पति+हिं० जोरन=मिलान] (१) विवाह के समय वर और वधू के पल्लों में गाँठ बाँधा जाना। (२) विवाह। (डिं०)

बरजोरी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बरजोर] ज़बरदस्ती। बलप्रयोग।

क्रि० वि० ज़बरदस्ती से। बलपूर्वक।

बरत-संज्ञा पुं० [सं० व्रत] ऐसा उपवास जिसके करने से पुण्य हो। परमार्थ साधन के लिये किया हुआ उपवास। उपवास। विशेष—दे० "व्रत"। उ०—(क) नारद कहि संवाद अपारा। तीरथ बरत महा मत सारा।—सबलसिंह। (ख) जप तप संध्या बरत करि तजै खजाना कोष। कहैं रघुनाथ ऐसे नृपै रती न लागै दोष।—रघुनाथदास।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बरना=बटना] (१) रस्सी। (२) नट की रस्सी जिसपर चढ़कर वह खेल करता है। उ०—(क) डीठ बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत न डरात। इत उत ते चित दुहुन के नट लौं आवत जात।—बिहारी। (ख) डीठ बरत पै धार के मन वट नट ही काम। दग तौ आवत बाँधि के निकट बदन अभिराम।—रसनिधि। (ग) दुहूँ कर लीन्हें दोऊ बैस बिसवास बास डीठ की बरत चढ़ी नाचै भौं नटिनी।—देव।

बरतन-संज्ञा पुं० [सं० वर्तन] मिट्टी या धातु आदि की इस प्रकार बनी वस्तु कि उसमें कोई वस्तु—विशेषतः खाने पीने की —रख सकें। पात्र। जैसे, लोटा, थाली, कटोरा, गिलास, हंडा, परात, घड़ा, हाँडी, मटका आदि। भाँड़। भाँड़ा।

संज्ञा पुं० [सं० वर्तन] बरतना का भाव। बरताव। व्यवहार।

बरतना-क्रि० अ० [सं० वर्तन] किसी के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना। बरताव करना। जैसे,—जो हमारे साथ बरतेगा, उसके साथ हम भी बरतेंगे।

क्रि० स० काम में लाना। व्यवहार में लाना। इस्तेमाल करना। जैसे,—यह कटोरा हम बरसों से बरत रहे हैं, पर अभी तक ज्यों का त्यों बना है।

बरतनी-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्तनी] (१) लकड़ी आदि की बनी एक प्रकार की कलम जिससे विद्यार्थी लोग मिट्टी या गुलाल आदि बिछाकर उसपर अक्षर लिखते हैं, अथवा तांत्रिक लोग यंत्र आदि भरते हैं। (२) लेख-प्रणाली। लिखने का ढंग।

बरतर-वि० [फ़ा०] श्रेष्ठतर। अधिक अच्छा।

बरतरफ़-वि० [फ़ा० बर+अ० तरफ़] (१) किनारे। अलग। एक ओर। (२) किसी कार्य्य, पद, नौकरी आदि से अलग। छुड़ाया हुआ। मौक़ूफ़। बरख़ास्त।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बरताना-क्रि० स० [सं० वर्तन या वितरण] सबको थोड़ा थोड़ा देना। वितरण करना। बाँटना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

बरताव-संज्ञा पुं० [हिं० बरतना का भाव] बरतने का ढंग। मिलने-जुलने, बात-चीत करने या बरतने आदि का ढंग या भाव। वह कर्म जो किसी के प्रति, किसी के संबंध में किया जाय। व्यवहार। जैसे,—(क) वे छोटे बड़े सब के साथ एक सा बरताव करते हैं। (ख) जिस आदमी का बरताव अच्छा न हो, उसके पास किसी भले आदमी को जाना न चाहिए। विशेष—दे० "व्यवहार"।

बरती-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पेड़।

वि० [सं० व्रतिन्, हिं० व्रती] जिसने उपवास किया हो। जिसने व्रत रखा हो।

संज्ञा स्त्री० दे० "बत्ती"।

बरतेला†-संज्ञा स्त्री० [देश०] जुलाहों की वह खूँटी जो करघे की दाहिनी ओर रहती है और जिसमें ताने को कसा रखने के लिये उसमें बँधी हुई अंतिम रस्सी या जोते का दूसरा सिरा 'पिंडा' या 'हथेला' (करघे के पीछे लगी हुई दूसरी खूँटी) पीछे से घुमाकर लाया और बाँधा जाता है। यह खूँटी करघे की दाहिनी ओर बुननेवाले के दाहिने हाथ के पास इसलिये रहती है कि जिसमें वह आवश्यकतानुसार जोते को ढीला करता रहे और उसके कारण ताना आगे बढ़ता आवे।

बरतोर†-संज्ञा पुं० [हिं० बार+तोरना] वह फुंसी या फोड़ा जो बाल उखड़ने के कारण हो। उ०—(क) जनु छुइ गयउ पाक बरतोरा।—तुलसी। (ख) ताते तन पेखियत घोर बरतोर मिसु फूटि फूटि निकसत है लोन राम राय को।—तुलसी।

बरदना-क्रि० अ० दे० "बरदाना"।

बरदवान-संज्ञा पुं० [सं० वर+दामन्] कमखाब बुननेवालों के करघे

की एक रस्सी जो पगिया में बँधी रहती है। "नथिया" भी इसी में बँधी रहती है।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बादबान] तेज़ हवा। (कहार)

बरदवाना-क्रि० स० [हिं० बरदाना] बरदाना का प्रेरणार्थक रूप। बरदाने का काम दूसरे से कराना।

बरदा-संज्ञा स्त्री० [देश०] दक्षिण भारत की एक तरह की रुई।

संज्ञा पुं० दे० "बरधा"।

बरदाना†-क्रि० स० [हिं० बरधा=बैल] गौ, भैंस, बकरी, घोड़ी आदि पशुओं का उनकी जाति के नर-पशुओं से, संतान उत्पन्न कराने के लिये संयोग कराना। जोड़ा खिलाना। जुफ़्ती खिलाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० अ० गौ, भैंस, बकरी, घोड़ी आदि पशुओं का अपनी जाति के नर-पशुओं से गर्भ रखाना। जोड़ा खाना। जुफ़्ती खाना।

संयो० क्रि०—जाना।

बरदाफ़रोश-संज्ञा पुं० [फ़ा०] ग़ुलाम बेचनेवाला। दासों को ख़रीदने और बेचनेवाला।

बरदाफ़रोशी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] ग़ुलाम बेचने का काम।

बरदार-वि० [फ़ा०] (१) ले जानेवाला। वहन करनेवाला। ढोनेवाला। धारण करनेवाला। जैसे, बल्लम-बरदार। (२) पालन करनेवाला। माननेवाला। जैसे, फ़रमाँबरदार।

बरदाश्त-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सहने की क्रिया या भाव। सहन।

बरदुआ†-संज्ञा पुं० [देश०] बरमे की तरह का एक औज़ार जिससे लोहा छेदा जाता है।

बरदौर†-संज्ञा पुं० [सं० बरद+और (प्रत्य०)] गौओं और बैलों के बाँधने का स्थान। मवेशीख़ाना। गोशाला।

बरध, बरधा†-संज्ञा पुं० [सं० बलीवर्द] बैल।

बरधवाना-क्रि० स० दे० "बरदवाना"।

बरधाना-क्रि० स० दे० "बरदाना"।

क्रि० अ० दे० "बरदाना"।

बरधी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चमड़ा।

बरनन*†-संज्ञा पुं० दे० "वर्णन"।

बरनना*†-क्रि० स० [सं० वर्णन] वर्णन करना। बयान करना। उ०—बरनौं रघुबर विमल जस जो दायक फल चारि।—तुलसी।

बरनर-संज्ञा पुं० [अं०] लंप का वह ऊपरी भाग जिसमें बत्ती लगाई जाती है। बत्ती इसी भाग में जलती है और इसी के ऊपर से होकर प्रकाश बाहर निकलता और फैलता है।

बरना-क्रि० स० [सं० वरण] (१) वर या वधू के रूप में ग्रहण करना। पति या पत्नी के रूप में अंगीकार करना। ब्याहना। उ०—(क) जो एहि बरइ अमर सो होई। समर भूमि तेहि जीत न कोई।—तुलसी। (ख) मरे ते अपसरा आइ ताकौ बरति भाजिहैं देखि अब गेह नारी।—सूर। (२) कोई काम करने के लिये किसी को चुनना या ठीक करना। नियुक्त करना। उ०—बरे विप्र चहुँ वेद केर रविकुल गुरु ज्ञानी।—तुलसी। (३) दान देना।

‡ क्रि० अ० दे० "जलना"। उ०—औंधाई सीसी सुलखि विरह बरति बिललात। बीचहि सूखि गुलाब गो छींटो छुई न गात।—बिहारी।

‡ क्रि० स० दे० "बटना"।

बरनाल-संज्ञा पुं० [हिं० परनाला] जहाज़ में वह परनाला या पानी निकलने का मार्ग जिसमें से उसका फालतू पानी निकलकर समुद्र में गिरता है। (लश०)

बरनाला-संज्ञा पुं० दे० "परनाला"। (लश०)

बरनेत†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बरना=वरण करना+एत (प्रत्य०)] विवाह की एक रस्म जो विवाहमुहूर्त से कुछ पहले होती है और जिसमें कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्षवालों को अपने यहाँ बुलाते और विवाहमंडप में उन्हें बैठाकर उनसे गणेश आदि का पूजन कराते हैं।

बरपा-वि० [फ़ा०] खड़ा हुआ। उठा हुआ। मचा हुआ। (इस शब्द का प्रयोग प्रायः झगड़ा, फ़साद, आफ़त, क़यामत अप्रिय अशुभ बातों के लिये ही होता है।)

बरफ़-संज्ञा स्त्री० दे० "बर्फ़"।

बरफी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बरफ] एक प्रकार की प्रसिद्ध मिठाई जो चीनी की चाशनी में गरी या पेठे के महीन महीन टुकड़े, पीसा हुआ बदाम, पिस्ता या मूँग आदि अथवा खोवा डालकर जमाई जाती है और पीछे से छोटे छोटे चौकोर टुकड़ों के रूप में काट ली जाती है। इसकी जमावट आदि प्रायः बरफ़ की तरह होती है इसीलिये यह बरफ़ी कहलाती है।

बरफ़ीदार कनारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बरफ़ीदार+देश० कनारी] वह स्थान जहाँ सफ़ेद रंग के काँटे अधिकता से मार्ग में पड़ते हों (पालकी के कहार)।

बरफ़ी संदेस-संज्ञा पुं० [फ़ा० बरफ़ी+बंग० संदेश] बरफी की तरह की एक प्रकार की बँगला मिठाई।

बरबंड*‡वि० [सं० बलवंत] (१) बलवान्। ताक़तवर। (२) प्रतापशाली। (३) उद्दंड। उद्धत। (४) प्रचंड। प्रखर। बहुत तेज।

बरबत-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का बाजा।

बरबर†-संज्ञा स्त्री० [अनु०] व्यर्थ की बातें। बक बक। उ०—सुनि भृगुपति के बैन मनही मन मुसक्यात मुनि। अबै ज्ञान यह है न, वृथा बकत बरबर बचन।—रघुराज।

संज्ञा पुं० दे० "बर्बर"।

बरबरी-संज्ञा स्त्री० [सं० बर्बरी] (१) बर्बर या बर्बरी नामक देश। (२) एक प्रकार की बकरी।

बरबस-क्रि० वि० [सं० बल+वश] (१) बलपूर्वक। ज़बरदस्ती। हठात्। (२) व्यर्थ। फ़िज़ूल। उ०—(क) खेलत में कोउ काको गुसैयाँ। हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही क्यों करत रिसैयाँ।—सूर।

बरबाद-वि० [फ़ा०] (१) नष्ट। चौपट। तबाह। जैसे, घर बरबाद होना। (२) व्यर्थ ख़र्च किया हुआ। जैसे,—सैकड़ों रुपए बरबाद कर चुके, कुछ भी काम न हुआ। तुम्हें क्या मिल जायगा?

बरबादी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] नाश। ख़राबी। तबाही। जैसे,—इस झगड़े में तो हर तरह तुम्हारी बरबादी ही है।

बरम*-संज्ञा पुं० [सं० वर्म] जिरह बक्तर। कवच। शरीर त्राण। उ०—असन बिनु बिनु बरम बिनु रण बच्यो कठिन कुघायँ।—तुलसी।

बरमा-संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० अल्प० बरमी] लकड़ी आदि में छेद करने का, लोहे का बना एक प्रसिद्ध औज़ार। इसमें लोहे का एक नुकीला छड़ होता है जो पीछे की ओर लकड़ी के एक दस्ते में इस प्रकार लगा होता है कि सहज में खूब अच्छी तरह घूम सके। जिस स्थान पर छेद करना होता है, उस स्थान पर नुकीला कोना लगाकर और दस्ते के सहारे उसे दबा कर रस्सी की गराड़ियों की सहायता से अथवा और किसी प्रकार खूब ज़ोर ज़ोर से घुमाते हैं जिससे वहाँ छेद हो जाता है।

संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मदेश] भारत की पूर्वी सीमा पर, बंगाल की खाड़ी के पूर्व और आसाम तथा चीन के दक्षिण का एक पहाड़ी प्रदेश जो पहले वहाँ के देशी राजा के अधिकार में था, पर अब अँगरेज़ों के अधिकार में आ गया है और भारतवर्ष में मिला लिया गया है। इस प्रदेश में खानें और जंगल बहुत अधिकता से हैं। यहाँ चावल बहुत अधिकता से होता है। इस देश के अधिकांश निवासी बौद्ध हैं।

बरमी-संज्ञा पुं० [हिं० बरमा+ई (प्रत्य०)] बरमा देश का निवासी। बरमा का रहनेवाला।

संज्ञा स्त्री० बरमा देश की भाषा।

वि० बरमा-संबंधी। बरमा देश का। जैसे, बरमी चावल।

संज्ञा स्त्री० गीली नाम का पेड़। विशेष—दे० "गीली"।

बरम्हबोट-संज्ञा स्त्री० [हिं० बरमा (देश)+अं० बोट=नाव] प्रायः चालीस हाथ लंबी एक प्रकार की नाव जिसका पिछला भाग अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा होता है। इसके बीच में एक बड़ा कमरा होता है और पीछे की ओर ऐसा यंत्र बना होता है जिसे बारह आदमी पैर से चलाते हैं।

बरम्हा-संज्ञा पुं० (१) दे० "ब्रह्मा"। (२) दे० "बरमा"।

बरम्हाना*†-क्रि० स० [सं० ब्रह्म] (ब्राह्मण का) आशीर्वाद देना। उ०—जाति भाँट कत औगुन लावसि। बाएँ हाथ राज बरम्हावसि।—जायसी।

बरम्हाव*†-संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्म+आव (प्रत्य०)] ब्राह्मणत्व। (२) ब्राह्मण का आशीर्वाद। उ०—(क) ठाढ़ देखि सब राजा राऊ। बाएँ हाथ दीन्ह बरम्हाऊ।—जायसी। (ख) भट्ट अज्ञा को भाँट औ भाऊ। बाएँ हाथ दिये बरम्हाऊ।—जायसी।

बररे-संज्ञा स्त्री० दे० "बर्रे"।

बरवट-संज्ञा स्त्री० दे० "तिल्ली" (रोग)।

बरवल-संज्ञा पुं० [देश०] भेड़ की एक जाति। इस जाति की भेड़ हिमालय पर्वत के उत्तर में जुमिला से किरांट तक और कमाऊँ से शिकम तक पाई जाती है। यह पहाड़ी भेड़ों के पाँच भेदों में से एक है। इसके नर के सिर पर दृढ़ सींगें होती हैं और वह लड़ाई में खूब टक्कर लगाता है। इसका ऊन यद्यपि मैदान की भेड़ों से अच्छा होता है, तो भी मोटा होता है और कम्मल आदि बनाने के काम में ही आता है। इसका मांस खाने में रूखा होता है।

बरवा-संज्ञा पुं० दे० "बरवै"।

बरवै-संज्ञा पुं० [देश०] १९ मात्राओं का एक छंद जिसमें १२ और ७ मात्राओं पर यति और अंत में "जगण" होता है। इसे "ध्रुव" और "कुरंग" भी कहते हैं। उ०—मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार।

बरषना*†-क्रि० अ० दे० "बरसना"।

बरषा*-संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा] (१) पानी बरसना। वृष्टि। उ०—का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने।—तुलसी। (२) वर्षाकाल। बरसात।

बरषाना*†-क्रि० स० दे० "बरसाना"।

बरषासन*†-संज्ञा पुं० [सं० वर्षाशन] एक वर्ष की भोजन-सामग्री। उतना अनाज आदि जितना एक मनुष्य अथवा एक परिवार एक वर्ष में खा सके।

बरस-संज्ञा पुं० [सं० वर्ष] बारह महीनों अथवा ३६५ दिनों का समूह। वर्ष। साल। जैसे,—(क) दो बरस हुए, बहुत बाढ़ आई थी। (ख) अभी तो वह चार बरस का बच्चा है। विशेष-दे० "वर्ष"।

यौ०—बरसगाँठ।

मुहा०—बरस दिन का दिन=ऐसा दिन (त्योहार या पर्व आदि) जो साल भर में एक ही बार आता हो। बड़ा तिहवार।

बरसगाँठ-संज्ञा स्त्री० [हिं० बरस+गाँठ] वह दिन जिसमें किसी

का जन्म हुआ हो। वह दिन जिसमें किसीकी आयु का एक बरस पूरा हुआ हो। जन्मदिन। सालगिरह। उ०—कुछ न मिला हमको बरसगाँठ से। एक बरस और गया गाँठ से।

विशेष—आगरे आदि की तरफ़ घर में एक तागा रहता है। जिसके नाम का यह तागा होता है उसके एक एक जन्म-दिन पर इस तागे में एक एक गाँठ देते जाते हैं। इसी से जन्मदिन को वर्षगाँठ कहते हैं। प्राचीन समय में भी ऐसी ही प्रथा थी।

बरसना—क्रि० स० [सं० वर्षण] (१) आकाश से जल की बूँदों का निरंतर गिरना। वर्षा का जल गिरना। मेह पड़ना। (२) वर्षा के जल की तरह ऊपर से गिरना। जैसे, फूल बरसना। (३) बहुत अधिक मान, संख्या या मात्रा में चारों ओर से आकर गिरना, पहुँचना या प्राप्त होना। जैसे, रुपया बरसना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—बरस पड़ना=बहुत अधिक क्रुद्ध होकर डाटने, डपटने लगना। बहुत कुछ बुरी भली बातें कहने लगना।

(४) बहुत अच्छी तरह झलकना। ख़ूब प्रकट होना। जैसे, उनके चेहरे से शरारत बरसती है। शोभा बरसना। (५) दाएँ हुए गल्ले का इस प्रकार हवा में उड़ाया जाना जिसमें दाना अलग और भूसा अलग हो जाय। ओसाया जाना। डाली होना।

बरसाइत †—संज्ञा स्त्री० [सं० वट+सावित्री] जेठ बदी अमावस जिस दिन स्त्रियाँ वटसावित्री का पूजन करती हैं।

बरसाइन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बरस+आइन (प्रत्य०)] प्रति वर्ष बच्चा देनेवाली गाय। वह गौ जो हर साल बच्चा दे।

बरसाऊ †—वि० [हिं० बरसना+आऊ (प्रत्य०)] बरसनेवाला। वर्षा करनेवाला (बादल आदि)।

बरसात—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्षा, हिं० बरसना+आत (प्रत्य०)] पानी बरसने के दिन। सावन-भादों के दिन जब कि ख़ूब वर्षा होती है। वर्षाकाल। वर्षाऋतु।

बरसाती—वि० [सं० वर्षा] बरसात का। बरसात संबंधी। जैसे, बरसाती पानी, बरसाती मेंढक।

संज्ञा पुं० [सं० वर्षा, हिं० बरसात+ई (प्रत्य०)] (१) घोड़ों का स्थायी रोग जो प्रायः बरसात में होता है। (२) एक प्रकार का आँख के नीचे का घाव जो प्रायः बरसात में होता है। (३) पैर में होनेवाली एक प्रकार की फुंसियाँ जो बरसात में होती हैं। (४) चरस पक्षी। चीनी मोर। तन मोर। (५) एक प्रकार का ढीला कपड़ा जिसे पहन लेने से शरीर नहीं भीगता।

बरसाना—क्रि० स० [हिं० बरसना का प्रे०] (१) आकाश से जल की बूँदें निरंतर गिराना। वर्षा करना। वृष्टि करना। (२) वर्षा के जल की तरह लगातार बहुत सा गिराना। जैसे, फूल बरसाना। (३) बहुत अधिक संख्या या मात्रा में चारों ओर से प्राप्त कराना। (४) दाएँ हुए अनाज को इस प्रकार हवा में गिराना जिससे दाने अलग और भूसा अलग हो जाय। ओसाना। डाली देना।

संयो० क्रि०—देना।—डालना।

बरसायत—संज्ञा स्त्री० [सं० वर+अ० सायत] शुभ घड़ी। शुभ मुहूर्त।

संज्ञा स्त्री० दे० "बरसाइत"।

बरसावना†—संज्ञा पुं० दे० "बरसाना"।

बरसिंघा—संज्ञा पुं० [बर+हिं० सींग] वह बैल जिसका एक सींग खड़ा और दूसरा नीचे की ओर झुका हो। मैना।

‡ संज्ञा पुं० दे० "बारहसिंगा"।

बरसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बरस+ई (प्रत्य०)] वह श्राद्ध जो किसी मृतक के उद्देश्य से उसके मरने की तिथि के ठीक एक बरस बाद होता है। मृतक के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रथम वार्षिक श्राद्ध।

बरसू—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष।

बरसोदिया‡—संज्ञा पुं० [हिं० बरस+ओदिया (प्रत्य०)] पूरे साल भर के लिये रखा हुआ नौकर। वह नौकर जो साल भर के लिये रखा जाय।

बरसौंड़ी, बरसौंढ़ी‡—संज्ञा स्त्री० [बरस+औंडी (प्रत्य०)] वार्षिक कर। प्रति वर्ष लिया जानेवाला कर।

बरहंटा—संज्ञा पुं० [सं० भंटाकी] बड़ी कटाई। कड़वा भंटा।

पर्या०—वार्ताकी। बृहती। महती। सिंहिका। राष्ट्रिका। स्थूल कंटा। क्षुद्रभंटा।

बरह—संज्ञा पुं० [हिं०] वृक्ष आदि का पत्ता।

बरहना—वि० [फ़ा०] जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। नंगा। नग्न।

बरहम—वि० [फ़ा०] (१) जिसे ग़ुस्सा आगया हो। क्रुद्ध। (२) उत्तेजित। भड़का हुआ।

बरहा—संज्ञा पुं० [हिं० बहा] [स्त्री० अल्प० बरही] खेतों में सिंचाई के लिये बनी हुई छोटी नाली। उ०—तरह तरह के पक्षी कलोल कर रहे थे, बरहों में चारों तरफ़ जल बह रहा था।—रणधीर।

संज्ञा पुं० [देश०] मोटा रस्सा।

बरही—संज्ञा पुं० [सं० बर्हि] (१) मयूर। मोर। (२) साही नाम का जंगली जंतु। उ०—पुनि शत सर छाती महँ दीन्हे। बीसहु भुज बरही सम कीन्हें।—विश्राम। (३) अग्नि। आग। (डिं०)। (४) मुरगा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बारह] (१) प्रसूता का वह स्नान तथा अन्यान्य क्रियाएँ जो संतान उत्पन्न होने के बारहवें दिन होती

हैं। (२) संतान उत्पन्न होने के दिन से बारहवाँ दिन।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) पत्थर आदि भारी बोझ उठाने का मोटा रस्सा। (२) जलाने की लकड़ी का भारी बोझ। ईंधन का बोझ। उ०—(क) शक्ति भक्त सों बोलि दिनहि प्रति बरही डारैं।—नाभाजी। (ख) नित उठ नौवा नाव चढ़त है बरही बेरा बारि उही।—कबीर।

बरहीपीड़ॐ†—संज्ञा पुं० [सं० वर्हिपीड] मोर के परों का बना हुआ मुकुट। मोरमुकुट। उ०—वेगु बजाय बिलास कियो बन धौरी धेनु बुलावत। बरहीपीड़ दाम गुंजामणि अद्भुत वेष बनावत।—सूर।

बरहीमुखॐ†—संज्ञा पुं० [सं० वर्हिमुख] देवता।

बरहौं—संज्ञा पुं० [हिं० बरहा] संतान उत्पन्न होने के दिन से बारहवाँ दिन। बरहो। इसी दिन नामकरण होता है। विशेष—दे० "बरहो"। उ०—चारों भाइन नाम करन हित बरहौं साज सजायो।—रघुराज।

बरांडल—संज्ञा पुं० [देश०] (१) जहाज़ के उन रस्सों में से कोई रस्सा जो मस्तूल को सीधा खड़ा रखने के लिये उसके चारों ओर, ऊपरी सिरे से लेकर नीचे जहाज़ के भिन्न भिन्न भागों तक बाँधे जाते हैं। बरांडा। बरांडाल। (२) जहाज़ में इसी प्रकार के और कामों में आनेवाला कोई रस्सा। (लश०)।

बरांडा—संज्ञा पुं० (१) दे० "बरामदा"। (२) दे० "बरांडल।

बरांडाल—संज्ञा पुं० दे० "बरांडल"।

बरांडी—संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की विलायती शराब। ब्रांडी।

बरा—संज्ञा पुं० [सं० बटी] उड़द की पीसी हुई दाल का बना हुआ, टिकिया के आकार का एक प्रकार का पकान्न जो घी या तेल में पकाकर योंही अथवा दही, इमली के पानी आदि में डालकर खाया जाता है। बड़ा। उ०—बरी बरा बेसन बहु भांतिन व्यंजन विविध अनगनियां। डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि दनियाँ।—सूर।

†संज्ञा पुं० [सं० बट] बरगद का पेड़।

संज्ञा पुं० [?] भुजदंड पर पहनने का एक आभूषण। बहुँटा। टाँड़।

बराई—संज्ञा स्त्री० दे० "बड़ाई"। उ०—सरधा भगति को बराई भले साधि परै बाधि ये सुदृष्टि बिसवास सम तूल हैं।—प्रियादास

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का गन्ना।

बराक—संज्ञा पुं० [सं० बराक] (१) शिव। (२) युद्ध। लड़ाई।

वि० (१) शोचनीय। सोच करने के योग्य। (२) नीच। अधम। पापी। दुखिया। (३) बापुरा। बेचारा। उ०—धीर गंभीर मन पीर कारक तत्र के बराका वय विगत सारा।—तुलसी।

बराड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बरार (देश)] बरार और खानदेश की रुई।

बरात—संज्ञा स्त्री० [सं० वरयात्रा] (१) विवाह के समय वर के साथ कन्या पक्षवालों के यहाँ जानेवाले लोगों का समूह, जिसमें शोभा के लिये बाजे, हाथी, घोड़े, ऊँट या फुलवारी आदि भी रहती है। वर पक्ष के लोग जो विवाह के समय वर के साथ कन्यावालों के यहाँ जाते हैं। जनेत।

क्रि० प्र०—आना।—जाना।—निकलना।—सजना।—सजाना।

(२) कहीं एक साथ जानेवाले बहुत से लोगों का समूह। (३) उन लोगों का समूह जो मुरदे के साथ श्मशान तक जाते हैं। (क्व०)

बराती—संज्ञा पुं० [हिं० बरात+ई (प्रत्य०)] (१) बरात में वर के साथ कन्या के घर तक जानेवाला। विवाह में वर-पक्ष की ओर से सम्मिलित होनेवाला। (२) शव के साथ श्मशान तक जानेवाला। (क्व०)

बरानकोट—संज्ञा पुं० [अं० ब्राउनकोट] (१) वह बड़ा कोट या लबादा जो जाड़े या बरसात में सिपाही लोग अपनी वर्दी के ऊपर पहनते हैं। (२) दे० "ओवरकोट"।

बराना—क्रि० अ० [सं० वारण] (१) प्रसंग पड़ने पर भी कोई बात न कहना। मतलब की बात छोड़कर और और बातें कहना। बचाना। उ०—बैठी सखीन की सोभै सभा सबै के जु नैनन माँझ बसै। बूझै ते बात बराइ कहै मन ही मन केशवराइ कहै।—केशव। (२) बहुत सी वस्तुओं या बातों में से किसी एक वस्तु या बात को किसी कारण छोड़ देना। जान बूझकर अलग करना। बचाना। उ०—साँवरे कुँवर के चरन के चिह्न बराइ बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै।—तुलसी। (३) रक्षा करना। हिफ़ाज़त करना। बचाना। उ०—हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई।—तुलसी। (४) खेतों में से चूहों आदि को भगाना।

क्रि० स० [सं० वरण] बहुत सी चीज़ों में से अपने इच्छानुसार कुछ चीज़ें चुनना। देख देखकर अलग करना। छाँटना। उ०—(क) आसिष आयसु पाइ कपि सीय चरन सिर नाइ। तुलसी रावन बाग फल खात बराइ बराइ।—तुलसी। (ख) यादव वीर बराइ बराई इक हलधर इक आपै ओर।—सूर।

†क्रि० स० दे० "बालना" (जलाना)। उ०—देबो गुण लियो नीके जल सों पछारि करि करी दिव्य बाती दई दिये में बराइ कै।—प्रियादास।

क्रि० अ० [सं० वारि] (१) सिँचाई का पानी एक नाली से दूसरी नाली में ले जाना। (२) खेतों में पानी देना।

बराबर–वि० [फ़ा० बर] (१) मान, मात्रा, संख्या, गुण, महत्त्व, मूल्य आदि के विचार से समान। किसी के मुक़ाबले में उससे न कम, न अधिक। तुल्य। एक सा। जैसे,—(क) चौड़ाई में दोनों कपड़े बराबर हैं। (ख) सिर के सब बाल बराबर कर दो। (ग) एक रुपया चार चवन्नियों के बराबर है। (घ) इसके चार बराबर हिस्से कर दो। (२) समान पद या मर्यादावाला। जैसे,—(क) यहाँ सब आदमी बराबर हैं। (ख) तुम्हारे बराबर झूठा ढूँढ़ने से न मिलेगा।

मुहा०—बराबर का=बराबरी करनेवाला। समान। जैसे,—बराबर का लड़का है, उसे मार भी तो नहीं सकते।

(३) जिसकी सतह ऊँची नीची न हो। जो खुरखुरा न हो। समतल।

मुहा०—बराबर करना=समाप्त कर देना। अंत कर देना। न रहने देना। जैसे,—उन्होंने दोही चार बरस में अपने बड़ों की सब कमाई बराबर कर दी।

(४) जैसा चाहिए वैसा। ठीक।

क्रि० वि० (१) लगातार। निरंतर। बिना रुके हुए। जैसे,—बराबर आगे बढ़ते चले जाना। (२) एक ही पंक्ति में। एक साथ। जैसे,—सब सिपाही बराबर चलते हैं। (३) साथ। (क०)। जैसे,—हमारे बराबर रहना। (४) सदा। हमेशा। जैसे,—आप तो बराबर यही कहा करते हैं।

बराबरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बराबर+ई (प्रत्य०)] (१) बराबर होने की क्रिया या भाव। समानता। तुल्यता। (२) सादृश्य। (३) मुक़ाबला। सामना।

बरामद–वि० [फ़ा०] (१) जो बाहर निकला हुआ हो। बाहर आया हुआ। सामने आया हुआ। (२) खोई हुई, चोरी गई हुई या न मिलती हुई वस्तु जो कहीं से निकाली जाय। जैसे, चोरों का माल बरामद करना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

संज्ञा स्त्री० (१) वह ज़मीन जो नदी के हट जाने से निकल आई हो। दियारा। गंग-बरार। (२) निकासी। आमदनी उ०—बड़ो तुम्हार बरामद हूँ को लिखि कीनो है साफ।—सूर।

बरामदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मकानों में वह छाया हुआ तंग और लंबा भाग जो मकान की सीमा के कुछ बाहर निकला रहता है और जो खंभों, रेलिंग या धुड़िया आदि के आधार पर ठहरा हुआ होता है। बारजा। छज्जा। (२) मकान के आगे का वह स्थान जो ऊपर से छाया या पटा हो पर सामने या तीनों ओर खुला हो। दालान। ओसारा।

बरामीटर–संज्ञा पुं० दे० "बैरोमीटर"।

बराम्हण, बराम्हन†–संज्ञा पुं० दे० "ब्राह्मण"।

बराय–अव्य० [फ़ा०] वास्ते। लिये। निमित्त। जैसे, बराय ख़ुराक, बराय नाम।

बरायन–संज्ञा पुं० [सं० वर+आयन (प्रत्य०)] वह लोहे का छल्ला जो ब्याह के समय दूल्हे के हाथ में पहनाया जाता है। इसमें रत्नों के स्थान में गुंजा लगे रहते हैं। उ०—बिहँसत आव लोहारिनि हाथ बरायन हो।—तुलसी।

बरार–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का जंगली जानवर। (२) वह चंदा जो गाँवों में घर पीछे लिया जाता हो।

बरारक–संज्ञा पुं० [हिं०] हीरा।

बरारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जो दोपहर के समय गाई जाती है। कोई कोई इसे भैरव राग की रागिनी मानते हैं।

बरारीश्याम–संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक संकर राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

बराव–संज्ञा पुं० [हिं० बराना+आव (प्रत्य०)] 'बराना' का भाव। बचाव। परहेज़। निवारण। उ०—मानहुँ विवि खंजन लरैं शुक करत बराव।—विश्राम।

बरास–संज्ञा पुं० [सं० पोतास?] एक प्रकार का कपूर जो भीमसेनी कपूर भी कहलाता है। विशेष—दे० "कपूर"।

संज्ञा पुं० [अं० ब्रेस] जहाज़ में पाल की वह रस्सी जिसकी सहायता से पाल को घुमाते हैं।

बराह–संज्ञा पुं० दे० "वराह"।

क्रि० वि० [फ़ा०] (१) के तौर पर। जैसे, बराह मेहरबानी। (२) ज़रिये से। द्वारा।

बराही–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घटिया ऊख।

बरिआत†–संज्ञा पुं० दे० "बरात"।

बरिच्छा†–संज्ञा पुं० दे० "बरच्छा"।

बरियाई†–क्रि० वि० [सं० बलात्] बलात्। हठात्। ज़बरदस्ती से। उ०—मंत्रिन पुर देखा बिनु साईं। मो कहँ दीन राज बरियाईं।—तुलसी।

बरियार†–वि० [हिं० बल+आर (प्रत्य०)] बली। बलवान्। मज़बूत।

बरियारा–संज्ञा पुं० [सं० वला] एक छोटा झाड़दार छतनारा पौधा जो हाथ सवा हाथ ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ तुलसी की सी पर कुछ बड़ी और खुलते रंग की होती हैं। इसमें पीले पीले फूल लगते हैं जिनके झड़ जाने पर कोदो के से बीज पड़ते हैं। पौधे की जड़ दवा के काम में बहुत आती है। वैद्यक में बरियारा कड़ुवा, मधुर, पित्तातिसार-नाशक, बलवीर्यवर्द्धक, पुष्टिकारक और कफ-रोधविशोधक माना जाता है। इसके पौधे की छाल से बहुत अच्छा रेशा निकलता है जो अनेक कामों में आ

सकता है। इस पौधे को खिरेंटी, बीजबंध और बनमेथी भी कहते हैं।

पर्या०—वाट्यपुष्पी। समांशा। विल्ला। बलिनी। वला। ओदनी। समंगा। भद्रा। खरककाष्ठिका। कल्याणिनी। भद्रवला। मोटापाटी। बलाढ्या। शीतपाकी। वाट्यवाटी। निलया। वाटिका। खरयष्टिका। ओदनाह्वा। वातघ्नी। कनका। रक्ततंदुला। क्रूरा। प्रहासा। वारिगा। फणिजिह्विका। जयंती। कठोरयष्टिका।

बरियाल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पतला बाँस। बाँसी।

बरिल†–संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा, बरा] पकौड़ी या बड़े की तरह का एक पकवान। उ०—बने अनेक अन्न पकवाना। बरिल इडरहर स्वादु महाना।—रघुराज।

बरिल्ला–संज्ञा पुं० [देश०] सज्जीखार।

बरिवंड*–वि० [सं० बलवंत] (१) बलवान। बली। (२) प्रचंड। प्रतापी।

बरिषा*–संज्ञा स्त्री० दे० "वर्षा"। उ०—ये श्यामघन तू दामिनि प्रेमपुंज बरिषा रस पीजै।—हरिदास।

बरिष्ठ–वि० दे० "वरिष्ठ"।

बरिस†–संज्ञा पुं० [सं० वर्ष] वर्ष। साल। उ०—(क) पाँच बरिस महँ भई सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़इ बइसारी।—जायसी। (ख) तापस वेष विशेष उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी।—तुलसी।

बरी–संज्ञा स्त्री० [सं० वटी, प्रा० बड़ी] (१) गोल टिकिया। बटी। (२) उर्द या मूँग की पीठी के सुखाए हुए छोटे छोटे गोल टुकड़े जिनमें पेठे या आलू के कतरे भी पड़ते हैं। ये घी में तलकर पकाए जाते हैं। उ०—पापर, बरी, अचार परम शुचि। अदरख औ निबुवन ह्वै है रुचि।—सूर। (३) वह मेवा या मिठाई जो दूल्हे की ओर से दुलहिन के यहाँ जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास या कदन्न जिसके दानों को बाजरे में मिलाकर राजपूताने की ओर ग़रीब लोग खाते हैं।

वि० [फ़ा०] मुक्त। छूटा हुआ। बचा हुआ। जैसे, इलज़ाम से बरी।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

* ‡ वि० दे० "बली"। उ०—धरम नियाउ चलइ सतभाखा। दूबर बरी एक सम राखा।—जायसी।

बरीस‡–संज्ञा पुं० दे० "वर्ष"। उ०—(क) जानि लखन सम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा।—तुलसी। (ख) नंद महर के लाड़िले तुम जीओ कोटि बरीस।—सूर।

बरु†*–अव्य० [सं० वर=श्रेष्ठ, भला] भले ही। ऐसा हो जाय तो हो जाय। चाहे। कुछ हर्ज नहीं। कुछ परवा नहीं। उ०—(क) सूरदास बरु उपहास सहोंइ सुर मेरे नंदसुवन मिलैं तो पै कहा चाहिए।—सूर। (ख) बरु तीर मारहिं लखन पै जब लगि न पायँ पखारिहौं। तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं।—तुलसी।

बरुआ†–संज्ञा पुं० [सं० बटुक, प्रा० बडुअ] (१) वटु। ब्रह्मचारी। जिसका यज्ञोपवीत हो गया हो पर जो गृहस्थ न हुआ हो। (२) ब्राह्मणकुमार। (३) उपनयन संस्कार। जनेऊ का संस्कार।

संज्ञा पुं० [हिं० बरना] मूँज के छिलके की बनी हुई पट्टी जिससे डलियाँ आदि बनाई जाती हैं।

बरुक†–अव्य० दे० "बरु"।

बरुन*‡–संज्ञा पुं० दे० "वरुण"।

बरुना–संज्ञा पुं० [सं० वरुण] एक सीधा सुंदर पेड़ जिसकी पत्तियाँ साल में एक बार झड़ती हैं। कुसुम काल में यह पेड़ फूलों से लद जाता है। फूल सफ़ेद और सुगंधित होते हैं। लकड़ी चिकनी और मज़बूत होती है जिसे खराद कर अच्छी अच्छी चीज़ें बनती हैं। ढोल, कंघियाँ और लिखने की पट्टियाँ इस लकड़ी की अच्छी बनती हैं। बरुना भारतवर्ष के सभी प्रांतों में होता है और बरसात में बीजों से उगता है। इसे बन्ना और बलासी भी कहते हैं।

बरुनी–संज्ञा स्त्री० [सं० वरण=ढाँकना] पलक के किनारे पर के बाल। उ०—अंजन बरुनी पनच कै लोचन बान चलाय।

बरुला†–संज्ञा पुं० दे० "बल्ला"।

बरुवा–संज्ञा पुं० दे० "बरुआ"।

बरूथ–संज्ञा पुं० दे० "वरूथ"।

बरूथी–संज्ञा स्त्री० [सं० वरूथ] एक नदी जो सई और गोमती के बीच में है। उ०—बहुरि बरूथी सरित लखि उतरि गोमती आसु। निरख्यो साल विशाल बन विविध विहंग विलासु।—रघुराज।

बरेंड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं० वरंडक=गोला, गोल लकड़ी] (१) लकड़ी का वह मोटा गोल लट्ठा जो खपरैल या छाजन की लंबाई के बल एक पाखे से दूसरे पाखे तक रहता है। इसीके आधार पर छप्पर या छाजन का टट्टर रहता है।

(२) छाजन या खपरैल के बीचोबीच का सबसे ऊँचा भाग। उ०—यह उपदेश संत ना भाए जो चढ़ि कहौ बरेंड़े।—सूर

बरेंड़ो–संज्ञा स्त्री० दे० "बरेंड़ा"।

बरे*†–क्रि० वि० [सं० बल, हिं० बर] (१) ज़ोर से। बलपूर्वक। (२) ज़बरदस्ती से। (३) ऊँची आवाज़ से। ऊँचे स्वर से। उ०—बोलि उठौंगी बरे तेरो नावँ जो बाट में लालन ऐसी करोगे।

अव्य० [सं० वर्त्त=पलटा, हिं० बट, बटे] (१) बदले में।

(२) निमित्त। वास्ते। लिये। ख़ातिर। उ०—हाजिर मैं हौं हुज़ूर में रावरे सेवा बरे सहितै लघु भाई।—रघुराज।

बरेखी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाहँ+रखना] स्त्रियों का भुजा पर पहनने का एक गहना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बर+देखना, बरदेखी] विवाह संबंध के लिये वर या कन्या देखना। विवाह की ठहरौनी। उ०—(क) जौ तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाय बिनु किए बरेषी। तौ कौतुकियन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं।—तुलसी। (ख) घरघाल चालक कलहप्रिय कहियत परम परमारथी। तैसी बरेखी कीन्हि पुनि मुनि सात स्वारथ सारथी।—तुलसी। (ग) लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।—तुलसी।

बरेज, बरेजा—संज्ञा पुं० [सं० वाटिका, प्रा० बाड़िअ] पान का बगीचा। पान का भीटा।

बरेत—संज्ञा पुं० दे० "बरेता"।

बरेता—संज्ञा पुं० [हिं० बरना, बटना+एत (प्रत्य०)] सन का मोटा रस्सा। नार।

बरेदी†—संज्ञा पुं० [देश०] चरवाहा। ढोर चरानेवाला।

बरेषी—संज्ञा स्त्री० दे० "बरेखी"।

बरैंड़ा—संज्ञा पुं० दे० "बरेंड़ा"।

बरो—संज्ञा स्त्री० [हिं० बार, बाल] आल की जड़ का पतला रेशा। (रंगरेज़)

संज्ञा पुं० [देश०] एक घास जिससे बागों को हानि पहुँचती है।

‡वि० दे० "बड़ा"।

बरोक—संज्ञा पुं० [हिं० वर+रोक] वह द्रव्य जो कन्यापक्ष से वरपक्ष को यह सूचित करने के लिये दिया जाता है कि संबंध की बातचीत पक्की हो गई। इसके द्वारा वर रोका रहता है अर्थात् उससे और किसी कन्या के साथ विवाह की बातचीत नहीं हो सकती। बरच्छा। फलदान। उ०—राजा कहइ गरब से हौं रे इँदर सिव लोक। के सरि मो से पावइ केसे करउँ बरोक।—जायसी।

*संज्ञा पुं० [सं० बलौक] सेना। फ़ौज।

बरोठा—संज्ञा पुं० [सं० द्वार+कोष्ठ, हिं० बार+कोठा] (१) ड्योढ़ी। पौरी। (२) बैठक। दीवानख़ाना।

मुहा०—बरोठे का चार=द्वारपूजा। उ०—बारोठे को चार करि कहि केशव अनुरूप। द्विज दूलह पहिराइयो पहिराये सब भूप।—केशव।

बरोधा†—संज्ञा पुं० [देश०] वह खेत या भूमि जिसमें पिछली फसल कपास की रही हो।

बरोबर‡—वि० दे० "बराबर"।

बरोरु*—वि० दे० "वरोरु"।

बरोह—संज्ञा स्त्री० [सं० बट+रोह=उगनेवाला] बरगद के पेड़ के ऊपर की डालियों में टँगी हुई सूत या रस्सी के रूप की वह शाखा जो क्रमशः नीचे की ओर बढ़ती हुई ज़मीन पर जाकर जड़ पकड़ लेती है। बरगद की जटा।

बरौंछी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बार+ओंछना] सूअर के बालों की बनी हुई कूँची जिससे सुनार गहना साफ़ करते हैं।

बरौखा†—संज्ञा पुं० [हिं० बड़ा, बड़+ऊख] एक प्रकार का गन्ना जो बहुत ऊँचा या लंबा होता है। बड़ौखा।

बरौठा‡—संज्ञा पुं० दे० "बरोठा"।

बरौनी†—संज्ञा स्त्री० दे० "बरुनी"।

बरौरी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बड़ी, बरी] बड़ी या बरी नाम का पकवान। उ०—कढ़ी सँवारी और फुलौरी। औ खँड़वाना लाय बरौरी।—जायसी।

बर्क़—संज्ञा स्त्री० [अ०] बिजली। विद्युत।

वि० (१) तेज़। चालाक। (२) चट उपस्थित होनेवाला। पूर्ण रूप से अभ्यस्त।

बर्कत—संज्ञा स्त्री० दे० "बरकत"।

बर्खास्त—वि० दे० "बरखास्त"।

बर्छा—संज्ञा पुं० दे० "बरछा"।

बर्ज*—वि० दे० "वर्य"। उ०—राम कथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेश परम सुख मानी।—तुलसी।

बर्जना—क्रि० स० दे० "बरजना"।

बर्णना*—क्रि० स० [हिं० वर्णन] वर्णन करना। बयान करना।

बर्त्त‡—संज्ञा पुं० दे० "व्रत"।

बर्त्तन—संज्ञा पुं० दे० "बरतन"।

बर्त्तना—क्रि० स० [सं० वर्त्तन=वृत्ति, व्यवहार] (१) आचरण करना। व्यवहार करना। जैसे, मित्रता बर्त्तना। (२) व्यवहार में लाना। काम में लाना। इस्तेमाल करना। जैसे,—यह बरतन नया है, किसी ने इसे बर्त्ता नहीं है।

बर्त्ताव—संज्ञा पुं० दे० "बरताव"।

बर्द—संज्ञा पुं० [सं० बलद] बैल। वृष।

बर्दाश्त—संज्ञा स्त्री० दे० "बरदाश्त"।

बर्न*—संज्ञा पुं० दे० "वर्ण"।

बर्फ़—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) हवा में मिली हुई भाप के अत्यंत सूक्ष्म अणुओं की तह जो वातावरण की ठंढक के कारण आकाश में बनती और भारी होने के कारण ज़मीन पर गिरती है। गिरते समय यह प्रायः रुई की तरह मुलायम होती है और ज़मीन पर गिरकर अधिक ठंढक के कारण जम जाती है। जमने से पहले यदि चाहें तो इसे एकत्र करके ठोस गोले आदि के रूप में भी बना सकते हैं।

जमने पर इसका रंग बिलकुल सफ़ेद हो जाता है। ऊँचे पहाड़ों आदि पर प्रायः सरदी के दिनों में यह अधिकता से गिरती है और ज़मीन पर इसकी छोटी मोटी तहें जम जाती हैं जिन्हें पीछे से फावड़े आदि से खोदकर हटाना पड़ता है। पाला। हिम। तुषार।

क्रि० प्र०—गलना।—गिरना।—पड़ना।

(२) बहुत अधिक ठंढक के कारण जमा हुआ पानी जो ठोस और पारदर्शी होता है और जो आघात पहुँचने पर टुकड़े टुकड़े हो जाता है।

विशेष—जिस समय जल में तापमान की ३२ अंश की गर्मी रह जाती है तब वह जमने लगता है और ज्यों ज्यों जमता जाता है त्यों त्यों फैलकर कुछ अधिक स्थान घेरने लगता है, यहाँ तक कि जब वह बिलकुल जम जाता है और उसमें तापमान कुछ भी नहीं रह जाता तब उसके आकार में प्रायः १/११ वें अंश की वृद्धि हो जाती है। जब तक उसका तापमान घटकर ४° तक नहीं पहुँच जाता तब तक तो वह सिमटता और नीचे बैठता है पर जब उसका तापमान ४° से भी कम होने लगता है तब वह फैलकर हलका होने लगता है और अंत में आस पास के पानी पर तैरने लगता है। साधारणतः जल में तैरती हुई बर्फ़ का ९/१० वाँ भाग पानी की सतह के नीचे और १/१० वाँ भाग पानी के ऊपर होता है। प्रायः जाड़े के दिनों में अथवा और किसी प्रकार सरदी बढ़ने के कारण समुद्र आदि का बहुत सा जल प्राकृतिक रूप से जमकर बर्फ़ बन जाता है।

क्रि० प्र०—गलना।—जमना।

मुहा०—बर्फ़ होना=बहुत ठंढा होना। जैसे,—मरने से एक घंटे पहले उनका सारा शरीर बर्फ़ हो गया।

(३) मशीनों आदि की सहायता अथवा और कृत्रिम उपायों से ठंढक पहुँचा कर जमाया हुआ पानी जो साधारणतः बाज़ारों में बिकता है और जिससे गर्मी के दिनों में पीने के लिये जल आदि ठंढा करते हैं।

क्रि० प्र०—गलना।—गलाना।—जमना।—जमाना।

(४) कृत्रिम उपायों से जमाया हुआ दूध या फलों आदि का रस जो प्रायः गरमी के दिनों में खाने के काम में आता है। जैसे, मलाई की बर्फ़, नारंगी की बर्फ़।

क्रि० प्र०—गलना।—गलाना।—जमना।—जमाना।

(५) दे० "ओला"।

बर्फिस्तान—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह स्थान जहाँ बर्फ़ ही बर्फ़ हो। बर्फ़ का मैदान या पहाड़।

बर्फ़ी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बर्फ़] एक मिठाई जो चाशनी के साथ जमे हुए खोए आदि के कतरे काट काटकर बनाई जाती है।

यौ०—करनसाही बर्फ़ी=एक मिठाई जो बेसन की तली हुई बुँदिया शीरे में डालकर जमा देने से बनती है।

बर्बर—वि० [सं०] (१) भ्रष्ट उच्चारण किया हुआ। हकलाता हुआ। (२) घूँघरदार। बल खाया हुआ (बाल)। संज्ञा पुं० (१) घुँघराले बाल। (२) अनार्य्य। वर्णाश्रम विहीन असभ्य मनुष्य। जंगली आदमी। (३) एक पौधा। (४) एक कीड़ा। (५) एक प्रकार की मछली। (६) एक प्रकार का नृत्य। (७) अस्त्रों की झनकार। हथियारों की आवाज़।

वि० (१) जंगली। असभ्य। (२) अशिष्ट। उद्दंड।

उ०—परम बर्बर खर्ब गर्व पर्वत चढ़ो अज्ञ सर्वज्ञ जनमनि जनावै।—तुलसी।

बर्बरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बर्बरी। वनतुलसी। (२) एक प्रकार की मक्खी। (३) एक नदी का नाम।

बर्बरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बनतुलसी। (२) ईंगुर। (३) पीतचंदन।

बर्रा—संज्ञा पुं० [हिं बरना] रस्से की खिंचाई जो कुआर सुदी चौदस (बाँटा चौदस) को गाँवों में होती है। जो लोग रस्सा खींच ले जाते हैं यह समझा जाता है कि वे साल भर कृतकार्य्य होंगे।

बर्राक—वि० [अ०] (१) चमकीला। जगमगाता हुआ। (२) तेज। वेगवान्। (३) तीव्र। (४) चतुर। चालाक। होशियार। (५) बहुत उजला। धवला। सफ़ेद। (६) खूब मश्क़ किया हुआ। पूर्ण रूप से अभ्यस्त। जैसे, सबक़ बर्राक कर डालना।

बर्राना—क्रि० अ० [अनु० बर बर] (१) व्यर्थ बोलना। फ़िज़ूल बकना। प्रलाप करना। (२) नींद या बेहोशी में बकना। स्वप्न की अवस्था में बोलना।

बर्रे†—संज्ञा पुं० [सं० बरट] भिड़ नाम का कीड़ा। तितैया। उ०—बर्रे बालक एक सुभाऊ।—तुलसी।

बर्रों—संज्ञा पुं० [देश०] एक चिड़िया का नाम।

बर्सात—संज्ञा स्त्री० दे० "बरसात"।

बलंद—वि० [फ़ा०] [संज्ञा बलंदी] ऊँचा। उ०—क्रम क्रम जाति कहुँ पुनि गंगा। करति अपार करारन भंगा। मंद मंद कहुँ चलति स्वछंदा। नीच होति कहुँ होति बलंदा।—रघुराज।

बलंधरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार भीमसेन की स्त्री का नाम।

बलंबी—संज्ञा पुं० [देश०] एक पेड़ जो भारत के अनेक भागों में पाया जाता है। इसके फल खट्टे होते हैं और अचार के काम में आते हैं। फलों के रस से लोहे पर के दाग़ भी साफ़ किए जाते हैं। इसकी लकड़ी से खेती के औज़ार भी बनाए जाते हैं।

बल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शक्ति। सामर्थ्य। ताक़त। ज़ोर। बूता।

पर्या०—पराक्रम। शक्ति। शौर्य्य। वीर्य्य।

मुहा०—बल भरना=बल दिखाना। जोर दिखाना। जोर करना। बल की लेना=इतराना। घमंड करना।

(२) भार उठाने की शक्ति। सँभार। सह। (३) आश्रय। सहारा। जैसे, हाथ के बल, सिर के बल इत्यादि। (४) आसरा। भरोसा। बिर्ता। उ०—(क) जो अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ।—तुलसी। (ख) कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बल पाई।—तुलसी। (५) सेना। फ़ौज। (६) बलदेव। बलराम। (७) एक राक्षस का नाम। (८) वरुण नामक वृक्ष। (९) पार्श्व। पहलू। जैसे, दहने बल, बायें बल।

संज्ञा पुं० [सं० बलि=झुरी, मरोड़, वा वलय] (१) ऐंठन। मरोड़। वह चक्कर या घुमाव जो किसी लचीली या नरम वस्तु को बटने या घुमाने से बीच बीच में पड़ जाय। पेच।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

मुहा०—बल खाना=ऐंठ जाना। पेच खाना। बटने या घुमाने से घुमावदार हो जाना। बल देना=(१) ऐंठना। मरोड़ना। (२) बटना।

(२) फेरा। लपेट। जैसे,—कई बल बाँधोगे तब यह न छूटेगा। (३) लहरदार घुमाव। गोलापन लिए वह टेढ़ापन जो कुछ दूर तक चला गया हो। पेच।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—बल खाना=घुमाव के साथ टेढ़ा होना। कुंचित होना। उ०—कंधे पर सुन्दरता के साथ बनाई गई काल साँपनी ऐसी बल खाती हिलती मन मोहनेवाली चोटी थी।—अयोध्यासिंह।

(४) टेढ़ापन। कज। खम। जैसे,—इस छड़ी में जो बल है वह हम निकाल देंगे।

मुहा०—बल निकालना=टेढ़ापन दूर करना।

(५) सुकड़न। शिकन। गुलझट।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(६) लचक। झुकाव। सीधा न रहकर बीच से झुकने की मुद्रा।

मुहा०—बल खाना=लचकना। झुकना। उ०—(क) पतली कमर बल खाति जाति। (गीत)। (ख) बल खात दिग्गज कोल कूरम शेष सिर हालति मही।—विश्राम।

(७) कज। कसर। कमी। अंतर। फ़र्क़। जसे,—(क) पाँच रुपये का बल पड़ता है नहीं तो इतने में मैं आपके हाथ बेच देता। (ख) इसमें उसमें बहुत बल है।

मुहा०—बल खाना=घाटा सहना। हानि सहना। ख़र्च करना। जैसे,—बिना कुछ बल खाए यहाँ काम न होगा। बल पड़ना=(१) अंतर होना। फ़र्क़ रहना। (२) कमी वा घाटा होना।

(८) अधपके जौ की बाल।

बलकंद–संज्ञा पुं० [सं०] मालाकंद।

बलकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) उबलना। उफान खाना। खौलना। (२) उमड़ना। उमगना। उमंग या आवेश में होना। जोश में होना। उ०—(क) प्रेम प्रिये बर बारुणी बलकत बल न सँभार। पग डगमग जित तित धरति मुकुलित अलक लिलार।—सूर। (ख) राज काज कुपथ कुसाज भोग रोग को है वेद बुधि विद्या बाय विवस बलकही।—तुलसी। (ग) हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति। बलकि बलकि बोलति बचन ललकि ललकि लपटाति।—बिहारी।

बलकर–वि० [सं०] [स्त्री० बलकरी] बलकारक। बलजनक।
संज्ञा पुं० हड्डी।

बलकल*‡–संज्ञा पुं० दे० "बल्कल"।

बलकाना†–क्रि० स० [हिं० बलकना] (१) उबालना। खौलना। (२) उभारना। उमगाना। उत्तेजित करना। उ०—जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जसु न नसावा।—तुलसी।

बलकुआ–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो चालीस पचास हाथ लंबा और दस बारह अंगुल मोटा होता है। इसकी गाँठें लंबी होती हैं जिनपर गोल छल्ला पड़ा रहता है। यह बहुत मज़बूत होता है और पाइट बाँधने के काम के लिये बहुत अच्छा होता है। इसे भलुआ, बड़ा बाँस, सिल बरुआ आदि भी कहते हैं। यह पूर्वीय भारत में होता है।

बलगम–संज्ञा पुं० [अ०] [वि० बलगमी] श्लेष्मा। कफ़।

बलगर‡–वि० [हिं० बल+गर] (१) बलवान। (२) दृढ़। मज़बूत।

बलचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य। साम्राज्य। (२) राज्यशासन।

बलज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० बलजा] (१) अन्न की राशि। (२) शस्य। फसल। (३) नगर का द्वार। (४) द्वार। (५) खेत। (६) युद्ध।

बलजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथिवी। (२) एक प्रकार की जुही। (३) रस्सी।

बलदंड–संज्ञा पुं० [सं०] कसरत करने के लिये लकड़ी का बना हुआ एक ढाँचा जिसमें एक काठ के दोनों ओर कमान की तरह तिरछी लकड़ियाँ लगी होती हैं। इसे गट्ठेदंड भी कहते हैं।

बलद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैल। (२) जीवक नामक वृक्ष। (३) गृह्याग्नि का एक भेद जिसमें पौष्टिक कर्म किया जाता है।

बलदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा।

बलदाऊ–संज्ञा पुं० [सं० बलदेव वा बल+हिं० दाऊ] बलदेव। बलराम। उ०—(क) गये नगर देखन को मोहन बलदाऊ के साथ। पुर कुलबधू झरोखन झाँकत निरखि निरखि मुसुकात।—सूर (ख) लै हर मूसर ऊसर ह्वै कहूँ आयो तहाँ बनिकै बलदाऊ।—पद्माकर।

बलदेव–संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र के बड़े भाई जो रोहिणी के पुत्र थे।

बलना–क्रि० अ० [सं० वर्हण वा ज्वलन] जलना। लपट फेंक कर जलना। दहकना।

बलनेह–संज्ञा पुं० [हिं० बल+नेह] एक संकर राग जो रामकली, श्याम, पूर्वी, सुंदरी, गुणकली और गांधार से मिलकर बना है।

बलपांडुर–संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का पौधा।

बलपुच्छक–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

बलपृष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली।

बलबलाना–क्रि० अ० [अनु०] (१) ऊँट का बोलना। (२) व्यर्थ बकना। (३) निरर्थक शब्द उच्चारण करना।

बलबलाहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० बलबलाना] (१) ऊँट की बोली। (२) व्यर्थ बकवाद। (३) उमंग। (४) अहंकार। घमंड।

बलबीज–संज्ञा पुं० [सं० बला+बीज] कंघी नाम के पौधे का बीज।

बलबीर*–संज्ञा पुं० [हिं० बल=बलराम+बीर=भाई] बलराम के भाई श्रीकृष्ण। उ०—(क) छठ छ रागिनी गाय रिझावत अति नागर बलबीर। खेलत फाग संग गोपिन के गोपवृंद की भीर।—सूर। (ख) ए री! बलबीर के अहीरन की भीरन में सिमिटि समीरन अबीर को अटा भयो।—पद्माकर।

बलभ–संज्ञा पुं० [सं०] एक विषैला कीड़ा।

बलभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलदेवजी का एक नाम। (२) लोध का पेड़। (३) नील गाय। (४) भागवत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

बलभद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुमारी। (२) त्रायमाण नाम की लता। (३) नील गाय। (४) जंगली गाय।

बलभी–संज्ञा स्त्री० [सं० वलभि] वह कोठरी जो मकान के सब से ऊपरवाली छत पर बनी हो। ऊपर का खंड। चौबारा। उ०—कंचन कलित नग लालन बलित सौध, द्वारिका ललित जाकी दिपित अपार है। ता ऊपर बलभी, विचित्र अति ऊँची, जासो निपटे नजीक सुरपति को अगार है।—दास।

बलम–संज्ञा पुं० [सं० वल्लभ] प्रियतम। पति। नायक। उ०—ताकि रहत छिन और तिय, लेत और को नाउँ। ए अलि ऐसे बलम की विविध भाँति बलि जाउँ।—पद्माकर।

बलय*–संज्ञा पुं० दे० "वलय"।

बलराम–संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र के बड़े भाई जो रोहिणी से उत्पन्न हुए थे। कृष्ण के साथ ये गोकुल में रहे और उनके साथ ही मथुरा में आए। ये स्वभाव के बड़े उद्दंड थे और मद्य पिया करते थे। इनका अस्त्र हल और मूसल था। सूत पौराणिक की धृष्टता पर क्रुद्ध होकर इन्होंने उन्हें मार डाला था।

बलवंड*–वि० [सं० बलवंतः] बली। पराक्रमवाला। उ०—आगर इक लोह जटित लीनों बलवंड दुहूँ करनि असुर हयो भयो मानस पिंड।—सूर।

बलवंत–वि० [सं० बलवंतः] बलवान्। बली।

बलवा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) दंगा। हुल्लड़। खलबली। विप्लव। (२) बगावत। विद्रोह।

क्रि० प्र०—मचाना।—करना।—होना।

बलवाई–संज्ञा पुं० [फ़ा० बलवा+ई (प्रत्य०)] (१) बलवा करनेवाला। विद्रोही। बाग़ी। (२) उपद्रवी। फ़सादी।

बलवान्–वि० [सं०] [स्त्री० बलवती] (१) बलिष्ठ। मज़बूत। ताक़तवर। जिसके शरीर में बल हो। (२) सामर्थ्यवान्। शक्तिमान्। (३) दृढ़। मज़बूत।

बलविकर्णिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

बलवीर–संज्ञा पुं० दे० "बलबीर"।

बलव्यसन–संज्ञा पु० [सं०] सेना को हराना या तितर बितर करना।

बलव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि।

बलशाली–वि० [सं० बलशालिन्] [स्त्री० बलशालिनी] बलवान्। बली।

बलशील–वि० [सं०] बली। शक्तिवाला। उ०—अंगद मयंद नलनील बलसील महाबालधी फिरावैं मुख नाना गति लेत हैं।—तुलसी।

बलसुम–वि० [हिं० बालू+सम] बलुआ। जिसमें बालू हो।

बलसूदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) विष्णु।

बलहन्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) श्लेष्मा। कफ़।

बलांगक–संज्ञा पुं० [सं०] वसंतकाल। वसंत ऋतु।

बला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बरियारा नामक क्षुप। दे० "बरियारा"। (२) वैद्यक के अनुसार पौधों की एक जाति का नाम जिसके अंतर्गत चार पौधे माने जाते हैं।—(१) बला वा बरियारा, (२) महाबला या सहदेवी (सहदेइया), (३) अतिबला या कँगनी और (४) नागबला वा गँगेरन। ये चारों पौधे पौष्टिक माने जाते हैं और इनके बीज, जड़ आदि का प्रयोग औषध में होता है। (३) एक

मंत्र वा विद्या का नाम जिससे युद्ध के समय योद्धा को भूख और प्यास नहीं लगती। (४) नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकों में छोटी बहिन का संबोधन। (५) दक्ष प्रजापति की एक कन्या का नाम। (६) पृथिवी। (७) लक्ष्मी। (८) जैनियों के ग्रंथानुसार एक देवी जो वर्तमान अवसर्पिणी में सत्रहवें अर्हत के उपदेशों का प्रचार करती है। (९) दे० "बला"।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आपत्ति। विपत्ति। आफ़त। ग़ज़ब। (२) दुःख। कष्ट। (३) भूत। प्रेत। भूत प्रेत की बाधा। (४) रोग। व्याधि। जैसे,—इस बच्चे की सब बला तू लेजा।

मुहा०—बला का=ग़ज़ब का। घोर। अत्यंत। बहुत बढ़ा चढ़ा। जैसे,—बला का बोलनेवाला है। (किसी की) बला ऐसा करे या करती है=ऐसा नहीं करता है या करेगा। जैसे,—(क) मेरी बला जाय अर्थात् मैं नहीं जाऊँगा। (ख) उसकी बला दूकान पर बैठे अर्थात् वह दूकान पर नहीं बैठता या बैठेगा। (ग) एक बार वह वहाँ हो आया फिर उसकी बला जाती है अर्थात् फिर वह नहीं गया। बला पीछे लगना=(१) तंग करनेवाले आदमी का साथ में होना। (२) बखेड़ा साथ होना। किसी ऐसी बात से संबंध या लगाव हो जाना जिससे तंग होना पड़े। झंझट या आफ़त का सामना होना। बला पीछे लगाना=(१) बखेड़ा साथ करना। तंग करनेवाला आदमी साथ में करना। (२) झंझट में डालना। बखेड़े में फँसाना। बला से=कुछ परवा नहीं। कुछ चिंता नहीं।

बलाइ*–संज्ञा स्त्री० दे० "बलाय"।

बलाक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बक। बगला। (२) एक राजा का नाम जो भागवत के अनुसार पुरु का पुत्र और जह्नु का पौत्र था। (३) जातुकर्ण मुनि के एक शिष्य का नाम। (४) एक राक्षस का नाम। (५) शाकपूणि ऋषि के एक शिष्य का नाम।

बलाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बगली। (२) कामुकी स्त्री। (३) बगलों की पंक्ति। (४) गति के अनुसार नृत्य का एक भेद।

बलाकाश्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरिवंश के अनुसार एक राजा का नाम जो अजक का पुत्र था। (२) जह्नु के वंश का एक राजा।

बलाकी–संज्ञा पुं० [सं० बलाकिन्] धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

बलाग्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेनापति। (२) सेना का अगला भाग।

वि०–बलशाली। बली।

बलाट–संज्ञा पुं० [सं० बलाट] मूँग।

बलाढ्य–संज्ञा पुं० [सं०] माष। उड़द। उरद।

वि० [सं०] बलवान्।

बलात्–क्रि० वि० [सं०] (१) बलपूर्वक। ज़बरदस्ती से। बल से। (२) हठात्। हठ से।

बलात्कार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसीकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक कोई काम करना। ज़बरदस्ती कोई काम करना। (२) अत्याचार। अन्याय। (३) किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध संभोग करना।

बलात्काराभिगम–संज्ञा पुं० [सं०] बलात् किसी स्त्री के सतीत्व का नाश करना। जिनाबिल्जब्र।

बलात्कारित–वि० [सं०] जिससे बलात्कार से कुछ कराया जाय। जिसपर बलात्कार करके कोई काम कराया जाय।

बलात्कृत–वि० [सं०] जिसके साथ बलात्कार किया गया हो।

बलात्मिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] हाथीसूँड़ नाम का पौधा।

बलाध्यक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] सेनापति।

बलापंचक–संज्ञा पुं० [सं०] बला, अतिबला, नागबला, महाबला और राजबला नाम की पाँच ओषधियों के समुदाय का नाम। विशेष—दे० "बला"।

बलामोटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदमनी नाम की ओषधि।

बलाय–संज्ञा पुं० [सं०] बरुना नामक वृक्ष। वरुण। बलास।

संज्ञा पुं० [अ० बला] (१) आपत्ति। विपत्ति। बला। उ०—लालन, तेरे मुख रहौं वारी। बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोगु बलाय तुम्हारी।—सूर। (२) दुःख। कष्ट। उ०—(क) हरि को मीत पछीत हुमि गायो विरह बलाय। परत कान तजि मान तिय मिली कान्ह सों जाय।—पद्माकर। (ख) तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाय। पिय पाती बिनही लिखी बाँची बिरह बलाय।—बिहारी। (३) भूत प्रेत की बाधा। (४) दुःखदायक रोग जो पीछा न छोड़े। व्याधि। उ०—अलि इन लोचन को कहूँ उपजी बड़ी बलाय। नीर भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय।—बिहारी। (५) पीछा न छोड़नेवाला शत्रु। अत्यंत दुःखदायी मनुष्य। बहुत तंग करनेवाला आदमी। उ०—बापुरो बिभीषन पुकारि बार बार कह्यो बानर बड़ी बलाय बने घर घालिहैं।—तुलसी।

मुहा०—बलाय ऐसा करे या करती है=ऐसा नहीं करता है या करेगा। दे० "बला"। उ०—(क) तौ अनेक अवगुन भरी चाहै याहि बलाय। जौ पति संपति हू बिना जदुपति राखे जाय।—बिहारी। (ख) जा मृगनैनी के सदा बेनी परसत पाय। ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय।—बिहारी। (ग) उठि चलौ जो न मानै काहू की बलाय जानै मान सों ज्यों पहिचानै ताके आइयतु है।—केशव। बलाय लेना=(अर्थात् किसीका रोग दुःख अपने ऊपर लेना) मंगल कामना करते हुए प्यार करना।

विशेष—स्त्रियाँ प्रायः बच्चों के ऊपर से हाथ घुमाकर और फिर अपने ऊपर ले जाकर इस भाव को प्रकट करती हैं। उ०—(क) निकट बुलाय बिठाय निरखि मुख आँचर लेति बलाय। चिरजीवौ सुकुमार पवनसुत गहति दीन ह्वै पाय। —सूर। (ख) लै बलाय सुकर लगायो निरखि मंगल चार गायो। नैन आरति अर्घ आँसू पुहुप तन मन धन चढ़ायो। —सूर।

(६) एक रोग जिसमें रोगी की उँगली के छोर या गाँठ पर फोड़ा हो जाता है। इसमें रोगी को बहुत कष्ट होता है और उँगली कट जाती या टेढ़ी हो जाती है।

बलाराति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) विष्णु।

बलालक-संज्ञा पुं० [सं०] जलआँवला।

बलावलेप-संज्ञा पुं० [सं०] गर्व। अहंकार। दर्प।

बलाश-संज्ञा पुं० दे० "बलास"।

बलास-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें कफ और वायु के प्रकोप से गले और फेफड़े में सूजन और पीड़ा होती है, साँस लेने में कष्ट होता है।

संज्ञा पुं०[सं० बलाय] बरुना नाम का पौधा।

बलासम-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध।

बलासी-संज्ञा पुं० [सं० बलाय, बिलासिन्] बरुना। बन्ना नाम का पेड़।

बलाहक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ। बादल। (२) एक दैत्य। (३) एक नाग। (४) सुश्रुत के अनुसार दर्वीकर जाति के साँपों के छब्बीस भेदों में एक का नाम। (५) कृष्णचन्द्र के रथ के एक घोड़े का नाम। (६) मोथा। (७) लिंगपुराण के अनुसार शाल्मलि द्वीप के और मत्स्यपुराण के अनुसार कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम। (८) महाभारत के अनुसार जयद्रथ के एक भाई का नाम।

बलिंदम-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

बलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमि की उपज का वह अंश जो भूस्वामी प्रति वर्ष राजा को देता है। कर। राजकर। हिंदूधर्मशास्त्रों में भूमि की उपज का छठा भाग राजा का अंश ठहराया गया है। (२) उपहार। भेंट। (३) पूजा की सामग्री वा उपकरण। (४) पंच महायज्ञों में चौथा भूतयज्ञ नामक महायज्ञ। इसमें गृहस्थों को भोजन में से ग्रास निकालकर घर के भिन्न भिन्न स्थानों में भोजन पकाने के उपकरणों पर तथा काक आदि जंतुओं के उद्देश्य से घर के बाहर रखना होता है। (५) किसी देवता का भाग। किसी देवता को उत्सर्ग किया कोई खाद्य पदार्थ। (६) भक्ष्य। अन्न। खाने की वस्तु। उ०—(क) बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहै नाग-अरि भागू।—तुलसी। (ख) रामहि राखहु कोऊ जाई। जब लौं भरत अयोध्या आवैं कहत कौशल्या माई ········ आए भरत दीन ह्वै बोले कहा कियो कैकयि माई। हम सेवक वा त्रिभुवनपति के सिंह को बलि कौवा को खाई?—सूर। (७) चढ़ावा। नैवेद्य। भोग। उ०—(क) पर्वत सहित धोइ ब्रज डारौं देउँ समुद्र बहाई। मेरो बलि औरहि लै पर्वत इनको करौं सजाई।—सूर। (ख) बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एकै प्रीति। सुमिर नहीं मानै भलो यही पावनी रीति।—तुलसी। (८) वह पशु जो किसी देवस्थान पर वा किसी देवता के उद्देश्य से मारा जाय।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।

मुहा०—बलि चढ़ना=मारा जाना। बलि चढ़ाना=बलि देना। देवता के उद्देश्य से घात करना। देवार्पण के लिये बध करना। बलि जाना=निछावर होना। बलिहारी जाना। उ०—(क) तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू।—तुलसी। (ख) अवधपुर आये दशरथ राय। राम लच्छिमन भरत सत्रुहन सोभित चारों भाय। कौशल्या आदिक महतारी आरति करति बनाय। यह सुख निरखि मुदित सुर नर मुनि सूरदास बलि जाय। —सूर।

मुहा०—बलि जाऊँ वा बलि!=तुम पर निछावर हूँ। (बातचीत में स्त्रियाँ इस वाक्य का व्यवहार प्रायः यों ही किया करती हैं) उ०—छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाय। बलि बावन को ब्योंत सुनि को बलि तुम्हें पताय।—बिहारी। (९) चँवर का दंडा। (१०) आठवें मन्वंतर में होने वाले इंद्र का नाम। (११) विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र का नाम। यह दैत्य जाति का राजा था। विष्णु ने वामन अवतार लेकर इसे छलकर पाताल भेजा था।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दे० "वलि"। (२) चमड़े की झुर्री। (३) एक प्रकार का फोड़ा जो गुदावर्त के पास अर्शादि रोगों में उत्पन्न होता है। (४) अर्श का मस्सा।

संज्ञा स्त्री० [सं० बला=छोटी बहिन] सखी। उ०—(क) ताकि रहत छिन और तिय लेत और को नाउँ। ए बलि ऐसे बलम की विविध भाँति बलि जाउँ।—पद्माकर। (ख) ये अलि या बलि के अधरान में आनि चढ़ी कछु माधुरईसी।—पद्माकर।

बलिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

बलिकर्म-संज्ञा पुं० [सं०] बलिदान।

बलित*-वि० [हिं० बलि] बलिदान चढ़ाया हुआ। हत। मारा हुआ। उ०—करि आदित्य अदृष्ट नष्ट यम करौं अष्ट वसु। रुद्रनि बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पशु। बलित अबेर कुबेर बलिहि गहि देहुँ इंद्र अब। विद्या-धरन अविद्य करौं

बिनु सिद्ध सिद्ध सब। लै करों अदिति की दासि दिति अनिल अनल मिलि जाहिँ जल। सुनु सूरज सूरज उगत ही करौं असुर संहार सब।—केशव।

वि० दे० "वलित"।

बलिदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता के उद्देश्य से नैवेद्यादि पूजा की सामग्री चढ़ाना। (२) बकरे आदि पशु देवता के उद्देश्य से मारना।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बलिनंदन—संज्ञा पुं० [सं०] वाणासुर।

बलिपशु—संज्ञा पुं० [हिं० बलि+पशु] वह पशु जो किसी देवता के उद्देश्य से मारा जाय। उ०—लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलिपशु जैसे।—तुलसी।

बलिपुष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा।

बलिपोदकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी पोय।

बलिप्रदान—संज्ञा पुं० [सं०] बलिदान।

बलिप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोध का पेड़। (२) कौवा।

बलिवर्द—संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँड़। (२) बैल।

बलिभुक्, बलिभुज—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा।

बलिभृत—वि० [सं०] (१) करद। कर देनेवाला। (२) अधीन।

बलिभोज, बलिभोजी—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा।

बलिवैश्वदेव—संज्ञा पुं० [सं०] भूतयज्ञ नामक पाँच महायज्ञों में चौथा महायज्ञ। इसमें गृहस्थ पाकशाला में पके अन्न से एक एक ग्रास लेकर मंत्रपूर्वक घर के भिन्न भिन्न स्थानों में मूसल आदि पर तथा काकादि प्राणियों के लिये भूमि पर रखता है।

बलिश—संज्ञा पुं० [सं०] बंसी। कटिया।

बलिष्ठ—वि० [सं०] अधिक बलवान।

संज्ञा पुं० ऊँट।

बलिष्णु—वि० [सं०] अपमानित।

बलिहारना*—क्रि० स० [हिं० बलि+हारना] निछावर कर देना। कुर्बान कर देना। चढ़ा देना। उ०—विश्वनिकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर। बलिहारौं त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर।—श्रीधर।

बलिहारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बलि+हारना] निछावर। कुरबान। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदि के कारण अपने को उत्सर्ग कर देना। उ०—(क) सुख के माथे सिल परै हरि हिरदा सों जाय। बलिहारी वा दुःख की पल पल राम कहाय।—कबीर। (ख) बलिहारी अब क्यों कियो सैन साँवरे संग। नहिँ कहुँ गोरे अंग ये भये साँवरे रंग।—शृंगार सत०।

मुहा०—बलिहारी जाना=निछावर होना। कुरबान जाना। बलैया लेना। उ०—दादू उस गुरु देव की मैं बलिहारी जाउँ। आसन अमर अलेख था लै राखे उस ठाउँ। बलिहारी लेना=बलैया लेना। प्रेम दिखाना। उ०—पहुँची जाय महरि मंदिर में करत कुलाहल भारी। दरसन करि जसुमति-सुत को सब लेन लगीं बलिहारी।—सूर। बलिहारी है!=मैं इतना मोहित या प्रसन्न हूँ कि अपने को निछावर करता हूँ। क्या कहना है? (सुंदर रूप, शोभा, शील स्वभाव आदि को देख प्रायः यह वाक्य बोलते हैं। किसी की बुराई, बेढंगेपन या विलक्षणता को देखकर व्यंग्य के रूप में भी इसका प्रयोग बहुत होता है।)

बलिहृत्—वि० [सं०] (१) बलि लानेवाला। भेंट लानेवाला। (२) करप्रद। कर देनेवाला।

संज्ञा पुं० राजा।

बली—वि० [सं० बलिन्] बलवान्। बलवाला। पराक्रमी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वलि, वली] (१) चमड़े पर की झुर्री। (२) वह रेखा जो चमड़े के मुड़ने या सुकड़ने से पड़ती है। दे० "वली"।

बलीन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिच्छू। (२) एक असुर का नाम।

वि०*† दे० "बली"।

बलीना—संज्ञा स्त्री० [यू० फेलना] एक प्रकार की ह्वेल मछली।

बलीबैठक—संज्ञा स्त्री० [हिं० बली+बैठक] एक प्रकार की बैठक जिसमें जंघे पर भार देकर उठना बैठना पड़ता है। इससे जाँघ शीघ्र भरती है।

बलीमुख*—संज्ञा पुं० [सं० वलिमुख] बंदर। उ०—चली बलीमुख-सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई। —तुलसी।

बलुआ—वि० [हिं० बालू] [स्त्री० बलुई] रेतीला। जिसमें बालू अधिक मिला हो। जैसे, बलुआ खेत, बलुई मिट्टी।

संज्ञा पुं० वह मिट्टी या ज़मीन जिसमें बालू का अंश अधिक हो।

बलूच—संज्ञा पुं० एक जाति जिसके नाम पर देश का नाम पड़ा।

विशेष—यह जाति कब बलूचिस्तान में आकर बसी इसका ठीक पता नहीं है। बलूचिस्तान में ब्रहुई और बलूची दो जातियाँ निवास करती हैं। इनमें से ब्रहुई जाति अधिक उन्नत और सभ्य है और उसका अधिकार भी बलूचों से पुराना है। बलूच पीछे आए। बलूचों में ऐसा प्रवाद है कि उनके पूर्वज अलिपो नगर से अरबों की चढ़ाई के साथ आए। अरबों की चढ़ाई बलूचिस्तान पर ईसा की आठवीं शताब्दी में हुई थी। बलूच सुन्नी शाखा के मुसलमान हैं।

बलूचिस्तान—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक राज्य जो हिंदुस्तान के पश्चिमोत्तर कोण में है। इसके उत्तर में अफ़ग़ानिस्तान, पूर्व में भारतवर्ष का सिंधु प्रदेश, दक्षिण में अरब का समुद्र और पश्चिम में फ़ारस है।

विशेष—ब्रहुई और बलूची इस देश के प्रधान निवासी हैं।

इनमें ब्रहुई पुराने हैं। दे० "बलूच"। इस देश के प्राचीन इतिहास के संबंध में बहुत सी दंतकथाएँ प्रचलित हैं। गंधार और कांबोज के समान यह देश भी हिंदुओं का ही था, इसमें तो कोई संदेह नहीं। ऐसी कथा है कि यहाँ पहले शिव नाम का कोई राजा था जिसने सिंधुदेशवालों के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिये कुछ पहाड़ी लोगों को बुलाया। अंत में पहाड़ियों के सरदार कुंभर ने आकर सिंधवालों को हटाया और क्रमशः उस हिंदू राजा को भी अधिकारच्युत कर दिया। यह कुंभर कौन था, इसका पता नहीं। ईसा की आठवीं शताब्दी में अरबों का आक्रमण इस देश पर हुआ और यहाँ के निवासी मुसलमान हुए। आजकल बलूच और ब्रहुई दोनों सुन्नी शाखा के मुसलमान हैं।

बलूची–संज्ञा पुं० [देश०] बलूचिस्तान का निवासी।

बलूत–संज्ञा पुं० [अ०] माजूफल की जाति का एक पेड़ जो अधिकतर ठंढे देशों में होता है। योरप में यह बहुत होता है। इसके अनेक भेद होते हैं जिनमें से कुछ हिमालय पर भी, विशेषतः पूरबी भाग (सीकिम आदि) में होते हैं। हिंदुस्तानी बलूत बंज, मारू या सीता-सुपारी के नाम से प्रसिद्ध हैं जो हिमालय में सिंधु नद के किनारे से लेकर नैपाल तक होता है। शिमले, नैनीताल, मसूरी, आदि में इसके पेड़ बहुत मिलते हैं। लकड़ी इसकी अच्छी नहीं होती, जल्दी टूट जाती है। अधिकतर ईंधन और कोयले के काम में आती है। घरों में भी कुछ लगती है। पर दार्जिलिंग और मनीपुर की ओर जो वृक नाम का बलूत होता है उसकी लकड़ी मज़बूत होती है। योरप में बलूत का आदर बहुत प्राचीन काल से है। इंगलैंड के साहित्य में इस तरुराज का वही स्थान है जो भारतीय साहित्य में वट या आम का है।

बलूल–वि० [सं०] बलयुक्त।

बलैया–संज्ञा स्त्री० [अ० बला, हिं० बलाय।] बला। बलाय।

मुहा०—(किसी की) बलैया लेना-(अर्थात् किसी का रोग, दुःख अपने ऊपर लेना) मंगल कामना करते हुए प्यार करना। दे० "बलाय लेना"। **बलैया लेता हूँ**=बलिहारी है! इस बात पर निछावर होता हूँ। क्या कहना है। पराकाष्ठा है। बहुत ही बढ़चढ़ कर है (सुंदरता, रूप, गुण, कर्म आदि देख सुन कर इसका प्रयोग करते है। यद्यपि 'बलि जाना' और 'बलैया लेना' व्युत्पत्ति के विचार से भिन्न हैं पर दोनों मुहा० हिलमिल से गए हैं) उ०—लाज बाँह गहे की, नेवाजे की सँभार सार, साहब न राम सो, बलैया लीजै सील की।—तुलसी।

बल्कल–संज्ञा पुं० दे० "वल्कल"।

बल्कस–संज्ञा पुं० [सं०] वह तलछट या मैल जो आसव उतारने में नीचे बैठ जाती है।

बल्कि–अव्य० [फ़ा०] (१) अन्यथा। इसके विरुद्ध। प्रत्युत। जैसे,—उसे मैंने नहीं उभारा बल्कि मैंने तो बहुत रोका। (२) ऐसा न होकर ऐसा हो तो और अच्छा। बेहतर है। जैसे,—बल्कि तुम्हीं चले जाओ, यह सब बखेड़ा ही दूर हो जाय।

बल्य–वि० [सं०] बलकारक।

संज्ञा पुं० शुक्र। वीर्य्य।

बल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अतिबला। (२) अश्वगंधा। (३) प्रसारिणी। (४) शिग्रीडी। चंगोनी।

बल्ल–संज्ञा पुं० दे० "वल्ल"।

बल्लकी–संज्ञा स्त्री० दे० "वल्लकी"।

बल्लभ–संज्ञा पुं० दे० "वल्लभ"।

बल्लम–संज्ञा पुं० [सं० वल, हिं० बल्ला] (१) छड़। बल्ला। (२) सोंटा। डंडा। (३) वह सुनहरा या रुपहला डंडा जिसे प्रतिहार या चोबदार राजाओं के आगे आगे लेकर चलते हैं।

यौ०—असा बल्लम।

(४) बरछा। भाला।

बल्लमटेर–संज्ञा पुं० [अं० वालंटियर] (१) स्वेच्छापूर्वक सेना में भरती होनेवाला। (२) स्वेच्छा सेवक।

बल्लमबर्दार–संज्ञा पुं० [हिं० बल्लम+फ़ा० बर्दार] वह नौकर जो राजाओं की सवारी या बरात के साथ हाथ में बल्लम लेकर चलता है।

बल्लव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरवाहा। ग्वाला। (२) भीम का वह नाम जो उन्होंने विराट के यहाँ रसोइये के रूप में अज्ञातवास करने के समय में धारण किया था। (३) रसोइया।

बल्ला–संज्ञा पुं० [सं० वल=लट्ठा या डंडा] [स्त्री० अल्प० बल्ली] (१) लकड़ी की लंबी, सीधी और मोटी छड़ या लट्ठा। डंडे के आकार का लंबा मोटा टुकड़ा। शहतीर या डंडा। जैसे, साखू का बल्ला। (२) मोटा डंडा। दंड। उ०—कल्ला करे आगू जान देत लेत बल्ला लागे ढौंसत प्रबल्ला मल्ला धायो राजद्वार को।—रघुराज। (३) बाँस या डंडा जिससे नाव खेते हैं। डाँड़ा। (४) गेंद मारने का लकड़ी का डंडा जो आगे की ओर चौड़ा और चिपटा होता है। बैट।

यौ०—गेंद बल्ला।

संज्ञा पुं० [सं० वलय] गोबर की सुखाई हुई पहिये के आकार की गोल टिकिया जो होलिका जलने के समय उसमें डाली जाती है।

बल्लारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें केवल कोमल गांधार लगता है।

बल्ली–संज्ञा स्त्री० [हिं० बल्ला] (१) छोटा बल्ला । लकड़ी का लंबा टुकड़ा । (२) खंभा । (३) नाव खेने का बल्ला । डाँड़ ।

*संज्ञा स्त्री० दे० "वल्ली" ।

बल्व–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक करण का नाम ।

बल्वजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक घास का नाम ।

बल्वल–संज्ञा पुं० [सं०] इल्वल नामक दैत्य के पुत्र का नाम जिसे बलदेवजी ने मारा था ।

यौ०—बल्वलारि=बलदेवजी ।

बवँड़ना†–क्रि० अ० [सं० व्यावर्त्तन, प्रा० व्यावट्टन] इधर उधर घूमना । व्यर्थ फिरना । उ०—इत उत हौ तुम बँवड़त डोलत करत आपने जी की ।—सूर ।

बवंडर–संज्ञा पुं० [सं० वायु+मंडल] (१) हवा का तेज़ झोंका जो घूमता हुआ चलता है और जिसमें पड़ी हुई धूल खंभे के आकार में ऊपर उठती हुई दिखाई पड़ती है । चक्र की तरह घूमती हुई वायु । चक्रवात । बगूला ।

क्रि० प्र०—उठना ।

(२) प्रचंड वायु । आँधी । तूफ़ान । उ०—आई जसुमति बिगन बवंडर । बिन गोविंद लख्यो स्ो मंदिर ।—गोपाल ।

बव–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक करण का नाम ।

बवघूरा*–संज्ञा पुं० [हिं० वायु+घूर्णन, [हिं० बाइ+धूरा ।] बगूला । बवंडर । उ०—केशवराइ अकाश के मेह बड़े बवघूरन में तृण जैसे ।—केशव ।

बवन*†–संज्ञा पुं० दे० "वमन" ।

बवना*–क्रि० स० [सं० बपन] (१) दे० "बोना" । जमने के लिये ज़मीन पर बीज डालना । उ०—करि कुरूप विधि परबस कीन्हा । बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ।—तुलसी ।

(२) छितराना । बिखराना ।

क्रि० अ० छिटकना । छितराना । बिखरना । उ०—ऊधो ! योग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई ।—सूर ।

संज्ञा पुं० दे० "बावना" "वामन" ।

बवरना–क्रि० अ० दे० "बौरना", "मौरना" । उ०—बवरे बौंड़ सीस भुइँ लावा । बड़ फल सुफर वही पै पावा ।—जायसी ।

बवादा–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की जड़ी या ओषधि जो हलदी की तरह की होती है ।

बवासीर–संज्ञा स्त्री० [अ०] एक रोग का नाम जिसमें गुदेंद्रिय में मस्से या उभार उत्पन्न हो जाते हैं । इसमें रोगी को पीड़ा होती है और पखाने के समय मस्सों से रक्त भी गिरता है । अर्शरोग ।

विशेष—आयुर्वेद में मनुष्य के मलद्वार में तीन वलियाँ मानी गई हैं । सबके भीतर या ऊपर की ओर जो वली होती है उसे प्रवाहिनी, मध्य में जो होती है उसे सर्जनी कहते हैं । इनके अतिरिक्त एक वली अंत में या बाहर की ओर होती है । इन्हीं त्रिवलियों में अर्शरोग होता है । यदि बाहरवाली वली में मस्से हों तो रोग साध्य, मध्यवाली में हों तो कष्टसाध्य और सब के भीतरवाली वली में हों तो असाध्य होता है । अर्शरोग ६ प्रकार का कहा गया है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज और सहज ।

बशिष्ट–संज्ञा पुं० दे० "वसिष्ट" ।

बशीरी–संज्ञा पुं० [अ० बशीर] एक प्रकार का बारीक रेशमी कपड़ा जो अमृतसर से आता है ।

बष्कयणी, बष्कयिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गाय जिसको ब्याए हुए बहुत समय हो गया हो । बकेना । (ऐसी गाय का दूध गाढ़ा और मीठा होता है ।)

बसंत–संज्ञा पुं० दे० "वसंत" ।

बसंता–संज्ञा पुं० [हिं० वसंत] हरे रंग की एक चिड़िया जिसका सिर से लेकर कंठ तक का भाग लाल होता है ।

बसंती–वि० [हिं० वसंत] (१) वसंत का । वसंत ऋतु संबंधी । (२) खुलते हुए पीले रंग का । सरसों के फूल के रंग का । (वसंतागम में खेत में सरसों के फूलने का वर्णन होता है इससे वसंत का रंग पीला माना जाता है ।)

संज्ञा पुं० (१) एक रंग का नाम जो तुन के फूलों आदि में रँगने से आता है । यह हलका पीला होता है पर गंधकी से अधिक तेज़ होता है । वसंत ऋतु में यह रंग लोगों को अधिक प्रिय होता है । (२) पीला कपड़ा ।

बसंदर–संज्ञा पुं० [सं० वैश्वानर] आग । उ०—कथा कहानी सुनि सठ जरा । मानो घीव बसंदर परा ।—जायसी ।

बस–वि० [फ़ा०] पर्याप्त । भरपूर । प्रयोजन के लिये पूरा । बहुत । काफ़ी । उ०—मेरे सदृश विद्वान की परीक्षा बस होगी ।—सरस्वती ।

मुहा०—बस करो !, या, बस !=ठहरो । रुको । इतना बहुत है, और अधिक नहीं । उ०—बलराम जी ! बस करो, बस करो, अधिक बड़ाई उग्रसेन की मत करो ।—लल्लू ।

अव्य० (१) पर्याप्त । काफ़ी । अलम् । (२) सिर्फ़ । केवल । इतना मात्र । जैसे,—बस, हमें और कुछ न चाहिए । उ०—रचिये गुण-गौरव-पूर्ण ग्रंथ गण सारा । बस यही आपसे विनय विनीत हमारा ।—द्विवेदी ।

संज्ञा पुं० दे० "वश" ।

बसन–संज्ञा पुं० दे० "वसन" ।

बसना–क्रि० अ० [सं० वसन] (१) स्थायी रूप से स्थित होना ।

निवास करना। रहना। जैसे,—इस गाँव में कितने मनुष्य बसते हैं। उ०—(क) जो खोदाय मसजिद में बसत हैं और देस केहि केरा?—कबीर। (ख) मोहिं खोजत पट मास बीति गए तबहुँ न आयो अंत। ब्रजबनिता के नयन प्रान बिच तुमहीं श्याम बसंत।—सूर। (२) जनपूर्ण होना। प्राणियों या निवासियों से भरा पूरा होना। आबाद होना। जैसे, गाँव बसना, शहर बसना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—घर बसना=कुटुंब सहित सुखपूर्वक स्थिति होना। गृहस्थी का बनना। उ०—नारद बचन न मैं परिहरहूँ। बसउ भवन, उजरउ नहिँ डरहूँ।—तुलसी। घर में बसना=सुखपूर्वक गृहस्थी में रहना। उ०—सुनत बचन बिहँसे रिषिय गिरिसंभव तव देह। नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ को गेह।—तुलसी।

(३) टिकना। ठहरना। अवस्थान करना। डेरा करना। जैसे,—ये तो साधु हैं रात को कहीं बस रहे।

संयो० क्रि०—जाना।—रहना।

मुहा०—मन में बसना=ध्यान में बना रहना। स्मृति में रहना। उ०—सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल। इहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल।—बिहारी।

*(४) बैठना।

क्रि०अ०[हिं०बासना] बासा जाना। सुगंध से पूर्ण हो जाना। सुगंधित होना। महक से भर जाना। जैसे, तेल बस गया।

संयो० क्रि०—जाना।

संज्ञा पुं० [सं० वसन=कपड़ा] (१) वह कपड़ा जिसमें कोई वस्तु लपेटकर रखी जाय। वेष्टन। बेठन। (२) थैली। (३) वह लंबी जालीदार थैली जिसमें रुपया पैसा रखते हैं। (४) वह कोठी जिसमें रुपये का लेन देन होता हो। †(५)। बासन बरतन। भाँड़ा।

बसनि*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बसना] रहन। निवास। वास। उ०—बिद्रुप ताको दरसावत जहँ जोगिन की बसनि।—देवस्वामी।

बसवास–संज्ञा पुं० [हिं० बसना+वास] (१) निवास। रहना। उ०—(क) मथुरा में बसवास तुम्हारो।—सूर। (ख) जो तुम पुहुप पराग छाँड़ि कै करौ ग्राम बसवास। तो हम सूर यहौ करि देखैं निमिख न छाँड़ै वास।—सूर। (२) रहन। रहने का ढंग। स्थिति। उ०—ऐसे बसवास तें उदास होय केशोदास केशव न भजै, कहि, काहे को खगत है।—केशव। (३) रहायस। रहने का डौल या सुभीता। निवासयोग्य परिस्थिति। ठिकाना। उ०—अब बसवास नहीं लखौं यहि तुव ब्रज नगरी। आपु गयो चढ़ि कदम चीर लै चितवत रहि सिगरी।—सूर।

बसर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] गुज़र। निर्वाह।। कालक्षेप।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बसह–संज्ञा पुं० [सं० वृषभ, प्रा० बसह] बैल। उ०—(क) कर त्रिशूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिँ बाजा।—तुलसी। (ख) अमरा शिव रवि शशि चतुरानन हय गय बसह हंस मृग जावत। धर्मराज बनराज अनल दिव शारद नारद शिव सुत भावत।—सूर।

बसा–संज्ञा स्त्री० दे० "वसा"।

संज्ञा स्त्री० [देश० ?] (१) बर्रे। भिड़। बरटी। उ०—बसा लंक बरनी जग झीनी। तेहि ते अधिक लंक वह खीनी।—जायसी। (२) एक प्रकार की मछली।

बसात–संज्ञा पुं० दे० "बिसात"।

बसाना–क्रि० स० [हिं० बसना] (१) बसने देना। बसने के लिये जगह देना। रहने को ठिकाना देना। जैसे,—राजा ने उस नए गाँव में बहुत से बनिये बसाए।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) जनपूर्ण करना। आबाद करना। जैसे, गाँव बसाना, शहर बसाना। उ०—(क) केहि सुकृती केहि घरी बसाए। धन्य पुण्यमय परम सुहाए।—तुलसी। (ख) नाद तें तिय जेंवरी ते साँप करि घालैं घर बीथिका बसावति बनन की।—केशव।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मुहा०—घर बसाना=गृहस्थी जमाना। सुखपूर्वक कुटुंब के साथ रहने का ठिकाना करना।

(३) टिकाना। ठहराना। स्थित करना। जैसे,—रात को इन मुसाफ़िरों को अपने यहाँ बसा लो।

मुहा०—मन में बसाना=चित्त में इस प्रकार जमाना कि बराबर ध्यान में रहे। हृदय में अंकित कर लेना। उ०—व्यासदेव जब शुकहि सुनायो। सुनि कै शुक सो हृदय बसायो।—सूर।

*क्रि० अ० बसना। ठहरना। रहना। उ०—बालक अजाने हठी और की न मानै बात बिना दिए मातु हाथ भोजन न पाय है। माटी के बनाय गज बाजी रथ खेल माते पालन बिछौने तापै नेक न बसाय है।—हनुमान।

क्रि० स० [सं० वेशन, पू० हिं० बैसाना] (१) बिठाना। (२) रखना। उ०—बधुक सुमन पद-पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आयो। नूपुर जनु मुनिवर कलहंसनि रचे नीड़ दै बाँह बसायो।—तुलसी।

*क्रि० अ० [हिं० बश] वश चलना। ज़ोर चलना। क़ाबू चलना। अधिकार या शक्ति का काम देना। उ०—(क) घट में रहै सूझै नहीं कर सों गहा न जाय। मिला रहै औ ना मिलै तासों कहा बसाय।—कबीर। (ख) काटिय तासु जीभ जो बसाई। स्रवन मूँदि नतु चलिय पराई।—तुलसी। (ग)

करौरी न्यारी हरि आपन गैया । नाहिन बसात लाल कछु तुम सों सबै ग्वाल इक ठैयाँ ।—सूर । (घ) बिनु बरजे धौं का कहै बरज्यो का पै जाय । जो जिय में ठाढ़ो रहै तासों कहा बसाय ।—बिहारी । (ङ) तासों बसाइ कहा कहि केशव कामलता तरु ते दुरई ।—केशव । (च) बिजन बाग सँकरी गली भयो अँधेरो आय । कोऊ तोहि गहै जो इत तो फिर कहा बसाय ।—पद्माकर ।

क्रि० अ० [हिं० बास] बास देना । महकना । उ०—(क) बेलि कुढंगी फल बुरी फुलवा कुबुधि बसाय । मूल विनासी तूमरी सरो पात करुआय ।—कबीर (ख) जब लगि आँबहिं डाभ न होई । तब लगि सुगँध बसाय न कोई । —जायसी । (ग) धूमउ तजइ सहज करुआई । अगरु प्रसंग सुगंध बसाई ।—तुलसी ।

बसिऔरा—संज्ञा पुं० [हिं० बासी] (१) वर्ष की कुछ तिथियाँ जिनमें स्त्रियाँ बासी भोजन खाती और बासी पानी पीती हैं । (२) बासी भोजन ।

बसिया†—वि० दे० "बासी" ।

बसियाना—क्रि० अ० [हिं० बासी, या बसिया+ना (प्रत्य०)] बासी हो जाना । ताज़ा न रह जाना ।

बसिष्ठ—संज्ञा पुं० दे० "वसिष्ठ" ।

बसीकत, बसीगत—संज्ञा स्त्री० [हिं० बसना] (१) बस्ती । आबादी । (२) बसने का भाव वा क्रिया । रहन ।

बसीकर—वि० [सं० वशीकर] वशीकर । वश में करनेवाला । उ०—अँखिया अँखिया सों सकाय मिलाय हिलाय रिझाय हियो हरिबो । बतियाँ चितचोरन चेटक सी रस चारु चरित्रन ऊचरिबो । रसखानि के प्रान सुधा भरिबो अधरान पै त्यों अधरा धरिबो । इतने सब मैन के मोहनी यंत्र पै मंत्र बसीकर सी करिबो ।—रसखानि ।

बसीकरन*—संज्ञा पुं० दे० "वशीकरण" ।

बसीठ—संज्ञा पुं० [सं० अवसृष्ट, प्रा० अवसिट्ठ=भेजा हुआ] दूत । संदेसा ले जानेवाला । उ०—(क) प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती । सीता देइ करहु पुनि प्रीती ।—तुलसी । (ख) मधुकर तोहिं कौन सों हेत । जो पै चढ़त रंग तव ऊपर तो पै होय श्यामता सेत । मोहन मणिनि डारि मोरी ते करि आए मुख प्रीति । अति शठ ढीठ बसीठ श्याम को हमें सुनावत गीत ।—सूर । (ग) जूझत ही मकराक्ष के रावण अति दुख पाय । सत्वर श्री रघुनाथ पै दियो बसीठ पठाय ।—केशव ।

बसीठी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बसीठ] दूत का काम । दौत्य । सँदेशा भुगताने का काम । उ०—(क) हरि मुख निरखत नागरि नारि । कमलनयन के कमलबदन पर बारिज बारिज वारि । सुमति सुंदरी परस प्रिया रस लंपट माधी आरि । हारि जोहारि जो करत बसीठी प्रथमहि प्रथम चिन्हार ।—सूर (ख) बिकानी हरिमुख की मुसकानि । परबस भई फिरति सँग निसि दिन सहज परी यह बानि । नैनन निरखि बसीठी कीन्हों मनु मिलयो पय पानि । गहि रतिनाथ लाज निज पुर ते हरि को सौंपी आनि ।—सूर । (ग) सेतु बाँधि कपि सेन जिमि, उतरी सागर पार । गयउ बसीठी बीरबर जेहि विधि बालिकुमार ।—तुलसी ।

बसीत—संज्ञा पुं० [अ०] एक यंत्र का नाम जो जहाज़ पर सूर्य का अक्षांश देखने के लिये रहता है । कमान ।

बसीना†*—संज्ञा पुं० [हिं० बसना] रहायस । रहन ।

यौ०—बास बसीना । उ०—इनही ते ब्रज बास बसीनो । हम सब अहिर जाति मतिहीनो ।—सूर ।

बसु—संज्ञा पुं० दे० "वसु" ।

बसुकला—संज्ञा पुं० [सं० वसुकला] एक वर्ण वृत्त जिसे तारक भी कहते हैं ।

बसुदेव—संज्ञा पुं० दे० "वसुदेव" ।

बसुधा—संज्ञा स्त्री० दे० "वसुधा" ।

बसुमती—संज्ञा स्त्री० दे० "वसुमती" ।

बसुला†—संज्ञा पुं० दे० "बसूला" ।

बसूला—संज्ञा पुं० [सं० वासि+ल (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्प० बसूली] एक हथियार जिससे बढ़ई लकड़ी छीलते और गढ़ते हैं ।

विशेष—यह बेंट लगा हुआ चार पाँच अंगुल चौड़ा लोहे का टुकड़ा होता है जो धार के ऊपर बहुत भारी और मोटा होता है । यह ऊपर से नीचे की ओर चलाया जाता है । उ०—मातु कुमति बढ़ई अघमूला । तेहि हमरे हित कीन्ह बसूला ।—तुलसी ।

बसूली—संज्ञा स्त्री० [हिं० बसूला] छोटा बसूला ।

बसेंड़ा‡—संज्ञा पुं० [हिं० बास+ड़ा] [स्त्री० बसेंड़ी] पतला बाँस ।

बसेरा—वि० [हिं० बसना] बसनेवाला । रहनेवाला । उ०—निपट बसेरे अघ औगुन घनेरे नर नारिऊ अनेरे जगदंब चेरी चेरे हैं ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० (१) वह स्थान जहाँ रह कर यात्री रात बिताते हैं । बासा । टिकने की जगह । (२) वह स्थान जहाँ चिड़िया ठहर कर रात बिताती है । उ०—(क) गये सुमंत तब राउर पाहीं । देखि भयावन जात डराहीं । धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा । मानहुं विपति-विषाद-बसेरा ।—तुलसी । (ख) पिय मूरति चितसरिया चितवति बाल । चितवति अवध बसेरवा जपि जपि माल ।—रहिमन ।

मुहा०—बसेरा करना=(१) डेरा करना । निवास करना । ठहरना । उ०—(क) बहुते को उद्यम परिहरै । निर्भय ठौर बसेरो करै ।—सूर । (ख) भूला लोग कहै घर मेरा । जा घरवा में फूलै डोला सो घर नाहीं तेरा । हाथी घोड़ा

बैल बाहनो संग्रह किया घनेरा । बस्ती में से दिया खदेरी जंगल किया बसेरा ।—कबीर । (२) घर बनाना । रहना । बस जाना । उ०—कहा भयो जो देश द्वारका कीन्हो दूर बसेरो । आपुनहीं या ब्रज के कारण करिहौ फिरि फिरि फेरो ।—सूर । बसेरा लेना=निवास करना । वास करना । रहना । उ०—अरी ग्वारि मैमंत बचन बोलत जो अनेरो । कब हरि बालक भए गर्भ कब लियो बसेरो ।—सूर । बसेरा देना=(१) रहने की जगह देना । ठहराना । टिकाना । (२)आश्रय देना । ठिकाना देना । उ०—प्रभु कह गरलबंधु ससि केरा । अति प्रिय निज उर दीन बसेरा ।—तुलसी । (३) टिकने वा बसने का भाव । रहना । बसना । आबाद होना । उ०—(क) तन संशय मन सोनहा, काल अहेरी नित्त । एकै अंग बसेरवा कुशल पुछो का मित्त ।—कबीर । (ख) परहित हानि लाभ जिन केरे । उजरे हरष विषाद बसेरे ।—तुलसी ।

बसेरी*–वि० [हिं० बसेरा] निवासी । रहनेवाला । उ०—मानिकपुरहि कबीर बसेरी । मुहत सुना शेख तकि केरी ।—कबीर ।

बसैया*†–वि० [हिं० बसना] बसनेवाला । रहनेवाला । उ०—(क) सुनहु श्याम वै सब व्रजवनिता विरह तुम्हारे भई बावरी । नाहिन नाथ और कहि आवत छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी । कबहुँ कहत हरि माखन खायो कौन बसैया कहत गाँवरी । कबहुँ कहत हरि ऊखल बाँधे घर घर ते लै चलौ दाँवरी ।—सूर । (ख) पगनि कब चलिहौ चारौ भैया । प्रेम पुलकि उर लाइ सुअन सब कहति सुमित्रा मैया ।............भरत राम रिपुदवन लखन के चरित सरित अन्हवैया । तुलसी तब कस अजहु जानिबे रघुबर नगर बसैया ।—तुलसी । (ग) काहु को है चतुरानन को बर कोउ गजानन आस बसैया ।—हनुमान ।

बसोबास–संज्ञा पुं० [हिं० बास+आवास] निवासस्थान । रहने की जगह । उ०—चारि भाँति नृपता तुम कहियो । चारि मंत्रिमत मन में गहियो । राम मारि सुर एक न बचिहैं । इंद्रलोक बसोबासहि रचिहैं ।—केशव ।

बसौंधी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बास+औंधी] एक प्रकार की रबड़ी जो सुगंधित और लच्छेदार होती है ।

बस्ट–संज्ञा पुं० [अं०] चित्रकारी में वह मूर्ति, चित्र वा प्रतिकृति जिसमें किसी व्यक्ति के मुख, अथवा छाती के ऊपर के भाग मात्र की आकृति बनाई गई हो ।

बस्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य । (२) बकरा ।

बस्तकर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शाल का पेड़ । (२) असना का पेड़ । पीतशाल वृक्ष ।

बस्तगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अजगंधा । अजमोदा ।

बस्तमोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा ।

बस्तर–संज्ञा पुं० दे० "वस्त्र" ।

बस्तशृंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेषशृंगी । मेढ़ासींगी ।

बस्ता–संज्ञा पुं० [फ़ा०] कपड़े का चौकोर टुकड़ा जिसमें काग़ज़ के मुट्ठे, बहीखाते और पुस्तकादि बाँधकर रखते हैं । बेठन ।

क्रि० प्र०—बाँधना ।

मुहा०—बस्ता बाँधना=कागज पत्र समेट कर उठने की तैयारी करना ।

बस्तार–संज्ञा पुं० [फ़ा० बस्ता] एक में बँधी हुई बहुत सी वस्तुओं का समूह । मुट्ठा । पुलिंदा ।

बस्ति–संज्ञा पुं० दे० "वस्ति" ।

बस्ती–संज्ञा स्त्री० [सं० वसति] (१) बहुत से मनुष्यों का घर बना कर रहने का भाव । आबादी । निवास । उ०—जिन जिह्वा गुन गाइया बिनु बस्ती का गेह । सूने घर का पाहुना तासों लावै नेह ।—कबीर । (२) बहुत से घरों का समूह जिनमें लोग बसते हैं । जनपद । जैसे, खेड़ा, गाँव, क़सबा, नगर इत्यादि । जैसे,—राजपूताने में कोसों चले जाइए कहीं बस्ती का नाम नहीं । उ०—मन के मारे बन गए, बन तजि बस्ती माहिं । कहै कबीर क्या कीजिए या मन ठहरै नाहिं ।—कबीर ।

बस्तु–संज्ञा स्त्री० दे० "वस्तु" ।

बस्त्र–संज्ञा पुं० दे० "वस्त्र" ।

बस्य–वि० दे० "वश्य" ।

बहँगा–संज्ञा पुं० [सं० वहन+अंग] बड़ी बहँगी ।

बहँगी–संज्ञा स्त्री० [सं० वहन+अंग] बोझा ले चलने के लिये तराज़ू के आकार का एक ढाँचा । काँवर ।

विशेष—लगभग चार हाथ लंबी लचीली लकड़ी या बाँस के दोनों छोरों पर रस्सी का छीका लटका कर नीचे काठ का चौकठा सा लगा देते हैं जिस पर बोझा रखा जाता है । बाँस को बीचो बीच कंधे पर रखकर ले चलते हैं ।

बहकना–क्रि० अ० [हिं० बहा ?] (१) भूल से ठीक रास्ते से दूसरी ओर जा पड़ना । मार्गभ्रष्ट होना । भटकना । जैसे,—वह बहक कर जंगल की ओर चला गया ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(२) ठीक लक्ष्य या स्थान पर न जाकर दूसरी ओर जा पड़ना । चूकना । जैसे, तलवार बहकना, हाथ बहकना । (३) किसी की बात या भुलावे में आ जाना । बिना भला बुरा विचारे किसी के कहने या फुसलाने से कोई काम कर बैठना । उ०—बहक न इहि बहनापने जब तब, वीर, विनास । बचै न बड़ी सबीलहू चील घोंसुवा माँस ।—बिहारी । (४) किसी बात में लग जाने के कारण शांत होना । बहलना (बच्चों के लिए) । (५) आपे में

न रहना । रस या मद में चूर होना । जोश या आवेश में होना । उ०—जब ते ऋतुराज समाज रच्यो तब तें अवली अलि की चहकी । सरसाय कै सोर रसाल की डारन कोकिल कूकैं फिरैं बहकी ।—रसिया ।

मुहा०—**बहक कर बोलना**=(१) मद में चूर होकर बोलना । (२) जोश में आकर बढ़ बढ़ कर बोलना । अभिमान आदि से भरकर परिणाम या औचित्य आदि का विचार न करना । जैसे,—आज बहुत बहक कर बोल रहे हो, उस दिन कुछ करते धरते नहीं बना । **बहकी बहकी बातें करना**=(१) मदोन्मत्त की सी बातें करना । (२) बहुत बढ़ी चढ़ी बातें करना ।

ाहकाना—क्रि० स० [हिं० बहकना] (१) ठीक रास्ते से दूसरी ओर ले जाना या फेरना । रास्ता भुलवाना । भटकाना ।

संयो० क्रि०—देना ।

(२) ठीक लक्ष्य या स्थान से दूसरी ओर कर देना । लक्ष्यभ्रष्ट करना । जैसे, लिखने में हाथ बहका देना । (३) भुलावा देना । भरमाना । बातों से फुसलाना । कोई अयुक्त कार्य्य कराने के लिये बातों का प्रभाव डालना । जैसे,—उसने बहका कर उससे यह काम कराया है । उ०—नई रीति इन अबै चलाई । काहू इन्हें दियो बहकाई ।—सूर । (४) (बातों से) शांत करना । बहलाना (बच्चों को) ।

ाहतोल*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहता+ल (प्रत्य०)] जल बहाने की नाली । बरहा । उ०—ग्रीषम निदाघ समै बैठे अनुराग भरे बाग में बहति बहतोल है रहँट की ।—लाल ।

ाहत्तर—वि० [सं० द्विसप्तति, प्रा० बहत्तरि] सत्तर और दो । सत्तर से दो अधिक ।

संज्ञा पुं० सत्तर से दो अधिक की संख्या और अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—७२ ।

ाहत्तरवाँ—वि० [हिं० बहत्तर+वाँ (प्रत्य०)] [स्त्री० बहत्तरवीं] जिसका स्थान बहत्तर पर पड़े । जो क्रम में इकहत्तर वस्तुओं के पीछे पड़े ।

ाहदुरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक कीड़ा जो धान वा चने में लग कर उसके पत्ते काट कर गिरा देता है ।

ाहन—संज्ञा स्त्री० दे० "बहिन" ।

ाहना—क्रि० अ० [सं० वहन] (१) द्रव पदार्थों का निम्नतल की ओर आप से आप गमन करना । पानी या पानी के रूप की वस्तुओं का किसी ओर चलना । प्रवाहित होना । उ०—हिमगिरि गुहा एक अति पावनि । बह समीप सुरसरी सुहावनि ।—तुलसी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

मुहा०—**बहती गंगा में हाथ धोना**=किसी ऐसी बात से लाभ उठाना जिससे सब लाभ उठा रहे हों । **बहती नदी में पाँव पखारना**=दे० "बहती गंगा में हाथ धोना" । **बह चलना**=पानी की तरह पतला हो जाना । जैसे, दाल या तरकारी का ।

(२) पानी की धारा में पड़कर जाना । प्रवाह में पड़कर गमन करना । जैसे, बाढ़ में गाय, बैल, छप्पर आदि का बह जाना । (३) स्रवित होना । लगातार बूँद या धार के रूप में निकल कर चलना । (जो निकले और जिसमें से निकले दोनों के लिये) । जैसे, मटके का घी बहना, शरीर से रक्त बहना, फोड़ा बहना । (४) वायु का संचरित होना । हवा का चलना । जैसे, हवा बहना । उ०—(क) गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी । त्रिविध बयारि बहइ सुखदेनी ।—तुलसी । (ख) चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन ।—द्विजदेव । (५) कहीं चला जाना । इधर उधर हो जाना । हट जाना । दूर होना । जैसे,—(क) मंडली टूटते ही सब इधर उधर बह गए । (ख) कबूतरों का इधर उधर बह जाना । (कबूतरबाज़) । उ०—सुक सनकादि सकल मन मोहे, ध्यानिन ध्यान बह्यो ।—सूर । (६) ठीक लक्ष्य या स्थान से सरक जाना । हट जाना । फिसल जाना । जैसे, टोपी के गोट का नीचे बह आना । धोती का कमर के नीचे बह जाना । (७) बिना ठिकाने का होकर घूमना । मारा मारा फिरना । जैसे,—न जाने कहाँ का बहा हुआ आया यहाँ ठिकाना लग गया । (८) सन्मार्ग से दूर हो जाना । कुमार्गी होना । आवारा होना । चौपट होना । बिगड़ना । चरित्रभ्रष्ट होना । जैसे,—लुच्चों के साथ में पड़ कर वह बह गया । उ०—मातु पितु गुरु जननि जान्यो भली खोई महति । सूर प्रभु को ध्यान चित धरि अतिहि काहे बहति ।—सूर । (९) गया बीता होना । अधम या बुरा होना । जैसे,—वह ऐसा नहीं बह गया है कि तुम्हारा पैसा छूएगा । (१०) गर्भपात होना । अठाना । (चौपायों के लिये) । (११) बहुतायत से मिलना । सस्ता मिलना ।

संयो० क्रि०—चलना ।

(१२) (रुपया आदि) डूब जाना । नष्ट जाना । व्यर्थ ख़र्च हो जाना । (१३) कनकौवे की डोर का ढीला पड़ना । पतंग का पेटा छोड़ना । (१४) जल्दी जल्दी अंडे देना ।

मुहा०—**बहता हुआ जोड़ा**=बहुत अंडे देनेवाला जोड़ा (कबूतर) ।

(१५) लाद कर ले चलना । ऊपर रख कर ले चलना । बहन करना । उ०—जन्म याहि रूप गयो पाप बहत ।—सूर । (१६) खींच कर ले चलना (गाड़ी आदि) । उ०—अस कहि चढ़यो अहरथ माहीं । श्वेत तुरंग बहे रथ काहीं ।

–रघुराज। *(१७) धारण करना। रखना। उ०—छोनी में न छाँड्यो छप्यो छोनिप को छौना छोटो छोनिपछपन बाको बिरद बहुत हौं।—तुलसी। (१८) उठना। चलना। उ०—बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।—तुलसी।

बहनापा–संज्ञा पुं० [हिं० बहिन+आपा (प्रत्य०)] भगिनी की आत्मीयता। बहिन का संबंध।

क्रि० प्र०—जोड़ना।

बहनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] कोल्हू में से रस लेकर रखनेवाली ढिलिया।

* संज्ञा स्त्री० [सं० वह्नि] अग्नि। आग। उ०—तुम काह उडुराज अमृत मय तजि सुभाउ बरषत कत बहनी।—सूर।

बहनु*–संज्ञा पुं० [सं० वहन] सवारी। उ०—देत संपदा समेत श्रीनिकेत जाचकनि भवन विभूत भाग वृषभ बहनु है।—तुलसी।

बहनोई–संज्ञा पुं० [सं० भगिनीपति, प्रा० बहिणीवइ] बहिन का पति।

बहनौता–संज्ञा पुं० [सं० भगिनीपुत्र, प्रा० बहिणीउत्त] बहिन का पुत्र।

बहनौरा–संज्ञा पुं० [हिं० बहिन+औरा (प्रत्य०) (सं० आलय)] बहिन की ससुराल।

बहरा–वि० [सं० बधिर, प्रा० बहिर] [स्त्री० बहरी] जो कान से सुन न सके। न सुननेवाला। जिसे श्रवणशक्ति न हो।

मुहा०—बहरा पत्थर, या वज्र बहरा–बहुत अधिक बहरा। जिसे कुछ भी न सुनाई पड़ता हो।

बहराना–क्रि० स० [हिं० भुराना (भ का उच्चारण बह के रूप में हो गया) वा फा० बहाल] (१) जिस बात से जी ऊबा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हटा कर दूसरी ओर ले जाना। ऐसी बात कहना या करना जिससे दुःख की बात भूल जाय और चित्त प्रसन्न हो जाय। उ०—मैं पठवत अपने लरिका को आवै मन बहराइ।—सूर। (२) बहकाना। भुलाना। फुसलाना। उ०—(क) उरहन देन ग्वालि जे आई। तिन्हैं जशोदा दियो बहराई।—सूर। (ख) क्यों बहरावत झूठ मोहिं और बढ़ावत सोग। अब भारत में नाहिं वे रहे बीर जे लोग।—हरिश्चन्द्र।

†क्रि० स० दे० "बहरियाना"।

बहरिया–संज्ञा पुं० [हिं० बाहर+इया (प्रत्य०)] बल्लभ संप्रदाय के मंदिरों के छोटे कर्मचारी जो प्रायः मंदिर के बाहर ही रहते हैं।

†वि० बाहर का। बाहर-संबंधी।

बहरियाना†–क्रि० स० [हिं० बाहर+इयाना (प्रत्य०)] (१) बाहर की ओर करना। निकालना। (२) अलग करना। जुदा करना। (३) नाव को किनारे से हटा कर मँझधार की ओर ले जाना। (मल्लाह)।

क्रि० अ० (१) बाहर की ओर होना। (२) अलग होना। जुदा होना। (३) नाव का किनारे से हट कर मँझधार की ओर जाना।

बहरी–संज्ञा स्त्री० [अ०] एक शिकारी चिड़िया जिसका रूप रंग और स्वभाव बाज़ का सा होता है, पर आकार छोटा होता है।

बहरू–संज्ञा पुं० [देश०] मध्य प्रदेश, बरार और मदरास में होनेवाला मझोले आकार का एक पेड़ जिसकी लकड़ी सुंदर चमकदार और मज़बूत होती है। हल, पाटे आदि खेती के सामान, गाड़ियाँ तथा तसवीरों के चौकठे इस लकड़ी के बनते हैं।

बहरूप–संज्ञा पुं० [हिं० बहु+रूप] एक जाति जो बैलों का व्यवसाय करती है और गोरखपुर, चंपारन आदि पूरबी ज़िलों में बसती है।

बहरो*†–वि० दे० "बहरा"।

बहल–संज्ञा स्त्री० [सं० वहन] एक प्रकार की छतरीदार वा मंडपदार गाड़ी जिसे बैल खींचते हैं। रथ के आकार की बैलगाड़ी। खड़खड़िया। रब्बा।

बहलना–क्रि० अ० [हिं० बहलाना] (१) जिस बात से जी ऊबा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हट कर दूसरी ओर जाना। झंझट या दुःख की बात भूलना और चित्त का दूसरी ओर लगना। जैसे,—दो चार महीने बाहर जाकर रहो, जी बहल जायगा।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) मनोरंजन होना। चित्त प्रसन्न होना। जैसे,—थोड़ी देर बगीचे में जाने से जी बहल जाता है।

बहलाना–क्रि० स० [फ़ा० बहाल=स्वस्थ या भुलाना] (१) जिस बात से जी ऊबा या दुखी हो उसकी ओर से ध्यान हटा कर दूसरी ओर ले जाना। झंझट या दुःख की बात भुलवा कर चित्त दूसरी ओर ले जाना। (२) मनोरंजन करना। चित्त प्रसन्न करना। जैसे,—थोड़ी देर जी बहलाने के लिये बगीचे चला जाता हूँ। (३) भुलावा देना। बातों में लगाना। बहकाना। किसी के साथ ऐसा करना जिसमें वह सावधान न रह जाय। जैसे,—उसे बहला कर हम कुछ रुपया निकाल लाए हैं।

बहलाव–संज्ञा पुं० [हिं० बहलना] चित्त का किसी ओर कुछ काल के लिये लग जाना। मनोरंजन। प्रसन्नता।

यौ०—मनबहलाव।

बहलिया‡–संज्ञा पुं० दे० "बहेलिया"।

बहली–संज्ञा स्त्री० [सं० वहन] एक प्रकार की छतरीदार या परदेदार गाड़ी जिसे बैल खींचते हैं। रथ के आकार की बैलगाड़ी।

बहल्ला‡*–संज्ञा पुं० [हिं० बहलना। फ़ा० बहाल] आनंद। प्रमोद। उ०—चला चला छायो रव ह्वै गयो बहल्ला हमैं लल्ला देत ईस आज अवधभुवार को।—रघुराज।

बहल्ली–संज्ञा पुं० [?] कुश्ती का एक पेंच।

बहस–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) वाद। दलील। तर्क। खंडन मंडन की युक्ति। किसी विषय को सिद्ध करने के लिये उत्तर प्रत्युत्तर के साथ बात चीत।

क्रि० प्र०—करना।

(२) विवाद। झगड़ा। हुज्जत। (३) होड़। बाज़ी। बदाबदी। उ०—मोहि तुम्हैं बाढ़ी बहस को जीतै जदुराज। अपने अपने बिरद की दुहूँ निबाहत लाज।—बिहारी।

बहसना*–क्रि० अ० [अ० बहस+ना] (१) बहस करना। विवाद करना। तर्क वितर्क करना। (२) होड़ लगाना। शर्त बाँधना। बहसि करत बहु हेतु जहँ एक काज की सिद्धि। इहौ समुच्चय कहत हैं जिनकी है मति रिद्धि।—मतिराम।

बहाउ‡–संज्ञा पुं० दे० "बहाव"।

बहादुर–वि० [फ़ा०] (१) उत्साही। साहसी। (२) शूरवीर। पराक्रमी।

बहादुरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वीरता। शूरता।

बहाना–क्रि० स० [हिं० बहना] (१) द्रव पदार्थों को निम्नतल की ओर छोड़ना या गमन कराना। पानी या पानी सी पतली चीज़ों को किसी ओर ले जाना। प्रवाहित करना। जैसे, खून की नदी बहाना।

संयो० क्रि०—देना।

(२) पानी की धारा में डालना। बहती हुई चीज़ में इस प्रकार डालना कि बहाव के साथ चले। प्रवाह के साथ छोड़ना। जैसे, नदी में तख़्ते या लट्ठे बहाना। (३) लगातार बूँद या धार के रूप में छोड़ना या निकालना। ढालना। गेरना। लुढ़ाना। जैसे,—घड़े का पानी क्यों व्यर्थ बहा रहे हो?

मुहा०—फोड़ा बहाना=फोड़े में इस प्रकार छेद कर देना जिससे उसमें का मवाद निकल जाय। जैसे,—यह दवा फोड़े को बहा देगी।

(४) वायु संचालित करना। हवा चलाना। (५) व्यर्थ व्यय करना। खोना। गँवाना। जैसे,—उसने लाखों रुपये बहा दिए। † (६) फेंकना। डालना। पकड़े या लिए न रहना। (७) सस्ता बेचना। कौड़ियों के मोल दे देना।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बहानः] (१) किसी बात से बचने या कोई मतलब निकालने के लिये अपने संबंध में कोई झूठ बात कहना। मिस। हीला। जैसे, काम के वक़्त तुम बीमारी का बहाना करके बैठ जाते हो।

क्रि० प्र०—करना।

(२) उक्त उद्देश्य से कही हुई झूठ बात। वह बात जिसकी ओट में असल बात छिपाई जाय।

क्रि० प्र०—ढूँढ़ना।

(३) निमित्त। कहने सुनने के लिये एक कारण। प्रसंग। योग। जैसे,—(क) हीले रोज़ी, बहाने मौत। (ख) चलो, इसी बहाने हम भी बंबई देख आएँगे।

बहार–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बसंत ऋतु। फूलों के खिलने का मौसिम। उ०—जिन दिन देखे वे कुसुम गई सो बीति बहार।—बिहारी। (२) मौज। आनंद।

क्रि० प्र०—आना।—उड़ना।—लूटना।—होना।

(३) यौवन का विकास। जवानी का रंग। (४) शोभा। सौंदर्य। रमणीयता। सुहावनापन। रौनक़। जैसे,—(क) उसके सिर पर कलँगी क्या बहार देती है। (ख) यहाँ बड़ी बहार है।

क्रि० प्र०—देना।

(५) विकास। प्रफुल्लता।

मुहा०—बहार पर आना=विकसित होना। पूर्ण शोभासंपन्न होना।

(६) मज़ा। तमाशा। कौतुक। जैसे,—ज़रा उस बेवक़ूफ़ को वहाँ ले चलो, देखो क्या बहार आती है।

क्रि० प्र०—आना।

(७) नारंगी का फूल। (८) एक रागिनी।

बहारगुर्जरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बहार+सं० गुर्जरी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

बहारनशाख़–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मुकाम राग का पुत्र। एक राग।

बहारना†–क्रि० स० दे० "बुहारना"।

बहारी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बुहारी"।

बहाल–वि० [फ़ा०] (१) जहाँ जैसा था वहाँ वैसा ही। पूर्ववत् स्थित। ज्यों का त्यों जैसे,—अदालत का फ़ैसला बहाल रहा।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुहा०—नौकरी पर बहाल करना=जिस जगह पर नौकर था उसी जगह पर फिर मुक़र्रर करना।

(२) भला चंगा। स्वस्थ। (३) प्रसन्न। जैसे, तबीयत बहाल करना।

बहाली–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] पुनर्नियुक्ति। फिर उसी जगह पर मुक़र्ररी।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० बहलाना] झाँसा पट्टी। धोखा देनेवाली बात।

क्रि० प्र०—देना।

बहाव–संज्ञा पुं० [हिं० बहना] (१) बहने का भाव। (२) बहने की क्रिया। प्रवाह। (३) बहती हुई धारा। बहता हुआ जल आदि। जैसे, बहाव में पड़ना।

बहिः–अव्य० [सं० वहिस्] बाहर। उ०—बहिरंति सात अरु अंतरंति सात सुन, रति विपरीतनि को विविध विचार है।—केशव।

बहिअर–संज्ञा स्त्री० [सं० वधूवर, हिं० बहुवर] स्त्री०।

बहिक्रम*–संज्ञा पुं० [सं० वयःक्रम] अवस्था। उम्र। उ०—(क) इते पर बाल बहिक्रम जानि। हिये करुना उपजै अति आनि।—केशव। (ख) ग्यारह वर्ष बहिक्रम बीत्यो। खेलत आखेटक श्रम जीत्यो।—लाल।

बहित्र–संज्ञा पुं० [सं० वहित्र] नाव। जहाज। उ०—सोइ राम कामारि प्रिय अवधपति सर्वदा दास तुलसी त्रासनिधि-वहित्रं।—तुलसी।

बहिन–संज्ञा स्त्री० [सं० भगिनी, प्रा० बहिणी] माता की कन्या। बाप की बेटी। वह लड़की या स्त्री जिसके साथ एक ही माता पिता से उत्पन्न होने का संबंध हो। भगिनी।

विशेष—जिस प्रकार स्नेह से समान अवस्था के पुरुषों के लिए 'भाई' शब्द का व्यवहार होता है उसी प्रकार स्त्रियों के लिए 'बहिन' शब्द का भी।

बहिनापा–संज्ञा पुं० दे० "बहनापा"।

बहियाँ‡*–संज्ञा स्त्री० दे० "बाहीं", "बाहँ"। उ०—सूरदास हरि बोलि भगत को निरबहत दै बहियाँ।—सूर।

बहिरंग–वि० [सं०] (१) बाहरी। बाहरवाला। 'अंतरंग' का उलटा। (२) जो गुट या मंडली के भीतर न हो।

बहिर†*–वि० दे० "बहरा"। उ०—अंधहु बहिर न कहहिँ अस स्रवन नयन तव बीस।—तुलसी।

बहिरत‡*–अव्य० [सं० वहिः] बाहर। उ०—जोगी होइ जग जीतता, बहिरत होइ संसार। एक अँदेसा रहि गया, पाछे परा अहार।—कबीर।

बहिराना†–क्रि० स० [हिं० बाहर+ना (प्रत्य०)] बाहर कर देना। निकाल देना।

क्रि० अ० बाहर होना।

बहिर्गत–वि० [सं०] (१) जो बाहर गया हो। बाहर आया या निकला हुआ। (२) जो बाहर हो। (३) अलग। जुदा। जो अंतर्गत न हो।

बहिर्जानु–अव्य० [सं०] हाथों को दोनों घुटनों के बाहर किए हुए (बीच में नहीं)।

विशेष—श्राद्ध आदि कृत्यों में इस प्रकार बैठने का प्रयोजन पड़ता है।

बहिर्भूत–वि० [सं०] (१) जो बाहर हुआ हो। (२) जो बाहर हो। (३) अलग। जुदा।

बहिर्भूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बस्ती से बाहरवाली भूमि। (२) झाड़े जंगल जाने की भूमि। उ०—गए हैं बहिर्भूमि तहाँ कृष्ण भूमि आए करी बड़ी धूम आक बौंडिन सों मारि कै।—प्रियादास।

बहिर्मुख–वि० [सं०] विमुख। विरुद्ध। पराङ्मुख। जो प्रवृत्त या दत्तचित्त न हो।

बहिर्रति–संज्ञा स्त्री० [सं०] रति के दो भेदों में एक। बाहरी रति या समागम जिसके अंतर्गत, आलिंगन, चुंबन, स्पर्श, मर्दन, नखदान, रददान और अधरपान हैं। (केशव)

बहिर्लापिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] काव्य रचना में एक प्रकार की पहेली जिसमें उसके उत्तर का शब्द पहेली के शब्दों के बाहर रहता है, भीतर नहीं। अंतर्लापिका का उलटा। उ०—अक्षर कौन विकल्प को युवति बसति किहि अंग। बलि राजा कौने छल्यो सुरपति के परसंग। उत्तर क्रमशः वा, वाम और वामन।

बहिर्वासा–संज्ञा पुं० [सं० वहिर्वासस्] बाहरी कपड़ा। कौपीन के ऊपर पहनने का कपड़ा।

बहिला†–वि० [सं० बहुला=गाय। या हिं० बोझ+ला (प्रत्य०)] बंध्या। बाँझ। जो बच्चा न दे (चौपायों के लिए)।

बहिष्कार–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० बहिष्कृत] (१) बाहर करना। निकालना। (२) दूर करना। हटाना। अलग करना। त्याग।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

बहिष्कृत–वि० [सं०] (१) बाहर किया हुआ। निकाला हुआ। (२) त्यागा हुआ। अलग किया हुआ।

बही–संज्ञा स्त्री० [सं० बद्ध, वि० बँधी ?] हिसाब किताब लिखने की पुस्तक। सादे कागज़ों का गड जो एक में सिला हो और जिस पर क्रम से नित्य प्रति का लेखा लिखा जाता हो। उ०—खाता खत जान दे बही को बहिजान दे।—पद्माकर।

यौ०—बही खाता। रोकड़ बही। हुंडी बही।

मुहा०—बही पर चढ़ना या टकना=हिसाब की किताब मे लिख लिया जाना। बही पर चढ़ाना या टाँकना=बही पर लिखना। दर्ज करना।

बहीखाता–संज्ञा स्त्री०[हिं०] हिसाब किताब की पुस्तक।

बहीर–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़] (१) भीड़। जन समूह। उ०—जिहि मारग गे पंडिता तेही गई बहीर। ऊँची घाटी राम की तिहि चढ़ि रहे कबीर।—कबीर। (२) सेना के साथ साथ चलनेवाली भीड़ जिसमें साईस, सेवक, दूकानदार आदि रहते हैं। फौज का लवाज।

उ०—ऐसे रघुबीर छीर-नीर के विवेक कवि भीर की बहीर को समय के निकारिहौं ।—हनुमान । (३) सेना की सामग्री । फ़ौज का सामान । उ०—हुकुम पाय कुतवाल ने दई बहीर लदाय ।—सूदन ।

‡ अव्य० [सं० बाहस] बाहर । उ०—कोऊ जाय द्वार ताहि देत हैं अढ़ाई सेर । बेर जनि लाओ चले जाव यों बहीर के ।—प्रियादास ।

बहीरा–संज्ञा पुं० दे० "बहेड़ा" ।

बहु–वि० [सं०] (१) बहुत । एक से अधिक । अनेक । (२) ज़्यादा । अधिक ।

संज्ञा स्त्री० दे० "बहू" । उ०—गे जनवासहि राउ, सुत, सुतबहुन समेत सब ।—तुलसी ।

बहुकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जवासा । (२) हिंताल वृक्ष ।

बहुकंटा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कंटकारी ।

बहुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकड़ा । (२) आक । मदार । (३) पपीहा । चातक ।

बहुकन्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] घृतकुमारी ।

बहुकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) झाड़ू देनेवाला । (२) ऊँट ।

बहुकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] झाड़ू । बुहारी ।

बहुकर्णिका–संज्ञा स्त्री [सं०] मूसाकानी ।

बहुकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम । (रामायण)

बहुगंध–संज्ञा पु० [सं०] (१) दारचीनी । (२) कुंदुरू । (३) पीतचंदन ।

बहुगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जूही । (२) स्याहजीरा ।

बहुगव–संज्ञा पुं० [सं०] एक पुरुवंशीय राजा । (भागवत)

बहुगुड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कंटकारी । भँटकटैया । (२) भूम्यामलकी ।

बहुगुना–संज्ञा पुं० [हिं० बहु+गुण] चौड़े मुँह का एक गहरा बरतन जिसके पेंदे और मुँह का घेरा बराबर होता है । इससे यात्रा आदि में कई काम ले सकते हैं । शायद इसी से इसे बहुगुना कहते हैं ।

बहुग्रंथि–संज्ञा पुं० [सं०] झाऊ का पेड़ ।

बहुज्ञ–वि० [सं०] बहुत बातें जाननेवाला । जानकार ।

बहुटनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बहूँटा] बाँह पर पहनने का एक गहना । छोटा बहूँटा । उ०—बहु नग लगे जराव की अँगिया भुला बहुटनी बलय संग को ।—सूर ।

बहुत–वि० [सं० बहुतर । अथवा सं० प्रभूत, प्रा० पहुत्त] (१) एक दो से अधिक । गिनती में ज़्यादा । अनेक । जैसे,—वहाँ बहुत से आदमी गए । (२) जो परिमाण में अल्प या न्यून न हो । जो मात्रा में अधिक हो । जैसे,—आज तुमने बहुत पानी पिया । (३) आवश्यकता भर या उससे अधिक । यथेष्ट । बस । काफ़ी । जैसे,—अब मत दो, इतना बहुत है ।

मुहा०—बहुत अच्छा=(१) स्वीकृतिसूचक वाक्य । एवमस्तु । ऐसा ही होगा । (२) धमकी का वाक्य । ख़ैर, ऐसा करो, हम देख लेंगे । कोई परवा नहीं । बहुत करके=(१) अधिकतर । ज़्यादातर । बहुधा । प्रायः । अक्सर । अधिक अवसरों पर । जैसे,—बहुत करके वह शाम ही को आता है । (२) अधिक संभव है । बीस बिस्वे । जैसे,—बहुत करके तो वह वहाँ पहुँच गया होगा, न पहुँचा हो तो भेज देना । बहुत कुछ=कम नहीं । गिनती करने योग्य । जैसे,—अभी उनके पास बहुत कुछ धन है । बहुत ख़ूब !=(१) वाह । क्या कहना है ! (किसी अनोखी बात पर) । (२) बहुत अच्छा । बहुत है=कुछ नहीं है । (व्यंग्य) । बहुत हो जिए=रहने दो । जाव । चल दो । तुम्हारा काम नहीं ।

क्रि० वि० अधिक परिमाण में । ज़्यादा । जैसे,—वह बहुत दौड़ा ।

बहुतक†*–वि० [हिं० बहुत+एक, अथवा स्वार्थे 'क'] बहुत से । बहुतेरे । उ०—बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहिं गगन बिमान ।—तुलसी ।

बहुताँ–वि० [हिं० बहुत] (१) बहुत । (२) बनियों की बोली में तीसरी तौल का नाम । (तीन की संख्या अशुभ समझी जाती है, इससे तौल की गिनती में जब बनिये तीन पर आते हैं तब यह शब्द कहते हैं) ।

बहुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुत्व । अधिकता ।

बहुताइत–संज्ञा स्त्री० दे० "बहुतायत" ।

बहुताई–संज्ञा स्त्री० [हिं० आई+आयत (प्रत्य०] बहुतायत । अधिकता । ज़्यादती ।

बहुतात–संज्ञा स्त्री० दे० "बहुतायत" ।

बहुतायत–संज्ञा स्त्री० [हिं० बहुत+आयत (प्रत्य०)] अधिकता । ज़्यादती । कसरत ।

बहुतिक्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] काकमाची ।

बहुतेरा–वि० [हिं० बहुत+एरा (प्रत्य०)] [स्त्री० बहुतेरी] बहुत सा । अधिक ।

क्रि० वि० बहुत । बहुत प्रकार से । बहुत परिमाण में । जैसे,—मैंने बहुतेरा समझाया, पर उसने एक न मानी ।

बहुतेरे–वि० [हिं० बहुतेरे] संख्या में अधिक । बहुत से । अनेक

बहुत्व–संज्ञा पुं० [सं०] आधिक्य । अधिकता ।

बहुत्वक्–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र ।

बहुत्वच्–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र ।

बहुदर्शिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुज्ञता । बहुत सी बातों की समझ ।

बहुदर्शी–संज्ञा पुं० [सं० बहुदर्शिन्] जिसने बहुत कुछ देखा हो । जानकार । बहुज्ञ ।

बहुदल—संज्ञा पुं० [सं०] चेना नाम का अन्न।

बहुदला—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंचु। चेंच नाम का साग।

बहुदुग्ध—संज्ञा पुं० [सं०] गेहूँ।

बहुदुग्धा—संज्ञा स्त्री० [सं०] थूहर का पेड़। स्नुही।

बहुधर—संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

बहुधा—क्रि० वि० [सं०] (१) बहुत प्रकार से। अनेक ढंग से। (२) बहुत करके। प्रायः। अकसर। अधिकतर अवसरों पर।

बहुधान्य—संज्ञा पुं० [सं०] साठ संवत्सरों में से बारहवाँ संवत्सर।

बहुधार—संज्ञा पुं० [सं०] वज्र हीरक। एक प्रकार का हीरा।

बहुनाद—संज्ञा पुं० [सं०] शंख।

बहुपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभ्रक। अबरक। (२) प्याज। पलांडु। (३) बंशपत्र। (४) मुचकुंद का पेड़। (५) पलाश।

बहुपत्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तरुणीपुष्प वृक्ष। (२) शिवलिंगनी लता। (३) गोरकादुग्धी। दुधिया घास। (४) भूआँवला। (५) घीकुवार। (६) वृहती। (७) जतुका। पहाड़ी नाम की लता जिसकी पत्तियाँ दवा के काम में आती हैं।

बहुपत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी। (२) महाशतावरी। (३) मेथी। (४) वच।

बहुपत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी। (२) लिंगिनी। (३) तुलसी का पौधा। (४) जतुका। (५) वृहती। (६) दुधिया घास।

बहुपद—संज्ञा पुं० दे० "बहुपाद"।

बहुपाद—वि० [सं०] अधिक पैरोंवाला।

संज्ञा पुं० वटवृक्ष। बरगद का पेड़। बड़ का पेड़।

बहुपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पाँचवें प्रजापति का नाम। (२) सप्तपर्ण।

बहुपुत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की अनुचरी। एक मातृका।

बहुपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पारिभद्र वृक्ष। फरहद का पेड़। (२) नीम का पेड़।

बहुपुष्पिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] धातकी वृक्ष। धाय का पेड़।

बहुप्रज—वि० [सं०] जिसके बहुत संतान हों।

संज्ञा पुं० (१) शूकर। सूअर। (२) मूँज का पौधा।

बहुफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कदंब। (२) विकंकत। कटाई। बनभंटा।

बहुफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भूम्यामलकी। (२) खीरा। त्रपुष। (३) क्षविका। एक प्रकार का बनभंटा। (४) काकमाची (५) छोटा करेला। जंगली करेला। करेली।

बहुफली—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की जंगली गाजर जिसका पौधा अजवाइन का सा पर उससे छोटा होता है। पत्ते सौंफ़ के से होते हैं और धनिये के फूलों के से पीले रंग के गुच्छे लगते हैं। उँगली की तरह या पतली गाजर सी लंबी जड़ होती है। बीज भूरे हलके और हरसिंगार के बीजों के से होते हैं तथा बाज़ार में "बनफली" या "ट्रफू" (हकीमी) के नाम से बिकते हैं।

बहुफेना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सातला। पीले दूधवाला थूहर। (२) शंखाहुली।

बहुबल—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

बहुबल्क—संज्ञा पुं० [सं०] पियासाल।

बहुबाहु—संज्ञा पुं० [सं०] रावण। उ०—तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिँ त अस होइहि बहुबाहू।—तुलसी।

बहुबीज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिजौरा नीबू। (२) बीजवाला केला। (३) शरीफ़ा।

बहुभाषी—संज्ञा पुं० [सं० बहुभाषिन्] बहुत बोलनेवाला। बकवादी।

बहुभुजक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] रेखागणित में वह क्षेत्र जो चार से अधिक रेखाओं से घिरा हो।

बहुभुजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

बहुमंजरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी।

बहुमत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलग अलग बहुत से मत। बहुत से लोगों की अलग अलग राय। जैसे,—बहुमत से बात बिगड़ जाती है। (२) बहुत से लोगों की मिलकर एक राय। अधिकतर लोगों का एक मत। जैसे,—सभा में बहुमत से यह प्रस्ताव पास हो गया।

बहुमल—संज्ञा पुं० [सं०] सीसा नाम की धातु।

बहुमूत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें रोगी को मूत्र बहुत उतरता है। पेशाब अधिक आने का रोग।

विशेष—यह रोग दो प्रकार का होता है। एक में तो केवल जल का अंश ही बहुत उतरता है, दूसरे में मूत्र के साथ शर्करा या मधु निकलता है। बहुमूत्र शब्द से प्रायः यही दूसरे प्रकार का रोग समझा जाता है। यह बहुत भयंकर रोग है और इसमें रोगी की आयु दिन दिन क्षीण होती चली जाती है। वैद्यक में यह प्रमेह के अंतर्गत माना गया है। विशेष—दे० "मधुमेह"।

बहुमूर्त्ति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बनकपास। (२) विष्णु। (३) बहुरूपिया।

बहुमूल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रामशर। सरकंडा। (२) नरसल। (३) शोभांजन। शिग्रु। सहिजन। सैंजना।

बहुमूलक—संज्ञा पुं० [सं०] खस। उशीर।

बहुमूला—संज्ञा स्त्री० [सं०] शतावरी।

बहुमूल्य—वि० [सं०] अधिक मूल्य का। क़ीमती।

बहुरंगा–वि० [हिं० बहु+रंगा] (१) कई रंग का । चित्रविचित्र । (२) बहुरूपधारी । (३) मनमौजी । अस्थिर चित्त का ।

बहुरंगी†–वि० [हिं० बहुरंगा+ई] (१) बहुरूपिया । अनेक प्रकार के रूप धारण करनेवाला । (२) अनेक रंग दिखानेवाला । अनेक प्रकार के करतब या चाल दिखलानेवाला । (३) मनमौजी ।

बहुरंध्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेदा ।

बहुरना†–क्रि० अ० [सं० प्रघूर्णन, प्रा० पहोलन] (१) लौटना । फिर कर आना । वापस आना । (२) फिर हाथ में आना । फिर मिलना ।

बहुरि*†–क्रि० वि० [हिं० बहुरना । बहुरि=फिर कर] (१) पुनः । फिर । (२) इसके उपरांत । पीछे । अनंतर । उ०—आगे चले बहुरि रघुराई ।—तुलसी ।

बहुरिया†–संज्ञा स्त्री० [सं० बधूटी, बधूटिका, प्रा० बहूडिआ] नई बहू ।

बहुरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भौरना=भूनना] भुना हुआ खड़ा अन्न । चर्वण । चबेना ।

बहुरूप–वि० [सं०] अनेक रूप धारण करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु । (२) शिव । (३) कामदेव । (४) सरट । गिरगिट । (५) ब्रह्मा । (६) बाल । प्रियव्रत के पौत्र और मेधातिथि के पुत्र का नाम (भाग०) । (७) एक वर्ष का नाम । (८) एक बुद्ध का नाम । (९) तांडव नृत्य का एक भेद जिसमें अनेक प्रकार के रूप धारण करके नाचते हैं ।

बहुरूपक–संज्ञा पुं० [सं०] एक जंतु ।

बहुरूपा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा । (२) अग्नि की सात जिह्वाओं में से एक ।

बहुरूपिया–वि० [हिं० बहु+रूप] (१) अनेक प्रकार के रूप धारण करनेवाला । (२) नक़ल बननेवाला ।

संज्ञा पुं० वह जो तरह तरह के रूप बना कर अपनी जीविका करता है ।

बहुरूपी–वि० [सं० बहुरूपिन्] अनेक रूप धारण करनेवाला ।

संज्ञा पु० बहुरूपिया ।

बहुरेतस्–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा ।

बहुरोमा–संज्ञा पु० [सं० बहुरोमन्] (१) मेष । भेड़ा । (२) लोमश । (३) बंदर ।

बहुल–वि० [सं०] प्रचुर । अधिक । ज़्यादा ।

संज्ञा पुं० (१) आकाश । (२) सफ़ेद मिर्च । (३) कृष्णवर्ण । (४) कृष्ण पक्ष । (५) अग्नि । (६) महादेव ।

बहुलगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी इलायची ।

बहुलच्छद–संज्ञा पुं० [सं०] लाल सैंजना । लाल सँहिजन । रक्त शिग्रु ।

बहुलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बहुतायत । अधिकता । बाहुल्य । प्राचुर्य्य ।

बहुला–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाय । (२) एक गाय जिसके सत्य व्रत की कथा पुराणों में है और जिसके नाम पर लोग भादों बदी चौथ और माघ बदी चौथ को व्रत करते हैं । (३) नीलिका । नील का पौधा । (४) एक देवी का नाम (कालिका पु०) । (५) इलायची । (६) एक नदी का नाम (मार्कंडेय पु०) (७) कृत्तिका नक्षत्र ।

बहुलाचौथ–संज्ञा स्त्री० [सं०] भादों बदी चौथ । इस दिन बहुला गाय के सत्य व्रत के स्मरणार्थ व्रत किया जाता है ।

बहुलावन–संज्ञा पुं० [सं०] वृंदावन के ८४ बनों में से एक बन । कहते हैं इसी बन में बहुला गाय ने व्याघ्र के साथ अपना सत्य व्रत निबाहा था ।

बहुलाश्व–संज्ञा पुं० [सं०] मिथिला के एक परम भागवत राजा (भागवत) ।

बहुलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सप्तर्षिमंडल ।

बहुली–संज्ञा स्त्री० [सं० बहुला] इलायची । उ०—वृक्षा, मरुआ, कुंद सों कहैं गोद पसारी । बकुल, बहुलि, बट, कदम पै ठाढ़ी ब्रजनारी ।—सूर ।

बहुवचन–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण की एक परिभाषा जिससे एक से अधिक वस्तुओं के होने का बोध होता है । जमा ।

बहुवर्त्म–संज्ञा पुं० [सं०] आँखों का एक रोग जिसमें पलकों के चारों ओर छोटी छोटी फुंसियाँ सी फैल जाती हैं ।

बहुवार–संज्ञा पुं० [सं०] लिसोड़े का पेड़ ।

बहुविद्य–वि० [सं०] बहुत सी बातें जाननेवाला । बहुज्ञ ।

बहुवीर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विभीतक । बहेड़ा । (२) सेमर का पेड़ । शाल्मली । (३) मरुवा ।

बहुव्रीहि–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में छ प्रकार के समासों में से एक जिसमें दो या अधिक पदों के मिलने से जो समस्त पद बनता है वह एक अन्य पद का विशेषण होता है । जैसे, आरूढ़वानर वृक्ष=वह वृक्ष जिस पर बंदर आरूढ़ हो ।

बहुशत्रु–संज्ञा पुं० [सं०] चटक । गौरा पक्षी ।

बहुशल्य–संज्ञा पु० [सं०] रक्त खदिर । लाल खैर ।

बहुशाख–संज्ञा पुं० [सं०] स्नुही । थूहर ।

बहुशिखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गजपिप्पली ।

बहुशिर–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

बहुशृंग–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

बहुश्रुत–वि० [सं०] जिसने बहुत सी बातें सुनी हों । जिसने अनेक प्रकार के विद्वानों से भिन्न भिन्न शास्त्रों की बातें सुनी हों । अनेक विषयों का जानकार । चतुर ।

बहुसंख्यक–संज्ञा पुं० [सं०] गिनती में बहुत ।

बहुसार–संज्ञा पुं० [सं०] खदिर । खैर ।

बहुसू–संज्ञा स्त्री० [सं०] शूकरी । मादा सूअर ।

बहुस्रव–वि० [सं०] शल्लकी वृक्ष । सलई ।

बहुस्वन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उल्लू । (२) शंख ।

बहूँटा–संज्ञा पुं० [सं० बाहुस्थ, प्रा० बाहुट्ठ] [स्त्री० अल्प० बहूटी] बाँह पर पहनने का एक गहना ।

बहू–संज्ञा स्त्री० [सं० वधू] (१) पुत्रवधू । पतोहू । (२) पत्नी । स्त्री । (३) कोई नव-विवाहिता स्त्री । दुलहिन ।

बहूकरी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बहुकरी" ।

बहूदक–संज्ञा पुं० [सं०] संन्यासियों का एक भेद । एक प्रकार का संन्यासी ।

विशेष—ऐसे संन्यासियों को सात घर में भिक्षा माँग कर निर्वाह करना चाहिए । यदि एक ही गृहस्थ भर पेट भोजन दे तो भी नहीं लेना चाहिए । इनके लिये गाय की पूँछ के रोएँ से बँधा त्रिदंड, शिक्य, कौपीन, कमंडलु, गात्राच्छादन, कंथा, पादुका, छत्र, पवित्र, चर्म, सूची, पक्षिणी, रुद्राक्ष माला, वहिर्वास, खनित्र और कृपाण रखने का विधान है । इन्हें सर्वांग में भस्म और मस्तक पर त्रिपुंड धारण करना चाहिए तथा शिखा सूत्र न छोड़ना चाहिए और योगाभ्यास भी करना चाहिए ।

बहूपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह अर्थालंकार जिसमें एक उपमेय के एक ही धर्म से अनेक उपमान कहे जायँ । जैसे, हिम हर हीरा हंस सो जस तेरो जसवंत । (मुरारिदान)

बहेंगवा–संज्ञा पुं० [सं० विहगम] (१) एक पक्षी जिसे भुजंगा वा करचोटिया भी कहते हैं ।

वि० [सं० विहगम] (१) घुमक्कड़ । इधर उधर घूमनेवाला । (२) आवारा । बहेतू ।

बहेंत–संज्ञा स्त्री० [हिं० बहना+एंत (प्रत्य०)] वह काली मिट्टी जो तालों या गड्ढों में बह कर जमा हो जाती है । इसी मिट्टी के खपरे बनते हैं ।

बहेगवा†–संज्ञा पुं० [देश०] चौपायों की गुदा के पास पूँछ के नीचे की मांसग्रंथि ।

बहेचा–संज्ञा पुं० [देश०] घड़े का ढाँचा जो चाक पर से गढ़ कर उतारा जाता है । इसे जब थापी और पिटने से पीट कर बढ़ाते हैं तब यह घड़े के रूप में आता है । (कुम्हार)

बहेड़ा–संज्ञा पुं० [सं० विभीतक, प्रा० बहेडअ] एक बड़ा और ऊँचा जंगली पेड़ जो अर्जुन की जाति का माना गया है । यह पतझड़ में पत्ते झाड़ता है और सिंध और राजपूताने आदि सूखे स्थानों को छोड़ भारतवर्ष के जंगलों में सर्वत्र होता है । बरमा और सिंहल में भी यह पाया जाता है । इसके पत्ते महुए के से होते हैं । फूल बहुत छोटे छोटे होते हैं जिनके झड़ने पर बड़ी बेर के इतने बड़े फल गुच्छों में लगते हैं । इनमें कसाव बहुत होता है, इससे ये चमड़ा सिझाने और रँगाई में काम आते हैं । ताज़े फलों को भेड़ बकरी खाती भी हैं । वैद्यक में बहेड़े का बहुत व्यवहार है । प्रसिद्ध औषध त्रिफला में हड़, बहेड़ा और आँवला ये तीन वस्तुएँ होती हैं । वैद्यक में बहेड़ा स्वादपाकी कसेला, कफ-पित्त-नाशक, उष्णवीर्य्य, शीतल, भेदक, कासनाशक, रूखा, नेत्रों को हितकारी, केशों को सुंदर करनेवाला तथा कृमि और स्वरभंग को नष्ट करनेवाला माना गया है । बहेड़े के पेड़ से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जो पानी में नहीं घुलता । लकड़ी इसकी अच्छी नहीं होती पर तख़्ते, हलके संदूक, हल या गाड़ी बनाने के काम में आती है ।

पर्या०—विभीतक । कलिद्रुम । कल्पवृक्ष । संवर्त्त । अक्ष । तुष । कर्षफल । भूतवास । कुशिक । बहुवीर्य । तैलफल । वासंत । हार्य । विषघ्न । कलिंद । कासघ्न । तोलफल । तिलपुष्पक ।

बहेतू–वि० [हिं० बहना] (१) बहा बहा फिरनेवाला । इधर उधर मारा मारा फिरनेवाला । जिसका कहीं ठौर ठिकाना न हो । (२) आवारा । व्यर्थ घूमनेवाला । निकम्मा ।

बहेरा†–संज्ञा पुं० दे० "बहेड़ा" ।

बहेरी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बहराना] बहाना । हीला । उ०—मोहि न पत्याहु तौ संग हरिदासी हुती पूछि देखि भटू कहि धौं कहा भयो मेरी सौं । प्यारी तोहिं गठौंध न प्रतीति छाड़ि छिया जान दै इतनी बहेरी सौं ।—हरिदास ।

बहेला–संज्ञा पुं० [सं० बाह्य] कुश्ती का एक पेंच ।

बहेलिया–संज्ञा पुं० [सं० बध+हेला] पशु पक्षियों को पकड़ने या मारने का व्यवसाय करनेवाला । शिकारी । अहेरी । व्याध । चिड़ीमार ।

बहोर*†–संज्ञा पुं० [हिं० बहुरना] फेरा । वापसी । पलटा । उ०—सबही लीन्ह बिसाहना अउ घर कीन्ह बहोर । बाम्हन तहवाँ लेइ का गाँठि साँठि सुठि थोर ।—जायसी ।

क्रि० वि० दे० "बहोरि" ।

बहोरना†–क्रि० स० [हिं० बहुरना] (१) लौटाना । वापस करना । फेरना । पलटाना । (२) (चौपायों को) घर की ओर हाँकना । हाँकना ।

बहोरि†*–अव्य० [हिं० बहोर] पुनः । फिर । दूसरी बार । उ०—अस्तुति कीन्ह बहोरी बहोरि ।—तुलसी ।

बाँ–संज्ञा पुं० [अनु०] गाय के बोलने का शब्द ।

† संज्ञा पुं० [हिं० बेर] बार । दफा । बेर । उ०—(क) कै बाँ आवत यहि गली रह्यौ चलाय चलै न । दरसन की साधै रहै सूधे रहत न नैन ।—बिहारी । (ख) मैं तो सौं कै बाँ कह्यौ तू जनि इन्हैं पत्याय । लगालगी करि लोयननि उर में लाई लाय ।—बिहारी ।

बाँक–संज्ञा पुं० [सं० बंक] (१) चंद्राकार बना हुआ टाँड़ जो बच्चों की बाँह में पहनाया जाता है । भुजदंड पर पहनने

का एक आभूषण। (२) एक प्रकार का चाँदी का गहना जो पैरों में पहना जाता है। (३) हाथ में पहनने की एक प्रकार की पटरी या चौड़ी चूड़ी। (४) लोहारों का लोहे का बना हुआ सिकंजा जिसमें जकड़ कर किसी लोहे की चीज़ को रेतते हैं। (५) नदी का मोड़। (६) सरौते के आकार का वह औज़ार जिससे गन्ना छीलते हैं। (७) कमान। धनुष। (८) टेढ़ापन। (९) एक प्रकार की छोटी छुरी जो आकार में कुछ टेढ़ी होती है। (१०) बाँक नामक हथियार चलाने की विद्या। (११) एक प्रकार की कसरत जिसमें बाँक चलाने का अभ्यास किया जाता है। यह कसरत बैठ या लेटकर होती है।

वि० [सं० बंक] (१) टेढ़ा। घुमावदार। (२) बाँका। तिरछा। उ०—बाँक नयन अरु अंजन रेखा। खंजन जान सरदरितु देखा।—जायसी।

संज्ञा पुं० [?] जहाज़ के ढाँचे में वह शहतीर जो खड़े बल में लगाया जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास।

बाँकड़ा†—वि० [हिं० बाँका+ड़ा (प्रत्य०)] वीर। साहसी। बहादुर। दे० "बाँकुरा"।

संज्ञा पुं० [सं० बंक] छकड़े के भाँक की वह लकड़ी जो धुरे के नीचे आड़े बल में लगी होती है।

बाँकड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० बंक+ड़ी (प्रत्य०)] बादले और कलाबत्तू का बना हुआ एक प्रकार का सुनहला या रुपहला फीता जिसका एक सिरा कँगूरेदार होता है और जो स्त्रियों की धोती आदि में शोभा के लिए टाँका जाता है।

बाँकडोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँक] एक प्रकार का शस्त्र। उ०—बाँकडोरी फरस्मानि लै दाव कौं। खंजरौ पंजरौं मैं करैं घाव कौं।—सूदन।

बाँकनल—संज्ञा पुं० [सं० बंकनाल] सोनारों का एक औज़ार जिससे फूँक मार कर टाँका लगाते हैं। यह पीतल की बनी हुई एक छोटी सी नली होती है। इसके एक ओर से फूँक मारी जाती है और दूसरे सिरे से, जो टेढ़ा होता है, दीए की लौ से टाँका गलाकर लगाते हैं।

बाँकना†—क्रि० स० [सं० बंक] टेढ़ा करना। उ०—जेहि जिय मनहि होय सत भारू। परे पहार नहिं बाँकै बारू।—जायसी।

मुहा०—बाल बाँकना=दे० "बाल" के अंतर्गत "बाल बाँका करना"।

‡ क्रि० अ० टेढ़ा होना।

बाँकपन—संज्ञा पुं० [हिं० बाँका+पन (प्रत्य०)] (१) टेढ़ापन। तिरछापन। (२) छैलापन। अलबेलापन। (३) बनावट। सजावट। वज़अदारी। (४) छवि। शोभा।

बाँका—वि० [सं० बंक] (१) टेढ़ा। तिरछा। (२) अत्यंत साहसी। बहादुर। वीर। (३) सुन्दर और बना ठना। जो अपने शरीर को खूब सजाए हो। छैला।

संज्ञा पुं० [सं० बंक] (१) लोहे का बना हुआ एक प्रकार का हथियार जो टेढ़ा होता है और जिससे बाँसफोड़ लोग बाँस काटते छाँटते हैं। उ०—खिन खिन जीव सँडासन आँका। औ नित डोम छुवावहिं बाँका।—जायसी। (२) एक प्रकार का कीड़ा जो धान की फ़सल को हानि पहुँचाता है। (३) बारात आदि में अथवा किसी जलूस में वह बालक या युवक जो खूब सुन्दर वस्त्र और अलंकार आदि से सजा कर तथा पालकी आदि पर बैठा कर शोभा के लिए निकाला जाता है।

बाँकिया—संज्ञा पुं० [सं० बंक=टेढ़ा] नरसिंहा नाम का फूँक कर बजानेवाला बाजा जो आकार में कुछ टेढ़ा होता है। यह पीतल या ताँबे का बनता है।

बाँकी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँका] लोहे का बना हुआ एक औज़ार जिससे बँसफोड़ लोग बाँस की फट्टियाँ काटते, छीलते या दुरुस्त करते हैं।

संज्ञा स्त्री० [अ० बाक़ी] (१) भूमिकर। लगान। (२) दे० "बाक़ी"।

बाँकुड़ी†—संज्ञा स्त्री० दे० "बाँकड़ी"।

बाँकुर, बाँकुरा*†—वि० [हिं० बाँका] (१) बाँका। टेढ़ा। (२) पैना। पतली धार का। (३) कुशल। चतुर। उ०—(क) जौं जगविदित पतितपावन अति बाँकुरे बिरुद न बहते।—तुलसी। (ख) प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका।—तुलसी।

बाँग—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) आवाज़। शब्द। (२) पुकार। चिल्लाहट। (३) वह ऊँचा शब्द वा मंत्रोच्चारण जो नमाज़ का समय बताने के लिए कोई मुल्ला मसजिद में करता है। अज़ान।

क्रि० प्र०—देना।

(४) प्रातःकाल के समय मुरगे के बोलने का शब्द।

क्रि० प्र०—देना।

बाँगड़ू†—वि० [हिं० बांगर] मूर्ख। बेवकूफ़। दुर्बुद्धि।

बाँगर—संज्ञा पुं० [देश०] (१) छकड़ा गाड़ी का वह बाँस जो फड़ के ऊपर लगा कर फड़ के साथ बाँध दिया जाता है। (२) खादर के विरुद्ध वह भूमि जो कुछ ऊँचे पर अवस्थित हो। वह भूमि जो नदी झील आदि के बढ़ने पर भी कभी पानी में न डूबे। (३) अवध में पाए जानेवाले एक प्रकार के बैल।

बाँगा—संज्ञा पुं० [देश०] वह रूई जो ओटी न गई हो। बिनौले समेत रूई। कपास।

बाँगुर–संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं या पक्षियों को फँसाने का जाल। फंदा। उ०—बाँगुर विषम तोराइ, मनहु भाग मृग भागबस।—तुलसी।

बाँचना†–क्रि० स० [सं० वाचन] पढ़ना। उ०—(क) जाइ बिधिहि तिन दीन्ह सो पाती। बाँचत प्रीति न हृदय समाती।—तुलसी। (ख) तर झुरसी ऊपर गरी कज्जल जल छिरकाय। पिय पाती बिन ही लिखी बाँची बिरह बलाय।—बिहारी।

क्रि० स० [सं० बचना] शेष रहना। बाकी रहना। बच रहना। उ०—(क) सत्यकेतु-कुल कोउ न बाँचा। बिप्र साप किमि होय असाँचा।—तुलसी। (ख) तेहि कारण खल अब लगि बाँचा। अब तव काल सीस पर नाचा।—तुलसी। (ग) महिमा मृगी कौन सुकृती की खल बचन बिशिष में बाँची।—तुलसी।

क्रि० स० [हिं० बचाना] बचाना। छोड़ देना। उ०—(क) बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यह मरनहार भा साँचा।—तुलसी। (ख) सो माया रघुबीरहि बाँची। सब काहू मानी करि साँची।—तुलसी।

बांछना†*–संज्ञा स्त्री० [सं० वांछा] इच्छा। अभिलाषा। कामना। आकांक्षा। उ०—यह बांछना होइ क्यों पूरन दासी ह्वै बरु ब्रज रहिये।—सूर।

क्रि० स० (१) चाहना। इच्छा करना। अभिलाषा करना। उ०—महा मुक्ति कोऊ नहिं बाँछै यदपि पदारथ चारी। सूरदास स्वामी मन मोहन मूरति की बलिहारी।—सूर। (२) अच्छी या बुरी चीज़ें चुनना। छाँटना।

बांछा*–संज्ञा स्त्री० [सं० वांछा] इच्छा। कामना। अभिलाषा। आकांक्षा।

बाँछित*–वि० [सं० वांछित] अभिलषित। इच्छित। जिसकी इच्छा की जाय।

बाँछी*–संज्ञा पुं० [सं० वांछिन्] अभिलाषा करनेवाला। चाहनेवाला।

बाँझ–संज्ञा स्त्री० [सं० बंध्या] (१) वह स्त्री जिसे संतान होती ही न हो। बंध्या। (२) कोई मादा जिसे बच्चा न होता हो।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पहाड़ी वृक्ष जिसके फलों की गुठलियाँ बच्चों के गले में, उनको रोग आदि से बचाने के लिये, बाँधी जाती है।

बाँझककोली–संज्ञा स्त्री० [सं० बंध्याककोंटकी] वन ककोड़ा। खेखसा। बन परवल।

बाँझापन, बाँझपना–संज्ञा पुं० [सं० बंध्या+पन (प्रत्य०)] बाँझ होने का भाव। वंध्यात्व।

बाँट–संज्ञा पुं० [हिं० बाँटना का भाव] (१) बाँटने की क्रिया या भाव। (२) भाग। हिस्सा। बखरा।

मुहा०—बाँट पड़ना=हिस्से में आना। किसी में, या किसी के पास बहुत परिमाण में होना। उ०—बिप्रद्रोह जनु बाँट पन्यो हठि सबसों बैर बढ़ावौं।—तुलसी। बाँट में पड़ना=दे० "बाँट पड़ना"।

(३) घास या पयाल का बना हुआ एक मोटा सा रस्सा जिसे गाँव के लोग कुआर सुदी १४ को बनाते हैं और दोनों ओर से कुछ कुछ लोग इसे पकड़ कर तब तक खींचा-तानी करते हैं जब तक वह टूट नहीं जाता।

यौ०—बाँटा चौदस–कुंवार सुदी १४ जिस दिन बाँट खींचा जाता है।

(४) दे० "बाट"।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) गौओं आदि के लिए एक विशेष प्रकार का भोजन जिसमें खरी, बिनौला आदि चीज़ें रहती हैं। इससे उनका दूध बढ़ जाता है। (२) ढेढ़र नाम की घास जो धान के खेतों में उग कर उसकी फसल को हानि पहुँचाती है।

बाँटचूँट–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँट+चूट अनु०] (१) भाग। हिस्सा बखरा। (२) देन लेन। देना दिलाना।

बाँटना–क्रि० स० [सं० वितरण] (१) किसी चीज़ के कई भाग करके अलग अलग रखना। (२) हिस्सा लगाना। विभाग करना। जैसे,—उन्होंने अपनी सारी जायदाद अपने दोनों भाइयों और तीनों लड़कों में बाँट दी। (३) थोड़ा थोड़ा सबको देना। वितरण करना। जैसे, चने बाँटना, पैसे बाँटना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० स० दे० "बाटना"।

बाँटा–संज्ञा पुं० [हिं० बाँटना] (१) बाँटने की क्रिया या भाव। (२) भाग। हिस्सा। (३) गाने बजानेवालों आदि का वह इनाम जो वे आपस में बाँट लेते हैं। हर एक के हिस्से का मिला हुआ पुरस्कार।

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।—पाना—देना।—लेना।

बाँड़–संज्ञा पुं० [देश०] दो नदियों के संगम के बीच की भूमि जो वर्षा में नदियों के बढ़ने से डूब जाती है और फिर कुछ दिनों में निकल आती है। इस भूमि पर खेती अच्छी होती है।

वि० दे० "बाँड़ा"।

बाँड़ा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह पशु जिसकी पूँछ कट गई हो। (२) परिवारहीन पुरुष। वह मर्द जिसके लड़के बाले न हों। (३) तोता।

वि० जिसके पूँछ न हो।

बाँड़ी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) बिना पूँछ की गाय। (२) कोई मादा पशु जिसकी पूँछ न हो या कट गई हो (३) छोटी लाठी। छड़ी।

बाँड़ीबाज़–संज्ञा पुं० [हिं० बाड़ी+फ़ा० बाज] (१) लाठीबाज़। लकड़ी से लड़नेवाला। (२) उपद्रवी। शरारती।

बाँद†–संज्ञा पुं० [फ़ा० बंदा,] [स्त्री० बाँदी] सेवक। दास। उ०—जहाँगीर वै चिस्ती निहकलंक जस चाँद। वै मखदूम जगत के हौं वहि घर को बाँद।—जायसी।

बाँदर–संज्ञा पुं० [सं० वानर] दे० बंदर।

बाँदा–संज्ञा पुं० [सं० बंदाक] (१) एक प्रकार की वनस्पति जो अन्य वृक्षों की शाखाओं पर उगकर पुष्ट होती है।

पर्या०—तरुभुक्। शिखरी। वृक्षरुहा। गंधमादनी। वृक्षादनी। श्यामा।

(२) किसी वृक्ष पर उगी हुई कोई दूसरी वनस्पति।

बाँदी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बंदा] लौंडी। दासी।

मुहा०—बाँदी का बेटा वा जना=(१) परम अधीन। अत्यंत आज्ञाकारी। (२) तुच्छ। हीन। (३) वर्णसंकर। दोगला।

बाँदू–संज्ञा पुं० [सं० बंदी] बँधुवा। क़ैदी। उ०—पाँखन फिर फिर परा सो फाँदू। उड़ि न सकहिँ उरझे, भए बाँदू।—जायसी।

बाँध–संज्ञा पुं० [हिं० बाँधना=रोकना] नदी या जलाशय आदि के किनारे मिट्टी पत्थर आदि का बनाया हुआ धुस्स। यह पानी की बाढ़ आदि रोकने के लिये बनाया जाता है। धुस्स। बंद। उ०—सेत फटिक जस लागै गढ़ा। बाँध उठाय चहूँ गढ़ मढ़ा।—जायसी।

क्रि० प्र०—बाँधना।

बाँधना–क्रि० स० [सं० बंधन] (१) रस्सी, तागे, कपड़े आदि की सहायता से किसी पदार्थ को बंधन में करना। रस्सी, डोरे आदि की लपेट में इस प्रकार दबा रखना कि कहीं इधर उधर हट न सके। कसने या जकड़ने के लिये किसी चीज़ के घेरे में लाकर गाँठ देना। जैसे, हाथ पैर बाँधना। घोड़ा बाँधना। (२) रस्सी, तागा आदि किसी वस्तु में लपेटकर दृढ़ करना जिससे वह वस्तु अथवा रस्सी या तागा इधर उधर हट या सरक न सके। कसने या जकड़ने के लिये रस्सी आदि लपेटकर उसमें गाँठ लगाना। जैसे, रस्सी बाँधना। जंजीर बाँधना। (३) कपड़े आदि के कोनों को चारों ओर से बटोरकर और गाँठ देकर मिलाना जिसमें संपुट सा बन जाय। जैसे, गठरी बाँधना। (४) चारों ओर से बटोरे या लपेटे हुए कपड़े के भीतर करना। जैसे, यह धोती गठरी में बाँध लो। (५) क़ैद करना। पकड़कर बंद करना। (६) नियम, प्रभाव, अधिकार, प्रतिज्ञा या शपथ आदि की सहायता से मर्य्यादित रखना। ऐसा प्रबंध या निश्चय कर देना जिससे किसी को किसी विशेष प्रकार से व्यवहार करना पड़े। पाबंद करना। जैसे,—(क) आपको तो उन्होंने वचन लेकर बाँध लिया है। (ख) सब लोग एक ही नियम से बाँध लिए गए। (७) मंत्र, तंत्र आदि की सहायता से अथवा और किसी प्रकार प्रभाव, शक्ति या गति आदि को रोकना। जैसे,—(क) वह देखते ही साँप को बाँध देते हैं, उसे अपनी जगह से आगे बढ़ने ही नहीं देते। (ख) आजकल पानी नहीं बरसता, मानो किसी ने बाँध दिया है। (८) प्रेम-पाश में बद्ध करना। (९) नियत करना। मुक़र्रर करना। ऐसा करना जिससे कोई वस्तु किसी रूप में स्थिर रहे या कोई बात बराबर हुआ करे। जैसे, हद बाँधना। महसूल बाँधना। महीना बाँधना। (१०) पानी का बहाव रोकने के लिये बाँध आदि बनाना (११) चूर्ण आदि को हाथों से दबाकर पिंड के रूप में लाना। जैसे, लड्डू बाँधना। गोली बाँधना। (१२) मकान आदि बनाना। जैसे, घर बाँधना। (१३) किसी विषय का, वर्णन आदि के लिये, ढाँचा या स्थूल रूप तैयार करना। रचना के लिये सामग्री जोड़ना। उपक्रम करना। योजना करना। न्यास करना। बैठाना। बंदिश करना। जैसे, रूपक बाँधना। मज़मून बाँधना। (१४) क्रम या व्यवस्था आदि ठीक करना। जैसे, क़तार बाँधना। (१५) ठीक करना। दुरुस्त करना। मन में बैठाना। स्थिर करना। जैसे, मंसूबा बाँधना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(१६) किसी प्रकार का अस्त्र या शस्त्र आदि साथ रखना। जैसे, हथियार बाँधना। तलवार बाँधना।

बाँधनीपौरि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँधना+पौरि] पशुओं के बाँधने का स्थान। पशुशाला। उ०—कविग्वाल चरायो लै आयो घरै फिरि बाँधनी-पौरि सुहावनी है।—ग्वाल।

बाँधनू–संज्ञा पुं० [हिं० बाँधना] (१) वह उपाय जो किसी कार्य को आरंभ करने से पहले सोचा या किया जाय। पहले से ठीक की हुई तरकीब या विचार। उपक्रम। मंसूबा।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(२) कोई बात होनेवाली मानकर पहले से ही उसके संबंध में तरह तरह के विचार। ख़याली पुलाव।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(३) झूठा दोष। मिथ्या अभियोग। तोहमत। कलंक। (४) कल्पित बात। मन से गढ़ी हुई बात। (५) कपड़े की रँगाई में वह बंधन जो रँगरेज़ लोग चुनरी या लहरिएदार रँगाई आदि रँगने के पहले कपड़े में बाँधते हैं।

क्रि० प्र०—बाँधना।

(६) चुनरी या और कोई ऐसा वस्त्र जो इस प्रकार बाँध कर रँगा गया हो। उ०—कहै पद्माकर त्यों बाँधनू वसनवारी वा ब्रज-बसनवारी ह्यो हरनवारी है।—पद्माकर।

बांधव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाई। बंधु। (२) नातेदार। रिश्तेदार। (३) मित्र। दोस्त।

बाँब-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो साँप के आकार की होती है।

बाँबी-संज्ञा स्त्री० [सं० वल्मीक] (१) दीमकों के रहने का भीटा। दीमकों का बनाया हुआ मिट्टी का भीटा। बँबौठा। (२) वह बिल जिसमें साँप रहता हो। साँप का बिल।

बाँमी-संज्ञा स्त्री० दे० "बाँबी"।

बाँयाँ-वि० दे० "बायाँ"।

बाँबाँछोड़ी-संज्ञा स्त्री० [?] एक प्रकार का रत्न जो लहसुनिया की जाति का होता है।

बाँबाँरथी-संज्ञा पुं० [सं० बामन] बामन। बौना। बहुत ठिंगना।

बाँस-संज्ञा पुं० [सं० वंश] (१) तृण जाति की एक प्रसिद्ध वनस्पति जिसके कांडों में थोड़ी थोड़ी दूर पर गाँठें होती हैं और गाँठों के बीच का स्थान प्रायः कुछ पोला होता है। भारत में इसकी ठोस, पोली, मोटी, पतली, लंबी, छोटी आदि प्रायः २८ जातियाँ और १०० से ऊपर उपजातियाँ होती हैं। जैसे, नरी, रिंगल, कँटबाँस, बोरो, नलबाँस, देवबाँस, बाँसिनी, गोबिया, ल्तंग। (तिनवा), कोकवा, मेजसई। (तीली), खाँग, तिरिया, करैल, भूली (पैत्रा), बुलंगी आदि। यह गरम देशों में अधिक होता है और बहुत से कामों में आता है। इससे चटाइयाँ, टोकरियाँ, पंखे, कुरसियाँ, टट्टर, छप्पर, छड़ियाँ आदि अनेक चीज़ें बनती हैं। कहीं कहीं तो लोग केवल बाँस से ही सारा मकान बना लेते और कहीं कहीं कच्चे बाँस के चोंगों में भर कर चावल तक पका लेते हैं। इसके पतले रेशों से रस्सियाँ भी बनती हैं। इसके कोपलों का मुरब्बा और अचार भी तैयार किया जाता है। इसके रेशों से मज़बूत कागज़ बनता है।

प्रायः एक ही स्थान पर बहुत से बाँस एक साथ एक झुरमुट में उत्पन्न होते हैं जिसे कोठी कहते हैं। गरम देशों में प्रायः बहुत बड़े तथा मोटे और ठंढे देशों में छोटे और पतले बाँस होते हैं। कुछ बाँस ऐसे होते हैं जो जड़ की ओर अधिक मोटे और सिरे की ओर पतले होते जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी मोटाई सब जगह बराबर रहती है। ऐसे बाँस प्रायः छड़ियाँ और छाते की डंडियाँ बनाने के काम में आते हैं। बहुत बड़े बाँस प्रायः सौ सौ हाथ तक लंबे होते हैं। कुछ छोटे बाँस लता के रूप में भी होते हैं। सब प्रकार के बाँसों में एक प्रकार के फूल लगते हैं; पर कुछ बाँस, विशेषतः बड़े बाँस, फूलने के पीछे प्रायः तुरंत नष्ट हो जाते हैं। बाँस के फूल आकार में जई की बालों के समान होते हैं और उनमें छोटे छोटे दाने होते हैं जो चावल कहलाते हैं और पीसकर ज्वार आदि के आटे में मिलाकर खाये जाते हैं। यह एक विलक्षण बात है कि प्रायः अकाल के समय बाँस अधिकता से फूलते हैं; और उस समय इन्हीं फूलों को खाकर सैकड़ों आदमी अपने प्राण बचाते हैं। भारत में बाँसों का फूलना बहुत ही अशुभ माना जाता है। बाँसों की पत्तियाँ पशुओं को चारे और औषध के रूप में खिलाई जाती हैं। तबाशीर या वंशलोचन भी बाँसों से ही निकलता है।

मुहा०—**बाँस पर चढ़ना**=बदनाम होना। **बाँस पर चढ़ाना**=(१) बदनाम करना। (२) बहुत बढ़ा देना। बहुत उन्नत या उच्च कर देना। (३) मिजाज बढ़ा देना। बहुत आदर करके धृष्ट या घमंडी बना देना। **बाँसों उछलना**=बहुत अधिक प्रसन्न होना। खूब खुश होना।

(२) एक नाप जो सवा तीन गज़ की होती है। लाठा। (३) नाव खेने की लग्गी। (४) पीठ के बीच की हड्डी जो गरदन से कमर तक चली गई है। रीढ़। (५) भाला। (डिं०)

बाँसपूर-संज्ञा पुं० [हिं० बाँस+पूरना] एक प्रकार का महीन कपड़ा। उ०—चंदनौता जो खर दुख भारी। बाँसपूर झिलमिल की सारी।—जायसी।

विशेष—कहते हैं कि यह इतना महीन होता था कि इसका एक थान बाँस के चोंगे में भरा जा सकता था।

बाँसफल-संज्ञा पुं० [हिं० बाँस+फल] एक प्रकार का धान जो संयुक्त प्रांत में पैदा होता है। इसे "बाँसी" भी कहते हैं।

बाँसली-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस+ली (प्रत्य०)] (१) बाँस की बनी हुई बजाने की बंशी। बाँसुरी। मुरली। (२) इसी आकार प्रकार का पीतल लोहे आदि का बना हुआ बजाने का बाजा। बंशी। (३) एक प्रकार की जालीदार लंबी पतली थैली जिसमें रुपया पैसा रखा जाता है और जो कमर में बाँधी जाती है। हिमयानी।

बाँसा-संज्ञा पुं० [हिं० बाँस] बाँस का बना हुआ चोंगे के आकार का वह छोटा नल जो हल के साथ बँधा रहता है। इसी में बोने के लिए अन्न भरा रहता है जो नीचे की ओर से गिर कर खेत में पड़ता है। अरना। तार।

संज्ञा पुं० [सं० वंश=रीढ़] नाक के ऊपर की हड्डी जो दोनों नथनों के ऊपर बीचोबीच रहती है।

मुहा०—**बाँसा फिर जाना**=नाक का टेढ़ा हो जाना (जो मृत्यु-काल के समीप होने का चिह्न माना जाता है।)

संज्ञा पुं० [सं० वंश] पीठ की लंबी हड्डी जो गरदन के नीचे से लेकर कमर तक रहती है। रीढ़।

संज्ञा पुं० [हिं० प्रिय+बाँस] एक प्रकार का छोटा पौधा जिसमें चंपई रंग के बहुत सुंदर फूल लगते हैं। इसके बीज

बहुत छोटे और काले रंग के होते हैं। इसकी लकड़ी के कोयलों से बारूद बनती है। पिया-बाँसा।

बाँसागड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० बाँस+गाड़ना] कुश्ती का एक पेंच।

बाँसिनी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] एक प्रकार का बाँस जिसे बरियाल, ऊना अथवा कुल्लुक भी कहते हैं।

बाँसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस+ई (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का मुलायम पतला बाँस जिससे हुक्के के नैचे आदि बनते हैं। (२) एक प्रकार का गेहूँ जिसकी बाल कुछ काली होती है। (३) एक प्रकार का धान जिसका चावल बहुत सुगंधित, मुलायम और स्वादिष्ट होता है। यह संयुक्त प्रांत में अधिकता से होता है। इसे बाँसफल भी कहते हैं। (४) एक प्रकार की घास। इसके डंठल मोटे और कड़े होते हैं, इसीलिए इसे पशु कम खाते हैं। (५) एक प्रकार का पक्षी। (६) एक प्रकार का पत्थर जिसका रंग सफ़ेदी लिए पीला होता है और जो बड़ी बड़ी सिलों के रूप में पाया जाता है।

बाँसुरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] बाँस का बना हुआ प्रसिद्ध बाजा जो मुँह से फूँक कर बजाया जाता है। यह बाजा प्रायः डेढ़ बालिश्त लंबा होता है और इसका एक सिरा बाँस की गाँठ के कारण बंद रहता है। बंद सिरे की ओर सात स्वरों के लिये सात छेद होते हैं और दूसरी ओर बजाने के लिए एक विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ छेद होता है। उसी छेदवाले सिरे को मुँह में लेकर फूँकते हैं और स्वरोंवाले छेदों पर उँगलियाँ रख कर उन्हें बंद कर देते हैं। जब जो स्वर निकालना होता है तब उस स्वरवाले छेद पर की उँगली उठा लेते हैं। इसी प्रकार बार बार उँगलियाँ रख और उठा कर बजाते हैं। मुरली। बंशी। बाँसली।

बाँसुली-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाँस] (१) एक प्रकार की घास जो अंतर्वेद में होती है। फ़सल के लिये यह बड़ी ही हानिकारक होती है। इसका नाश करना बहुत ही कठिन होता है। (२) दे० "बाँसुरी"।

बाँसुलीकंद-संज्ञा पुं० [हिं० बाँसुली+सं० कंद] एक प्रकार का जंगली सूरन या जमींकंद जो गले में बहुत अधिक लगता है और प्रायः इसी के कारण खाने के योग्य नहीं होता।

बाँह-संज्ञा स्त्री० [सं० बाहु] (१) कंधे से निकल कर दंड के रूप में गया हुआ अंग जिसके छोर पर हथेली या पंजा लगा होता है। भुजा। हाथ। बाहु।

मुहा०—**बाँह गहना या पकड़ना**=(१) किसी की सहायता करने के लिये हाथ बढ़ाना। सहारा देना। हर तरह से मदद देने के लिये तैयार होना। अपनाना। (२) विवाह करना। पाणिग्रहण करना। शादी करना। **बाँह की छाँह लेना**=शरण में आना। **बाँह चढ़ाना**=(१) किसी कार्य के करने के लिये उद्यत होना। कोई काम करने के लिये तैयार होना। (२) लड़ने के लिये तैयार होना। **बाँह देना**=सहायता देना। सहारा देना। मदद करना। उ०—(क) नूपुर जनु मुनिवर कल हंसन रचे नीड़ दै बाँह।—तुलसी। (ख) कीन्ह सखा सुग्रीव प्रभु दीन्ह बाँह रघुबीर।—तुलसी। **बाँह बुलंद होना**=(१) बलवान् या साहसी होना। (२) हृदय उदार होना। दान देने के लिये उठनेवाला हाथ होना।

यौ०—**बाँह-बोल**=रक्षा करने वा सहायता देने का वचन। सहायता करने का वादा। उ०—भाई को न मोह छोह सीता को न तुलसी कहत मैं बिभीषण की कछु न सबील की। लाज बाँह-बोल की, नेवाजे की सँभार सार, साहेब न राम सो, बलैया लीजै सील की।—तुलसी।

(२) बल। शक्ति। भुजबल। उ०—मैन महीप सिंगारपुरी निज बाँह बसाई है मध्य ससी के। (३) सहायक। मददगार।

मुहा०—**बाँह टूटना**=सहायक या रक्षक आदि का न रह जाना।

(४) भरोसा। आसरा। सहारा। शरण। उ०—(क) तेरी बाँह बसत बिसोक लोकपाल सब, तेरो नाम लिए रहै आरति न काहु की।—तुलसी। (ख) तिनकी न काम सकै चांपि छाँह। तुलसी जे बसें रघुबीर बाँह।—तुलसी। (५) एक प्रकार की कसरत जो दो आदमी मिलकर करते हैं। इसमें बारी बारी से हर एक आदमी अपनी बाँह दूसरे के कंधे पर रखता है, और वह उसे अपनी बाँह के ज़ोर से वहाँ से हटाता है। इसमें बाँहों पर ज़ोर पड़ता और उनमें बल आता है। (६) कुरते, कमीज़, अंगे, कोट आदि में लगा हुआ वह मोहरीदार टुकड़ा जिसमें बाँह डाली जाती है। आस्तीन। जैसे,—इस कुरते की बाँह कुछ छोटी हो गई है।

संज्ञा पुं० दे० "बाह" या "बाही"।

बाँहतोड़-संज्ञा पुं० [हिं०] कुश्ती का एक पेंच। इसमें जब गरदन पर जोड़ के दोनों हाथ आते हैं तब उन हाथों पर से अपना एक हाथ उलट कर उसकी जाँघ में अड़ा देते हैं और दूसरा हाथ उसकी बगल से ले जाकर गरदन पर से घुमाते हुए उसकी पीठ पर ले जाते हैं। फिर उसे टाँग से मार कर गिरा देते हैं।

बाँहमरोड़-संज्ञा स्त्री० [हिं०] कुश्ती का पेंच। इसमें जब जोड़ का हाथ कंधे पर आता है तब अपना हाथ उसकी बगल में ले जा कर उसकी उँगलियाँ पकड़ कर मरोड़ देते हैं और दूसरे हाथ से उसकी कोहनी पकड़कर टाँग से मारते हैं जिससे जोड़ गिर जाता है। यह पेंच उसी समय किया

जाता है जब जोड़ शरीर से सटा नहीं रहता, कुछ दूर पर रहता है।

बाँही‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बाँह"।

बा–संज्ञा पुं० [सं० वा=जल] जल। पानी। उ०—(क) राधे तैं कत मान कियो री। धन हर हित रिपु सुत सुजान को नीतन नाहिं दियो री ?। बा-जा-पति अग्रज अंबा के भानुथान सुत हीन हियो री।—सूर। (ख) राधा कैसे प्रान बचावै ?। सेसभार धर जा पति रिपु तिय जलयुत कबहुँ न हेरै। बा-निवासरिपु धर रिपु लै सर सदा सूल सुख पेरै। बा-ज्वर नीतन ते सारँग अति बार बार झर लावै। —सूर।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बार] बार। दफ़ा। मरतबा। उ०—कारे बरन डरावने कत आवत यहि गेह। कै बा लख्यौ, सखी ! लखे लगै थरहरी देह।—बिहारी।

बाइ†–संज्ञा स्त्री० दे० "बाई"।

बाइबिरंग†–संज्ञा स्त्री० [सं० बिडंग] बिडंग।

बाइबिल–संज्ञा स्त्री० [यू० बाइबिल=पुस्तक] ईसाइयों की धर्म्म-पुस्तक। इंजील।

विशेष—यह दो भागों में विभक्त है। एक प्राचीन, जो हिब्रू या इब्रानी भाषा में थी और जिसे यहूदी भी मानते हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, मूसा के ईश्वरदर्शन आदि की कथा है। दूसरी नवीन या अर्वाचीन, जो यूनानी भाषा में थी और जिसमें ईसा की उत्पत्ति, उपदेश, करामात आदि का वर्णन है। ये दोनों ही भाग कई पोथियों के संग्रह हैं। ये संग्रह ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में हुए थे। इन दोनों का अनुवाद संसार की प्रायः सभी भाषाओं में हो गया है।

बाइस–संज्ञा पुं० [फ़ा०] सबब। कारण। वजह।

संज्ञा पुं० दे० "बाईस"।

बाइसवाँ–वि० दे० "बाईसवाँ"।

बाइसिकिल–संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रसिद्ध गाड़ी जिसमें आगे पीछे केवल दो ही पहिए होते हैं। इसके बीच में खाली बैठने भर को छोटा सा स्थान होता है और आगे की ओर दोनों हाथ टेकने और गाड़ी को घुमाने के लिये अड्डे के आकार की एक टेक होती है। इसमें नीचे की ओर एक चक्कर लगा रहता है जो पैर के दबाव से घूमता है, जिससे गाड़ी बहुत तेज़ी से चलती है। पैर-गाड़ी।

बाई–संज्ञा स्त्री० [सं० वायु] त्रिदोषों में से वात दोष जिसके प्रकोप से मनुष्य बेसुध या पागल हो जाता है। दे० "वात"।

क्रि० प्र०—आना।—उतरना।

मुहा०—**बाई की झोंक**=(१) वायु का प्रकोप। (२) आवेश। **बाई चढ़ना** (१) वायु का प्रकोप होना। (२) घमंड आदि के कारण व्यर्थ की बातें करना। **बाई पचना**=(१) वायु का प्रकोप शांत होना। (२) घमंड टूटना। शेखी मिटना। **बाई पचाना**=घमंड तोड़ना। गर्व चूर करना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बाबा, बाबी] (१) स्त्रियों के लिये एक आदरसूचक शब्द। जैसे, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार राजपूताने, गुजरात और दक्षिण आदि देशों में अधिक होता है।

(२) एक शब्द जो उत्तरी प्रांतों में प्रायः वेश्याओं के नाम के साथ लगाया जाता है।

बाईस–संज्ञा पुं० [सं० द्वाविंशति, प्रा० बाईसा] बीस और दो की संख्या वा अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२२।

वि० जो बीस और दो हो। बीस से दो अधिक।

बाईसवाँ–वि० [हिं० बाईस+वाँ (प्रत्य०)] गिनने में बाईस के स्थान पर पड़नेवाला। जो क्रम में बाईस के स्थान पर हो।

बाईसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाईस+ई (प्रत्य०)] (१) बाईस वस्तुओं का समूह। (२) बाईस पद्यों का समूह। जैसे, खटमल-बाईसी।

बाउ‡–संज्ञा पुं० [सं० वायु] हवा। पवन।

बाउर†–वि० [सं० वातुल] [स्त्री० बाउरी] (१) बावला। पागल। (२) भोला भाला। सीधा सादा। (३) मूर्ख। अज्ञान। (४) जो बोल न सके। मूक। गूँगा।

†(५) बुरा।

बाउरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बावली"।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास।

बाऊ‡–संज्ञा पुं० [सं० वायु] हवा। पवन।

बाएँ–क्रि० वि० [हिं० बांयां] बाईं ओर। बाईं तरफ़।

बाकचाल–वि० [सं० वाक्+चल] बहुत अधिक बोलनेवाला। बकी। बातूनी। मुँहज़ोर। उ०—बड़ो बाकचाल थाहि सूझत न काल निज, कहौ तो बिचारि कपि कौन विधि मारिये।—हनुमान।

बाकना*‡–क्रि० अ० [सं० वाक] बकना। प्रलाप करना। उ०—आम को कहत अमिली है अमिली को आम, आक ही अनारन को आंकिबो करति है।..................साँवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी बाल, बन बन बावरी लौं बाकिबो करति है।—पद्माकर।

बाकरी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] पाँच महीने की ब्याई गाय।

बाकला–संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की बड़ी मटर जिसकी फलियों की तरकारी बनती है।

बाकली–संज्ञा स्त्री० [सं० बकुल] एक प्रकार का वृक्ष जिसके पत्ते रेशम के कीड़ों को खिलाये जाते हैं। यह वृक्ष बहुत ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी भूरे रंग की और बहुत मज़बूत होती है

तथा खेती के औज़ार आदि बनाने के काम में आती है। इसकी छाल से चमड़ा भी सिझाया जाता है। यह आसाम और मध्य-प्रदेश में बहुत अधिकता से होता है। इसे धौरा और बोंदार भी कहते हैं।

बाकस‡–संज्ञा पुं० दे० "बक्स"।

बाकसी–क्रि० अ० [अं० बैकमेल] जहाज़ के पाल को एक ओर से दूसरी ओर करने का काम।

बाका*‡–संज्ञा स्त्री० [सं० वाक] वाणी। बोलने की शक्ति।

बाक़ी–वि० [अ०] जो बच रहा हो। अवशिष्ट। शेष। उ०—मन धन हतो बिसात जो सो तोहि दियो बताय। बाकी बाकी बिरह की प्रीतम भरी न जाय।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—निकलना।—बचना।—रहना।

संज्ञा स्त्री० (१) गणित में वह रीति जिसके अनुसार किसी एक संख्या या मान को किसी दूसरी संख्या या मान में से घटाते हैं। दो संख्याओं या मानों का अंतर निकालने की रीति। (२) वह संख्या जो एक संख्या को दूसरी संख्या में से घटाने पर निकले। घटाने के पीछे बची हुई संख्या या मान।

क्रि० प्र०—निकालना।

बाकी–अव्य० [अ० बाक़ी] लेकिन। मगर। परंतु। पर। (बोलचाल) उ०—मन-धन हतो बिसात जो सो तोहि दियो बताय। बाकी बाकी बिरह की प्रीतम भरी न जाय।—रसनिधि।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का धान। उ०—पाही सो सीधी लाची बाकी। सुभटी बगरी बरहन हाकी।—जायसी।

बाकुंभा–संज्ञा पुं० [हिं० कुंभी] कुंभी के फूल का सुखाया हुआ केसर जो खाँसी और सर्दी में दवा की तरह दिया जाता है।

बाखरि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बखरी"। उ०—जानति हौं गोरस को लेबो वाही बाखरि माँझ।—सूर।

बाग़–संज्ञा पुं० [अ०] वह स्थान जहाँ शोभा और मनोविनोद आदि के लिये अनेक प्रकार के छोटे बड़े पेड़-पौधे लगाए गए हों। उद्यान। उपवन। वाटिका।

संज्ञा स्त्री० [सं० वल्गा] लगाम।

मुहा०—बाग मोड़ना=किसी ओर प्रवृत्त करना। किसी ओर घुमाना। उ०—महमूद ग़ज़नवी ने अपने लश्कर की बाग हिंदुस्तान की तरफ़ मोड़ी।—शिवप्रसाद।

बागडोर–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाग+डोर=रस्सी] (१) वह रस्सी जो घोड़े की लगाम में बाँधी जाती है और जिसे पकड़कर साईस लोग उसे टहलाते हैं। (२) लगाम।

बागना†–क्रि० अ० [सं० बक=चलना] चलना। फिरना। घूमना। टहलना। उ०—देश देश हम बागिया ग्राम ग्राम की खोरि। ऐसा जियरा ना मिला जो लेइ फटकि पछोरि।—कबीर।

‡ क्रि० अ० [सं० वाक्–बोलना] कहना। बोलना।

बाग़बान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो बाग की रखवाली, प्रबंध और सजावट आदि करता हो। माली।

बाग़बानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बाग़बान का पद। माली की जगह। (२) बागबान का काम। माली का काम।

बागर–संज्ञा पुं० [देश०] (१) नदी किनारे की वह ऊँची भूमि जहाँ तक नदी का पानी कभी पहुँचता ही नहीं। उ०—अविगत गति जानी न परै।..............बागर ते सागर करि राखै चहूँ दिसि नीर भरै। पाहन बीच कमल बिकसाहीं जल में अगिनि जरै।—सूर।

(२) दे० "बाँगुर"।

बागल*†–संज्ञा पुं० [सं० बक] बगला। बक। उ०—(क) बिन विद्या सों नर सोहत यों। बहु हंसन में इक बागल ज्यों।—रघुनाथदास। (ख) जिन हरि की चोरी करी गए राम गुन भूलि। ते विधना बागल रचे रहे उरधमुख झूलि।—कबीर।

बागवान–संज्ञा पुं० दे० "बागबान"।

बागवानी–संज्ञा स्त्री० दे० "बागबानी"।

बागा–संज्ञा पुं० [फ़ा० बाग] अंगे की तरह का पुराने समय का एक पहनावा जो घुटनों तक लंबा होता है और जिस में छाती पर तीन बंद लगते हैं। जामा।

बाग़ी–संज्ञा पुं० [अ०] वह जो प्रचलित शासन-प्रणाली अथवा राज्य के विरुद्ध विद्रोह करे। विद्रोही। राजद्रोही।

बाग़ीचा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] छोटा बाग। उपवन। उद्यान।

बागुर†–संज्ञा पुं० [देश०] पक्षी या मृग आदि फँसाने का जाल जिसे बागौर भी कहते हैं।

बागेसरी‡–संज्ञा स्त्री० [सं० वागीश्वरी] (१) सरस्वती। (२) संपूर्ण जाति की एक रागिनी जो किसी के मत से मालकोश राग की स्त्री और किसी के मत से भैरव, केदार, गौरी और देवगिरी आदि कई रागों तथा रागिनियों के मेल से बनी हुई संकर रागिनी है।

बाघंबर–संज्ञा पुं० [सं० व्याघ्रांबर] (१) बाघ की खाल जिसे लोग विशेषतः साधु, त्यागी और अमीर, बिछाने आदि के काम में लाते हैं। (२) एक प्रकार का रोएँदार कंबल जो दूर से देखने पर बाघ की खाल के समान जान पड़ता है।

बाघ–संज्ञा पुं० [सं० व्याघ्र] शेर नाम का प्रसिद्ध हिंसक जंतु। **विशेष**—दे० "शेर"।

बाघा–संज्ञा पुं० [हिं० बाघ] (१) चौपायों का एक रोग। इसमें पशुओं का पेट फूल जाता है और साँस रुकने से वे मर जाते हैं। (२) कबूतरों की एक जाति का नाम।

बाघी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की गिल्टी जो अधिकतर गरमी के रोगियों के पेड़ू और जाँघ की संधि में होती है। यह बहुत कष्टदायक होती है और जल्दी दबती नहीं। बहुधा यह पक जाती है और चीरनी पड़ती है।

बाघुल–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की छोटी मछली।

बाचना‡–क्रि० अ० [हिं० बचना] बचना। सुरक्षित रहना।

क्रि० स० बचाना। सुरक्षित रखना।

क्रि० स० [सं० वाचन] पढ़ना। पाठ करना। बाँचना।

बाचा–संज्ञा स्त्री० [सं० वाचा] (१) बोलने की शक्ति। (२) वचन। बातचीत। वाक्य। उ०—(क) रावन कुंभकरन वर माँगत शिव विरंचि बाचा छले।—तुलसी। (ख) तब कुमार बोल्यो अस बाचा। मैं कंगाल दास हौं साँचा।—रघुराज। (३) प्रतिज्ञा। प्रण। उ०—बाचा पुरुष तुरुक हम बूझा। परगट मेरु, गुप्त छल सूझा।—जायसी।

बाचाबंध*–वि० [सं० वाचा+बद्ध] जिसने किसी प्रकार का प्रण किया हो। प्रतिज्ञाबद्ध। उ०—बाड़ चढ़ती बेलरी उरझी आसा फंद। टूटे पर जूटै नहीं भई जो बाचाबंध।—कबीर।

बाछ–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० बच्छ=वर्ष] इजमाल। गाँव में मालगुज़ारी, चंदे, कर आदि का प्रत्येक हिस्सेदार के हिस्से के अनुसार परता। बछौटा। बेहरी।

संज्ञा पुं० दे० "बाछा"।

बाछड़ा†–संज्ञा पुं० दे० "बछड़ा"।

बाछा–संज्ञा पुं० [सं० वत्स, प्रा० बच्छ] (१) गाय का बच्चा। बछड़ा। (२) लड़का। बच्चा। उ०—मैं आवत हौं तुम्हरे पाछे। भवन जाहु तुम मेरे बाछे।—सूर।

बाज़–संज्ञा पुं० [अ० बाज] (१) एक प्रसिद्ध शिकारी पक्षी जो प्रायः सारे संसार में पाया जाता है। यह प्रायः चील से छोटा पर उससे अधिक भयंकर होता है। इसका रंग मटमैला, पीठ काली और आँखें लाल होती हैं। यह आकाश में उड़ती हुई छोटी मोटी चिड़ियों या कबूतरों आदि को झपटकर पकड़ लेता है। प्रायः शौक़ीन लोग इसे दूसरे पक्षियों का शिकार करने के लिये पालते भी हैं। इसकी कई जातियाँ होती हैं। (२) एक प्रकार का बगला। (३) तीर में लगा हुआ पर।

प्रत्य० [फ़ा०] एक प्रत्यय जो शब्दों के अंत में लगकर रखने, खेलने, करने या शौक़ रखनेवाले आदि का अर्थ देता है। जैसे, दग़ाबाज़, कबूतरबाज़, नशेबाज़, दिल्लगीबाज़ आदि।

वि० [फ़ा०] वंचित। रहित।

मुहा०—बाज़ आना=(१) खोना। रहित होना। जैसे,—हम १०) से बाज़ आए। (२) दूर होना। अलग होना। पास न जाना। जैसे,—तुमको कई बार मना किया, पर तुम शरारत से बाज़ नहीं आते हो। बाज़ करना=रोकना। मना करना। उ०—देखिबे ते अँखियान को बाज के लाज के भाजि के भीतर आई।—रघुनाथ। बाज रखना=रोकना। मना करना। बाज रहना=दूर रहना। अलग रहना।

वि० [अ० बअज़] कोई कोई। कुछ। थोड़े। कुछ विशिष्ट। जैसे,—(क) बाज़ आदमी बड़े ज़िद्दी होते हैं। (ख) बाज़ मौक़ों पर चुप रहने से भी काम बिगड़ जाता है। (ग) बाज़ चीज़ें देखने में तो बहुत अच्छी होती हैं, पर मज़बूत बिलकुल नहीं होतीं।

क्रि० वि० बग़ैर। बिना। (क्व०) उ०—अब तेहि बाज राँक भा डोलौं। होय सार तो बरगों बोलौं।—जायसी।

संज्ञा [सं० वाजिन्] घोड़ा। उ०—इततें सातो जात हरि उतते आवत राज। देखि हिये संशय कह्यो गह्यो चरन तजि बाज।—विश्राम।

संज्ञा पुं० [सं० वाद्य] (१) वाद्य। बाजा। उ०—महा मधुर बहु बाज बजाई। गावहिं रामायन सुर छाई।—रघुराज। (२) बजने या बाजे का शब्द। (३) बजाने की रीति। (४) सितार के ५ तारों में से पहला जो पक्के लोहे का होता है।

संज्ञा पुं० [देश०] ताने के सूतों के बीच में देने की लकड़ी।

बाजड़ा–संज्ञा पुं० दे० "बाजरा"।

बाज़दावा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] अपने अधिकारों का त्याग। अपने दावे या स्वत्व से बाज़ आना।

क्रि० प्र०—लिखना।—लिखाना।

बाजन*†–संज्ञा पुं० दे० "बाजा"।

बाजना–क्रि० अ० [हिं० बजना] (१) बाजे आदि का बजना। उ०—गुंजत अलिगन कुंज बिहंगा। बाजत बाजन उठत तरंगा।—विश्राम। (२) लड़ना। भिड़ना। झगड़ना। (३) कहलाना। प्रसिद्ध होना। पुकारा जाना। (४) लगना। आघात पहुँचना। उ०—उठि बहोरि मारुति युवराजा। हने कोपि तेहि घाव न बाजा।—तुलसी।

‡वि० बजनेवाला। जो बजता हो।

क्रि० अ० [सं० व्रज्] जा पहुँचना। सामने मौजूद हो जाना। (क्व०)

बाजरा–संज्ञा पुं० [सं० वर्जरी] एक प्रकार की बड़ी घास जिसकी बालों में हरे रंग के छोटे छोटे दाने लगते हैं। इन दानों की गिनती मोटे अन्नों में होती है। प्रायः सारे उत्तरी, पश्चिमी और दक्षिणी भारत में लोग इसे खाते हैं। इस अनाज की खेती बहुत सी बातों में ज्वार की खेती से मिलती जुलती होती है। यह ख़रीफ़ की फ़सल है और प्रायः ज्वार के कुछ पीछे वर्षा ऋतु में बोई और

उससे कुछ पहले अर्थात् जाड़े के आरम्भ में काटी जाती है। इसके खेतों में खाद देने या सिंचाई करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इसके लिये पहले तीन चार बार ज़मीन जोत दी जाती है और तब बीज बो दिए जाते हैं। एकाध बार निराई करना अवश्य आवश्यक होता है। इसके लिये किसी बहुत अच्छी ज़मीन की आवश्यकता नहीं होती और यह साधारण से साधारण ज़मीन में भी प्रायः अच्छी तरह होता है। यहाँ तक कि राजपुताने की बलुई भूमि में भी यह अधिकता से होता है। गुजरात आदि देशों में तो अच्छी बरारी रूई बोने से पहले ज़मीन तैयार करने के लिये भी इसे बोते हैं। बाजरे के दानों का आटा पीसकर और उसकी रोटी बनाकर खाई जाती है। इसकी रोटी बहुत ही बलवर्द्धक और पुष्टिकारक मानी जाती है। कुछ लोग दानों को योंही उबाल कर और उसमें नमक मिर्च आदि डालकर खाते हैं। इस रूप में इसे "खिचड़ी" कहते हैं। कहीं कहीं लोग इसे पशुओं के चारे के लिये ही बोते हैं। वैद्यक में यह बादी, गरम, रूखा, अग्निदीपक, पित्त को कुपित करनेवाला, देर में पचनेवाला, कांतिजनक, बलवर्द्धक और स्त्रियों के काम को बढ़ानेवाला माना गया है। जोंधरिया। बाजड़ा।

बाजहर-संज्ञा पुं० दे० "जहरमोरा (१)"।

बाजा-संज्ञा पुं० [सं० वाद्य] कोई ऐसा यंत्र जो गाने के साथ अथवा यों ही, स्वर (विशेषतः राग रागिनी) उत्पन्न करने अथवा ताल देने के लिये बजाया जाता हो। बजाने का यंत्र। वाद्य।

विशेष—साधारणतः बाजे दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें से स्वर या राग-रागिनियाँ आदि निकलती हैं। जैसे, बीन, सितार, सारंगी, हारमोनियम, बाँसुरी आदि और दूसरे वे जिनका उपयोग केवल ताल देने में होता है। जैसे, मृदंग, तबला, ढोल, मजीरा आदि। विशेष— दे० "वाद्य"।

क्रि० प्र०—बजना।—बजाना।

यौ०—**बाजा-गाजा**=अनेक प्रकार के बजते हुए बाजों का समूह।

बाज़ाब्ता-क्रि० वि० [फ़ा] ज़ाब्ते के साथ। नियमानुसार। कायदे के मुताबिक़। जैसे,—बाज़ाब्ता दरख़ास्त दो।

वि० जो ज़ाब्ते के साथ हो। जो नियमानुकूल हो। जैसे,— अभी बाज़ाब्ता नक़ल नहीं मिली है।

बाज़ार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थों की दूकानें हों। वह जगह जहाँ सब तरह की चीज़ों की, अथवा किसी एक ही तरह की चीज़ की बहुत सी दूकानें हों।

मुहा०—**बाज़ार करना**=चीज़ें ख़रीदने के लिये बाज़ार जाना। **बाज़ार गर्म होना**=(१) बाज़ार में चीज़ों या ग्राहकों आदि की अधिकता होना। ख़ूब लेन देन या ख़रीद बिक्री होना। (२) ख़ूब काम चलना। काम ज़ोरों पर होना। जैसे,—आज कल गिरिफ़्तारियों का बाज़ार गर्म है। **बाज़ार तेज़ होना**= (१) बाज़ार में किसी चीज़ की माँग बहुत अधिक होना। गाहकों की अधिकता होना। (२) किसी चीज़ का मूल्य वृद्धि पर होना। (३) काम ज़ोरों पर होना। ख़ूब काम चलना। **बाज़ार मंद होना**=(१) बाज़ार में किसी चीज़ की माँग कम होना। ग्राहकों की कमी होना। (२) किसी पदार्थ के मूल्य में निरंतर ह्रास होना। दाम घटना। (३) कारबार कम चलना। **बाज़ार भाव**=वह मूल्य जिस पर कोई चीज़ बाज़ार में मिलती या बिकती हो। प्रचलित मूल्य। **बाज़ार लगना**= बहुत सी चीज़ों का इधर उधर ढेर लगना। बहुत सी चीज़ों का यों ही सामने रखा होना। **बाज़ार लगाना**=चीज़ों को इधर उधर फैला देना। अटाला लगाना।

(२) वह स्थान जहाँ किसी निश्चित समय, बार, तिथि या अवसर आदि पर सब तरह की दूकानें लगती हों। हाट। पैंठ।

मुहा०—**बाज़ार लगना**=बाज़ार में दूकानों का खुलना।

बाज़ारी-वि० [फ़ा०] (१) बाज़ार-संबंधी। बाज़ार का। (२) मामूली। साधारण। जो बहुत अच्छा न हो। (३) बाज़ार में इधर उधर फिरनेवाला। मर्य्यादा रहित। जैसे, बाज़ारी लौंडा। (४) अशिष्ट। जैसे, बाज़ारी बोली, बाज़ारी प्रयोग।

यौ०—**बाज़ारी औरत**=वेश्या। रंडी।

बाज़ारू-वि० दे० "बाज़ारी"।

बाजि*†-संज्ञा पुं० [सं० वाजिन्] (१) घोड़ा। (२) बाण। (३) पक्षी। (४) अडूसा।

वि० चलनेवाला।

बाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) दो व्यक्तियों या दलों में ऐसी प्रतिज्ञा जिसके अनुसार यह निश्चित हो कि अमुक बात होने या न होने पर हम तुम को इतना धन देंगे अथवा तुमसे इतना धन लेंगे। ऐसी शर्त जिसमें हार जीत के अनुसार कुछ लेन-देन भी हो। शर्त। दाँव। बदान।

क्रि० प्र०—बदना।—लगना।—लगाना।

मुहा०—**बाज़ी मारना**=बाज़ी जीतना। दाँव जीतना। **बाज़ी ले जाना**=किसी बात में आगे बढ़ जाना। श्रेष्ठ ठहरना।

(२) आदि से अंत तक कोई ऐसा पूरा खेल जिसमें शर्त या दाँव लगा हो। जैसे,—दो बाज़ी ताश हो जाय, तो चलें। (३) खेल में प्रत्येक खिलाड़ी के खेलने का समय जो एक दूसरे के बाद क्रम से आता है। दाँव।

संज्ञा पुं० [सं० वाजिन्] घोड़ा ।

† संज्ञा पुं० [हिं० बाजा] वह जिसका काम बाजा बजाना हो । बजनिया ।

बाज़ीगर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] जादू के खेल करने वाला । जादूगर । ऐंद्रजालिक । उ०—के कहुँ रंक, कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे ।—सूर ।

बाजु-अव्य० [सं० वर्जन । मि० फ़ा० बाज] (१) बिना । बग़ैर । उ०—(क) नख शिख सुभग श्यामघन तन को दरसन हरत बिथाजु । सूरदास मन रहत कौन बिधि बदन बिलोकनि बाजु ।—सूर । (ख) का भा जोग कहानी कथे । निकस न घीउ बाजु दधि मथे ।—जायसी । (ग) परी कया भुइँ रोअई कहँरे जीउ बलि भीउ । को उठाइ बैसारइ बाजु पिरीतम जीउ !—जायसी । (२) अतिरिक्त । सिवा ।

बाज़ू-संज्ञा पुं० [फ़ा० बाज़ू] (१) भुजा । बाहु । बाँह । विशेष—दे० "बाँह" ।

यौ०—बाजूबंद ।

(२) बाँह पर पहनने का बाजूबंद नाम का गहना । विशेष—दे० "बाजूबंद" । (३) सेना का किसी ओर का एक पक्ष । (४) वह जो हर काम में बराबर साथ रहे और सहायता दे । जैसे, भाई, मित्र आदि (बोलचाल) । (५) एक प्रकार का गोदना जो बाँह पर गोदा जाता है और बाजूबंद के आकार का होता है । (६) पक्षी का डैना ।

बाजूबंद-संज्ञा पुं० [फ़ा०] बाँह पर पहनने का एक प्रकार का गहना जो कई आकार का होता है । इसमें बहुधा बीच में एक बड़ा चौकोर नग या पटरी होती है और उसके आगे पीछे छोटे छोटे और नग या पटरियाँ होती हैं जो सब की सब तागे या रेशम में पिरोई रहती हैं । बाजू । बिजायठ । भुजबंद ।

बाजूबीर‡-संज्ञा पुं० दे० "बाजूबंद" ।

बाझन*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बझना=फँसना] (१) बझने या फँसने का भाव । फँसावट । (२) उलझन । पेंच । (३) झंझट । बखेड़ा । (४) लड़ाई । झगड़ा ।

बाझना-क्रि० अ० दे० "बझना" । उ०—नकबेसरि बंसी के संभ्रम भौंह मीन अकुलात । मनु ताटंक कमठ घूँघट उर जाल बाझि अकुलात ।—सूर ।

बाट-संज्ञा पुं० [सं० वाट=मार्ग] मार्ग । रास्ता ।

मुहा०—बाटकरना=रास्ता खोलना । मार्ग बनाना । उ०—जीत्यो जरासंध बँदि छोरी । जुगल कपाट बिदारि बाट करि लतनि जुही सँधि चोरी ।—सूर । बाट जोहना या देखना=प्रतीक्षा करना । आसरा देखना । बाट पड़ना=रास्ते में आ आ कर बाधा देना । तंग करना । पीछे पड़ना । बाट पड़ना=डाका पड़ना । हरण होना । उ०—तरनिउँ मुनि-घरनी होइ जाई । बाट परइ, मोरि नाव उड़ाई ।—तुलसी । बाट पारना=डाका मारना । मार्ग में लूट लेना । उ०—राम लों न जान दीनी बाट ही में खरी कीनी बाट पारिबे को बली अंगद प्रवीन है ।—हनुमान । बाट लगाना=(१) रास्ता दिखलाना । मार्ग बतलाना । (२) किसी काम करने का ढंग बताना । (३) मूर्ख बनाना ।

संज्ञा पुं० [सं० वटक] (१) पत्थर आदि का वह टुकड़ा जो चीज़ें तौलने के काम आता है । बटखरा । (२) पत्थर का वह टुकड़ा जिससे सिल पर कोई चीज़ पीसी जाय ।

† संज्ञा स्त्री० [हिं० बटना] बटने का भाव । रस्सी आदि में पड़ी हुई ऐंठन । बटन । बल ।

बाटना-क्रि० स० [हिं० बट्टा या बाट] सिल पर बट्टे आदि से पीसना । चूर्ण करना । उ०—कुच विष बाटि लगाय कपट करि बालघातिनी परम सुहाई ।—सूर ।

क्रि० स० दे० "बटना" । उ०—कह गिरधर कविराय सुनो हो धूर को बाटी ?—गिरधर ।

बाटली-संज्ञा स्त्री० [अं० बंटलाइन] जहाज़ के पाल में ऊपर की ओर लगा हुआ वह रस्सा जो मस्तूल के ऊपर से होकर फिर नीचे की ओर आता है । इसी को खींच कर पाल तानते हैं । (लश०)

मुहा०—बाटली चापना=रस्से को खींचकर पाल तानना ।

संज्ञा स्त्री० [अं० बाटल] बोतल । बड़ी शीशी ।

बाटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाग । फुलवारी । (२) गद्य काव्य का एक भेद । वह गद्य जिसमें कुसुम और गुच्छ गद्य मिला हो ।

बाटी-संज्ञा स्त्री० [सं० बटी] (१) गोली । पिंड । (२) अंगारों या उपलों आदि पर सेंकी हुई एक प्रकार की गोली या पेड़े के आकार की रोटी । अँगाकड़ी । लिट्टी । उ०—दूध बरा उत्तम दधि बाटी दाल मसूरी की रुचिकारी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वर्तुल । मि० हिं० बटुआ] (१) चौड़ा और कम गहरा कटोरा । (२) तसला नाम का बरतन ।

बाडकिन-संज्ञा पुं० [अं०] (१) छापेखाने में काम आनेवाला एक प्रकार का सूआ जिसमें पीछे की ओर लकड़ी का दस्ता लगा रहता है । इससे कंपोजिटर लोग कंपोज़ किये हुए मैटर में से गलती से लगा हुआ अक्षर निकालते और उसकी जगह दूसरा अक्षर बैठाते हैं । (२) दफ्तरीख़ाने में काम आनेवाला एक प्रकार का सूआ जिसका पिछला सिरा बहुत मोटा होता है । यह किताबों या दफ्तियों आदि में, ठोंक कर छेद करने के काम में आता है ।

बाढ़-संज्ञा स्त्री० [हिं० बाढ] (१) बाढ़ । वृद्धि । (२) तेज़ी । ज़ोर । उ०—बाढ़ चढ़ती बेलरी उरझी आसार्फद । टूटे पर जूटे नहीं भई जो बाचाबंध ।—कबीर ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] स्त्रियों का बाँह पर पहनने का टाँड नामक गहना।

बाड़व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण। (२) बड़वाग्नि। बड़वानल। (३) घोड़ियों का झुंड।
वि० बड़वा-संबंधी।

बाड़ा–संज्ञा पुं० [सं० वाट] (१) चारों ओर से घिरा हुआ कुछ विस्तृत ख़ाली स्थान। (२) वह स्थान जिसमें पशु रहते हों। पशुशाला।

बाडिस–संज्ञा स्त्री० [अं०] स्त्रियों के पहनने की एक प्रकार की अँगरेज़ी ढंग की कुरती।

बाड़ी†–संज्ञा स्त्री० [सं० वारी] वाटिका। बारी। फुलवारी।
संज्ञा स्त्री० दे० "बाडिस"।

बाडीगार्ड–संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी राजा या बहुत बड़े राजकर्मचारी के साथ रहनेवाले उन थोड़े से सैनिकों का समूह जिनका काम उसके शरीर की रक्षा करना होता है। शरीर-रक्षक। (२) इन सैनिकों में से कोई एक सैनिक।

बाढ़–संज्ञा स्त्री० [हिं० बढ़ना] (१) बढ़ने की क्रिया या भाव। बढ़ाव। वृद्धि। अधिकता। (२) अधिक वर्षा आदि के कारण नदी या जलाशय के जल का बहुत तेज़ी के साथ और बहुत अधिक मान में बढ़ना। जल-प्लावन। सैलाब।
संयो० क्रि०—आना।—उतरना।
(३) वह धन जो व्यापार आदि में बढ़े। व्यापार आदि से होनेवाला लाभ। (४) बंदूक़ या तोप आदि का लगातार छूटना।
मुहा०—बाढ़ दगना=तोप का लगातार छूटना।
संज्ञा स्त्री० [सं० वाट, हिं० बारी] तलवार, छुरी आदि शस्त्रों की धार। सान।

बाढ़कढ़–संज्ञा स्त्री० [डिं०] (१) तलवार। (२) खड्ग।

बाढ़ना*†–क्रि० अ० (१) दे० "बढ़ना"। उ०—(क) मंडल बाँधि दिनहुँ दिन बाढ़त लहर-दार जन ताप नेवारे।—देवस्वामी। (ख) एक बार जल बाढ़त भयऊ। सब ब्रह्मांड बूड़ि तहँ गयऊ।—विश्राम।
(२) दे० "बढ़ना"।

बाढ़ाली–संज्ञा स्त्री० [डिं०] (१) तलवार। (२) खड्ग।

बाढ़ि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बाढ़"। उ०—भुज सिर बाढ़ि देखि रिपु केरी।—तुलसी।

बाढ़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाढ़] (१) बाढ़। बढ़ाव। (२) अधिकता। वृद्धि। ज़्यादती। (३) वह ब्याज जो किसी को अन्न उधार देने पर मिलता है। (४) लाभ। मुनाफ़ा। नफ़ा।

बाढ़ावान‡–संज्ञा पुं० [हिं० बाढ़=धार+सं० वान्] वह जो छुरी कैंची आदि की धार तेज़ करता हो। औज़ारों पर सान रखनेवाला।

बाण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लंबा और नुकीला अस्त्र जो धनुष पर चढ़ाकर चलाया जाता है। तीर। सायक। शर।
विशेष—प्राचीन काल में प्रायः सारे संसार में इस अस्त्र का प्रयोग होता था; और अब भी अनेक स्थानों के जंगली और अशिक्षित लोग अपने शत्रुओं का संहार या आखेट आदि करने में इसी का व्यवहार करते हैं। यह प्रायः लकड़ी या नरसल की डेढ़ हाथ की छड़ होती है जिसके सिरे पर पैना लोहा, हड्डी, चकमक आदि लगा रहता है जिसे फल या गाँसी कहते हैं। यह फल कई प्रकार का होता है, कोई लंबा कोई अर्द्ध चन्द्राकार, कोई गोल। लोहे का फल कभी कभी ज़हर में बुझा भी लिया जाता है जिससे आहत की मृत्यु प्रायः निश्चित हो जाती है। कहीं कहीं इसके पिछले भाग में पर आदि भी बाँध देते हैं जिससे यह सीधा और तेज़ी के साथ जाता है। हमारे यहाँ धनुर्वेद में बाणों और उसके फलों आदि का विशद रूप से वर्णन है। वि० दे० "धनुर्वेद"।
पर्य्या०—पृषत्क। विशिख। खग। आशुग। कलंब। मार्गण। पत्री। रोप। वीरतर। कांड। विपर्षक। शर। वाजी। पत्रवाह। अस्त्र-कंटक।
(२) गाय का थन। (३) आग। (४) भद्रमुंज नामक तृण। रामसर। सरपत। (५) निशाना। लक्ष्य। (६) पाँच की संख्या। (कामदेव के पाँच बाण माने हैं; इसीसे बाण से ५ की संख्या का बोध होता है।) (७) शर का अगला भाग। (८) नीली कटसरैया। (९) इक्ष्वाकु वंशीय विकुक्षि के पुत्र का नाम। (१०) राजा बलि के सौ पुत्रों में से सब से बड़े पुत्र का नाम। इनकी राजधानी पाताल की शोणितपुरी थी। इन्होंने शिव से वर प्राप्त किया था जिससे देवता लोग अनुचरों के समान इनके साथ रहते थे। कहते हैं कि युद्ध के समय स्वयं महादेव इनकी सहायता करते थे। उषा, जो अनिरुद्ध को ब्याही थी, इन्हीं की कन्या थी। (११) संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि। वि० दे० "बाणभट्ट"।

बाणक‡–संज्ञा पुं० [सं० बणिक] (१) महाजन। (२) बनिया। (डिं०)

बाणगंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के सोमेश्वर गिरि से निकली हुई एक प्रसिद्ध नदी। कहते हैं कि यह रावण के बाण चलाने से निकली थी, उसी से इसका यह नाम पड़ा।

बाणपति–संज्ञा पुं० [सं०] बाणासुर के स्वामी, महादेव (डिं०)

बाणभट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि जो कादंबरी के पूर्वार्द्ध का रचयिता था। यह सम्राट् हर्षवर्द्धन की सभा का पंडित था और इसने कई काव्य तथा नाटक लिखे थे। कादंबरी को समाप्त करने से पहले ही

इसकी मृत्यु हो गई थी। हर्षचरित में इसने हर्षवर्द्धन का चरित्र लिखा है।

बाणविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिससे बाण चलाना आवे। बाण चलाने की विद्या। तीरंदाज़ी।

बाणावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाणासुर की पत्नी का नाम।

बाणासुर-संज्ञा पुं० [सं०] राजा बलि के सौ पुत्रों में से सब से बड़े पुत्र का नाम जो बहुत ही वीर, गुणी और सहस्रबाहु था। पाताल की शोणितपुरी इसकी राजधानी थी। इसने हज़ारों वर्ष तक तपस्या करके शिव से वर प्राप्त किया था। युद्ध में स्वयं शिव आकर इसकी सहायता किया करते थे। श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की पत्नी उषा इसी बाण की कन्या थी। उषा के कहने से जब उसकी सखी चित्रलेखा आकाशमार्ग से अनिरुद्ध को ले आई थी, तब समाचार पाकर बाण ने अनिरुद्ध को क़ैद कर लिया था। यह सुनते ही श्रीकृष्ण ने बाण पर आक्रमण किया और युद्धक्षेत्र में उसके सब हाथ काट डाले। शिव जी के कहने से केवल चार हाथ छोड़ दिए गए थे। इसके उपरांत बाण ने अपनी कन्या उषा का विवाह अनिरुद्ध के साथ कर दिया।

बाणिज्य-संज्ञा पुं० [सं०] व्यापार। रोज़गार। सौदागरी।

बात-संज्ञा स्त्री० [सं० वार्ता] (१) सार्थक शब्द या वाक्य। किसी वृत्त या विषय को सूचित करनेवाला शब्द या वाक्य। कथन। वचन। वाणी। बोल। जैसे,—(क) उसके मुँह से एक बात न निकली। (ख) तुम्हारी बातें मैं क्यों सहूँ?

क्रि० प्र०—कहना।—निकलना।—निकालना।

यौ०—बातचीत।

मुहा०—**बात उठाना**=(१) कड़वी बातें सहना। कठोर वचन सहना। सख्त सुस्त बरदाश्त करना। (२) कथन का पालन करना। बात पर चलना। मान रखना। (३) बात न मानना। बचन खाली करना। **बात उलटना**=(१) कहे हुए वचन के उत्तर में उसके विरुद्ध बात कहना। बात का जवाब देना। जैसे, बड़ों की बात नहीं उलटनी चाहिए। (२) एक बार कुछ कह कर फिर दूसरी बार कुछ और कहना। बात पलटना। **बात कहते**=उतनी देर में जितनी में मुँह से बात निकले। तुरंत। झट। फ़ौरन। पल भर में। **बात काटना**=(१) किसीके बोलते समय बीच में बोल उठना। बात में दखल देना। (२) कथन का खंडन करना। जो कहा गया हो उसके विरुद्ध कहना। **बात कान पड़ना**=बात का सुना या जाना जाना। जैसे, जहाँ यह बात किसी के कान पड़ी, तुरंत फैल जायगी। **बात की बात में**=दम भर में। झट। फ़ौरन। तुरंत। **बात ख़ाली जाना**=प्रार्थना या कथन का निष्फल होना। बात का न माना जाना। **बात गढ़ना**=झूठ बात कहना। मिथ्या प्रसंग की उद्भावना करना। बात बनाना। उ०—झूठे कहत स्याम अँग सुन्दर बातैं गढ़त बनाया—सूर। **बात गाँठ या आँचल में बाँधना**=बात को न भूलना। कहा हुआ बराबर याद रखना। **बात घूँट जाना**-दे० "बात पी जाना"। **बात चबा जाना**=कुछ कहते कहते रुक जाना; अथवा एक बार कही हुई बात को ढंग से दूसरे रूप में ला देना। **(मन में) बात जमाना या बैठाना**=दृढ़ निश्चय कराना कि जो कहा गया वह ठीक है। **बात टलना**=कथन का अन्यथा होना। जैसा कहा गया हो वैसा न हो। **बात टालना**=(१) पूछी हुई बात का ठीक जवाब न देकर इधर उधर की और बात कहना। सुनी अनसुनी करना। (२) आदेश, प्रार्थना या शिक्षा के अनुकूल कार्य्य न करना। कही हुई बात पर न चलना। जैसे, वे हमारी बात कभी टाल नहीं सकते। **बात डालना**=कहना न मानना। कथन का पालन न करना। **बात दुहराना**=(१) पूछी हुई बात फिर कहना। (२) किसी की कही हुई बात का उलट कर जवाब देना। जैसे,—बड़ों की बात दुहराते हो? **मुँह से बात न आना**=मुँह से शब्द न निकलना। **बात न पूछना**=अवज्ञा से ध्यान न देना। तुच्छ समझ कर बात तक न करना। कुछ भी क़दर न करना। जैसे,—तुम्हारी यही चाल रही तो मारे मारे फिरोगे, कोई बात न पूछेगा। उ०—सिर हेठ, ऊपर चरन संकट, बात नहिँ पूछै कोऊ।—तुलसी। **बात न करना**=घमंड के मारे न बोलना। **बात नीचे डालना**=अपनी बात का खंडन होने देना। अपनी बात के ऊपर किसी और की बात होने देना। जैसे,—वह ऐसी मुँहज़ोर है कि एक बात नहीं नीचे डालती। **बात पकड़ना**=(१) कथन में परस्पर विरोध या दोष दिखाना। किसी के कथन को उसी के कथन द्वारा अयुक्त सिद्ध करना। बातों से क़ायल करना। (२) तर्क करना। हुज्जत करना। **(किसी की) बात पर जाना**=(१) बात का ख्याल करना। बात पर ध्यान देना। बात का भला बुरा मानना। जैसे,—तुम भी लड़कों की बात पर जाते हो। (२) कहने पर भरोसा करना। कथन के अनुसार चलना। जैसे,—उसकी बात पर जाओगे तो धोखा खाओगे। **बात पलटना**=दे० "बात बदलना"। **बात पी जाना**=(१) बात सुन कर भी उस पर ध्यान न देना। सुनी अनसुनी करना। (२) अनुचित या कठोर वचन सुनकर भी चुप हो रहना। दर गुज़र करना। जाने देना। **बात पूछना**=(१) खोज रखना। ख़बर लेना। सुख या दुःख है, इसका ध्यान रखना। (२) क़दर करना। **बात फूटना**=शब्द मुँह से निकलना। **बात फेंकना**=व्यंग्य छोड़ना। ताने मारना। बोली ठोली मारना। **बात फेरना**=(१) चलते हुए प्रसंग को बीच से उड़ाकर

दूसरा विषय छेड़ना। बात पलटना। (२) बात बड़ी करना। बात का समर्थन करके उसका महत्व बढ़ाना। **बात बढ़ना**=बात का विवाद के रूप में हो जाना। झगड़ा होना। तकरार होना। **जैसे,—पहले तो लोग यों ही आपस में कह सुन रहे थे, धीरे धीरे बात बढ़ गई। बात बढ़ाना**=विवाद करना। कहा सुनी करना। झगड़ा करना। **जैसे,—तुम्हीं चुप रह जाओ, बात बढ़ाने से क्या फ़ायदा! (किसी की) बात बढ़ाना**= बात का समर्थन करना। बात की पुष्टि करके उसे महत्व देना। **बात बदलना**=एक बार एक बात कहनी दूसरी बार दूसरी। कह कर पलटना। मुकरना। **बात बनाना**=मिथ्या प्रसंग की उद्भावना करना। झूठ बोलना। बहाना करना। व्यर्थ वाग्विस्तार करना। उ०—**तुम जो राजनीति सब जानत बहुत बनावत बात।—सूर। बात बात में**=(१) हर एक बात में। जो कुछ कहता है, सब में। **जैसे,—वह बात बात में झूठ बोलता है।** (२) बार बार। हर बार। पुनः पुनः। **बात मारना**=(१) बात दबाना। घुमा फिरा कर असल बात न कहना। (२) व्यंग्य बोलना। ताना मारना। **बात मुँह पर लाना**=बात बोलना। वाक्य का उच्चारण करना। **बात में बात निकालना**=बाल की खाल निकालना। किसी के कथन में दोष निकालना। **(किसी की) बात रखना**=(१) कहना मानना। कथन या आदेश का पालन करना। (२) मनोरथ पूरा करना। मन रखना। **(अपनी) बात रखना**=(१) अपने कहे अनुसार करना। जैसा कहा था वैसा करना। (२) हठ करना। दुराग्रह करना। **जैसे,—तुम अपनी ही बात रखोगे कि दूसरे की भी मानोगे? बात लगाना**=किसी के विरुद्ध इधर उधर बात कहना। लगाई बझाई करना। कान भरना। निंदा करना। पिशुनता करना। **बात है**=(१) कथन मात्र है। सत्य नहीं है। ठीक नहीं है। **जैसे,—वह निराहार रहते हैं, यह तो बात है। बातें छाँटना**=(१) बहुत बातें करना। व्यर्थ बोलना। (२) बढ़ बढ़ कर बोलना। **बातें बघारना**=(१) बातें बनाना। बहुत बोलना। ऐसी बातें करना जिनमें तत्व न हो। (२) बढ़ बढ़ कर बोलना। डींग हाँकना। शेखी मारना। **बातें बनाना**=(१) व्यर्थ बोलना। ऐसी बातें कहना जिनमें तत्व न हो। झूठमूठ इधर उधर की बातें कहना। (२) बहाना करना। खुशामद करना। चापलूसी करना। (४) डींग हाँकना। बढ़ बढ़ कर बोलना। **बातें मिलाना**=हाँ में हाँ मिलना। प्रसन्न करने के लिये सुहाती बातें कहना। **बातें सुनना**=कठोर बचन सहना। दुर्वचन सहना। कड़वी बात बरदाश्त करना। **बातें सुनाना**=ऊँचा नीचा सुनाना। भला बुरा कहना। कठोर वचन कहना। **बातों आना**=दे० "बातों में आना"। **बातों की झड़ी बाँधना**=बात पर बात कहते जाना। लगातार बोलते जाना। **बातों का धनी**=सिर्फ़ जबानी जमा खर्च करनेवाला। बहुत कुछ कहनेवाला पर करनेवाला कुछ नहीं। बातें बनानेवाला। **बातों पर जाना**=(१) बातों पर ध्यान देना। (२) कहने के अनुसार चलना। **बातों में आना**= बातों पर विश्वास करके उनके अनुकूल चलना। **बातों में उड़ाना**= (१) (किसी विषय को) हँसी में टालना। इधर उधर की अनावश्यक बातें कह कर असल बात पर ध्यान न देना। (२) बहाली देना। टालमटूल करना। **बातों में धर लेना**=कही हुई बातों में से किसी अंश को लेकर यह सिद्ध कर देना कि बातें यथार्थ नहीं हैं। युक्ति से बातों का खंडन कर देना। क़ायल करना। **बातों में फुसलाना या बहलाना**=केवल बचनों से संतुष्ट या दूसरी ओर प्रवृत्त करना। बातें कहकर संतोष या समाधान करना। **बातों में लगाना**=बातें कहकर उसमें लीन रखना। वार्त्तालाप में प्रवृत्त करना। उ०—**बातन ही सुत लाय लियो। तब लौं मथि दधि जननि जसोदा माखन करि हरि-हाथ दियो।—सूर।**

(२) **चर्चा। ज़िक्र। प्रसंग।**

मुहा०—बात आना=दे० "बात उठना।" **बात उठना**=चर्चा छिड़ना। प्रसंग आना। किसी विषय पर कुछ कहा सुना जाना। **बात उठाना**=चर्चा चलाना। जिक्र करना। किसी विषय पर कुछ कहना आरंभ करना। उ०—**अब समझी मैं बात सबन की झूठे ही यह बात उठावति।—सूर। बात चलना**=प्रसंग आना। चर्चा छिड़ना। किसी विषय पर कुछ कहा सुना जाना। **बात चलाना**=चर्चा छेड़ना। जिक्र करना। उ०—**फिरि फिरि नृपति चलावत बात। कहौ सुमंत कहाँ तें पलटे प्रान-जिवन कैसे बन जात।—सूर। (अमुक की) बात मत चलाओ**=इस संबंध में (अमुक की) चर्चा करना (दृष्टांत या उदाहरण आदि के लिए) व्यर्थ है। (अमुक का) दृष्टांत देना ठीक नहीं है। **जैसे,—उनकी बात मत चलाओ; वे रुपये-वाले हैं सब कुछ खर्च कर सकते हैं। बात चलाना**=चर्चा चलाना। बात छेड़ना। उ०—**ऊधो कत ये बातें चालीं। कछु मीठी कुछ करुई हरि की अंतर में सब साली।—सूर (अमुक की) बात क्या चलाते हो?**=दे० "बात मत चलाओ"। **बात छिड़ना**=दे० "बात चलना"। **बात छेड़ना**= दे० "बात चलाना"। **बात निकालना**=बात चलाना। **बात पड़ना**=किसी विषय का प्रसंग प्राप्त होना। चर्चा छिड़ना। **जैसे,—बात पड़ी इस लिये मैंने कहा; नहीं तो मुझसे क्या मतलब? बात मुँह पर लाना**=(किसी विषय की) चर्चा कर बैठना। **जैसे,—किसी के सामने यह बात मुँह पर न लाना।**

(३) **फैली हुई चर्चा। प्रचलित प्रसंग। ख़बर। अफ़वाह। किंवदंती। प्रवाद।**

मुहा०—बात उड़ना=चारों ओर चर्चा फैलना। किसी विषय का लोगों के बीच प्रसिद्ध होना या प्रचार पाना। उ०—**झूठी ही यह बात उड़ी है राधा कान्ह कहत नर नारी। रिस की बात सुता के मुख सों सुनत हँसी मन ही मन भारी।—सूर।** (किसी पर) **बात आना**=दोषारोपण होना। दोष लगना। कलंक लगना। बुराई आना। **बात फैलना**=चर्चा फैलना। **बात लोगों के मुँह से चारों ओर सुनाई पड़ना। प्रसिद्ध होना।** **बात फैलाना**=इधर उधर लोगों में चर्चा करना। प्रसिद्ध करना। **बात बहना**=चारों ओर चर्चा फैलना। बात उड़ना। उ०—**जो हम सुनति रही सो नाहीं। ऐसी ही यह बात बहानी।—सूर।** (किसी पर) **बात रखना, लगाना या लाना**=दोष लगाना। कलंक मढ़ना। इलज़ाम लगाना। लांछन रखना।

(४) **कोई वृत्त या विषय जो शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सके या मन में लाया जा सके। जानी जाने या जताई जानेवाली वस्तु या स्थिति। मामला। माजरा। हाल। व्यवस्था।** जैसे,—(क) **बात क्या है कि वह अब तक नहीं आया?** (ख) **उनकी क्या बात है!** (ग) **इस चिट्ठी में क्या बात लिखी है?** उ०—**क्यों करि झूठी मानिए सखि सपने की बात।—पद्माकर।**

मुहा०—**बात का बतंगड़ करना**=(१) साधारण विषय या घटना को व्यर्थ विस्तार देकर वर्णन करना। छोटे से मामले को बहुत बढ़ा कर कहना। (२) किसी साधारण घटना को बहुत बड़ा या भीषण रूप देना। छोटे से मामले को व्यर्थ बहुत पेचीला या भारी बना देना। **बात ठहरना**=किसी विषय में यह स्थिर होना कि ऐसा होगा। मामला तै होना। जैसे, **हमारे उनके यह बात ठहरी है कि कल सबेरे यहाँ से चल दें।** **बात डालना**—विषय उपस्थित करना। मामला पेश करना। जैसे,—**यह बात पंचों के बीच डाली जाय।** **बात न पूछना**=दशा पर ध्यान न देना। ख्याल न करना। परवा न रखना। उ०—**मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।—सूर।** **बात पर धूल डालना**=किसी काम या घटना को भूल जाना। मामले का ख्याल न करना। गई कर जाना। **बात पी जाना**—जो कुछ हो गया हो उसका ख्याल न करना। जाने देना। दर गुज़र करना। **बात बढ़ना**=मामले का तूल खींचना। किसी प्रसंग या घटना का घोर रूप धारण करना। **जैसे,—अब बात बहुत बढ़ गई है; समझाना बुझाना व्यर्थ है।** **बात बढ़ाना**=मामले को तूल देना। किसी प्रसंग, परिस्थिति या घटना को घोर रूप देना। **जैसे,—जो हुआ सो हुआ, अब अदालत में जाकर क्यों बात बढ़ाते हो।** **बात बनना**=(१) काम बनना। प्रयोजन सिद्ध होना। मामला दुरुस्त होना। सिद्धि प्राप्त होना। उ०—**खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनहि नहिं बाता।—तुलसी।** (२) संयोग या घटना का अनुकूल होना। अच्छी परिस्थिति होना। बोलबाला होना। अच्छा रंग होना। **बात बनाना या सँवारना**=काम बनाना। कार्य्य सिद्ध करना। मतलब गाँठना। सिद्धि प्राप्त करना। संयोग या परिस्थिति को अनुकूल करना। **जैसे,—वह तो सारा मामला बिगाड़ चुका था, तुमने आकर बात बना दी।** उ०—(क) **चतुर गभीर राम महतारी। बीच पाय निज बात सँवारी।—तुलसी।** (ख) **भरत भगति तुम्हरे मन आई। तजहु सोच बिधि बात बनाई।—तुलसी।** **बात बात पर या बात बात में**=प्रत्येक प्रसंग पर। थोड़ा सा भी कुछ होने पर। हर काम में। **जैसे,—तुम बात बात में बिगड़ा करते हो, कैसे काम चलेगा?** **बात बिगड़ना**=(१) कार्य्य नष्ट होना। काम चौपट होना। मामला खराब होना। अच्छी परिस्थिति न होकर बुरी परिस्थिति हो जाना। (२) प्रयोजन सिद्ध न होना। विफलता होना। **जैसे,—तुम्हारे वहाँ न जाने से सारी बात बिगड़ गई।** **बात बिगाड़ना**=कार्य्य नष्ट करना। काम चौपट करना। मामला खराब करना। बुरी परिस्थिति लाना। उ०—**बिधि बनाइ सब बात बिगारी।—तुलसी।**

(५) **घटित होनेवाली अवस्था। प्राप्त संयोग। परिस्थिति।** जैसे,—(क) **इससे एक बात होगी कि वह फिर कभी न आवेगा।** (ख) **रास्ते में कोई बात हो जाय तो कौन जिम्मेदार होगा?** (६) **दूसरे के पास पहुँचाने के लिए कहा हुआ वचन। संदेश। सँदेसा। पैग़ाम।** उ०—**ऊधो! हरि सों कहियो बात।—सूर।** (७) **परस्पर कथोपकथन। संवाद। वार्त्तालाप। गप-शप। वाग्विलास।** जैसे,—**क्यों बातों में दिन खोते हो?**

यौ०—**बातचीत।**

मुहा०—**बातों बातों में**=बातचीत करते हुए। कथोपकथन के बीच में। जैसे,—**बातों ही बातों में वह बिगड़ खड़ा हुआ।**

(८) **किसी के साथ कोई व्यवहार या संबंध स्थिर करने के लिए परस्पर कथोपकथन। कोई मामला तै करने के लिये उसके संबंध में चर्चा।** जैसे,—(क) **ब्याह की बात।** (ख) **इस मामले में मुझसे उनसे बात हो गई है।** (ग) **जिससे पहले बात हुई है उसी के हाथ सौदा देंगे।**

यौ०—**बातचीत।**

मुहा०—**बात ठहरना**=(१) ब्याह ठीक होना। विवाह-संबंध स्थिर होना। (२) किसी प्रकार का निश्चय होना। **बात लगना**=विवाह के संबंध में प्रस्ताव आदि होना। **बात लगाना**=विवाह का प्रस्ताव करना। ब्याह संबंध स्थिर करने के लिये कहीं कहना सुनना। **बात लाना**=वर या कन्या पक्ष से विवाह का प्रस्ताव लाना।

(९) फँसाने या धोखा देने के लिए कहे हुए शब्द या किए हुए व्यवहार। जैसे,—तुम उसकी बातों में न आना।

मुहा०—बातों में आना या जाना=कथन या व्यवहार से धोखा खाना।

(१०) झूठ या बनावटी कथन। मिस। बहाना। जैसे,—यह सब तो उसकी बात है। (११) अपने भावी आचरण के संबंध में कहा हुआ वचन। प्रतिज्ञा। क़ौल। वादा। जैसे,—वह अपनी बात का पक्का है।

मुहा०—बात का धनी, पक्का या पूरा=प्रतिज्ञा का पालन करनेवाला। क़ौल का सच्चा। मुँह से जो कहे वही करनेवाला। दृढ़प्रतिज्ञ। **बात का कच्चा या हेठा**=प्रतिज्ञा भंग करनेवाला। **अपनी बात पर न रहनेवाला**=प्रतिज्ञा भंग करनेवाला। क़ौल पूरा न करनेवाला। **बात पक्की करना**=(१) परस्पर स्थिर करना कि ऐसा ही होगा। दृढ़ निश्चय करना। (२) प्रतिज्ञा या संकल्प पुष्ट करना। वचन देकर और वचन लेकर किसी विषय में कर्त्तव्य स्थिर करना। **बात पक्की होना**=(१) स्थिर होना कि ऐसा ही होगा। (२) प्रतिज्ञा या संकल्प का दृढ़ होना। **बात पर आना**=अपने कहे हुए वचन के अनुसार ही काम करने के लिए उतारू होना। जैसा मैंने कहा वैसा ही हो, ऐसा हठ या आग्रह करना। **बात पर जाना**=कथन या प्रतिज्ञा पर विश्वास करना। कहे का भरोसा करना। **(अपनी) बात रखना**=वचन पूरा करना। प्रतिज्ञा का पालन करना। उ०—**बेद विदित बहु धर्म चलाउब राखु हमारी बाता।—रघुराज। बात हारना**=प्रतिज्ञा करना। वादा करना। वचन देना। **जैसे,—मैं बात हार चुका हूँ नहीं तो तुम्हीं को देता।**

(१२) वचन का प्रमाण। साख। प्रतीति। विश्वास। जैसे,—जिसकी बात गई उसकी जात गई।

मुहा०—(किसीकी) बात जाना=बात का प्रमाण न रहना। (लोगों को) एतबार न रह जाना। **बात खोना**=साख बिगाड़ना। ऐसा काम करना जिससे लोग एतबार करना छोड़ दें। **बात बनना**=साख रहना। विश्वास रहना। **जैसे,—अभी बाज़ार में उनकी बात बनी है। बात हेठी होना**=बात का प्रमाण या साख न रह जाना। वचन का विश्वास या प्रतिष्ठा उठ जाना। बात की क़दर न रह जाना।

(१३) मानमर्यादा। थाप। प्रतिष्ठा। इज़्ज़त। क़दर। जैसे,—अपनी बात अपने हाथ। उ०—सुनो राजा लंकपति, आज तेरी बात अति, कौन सुरपति, धनपति, लोकपति है।—तुलसी।

मुहा०—बात खोना=प्रतिष्ठा नष्ट करना। इज्जत गँवाना। ऐसा काम करना जिससे लोग आदर प्रतिष्ठा करना छोड़ दें। **बात जाना**=प्रतिष्ठा नष्ट होना। इज्जत न रह जाना। उ०—**उचित यासु निग्रह अब भाई। नतरु बात जदुकुल की जाई।—गोपाल। बात बनना**=प्रतिष्ठा प्राप्त होना। इज्जत पैदा होना। रंग जमना। लोगों पर अच्छा प्रभाव होना। **जैसे,—दस आदमियों में उनकी बात बनी हुई है। (अपनी) बात बना लेना**=लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना। लोगों के बीच इज्जत पैदा करना। नाम या यश प्राप्त करना। हैसियत पैदा करना। **बात बिगड़ना** (१) प्रतिष्ठा न रहना। इज्जत न रह जाना। लोगों के बीच वैसा आदर या सम्मान न होना। (२) हैसियत बिगड़ना। दिवाला निकलना। **बात बिगाड़ना**=प्रतिष्ठा नष्ट करना। इज्जत खोना। ऐसा काम करना जिससे साख या मर्यादा न रह जाय। **बात रख लेना**=प्रतिष्ठा नष्ट न होने देना। इज्जत न बिगड़ने देना। **बात रह जाना**=मान मर्यादा रह जाना। इज्जत रह जाना।

(१४) अपनी हैसियत, योग्यता, गुण सामर्थ्य इत्यादि के संबंध में कथन या वाक्य। जैसे,—अब तो वह बहुत लंबी चौड़ी बातें करता है। (१५) आदेश। उपदेश। सीख। नसीहत। जैसे,—बड़ों की बात माना करो।

क्रि० प्र०—पर चलना।—मानना।

मुहा०—बात उठाना=बात न मानना। कथन या आदेश का पालन न करना। कहे अनुसार न चलना।

(१६) रहस्य। भेद। मर्म। गुप्त विषय। जैसे,—इसके भीतर कोई बात है।

मुहा०—बात खुलना=गुप्त विषय प्रकट होना। छिपी व्यवस्था ज्ञात होना। छिपा मामला जाहिर होना। **बात फूटना**=गुप्त विषय का कई आदमियों पर प्रकट हो जाना। रहस्य प्रकाशित होना।

(१७) तारीफ़ की बात। प्रशंसा का विषय। जैसे,—उससे पहले पहुँचो तब तो बात। (१८) उक्ति। चमत्कारपूर्ण कथन। (१९) गूढ़ अर्थ। अभिप्राय। मानी। उ०—चतुरन की कहिए कहा बात बात में बात।

मुहा०—बात पाना=छिपा हुआ अर्थ समझ जाना। गूढ़ार्थ जान जाना। **जैसे,—वह बात पाकर हँसा है, यों ही नहीं।**

(२०) गुण या विशेषता। खूबी। जैसे,—यह भी अच्छा है; पर उसकी कुछ बात ही और है। (२१) ढंग। ढब। तौर। (२२) प्रश्न। सवाल। समस्या। जैसे,—उनकी बात का जवाब दो। (२३) अभिप्राय। तात्पर्य। आशय। विचार। भाव। जैसे,—किसी के मन की बात क्या जानूँ? (२४) कामना। इच्छा। चाह। उ०—ऊधो! मन की (बात) मन ही माहिँ रही।—सूर। (२५) कथन का सार। कहने का असल मतलब। तत्व। मर्म। जैसे,—तुमने अभी बात नहीं पाई, यों ही बिना समझे बोल रहे हो।

मुहा०—बात तक पहुँचना=दे० "बात पाना"। बात पाना= असल मतलब समझ जाना।

(२६) काम। कार्य्य। कर्म। आचरण। व्यवहार। जैसे,—(क) उसे हराना कोई बड़ी बात नहीं। (ख) एक बात करो तो वह यहाँ से चला जाय। (ग) कोई बात ऐसी न करो जिससे उन्हें दुःख पहुँचे। (२७) संबंध। लगाव। तअल्लुक़। जैसे, उन दोनों के बीच ज़रूर कोई बात है। (२८) स्वभाव। गुण। प्रकृति। लक्षण। जैसे,—उसमें बहुत सी बुरी बातें हैं। (२९) वस्तु। पदार्थ। चीज़। विषय। जैसे,—उन्हें कमी किस बात की है जो दूसरों के यहाँ माँगने जायँगे। उ०—कितक बात यह धनुष रुद्र को सकल विश्व कर लैहों। आज्ञा पाय देव रघुपति की छिनक माँझ हठि गैहों।—सूर। (३०) बेचनेवाली वस्तु का मूल्य कथन। दाम। मोल। जैसे,—यहाँ तो एक बात होती है; लीजिए या न लीजिए। (३१) उचित पथ या उपाय। कर्तव्य। जैसे,—तुम्हारे लिए तो अब यही बात है कि जाकर उनसे क्षमा माँगो। उ०—पर्‍यो सोच भारी नृप निपट खिसानो भयो गयो उठि "सागर में बूड़ौं" यही बात है।—प्रियादास।

बातकंटक—संज्ञा पुं० [सं० वातकंटक] एक वायु रोग।

बातचीत—संज्ञा स्त्री० [हिं० बात+चिंतन] दो या कई मनुष्यों के बीच कथोपकथन। दो या कई आदमियों का एक दूसरे से कहना सुनना। वार्त्तालाप।

मुहा०—बातचीत चलना, या छिड़ना=दे० "बात (२)"।

बातड़†—वि० [सं० वातल] वायु युक्त। वायुवाला।

बातप—संज्ञा पुं० [सं० वातप] हिरन। (अनेकार्थ०)

बातफ़रोश—संज्ञा पुं० [हिं० बात+फ़ा० फ़रोश] (१) बात बनानेवाला। बात गढ़नेवाला। (२) झूठ मूठ इधर उधर की बात कहनेवाला।

बातर—संज्ञा पुं० [देश०] पंजाब में धान बोने का एक ढंग।

बातलारोग—संज्ञा पुं० [सं०] एक योनिरोग जिसमें सुई चुभने की सी पीड़ा होती है।

बाती†—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्त्ती] (१) लंबी सलाई के आकार में बटी हुई रुई या कपड़ा। (२) कपड़े या रुई को बटकर बनाई हुई सलाई जो तेल में डुबा कर दिया जलाने के काम में आती है। बत्ती। उ०—यही सराव सप्तसागर घृत बाती शैल घनी।—सूर। (ख) परम प्रकास रूप दिन राती। नहिँ कछु चहिय दिया घृत बाती।—तुलसी। (३) वह लकड़ी जो पान के खेत के ऊपर बिछा कर छप्पर छाते हैं।

बातुल—वि० [सं० वातुल] (१) पागल। सनकी। बौड़हा। उ०—(क) बातुल मातुल की न सुनी सिष का तुलसी कपि लंक न जारी। (ख) बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।—तुलसी।

बातूनिया—वि० दे० "बातूनी"।

बातूनी—वि० [हिं० बात+ऊनी (प्रत्य०)] बकवादी। बहुत बोलने या बात करनेवाला।

बाथू—संज्ञा पुं० [सं० वस्तुक, प्रा० बात्थुअ] बथुआ नाम का साग।

बाद—संज्ञा पुं० [सं० वाद] (१) बहस। तर्क। खंडन मंडन की बात चीत। उ०—सजल कठौता भरि जल कहत निषाद। चढ़हु नाव पग धोइ करहु जनि बाद।—तुलसी। (२) विवाद। झगड़ा। हुज्जत। उ०—(क) गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी, प्रभु सों विवाद कै के बाद न बढ़ायहौं।—तुलसी। (ख) जे अबूझ ते बाद बढ़ावैं।—विश्राम०।

मुहा०—बाद बढ़ाना=झगड़ा बढ़ाना।

(३) नाना प्रकार के तर्क वितर्क द्वारा बात का विस्तार। झकझक। तूल कलामी। उ०—त्यों पदमाकर वेद पुरान पढ़्यो, पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो।—पद्माकर। (४) प्रतिज्ञा। शर्त्त। बाज़ी। होड़ाहोड़ी। उ०—कूदत करि रघुनाथ-सपथ उपरा उपरी करि बाद।—तुलसी।

मुहा०—बाद मेलना=शर्त बदना। बाजी लगाना। उ०—बाद मेलि कै खेल पसारा। हार देय जो खेलत हारा।—जायसी।

अव्य० [सं० वाद; हिं० बादि=वाद करके, हठ करके, व्यर्थ] व्यर्थ। निष्प्रयोजन। फ़िज़ूल। बिना मतलब। उ०—भए बटाऊ नेह तजि बाद बकति बेकाज। अब अलि देत उराहनो उर उपजति अति लाज।—बिहारी।

अव्य० [अ०] पश्चात्। अनंतर। पीछे।

वि० (१) अलग किया हुआ। छोड़ा हुआ। जैसे,—ख़र्चा बाद देकर तुम्हारा कितना रुपया निकलता है?

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(२) दस्तूरी या कमीशन जो दाम में से काटा जाय। (३) अतिरिक्त। सिवाय। (४) असल से अधिक दाम जो व्यापारी माल पर लिख देते और दाम बताते समय घटा देते हैं। संज्ञा पुं० [फ़ा०] बात। हवा।

यौ०—बादनुमा।

बादकाकुल—संज्ञा पुं० [सं०] ताल के मुख्य ६० भेदों में से एक भेद। उ०—प्लुतौ लघु चतुष्कंच मौनौ द्रुत युगं लघुः। लघु चतुष्कं बिना शब्दं तालस्याद्वादकाकुलः।—संगीत दामोदर।

बादना*—क्रि० [सं० वाद+ना (प्रत्य०)] (१) बकवाद करना। तर्क वितर्क करना। (२) झगड़ा करना। हुज्जत करना। उ०—(क) बादहिँ सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु

बाटि ।—तुलसी । (ख) बादति है बिन काज ही वृथा बढ़ावति रार ।—सूर । (३) बोलना । ललकारना । उ०—बादत बड़े सूर की नाईं अबहिं लेत हौं प्रान तुम्हारे ।—सूर ।

बादनुमा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वायु की दिशा सूचित करनेवाला यंत्र । हवा किस ओर से बहती है, यह बतानेवाली कल । पवन-प्रकाश । पवन-प्रचार ।

बादबान—संज्ञा पुं० [फ़ा०] पाल ।

बादर†*—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, विपर्यय द्वारा 'बादरि'] बादल । मेघ । (क) देति पाँवड़े अरघ चलीं लै सादर । उमगि चल्यो आनंद भुवन भुइँ बादर ।—तुलसी । (ख) लाल बिन कैसे लाज चादर रहैगी, हाय ! कादर करत मोहिँ बादर नए नए ।—श्रीपति ।

वि० [सं०] (१) बदर या बेर नामक फल का, उससे उत्पन्न या उससे संबंध रखनेवाला । (२) कपास का । कपास या रूई का बना हुआ । (३) मोटा या खद्दड़ । 'सूक्ष्म' का उलटा (कपड़ा) ।

संज्ञा पुं० नैऋत्य कोण में एक देश । (बृहत्संहिता)

वि० [देश०] आनंदित । प्रसन्न । आह्लादित । उ०—ग्यादर सखी के साथ बादर बदन ह्वै कै भूपति पधारे महारानी के महल को ।

बादरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बदरी या बेर का पेड़ । (२) कपास का पौधा । (३) जल । पानी । (४) रेशम । (५) दक्षिणावर्त शंख ।

बादरायण—संज्ञा पुं० [सं०] वेदव्यास का एक नाम ।

बादरिया‡—संज्ञा स्त्री० दे० "बादरी" या "बदली" । उ०—बरसन लागी कारी बादरिया ।—गीत ।

बादरी‡—संज्ञा स्त्री० दे० "बदली" ।

बादल—संज्ञा पुं० [सं० वारिद, हिं० बादर] (१) पृथ्वी पर के जल (समुद्र, झील, नदी आदि के) से उठी हुई वह भाप जो घनी हो कर आकाश में छा जाती है और फिर पानी की बूँदों के रूप में गिरती है । मेघ । घन ।

विशेष—सूक्ष्म जल-सीकर रूप की इस प्रकार की भाप जो पृथ्वी पर छा जाती है, उसे नीहार या कुहरा कहते हैं । बादल साधारणतः पृथ्वी से कोस डेढ़ कोस की ऊँचाई पर रहा करते हैं । ये आकाश में अनेक विलक्षण रूपरंग धारण किया करते हैं जिनकी शोभा अनिर्वचनीय होती है ।

क्रि० प्र०—आना ।—छाना ।

मुहा०—बादल उठना=बादलों का किसी ओर से समूह के रूप में बढ़ते हुए दिखाई पड़ना । बादल चढ़ना=दे० "बादल उठना" । बादल गरजना=मेघों के संघर्ष का घोर शब्द । घरघराहट की आवाज जो बादलों से निकलती है । बादल घिरना=मेघों का चारों ओर छाना । बादल फटना=मेघों का घटा के रूप में फैला न रहना, तितर बितर हो जाना । बादल छँटना=मेघों का खंड खंड होकर हट जाना । आकाश स्वच्छ होना । बादलों से बातें करना=आकाश से बातें करना । बहुत ऊँचा उठना ।

(२) एक प्रकार का पत्थर जो दूधिया रंग का होता है और जिस पर बैंगनी रंग की बादल की सी धारियाँ पड़ी होती हैं । यह राजपूताने में निकलता है ।

बादला—संज्ञा पुं० [हिं० पतला ?] सोने या चाँदी का चिपटा चमकीला तार जो गोटे बुनने या कलाबत्तू बटने के काम में आता है । कामदानी का तार । (यह तार एक तोले में ५०० गज़ के लगभग होता है ।)

बादली‡—संज्ञा स्त्री० दे० "बदली" ।

बादशाह—संज्ञा पुं० [फ़ा० । मिलाओ सं० पातशासक] (१) तख़्त का मालिक । राजसिंहासन पर बैठनेवाला । राजा । शासक । (२) सब से श्रेष्ठ पुरुष । सरदार । सब से बड़ा आदमी । जैसे, झूठों के बादशाह । (३) स्वतंत्र । मनमाना करनेवाला । जैसे,—तबीयत का बादशाह । (४) शतरंज का एक मुहरा जो किश्त लगने के पहले केवल एक बार घोड़े की चाल चलता है और दौड़धूप से बचा रहता है । (५) ताश का एक पत्ता जिस पर बादशाह की तसवीर बनी रहती है ।

बादशाहज़ादा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] राजकुमार । कुँवर । कुमार ।

बादशाहज़ादी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] राजकुमारी ।

बादशाहत—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] राज्य । शासन । हुकूमत ।

बादशाहपसंद—संज्ञा पुं० [फ़ा०] ख़शख़ाशी रंग । दिलबहार हलका आसमानी रंग ।

बादशाही—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) राज्य । राज्याधिकार । (२) शासन । हुकूमत । (३) मनमाना व्यवहार ।

वि० (१) बादशाह का । राजा का । जैसे, बादशाही झंडा । (२) राजाओं के योग्य ।

बादहवाई—क्रि० वि० [फ़ा० बाद+अ० हवा] यों ही । व्यर्थ । फ़िज़ूल । निष्प्रयोजन ।

बादाम—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मझोले आकार का एक प्रकार का वृक्ष जो पश्चिमी एशिया में अधिकता से और पश्चिमी भारत (काश्मीर और पंजाब आदि) में कहीं कहीं होता है । इसमें एक प्रकार के छोटे छोटे फल लगते हैं जिनके ऊपर का छिलका बहुत कड़ा होता है और जिनके तोड़ने पर लाल रंग के एक दूसरे छिलके में लिपटी हुई सफ़ेद रंग की गिरी रहती है । यह गिरी बहुत मीठी होती है और प्रायः खाने के काम में आती है । यह पौष्टिक भी होती है और मेवों में गिनी जाती है । इसका व्यव-

हार औषधों में और पकवानों आदि को स्वादिष्ट करने में भी होता है। इसकी एक और जाति होती है जिसका फल या गिरी कड़वी होती है। दोनों प्रकार के बादामों में से एक प्रकार का तेल निकलता है जो औषधों, सुगंधियों और छोटी मशीनों के पुरज़ों आदि में डालने के काम में आता है। इस वृक्ष में से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जो फारस से हिंदुस्तान आता और यहाँ से युरोप जाता है। वैद्यक में बादाम (गिरी) गरम, स्निग्ध, वातनाशक, शुक्रवर्द्धक, भारी और सारक माना गया है और इसका तेल मृदुरेची, वाजीकर, मस्तक-रोगनाशक, पित्तनाशक, वातघ्न, हलका, प्रमेहकारक और शीतल कहा गया है।

बादामा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

बादामी–वि० [फ़ा० बादाम+ई (प्रत्य०)] (१) बादाम के छिलके के रंग का। कुछ पीलापन लिए लाल रङ्ग का। (२) बादाम के आकार का। अंडाकार। जैसे, बादामी आँख।
संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का धान। (२) बादाम के आकार की एक प्रकार की छोटी डिबिया जिसमें गहने आदि रखते हैं। (३) वह ख्वाजासरा जिसकी इंद्रिय बहुत छोटी हो। (४) एक प्रकार की छोटी चिड़िया जो पानी के किनारे रहती और मछलियाँ खाती है। किलकिला। वि० दे० "किलकिला"। (५) बादाम के रंग का घोड़ा। उ०—लीले लक्खी, लक्ख बोज, बादामी, चीनी। —सूदन।

बादि–अव्य० [सं० वादि, हिं० वादि=हठ करके] व्यर्थ। निष्प्रयोजन। फ़िज़ूल। निष्फल। उ०—सो श्रम बादि बाल कवि करहीं। —तुलसी।

बादित्य*–संज्ञा पुं० दे० "वादित्र"।

बादिया–संज्ञा पुं० [देश०] लुहारों का पेच बनाने का एक औज़ार।

बादी–वि० [फ़ा०] (१) बात संबंधी। वायु संबंधी। (२) वायुविकार संबंधी। जैसे, बादी बवासीर। (३) वायु कुपित करनेवाला। बात का विकार उत्पन्न करनेवाला। जैसे,—बैंगन बहुत बादी होता है।
संज्ञा स्त्री० शरीरस्थ वायु। वात। वातविकार। वायु का दोष। जैसे,—उनका शरीर बादी से फूला है।
संज्ञा पुं० [सं० वादिन्, वादी] (१) किसी के विरुद्ध अभियोग लानेवाला। मुद्दई। (२) प्रतिद्वन्द्वी। शत्रु। बैरी। विशेष—दे० "वादी"। (३) राग में प्रधान रूप से लगनेवाला स्वर जिसके कारण राग शुद्ध होता है।
संज्ञा पुं० [देश०] लुहारों का सिकली करने का औज़ार'

बादुर–संज्ञा पुं० [देश०] चमगादड़। चमचटक।

बाधूना–संज्ञा पुं० [देश०] एक औज़ार जो घेवर नाम की मिठाई बनाने के काम में आता है। यह साँचा चढ़ाने के कालबूत के समान लोहे वा पीतल का बना होता है। इसे भट्ठी के मुँह पर रखकर उसमें घी भरते और पतला मैदा डाल देते हैं। मैदा पक जाने पर उसे चीनी की चाशनी में पाग लेते हैं।

बाध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाधा, रुकावट। अड़चन। (२) पीड़ा। कष्ट। (३) कठिनता। मुश्किल। (४) अर्थ की असंगति। मानी का ठीक न बैठना। व्याघात। जैसे,—जहाँ वाच्यार्थ लेने से अर्थ में बाधा पड़ती है वहाँ लक्षणा से अर्थ निकाला जाता है। (५) वह पक्ष जिसमें साध्य का अभाव सा हो। (न्याय)
† संज्ञा पुं० [सं० बद्ध] [स्त्री० बाधी] मूँज की रस्सी।

बाधक–संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिबंधक। रुकावट डालनेवाला। रोकनेवाला। विघ्नकर्ता। (२) दुःखदायी। हानिकारक। (३) स्त्रियों का एक रोग जिसमें उन्हें संतति नहीं होती या संतति होने में बड़ी पीड़ा या कठिनता होती है।
विशेष—वैद्यक के अनुसार चार प्रकार के दोषों से बाधक रोग होता है—रक्तमाद्री, षष्ठी, अंकुर और जलकुमार। रक्तमाद्री में कटि, नाभि, पेड़ू आदि में वेदना होती है और ऋतु ठीक समय पर नहीं होता। षष्ठी बाधक में ऋतु-काल में आँखों, हथेलियों और योनि में जलन होती है, और रक्तस्राव लालायुक्त (झाग मिला) होता है तथा ऋतु महीने में दो बार होता है। अंकुर बाधक में ऋतु-काल में उद्वेग रहता है, शरीर भारी रहता है, रक्तस्राव बहुत होता है। नाभि के नीचे शूल होता है, तीन तीन चार चार महीने पर ऋतु होता है, हाथ पैर में जलन रहती है। जलकुमार में शरीर सूज जाता है, बहुत दिनों में ऋतु हुआ करता है, सो भी बहुत थोड़ा; गर्भ न रहने पर भी गर्भ सा मालूम होता है। इन चारों बाधकों से प्रायः गर्भ नहीं रहता।

बाधकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बाधा।

बाधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० बाधित, बाधनीय, बाध्य] (१) रुकावट या विघ्न डालना। (२) पीड़ा पहुँचाना। कष्ट देना।

बाधना–क्रि० स० [सं० बाधन] (१) बाधा डालना। रुकावट डालना। रोकना। उ०—(क) सुमिरत हरिहि सापगति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी।—तुलसी। (ख) देखत ही आधे पल बाधी जात बाधा सब राधाजू की रसना सुरूप की सी रानी है।—केशव। (२) विघ्न करना। बाधा डालना। उ०—(क) काम सुभासुभ तुमहिँ न बाधा। अब लगि तुमहिँ न काहू साधा।—

तुलसी । (ख) दुख सुख ये बाधैं जेहि नाहीं तेहि तुम जानौ ज्ञानी । नानक मुकुत ताहि तुम मानौ यहि बिधि को जो प्राणी ।

बाधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विघ्न । रुकावट । रोक । अड़चन । उ०—द्विज भोजन मख होम सराधा । सब के जाइ करहु तुम बाधा ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—आना ।—करना ।—होना ।

मुहा०—बाधा डालना या देना=रुकावट खड़ी करना । विघ्न उपस्थित करना । बाधा पड़ना=रुकावट खड़ी होना । विघ्न उपस्थित होना । बाधा पहुँचना=दे० 'बाधा पड़ना' ।

(२) संकट । कष्ट । दुःख । पीड़ा । उ०—(क) छुधा व्याधि बाधा भइ भारी । वेदन नहिं जानै महतारी ।—तुलसी । (ख) मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ । जा तन की झांई परे स्याम हरित दुति होइ ।—बिहारी । (३) भय । डर । आशंका । उ०—(क) मारेसि निसिचर केहि अपराधा । कहु सठ तोहिं न प्रान कै बाधा ।—तुलसी । (ख) आजुही प्रात इक चरित देख्यो नयो तबहि ते मोहिं यह भई बाधा ।—सूर ।

बाधित–वि० [सं०] (१) जो रोका गया हो । बाधायुक्त । (२) जिसके साधन में रुकावट पड़ी हो । (३) जिसके सिद्ध या प्रमाणित होने में रुकावट हो । जो तर्क से ठीक न हो । असंगत । (३) ग्रस्त । गृहीत । प्रभावहीन । जैसे, व्याकरण में वह सूत्र जो किसी अपवाद या बाधक सूत्र के कारण किसी स्थल विशेष में न लगता हो ।

बाधिर्य–संज्ञा पुं०[सं०] बहिरापन ।

बाधी–संज्ञा पुं० [सं० बाधिन्] बाधा करनेवाला ।

बाध्य–वि० [सं०] (१) जो रोका या दबाया जानेवाला हो (२) विवश किया जानेवाला । मजबूर होनेवाला ।

बान–संज्ञा पुं० [दे०] (१) शालि वा जड़हन को रोपने के समय उतनी पेड़ियाँ जो एक साथ लेकर एक थान में रोपी जाती हैं । जड़हन के खेत में रोपी हुई धान की जूरी ।

क्रि० प्र०—बैठाना ।—रोपना ।

(२) एक पेड़ जो अफ़ग़ानिस्तान में तथा हिमालय में आसाम तक सात हज़ार से नौ हज़ार फुट की ऊँचाई तक होता है । इसके पेड़ बहुत ऊँचे होते हैं और यद्यपि इसका पतझड़ नहीं होता तो भी वसंत ऋतु में इसकी पत्तियाँ रंग बदलती हैं । इसकी लकड़ी भीतर से ललाई लिए सफ़ेद रंग की होती है और बहुत मज़बूत होती है । इसका वज़न प्रतिघन फुट तीस सेर तक होता है और यह घर और खेती के सामान बनाने में काम आती है । इसकी छड़ियाँ भी बनती हैं । पत्तियाँ और छाल चमड़े सिझाने के काम आती है ।

संज्ञा पुं० [सं० बाण] (१) बाण । तीर । (२) एक प्रकार की आतशबाज़ी जो तीर के आकार की होती है । इसमें आग लगते ही यह आकाश की ओर बड़े वेग से छूट जाती है । (३) समुद्र या नदी की ऊँची लहर । (४) वह गुंबद-दार छोटा डंडा जिससे धुनकी (कमान) की ताँत को झटका देकर रूई धुनते हैं ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना] (१) बनावट । सजधज । वेश-विन्यास । (२) टेव । आदत । अभ्यास ।

क्रि० प्र०—डालना ।—पड़ना ।—लगना ।

संज्ञा पुं० [सं० वर्ण] रंग । आब । कांति । उ०—कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहे । तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे ।—तुलसी ।

बानइत†–वि० [हिं० बाना] बाना चलाने वा खेलनेवाला । दे० "बानैत" ।

वि० [हिं० बाण] (१) बाण चलानेवाला । उ०—रोपे रन रावन बुलाए बीर बानइत जानत जे रीति सब सुजुग समाज की ।—तुलसी । (२) योद्धा । वीर । बहादुर । उ०—लोकपाल महिपाल बान बानइत दसानन सके न चाप चढ़ाई ।—तुलसी ।

बानक–संज्ञा स्त्री० [हिं० बनाना] (१) वेष । भेस । सजधज । उ०—(क) सोभा भरे स्यामहि पै सोहै । बलि बलि जाउँ छबीले मुख की या पटतर को को है ? । या बानक उपमा दैबे को सुकवि कहा टकटो है ? देखत अंग थके मन में शशि कोटि मदन छबि मोहै ।—सूर । (ख) आपने अपाने थल, आपने अपाने साज आपनी अपानी बर बानक बनाइये ।—तुलसी । (२) एक प्रकार का रेशम जो पीला या सफ़ेद होता है । यह तेहुरी से कुछ घटिया होता है और रामपुर-हाट बंगाल से आता है ।

बानगी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बयाना+गी (प्रत्य०)] किसी माल का वह अंश जो ग्राहक को देखने के लिए निकाल कर दिया वा भेजा जाय ।

बानर†–संज्ञा पुं० [सं० वानर] [स्त्री० बानरी] बंदर ।

बानवे–वि० [सं० द्विनवति, प्रा० बाणवइ] जो गिनती में नब्बे से दो अधिक हो । दो ऊपर नब्बे ।

संज्ञा पुं० नब्बे से दो अधिक की संख्या या अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—९२ ।

बाना–संज्ञा पुं० [हिं० बनाना वा सं० वर्ण=रूप] (१) पहनावा । वस्त्र । पोशाक । वेशविन्यास । भेस । उ०—(क) बाना पहिरे सिंह का चलै भेड़ की लार । बोली बोलै स्यार की कुत्ता खाए फार ।—कबीर । (ख) विविध भाँति फूले

तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना।—तुलसी। (ग) यह है सुहाग का अचल हमारे बाना। असगुन की मूरत ख़ाक न कभी चढ़ाना।—हरिश्चंद्र। (२) अंगीकार किया हुआ धर्म। रीति। चाल। स्वभाव। उ०—(क) राम भक्तवत्सल निज बानो। जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं रंक होय के रानो।—सूर। (ख) जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना।—तुलसी। (ग) शिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक जोग जाप नहिं आऊँ हो। भक्तबछल बानो है मेरो विरुदहिं कहा लजाऊँ हो।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० वाण] (१) एक हथियार जो तीन साढ़े तीन हाथ लंबा होता है। यह सीधा और दुधारा, तलवार के आकार का होता है। इसकी मूठ के दोनों ओर दो लट्टू होते हैं जिनमें एक लट्टू कुछ आगे हट कर होता है। इसे बानइत पकड़ कर बड़ी तेज़ी से घुमाते हैं। (२) साँग या भाले के आकार का एक हथियार। यह लोहे का होता है और आगे की ओर बराबर पतला होता चला जाता है। इसके सिरे पर कभी कभी झंडा भी बाँध देते हैं और नोक के बल ज़मीन में गाड़ भी देते हैं। उ०—(क) रोह मृगा संशय बन हांके पारथ बाना मेलै। सायर जरै सकल बन दाहै, मच्छ अहेरा खेलै।—कबीर। (ख) बाने फहराने घहराने घंटा गजन के नाहीं ठहराने राव राने देस देस के।—भूषण।

संज्ञा पुं० [सं० वयन=बुनना] (१) बुनावट। बुनन। बुनाई। (२) कपड़े की बुनावट जो ताने में की जाती है। (३) कपड़े की बुनावट में वह तागा जो आड़े बल ताने में भरा जाता है। भरनी। उ०—सूत पुराना जोड़ने जेठ बिनत दिन जाय। बरन झीन बाना किया जुलहा पड़ा भुलाय।—कबीर। (४) एक प्रकार का बारीक महीन सूत जिससे पतंग उड़ाई जाती है। (५) वह जुताई जो खेत में एक बार वा पहली बार की जाय।

क्रि० स० [सं० व्यापन] किसी सुकड़ने और फैलनेवाले छेद को फैलाना। आकुंचित और प्रसारित होनेवाले छिद्र को विस्तृत करना। जैसे, मुँह बाना। उ०—(क) पुत्र कलत्र रहैं लव लाये जंबुक नाईं रहैं मुँह बाये।—कबीर। (ख) हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।—तुलसी। (ग) श्याम नारि तबही मुख बायो। तब तनु तजि मुख माहिँ समायो।—सूर।

मुहा०—(किसी वस्तु के लिये) मुँह बाना=लेने की इच्छा करना। पाने का अभिलाषी होना।

बानात—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाना] एक प्रकार का मोटा चिकना ऊनी कपड़ा। बनात।

बानावरी*—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाण+आवरी (फ़ा० प्रत्य०)] बाण चलाने की विद्या वा ढंग। उ०—सुनि भालु कपि धाए कुधर गहि देखि सो मारन लगा। लखि तासु बानावरी सब अकुलाइ मरकट दल भगा।—रघुनाथदास।

बानि—संज्ञा स्त्री० [हिं० बनना वा बनाना] (१) बनावट। सजधज। उ०—वा पट पीत की फहरानि। कर धर चक्र चरन की धावनि नहिं बिसरति वह बानि।—सूर। (२) टेव। आदत। स्वभाव। अभ्यास। उ०—(क) बन ते भगि बिहड़े पर खरहा अपनी बानि। बेदन खरहा कासों कहै को खरहा को जानि?—कबीर। (ख) पहले ही इन हनी पूतना बाँधे बलि सो दानि। सूपनखा ताड़का सँहारी श्याम सहज यह बानि।—सूर। (ग) लरिकाई ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी।—तुलसी। (घ) थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि। तुमहूँ कान्ह मनो भये आजुकालि के दानि।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वर्ण] रंग। चमक। आभा। कांति। उ०—(क) सुवा! बानि तोरी जस सोना। सिंहलदीप तोर कस लोना।—जायसी। (ख) हीरा भुज-तावीज में सोहत है यहि बानि। चंद लखन मुख-मीत जनु लग्यो भुजा सन आनि।—रसनिधि।

*संज्ञा स्त्री० [सं० वाणी] बाणी। वचन। उ०—करति कछू न कानि बकति है कटु बानि निपट निलज बैन बिलखहूँ।—सूर।

बानिक—संज्ञा स्त्री० [सं० वर्णक वा हिं० बनना] वेश। भेस। सजधज। बनाव। सिंगार। उ०—(क) बानिक तैसी बनी न बनावत केशव प्रत्युत ह्वै गइ हानी।—केशव। (ख) भाल पै लाल गुलाल गुलाल सो गेरिगरे गजरा अलबेलो। यों बनि बानिक सों पदमाकर आए जु खेलन फाग तो खेलो।—पद्माकर। (ग) सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली, उर माल। यहि बानिक मो मन सदा बसौ बिहारीलाल।—बिहारी।

बानिन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बनी=बनिया] बनिये की स्त्री।

बानिया*—संज्ञा स्त्री० [सं० बणिक] [स्त्री० बानिन] एक जाति का नाम जो व्यापार दूकानदारी तथा लेन देन का काम करती है। वैश्य। उ०—बैठ रहै सो बानियां, खड़ा रहै सो ग्वाल। जागत रहै सो पाहरू तीनहुँ खोयो काल।—कबीर।

बानी—संज्ञा स्त्री०[सं० वाणी] (१) वचन। मुँह से निकला हुआ शब्द। (२) मनौती। प्रतिज्ञा। उ०—रह्यो एक द्विज नगर कहूँ सो असि मानी बानि। देहु जो मोहि जगदीस सुत तो पूजौं सुख मानि।—रघुराज।

मुहा०—बानी मानना=प्रतिज्ञा करना। मनौती मानना।
(२) सरस्वती। (३) साधु महात्मा का उपदेश या वचन। जैसे, कबीर की बानी, दादू की बानी। दे० "वाणी"।
संज्ञा पुं० [सं० बणिक्] बनिया। उ०—(क) ब्राह्मण छत्री औरौ बानी। सो तीनहु तो कहल न मानी।—कबीर। (ख) इक बानी पूरबधनी भयो निर्धनी फेरि।
संज्ञा स्त्री० [सं० वर्ण] (१) वर्ण। रंग। आभा। दमक। जैसे, बारहबानी का सोना। उ०—उतरहिं मेघ चढ़हिं लै पानी। चमकहिं मच्छ बीजु की बानी।—जायसी। (२) एक प्रकार की पीली मिट्टी जिससे मिट्टी के बरतन पकाने के पहले रँगते हैं। कपसा।
संज्ञा पुं० [अ०] (१) बुनियाद डालनेवाला। जड़ जमानेवाला। (२) आरंभ करनेवाला। चलानेवाला। प्रवर्त्तक।

बानैत—संज्ञा पुं० [हिं० बान+ऐत (प्रत्य०)] (१) बाना फेरनेवाला। (२) बाण चलानेवाला। तीरंदाज़। (३) योद्धा। सैनिक। वीर। उ०—(क) मानहु मेघ घटा अति गाढ़ी। बरसत बान बूँद सेनापति महानदी रन बाढ़ी। जहाँ बरन बादर बानैत अरु दामिनि करि करि वार। उड़त धूरि धुरवा धुर हींसत सूल सकल जलधार।—सूर। (ख) विविध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना।—तुलसी।
संज्ञा पुं० [हिं० बाना] बाना धारण करनेवाला।

बाप—संज्ञा पुं० [सं० वाप=बीज बोनेवाला] पिता। जनक। उ०—(क) प्रथमै यहाँ पहुँचते परिगा सोक सँताप। एक अचंभो औरौ देखा बेटी ब्याहै बाप।—कबीर। (ख) बाप दियो कानन आनन सुभानन सों बैरी भो दसानन सो तीय को हरन भो।—तुलसी।

मुहा०—बापदादा=पूर्वज। पूर्वपुरुष। **बाप माँ**=रक्षक। पालन करनेवाला। **बाप रे**=दुःख, भय वा आश्चर्य्यसूचक वाक्य। **बाप बनाना**=(१) मान करना। आदर करना। (२) खुशामद करना। चापलूसी करना। **बाप तक जाना**=बाप की गाली देना। **बाप का**=पैतृक।

बापा—संज्ञा पुं० दे० "बाप्पा"।

बापिका*—संज्ञा स्त्री० दे० "वापिका"। उ०—बन उपबन वापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा विभागा।—तुलसी।

बापी—संज्ञा स्त्री० दे० "वापी"।

बापु—†संज्ञा पुं० दे० "बाप"।

बापुरा—वि० [सं० बर्बर=तुच्छ मूढ़ ?] [स्त्री० बापुरी] (१) तुच्छ। जिसकी कोई गिनती न हो। उ०—(क) तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना।—तुलसी। (ख) कहाँ तुम त्रिभुवनपति गोपाल। कहाँ बापुरो नर शिशुपाल।—सूर। (२) दीन। बेचारा। उ०—संसय सावज देह में संगहिं खेल जुआरि। ऐसा घायल बापुरा जीवन मारै झारि।—कबीर।

बापू—संज्ञा पुं० (१) दे० "बाप"। (२) दे० "बाबू"।

बाप्पा—संज्ञा पुं० [देश०] चारणों द्वारा वर्णित इतिहास के अनुसार बल्लभी वंश के महाराज गुहादित्य से आठवीं पीढ़ी में उत्पन्न नागादित्य का पुत्र। जब यह छोटा था तब इसके पिता को भीलों ने मार डाला था। इसकी रक्षा इसकी माता ने और ब्राह्मण पुरोहितों ने की थी। यह नागोद में ब्राह्मणों की गायें चराया करता था, जहाँ इस को हारीत ऋषि और एकलिंग शिव का दर्शन हुआ था और हारीत ने उसे शिव की दीक्षा दी थी। इसने चित्तौर जाकर वहाँ अपना अधिकार जमाया और पश्चिम के देशों का भी विजय किया। मेवाड़ के राजवंश का यह आदि पुरुष था। इसका जन्म-काल टाड साहब ने सं० ७६९ वि० वा ७४४ ई० लिखा है।

बाफ†—संज्ञा स्त्री० [सं० वाष्प] कोई तरल पदार्थ खोलाने से उसमें से उठा हुआ धूएँ के आकार का पदार्थ। विशेष—दे० "भाप"।

बाफ़ता—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जिस पर कलाबत्तू और रेशम की बूटियाँ होती हैं। यह दोरुखा भी होता है।

बाब—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पुस्तक का कोई विभाग। परिच्छेद। अध्याय। (२) मुक़दमा। (३) प्रकार। तरह। (४) विषय। (५) आशय। मतलब। अभिप्राय।

बाबची—संज्ञा स्त्री० दे० "बकुची"।

बाबत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) संबंध। (२) विषय। जैसे,—इस आदमी की बाबत तुम क्या जानते हो।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकरण का चिह्न 'में' लुप्त करके अव्ययवत् ही होता है।

बाबरची—संज्ञा पुं० दे० "बावरची"।

बाबरलेट, बाबनलेट—संज्ञा स्त्री० [अ० बाबिननेट] एक प्रकार का जालीदार कपड़ा जिसमें गोल गोल षट्कोण छोटे छोटे छेद होते हैं। यह मसहरी आदि के काम में आता है।

बाबरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बबर=सिंह] लंबे लंबे बाल जो लोग सिर पर रखते हैं। जुल्फ़। पट्टा।

बाबा—संज्ञा पुं० [तु०] (१) पिता। उ०—(क) दादा बाबा भाई के लेखे चरन होइगा बंधा। अब की बेरियाँ जो न समुझे सोई सदा है अंधा।—कबीर। (ख) बैठे संग बाबा के चारों भइया जेंवन लागे। दसरथ राय आपु जेंवत हैं अति आनँद-रस पागे।—सूर। (२) पितामह। दादा। (३) साधु संन्यासियों के लिये आदर-सूचक शब्द। जैसे, बाबा रामानंद। (४) बूढ़ा पुरुष। उ०—केशव केशन अस

करी बैरी हू न कराहिं। चंद्रबदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।—केशव। (५) एक संबोधन जिसका व्यवहार साधु फ़क़ीर करते हैं। जैसे,—भला हो, बाबा।

विशेष—झगड़े या बातचीत में जब कोई बहुत साधु या शांत भाव प्रकट करना चाहता है और दूसरे से न्यायपूर्वक विचार करने या शांत होने के लिये कहता है तब वह प्रायः इस शब्द से संबोधन करता है। जैसे,—(क) बाबा! जो कुछ तुम्हारा मेरे जिम्मे निकलता हो वह मुझसे ले लो। (ख) एक—अभी थका माँदा आ रहा हूँ फिर शहर जाऊँ? दूसरा—बाबा! यह कौन कहता है कि तुम अभी जाओ?

संज्ञा पुं० [अ०] लड़कों के लिये प्यार का शब्द।

बाबिल–संज्ञा पुं० [बाबुल] एशिया खंड का एक अत्यंत प्राचीन नगर जो फ़ारस के पश्चिम फ़रात नदी के किनारे था। ३००० वर्ष पूर्व यह एक अत्यंत सभ्य और प्रतापी जाति की राजधानी था और उस समय सब से बड़ा नगर गिना जाता था।

बाबी*‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाबा] (१) साधु स्त्री। संन्यासिन। उ०—कामी से कुत्ता भला ऋतु सिर खोले काँच। राम नाम जाना नहीं बाबी जाय न बाँच।—कबीर। (२) लड़कियों के लिये प्यार का शब्द।

बाबुना–संज्ञा पुं० [देश०] पीले रंग का एक पक्षी जिसकी आँख के ऊपर का रंग सफ़ेद, चोंच काली और आँखें लाल होती हैं।

बाबुल–संज्ञा पुं० [हिं० बाबू] (१) बाबू। उ०—घरही में बाबुल! बाढ़ी रारि। अंग उठि उठि लागै चपल नारि।—कबीर। (२) दे० "बाबिल"।

बाबू–संज्ञा पुं० [हिं० बाप वा बाबा] (१) राजा के नीचे उनके बंधु बांधवों या और क्षत्रिय ज़मींदारों के लिए प्रयुक्त शब्द। (२) एक आदर-सूचक शब्द। भलामानुस।

विशेष—आजकल अँगरेज़ी पढ़े लिखे लोगों के लिये इस शब्द का व्यवहार अधिक होता है। उ०—(क) बाबू ऐसो है संसार तुम्हारा ये कलि है व्यवहारा। को अब अनख सहै प्रति दिन को नाहिन रहनि हमारा।—कबीर। (ख) 'आयसु आदेश, बाबू (?) भलो भलो भाव सिद्ध' तुलसी विचारि जोगी कहत पुकारि हैं।—तुलसी।

†(३) पिता का संबोधन।

बाबूड़ा†–संज्ञा पुं० [हिं० बाबू+ड़ा (प्रत्य०)] "बाबू" के लिये हास्य, व्यंग्य या घृणासूचक शब्द।

बाबूना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक छोटा पौधा जो युरोप और फ़ारस में होता है। इसको पंजाब में भी बोते हैं। इसका सूखा फूल बाज़ारों में मिलता है और सफ़ेद रंग का होता है। इसमें एक प्रकार की गंध होती है और इसका स्वाद कड़ुवा होता है। इसके फूल को तेल में डालकर एक तेल बनाया जाता है जिसे "बाबूने का तेल" कहते हैं। यह पेट की पीड़ा शूल और निर्बलता को हटाता है। इसका गरम काढ़ा वमन कराने के लिये दिया जाता है और स्त्रियों के मासिक धर्म बंद होने पर भी उपकारी माना जाता है।

बाभन–संज्ञा पुं० दे० (१) "ब्राह्मण", (२) "भूमिहार"।

बाम–वि० दे० "वाम"।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) अटारी। कोठा। (२) मकान के ऊपर की छत। घर के ऊपर का सब से ऊँचा भाग। घर की चोटी। उ०—तूर पर जैसे किसी वक्त में चमकै थी झलक। कुछ सरेबाम से वैसाही उजाला निकला।—नज़ीर। (३) साढ़े तीन हाथ का एक मान। पुरसा।

संज्ञा स्त्री० [सं० ब्राह्मी] एक मछली जो देखने में साँप सी पतली गोल और लंबी होती है। इसकी पीठ पर काँटा होता है। यह खाने में स्वादिष्ट होती है और इसमें केवल एक ही काँटा होता है।

संज्ञा स्त्री० (१) दे० "वामा"। (२) स्त्रियों का एक गहना जिसे वे कानों में पहनती हैं।

बामदेव–संज्ञा पुं० दे० "वामदेव"।

बामन–संज्ञा पुं० दे० "वामन"।

बामा–संज्ञा स्त्री० दे० "वामा"।

बामी–संज्ञा स्त्री० दे० "बाँबी"।

ब्राह्मन–संज्ञा पुं० दे० "ब्राह्मण"।

बायँ–वि० [सं० वाम] (१) बायाँ। (२) ख़ाली। चूका हुआ। दाँव या लक्ष्य पर न बैठा हुआ।

मुहा०—बायँ देना=(१) बचा जाना। छोड़ना। (२) तरह देना। कुछ ध्यान न देना। (३) फेरा देना। चक्कर देना। उ०—निंदक न्हाय गहन कुरुखेत। अरपै नारि सिँगार समेत। चौंसठ कूआँ बायँ दिवावे। तौ भी निंदक नरकहि जावे।—कबीर।

बाय†*–संज्ञा स्त्री० [सं० वायु] (१) वायु। हवा। उ०—(क) एक बान बेग ही उड़ाने जातुधान जात सूखि गये गात हैं पतौआ भये बाय के।—तुलसी। (ख) हित करि तुम पठयो लगे वा बिजना की बाय। टरी तपन तन की तऊ चली पसीना न्हाय।—बिहारी। (२) बाई। बात का कोप जो प्रायः सन्निपात होने पर होता है और जिसमें लोग बकते झकते हैं। उ०—जोबनजुर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वापी] बावली। बेहर। उ०—अति अगाध अति औथरो नदी कूप सर बाय। सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।—बिहारी।

बायक*–संज्ञा पुं० [सं० वाचक] (१) कहनेवाला । बतलानेवाला । (२) पढ़नेवाला । बाँचनेवाला । (३) दूत ।

बायकाट–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह व्यवस्थित बहिष्कार जो किसी व्यक्ति, दल या देश आदि को अपने अनुकूल बनाने या उससे कोई काम कराने के उद्देश्य से उसके साथ उस समय तक के लिए किया जाय जब तक वह अनुकूल न हो जाय या माँग पूरी न करे। (२) संबंध आदि का त्याग या बहिष्कार।

बायन–संज्ञा पुं० [सं० वायन] (१) वह मिठाई या पकवान आदि जो लोग उत्सवादि के उपलक्ष में अपने इष्ट मित्रों के यहाँ भेजते हैं । (२) भेंट । उपहार ।

संज्ञा पुं० [अ० बयाना] (१) मूल्य का कुछ अंश जो किसी चीज़ को मोल लेनेवाला उसे ले जाने या पूरा दाम चुकाने के पहले मालिक को दे देता है जिसमें बात पक्की रहे और वह दूसरे के हाथ न बेचे । अगाऊ । पेशगी ।

विशेष—व्यापारी जब किसी माल को पसंद करते हैं और उसका भाव पट जाता है तब मूल्य का कुछ अंश माल के मालिक को पहले से दे देते हैं और शेष माल ले जाने पर वा किसी समय पर देते हैं । इससे माल का मालिक उस माल को किसी दूसरे के हाथ नहीं बेच सकता है । वह धन जो माल पसंद होने और दाम पटने पर उसके मालिक को दिया जाता है बयाना कहलाता है ।

(२) मज़दूरी का थोड़ा अंश जो किसी को कोई काम करने की आज्ञा देने के साथ ही इसलिये दे दिया जाता है जिसमें वह समय पर काम करने आवे, और जगह न जाय ।

मुहा०—बायन देना=छेड़ छाड़ करना । उ०—भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ।—तुलसी ।

बायबरंग–संज्ञा स्त्री० दे० "बायबिडंग" ।

बायबिडंग–संज्ञा पुं० [सं० बिडंग] एक लता जो हिमालय पर्वत, लंका और बर्मा में होती है । इसमें छोटे छोटे मटर के बराबर गोल गोल फल गुच्छों में लगते हैं जो सूखने पर औषध के काम आते हैं । ये सूखे फल देखने में कबाबचीनी की तरह लगते हैं पर उससे अधिक हलके और पोले होते हैं । वैद्यक में इसका स्वाद चरपरा कड़वा लिखा है और इसे रूखा गरम और हलका माना है । यह कृमिनाशक, कफ और बात को दूर करनेवाला, दीपक तथा उदर रोग प्लीहा आदि में लाभकारी होता है ।

पर्य्या०—भस्मक । मोघा । कैराल । केवल । वेल्लतंडुला । घोषा इत्यादि ।

बायबिल–संज्ञा स्त्री० दे० "बाइबिल" ।

बायवी–वि० [सं० वायवीय] (१) बाहरी । अपरिचित । अजनबी । अज्ञात । ग़ैर । (२) नया आया हुआ ।

विशेष—इस देश में जितनी विदेशीय जातियाँ आईं वे सब की सब प्रायः वायव्य कोण ही से आईं । अतः बायवी शब्द, जो वायवीय का अपभ्रंश है ग़ैर, अज्ञात, अजनबी आदि अर्थों में रूढ़ि हो गया है ।

बायव्य–संज्ञा पुं० दे० "वायव्य" ।

बायरा–संज्ञा पुं० [देश०] कुश्ती का एक पेंच ।

बायल–वि० [हिं० बायाँ, बायें] (दाँव) जो खाली जाय । (दाँव) जो किसी का न पड़े । (जुआरी) ।

संयो० क्रि०—जाना ।

बायला†–वि० [हिं० बाय+ला (प्रत्य०)] वायु उत्पन्न करनेवाला । वायु का विकार बढ़ानेवाला । जैसे,—किसी को बैंगन बायला किसी को बैंगन पथ्य ।

बायलर–संज्ञा पु० [अं०] भाप के इंजन में लोहे आदि धातु का बना हुआ वह बड़ा कोठा जिसमें भाप तैयार करने के लिये जल भरकर गरम किया जाता है ।

बायस–संज्ञा पुं० दे० "वायस" ।

बायस्कोप–संज्ञा पुं० [अं०] एक यंत्र जिसके द्वारा पर्दे पर चलते फिरते हिलते डोलते चित्र दिखलाए जाते हैं । इस यंत्र में एक छोटा सा छेद होता है जिसमें होकर सामने के पर्दे पर बिजली का प्रकाश डाला जाता है, फिर एक पतला फ़ीता जिसे 'फ़िल्म' कहते हैं चरखी से उस छेद के ऊपर तेज़ी से फिराया जाता है । यह फ़ीता पतला पारदर्शक और लचीला होता है । इस पर चित्रों की आकृति भिन्न भिन्न चेष्टा की बनी रहती है जिसके शीघ्रता से फिराए जाने से चित्र चलते फिरते हिलते डोलते अनेक चेष्टा करते दिखलाई पड़ते हैं ।

बायाँ–वि० [सं० वाम] [स्त्री० बाईं] (१) किसी मनुष्य या और प्राणी के शरीर के उस पार्श्व में पड़नेवाला जो उसके पूर्वाभिमुख खड़े होने पर उत्तर की ओर हो । 'दहना' का उलटा । जैसे, बायाँ पैर, बायाँ हाथ, बाईं आँख ।

मुहा०—बाँया देना=(१) किनारे से निकल जाना । बचा जाना । जैसे,—रास्ते में कहीं वे दिखाई भी पड़े तो बायाँ दे जाते हैं । (२) जान बूझकर छोड़ना । मिलते हुए का त्याग करना । उ०—बायों दियो विभव कुरुपति को भोजन जाय विदुर घर कीन्हों ।—तुलसी । बायाँ पाँय पूजना=धाक मानना । हार मानना ।

(२) उलटा । (३) प्रतिकूल । विरुद्ध । ख़िलाफ़ । अहित में प्रवृत्त । उ०—बहुरि बंदि खलगन सति भाये । जे बिनु काज दाहिनेहु बायें ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० वह तबला जो बायें हाथ से बजाया जाता है । यह मिट्टी या ताँबे आदि धातु का होता है । इसे अकेला भी लोग ताल के लिये बजाते हैं ।

बायु-संज्ञा स्त्री० दे० "वायु"।

बायें-क्रि० वि० [हिं० बायाँ] (१) बाईं ओर। (२) विपरीत। विरुद्ध।

मुहा०—बायें होना-(१) प्रतिकूल होना। विरुद्ध होना। (२) अप्रसन्न होना। रुष्ट होना।

बारंबार-क्रि० वि० [सं० वारंवार] बारबार। पुनः पुनः। लगातार।

बारः-संज्ञा पुं० [फ़ा०] प्रसंग। विषय। दे० "बारे में"।

बार-संज्ञा पुं० [सं० वार] (१) द्वार। दरवाज़ा। उ०—(क) अकिल बिहूना आदमी जानैं नाहिं गँवार। जैसे कपि परबस पऱ्यो नाचै घर घर बार।—कबीर। (ख) बार बड़े अघ-बाघ बँधे उर मंदिर बालगोबिंद न आवैं।—केशव। (ग) गोपिन के अँसुअन भरी सदा असोस अपार। डगर डगर नै ह्वै रही बगर बगर के बार।—बिहारी।

यौ०—दरबार।

(२) आश्रय-स्थान। ठिकाना। उ०—रहा समाइ रूप वह नाऊँ। और न मिलै बार जहँ जाऊँ।—जायसी। (३) दरबार।

संज्ञा स्त्री० [सं० बार] (१) काल। समय। उ०—(क) कबिरा पूजा साहु की तू जनि करै खुआर। खरी बिगू-चनि होयगी लेखा देती बार।—कबीर। (ख) सिर लंगूर लपेटि पछारा। निज तनु प्रगटेसि मरती बारा।—तुलसी। (ग) इक भीजे चहले परे बूड़े बहे हजार। कितने औगुन जग करत नय वय चढ़ती बार।—बिहारी। (२) अति-काल। देर। बेर। बिलंब। उ०—(क) निधड़क बैठा राम बिनु चेतन करौं पुकार। यह तन जल का बुदबुदा बिनसत नाहीं बार।—कबीर। (ख) देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी।—तुलसी। (ग) अबही और की और होत कछु लागै बारा। तातें मैं पाती लिखी तुम प्रान-अधारा।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—लाना।—होना।

(३) समय का कोई अंश जो गिनती में एक गिना जाय। दफ़ा। मरतबा। जैसे,—मैं तुम्हारे यहाँ आज तीन बार आया। उ०—(क) मरियें तो मरि जाइये छूटि परै जंजार। ऐसा मरना को मरै दिन में सौ सौ बार।—कबीर। (ख) जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किये सहित अनुराग।—तुलसी।

मुहा०—बार बार=पुनः पुनः। फिर फिर। उ०—(क) तुलसी मुदित मन पुरनारि जिती बार बार हेरैं मुख अवध-मृगराज को।—तुलसी। (ख) फूल बिनन मिस कुंज में पहिरि गुंज को हार। मग निरखति नँदलाल को सुबलि बार ही बार।—पद्माकर।

संज्ञा पुं० [सं० वाट=घेरा या किनारा, हिं० बाड़] (१) घेरा वा रोक जो किसी स्थान के चारों ओर हो। जैसे, बाँध, टट्टी आदि। दे० "बाढ़", "बाड़"। (२) किनारा। छोर। बारी। (३) धार। बाढ़। उ०—एक नारि वह है बहुरंगी। घर से बाहर निकसे नंगी। उस नारी का यही सिंगार। सिर पर नथनी मुँह पर बार। (४) नाव, थाली आदि की अवँठ। किनारा।

† संज्ञा पुं० दे० "बाल"।

संज्ञा पुं० [फ़ा० मि० सं० भार] (१) बोझा। भार। उ०—जेहि जल तृण पशु बार बूड़ि अपने सँग बोरत। तेहि जल गाजत महाबीर सब तरत अंग नहि डोलत।—सूर।

यौ०—बारबरदार। बारबरदारी। बारदाना।

मुहा०—बार करना=जहाज पर से बोझ उतारना। (जहाज़ी)।

(२) वह माल जो नाव पर लादा जाय। (लश०)

† वि० दे० "बाल" और "बाला"।

बारक-संज्ञा स्त्री० [अं० बैरक] छावनी आदि में सैनिकों के रहने के लिए बना हुआ पक्का मकान।

बारककंत-संज्ञा पुं० [देश०] एक पौधा जो साँप काटने की औषध है। इस की जड़ पीस कर उस स्थान पर लगाई जाती है जहाँ साँप काटता है।

बारगह-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बारगाह] (१) ड्योढ़ी। (२) डेरा। खेमा। तंबू। उ०—चितौर सौंप बारगह तानी। जहँ लग सुना कूच सुलतानी।—जायसी।

बारगीर-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो घोड़े के लिये घास लाता और उसकी रक्षा आदि में साईस को सहायता देता हो। घसियारा।

बारजा-संज्ञा पुं० [हिं० बार=द्वार+जा=जगह] (१) मकान के सामने के दरवाज़ों के ऊपर पाटकर बढ़ाया हुआ बरामदा। (२) कोठा। अटारी। (३) बरामदा। (४) कमरे के आगे का छोटा दालान।

बारण-संज्ञा पुं० दे० "वारण"।

बारता*†-संज्ञा स्त्री० दे० "वार्त्ता"।

बारतिय*-संज्ञा स्त्री० दे० "वारस्त्री"।

बारतुंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आल का पेड़।

बारदाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) व्यापार की चीज़ों के रखने का बरतन, जैसे,—भाँड़ा, खुरजी, थैला, थैली आदि। (२) फौज के खाने पीने का सामान। रसद। (३) अंगड़ खंगड़ लोहे, लकड़ी आदि के टूटे फूटे सामान।

बारन*-संज्ञा पुं० दे० "वारण"।

बारना-क्रि० अ० [सं० वारण] निवारण करना। मना करना।

रोकना। उ०—लिखि सों बात सखिन सों कही। यही ठाँव हौं बारति रही।—जायसी।

क्रि० स० [हिं० बरना] बालना। जलाना। प्रज्वलित करना। उ०—(क) साँझ सकार दिया ले बारै। खसम छोड़ि सुमिरै लगवारै।—कबीर। (ख) करि शृंगार सघन कुंजन में निसि दिन करत बिहार। नीराजन बहु बिधि बारति हैं ललितादिक ब्रजनार।—सूर। (ग) मार सुमार करी खरी अरी मरीहि न मारि। सींच गुलाब घरी घरी अरी बरीहि न बारि।—बिहारी।

क्रि० स० दे० "बारना"।

बारनिश—संज्ञा स्त्री० [अं०] फेरा हुआ रोगन या चमकीला रंग। जैसे, बारनिशदार जूता, कुरसियों पर बारनिश करना।

मुहा०—बारनिश करना=रोगन या चमकीला रंग चढ़ाना।

बारबँटाई—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बार=बोझ+हिं० बाँटना] वह विभाग जो फ़सल को दाने के पहले किया जाय। बोझबँटाई।

बारबधू*—संज्ञा स्त्री० [सं० वारवधू] वेश्या। उ०—(क) नाम अजामिल से खल तारन तारन बारन बारबधू को।—तुलसी। (ख) कहुँ गोदान करत कहुँ देखे कहुँ कछु सुनत पुरान। कहुँ नर्तन सब बारबधू औ कहुँ गँधरब गुनगान।—सूर। (ग) जनु अति नील अलकिया बंसी लाइ। मो मन बारबधुअवा मीन बझाइ।—रहीम।

बारबधूटी*—संज्ञा स्त्री० [सं० वारवधूटी] वेश्या। उ०—त्यों न करै करतार उबारक ज्यों चितवै वह बारबधूटी।—केशव।

बारबरदार—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो सामान आदि ढोने का काम करता हो। बोझा ढोनेवाला।

बारबरदारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) सामग्री आदि ढोने की क्रिया। सामान ढोने का काम (२) सामान ढोने की मज़दूरी।

बारमुखी—संज्ञा स्त्री०[सं०बारमुख्या] वेश्या। उ०—(क) बारमुखी लई संग मानो वाही रंग रँगे जानो यह बात करी डर अति भीर को।—प्रियादास। (ख) बारमुखी मुनिवर बिलोकि कै करत चली कल गानै।—रघुराज।

बारवा—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक रागिनी जिसे कुछ लोग श्रीराग की पुत्रबधू मानते हैं।

बारह—वि० [सं० द्वादश, प्रा० वारस, अप० बारह] [वि० बारहवाँ] जो संख्या में दस और दो हो। उ०—जहँ बारह मास बसंत होय। परमारथ बूझै बिरल कोय।—कबीर।

मुहा०—बारह पानी का=बारह बरस का सूअर। बारह बच्चेवाली=सूअरी। बारह बाट करना=तितर बितर वा छिन्न भिन्न करना। इधर उधर कर देना। बारह बाट घालना= छिन्न भिन्न करना। तितर बितर वा नष्ट भ्रष्ट करना। उ०—मोहि लगि यह कुठाट तेहि ठाटा। घालेसि सब जग बारह बाटा।—तुलसी। बारह बाट जाना=(१) तितर बितर होना। छिन्न भिन्न होना। उ०—मन बदले भवसिंधु ते बहुत लगाये घाट। मनही के घाले गये बहि घर बारह बाट।—रसनिधि। (२) नष्ट भ्रष्ट होना। उ०—(क) लंक असुभ चरचा चलति हाट बाट घर घाट। रावन सहित समाज अब जाइहि बारह बाट।—तुलसी। (ख) राज करत बिनु काजहीं ठटहिं जे ठाट कुठाट। तुलसी ते कुरुराज ज्यों जैहैं बारह बाट।—तुलसी। बारह बाट होना=तितर बितर होना। नष्ट होना। उ०—प्रथम एक जे हौं किया भया सो बारह बाट। कसत कसौटी ना टिका पीतर भया निराट।—कबीर।

संज्ञा पुं० (१) बारह की संख्या। (२) बारह का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—१२।

बारहखड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० द्वादश+अक्षरी। हिं० बारह+खड़ी] वर्णमाला का वह अंश जिसमें प्रत्येक व्यंजन में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः इन बारह स्वरों को, मात्रा के रूप में लगाकर बोलते या लिखते हैं।

बारहदरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बारह+फ़ा० दर=दरवाजा] चारों ओर से खुली वह हवादार बैठक जिसमें बारह द्वार हों। उ०—बारहदरीन बीच चारहू तरफ़ तैसो बरफ़ बिछाय तापै सीतल सुपाटी है।—पद्माकर।

विशेष—बारह दरवाज़ों से कम की बैठक भी यदि चारों ओर खुली और हवादार हो तो बारहदरी कहलाती है। इसमें अधिकतर खंभे होते हैं, दरवाज़े नहीं होते।

बारहपत्थर—संज्ञा पुं० [हिं० बारह+पत्थर] (१) वह पत्थर जो छावनी की सरहद पर गाड़ा जाता है। सीमा। (२) छावनी।

मुहा०—बारह पत्थर बाहर करना=निकालना। सीमा बाहर करना।

बारहबान—संज्ञा पुं० [सं० द्वादशवर्ण] एक प्रकार का सोना जो बहुत अच्छा होता है। बारहबानी का सोना।

बारहबाना—वि० [सं० द्वादशवर्ण] (१) सूर्य के समान दमकवाला। (२) खरा। चोखा। (सोने के लिये) उ०—सूरदास प्रभु हम हैं खोटी तुम तो बारह बाने हो।—सूर। विशेष—दे० "बारहबानी"।

बारहबानी—वि० [सं० द्वादश (आदित्य)+वर्ण, पा० बारस बण्ण] (१) सूर्य के समान दमकवाला। (२) खरा। चोखा। (सोने के लिये)। उ०—(क) सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारहबानि।—सूर। (ख) सिंघल दीप महँ जेती रानी। तिन्ह महँ दीपक बारहबानी।—जायसी। (३) निर्दोष। सच्चा। जिसमें कोई बुराई न हो। पापरहित। (४) जिसमें कुछ कसर न हो। पूरा। पूर्ण।

पक्का। उ०—है वह सब गुन बारहबानी। ए सखि! साजन, ना सखि, पानी।—खुसरो।

संज्ञा स्त्री० सूर्य्य की सी दमक। चोखी चमक। जैसे, बारहबानी का सोना।

बारहमासा—संज्ञा पुं० [हिं० बारह+मास] वह पद्य या गीत जिसमें बारह महीनों की प्राकृतिक विशेषताओं का वर्णन किसी विरही या विरहिनी के मुँह से कराया गया हो।

बारहमासी—वि० [हिं० बारह+मास] (१) जिसमें बारहों महीनों में फल फूल लगा करते हों। सब ऋतुओं में फलने फूलनेवाला। सदाबहार। सदाफल। जैसे, बारहमासी आम, बारहमासी गुलाब। (२) बारहों महीने होनेवाला। उ०—कुबजा कान्ह दोउ मिलि खेलैं बारहमासी फाग।—सूर।

बारहवफ़ात—संज्ञा पुं० [हिं० बारह+अ० वफात] अरबी महीने रबी-उल-अव्वल की वे बारह तिथियाँ जिनमें, मुसलमानों के विश्वास के अनुसार, महम्मद साहेब बीमार पड़कर मरे थे।

बारहवाँ—वि० [हिं० बारह] [स्त्री०बारहवीं] जो स्थान में ग्यारहवें के बाद हो। जैसे, बारहवाँ दिन, बारहवीं तिथि, बारहवाँ महीना इत्यादि।

बारहसिंगा—संज्ञा पुं० [हिं० बारह+सींग] हिरन की जाति का एक पशु जो तीन चार फुट ऊँचा और सात आठ फुट लंबा होता है। नर के सींगों में कई शाखाएँ निकलती हैं, इसी से "बारहसिंगा" नाम पड़ा। और चौपायों के सींगों के समान इसके सींगों पर कड़ा आवरण नहीं होता, कोमल चमड़ा होता है जिस पर नरम महीन रोएँ होते हैं। इसके सींग का आवरण प्रति वर्ष फागुन चैत में उतरता है। आवरण उतरने पर सींग में से एक नई शाखा का अंकुर दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हर साल एक नई शाखा निकलती है जो कुआर कातिक तक पूरी बढ़ जाती है। मादा जिसे सींग नहीं होते, चैत बैसाख में बच्चा देती है।

बारहाँ—वि० दे० "बारहवाँ"।

बारहीं—संज्ञा स्त्री० [हिं० बारहाँ] बच्चे के जन्म से बारहवाँ दिन, जिसमें उत्सव आदि किया जाता है। बरही। उ०—छठी बारहीं लोक वेद विधि करि सुविधान विधानी।—तुलसी।

बारहों—संज्ञा पुं० [हिं० बारह] (१) किसी मनुष्य के मरने के दिन से बारहवाँ दिन। बारहवाँ, द्वादशाह। (२) कन्या या पुत्र के जन्म से बारहवाँ दिन। इस दिन कुल-व्यवहार के अनुसार अनेक प्रकार की पूजा होती है। बहुतों के यहाँ इसी दिन नामकरण भी होता है। बरही।

बारा—वि० [सं० बाल] बालक। जो सयाना न हो। जिसकी बाल्यावस्था हो।

यौ०—नन्हा बारा।

मुहा०—बारे तें=जब बालक रहा हो तभी से। बचपन से। बाल्यावस्था से। उ०—(क) बूझति है रुक्मिनि, पिय, इनमें को वृषभानु किसोरी। नेकु हमें दिखरावौ अपनी बालापन की जोरी। परम चतुर जिन कीन्हें मोहन अल्प बैस ही थोरी। बारे ते जिन यहै पढ़ायो बुधि, बल, कल बिधि चोरी।—सूर। (ख) बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी।—तुलसी।

संज्ञा पुं० बालक। लड़का।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बाला-ऊँचा] लोहे की कँगनी जो बेलन के सिरे पर लगाई जाती है और जिसके फिरने से बेलन फिरता है।

संज्ञा पुं० [हिं० बार] वह दूध जो चरवाहा चौपाए को चराने के बदले में आठवें दिन पाता है।

संज्ञा पुं० [?] (१) एक गीत जिसे कुएँ से मोट खींचते समय गाते हैं। (२) वह आदमी जो कुएँ पर खड़ा होकर भरकर निकले हुए चरसे वा मोट का पानी उलटकर गिराता है। (३) जंतरे से तार खींचने का काम।

बारात—संज्ञा स्त्री० [सं० वरयात्रा, प्रा० वरयत्ता] (१) किसी के विवाह में उसके घर के लोगों, संबंधियों, इष्ट मित्रों का मिलकर वधू के घर जाना। वरयात्रा। (२) वह समाज जो वर के साथ उसे ब्याहने के लिये सजकर वधू के घर जाता है।

क्रि० प्र०—निकलना।—सजना।

मुहा०—बारात उठना=बारात का प्रस्थान करना।

बारादरी—संज्ञा स्त्री० दे० "बारहदरी"।

बारानी—वि० [फा०] बरसाती।

संज्ञा स्त्री० (१) वह भूमि जिसमें केवल बरसात के पानी से फ़सल उत्पन्न होती है और सींचने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। (२) वह फ़सल जो बरसात के पानी से बिना सिंचाई किये उत्पन्न होती हो। (३) वह कपड़ा जो पानी से बचने के लिये बरसात में पहना वा ओढ़ा जाता हो। यह ऊन को जमाकर या सूती कपड़े पर मोम आदि लपेटकर बनाया जाता है।

बारामीटर—संज्ञा पुं० दे० "बैरोमीटर"।

बाराह*—संज्ञा पुं० दे० "वाराह"।

बाराहीकंद—संज्ञा स्त्री० दे० "वाराहीकंद"।

बारि*—संज्ञा पुं० दे० "वारि"।

संज्ञा स्त्री० दे० "बारी"।

बारिक—संज्ञा पुं० [अं० बारक] ऐसे बँगलों या मकानों की श्रेणी या समूह जिनमें फ़ौज के सिपाही रहते हैं। छावनी।

बारिक-मास्टर—संज्ञा पुं० [अं०] वह प्रधान कर्मचारी जो बारिक की देखभाल और प्रबंध करता हो।

बारिगर*—संज्ञा पुं० [हिं० बारी+गर] हथियारों पर बाढ़ रखने-

वाला। सिकलीगर। उ०—मदन बारिगर तुव दगन धरी बाढ़ जो मित्त। याके हेरत जात है कटि कटि नेही चित्त। —रसनिधि।

बारिज*—संज्ञा पुं० दे० "वारिज"।

बारिद्—संज्ञा पुं० दे० "वारिद"।

बारिधर—संज्ञा पुं० [सं० वारिधर] (१) बादल। वारिद। मेघ। उ०—हृदय हरिनख अति विराजत छबि न बरनी जाइ। मनो बालक बारिधर नवचंद लई छपाइ।—सूर। (२) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में रगण, नगण और दो भगण होते हैं। इसे केशवदास ने माना है। उ०—राजपुत्र इक बात सुनौ पुनि। रामचंद्र मन माँहि कही गुनि। राति दीह जमराज जनी जनु। जातनानि तन जातन कैं भनु।—केशव।

बारिधि—संज्ञा पुं० दे० "वारिधि"।

बारिवाह—संज्ञा पुं० [सं० वारि+वाह] बादल।

बारिश—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) वर्षा। वृष्टि। (२) वर्षाऋतु।

बारिस्टर—संज्ञा पुं० [अं०] वह वकील जिसने विलायत में रह कर कानून की परीक्षा पास की हो। ऐसे वकील दीवानी फ़ौजदारी और माल आदि की सारी छोटी बड़ी अदालतों में वादी या प्रतिवादी की ओर से मामलों और मुकदमों में पैरवी, बहस तथा अन्य कार्रवाइयाँ कर सकते हैं। ऐसे वकीलों के लिये वकालतनामे या मुख़्तारनामे की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

बारी—संज्ञा स्त्री० [सं० अवार] (१) किनारा। तट। उ०—जियत न नाई नार चातक घन तजि दूसरेहि। सुरसरि हू की बारि मरत न माँगेउ अरध जल।—तुलसी।

मुहा०—**बारी रहो**=किनारे होकर चलो। बच कर चलो। (पालकी के कहार काँटे आदि चुभने पर)

(२) वह स्थान जहाँ किसी वस्तु के विस्तार का अंत हुआ हो। किसी लंबाई-चौड़ाईवाली वस्तु का बिलकुल छोर पर का भाग। हाशिया। (३) बगीचे, खेत आदि के चारों ओर रोक के लिये बनाया हुआ घेरा। बाड़ा। (४) किसी बरतन के मुँह का घेरा या छिछले बरतन के चारों ओर रोक के लिये उठा हुआ घेरा या किनारा। औंठ। जैसे, थाली की बारी, लोटे की बारी। (५) धार। बाढ़। पैनी वस्तु का किनारा।

संज्ञा स्त्री० [सं० वाटी, वाटिका=बगीचा, घेरा, घर] (१) पेड़ों का समूह या वह स्थान जहाँ से पेड़ लगाए गए हों। बगीचा। जैसे, आम की बारी। उ०—(क) सरग पताल भूमि लै बारी। एकै राम सकल रखवारी।—कबीर। (ख) उतँग जमीर होइ रखवारी। छुइ को सकै राजा कै बारी।—जायसी। (ग) जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाय बर बारी।—तुलसी। (घ) लग्यो सुमन है सुफल तह आतप-रोस निवारि। बारी बारी आपनी सींच सुहृदता बारि।—बिहारी। (२) मेंड़ आदि से घिरा स्थान। क्यारी। उ०—गेंदा गुलदावदी गुलाब आबदार चारु चंपक चमेलिन की न्यारी करी बारी में।—प्रताप। (३) घर। मकान। दे० "बाड़ी"। (४) खिड़की। झरोखा। (५) जहाज़ों के ठहरने का स्थान। बंदरगाह। (६) रास्ते में पड़े हुए काँटे, झाड़ इत्यादि। (पालकी के कहार)

संज्ञा पुं० एक जाति जो अब पत्तल दोने बना कर ब्याह शादी आदि में देती है और सेवा करती है। पहले इस जाति के लोग बगीचा लगाने और उनकी रखवाली आदि का काम करते थे इससे काम काज में पत्तल बनाना उन्हीं के सुपुर्द रहता था। उ०—(क) बारी बारी आपनी सींच सुहृदता बारि।—बिहारी। (ख) नाऊ, बारी, भाँट, नट रामनिछावरि पाइ। मुदित असीसहिं नाइ सिर हरष न हृदय समाइ।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बार] बहुत सी बातों में से एक एक बात के लिये समय का कोई नियत अंश जो पूर्वापर क्रम के अनुसार हो। आगे पीछे के सिलसिले के मुताबिक आनेवाला मौक़ा। अवसर। ओसरी। पारी। जैसे,—अभी दो आदमियों के पीछे तुम्हारी बारी आएगी। उ०—(क) घरी सौ बैठि गनइ घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी।—जायसी। (ख) काहू पै दुःख सदा न रह्यो, न रह्यो सुख काहू के नित्त अगारी। चक्रनिमी सम दोउ फिरैं तर ऊपर आपनि आपनि बारी।—लक्ष्मणसिंह।

मुहा०—**बारी बारी से**=काल क्रम में एक के पीछे एक इस रीति से। समय के नियत अंतर पर। जैसे,—सब लोग एक साथ मत आओ, बारी बारी से आओ। **बारी बँधना**=आगे पीछे के क्रम से एक एक बात के लिये अलग अलग समय नियत होना। उ०—तीनहु लोकन की तरुनीन की बारी बँधी हुती दंड दुहू की।—केशव। **बारी बाँधना**=एक एक बात के लिये परस्पर आगे पीछे समय नियत करना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बारा=छोटा] (१) लड़की। कन्या। वह जो सयानी न हो। (२) थोड़े वयस की स्त्री। नवयौवना। उ०—बुढ़िया हँसि कह मैं नितहि बारि। मोहिं अस तरुनी कहु कौन नारि?—कबीर।

वि० स्त्री० थोड़ी अवस्था की। जो सयानी न हो। उ०—बारी बधू मुरझानी बिलोकि, जिठानी करै उपचार किते कौ।—पद्माकर।

† संज्ञा स्त्री० दे० "बाली"।

बारीक—वि० [फ़ा०] [संज्ञा बारीकी] (१) जो मोटाई या घेरे में इतना कम हो कि छूने से हाथ में कुछ मालूम न

हो। महीन। पतला। जैसे, बारीक तार या तागा, बारीक कपड़ा। (२) बहुत ही छोटा। सूक्ष्म। जैसे, बारीक अक्षर। (३) जिसके अणु बहुत ही छोटे या सूक्ष्म हों। जैसे,—(क) बारीक आटा। (ख) इस दवा को खूब बारीक पीसकर लाओ। (४) जिसकी रचना में दृष्टि की सूक्ष्मता और कला की निपुणता प्रकट हो। जैसे,—उस मंदिर में पत्थर पर बहुत बारीक काम बना है। (५) जिसे समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि आवश्यक हो। जो बिना अच्छी तरह ध्यान से सोचे समझ में न आए। जैसे, बारीक बात।

बारीका-संज्ञा पुं० [फ़ा० बारीक] बालों की वह महीन क़लम जिससे चित्रकारी में पतली पतली रेखाएँ खींची जाती हैं।

बारीकी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) महीनपन। पतलापन। (२) साधारण दृष्टि से न समझ में आनेवाला गुण या विशेषता। ख़ूबी। जैसे, मज़मून की बारीकी।

मुहा०—बारीकी निकालना=ऐसी बात निकालना जो साधारण दृष्टि से देखने पर समझ में न आ सके। सूक्ष्म उद्भावना करना।

बारीख़ाना-संज्ञा पुं० [हिं० बरी+फ़ा० ख़ाना] नील के कारख़ाने में वह स्थान जहाँ नील की बरी या टिकिया सुखाई जाती है।

बारीस*-संज्ञा पुं० दे० "बारीश"।

बारुणी, बारुनी-संज्ञा स्त्री० दे० "वारुणी"।

बारू*†-संज्ञा पुं० दे० "बालू"। उ०—बारू भीत बनाई रचि पचि रहत नहीं दिन चार। तैसे ही यहि सुख माया के उरझ्यो कहा गँवार ?—तेगबहादुर।

बारूत†*-संज्ञा स्त्री० दे० "बारूद"।

बारूद-संज्ञा स्त्री० [तु० बारूत] एक प्रकार का चूर्ण या बुकनी जो गंधक, शोरे और कोयले को एक में पीसकर बनती है और आग पाकर भक से उड़ जाती है। तोप बंदूक इसी से चलती हैं। दारू।

विशेष—ऐसा पता चलता है कि इसका प्रयोग भारतवर्ष और चीन में बंदूक आदि अग्न्यस्त्र और तमाशे में बहुत पुराने ज़माने से किया जाता था। अशोक के शिलालेखों में अग्निखंध वा अग्निस्कंध शब्द तमाशे (आतशबाज़ी) के लिये आया है। पर इस बात का पता आज तक विद्वानों को नहीं लगा कि सब से पहले इसका आविष्कार कहाँ कब और किसने किया है। इसका प्रचार युरोप में चौदहवीं शताब्दी में मूर (अरब) लोगों ने किया और सोलहवीं शताब्दी तक इसका प्रयोग केवल बंदूकों को चलाने में होता रहा। आज कल अनेक प्रकार की बारूदें मोटी महीन, सम विषम रवे की बनती हैं। संयोजक द्रव्यों की मात्रा निश्चित नहीं है। देश देश में प्रयोजनानुसार अंतर रहता है पर साधारण रीति से बारूद बनाने में प्रति सैकड़े ७५ से ७८ अंश तक शोरा, १० वा १२ गंधक और १२ से १५ तक कोयला पड़ता है। ये तीनों पदार्थ अच्छी तरह महीन पीस छानकर एक में मिलाए जाते हैं। फिर तारपीन का तेल वा स्पिरिट डालकर चूर्ण को भली भाँति मलना पड़ता है। इसके पीछे उसे धूप से सुखाते हैं। तमाशे की बारूद में कोयले की मात्रा अधिक डाली जाती है। कभी कभी लोहचुन भी फूल अच्छे बँधने के लिये डालते हैं। भारतवर्ष में अब बारूद बंदूक के काम की कम बनती है; प्रायः तमाशे की ही बारूद बनाई जाती है।

मुहा०—गोली बारूद=(१) लड़ाई की सामग्री। युद्ध का सामान। (२) सामग्री। आयोजन।

बारूदख़ाना-संज्ञा पुं० [हिं० बारूद+फ़ा० ख़ाना] वह स्थान जहाँ गोला बारूद आदि लड़ाई का सामान रहता है।

बारूदानी-संज्ञा स्त्री० दे० "बालदानी"।

बारे-क्रि० वि० [फ़ा०] अंत को।

बारे में-अव्य० [फ़ा० बारः+हिं० में] प्रसंग में। विषय में। संबंध में। जैसे,—मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता।

बारोमीटर-संज्ञा पुं० दे० "बैरोमीटर"।

बालंगा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] जीरे की तरह का काले रंग का एक बीज जो बहुत पुष्टिकर माना जाता और औषध के काम में आता है। इसे पानी में डालने से बहुत लासा निकलता है। तुख़्म बालंगू। तूतमलंगा।

बाल-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० बाला] (१) बालक। लड़का। वह जो सयाना न हो। वह जो जवान न हुआ हो।

विशेष—मनुष्य जन्मकाल से लेकर प्रायः १६ वर्ष की अवस्था तक बाल या बालक कहा जाता है।

(२) वह जिसको समझ न हो। नासमझ आदमी। (३) किसी पशु का बच्चा। (४) सुगंधबाला नामक गंधद्रव्य।

*संज्ञा स्त्री० दे० "बाला"।

वि० (१) जो सयाना न हो। जो पूरी बाढ़ को न पहुँचा हो। (२) जिसे उगे या निकले हुए थोड़ी ही देर हुई हो। जैसे, बालरवि।

संज्ञा पुं० [सं०] सूत की सी वस्तु जो दूध पिलानेवाले जंतुओं के चमड़े के ऊपर निकली रहती है और जो अधिकतर जंतुओं में इतनी अधिक होती है कि उनका चमड़ा ढका रहता है। लोम और केश।

विशेष—नाख़ून, सींग, पर आदि के ही समान बाल भी कड़े पड़े हुए त्वक् के विकार ही हैं। उनमें न तो संवेदनसूत्र होते हैं, न रक्तवाहिनी नालियाँ। इसीसे ऊपर से बाल

को कतरने से किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। बाल का कुछ भाग त्वचा से बाहर निकला रहता है और कुछ भीतर रहता है। जिस गड्ढे में बाल की जड़ रहती है उसे लोमकूप कहते हैं। बाल की जड़ का नीचे का सिरा मोटा और सफ़ेद रंग का होता है। बाल के दो भाग होते हैं, एक तो बाहरी तह और दूसरा मध्य का सार भाग। सार भाग आड़े रेशों से बना हुआ पाया जाता है। वहाँ तक वायु का संचार होता है।

मुहा०—बाल बाँका न होना-कुछ भी कष्ट या हानि न पहुँचना। पूर्णरूप से सुरक्षित रहना। उ०—होय न बाँको बार भक्त को जो कोउ कोटि उपाय करै।—तुलसी। बाल न बाँकना=बाल बाँका न होना। उ०—जेहि जिय मनहिं होय सत भारू। परे पहार न बाँकै बारू।—जायसी। नहाते बाल न खिसना=कुछ भी कष्ट या हानि न पहुँचना। उ०—नित उठि यही मनावति देवन न्हात खसै जनि बार।—सूर। (किसी काम में) बाल पकाना=(कोई काम करते करते) बुड्ढा हो जाना। बहुत दिनों का अनुभव प्राप्त करना। जैसे,—मैंने भी पुलिस की नौकरी में ही बाल पकाए हैं। बाल बराबर=बहुत सूक्ष्म। बहुत महीन या पतला। बाल बराबर न समझना=कुछ भी परवा न करना। अत्यंत तुच्छ समझना। बाल बाल बचना=कोई आपत्ति पड़ने या हानि पहुँचने में बहुत थोड़ी कसर रह जाना। जैसे,—पत्थर आया, वह बाल बाल बच गया।

संज्ञा स्त्री० [?] कुछ अनाजों के पौधों के डंठल का वह अग्र भाग जिसके चारों ओर दाने गुछे रहते हैं। जैसे, जौ, गेहूँ या ज्वार की बाल।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली।

संज्ञा पुं० [अं०] अंगरेज़ी नाच।

बालक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लड़का। पुत्र। (२) थोड़ी उम्र का बच्चा। शिशु। (३) अबोध व्यक्ति। अनजान आदमी। (४) हाथी का बच्चा। (५) घोड़े का बच्चा। बछेड़ा। उ०—जात बालका समुंद थहाए। स्वेत पूँछ जनु चँवर बनाए।—जायसी। (६) सुगंधबाला। नेत्रबाला। (७) कंगन। (८) बाल। केश। (९) अँगूठा। (१०) हाथी की दुम।

बालकताई-संज्ञा स्त्री० [सं० बालकता+ई (प्रत्य०)] (१) बाल्यावस्था। (२) लड़कपन। नासमझी। उ०—तुव प्रसाद रघुकुल कुसलाई। छमा करहु गुनि बालकताई।—रघुराजसिंह।

बालकपन†-संज्ञा पुं० [सं० बालक+पन (प्रत्य०)] (१) बालक होने का भाव। (२) लड़कपन। नासमझी।

बालकप्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केला। (२) इंद्रवारुणी

बालकांड-संज्ञा पुं० [सं०] रामायण का वह भाग जिसमें रामचंद्रजी के जन्म तथा बाल-लीला आदि का वर्णन है।

बालकाल-संज्ञा पुं० [सं०] बालक होने की अवस्था। बाल्यावस्था। बचपन।

बालकी-संज्ञा स्त्री० [सं० बालक] कन्या। लड़की। पुत्री।

बालकृमि-संज्ञा पुं० [सं०] जूँ।

बालकृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] उस समय के कृष्ण जिस समय वे छोटी अवस्था के थे। बाल्यावस्था के कृष्ण।

बालकेलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लड़कों का खेल। खिलवाड़। (२) ऐसा काम जिसके करने में कुछ भी परिश्रम न पड़े। बहुत ही साधारण या तुच्छ काम।

बालक्रीड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वे कार्य्य जो छोटे छोटे बच्चे किया करते हैं। लड़कों के खेल और काम।

बालखंडी-संज्ञा पुं० [?] वह हाथी जिसमें कोई दोष हो।

बालखिल्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार ब्रह्मा के रोएँ से उत्पन्न ऋषियों का एक समूह जिसका प्रत्येक ऋषि डीलडौल में अँगूठे के बराबर है। इस समूह में साठ हज़ार ऋषि माने जाते हैं जो सब के सब बड़े भारी तपस्वी हैं। ये सब ऊर्द्ध्वरेता हैं।

बालखोरा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक रोग जिसमें सिर के बाल झड़ जाते हैं।

बालगोपाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल्यावस्था के कृष्ण। (२) परिवार के लड़के लड़कियाँ आदि। बाल बच्चे।

बालगोविंद-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण का बालक-स्वरूप। बालकृष्ण।

बालग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] बालकों के प्राणघातक नौ ग्रह जिनके नाम ये हैं—(१) स्कंद, (२) स्कंदापस्मार, (३) शकुनी, (४) रेवती, (५) पूतना, (६) गंधपूतना, (७) शीतपूतना, (८) मुख-मंडिका और (९) नैगमेय। कहते हैं कि जिस घर में देवयाग और पितृयाग आदि न हो, देवता, ब्राह्मण और अतिथि का सत्कार न हो, आचार विचार आदि का ध्यान न रहता हो, उसमें इन ग्रहों में से कोई ग्रह घुस कर गुप्त रूप से बालक की हत्या कर डालता है। यद्यपि बालक पर भिन्न भिन्न ग्रहों के आक्रमण का भिन्न भिन्न परिणाम होता है, तथापि कुछ लक्षण ऐसे हैं जो सभी ग्रहों के आक्रमण के समय प्रकट होते हैं। जैसे, बच्चे का बार बार रोना, उद्विग्न होना, नाखूनों या दाँतों से अपना या दूसरों का बदन नोचना, दाँत पीसना, होंठ चबाना, भोजन न करना, दिल धड़कना, बेहोश हो जाना इत्यादि। बालग्रह का प्रकोप होते ही उनकी शांति के लिए पूजन आदि किया जाना चाहिए। (साधारणतः

ये कुछ विशिष्ट रोग ही हैं जो ग्रहों के रूप में मान लिए गए हैं।)

बालचर्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालकों की चर्य्या। (२) कार्त्तिकेय।

बालछड़–संज्ञा स्त्री० [देश०] जटामासी।

बालटी–संज्ञा स्त्री० [अं० बकेट] एक प्रकार की डोलची जिसका पेंदा चिपटा और जिसका घेरा नीचे की ओर सँकरा और ऊपर की ओर अधिक चौड़ा होता है। इसमें ऊपर की ओर उठाने के लिये एक दस्ता भी लगा रहता है।

बालतंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] बालकों के लालनपालन आदि की विद्या। कौमारभृत्य। दायागिरी।

बालतनय–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

बालद†–संज्ञा पुं० [सं० बलद] बैल।

बालदलक–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का पेड़।

बालधि–संज्ञा पुं० [सं०] दुम। पूँछ। उ०—कानन दलि होरी रचि बनाइ। हठि तेल बसन बालधि बँधाइ।—तुलसी।

बालधी–संज्ञा स्त्री० [सं० बालधि] पूँछ। दुम।

बालना–क्रि० स० [सं० ज्वलन] (१) जलाना। जैसे, आग बालना। (२) रोशन करना। प्रज्वलित करना। जैसे, दीआ बालना।

बालपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खैर का पेड़। (२) जवासा।

बालपन–संज्ञा पुं० [सं० बाल+पन (प्रत्य०)] (१) बालक होने का भाव। (२) बालक होने की अवस्था। लड़कपन। बचपन।

बालपाश्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] सिर के बालों में पहनने का प्राचीन काल का एक प्रकार का आभूषण।

बालपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही।

बालबच्चे–संज्ञा पुं० [सं० बाल+हिं० बच्चा] लड़केबाले। संतान। औलाद।

बालविधवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो बाल्यावस्था ही में विधवा हो गई हो।

बालविवाह–संज्ञा पुं० [सं०] वह विवाह जो बाल्यावस्था में ही हो। छोटी अवस्था में होनेवाला विवाह।

बालबुद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों की सी बुद्धि। छोटी बुद्धि। थोड़ी अक्ल।

वि० जिसकी बुद्धि बच्चों की सी हो। बहुत ही थोड़ी बुद्धिवाला। मंदबुद्धि।

बालबोध–संज्ञा स्त्री० [सं०] देवनागरी लिपि।

वि० जो बालकों की समझ में भी आ जाय। बहुत सहज।

बालब्रह्मचारी–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य्य-व्रत धारण किया हो। बहुत ही छोटी उम्र से ब्रह्मचर्य रखनेवाला।

बालभद्रक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विष जिसे शांभव भी कहते हैं।

बालभोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नैवेद्य जो देवताओं, विशेषतः बालकृष्ण आदि की मूर्त्तियों के सामने प्रातःकाल रखा जाता है। (२) जल-पान। कलेवा। नाश्ता।

बालभोज्य–संज्ञा पुं० [सं०] चना।

बालभैषज्य–संज्ञा पुं० [सं०] रसांजन।

बालम–संज्ञा पुं० [सं० वल्लभ] (१) पति। स्वामी। (२) प्रणयी। प्रेमी। जार।

बालमत्स्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी मछली जिसके ऊपर छिलका नहीं होता। इसका मांस पथ्य और बलकारक माना जाता है।

बालमुकुंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल्यावस्था के श्रीकृष्ण। (२) श्रीकृष्ण की शिशुकाल की वह मूर्त्ति जिसमें वे घुटनों के बल चलते हुए दिखाए जाते हैं।

बालमूलक–संज्ञा पुं० [सं०] छोटी और कच्ची मूली जो वैद्यक के अनुसार कटु, उष्ण, तिक्त, तीक्ष्ण तथा श्वास, अर्श, क्षय और नेत्र रोग आदि की नाशक, पाचक, तथा बलवर्धक मानी जाती है।

बालमूलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] आमड़े का पेड़।

बालरस–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार की औषध जो पारे, गंधक और सोनामक्खी से बनाई जाती और बालकों को पुराने ज्वर, खाँसी और शूल आदि में दी जाती है।

बालराज–संज्ञा पुं० [सं०] वैदूर्य मणि।

बाललीला–संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों के खेल। बालकों की क्रीड़ा।

बालव–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार दूसरा करण जिसमें शुभ कर्म्म करना वर्जित नहीं है। कहते हैं कि इस करण में जिसका जन्म होता है, वह बहुत कार्यकुशल, अपने परिवार के लोगों का पालन करनेवाला, कुलशील-संपन्न, उदार तथा बलवान् होता है। दे० "करण"।

बालवत्स्य–संज्ञा पुं० [सं०] कबूतर।

बालविधु–संज्ञा पुं० [सं०] अमावास्या के पीछे का नया चंद्रमा। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चंद्रमा।

बालव्यजन–संज्ञा पुं० [सं०] चामर। चँवर।

बालव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] मंजुश्री या मंजुघोष का एक नाम।

बालसाँगड़ा, बालसिंगड़ा–संज्ञा पुं० [सं० बालशृंखला] कुश्ती का एक पेंच।

बालसूर्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदयकाल के सूर्य। प्रातःकाल के, उगते हुए सूर्य। (२) वैदूर्य मणि।

बाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युवती स्त्री। जवान स्त्री। बारह-

तेरह वर्ष से सोलह-सत्रह वर्ष तक की अवस्था की स्त्री। (२) पत्नी। भार्या। जोरू। (३) स्त्री। औरत। (४) बहुत छोटी लड़की। दो वर्ष तक की अवस्था की लड़की। (५) पुत्री। कन्या। (६) नारियल। (७) हलदी। (८) बेले का पौधा। (९) ख़ैर का पेड़। (१०) हाथ में पहनने का कड़ा। (११) घी-कुआर। (१२) सुगंधबाला। (१३) मोइया वृक्ष। (१४) नीली कटसरैया। (१५) एक वर्ष की अवस्था की गाय। (१६) इलायची। (१७) चीनी ककड़ी। (१८) दस महाविद्याओं में से एक महाविद्या का नाम। (१९) एक प्रकार की कीड़ी जो गेहूँ की फ़सल के लिए बहुत नाशक होती है। (२०) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन रगण और एक गुरु होता है।

वि० [फ़ा०] जो ऊपर की ओर हो। ऊँचा।

मुहा०—बोल बाला रहना=सम्मान और आदर का सदा बढ़ा रहना। बाला बाला=(१) ऊपर ही ऊपर। उनसे अलग जिनके द्वारा कोई काम होना चाहिए या कोई वस्तु भेजी जानी चाहिए। जैसे,—तुमने बाला बाला दरख़ास्त भेज दी। (२) बाहर बाहर। वहाँ से होते हुए नहीं जहाँ से होते हुए जाना चाहिए था। जैसे,—तुम बाला बाला चले गए, मेरे यहाँ उतरे नहीं। (३) इस प्रकार जिसमें किसी को मालूम न हो।

संज्ञा पुं० [हिं० बाल] जो बालकों के समान अज्ञान हो। बहुत ही सीधा सादा। सरल। निश्छल।

यौ०—बाला भोला=बहुत ही सीधा सादा। उ०—तन बेसँभार केस औ चोली। चित अचेत जनु बाली भोली।—जायसी।

बालाई—संज्ञा स्त्री० दे० "मलाई"।

वि० [फ़ा०] (१) ऊपरी। ऊपर का। (२) वेतन या नियत आय के अतिरिक्त। निश्चित आय के सिवा। जैसे, बालाई आमदनी।

बाला-कुप्पी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बाला=ऊँचा+कुप्पी] प्राचीन काल का एक प्रकार का दंड जो अपराधियों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने के लिए दिया जाता था। इसमें अपराधी को एक छोटी पीढ़ी पर, जो एक ऊँचे खंभे से लटकती होती थी, बैठा देते थे; फिर उस पीढ़ी को रस्सी के सहारे ऊपर खींच कर एक दम से नीचे गिरा देते थे। इसमें आदमी के प्राण तो नहीं जाते थे, पर उसे बहुत अधिक शारीरिक कष्ट होता था।

बालाखाना—संज्ञा पुं० [फ़ा०] कोठे के ऊपर की बैठक। मकान के ऊपर का कमरा।

बालादस्ती—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) अनुचित रूप से हस्तगत करना। नामुनासिब तौर से वसूल करना। (२) ज़बरदस्ती। बल-प्रयोग।

बालापन†—संज्ञा पुं० [सं० बाल+हिं० पन] लड़कपन। बचपन।

बालाबर—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का अँगरखा जिसमें चार कलियाँ और छः बंद होते हैं। विशेष—दे० "अँगरखा"।

बालारोग†—संज्ञा पुं० [हिं० बाल=लोम+रोग] नहरुआ रोग।

बालार्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रातःकाल का सूर्य्य। (२) कन्या राशि में स्थित सूर्य्य।

बालि—संज्ञा पुं० [सं०] पंपा किष्किंधा का वानर राजा जो अंगद का पिता और सुग्रीव का बड़ा भाई था।

विशेष—कहते हैं कि एक बार मेरु पर्वत पर तपस्या करते समय ब्रह्मा की आँखों से गिरे हुए आँसुओं से एक बंदर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋक्षराज था। एक बार ऋक्षराज पानी में अपनी छाया देख कर कूद पड़ा। पानी में गिरते ही उसने एक सुंदर स्त्री का रूप धारण कर लिया। एक बार उस स्त्री को देख कर इंद्र और सूर्य्य मोहित हो गए। इंद्र ने अपना वीर्य उसके मस्तक पर और सूर्य्य ने अपना वीर्य उसके गले में डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्री को इंद्र के वीर्य से बालि और सूर्य्य के वीर्य से सुग्रीव नामक दो बंदर उत्पन्न हुए। इसके कुछ दिनों पीछे उस स्त्री ने फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया। ब्रह्मा की आज्ञा से उसके पुत्र किष्किंधा में राज्य करने लगे। एक बार बालि किसी दैत्य का पीछा करने के लिए पाताल गया था। उसके पीछे सुग्रीव ने उसका राज्य ले लिया; पर बालि ने आते ही उसे मार भगाया और वह अपनी स्त्री तारा तथा सुग्रीव की स्त्री रूमा को लेकर सुख से रहने लगा। सुग्रीव ने भाग कर मतंग के आश्रम में आश्रय लिया।

एक बार रावण ने किष्किंधा पर आक्रमण किया था। उस समय बालि दक्षिण-सागर में संध्या कर रहा था। रावण को देखते ही उसने बगल में दबा लिया। अंत में उसके हार मानने पर बालि ने उसे छोड़ दिया।

जिस समय रामचंद्र सीता को ढूँढ़ते हुए किष्किंधा पहुँचे थे, उस समय मतंग के आश्रम में सुग्रीव से उनकी भेंट हुई थी। उसी समय सुग्रीव के कहने से उन्होंने बालि का बध किया था, सुग्रीव को राज्य दिलाया था और बालि के लड़के अंगद को वहाँ का युवराज बनाया था। रावण के साथ युद्ध करने में सुग्रीव और अंगद ने रामचंद्र की बहुत सहायता की थी।

बालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटी लड़की। कन्या। (२) पुत्री। बेटी। (३) छोटी इलायची। (४) कान में पहनने की बाली (५) बालू।

बालिकुमार—संज्ञा पुं० [सं०] बालि नामक बंदर का लड़का अंगद जो रामचंद्र की सेवा में था।

बालिग—संज्ञा पुं० [अ०] वह जो बाल्यावस्था को पार कर चुका

हो। जो अपनी पूरी अवस्था को पहुँच चुका हो। जवान। प्राप्त-वयस्क। नाबालिग़ का उलटा।

विशेष—कानून के अनुसार कुछ बातों के लिये २१ वर्ष और कुछ बातों के लिये १८ वर्ष या इससे अधिक अवस्था का मनुष्य बालिग़ माना जाता है।

बालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्विनी नक्षत्र का एक नाम।

बालिश-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] तकिया।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) बालक। शिशु। (२) मूर्ख। अबोध व्यक्ति। नासमझ।

वि० [सं०] अबोध। अज्ञान। नासमझ। बेवक़ूफ़। उ०—(क) कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल केधौं क्रूर काल बस तमकि त्रिदोष हैं।—तुलसी। (ख) बालिस बासी अवध के बूझियो न खाको। ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहाँ मुनि मन थाको।—तुलसी।

बालिश्त-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की माप जो प्रायः बारह अंगुल से कुछ ऊपर और लगभग आध फुट के होती है। हाथ के पंजे को भरपूर फैलाने पर अँगूठे की नोक से लेकर कानी उँगली की नोक तक की दूरी। बित्ता। बीता।

बालिश्य-संज्ञा पुं० [सं०] मूर्खता। अज्ञानता। नासमझी। बेवकूफ़ी।

बालिस-ट्रेन-संज्ञा स्त्री० [अं० बैलास्ट ट्रेन] वह रेलगाड़ी जिस पर सड़क बनाने के सामान (कंकड़ आदि) लाद कर भेजे जाते हैं।

बाली-संज्ञा स्त्री० [सं० बालिका] कान में पहनने का एक प्रसिद्ध आभूषण जो सोने या चाँदी के पतले तार का गोलाकार बना होता है। इसमें शोभा के लिये मोती आदि भी पिरोए जाते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बाल] जौ गेहूँ ज्वार आदि के पौधों का वह ऊपरी भाग या सींका जिसमें अन्न के दाने लगते हैं। दे० "बाल"।

संज्ञा स्त्री० [देश०] हथौड़े के आकार का कसेरों का एक औज़ार जिससे वे लोग बरतनों की कोर उठाते हैं।

संज्ञा पुं० दे० "बालि"।

बाली-सबरा-संज्ञा पुं० [बाली ? + हिं० सबरा] वह सबरा जिस से कसेरे थाली या परात की कोर उभारते हैं।

बालुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एलुवा। (२) पनिबालू।

बालुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रेत। बालू। (२) एक प्रकार का कपूर। (३) ककड़ी।

बालुकायंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] औषध आदि को फूँकने का वह यंत्र जिसमें औषध को बालू भरी हाँड़ी में रख कर आग पर रखते या आग से चारों ओर से ढँकते हैं।

बालुकास्वेद-संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार पसीना कराने के लिये गरम बालू की गरमी पहुँचाने की क्रिया।

बालुकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की ककड़ी।

बालू-संज्ञा पुं० [सं० बालुका] पत्थर या चट्टानों आदि का वह बहुत ही महीन चूर्ण या कण जो वर्षा के जल आदि के साथ पहाड़ों पर से बह आता और नदियों के किनारों आदि पर, अथवा ऊसर ज़मीन या रेगिस्तानों में बहुत अधिक पाया जाता है। रेणुका। रेत।

मुहा०—बालू की भीत=ऐसी वस्तु जो शीघ्र ही नष्ट हो जाय अथवा जिसका भरोसा न किया जा सके। उ०—बिनसत बार न लागहीं ओछे जन की प्रीत। अंबर डंबर साँझ के ज्यों बालू की भीत।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो दक्षिण भारत और लंका के जलाशयों में पाई जाती है।

बालूक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का विष।

बालूचर-संज्ञा पुं० [बालूचर=एक स्थान] बंगाल के बालूचर नामक स्थान का गाँजा जो बहुत अच्छा समझा जाता है। (अब यह गाँजा और स्थानों में भी होने लगा है।)

बालूचरा-संज्ञा पुं० [हिं० बालू+चर] वह भूमि जिस पर बहुत उथला या छिछला पानी भरा हो। चर। (लश०)

बालूदानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बालू+फ़ा० दानी] एक प्रकार की झँझरीदार डिबिया जिसमें लोग बालू रखते हैं। इस बालू से वे स्याही सुखाने का काम लेते हैं। (साधारणतः वहीखाता लिखनेवाले लोग, जो सोख़्ते का व्यवहार नहीं करते, इसी बालूदानी से तुरंत के लिखे हुए लेखों पर बालू छिड़कते हैं और फिर उस बालू को उसी डिबिया की झँझरी पर उलट कर उसे डिबिया में भर लेते हैं। प्राचीन काल में इसी प्रकार लेखों की स्याही सुखाई जाती थी।

बालूबुर्द-वि० [हिं० बालू+फ़ा० बुर्द=ले गया] बालू द्वारा नष्ट किया हुआ।

संज्ञा पुं० वह भूमि जिसकी उर्वरा शक्ति बालू पड़ने के कारण नष्ट हो गई हो।

बालूसाही-संज्ञा स्त्री० [हिं० बालू+साही=अनुरूप] एक प्रकार की मिठाई। इसके लिये पहले मैदे की छोटी छोटी टिकिया बना लेते हैं और उनको घी में तल कर दो तार के शीरे में डुबा कर निकाल लेते हैं। यह खाने में बालू सी खस-खसी होती है।

बालेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गदहा। खर। (२) चावल।

वि० (१) मृदु। कोमल। (२) जो बालकों के लिये लाभदायक हो। (३) जो बलि देने के योग्य हो। बलि-दान करने लायक।

बालेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] बेर।

बाल्टी–संज्ञा स्त्री० दे० "बालटी"।

बाल्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल का भाव। लड़कपन। बचपन। (२) बालक होने की अवस्था।

वि० (१) बालक-संबंधी। बालक का। (२) बालक की अवस्था से संबंध रखनेवाला। बचपन का।

बाल्यावस्था–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रायः सोलह सत्रह वर्ष तक की अवस्था। बालक होने की अवस्था। युवावस्था से पहले की अवस्था। लड़कपन।

बाव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। हवा। पवन। उ०—दादू बलि तुम्हारे बाप जी गिणत न राणा राव। मीर मलिक प्रधान पति तुम बिन सब ही बाव।—दादू। (२) बाई। (३) अपान वायु। पाद। गोज।

मुहा०—**बाव सरना**–अपान वायु का निकलना। पाद निकलना।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बाब] ज़मींदारों का एक हक़ जो उनको असामी की कन्या के विवाह के समय मिलता है। मँड़वच। भुरस।

बावड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० वाप+ड़ी (प्रत्य०)] (१) वह चौड़ा और बड़ा कुआँ जिसमें उतरने के लिये सीढ़ियाँ होती हैं। बावली। (२) छोटा तालाब।

बावन–संज्ञा पुं० दे० "वामन"।

संज्ञा पुं० [सं० द्विपंचाशत पा० द्विपण्णासा, प्रा० बिवण्णा] पचास और दो की संख्या या उसका सूचक अंक, जो इस प्रकार लिखा जाता है—५२।

वि० पचास और दो। छब्बीस का दूना।

मुहा०—**बावन तोले पाव रत्ती**=जो हर तरह से बिलकुल ठीक हो। बिलकुल दुरुस्त। जैसे,—आपकी सभी बातें बावन तोले पाव रत्ती हुआ करती हैं। **बावन बीर**=बहुत अधिक वीर या चतुर। बड़ा बहादुर और चालाक।

बावनवाँ–वि० [हिं० बावन+वाँ (प्रत्य०)] गिनती में बावन के स्थान पर पड़नेवाला। जो क्रम में बावन के स्थान पर हो।

बावना–वि० दे० "बौना"।

बावभक–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाव=वायु+अनु० भक] पागलपन। सिड़ीपन। झक।

बावर*†–वि० [सं० वातुल, प्रा० बाउल, हिं० बावला] (१) पागल। बावला। उ०—पियवियोग अस बावर जीऊ। पपिहा जस बोलै पिउ पीऊ।—जायसी। (२) मूर्ख। बेवकूफ़। निर्बुद्धि। उ०—राजैं दुहूँ दिसा फिर देखा। पंडित बावर, कौन सरेखा।—जायसी।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] यक़ीन। विश्वास।

बावर्ची–संज्ञा पुं० [फ़ा०] भोजन पकानेवाला। रसोइया।

यौ०—बावर्चीख़ाना।

बावर्चीख़ाना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] भोजन पकने का स्थान। पाकशाला। रसोईघर।

बावरा–वि० दे० "बावला"।

बावरि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बावली"।

बावरी†–वि० दे० "बावली"।

बावल–संज्ञा पुं० [सं० वायु] आँधी। अंधड़। (डिंगल)

बावला–वि० [सं० वातुल, प्रा० बाउल] जिसे वायु का प्रकोप हो। पागल। विक्षिप्त। सनकी।

बावलापन–संज्ञा पुं० [हिं० बावला+पन (प्रत्य०)] पागलपन। सिड़ीपन। झक।

बावली–संज्ञा स्त्री० [सं० वाप+ड़ी या ली (प्रत्य०)] (१) चौड़े मुँह का कुआँ जिसमें पानी तक पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हों। (२) छोटा गहरा तालाब जिसमें पानी तक सीढ़ियाँ हों। (३) हजामत का एक प्रकार जिसमें माथे से लेकर चोटी के पास तक के बाल चार पाँच अंगुल चौड़ाई में मूँड़ दिए जाते हैं जिससे सिर के ऊपर चूल्हे का सा आकार बन जाता है।

बावाँ*†–वि० [सं० वाम] (१) बाईं ओर का। (२) प्रतिकूल। विरुद्ध। उ०—(क) प्रभु रुख निरखि निरास भरत भए जान्यो है सबहि भाँति विधि बावों।—तुलसी। (ख) धरहु धीर बलि जाउँ तात मोकौं आजु विधाता बावों।—तुलसी।

बाशिंदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] रहनेवाला। निवासी।

बाष्कल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दैत्य का नाम। (२) वीर। योद्धा। (३) एक उपनिषद् का नाम। (४) एक ऋषि का नाम।

बाष्प–संज्ञा पुं० [सं० बाष्प] (१) भाप। (२) लोहा। (३) अश्रु। आँसू। (४) एक प्रकार की जड़ी। (५) गौतम बुद्ध के एक शिष्य का नाम।

बाष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] हिंगुपत्री।

बासंतिक–वि० [सं०] (१) बसंतऋतु संबंधी। (२) बसंत ऋतु में होनेवाला।

बासंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अड़ूसा। बासा। (२) माधवीलता।

बास–संज्ञा पुं० [सं० वास] (१) रहने की क्रिया या भाव। निवास। (२) रहने का स्थान। निवासस्थान। (३) बू। गंध। महक। (४) एक छंद का नाम। (५) वस्त्र। कपड़ा। पोशाक। उ०—(क) जहाँ कोमलै बल्कलै बास सोहैं। जिन्हैं अल्पधी कल्पशाखी विमोहैं।—केशव। (ख) पाँच घरी चौथे पहर पहिरति राते बास। करति अंग रचना विविध भूषन भेष बिलास।—देव।

संज्ञा स्त्री० [सं० वासना] वासना। इच्छा। लालच।

उ०—तिय के सम दूजो नहीं मुख सोई त्रिरेख लिख्यो विधि बास धरे।—सेवकस्याम।

संज्ञा स्त्री० [सं० वाशिः] (१) अग्नि। आग। (२) एक प्रकार का अस्त्र। उ०—गिरधरदास तीर तुपक तमंचा लिए लरैं बहु भाँति बास धार बरसैं अखंड।—गिरधर। (३) तेज़ धारवाली छुरी, चाकू, कैंची इत्यादि छोटे छोटे शस्त्र जो रण में तोपों में भर कर फेंके जाते हैं।

संज्ञा पुं० [देश०] एक वृक्ष जो बहुत ऊँचा होता है और जिसकी लकड़ी रंग में लाली लिए काली और इतनी मज़बूत होती है कि साधारण कुल्हाड़ियों से नहीं कट सकती। यह लकड़ी पलंग के पावे और दूसरे मजावटी सामान बनाने के काम में आती है। इसमें बहुत ही सुगंधित फूल लगते हैं और गोंद निकलता है जो कई कामों में आता है। पहाड़ों में यह वृक्ष ३००० फुट की ऊँचाई तक होता है। बिपरसा।

बासकर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञशाला।

बासकसज्जा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह नायिका जो अपने पति या प्रियतम के आने के समय केलि-सामग्री सज्जित करे। नायक के आने के समय उससे मिलने की तैयारी करनेवाली नायिका।

बासठ–वि० [सं० द्विषष्टि, प्रा० द्वासट्ठि, बासट्ठि] साठ और दो। इकतीस का दूना।

संज्ञा पु० साठ और दो की संख्या या उसको सूचित करनेवाला अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—६२।

बासठवाँ–वि० [सं० द्विषष्टितम, हिं० बासठ+वाँ (प्रत्य०)] जो क्रम में बासठ के स्थान पर हो। गिनती में बासठ के स्थान पर पड़नेवाला।

बासदेव–संज्ञा पुं० [सं० वाशिःदेवं] अग्नि। आग। (डिंगल)

संज्ञा पुं० दे० "वासुदेव"।

बासन–संज्ञा पु० [सं०] बरतन। भाँड़ा।

बासना–संज्ञा स्त्री० [सं० वासना] (१) इच्छा। वांछा। चाह। दे० "वासना"। (२) गंध। महक। बू। उ०—आपु भँवर आपुहि कमल आपुहि रंग सुबास। लेत आपुही बासना आपु लसत सब पास।—रसनिधि।

क्रि० स० [सं० बास] सुगंधित करना। महकाना। सुवासित करना। उ०—दै दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत।—तुलसी।

बासफूल–संज्ञा पु० [हिं० बास=गंध+फूल] (१) एक प्रकार का धान। (२) इस धान का चावल।

बासमती–संज्ञा पुं० [हिं० बास=महक+मती (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का धान। (२) इस धान का चावल जो पकाने पर अच्छी सुगंध देता है।

बासर–संज्ञा पुं० [सं० वासर] (१) दिन। (२) सवेरा। प्रातःकाल। सुबह। (३) वह राग जो सवेरे गाया जाता है। जैसे, प्रभाती, भैरवी इत्यादि। उ०—सर सौ प्रतिबासर बासर लागै। तन घाव नहीं मन प्राणन खाँगै।—केशव।

बासव–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

बासवी–संज्ञा पुं० [सं० वासवि] अर्जुन। (डिं०)

बासवीदिशा–संज्ञा पुं० [सं०] पूर्व दिशा, जो इंद्र की दिशा मानी जाती है।

बाससी–संज्ञा पुं० [सं०] कपड़ा। वस्त्र। उ०—तूल तेल बोरि बोरि जोरि जोरि बाससी। लै अपार रार ऊन दून सूत सों कसी।—केशव।

बासा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का पक्षी। (२) अड़ूसा।

संज्ञा पुं० [हिं० बाँस] एक प्रकार की घास जो आकार में बाँस के पत्तों के समान होती है। यह पशुओं को खिलाई जाती है।

संज्ञा पु० दे० "बास"।

संज्ञा पुं० दे० "पियाबाँस"।

बासित–वि० [सं० वासित] सुगंधित किया हुआ।

बासिष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं० वशिष्ठ] बनास नदी का एक नाम। ऐसा माना जाता है कि वसिष्ठजी के तप-प्रभाव से ही यह नदी प्रकट हुई थी।

बासी–वि० [सं० वासर या बास=गंध] (१) देर का बना हुआ। जो ताज़ा न हो। (खाद्य पदार्थ) जिसे तैयार हुए अधिक समय हो चुका हो और जिसका स्वाद बिगड़ चुका हो। जैसे, बासी भात, बासी पूरी, बासी मिठाई। (२) जो कुछ समय तक रखा रहा हो। जैसे, बासी पानी। (३) जो सूखा या कुम्हलाया हुआ हो। जो हरा भरा न हो। जैसे, बासी फूल, बासी साग। (४) (फल आदि) जिसे डाल से टूटे हुए अधिक समय बीत चुका हो। जिसे पेड़ से अलग हुए ज़्यादा देर हो गई हो। जैसे, बासी अमरूद, बासी आम।

मुहा०—**बासी कढ़ी में उबाल आना**=(१) बुढ़ापे मे जवानी की उमंग उठना। (२) किसी बात का समय बिलकुल बीत जाने पर उसके संबंध में कोई वासना उत्पन्न होना। (३) असमर्थ में सामर्थ्य के लक्षण दिखाई देना। **बासी मुँह**=(१) जिस मुँह मे सबेरे से कोई खाद्य पदार्थ न गया हो। जैसे,—बासी मुँह दवा पी लेना। (२) जिसने रात के भोजन के उपरांत फिर प्रातःकाल कुछ भी न खाया हो। जैसे,—मुझे क्या मालूम कि आप अभी तक बासी मुँह हैं।

वि० [सं० वासिन्] रहनेवाला। बसनेवाला।

बासु‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बास"।

बासौंधी—संज्ञा स्त्री० दे० "बसौंधी"।

बाह†—संज्ञा पुं० [सं० वाह] खेत को जोतने की क्रिया। खेत की जोताई। चास।

संज्ञा पुं० दे० "बाँह"।

बाहकी*—संज्ञा स्त्री० [सं० वाहक+ई (प्रत्य०)] पालकी ले चलनेवाली स्त्री। कहारिन। उ०—सजीं बाहकी सखी सुहाई। लीन्हीं शिविका कंध उठाई।—रघुराज।

बाहड़ी—संज्ञा स्त्री० [देश०] वह खिचड़ी जो मसाला और कुम्हड़ौरी डाल कर पकाई गई हो।

बाहन—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक बहुत लंबा पेड़, जिसके पत्ते जाड़े के दिनों में झड़ जाते हैं। इसके हीर की लकड़ी बहुत ही लाल और भारी होती है और प्रायः खराद और इमारत के काम में आती है। (२) एक पेड़ जो बहुत ऊँचा होता और जल्दी बढ़ जाता है। यह काश्मीर और पंजाब के इलाकों में अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी प्रायः आरायशी सामान बनाने के काम में आती है। सुफ़ेदा।

बाहना—क्रि० स० [सं० वहन] (१) ढोना, लादना या चढ़ा कर ले जाना या ले आना। (२) चलाना। फेंकना। (हथियार)। उ०—(क) लखि रथ फिरत असुर बहु धाए। बाहत अस्त्र नृपति पर आए।—पद्माकर। (ख) यों कहि तबहिं धनुष प्रभु ताना। भे बाहत तेहि पर सर नाना।—पद्माकर। (ग) नेही सनमुख जुरत ही तहँ मन की गिरवान। बाहत हैं रन बावरे तेरे दृग किरवान।—रसनिधि। (३) गाड़ी, घोड़े आदि को हाँकना। (४) धारण करना। लेना। पकड़ना। (५) बहना। प्रवाहित होना। उ०—(क) तजै रँग ना रँग केसरि को अँग धोवत सो रँग बाहत जात।—देव। (ख) नातरु जगत सिंधु महँ भंगा। बाहत कर्म बीचिकन संगा।—रघुनाथ। (६) खेत जोतना। खेत में हल चलाना। उ०—आज तो उसने चार बीघा बाहके दम लिया। (७) गौ, भैंस आदि को गाभिन कराना।

बाहनी*—संज्ञा स्त्री० [सं० वाहिनी] सेना। फ़ौज।

बाहबली—संज्ञा पुं० [हि० बाँह+बल] कुश्ती का एक पेंच।

बाहम—क्रि० वि० [फ़ा०] आपस में। परस्पर। एक दूसरे के साथ।

बाहर—क्रि० वि० [सं० बाह्य] (१) स्थान, पद, अवस्था या संबंध आदि के विचार से किसी निश्चित अथवा कल्पित सीमा (या मर्य्यादा) से हट कर, अलग या निकला हुआ। भीतर या अंदर का उलटा। उ०—तुलसी भीतर बाहरहुँ जौ चाहेसि उजियार।—तुलसी।

मुहा०—बाहर आना या होना=सामने आना। प्रकट होना। बाहर करना=अलग करना। दूर करना। हटाना। बाहर बाहर=ऊपर ऊपर। बाहर रहते हुए। अलग से। बिना किसी को जताए। जैसे,—वे कलकत्ते से आए तो थे, पर बाहर बाहर दिल्ली चले गए।

(२) किसी दूसरे स्थान पर। किसी दूसरी जगह। अन्य नगर या गाँव आदि में। जैसे,—(क) आप बाहर से कब लौटेंगे? (ख) उन्हें बाहर जाना था, तो मुझसे मिल तो लेते। उ०—जेहि घर कंता ते सुखी तेहि गारू तेहि गर्ब। कंत पियारे बाहरे हम सुख भूला सर्ब।—जायसी।

मुहा०—बाहर का=ऐसा आदमी जिससे किसी प्रकार का संपर्क न हो। बेगाना। पराया।

(३) प्रभाव, अधिकार या संबंध आदि से अलग। जैसे,—हम आप से किसी बात में बाहर नहीं हैं; आप जो कुछ कहेंगे, वही हम करेंगे। उ०—साईं मैं तुझ बाहरा कौड़ी हूँ नहिं पावँ। जो सिर ऊपर तुम धनी महँगे मोल बिकावँ।—कबीर। (४) बगैर। सिवा। (क्व०)

संज्ञा पुं० [हि० बाहा] वह आदमी जो कुएँ की जगत पर मोट का पानी उलटता है।

बाहरजामी*†—संज्ञा पुं० [सं० बाह्ययामी] ईश्वर का सगुणरूप। राम, कृष्ण, नृसिंह इत्यादि अवतार।

बाहरी—वि० [हि० बाहर+ई (प्रत्य०)] (१) बाहर का। बाहरवाला। (२) जो घर का न हो। पराया। गैर। (३) जो आपस का न हो। अजनबी। (४) जो केवल बाहर से देखने भर को हो। ऊपरी। जैसे,—यह सब बाहरी ठाठ है, अंदर कुछ भी नहीं है।

बाहरीटाँग—संज्ञा स्त्री० [हि० बाहरी+टाँग] कुश्ती का एक पेंच जिसमें प्रतिद्वंद्वी के सामने आते ही उसे खींचकर अपनी बगल में कर लेते हैं और उसके घुटनों के पीछे की ओर अपने पैर से आघात करके उसे पीठ की ओर ढकेलते हुए गिरा देते हैं।

बाहस—संज्ञा पुं० [डिं०] अजगर।

बाहाँजोरी—क्रि० वि० [हि० बाह+जोड़ना] भुजा से भुजा मिला कर। हाथ से हाथ मिला कर। उ०—(क) बाहाँजोरी निकसे कुंज ते प्रात रीझि रीझि कहैं बात।—सूर। (ख) राजत है दोउ बाहाँजोरी दंपति अरु ब्रजबाल।—सूर।

बाहा†—संज्ञा पुं० [हि० बाँधना] वह रस्सी जिससे नाव का डाँड़ बँधा रहता है।

बाहिज—संज्ञा पुं० [सं० बाह्य] ऊपर से। बाहर से। देखने में। उ०—(क) बाहिज नम्र देखि मोहिँ भाई। विप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं।—तुलसी। (ख) बाहिज चिंता कीन्ह बिसेखी।—तुलसी।

बाहिनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वाहिनी] (१) वह सेना जिसमें तीन गण

अर्थात् ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ सवार और ४०५ पैदल हों। (२) सेना। फ़ौज। (३) सवारी। यान। (४) नदी।

बाहिर-क्रि० वि० दे० "बाहर"।

बाही†-संज्ञा स्त्री० दे० "बाँह"।

बाहु-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुजा। हाथ। बाँह।

बाहुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा नल का उस समय का नाम जब वे अयोध्या के राजा के सारथी बने थे। (२) नकुल का नाम। (३) एक नाग का नाम।

बाहुज-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय, जिनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के हाथ से मानी जाती है।

बाहुत्राण-संज्ञा पुं० [सं०] चमड़े या लोहे आदि का वह दस्ताना जो युद्ध में हाथों की रक्षा के लिये पहना जाता है।

बाहुदंती-संज्ञा पुं० [सं० बाहुदंतिन्] इंद्र।

बाहुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम। (२) राजा परीक्षित की पत्नी का नाम।

बाहुप्रलंब-वि० [सं०] जिसकी बाँहें बहुत लंबी हों। आजानु-बाहु। (ऐसा व्यक्ति बहुत वीर माना जाता है।)

बाहुबल-संज्ञा पुं० [सं०] पराक्रम। बहादुरी। उ०—श्री हरि-दास के स्वामी श्याम कुंजविहारी कहत राखि लै बाहुबल हौं बपुरा काम दहा।—स्वा० हरिदास।

बाहुभेदी-संज्ञा पुं० [सं० बाहुभेदिन्] विष्णु।

बाहुमूल-संज्ञा पुं० [सं०] कंधे और बाँह का जोड़।

बाहुयुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] कुश्ती।

बाहुरना†-क्रि० अ० दे० "बहुरना"।

बाहुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध के समय हाथ में पहनने की एक वस्तु जिससे हाथ की रक्षा होती थी। दस्ताना। (२) कार्त्तिक मास। (३) अग्नि। आग।

बाहुलग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] मोर।

बाहुल्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुतायत। अधिकता। ज़्यादती।

बाहुविस्फोट-संज्ञा पुं० [सं०] ताल ठोंकना।

बाहुशाली-संज्ञा पुं० [सं० बाहुशालिन्] (१) शिव। (२) भीम। (३) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) एक दानव का नाम।

बाहुशोष-संज्ञा पुं० [सं०] बाँह में होनेवाला एक प्रकार का वायु रोग जिसमें बहुत पीड़ा होती है।

बाहुश्रुत्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुश्रुत होने का भाव। बहुत सी बातों को, सुन कर, प्राप्त की हुई जानकारी।

बाहुसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय, जिनकी उत्पत्ति ब्रह्माकी बाँह से मानी जाती है।

बाहुहजार-संज्ञा पु० दे० "सहस्रबाहु"।

बाहू-संज्ञा स्त्री० दे० "बाहु"।

बाहेर-क्रि० वि० [हिं० बाहर] अपने स्थान से या पद आदि से च्युत। पतित। निकृष्ट। उ०—कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक वेद बाहेर सब भाँती।—तुलसी।

बाह्मन-संज्ञा पुं० दे० "ब्राह्मण"।

बाह्य-वि० [सं०] बाहरी। बाहर का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भार ढोनेवाला पशु। जैसे, बैल, गधा, ऊँट आदि। (२) सवारी। यान।

बाह्यकर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम।

बाह्यकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

बाह्यतपश्चर्य्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार तपस्या का एक भेद। यह छः प्रकार की होती है—अनशन, औनोदर्य, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और लीनता।

बाह्यद्रुति-संज्ञा पुं० [सं०] पारे का एक संस्कार। (वैद्यक)

बाह्यपटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जवनिका। नाटक का परदा।

बाह्याभ्यंतर-संज्ञा पु० [सं०] प्राणायाम का एक भेद जिसमें आते और जाते हुए श्वास को कुछ कुछ रोकते रहते हैं।

बाह्याभ्यंतराक्षेपी-संज्ञा पुं० [सं०] प्राणायाम का एक भेद। जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उसे निकलने न देकर उलटे लौटाना; और जब भीतर जाने लगे तब उसको बाहर रोकना।

बाह्यविद्रधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें शरीर के किसी स्थान में सूजन और फोड़े की सी पीड़ा होती है। इस रोग में रोगी के मुँह अथवा गुदा से मवाद निकलता है। यदि मवाद गुदा से निकले तब तो रोगी साध्य माना जाता है; पर यदि मवाद मुँह से निकले तो वह असाध्य समझा जाता है।

बाह्यविषय-संज्ञा पुं० [सं०] प्राण को बाहर अधिक रोकना।

बाह्यवृत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राणायाम का एक भेद जिसमें भीतर से निकलते हुए श्वास को धीरे धीरे रोकते हैं।

बाह्याचरण-संज्ञा पुं० [सं०] केवल दिखौआ आचरण। आडंबर। ढकोसला।

बाह्यायाम-संज्ञा पुं० [सं०] वायु संबंधी एक रोग जिसमें रोगी की पीठ की नसें खिँचने लगती हैं और उसका शरीर पीछे की ओर को झुकने लगता है। धनुस्तंभ।

बाह्लीक-संज्ञा पुं० [सं०] कांबोज के उत्तर प्रदेश का प्राचीन नाम जहाँ आज कल बलख है। यह स्थान काबुल से उत्तर की ओर पड़ता है। इसका प्राचीन पारसी नाम बख्तर है जिससे यूनानी शब्द बैक्ट्रिया बना है।

बिंग*†-संज्ञा पुं० [सं० व्यंग्य] (१) वह चुभती हुई बात जिसका कुछ गूढ़ अर्थ हो। व्यंग्य। काकोक्ति। विशेष—दे० "व्यंग्य"। उ०—(क) करत बिंग ते बिंग दूसरी जुक्त अलंकृत माँही। सूरदास ग्वालिन की बातें

को कस समुझत हाँही।—(ख) प्रेम प्रशंसा विनय बिंग जुत सुनि बिधि की बर बानी। तुलसी मुदित महेस मनहिं मन जगत मातु मुसुकानी।—तुलसी। (२) आक्षेप-पूर्ण वाक्य। ताना।

क्रि० प्र०—छोड़ना।—बोलना।

बिंजन*†-संज्ञा पुं० [सं० व्यंजन] भोज्य पदार्थ। खाने की सामग्री। उ०—मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई।—तुलसी।

बिंद*†-संज्ञा पुं० [सं० विंदु] (१) पानी की बूँद। (२) दोनों भँवों के मध्य का स्थान। भ्रूमध्य। (३) वीर्य्य बुंद। उ०—जो कामी नर कृपण कहि करे आपनी रिंद। तदपि अकार्थ न दीजिये विद्या बिंदरु जिंद।—रघुनाथदास। (४) बिंदी। माथे का गोल तिलक। उ०—(क) मृगमद बिंद अनिंद सास खामिंद हिंद भुव।—गोपाल। (ख) किधौं सु अधपक आम में मानहु मिलो अमंद। किधौं तनक है तम दुर्यो कै ठोढ़ी को बिंद।—पद्माकर।

बिंदा-संज्ञा स्त्री० [सं० वृंदा] एक गोपी का नाम। उ०—इंदा बिंदा राधिका श्यामा कामा नारि।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० बिंदु] (१) माथे पर का गोल और बड़ा टीका। बेंदा। बुंदा। बड़ी बिंदी। उ०—मृगमद बिंदा ता में राजे। निरखत ताहि काम सत लाजे।—सूर। (२) इस आकार का कोई चिह्न।

बिंदी-संज्ञा स्त्री० [सं० विंदु] (१) सुन्ना। शून्य। सिफर। बिंदु। (२) माथे पर लगाने का गोल छोटा टीका। बिंदुली। (३) इस आकार का कोई चिह्न।

बिंदुका-संज्ञा पुं० [सं० विंदु] (१) बिंदी। गोल टीका। उ०—लट लटकनि मोहन मिस बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।—सूर। (२) इस आकार का कोई चिह्न।

बिंदुरी†-संज्ञा स्त्री० [सं० विंदु] (१) माथे पर का गोल टीका। बिंदी। बिंदुली। टिकुली। (२) इस आकार का कोई चिह्न।

बिंदुली-संज्ञा स्त्री० [सं० विंदु] बिंदी। टिकुली। उ०—चंदन बिंदुली भाल की भुज आप बनाए।—सूर।

बिंद्राबन-संज्ञा पुं० दे० "वृंदाबन"।

बिंध†-संज्ञा पुं० दे० "विंध्याचल"।

बिंधना-क्रि० अ० [सं० वेधन] (१) बींधना का अकर्मक रूप। बींधा जाना। छेदा जाना। (२) फँसना। उलझना।

बिंधिया-संज्ञा पुं० [हिं० बींधना+इया (प्रत्य०)] वह जो मोती बींधने का काम करता हो। मोती में छेद करनेवाला।

बिंब-संज्ञा पुं० [सं० बिंब] (१) प्रतिबिंब। छाया। अक्स। (२) कमंडलु। (३) प्रतिमूर्त्ति। (४) कुंदरू नामक फल। (५) सूर्य या चंद्रमा का मंडल। (६) कोई मंडल। (७) गिरगिट। (८) सूर्य्य। (डिं०)। (९) झलक। आभास। उ०—बिरह बिंब अकुलाय उर त्यों पुनि कछु न सुहाय। चित न लगत कहूँ कैसहूँ मो उद्वेग बनाय।—पद्माकर। (१०) छंद विशेष। उ०—फल अधर बिंब जासो। कहि अधरनाम तासो। लहत द्युति कौन मूँगा। बर्णि जग होत गूँगा।—गुमान।

संज्ञा पुं० दे० "बाँबी"। उ०—साकट का मुख बिंब है निकसत बचन भुजंग। ताकी औषधि मौन है बिष नहिं व्यापै अंग।—कबीर।

बिंबक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा या सूर्य का मंडल। (२) कुँदरू। (३) साँचा। (४) बहुत प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा होता था।

बिंबट-संज्ञा पुं० [सं०] सरसों।

बिंबफल-संज्ञा पुं० [सं०] कुँदरू।

बिंबसार-संज्ञा पुं० दे० "बिंबिसार"।

बिंबा-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँदरू। (२) बिंब। प्रतिच्छाया। (३) चंद्रमा या सूर्य का मंडल।

बिंबिसार-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन राजा का नाम जो अजातशत्रु के पिता और गौतम बुद्ध के समकालीन थे। कहते हैं कि ये पहले शाक्त थे, पर पीछे बुद्ध के उपदेश से बौद्ध हो गए थे।

बि*-वि० [सं० द्वि० मि० गु० बे०] दो। एक और एक।

बिअहुता‡-वि० [सं० विवाहित] (१) जिसके साथ विवाह संबंध हुआ हो। (२) विवाह-संबंधी। विवाह का। जैसे, बिअहुता जोड़ा।

बिआज†-संज्ञा पुं० दे० "ब्याज"।

बिआधि-संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि"। उ०—परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआध बिधि खोई।—तुलसी।

बिआधु†-संज्ञा पुं० दे० "ब्याध"। उ०—जोबन पंखी बिरह बिआधू। केह भयउ कुरंगिनि खाधू।—जायसी।

बिआना-क्रि० स० [हिं० ब्याह] बच्चा देना। जनना। (विशेषत: पशुओं आदि के संबंध में।)

बिआपी-वि० दे० "व्यापी"।

बिआस‡-संज्ञा पुं० [सं० व्यास] पौराणिक कथाएँ आदि सुनानेवाला। व्यास। कथकड़।

बिआहना†-क्रि० स० दे० "ब्याहना"।

बिओग-संज्ञा पुं० दे० "वियोग"।

बिओगी†-वि० दे० "वियोगी"।

बिकट-वि० दे० "विकट"।

बिकना-क्रि० अ० [सं० विक्रय] किसी पदार्थ का द्रव्य लेकर दिया जाना। मूल्य लेकर दिया जाना। बेचा जाना। बिक्री होना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—किसी के हाथ बिकना=किसी के अनुचर, सेवक या दास होना। किसी के गुलाम बनना। जैसे,—हम उनके हाथ कुछ बिके तो हैं ही नहीं, जो उनका हुकुम मानें।

विशेष—कभी कभी इस अर्थ में, और विशेषतः मोहित होने के अर्थ में केवल "बिकना" शब्द का भी प्रयोग होता है। उ०—ठानहैं ऐसी नहीं करिके कर तोष चितै जेहिँ कान्ह बिकानु है।—तोष।

बिकरम†–संज्ञा पुं० दे० "विक्रमादित्य"। उ०—भोज भोग जस माना बिकरम साका कीन्ह। परखि सो रतन पारखी सबइ लखन लिखि दीन्ह।—जायसी।

बिकरार†–वि० [फा० बेकरार] व्याकुल। विकल। बेचैन। उ०—केवल डार गहि भइ बिकरारा। कासु पुकारउँ आपन हारा।—जायसी।

वि० [सं० विकराल] कठिन। भयानक। डरावना। भयंकर उ०—पुष्कर पुष्कर नयन चल्यो वृकसुत बिकरारो।—गोपाल।

बिकराल–वि० दे० "विकराल"। उ०—माली मेघ माल बनपाल बिकराल भट नीके सब काल सींचैं सुधासार नीर के।—तुलसी।

बिकल†–वि [सं० विकल] (१) व्याकुल। घबराया हुआ। (२) बेचैन।

बिकलाई†–संज्ञा स्त्री० [सं० विकल+आई (प्रत्य०)] व्याकुलता। बेचैनी। उ०—ऐसी कलाई लखे बिकलाई भई कल आई नहीं दिन राती।—अयोध्यासिंह।

बिकलाना†–क्रि० अ० [सं० विकल] व्याकुल होना। घबराना। बेचैन होना। उ०—हरिमुख राधा राधा बानी। धरनी परे अचेत नहीं सुधि सखी देखि बिकलानी।—सूर।

क्रि० स० व्याकुल करना। बेचैन करना।

बिकवाना–क्रि० स० [हिं० बिकना का प्रे०] बेचने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बेचने में प्रवृत्त करना। किसी से बिक्री कराना।

बिकसना–क्रि० [सं० विकसन] (१) खिलना। फूलना। प्रस्फुटित होना। (२) प्रफुल्लित होना। बहुत प्रसन्न होना।

बिकसाना–क्रि० अ० दे० "बिकसना"। उ०—पाहन बीच कमल बिकसाहीं जल मैं अगिनि जरे।—सूर।

क्रि० स० (१) विकसित करना। खिलाना। (२) प्रफुल्लित करना। प्रसन्न करना।

बिकाऊ–वि० [हिं० बिकना+आऊ (प्रत्य०)] जो बिकने के लिए हो। जो बेचा जानेवाला हो। बिकनेवाला। जैसे,—कोई अल्मारी बिकाऊ हो तो हम से कहना।

बिकाना†–क्रि० अ० दे० "बिकना"।

बिकार*†–संज्ञा पुं० [सं० विकार] (१) बिगड़ा हुआ रूप। विकृति। विक्रिया। उ०—बारिद बचन सुनि धुनि सीस सचिवनि कहे दससीस ईस बामता बिकार है।—तुलसी। (२) रोग। पीड़ा। दुःख। (३) दोष। ऐब। ख़राबी। बुराई। अवगुण। उ०—जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार। संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।—तुलसी। (४) बुरा कृत्य। पापकर्म। उ०—भनै रघुराज कार्पण्य पण्य चौधरी है जग के बिकार जेते सबै सरदार हैं।—रघुराज। (५) कुवासना। उ०—रंजन संत अखिल अघगंजन भंजन विषय बिकारहि।—तुलसी।

विशेष—दे० "विकार"।

बिकारी†–वि० [सं० विकार] (१) विकृत रूपवाला। जिसका रूप बिगड़ कर और का और हो गया हो। (२) अहितकर। बुरा। हानिकारक। उ०—असुभ होय जिनके सुमिरन ते बानर रीछ बिकारी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० विकृत या वंक] एक प्रकार की टेढ़ी पाई जो अंकों आदि के आगे संख्या या मान आदि सूचित करने के लिये लगाई जाती है। लिखने में रुपए पैसे या मन-सेर आदि का चिह्न जिसका रूप) तथा ऽ होता है। उ०—बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत।—बिहारी।

बिकुंठ†–संज्ञा पुं० दे० "वैकुंठ"।

बिक्रमाजीत–संज्ञा पुं० दे० "विक्रमादित्य"।

बिक्रमी–संज्ञा पुं० दे० "वैक्रमीय"।

बिक्री–संज्ञा स्त्री० [सं० विक्रय] (१) किसी पदार्थ के बेचे जाने की क्रिया या भाव। विक्रय। जैसे,—आज सवेरे से बिक्री ही नहीं हुई। (२) वह धन जो बेचने से प्राप्त हो। बेचने से मिलनेवाला धन। जैसे,—यही १०) आज की बिक्री है।

बिक्रू–वि० [हिं० बिक्री] बेचने लायक़। जो बेचा जाता हो। बिक्री का। बिकाऊ। (लश०)

विशेष—जहाज़ों आदि पर लश्कर के लोग इस विशेषण का प्रयोग ऐसे बने हुए वस्त्रों के लिये करते हैं जो नव-सेना-विभाग से उन्हें लागत के दाम पर मिलते हैं।

बिख†–संज्ञा पुं० [सं० विष] ज़हर। विष।

बिखम–वि० [सं० विष] विष। ज़हर। गरल। (डिं०)

वि० दे० "विषम।"

बिखरना–क्रि० अ० [सं० विकीर्ण] खंडों या कणों आदि का इधर उधर गिरना या फैल जाना। छितराना। तितर बितर हो जाना।

संयो० क्रि०—जाना।

बिखराना–क्रि० स० [हिं० बिखरना का स० रूप] खंडों या कणों को इधर उधर फैलाना। छितराना। छींटना।

बिखाद–संज्ञा पुं० दे० "विषाद"।

बिखेरना–क्रि० स० [हिं० बिखरना का स० रूप] खंडों या कण

को इधर उधर फैलाना। तितर बितर करना। छितराना। छिटकाना। छींटना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

बिखौंड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बिख=विष] सारे भारत में पाई जानेवाली ज्वार की जाति की एक प्रकार की बड़ी घास जो बारहों महीने हरी रहती है। यह जब अच्छी तरह बढ़ जाती है, तब चारे के लिये बहुत उपयोगी होती है; पर आरंभिक अवस्था में इसका प्रभाव खानेवाले पशुओं पर बहुत बुरा और प्रायः विष के समान होता है। इसमें से एक प्रकार के दाने भी निकलते हैं जिन्हें ग़रीब लोग यों ही, पीस कर अथवा बाजरे आदि के आटे के साथ मिलाकर खाते हैं। इसकी कहीं खेती नहीं होती, यह खेतों की मेड़ों पर अथवा जलाशयों के आस पास आपसे आप होती है। कालामुच्छ।

बिग†–संज्ञा पुं० दे० "बीग"।

बिगड़ना–क्रि० अ० [सं० विकृत] (१) किसी पदार्थ के गुण या रूप आदि में ऐसा विकार होना जिससे उसकी उपयोगिता घट जाय या नष्ट हो जाय। असली रूप या गुण का नष्ट हो जाना। ख़राब हो जाना। जैसे, मशीन बिगड़ना, अचार बिगड़ना, दूध बिगड़ना, काम बिगड़ना। उ०—बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।—तुलसी। (२) किसी पदार्थ के बनते या गढ़े जाते समय उसमें कोई ऐसा विकार होना जिससे वह ठीक या पूरा न उतरे। जैसे,—(क) यह तसवीर अब तक तो ठीक बन रही थी, पर अब बिगड़ चली है। (ख) देखते हैं कि तुम्हारे ही कारण यह बनती हुई बात बिगड़ रही है। (३) दुरवस्था को प्राप्त होना। ख़राब दशा में आना। अच्छा न रह जाना। जैसे,—(क) किसी ज़माने में इनकी हालत बहुत अच्छी थी; पर आजकल ये बिगड़ गए हैं। (ख) बिगड़े घर की बात जाने दो। (४) नीति-पथ से भ्रष्ट होना। बद-चलन होना। चाल चलन का ख़राब होना। जैसे,—आजकल उनका लड़का बिगड़ रहा है, पर वे कुछ ध्यान ही नहीं देते। (५) क्रुद्ध होना। गुस्से में आकर डाँट डपट करना। अप्रसन्नता प्रकट करना। जैसे,—वे अपने नौकरों पर बहुत बिगड़ते हैं। (६) विरोधी होना। विद्रोह करना। जैसे,—सारी प्रजा बिगड़ खड़ी हुई। (७) (पशुओं आदि का) अपने स्वामी या रक्षक की आज्ञा या अधिकार से बाहर हो जाना। जैसे, घोड़ा बिगड़ना। हाथी बिगड़ना। (८) परस्पर विरोध या वैमनस्य होना। लड़ाई झगड़ा होना। खटकना। जैसे,—आजकल उन दोनों में बिगड़ी है। (९) व्यर्थ व्यय होना। बेक़ायदा खर्च होना। जैसे,—आज बैठे बैठाए ५) बिगड़ गए।

संयो० क्रि०—जाना।

बिगड़ेदिल–संज्ञा पुं० [हिं० बिगड़ना+फ़ा० दिल] (१) वह जो बात बात में बिगड़ खड़ा हो। हर बात में लड़ने झगड़नेवाला। (२) वह जो बिगड़ा हुआ हो। कुमार्ग पर चलनेवाला।

बिगड़ैल–वि० [हिं० बिगड़ना+ऐल (प्रत्य०) या बिगड़ेदिल] (१) जो बात बात में बिगड़ने लगता हो। हर बात में क्रोध करनेवाला। जो स्वभाव से क्रोधी हो। (२) हठी। ज़िद्दी। (३) जो बिगड़ा हुआ हो। कुमार्ग पर चलनेवाला। बुरे रास्ते पर चलनेवाला। ख़राब चाल-चलनवाला।

बिगर†–क्रि० वि० [अ० बग़ैर] बिना। रहित। बग़ैर। उ०—तुमहिं सुमिरि सब काज, सिद्धि होन सुकवीन के। रचत कछुक रघुराज, बिघन बिगर पूरण करहु।—रघुराज।

बिगरना–क्रि० अ० दे० "बिगड़ना"। उ०—बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।—तुलसी।

बिगराइल, बिगरायल†–वि० (१) दे० "बिगड़ैल (२)"। उ०—हौं तो बिगरायल और को बिगरो न बिगरिये।—तुलसी। (२) दे० "बिगड़ैल (३)"। उ०—कुटिल कुरूपिनी उदास एते पर बैठी बेस्या बिगराइल बिलासिन के पास है।—दूलह।

बिगसना*–क्रि० अ० दे० "विकसना"।

बिगसाना*–क्रि० स० दे० "विकसाना"।

क्रि० अ० दे० "विकसना"। उ०—सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय। निसि मलीन वह निसिदिन यह बिगसाय।—तुलसी।

बिगहा–संज्ञा पुं० दे० "बीघा"।

बिगही†–संज्ञा स्त्री० [देश०] क्यारी। बरही।

बिगाड़–संज्ञा पुं० [हिं० बिगड़ना] (१) बिगड़ने की क्रिया या भाव। (२) ख़राबी। बुराई। दोष। (३) वैमनस्य। द्वेष। झगड़ा। लड़ाई।

बिगाड़ना–क्रि० स० [सं० विकार] (१) किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण या रूप को नष्ट कर देना। किसी पदार्थ में ऐसा विकार उत्पन्न करना जिससे उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाय। जैसे, फल बिगाड़ना, रसोई बिगाड़ना। (२) किसी पदार्थ को बनाते समय, या कोई काम करते समय उसमें कोई ऐसा विकार उत्पन्न कर देना जिससे वह ठीक या पूरा न उतरे। जैसे,—इतना सब कुछ करके भी अंत में तुमने ज़रा से के लिये बात बिगाड़ दी। (३) दुरवस्था को प्राप्त कराना। बुरी दशा में लाना। जैसे,—दुर्व्यसन ही युवकों को बिगाड़ते हैं। (४) नीति-पथ से भ्रष्ट करना। कुमार्ग में लगाना। जैसे,—महाजनों

ने रुपए दे देकर उनके लड़के को बिगाड़ दिया। (५) स्त्री का सतीत्व नष्ट करना। पातिव्रत्य भंग करना। (६) स्वभाव ख़राब करना। बुरी आदत लगाना। (७) बहकाना। (८) व्यर्थ व्यय करना। जैसे,—तुम तो यों ही अनावश्यक कामों में रुपए बिगाड़ा करते हो।

बिगाना†–वि० [फ़ा० बेगाना] (१) जो अपना न हो। जिससे आपसदारी का कोई संबंध न हो। पराया। ग़ैर। (२) अजनबी। अनजान।

बिगार†–संज्ञा पुं० दे० "बिगाड़"।
संज्ञा स्त्री० दे० "बेगार"।

बिगारि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बेगार"। उ०—नाहिँ तौ भव बिगारि महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई हो।—तुलसी।

बिगारी–संज्ञा स्त्री० दे० "बेगारी"।
संज्ञा पुं० दे० "बेगारी"।

बिगास*†–संज्ञा पुं० दे० "विकास"।

बिगाहा–संज्ञा पुं० दे० "बिग्गाहा"।

बिगिर*†–क्रि० वि० दे० "बग़ैर"।

बिगुन*†–वि० [सं० विगुण] जिसमें कोई गुण न हो। गुणरहित।

बिगुरचिन*†–संज्ञा स्त्री० [सं० विवेचन] दे० "बिगूचन"। उ०—कबिरा परजा साह की तू जिन करे खुवार। खरी बिगुरचिन होयगी लेखा देती बार।—कबीर।

बिगुरदा*†–संज्ञा पुं० [देश०] प्राचीन काल का एक प्रकार का हथियार। उ०—कपटी जब लौं कपट नहिं साध बिगुरदा धार। तब लौं कैसे मिलैगो प्रभु साँचो रिझवार।—रसनिधि।

बिगुर्चन*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बिगूचन"।

बिगुल*†–संज्ञा पुं० [अं०] अँगरेज़ी ढंग की एक प्रकार की तुरही जो प्रायः सैनिकों को एकत्र करने अथवा इसी प्रकार का कोई और काम करने के लिए संकेत-रूप में बजाई जाती है।

बिगुलर*†–संज्ञा पुं० [अं०] फ़ौज में बिगुल बजानेवाला।

बिगूचन–संज्ञा स्त्री० [सं० विकुंचन अथवा विवेचन] (१) वह अवस्था जिसमें मनुष्य किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। असमंजस। अड़चन। (२) कठिनता। दिक़्क़त। उ०—सूरदास अब होत बिगूचन, भजि लै सारंगपान।—सूर।

बिगूचना–क्रि० अ० [सं० विकुंचन] (१) संकोच में पड़ना। दिक़्क़त में पड़ना। अड़चन या असमंजस में पड़ना। उ०—(क) संगति सोइ बिगूचन जो है साकट साथ। कँचन कटोरा छोड़ि के सनहक लीन्हीं हाथ।—कबीर। (ख) ताकर हाल होल अधकूचा। छह दरशन में जैन बिगूचा।—कबीर। (२) दबाया जाना। पकड़ा जाना। उ०—राम ही के कोप मधुकैटभ संभारे अरि ताही ते बिगूचे बलराम सों न मेल है।—हृदयराम।
क्रि० स० [सं० विकुंचन] दबोचना। धर दबाना। छोप लेना। उ०—लै परनालो सिवा सरजा करनाटक लौं सब देस बिगूचे।—भूषन।

बिगूतना–क्रि० अ० दे० "बिगूचना"।

बिगोना–क्रि० स० [सं० विगोपन] (१) नष्ट करना। विनाश करना। बिगाड़ना। उ०—(क) सूर सनेह करै जो तुम सों सो पुनि आप बिगोऊ।—सूर। (ख) जिन्ह एहि बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए।—तुलसी। (ग) पचयें सपान न जानै कोई। छठएँ महँ सब गैल बिगोई।—कबीर। (घ) तुम जब पाए तबहीं चढ़ाय ल्याए राम न्याव नेक कीजे बीर यों बिगोइयत है।—हृदयराम। (२) छिपाना। दुराना। उ०—द्वैत बचन को स्मरण जु होवै। है साक्षात तू ताहि बिगोवै।—निश्चलदास। (३) तंग करना। दिक़ करना। (४) भ्रम में डालना। बहकाना। उ०—(क) प्रथम मोह मोंहि बहुत बिगोवा। राम विमुख सुख कबहुँ न सोवा।—तुलसी। (ख) ताहि बिगोय सिवा सरजा भनि भूषन औनि छपा यों पछाऱ्यो।—भूषन। (५) व्यतीत करना। बिताना। उ०—बहु राछसा सहित तरु के तर तुमरे बिरह निज जनम बिगोवति।—तुलसी।

बिग्गाहा–संज्ञा पुं० [सं० विगाथा] आर्य्या छंद का एक भेद जिसे 'उद्गीति' भी कहते हैं। इसके पहले पाद में १२, दूसरे में १५, तीसरे में १२ और चौथे में १८ मात्राएँ होती हैं। उ०—राम भजहु मन लाई, तन मन धन के सहित मीता। रामहिँ निसि दिन ध्याओ, राम भजै तबहिँ जान जग जीता।

बिग्रह–संज्ञा पुं० [सं० विग्रह] (१) शरीर। देह। उ०—भगत हेतु नर बिग्रह सुर वर गुन गोतीत।—तुलसी। (२) झगड़ा लड़ाई। कलह। विरोध। उ०—बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुख मय ताहि सदा सब आसा।—तुलसी। (३) विभाग। (४) दे० "विग्रह"।

बिघटना–क्रि० स० [सं० विघटन] विनाश करना। बिगाड़ना। तोड़ना फोड़ना। उ०—(क) रजनीचर मत्त गयंद घटा बिघटै मृगराज के साज लरै।—तुलसी। (ख) सुघट ग्रीव रस सीव कंठ मुकुता बिघटत तम।—हृदयराम।

बिघन–संज्ञा पुं० दे० "विघ्न"। उ०—गणपति बिघन बिनासन हारे।

बिघनहरन*†–वि० [सं० विघ्नहरण] बाधा को हटानेवाला। बाधा दूर करनेवाला।

संज्ञा पुं० **गणेश। गजानन। उ०—विघनहरन मंगलकरन सदा रहहु अनुकूल।**

बिच*†–क्रि० वि० दे० "बीच"।

बिचकाना–क्रि० अ० [अनु०] (१) किसी को चिढ़ाने के लिये (मुँह) टेढ़ा करना। बिराना। (मुँह) चिढ़ाना। (२) (मुँह) को, (स्वाद बिगड़ने के कारण) टेढ़ा करना। (मुँह) बनाना।

बिचच्छन*†–वि० दे० "विचक्षण"।

बिचरना–क्रि० अ० [सं० विचरण] (१) इधर उधर घूमना। चलना फिरना। (२) पर्य्यटन करना। यात्रा करना। सफ़र करना।

बिचलना–क्रि० अ० [सं० विचलन] (१) विचलित होना। इधर उधर हटना। (२) हिम्मत हारना। (३) कहकर इनकार कर जाना। मुकरना।

बिचला–वि० [हिं० बीच+ला (प्रत्य०)] [स्त्री० बिचली] जो बीच में हो। बीचवाला। बीच का। जैसे, बिचला लड़का, बिचली किताब।

बिचलाना*†–क्रि० स० [सं० विचलन] (१) चलायमान करना। विचलित करना। डिगाना। (२) हिला देना। (३) तितर बितर करना।

बिचवान, बिचवानी–संज्ञा पुं० [हिं० बीच+वान] बीच में पड़ने वाला। बीच-बचाव करनेवाला। मध्यस्थ। उ०—बिनय करैं पंडित बिचवाना। काहे नहिं जेवहि जजमाना।—जायसी।

बिचारना*†–क्रि० अ० [सं० विचार+ना (प्रत्य०)] (१) विचार करना। सोचना। ग़ौर करना। (२) पूछना। प्रश्न करना। (इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः "प्रश्न" शब्द के साथ होता है।)

बिचारा–वि० दे० "बेचारा"।

बिचारी*†–संज्ञा पुं० [सं० विचारिन्] विचार करनेवाला। उ०—मारग छाँड़ि कुमारग सों रत बुधि बिपरीति बिचारी हो।—सूर।

बिचाल†*–संज्ञा पुं० [सं० विचाल] (१) अलग करना। (२) अंतर। फ़र्क़।

बिचेत*†–वि० [सं० विचेतस्] (१) मूर्छित। बेहोश। अचेत। (२) बदहवास।

बिच्छित्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रृंगाररस के ११ हावों में से एक जिसमें किंचित् श्रृंगार से ही पुरुष को मोहित कर लिया जाना वर्णन किया जाता है। उ०—बेंदी भाल तमोल मुख सीस सिलसिले बार। दृग आँजे राजै खरी साजे सहज सिँगार।—बिहारी।

बिच्छी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बिच्छू"।

बिच्छू–संज्ञा पुं० [सं० वृश्चिक] (१) एक प्रसिद्ध छोटा ज़हरीला जानवर जो प्रायः गरम देशों में अँधेरे स्थानों में, जैसे लकड़ियों या पत्थरों के नीचे, बिलों में, रहता है। इसके आठ पैर और आगे की ओर दो सूँड़ होते हैं। इनमें से हर एक सूँड़ आगे की ओर दो भागों में, चिमटी की तरह विभक्त होता है। इन्हीं सूँड़ों से यह अपने शिकारों को पकड़ता है। इसका पेट लंबा और गात्र-दुमा होता है जिसके बाद एक और दूसरा अंग होता है जो दुम की तरह बराबर पतला होता जाता है। यह अंग मुड़कर जानवर की पीठ पर भी आ जाता है। इसके अंतिम भाग में एक ज़हरीला डंक होता है जिससे वह अपने शिकार को मार डालता है। अपने हानि पहुँचानेवालों को भी यह इसी डंक से मारता है जिसके कारण सारे शरीर में असह्य वेदना और जलन होती है जो कई कई दिन तक थोड़ी बहुत बनी रहती है। कहीं कहीं ८–१० इंच तक के बिच्छू भी पाए जाते हैं जिनके डंक मारने से आदमी मर भी जाते हैं। इसके संबंध में लोगों में अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यदि बिच्छू चारों ओर से आग के बीच में फँस जाय तो वह जलना नहीं पसंद करेगा; बल्कि जलने से पहले अपने डंक से ही अपने आपको मार डालेगा। कुछ लोग कहते हैं कि इसके शरीर में से किसी प्रकार निकाला हुआ अर्क़ इसके डंक के विष को अच्छा कर सकता है; और इसीलिये लोग जीते बिच्छू को पकड़ कर तेल आदि में डाल कर छोड़ देते हैं और बिच्छू के मर जाने पर उस तेल में डंक के विष को दूर करने का गुण मानने लगते हैं। पर इन सब किंवदंतियों में कोई सार नहीं है। (२) एक प्रकार की घास जिसके शरीर में छू जाने से बिच्छू के काटने की सी जलन होती है। (३) काकतुंडी का पौधा या उसका फल। (क्व०)

बिच्छेप*†–संज्ञा पुं० दे० "विक्षेप"।

बिछना–क्रि० अ० [सं० विस्तरण] (१) बिछाना का अकर्मक रूप। (बिस्तर आदि का) बिछाया जाना। फैलाया जाना। (२) किसी पदार्थ का ज़मीन पर बिखेरा जाना। छितराया जाना। (३) (मार पीट कर) ज़मीन पर लिटाया या गिराया जाना।

संयो० क्रि०—जाना।

बिछलना†–क्रि० अ० दे० "फिसलना"।

बिछलाना–क्रि० अ० दे० "फिसलना"।

बिछवाना–क्रि० स० [हिं० बिछाना का प्रे०] बिछाने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बिछाने में प्रवृत्त करना।

बिछान†–संज्ञा पुं० दे० "बिछौना"।

बिछाना–क्रि० स० [सं० विस्तरण] (१) (बिस्तर या कपड़े आदि को) ज़मीन पर उतनी दूर तक फैलाना जितनी दूर तक फैल सके। जैसे, बिछौना बिछाना, दरी बिछाना। (२) किसी

चीज़ को ज़मीन पर कुछ दूर तक फैला देना। बिखेरना। बिखराना। जैसे, चूना बिछाना, बताशे बिछाना। (३) (मार मार कर) ज़मीन पर गिरा या लेटा देना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

बिछावन†–संज्ञा पुं० दे० "बिछौना"।

बिछावना†–क्रि० स० दे० "बिछाना"।

बिछिश्रा†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिच्छू+इया (प्रत्य०)] पैर की उँगलियों में पहनने का एक प्रकार का छल्ला।

बिछिप्त*†–वि० दे० "विक्षिप्त"।

बिछुआ–संज्ञा पुं० [हिं० बिच्छू] (१) पैर में पहनने का एक गहना। (२) एक प्रकार की छोटी टेढ़ी छुरी। एक छोटा सा शस्त्र। (३) सन की पूली। (४) अगिया या भाबर नाम का पौधा। विशेष—दे० "अगिया"।

बिछुड़न†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिछुड़ना] (१) बिछड़ने या अलग होने का भाव। (२) वियोग। विरह। जुदाई।

बिछुड़ना–क्रि० अ० [सं० विच्छेद] (१) साथ रहनेवाले दो व्यक्तियों का एक दूसरे से अलग होना। जुदा होना। अलग होना। (२) प्रेमियों का एक दूसरे से अलग होना। वियोग होना।

संयो० क्रि०—जाना।

बिछुरंता*†–संज्ञा पुं० [हिं० बिछुड़ना+अंता (प्रत्य०)] (१) बिछड़नेवाला। (२) जो बिछड़ गया हो।

बिछुरना–क्रि० अ० दे० "बिछुड़ना"।

बिछुरनि†*–संज्ञा स्त्री० दे० "बिछुड़न"।

बिछुवा–संज्ञा पुं० दे० "बिछुआ"।

बिछूना*†–संज्ञा पुं० [हिं० बिछुड़ना] बिछड़ा हुआ। जो बिछड़ गया हो। उ०—मिले रहस चाहिय भा दूना। कित रोइय जउ मिला बिछूना।—जायसी।

बिछोई†–संज्ञा पुं० [हिं० बिछोह+ई (प्रत्य०)] (१) वह जो बिछड़ा हुआ हो। जिसका वियोग हुआ हो। (२) जो विरह का दुःख सह रहा हो। विरही।

बिछोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बिछुड़ना] (१) बिछड़ने की क्रिया या भाव। अलग होना। (२) विरह होना। प्रेमियों का वियोग होना।

बिछोय*†–संज्ञा पुं० [सं० विच्छेद] वियोग। जुदाई। उ०—एक दिन ऐसा होयगा सबसे परे बिछोय। राजा राना राव रँक सावध क्यों नहिं होय।—कबीर।

बिछोह–संज्ञा पुं० [हिं० बिछड़ना] बिछोड़ा। जुदाई। विरह। वियोग।

बिछौना–संज्ञा पुं० [हिं० बिछाना] वह कपड़ा जो सोने के काम के लिये बिछाया जाता हो। दरी, गद्दा, चाँदनी आदि जो सोने के लिये बिछाए जाते हैं। बिछावन। बिस्तर। (२) वह फालतू सामान और काठ कबाड़ आदि जो जहाज़ों के पेंदे में बहुमूल्य पदार्थों को सील आदि से बचाने के लिये उनके नीचे, अथवा उनको टक्कर आदि से बचाने और उन्हें कसा रखने के लिये उनके बीच में बिछाया जाता है। (लश०)

क्रि० प्र०—करना।—डालना।—बिछाना।

बिजउरा†–संज्ञा पुं० दे० "बिजौरा"।

बिजड़–संज्ञा स्त्री० [दे०] तलवार। खड्ग।

बिजन*†–संज्ञा पुं० [सं० व्यजन] हवा करने का छोटा पंखा जो हाथ से हिलाया जाता है। बेना।

बिजनी–संज्ञा स्त्री० [सं० विजन] हिमालय की एक जंगली जाति। यह उस प्रदेश में बसती है जहाँ ब्रह्मपुत्र नद हिमालय को काट कर तिब्बत से भारत में आता है।

बिजयखार–संज्ञा पुं० दे० "बिजयसार"।

बिजयघंट–संज्ञा पुं० [सं० विजय+घंट] बड़ा घंटा जो मंदिरों में लटकाया रहता है।

बिजयसार–संज्ञा पुं० [सं० विजयसार] एक प्रकार का बहुत बड़ा जंगली पेड़ जिसके पत्ते पीपल के पत्तों से कुछ छोटे होते हैं। इसमें आँवले के समान एक प्रकार के पीले फल भी लगते हैं। इसके फूल कड़वे, पर पाचक और वादी उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसकी लकड़ी कुछ कालापन लिए लाल रंग की और बहुत मज़बूत होती है, और प्रायः ढोल, तबले आदि बनाने के काम में आती है। इससे अनेक प्रकार की स्याहियाँ और रंग भी बनते हैं। वैद्यक में इसे कुष्ट, विसर्प, प्रमेह, गुदा के रोग, कृमि, कफ, रक्त और पित्त का नाशक माना है। बिजयखार।

बिजली–संज्ञा स्त्री० [सं० विद्युत्] (१) एक प्रसिद्ध शक्ति जिसके कारण वस्तुओं में आकर्षण और अपकर्षण होता है और जिससे कभी कभी ताप और प्रकाश भी उत्पन्न होता है। विद्युत्।

विशेष—यह शक्ति सब वस्तुओं में और सदा नहीं होती, बल्कि कुछ विशिष्ट क्रियाओं की सहायता से उत्पन्न होती है। यह शक्ति एक तो घर्षण से और दूसरे रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न होती है। मोरपंख को थोड़ी देर तक उँगलियों से, लाह के टुकड़े को फलालीन से अथवा शीशे को रेशम से रगड़ने पर यह शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी बिजली के धनात्मक और ऋणात्मक ये दो भेद होते हैं। जब दो वस्तुओं को एक साथ रगड़ते हैं, तो उनमें से एक में से धन विद्युत् और दूसरी में से ऋण विद्युत् उत्पन्न होती है। बिजली कुछ विशिष्ट पदार्थों में चलती भी है और अत्यंत वेग से (प्रति सेकेंड २९०००० मील अथवा प्रकाश के वेग की अपेक्षा प्रायः ड्योढ़े वेग से) चलती है।

ऐसे पदार्थों को चालक कहते हैं। इनके एक सिरे पर यदि बिजली पहुँच जाय तो वह तुरंत उनके दूसरे सिरे पर जा पहुँचती है। धातुएँ, जल, वृक्ष, शरीर, बर्फ आदि पदार्थ चालक हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें बिजली का संचालन नहीं होता और जिनको अवरोधक कहते हैं। जैसे, चूना, हवा, रेशम, शीशा, मोम, ऊन, लाह आदि। घर्षण से जो बिजली उत्पन्न होती है, वह बहुत थोड़ी होती है और उसके उत्पादन में परिश्रम भी अधिक होता है। इसलिये वैज्ञानिकों ने अनेक रासायनिक प्रयोगों और क्रियाओं की सहायता से बिजली उत्पन्न करने के उपाय निकाले हैं। ऐसे उपायों से थोड़े व्यय और कम परिश्रम से बहुत अधिक बिजली उत्पन्न की जाती है जो एकत्र या संग्रह करके भी रखी जाती है। ये यंत्र अनेक आकार और प्रकार के होते हैं और इनसे बहुत अधिक मान में बिजली उत्पन्न होती है। इस प्रकार उत्पन्न की हुई बिजली से आजकल अनेक प्रकार के कार्य लिए जाते हैं। जैसे, रोशनी करना, पंखा चलाना, अनेक प्रकार की गाड़ियाँ चलाना, एक धातु पर दूसरी धातु चढ़ाना, समाचार भेजना इत्यादि इत्यादि। आजकल भारत के बड़े बड़े नगरों में ऐसी ही बिजली की सहायता से ट्राम गाड़ियाँ और अनेक प्रकार की मशीनें चलती हैं और रोशनी होती है। इससे अनेक प्रकार के रोगों की चिकित्साएँ भी होने लगी हैं। यदि यह बिजली अधिक मान में हो और मनुष्य के शरीर से उसका स्पर्श हो जाय तो उससे तुरंत ही मृत्यु भी हो सकती है। बिजली का आविष्कार पहले पहल थेल्स नामक एक व्यक्ति ने किया था जो ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व हुआ था। उसने पहले पहल इस बात का पता लगाया था कि रेशम के साथ कुछ विशिष्ट वस्तुओं को रगड़ने से उसमें यह शक्ति आ जाती है कि वह कागज़ के टुकड़ों अथवा इसी प्रकार के कुछ और हलके पदार्थों को अपनी ओर खींचने लगती है। आरंभ के वैज्ञानिकों में से फ्रांकलिन का मत था कि बिजली एक बहुत ही सूक्ष्म और गुरुत्व-हीन द्रव पदार्थ है। पीछे से सेमर ने कल्पना की कि यह धन और ऋण दो गुरुत्वहीन द्रव पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होती है। परंतु अभी तक इसके संबंध में कुछ विशेष निर्णय नहीं हो सका है। तो भी यह बात प्रायः निश्चित सी है कि बिजली कोई द्रव पदार्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका द्रव्य होना भी निश्चित नहीं है, क्योंकि इसमें कोई गुरुत्व नहीं होता।

(२) आकाश में सहसा उत्पन्न होनेवाला वह प्रकाश जो एक बादल से दूसरे बादल में जानेवाली अथवा किसी बादल से पृथ्वी की ओर आनेवाली वातावरण की बिजली के कारण उत्पन्न होता है। चपला।

विशेष—साधारणतः वातावरण में सदा कुछ न कुछ बिजली रहती है जो प्रायः धनात्मक होती है और जो पृथ्वी से कुछ ऊँचाई पर पाई जाती है। वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य की किरणों के कारण पानी से जो भाप बनती है, उसके साथ इस बिजली का विशेष संबंध है; क्योंकि प्रातःकाल वातावरण में यह बिजली थोड़े परिमाण में रहती है और ज्यों ज्यों दिन चढ़ता है, त्यों त्यों बढ़ती जाती है। इसके अतिरिक्त बादलों में भी कहीं धनात्मक और कहीं ऋणात्मक बिजली रहती है। जब धनात्मक और ऋणात्मक बिजलीवाले दो बादल आमने सामने आते हैं, तब पहले उन दोनों की बिजली में आकर्षण होता है और तब उसका विसर्जन होता है जिससे प्रकाश देख पड़ता है। जिस समय कोई धनविद्युत्वाला बादल पृथ्वी के सामने आता है, उस समय पृथ्वी के ऊपर की ओर ऋणविद्युत् उत्पन्न होती है; और तब दोनों मिलकर विसर्जित होती हैं जिससे प्रकाश होता है। यही बिजली आकाश से तिरछी रेखा के रूप में पृथ्वी की ओर बड़े वेग से चलती है और उसके मार्ग में जो कुछ पड़ता है, उसे जला या नष्ट कर देती है। इसी को साधारण बोलचाल में बिजली गिरना या बिजली पड़ना आदि कहते हैं। इसके मार्ग में पड़नेवाला वृक्ष और घर गिर जाते हैं और मनुष्य या दूसरे जीव मर जाते हैं। यह प्रकाश प्रायः मीलों लंबा होता है और इसकी गति प्रायः वक्र होती है। गति की वक्रता का कारण यह है कि वातावरण में इसे जिधर सब से कम अवरोध मिलता है, उधर ही यह बढ़ चलती है। बादलों के गरजने का कारण भी यही बिजली है; क्योंकि जब बादलों में से इसका विसर्जन होता है, तब वायु में बहुत अधिक गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि यह प्रकाश एक लंबी चादर के रूप में दिखाई पड़ता है। पर यह प्रायः क्षितिज के पास और उसी समय दिखाई देता है जब कि वर्षा अथवा तूफान बहुत दूर पर हो। कभी कभी बिजली के गोले भी आकाश से नीचे गिरते हुए दिखाई देते हैं जो पृथ्वी तक पहुँचने से पहले ही भीषण शब्द उत्पन्न करते हुए फट जाते हैं। पर ऐसे गोले बहुत ही कम गिरते हैं और केवल कुछ ही क्षणों तक दिखाई देते हैं।

क्रि० प्र०—चमकना।

मुहा०—बिजली गिरना या पड़ना=दे० ऊपर "विशेष"। बिजली कड़कना=बिजली के विसर्जन के कारण आकाश मे बहुत जोर का शब्द होना।

(३) आम की गुठली के अंदर की गिरी। (४) गले

में पहनने का एक प्रकार का गहना । (५) कान में पहनने का एक प्रकार का गहना ।

वि० (१) बहुत अधिक चंचल या तेज़ । (२) बहुत अधिक चमकनेवाला । चमकीला ।

बिजलीमार–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बड़ा वृक्ष जो बहुत सुन्दर और छायादार होता है । इसके हीर की लकड़ी बहुत कड़ी होती है और प्रायः सिरिस की लकड़ी की तरह काम में आती है । यह आसाम और दारजिलिंग के आस पास की तराइयों में अधिकता से होता है । आसामवाले इस वृक्ष पर एक प्रकार की लाख भी उत्पन्न करते हैं ।

बिजहन–वि० [हिं० बीज+हन] जिसका बीज नष्ट हो गया हो । जिसकी रोपण शक्ति नष्ट हो गई हो । जैसे, बिजहन गेहूँ ।

बिजाती–वि० [सं० विजातीय] (१) दूसरी जाति का । और जाति या तरह का । उ०—गुरुजन नैन बिजातियन परी कौन यह बान । प्रीतम मुख अवलोक तन होत जु आड़े आन ।—रसनिधि । (२) जो जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो । जाति से निकाला हुआ । अजाती ।

बिजान*†–संज्ञा पुं० [फा० बि+ज्ञान] अज्ञान । अनजान । उ०—जो यह एकै जानिया तौ जानौ सब जान । जो यह एक न जानिया तौ सबही जानु बिजान ।—कबीर ।

बिजायठ–संज्ञा पुं० [सं० विजय] बाँह पर पहनने का बाजूबंद नामक गहना । अंगद । भुज । बाजू ।

बिजार‡–संज्ञा पुं० [देश०] (१) बैल । (२) साँड़ ।

बिजुरी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बिजली" ।

बिजूका, बिजूखा‡–संज्ञा पुं० [देश०] (१) खेतों में पक्षियों आदि को डराकर दूर रखने के उद्देश्य से लकड़ी के ऊपर उलटी रखी हुई काली हाँडी । (२) धोखा । छल । (क्व०)

बिजैसार–संज्ञा स्त्री० दे० "विजयसार" ।

बिजोग*†–संज्ञा पुं० "वियोग" ।

बिजोरा–संज्ञा पुं० दे० "बिजौरा" ।

वि० [सं० वि+फा० ज़ोर=ताकत] कमज़ोर । अशक्त । निर्बल ।

बिजोहा–संज्ञा पुं० [?] केशव के अनुसार एक छंद का नाम । विशेष—दे० "बिज्जूहा" ।

बिजौरा–संज्ञा पुं० [सं० बीजपूरक] नीबू की जाति का एक वृक्ष जिसके पत्ते नीबू के पत्तों के समान, पर उससे बहुत अधिक बड़े होते हैं । इसके फूलों का रंग सफ़ेद होता है और फल बड़ी नारंगी के बराबर होते हैं । यह दो प्रकार का होता है, एक खट्टे फलवाला और दूसरा मीठे फलवाला । फलों का छिलका बहुत मोटा होता है । वैद्यक में इसे खट्टा गरम, कंठशोधक, तीक्ष्ण, हलका, दीपक, रुचिकारक, स्वादिष्ट और त्रिदोष, तृषा, खाँसी, हिचकी आदि को दूर करनेवाला माना है । इस वृक्ष की जड़, इसके फल और फलों के बीज तीनों औषध के काम में आते हैं ।

पर्या०—बीजपूर । मातुलुंग । रुचक । फलपूरक । अम्लकेशर । बीजपूर्ण । पूर्णबीज । सुकेश । बीजक । सुपूर । बीजफलक । जंतुघ्न । पूरक । रोचनफल ।

बिजौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बीज+औरी (प्रत्य०)] उड़द की पीठी और पेठे के मेल से बनी हुई बड़ी । कुम्हड़ौरी ।

बिज्जु*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बिजली" ।

बिज्जुपात*†–संज्ञा पुं० [सं० विद्युत्पात] बिजली का गिरना । वज्रपात ।

बिज्जुल*†–संज्ञा पुं० [सं० विज्जुल] त्वचा । छिलका ।

संज्ञा स्त्री० [सं० विद्युत्] बिजुली । दामिनि । उ०—कहूँ कहूँ मृग निरजन बन माहीं । चमकत भजत बिजुल की नाईं ।—पद्माकर ।

बिज्जू–संज्ञा पुं० [देश०] बिल्ली के आकार प्रकार का एक जंगली जानवर जो प्रायः दो हाथ लंबा होता है । यह प्रायः जंगलों में बिल खोद कर अपनी मादा के साथ उसी में रहता है । दिन के समय यह जल्दी बाहर नहीं निकलता, पर रात को बाहर निकलकर चूहों, मुरग़ियों आदि का शिकार करता और उनको खा जाता है । कभी कभी यह क़ब्रों को खोदकर उनमें से मृत-शरीरों को निकाल कर भी खा जाता है । बीजू ।

बिज्जूहा–संज्ञा पुं० [?] एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो 'रगण' होते हैं । उ०—पुन्य के पाल हैं । दीन के ध्याल हैं । सीय के हेत हैं । नैन से भेत हैं । (इसी का नाम विमोहा और बिजोहा भी है ।)

बिझँवारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] छत्तीसगढ़ में बोली जानेवाली एक प्रकार की भाषा ।

बिझरा†–संज्ञा पुं० [हिं० मेझरना=मिलाना] एक में मिला हुआ मटर, चना, गेहूँ और जौ ।

बिझुकाना*–क्रि० अ० [हिं० झोंका] (१) भड़कना । उ०—बोले झुकै उझकै अनबोले फिरैं बिझुके से हिये महँ फूले ।—केशव । (२) डरना । भयभीत होना । उ०—हँसि उठ्यो नरनायक चाइकै । रिसभरी बिझुकै सरसाइकै ।—गुमान । (३) टेढ़ा होना । तनना । उ०—नेह उरझे से नैन देखिबे को बिरुझे से बिझुकी सी भौंहें उझके से डर जात हैं ।—केशव ।

बिझुकाना*†–क्रि० स० [हिं० बिझुकना का स० रूप] (१) भड़काना । उ०—भाग बड़ो जु रची तुमसों वह तो बिझुकाइ कहो कहँ कीजै ।—केशव । (२) डराना । उ०—दान दया शुभ शील सखा बिझुकै गुण भिक्षुक को बिझुकावै । —केशव ।

बिट–संज्ञा पुं० [सं० विट्] (१) साहित्य में नायक का वह सखा जो सब कलाओं में निपुण हो । उ०—पीठमर्द बिट चेट पुनि बहुरि बिदूषक होइ । मोचै मान तियान को पीठमर्द है सोइ ।—पद्माकर । (२) वैश्य । उ०—बस्त बसी ब्रह्म क्षत्री बिट शूद्र जाति अनुसारा ।—रघुराज । (३) पक्षियों की विष्टा । बीट ।

बिटरना–क्रि० अ० [हिं० बिटारना का अ० रूप] (१) घँघोला जाना । (२) गंदा होना ।

बिटारना–क्रि० स० [सं० बिलोडन] (१) घँघोलना । (२) घँघोल कर गंदा करना । उ०—बगुली नीर बिटोरिया सायर चढ़ा कलंक । और पखेरू पीबिया हंस न बोरै चंच ।—कबीर ।

बिटिनिया, बिटिया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बेटी" ।

बिट्ठल–संज्ञा पुं० [सं० विष्णु, महा० बिठोबा] (१) विष्णु का एक नाम । (२) बंबई प्रांत में शोलापुर के अंतर्गत पंढरपुर नगर की एक प्रधान देवमूर्ति । यह मूर्ति देखने में बुद्ध की मूर्ति जान पड़ती है । जैन लोग इसे अपने तीर्थंकर की मूर्ति और हिंदू लोग विष्णु भगवान की मूर्ति बतलाते हैं । उ०—बाल दशा बिट्ठल पानि जाके पय पीयो मृतक गऊ जिआइ परचो असुरन को दियो ।—नाभा ।

बिठलाना–क्रि० स० दे० "बैठाना" ।

बिठाना–क्रि० स० दे० "बैठाना" ।

बिडंब–संज्ञा पुं० [सं० बिडंब] आडंबर । दिखावा । उ०—कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत कबहुँ धर्मरत ज्ञानी ।

बिडंबना*†–क्रि० अ० [सं० बिडंबन] (१) नक़ल । स्वरूप बनाना । (२) उपहास । हँसी । निंदा । बदनामी । उ०—ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार । केहिकै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार ।—तुलसी ।

बिड–संज्ञा पुं० [सं० विट] (१) विष्टा । (डिं०) विशेष—दे० "बिट" । (२) एक प्रकार का नमक । विशेष—दे० "विट्" ।

बिडर–वि० [हिं० बिडरना] छितराया हुआ । अलग अलग । दूर दूर । † वि० [हिं० बि=बिना+डर=भय] (१) जिसे भय न हो । न डरनेवाला । निर्भय । निडर । (२) धृष्ट । ढीठ ।

बिडरना–क्रि० अ० [सं० विट्=तीखे स्वर से पुकारना, चिल्लाना] (१) इधर उधर होना । तितर बितर होना । उ०—भीर भई सुरभी सब बिडरीं मुरली भली सँभारी ।—सूर । (२) पशुओं का भयभीत होना । बिचकना । उ०—सिवसमाज जब देखन लागे । बिडरि चले बाहन सब भागे ।—तुलसी ।

बिडराना–क्रि० स० [सं० विट्=जोर से चिल्लाना] (१) इधर उधर करना । तितर बितर करना । (२) भगाना । उ०—खाए फल दल मधु सघन रखवारे बिडराय ।—विश्राम ।

बिडवना*†–क्रि० स० [सं० बिट्=जोर से चिल्लाना] तोड़ना । उ०—यद्यपि अलक अंज गहि बाँधे तऊ चपल गति न्यारे । घूँघट पट बागुर ज्यों बिड़वत जतन करत शशि हारे ।—सूर ।

बिड़ायते–वि० [सं० वृद्धायते] अधिक । ज़्यादा । (दलाल)

बिडारना–क्रि० स० [हिं० बिडरना] भयभीत करके भगाना । उ० —(क) अर्जुन आदि बीर जो रहेऊ । दिये बिडारि बिकल सब भयऊ ।—विश्राम । (ख) कुंभकरन कपि फौज बिडारी । सुनि धाई रजनीचर झारी ।—तुलसी ।

बिड़ाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली । बिलाव । (२) बिड़ालाक्ष नामक दैत्य जिसे दुर्गा ने मारा था । उ०—जै सुरक्त जै रक्तबीज बिड़ाल बिहंडिनि । (३) दोहे के चौंसवें भेद का नाम जिसमें ३ अक्षर गुरु और ४२ अक्षर लघु होते हैं । जैसे,—बिरद सुमिरि सुधि करत नित हरि तुव चरन निहार । यह भव जलनिधि तें तुरत कब प्रभु करिहहु पार । (४) आँख के रोगों की एक प्रकार की ओषधि ।

बिड़ालक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँख का गोलक । (२) आँखों पर लेप चढ़ाने की क्रिया ।

बिड़ालपाद–संज्ञा पुं० [सं०] एक तौल जो एक कर्ष के बराबर होती है । विशेष—दे० "कर्ष" ।

बिड़ालवृत्तिक–वि० [सं०] बिल्ली के समान स्वभाववाला । लोभी, कपटी, दंभी, हिंसक, सब को धोखा देनेवाला और सब से टेढ़ा रहनेवाला ।

बिड़ालाक्ष–वि० [सं०] जिसकी आँखें बिल्ली की आँखों के समान हों ।

बिड़ालाक्षी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक राक्षसी का नाम ।

बिड़ालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिल्ली । (२) हरताल ।

बिड़ाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बिल्ली । (२) एक प्रकार का आँख का रोग । (३) एक योगिनी जो इस रोग की अधिष्ठात्री मानी जाती है । (४) एक प्रकार का पौधा ।

बिड़िक–संज्ञा स्त्री० [सं०] पान का बीड़ा । गिलौरी ।

बिड़ौजा–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम ।

बिढ़ती*†–संज्ञा पुं० [हिं० बढ़ना=अधिक होना] कमाई । नफ़ा । लाभ । उ०—दै पठयो पहिलो बिढ़तो ब्रज सादर सिर धरि लीजै ।—तुलसी ।

बिढ़वना*†–क्रि० स० [सं० वृद्धि, हिं० बढ़ाना] (१) कमाना । (२) संचय करना । इकट्ठा करना । उ०—तात राउ नहिं सोचन जोगू । बिढ़इ सुकृत जस कीन्हेउ भोगू ।—तुलसी ।

बिढ़ाना*†–क्रि० स० दे० "बिढ़वना" ।

बित*†–संज्ञा पुं० [सं० वित्त] (१) धन । द्रव्य । (२) सामर्थ्य । शक्ति । (३) क़द । आकार ।

बितताना–क्रि० अ० [हिं० बिलखना] बिलखाना । व्याकुल होना । विशेष संतप्त होना । उ०—(क) रोवति महरि फिरति

बिततानी । बार बार लै कंठ लगावति अतिहि शिथिल भई बानी ।—सूर । (ख) ताको कहति आप सुधि नाहीं सो पुनि जानत नाहीं । सूरश्याम रसभरी गोपिका बन में यों बितताहीं ।—सूर । (ग) प्रिया पिय लीन्ही अंकमलाय । खेलत में तुम बिरह बढ़ायो गई कहा बितताय । तुम ही कह्यौ मान करिबे कों आपुहि बुद्धि उपाय । काहे बिबस भई बिन कारन ऐसी गई डराय ।—सूर ।

क्रि० स० संतप्त करना । सताना । दुःखी करना ।

बितना‡–संज्ञा पुं० दे० "बित्ता" । उ०—इंद्र गरब हर सहज में गिरि नख पर धर लीन । इह इतना बितना भरा कहु कितना दल कीन ।—रसनिधि ।

बितरना✻†–क्रि० स० [सं० वितरण] बाँटना । वितरण करना । उ०—कहै पदमाकर सुहेम हय हाथिन के हलके हजारन के बितर बिचारैं ना ।—पद्माकर ।

बितवना✻†–क्रि० स० दे० "बिताना" ।

बिता–संज्ञा पुं० दे० "बित्ता" ।

बिताना–क्रि० स० [सं० व्यतीत, हिं० बीतना का संक्षिप्त रूप] (समय) आदि व्यतीत करना । (वक्त) गुज़ारना । काटना ।

बिताल†–संज्ञा पुं० दे० "बैताल" ।

बितावना✻†–क्रि० स० दे० "बिताना" ।

बितीतना–क्रि० अ० [सं० व्यतीत] व्यतीत होना । गुज़रना । उ०—(क) ज्यौं ज्यौं बितीतति है रजनी उठि त्यौं त्यौं उनींदे से अंगनि ऐंठे । (ख) सात धोम यहि रीति बितीते । पंचम इंद्रिन के गुन जीते ।—लाल । (ग) विधिवत बारह मास बितीते ।—पद्माकर ।

क्रि० स० बिताना । गुज़ारना ।

बितु✻†–संज्ञा पुं० दे० "बित्त" ।

बित्त–संज्ञा पुं० [सं० वित्त] (१) धन । दौलत । (२) हैसियत । औक़ात । (३) सामर्थ्य । शक्ति । बूता । उ०—(क) किसी की भट्ठी में आकर अपने बित्त से बढ़कर काम मत करो । पर कोई यदि अपने बित्त के बाहर माँगे या ऐसी वस्तु माँगे जिससे दाता की सर्वस्व हानि होती हो तो वह दे कि नहीं ?—हरिश्चंद्र । (ख) दीन बित्त हीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं ।—तुलसी ।

बित्ता–संज्ञा पुं० [?] हाथ की सब उँगलियाँ फैलाने पर अँगूठे के सिरे से कनिष्ठिका के सिरे तक की दूरी । बालिश्त ।

बिथकना–क्रि० अ० [हिं० थकना] (१) थकना । (२) चकित होना । हैरान होना । स्तब्ध होना । उ०—अति अनूप जहँ जनक निवासू । बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू ।—तुलसी । (३) मोहित होना । उ०—सूर अमर ललना गण अमर बिथकी लोक बिसारी ।—सूर ।

बिथरना, बिथुरना†–क्रि० अ० [सं० वितरण] (१) छितराना । बिखरना । इधर उधर होना । उ०—(क) हार तोरि बिथराइ दियो । मैया पै तुम कहन चलीं कत दधि माखन सब छीन लियो ।—सूर । (ख) पुहुप परे बिथुरे पुनि वेही । तातैं मैं मानत अब येही ।—पद्माकर (ग) बीरी परी बिथरि कपोल पर पीरी परी, धीरी परी धाय गिरी सीरी परी सेज पर ।—पद्माकर । (घ) अबहु जियावहु कै मया बिथुरी छार समेटि ।—जायसी । (२) अलग अलग होना । खिल जाना । उ०—परा थिरति कंचन महँ सीसा । बिथरि न मिलइ सावँ पइ सीसा ।—जायसी ।

बिथा✻†–संज्ञा स्त्री० [सं० व्यथा] दुःख । पीड़ा । क्लेश । कष्ट । तकलीफ़ । उ०—(क) हृदय की कबहुँ न जरनि घटी । बिनु गोपाल बिथा या तनु की कैसे जात कटी ।—सूर । (ख) नैना मोहन रूप सौं मन कौं देत मिलाय । प्रीति लगै मन की बिथा सकौं न ये फिर पाय ।—रसनिधि ।

बिथारना–क्रि० सं० [हिं० बिथरना का संक्षिप्त रूप] छितराना । छिटकाना । बिखेरना । उ०—(क) मनहुँ रविबाल मृगराज तन निकर करि दलित अति ललित मनिगन बिथारे ।—तुलसी । (ख) रावणहिं मारौं पुर भली भाँति जारौं, अंड मुंडन बिथारौं आज राम बल पाइकै ।—हनुमान ।

बिथित✻–वि० [सं० व्यथित] जिसे कष्ट पहुँचा हो । पीड़ित । दुःखित ।

बिथोरना✻–क्रि० स० दे० "बिथराना" ।

बिदकना–क्रि० अ० [सं० विदारण] (१) फटना । चिरना । विदीर्ण होना । (२) घायल होना । ज़ख्मी होना । (३) भड़कना ।

बिदकाना–क्रि० स० [सं० विदारण] (१) फाड़ना । विदीर्ण करना । (२) घायल करना । ज़ख्मी करना । उ०—चोंच चंगुलन तन बिदकायो । मुर्छित ह्वै पुनि आरो लै धायो ।—विश्राम ।

बिदर✻†–संज्ञा पुं० [सं० विदर्भ] (१) देश विशेष । विदर्भ देश । बरार । उ०—दहिनइ बिदर चँदेरी बाएँ । दुहुँ को होब बाट दुहुँ ठाएँ ।—जायसी । (२) एक प्रकार की उपधातु जो ताँबे और जस्ते के मेल से बनती है । (आरंभ में इसका बनना विदर्भ देश से ही आरंभ हुआ था, इसलिये इसका यह नाम पड़ा ।)

बिदरन✻†–संज्ञा स्त्री० [सं० विदीर्ण] दरार । दरज । शिगाफ़ । वि० फाड़नेवाला । चीरनेवाला । उ०—जोति रूप लिंगमयी अगनित लिंगमयी मोक्षबितरनि जगजाल की ।—तुलसी ।

बिदरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिदर । सं० विदर्भ] जस्ते और ताँबे के मेल से बरतन आदि बनाने का काम जिसमें बीच बीच में सोने या चाँदी के तारों से नक्काशी की हुई होती है । बिदर

की धातु का काम। (२) बिदर की धातु का बना हुआ सामान।

बिदरीसाज–संज्ञा पुं० [हिं० बिदर+फ़ा० साज] वह जो बिदर की धातु से बरतन आदि बनाता हो। बिदर का काम बनानेवाला।

बिदहना–क्रि० स० [सं० विदहन] स्त्री० बिदहनी] धान या ककुनी आदि की फ़सल पर आरंभ में पाटा या हेंगा चलाना।

विशेष—जिस समय फ़सल एक बालिश्त हो जाती है और वर्षा होती है, तब मिट्टी गीली हो जाने पर उस पर हेंगा या पाटा चला देते हैं। इससे फ़सल लेट जाती है, और फिर जब उठती है, तब ज़ोरों से बढ़ती है।

बिदहनी–संज्ञा स्त्री० [सं० विदहन] बिदहने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—लगाना।

बिदा–संज्ञा स्त्री० [अ० विदाअ] (१) प्रस्थान। गमन। रवानगी। रुखसत। उ०—बेटी को बिदा कै अकुलाने गिरिराज कुल व्याकुल सकल शुद्धि बुद्धि बदली गई।—देव। (२) जाने की आज्ञा। उ०—माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई।—तुलसी।

क्रि० प्र०—देना।—माँगना।—मिलना।

(३) द्विरागमन। गौना।

बिदाई–संज्ञा स्त्री० [अ० विदाअ] (१) बिदा होने की क्रिया या भाव। (२) बिदा होने की आज्ञा। (३) वह धन जो किसी को बिदा होने के समय, उसका सत्कार करने के लिये दिया जाय।

बिदामी–वि० दे० "बादामी"।

बिदारना†–क्रि० स० [सं० विदारण] (१) चीरना। फाड़ना। उ०—सीयबरन सनकेत किअति हिय हारि। किहेसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि।—तुलसी। (२) नष्ट करना। बिगाड़ना।

बिदारी–संज्ञा पुं० [सं० विदारी] (१) शालपर्णी। (२) भूमिकुष्मांड। भुइँ-कुम्हड़ा। (३) अठारह प्रकार के कंठ रोगों में से एक प्रकार का रोग।

बिदारीकंद–संज्ञा पुं० [सं० विदारीकंद] एक प्रकार का कंद जिसकी बेल के पत्ते अरुई के पत्तों के समान होते हैं। यह कंद बेल की जड़ में होता है। इसका रंग कुछ कुछ लाल होता है और इसके ऊपर एक प्रकार के छोटे छोटे रोएँ होते हैं। वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, भारी, स्निग्ध, रक्त-पित्तनाशक, कफ़कारक, वीर्यवर्द्धक, वर्ण को सुंदर करनेवाला और रुधिर-विकार, दाह तथा वमन को दूर करनेवाला माना है। बिलाई कंद।

बिदुराना*†–क्रि० अ० [सं० विदुर=चतुर] मुसकराना। धीरे धीरे हँसना। उ०—धरै तहाँ जहँ होइ रजाई। बचो विदेह बचन बिदुराई।—रघुराज।

बिदुरानी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिदुराना] मुसकराहट। मुसक्यान। उ०—नये चाँद से बदन बिदुरानि खासी त्यों जवाहिर जड़े कड़े दिल कादर्ते।—रघुराज।

बिदूषना*†–क्रि० अ० [सं० विदूषण] (१) दोष लगाना। कलंक लगाना। ऐब लगाना। (२) ख़राब करना। बिगाड़ना।

बिदेस–संज्ञा पुं० [सं० विदेश] विदेश। परदेश। अपने देश के अतिरिक्त और कोई देश। जैसे, देस-बिदेस मारे मारे फिरना।

बिदोख*†–संज्ञा पुं० [विद्वेष] बैर। वैमनस्य।

बिद्दत–संज्ञा स्त्री० [अ० बिदअत] (१) पुरानी अच्छी बात को बिगाड़नेवाली नई ख़राब बात। (२) खराबी। बुराई। दोष। (३) कष्ट। तकलीफ़। (४) विपत्ति। आफ़त। (५) अत्याचार। ज़ुल्म। (६) दुर्दशा।

क्रि० प्र०—में पड़ना।—भोगना।—सहना।

बिधँसना*†–क्रि० स० [सं० विध्वंसन] नाश करना। विध्वंस करना। नष्ट करना।

बिध–संज्ञा पुं० [सं० विधि] हाथियों का चारा या रातिब।

संज्ञा स्त्री० [सं० विधि] (१) प्रकार। तरह। भाँति। उ०—जदपि करनी है करी मैं हर भाँत मुरार। प्रभु करनी कर आपनी सब बिध लेहु सुधार।—रसनिधि। (२) ब्रह्मा।

संज्ञा स्त्री० [सं० विधा=लाभ] जमा ख़र्च का हिसाब। आय-व्यय का लेखा।

मुहा०—बिध मिलाना=आय-व्यय का हिसाब ठीक करना। यह देखना कि आय और व्यय की सब मदें ठीक ठीक लिखी गई है या नहीं।

बिधना–संज्ञा पुं० [सं० विधि+ना (प्रत्य०)] ब्रह्मा। कर्त्तार। विधि। विधाता। उ०—अहो बिधना तो पै अचरा पसारि माँगौं जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबो।

क्रि० अ० दे० "बिंधना"। उ०—(क) बिँधवे मैन खिलारने रूप जाल दृग मीन। रहत सदाई जे भए चपल गनत रसलीन।—रसनिधि। (ख) जैसे बधिक अधिक मृग बिधवत राग रागिनी ठानि।—सूर।

बिधवंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिधि=जमा+फ़ा० बंदी] भूमिकर देने की वह रीति जिसमें बीघे आदि के हिसाब से कोई कर नियत नहीं होता बल्कि कुल ज़मीन के लिये यों ही अंदाज़ से कुछ रक़म दे दी जाती है। बिलमुकता।

बिधवपन†–संज्ञा पुं० [सं० विधवा+पन (प्रत्य०)] रँडापा। वैधव्य।

बिधवा–वि० [स०] (वह स्त्री) जिसका पति मर गया हो। राँड़।

बिधवाना–क्रि० स० दे० "बिँधवाना"।

बिधाँसना*†–क्रि० स० [सं० विध्वंसन] विध्वंस करना । नष्ट करना । नाश करना । उ०—जनहुँ लंक सब लूसी हनू विधाँसी बारि । जागि उठेउँ अस देखत सखि कहु सपन बिचारि ।—जायसी ।

बिधाई*–संज्ञा पुं० [सं० विधायक] वह जो विधान करता हो । विधायक । उ०—जैति सौमित्रि रघुनंदनानंदकर रीछ कपि कटक संघट बिधाई ।—तुलसी ।

बिधाना–क्रि० अ० दे० "बिँधाना" । उ०—वाहन बिधाए बाँह जंघन जघन माह कहे छोड़ो नाह नाहिँ गयो चाहै मुचि कै ।—देव ।

बिधानी*†–संज्ञा पुं० [विधान] विधान करनेवाला । बनानेवाला । रचनेवाला ।

बिधिना–संज्ञा स्त्री० दे० "बिधना" ।

बिधुली–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जो हिमालय की तराई में पाया जाता है । इसे नल-बाँस और देव-बाँस भी कहते हैं । विशेष—दे० "देवबाँस" ।

बिन*†–अव्य० दे० "बिना" ।

संज्ञा पुं० [देश०] एक नीच जाति । बिंद ।

बिनई*†–संज्ञा पुं० [सं० विनयी] (१) विनती करनेवाला । (२) नम्र ।

बिनउ*†–संज्ञा स्त्री० दे० "विनय" ।

बिनता–संज्ञा पुं० [देश०] पिंडकी नाम की चिड़िया ।

बिनति*–संज्ञा स्त्री० दे० "बिनती" ।

बिनती–संज्ञा स्त्री० [सं० विनय] प्रार्थना । निवेदन । अर्ज़ । उ०—बिनती करत मरत हौं लाज ।

बिनन–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिनना=चुनना] (१) बिनने या चुनने की क्रिया या भाव । (२) वह कूड़ा कर्कट आदि जो किसी चीज़ में से चुनकर निकाला जाय । चुनन । जैसे,—मन भर गेहूँ में से तीन सेर तो बिनन ही निकल गई । (३) बुनने की क्रिया या भाव । बुनावट ।

बिनना–क्रि० स० [सं० वीक्षण] (१) छोटी छोटी वस्तुओं को एक एक करके उठाना । चुनना । (२) छाँट छाँट कर अलग करना । इच्छानुसार संग्रह करना ।

क्रि० स० [हिं० बीधना] डंकवाले जीव का डंक मारना । काटना । बींधना ।

क्रि० स० दे० "बुनना" ।

बिनरी–संज्ञा स्त्री० दे० "अरनी" । (वृक्ष)

बिनवना*†–क्रि० अ० [सं० विनय] विनय करना । मिन्नत करना । प्रार्थना करना ।

बिनशना*†–क्रि० अ० [सं० विनाश] नष्ट होना । बरबाद होना ।

क्रि० स० विनाश करना । नष्ट करना ।

बिनशाना*†–क्रि० अ० [सं० विनष्ट] विनष्ट होना । नाश होना ।

क्रि० स० नष्ट करना । चौपट करना ।

बिनसाना–क्रि० स० [सं० विनाश] विनाश करना । बिगाड़ डालना । नष्ट कर देना ।

क्रि० अ० विनष्ट होना । उ०—(क) कबहुँ कि काँजी सीकरन छीरसिंधु बिनसाय ।—तुलसी । (ख) जग में घर की फूट बुरी । घर की फूटहि सों बिनसाई सुबरन लंकपुरी—हरिश्चंद्र ।

बिना–अव्य० [सं० विना] छोड़कर । बग़ैर । जैसे,—(क) आपके बिना तो यहाँ कोई काम ही न होगा । (ख) अब वे बिना किताब लिए न मानेंगे ।

बिनाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिनना या बीनना] (१) बीनने या चुनने की क्रिया या भाव । (२) बीनने या चुनने की मज़दूरी । (३) बुनने की क्रिया या भाव । बुनावट । (४) बुनने की मज़दूरी ।

बिनाती–संज्ञा स्त्री० दे० "बिनती" । उ०—पद्द गोसाई सउँ एक बिनाती । मारग कठिन जाब केहि भाँती ।—जायसी ।

बिनाना–क्रि० स० दे० "बुनवाना" ।

बिनानी–वि० [सं० विज्ञानी] अज्ञानी । अनजान । उ०—(क) रोवन लागे कृष्ण बिनानी । जसुमति आइ गई लै पानी ।—सूर । (ख) पाहन शिला निरखि हरि डार्‌यो ऊपर खेलत श्याम बिनानी ।—सूर । (ग) कबहुँक आर करत माखन की कबहुँक भेष दिखाइ बिनानी ।—सूर । (घ) भवन काज को गई नँदरानी । आँगन छाँड़े श्याम बिनानी ।—सूर ।

संज्ञा स्त्री० [सं० विज्ञान] विशेष विचार । ग़ौर । उ०—चितै रहे तब नंद युवति मुख मन मन करत बिनानी ।—सूर ।

बिनावट–संज्ञा स्त्री० दे० "बुनावट" ।

बिनासना–क्रि० स० [सं० विनष्ट] विनष्ट करना । संहार करना । बरबाद करना ।

बिनि*†–अव्य० दे० "बिना" ।

बिनु*–अव्य० दे० "बिना" ।

बिनूठा*†–वि० [हिं० अनूठा] अनूठा । अनोखा । आश्चर्यप्रद । विलक्षण ।

बिनै*†–संज्ञा स्त्री० दे० "विनय" ।

बिनैका†–संज्ञा पुं० [सं० विनायक] पकवान बनाते समय का वह पकवान जो पहले घान में से निकाल कर गणेश के निमित्त अलग रख देते हैं । यह भाग पकवान बनानेवाले को मिलता है ।

बिनौरिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिनौला] एक प्रकार की घास जो ख़रीफ़ के खेतों में पैदा होती है । इसमें छोटे पीले फूल निकलते हैं । यह प्रायः चारे के काम में आती है ।

बिनौला–संज्ञा पुं० [?] कपास का बीज जो पशुओं के लिये

पुष्टिकारक होता है। इससे एक प्रकार का तेल भी निकाला जाता है। बनौर। कुक्टी।

बिन्हनी‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिंधना] जुलाहों की वह लकड़ी या छड़ जो ताने में लगा रहता है और जो तागे से लपेटन में बँधा रहता है।

बिपच्छ*†–संज्ञा पुं० [सं० विपक्ष] शत्रु। बैरी। दुश्मन।

वि० (१) अप्रसन्न। नाराज़। प्रतिकूल। विमुख। विरुद्ध। उ०—बिंध न ईंधन पाइए सायर जुरै न नीर। परे उपास कुबेर घर जो बिपच्छ रघुबीर।—तुलसी।

बिपच्छी*†–संज्ञा पुं० [सं० विपक्षिन्] (१) वह जो विपक्ष का हो। विरोधी। (२) शत्रु। दुश्मन।

बिपति, बिपता*†–संज्ञा स्त्री० दे० "विपत्ति"।

बिपत्त, बिपत्ति–संज्ञा स्त्री० दे० "विपत्ति"।

बिपद, बिपदा*†–संज्ञा स्त्री० [सं० विपद] आफ़त। मुसीबत। संकट। विपत्ति।

बिपर*†–संज्ञा पुं० [सं० विप्र] ब्राह्मण। उ०—बिपर असीसि बिनति अउधारा। सुआ जीउ नहिँ करउँ निरारा।—जायसी।

बिफर*†–वि० दे० "विफल"।

बिफरना*†–क्रि० अ० [सं० विप्लवन] (१) विप्लव करने पर उद्यत हो जाना। बाग़ी होना। विद्रोही होना। उ०—घूमति हैं झुकि झूमति हैं मुख चूमति हैं थिर ह्वै न थकी ये। चौंकि परैं चितवैं बिफरैं सफरैं जलहीन ज्यों प्रेम पकी ये। रीझतिहैं खुलि खीझतिहैं अँसुवान सों भींजती सोभ तकी ये। ता छिन तें उछकी न कहूँ सजनी अँखियाँ हरि रूप छकी ये। (२) बिगड़ उठना। नाराज़ होना।

बिबछना*†–क्रि० अ० [सं० विपक्ष] (१) विरोधी होना। (२) उलझना। अटकना। फँसना। उ०—बिबछि गयो मन लागि ज्यों ललित त्रिभंगी संग। सूधो रहै न और तनि नउत रहै वह अंग।—रसनिधि।

बिबरन*†–वि० [सं० विवर्ण] (१) जिसका रंग ख़राब हो गया हो। बदरंग। (२) चिंता या ग्लानि आदि के कारण जिसके चेहरे का रंग उड़ गया हो। जिसके मुख की कांति नष्ट हो गई हो। जिसका चेहरा उतरा हो। उ०—(क) बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू।—तुलसी। (ख) बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी।—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "विवरण"।

बिबस*‡–वि० [सं० विवश] (१) मजबूर। विवश। (२) परतंत्र। पराधीन।

क्रि० वि० [सं० विवश] विवश होकर। लाचारी से। बेबसी की हालत में। उ०—बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं।—तुलसी।

बिबहार*†–संज्ञा पुं० दे० "व्यवहार"।

बिबाई–संज्ञा स्त्री० [सं० विपादिका] एक रोग जिसमें पैरों के तलुए का चमड़ा फट जाता है और वहाँ ज़ख़्म हो जाता है। इससे चलने फिरने में बहुत कष्ट होता है। यह रोग प्रायः जाड़े के दिनों में और बुड्ढों को हुआ करता है। उ०—जिसके पैर न फटी बिवाई। वह क्या जाने पीर पराई।

क्रि० प्र०—फटना।

बिबाकी–संज्ञा स्त्री० [अ० बेबाकी] (१) बेबाक होने का भाव। हिसाब आदि का साफ़ होना। (२) समाप्ति। अंत।

बिबि–वि० [सं० द्वि] दो। उ०—(क) बिबि रसना तन स्याम है बक्र चलनि बिष खानि।—तुलसी। (ख) सोभित श्रवन कनक कुंडल कल लंबित बिबि भुजमूले।—तुलसी। (ग) माणिक निग्वर सुख मेरु के सिखर बिबि कनक बनाए बिधि कनक सरोज के।—देवदत्त।

बिमन*†–वि० [सं० विमनस्] (१) जिसे बहुत दुःख हो। (२) उदास। सुस्त। चिंतित।

क्रि० वि० बिना मन के। बिना चित्त लगाए। अनमना होकर।

बिमोहना–क्रि० स० [सं० विमोहन] मोहित करना। लुभाना मोहना। उ०—एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी।—जायसी।

बिमौरा‡–संज्ञा पुं० [सं० वल्मीक] टीले के आकार का दीमक के रहने का स्थान। वल्मीक। बामी।

बिय*†–वि० [सं० द्वि] (१) दो। युग्म। (२) दूसरा।

*†संज्ञा पुं० दे० "बीज"।

बियर–संज्ञा स्त्री० [अं०] जौ की बनी हुई एक प्रकार की हलकी अँगरेज़ी शराब जो प्रायः स्त्रियाँ पीती हैं।

बियरसा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जो पहाड़ों में ३००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी लकड़ी कुछ लाली लिए काले रंग की, बहुत मज़बूत और कड़ी होती है और बड़ी कठिनता से कटती है। लकड़ी प्रायः इमारत और मेज़-कुरसी आदि बनाने के काम में आती है। इसमें एक प्रकार के सुगंधित फूल लगते हैं; और गोंद भी होती है जो कई कामों में आती है।

बियहुता‡–वि० [विवाहित] [स्त्री० बियहुती] जिसके साथ विवाह हुआ हो। जिसके साथ शादी हुई हो। विवाहित।

बिया†–संज्ञा पुं० दे० "बीज"।

वि० [सं० द्वि] दूसरा। अन्य। अपर।

संज्ञा पुं० [सं० द्वि] शत्रु। (डिं०)

बियाज†–संज्ञा पुं० दे० "ब्याज"।

बियाजू†–वि० [सं० ब्याज+ऊ] (धन) जो ब्याज पर लगाया

या दिया जाय। जिस (धन) का ब्याज लिया जाय। सूद पर दिया हुआ (रुपया)।

बियाड़†–संज्ञा पुं० [हिं० बिया+ड़ (प्रत्य०)] वह खेत जिसमें पहले बीज बोए जाते हैं और छोटे छोटे पौधे हो जाने पर उन्हें से उखाड़ कर दूसरे खेत में रोपे जाते हैं।

बियाधा*†–संज्ञा पुं० दे० "ब्याधा"।

बियाधि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "ब्याधि"।

बियान†–संज्ञा पुं० [हिं० बियाना] (१) प्रसव। बच्चा देने की क्रिया। (२) बच्चा देने का भाव। वि० दे० "ब्यान"।

विशेष—यह शब्द विशेष कर पशुओं के लिये प्रयुक्त होता है।

बियाना†–क्रि० स० [सं० विजनन] (पशुओं आदि का) बच्चा देना। जनना।

वि० दे० "ब्याना"।

बियापना*†–क्रि० स० दे० "ब्यापना"।

बियाबान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] ऐसा उजाड़ स्थान या जंगल जहाँ कोसों तक पानी न मिले।

बियारी, बियारू*†–संज्ञा स्त्री० [सं० बि+अद] रात का भोजन।

विशेष—दे० "ब्यालू"।

बियाल*†संज्ञा पुं० दे० "ब्याल"।

बियालू*†–संज्ञा स्त्री० [बि+अद] रात का भोजन। विशेष—दे० "ब्यालू"।

बियाह*†–संज्ञा पुं० दे० "विवाह"।

बियाहता‡–वि० स्त्री० [सं० विवाहित] जिसके साथ विवाह हुआ हो। जिसके साथ नियमानुसार पाणिग्रहण हुआ हो।

बियो–संज्ञा पुं० [डिं०] बेटे का बेटा। पोता।

बिरंग–वि० [हिं० बि० (प्रत्य०)+रंग] (१) कई रंगों का। जिसमें एक से अधिक रंग हों। जैसे, रंग बिरंग। (२) बिना रंग का। जिसमें कोई रंग न हो।

बिरंज–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चावल। (२) पका हुआ चावल। भात।

बिरंजी–संज्ञा स्त्री० [?] लोहे की छोटी कील। छोटा काँटा।

बिरगिड–संज्ञा स्त्री० [अं० ब्रिगेड] (१) सेना का एक विभाग जिसमें कई रेजिमेंटें या पल्टनें होती हैं। (२) काम करनेवालों का कोई ऐसा दल जो एक ही तरह की वर्दी पहनता हो और एक ही अधिकारी की अधीनता में काम करता हो। जैसे, फ़ायर ब्रिगेड।

बिरछ†*–संज्ञा पुं० दे० "वृक्ष"।

बिरछिक, बिरछीक*†–संज्ञा स्त्री० दे० "वृश्चिक"।

बिरझना†–क्रि० अ० [सं० विरुद्ध] उलझना। झगड़ना। उ०—बदन चंद्र के लखन को शिशु ज्यों बिरझत नैन।—रसनिधि।

बिरतंत, बिरतांत*†–संज्ञा पुं० दे० "वृत्तांत"।

बिरताना*†–क्रि० स० [सं० वर्त्तन] विभाग करके सब को अलग अलग देना। बाँटना।

बिरतिया†–संज्ञा पुं० [सं० वृत्ति+इया (प्रत्य०)] हज्जाम या बारी आदि की जाति का वह व्यक्ति जो विवाह संबंध ठीक करने के लिये वर-पक्ष की ओर से कन्यावालों के यहाँ अथवा कन्या-पक्ष से वर-पक्ष की योग्यता, मर्यादा, अवस्था आदि देखने के लिये जाता है। बरेखी करनेवाला।

बिरथा†–वि० [सं० व्यर्थ] निरर्थक। फ़िज़ूल। बेकाम। व्यर्थ।

क्रि० वि० बिना किसी कारण के। अनावश्यक रूप से।

बिरद†–संज्ञा पुं० [सं० विरुद] (१) बड़ाई। यश। नेकनामी। (२) दे० "विरद"।

बिरदैत–संज्ञा पुं० [हिं० बिरद+ऐत (प्रत्य०)] बहुत अधिक प्रसिद्ध वीर या योद्धा। ऐसा वीर या दानी पुरुष जिसका नाम बहुत दूर तक हो। जिसके नाम का बिरद बखाना जाय।

वि० नामी। प्रसिद्ध।

बिरध†–वि० दे० "वृद्ध"।

बिरधाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बृध+आई (प्रत्य०)] बुढ़ापा। वृद्धावस्था।

बिरधापन–संज्ञा पुं० [सं० वृद्ध+हिं० पन (प्रत्य०)] (१) वृद्ध होने का भाव। बुढ़ापा। (२) वृद्ध होने की अवस्था। वृद्धावस्था।

बिरमना†–क्रि० अ० [सं० विलंबन] (१) ठहरना। रुकना। (२) सुस्ताना। आराम करना। (३) मोहित होकर फँस रहना।

बिरमाना†–क्रि० स० [हिं० बिरमना का स० रूप] (१) ठहराना। रोक रखना। (२) मोहित करके फँसा रखना। (३) व्यतीत करना। गुज़ारना। बिताना।

बिरला–वि० [सं० बिरल] कोई कोई। बहुतों में से कोई एकाध। इक्का दुक्का। जैसे,—साहित्य क्षेत्र में ऐसा कोई बिरला ही होगा जो आपको न जानता हो।

बिरवा†–संज्ञा पुं० [सं० विरुह] (१) वृक्ष। (२) पौधा। (३) चना। बूट।

बिरवाही†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिरवा+ही (प्रत्य०)] (१) छोटे पौधों का कुंज या बाग़। छोटे पौधों का समूह। (२) वह स्थान जहाँ छोटे छोटे पौधे उगाए गए हों।

बिरषभ–संज्ञा पुं० दे० "वृषभ"।

बिरसन–संज्ञा पुं० [डिं०] ज़हर। विष।

बिरही–संज्ञा पुं० [सं० विरहिन्] [स्त्री० बिरहिन, बिरहिनी] वियोग से पीड़ित पुरुष। वह पुरुष जो अपनी प्रेमिका के विरह से दुःखित हो।

बिराजना–क्रि० अ० [सं० वि+रंजन] (१) शोभित होना। शोभा देना। (२) बैठना।

बिरादर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] भाई। भ्राता।

बिरादरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) भाईचारा। बंधुत्व। (२) जातीय समाज। एक ही जाति के लोगों का समूह।

मुहा०—बिरादरी से बाहर या ख़ारिज़ होना=जाति से बहिष्कृत होना। जातिच्युत होना।

बिरान, बिराना*–वि० [फ़ा० बेगाना] (१) पराया। जो अपने से अलग हो। (२) दूसरे का। जो अपना न हो।

बिराना‡–क्रि० अ० [अनु०] (मुँह) चिढ़ाना। दे० "मुँह" के मुहा०।

बिरावना†*–क्रि० स० [सं० विरव=शब्द] (१) मुँह चिढ़ाना। किसी के मुँह से निकले हुए शब्द को उसे चिढ़ाने के लिये उसी प्रकार उच्चारण करना। (२) किसी को दिखलाकर चिढ़ाने के हेतु मुँह की कोई विलक्षण मुद्रा बनाना। उ०—दई सैन सब सखन को लै गोरस समुदाय। गये निकरि जब दूरि तब आपहु भगे बिराय।—रघुनाथ।

बिरास*†–संज्ञा पुं० दे० "विलास"।

बिरिख*†–संज्ञा पुं० (१) दे० "वृष"। (२) दे० "वृक्ष"।

बिरिछ*†–संज्ञा पुं० दे० "वृक्ष"।

बिरिध*†–वि० दे० "वृद्ध"।

बिरियाँ–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेला] समय। वक़्त। बेला। उ०—पुनि आउब यहि बिरियाँ काली।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० वार] बार। दफ़ा। पारी। उ०—(क) सूर की बिरियाँ निठुर भए प्रभु मोते कछु न सर्यो।—सूर। (ख) बीस बिरियों चोर की तो कबहुँ मिलिहैं साहु।—सूर।

बिरिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बाली] (१) चाँदी वा सोने का बना हुआ छोटी कटोरी के आकार का एक गहना जो कान में पहना जाता है। पश्चिमी ज़िलों में इसे 'ढार' कहते हैं। (२) चर्खे के बेलन में की कपड़े या लकड़ी की वह गोल टिकिया जो इसलिये लगाई जाती है कि चर्खे की मूँड़ी खूँटे से रगड़ न खाय।

बिरी*†–संज्ञा स्त्री० (१) दे० "बीड़ी" (२) दे० "बीड़ा"।

बिरुआ†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का राजहंस।

बिरुझना†–क्रि० अ० [सं० विरुद्ध या हिं० उलझना] झगड़ना। उलझना। उ०—जो बालक जननी सों बिरुझै माता ताको लेइ—बनाइ।—सूर।

बिरुझाना*†–क्रि० अ० [सं० विरुद्ध या हिं० उलझना] क्रुद्ध होकर लड़ने के लिये प्रस्तुत होना। उलझना।

बिरोजा–संज्ञा पुं० दे० "गंधाबिरोजा"।

बिरोधना†–क्रि० अ० [सं० विरोध] विरोध करना। बैर करना। द्वेष करना। उ०—(क) साईं ये न बिरोधिये गुरु पंडित कवि यार। बेटा बनिता पौरिया यज्ञ करावनहार।—गिरधर। (ख) रावन गर्व बिरोधा रामू। ओही गरब भयउ संग्रामू।—जायसी। (ग) तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहिँ बिरोधे नहिँ कल्याना—तुलसी।

बिलंगी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] अलगनी। अरगनी।

बिलंद–वि० [फ़ा० बुलंद] (१) ऊँचा। (२) बड़ा। (३) जो विफल हो गया हो। (व्यंग्य)

बिलंबना*†–क्रि० अ० [सं० विलंब] (१) विलंब करना। देर करना। (२) ठहरना। रुकना।

बिल–संज्ञा पुं० [सं० बिल] (१) वह खाली स्थान जो किसी चीज में खुदने, फटने आदि के कारण हो गया हो और दूर तक गया हो। छेद। दरज। विवर। (२) ज़मीन के अंदर खोदकर बनाया हुआ कुछ जंगली जीवों के रहने का स्थान। जैसे, चूहे का बिल, साँप का बिल।

मुहा०—बिल ढूँढ़ते फिरना=अपनी रक्षा का उपाय ढूंढ़ते फिरना। बहुत परेशान होकर अपने बचने की तरकीब ढूंढ़ना।

संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह ब्योरेवार परचा जो अपना बाक़ी रुपया पाने के लिए किसी देनदार के सामने पेश किया जाता है। पावने के हिसाब का परचा। पुरज़ा।

विशेष—बिल में प्रायः बेची या दी हुई चीज़ों के तिथि सहित नाम और दाम, किसी के लिए व्यय किए हुए धन का विवरण अथवा किसी के लिए किए हुए कार्य या सेवा आदि का विवरण और उसके पुरस्कार की रक़म का उल्लेख होता है। इसके उपस्थित करने पर वाजिब पावना चुकाया जाता है।

(२) किसी क़ानून आदि का वह मसौदा जो क़ानून बनानेवाली सभा में उपस्थित किया जाय। क़ानून की पांडुलिपि।

बिलकुल–क्रि० वि० [अ०] (१) पूरा पूरा। सब। जैसे,—उनका हिसाब बिलकुल साफ़ कर दिया गया। (२) सिर से पैर तक। आदि से अंत तक। निरा। निपट। जैसे,—तुम भी बिलकुल बेवक़ूफ़ हो। (३) सब। पूरा पूरा।

बिलखना–क्रि० अ० [सं० विकल या विलाप] (१) विलाप करना। रोना (२) दुःखी होना उ०—सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कह्यो मुनि नाथ।—तुलसी। (३) संकुचित होना। सिकुड़ जाना।

बिलखाना†–क्रि० स० [सं० विकल] (१) बिलखना का सकर्मक रूप। रुलाना। (२) दुखी करना।

क्रि० अ० दे० "बिलखना"। उ०—बिकसित कंज कुमुद बिलखाने।—तुलसी।

बिलग–वि० [हिं० वि० (प्रत्य०)+लगना] अलग। पृथक्। जुदा। उ०—बिलग बिलग ह्वै चलहु सब निज निज सहित समाज।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [हिं० वि० (प्रत्य०)+लगना] (१) पार्थक्य। अलग होने का भाव। (२) द्वेष या और कोई बुरा भाव। रंज। उ०—(क) देवि करौं कछु विनय सो बिलगु न मानब।—तुलसी। (ख) इनको बिलगु न मानिये कहि केशव पल आधु। पानी पावक पवन प्रभु त्यों असाधु त्यों साधु।—केशव।

क्रि० प्र०—मानना।

बिलगाना–क्रि० अ० [हिं० बिलग+आना (प्रत्य०)] अलग होना। पृथक् होना। दूर होना उ०—निज निज सेन सहित बिलगाने।—तुलसी।

क्रि० स० (१) अलग करना। पृथक् करना। दूर करना। उ०—(क) ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल ते न कोउ बिलगावै।—तुलसी। (ख) भलेउ पोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये।—तुलसी। (२) छाँटना। चुनना।

बिलगी–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का संकर राग।

बिलगु*†–संज्ञा पुं० दे० "बिलग"। उ०—स्वामिनि अविनय छमब हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी।—तुलसी।

बिलच्छन–वि० दे० "विलक्षण"।

बिलछना–क्रि० अ० [सं० लक्ष] लक्ष करना। ताड़ना।

बिलटी–संज्ञा स्त्री० [अं० बिलेट] रेल के द्वारा भेजे जानेवाले माल की वह रसीद जो रेलवे कंपनी से मिलती है। जिस स्थान से माल भेजा जाता है, उस स्थान पर यह रसीद मिलती है। पीछे से यह रसीद उस व्यक्ति के पास भेज दी जाती है, जिसके नाम माल भेजा जाता है। निर्दिष्ट स्थान पर यही रसीद दिखलाने पर माल मिलता है। इसमें माल का विवरण, तौल, महसूल आदि लिखा रहता है।

बिलनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिल] काली भौंरी जो दीवारों या किवाड़ों पर अपने रहने के लिए मिट्टी की बाँबी बनाती है। यही वह भृंगी है जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह किसी कीड़े को पकड़ कर भृंगी ही बना डालती है। भ्रमरी।

संज्ञा स्त्री० आँख की पलक पर होनेवाली एक छोटी फुंसी। गुहाँजनी।

बिलपना*†–क्रि० अ० [सं० विलाप] विलाप करना। रोना।

बिलफ़ेल–क्रि० वि० [अ०] इस समय। अभी। संप्रति। वर्तमान अवस्था में। जैसे,—बिलफ़ेल १००) लेकर काम चलाइए; फिर और ले लीजिएगा।

बिलबिलाना–क्रि० अ० [अनु०] (१) छोटे छोटे कीड़ों का इधर उधर रेंगना। जैसे,—उसके घाव में कीड़े बिलबिलाते हैं। (२) व्याकुल होकर बकना। असंबद्ध प्रलाप करना। (३) कष्ट के कारण व्याकुल होकर रोना चिल्लाना। (४) भूख से बेचैन हो उठना।

बिलम*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बिलंब"।

बिलमना*†–क्रि० अ० [सं०विलंब] (१) विलंब करना। देर करना। (२) ठहर जाना। रुकना। उ०—बीच में बिलमें बिराजे विष्णुथल में। सुगंगा जू के जल में अन्हाए एक पल में।—पद्माकर। (३) किसी के प्रेमपाश में फँस कर कहीं रुक रहना। उ०—माधव बिलमि बिदेस रहे।—सूर।

बिलमाना–क्रि० स० [हिं० बिलमना का सक०रूप] रोक रखना। ठहरा रखना। अटका रखना। उ०—(क) कहेसि को मोहि बातन बिलमावा। हत्या केर न तोहि डेरावा।—जायसी। (ख) ठाने अठान जेठानिन हू सब लोगन हू अकलंक लगाये। सासु लरी गहि गाँस खरी ननदीन के बोल न जात गनाये। एती सही जिनके लिए मैं सखि तैं कहि कौने कहाँ बिलमाये। आये गरे लगि प्रान पै कैसेहुँ कान्हर आजु अजौं नहिं आये।

बिललाना†–क्रि० अ० [सं० विलाप अथवा अनु०] (१) बिलख कर रोना। विलाप करना। उ०—औंधाई सीसी सुलखि बिरह बरी बिललात। बीचहि सूखि गुलाब गो छींटौ छुई न गात।—बिहारी। (२) व्याकुल होकर असंबद्ध बातें कहना।

बिलवाना†–क्रि० स० [सं० वि+लय] (१) किसी वस्तु को खो देना। नष्ट करना। बरबाद करना। (२) किसी वस्तु को दूसरे के द्वारा नष्ट कराना। बरबाद कराना। दूसरे को बिलाने में प्रवृत्त करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(३) ऐसे स्थान में रखवाना या रखना जहाँ कोई देख न सके। छिपाना अथवा छिपाने के काम में दूसरे को प्रवृत्त करना।

संयो० क्रि०—देना।

बिलसना*†–क्रि० अ० [सं० विलसन] विशेष रूप से शोभा देना। बहुत भला जान पड़ना। उ०—(क) त्यों पद्माकर बोलै हँसे हुलसै बिलसै मुखचंद्र उज्यारी।—पद्माकर। (ख) बिलसत बेतस बनज बिकासे।—तुलसी।

क्रि० स० भोग करना। भोगना। उ०—(क) सज्जन सींव बिभीषन भो अजहूँ बिलसै बर बंधुबधू जो।—तुलसी। (ख) इंद्रासन बैठे सुख बिलसत दूर किये भुवभार।—सूर।

बिलसाना*†–क्रि० स० [हिं० बिलसना] (१) भोग करना। बरतना। काम में लाना। उ०—दान देय खाही बिलसाही। ता को धन सुनी यश गाही।—सबल। (२) दूसरे को बिलसने में प्रवृत्त करना। दूसरे से भोगवाना।

बिलस्त†–संज्ञा पुं० दे० "बालिश्त"।

बिलहरा–संज्ञा पुं० [हिं० बेल ?] बाँस की तीलियों या ख़स आदि का बना हुआ एक प्रकार का संपुट जिसमें पान के लगे हुए बीड़े रखे जाते हैं।

बिला–अव्य० [अ०] बिना। बग़ैर। उ०—आज अपनी ज़रा सी मेहर की निगाह से इस बादशाहत को बिला क़ीमत

ख़रीद सकती हो।—राधाकृष्णदास।

बिलाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिल्ली] (१) बिल्ली। बिलारी। उ०—नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुश धनु उरग बिलाई।—तुलसी। (२) कुएँ में गिरा हुआ बरतन या रस्सी आदि निकालने का काँटा जो प्रायः लोहे का बनता है। इसके अगले भाग में बहुत सी अँकुसियाँ लगी रहती हैं जिनमें चीज़ फँसकर निकल आती है। (३) लोहे वा लकड़ी की एक सिटकनी जो किवाड़ों में उनको बंद करने के लिए लगाई जाती है। पटेला।

बिलाईकंद–संज्ञा पुं० दे० "बिदारीकंद"।

बिलाना–क्रि० अ० [सं० विलयन] (१) नष्ट होना। विलीन होना। न रह जाना। उ०—कबहुँ प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिँ।—तुलसी। (२) छिप जाना। अदृश्य हो जाना। ग़ायब होना। उ०—जेंवत अधिक सुबासिक मुँह में परत बिलाय। सहस स्वाद सो पावै एक कौर जो खाय।—जायसी।

बिलार†–संज्ञा पुं० [सं० बिडाल] [स्त्री० बिलारी] बिल्ला। मार्जार।

बिलारी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिलार] बिल्ली। मंजारी।

बिलारीकंद–संज्ञा पुं० [सं० बिदारीकंद] एक प्रकार का कंद। दे० "बिदारीकंद"।

बिलाव–संज्ञा पुं० दे० "बिलार"।

बिलावर–संज्ञा पुं० दे० "बिल्लौर"।

बिलावल–संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो केदारा और कल्याण के योग से बनता है। इसे दीपक राग का पुत्र मानते हैं। यह सबेरे के समय गाया जाता है।

बिलासना–क्रि० स० [सं० विलसन] भोग करना। भोगना। बरतना। उ०—चित्त सुनाल के अग्र लसे लहु कंठव कष्ट बिलास बिलासे।—केशव।

बिलिंबी–संज्ञा स्त्री० [मलाया०, बलिंबा] एक प्रकार की कमरख का फल या उसका पेड़।

बिलियर्ड–संज्ञा पुं० [अं०] एक अँगरेज़ी खेल जो गोल अंटों और लंबी लंबी छड़ियों द्वारा बड़ी मेज़ पर खेला जाता है।

यौ०—बिलियर्ड रूम=वह घर जहाँ यह खेल खेला जाता है।

बिलिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेला=कटोरा] कटोरी।

संज्ञा स्त्री० [देश०] गाय बैल के गले की एक बीमारी।

बिलूर–संज्ञा पुं० दे० "बिल्लौर"।

बिलैया‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिल्ली] (१) बिल्ली। (२) पेठा, कद्दू, मूली आदि के महीन महीन डोरे से लच्छे काटने का एक औज़ार। कद्दूकश।

विशेष—यह वास्तव में लोहे की एक (चारपायों की) चौकी सी होती है जिस पर उभरे हुए छेद बने होते हैं। उभारों से रगड़ खाकर कटे हुए कतरे छेदों के नीचे गिरते जाते हैं।

बिलोकना*–क्रि० स० [सं० विलोकन] (१) देखना। (२) जाँच करना। परीक्षा करना।

बिलोकनि*–संज्ञा स्त्री० [सं० विलोकन] (१) देखने की क्रिया। चितवन। (२) दृष्टिपात। कटाक्ष।

बिलोड़ना*–क्रि० स० [विलोडन] (१) मथना। पानी की सी वस्तु को चारों ओर से ख़ूब हिलाना। (२) अस्तव्यस्त कर देना। गड़बड़ करना।

बिलोन–वि० [सं० वि+लावण्य] बिना लावण्य का। कुरूप। बदसूरत। उ०—लोन बिलोन तहाँ को कहै। लोनी सोइ कंत जेहि चहै।—जायसी।

वि० [सं० वि+लवण] अलोना। बिना नमक का।

बिलोना–क्रि० स० [सं० विलोडन] (१) मथना। किसी वस्तु विशेषतः पानी की सी वस्तु को ख़ूब हिलाना। जैसे, दही बिलोना (घी निकालने के लिए)। (२) ढालना। गिराना। उ०—तुलसी मदोवै रोइ रोइ के बिलोवै आँसु बार बार कह्यो मैं पुकारि दाढ़ीजार सों।—तुलसी।

बिलोरना*–क्रि० स० [सं० विलोडन] (१) दे० "बिलोड़ना"। (२) छिन्न भिन्न कर डालना। अस्तव्यस्त कर डालना। उ०—घोरि डारी केसरि सुबेसरि बिलोरि डारी चूनरि चुवाति रंगरेनी ज्यों।—पद्माकर।

बिलोलना–क्रि० स० [सं० विलोलन] डोलना। हिलना। उ०—डोलति अडोल मन खोलति न बोलति कलोलति बिलोकति न तोलति त्रसति सी।—देव।

बिलोवना†*–क्रि० स० दे० "बिलोना"।

बिलौर–संज्ञा पुं० दे० "बिल्लौर"।

बिल्कुल–क्रि० वि० दे० "बिलकुल"।

बिल्मुक्ता–वि० [अ०] जो घट बढ़ न सके। जैसे, लगान-बिल्मुक्ता।

संज्ञा पुं० (१) वह पट्टा जिसकी शर्तों के अनुसार लगान घटाया बढ़ाया न जा सके। (२) वह लगान जो घटाया बढ़ाया न जा सके।

बिल्ला–संज्ञा पुं० [सं० बिडाल] [स्त्री० बिल्ली] मार्जार। दे० "बिल्ली"।

संज्ञा पुं० [सं० पटल, हिं० पल्ला, बल्ला] चपरास की तरह की पीतल की पतली पट्टी जिसे पहचान के लिए विशेष विशेष प्रकार के काम करनेवाले (जैसे, चपरासी, कुली, लैसंसदार, ख़्वांचेवाले) बाँह पर या गले में पहने रहते हैं।

बिल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं० बिडाल, हिं० बिलार] (१) केवल पंजों के बल चलनेवाले पूरा तलवा ज़मीन पर न रखनेवाले मांसा-

हारी पशुओं में से एक जो सिंह, व्याघ्र, चीते आदि की जाति का है और अपनी जाति में सब से छोटा है। बिल्ली नाम इस पशु की मादा का है पर यही अधिक प्रसिद्ध है। इसका प्रधान भक्ष्य चूहा है।

विशेष—इसकी लंबाई एक हाथ से कम होती है और पूँछ डेढ़ दो बालिश्त की होती है। बिल्ली की जाति के और पशुओं के जो लक्षण हैं, वे सब बिल्ली में भी होते हैं—जैसे टेढ़े पैने नख जो गद्दी के भीतर छिपे रहते हैं और आक्रमण के समय निकलते हैं; परदे के कारण आँख की पुतली का घटना बढ़ना, सिर की बनावट नीचे की ओर झुकती हुई, २८ या ३० दाँतों में केवल नाम मात्र के लिए एक चौभर होना; बिना आहट दिए चलकर शिकार पर झपटना इत्यादि इत्यादि। कुत्तों आदि के समान बिल्ली की नाक में भी घ्राणग्राही चर्म कुछ ऊपर होता है। इससे वह पदार्थों को बहुत दूर से सूँघ लेती है।

भारतवर्ष में बिल्ली के दो भेद किए जाते हैं, एक बनबिलाव और दूसरा पालतू बिल्ली। वास्तव में दोनों प्रकार की बिल्लियाँ बस्ती में या उसके आस पास ही पाई जाती हैं। बनबिलाव का रंग स्वाभाविक—भूरा कुछ चित्तीदार होता है और वह पालतू से क्रूर और बलिष्ट होता है। पालतू बिल्लियाँ सफ़ेद, काली, बादामी, चितकबरी कई रंगों की होती हैं। उनके रोएँ भी मुलायम होते हैं। पालतू बिल्लियों में अंगोरा या पारसी बिल्ली बहुत अच्छी समझी जाती है। वह डील में भी बड़ी होती है और उसके रोएँ भी घने, बड़े बड़े और मुलायम होते हैं। ऐसी बिल्लियाँ प्रायः काबुली अपने साथ बेचने के लिए लाते हैं। बिल्ली बहुत दिनों से मनुष्यों के बीच रहती आई है। रामायण, मनुस्मृति, अष्टाध्यायी सब में बिल्ली का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति में बिल्ली का जूठा खाने का निषेध है। बिल्ली पहले पहल कहाँ पाली गई, इसके संबंध में कुछ लोगों का अनुमान है कि पहले पहल प्राचीन मिस्रवालों ने बिल्ली पाली; क्योंकि मिस्र में जिस प्रकार मनुष्यों की मोमियाई लाशें मिलती हैं, उसी प्रकार बिल्ली की भी। मिस्रवाले जिस प्रकार मनुष्यों के शव मसाले से सुरक्षित रखते थे उसी प्रकार पालतू जानवरों के भी।

(२) किवाड़ की सिटकिनी जिसे कोढ़े में डाल देने से ढकेलने पर किवाड़ नहीं खुल सकते। एक प्रकार का अर्गल। बिल्लैया। (३) एक प्रकार की मछली जो उत्तरीय भारत और बरमा की नदियों में होती है। पकड़े जाने पर यह मछली काटती है जिससे विष सा चढ़ जाता है।

बिल्लीलोटन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिल्ली+लोटना] एक प्रकार की बूटी जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी गंध से बिल्ली मस्त होकर लोटने लगती है। यह दवा में काम आती है। यूनानी हकीम इसे 'बादरंजबोया' कहते हैं।

बिल्लूर—संज्ञा पुं० "बिल्लौर"।

बिल्लौर—संज्ञा पुं० [सं० वैदूर्य्य, प्रा० वेलुरिय। मि० फ़ा० बिल्लूर] (१) एक प्रकार का स्वच्छ सफ़ेद पत्थर जो शीशे के समान पारदर्शक होता है। स्फटिक। (अणुओं की योजना की विशेषता के कारण इसमें यह गुण होता है—जैसा कि मिश्री की स्वच्छ डली में देखा जाता है)। (२) बहुत स्वच्छ शीशा जिसके भीतर मैल आदि न हो।

बिल्लौरी—वि० [हिं० बिल्लौर] (१) बिल्लौर का बना हुआ। बिल्लौर पत्थर का। जैसे बिल्लौरी चूड़ियां। (२) बिल्लौर के समान स्वच्छ।

बिवरना—क्रि० अ० [सं० विवरण] (१) सुलझना। एक में गुथी हुई वस्तुओं को अलग अलग करना। (२) बँधे या गुथे हुए बालों को हाथ, कंघी आदि से अलग अलग करके साफ़ करना। बाल सुलझाना। उ०—दे० "ब्योरना"।

बिवराना—क्रि० स० [हिं० बिवरना का प्रे०] (१) बालों को खुलवा कर सुलझवाना। उ०—पुनि निज जटा राम बिवराये। गुरु अनुशासन माँगि नहाये।—तुलसी। (२) बाल सुलझाना।

बिवसाइ*‡—संज्ञा पुं० दे० "व्यवसाय"।

बिशप—संज्ञा पुं० [अं०] ईसाई मत का बड़ा पादरी।

बिषान—संज्ञा पुं० "विषाण"।

बिसंच*—संज्ञा पुं० [सं० वि+संचय] (१) संचय का अभाव। वस्तुओं की सँभाल न रखना। बेपरवाई। उ०—लघु मनुजहू को संच कियहु बिसंच रंच न होय।—रघुराज। (२) कार्य की हानि। बाधा। (३) अमंगल। भय। डर। उ०—रंचक नहिँ बिसंच कौशिक सँग जात लखन सहकारी।—रघुराज।

बिसंभर*‡—संज्ञा पुं० दे० "विश्वंभर"।

*†वि० [सं० उप० वि+हिं० सँभार] (१) जो सँभल न सके। जिसे ठीक और व्यवस्थित न रख सकें। उ०—तन बिसंभर मन बाउर लटा। उरझा प्रेम परी सिर जटा।—जायसी। (२) बेख़बर। ग़ाफ़िल। असावधान।

बिसँभार†—वि० [सं० उप० बि+हिं० सँभार] जिसकी सुध बुध खो गई हो। जिसे तन बदन की ख़बर न हो। बेख़बर। ग़ाफ़िल। असावधान। उ०—परा सुप्रेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा।—जायसी।

बिस—संज्ञा पुं० दे० "विष"।

बिसखपरा—संज्ञा पुं० [सं० विष+खर्पर] (१) हाथ सवा हाथ लंबा गोह की जाति का एक विषैला सरीसृप जंतु। इसका काटा हुआ जीव तुरंत मर जाता है। इसकी जीभ रंगीन होती है।

जिसे यह थोड़ी थोड़ी देर पर निकाला करता है। देखने में यह बड़ी भारी छिपकली सा होता है। (२) एक प्रकार की जंगली बूटी जिसकी पत्तियाँ बनगोभी की सी परंतु कुछ अधिक हरी और लंबी होती हैं। यह औषध में काम आती है। इसे 'बिसखपरी' भी कहते हैं। (३) पुनर्नवा। पथरचटा। गदहपूरना।

बिसखापर†–संज्ञा पुं० [सं० विष+खर्पर] दे० "बिसखपरा"। उ०—बीछू बिसखापरहि चाँपत चरन बीच लपटैं फनीजै गहि पटकै पछार को।—रामकवि।

बिसटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] बेगार। (डिं०)

बिसतरना*–क्रि० अ० [सं० विस्तरण] विस्तार करना। बढ़ाना। फैलाना। उ०—(क) एक पल ठाढ़ी ह्वै कै सामुहें रही निहारि फेरि कै लजौंही भौहैं सोचै बिसतरि कै।—रघुनाथ। (ख) बिहँसि गरेसों लागी मिली रघुनाथ प्रभा अंगनि सों गुन रूप ऐसो बिसतरि गो।—रघुनाथ।

बिसतार*–संज्ञा पुं० दे० "विस्तार"।

बिसद*–वि० दे० "विशद"।

बिसन*–संज्ञा पुं० दे० "व्यसन"।

बिसनी–वि० [सं० व्यसन] (१) जिसे किसी बात का व्यसन या शौक हो। (२) जो अपने व्यवहार के लिए सदा बढ़िया बढ़िया चीज़ें ही ढूँढ़ा करे। जिसे चीज़ें जल्दी पसंद न आएँ। जो व्यवहार की साधारण वस्तु सामने आने पर नाक भौं सिकोड़े। (३) जिसे सफ़ाई सजावट या बनाव सिंगार बहुत पसंद हो। छैला। चिकनिया। शौकीन। (४) वेश्यागामी। रंडीबाज़।

बिसमउ†–संज्ञा पुं० दे० "विस्मय"।

बिसमरना*–क्रि० स० [सं० विस्मरण] भूल जाना। उ०—सुत तिय धन की सुधि बिसमरै।—सूर।

बिसमव†–संज्ञा पु० दे० "विस्मय"।

बिसमिल–वि० [फ़ा० बिस्मिल] घायल। ज़ख्मी।

बिसमिल्ला (ह)–संज्ञा पुं० [अ०] श्रीगणेश। आरंभ। आदि।

मुहा०—बिस्मिल्ला ही ग़लत होना=आदि ही से गलती का शुरू होना। किसी कार्य्य के आरंभ ही में विघ्न बाधा वा भूल का होना। **बिस्मिल्ला करना**=आरभ करना। लग्गा लगाना। शुरू करना।

बिसयक*†–संज्ञा पुं० [सं० विषय] (१) देश। प्रदेश। (२) रियासत।

बिसरना–क्रि० स० [सं० विस्मरण, प्रा० बिम्हरण, बिस्सरण] भूल जाना। विस्मृत होना। याद न रहना। ध्यान में न रहना। उ०—(क) बिसरा भोग सेज सुख बासू।—जायसी। (ख) बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी।—तुलसी। (ग) सुरति स्याम घन की सुरति बिसरेहू बिसरै न।—बिहारी।

बिसरात†*–संज्ञा पुं० [सं० वेशरः] खच्चर। अश्वतर। उ०—कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते।—तुलसी।

बिसराना–क्रि० स० [हिं० बिसरना] भुला देना। विस्मृत करना। ध्यान में न रखना। उ०—(क) दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरे बयर तुम्हउ बिसराई।—तुलसी। (ख) बिसराइयो न याको है सेवक अयानो।—प्रताप। (ग) थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि। तुम्हूँ कान्ह भये मनौ आज काल के दानि।—बिहारी।

बिसराम*–संज्ञा पुं० दे० "विश्राम"। उ०—प्यारी की ठोढ़ी को बिंदु दिनेस किधौं बिसराम गुबिंद के जी को। चारु चुभ्यो कणिका मणिनील की कैधों जमाव जम्यौ रजनी को।

बिसरावना†*–क्रि० स० दे० "बिसराना"। उ०—करिकै उनके गुन गान सदा अपने दुख को बिसरावनो है।—हरिश्चंद्र।

बिसवार–संज्ञा पु० [सं० विषय=वस्तु+हिं० वार (प्रत्य०)] हज्जामों की वह पेटी जिसमें वे हजामत बनाने के औज़ार रखते हैं। छुरहँड़ी। किसबत।

बिसवास*–संज्ञा पुं० दे० "विश्वास"।

बिसवासिनि–वि० स्त्री० [सं० विश्वासिन्] (१) विश्वास करनेवाली। (२) जिस पर विश्वास हो।

*वि० स्त्री० [सं० अविश्वासिन्] (१) जिस पर विश्वास न हो। (२) विश्वासघातिनी।

बिसवासी–वि० [सं० विश्वासिन्] (१) जो विश्वास करे। (२) जिस पर विश्वास हो। जिसका एतबार हो।

वि० [सं० अविश्वासिन्] (१) जिस पर विश्वास न किया जा सके। बेएतबार। (२) जिसका कुछ ठीक न हो कि कब क्या करे करावेगा। जैसे,—बिसवासी पेट के कारण परदेस में पड़े हैं। (बोलचाल)

बिससना*–क्रि० स० [सं० विश्वसन] विश्वास करना। एतबार करना। भरोसा करना। उ०—न ये बिससिये अति नये दुरजन दुसह सुभाव। आँटे परि प्रानन हरत काँटे लौं लगि पाव।—बिहारी।

क्रि० स० [सं० विशसन] (१) वध करना। मारना। घात करना। उ०—पुनि तुरंग को बिससि तहँ कौसल्या कर दीन। कियो होम करि प्राण वप दसरथ नृपति प्रवीन।—रघुराज। (२) शरीर काटना। चीरना फाड़ना।

बिसहना*†–क्रि० स० [हिं० बिसाह] (१) मोल लेना। ख़रीदना। दाम देकर कोई वस्तु लेना। क्रय करना। (२) जान बूझ कर अपने साथ लगाना। उ०—जो पै हरि जन के औगुण गहते। तौ सुरपति कुरुराज बालि सों कत हठि बैर बिसहते।—तुलसी।

बिसहर*–संज्ञा पुं० [सं० विषधर, प्रा० बिसहर] सर्प। उ०—(क) भँवर केस वह मालति रानी। बिसहर लरहिं लेहिं अरघानी।—जायसी। (ख) बिसहर सी लट सों लपटि मो मन हठि लपटात। कियो आपनो पाइहै तू तिय कहा सकात।—मुबारक।

बिसहरू†–संज्ञा पुं० [हिं० बिसहना+रू (प्रत्य०)] मोल लेनेवाला। खरीदार।

बिसहिनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

बिसायँध–वि० [सं० वसा=मज्जा, चरबी+गंध] सड़ी मछली की सी गंधवाला। जिससे सड़ी मछली की सी गंध आती हो।

संज्ञा स्त्री० मछली की सी गंध। सड़े मांस की सी गंध। उ०—जो अन्हवाय भरे अरगजा। तौहु बिसायँध ओहि नहिं तजा।—जायसी।

मुहा०—बिसायँध आना=सड़ी मछली के समान दुर्गंध आना।

बिसाख*–संज्ञा स्त्री० दे० "विशाखा"।

बिसात–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) हैसियत। समाई। वित्त। धनसंपत्ति का विस्तार। औक़ात। जैसे,—मेरी बिसात नहीं है कि मैं यह मकान मोल लूँ। (२) जमा। पूँजी। उ०—(क) मन धन हती बिसात जो सो तोहिं दियो बताय। याकी बाकी बिरह की प्रीतम भरी न जाय।—रसनिधि। (ख) हे रघुनाथ कहा कहिए पिय की तिय पूरन पुन्य बिसात सी।—रघुनाथ। (३) सामर्थ्य। हक़ीक़त। स्थिति। गणना। उ०—(क) मंदिनि मेरु अजादि सुर सो इक दिन नसि जात। गजश्रुति सम नर आयु चर ताकी कौन बिसात?—विश्राम। (ख) स्त्री की बिसात ही कितनी, बड़े बड़े योगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं!—हरिश्चंद्र। (ग) समय की अनादि अनंत धारा के प्रवाह में १९ वर्ष के जीवन की बिसात ही क्या?—बालकृष्ण। (४) शतरंज या चौपड़ आदि खेलने का कपड़ा या बिछौना जिसपर खाने बने होते हैं। उ०—हित बिसात धर मन नरद चलि कै देइ न दाव। यासों प्रीतम की रजा बाजू खेलत चाव।—रसनिधि।

बिसाती–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बिस्तर बिछाकर उस पर सौदा रखकर बेचनेवाला। (२) छोटी चीज़ों का दूकानदार। सुई, तागा, लैंप, रंग, चूड़ी, गोली तथा खिलौने इत्यादि छोटी छोटी वस्तुओं का बेचनेवाला। उ०—बढ़ई संगतरास बिसाती। सिकलीगर कहार की पाँती।

बिसाना–क्रि० अ० [सं० वश] वश चलना। बल चलना। क़ाबू चलना। उ०—(क) जो सिर परै आय सो सहै। कछु न बिसाय काह सों कहै।—जायसी। (ख) का बिसाय जो गुरु अस बूझा। चका ब्यूह अभिमनु जौं जूझा।—जायसी।

†–क्रि० अ० [हिं० विष, बिस+ना (प्रत्य०)] विष का प्रभाव करना। ज़हर का असर करना। ज़हरीला होना। जैसे,—कुत्ते का काटा बिसाता है।

बिसारद*–संज्ञा पुं० दे० "विशारद"।

बिसारना–क्रि० स० [हिं० बिसरना] भुला देना। स्मरण न रखना। ध्यान में न रखना। विस्मृत करना। उ०—(क) धीर सिखापन आपनहू को बिसूरि बिसूरि बिसारत ही बन्यो।—धीर। (ख) करहिं आरती पुर नर नारी। देहिं निछावरि वित्त बिसारी।—तुलसी। (ग) पाथर महँ नहिं पतँग बिसारा। जहँ तहँ सँवर दीन्ह तुइँ चारा।—जायसी। (घ) देश कोश की सुरति बिसारी।—तुलसी।

संयो० क्रि०—देना।

बिसारा–वि० [सं० विषालु] [स्त्री० बिसारी] विष भरा। विषाक्त। विषैला।

बिसास*–संज्ञा पुं० दे० "विश्वास"।

बिसासिनि, बिसासिन–संज्ञा स्त्री० [सं० अविश्वासिनी] (स्त्री) जिस पर विश्वास न किया जा सके। विश्वासघातिनी। दगाबाज़ (स्त्री)। उ०—(क) लाजहू को न डराति अबूझ बिसासिनि के छल को पछिताति है। (ख) राखि गई घर सूने बिसासिनि सासु जँजाल ते मोहिं न छोड्यो।

बिसासी*–वि० [सं० अविश्वासी] [स्त्री० बिसासिन] जिस पर विश्वास न किया जा सके। विश्वासघाती। दग़ाबाज़। धोखेबाज़। छली। कपटी। उ०—(क) कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसो।—घनानंद। (ख) सेखर घेर करैं सिगरे पुरवासी बिसासी भये दुखदात हैं।—शेखर। (ग) जापै हौं पठाई ता बिसासी पै गई न दीसै, संकर को चाही चंदकला तें लहाई री।—दूलह। (घ) गोकुल के चख में चक चावगो, चोर लौं चौंके अयान बिसासी।—गोकुल।

बिसाह–संज्ञा पुं० [सं० व्यवसाय] मोल लेने का काम। ख़रीद। क्रय।

बिसाहना–क्रि० स० [हिं० बिसाह+ना (प्रत्य०)] (१) ख़रीदना। मोल लेना। क्रय करना। दाम देकर लेना। उ०—(क) जाहिर जहान में जमानो एक भाँति भयो बेचिए बिबुध धेनु, रासभी बिसाहिए।—तुलसी। (ख) हौं बनिजार तो बनिज बिसाहौं। भर ब्योपार लेहु जो चाहौ।—जायसी। (ग) मेरे जान जब तें हौं जीव ह्वै जनम्यो जग तब तें बिसाह्यो दाम लोभ कोह काम को।—तुलसी। (घ) हाटों में रखी हुई बेचने बिसाहने की वस्तुएँ।—लक्ष्मणसिंह। (२) जान बूझ कर अपने पीछे लगाना। अपने साथ करना। जैसे, रार बिसाहना, बैर बिसाहना। उ०—निदान पहले तो हैदरअली के बेटे टीपू सुलतान का सिर खुजलाया कि इन अंगरेज़ों से बैर बिसाहा।—शिवप्रसाद।

संज्ञा पुं० (१) मोल लेने की वस्तु। काम की चीज़ जिसे ख़रीदें। सौदा। उ०—सबही लीन्ह बिसाहन और

घर कीन्ह बहोर ।—जायसी । (२) मोल लेने की क्रिया । ख़रीद । उ०—(क) पूरा किया बिसाहना बहुरि न आवै हट्ट ।—कबीर । (ख) इहाँ बिसाहन करि चलो आगे बिषमी बाट ।—कबीर ।

बिसाहनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिसाहना] सौदा । जो वस्तु मोल ली जाय । उ०—(क) जो कहुँ प्रीति बिसाहनी करतौ मन नाहिं जाय । काहे को कर माँगतो बिरह जगातौ आय ।—रसनिधि । (ख) कोई करै बिसाहनी काहू के न बिकाय । कोऊ चालै लाभ सों कोऊ मूर गँवाय ।—जायसी ।

बिसाहा—संज्ञा पुं० [हिं० बिसाहना] सौदा । ख़रीदी हुई वस्तु । जो वस्तु मोल ली जाय । बिसाहना । बिसाहनी । उ०—(क) सिंघलदीप जाय सब चाहा । मोल न पाउब जहाँ बिसाहा ।—जायसी । (ख) जिन्ह यहि हाट न लीन्ह बिसाहा । ताकहँ आन हाट किन लाहा ।—जायसी ।

बिसिख*—संज्ञा पुं० दे० "विशिख" ।

बिसियर*—वि० [सं० विषधर] विषैला । विषयुक्त । उ०—कनक बरन छबि मैन नैन बिसियर बिनु सायक ।—हनुमान ।

बिसुकर्मा*—संज्ञा पुं० दे० "विश्वकर्मा" ।

बिसुनना—क्रि० अ० [हिं० सुरकना, सुनकना] कोई वस्तु खाते समय उसका कुछ अंश नाक की ओर चढ़ जाना ।

बिसुनी—संज्ञा स्त्री० [सं० विष्णु ?] अमरबेल । (अनेकार्थ)

बिसुवा—संज्ञा पुं० दे० "बिस्वा" ।

बिसूरना—क्रि० अ० [सं० विसूरण=शोक] सोच करना । चिंता करना । खेद करना । मन में दुःख मानना । उ०—(क) जानि कठिन शिव चाप बिसूरति । चली राखि उर स्यामल मूरति ।—तुलसी । (ख) जनु करुना बहु बेष बिसूरति ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० चिंता । फ़िक्र । सोच । उ०—लालची लबार बिललात द्वार द्वार, दीन बदन मलीन मन मिटै ना बिसूरना ।—तुलसी ।

बिसेख*—वि० दे० "विशेष" ।

बिसेखता*—संज्ञा स्त्री० दे० "विशेषता" ।

बिसेखना*—क्रि० अ० [सं० विशेष] (१) विशेष प्रकार से वर्णन करना । ब्योरेवार वर्णन करना । विशेष रूप से कहना । विवृत करना । उ०—नैन नाहिं पै सब कछु देखा । कवन भाँति अस जाय बिसेखा ।—जायसी । (२) निर्णय करना । निश्चित करना । उ०—(क) पंडित गुनि सामुद्रिक देखा । देखि रूप औ लगन बिसेखा ।—जायसी । (ख) कारे कमल गहे मुख देखा । ससि पाछे जनु राहु बिसेखा ।—जायसी । (३) विशेष रूप से होना या प्रतीत होना । उ०—बरनों माँग सीस उपराहीं । सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं । कंचन रेख कसौटी कसी । जनु घन महँ दामिनि परगसी । सुरिज किरन जनु गगन बिसेखी । जमुना माँझ सरस्वति देखी ।—जायसी ।

बिसेन—संज्ञा पुं० [?] क्षत्रियों की एक शाखा जिसका राज्य किसी समय वर्त्तमान गोरखपुर के आस पास के प्रदेश से लेकर नेपाल तक था ।

बिसेसर*‡—संज्ञा पुं० दे० "विश्वेश्वर" ।

बिस्कुट—संज्ञा पुं० [अं०] ख़मीरी आटे की तंदूर पर पकी हुई एक प्रकार की टिकिया जो बहुत हलकी होती है और दूध में डालने से फूल जाती है । बिस्कुट नमकीन और मीठा दोनों प्रकार का होता है । इसे योरप के लोग बहुत खाते हैं ।

बिस्तर—संज्ञा पुं० [सं० विस्तर । फ़ा०] (१) बिछौना । बिछावन । वह मोटा कपड़ा जिसे फैला कर उस पर सोएँ । शयनासन । (२) विस्तार । बढ़ाव । उ०—बहुत काल लगि दोउ युद्ध कीन्हो । बिस्तर भीति न से कहि दीन्हो ।—रघुराज ।

बिस्तरना*—क्रि० अ० [सं० विस्तरण] फैलना । इधर उधर बढ़ना ।

क्रि० स० (१) फैलाना । बढ़ाना । अधिक करना । उ०—दुःख मूल गनि पाप, पाप कहँ कुमति प्रकासै । मोह कुमति बिस्तरै क्रोध मोहै उल्लासै ।—मतिराम । (२) विस्तार से कहना । बढ़ा कर वर्णन करना । उ०—गर्भ परीक्षित रक्षा करी । सोई कथा सकल बिस्तरी ।—सूर ।

बिस्तरा—संज्ञा पुं० दे० "बिस्तर" ।

बिस्तारना—क्रि० स० [सं० विस्तारण] विस्तृत करना । फैलाना । उ०—तब आपन प्रभाव बिस्तारा । निज बस कीन्ह सकल संसारा ।—तुलसी ।

बिस्तुइया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिष + तूना=टपकना, चूना] छिपकली । गृहगोधा ।

बिस्वा—संज्ञा पुं० [हिं० बीसवाँ] एक बीघे का बीसवाँ भाग ।

मुहा०—बीस बिस्वा=निश्चय । निस्संदेह । उ०—(क) सातहु दीपन के अवनीपति हारि रहे जिय में जब जाने । बीसबिसे व्रत भंग भयो, सो कहौ अब केशव को धनु ताने ।—केशव । (ख) लसत धूम अलि सीस चंपक के गुच्छा दिपत । धूमकेतु बिसुबीस ज्यों बियोगिन को अहित ।—गुमान । (ग) बीसो बिसे वृषभानु सुता पर जानत कान्ह कन्यो कछु टोना ।—देव । (घ) देखे बिना दोष दे सीसा । नरक परै सो बिस्वे बीसा ।—रघुनाथदास ।

बिस्वादार—संज्ञा पुं० [हिं० बिस्वा+फ़ा० दार] (१) हिस्सेदार । पट्टीदार । (२) किसी बड़े राजा या तअल्लुक़ेदार के अधीन ज़मींदार ।

बिस्वास—संज्ञा पुं० दे० "विश्वास" ।

बिहंग—संज्ञा पुं० दे० "विहंग" ।

बिहंडना–क्रि० स० [सं० विघटना, प्रा० बिहंडन] (१) खंड खंड कर डालना । तोड़ना । (२) काटना । (३) नष्ट कर देना । मार डालना । उ०—(क) जै चमुंड जै चंड मुंड भंडासुर खंडिनि । जै सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहंडिनि ।—भूषण । (ख) चंड भुजदंड खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भंग करि अंग तोरे ।—तुलसी (ग) तू अघ के अघ ओघन खंडै । अधिक अनेकन विघन बिहंडै ।—लाल ।

बिहँसना–क्रि० अ० [सं० विहसन] मुस्कराना । मंद मंद हँसना । उ०—जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ।—तुलसी ।

बिहँसाना–क्रि० अ० (१) दे० "बिहँसना" । उ०—(क) राता जगत देखि रँगराती । रुधिर भरी आछहिँ बिहँसाती ।—जायसी । (ख) ततखन एक सखी बिहँसानी । कौतुक एक न देखहु रानी ।—जायसी । (२) प्रफुल्लित होना । खिलना (फूल का) ।

क्रि० स० हँसाना । हर्षित करना ।

बिहग*–संज्ञा पुं० दे० "विहग" ।

बिहतर–वि० [फ़ा०] बहुत अच्छा ।

बिहतरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] भलाई । कुशल ।

बिहद*–वि० [फ़ा० बेहद] असीम । परिमाण से बहुत अधिक । उ०—(क) भूषण भनत नाद बिहद नगारन के, नदी नद मद गैबरन के रलत हैं ।—भूषण । (ख) देवनही कैसी कित्ति दिपति बिसद्दी जासु, युगुलेश साहिबी बिहद्दी मनो देवराज ।—युगलेश ।

बिहबल*–वि [सं०] व्याकुल । उ०—झाईं न मिटन पाई आए हरि आतुर ह्वै जब जान्यौ गज ग्राह लए जात जल में । यादौपति यदुनाथ खगपति साथ जन जान्यो बिहबल तब छाँड़ि दयो थल में ।—सूर ।

बिहरना–क्रि० अ० [सं० विहरण] घूमना फिरना । सैर करना । भ्रमण करना । उ०—जिन बीथिन बिहरें सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ।—तुलसी ।

†*–क्रि० स० [सं० विघटन, प्रा० विहडन] (१) फटना । दरकना । विदीर्ण होना । उ०—(क) तासु दूत ह्वै हम कुल बोरा । ऐसेहु मति उर बिहरु न तोरा ।—तुलसी । (ख) मरु गल काटि निलज कुलघाती । बल बिलोकि बिहरति नहिँ छाती ।—तुलसी । (२) टूटना फूटना ।

बिहराना†*–क्रि० अ० [हिं० बिहरना] फटना । उ०—केरा के से पात बिहराने फन सेस के ।—भूषण ।

बिहरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० ब्योहार] चंदा । बरार । भेजा ।

बिहाग–संज्ञा पुं० [?] एक राग जो आधी रात के बाद लगभग २ बजे के गाया जाता है । यह राग हिंडोल राग का पुत्र माना जाता है ।

बिहागड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बिहाग+ड़ा (प्रत्य०)] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं । इसके गाने का समय रात को १६ दंड से २० दंड तक है । कोई इसे हिंडोल राग की रागिनी कहते हैं और कोई इसे सरस्वती, केदारा और मारवा के योग से उत्पन्न मानते हैं ।

बिहान–संज्ञा पुं० [सं० विभात, प्रा० बिहाअ, विहाण] सबेरा । प्रातःकाल । उ०—लसत सेत सारी ढक्यो तरल तर्यौना कान । पर्यो मनौ सुरसरि सलिल रवि प्रतिबिंब बिहान ।—बिहारी ।

क्रि० वि० आनेवाले दूसरे दिन । कलह । कल । उ०—सकल यथा क्रम खबरि बखाने । राम होहिं युवराज बिहाने ।—रघुराज ।

बिहाना*–क्रि० स० [सं० वि+हा=छोड़ना] छोड़ना । त्यागना । उ०—(क) सुनु खगेस हरि भगति बिहाई । जे सुख चाहहिँ आन उपाई ।—तुलसी । (ख) सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।—तुलसी । (ग) बिमल बंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाय बड़ेहि अभिषेकू ।—तुलसी । (घ) देखी बिपुल बिकल बैदेही । निमिष बिहात कलप सम तेही ।—तुलसी ।

क्रि० अ० व्यतीत होना । गुज़रना । बीतना । उ०—(क) बड़ी बिरह की रैनि यह क्योंहूं के न बिहाय ।—रसनिधि । (ख) गहे बीन मकु रैनि बिहाई ।—जायसी ।

बिहारना–क्रि० अ० [सं० विहरण] विहार करना । केलि वा क्रीड़ा करना । उ०—(क) सुर नर नाग नव कन्यन के प्राणपति पति देवतानहूं के हियन बिहारे हैं ।—केशव । (ख) पदुम सहस्र बरस तुम धारौ । विष्णु लोक में जाप बिहारौ ।—रघुनाथदास ।

बिहाल–वि० [फ़ा० बेहाल] व्याकुल । बेचैन । उ०—ताके भय रघुबीर कृपाला । सकल भुवन में फिर्यों बिहाला ।—तुलसी ।

बिहिश्त–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] स्वर्ग । बैकुंठ ।

बिही–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) एक पेड़ जिसके फल अमरूद से मिलते जुलते होते हैं । यह पेशावर और काबुल की ओर होता है । (२) उक्त पेड़ का फल जो मेवों में गिना जाता है । (३) अमरूद ।

बिहीदाना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] बिही नामक फल का बीज जो दवा के काम में आता है । इन बीजों को भिगो देने से लुआब निकलता है जो शर्बत की तरह पिया जाता है ।

बिहीन–वि० [हिं० बिहीन] रहित । बिना । उ०—बारि-बिहीन मीन ज्यों व्याकुल त्यों ब्रजनारि सबै ।—सूर ।

बिहून–वि० [हिं० बिहीन] बिना । रहित । उ०—(क) निज संगी निज सम करत दुरजन मन दुख दून । मलयाचल है संत

जब तुलसी दोष बिहून।—तुलसी। (ख) ढोल बाजता ना सुनै सुरति बिहूना कान।—कबीर।

बिहोरना—क्रि० अ० [हिं० बिहरना=फूटना] बिछुड़ना। उ०—सीता के बिहोरे रती राम में न रह्यौ बल बूजे लछिमन मेघनाद ते क्यौं जीतिहै।—हनुमान।

बींड़—संज्ञा पुं० दे० "बींड़ा"।
संज्ञा स्त्री० दे० "बीड़ा"।

बींड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० बींड़ी+आ (प्रत्य०)] (१) पेड़ की पतली टहनियों से बुनकर बनाया हुआ मेंडरे के आकार का लंबा नाल जो कच्चे कुएँ या चोंड में इसलिये दिया जाता है कि उसका भगाड़ न गिरे। बींड़। (२) धान के पयाल को बुन और लपेट कर बनाया हुआ गोल आसन जिस पर गाँव में लोग आग के किनारे बैठकर तापते हैं। (पहले पयाल को बुनकर, उसका लंबा फीता बनाते हैं। फिर उस फीते को बर्तुलाकार लपेटकर ऊपर से रस्सी से कसकर बाँध देते हैं। यह गोल होता है और बैठने के काम में आता है।) (३) घास आदि को लपेटकर बनाई हुई गेंडुरी जिस पर घड़े रक्खे जाते हैं। (४) वह गेंडुरी जिसे सिर पर रखकर घड़े, टोकरे आदि का भार उठाते हैं। (५) बड़ी बींड़ी। लुंडा। (६) जलाने की लकड़ी या बाँस आदि का बाँधकर बनाया हुआ बोझ। (७) पिंडी। पिंड।

बींड़िया†—संज्ञा पुं० [हिं० बींड़ी] वह बैल जो तीन बैलों की गाड़ी में सब से आगे रहता है और जिसके गले के नीचे बींड़ी रहती है। जूँड़िया।

बींड़ी†—संज्ञा स्त्री० [सं० वेणी] (१) वह मोटी और कपड़े आदि में लपेटी हुई रस्सी जो उस बैल के आगे गले के सामने छाती पर रहती है जो तीन बैलों की गाड़ी में सब से आगे रहता है। (२) रस्सी या सूत की वह पिंडी जो लकड़ी या किसी और चीज़ के ऊपर लपेटकर बनाई जाय। (३) वह लकड़ी जिस पर सूत आदि को लपेटकर बींड़ी बनाई जाती है। (४) वह गेंडुरी जिसे सिर पर रखकर घड़ा, टोकरा या और कोई बोझ उठाते हैं। (५) कँसुला।

बींधना*—क्रि० अ० [सं० विद्ध] (१) बींधना। (२) फँसना। उलझना। उ०—(क) कैसे करि आवत श्याम दूती। मन क्रम वचन और नहिं मोरे पदरज त्यागि हिती। अंतर्यामी यहो न जानत जो मों उरहि बिती। ज्यों कुजुवरि रस बींधि हारि गथु सीचतु पटकि खिती।—सूर। (ख) भूल्यो भौंह भाल में चुभ्यो कै टेढ़ी चाल में, छक्यो कै छबिजाल के बींध्यो बनमाल में।—पद्माकर।
क्रि० स० विद्ध करना। छेदना। बेधना। जैसे, कान बींधना।

बी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बीबी का संक्षिप्त रूप] दे० "बीबी"। उ०—अँसुवन भीजी बीजी छीजी और पसीजी मींजी पीजी सो पतीजी राग रंग रौन रितई।

बीका†—वि० [सं० वक्र] टेढ़ा। उ०—तुम अपने नाश को देखा चाहती हो? तुम्हारा बाल तक बीका न होगा; परंतु यदि तुम अपना जीवन चाहती हो तो मौन रहो।—अयोध्यासिंह। (दे० मुहा० "बाल बाँका करना"।)

बीख†—संज्ञा पुं० [सं० वीखा=गति] पद। क़दम। डग। उ०—(क) पूरा सतगुरु ना मिला सुनी अधूरी सीख। निकसा था हरि मिलन को चालि सकाया बीख।—कबीर। (ख) जरा आय जोरा किया नेत्रन दीनी पीठ। आँखों ऊपर आँगुरी बीख भरे पचि नीठ।—कबीर।
संज्ञा पुं० दे० "विष"।

बीग†—संज्ञा पुं० [सं० वृक] [स्त्री० बीगिन] भेड़िया। उ०—बूझि लीजिए ब्रह्मज्ञानी। घुमरि घुमरि बरखा बरसावै परिया बूँद न पानी। चींटी के पग हस्ती बाँधे छेरी बीगहि खायो। उदधि माँहि ते निकसि माछरी चौंड़े गेह करायो।—कबीर।

बीगना‡—क्रि० स० [सं० विकीरण] (१) छाँटना। छितराना। (२) गिराना।

बीगहाटी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बीघा+टी (प्रत्य०)] वह लगान जो बीघे के हिसाब से लिया जाय।

बीघा†—संज्ञा पुं० [सं० विग्रह, प्रा० विग्गह] खेत नापने का एक वर्ग मान जो बीस बिस्वे का होता है।
विशेष—एक जरीब लंबी और एक जरीब चौड़ी भूमि क्षेत्र-फल में एक बीघा होती है। भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न मान की जरीब का प्रचार है। अत: प्रांतिक बीघे का मान जिसे देहाती वा देहाती बीघा कहते हैं, सब जगह समान नहीं है। पक्का बीघा, जिसे सरकारी बीघा भी कहते हैं, ३०२५ वर्ग गज़ का होता है जो एक एकड़ का ५ वाँ भाग होता है। अब सब जगह प्राय: इसी बीघे का प्रयोग होता है।

बीच†—संज्ञा पुं० [सं० विच=अलग करना] (१) किसी परिधि, सीमा या मर्य्यादा का केंद्र अथवा उस केंद्र के आस-पास का कोई ऐसा स्थान जहाँ से चारों ओर की सीमा प्राय: समान अंतर पर हो। किसी पदार्थ का मध्य भाग। मध्य। उ०—(क) मन को मारों पटकि कर टूक टूक हो जाय। टूटे पाछे फिर जुरे बीच गाँठि परि जाय।—कबीर। (ख) जनम पत्रिका वर्ति कै देखहु मनहि विचार। दारुन बैरी मीचु के बीच विराजत नारि।—तुलसी। (ग) जानी न ऐसी चढ़ा-चढ़ी में किहिधौं कटि बीच ही लूट लई सी।—पद्माकर।
मुहा०—बीच खेत=(१) खुले मैदान। सबके सामने। प्रकट रूप में। (२) अवश्य। जरूर। बीच बीच में=(१) रह रह कर। थोड़ी थोड़ी देर में। (२) थोड़ी थोड़ी दूरी पर। थोड़े थोड़े अंतर पर।

(२) भेद। अंतर। फ़रक़। उ०—(क) बंदौं संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।—तुलसी। (ख) धन्य हो धन्य हो तुम घोष नारी। मोहि धोखो गयो दरस तुमको भयो तुमहिं मोहिं देखो री बीच भारी।—सूर।

मुहा०—बीच करना=(१) लड़नेवालों को लड़ने से रोकने के लिये अलग अलग करना। उ०—ललित भृकुटि तिलक भाल चिबुक अधर, द्विज रसाल, हास चारुतर कपोल नासिका सुहाई। मधुकर जुग पंकज बिच मुख बिलोकि नीरज पर लरत मधुप अवली मानों बीच कियो आई।—तुलसी। (२) झगड़ा निबटाना। झगड़ा मिटाना। उ०—(क) चोरी के फल तुमहिं दिखाऊँ। कंचन खंभ डोर कंचन की देखो तुमहिं बँधाऊँ। खंडों एक अंग कछु तुमरो चोरी नाउँ मिटाऊँ। जो चाहौ सोई सब लेहौं यह कहि डाँड़ मँगाऊँ। बीच करन जो आवै कोऊ ताकौं सौंह दिवाऊँ। सूरश्याम चोरन के राजा बहुरि कहा मैं पाऊँ।—सूर। (ख) रहा कोइ धरहरिया करै जो दोउ महँ बीच।—जायसी। बीच पड़ना=(१) परिवर्तन होना। और का और होना। बदल जाना। उ०—कोटि जतन कोऊ करै परै न प्रकृतिहि बीच। नल बल जल ऊँचे चढ़ै अंत नीच को नीच। (२) झगड़ा निपटाने के लिये पंच बनना। मध्यस्थ होना। बीच पारना वा डालना=(१) परिवर्तन करना। (२) विभेद वा पार्थक्य करना। उ०—(क) विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा।—तुलसी। (ख) गिरि सों गिरि आनि मिलावती फेरि उपाय कै बीचहि पारती है।—प्रताप। बीच में पड़ना=(१) मध्यस्थ होना। (२) जिम्मेदार बनना। प्रतिभू बनना। बीच रखना-भेद करना। दुराव रखना। पराया समझना। उ०—कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाखा।—तुलसी। बीच में कूदना-अनावश्यक हस्तक्षेप करना। व्यर्थ टाँग अड़ाना। किसी को बीच देना या बीच में देना=(१) मध्यस्थ बनाना। (२) साक्षी बनाना। (ईश्वर आदि को) बीच में रखकर कहना=(ईश्वर आदि की) शपथ खाना। क़सम खाना।

विशेष—इस अर्थ में कभी कभी जिसकी क़सम खानी होती है, उसका नाम लेकर और उसके साथ केवल "बीच" शब्द लगाकर भी बोलते हैं। जैसे,—ईश्वर बीच, हम कुछ नहीं जानते। उ०—तोहि अलि कीन्ह आप भा केवा। हौं पठवा गुरु बीच परेवा।—जायसी।

(३) दो वस्तुओं वा खंडों के बीच का अंतर। अवकाश। उ०—अवनि यमहि जाँचइ कैकेई। महिय बीच बिधि मीचु न देई।—तुलसी। (४) अवसर। मौक़ा। अवकाश। उ०—चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी।—तुलसी।

क्रि० वि० दरमियान। अंदर। में। उ०—जानी न ऐसी चढ़ाचढ़ी में किहिधौं कटि बीच ही लूटि लई सी।—पद्माकर।

संज्ञा स्त्री० [सं० वीचि] लहर। तरंग। दे० "बीचि"।

बीचु*†—संज्ञा पुं० [हिं० बीच] (१) अवसर। मौक़ा। (२) अंतर। फ़रक़। उ०—चतुर गँभीर राम महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी।—तुलसी।

बीचोबीच—क्रि० वि० [हिं० बीच] बिलकुल बीच में। ठीक मध्य में। उ०—श्रीकृष्णचंद भी अर्जुन को साथ ले वहाँ गए और जा के बीचोबीच स्वयंवर के खड़े हुए।—लल्लू।

बीछना*†—क्रि० स० [सं० विच वा विचयन] (१) चुनना। छाँटना। पसंद करके अलग करना। उ०—सानुज सानंद हिये आगे ह्वै जनक लिए रचना रुचिर सब सादर देखाइ कै। दिये दिव्य आसन सुपास सावकास अति आछे आछे बीछे बीछे बिछौना बिछाइ कै।—तुलसी। (२) एक एक को अलग अलग देखना।

बीछी*‡—संज्ञा स्त्री० [सं० वृश्चिक] बिच्छू। उ०—(क) साँप बीछि को मंत्र है माहुर झारे जाय। विकट नारि के पाले परा काटि करेजा खाय।—कबीर। (ख) ग्रहगृहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार। ताहि पियाई बारुनी कहहु कवन उपचार।—तुलसी।

क्रि० प्र०—मारना।

मुहा०—बीछी चढ़ना=बिच्छू के डंक का विष चढ़ना। उ०—नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी।—तुलसी।

बीछू*‡—संज्ञा पुं० (१) दे० "बिच्छू"। उ०—सीत असह विष चित चढ़ै सुख न मढ़ै परिजंक। बिनु मोहन अगहन हनै बीछू कैसो डंक।—शृंगार सत०। (२) दे० "बिछुआ"। (हथियार) उ०—बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहार्यो।—भूषण।

बीज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलवाले वृक्षों का गर्भांड जिससे वृक्ष अंकुरित होकर उत्पन्न होता है। यह गर्भांड एक छिलके में बंद रहता है और इसमें अव्यक्त रूप से भावी वृक्ष का भ्रूण रहता है। जब इस गर्भांड को उपयुक्त जल-वायु और स्थान मिलता है, तब वह भ्रूण जिसमें अंकुर अव्यक्त रहता है, प्रबुद्ध होकर बढ़ता और अंकुर रूप में परिणत हो जाता है। यही अंकुर समय पाकर बढ़ता है और बढ़कर वैसा ही पेड़ हो जाता है जैसे पेड़ के गर्भांड से वह स्वयं निकला था। बीया। तुख़्म। दाना।

क्रि० प्र०—उगना।—डालना।—बोना।

(२) प्रधान कारण। मूल प्रकृति। (३) जड़। मूल। (४) हेतु। कारण। (५) शुक्र। वीर्य। (६) वह अव्यक्त

सांकेतिक वर्णसमुदाय वा शब्द जिसको कोई व्यक्ति जो उसके सांकेतिक भावों को न जानता हो, नहीं समझ सकता। (७) गणित का एक भेद जिसमें अव्यक्त संख्या के सूचक संकेतों का व्यवहार होता है। दे० "बीजगणित"। (८) अव्यक्त संख्या-सूचक संकेत। (९) वह अव्यक्त ध्वनि वा शब्द जिसमें तंत्रानुसार किसी देवता को प्रसन्न करने की शक्ति मानी गई हो। (भिन्न भिन्न देवताओं का भिन्न भिन्न बीज मंत्र होता है।) (१०) मंत्र का प्रधान भाग या अंग।

विशेष—तंत्रानुसार मंत्र के तीन प्रधान अंग होते हैं—बीज, शक्ति और कीलक।

(११) वह भावपूर्ण सांकेतिक अव्यक्त शब्द जिसमें बहुत से भाव सूक्ष्म रूप से सन्निवेशित हों और जिसका तात्पर्य दूसरे लोग, जिन्हें सांकेतिक अर्थों का ज्ञान न हो, न जान सकें। ऐसे शब्दों का प्रयोग रासायनिक तथा इसी प्रकार के और कार्यों के लिये किया जाता है।

संज्ञा स्त्री० दे० "बिजली"। उ०—अजहुँ शशी मुँह बीज देखावा। चौंध पर्‌यो कछु कहै न आवा।—जायसी।

बीजक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूची। फ़िहरिस्त। (२) वह सूची जिसमें माल का ब्योरा, दर और मूल्य आदि लिखा हो। यह सूची बेचनेवाला माल के साथ ख़रीदनेवाले के पास भेजता है। (३) वह सूची जो किसी गड़े हुए धन की, उसके साथ, रहती है। (४) असना का वृक्ष। (५) बिजौरा नीबू। (६) बीज। (७) जनम के समय बच्चे की वह अवस्था जब उसका सिर दोनों भुजाओं के बीच में होकर योनि के द्वार पर आ जाय। (८) कबीरदास के पदों के तीन संग्रहों में से एक।

बीजकृत—संज्ञा पुं० [सं०] वाजीकरण।

बीजक्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] बीजगणित के नियमानुसार गणित के किसी प्रश्न की क्रिया।

बीजखाद—संज्ञा पुं० [हिं० बीज+खाद] वह रक़म जो ज़मींदारों या महाजनों आदि की ओर से किसानों को बीज और खाद आदि के लिये पेशगी दी जाती है।

बीजगणित—संज्ञा पुं० [सं०] गणित का वह भेद जिसमें अक्षरों को संख्याओं का द्योतक मानकर कुछ सांकेतिक चिह्नों और निश्चित युक्तियों के द्वारा गणना की जाती है, और विशेषतः अज्ञात संख्याएँ आदि जानी जाती हैं।

बीजगर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] परवल।

बीजगुप्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सेम। (२) फली। (३) भूसी।

बीजत्व—संज्ञा पुं० [सं०] बीज का भाव। बीज-पन।

बीजदर्शक—संज्ञा पुं० [सं०] नाटकों में अभिनय का परिदर्शक। वह व्यक्ति जो नाटक के अभिनय की व्यवस्था करता हो।

बीजधान्य—संज्ञा पुं० [सं०] धनियाँ।

बीजन*—संज्ञा पुं० [सं० व्यजन] बेना। पंखा। उ०—खासे रम्य बीजन सुखाने पौन खाने खुले, खस के खजाने, खस-खाने खूब खस खाय।—पद्माकर।

बीजपादप—संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ।

बीजपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरुआ। (२) मदन वृक्ष।

बीजपूर, बीजपूरक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिजौरा नीबू। (२) चकोतरा।

बीजपेशिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] अंडकोष।

बीजफलक—संज्ञा पुं० [सं०] बिजौरा नीबू।

बीजबंद—संज्ञा पुं० [हिं० बीज+बाँधना] खिरैंटी के बीज। बरियारे के बीज। बला।

बीजमंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी देवता के उद्देश्य से निश्चित किया हुआ मूल-मंत्र। (२) किसी काम को करने का असली ढंग। मूल-मंत्र। गुर।

बीजमातृका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमलगट्टा।

बीजमार्ग—संज्ञा पुं० [सं०] वाममार्ग का एक भेद।

बीजमार्गी—संज्ञा पुं० [सं० बीजमार्गिन्] बीजमार्ग पंथ के अनुयायी।

बीजरत्न—संज्ञा पुं० [सं०] उड़द की दाल।

बीजरी*†—संज्ञा पुं० दे० "बिजली"।

बीजरेचन—संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।

बीजल—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें बीज हो।

वि० बीजवाला। बीजयुक्त।

संज्ञा स्त्री० [डिं०] तलवार।

बीजवाहन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

बीजवृक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] असना का पेड़।

बीजसू—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

बीजहरा, बीजहारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक डाकिनी का नाम।

बीजांकुरन्याय—संज्ञा पुं० [सं०] एक न्याय जिसका व्यवहार दो संबद्ध वस्तुओं के नित्य प्रवाह का दृष्टांत देने के लिये होता है। बीज से अंकुर होता है और अंकुर से बीज होता है। इन दोनों का प्रवाह अनादि काल से चला आता है। दो वस्तुओं में इसी प्रकार का प्रवाह या संबंध दिखलाने के लिये इसका उपयोग होता है।

बीजा—वि० [सं० द्वितीय, पा० द्वितियो प्रा० दुओ, पु० हिं० दूआ] दूसरा। उ०—ए मन के गुण गुंथत जे पहिचानत जानकी और न बीजो।—हनुमान।

संज्ञा पुं० दे० "बीज"।

बीजाक्षर—संज्ञा पुं० [सं०] किसी बीजमंत्र का पहला अक्षर।

बीजाढ्य—संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा।

बीजाध्यक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

बीजित–वि० [सं०] जिसमें बीज बोया जा चुका हो। बोया हुआ।

बीजी–वि० [सं० बीजिन्] (१) बीजवाला। (२) बीज संबंधी। जिसका संबंध बीज से हो।

संज्ञा स्त्री० [सं० बीज+ई (प्रत्य०)] (१) गिरी। मींगी। (२) गुठली।

संज्ञा पुं० [सं० बीजिन्] पिता।

बीजु–संज्ञा स्त्री० [सं० विद्युत्, प्रा० बिज्जु] बिजुली। उ०—हरि मुख देखिए बसुदेव। कोटि काम स्वरूप सुंदर कोउ न जानत भेव।······श्वान सूते पहरुवा सब नींद उपजी गेह। निशि अँधेरी बीजु चमके सघन बरषै मेह।—सूर।

बीजुपात–संज्ञा पुं० दे० "वज्रपात"।

बीजुरी–संज्ञा स्त्री० दे० "बिजली"।

बीजू–वि० [हिं० बीज+ऊ (प्रत्य०)] बीज से उत्पन्न। जो बीज बोने से उत्पन्न हुआ हो। क़लमी का उलटा। जैसे, बीजू आम।

संज्ञा पुं० दे० "बिज्जु"।

बीजोदक–संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

बीज्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीन।

बीझना*†–क्रि० अ० [सं० बिद्ध, प्रा० बिज्झ] लिप्त होना। फँसना। उ०—(क) डोलैं बन बन जोर यौवन के याचकन राग वश कीन्हें बन बासी बीझि रहे हैं।—देव। (ख) झींझि झींझि झुंकि के बिरुझि बीझि मेरे बैरी एरी रीझ रीझितैं रिझाए रिझवार री।—देव।

बीझा*†–वि० [सं० विजन] जहाँ मनुष्य न हों। निर्जन। एकांत। उ०—परेउ आप अब बनखँड माहाँ। दंडकारन्य बीझ बन जाहाँ।—जायसी।

बीट–संज्ञा स्त्री० [सं० विट्] (१) पक्षियों की विष्टा। चिड़ियों का गुह। (२) गुह। मल। (व्यंग्य)

(३) दे० "विट्लवण"।

बीठल–संज्ञा पुं० दे० "विठ्ठल"।

बीड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० बीड़ा] एक के ऊपर एक रखे हुए रुपए जो साधारणतः गुल्ली का आकार धारण कर लेते हैं।

संज्ञा पुं० दे० "बीँड़"।

बीड़ा–संज्ञा पुं० [सं० वीटक] (१) सादी गिलौरी जो पान में चूना, कत्था, सुपारी आदि डालकर और उसे लपेटकर बनाई जाती है। खीली। उ०—बीरा खाय चले खेलन को मिलि के चारो बीर। सखा संग सब मिले बराबर आए सरजू तीर।—सूर।

मुहा०—बीड़ा उठाना=(१) कोई काम करने का संकल्प करना। किसी काम के करने के लिये हामी भरना। पण बाँधना। उ०—कबिरा निंदक मर गया अब क्या कहिए जाइ। ऐसा कोई ना मिले बीड़ा लेइ उठाइ।—कबीर। (२) उद्यत होना। मुस्तैद होना। उ०—कहे कंस मन लाय भलो भयो मंत्री दयो। लीने मल्ल बुलाय आदर कर बीरा लयो।—लल्लू। बीड़ा डालना या रखना=किसी कठिन काम के करने के लिये सभा में लोगों के सामने पान की गिलौरी रख कर यह कहना कि जिसमें यह काम करने की योग्यता या साहस हो वह इसे उठा ले। जो पुरुष उसे उठा ले, उसी को उसके करने का भार दिया जाता है। (यह प्रायः प्राचीन काल के दरबारों की रस्म थी, जो अब उठ सी गई है।) । बीड़ा देना=(१) कोई काम करने की आज्ञा देना। काम का भार सौंपना। दे० 'बीड़ा डालना'। उ०—कंस नृपति ने शकट बुलाए लेकर बीरा दीन्हों। आय नंदगृह द्वार नगर में रूप प्रगट निज कीन्हों।—सूर। (२) नाचने गाने बजाने आदि का व्यवसाय करनेवालों को किसी उत्सव में सम्मिलित होकर अपना काम करने के लिये नियत करना। नाचने, गानेवालों आदि को साई देना। बयाना देना।

(२) वह डोरी जो तलवार की म्यान में मुँह के पास बँधी रहती है। म्यान में तलवार डालकर यह डोरी तलवार के दस्ते की खूँटी में बाँध दी जाती है जिससे वह म्यान से निकल नहीं सकती।

बीड़िया–वि० [हिं० बीड़ा+इया (प्रत्य०)] बीड़ा उठानेवाला। अगुआ। नेता। दे० "बींड़िया"।

बीड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बीड़ा] (१) दे० "बीड़ा"। उ०—तरिवन श्रवन नैन दोउ अंजनि नाशा बेसरि साजत। बीरा मुख भरि चिबुक डिठौना निरखि कपोलन लाजत। (२) गड्डी। दे० "बीड़"। (३) मिस्सी जिसे स्त्रियाँ दाँत रँगने के लिये मुँह में मलती हैं। (४) पत्ते में लपेटा हुआ सुरती का चूर जिसे लोग सिगरेट या चुरुट आदि के स्थान में सुलगाकर पीते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बीड़ा] एक प्रकार की नाव।

बीतना–क्रि० अ० [सं० व्यतीत] (१) समय का विगत होना। वक्त कटना। गुज़रना। उ०—(क) जहँ लोभ मोह के खंभ दोऊ मन रच्यो है हिंडोर। तहँ झूलहिं जीव जहान जहँ लगि कतहुँ नाहिँ थिति ठौर।······चौरासी लक्षहु जीव झूलैँ धरहिं रविसुत धाय। कोटिन कलप युग बीतिया मानै न अजहूँ हाय।—कबीर। (ख) जनम गयो वादहि विर बीति। परमारथ पालन न करेउ कछु अनुदिन अधिक अनीत।—तुलसी। (ग) कछु दिन पत्र भक्ष करि बीते कछु लीन्हों पानी। कछु दिन पवन कियो अनुप्रासन रोक्यो श्वास यह जानी।—सूर। (घ) सुख सों बीती सब निसा

मनु सोए इक साथ। मूका मेलि गहै जु छिन हाथ न छोड़े हाथ।—बिहारी। (२) दूर होना। जाता रहना। छूट जाना। निवृत्त होना। उ०—(क) सब विधि सानुकूल लखि सीता। भा निसोच उर अपडर बीता।—तुलसी। (ख) मुनि बाल्मीकि कृपा सातों ऋषि राममंत्र फल पायो। उलटा नाम जपत अघ बीत्यो पुनि उपदेश करायो।—सूर। (३) संघटित होना। घटना। पड़ना। उ०—(क) कैसे करि आवत श्याम इती। मन क्रम बचन और नहिँ मेरे पदरज त्यागि हती। अंतर्यामी यहौ न जानत जो मो उरहि बिती। ज्यों ज्यों कुजुवारि रस बीधि हार गुथ सोचतु पट कि चिती।—सूर। (ख) मन बच क्रम पल ओट न भावत छिन युग बरस समाने। सूरश्याम के वश्य भए ये जेहि बीते सो जाने।—सूर। (ग) बैठी सजि सुंदरि सहेलिन समाज बीच बदन पै चारुता चिराक की बितै रही।—प्रताप।

बीता–संज्ञा पुं० दे० "बित्ता"।

बीथित*†–वि० [सं० व्यथित] दुःखित। पीड़ित। उ०—पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो काहू बीथित बियोगिनि के प्रानन को प्यासो है।—पद्माकर।

बीधना*†–क्रि० अ० [सं० विद्ध] फँसना। उलझना। उ०—(क) हंसा संशय छूटी कुहिया। गैया पिए बछरुवे दुहिया।···धरती बरसे बादल भीजे भीट भया पैराऊ। हंस उड़ाने ताल सुखाने चहले बीधा पाऊ।—कबीर। (ख) नैना बीधे दोऊ मेरे। श्याम सुँदर के दरस परस में इत उत फिरत न फेरे।—सूर। (ग) कौन भाँति रहि है बिरद अब देखबी मुरारि। बीधे मोसों आय के गीधे गीधहिं तारि।—बिहारी। (घ) इंदिरा के मंदिर में सुनिए अनंद भरे बीधे भव फंद तहाँ कैसे जाइयतु है।—पद्माकर।

क्रि० स० दे० "बींधना"।

बीधा–संज्ञा पुं० [सं० विधान] यह तय करना कि इस गाँव की इतनी मालगुज़ारी सरकारी होगी। मालगुज़ारी निश्चित करना।

बीन–संज्ञा स्त्री० [सं० वीण] एक प्रसिद्ध बाजा जो सितार की तरह का पर उससे बड़ा होता है। इसमें दोनों ओर बहुत बड़े बड़े तूँबे होते हैं, जो बीच के एक लंबे डाँड़ से मिले होते हैं। इसमें एक सिरे से दूसरे सिरे तक साधारणतः ५ या ७ तार लगे होते हैं जिनमें से प्रत्येक में आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के स्वर निकाले जाते हैं। यह बाजा बहुत उच्च कोटि का माना जाता है और प्रायः बहुत बड़े बड़े गवैयों के काम का होता है। दे० "वीणा"।

बीनना†–क्रि० स० [सं० विनयन] (१) छोटी छोटी चीज़ों को उठाना। चुनना। उ०—(क) भोर फल बीनबे को गए फुलवाई हैं। सीसनि टेपारे उपवीत पीत पट कटि दोना वाम करन सलोने भे सवाई है।—तुलसी। (ख) नैन किलकिला मीत के ऐसे कछू प्रवीन। हिय समुद्र ते लेत हैं बीन तुरत मन मीन।—रसनिधि। (ग) सुंदर नवीन निज करन सो बीन बीन बेला की कली ये आजु कौन छीन लीन्हीं है।—प्रताप। (२) छाँटकर अलग करना। छाँटना।

क्रि० स० दे० "बींधना"।

क्रि० स० दे० "बुनना"।

बीफ़–संज्ञा पुं० [सं० बृहस्पति] बृहस्पतिवार। गुरुवार।

बीबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] कुलवधू। कुलीन स्त्री। (२) पत्नी। स्त्री। उ०—चित्त अनचैन आँसू उमगत नैन देखि बीबी कहैं बैन मियाँ कहियत काहि नै?—भूषण। (३) स्त्रियों के लिये आदरार्थक शब्द। (४) अविवाहिता लड़की। कन्या (आगरा)।

बिबेरेना–संज्ञा पुं० [सिंहाली] एक प्रकार का वृक्ष जो दक्षिण भारत के पश्चिमी घाटों में बहुत होता है। इसकी लकड़ी का रंग पीला होता है और यह इमारत और नावें बनाने के काम में आता है। इस लकड़ी में जल्दी घुन या कीड़ा आदि नहीं लगता।

बीभत्स–वि० [सं०] (१) जिसे देखकर घृणा उत्पन्न हो। घृणित। (२) क्रूर। (३) पापी।

संज्ञा पुं० (१) काव्य के नौ रसों के अंतर्गत सातवाँ रस। इसमें रक्त मांस आदि ऐसी बातों का वर्णन होता है जिनसे अरुचि और घृणा तथा इंद्रियों में संकोच उत्पन्न होता है। इसका वर्ण नील और देवता महाकाल माने गए हैं। जुगुप्सा इसका स्थायी भाव है, पीब, मेद, मज्जा, रक्त, मांस या उनकी दुर्गंधि आदि विभाव हैं; कंप, रोमांच, आलस्य संकोच आदि अनुभाव हैं और मोह, मरण, आवेग, व्याधि आदि व्यभिचारी भाव हैं। उ०—पढ़त मंत्र अरु यंत्र अंत्र लीलत इमि जुग्गिनि। मनहुँ गिलत मद मत्त गरुड़ तिय अरुण उरग्गिनि। हरबरात हरषात प्रथम परसत पल पंगत। जहँ प्रताप जिनि जंग रंग अँग अंग उमंगत। जहँ पद्माकर उतपत्ति अति रन रकतन नहिय बहत। चख चकित चित्त चरबीन चुभि चक चकाइ चंडी रहत।—पद्माकर।

बीभत्सित–वि० [सं०] निंदित। घृणित।

बीभत्सु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन। (२) अर्जुन वृक्ष।

बीम–संज्ञा पुं० [अं०] (१) जहाज़ के पार्श्व में लंबाई के बल में लगा हुआ बड़ा शहतीर। आड़ा। (२) जहाज़ का मस्तूल। (लश०)।

बीमा–संज्ञा पुं० [फ़ा० बीम=भय] (१) किसी प्रकार की

विशेषतः आर्थिक हानि पूरी करने की ज़िम्मेदारी जो कुछ निश्चित धन लेकर उसके बदले में की जाती है। कुछ धन लेकर इस बात की ज़मानत करना कि यदि अमुक कार्य में अमुक प्रकार की हानि होगी तो उसकी पूर्ति हम इतना धन देकर कर देंगे।

विशेष—आजकल बीमे की गणना एक प्रकार से व्यापार के अंतर्गत होती है और इसके लिये अनेक प्रकार की कंपनियाँ स्थापित हैं। उसमें बीमा करनेवाला कुछ निश्चित नियमों के अनुसार, समय समय पर या एक साथ ही कुछ निश्चित धन लेकर अपने ऊपर इस बात का जिम्मा लेता है कि यदि बीमा करानेवाले की अमुक कार्य या व्यापार आदि में अमुक प्रकार की हानि या दुर्घटना आदि होगी तो उसके बदले में हम बीमा करानेवाले को इतना धन देंगे। आजकल मकानों या गोदामों आदि के जलने का, समुद्र में जहाज़ों के डूबने का, भेजे हुए माल का ठीक दशा में नियत स्थान तक पहुँचने का या दुर्घटना आदि के कारण हाथ-पैर टूटने या शरीर बेकाम हो जाने का बीमा होता है। एक प्रकार का बीमा और होता है जो जानबीमा कहलाता है। इसमें बीमा करानेवाले को प्रति मास, प्रति वर्ष अथवा एक साथ ही कुछ निश्चित धन देना पड़ता है और उसके किसी निश्चित अवस्था तक पहुँचने पर उसे बीमे की रक़म मिल जाती है; अथवा यदि उस निश्चित अवस्था तक पहुँचने से पहले ही उसकी मृत्यु हो जाय तो उसके परिवारवालों को वह रक़म मिल जाती है। आजकल बालकों के विवाह और पढ़ाई-लिखाई के व्यय के संबंध में भी बीमा होने लगा है, और वृद्धावस्था में शरीर अशक्य हो जाने की दशा में जीवन-निर्वाह का भी। डाक द्वारा पत्र या माल आदि भेजने का भी डाक-विभाग के द्वारा बीमा होता है।

यौ०—बीमा-कराई=वह धन जो बीमा करानेवाला बीमा कराने के लिये बीमा करनेवाले को देता है।

(२) वह पत्र या पारसल आदि जिसका इस प्रकार बीमा हुआ हो।

बीमार–वि० [फ़ा०] [सं० बीमारी] वह जिसे कोई बीमारी हुई हो। रोगग्रस्त। रोगी।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

बीमारदार–वि० [फ़ा०] रोगी की सुश्रूषा करनेवाला। जो रोगियों की सेवा करे।

बीमारदारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रोगियों की सुश्रूषा।

बीमारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) रोग। व्याधि। (२) झंझट (बोल चाल)। (३) बुरी आदत। (बोल०)

बीय*†–वि० दे० "बीजा"।

बीया*–वि० [सं० द्वितीय] दूसरा। उ०—(क) तुम जाइ कहहु नवाब सों जौ साँचु राखत जीय में। तौ एक बार मिलौ हमें नहिँ बात कहनी बीय में।—सूदन। (ख) फिर बदनेस कुवार बियो सुफतेअली। बैठे इकले जाइ करन मस्लत भली।—सूदन।

संज्ञा पुं० [सं० बीज] बीज। दाना।

बीर–वि० दे० "वीर"।

संज्ञा पुं० [सं० वीर] भाई। भ्राता। उ०—(क) सबै ब्रज है यमुना के तीर। काली नाग के फन पर निर्तत संकर्षण को बीर।—सूर। (ख) चिरजीवो जोरी जुरे क्यौं न सनेह गँभीर। को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।—बिहारी।

संज्ञा स्त्री० (१) सखी। सहेली। उ०—(क) बार बुद्धि बालनि के साथ ही बढ़ी है बीर कुचनि के साथ ही सकुच उर आई है।—केशव। (ख) बहक न इहि बहनापने जब तब बीर बिनास। बचै न बड़ी सबील हूँ चील घोंसुआ मास।—बिहारी। (ग) यह जा यसोदा के पास बैठी और कुशल पूछ अशीश दी कि बीर तेरा कान्ह जीवै कोटि बरस।—लल्लू। (२) एक आभूषण जिसे स्त्रियाँ कान में पहनती हैं। यह गोल चक्राकार होता है और इसका ऊपरी भाग ढालुआँ और उठा हुआ होता है तथा इसके दूसरी ओर खूँटी होती है जो कान के छेद में डाल कर पहनी जाती है। इसमें ढाई तीन अंगुल लंबी कंगनीदार पूँछ सी निकली रहती है जिसमें प्रायः स्त्रियाँ रेशम आदि का झब्बा लगवाती हैं। यह झब्बा पहनते समय सामने कान की ओर रहता है। बिरिया। चाँद बोल। उ०—(क) लसै बीरैं चका सी चलै श्रुति में भृकुटी जुवा रूप रही छबि छ्वै। (ख) अंग अंग अनंग झलकत सोहत कानन बीरैं सोभा देत देखत ही बनै जोन्ह में जोन्ह सी फूली।—हरिदास। (३) कलाई में पहनने का एक प्रकार का गहना। उ०—हाथ पहुँची बीर कंगन जरित मुँदरी भ्राजई।—सूर। (४) पशुओं के चरने का स्थान। चरागाह। चरी। (५) चरागाह में पशुओं को चराने का वह महसूल जो पशुओं की संख्या के अनुसार लिया जाता है।

बीरउ*†–संज्ञा पुं० दे० "बिरवा"।

बीरज*–संज्ञा पुं० दे० "वीर्य्य"।

बीरन–संज्ञा पुं० [सं० विर] भाई। उ०—बीरन आए लिवाइबे को तिन की मृदुबानि हू मानि न लेत है।—पद्माकर।

बीरनि–संज्ञा स्त्री० [देश०] कान में पहनने का एक प्रकार का गहना। ढारों। तरना। बीरी।

बीरबहूटी–संज्ञा स्त्री० [सं० विर+बधूटी] एक छोटा रेंगनेवाला कीड़ा। यह किलनी की जाति का होता है और

प्रायः बरसात आरंभ होने के समय ज़मीन पर इधर उधर रेंगता हुआ दिखाई पड़ता है। इसका रंग गहरा लाल होता है और मख़मल की तरह इस पर छोटे छोटे कोमल रोएँ होते हैं। इसे इंद्रवधू भी कहते हैं। उ०—(क) कोकिल बैन पाँति बग छूटी। धन निसरी जनु बीर बहूटी।—जायसी। (ख) बीरबहूटी बिराजहि दादुर धुनि चहुँ ओर। मधुर गरज घन बरखहिं सुनि सुनि बोलत मोर।—तुलसी।

बीरा*—संज्ञा स्त्री० [हिं० बीड़ा] (१) पान का बीड़ा। वि० दे० "बीड़ा"। (२) वह फूल फल आदि जो देवता के प्रसाद स्वरूप भक्तों आदि को मिलता है। उ०—कत अपनी परतीत नसावत मैं पायों हरि हीरा। सूर पतित तबहीं लै उठिहै जब हँसि दैहै बीरा।—सूर।

बीरो†—संज्ञा पुं० [सं० वीरि वा हिं० बीड़ा] (१) चूना, कत्था और सुपारी पड़ा हुआ पान का बीड़ा। उ०—तरिवन श्रवण नैन दोउ आंजति नासा बेसरि साजत। बीरा मुख भरि चिबुक डिठौना निरखि कपोलनि लाजत।—सूर। (२) ढरकी के बीच में लंबाई के बल वह छेद जिसमें से नरी भरकर तागा निकाला जाता है। (३) लोहे का वह छेददार टुकड़ा जिस पर कोई दूसरा लोहा रखकर लोहार छेद करते हैं। (४) कान में पहनने का एक प्रकार का गहना जिसे तरना भी कहते हैं। उ०—बीरी न होइ बिराजत कानन जानन को मन लावत धंधे।

बील—वि० [सं० बिल] पोला। अंदर से ख़ाली।

संज्ञा पुं० वह भूमि जो नीची हो और जहाँ पानी भरा रहता हो। जैसे, झील, ताल इत्यादि की भूमि।

संज्ञा पु० [सं० बिल्व] (१) बेल। (२) एक ओषधि का नाम।

बीवर—संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का जंतु जो उत्तरीय अमेरिका और एशिया के उत्तरी किनारे पर होता है और पानी के किनारे झुंड बाँधकर रहता है। इसके मुँह में बड़े बड़े और मज़बूत कँटीले दाँत होते हैं और ऊपर नीचे चार चार डाढ़ें होती हैं, जो ऊपर की ओर चिपटी और कठोर होती हैं। इसके प्रत्येक पाँव में पाँच पाँच उँगलियाँ होती हैं और पिछले पैरों की उँगलियाँ जुड़ी रहती हैं और दूसरी उँगली का नाख़ून भी दोहरा होता है। इसकी पूँछ भारी, नीचे ऊपर से चपटी और छिल्कों से ढँकी होती है। इसकी नाक और कान की बनावट ऐसी होती है कि पानी में ग़ोता लगाने से आपसे आप उनके छेद बंद हो जाते हैं। इसका चमड़ा जो समूर कहलाता है, कोमल होता और बड़े दामों को बिकता है। इसका मांस स्वादिष्ट होता है पर लोग इसका शिकार विशेषतः चमड़े के लिए ही करते हैं।

बीवी—संज्ञा स्त्री० दे० "बीबी"।

बीस—वि० [सं० विंशति, प्रा० वीशति, बीसा] (१) जो संख्या में दस का दूना वा उन्नीस से एक अधिक हो।

मुहा०—बीस बिस्वे=अधिक संभवतः। जैसे,—बीस बिस्वे हम सवेरे ही पहुँच जायँगे। उ०—(क) सातहु द्वीपन के अवनीपति हारि रहे जिय में जब जाने। बीस बिसे व्रत भंग भयो सो कहौ अब केशव को धनु ताने।—केशव। (ख) बीस बिसे जानी महा मूरख बिधाता है।—पद्माकर।

(३) श्रेष्ठ। अच्छा। उत्तम। उ०—नाथ अचान उचकि के, चढ़े तासु के सीस। ताकी जनु महिमा करी, बीस राजते बीस।—देवस्वामी।

संज्ञा स्त्री० (१) बीस की संख्या। (२) बीस की संख्या का द्योतक चिह्न। बीस का अंक जो इस प्रकार लिखा जाता है—२०।

बीसना†—क्रि० स० [सं० विशन वा वेशन] शतरंज या चौसर आदि खेलने के लिये बिसात बिछाना। खेल के लिये बिसात फैलाना।

बीसवाँ—वि० [हिं० बीस+वाँ (प्रत्य०)] जो गणना में उन्नीस के बाद हो। बीस के स्थान पर पड़नेवाला।

बीसी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बीस] (१) बीस चीज़ों का समूह। कोड़ी। (२) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार साठ संवत्सरों के तीन विभागों में से कोई विभाग। इनमें से पहली बीसी ब्रह्मबीसी, दूसरी विष्णुबीसी और तीसरी रुद्र वा शिवबीसी कहलाती है। उ०—बीसी विश्वनाथ को विषाद बड़ो बारानसी बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की।—तुलसी। (३) भूमि की एक प्रकार की नाप जो एक एकड़ से कुछ कम होती है। उतनी भूमि जिसमें बीस नालियाँ हों।

संज्ञा पु० [सं० विशिख] तौलने का काँटा। तुला।

संज्ञा स्त्री० [सं० हिं० बिस्वा] प्रति बीघे दो बिस्वे की उपज जो ज़मींदार को दी जाती है।

बीह*—वि० [सं० विंशति, प्रा० बीसा] बीस। उ०—साँचहु मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा।—तुलसी।

बीहड़—वि० [सं० विकट] (१) ऊँचा नीचा। विषम। ऊबड़ खाबड़। जैसे, बीहड़ भूमि, बीहड़ जंगल। (२) जो ठीक न हो। जो सरल या सम न हो। विषम। विकट।

वि० [सं० विलग या बाहर] अलग। पृथक्। जुदा। उ०—(क) साज सात बैकुंठ जस तस साजे खंड सात। बीहर बीहर भाव तस खँड खँड ऊपर छात।—जायसी। (ख) ना वह मिला न बीहरा ऐसइ रह भरपूर।—जायसी (ग) बीहर बीहर सब की बोली। बिधि यह कहाँ कहाँ सों खोली।—जायसी।

बुंद-संज्ञा स्त्री० [सं० विंदु] (१) बूँद। क़तरा, टोप। विंदु। (२) वीर्य।
वि० थोड़ा सा। ज़रा सा।
संज्ञा पुं० [सं०] तीर।

बुँदकी-संज्ञा स्त्री० [सं० विंदु+की (प्रत्य०)] (१) छोटी गोल बिंदी। (२) किसी चीज़ पर बना या पड़ा हुआ छोटा गोल दाग़ या धब्बा।

बुँदकीदार-वि० [हिं० बुँदकी+फ़ा० दार] जिस पर बुँदकियाँ पड़ी या बनी हों। जिस पर बुंदों के से चिह्न हों। बुँदकीवाला।

बुदकयारी-संज्ञा स्त्री० [देश०] वह दंड जो बदमाशों से ज़मींदार लेता है।

बुँदवान†-संज्ञा पुं० [हिं० बुंद+वान (प्रत्य०)] छोटी छोटी बूँदों की वर्षा।

बुंदा-संज्ञा पुं० [सं० विंदु] (१) बुलाक के आकार का कान में पहनने का एक प्रकार का गहना। लोलक। (२) माथे पर लगाने की बड़ी टिकली जो पन्नी या काँच आदि की बनती और बड़ी बिंदी के आकार की होती है। (३) बड़ी टिकली के आकार का गोदना जो माथे पर गोदा जाता है और जिसमें बहुत से छोटे छोटे दाने या गोदने के चिह्न होते हैं।

बुँदिया-संज्ञा स्त्री० दे० "बूँदी"।

बुंदीदार-वि० [हिं०बूंदी+फ़ा० दार (प्रत्य०)] जिसमें छोटी छोटी बिंदियाँ बनी या लगी हों।

बुँदेलखंड-संज्ञा पुं० [हिं० बुंदेला] संयुक्त प्रांत का वह अंश जिसमें जालौन, झाँसी, हमीरपुर, बाँदे के ज़िले पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त ओड़छा, दतिया, पन्ना, चरखारी, बिजावर, छतरपुर आदि अनेक छोटी बड़ी रियासतें भी इसी के अंतर्गत हैं। यह विशेषतः बुँदेले क्षत्रियों का निवास स्थान है, इसीलिये बुंदेलखंड कहलाता है। दे० "बुंदेला" यहाँ पहले गहरवारों, पड़िहारों और चंदेलों आदि का राज्य था। पर ११८२ में दिल्ली के पृथ्वीराज ने बुंदेलखंड पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया था। १५४५ में शेरशाह सूर ने बुंदेलखंड पर आक्रमण किया था, पर कालिंजर पर घेरा डालने में ही उसकी मृत्यु हो गई थी। पीछे से यह प्रदेश मुसलमानों के हाथ में चला गया था। अब इसके दो विभाग हैं, एक अँगरेज़ी शासन के अधीन और दूसरा अनेक छोटे बड़े राजाओं और जागीरदारों आदि के अधीन। इस प्रदेश में अनेक पहाड़ और बड़ी बड़ी झीलें हैं जिनके कारण यहाँ की प्राकृतिक शोभा प्रशंसनीय है।

बुँदेलखंडी-वि० [हिं० बुंदेलखंड+ई (प्रत्य०)] बुंदेलखंड संबंधी। बुँदेलखंड का।
संज्ञा पुं० बुँदेलखंड का निवासी।
संज्ञा स्त्री० बुँदेलखंड की भाषा।

बुँदेला-संज्ञा पुं० [हिं० बूँद+एला (प्रत्य०)] (१) क्षत्रियों का एक वंश जो गहरवार वंश की एक शाखा माना जाता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि पंचम नामक एक गहरवार क्षत्रिय ने एक बार अपने आपको विंध्यवासिनी देवी पर बलिदान चढ़ाना चाहा था। उस समय उसके शरीर से रक्त की जो बूँदें वेदी पर गिरी थीं, उन्हीं से बुंदेला वंश के आदि पुरुष की उत्पत्ति हुई थी। चौदहवीं शताब्दी में बुँदेलखंड प्रांत में बुँदेलों का बहुत ज़ोर था; और उसी समय कालिंजर और काल्पी इनके हाथ में आई थी। जब ये लोग बहुत बढ़े, तब मुसलमानों से इनकी मुठभेड़ होने लगी। कहा जाता है कि पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में बाबर ने बुँदेले सरदार राजा रुद्रप्रताप को अपना सूबेदार बनाया था। बुंदेलखंड में बुँदेलों और मुसलमानों में कई बार बड़े बड़े युद्ध हुए थे। वीरसिंह देव और छत्रसाल आदि प्रसिद्ध वीर और मुसलमानों से लड़नेवाले इसी बुँदेले वंश के थे। (२) बुँदेला वंश का कोई व्यक्ति। (३) बुँदेलखंड का निवासी।

बुंदौरी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बूँद+औरी (प्रत्य०)] बुँदिया या बूँदी नाम की मिठाई। उ०—मतलड छाल और मरकोरी। माँट पेराकें और बुँदोरी।—जायसी।

बुंलपटी-संज्ञा पुं० [लश०] जहाज़ में पिछला पाल।

बुआ-संज्ञा स्त्री० दे० "बूआ"।

बुक-संज्ञा स्त्री० [अं० बकरम] (१) एक प्रकार का कलफ किया हुआ महीन पर बहुत करारा कपड़ा जो बच्चों की टोपियों में अस्तर देने या अँगिया, कुरती, ज़नानी चादरें आदि बनाने के काम में आता है। यह साधारण बकरम की अपेक्षा बहुत पतला पर प्रायः वैसा ही करारा या कड़ा होता है। (२) एक प्रकार की महीन पन्नी।
संज्ञा स्त्री० [अं०] पुस्तक। किताब। पोथी।

बुक़चा-संज्ञा पुं० [तु० बुकचः] (१) वह गठरी जिसमें कपड़े बँधे हुए हों। (२) गठरी।

बुकची-संज्ञा स्त्री० [हिं० बुकचा+ई (प्रत्य०)] (१) छोटी गठरी, विशेषतः कपड़ों की गठरी। (२) दर्जियों की वह थैली जिसमें वे सूई, डोरा, कैंची, कपड़े, कागज़ आदि रखते हैं।
संज्ञा स्त्री० दे० "बकुची"।

बुकनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बूकना+ई (प्रत्य०)] (१) किसी चीज़ का महीन पीसा हुआ चूर्ण (२) वह चूर्ण जिसे पानी में घोलने से कोई रंग बनता हो। जैसे, गुलाबी बुकनी।

बुकवा†-संज्ञा पुं० [हिं० बूकना] (१) उबटन। बटना। (२) दे० बुका"।

बुकस-संज्ञा पुं० [सं० बुक्का] भंगी। मेहतर। हलालख़ोर।

बुका–संज्ञा पुं० दे० "बुक्का"।

बुकार†–संज्ञा पुं० [देश०] वह बालू जो बरसात के बाद नदी अपने तट पर छोड़ जाती हो और जिसमें कुछ अन्न आदि बोया जा सकता हो। भाट। बालू।

बुकुन†–संज्ञा पुं० [हिं० बूकना] (१) बुकनी। (२) किसी प्रकार का पाचक। चूर्ण। उ०—जलित जलेबे अंदरसा बुकुने दधि चटनी चटकारी जू।—विश्राम।

बुक्का–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हृदय। कलेजा। (२) गुरदे का मांस। (३) रक्त। लहू। (४) बकरी। (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता था।

संज्ञा पुं० [हिं० बूकना=पीसना] (१) फूटे हुए अभ्रक का चूर्ण जो प्राय: होली में गुलाल के साथ मिलाया जाता या इसी प्रकार के और कामों में आता है। (२) बहुत छोटे छोटे सच्चे मोतियों के दाने जो पीसकर औषध के काम में आते हैं अथवा पिरोकर आभूषणों आदि पर लपेटे जाते हैं।

संज्ञा पुं० दे० "बूक"।

बुख़ार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वाष्प। भाप। (२) ज्वर। ताप। विशेष—दे० "ज्वर"। (३) हृदय का उद्वेग। शोक, क्रोध, दुःख आदि का आवेग।

मुहा०—दिल या जी का बुख़ार निकालना=दे० "जी का बुख़ार निकालना"।

बुख़ारचा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) खिड़की के आगे का छोटा बरामदा। (२) कोठरी के अंदर तख़्तों आदि की बनी हुई छोटी कोठरी।

बुग–संज्ञा पुं० [देश०] मच्छर। (बुंदेलखंड)

संज्ञा पुं० दे० "बुक"।

बुगचा–संज्ञा पुं० दे० "बुकचा"।

बुगदर†–संज्ञा पुं० [देश०] मच्छर।

बुगदा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] कसाइयों का छुरा जिससे वे पशुओं की हत्या करते हैं।

बुगिअल–संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं के चरने का स्थान। चरी। चरागाह।

बुगुल–संज्ञा पुं० दे० "बिगुल"।

बुचका–संज्ञा पुं० दे० "बुकचा"।

बुज़कसाब–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो पशुओं की हत्या करता अथवा उनका मांस आदि बेचता हो। बकर-कसाब। कस्साई।

बुज़दिल–वि० [फ़ा०] कायर। डरपोक। भीरु।

बुजनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] करनफूल के आकार का एक गहना जो कान में पहना जाता है और जिसके नीचे झुमका भी लटकाया जाता है। इसे प्रायः ब्याही स्त्रियाँ पहनती हैं।

बुजियाला–संज्ञा पुं० [फ़ा० बुज] वह बकरी का बच्चा जिसे कलंदर लोग तमाशा करना सिखलाते हैं। (कलंदर)

संज्ञा पुं० [फ़ा० बूज़ना] वह बंदर जिसे कलंदर तमाशा करना सिखाते हैं। (कलंदर)

बुज़ुर्ग–वि० [फ़ा०] (१) जिसकी अवस्था अधिक हो। वृद्ध। बड़ा। (२) पाजी। दुष्ट। (व्यंग्य)

संज्ञा पुं० बाप-दादा। पूर्वज। पुरखा। (इस अर्थ में यह शब्द सदा बहुवचन में बोला जाता है।)

बुज़ुर्गी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बुज़ुर्ग होने का भाव। बड़ापन।

बुज्झर†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी।

बुज्झी–वि० [फ़ा० बुज] बकरी। (डिं०)

बुज्झा–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

बुझना–क्रि० अ० [?] (१) किसी जलते हुए पदार्थ का जलना बंद हो जाना। जलने का अंत हो जाना। अग्नि या अग्निशिखा का शांत होना। जैसे, लकड़ी बुझना, लंप बुझना। (२) किसी जलते या तपे हुए पदार्थ का पानी में पड़ने के कारण ठंढा होना। तपी हुई या गरम चीज़ का पानी में पड़कर ठंढा होना। (३) पानी का किसी गरम या तपाई हुई चीज़ से छौंका जाना। पानी में किसी चीज़ का बुझाया जाना जिसमें उस चीज़ का कुछ प्रभाव पानी में आ जाय। (४) पानी आदि की सहायता से किसी प्रकार का ताप शांत होना। पानी पड़ने या मिलने के कारण ठंढा होना। जैसे, चूना बुझना। (५) चित्त का आवेग या उत्साह आदि मंद पड़ना। जैसे, ज्यों ज्यों बुढ़ापा आता है, त्यों त्यों जी बुझता जाता है।

बुझाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बुझाना+ई (प्रत्य०)] (१) बुझाने की क्रिया। बुझाने का काम।

यौ०—बुझाई का हौज़=वह हौज़ जिसमें नील के पौधे काट कर पहले पहल पानी में भिगोए जाते हैं।

(२) बुझाने की मज़दूरी।

बुझाना–क्रि० स० [हिं० बुझना का सक० रूप] (१ किसी पदार्थ के जलने का (उस पर पानी डालकर, या हवा के ज़ोर से) अंत कर देना। जलते हुए पदार्थ को ठंढा करना या अधिक जलने से रोक देना। अग्नि शांत करना। जैसे, आग बुझाना, दीआ बुझाना। (२) किसी जलती हुई धातु या ठोस पदार्थ को ठंढे पानी में डाल देना जिससे वह पदार्थ भी ठंढा हो जाय। तपी हुई चीज़ को पानी में डालकर ठंढा करना। जैसे,—सोनार पहले सोने को तपाते हैं और तब उसे पानी में बुझाकर पीटते और पत्तर बनाते हैं।

मुहा०—ज़हर में बुझाना=छुरी, बरछी, तलवार आदि शस्त्रों के

फलों को तपा कर किसी जहरीले तरल पदार्थ में बुझाना जिसमें वह फल भी जहरीला हो जाय। (ऐसे फलों का घाव लगने पर ज़हर भी रक्त में मिल जाता है, जिससे घायल आदमी शीघ्र मर जाता है। ज़हर का बुझाया हुआ=दे० "ज़हर के मुहा०"।

(३) ठंढे पानी में इसलिये किसी चीज़ को तपाकर डालना जिसमें उस चीज़ का कुछ गुण या प्रभाव उस पानी में आ जाय। पानी को छौंकना। जैसे,—इनको लोहे का बुझाया पानी पिलाया करो। (४) पानी की सहायता से किसी प्रकार का ताप दूर करना। पानी डालकर ठंढा करना। जैसे, प्यास बुझाना, चूना बुझाना, नील बुझाना। (५) चित्त का आवेग या उत्साह आदि शांत करना। जैसे, दिल की लगी बुझाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० स० [हिं० बूझना का प्रे० रूप] (१) बूझने का काम दूसरे से कराना। किसी को बूझने में प्रवृत्त करना। जैसे, पहेली बुझाना। (२) बोध कराना। समझाना। (३) संतोष देना। जी भरना।

बुझारत—संज्ञा स्त्री० [हिं० बुझाना=समझाना] किसी गाँव के ज़मींदारों के वार्षिक आय-व्यय आदि का लेखा।

बुट*†—संज्ञा स्त्री० दे० "बूटी"। उ०—जातुधान बुट पुटपाक लंक जात रूप रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो।—तुलसी।

बुटना*†—क्रि० अ० [?] दौड़कर चला जाना या हट जाना। भागना। उ०—(क) आशा करि आयो हुतो पास रावरे में गाढ़हू के पाश दुख दूरि बुटि बुटि गे।—पद्माकर। (ख) राम सिया शिव सिंधु धरा अहि देवन के दुख पुंज बुटे।—हनुमान।

बुड़की†—संज्ञा स्त्री० [हिं० डूबना] डुबकी। गोता। उ०—(क) श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी लै बुड़की गरें लागि चौंकि परी कहाँ जाऊँ।—हरिदास। (ख) करति स्नान सब प्रेम बुड़की देहि समुझि होई भजि तीर आवे।—सूर।

बुड़ना—क्रि० अ० दे० "बूड़ना"।

बुड़बुड़ाना—क्रि० अ० [अनु०] मन ही मन कुढ़कर या क्रोध में आकर अस्पष्ट रूप से कुछ बोलना। बड़बड़ करना।

बुड़ाना*†—क्रि० स० दे० "डुबाना"।

बुड़ाव—संज्ञा पुं० दे० "डुबाव"।

बुड्ढा†—वि० [सं० वृद्ध] जिसकी अवस्था अधिक हो गई हो। ५०-६० वर्ष से अधिक अवस्थावाला। वृद्ध।

बुढ़ना†—संज्ञा पुं० [?] छबीला। पत्थर फूल।

बुढ़वा†—वि० दे० "बुड्ढा"।

बुढ़ाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० बूढ़ा+आई (प्रत्य०)] बुढ़ापा। वृद्धत्व। वृद्ध या बुड्ढे होने का भाव।

बुढ़ाना—क्रि० अ० [हिं० बूढ़ा+ना (प्रत्य०)] वृद्धावस्था को प्राप्त होना। बुड्ढा होना। उ०—अब मैं जानी देह बुढ़ानी। सीस पाँव धर कह्यो न मानत तनु की दशा सिरानी।—सूर।

बुढ़ापा—संज्ञा पुं० [हिं० बूढ़ा+पा (प्रत्य०)] (१) वृद्धावस्था। बुड्ढे होने की अवस्था। (२) बुड्ढे होने का भाव। बुड्ढा-पन।

बुढ़िया बैठक—संज्ञा स्त्री० [हिं० बुढ़िया+बैठक=कसरत] एक प्रकार की बैठक (कसरत)। इसमें दीवार, खंभे आदि का सहारा लेकर बार बार उठते बैठते हैं।

बुढ़ौती†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बूढ़ा+औती (प्रत्य०)] बुढ़ापा। वृद्धा-वस्था।

बुत—संज्ञा पुं० [फ़ा० मि० सं० बुद्ध] (१) मूर्त्ति। प्रतिमा। पुतला। (२) वह जिसके साथ प्रेम किया जाय। प्रियतम। (३) सेसरबुत नाम के खेल में वह दाँव जिसमें खिलाड़ी के हाथ में केवल तसवीरें ही हों, अथवा तीनों ताशों की बुंदियों का जोड़ १०, २० या ३० हो। विशेष—दे० "सेसरबुत"।

वि० मूर्त्ति की तरह चुपचाप बैठा रहनेवाला। जो कुछ भी बोलता चालता न हो जैसे, नशे में बुत हो जाना।

बुतना—क्रि० अ० दे० "बुझना"।

बुतपरस्त—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो मूर्त्तियों को पूजता हो। मूर्त्तिपूजक। (२) वह जो सौंदर्य्य का उपासक हो। रसिक।

बुतपरस्ती—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मूर्त्तिपूजा।

बुतशिकन—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो प्रतिमाओं को तोड़ता या नष्ट करता हो। वह जो मूर्त्तिपूजा का घोर विरोधी हो।

बुताना†—क्रि० अ० दे० "बुझना"।

क्रि० स० दे० "बुझाना"।

बुत्त—वि० दे० "बुत"।

बुद—वि० [देश०] पाँच (दलाल)।

बुद्बुद—संज्ञा पुं० [सं०] पानी का बुलबुला। बुल्ला।

बुद्बुदा—संज्ञा पुं० [सं० बुद्बुद] पानी का बुलबुला। बुल्ला।

बुदलाय—वि० [दलाली बुद+लाय (प्रत्य०)] पंद्रह। दस और पाँच। (दलाल)

बुद्ध—वि० [सं०] (१) जो जागा हुआ हो। जागरित। (२) ज्ञानवान। ज्ञानी। (३) पंडित। विद्वान्।

संज्ञा पुं० सुप्रसिद्ध बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक एक बहुत बड़े महात्मा जिनका जन्म ईसा के लगभग ५५० वर्ष पूर्व शाक्यवंशी राजा शुद्धोदन की रानी महामाया के गर्भ से नेपाल की तराई के लुंबिनी नामक स्थान में माघ की पूर्णिमा को हुआ था। इनके जन्म के थोड़े ही दिनों बाद इनकी माता का देहांत हो गया था और इनका पालन इनकी विमाता महा प्रजावती ने बहुत उत्तमतापूर्वक किया था। इनका नाम गौतम अथवा सिद्धार्थ रखा गया था और

इन्हें कौशिक विश्वामित्र ने अनेक शास्त्रों, भाषाओं और कलाओं आदि की शिक्षा दी थी। बाल्यावस्था में ही ये प्रायः एकांत में बैठकर त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के उपाय सोचा करते थे। युवावस्था में इनका विवाह देवदह की राजकुमारी गोपा के साथ हुआ। शुद्धोदन ने इनकी उदासीन वृत्ति देखकर इनके मनोविनोद के लिये अनेक सुंदर प्रासाद आदि बनवा दिए थे और और सामग्री एकत्र कर दी थी तिस पर भी एकांतवास और चिंताशीलता कम न होती थी। एक बार एक दुर्बल वृद्ध को, एक बार एक रोगी को और एक बार एक शव को देख कर ये संसार से और भी अधिक विरक्त तथा उदासीन हो गए। पर पीछे एक संन्यासी को देखकर इन्होंने सोचा कि संसार के कष्टों से छुटकारा पाने का उपाय वैराग्य ही है। वे संन्यासी होने की चिंता करने लगे और अंत में एक दिन जब उन्हें समाचार मिला कि गोपा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने संसार को त्याग देना निश्चित कर लिया। कुछ दिनों बाद आषाढ़ की पूर्णिमा की रात को अपनी स्त्री को निद्रावस्था में छोड़कर उंतीस वर्ष की अवस्था में ये घर से निकल गए और जंगल में जाकर इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। इसके उपरांत इन्होंने गया के समीप निरंजना नदी के किनारे उरुबिल्व ग्राम में कुछ दिनों तक रह कर योग-साधन तथा तपश्चर्या की और अपनी काम, क्रोध आदि वृत्तियों का पूर्ण रूप से नाश कर लिया। उसी अवसर पर घर से निकलने के प्रायः सात वर्ष बाद एक दिन आषाढ़ की पूर्णिमा की रात को महाबोधि वृक्ष के नीचे इनको उद्बोधन हुआ और इन्होंने दिव्य ज्ञान प्राप्त किया। उसी दिन से ये गौतम-बुद्ध या बुद्धदेव कहलाए। इसके उपरांत ये धर्मप्रचार करने के लिए काशी आए। इनके उपदेश सुनकर धीरे धीरे बहुत से लोग इनके शिष्य और अनुयायी होने लगे और थोड़े ही दिनों में अनेक राजा, राजकुमार और दूसरे प्रतिष्ठित पुरुष इनके अनुयायी बन गए जिनमें मगध के राजा बिंबिसार भी थे। उस समय तक प्रायः सारे उत्तर भारत में उनकी ख्याति हो चुकी थी। कई बार महाराज शुद्धोदन ने इनको देखने के लिये कपिलवस्तु में बुलाना चाहा; पर जो लोग इनको बुलाने के लिये जाते थे, वे इनके उपदेश सुनकर विरक्त हो जाते और इन्हीं के साथ रहने लगते थे। अंत में ये एक बार स्वयं कपिलवस्तु गए थे जहाँ इनके पिता अपने बंधु-बांधवों सहित इनके दर्शनों के लिये आए थे। उस समय तक शुद्धोदन को आशा थी कि सिद्धार्थ गौतम कहने सुनने से फिर गृहस्थ आश्रम में आ जायँगे और राजपद ग्रहण कर लेंगे। पर इन्होंने अपने पुत्र राहुल को भी अपने उपदेशों से मुग्ध करके अपना अनुयायी बना लिया। इसके कुछ दिनों के उपरांत लिच्छिवि महाराज का निमंत्रण पाकर ये वैशाली गए थे। वहाँ से चलकर ये संकाश्य, श्रावस्ती, कौशांबी, राजगृह, पाटलिपुत्र, कुशीनगर आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते फिरते थे; और सभी जगह हज़ारों आदमी इनके उपदेश से संसार त्यागते थे। इनके अनेक शिष्य भी चारों ओर घूम घूम कर धर्मप्रचार किया करते थे। इनके धर्म्म का इनके जीवनकाल में ही बहुत अधिक प्रचार हो गया था। इसका कारण यह था कि इनके समय में कर्म्मकांड का ज़ोर बहुत बढ़ चुका था और यज्ञों आदि में पशुओं की हत्या बहुत अधिक होने लगी थी। इन्होंने इस निरर्थक हत्या को रोककर लोगों को जीवमात्र पर दया करने का उपदेश दिया था। इन्होंने प्रायः ४४ वर्ष तक बिहार तथा काशी के आस पास के प्रांतों में धर्म्म प्रचार किया था। अंत में कुशीनगर के पास के वन में एक शालवृक्ष के नीचे वृद्धावस्था में इनका शरीरांत या परिनिर्वाण हुआ था। पीछे से इनके कुल उपदेशों का संग्रह हुआ जो तीन भागों में होने के कारण त्रिपिटक कहलाया। इनका दार्शनिक सिद्धांत ब्रह्मवाद या सर्वात्मवाद था। ये संसार को कार्य-कारण के अविच्छिन्न नियम में बद्ध और अनादि मानते थे तथा छः इंद्रियों और अष्टांग मार्ग को ज्ञान तथा मोक्ष का साधन समझते थे। विशेष—दे० "बौद्ध-धर्म्म"।

विशेष—हिंदू शास्त्रों के अनुसार बुद्धदेव दस अवतारों में से नवें अवतार और चौबीस अवतारों में से तेईसवें अवतार माने जाते हैं। विष्णुपुराण और वेदांत सूत्र आदि में इनके संबंध की बातें और कथाएँ दी हुई हैं।

बुद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह शक्ति जिसके अनुसार मनुष्य किसी उपस्थित विषय के संबंध में ठीक ठीक विचार या निर्णय करता है। विवेक या निश्चय करने की शक्ति। अक़्ल। समझ।

विशेष—हमारे यहाँ बुद्धि अंतःकरण की चार वृत्तियों में से दूसरी वृत्ति मानी गई है और इसके नित्य और अनित्य दो भेद रखे गए हैं। इसमें से नित्य बुद्धि परमात्मा की और अनित्य बुद्धि जीव की मानी गई है। सांख्य के मत से त्रिगुणात्मिका प्रकृति का पहला विकार यही बुद्धितत्व है; और इसी को महत्तत्व भी कहा गया है। सांख्य में यह भी माना गया है कि आरंभ में ज्यों ही जगत् अपनी सुषुप्तावस्था से उठा था, उस समय सब से पहले इसी महान् या बुद्धितत्व का विकास हुआ था। नैयायिकों ने इसके अनुभूति और स्मृति ये दो प्रकार माने हैं। कुछ लोगों के मत से बुद्धि के इष्टानिष्ट, विपत्ति, व्यवसाय,

समाधिता, संशय और प्रतिपत्ति ये पाँच गुण और कुछ लोगों के मत से सुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, उह, उपोह और अर्थविज्ञान ये सात गुण है। पाश्चात्य विद्वान् अंतःकरण के सब व्यापारों का स्थान मस्तिष्क मानते हैं इसलिए उनके अनुसार बुद्धि का स्थान भी मस्तिष्क ही है। यद्यपि यह एक प्राकृतिक शक्ति है, तथापि ज्ञान और अनुभव की सहायता से इसमें बहुत कुछ वृद्धि हो सकती है।

पर्य्या०—मनीषा। धीष्णा। धी। प्रज्ञा। मति। प्रेक्षा। चित्। चेतना। धारण। प्रतिपत्ति। मेधा। मन। मनस्। ज्ञान। बोध। प्रतिभा। विज्ञान। संख्या।

मुहा०—"बुद्धि" दे० "अक्ल"।

(२) उपजाति वृत्त का चौदहवाँ भेद जिसे सिद्धि भी कहते हैं। (३) एक छंद जिसके चारों पादों में क्रम से १६, १४, १४, १३ मात्राएँ होती हैं। इसे "लक्ष्मी" भी कहते हैं। (४) छप्पय का ४२ वाँ भेद।

बुद्धिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

बुद्धिकामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम।

बुद्धिचक्षु-संज्ञा पुं० [सं०] प्रज्ञाचक्षु। धृतराष्ट्र। उ०—करण दुशासन नृप मन माना। बुद्धिचक्षु पहँ कीन्ह पयाना।

बुद्धिजीवी-संज्ञा पुं० [सं० बुद्धिजीविन्] वह जो बुद्धि के द्वारा अपनी जीविका का निर्वाह करता हो।

बुद्धितत्व-संज्ञा पुं० दे० "बुद्धि"।

बुद्धिपर-वि० [सं०] जो बुद्धि से परे हो। जिस तक बुद्धि न पहुँच सके। उ०—राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर। अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।—तुलसी।

बुद्धिमत्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धिमान् होने का भाव। समझदारी। अक्लमंदी।

बुद्धिमान्-वि० [सं०] वह जिसकी बुद्धि बहुत प्रखर हो। वह जो बहुत समझदार हो। अक्लमंद।

बुद्धिमानी-संज्ञा स्त्री० दे० "बुद्धिमत्ता"।

बुद्धिवंत-वि० [सं० बुद्धि+वंत (प्रत्य०)] बुद्धिमान्। अक्लमंद। समझदार।

बुद्धिशाली-वि० [सं० बुद्धिशालिन्] बुद्धिमान्। समझदार। अक्लमंद।

बुद्धिशील-वि० [सं०] बुद्धिमान्। बुद्धिशाली। अक्लमंद।

बुद्धिश्रीगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

बुद्धिसहाय-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री। सचिव। वज़ीर।

बुद्धिहत-वि० [सं०] जिसमें बुद्धि न हो। बेअक्ल। बुद्धिहीन।

बुद्धिहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि को नष्ट करनेवाली, मदिरा। मद्य। शराब।

बुद्धिहीन-वि० [सं०] जिसे बुद्धि न हो। मूर्ख। बेवकूफ़।

बुद्धींद्रिय-संज्ञा स्त्री० दे० "ज्ञानेंद्रिय"।

बुद्धी-संज्ञा स्त्री० दे० "बुद्धि"।

बुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सौर जगत् का एक ग्रह जो सूर्य के सब से अधिक समीप रहता है। यह प्रायः सूर्य्य से ३६०००००० मील की दूरी पर रहकर अट्ठासी दिन में उसकी परिक्रमा करता है। इसका व्यास प्रायः ३१०० मील के लगभग है और यह २४ घंटे ५॥ मिनट में अपनी धुरी पर घूमता है। इसकी कक्षा का व्यास ७२०००००० मील है और इसकी गति प्रति घंटे प्रायः एक लाख मील है। सूर्य के बहुत समीप रहने के कारण यह दूरबीन आदि की सहायता के बिना बहुत कम देखने में आता है। यह न तो सूर्य से कभी बहुत पहले उदय होता है और न कभी उसके बहुत बाद अस्त होता है। इसमें स्वयं अपना कोई प्रकाश नहीं है और यह केवल सूर्य के प्रकाश के प्रतिबिंब से ही चमकता है। यह आकार में पृथ्वी का प्रायः १८ वाँ अंश है। (२) भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नौ ग्रहों में से चौथा ग्रह जो पुराणानुसार देवताओं के गुरु बृहस्पति की स्त्री तारा के गर्भ से चंद्रमा के वीर्य से उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि चंद्रमा एक बार तारा को हरण कर ले गया था। ब्रह्मा तथा दूसरे देवताओं के बहुत समझाने पर भी जब चंद्रमा ने तारा को नहीं लौटाया तब बृहस्पति और चंद्रमा में युद्ध हुआ। बाद में ब्रह्मा ने बीच में पड़कर बृहस्पति को तारा दिलवा दी। पर उस समय तक चंद्रमा से तारा गर्भवती हो चुकी थी। बृहस्पति के बिगड़ने पर तारा ने तुरंत प्रसव कर दिया जिससे बुध की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त काशीखंड तथा दूसरे अनेक पुराणों में भी बुध के संबंध की कई कथाएँ हैं। यह नपुंसक, शूद्र, अथर्ववेद का ज्ञाता, रजोगुणी, मगधदेश का अधिपति बालस्वभाव, धनु के आकार का और दूर्वाश्याम वर्ण का माना जाता है। रवि और शुक्र इसके मित्र और चंद्रमा इसका शत्रु माना जाता है। किसी किसी का मत है कि इसने वैवस्वत मनु की कन्या ईला से विवाह किया था जिसके गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ था। यह भी कहा जाता है कि ऋग्वेद के मंत्रों का इसीने प्रकाश किया था। (३) अग्निपुराण के अनुसार एक सूर्यवंशी राजा का नाम। (४) भागवत के अनुसार वेगवान राजा के पुत्र का नाम जो तृणबिंदु का पिता था। (५) देवता। (६) कुत्ता। (७) बुद्धिमान् अथवा विद्वान् पुरुष।

बुधजामी-संज्ञा पुं० [सं० बुध+हिं० जन्मना=उत्पन्न होना] बुध के पिता, चंद्रमा।

बुधवान*†-वि० दे० "बुद्धिमान्"।

बुधवार–संज्ञा पुं० [सं०] सात वारों में से एक वार जो बुध ग्रह का माना जाता है। यह मंगलवार के बाद और बृहस्पति वार से पहले पड़ता है। रविवार से चौथा दिन।

बुधि*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बुद्धि"।

बुनना–क्रि० स० [सं० वयन] (१) जुलाहों की वह क्रिया जिससे वे सूतों या तारों की सहायता से कपड़ा तैयार करते हैं। इस क्रिया में पहले करगह में लंबाई के बल बहुत से सूत बराबर बराबर फैलाए जाते हैं, जिसे ताना कहते हैं। इसमें करगह की राछों की सहायता से ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है कि सम संख्याओं पर पड़नेवाले सूत आवश्यकता पड़ने पर विषम संख्याओं पर पड़नेवाले सूतों से अलग करके ऊपर उठाए या नीचे गिराए जा सकें। अब ताने के इन सूतों में से आधे सूतों को कुछ ऊपर उठाते और आधे को कुछ नीचे गिराते हैं और तब दोनों के बीच में से होकर ढरकी, जिसकी नरी में बाने का सूत लपेटा हुआ होता है, एक ओर से दूसरी ओर को जाती है, जिससे बाने का सूत तानेवाले सूतों में पड़ जाता है। इसके उपरांत फिर ताने के सूतों में से ऊपरवाले सूतों को नीचे और नीचेवाले सूतों को ऊपर करके दोनों के बीच में से उसी प्रकार बाने के सूत को फिर पीछे की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार बार बार करने से तानों के सूतों में बाने के सूत पड़ते जाते हैं जिनसे अंत में कपड़ा तैयार हो जाता है। ताने के सूतों में उक्त नियम के अनुसार बाने के सूतों को बैठाने की यही क्रिया "बुनना" कहलाती है। बिनना। (२) बहुत से सीधे और बेड़े सूतों को मिलाकर उनको कुछ के ऊपर और कुछ के नीचे से निकालकर अथवा उनमें गोंट आदि देकर कोई चीज़ तैयार करना। जैसे, गुलूबंद बुनना, जाल बुनना। (३) बहुत से तारों आदि की सहायता से उक्त क्रिया से अथवा उससे मिलती जुलती किसी और क्रिया से कोई चीज़ तैयार करना। जैसे, मकड़ी का जाल बुनना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

बुनाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बुनना+ई (प्रत्य०)] (१) बुनने की क्रिया या भाव। बुनावट। (२) बुनने की मज़दूरी।

बुनावट–संज्ञा स्त्री० [हिं० बुनना+आवट (प्रत्य०)] बुनने में सूतों की मिलावट का ढंग। सूतों के संयोग का प्रकार।

बुनियाद–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) जड़। मूल। नींव। (२) असलियत। वास्तविकता।

बुबुकना–क्रि० अ० [अनु०] ज़ोर ज़ोर से रोना। बुक्का फाड़ना। धाड़ मारना।

बुबुकारी–संज्ञा स्त्री० [अनु० बुबुक+आरी (प्रत्य०)] धाड़ मार कर रोने की क्रिया। बुक्का फाड़कर रोना। ज़ोर ज़ोर से रोना। उ०—जहाँ तहाँ बुबुकि बिलोकि बुबुकारी देत जरत निकेत धावो धावो लागि आगि रे।—तुलसी।

क्रि० प्र०—देना।—मारना।

बुभुक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] खाने की इच्छा। क्षुधा। भूख।

बुभुक्षित–वि० [सं०] जिसे भूख लगी हो। भूखा। क्षुधित।

बुभूषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] यश की इच्छा रखना।

बुयाम–संज्ञा पुं० [अं० ?] चीनी मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का गोल और ऊँचा बड़ा पात्र जो साधारणतः तेज़ाब और अचार आदि रखने के काम में आता है। जार।

बुरकना–क्रि० स० [अनु०] किसी पिसी हुई या महीन चीज़ को हाथ से धीरे धीरे किसी दूसरी चीज़ पर छिड़कना। भुरभुराना।

संज्ञा पुं० बच्चों की वह दावात जिसमें वे पटिया आदि पर लिखने के लिए खरिया मिट्टी घोलकर रखते हैं।

बुरका–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रायः थैले के आकार का मुसलमान स्त्रियों का एक प्रकार का पहनावा जो दूसरे सब वस्त्र पहन चुकने के उपरांत सिर पर से डाल लिया जाता है और जिससे सिर से पैर तक सब अंग ढके रहते हैं। इसमें का जो भाग आँखों के आगे पड़ता है, उसमें जाली लगी रहती है जिसमें चलते समय सामने की चीज़ें दिखाई पड़ें। (२) वह झिल्ली जिसमें जन्म के समय बच्चा लिपटा रहता है। खेड़ी।

बुरकाना–क्रि० स० [हिं० बुरकना का प्रे० रूप] बुरकने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बुरकने में प्रवृत्त करना।

बुरदू–संज्ञा पुं० [अं० बोर्ड] (१) पार्श्व। बग़ल। (२) ओर। तरफ़। (३) जहाज़ का बग़लवाला भाग। (४) जहाज़ का वह भाग जो हवा या तूफ़ान के रुख पर न पड़ता हो, बल्कि पीछे की ओर हो। (लश०)

बुरा–वि० [सं० विरूप] जो अच्छा या उत्तम न हो। ख़राब। निकृष्ट। मंदा।

मुहा०—बुरा मानना=द्वेष रखना। बैर रखना। खार खाना।

यौ०—बुरा भला=(१) हानि लाभ। अच्छा और ख़राब। (२) गाली गलौज। लानत मलामत।

बुराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बुरा+ई (प्रत्य०)] (१) बुरे होने का भाव। बुरापन। ख़राबी। (२) खोटापन। नीचता। जैसे,—हमने किसी के साथ बुराई नहीं की। (३) अवगुण। दोष। दुर्गुण। ऐब। जैसे,—उसमें बुराई यही है कि वह बहुत झूठ बोलता है। (४) किसी के संबंध में कही हुई कोई बुरी बात। शिकायत। निंदा। जैसे,—तुम तो सब की बुराई ही करते फिरते हो।

बुरादा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह चूर्ण जो लकड़ी को आरे से

चीरने पर उसमें से निकलता है। लकड़ी का चूरा। कुनाई। (२) चूर्ण। चूरा। (क्व०)

बुरापन–संज्ञा पुं० दे० "बुराई"।

बुरुड–संज्ञा पुं० [देश०] एक जाति जिसकी गणना अंत्यजों में होती है।

बुरुश–संज्ञा पुं० [अं० ब्रश] अँगरेज़ी ढंग की बनी हुई किसी प्रकार की कूँची जो चीज़ों को रँगने, साफ़ करने या पालिश आदि करने के काम में आती है।

विशेष—बुरुश प्रायः कूटी हुई मूँज या कुछ विशेष पशुओं के बालों से बनाए जाते और भिन्न भिन्न कार्यों के लिये भिन्न भिन्न आकार प्रकार के होते हैं। रंग भरने या पालिश आदि करने के लिए जो बुरुश बनते हैं, उनमें प्रायः मूँज या बालों का एक गुच्छा किसी लंबी लकड़ी या दस्ते के एक सिरे पर लगा रहता है। चीज़ों को साफ़ करने के लिए जो बुरुश बनाए जाते हैं, उनमें प्रायः काठ के एक चौड़े टुकड़े में छोटे छोटे बहुत से छेद करके उनमें एक विशेष क्रिया और प्रकार से मूँज या बालों के छोटे छोटे गुच्छे भर देते हैं। कभी कभी ऐसे काठ के टुकड़ों में एक दस्ता भी लगा दिया जाता है। बुरुश प्रायः मूँज या नारियल, बेंत आदि के रेशों से अथवा घोड़े, गिलहरी, ऊँट, सूअर, भालू, बकरी आदि पशुओं के बालों से बनाए जाते हैं। साधारणतः बुरुश का उपयोग कपड़े, टोपियाँ, चिमनियाँ, तरह तरह के दूसरे सामान, बाल, दाँत आदि साफ़ करने अथवा किसी चीज़ पर रंग आदि चढ़ाने में होता है।

बुरुल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत बड़ा वृक्ष जो हिमालय में १३००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी छाल बहुत सफ़ेद और चमकीली होती है, जिससे पहाड़ी लोग झोंपड़े बनाते हैं। इसकी लकड़ी छत पाटने और पत्ते चारे के काम में आती है।

बुर्ज–संज्ञा पुं० [अ०] (१) क़िले आदि की दीवारों में, कोनों पर आगे की ओर निकला अथवा आस पास की इमारत से ऊपर की ओर उठा हुआ गोल या पहलदार भाग जिसके बीच में बैठने आदि के लिए थोड़ा सा स्थान होता है। प्राचीन काल में प्रायः इस पर रखकर तोपें चलाई जाती थीं। गरगज। (२) मीनार का ऊपरी भाग, अथवा उसके आकार का इमारत का कोई अंग। (३) गुंबद। (४) गुब्बारा। (५) राशि-चक्र। (ज्यो०)

बुर्द–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) ऊपरी आमदनी। ऊपरी लाभ। नफ़ा। (२) शर्त। होड़। बाज़ी। (३) शतरंज के खेल में वह अवस्था जब सब मोहरे मर जाते हैं और केवल बादशाह रह जाता है। उस समय बाज़ी 'बुर्द' कहलाती और आधी मात समझी जाती है।

बुर्री–संज्ञा स्त्री० [हिं० बुरकना] बोने का वह ढंग जिसमें बीज हल की जोत में डाल दिए जाते हैं और उसमें से आप से आप गिरते चलते हैं।

बुर्श–संज्ञा पुं० दे० "बुरुश"।

बुलंद–वि० [फ़ा० बलंद] (१) भारी। उत्तुंग। जैसे, बुलंद आवाज़, बुलंद हौसला। (२) जिसकी ऊँचाई अधिक हो। बहुत ऊँचा।

बुलंदी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बलंदी] (१) बुलंद होने का भाव। (२) ऊँचाई।

बुलडाग–संज्ञा पुं० [अं०] मझोले आकार का एक प्रकार का विलायती कुत्ता जो बहुत बलवान, पुष्ट और देखने में भयंकर होता है।

बुलबुल–संज्ञा स्त्री० [अ०, फ़ा०] एक प्रसिद्ध गानेवाली छोटी चिड़िया जो कई प्रकार की होती और एशिया, यूरोप तथा अमेरिका में पाई जाती है। ऊपर की ओर इसका रंग काला, पेट के पास भूरा और गले के पास कुछ सफ़ेद होता है। जब इसकी दुम कुछ लाल रंग की होती है तब इसे गुलदुम कहते हैं। यह प्रायः एक बालिश्त लंबी होती है और झाड़ियों या जंगलों आदि में ज़मीन पर या उससे कुछ ही ऊँचाई पर घोंसला बना कर रहती है और ४-५ अंडे देती है। यह ऋतु के अनुसार स्थान का परिवर्त्तन करती है। इसका स्वर बहुत ही मधुर होता है और इसी लिये लोग इसे पालते हैं। कहीं कहीं लोग इसको लड़ाते भी हैं। जंगलों आदि में यह दिखाई तो बहुत कम पड़ती है, पर इसका मनोहर शब्द प्रायः सुनाई पड़ता है। फ़ारसी और उर्दू के कवि इसे फूलों के प्रेमी नायक के स्थान में मानते हैं। (उर्दूवाले इस शब्द को पुल्लिंग मानते हैं।)

बुलबुलचश्म–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक प्रकार की सहिली (पक्षी)।

बुलबुलबाज़–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो बुलबुल पालता या लड़ाता हो। बुलबुल का खिलाड़ी या शौक़ीन।

बुलबुलबाज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बुलबुल पालने या लड़ाने का काम। बुलबुलबाज़ का काम।

बुलबुला–संज्ञा पुं० [सं० बुद्बुद] पानी का बुल्ला। बुदबुदा।

बुलवाना–क्रि० स० [हिं० बुलाना का प्रे० रूप] बुलाने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को बुलाने में प्रवृत्त करना।

बुलाक–संज्ञा पुं० [तु०] वह लंबोतरा या सुराहीदार मोती जिसे स्त्रियाँ प्रायः नथ में या दोनों नथनों के बीच के परदे में पहनती हैं।

बुलाकी–संज्ञा पुं० [तु० बुलाक़] घोड़े की एक जाति। उ०—मुश्की और हिरमंजि इराक़ी। तुरकी कंगी भुथोर बुलाक़ी।—जायसी।

बुलाना–क्रि० स० [हिं० बोलना का सक० रूप] (१) आवाज देना। पुकारना। (२) अपने पास आने के लिये कहना। (३) किसी को बोलने में प्रवृत्त करना। बोलने में दूसरे को लगाना।

बुलावा–संज्ञा पुं० [हिं० बुलाना+आवा (प्रत्य०)] बुलाने की क्रिया या भाव। निमंत्रण।

क्रि० प्र०—आना।—जाना। भेजना।

बुलाह–संज्ञा पुं० [सं० वोल्लाह] वह घोड़ा जिसकी गरदन और पूँछ के बाल पीले हों। (अश्ववैद्यक)

बुलि–संज्ञा स्त्री० [डिं०] योनि।

बुलिन–संज्ञा स्त्री० [अं० बुलियन] एक विशेष प्रकार का रस्सा जो चौकोर पाल के लग्घे में बाँधा जाता है। (लश०)

बुलेली–संज्ञा पुं० [तामिल] मँझोले आकार का एक पेड़ जो मैसूर और पूर्वी घाट में अधिकता से होता है। इसकी लकड़ी सफ़ेद और चिकनी होती है और तस्वीरों के चौखटे, मेज़, कुरसियाँ आदि बनाने के काम में आती है। इसके बीजों से एक प्रकार का तेल निकलता है जो मशीनों आदि के पुरज़ों में डाला जाता है।

बुलौवा–संज्ञा पुं० दे० "बुलावा"।

बुल्लन–संज्ञा पुं० [देश०] (१) मुँह। चेहरा। (दलाली)। (२) गिरई की तरह की पर भूरे रंग की एक मछली जिसके मूँछें नहीं होतीं।

संज्ञा पुं० [अनु० या हिं० बुलबुला] पानी का बुलबुला। बुद्बुद।

बुस–संज्ञा पुं० [सं० तुष] अनाज आदि के ऊपर का छिलका। भूसी।

बुहरी–संज्ञा स्त्री० दे० "बहुरी"।

बुहारना–क्रि० स० [सं० बहुकर+ना (प्रत्य०)] झाड़ू से जगह साफ़ करना। झाड़ू देना। झाड़ना। उ०—द्वार बुहारत फिरत अष्ट सिधि। कौरेन सथिया चीतति नवनिधि।—सूर।

बुहारा–संज्ञा पुं० [हिं० बुहारना] ताड़ की सींकों का बना हुआ बड़ा झाड़ू।

बुहारी–संज्ञा स्त्री० [सं० बहुकरी हिं० बुहारना+ई (प्रत्य०)] झाड़ू। बढ़नी। सोहनी।

बूँच, बूँछ–संज्ञा स्त्री० [हिं० गूँछ] एक प्रकार की मछली। दे० "गूँछ"।

बूँद–संज्ञा स्त्री० [सं० बिंदु] (१) जल या और किसी तरल पदार्थ का वह बहुत ही थोड़ा अंश जो गिरने आदि के समय प्रायः छोटी सी गोली या दाने आदि का रूप धारण कर लेता है। कतरा। टोप। जैसे, पानी की बूँद, ओस की बूँद, खून की बूँद, पसीने की बूँद।

मुहा०—बूँदें गिरना या पड़ना=धीमी वर्षा होना। थोड़ा थोड़ा पानी बरसना। बूँद भर=बहुत थोड़ा।

यौ०—बूँदाबाँदी।

(२) वीर्य्य। (३) एक प्रकार का रंगीन देशी कपड़ा जिसमें बूँदों के आकार की छोटी छोटी बूटियाँ बनी होती हैं और जो स्त्रियों के लहँगे आदि बनाने के काम में आता है।

वि० बहुत अच्छा या तेज़। (इस अर्थ में इसका व्यवहार केवल तलवार, कटार आदि काटनेवाले हथियारों और शराब के संबंध में होता है।)

बूँदा–संज्ञा पुं० [हिं०] (१) बड़ी टिकुली। (२) सुराहीदार मणि वा मोती जो कान वा नथ में पहना जाता है।

बूँदाबाँदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बूँद+अनु० बाँद] अल्प वृष्टि। हलकी या थोड़ी वर्षा।

बूँदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बूँद+ई (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार की मिठाई जो अच्छी तरह फेंटे हुए बेसन को झरने में से बूँद बूँद टपका कर और घी में छान कर बनाई जाती है। यह मीठी और नमकीन दो प्रकार की होती है। नमकीन बूँदी बनाने के लिये पहले ही बेसन को घोलते समय उसमें नमक, मिर्च आदि मिला देते हैं; पर मीठी बूँदी बनाने के लिये बेसन घोलते समय उसमें और कुछ भी नहीं मिलाया जाता। उसे घी में छानकर शीरे में डुबा देते हैं और तब फिर काम में लाते हैं। छोटे दानों की बूँदी का लड्डू भी बाँधते हैं जो बूँदी का लड्डू कहलाता है। ऐसेही लड्डू पर जब कंद या दाने का चूर लपेट देते हैं तब वह मोतीचूर का लड्डू कहलाता है। बुँदिया। (२) वर्षा के जल की बूँद।

क्रि० प्र०—पड़ना।

बू–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बास। गंध। महक। (२) दुर्गंध। बदबू।

क्रि० प्र०—आना।—निकलना।

बूआ–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) पिता की बहन। फूफी। (२) बड़ी बहन। (३) स्त्रियों का परस्पर आदरसूचक संबोधन। (मुसल०)। (४) एक प्रकार की मछली जो भारत की बड़ी बड़ी नदियों में पाई जाती है। इसका मांस रूखा होता है। ककसी।

बूई–संज्ञा पुं० [देश०] ऊमरी और खार आदि की जाति का एक प्रकार का पौधा जो दिल्ली से सिंध तक और दक्षिण भारत में पाया जाता है। इसे जलाकर सज्जीखार निकालते हैं। कौवा।

बूक–संज्ञा पुं० [देश०] माजूफल की जाति का एक प्रकार का

बड़ा वृक्ष जो पूर्वी हिमालय में ५००० से ९००० फ़ुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह प्राय: ७५ से १०० हाथ तक ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी यदि सूखे स्थान में रहे तो बहुत दिनों तक ख़राब नहीं होती। इस लकड़ी से खंभे, चौखटे और धरनें आदि बनाई जाती हैं। दारजिलिंग के आस पास के जंगलों में इससे बढ़कर उपयोगी और कोई वृक्ष कदाचित् ही होता हो। वहाँ इसकी पत्तियों से चमड़ा भी सिझाया जाता है। सलसी।

संज्ञा पुं० [हिं० बकोटा] हाथ के पंजों की वह स्थिति जो उँगलियों को बिना हथेली से लगाए किसी वस्तु को पकड़ने, उठाने या लेने के समय होती है। चंगुल। बकोटा। उ०—पुनि सँधान बहु आनहिं परसहिं बूकहि बूक। करे सँवार गुसाईं जहाँ परी कछु चूक।—जायसी।

बूकना–क्रि० स० [सं० वृक्ण=तोड़ा फोड़ा हुआ] (१) सिल और बट्टे की सहायता से किसी चीज़ को महीन पीसना। पीस कर चूर्ण करना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(२) अपने को अधिक योग्य प्रमाणित करने के लिये गढ़ गढ़ कर बातें करना। जैसे, क़ानून बूकना, अँगरेज़ी बूकना।

बूका–संज्ञा पुं० [देश०] वह भूमि जो नदी के हटने से निकल आती है। गंग-बरार।

संज्ञा पुं० दे० "बुक्का"।

बूगा†–संज्ञा पुं० [देश०] भूसा।

बूच–संज्ञा पुं० [अं० बूच] बड़ी मेख। (लश०)

मुहा०—बूच मारना=गोले या गोली आदि की मार से होनेवाले छेद को डाट लगा कर बंद करना।

संज्ञा पुं० [अं० बंच=गुच्छा] कपड़े काग़ज़ या चमड़े आदि का वह टुकड़ा जो बंदूक आदि में गोली या बारूद को यथास्थान स्थिर रखने के लिये उसके चारों ओर लगाया जाता है। (लश०)

बूचड़–संज्ञा पुं० [अं० बुचर] वह जो पशुओं का मांस आदि बेचने के लिये उनकी हत्या करता है। कसाई।

यौ०—बूचड़खाना।

बूचड़खाना–संज्ञा पुं० [हिं० बूचड़+फ़ा० खाना] वह स्थान जहाँ पशुओं की हत्या होती है। कसाई-बाड़ा।

बूचा–वि० [सं० बुस=विभाग करना] (१) जिसके कान कटे हुए हों। कनकटा। (२) जिसके ऐसे अंग कट गए हों, अथवा न हों, जिनके कारण वह कुरूप जान पड़ता हो। जैसे,—पत्तियाँ झड़ जाने से यह पेड़ बूचा मालूम होता है।

बूची–वि० [हिं० बूचा] वह भेड़ जिसके कान बाहर निकले हुए न हों, बल्कि जिसके कान के स्थान में केवल छोटा सा छेद ही हो। गुजरी।

बूज़न–संज्ञा पुं० [फ़ा०] बंदर। (कलंदर)

बूजना–क्रि० स० [?] छिपाना। धोखा देना। उ०—घाडाबूजी भगति है लोहर बाडा माहिं। परगट पेड़ा इत बसैं तहँ संत काहे को जाहिं।—दादू।

बूझ–संज्ञा स्त्री० [सं० बुद्धि] (१) समझ। बुद्धि। अक़्ल। ज्ञान। (२) पहेली।

बूझन*†–संज्ञा स्त्री० दे० "बूझ"।

बूझना–क्रि० स० [हिं० बूझ (बुधि)] (१) समझना। जानना। जैसे, किसी के मन की बात बूझना, पहेली बूझना। (२) पूछना। प्रश्न करना।

बूट–संज्ञा पुं० [सं० विटप; हिं० बूटा] (१) चने का हरा पौधा। (२) चने का हरा दाना। (३) वृक्ष। पेड़। पौधा। उ०—सीता राम लषन निवास वास मुनिन को सिद्धि साधु साधक विवेक बूट सों।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का अँगरेज़ी ढंग का जूता जिससे पैर के गट्टे तक ढँक जाते हैं।

बूटनि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बहूटी] बीरबहूटी नाम का कीड़ा। उ०—आछी भूमि हरी हरी आछी बूटनि की रेंगनि काम करोरनि।—हरिदास।

बूटा–संज्ञा पुं० [सं० विटप] (१) छोटा वृक्ष। पौधा। (२) एक छोटा पौधा जो पश्चिमी हिमालय में गढ़वाल से अफ़-ग़ानिस्तान तक पाया जाता है। (३) फूलों या वृक्षों आदि के आकार के चिह्न जो कपड़ों या दीवारों आदि पर अनेक प्रकार से (जैसे, सूत, रेशम, रंग आदि की सहायता से) बनाए जाते हैं। बड़ी बूटी।

यौ०—बेल बूटा=किसी चीज़ पर बनाए हुए फूल पत्ते। बूटेदार=जिस पर बूटे बने हों।

बूटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बूटा का स्त्री० रूप] (१) वनस्पति। वनौषधि। जड़ी। (२) भाँग। भंग। (मुहा० के लिये दे० "भंग"।) (३) एक पौधा जिसके रेशे से रस्सियाँ बनाई जाती हैं। ऊदल। गुलबादला। (४) फूलों के छोटे चिह्न जो कपड़ों आदि पर बनाए जाते हैं। छोटा बूटा। (५) खेलने के ताश के पत्तों पर बनी हुई टिक्की।

बूड़, बूड़न†–संज्ञा स्त्री० [अनु० बुड़बुड़=डूबने का शब्द] जल की इतनी गहराई जिसमें आदमी डूब सके। डुबाव।

बूड़ना–क्रि० स० [सं० बुड=डूबना] (१) डूबना। निमज्जित होना। ग़र्क़ होना। उ०—(क) बूड़े सकल समाज चढ़े जो प्रथमहिं मोह बस।—तुलसी। (ख) बूड़त भव निधि नाव निबाहक। निगुणिन के तुमही गुणगाहक।—रघुराजसिंह।

(२) लीन होना। निमग्न होना। गूढ़ विचार करना। उ०—दशा गुनि गौरि की बिलोकि गेह वारे लो एरी सखी रोग

ठहराय राख्यो सबहू । बूड़ि बूड़ि बेदन सों एक ते सरस एक हारें नाहिं उपचार करत हैं अबहू ।—रघुनाथ ।

संयो० क्रि०—जाना ।

बूड़ा†-संज्ञा पुं० [हिं० डूबना] वर्षा आदि के कारण होनेवाली जल की बाढ़ ।

क्रि० प्र०—आना ।

बूढ़‡-वि० दे० "बुड्ढा" ।

संज्ञा पुं० [?] (१) लाल रंग । (२) बीर बहूटी । उ०—रस कैसे रुख ससिमुखी हँसि हँसि बोलति बैन । गूढ़ मान मन क्यों रहै भये बूढ़ रंग नैन ।—बिहारी ।

बूढ़ा-संज्ञा पुं० दे० "बुड्ढा" ।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० बुड्ढा] बुड्ढी स्त्री ।

बूत-संज्ञा पुं० दे० "बूता" ।

बूता-संज्ञा पुं० [हिं० बित्त] बल । पराक्रम । शक्ति । उ०—(क) देव कृपा कजरा दृग की पलकैं न उठैं जिहिँ सों निज बूते ।—सेवक । (ख) कहिन बड़े दोउ राजा होहीं । ऐसे बूत दसे सब तोहीं ।—जायसी ।

बूथड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] आकृति । चेहरा । सूरत । शकल । (दलाल)

बूना-संज्ञा पुं० [देश०] चनार नाम का वृक्ष । दे० "चनार" ।

बूम-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह लट्ठा जो जहाज़ों के पाल के नीचे के भाग में, उसको फैलाए रखने के लिये लगाया जाता है । (२) बहुत से लट्ठों आदि को बाँध कर तैयार की हुई वह रोक जो नदी में लकड़ियों आदि को बह जाने से रोकने के लिये लगाई जाती है । (३) लट्ठों या तारों आदि से बनाई हुई वह रोक जो बंदरों में इसलिये लगा दी जाती है जिसमें शत्रु के जहाज़ अंदर न आ सकें । (४) वह लट्ठा जो नदी आदि में नावों को छिछले पानी से बचाने और ठीक मार्ग दिखलाने के लिये गाड़ा रहता है । (लश०)

बूर-संज्ञा पुं० [देश०] पश्चिम भारत में होनेवाली एक प्रकार की घास जिसके खाने से गौओं भैंसों आदि का दूध और दूसरे पशुओं का बल बहुत बढ़ जाता है । इसमें एक प्रकार की गंध होती है और यदि गौएँ आदि इसे अधिक खाती हैं तो उनके दूध में भी वही गंध आ जाती है । यह दो प्रकार की होती है, एक सफ़ेद और दूसरी लाल । यह सुखाकर १०-१५ वर्षों तक रखी जा सकती है । खोई ।

बूरना*‡-क्रि० अ० दे० "डूबना" ।

बूरा-संज्ञा पुं० [हिं० भूरा] (१) कच्ची चीनी जो भूरे रंग की होती है । शक्कर । (२) साफ़ की हुई चीनी । (३) महीन चूर्ण । सफ़ूफ़ ।

बूरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की बहुत छोटी बनस्पति जो पौधों, उनके तनों, फूलों और पत्तों आदि पर उत्पन्न हो जाती है और जिसके कारण वे पदार्थ सड़ने या नष्ट होने लगते हैं । अंगूर के लिये यह विशेष प्रकार से घातक होती है । इसकी गणना वृक्षों आदि के रोगों में होती है ।

बूला-संज्ञा पुं० [देश०] पयाल का बना हुआ जूता । लतड़ी ।

बृच्छ*†-संज्ञा पुं० दे० "वृक्ष" ।

बृटिश-वि० दे० "ब्रिटिश" ।

बृष-संज्ञा पुं० [सं० वृष] (१) साँड़ । बैल । (२) मोरपंख । (३) इंद्र । उ०—हमरे आवत रिस करत अस तुम गए भुटाइ । पठइ पत्रिका बान कर लखि बृष रहे चुपाइ ।—विश्राम । (४) बारह राशियों में से दूसरी राशि । दे० "वृष" ।

बृहती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटाई । बरहंटा । बनभंटा । (२) विश्वावसु गंधर्व की वीणा का नाम । (३) उत्तरीय वस्त्र । उपरना । (४) कंटकारी । भटकटैया । (५) सुश्रुत के अनुसार एक मर्मस्थान जो रीढ़ के दोनों ओर पीठ के बीच में है । यदि इस मर्मस्थान में चोट लगे तो बहुत अधिक रक्त जाता है और अंत में मृत्यु हो जाती है । (६) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में नौ अक्षर होते हैं । (७) वाक्य ।

बृहतीकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का काया-कल्प ।

बृहतीपति-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति ।

बृहत्-वि० [सं०] (१) बहुत बड़ा । विशाल । बहुत भारी । (२) दृढ़ । बलिष्ठ । (३) पर्याप्त । (४) उच्च । ऊँचा । (स्वर आदि) ।

संज्ञा पुं० एक मरुत् का नाम ।

बृहत्कंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णुकंद । (२) गाजर ।

बृहत्तृण-संज्ञा पुं० [सं०] बाँस ।

बृहत्त्वच-संज्ञा पुं० [सं०] नीम का वृक्ष ।

बृहत्पत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी कंद । (२) सफ़ेद लोध । (३) कासमर्द ।

बृहत्पर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] सफ़ेद लोध ।

बृहत्पाटलि-संज्ञा पुं० [सं०] धतूरे का पेड़ ।

बृहत्पाद-संज्ञा पुं० [सं०] वट वृक्ष । बड़ का पेड़ ।

बृहत्पाली-संज्ञा पुं० [सं० बृहत्पालिन्] बनजीरा ।

बृहत्पीलु-संज्ञा पुं० [सं०] महापीलु । पहाड़ी अखरोट ।

बृहत्पुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेठा । (२) केले का वृक्ष ।

बृहत्पुष्पी-संज्ञा स्त्री० [सं०] सन का पेड़ ।

बृहत्फल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिचिंडा । चिचड़ा । (२) कुम्हड़ा । (३) कटहल । (४) जामुन ।

बृहत्फला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तितलौकी । (२) महेंद्र वारुणी । (३) कुम्हड़ा । (४) जामुन ।

बृहदारण्यक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध उपनिषद् जो दस मुख्य उपनिषदों के अंतर्गत है । यह शतपथ ब्राह्मण के

मुख्य उपनिषदों में से और उसके अंतिम ६ अध्यायों या ५ प्रपाठकों में है।

बृहद्–वि० दे० "बृहत्"।

संज्ञा पुं० [सं०] एक अग्नि का नाम।

बृहद्ग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] करुष नामक प्राचीन देश।

बृहद्दंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दंती जिसके पत्ते एरंड के पत्तों के समान होते हैं। दे० "दंती"।

बृहद्दल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफ़ेद लोध। (२) सप्तपर्ण नामक वृक्ष।

बृहद्दली–संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू। लज्जावंती।

बृहद्बला–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाबला। (२) सफ़ेद लोध। (३) लजालू। लज्जावंती।

बृहद्बीज–संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा।

बृहद्भंडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रायमाणा लता।

बृहद्भट्टारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

बृहद्भानु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) चित्रक। चीता वृक्ष। (३) सूर्य। (४) भागवत के अनुसार सत्यभामा के पुत्र का नाम।

बृहद्रथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) सामवेद का एक अंश। (३) यज्ञपात्र। (४) शतधन्वा के पुत्र का नाम। (५) देवराज के पुत्र का नाम। (६) मगध देश के राजा जरासंध के पिता का नाम।

बृहद्वर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] सोना मक्खी। स्वर्णमाक्षिक।

बृहद्वल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] करेला।

बृहद्वारुणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महेंद्रवारुणी नामक लता।

बृहन्नल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन का एक नाम। (२) बाहु। बाँह।

बृहन्नला–संज्ञा स्त्री० [सं०] अर्जुन का उस समय का नाम जिस समय वे अज्ञातवास में स्त्री के वेश में रहकर राजा विराट की कन्या को नाच गाना सिखाते थे।

बृहन्नारायण–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद का नाम जिसे याज्ञिकी उपनिषद् भी कहते हैं।

बृहन्निंब–संज्ञा पुं० [सं०] महानिंब।

बृहस्पति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध वैदिक देवता जो अंगिरस के पुत्र और देवताओं के गुरु माने जाते हैं। इनकी माता का नाम श्रद्धा और स्त्री का नाम तारा था। ये सभी विषयों के पूर्ण पंडित थे और शुक्राचार्य के साथ इनकी स्पर्धा रहती थी। ऋग्वेद के ११ सूक्तों में इनकी स्तुति भरी हुई है। उनमें कहा गया है कि इनके सात मुँह, सुंदर जीभ, पैने सींग और सौ पंख हैं और इनके हाथ में धनुष-बाण और सोने का परशु रहता है। एक स्थान में यह भी कहा गया है कि ये अंतरिक्ष के महातेज से उत्पन्न हुए थे और इन्होंने सारा अंधकार नष्ट कर दिया था। यह भी कहा गया है कि ये देवताओं के पुरोहित हैं और इनके बिना यज्ञ का कोई कृत्य पूर्ण नहीं होता। ये बुद्धि और वक्तृत्व के देवता तथा इंद्र के मित्र और सहायक माने गए हैं। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इनका जो वर्णन दिया है, वह अग्नि के वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। वाचस्पति और सदसस्पति भी इनके नाम हैं। कई स्मृतियाँ और चार्वाक मत के ग्रंथ इन्हीं के बनाए हुए माने जाते हैं। पुराणानुसार इनकी स्त्री तारा को सोम (चंद्रमा) उठा ले गया था जिसके कारण सोम से इनका घोर युद्ध हुआ था। अंत में ब्रह्मा ने बृहस्पति को तारा दिलवा दी। पर तारा को सोम से गर्भ रह चुका था जिसके कारण उसे एक पुत्र हुआ जिसका नाम बुध रखा गया था। वैदिक काल के उपरांत इनकी गणना नव ग्रह में होने लगी।

पर्य्या०—सुराचार्य। गीस्पति। धिषण। गुरु। जीव। आंगिरस। वाचस्पति। चारु। द्वादशरश्मि। गिरीश। दिदिव। वाक्पति। वचसांपति। वागीश। द्वादशकर। गीरथ।

(२) सौर जगत् का पाँचवाँ ग्रह जो सूर्य से ४४,३०,००,००० मील की दूरी पर है और जिसका परिभ्रमण काल लगभग ४३३३ दिन है। इसका व्यास ९३,००० मील है। यह सब से बड़ा ग्रह है और इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से ११ गुना बड़ा है। यह बहुत चमकीला भी है और शुक्र को छोड़कर और कोई ग्रह चमक में इससे बढ़ कर नहीं है। अपने अक्ष पर यह लगभग १० घंटे में घूमता है। दूरबीन से देखने से इसके पृष्ठ पर कुछ समानांतर रेखाएँ खिंची हुई दिखाई देती हैं। अनुमान किया जाता है कि यह ग्रह बादलों की मेखलाओं से घिरा हुआ है। यह अभी बालक-ग्रह माना जाता है; अर्थात् इसका निर्माण हुए अभी अधिक समय नहीं बीता है। अभी इस की अवस्था सूर्य की अवस्था से कुछ कुछ मिलती जुलती है और पृथ्वी की अवस्था तक इसे पहुँचने में अभी बहुत समय लगेगा। यह अभी स्वयं प्रकाशमान नहीं है और केवल सूर्य के प्रकाश से ही चमकता है। इसका तल भी अभी पृथ्वीतल के समान ठोस नहीं है। यह चारों ओर अनेक प्रकार के वाष्पों के मंडल से घिरा हुआ है। इसके साथ कम से कम पाँच उपग्रह या चंद्रमा हैं जिनमें से तीन उपग्रह हमारे चंद्रमा से बड़े हैं और दो छोटे।

बृहस्पतिस्मृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] अंगिरा के पुत्र बृहस्पति ऋषि कृत एक स्मृति।

बेंग–संज्ञा पुं० [सं० भेक] मेंढक। उ०—जैसे व्याल बेंग को

ढूके बेँग पखारी ताके हो। जैसे सिंह आपु मुख निरखै परै कूप में दाके हो।—सूर।

बेंगत†–संज्ञा पुं० [देश०] वह बीज जो खेतिहरों को उधार दिया जाता है और जिसके बदले में फ़सल होने पर तौल में उससे कुछ अधिक अन्न मिलता है। बेग। बीट।

बेंगनकुटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] अबाली नाम का पक्षी। दे० "अबाली"।

बेंच–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) लकड़ी, लोहे या पत्थर आदि की बनी हुई एक प्रकार की चौकी जो चौड़ी कम और लंबी अधिक होती है। इस पर बराबर बराबर कई आदमी एक साथ बैठ सकते हैं। कभी कभी इसमें पीछे की ओर से ऐसी योजना भी कर दी जाती है जिससे बैठनेवाले की पीठ को सहारा भी मिल सके। (२) सरकारी न्यायालय के न्याय-कर्त्ता।

बेंचना–क्रि० स० दे० "बेचना"।

बेंट, बेंठ–संज्ञा स्त्री० [देश०] औज़ारों आदि में लगा हुआ काठ या इसी प्रकार की और किसी चीज़ का दस्ता। मूठ।

बेंड़†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह भेड़ा जो भेड़ों के झुंड में बच्चे उत्पन्न करने के लिए छूटा रहता है। (गड़रिये)। (२) नगद रुपया पैसा। सिक्का। (दलाल) (३)। पड़ाव। (क०)

संज्ञा स्त्री० [हिं० बेड़ा=आड़ा] वह चीज़ जो किसी भार को नीचे गिरने से रोकने के लिये उसके नीचे लगाई जाय। चाँड़। उ०—हौं नल नील आज हौं देउँ समुंद महि मेड। कटक शाह कर टेकों है सुमेर रण बेँड।—जायसी।

बेंड़ा†–संज्ञा पुं० दे० "बेँवड़ा"।

वि० [हिं० आड़ा] (१) आड़ा। तिरछा। (२) कठिन। मुश्किल। टेढ़ा।

बेंड़ी–संज्ञा स्त्री० [देश०] बाँस की वह टोकरी जिसमें चार रस्सियाँ बँधी रहती हैं और जिसकी सहायता से दो आदमी मिलकर किसी गड्ढे का पानी उठाकर खेत आदि सींचते हैं। डलिया। दौरी।

बेंड़ीमसकली–संज्ञा स्त्री० [देश०] हँसिया के आकार का लोहे का एक औज़ार जिसमें काठ का दस्ता लगा रहता है। इससे बरतनों पर जिला की जाती है।

बेंढ़–संज्ञा पुं० [देश०] खंभे आदि के ऊपरी पतले भाग में पहनाया हुआ किसी चीज़ का पतला चौकोर पत्तर या इसी प्रकार का और कोई पदार्थ जिसका उपयोग यह जानने के लिये होता है कि हवा किस ओर बह रही है। यह चारों ओर सहज में घूम सकता है और सदा हवा के रुख पर घूमता रहता है। फरहरा।

बेंत–संज्ञा पुं० [सं० वेतस्] (१) एक प्रसिद्ध लता जो ताड़ या खजूर आदि की जाति की मानी जाती है। यह पूर्वी एशिया और उसके आस पास के टापुओं में जलाशयों के पास बहुत अधिकता से होती है। इसके पत्ते बाँस के पत्तों के समान और कँटीले होते हैं और उन्हीं के सहारे यह लता ऊँचे ऊँचे पेड़ों पर चढ़ती है। इसकी छोटी बड़ी अनेक जातियाँ हैं। इसके डंठल बहुत मज़बूत और लचीले होते हैं और प्रायः छड़ियाँ, टोकरियाँ तथा इसी प्रकार के दूसरे सामान बनाने के काम में आते हैं। इन डंठलों के ऊपर की छाल कुर्सियाँ, मोढ़े, पलंग आदि बुनने के काम में भी आती है। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों आदि का विश्वास था कि बेंत फूलता या फलता नहीं, पर वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। इसमें गुच्छों में एक प्रकार के छोटे छोटे फल लगते हैं जो खाए जाते हैं। इसकी जड़ और कोमल पत्तियाँ भी तरकारी की तरह खाई जाती हैं। वैद्यक में इसे शीतल और सूजन, कफ, बवासीर, व्रण, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त और पथरी आदि का नाशक माना है।

पर्य्या०—वेतस। निचुल। वंजुल। दीर्घपत्रक। कलन। मंजरी नम्र। वानीर। विफल। रथ। शीत। गंधपुष्पक। सुषेण। नीरप्रिय। तोयकाम। अभ्रपुष्पक।

(२) बेँत के डंठल की बनी हुई छड़ी।

मुहा०—बेंत की तरह काँपना=थरथर काँपना। बहुत अधिक डरना। जैसे,—यह लड़का आपको देखते ही बेंत की तरह काँपता है।

बेंदली†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बिंदी] माथे पर लगाने की बिंदी। टिकली।

बेंदा–संज्ञा पुं० [सं० बिंदु] (१) माथे पर लगाने का गोल तिलक। टीका। (२) माथे पर पहनने का स्त्रियों का एक आभूषण। बेंदी। बिंदी। उ०—नाना विधि शृंगार बनाए बेंदा दीन्हों भाल।—सूर। (३) माथे पर लगाने की बड़ी गोल टिकली। (४) इस आकार और प्रकार का माथे पर पहनने का एक आभूषण।

बेंदी–संज्ञा स्त्री० [सं० बिंदु, हिं० बिंदी] (१) टिकली। बिंदी। (२) शून्य। सुन्ना। उ०—कहत सबै बेंदी दिए आँक दस गुनो होत। तिय लिलार बेंदी दिए अगनित बढ़त उदोत —बिहारी। (३) दावनी या बेंदी नाम का गहना जिसे स्त्रियाँ माथे पर पहनती हैं। उ०—(क) कबहुक सेज रचत बेंदी कर हृदय होम घृत नैन।—सूर। (ख) बेंदी सँवारन मिस पाइ लगी। चतुर नायकहू पाग मसकी मन ही मन रीझे गुप्त भेद प्रीति तन जागी।—सूर। (ग) बेंदी भाल नैन नित आँजति निरखि रहति तनु गोरी।—सूर। (४) सरो के पेड़ का सा बेलबूटा।

बेंवड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बेंड़ा=आड़ा] बंद किवाड़े के पीछे लगाने

की लकड़ी। अरगल। गज। ब्योंड़ा। दे० "अरगल"।

बेँवताना–क्रि० स० [हिं० ब्योंतना का प्रे० रूप] ब्योंतने का काम दूसरे से कराना। सिलाने के लिए किसी से कपड़ा नपवाना।

बे–अव्य० [सं० वि। मि० फ़ा० बे] बिना। बग़ैर। (इसका प्रयोग प्रायः फ़ारसी आदि शब्दों के साथ यौगिक में होता है। जैसे, बेग़ैरत, बेइज़्ज़त।)

अव्य० [हिं० हे] छोटों के लिए एक संबोधन शब्द जो प्रायः अशिष्टतासूचक माना जाता है।

मुहा०—**बे ते करना**=किसी को तुच्छ समझते हुए उसके साथ अशिष्टतापूर्वक बातें करना।

बेअंत*†–क्रि० वि० [हिं० बे=बगैर+सं० अंत] जिसका कोई अंत न हो। अनंत। असीम। बेहद।

बेअकल–वि० [फ़ा० बे+अ० अक़्ल] मूर्ख। नासमझ। बेवक़ूफ़।

बेअकली–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बे+ अ० अक़्ल] मूर्खता। बेवक़ूफ़ी।

बेअदब–वि० [फ़ा० बे+अ० अदब] जो किसी का अदब न करता हो। जो बड़ों का आदर-सम्मान न करे।

बेअदबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बे+अ० अदब] बेअदब होने का भाव। बड़ों का आदर-सम्मान न करना। गुस्ताख़ी। शोख़ी।

बेआब–वि० [फ़ा० बे+अ० आब] (१) जिसमें आब (चमक) न हो। (२) जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो।

बेआबरू–वि० [फ़ा०] जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो। बेइज़्ज़त।

बेआबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बे+अ० आब] बेआब होने का भाव। मलिनता। निस्तेजता।

बेआरा†–संज्ञा पुं० [देश०] एक में मिला हुआ जौ और चना।

बेओनी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] जुलाहों का एक औज़ार जो प्रायः कंघी के आकार का होता और ताने के सूत के बीच में रहता है।

बेइंसाफ़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] इंसाफ़ का अभाव। अन्याय।

बेइज़्ज़त–वि० [फ़ा० बे+अ० इज्जत] (१) जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो। अप्रतिष्ठित। (२) जिसका अपमान किया गया हो। अपमानित।

बेइज़्ज़ती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) अप्रतिष्ठा। (२) अपमान।

बेइलि†–संज्ञा पुं० दे० "बेला"। उ०—मौलसिरी बेइलि अउ करना। सबइ फूल फूले बहु बरना।—जायसी।

बेइल्म–वि० [फ़ा० बे+अ० इल्म] जो कोई विद्या न जानता हो। जो कुछ पढ़ा लिखा न हो।

बेईमान–वि० [फ़ा०] (१) जिसका ईमान ठीक न हो। जिसे धर्म्म का विचार न हो। अधर्म्मी। (२) जो विश्वास के योग्य न हो। अविश्वसनीय। (३) जो अन्याय, कपट या और किसी प्रकार का अनाचार करता हो।

बेईमानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बे+अ० ईमान] बेईमान होने का भाव।

बेउँगा‡–संज्ञा पुं० [देश०] बाँस का वह चोंगा जिसे कंबल की पटिया बुनते समय ताने की साँधी अलग करने के लिए ताने में रखते हैं।

बेउज़्र–वि० [फ़ा० बे+अ० उज़्र] जो आज्ञापालन अथवा और कोई काम करने में कभी किसी प्रकार की आपत्ति न करे।

बेक़दर–वि० [फ़ा०] जिसकी कोई कदर या प्रतिष्ठा न हो। बेइज़्ज़त। अप्रतिष्ठित।

बेक़दरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेक़दर होने का भाव। बेइज़्ज़ती। अप्रतिष्ठा।

बेकरा†–संज्ञा पुं० [देश०] पशुओं का खुरपका नामक रोग। खुरहा।

बेक़रार–वि० [फ़ा०] जिसे शांति या चैन न हो। घबराया हुआ। व्याकुल। विकल।

बेक़रारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेक़रार होने का भाव। घबराहट। बेचैनी। व्याकुलता।

बेकल*†– वि० [सं० विकल] व्याकुल। विकल। बेचैन।

बेकली–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेकल+ई (प्रत्य०)] (१) बेकल होने का भाव। घबराहट। बेचैनी। व्याकुलता। (२) स्त्रियों का एक रोग जिसमें उनकी धरन या गर्भाशय अपने स्थान से कुछ हट जाता है और जिसमें रोगी को बहुत अधिक पीड़ा होती है।

बेकस–वि० [फ़ा०] (१) निःसहाय। निराश्रय। (२) ग़रीब। मुहताज। दीन। (३) मातृ-पितृ-हीन। बिना माँ बाप का। अनाथ। यतीम।

बेकहा–वि० [हिं० बे+कहना] जो किसी का कहना न माने। किसी की आज्ञा या परामर्श को न माननेवाला।

बेक़ानूनी–वि० [फ़ा० बे+अ० क़ानून] जो क़ानून या क़ायदे के ख़िलाफ़ हो। नियमविरुद्ध।

बेक़ाबू–वि० [फ़ा० बे+अ० क़ाबू] (१) जिसका अपने ऊपर क़ाबू न हो। विवश। लाचार। (२) जिस पर किसी का क़ाबू न हो। जो किसी के वश में न हो।

बेकाम–वि० [हिं० बे+काम] जिसे कोई काम न हो। निकम्मा। निठल्ला।

क्रि० वि० व्यर्थ। निरर्थक। बे-मतलब। निष्प्रयोजन।

बेक़ायदा–वि० [फ़ा० बे+अ० क़ायदा] क़ायदे के ख़िलाफ़। नियमविरुद्ध।

बेकार–वि० [फ़ा०] (१) जिसके पास करने के लिए कोई काम न हो। निकम्मा। निठल्ला। (२) जो किसी काम में न आ सके। जिसका कोई उपयोग न हो सके। निरर्थक। व्यर्थ।

†क्रि० वि० व्यर्थ। बिना किसी काम के। (पूरब)

बेकारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेकार होने का भाव। ख़ाली या निरुद्यम होने का भाव।

बेकार्‌यो*†–संज्ञा पुं० [हिं० बिकारी] किसी को ज़ोर से बुलाने का शब्द । जैसे, अरे, हो आदि । उ०—बेकारयो दै जान कहावत जान पन्यों की कहा परी बाद ।—हरिदास ।

बेकसूर–वि० [फ़ा० बे+अ० क़ुसूर] जिसका कोई कसूर न हो । निरपराध ।

बेख–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] जड़ । मूल ।

*†–संज्ञा पुं० [सं० वेष] (१) भेस । स्वरूप । (२) सवाँग । नक़ल ।

बेखटक–वि० [हिं० बे+हिं० खटका] बिना किसी प्रकार के खटके के । बिना किसी प्रकार की रुकावट या असमंजस के । निस्संकोच ।

क्रि० वि० मन में कोई खटका किए बिना । बिना आगा पीछा किए । निस्संकोच ।

बेख़ता–वि० [फ़ा० बे+अ० खता=कसूर] (१) जिसका कोई अपराध न हो । बेकसूर । निरपराध । (२) जो कभी ख़ाली न जाय । अमोघ । अचूक ।

बेख़बर–वि० [फ़ा०] (१) जिसको किसी बात की ख़बर न हो । अनजान । नावाक़िफ । (२) बेहोश । बेसुध ।

बेख़बरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बेख़बर होने का भाव । अज्ञानता । (२) बेहोशी ।

बेखुर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जिसका शिकार किया जाता है । यह काश्मीर, नैपाल और बंगाल में पाया जाता है; पर अक्तूबर में पहाड़ पर से उतरकर सम भूमि पर आ जाता है । यह केवल फल मूल ही खाता है और प्राय: नदियों या जलाशयों के किनारे छोटे छोटे झुंडों में रहता है ।

बेख़ौफ़–वि० [फ़ा०] जिसे ख़ौफ़ या भय न हो । निर्भय । निडर ।

बेग–संज्ञा पुं० दे० "वेग" । उ०—लागे जब बेगी जाइ पन्यो सिंधु तीर चाहै जब नीर लिए ठाढ़े देह धोई है ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [अं० बेग] कपड़े, चमड़े या काग़ज़ आदि लचीले पदार्थों का कोई ऐसा थैला जिसमें चीज़ें रखी जाती हों और जिसका मुँह ऊपर से बंद किया जा सकता हो । थैला ।

बेगड़ी–संज्ञा पुं० [देश०] (१) हीरा काटनेवाला । हीरातराश । (२) नगीना बनानेवाला । हकाक ।

बेगती–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो बंगाल की खाड़ी में पाई जाती है । यह प्राय: ४ हाथ लंबी होती है और इसका मांस स्वादिष्ट होता है ।

बेगम–संज्ञा स्त्री० [तु०] (१) राज्ञी । रानी । राजपत्नी । (२) ताश के पत्तों में से एक जिस पर एक स्त्री या रानी का चित्र बना होता है । यह पत्ता केवल एक्के और बादशाह से छोटा और बाक़ी सबसे बड़ा समझा जाता है ।

बेगमी–वि० [तु० बेगम+ई (प्रत्य०)] (१) बेगम-संबंधी । (२) उत्तम । उम्दा । बढ़िया ।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का बढ़िया कपूरी पान । (२) एक प्रकार का पनीर जिसमें नमक कम होता है । (३) एक प्रकार का बढ़िया चावल जो पंजाब में होता है ।

बेगर†–क्रि० वि० दे० "बगैर" ।

बेग़रज़–वि० [फ़ा० बे+अ० ग़रज़] जिसे कोई ग़रज़ या परवा न हो ।

क्रि० वि० बिना किसी मतलब के । निष्प्रयोजन । व्यर्थ ।

बेग़रज़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा बे+अ० गरज+ई (प्रत्य०)] बेग़रज़ होने का भाव ।

बेगवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णार्द्ध वृत्त जिसके विषम पादों में ३ सगण, १ गुरु और सम पादों में ३ भगण और २ गुरु होते हैं ।

बेगसर–संज्ञा पुं० [सं० वेगसर] बेसर । अश्वतर । खच्चर । (डिं०)

बेगानगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेगाना होने का भाव । परायापन ।

बेगाना–वि० [फ़ा०] (१) जो अपना न हो । ग़ैर । दूसरा । पराया । (२) नावाक़िफ़ । अनजान ।

बेगार–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) वह काम जो राज्य के कर्मचारी आदि अथवा गाँवों के ज़मींदार आदि छोटी जाति के और ग़रीब असामियों से बलपूर्वक लेते हैं और जिसके बदले में उनको बहुत ही कम पुरस्कार मिलता है अथवा कुछ भी पुरस्कार नहीं मिलता । बिना मज़दूरी का ज़बरदस्ती लिया हुआ काम ।

क्रि० प्र०—देना ।—लेना ।

(२) वह काम जो चित्त लगाकर न किया जाय । वह काम जो बेमन से किया जाय ।

मुहा०—बेगार टालना=बिना चित्त लगाए कोई काम करना । पीछा छुड़ाने के लिये किसी काम को जैसे तैसे पूरा करना ।

बेगारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वह मज़दूर जिससे बिना मज़दूरी दिए ज़बरदस्ती काम लिया जाय । बेगार में काम करनेवाला आदमी ।

बेगि*†–क्रि० वि० [सं० वेग] (१) जल्दी से । शीघ्रतापूर्वक । (२) चटपट । फ़ौरन । तुरंत ।

बेगुन†–संज्ञा पुं० दे० "बैंगन" ।

बेगुनाह–वि० [फ़ा०] (१) जिसने कोई गुनाह न किया हो । जिसने कोई पाप न किया हो । (२) जिसने कोई अपराध न किया हो । बेकसूर । निर्दोष ।

बेगुनी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की सुराही ।

बेचक†–संज्ञा पुं० [हिं० बेचना] बेचनेवाला । बिक्री करनेवाला ।

बेचना–क्रि० स० [सं० विक्रय] मूल्य लेकर कोई पदार्थ देना । चीज़ देना और उसके बदले में दाम लेना । विक्रय करना ।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—बेच खाना=खो देना। गँवा देना। उ०—(क) सुनु मैया याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सी खाई।—तुलसी। (ख) पुरुष केरी सबै सोहैं कूबरी के काज। सूर प्रभु की कहा कहिए बेंच खाई लाज।—सूर।

बेचवाना-क्रि० स० दे० "बिकवाना"।

बेचाना*†-क्रि० स० [हिं०] दे० "बिकवाना"।

बेचारा-वि० [फ़ा०] [स्त्री० बेचारी] जो दीन और निस्सहाय हो। जिसका कोई साथी या अवलंब न हो। ग़रीब। दीन।

बेचिराग़-वि० [फ़ा० बे+अ० चिराग़] जहाँ दीआ तक न जलता हो। उजड़ा हुआ।

बेचैन-वि० [फ़ा०] जिसे किसी प्रकार चैन न पड़ता हो। व्याकुल। विकल। बेकल।

बेचैनी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेचैन होने का भाव। विकलता। व्याकुलता। बेकली। घबराहट।

बेजड़-वि० [फ़ा० बे+हिं० जड़] जिसकी कोई जड़ या बुनियाद न हो। जिसके मूल में कोई तत्व या सार न हो। जो यों ही मन से गढ़ा या बना लिया गया हो। निर्मूल। जैसे,—आप तो रोज़ यों ही बेजड़ की बातें उड़ाया करते हैं।

बेज़बान-वि० [फ़ा०] (१) जिसमें बातचीत करने की शक्ति न हो। जो बोलकर अपने मन के भाव प्रकट न कर सकता हो। गूँगा। मूक। जैसे,—बेज़बान जानवरों की रक्षा करनी चाहिए। (२) जो अपनी दीनता या नम्रता के कारण किसी प्रकार का विरोध न करे। दीन। ग़रीब।

बेजा-वि० [फ़ा०] (१) जो अपने उचित स्थान पर न हो। बेठिकाने। बेमौक़े। (२) अनुचित। नामुनासिब। (३) ख़राब। बुरा।

बेजान-वि० [फ़ा०] (१) जिसमें जान न हो। मुरदा। मृतक। (२) जिसमें जीवन शक्ति बहुत ही थोड़ी हो। जिसमें कुछ भी दम न हो। (३) मुरझाया हुआ। कुम्हलाया हुआ। (४) निर्बल। कमज़ोर।

बेज़ाब्ता-वि० [फ़ा० बे+अ० ज़ाब्ता] जो ज़ाब्ते के अनुसार न हो। क़ानून या नियम आदि के विरुद्ध। जैसे,—ज़ाब्ते की कार्रवाई न करके आप बेज़ाब्ता काम क्यों करने गए।

बेज़ार-वि० [फ़ा०] जो किसी बात से बहुत तंग आ गया हो। जिसका चित्त किसी बात से बहुत दुःखी हो। जैसे,—आप तो दिन पर दिन अपनी ज़िंदगी से बेज़ार हुए जाते हैं।

बेजू-संज्ञा पुं० [अ० बैजर] डेढ़ दो हाथ लंबा एक प्रकार का जंगली जानवर जो प्रायः सभी गरम देशों में पाया जाता है। इसके शरीर का रंग भूरा और पैर छोटे होते हैं। इसकी दुम बहुत छोटी होती है और पंजे लंबे तथा दृढ़ होते हैं जिनसे यह अपने रहने के लिए बिल खोदता है। इसका मांस खाया जाता है और इसकी दुम के बालों से चित्रों आदि में रंग भरने या दाढ़ी में साबुन लगाने के बुरुश बनाए जाते हैं। प्रायः शिकारी लोग इसे बिलों से ज़बरदस्ती निकालकर कुत्तों से इसका शिकार कराते हैं।

बेजोड़-वि० [फ़ा० बे+हिं० जोड़] (१) जिसमें जोड़ न हो। जो एक ही टुकड़े का बना हो। अखंड। (२) जिसके जोड़ का और कोई न हो। जिसकी समता न हो सके। अद्वितीय। निरुपम।

बेझरा-संज्ञा पुं० [हिं० मझरना=मिलाना] गेहूं, जौ, मटर, चने इत्यादि अनाजों में से कोई दो या तीन मिले हुए अन्न।

बेझा*†-संज्ञा पुं० [सं० वेध] निशाना। लक्ष्य। उ०—(क) वदन के बेझे पै मदन कमनैती के चुटारी शर चोटन चटा से चमकत हैं।—देव। (ख) तिय कत कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान। चित चल बेझे चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान।—बिहारी।

बेटकी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बेटा] बेटी। कन्या। पुत्री। लड़की। उ०—ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि पेटही को पचत बेचत बेटा बेटकी।—तुलसी।

बेटला*†-संज्ञा पुं० दे० "बेटा"। उ०—गई गाँव के बेटला मेरे आदि सहाई। इनकी हम लज्जा नहीं तुम राज बड़ाई।—सूर।

बेटवा‡-संज्ञा पुं० दे० "बेटा"।

बेटा-संज्ञा पुं० [सं० बटु=बालक] [स्त्री० बेटी] पुत्र। सुत। लड़का।

मुहा०—**बेटा बनाना**=किसी बालक को दत्तक लेकर अपना पुत्र बनाना। **बेटेवाला**=वर का पिता अथवा वर-पक्ष का और कोई बड़ा आदमी। **बेटीवाला**=वधू का पिता अथवा वधू-पक्ष का और कोई बड़ा आदमी।

यौ०—**बेटा बेटी**=संतान। औलाद। **बेटे पोते**=संतान और संतान की संतान। पुत्र, पौत्र आदि।

बेटौना‡-संज्ञा पुं० दे० "बेटा"।

बेट्टा-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का भैंसा जो मैसूर देश में होता है।

संज्ञा पुं० दे० "बेटा"।

बेठ-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ऊसर ज़मीन जिसे बीहड़ भी कहते हैं।

संज्ञा स्त्री० दे० "बेंठ"।

बेठन-संज्ञा पुं० [सं० वेष्टन] वह कपड़ा जो किसी चीज़ को गर्द आदि से बचाने के लिए उस पर लपेट दिया जाय। वह कपड़ा जो किसी चीज़ को लपेटने के काम में आवे। बँधना।

मुहा०—पोथी का बेठन=जो अधिक पढ़ा-लिखा न हो।

बेठिकाने—वि० [फ़ा० बे+हिं० ठिकाना] (१) जो अपने उचित स्थान पर न हो। स्थान-च्युत। (२) जिसका कोई सिर पैर न हो। ऊल-जलूल। (३) व्यर्थ। निरर्थक।

बेड—संज्ञा पुं० [अं०] (१) नीचे का भाग। तल। (२) बिस्तर। बिछौना। (३) छापेखाने में लोहे का वह तख़्ता जिस पर कंपोज और शुद्ध किए हुए टाइप, छापने से पहले, रखकर कसे जाते हैं।

बेड़—संज्ञा पुं० [हिं० बाढ] वृक्ष के चारों ओर लगाई हुई बाढ़। मेंड़। उ०—येपन पीढ़ी सी गीढ़ी पिंडुरी उमड़ि मेड़ बेड़न लगावे पेड़पाइन गुलकती।—देव।

संज्ञा पुं० [हिं० बाँड़] नगद रुपया। सिक्का। (दलाल)

बेड़ना—क्रि० स० [हिं० बेड़+ना (प्रत्य०)] नए वृक्षों आदि के चारों ओर उनकी रक्षा के लिए छोटी दीवार आदि खड़ी करना। थाला बाँधना। मेंड़ या बाढ़ लगाना। उ०—जिसने दाख की बारी लगाई और उसको चहुँ ओर बेड़ दिया।

बेड़ा—संज्ञा पुं० [सं० वेष्ट] (१) बड़े बड़े लट्ठों, लकड़ियों या तख़्तों आदि को एक में बाँधकर बनाया हुआ ढाँचा जिस पर बाँस का टट्टर बिछा देते हैं और जिस पर बैठकर नदी आदि पार करते हैं। यह घड़ों की बनी हुई घन्नई से बड़ा होता है। तिरना।

मुहा०—बेड़ा पार करना या लगाना=किसी को संकट से पार लगाना या छुड़ाना। विपत्ति के समय सहायता करके किसी का काम पूरा कर देना। जैसे,—इस समय तो ईश्वर ही बेड़ा पार करेगा। बेड़ा पार होना या लगना=विपत्ति या संकट से उद्धार होना। कष्ट से छुटकारा होना। बेड़ा डूबना=विपत्ति में पड़कर नाश होना।

(२) बहुत सी नावों या जहाज़ों आदि का समूह। जैसे,—भारतीय महासागर में सदा एक अँगरेज़ी बेड़ा रहता है। (३) नाव। (हिं०) (४) झुंड। समूह। (पूरब)

मुहा०—बेड़ा बाँधना=बहुत से आदमियों को इकट्ठा करना। लोगों को एकत्र करना।

वि० [हिं० आड़ा का अनु० या सं० वलि टेढ़ा] (१) जो आँखों के समानांतर दाहिनी ओर से बाईं ओर अथवा बाईं से दाहिनी ओर गया हो। आड़ा। (२) कठिन। मुश्किल। विकट।

बेड़िचा†—संज्ञा पुं० [देश०] बाँस की कमाचियों की बनी हुई एक प्रकार की टोकरी जो थाल के आकार की होती है और जिससे किसान लोग खेत सींचने के लिए तालाब से पानी निकालते हैं।

बेड़िन, बेड़िनी—संज्ञा स्त्री० [?] (१) नट जाति की स्त्री जो नाचती-गाती हो। उ०—(क) जानो गति बेड़िन दिखराई। बाँह डुलाय जीव लेइ जाई।—जायसी। (ख) कहूं भाँट भाख्यो करैं मान पावैं। कहूँ लोलिनी बेड़िनी गीत गावैं।—केशव। (२) नीच जाति की कोई स्त्री जो नाचती-गाती और कसब कमाती हो।

बेड़ी—संज्ञा स्त्री० [सं० वलय] (१) लोहे के कड़ों की जोड़ी या जंजीर जो क़ैदियों या पशुओं आदि को इसलिये पहनाई जाती है, जिसमें वे स्वतंत्रतापूर्वक घूम फिर न सकें। निगड़। उ०—(क) पहुँचेंगे तब कहेंगे वेही देश की मीच। अबहिं कहाँ ते गाड़िये बेड़ी पायन बीच।—कबीर। (ख) पायन गाढ़ी बेड़ी परी। साँकर ग्रीव हाथ हथकड़ी।—जायसी।

क्रि० प्र०—डालना।—देना।—पहनाना।—पड़ना।—पहनना।

(२) बाँस की टोकरी जिसके दोनों ओर रस्सी बँधी रहती है और जिसकी सहायता से नीचे से पानी उठाकर खेतों में डाला जाता है। (३) साँप काटने का एक इलाज जिसमें काटे हुए स्थान को गरम लोहे से दाग देते हैं।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बेड़ा का स्त्री० अल्प०] (१) नदी पार करने का टट्टर आदि का बना हुआ छोटा बेड़ा। (२) छोटी नाव। (क०)

बेडौल—वि० [हिं० बे+डौल=रूप] (१) जिसका डौल या रूप अच्छा न हो। भद्दा। (२) जो अपने स्थान पर उपयुक्त न जान पड़े। बेढंगा।

बेढंग—वि० दे० "बेढंगा"।

बेढंगा—वि० [हिं० बे+हिं० ढंग+आ (प्रत्य०)] (१) जिसका ढंग ठीक न हो। बुरे ढंगवाला। (२) जो ठीक तरह से लगाया, रखा या सजाया न गया हो। बेतरतीब। (३) भद्दा। कुरूप।

बेढंगापन—संज्ञा पुं० [हिं० बेढंगा+पन (प्रत्य०)] बेढंगे होने का भाव।

बेढ़—संज्ञा पुं० [?] (१) नाश। बरबादी। उ०—दौरि बेढ़ सिरोंज को कीन्हौ। कुंदा के गिरि डेरा दीन्हो।—लाल। (२) बोया हुआ वह बीज जिसमें अंकुर निकल आया हो।

बेढ़ई—संज्ञा स्त्री० [हिं० बेढना=घेरना] वह रोटी या पूरी जिसमें दाल, पीठी आदि कोई चीज़ भरी हो। कचौड़ी।

बेढ़न†—संज्ञा पुं० [पुं० वेष्टन] वह जिससे कोई चीज़ घेरी हुई हो। बेठन। घेरा।

बेढ़ना—क्रि० स० [सं० वेष्टन] (१) वृक्षों या खेतों आदि को, उनकी रक्षा के लिये चारों ओर से टट्टी बाँधकर, काँटे बिछाकर या और किसी प्रकार घेरना। रूँधना। (२) चौपायों को घेरकर हाँक ले जाना।

बेढब—वि० [हिं० बे+ढब] (१) जिसका ढब या ढंग अच्छा न हो। (२) जो देखने में ठीक न जान पड़े। बेढंगा। भद्दा।

क्रि० वि० बुरी तरह से । अनुचित या अनुपयुक्त रूप से । बेतरह ।

बेढ़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बेढ़ना=घेरना] (१) हाथ में पहनने का एक प्रकार का कड़ा (गहना)। उ०—तोरा कंठी माल रतन चौकी बहु साकर। बेढ़ा पहुँची कटक सुमरनी छाप सुभाकर।—सूदन। (२) घर के आस पास वह छोटा सा घेरा हुआ स्थान जिसमें तरकारियाँ आदि बोई जाती हों।

बेढाना‡–क्रि० स० [हिं० बेढ़ना का प्रे०] (१) घेरने का काम दूसरे से कराना। घिरवाना। (२) ओढ़ाना।

बेढुआ‡–संज्ञा पुं० [देश०] गोल मेथी।

बेणीफूल–संज्ञा पुं० [सं०वेणी+हिं० फूल] फूल के आकार का सिर पर पहनने का एक गहना। सीसफूल।

बेत–संज्ञा पुं० दे० "बेंत"।

बेतकल्लुफ़–वि० [फ़ा० बे+अ० तकल्लुफ़] (१) जिसे तकल्लुफ़ की कोई परवा न हो। जिसे ऊपरी शिष्टाचार का विशेष ध्यान न हो, बल्कि जो अपने मन का व्यवहार करे। सीधा सादा व्यवहार करनेवाला। (२) जो अपने हृदय की बात साफ़ साफ़ कह दे। अंतरंगता का भाव रखनेवाला।

क्रि० वि० (१) बिना किसी प्रकार के तकल्लुफ़ के। (२) बेधड़क। निस्संकोच।

बेतकल्लुफ़ी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेतकल्लुफ़ होने का भाव। सरलता। सादगी।

बेतकसीर–वि० [फ़ा० बे+अ० तकसीर] जिसने कोई अपराध न किया हो। निरपराध। निर्दोष। बेगुनाह।

बेतना–क्रि० अ० [सं० वेतन] प्रतीत होना। जान पड़ना। उ०—आपनी सुंदरता को गुमान गहै सुखदान सु औरहि बेति है।—रघुनाथ।

बेतमीज़–वि० [फ़ा० बे+अ० तमीज] जिसे शऊर या तमीज न हो। जिसको भद्रता का आचरण करना न आता हो। बेहूदा। उजड्ड। फूहड़।

बेतरह–क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० तरह] (१) बुरी तरह से। अनुचित रूप से। जैसे, तुम तो बेतरह बिगड़ गए। (२) असाधारण रूप से। विलक्षण ढंग से। जैसे,—यह पेड़ बेतरह बढ़ रहा है।

वि० बहुत अधिक। बहुत ज़्यादा। जैसे, वह बेतरह मोटा है।

बेतरीक़ा–वि० [फ़ा० बे+अ० तरीका] जो तरीक़े या नियम के विरुद्ध हो। बेक़ायदा। अनुचित।

क्रि० वि० बिना ठीक तरीक़े के। अनुचित रूप से।

बेतवा–संज्ञा स्त्री० [सं० वेत्रवती] बुंदेलखंड की एक नदी जो भूपाल के ताल से निकलकर जमुना में मिलती है।

बेतहाशा–क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० तहाशा] (१) बहुत अधिक तेज़ी से। बहुत शीघ्रता से। जैसे,—घोड़ा बेतहाशा भागा। (२) बहुत घबराकर। (३) बिना सोचे समझे। जैसे, तुम तो हर एक काम इसी तरह बेतहाशा कर बैठते हो।

बेताब–वि० [फ़ा०] (१) जिसमें ताब या ताक़त न हो। दुर्बल। कमज़ोर। (२) जो बेचैन हो। विकल। व्याकुल।

बेताबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) कमज़ोरी। दुर्बलता। (२) बेचैनी। घबराहट। व्याकुलता।

बेतार–वि० [हिं० बे+तार] बिना तार का। जिसमें तार न हो।

यौ०—बेतार का तार=विद्युत् की सहायता से भेजा हुआ वह समाचार जो साधारण तार की सहायता के बिना ही भेजा गया हो। (आजकल तार द्वारा समाचार भेजने में यह उन्नति हुई है कि समाचार भेजने के स्थान से समाचार पहुँचने के स्थान तक तार के खंभों की कोई आवश्यकता नहीं होती। केवल दोनों स्थानों पर दो विद्युत्यंत्र होते हैं जिनकी सहायता से एक स्थान का समाचार दूसरे स्थान तक बिना तार की सहायता के ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार आए हुए समाचार को बिना तार का तार या बेतार का तार कहते हैं।)

बेताल–संज्ञा पुं० [सं० वेताल] बैताल। दे० "वेताल"।

संज्ञा पुं० [सं० वैतालिक] भाट। बंदी। उ०—सभा मध्य बैताल, ताहि समय सो पढ़ि उठ्यो। केशव बुद्धि विशाल, सुंदर सूरो भूप सो।—केशव।

बेतुका–वि० [फ़ा० बे+हिं० तुका] (१) जिसमें सामंजस्य न हो। बेमेल।

मुहा०—बेतुकी हाँकना=बेढंगी बात कहना। ऐसी बात कहना जिसका कोई सिर-पैर न हो।

(२) जो अवसर कुअवसर का ध्यान न रखता हो। बेढंगा। बेढब। जैसे—वह बड़ा बेतुका है, उसको मुँह नहीं लगाना चाहिए।

बेतुका छंद–संज्ञा पुं० [हिं० बेतुका+सं० छंद] अमिताक्षर छंद। ऐसा छंद जिसके तुकांत आपस में न मिलते हों।

बेतौर–क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० तौर] बुरी तरह से। बेढंगेपन से। बेतरह।

वि० जिसका तौर तरीक़ा ठीक न हो। बेढंगा।

बेद–संज्ञा पुं० दे० "बेत"।

संज्ञा पुं० दे० "वेद"।

बेदक–संज्ञा पुं० [सं० बेद+क (प्रत्य०)] हिंदू। (डिं०)

बेदख़ल–वि० [फ़ा०] जिसका दख़ल, क़ब्ज़ा या अधिकार न हो। अधिकारच्युत। जैसे, डिगरी होते ही वह तुम्हें बेदख़ल कर देगा। (इसका व्यवहार केवल स्थावर संपत्ति के लिये ही होता है।)

बेदखली—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दखल या क़ब्ज़े का हटाया जाना अथवा न होना। अधिकार में न रहने का भाव। (इसका व्यवहार केवल स्थावर संपत्ति के लिये होता है।)

बेदनरोग—संज्ञा पुं० [सं० वेदना+रोग] पशुओं का एक प्रकार का छूतवाला भीषण ज्वर जिसमें रोगी पशु बहुत सुस्त होकर काँपने लगता है, उसका सारा शरीर गरम और लाल हो जाता है, उसे भूख बिलकुल नहीं और प्यास बहुत अधिक लगती है और पाखाने के साथ आँव निकलती है।

बेदम—वि० [फ़ा०] (१) जिसमें दम या जान न हो। मृतक। मुरदा। (२) जिसकी जीवनी शक्ति बहुत घट गई हो। मृतप्राय। अधमरा। (३) जो काम देने योग्य न रह गया हो। जर्जर। बोदा।

बेदमजनूँ—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी शाखाएँ बहुत झुकी हुई रहती हैं और जो इसी कारण बहुत मुरझाया और ठिठुरा हुआ जान पड़ता है। इसकी छाल और फलों आदि का व्यवहार औषध में होता है।

बेदमल, बेदमाल—संज्ञा पुं० [देश०] लकड़ी की वह तख़्ती जिस पर तेल लगाकर सिकलीगर लोग अपना मस्किला नामक औज़ार रगड़कर चमकाते हैं।

बेदमुश्क—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का वृक्ष जो पश्चिम भारत और विशेषत: पंजाब में अधिकता से होता है। इसमें एक प्रकार के बहुत ही कोमल और सुगंधित फूल लगते हैं जिनके अर्क़ का व्यवहार औषध के रूप में होता है। यह अर्क़ बहुत ही ठंढा और चित्त को प्रसन्न करनेवाला माना जाता है।

बेदरी—वि० दे० "बिदरी"।

बेदर्द—वि० [फ़ा०] जिसके हृदय में किसी के प्रति मोह या दया न हो। जो किसी की व्यथा को न समझे। कठोर हृदय। निर्दय।

बेदर्दी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेदर्द होने का भाव। निर्दयता। बेरहमी। कठोरता।

†* वि० दे० "बेदर्द"।

बेदलैला—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं।

बेदाग़—वि० [फ़ा०] (१) जिसमें कोई दाग़ या धब्बा न हो। साफ़। (२) जिसमें कोई ऐब न हो। निर्दोष। शुद्ध। (३) जिसने कोई अपराध न किया हो। निरपराध। बेकसूर।

बेदाना—संज्ञा पुं० [हिं० बिहीदाना या फ़ा० बे+दाना] (१) एक प्रकार का बढ़िया काबुली अनार जिसका छिलका बहुत पतला होता है। (२) बिहीदाना नामक फल का बीज जिसे पानी में भिगाने से लुआब निकलता है। लोग प्राय: इसका शरबत बनाकर पीते हैं। यह ठंढा और बलकारक माना जाता है। (३) एक प्रकार का जरिश्क जिसे अंबरबारी या कश्मल भी कहते हैं। दारुहल्दी। चित्रा। वि० दे० "अंबरबारी"। (४) एक प्रकार का मीठा छोटा शहतूत। (५) एक प्रकार की छोटे दाने की मीठी बुँदिया जो बहुत रसदार होती है।

वि० [हिं० बे (प्रत्य०)+फ़ा० दाना=बुद्धिमान्] जो दाना या समझदार न हो। मूर्ख। बेवकूफ़। उ०—बेदाना से होत हैं दाना एक किनार। बेदाना नहिं आदरौ दाना एक अनार।—रसनिधि।

बेदाम—संज्ञा पुं० दे० "बादाम"।

क्रि० वि० बिना दाम का। जिसका कुछ मूल्य न दिया गया हो।

बेधड़क—क्रि० वि० [फ़ा० बे+हिं० धड़क] (१) बिना किसी प्रकार के संकोच के। नि:संकोच। (२) बिना किसी प्रकार के भय या आशंका के। बे-खौफ़। निडर होकर। (३) बिना किसी प्रकार की रोक टोक के। बे रुकावट। (४) बिना आगा-पीछा किए। बिना कुछ सोचे समझे।

वि० (१) जिसे किसी प्रकार का संकोच या खटका न हो। निर्द्वंद्व। (२) जिसे किसी प्रकार का भय या आशंका न हो। निडर। निर्भय।

बेधना—क्रि० स० [सं० वेधन] (१) किसी नुकीली चीज़ की सहायता से छेद करना। सूराख करना। छेदना। भेदना। जैसे, मोती बेधना। (२) शरीर में क्षत करना। घाव करना।

बेधर्म—वि० [सं० विधर्म] जिसे अपने धर्म्म का ध्यान न हो। धर्म्म से गिरा हुआ। धर्मच्युत।

बेधीर*—वि० [फ़ा० बे+हिं० धीर] जिसका धैर्य टूट गया हो। अधीर। उ०—अधर निधि बेधीर करिके करत आनन हाय। फिरे भाँवरिखस्म भूषण अग्नि मानो भाय।—सूर।

बेनंग—संज्ञा पुं० [देश०] छोटी जाति का एक प्रकार का पहाड़ी बाँस जो प्राय: लता के समान होता है। इसकी टहनियों से लोग छप्परों की लकड़ियाँ आदि बाँधते हैं। यह जयंतिया पहाड़ी में होता है।

बेन†—संज्ञा पुं० [सं० वेणु] (१) वंशी। मुरली। बाँसुरी। (२) सँपेरों के बजाने की तूमड़ी। महुवर। (३) बाँस। (४) एक प्रकार का वृक्ष। उ०—बेन बेल अरु तिमिस तमाला।

संज्ञा पुं० [अं० वेन] एक प्रकार की झंडी जो जहाज़ के मस्तूल पर लगा दी जाती है और जिसके फहराने से यह पता चलता है कि हवा किस रुख की है। (लश०)

संज्ञा पुं० [अं० विंड] हवा। वायु। (लश०)

यौ०—बेनसेद।

बेनउर‡—संज्ञा पुं० दे० "बिनौला"।

बेनज़ीर—वि० [फ़ा० बे+अ० नजीर] जिसके समान और कोई

न हो। जिसकी कोई समता न कर सके। अद्वितीय। अनुपम।

बेनट—संज्ञा स्त्री० [अं० बायोनेट] लोहे की वह छोटी किर्च जो सैनिकों की बंदूक के अगले सिरे पर लगी रहती है। संगीन।

बेनवर‡—संज्ञा पुं० दे० "बिनौला"।

बेनसेट्—संज्ञा पुं० [अं० विंड सेल] जहाज़ में टाट आदि का बना हुआ नल के आकार का वह बड़ा थैला जिसकी सहायता से जहाज़ के नीचे के भागों में ऊपर की ताज़ी हवा पहुँचाई जाती है। (लश०)

बेना†—संज्ञा पुं० [सं० वेणु] (१) बाँस का बना हुआ हाथ से झलने का छोटा पंखा। (२) खस। उशीर। उ०—कीन्हेसि अगर कस्तुरी बेना। कीन्हेसि भीमसेनि अरु चेना।—जायसी। (३) बाँस।

संज्ञा पुं० [सं० वेणी] एक गहना जो माथे पर बेंदी के बीच में पहना जाता है।

बेनागा—क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० नागा] बिना नागा डाले। निरंतर। लगातार। नित्य।

बेनिमून*—वि० [फ़ा० बे+नमूना] अद्वितीय। अनुपम। उ०—बेनिमून वे सबके पारा। आखिर काको करौ दिदारा।—कबीर।

बेनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वेणी] (१) स्त्रियों की चोटी। उ०—मूँदी न राखत प्रासि अली यह गूँदी गोपाल के हाथ की बेनी।—मतिराम। (२) गंगा, सरस्वती और यमुना का संगम। त्रिवेणी। उ०—जनु प्रयाग अरयल बिच मिली। बेनी भई सो रोमावली।—जायसी। (३) किवाड़ी के किसी पल्ले में लगी हुई एक छोटी लकड़ी जो दूसरे पल्ले को खुलने से रोकती है। (जिस पल्ले में बेनी लगी होती है, जब तक वह न खुले, तब तक दूसरा पल्ला नहीं खुल सकता। इसलिये किसी एक पल्ले में यह बेनी लगाकर उसी में सिटकिनी या सिकड़ी आदि लगा देते हैं और दूसरा पल्ला आगे करके बेनीवाले पल्ले की सिटकिनी या सिकड़ी लगा देते हैं जिससे दोनों पल्ले बंद हो जाते हैं।) उ०—चोरिन रानी दियो निसेनी। चढ़ि खोल्यो कपाट की बेनी।—रघुराज। (४) एक प्रकार का धान जो भादों के अंत या कुँवार के आरंभ में तैयार हो जाता है।

बेनीपान†—संज्ञा पुं० दे० "बेंदी"। (गहना)

बेनु—संज्ञा पुं० [सं० वेणु] (१) दे० "वेणु"। (२) बंसी। मुरली। (३) बाँस।

बेनुली†—संज्ञा स्त्री० [देश०] जाँते या चक्की में वह छोटी सी लकड़ी जो किल्ले के ऊपर रखी जाती है और जिसके दोनों सिरों पर जोती रहती है।

बेनौटी†—वि० [हिं० बिनौला] कपास के फूल की तरह हलके पीले रंग का। कपासी।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का रंग जो कपास के फूल के रंग का सा हलका पीला होता है। कपासी।

बेनौरा‡—संज्ञा पुं० दे० "बिनौला"।

बेनौरी‡—संज्ञा स्त्री० [हिं० बिनौला] आकाश से वर्षा के साथ गिरनेवाले छोटे छोटे पत्थर जो प्रायः बिनौले के आकार के होते हैं। ओला। पत्थर।

बेपरद—वि० [फ़ा० बे+परदा] (१) जिसके ऊपर कोई परदा न हो। जिसके आगे कोई ओट न हो। अनावृत। (२) नंगा। नग्न।

बेपरवा, बेपरवाह—वि० [फ़ा० बेपरवाह] (१) जिसे कोई परवा न हो। बेफ़िक्र। (२) जो किसी के हानि-लाभ का विचार न करे और केवल अपने इच्छानुसार काम करे। मन-मौजी। (३) उदार।

बेपरवाही—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बेपरवाह होने का भाव। बेफ़िकरी। (२) अपने मन के अनुसार काम करना।

बेपर्द—वि० दे० "बेपरद"।

बेपाइ*†—वि० [हिं० बे+सं० उपाय] जिसे घबराहट के कारण कोई उपाय न सूझे। भौचक। हक्का बक्का। उ०—कोहर सी एड़ीनि को लाली देखि सुभाइ। पाय महावर देन को आप भई बेपाइ।—बिहारी।

बेपार—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जो हिमालय की तराई में ६००० से ११००० फुट की ऊँचाई तक अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी यदि सीड़ से बची रहे तो बहुत दिनों तक ज्यों की त्यों रहती है और प्रायः इमारत में काम आती है। इस लकड़ी का कोयला बहुत तेज़ होता है और लोहा गलाने के लिये बहुत अच्छा समझा जाता है। इसकी छाल से जंगलों में झोपड़ियाँ भी छाई जाती हैं। फेल।

†संज्ञा पुं० दे० "व्यापार"।

बेपारी†—संज्ञा पुं० दे० "व्यापारी"।

बेपीर—वि० [फ़ा० बे+हिं० पीर=पीड़ा] (१) जिसके हृदय में किसी के दुःख के लिये सहानुभूति न हो। दूसरों के कष्ट को कुछ न समझनेवाला। (२) निर्दय। बेरहम।

बेपेंदी—वि० [हिं० बे+पेंदा] जिसमें पेंदा न हो। जो पेंदा न होने के कारण इधर उधर लुढ़कता हो।

मुहा०—बेपेंदी का लोटा=वह सीधा सादा आदमी जो दूसरों के कहने पर ही अपना मत या कार्य्य आदि बदल देता हो। किसी के जरा से कहने पर अपना विचार बदलनेवाला आदमी।

बेफ़ायदा—वि० [फ़ा०] जिससे कोई फ़ायदा न हो। जिससे कोई लाभ न हो सके। व्यर्थ का।

क्रि० वि० बिना किसी लाभ के। बिना कारण। व्यर्थ। नाहक।

बेफ़िक्र–वि० [फ़ा०] जिसे कोई फ़िक्र न हो। निश्चिंत। बेपरवा।

बेफ़िक्री–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेफ़िक्र होने का भाव। निश्चिंतता।

बेबस–वि० [सं० विवश] (१) जिसका कुछ वश न चले। लाचार। (२) जिसका अपने ऊपर कोई अधिकार न हो। पराधीन। परवश।

बेबसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेबस+ई (प्रत्य०)] (१) बेबस होने का भाव। लाचारी। मजबूरी। विवशता। (२) पराधीनता। परवशता।

बेबाक़–वि० [फ़ा०] जो चुका दिया गया हो। जो अदा कर दिया गया हो। चुकता किया हुआ। चुकाया हुआ।

बेबुनियाद–वि० [फ़ा०] जिसकी कोई जड़ न हो। निर्मूल। बेजड़।

बेब्याहा–वि० [फ़ा० बे+हिं० ब्याहा] [स्त्री० बेब्याही] जिसका विवाह न हुआ हो। अविवाहित। कुँआरा।

बेभाव–क्रि० वि० [फ़ा० बे+हिं० भाव] जिसका कोई हिसाब या गिनती न हो। बेहद। बेहिसाब।

मुहा०—बेभाव की पड़ना=(१) बहुत अधिक मार पड़ना। (२) बहुत अधिक फटकार पड़ना।

बेम–संज्ञा स्त्री० [देश०] जुलाहों की कंघी। वय। बैसर। वि० दे० "कंघी (२)"।

बेमन–क्रि० वि० [फ़ा० बे+हिं० मन] बिना मन लगाए। बिना दत्तचित्त हुए।

वि० जिसका मन न लगता हो।

बेमरम्मत–वि० [फ़ा०] जिसकी मरम्मत होने को हो, पर न न हुई हो। बिगड़ा हुआ। बिना सुधरा। टूटा फूटा।

बेमरम्मती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेमरम्मत होने का भाव।

बेमाई‡–संज्ञा स्त्री० दे० "बिवाई"।

बेमारी†–संज्ञा स्त्री० दे० "बीमारी"।

बेमालूम–क्रि० वि० [फ़ा०] ऐसे ढंग से जिसमें किसी को मालूम न हो। बिना किसी को पता लगे। जैसे,—वह सब माल बेमालूम उड़ा ले गए।

वि० जो मालूम न पड़ता हो। जो देखने में न आता हो या जिसका पता न लगता हो। जैसे,—इसकी सिलाई बिलकुल बेमालूम होनी चाहिए।

बेमिलावट–वि० [फ़ा० बे+हिं० मिलावट] जिसमें किसी प्रकार की मिलावट न हो। बेमेल। शुद्ध। खालिस। साफ़।

बेमुख†–वि० दे० "विमुख"।

बेमुनासिब–वि० [फ़ा०] जो मुनासिब न हो। अनुचित।

बेमुरव्वत–वि० [फ़ा०] जिसमें मुरव्वत न हो। जिसमें शील या संकोच का अभाव हो। तोता-चश्म।

बेमुरव्वती–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेमुरव्वत होने का भाव।

बेमौक़ा–वि० [फ़ा०] जो अपने ठीक मौके पर न हो। जो अपने उपयुक्त अवसर पर न हो।

संज्ञा पुं० मौक़े का न होना। अवसर का अभाव।

बेयरा–संज्ञा पुं० दे० "बेरा"।

बेर–संज्ञा पुं० [सं० बदरी] (१) प्रायः सारे भारत में होनेवाला मझोले आकार का एक प्रसिद्ध कँटीला वृक्ष जिसके छोटे बड़े कई भेद होते हैं। यह वृक्ष जब जंगली दशा में होता है, तब झरबेरी कहलाता है; और जब कलम लगाकर तैयार किया जाता है, तब उसे पेवँदी (पैबंदी) कहते हैं। इसकी पत्तियाँ चारे के काम में और छाल चमड़ा सिझाने के काम में आती है। बंगाल में इस वृक्ष की पत्तियों पर रेशम के कीड़े भी पलते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी और कुछ लाली लिए हुए होती है और प्रायः खेती के औज़ार बनाने के और इमारत के काम में आती है। इसमें एक प्रकार के लंबोतरे फल लगते हैं जिनके अंदर बहुत कड़ी गुठली होती है। यह फल पकने पर पीले रंग का हो जाता है और मीठा होने के कारण खूब खाया जाता है। कलम लगाकर इसके फलों का आकार और स्वाद बहुत कुछ बढ़ाया जाता है।

पर्या०—बदर। कर्कंधू। कोल। सौर। कंटकी। वक्रकंटक।

(२) इस वृक्ष का फल।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बार] (१) बार। दफ़ा। वि० और मुहा० दे० "बार"। उ०—जो कोई जाया इक बेर माँगा। जनम न हो फिर भूखा नाँगा।—जायसी। (२) विलंब। देर।

बेरजरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेर+झड़ी ?] झड़बेरी। जंगली बेर। उ०—बेरजरी घुंदिलैया बूटी। बरू बहेर बादची लूटी।—सूदन।

बेरजा†–संज्ञा पुं० दे० "बिरोजा"।

बेरवा†–संज्ञा पुं० [देश०] कलाई में पहनने का सोने वा चाँदी का कड़ा।

संज्ञा पुं० दे० "ब्योरा"।

बेरस–वि० [फ़ा० बे+हिं० रस] (१) जिसमें रस का अभाव हो। रस-रहित। (२) जिसमें अच्छा स्वाद न हो। बुरे स्वाद-वाला। (३) जिसमें आनंद न हो। बेमज़ा।

†संज्ञा पुं० रस का अभाव। विरसता। (क०)

बेरहई†–संज्ञा पुं० दे० "बेढ़ई"।

बेरहड्डी†–संज्ञा स्त्री० [बेर ?+हिं० हड्डी] घुटने के नीचे की हड्डी में का उभार।

बेरहम–वि० [फ़ा० बेरह्म] जिसके हृदय में दया न हो। निर्दय। निठुर। दयाशून्य।

बेरहमी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बेरह्मी] बेरहम होने का भाव। निर्दयता। दयाशून्यता। निष्ठुरता।

बेरा†–संज्ञा पुं० [सं० वेला] (१) समय। वक्त। बेला। (२) तड़का। भोर। प्रातःकाल।

संज्ञा पुं० [देश०] एक में मिला हुआ जौ और चना। बेरी।

संज्ञा पुं० दे० "बेड़ा"।

संज्ञा पुं० [अं० बेअरर=वाहक] वह चपरासी, विशेषतः साहब लोगों का वह चपरासी जिसका काम चिट्ठी-पत्री या समाचार आदि पहुँचाना और ले आना आदि होता है।

बेरादरी-संज्ञा पुं० दे० "बिरादरी"।

बेराम†-वि० दे० "बीमार"।

बेरामी†-संज्ञा स्त्री० दे० "बीमारी"।

बेरिआ-संज्ञा स्त्री० [सं० वेला=समय] बेला। समय।

बेरिज†-संज्ञा स्त्री० [देश०] किसी जिले की कुल जमा।

बेरियाँ†-संज्ञा स्त्री० [हिं० बेर] समय। वक्त। काल। बेला। उ०—पिया आवन की भई बेरियाँ दरवजवाँ ठाढ़ी रहूँ।—गीत।

बेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बेर (फल)] (१) एक प्रकार की लता जो हिमालय में होती है। इसके रेशों से रस्सियाँ और मछली फँसाने के जाल बनते हैं। इसे 'मुरकूल' भी कहते हैं। (२) दे० "बेर"। (३) एक में मिली हुई सरसों और तासी।

संज्ञा स्त्री० दे० "बेड़ी"।

संज्ञा स्त्री० [हिं० बार=दफ़ा] (१) दे० "बेर"। (२) उतना अनाज जितना एक बार चक्की में डाला जाता है। अनाज की मुट्ठी जो चक्की में डाली जाती है।

बेरीछत-संज्ञा पुं० [देश०] एक शब्द जो महावत लोग हाथी को किसी काम से मना करने के लिये कहते हैं।

बेरुआ-संज्ञा पुं० [देश०] बाँस का वह टुकड़ा जो नाव खींचने की गून में आगे की ओर बँधा रहता है और जिसे कंधे पर रखकर मल्लाह खींचते हुए चलते हैं।

बेरुई†-संज्ञा स्त्री० [देश०] वेश्या। रंडी।

बेरुकी†-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक रोग जिसमें बैलों की जीभ पर काले काले छाले हो जाते हैं और उसे बहुत कष्ट देते हैं।

बेरुख-वि० [फ़ा०] (१) जो समय पड़ने पर रुख़ (मुँह) फेर ले। बेमुरव्वत। (२) नाराज़। क्रुद्ध।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

बेरुखी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेरुख़ होने का भाव। अवसर पड़ने पर मुँह फेर लेना। बेमुरव्वती।

क्रि० प्र०—करना।—दिखाना।

बेरूप†-वि० [सं० विरूप] भद्दी शक्लवाला। कुरूप। बदशक्ल।

बेरोक-क्रि० वि० [फ़ा० बे+हिं० रोक] बिना किसी प्रकार की रुकावट के। बेखटके। निर्विघ्न।

यौ०—बेरोक टोक=निर्विघ्नतापूर्वक। बिना किसी रुकावट या अड़चन के।

बेरोज़गार-वि० [फ़ा०] जिसके हाथ में कोई रोज़गार न हो। जिसके पास करने को कोई काम-धंधा न हो।

बेरोज़गारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेरोज़गार होने का भाव।

बेरौनक-वि० [फ़ा०] जिस पर रौनक न हो। जिसकी शोभा न रह गई हो। उदास।

क्रि० प्र०—छाना।—होना।

बेरौनकी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेरौनक होने का भाव।

बेर्रा†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) मिले हुए जौ और चने का आटा। (२) कोई का फल।

बेर्राबरार†-संज्ञा पुं० [हिं० बेरा=जौ और चना+फ़ा० बरार=लादा हुआ] अन्न की उगाही।

बेलंद†-वि० [फ़ा० बलंद] (१) ऊँचा। उ०—(क) पद बेलंद परे जो पाऊँ। तो लोकौ घर लोक न ठाऊँ।—विश्राम। (ख) मम सुकृत जागी भूरि भागी भयो विश्व बेलंद।—रघुराज। (ग) रघुराज ब्याह होत ह्वै गईं बेलंद आँखैं मिथिला निवासिन मिताई नई कीन्हे हैं।—रघुराज। (२) जो बुरी तरह परास्त या विफल-मनोरथ हुआ हो। (व्यंग्य)

बेलंब*†-संज्ञा पुं० दे० "विलंब"।

बेल-संज्ञा पुं० [सं० बिल्व] मझोले आकार का एक प्रसिद्ध कँटीला वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में पाया जाता है। इसकी लकड़ी भारी और मज़बूत होती है और प्रायः खेती के औज़ार बनाने और इमारत के काम में आती है। इससे ऊख पेरने के कोल्हू और मूसल आदि भी अच्छे बनते हैं। इसकी ताज़ी गीली लकड़ी चंदन की तरह पवित्र मानी जाती है और उसे चीरने से एक प्रकार की सुगंध निकलती है। इसमें सफ़ेद रंग के सुगंधित फूल भी होते हैं। इसकी पत्तियाँ एक सींके में तीन तीन (एक सामने और दो दोनों ओर) होती हैं जिन्हें हिंदू लोग महादेव जी पर चढ़ाते हैं। इसमें कैथ से मिलता जुलता एक प्रकार का गोल फल भी लगता है, जिसके ऊपर का छिलका बहुत कड़ा होता है और जिसके अंदर गूदा और बीज होते हैं। पक्के फल का गूदा बहुत मीठा होता है और साधारणतः खाने या शरबत आदि बनाने के काम में आता है। फल औषध के काम में भी आता है और उसके कच्चे गूदे का मुरब्बा भी बनता है। वैद्यक में इसे मधुर, कसैला, गरम, हृदय को हितकारी, रुचिकारक, दीपन, ग्राही, रूखा, पित्तकारक, पाचक और वातातिसार तथा ज्वरनाशक माना है। श्रीफल।

पर्या०—बिल्व। महाकपित्थ। गोहरीतकी। पूतिवात। मंगल्य। त्रिशिख। मालूर। महाफल। शल्य। शैलपत्र। पत्रश्रेष्ठ। त्रिपत्र। गंधपत्र। लक्ष्मीफल। गंधफल। शिवद्रुम। सदाफल। सत्यफल।

†संज्ञा पुं० [सं० मल्ल या मल्ली] वह स्थान जहाँ शक्कर तैयार होती हो।

संज्ञा पुं० [अं०] कपड़े या काग़ज़ आदि की वह बड़ी गठरी जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये बनाई जाती है। गाँठ।

संज्ञा स्त्री० [सं० वल्ली] (१) वनस्पति शास्त्र के अनुसार वे छोटे कोमल पौधे जिनमें कांड या मोटे तने नहीं होते और जो अपने बल पर ऊपर की ओर उठकर नहीं बढ़ सकते। वल्ली। लता। लतर।

विशेष—साधारणतः बेल दो प्रकार की होती है। एक वह जो अपने उत्पन्न होने के स्थान से आस-पास के पृथ्वी-तल अथवा और किसी तल पर दूर तक फैलती हुई चली जाती है। जैसे, कुम्हड़े की बेल। दूसरी वह जो आस-पास के वृक्षों अथवा इसी काम के लिये लगाए हुए बाँसों आदि के सहारे उनके चारों ओर घूमती हुई ऊपर की ओर जाती है। जैसे, सुरपेचा, मालती आदि। साधारणतः बेलों के तने बहुत ही कोमल और पतले होते हैं और ऊपर की ओर आपसे आप खड़े नहीं रह सकते।

मुहा०—बेल मँढ़े चढ़ना=किसी कार्य का अंत तक ठीक ठीक पूरा उतरना। आरंभ किए हुए कार्य में पूरी सफलता होना।

(२) संतान। वंश।

मुहा०—बेल बढ़ना=वंश वृद्धि होना। पुत्र-पौत्र आदि होना।

(३) विवाह आदि में कुछ विशिष्ट अवसरों पर संबंधियों और बिरादरीवालों की ओर से हज्जामों, गानेवालियों और इसी प्रकार के और नेगियों को मिलनेवाला थोड़ा थोड़ा धन।

क्रि० प्र०—देना।—पड़ना।

(४) कपड़े या दीवार आदि पर एक पंक्ति में दूर तक बनी हुई फूल पत्तियाँ आदि जो देखने में बेल के समान जान पड़ती हों। (५) रेशमी या मख़मली फीते आदि पर जरदोजी आदि से बनी हुई इसी प्रकार की फूल-पत्तियाँ जो प्रायः पहनने के कपड़ों पर टाँकी जाती हैं।

यौ०—बेलबूटा।

क्रि० प्र०—टाँकना।—लगाना।

(६) नाव खेने का डाँड़। बल्ली।

(७) घोड़ों का एक रोग जिसमें उनका पैर नीचे से ऊपर तक सूज जाता है। बदनाम। गुमनाम।

संज्ञा पुं० [फ़ा० बेलचः] (१) एक प्रकार की कुदाली जिससे मज़दूरे ज़मीन खोदते हैं।

यौ०—बेलदार।

(२) सड़क आदि बनाने के लिये चूने आदि से ज़मीन पर डाली हुई लकीर जो केवल चिह्न के रूप में अथवा सीमा निर्धारित करने के लिये होती है।

क्रि० प्र०—डालना।

(३) एक प्रकार का लंबा खुरपा।

*†संज्ञा पुं० बेले का फूल। उ०—सिय तुव अँगरंग मिलि अधिक उदोत। हार बेलि पहिरावों चंपक होत।—तुलसी।

*†संज्ञा पुं० दे० "बेला"।

बेलक†—संज्ञा पुं० [देश०] फरसा। फावड़ा।

बेलकी—संज्ञा पुं० [देश०] चरवाहा।

बेलखजी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जिसके हीर की लकड़ी लाल होती है। यह पूर्वी हिमालय में ४००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी लकड़ी मज़बूत होती है जिससे चाय के संदूक, इमारती और आराइशी सामान तैयार किए जाते हैं। वृक्ष को काटने के बाद इसकी जड़ें जल्दी फूट आती हैं।

बेलगगरा—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली।

बेलगिरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बेल+गिरी=मींगी] बेल के फल का गूदा।

बेलचक†—संज्ञा पुं० दे० "बेलचा"।

बेलचा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) एक प्रकार की छोटी कुदाल जिससे माली लोग बाग की क्यारियाँ आदि बनाते हैं। (२) कोई छोटी कुदाल। कुदारी। (३) एक प्रकार की लंबी खुरपी।

बेलज़्ज़त—वि० [फ़ा०] जिसमें किसी प्रकार का स्वाद न हो। स्वादु-रहित। (२) जिसमें कोई सुख न मिले। जैसे, गुनाह बेलज़्ज़त।

बेलड़ी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बेल+ड़ी (प्रत्य०)] छोटी बेल या लता। बौंर।

बेलदार—संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह मज़दूर जो फावड़ा चलाने या ज़मीन खोदने का काम करता हो।

बेलदारी—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] फावड़ा चलाने का काम। बेलदार का काम।

बेलन—संज्ञा पुं० [सं० वलन] (१) लकड़ी, पत्थर या लोहे आदि का बना हुआ वह भारी, गोल और दंड के आकार का खंड जो अपने अक्ष पर घूमता है और जिसे लुढ़काकर किसी चीज़ को पीसते, किसी स्थान को समतल करते अथवा कंकड़ पत्थर आदि कूटकर सड़कें बनाते हैं। रोलर। (२) किसी यंत्र आदि में लगा हुआ इस आकार का कोई बड़ा पुरज़ा जो घुमाकर दबाने आदि के काम में आता है। जैसे, छापने की मशीन का बेलन, ऊख पेरने की कल का बेलन। (३) कोल्हू का जाठ। (४) करघे में का पौसार। वि० दे० "पौसार"। (५) रुई धुनकने की मुठिया या हत्था। वि० दे० "धुनकी"। (६) कोई गोल और लंबा लुढ़कनेवाला पदार्थ। जैसे,—छापने की कल में स्याही लगानेवाला बेलन। (७) दे० "बेलना"।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का जड़हन धान। (२) एक में मिलाई हुई वे दो नावें जिनकी सहायता से डूबी हुई नाव पानी में से निकाली जाती है।

बेलनदार-वि० [हिं० बेलन+फ़ा० दार (प्रत्य०)] बेलनवाला। जिसमें बेलन लगा हो।

बेलना-संज्ञा पुं० [सं० वलन] काठ का बना हुआ एक प्रकार का लंबा दस्ता जो बीच में मोटा और दोनों ओर कुछ पतला होता है और जो प्रायः रोटी, पूरी, कचौरी आदि की लोई को चकले पर रखकर बेलने के काम आता है। यह कभी कभी पीतल आदि का भी बनता है।

क्रि० स० (१) रोटी, पूरी, कचौरी आदि को चकले पर रखकर बेलने की सहायता से दबाते हुए बढ़ाकर बड़ा और पतला करना। (२) चौपट करना। नष्ट करना।

मुहा०—पापड़ बेलना=काम बिगाड़ना। चौपट करना।

(३) विनोद के लिये पानी के छींटे उड़ाना। उ०—पानी तीर जानि सब बेलैं। फुलसहि करहिं कटाकी केलैं।—जायसी।

बेलपत्ती-संज्ञा स्त्री० दे० "बेलपत्र"।

बेलपत्र-संज्ञा पुं० [सं० बिल्वपत्र] बेल के वृक्ष की पत्तियाँ जो हर एक सींक में ३-३ होती हैं और जो शिवजी पर चढ़ाई जाती हैं।

बेलपात-संज्ञा पुं० दे० "बेलपत्र"।

बेलवागुरा-संज्ञा पुं० [हिं०] हिरनों को पकड़ने का जाल।

बेलबूटेदार-वि० [हिं० बेलबूटा+फ़ा० दार (प्रत्य०)] जिसमें बेल-बूटे बने हों। बेल-बूटोंवाला।

बेलसना*†-क्रि० अ० [सं० विलास+ना (प्रत्य०)] भोग करना। सुख लूटना। आनंद करना।

बेलहरा†-संज्ञा पुं० [हिं० बेल=पान+हरा (प्रत्य०)] [स्त्री० अल्पा० बेलहरी] लगे हुए पान रखने के लिये एक लंबोतरी पिटारी जो बाँस या धातुओं आदि की बनी होती है।

बेलहरी-संज्ञा पुं० [हिं० बेल+हरी (प्रत्य०)] साँची पान।

बेलहाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० बेल+हाजी ?] धोती आदि के किनारों पर लहरियेदार बेल छापने का लकड़ी का ठप्पा।

बेलहाशिया-संज्ञा पुं० [हिं० बेल+फ़ा० हाशिया] धोती आदि के किनारों पर बेल छापने का ठप्पा।

बेला-संज्ञा पुं० [सं० मल्लिका ?] (१) चमेली आदि की जाति का एक प्रकार का छोटा पौधा जिसमें सफ़ेद रंग के सुगंधित फूल लगते हैं। ये फूल तीन प्रकार के होते हैं—(१) मोतिया, जो मोती के समान गोल होता है; (२) मोगरा, जो उससे बड़ा और प्रायः सुपारी के बराबर होता है और (३) मदनबान, जिसकी कली प्रायः एक इंच तक लंबी होती है। (२) मल्लिका। त्रिपुरा। (३) बेले के फूल के आकार का एक प्रकार का गहना।

संज्ञा पुं० [सं० वेला] (१) लहर। उ०—बेला सम बढ़ि सागर रण में। अब कह कूल सरिस तेहि क्षण में। (२) चमड़े की बनी हुई एक प्रकार की छोटी कुप्पिया जिसमें एक लंबी लकड़ी लगी रहती है और जिसकी सहायता से तेल नापते या दूसरे पात्र में भरते हैं। (३) कटोरा। उ०—बेला भरि हलधर को दीन्हों। पीवत पै बल अस्तुति कीन्हों।—सूर। (४) समुद्र का किनारा। उ०—बरनि न जाइ कहाँ लौ बरनौं प्रेम जलधि बेला बल बोरे।—सूर। (५) समय। वक्त। (६) दे० "बेला"।

बेलाग-वि० [फ़ा० बे+हिं० लाग=लगावट] (१) जिसमें किसी प्रकार की लगावट वा संबंध न हो। बिलकुल अलग। (२) साफ़। खरा।

बेलाडोना-संज्ञा पुं० [अं०] मकोय का सत्त जो प्रायः अँगरेज़ी दवाओं में खाने या पीड़ित स्थान पर लगाने के काम में आता है।

बेलावल-संज्ञा पुं० दे० "बिलावल"।

बेलि-संज्ञा स्त्री० दे० "बेल"।

बेलिया-संज्ञा स्त्री० [हिं० बेला का अल्पा०] छोटी कटोरी।

बेलौस-वि० [हिं० बे+फ़ा० लौस] (१) सच्चा। खरा। जैसे, बेलौस आदमी। (२) बेमुरव्वत। (क०)

बेवक़ूफ़-वि० [फ़ा०] जिसे किसी प्रकार का वक़ूफ़ या शऊर न हो। मूर्ख। निर्बुद्धि। नासमझ।

बेवक़ूफ़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेवक़ूफ़ होने का भाव। मूर्खता। नादानी। नासमझी।

बेवक़्त-क्रि० वि० [फ़ा०] अनुपयुक्त समय पर। कुसमय में।

बेवतन-वि० [फ़ा०] (१) बिना घर द्वार का। जिसके रहने आदि का कोई ठिकाना न हो। (२) परदेसी।

बेवपार*†-संज्ञा पुं० दे० "ब्यापार"।

बेवपारी*†-संज्ञा पुं० दे० "ब्यापारी"।

बेवफ़ा-वि० [फ़ा० बे+अ० वफ़ा] (१) जो मित्रता आदि का निर्वाह न करे। (२) बेमुरव्वत। दुःशील। (३) किए हुए उपकार को न माननेवाला। कृतघ्न।

बेवर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जिसकी रस्सी खाट बुनने के काम में आती है।

बेवरा*†-संज्ञा पुं० [हिं० ब्योरा] विवरण। ब्योरा। उ०—कपिल कह्यो तोहि भक्ति सुनाऊँ। अरु ताको ब्योरो समझाऊँ।—सूर।

बेवरेबाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० ब्योरा+फ़ा० बाज़ी] चालाकी। चालबाज़ी। (बाज़ारू)

बेवरेवार–वि० [हिं० बेवरा+वार (प्रत्य०)] तफ़सीलवार। विवरण-सहित।

बेवस्था†–संज्ञा स्त्री० दे० "व्यवस्था"।

बेवहरना*†–क्रि० अ० [सं० व्यवहार] व्यवहार करना। बरताव करना। बरतना।

बेवहरिया*†–संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार+इया (प्रत्य०)] (१) लेन-देन करनेवाला। महाजन। उ०—जेहि बेवहरिया कर बेवहारू। का लेइ देब जउँ छेकहि बारू।—जायसी। (२) लेन-देन का हिसाब किताब करनेवाला। मुनीम। उ०—अब आनिय बेवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली।—तुलसी।

बेवहार–संज्ञा पुं० दे० "व्यवहार"।

बेवा–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वह स्त्री जिसका पति मर गया हो। विधवा। राँड़।

बेवाई–संज्ञा स्त्री० दे० "बिवाई"।

बेवान*†–संज्ञा पुं० दे० "विमान"।

बेश–संज्ञा पुं० दे० "वेश"।

बेशऊर–वि० [फ़ा० बे+अ० शऊर] जिसे कुछ भी शऊर न हो। मूर्ख। फूहड़। नासमझ। बेसलीका।

बेशऊरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बे+अ० शऊर+ई (प्रत्य०)] बेशऊर होने का भाव। मूर्खता। नासमझी।

बेशक–क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० शक] बिना किसी शक के। अवश्य। निःसंदेह। ज़रूर।

बेशक़ीमत, बेशक़ीमती–वि० [फ़ा० बेश+अ० क़ीमत] जिसका मूल्य बहुत अधिक हो। बहुमूल्य। मूल्यवान।

बेशरम–वि० [फ़ा० बेशर्म] जिसे शर्म-हया न हो। निर्लज्ज। बेहया। उ०—बाँह पकरि तू ल्याई काको अति बेशरम गँवारि। सूरस्याम मेरे आगे खेलत जोबनमद मतवारि।—सूर।

बेशरमी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बेशर्मी] निर्लज्जता। बेहयाई।

बेशी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) अधिकता। ज़्यादती। (२) साधारण से अधिक कार्य करने की मजूरी। (३) लाभ। नफ़ा।

बेशुमार–वि० [फ़ा०] अगणित। असंख्य। अनगिनत।

बेश्म–संज्ञा पुं० [सं० वेश्म वा वेश्मन्] घर। गृह। निवासस्थान। उ०—निज रहिबे हित बेश्म जो पूँछेउ सो सुनि लेहु।—विश्राम।

बेसंदर*†–संज्ञा पुं० [सं० वैश्वनर] अग्नि। उ०—यह कुबेर जयति बेसंदर। बैठे और अनेक मुनिंदर।—सबलसिंह।

बेसँभर*†–वि० [फ़ा० बे+हिं० सँभाल=सुध] बेहोश। उ०—राघो बिजली मारा बेसँभर कुछ न सँभार।—जायसी।

बेसन–संज्ञा पुं० [देश०] चने की दाल का आटा। चने का आटा। रेहन।

बेसनी–वि० [हिं० बेसन+ई (प्रत्य०)] बेसन का बना हुआ। संज्ञा स्त्री० (१) बेसन की बनी हुई पूरी। (२) वह कचौरी जिसमें बेसन भरा हो।

बेसबब–क्रि० वि० [फ़ा०] बिना किसी सबब या कारण के। अकारण।

बेसबरा–वि० [फ़ा० बे+अ० सब्र+आ (प्रत्य०)] जिसे सब्र या संतोष न होता हो। जो संतोष न रख सके। अधीर।

बेसबरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेसब्र होने का भाव। अधैर्य। असंतोष।

बेसमझ–वि० [फ़ा० बे+हिं० समझ] मूर्ख। निर्बुद्धि। नासमझ।

बेसमझी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेसमझ+ई (प्रत्य०)] बेसमझ होने का भाव। नासमझी। मूर्खता।

बेसरा–वि० [फ़ा० बे+सरा=ठहरने का स्थान] जिसे ठहरने का कोई स्थान न हो। आश्रयहीन। उ०—बिहिरी कहुँ निबहत सुनौ लगर झगर हित बेस। बासौ पावत बेसरा लही प्रेम के देस।—रसनिधि।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का शिकारी पक्षी। उ०—बहरी सुबेसरा कुही संग। जे गहत नीर चर बहुत खंग।—सूदन।

बेसरोसामान–वि० [फ़ा०] जिसके पास कुछ भी सामग्री न हो। दरिद्र। कंगाल।

बेसवा–संज्ञा स्त्री० [सं० वेश्या] रंडी। वेश्या। कस्बी।

बेसवार–संज्ञा पुं० [देश०] वह सड़ाया हुआ मसाला जिससे शराब चुआई जाती है। जाया।

बेसा*†–संज्ञा स्त्री० [सं० वेश्या] रंडी। वारांगना। कस्बी। उ०—पुनि सिंगारहार धनि देसा। कइ सिँगार तहँ बइठीं बेसा।—जायसी।

संज्ञा पुं० दे० "भेष"। उ०—जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुमहि लागि धरिहउँ नर बेसा।—तुलसी।

बेसारा*†–वि० [हिं० बैठाना, गुज० बेसाना] (१) बैठानेवाला। (२) रखने या जमानेवाला। उ०—मातु भूमि पितु बीज बेसारा। काल निसान जीव तृण भारा।—विश्राम।

बेसाहना–क्रि० अ० [देश०] (१) मोल लेना। खरीदना। उ०—भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं।—तुलसी। (२) जान बूझकर अपने पीछे लगाना। (झगड़े, वैर, विरोध आदि के संबंध में बोलते हैं।)

बेसाहा†–संज्ञा पुं० [हिं० बेसाहना] खरीदी हुई चीज़। सौदा। सामग्री। उ०—जेहि न हाट एहि लीन्ह बेसाहा। ताकहँ आन हाट कित लाहा।—जायसी।

बेसिलसिले–क्रि० वि० [हिं० बे०+फ़ा० सिलसिला] बिना किसी क्रम आदि के । अव्यवस्थित रूप से ।

बेसी†–क्रि० वि० [फ़ा० बेश] अधिक । ज़्यादा ।

बेसुध–वि० [हिं० बे+सुध=होश] (१) अचेत । बेहोश । (२) बेख़बर । बदहवास ।

बेसुधी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बेसुध+ई (प्रत्य०)] अचेतनता । बेख़बरी । बेहोशी । (क०)

बेसुर–वि [हिं० बे+सुर=स्वर] संगीत आदि की दृष्टि से जिसका स्वर ठीक न हो । बेमेल स्वरवाला । उ०—चेत होइ न एक सुर कैसे बनै बनाइ । जब मृदंग बेसुर भए मुँहै थपेरै खाइ ।—रसनिधि ।

बेसुरा–वि० [हिं० बे+सुर=स्वर] (१) जो नियमित स्वर में न हो । जो अपने नियत स्वर से हटा हुआ हो । (संगीत) । (२) जो अपने ठिकाने या मौक़े पर न हो । बेमौक़ा ।

बेस्वाद–वि० [हिं० बे+सं०=स्वाद] (१) जिसमें कोई अच्छा स्वाद न हो । स्वादरहित । (२) जिसका स्वाद ख़राब हो । बदज़ायका ।

बेहंगम–वि० [सं० विहंगम] (१) जो देखने में भद्दा हो । बेढंगा । जैसे, बेहंगम मूर्त्ति । (२) बेढब । विकट । जैसे,—वह बेहंगम आदमी है, सबसे झगड़ पड़ता है ।

बेहंगमपन–संज्ञा पुं० [हिं० बेहंगम+पन (प्रत्य०)] (१) बेहंगम होने का भाव । भद्दापन । बेढंगापन । (२) विकटता । भयंकरता ।

बेहँसना*‡–क्रि० अ० [हिं० हँसना] ठठाकर हँसना । ज़ोर से हँसना । वि० दे० "हँसना" ।

बेह*†–संज्ञा पुं० [सं० वेध] छेद । छिद्र । सूराख़ ।

बेहड़–वि० दे० "बीहड़" ।

संज्ञा पुं० दे० "बीहड़" । उ०—बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा । सब हमार प्रभु पग पग जोहा ।—तुलसी ।

बेहतर–वि० [फ़ा०] अपेक्षाकृत अच्छा । किसी के मुक़ाबले में अच्छा । किसी से बढ़कर । जैसे,—चुपचाप घर बैठने से तो वहीं चले जाना बेहतर है ।

अव्य० प्रार्थना या आदेश के उत्तर में स्वीकृति-सूचक शब्द । अच्छा । (प्राय: इस अर्थ में इसका प्रयोग "बहुत" शब्द के साथ होता है । जैसे,—आप कल सुबह आइएगा । उत्तर—बहुत बेहतर ।)

बेहतरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेहतर का भाव । अच्छापन । भलाई । जैसे,—आपकी बेहतरी इसी में है कि आप उनका रुपया चुका दें ।

बेहद–वि० [फ़ा०] (१) जिसकी कोई सीमा न हो । असीम । अपरिमित । अपार । (२) बहुत अधिक ।

बेहन†–संज्ञा पुं० [सं० वपन] अनाज आदि का बीज जो खेत में बोया जाता है । बीया ।

क्रि० प्र०—डालना ।—पड़ना ।

वि० [?] पीला । ज़र्द ।

बेहना†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) जुलाहों की एक जाति जो प्राय: रूई धुनने का काम करती है । (२) रूई धुननेवाला । धुनिया ।

बेहनौर‡–संज्ञा पुं० [हिं० बेहन+और (प्रत्य०)] वह स्थान जहाँ धान वा जड़हन आदि का बीज डाला जाय । पनीर । बियाड़ा ।

विशेष—धान आदि की फ़सल के लिये पहले एक स्थान पर बीज बोए जाते हैं; और जब वहाँ अंकुर निकल आते हैं, तब उन्हें उखाड़कर दूसरे स्थान में रोपते हैं । पहले जिस स्थान पर बीज बोए जाते हैं, उसी को पूरब में बेहनौर कहते हैं ।

बेहया–वि० [फ़ा०] जिसे हया या लज्जा आदि बिलकुल न हो । निर्लज्ज । बेशर्म ।

बेहयाई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेहया होने का भाव । बेशर्मी । निर्लज्जता ।

मुहा०—बेहयाई का जामा वा बुरका पहनना या ओढ़ना= निर्लज्जता धारण करना । निर्लज्ज हो जाना । पूरा बेशर्म बन जाना । लोकलाज आदि की कुछ भी परवा न करना ।

बेहर–वि० [देश०] (१) अचर । स्थावर । उ०—रवि के उदय तारा भो छीना । चर बेहर दूनों में लीना ।—कबीर । (२) अलग । भिन्न । पृथक् । जुदा । उ०—खारि समुँद सब नाँघा आय समुद जहँ खीर । मिले समुद वे सातों बेहर बेहर नीर ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० वापी । बावली ।

बेहरना†–क्रि० अ० [हिं० बेहर] किसी चीज़ का फटना या तड़क जाना । दरार पड़ना । चिर जाना ।

बेहरा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार की घास जिसे चौपाए बहुत पसंद करते हैं । (बुंदेल०) (२) मूँज की बुनी हुई गोल वा चिपटी पिटारी जिसमें नाक में पहनने की नथ रखी जाती है ।

वि० अलग । पृथक् । जुदा । भिन्न । उ०—ना वह मिला ना बेहरा अइस रहा भरपूरि । दिसिटिवंत कहँ नीअरे अंध मुरुख कहँ दूरि ।—जायसी ।

संज्ञा पुं० दे० "बेयरा" ।

बेहरी†–संज्ञा स्त्री० [?] (१) किसी विशेष कार्य्य के लिये बहुत से लोगों से चंदे के रूप में माँगकर एकत्र किया हुआ धन । (२) इस प्रकार चंदा उगाहने की क्रिया । (३) वह किस्त जो असामी शिकमीदार को देता है । बाछा ।

बेहला–संज्ञा पुं० [अं० वायोलिन] सारंगी के आकार का एक प्रकार का अँगरेज़ी बाजा ।

बेहान‡–क्रि० वि० दे० "बिहान" ।

बेहाल–वि० [फ़ा० बे+अ० हाल] व्याकुल । बिकल । बेचैन । उ०—(क) राम राम रटि बिकल भुआलू । जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू ।—तुलसी । (ख) आपु चढ़े ब्रज ऊपर काली । कहाँ निकसि जैये को राखे नंद करत बेहाली ।—सूर । (ग) लागत कुटिल कटाछ सर क्यों न होइ बेहाल । लगत जु हिये दुसारि करि तऊ रहत नट साल ।—बिहारी ।

बेहाली–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेहाल होने का भाव । बेकली । बेचैनी । व्याकुलता ।

बेहिसाब–क्रि० वि० [फ़ा० बे+अ० हिसाब] बहुत अधिक । बहुत ज़्यादा । बेहद ।

बेहुनरा–वि० [हिं० बे+फ़ा० हुनर] (१) जिसे कोई हुनर न आता हो । जो कुछ भी काम न कर सकता हो । मूर्ख । (२) वह भालू या बंदर जो तमाशा करना न जानता हो । (कलंदर)

बेहुरमत–वि० [फ़ा०] जिसकी कोई प्रतिष्ठा न हो । बेइज़्ज़त ।

बेहूदगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेहूदा होने का भाव । असभ्यता । अशिष्टता ।

बेहूदा–वि० [फ़ा०] (१) जिसे तमीज़ न हो । जो शिष्टता या सभ्यता न जानता हो । बदतमीज़ । (२) जो शिष्टता या सभ्यता के विरुद्ध हो । अशिष्टतापूर्ण ।

बेहूदापन–संज्ञा पुं० [फ़ा० बेहूदा+पन (प्रत्य०)] बेहूदा होने का भाव । बेहूदगी । अशिष्टता । असभ्यता ।

बेहून*‡–क्रि० वि० [सं० विहीन] बिना । बग़ैर । रहित । उ०—भई दुहेली टेक बेहूनी । थाँभ नाँह उठ सके न थूनी ।—जायसी ।

बेहैफ़–वि० [फ़ा०] बेफ़िक्र । जिसे कोई चिंता न हो । चिंता-रहित । उ०—भले छकाये नैन ये रूप सखी के कैफ़ । देत न मृदु मुसक्यान की तजि आपै बेहैफ़ ।—रसनिधि ।

बेहोश–वि० [फ़ा०] मूर्च्छित । बेसुध । अचेत ।

बेहोशी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] बेहोश होने का भाव । मूर्च्छा । अचेतनता ।

बैंक–संज्ञा पुं० [अं०] वह स्थान या संस्था जहाँ लोग ब्याज पाने की इच्छा से रुपया जमा करते हों और ऋण भी लेते हों । रुपए के लेन-देन की बड़ी कोठी ।

बैंगन–संज्ञा पुं० [सं० वंगण ?] (१) एक वार्षिक पौधा जिसके फल की तरकारी बनाई जाती है । यह भटकटैया की जाति का है और अब तक कहीं कहीं जंगलों में आपसे आप उगा हुआ मिलता है जिसे बन-भंटा कहते हैं । जंगली रूप में इसके फल छोटे और कड़ुए होते हैं । ग्राम्य रूप में इसकी दो मुख्य जातियाँ हैं—एक वह जिसके पत्तों पर काँटे होते हैं; दूसरी वह जिसके पत्तों पर काँटे नहीं होते । इसके अतिरिक्त फल के आकार, छोटाई, बड़ाई और रंग के भेद से अनेक जातियाँ हैं । गोल फलवाले को मारुत्रा मानिक कहते हैं और लंबोतरे फलवाले को बथिया । यद्यपि इसके फल प्रायः ललाई लिए गहरे नीले रंग के होते हैं, पर हरे और सफ़ेद रंग के फल भी एक ही पेड़ में लगते हैं । इसकी एक छोटी जाति भी होती है जिसके फल छोटे, लंबे और पतले होते हैं । इस पौधे की खेती केवल मैदानों में होती है । पर्वतों की अधिक ऊँचाई पर यह नहीं होता । इसके बीज पहले पनीरी में बोए जाते हैं; फिर जब पौधा कुछ बड़ा होता है, तब क्यारियों में हाथ हाथ भर की दूरी पर पौधे रोपे जाते हैं । इसके बीज की पनीरी साल में तीन बार बोई जाती है—एक कार्तिक में, दूसरी माघ में और तीसरी जेठ असाढ़ में । वैद्यक में यह कटु, मधुर और रुचिकारक तथा पित्तनाशक, व्रणकारक, पुष्टिजनक, भारी और हृदय को हितकारक माना गया है । भंटा ।

पर्या०—वार्ताकी । वृंताक । मांसफला , वृत्तफला ।

(२) एक प्रकार का चावल जो कनारा और बंबई प्रांत में होता है ।

बैंगनी–वि० [हिं० बैंगन+ई (प्रत्य०)] बैंगन के रंग का । जो ललाई लिए नीले रंग का हो । बैंजनी ।

यौ०—**बैंगनी बूँद**=एक प्रकार की छींट जिसमें सफ़ेद ज़मीन पर बैंगनी रंग की छोटी छोटी बूटियाँ होती हैं ।

बैंजनी–वि० [हिं० बैंगनी] जो ललाई लिए नीले रंग का हो । बैंगनी ।

बैंड–संज्ञा पुं० [अं०] (१) झुंड । (२) बाजा बजानेवालों का झुंड जिसमें सब लोग मिलकर एक साथ बाजा बजाते हैं ।

यौ०—**बैंड मास्टर**–बैंड का वह प्रधान जिसके संकेत के अनुसार बाजा बजाया जाता है ।

बैंडा*–वि० दे० "बेंड़ा" । उ०—मेढ़ा भँवर उछालन चकरा समेटमाला । बैंड़ा गँभीर तखता कटे-पछार गर्रा ।—नज़ीर ।

बै–संज्ञा स्त्री० [सं० वाय] (१) बैसर । कंघी । (जुलाहे) (२) दे० "वय" ।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रुपए पैसे आदि के बदले में कोई वस्तु दूसरे को इस प्रकार दे देना कि उस पर अपना कोई अधिकार न रह जाय । बेचना । बिक्री ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

यौ०—बैनामा ।

मुहा०—**बै लेना या ख़रीदना**=ज़मीन आदि बैनामा लिखाकर मोल लेना ।

बैकल†–वि० [सं० विकल, मि० फ़ा० बेकल] पागल । उन्मत्त ।

उ०—(क) कहुँ लतिकन महँ अरुझति अरुझी नेह। भइ बिहाल बैकल सी सुधि नहिं देह।—रघुराज। (ख) यति-पति पर पंडित कुमति किय मारन अभिचार। ते बैकल वागन लगे विष्ठा करत अहार।—रघुराज।

बैकुंठ—संज्ञा पुं० दे० "वैकुंठ"।

बैखरी—संज्ञा स्त्री० दे० "वैखरी"।

बैखानस—वि० दे० "वैखानस"।

बैग—संज्ञा पुं० [अं०] (१) थैला। झोला। बोरा। (२) टाट का वह थैला जिसमें यात्री अपना असबाब भरकर हाथ में लटकाकर साथ ले जाते हैं।

बैगन—संज्ञा पुं० दे० "बैंगन"।

बैगना—संज्ञा पुं० [हिं० बैंगन] एक प्रकार का पकवान या पकौड़ी जो बैंगन आदि के टुकड़ों को बेसन में लपेटकर और तेल में तलकर बनाई जाती है।

बैगनी—वि० दे० "बैंगनी"।

संज्ञा स्त्री० दे० "बैंगन"।

बैजंती—संज्ञा स्त्री० [सं० वैजयंती] (१) फूल के एक पौधे का नाम जिसके पत्ते हाथ हाथ भर तक लंबे और चार पाँच अंगुल चौड़े धड़ या मूल कांड से लगे हुए होते हैं। इसमें टहनियाँ नहीं होतीं, केले की तरह कांड सीधा ऊपर की ओर जाता है। यह हलदी और कचूर की जाति का पौधा है। कांड के सिरे पर लाल वा पीले फूल लगते हैं। फूल लंबे और कई दलों के होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। फूलों की जड़ में एक एक छोटी घुंडी होती है जो फूल सूखने पर बढ़कर बौंड़ी हो जाती है। यह बौंड़ी तिकोनी और लंबोतरी होती है जिस पर छोटी छोटी नोक वा कँगूरे निकले रहते हैं। बौंड़ी के भीतर तीन कोठे होते हैं जिनमें काले काले दाने भरे हुए निकलते हैं। ये दाने कड़े होते हैं और लोग इन्हें छेदकर माला बनाकर पहनते हैं। यह फूलों के कारण शोभा के लिये बगीचों में लगाया जाता है। संस्कृत में इसे वैजयंती कहते हैं। (२) विष्णु की माला।

बैज—संज्ञा पुं० [अं०] (१) चिह्न। (२) चपरास।

बैजई—[अ० बैजा=अंडा] हलके नीले रंग का।

संज्ञा पुं० एक रंग जो बहुत हलका नीला होता है। इस रंग की रँगाई, लखनऊ में होती है। कौवे के अंडे के रंग से मिलता जुलता होने के कारण इस रंग को लोग बैजई कहते हैं।

बैजनाथ—संज्ञा पुं० दे० "वैद्यनाथ"।

बैजयंती—[सं० वैजयंती] बैजंती। वैजयंती।

बैजला—संज्ञा पुं० [देश०] (१) उर्द का एक भेद। (२) कबड्डी का खेल।

बैजा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) अंडा। (२) एक प्रकार का फोड़ा जिसके भीतर पानी होता है। फफोले की तरह का फोड़ा। गलका।

बैटरी—संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) चीनी वा शीशे आदि का पात्र जिसमें रासायनिक पदार्थों के योग से रासायनिक प्रक्रिया द्वारा बिजली पैदा करके काम में लाई जाती है। (२) तोपखाना।

बैटा—संज्ञा स्त्री० [देश०] रुई ओटने की चर्खी। ओटनी।

बैठ—संज्ञा पुं० [हिं० बैठना -पड़ता पड़ना] सरकारी मालगुज़ारी या लगान वा उसकी दर। राजकीय कर वा उसकी दर।

बैठक—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैठना] (१) बैठने का स्थान। उ०—चरण सरोवर समीप किधौं बिछिया, क्वणित कलहंसनि की बैठक बनाय की।—केशव। (२) वह स्थान जहाँ कोई बैठता हो अथवा जहाँ पर दूसरे लोग आकर उसके साथ बैठा करते हों। चौपाल। अथाई। उ०—वह अपनी बैठक में पलंग पर लेटा है, उसकी आँखें कड़ियों से लगी हैं, भौंहें कुछ ऊपर को खिंच गई हैं और वह चुपचाप देवहूति की छवि मन ही मन खींच रहा है।—अधखिला फूल।

यौ०—बैठकखाना।

(३) वह पदार्थ जिस पर बैठा जाता है। आसन। पीठ। उ०—(क) अति आदर सों बैठक दीन्हों। मेरे गृह चंद्रावलि आई अति ही आनँद कीन्हों।—सूर। (ख) पिय आवत अँगनैया उठि कै लीन। साथे चतुर तिरियवा बैठक दीन।—रहिमन। (४) किसी मूर्ति वा खंभे आदि के नीचे की चौकी। आधार। पदस्तल। (५) बैठने का व्यापार। बैठाई। जमाव। जमावड़ा। जैसे,—उसके यहाँ शहर के लुच्चों की बैठक होती है। (६) अधिवेशन। सभासदों का एकत्र होना। जैसे,—सभा की बैठक। (७) बैठने की क्रिया। (८) बैठने का ढंग वा टेव। जैसे,—जानवरों की बैठक। (९) साथ उठना बैठना। संग। मेल। उ०—माथुर लोगन के संग की यह बैठक तोहिं अजौं न उबीठी।—केशव। (१०) काँच वा धातु आदि का दीवट जिसके सिरे पर बत्ती जलती या मोमबत्ती खोंसी जाती है। बैठकी। उ०—बैठक और हँडियों में मोमबत्तियाँ जल रही हैं।—अधखिला फूल। (११) एक प्रकार की कसरत जिसमें बार बार खड़ा होना और बैठना पड़ता है।

बैठका—संज्ञा पुं० [हिं० बैठक] वह चौपाल वा दालान आदि जहाँ कोई बैठता हो और जहाँ जाकर लोग उससे मिलते या उसके पास बैठकर बातचीत करते हों। बैठक।

बैठकी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैठक+ई (प्रत्य०)] (१) बार बार बैठने और उठने की कसरत। बैठक। (२) आसन। आधार। उ०—कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत।

कर कर प्रति पद प्रति मणि वसुधा कमल बैठकी साजत।—सूर। (३) दे० "बैठक २, ४, ८"।

बैठन—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैठना] (१) बैठने की क्रिया। (२) बैठने का भाव। (३) बैठने का ढंग वा दशा। उ०—धन्य कान्ह धनि राधा गोरी। धनि वह भाग सुहाग धन्य वह धन्य नवल नवला नव जोरी। धनि यह मिलन धन्य यह बैठन धनि अनुराग नहीं रुचि थोरी। धनि यह अरस परस छबि लूटन महा चतुर मुख भोरे भोरी।—सूर। (४) बैठक। आसन।

बैठना—क्रि० अ० [सं० वेशन, विष्ठ, प्रा० बिट्ठ+ना वा सं० वितिष्ठति प्रा० वइट्ठइ] (१) पुट्ठे के बल किसी स्थान पर इस प्रकार जमना कि धड़ ऊपर को सीधा रहे और पैर घुटने पर से मुड़कर दोहरे हो जायँ। किसी जगह पर इस प्रकार टिकना कि कम से कम शरीर का आधा निचला भाग उस जगह से लगा रहे। स्थित होना। आसीन होना। आसन जमाना। उ०—(क) बैठो कोइ राज औ पाटा। अंत सबै बैसे पुनि घाटा।—जायसी। (ख) बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये।—तुलसी। (ग) बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे शरीर शांत रस जैसे।—तुलसी। (घ) शोभित बैठे तेहि सभा, सात द्वीप के भूप। तहँ राजा दशरथ लसै देवदेव अनुरूप।—केशव।

संयो० क्रि०—जाना।

मुहा०—**कहीं वा किसी के साथ बैठना उठना**=(१) संग में समय बिताना। कालक्षेप करना। उ०—जाइ आइ जहाँ तहाँ बैठि उठि जैसे तैसे, दिन तो बितायो बधू बीतति है कैसे राति।—पद्माकर। (२) रहना। संग में रहना। संगत में रहकर बातचीत करना या सुनना। **बैठे बिठाए**=(१) अकारण। निरर्थक। जैसे,—बैठे बिठाए यह झगड़ा मोल लिया। (२) अचानक। एकाएक। जैसे,—बैठे बिठाए यह आफ़त कहाँ से आ पड़ी। **बैठे बैठे**=(१) निष्प्रयोजन। (२) अचानक। (३) अकारण। **बैठे रहो**=(१) अलग रहो। हाथ मत लगाओ। दखल मत दो। तुम्हारी जरूरत नहीं। (२) चुप रहो। कुछ मत बोलो। **बैठे दंड**=एक कसरत जिसमें दंड करके बैठ जाते हैं और बैठते समय हाथों को कुहनी पर रखकर उकड़ूँ बैठते हैं। इसके अनंतर फिर दंड करने लगते हैं। **उठ बैठना**=(१) लेटा न रहना। (२) जाग पड़ना। जैसे,—खटका सुनते ही वह उठ बैठा। **बैठते उठते**=सदा। सब अवस्था में। हरदम। जैसे,—बैठते उठते राम राम जपना। **बैठ रहना**=(१) देर लगाना। वहीं का हो रहना। जैसे,—बाज़ार जाकर बैठे रहे। (१) साहस त्यागना वा निराश होना। हारकर उद्योग छोड़ देना।

(२) किसी स्थान वा अवकाश में ठीक रूप से जमना। ठीक स्थित होना। जैसे, चूल का बैठना, अँगूठी के प्याले में नग का बैठना, सिर पर टोपी बैठना, छेद में पेच या कील बैठना।

मुहा०—**नस बैठना**=सरकी हुई नस का ठीक जगह पर आ जाना। मोच दूर होना। **हाथ या पैर बैठना**=टूटा या उखड़ा हुआ हाथ पैर ठीक होना।

(३) कैंड़े पर आना। ठीक होना। अभ्यस्त होना। जैसे,—किसी काम में हाथ बैठना। (४) पानी या अन्य द्रव पदार्थों में मिली हुई चीज़ों का नीचे तह में जम जाना। जल आदि के स्थिर होने पर उसमें घुली वस्तु का नीचे आधार में जा लगना। (५) पानी वा भूमि में किसी भारी चीज़ का दाब आदि पाकर नीचे जाना वा धँसना। दबना या डूबना। जैसे, नाव का बैठना, मकान का बैठना इत्यादि। (६) सूजा या उभरा हुआ न रहना। दबकर बराबर या गहरा हो जाना। पचक जाना। धँसना। जैसे,—आँख बैठना, फोड़ा बैठना। (७) (कारबार) चलता न रहना। बिगड़ना। जैसे, कोठी बैठना, कारबार बैठना इत्यादि। (८) तौल में ठहरना वा परता पड़ना। जैसे,—(क) दस मन गेहूँ का नौ मन बैठा। (ख) रुपए का सेर भर घी बैठता है।

संयो० क्रि०—जाना।

(९) लागत लगना। ख़र्च होना। जैसे,—घोड़े की ख़रीद में सौ रुपए बैठे। (१०) गुड़ का बह जाना या पिघल जाना। (११) चावल का पकाने में गीला हो जाना। (१२) क्षिप्त वस्तु का निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना। फेंकी या चलाई हुई चीज़ का ठीक जगह पर जा रहना। लक्ष्य पर पड़ना। निशाने पर लगना। जैसे, गोली बैठना, डंडा बैठना। (१३) घोड़े आदि पर सवार होना। जैसे, घोड़े पर बैठना, हाथी पर बैठना। † (१४) पौधे का ज़मीन में गाड़ा जाना। लगना। जैसे, जड़हन बैठना। (१५) किसी पद पर स्थित होना वा नियत होना। जमना। जैसे,—जब तुम उस पद पर एक बार बैठ जाओगे, तब फिर जल्दी नहीं हटाए जा सकोगे। (१६) एक स्थान पर स्थिर होकर रहना। जमना। (१७) (किसी वस्तु में) समाना। अँटना। आना। (१८) किसी स्त्री का किसी पुरुष के यहाँ स्त्री के समान रहना। घर में पड़ना। जैसे,—वह स्त्री एक सोनार के घर बैठ गई। (१९) पक्षियों का अंडे सेना। जैसे, मुर्ग़ी का बैठना। (२०) जोड़ा खाना। भोग करना। (बाज़ारी)। (२१) बेकाम रहना। काम छोड़कर ख़ाली रहना। निरुद्योग रहना। निठल्ला रहना। बेरोज़गार रहना। जैसे,—वह आज ६ महीने से बैठा है; कैसे ख़र्च चले? (२२) अस्त होना। जैसे, सूर्य्य का बैठना, दिन बैठना,।

बैठनि*—संज्ञा स्त्री० दे० "बैठन"।

बैठनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैठन] करघे में वह स्थान जहाँ जुलाहे कपड़ा बुनते समय बैठते हैं।

बैठवाँ†—वि० [हिं० बैठना] बैठा या दबा हुआ। जो उठा हुआ न हो। चिपटा। जैसे, बैठवाँ जूता।

बैठवाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैठना] बैठाने की मजूरी।

बैठवाना—क्रि० स० [हिं० बैठाना का प्रेरणा०] (१) बैठाने का काम दूसरे से कराना। (२) पेड़ पौधे लगवाना। रोपाना।

बैठा—संज्ञा पुं० [हिं० बैठना] चमचा या बड़ी करछी। (लश०)

बैठाना—क्रि० स० [हिं० बैठना] (१) स्थित करना। आसीन करना। उपविष्ट करना। खड़ा न रखकर कुछ विश्राम की स्थिति में करना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

(२) बैठने के लिये कहना। आसन पर विराजने को कहना। जैसे,—लोग तुम्हारे यहाँ आए हैं; उन्हें आदर से ले जाकर बैठाओ। (३) पद पर स्थापित करना। प्रतिष्ठित करना। नियत करना। जैसे,—किसी मूर्ख को वहाँ बैठा देने से काम न चलेगा। उ०—नरहरि हिरनकसिपु जब मार्‍यो। अरु प्रह्लाद राज बैठार्‍यो।—सूर। (४) स्थित स्थान पर ठीक ठीक ठहरना। ठीक जमाना। अड़ाना या टिकाना। जैसे, पंच बैठाना, मूर्ति बैठाना, चूल्हे पर पटलोई बैठाना, अँगूठी में नग बैठाना।

मुहा०—नस बैठाना=हटी हुई नस मलकर ठीक जगह पर लाना। मोच दूर करना। हाथ या पैर बैठाना=आघात या चोट के कारण जोड़ पर से उखड़ा हुआ हाथ या पैर ठीक करना। बैठा भात=वह भात जो चावल और पानी एक ही साथ आग पर रखने से पके।

(५) किसी काम को बार बार करके हाथ को अभ्यस्त करना। माँजना। जैसे, लिखकर हाथ बैठाना। (६) पानी आदि में घुली वस्तु को तल में ले जाकर जमाना। जैसे,—यह दवा सब मैल नीचे बैठा देगी। (७) धँसाना या डुबाना। नीचे की ओर ले जाना। जैसे,—इतना भारी बोझ दीवार बैठा देगा। (८) सूजा या उभरा हुआ न रहने देना। दबाकर बराबर या गहरा करना। पचकाना या धँसाना। जैसे,—यह दवा गिल्टी को बैठा देगी। (९) (कारबार) चलता न रहने देना। बिगाड़ना। (१०) फेंक या चलाकर कोई चीज़ ठीक जगह पर पहुँचाना। क्षिप्त वस्तु को निर्दिष्ट स्थान पर डालना। लक्ष्य पर जमाना। जैसे, निशाना बैठाना, डंडा बैठाना। (११) घोड़े आदि पर सवार कराना। † (१२) पौधे को पालने के लिये ज़मीन में गाड़ना। लगाना। जमाना। जैसे, जड़हन बैठाना। (१३) किसी स्त्री को पत्नी के रूप में रख लेना। घर में डालना। (१४) काम धंधे के योग्य न रखना। बेकाम कर देना। जैसे,—रोग ने उसे बैठा दिया।

बैठारना*†—क्रि० स० दे० "बैठाना"। उ०—(क) सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे।—तुलसी। (ख) रत्नखचित सिंहासन धार्‍यो। तेहि पर कृष्णहिं लै बैठार्‍यो।—सूर।

बैठालना—क्रि० स० दे० "बैठाना"।

बैढ़ाना†—क्रि० स० [हिं० बाड़ा, बेढ़ा] बंद करना। बेढ़ना। (पशुओं को) रोककर रखना। उ०—तू अलि कहा पर्‍यो केहि पैंड़े। ब्रज तू श्याम अजा भयो हमको इहउ बचत न बैंडे।—सूर।

बैड़ाल—वि० [सं० बिड़ाल] बिल्ली संबंधी।

बैड़ालव्रत—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० बैडालव्रती] बिल्ली के समान अपने घात में रहना और ऊपर से बहुत सीधा सादा बना रहना।

बैड़ालव्रती—वि० [सं०] बिल्ली के समान ऊपर से सीधा सादा, पर समय पर घात करनेवाला। कपटी।

बैण—संज्ञा पुं० [सं०] बाँस को काटकर उसी से जीविका करनेवाला। बाँस का काम करनेवाला।

बैत—संज्ञा स्त्री० [अ०] पद्य। श्लोक। उ०—दरद न जानै पीर कहावै। बैता पढ़ि पढ़ि जग समुझावै।—कबीर।

बैतरनी—संज्ञा स्त्री० [सं० वैतरणी] (१) दे० "वैतरणी"। (२) एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है। इसका चावल कई वर्ष तक रहता है।

बैताल—संज्ञा पुं० दे० "वेताल"।

बैतालिक—वि० और संज्ञा पुं० दे० "वैतालिक"।

बैद—संज्ञा पुं० [सं० वैद्य] [स्त्री० बैदिन] चिकित्साशास्त्र का जाननेवाला पुरुष। वैद्य। उ०—(क) कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी।—तुलसी (ख) बहु धन लै अहसान के पारौ देत सराहि। बैद बधू हँसि भेद से रही नाह मुख चाहि।—बिहारी।

बैदई†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बैद] वैद्य की विद्या या व्यवसाय। वैद्य का काम। उ०—साँचि न आवै लषि कछू देखत छाँह न घाम। अर्थ सुनारी बैदई करि जानत पति राम।—केशव।

बैदूर्य—संज्ञा पुं० दे० "वैदूर्य्य"।

बैदेही—संज्ञा स्त्री० दे० "वैदेही"।

बैन*—संज्ञा पुं० [सं० वचन, प्रा० वयन] (१) वचन। बात। उ०—(क) माया डोलै मोहती बोलै कडुआ बैन। कोई घायल ना मिलै, साईं हिरदा सैन।—कबीर। (ख) विप्र आइ माला दये कहे कुशल के बैन। कुँवरि पखारो तब कियो जब देख्यो निज नैन।—सूर।

मुहा०—बयन झरना=बात निकलना। बोल निकलना। उ०—

जसुमति मन अभिलाष करै। कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै। कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।—सूर। (२) घर में मृत्यु होने पर कहने के लिये बँधे हुए शोकसूचक वाक्य जिसे स्त्रियाँ कह कहकर रोती हैं। (पंजाब)

बैनतेय—संज्ञा पुं० दे० "वैनतेय"।

बैना—संज्ञा पुं० [सं० वायन] वह मिठाई आदि जो विवाहादि उत्सवों के उपलक्ष में इष्ट मित्रों के यहाँ भेजी जाती है।

* क्रि० स० [सं० वपन] बोना।

संज्ञा पुं० दे० "बेंदा"।

बैपार—संज्ञा पुं० [सं० व्यापार] व्यापार। व्यवसाय। काम धंधा। उ०—अगम काटि गम कीन्हो हो रमैयाराम। सहज कियो बैपार हो रमैया राम।—कबीर।

बैपारी—संज्ञा पुं० [सं० व्यापारी] व्यापार करनेवाला। रोज़गारी। व्यापारी। उ०—उठे हिलोर न जाय सँभारी। भागहिं कोइ निबहै बैपारी।—जायसी।

बैयन—संज्ञा पुं० [सं० वायन=बुनना] लकड़ी का एक औज़ार जिससे बाना बैठाया जाता है। यह खड्ग के आकार का होता है और गड़रिये इसे कंबल की पट्टियों के बुनने के काम में लाते हैं।

बैयर*†—संज्ञा स्त्री० [सं० बधूवर=हिं० बहुअर] औरत। स्त्री। उ०—सरजा समत्थ वीर तेरे बैर बीजापुर बैरी बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन की।—भूषण।

बैया*‡—संज्ञा पुं० [सं० वाय] बै। बैसर। (जुलाहे) उ०—पढ़े पढ़ाये कछु नहीं बाम्हन भक्ति न जान। ब्याह सराधे कारणे बैया सूँड़ा तान।—कबीर।

बैरंग—वि० [अं० बेयारिंग] वह चिट्ठी या पारसल जिसका महसूल भेजनेवाले की ओर से न दिया गया हो, पानेवाले से वसूल किया जाय।

बैर—संज्ञा पुं० [सं० वैर] (१) किसी के साथ ऐसा संबंध जिससे उसे हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति हो और उससे हानि पहुँचने का डर हो। अनिष्ट-संबंध। शत्रुता। विरोध। अदावत। दुश्मनी। जैसे,—उन दोनों कुलों में पीढ़ियों का बैर चला आता था।

(२) किसी के प्रति अहित कामना उत्पन्न करनेवाला भाव। प्रीति का बिलकुल उलटा। वैमनस्य। दुर्भाव। द्रोह। द्वेष। उ०—बैर प्रीति नहिं दुरत दुराए।—तुलसी।

क्रि० प्र०—रखना।

मुहा०—बैर काढ़ना या निकालना=दुर्भाव द्वारा प्रेरित कार्य्य कर पाना। बदला लेना। उ०—यहि बिधि सब नर्तन पायो ब्रज काढ़त बैर दुरासी।—सूर। बैर ठानना=शत्रुता का संबंध स्थिर करना। दुश्मनी मान लेना। दुर्भाव रखना आरंभ करना। उ०—सिर करि धाय कै बुकी भारी अब तो मेरो नाँव भयो। कालि नहीं यहि मारग ऐहौ, ऐसो मोसों बैर ठयो।—सूर। बैर डालना=विरोध उत्पन्न करना। दुश्मनी पैदा करना। बैर पड़ना=बाधक होना। तंग करना। शत्रु होकर कष्ट पहुँचाना। उ०—कुटुंब बैर मेरे परे बरनि बरे सिसुपाल।—सूर। बैर बढ़ाना=अधिक दुर्भाव उत्पन्न करना। दुश्मनी बढ़ाना। ऐसा काम करना जिससे अप्रसन्न या कुपित मनुष्य और भी अप्रसन्न और कुपित होता जाय। उ०—आवत जात रहत याही पथ मोसों बैर बढ़ैहौ।—सूर। बैर बिसाहना या मोल लेना=जिस बात से अपना कोई संबंध न हो, उसमें योग देकर दूसरे को व्यर्थ अपना विरोधी या शत्रु बनाना। बिना मतलब किसी से दुश्मनी पैदा करना। उ०—चाह्यो भयो न कछू कबहूँ जमराजहू सों वृथा बैर बिसाह्यो।—पद्माकर। बैर मानना=दुर्भाव रखना। बुरा मानना। दुश्मनी रखना। बैर लेना=बदला लेना। कसर निकालना। उ०—(क) लेत केहरि को बयर जनु भेक हति गोमाय।—तुलसी। (ख) लेहौं बैर पिता तेरे को, जैहै कहाँ पराई?—सूर।

संज्ञा पुं० [देश०] हल में लगा हुआ चिलम के आकार का चोंगा जिसमें भरा हुआ बीज हल चलने में बराबर कूँड़ में पड़ता जाता है।

† संज्ञा पुं० [सं० बदरी] बेर का फल और पेड़।

बैरख—संज्ञा पुं० [तु० बैरक़] सेना का झंडा। ध्वजा। पताका। निशान। उ०—(क) बैरख बाँह बसाइए पै तुलसी घर व्याध अजामिल खेरे।—तुलसी। (ख) घन धावन बगपाँति पटो सिर बैरख तड़ित सोहाई।—तुलसी। (ग) बैरख ढाल गगन गा छाई। चाल कटक धरती न समाई।—जायसी। (घ) चलती चपला नहीं फेरते फिरंगें भट, इंद्र को न चाप रूप बैरख समाज को।—भूषण।

बैरा—संज्ञा पुं० [देश०] चिलम के आकार का एक चोंगा जो हल में लगा रहता है और जिसमें बोते समय बीज डाला जाता है।

संज्ञा पुं० [अं० बेयरर] सेवक। चाकर। खिदमतगार।

संज्ञा पुं० [देश०] ईंट के टुकड़े, रोड़े आदि जो मेहराब बनाते समय उसमें चुनी हुई ईंटों को जमी रखने के लिये खाली स्थान में भर देते हैं।

बैराखी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बाहु+राखी] एक गहना जिसे स्त्रियाँ भुजा पर पहनती हैं। इसमें लंबोतरे गोल बड़े बड़े दाने होते हैं जो धागे में गूँथकर पहने जाते हैं। बहूँटा।

बैराग—संज्ञा पुं० दे० "वैराग्य"।

बैरागी—संज्ञा पुं० [सं० विरागी] [स्त्री० बैरागिन] वैष्णव मत के साधुओं का एक भेद।

बैराग्य-संज्ञा पुं० दे० "वैराग्य"।

बैराना†-क्रि० अ० [हिं० बाइ, वायु] वायु के प्रकोप से बिगड़ना। उ०—जे अँखियाँ बैरा रहीं लगी बिरह की बाइ। पीतम पगरज को तिन्हैं अंजन देहु लगाइ।—रसनिधि।

बैरी-वि० [सं० वैरी] [स्त्री० बैरिन] (१) बैर रखनेवाला। शत्रु। दुश्मन। द्वेषी। उ०—(क) शिव बैरी मम दास कहावै। सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावै।—तुलसी। (ख) लघु मिलनो बिछुरन घनो ता बिच बैरिन लाज। दग अनुरागी भाव ते कहु कह करैं इलाज।—रसनिधि। (२) विरोधी।

बैल-संज्ञा पुं० [सं० बलद या बलीवर्द] [स्त्री० गाय] (१) एक चौपाया जिसकी मादा को गाय कहते हैं। यह चौपाया बड़ा मेहनती और बोझा उठानेवाला होता है। यह हल में जोता जाता है और गाड़ियों को खींचता है। दे० "गाय"।

यौ०—बैलगाड़ी।

पर्या०—उक्षा। भद्र। बलीवर्द। वृषभ। अनड्वान। गौ।

(२) मूर्ख मनुष्य। जड़ बुद्धि का आदमी। जैसे,—वह पूरा बैल है।

बैलर-संज्ञा पुं० [अं० ब्वायलर] पीपे के आकार का लोहे का बड़ा देग जो भाप से चलनेवाली कलों में होता है। इसमें पानी भरकर खौलाते और भाप उठाते हैं जिसके ज़ोर से कल के पुरजे चलते हैं।

बैलून-संज्ञा पुं० [अं०] (१) गुब्बारा। (२) बड़ा गुब्बारा जिसके सहारे पहले लोग ऊपर हवा में उड़ा करते थे।

बैषानस-संज्ञा पुं० दे० "वैखानस"।

बैसंदर*-संज्ञा पुं० [सं० वैश्वानर] अग्नि। उ०—कबिरा सीतलता भई उपजा ब्रह्मज्ञान। जेहि बैसंदर जग जलै सो मेरे उदक समान।—कबीर।

बैस-संज्ञा स्त्री० [सं० वयस्] (१) आयु। उम्र। उ०—(क) बुढ़िया हँसि कह नितहि बारि। मोहिं ऐसि तरुणि कहु कौन नारि। ये दाँत गये मोर पान खात। औ केस गयल मोर गँग नहात। औ नयन गयल मोर कजल देत। अरु बैस गयल पर पुरुष लेत। औ जान पुरुषवा मोर अहार। मैं अनजाने को कर सिंगार। कह कबीर बुढ़िया अनँद गाय। औ पूत भतारहि बैठी खाय।—कबीर। (ख) बूझति है रुक्मिनि पिय! इनमें को वृषभानु किसोरी? नेक हमैं दिखरावो अपनी बालापन की जोरी। परम चतुर जिन कीने मोहन सुबस बैस ही थोरी। बारे ते जिहि यहै पढ़ायो बुधिबल कल बिधि चोरी।—सूर। (ग) नित एकत ही रहत बैस बरन मन एक। चहियत जुगल किशोर लखि लोचन जुगल अनेक।—बिहारी। (२) यौवन। जवानी।

मुहा०—बैस चढ़ना=युवावस्था प्राप्त होना। जवानी आना। उ०—बैस चढ़े घर ही रहु बैठि अटानि चढ़े बदनाम चढ़ैगो।—रसनिधि।

संज्ञा पुं० [किसी मूल पुरुष के नाम पर] क्षत्रियों की एक प्रसिद्ध शाखा जो कन्नौज से लेकर अंतर्वेद तक बसी पाई जाती है। यह शाखा पहले थानेश्वर के आस पास बसती थी। पीछे विक्रम संवत् ६६३ के लगभग इस शाखा के प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्द्धन ने पूरब के प्रदेशों को जीता और कन्नौज में अपनी राजधानी बनाई।

† संज्ञा पुं० दे० "वैश्य"।

बैसना*†-क्रि० स० [सं० वेशन] बैठना। उ०—(क) रंग और नहि पाई बैसे। जन्म और तुइँ पावत कैसे।—जायसी। (ख) देखा कपिन जाइ सो बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा।—तुलसी। (ग) कहिये तासो जो होइ विवेकी। तुम तो अलि उनही के संगी अपनी गौं के टेकी। ऐसी को ठाली बैसी है तो सों मूँड़ खवावै। झूठी बात तुसी सी बिन कन फटकत हाथ न आवै।—सूर।

बैसर-संज्ञा स्त्री० [हिं० बय] जुलाहों का एक औज़ार जिससे करघे में कपड़ा बुनते समय बाने को बैठाते हैं। कंघी। बय। यह बाँस की पतली तीलियों को बाँस के दो फट्टों पर आड़ी बाँधने से बनती है।

बैसवारा-संज्ञा पुं० [हिं० बैस+वारा (प्रत्य०)] [वि० बैसवारी] अवध का पश्चिमी प्रांत। यह प्रदेश बहुत दिनों तक थानेश्वर के बैस क्षत्रियों के अधिकार में रहा। बैस क्षत्रियों की बस्ती होने के कारण यह प्रदेश बैसवारा कहा जाने लगा। बैस वंश के प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्द्धन ने अपनी राजधानी कन्नौज में रखी थी, यह इतिहास-प्रसिद्ध है।

बैसाख-संज्ञा पुं० दे० "वैशाख"।

बैसाखी-संज्ञा स्त्री० [सं० विशाख=जिसमें शाखाएँ निकली हों। वैशाख=मथानी] वह लाठी जिसके सिरे को कंधे के नीचे बगल में रखकर लँगड़े लोग टेकते हुए चलते हैं। इसके सिरे पर जो अर्द्धचंद्राकार आड़ी लकड़ी (अड्डे के आकार की) लगी होती है, वही बगल में रहती है। लँगड़े के टेकने की लाठी। उ०—(क) तिलक दुआदस मस्तक दीन्हे। हाथ कनक बैसाखी लीन्हे।—जायसी। (ख) बैसाखी धरि कंध शास्त्रचातुरी दिखावन। किमि जीतैं रनखेत बड़ी विधि सों समझावन।—श्रीधर पाठक।

बैसारना*†-क्रि० स० [हिं० बैसना] बैठाना। स्थित करना। उ०—तेहि पर खूँट दीप दुइ बारे। दुइ बुध दुहूँ खूँट बैसारे।—जायसी।

बैसिक*†-संज्ञा पुं० [सं० वैशिक] वेश्या से प्रीति करनेवाला नायक। वारांगणाविलासी पुरुष।

बैहर*‡-वि० [सं० वैर=भयानक] भयानक। क्रोधालु। उ०—

बानर बरार बाघ बैहर बिलार बिग बगरे बराह जानवरन के जोम हैं।—भूषण।

‡* संज्ञा स्त्री० [सं० वायु] वायु। उ०—बैहर बगारन की अरि के अगारन की नाघती पगारन नगारन की धमकै—भूषण।

बोंक—संज्ञा पुं० [हिं० बंक, बाँक ?] लोहे का वह तिकोना कीला जो किवाड़ के पल्ले में नीचे की चूल की जगह लगाया जाता है।

बोंगना—संज्ञा पुं० [हिं० बहुगुना] [स्त्री० बोंगनियाँ] पीतल का एक बर्तन जिसकी बाढ़ें ऊँची और सीधी ऊपर को उठी हुई होती हैं। बहुगुना।

बोंड़री†—संज्ञा स्त्री० दे० "बोंडरी"।

बोंड़ी†—संज्ञा स्त्री० दे० "बौंड़ी"।

बोआई—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोना] (१) बोने का काम। (२) बोने की मजदूरी।

बोक†—संज्ञा पुं० [हिं० बकरा] बकरा। उ०—कहूँ बैल भैंसा भिरैं भीम भारे। कहूँ एण एणीन के हेत कारे। कहूँ बोक बाँके कहूँ मेष सूरे। कहूँ मत्त दंती लरैं लोह पूरे।—केशव।

बोकरा†—संज्ञा पुं० दे० "बकरा"।

बोकरी†—संज्ञा स्त्री० दे० "बकरी"।

बोकला†—संज्ञा पुं० दे० "बकला"।

बोकाण—संज्ञा पुं० [देश०] पश्चिम दिशा का एक पर्वत। (बृहत्संहिता)

बोखार—संज्ञा पुं० दे० "बुखार"।

बोगुमा—संज्ञा पुं० [?] घोड़ों की एक बीमारी जिसमें उनके पेट में ऐसी पीड़ा होती है कि वे बेचैन हो जाते हैं।

बोज—संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों का एक भेद। उ०—लीले लक्खी लक्ख बोज बादामी चीनी।—सूदन।

बोजा—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बोजः] चावल से बना हुआ मद्य। चावल की शराब। उ०—जे बोजा बिजया पियैं तिन पै आवत हैफ। मन मोहन दृग अमल में क्या थोरी है कैफ़।—रसनिधि।

बोझ—संज्ञा पुं० [?] (१) ऐसा पिंड जिसे गुरुत्व के कारण उठाने में कठिनता हो। ऐसी राशि, गट्ठर या वस्तु जो उठाने या ले चलने में भारी जान पड़े। भार। जैसे,—तुमने मन भर का बोझ उसके सिर पर लाद दिया, वह कैसे चले।

क्रि० प्र०—उठना। उठाना।—उतरना।—उतारना।—लदना।—लादना।—होना।

(२) भारीपन। गुरुत्व। वज़न। जैसे,—इसका कुछ बहुत बोझ नहीं। (३) कोई ऐसा कठिन काम जिसके पूरे होने की चिंता बराबर बनी रहे। मुश्किल काम। कठिन बात। जैसे,—(क) बड़ा भारी बोझ तो कन्या का विवाह है। (ख) एक लड़के को अपने यहाँ रखना बोझ हो रहा है। (४) कठिन लगनेवाली बात पूरी करने की चिंता, खटका या असमंजस।

क्रि० प्र०—पड़ना।

(५) किसी कार्य को करने में होनेवाला श्रम, कष्ट या व्यय। मिहनत, हैरानी, ख़र्च या तकलीफ़ जो किसी काम के करने में हो। कार्य्य-भार। जैसे,—(क) तुम सब कामों का बोझ हमारे ऊपर डालकर चल देते हो। (ख) गृहस्थी का सारा बोझ उसके ऊपर है। (ग) वे इस काम में बहुत रुपए दे चुके हैं, अब उन पर और बोझ न डालो। (घ) उन पर ऋण का बोझ न डालो।

क्रि० प्र०—उठाना।—उतारना।—डालना।—पड़ना।

(६) वह व्यक्ति या वस्तु जिसके संबंध में कोई ऐसी बात करनी हो जो कठिन जान पड़े। जैसे,—यह लड़का तुम्हें बोझ हो, तो मैं इसे अपने यहाँ ले जाकर रखूँगा। (७) घास, लकड़ी आदि का उतना ढेर जितना एक आदमी लाद कर ले चल सके। गट्ठा। जैसे,—बोझ भर से ज़्यादा लकड़ी नहीं है। (८) उतना ढेर जितना बैल, घोड़े, गाड़ी आदि पर लद सके। जैसे,—अब गाड़ी का पूरा बोझ हो गया, अब मत लादो।

मुहा०—**बोझ उठना**=किसी कठिन बात का हो सकना। किसी कठिन कार्य्य का भार लिया जा सकना। **बोझ उठाना**=किसी कठिन कार्य का भार ऊपर लेना। कोई ऐसी बात करने का नियम करना जिसमें बहुत मेहनत, ख़र्च, हैरानी या तकलीफ़ हो। जैसे,—गृहस्थी का बोझ उठाना। ख़र्च का बोझ उठाना। **बोझ उतरना**=किसी कठिन काम से छुट्टी पाना। चिंता या खटके की बात का दूर होना। जी हलका होना। जैसे,—आज उसका रुपया दे दिया, मानो बड़ा भारी बोझ उतर गया। **बोझ उतारना**=(१) किसी कठिन काम से छुटकारा देना। चिंता या खटके की बात दूर करना। (२) कोई ऐसा काम कर डालना जिससे चिंता या खटका मिट जाय। जैसे,—धीरे धीरे महाजन का रुपया देकर बोझ उतार दो। (३) किसी काम को बिना मन लगाए यों ही किसी प्रकार समाप्त कर देना। बेगार टालना।

बोझना—क्रि० स० [हिं० बोझ] बोझ के सहित करना। लादना। किसी नाव या गाड़ी पर माल रखना। उ०—नैया मेरी तनक सी बोझी पाथर भार।—गिरिधरराय।

बोझल, बोझिल—वि० [हिं० बोझ] वज़नी। भारी। वज़नदार। गुरु।

बोझा—संज्ञा पुं० [?] (१) दे० "बोझ"। (२) संदूक की तरह की तंग कोठरी जिसमें राब के बोरे इसलिये नीचे ऊपर रखे जाते हैं जिसमें शीरा या जूसी निकल जाय।

बोझाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बोझना+आई (प्रत्य०)] (१) बोझने या लादने का काम। (२) बोझने की मजदूरी।

बोट–संज्ञा स्त्री० [अं०] (१) नाव। नौका। (२) स्टीमर। अगिन बोट। जहाज़।

बोटा–संज्ञा पुं० [सं० वृत, वोण्ट=डाल, लट्ठा] (१) लकड़ी का काटा हुआ मोटा टुकड़ा जो लंबाई में हाथ दो हाथ के लगभग हो, बड़ा न हो। कुंदा। (२) काटा हुआ टुकड़ा।

बोटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बोटा] मांस का छोटा टुकड़ा।

मुहा०—बोटी बोटी काटना=तलवार, छुरी आदि से शरीर को काटकर खंड खंड करना।

बोड़–संज्ञा स्त्री० [देश०] सिर पर पहनने का एक आभूषण।

संज्ञा स्त्री० दे० "बौंर", "वल्ली"।

बोड़री†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बोंड़ी] तोंदी। नाभि। तुंदकूपिका।

बोडल–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक पक्षी जिसे 'जेबर' भी कहते हैं। इसकी चोंच पर एक सींग सा होता है। यह एक प्रकार का पहाड़ी महोख है।

बोड़ा–संज्ञा पुं० [देश०] अजगर। बड़ा साँप।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की पतली लंबी फली जिसकी तरकारी होती है। लोबिया। बजरबट्टू।

बोड़ी–संज्ञा स्त्री० [?] (१) दमड़ी। दमड़ी कौड़ी। (२) अति अल्प धन। उ०—जाँचै को नरेस देस देस को कलेस करै, देहै तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बोड़िये।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० दे० "बोंड़ी" "बौंड़ी"।

बोत–संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों की एक जाति। उ०—कोइ अरबी जंगली पहारी। चिरचंचक चंपा कंधारी। कोइ काबुली कँबोज कोइ कच्छी। बोत नेमना मुंजी लच्छी।—विश्राम।

बोतक–संज्ञा पुं० [देश०] पान की पहले वर्ष की खेती।

बोतल–संज्ञा स्त्री० [अं० बॉटल] काँच का एक लंबी गरदन का गहरा बरतन जिसमें द्रव पदार्थ रखा जाता है।

मुहा०—बोतल चढ़ाना=मद्य पीना। बोतल पर बोतल चढ़ाना= बहुत मद्य पीना।

बोतलिया, बोतली–वि० [हिं० बोतल] बोतल के रंग का सा। कालापन लिए हरा।

बोता–संज्ञा पुं० [सं० पोत] ऊँट का बच्चा जिस पर अभी सवारी न होती हो।

बोदर्का–संज्ञा स्त्री० [देश०] कुसुम या बर्रे की एक जाति जिसमें काँटे नहीं होते और जिसके केवल फूल रँगाई के काम में आते हैं। बीजों से तेल नहीं निकाला जाता।

बोदर†–संज्ञा स्त्री० [देश०] लचीली छड़ी।

संज्ञा पुं० [देश०] ताल या जलाशय के किनारे सिंचाई का पानी चढ़ाने के लिये बना हुआ स्थान जिसके कुछ नीचे दो आदमी इधर उधर खड़े होकर टोकरे आदि से उलीचकर पानी ऊपर गिराते रहते हैं।

बोदा–वि० [सं० अबोध] (१) जिसकी बुद्धि तीव्र न हो। मूर्ख। गावदी। (२) जो तत्पर बुद्धि का न हो। (३) सुस्त। मट्ठर। (४) जो दृढ़ या कड़ा न हो। फुसफुसा।

बोदापन–संज्ञा पुं० [हिं० बोदा+पन (प्रत्य०)] (१) बुद्धि की अ-तत्परता। अक्ल का तेज़ न होना। (२) मूर्खता। नासमझी।

बोध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भ्रम वा अज्ञान का अभाव। ज्ञान। जानकारी। जानने का भाव। (२) तसल्ली। धीरज। संतोष।

क्रि० प्र०—देना।—होना।

बोधक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्ञान करानेवाला। ज्ञापक। जतानेवाला। (२) शृंगार रस के हावों में से एक हाव जिसमें किसी संकेत वा क्रिया द्वारा एक दूसरे को अपना मनोगत भाव जताता है। उ०—निरखि रहे निधि बन तरफ नागर नंदकुमार। तोरि हीर को हार तिय लगी बगारन बार।—पद्माकर।

बोधगम्य–वि० [सं०] समझ में आने योग्य।

बोधन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० बोधनीय, बोध्य, बोधित] (१) वेदन। ज्ञापन। जताना। सूचित करना। (२) जगाना। (३) उद्दीपन। अग्नि या दीपक को प्रज्वलित करना। (दिया) जगाना। (४) गंध दीप देना। दीपदान। (५) मंत्र जगाना।

बोधना*†–क्रि० स० [सं० बोधन] (१) बोध देना। समझाना बुझाना। कुछ कह सुनकर संतुष्ट या शांत करना। उ०—सूरश्याम को जसुदा बोधति गगन चिरैयाँ उड़त दिखावति।—सूर। (२) ज्ञान देना। जताना।

बोधनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रबोधनी एकादशी। (२) पिप्पली।

बोधि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समाधिभेद। (२) पीपल का पेड़।

बोधितरु, बोधिद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] गया में स्थित पीपल का वह पेड़ जिसके नीचे बुद्ध भगवान् ने संबोधि (बुद्धत्व) प्राप्त की थी।

विशेष—बौद्धों के धर्मग्रंथों के अनुसार इस वृक्ष का कल्पांत में भी नाश नहीं होता और इसी के नीचे बुद्ध गण सदा संबोधि प्राप्त करते हैं।

बोधिसत्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी हो, पर बुद्ध न हो पाया हो। बोधिसत्त्व की तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें पार करने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

बोना–क्रि० स० [सं० वपन] (१) बीज को जमने के लिये जुते खेत या भुरभुरी की हुई ज़मीन में छितराना। किसी दाने या फल के बीज को इसलिये मिट्टी में डालना जिसमें उसमें से अंकुर फूटे और पौधा उत्पन्न हो।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।—लेना।

(२) बिखराना। छितराना। इधर उधर डालना।

बोआ†—संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० बोबी] (१) स्तन। थन। चूँची। उ०—शिशु उदास है जब तजि बोबा। तब दोउ मिलि लागत रोबा।—निश्चल। (२) घर का साज सामान। अंगड़ खंगड़। (३) गट्ठर। गठरी। उ०—लीन भयों तहँ धोबी सोबी। ग्वालन पीठ लियो द्रुत बोबी।—गर्गसंहिता।

बोब्बी—संज्ञा स्त्री० [देश०] पुन्नाग या सुलताना चंपा की जाति का एक सदाबहार पेड़ जो दक्षिण में पच्छिमी घाट की पहाड़ियों में होता है।

बोय‡—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बू] (१) गंध। बास। (२) सुगंध। उ०—कल करील की कुंज सो उठत अतर की योय। भयो तोहिं भाभी कहा उठी अचानक रोय।—पद्माकर।

बोर—संज्ञा पुं० [हिं० बोरना] डुबाने की क्रिया। डुबाव। जैसे,—एक बोर में रंग अच्छा नहीं चढ़ेगा, कई बोर दो।

क्रि० प्र०—देना।

संज्ञा पुं० [सं० वर्त्तुल] (१) चाँदी या सोने का बना हुआ गोल और कंगूरेदार घुँघरू जो आभूषणों में गूथा जाता है। जैसे, पाजेब के बोर। (२) गुंबज के आकार का सिर पर पहनने का एक गहना जिसमें मीनाकारी का काम होता है और रत्नादि भी जड़े हुए होते हैं। इसे 'बीजु' भी कहते हैं। †संज्ञा पुं० गड्ढा। खड्डु। बिल।

बोरका†—संज्ञा पुं० [हिं० बोरना] (१) दवात। (२) मिट्टी की दवात जिसमें लड़के खड़िया घोलकर रखते हैं।

बोरना†—क्रि० स० [हिं० बूड़ना] (१) जल या किसी और द्रव पदार्थ में निमग्न कर देना। पानी या पानी सी चीज़ में इस प्रकार डालना कि चारों ओर पानी हो जाय। डुबाना। (२) डुबाकर भिगोना। पानी आदि में डालकर तर करना। जैसे,—कई बार बोरने से रंग चढ़ेगा। उ०—मानो मजीठ की माठ ढुरी इक ओर ते चाँदनी बोरति आवति।—नृपसंभु। (३) कलंकित करना। बदनाम कर देना। जैसे, कुल बोरना, नाम बोरना। उ०—तासु दूत है हम कुल बोरा।—तुलसी (४) युक्त या आवेष्टित करना। योग देना या मिलाना। उ०—कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत।—तुलसी (५) घुले रंग में डुबाकर रँगना। उ०—लागी जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकी केसर बोरी।—पद्माकर।

बोरसी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० गोरसी] मिट्टी का बरतन जिसमें आग रखकर जलाते हैं। अँगीठी।

बोरा—संज्ञा पुं० [सं० पुर=दोना या पत्र] (१) टाट का बना थैला जिसमें अनाज आदि रखते हैं, विशेषत: कहीं ले जाने के लिये।

यौ०—बोराबंदी।

संज्ञा पुं० [हिं० बोर] चाँदी या सोने का बना छोटा घुँघरू। दे० "बोर"।

बोरिका†—संज्ञा पुं० [हिं० बोरना] वह मिट्टी का बरतन जिसमें लड़के लिखने के लिये खड़िया घोलकर रखते हैं। बोरका।

बोरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोरा] छोटा थैला।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] चटाई। बिस्तर।

यौ०—बोरिया बधना।

मुहा०—बोरिया उठाना या बोरिया बधना उठाना=चलने की तैयारी करना। प्रस्थान करना।

बोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोरा] टाट की छोटी थैली। छोटा बोरा। उ०—सूर श्याम विप्रन बंदीजन देत रतन कंचन की बोरी।—सूर।

मुहा०—बोरी बाँधना=चलने की तैयारी करना। उ०—जानउँ लाई काहु ठगोरी। खन पुकार, खन बाँधै बोरी।—जायसी।

बोरो—संज्ञा पुं० [हिं० बोरना] एक प्रकार का मोटा धान जो नदी के किनारे की सीड़ में बोया जाता है।

बोरोबाँस—संज्ञा पुं० [देश० बोरो+हिं० बाँस] एक प्रकार का बाँस जो पूर्वी बंगाल में होता है।

बोर्ड—संज्ञा पुं० [अं०] (१) किसी स्थायी कार्य्य के लिये बनी हुई समिति। (२) माल के मामलों के फ़ैसले या प्रबंध के लिये बनी हुई समिति या कमेटी। (३) काग़ज़ की मोटी दफ़्ती।

बोर्डिंग हाउस—संज्ञा पुं० [अं०] वह घर जो विद्यार्थियों के रहने के लिये बना हो। छात्रावास।

बोलंगी बाँस—संज्ञा पुं० [देश० बोलगी+हिं० बाँस] एक प्रकार का बाँस जो उड़ीसा और चटगाँव की ओर होता है। यह घरों में लगता है और टोकरे बनाने के काम में आता है।

बोल—संज्ञा पुं० [हिं० बोलना] (१) मनुष्य के मुँह से उच्चारण किया हुआ शब्द या वाक्य। वचन। वाणी। (२) ताना। व्यंग्य। लगती हुई बात।

क्रि० प्र०—सुनाना।

मुहा०—बोल मारना=ताना देना। व्यंग्य वचन कहना।

(३) बाजों का बँधा या गठा हुआ शब्द। जैसे, तबले का बोल, सितार का बोल। (४) कही हुई बात या किया हुआ वादा। कथन या प्रतिज्ञा। जैसे,—उसके बोल का कोई मोल नहीं।

मुहा०—(किसी का) बोल बाला रहना=(१) बात की साख बनी रहना। बात स्थिर रहना। बात का मान होता जाना। (२) मान मर्यादा का बना रहना। भाग्य या प्रताप का बना रहना। बोल बाला होना=(१) बात की साख होना। बात का माना जाना या आदर होना। (२) मान मर्यादा की बढ़ती होना। प्रताप या भाग्य बढ़कर होना। (३) प्रसिद्धि होना।

कांति होना। (किसी का) बोल रहना=साख रहना। मान मर्यादा रहना। इज्जत रहना।

(५) गीत का टुकड़ा। अंतरा। (६) अदद। संख्या। (विशेषत: गायन में आई हुई वस्तुओं के संबंध में) (क्वी०) जैसे,—सौ बोल आए थे, चार चार लड्डू बाँट दिए।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सुगंधित गोंद जो स्वाद में कड़ुआ होता है। यह गूगल की जाति के एक पेड़ से निकलता है जो अरब में होता है।

बोलक*–संज्ञा पुं० [देश०] जल भ्रमण। (डिं०)

बोलचाल–संज्ञा स्त्री० [हिं० बोल+चाल] (१) बातचीत। कथनोपकथन। बातों का कहना सुनना। (२) मेलमिलाप। परस्पर सद्भाव। जैसे,—आज कल उन दोनों में बोलचाल नहीं है। (३) छेड़छाड़। (४) चलती भाषा। रोज़मर्रा। नित्य के व्यवहार की बोली। जैसे,—वे अधिकतर बोल-चाल की भाषा का व्यवहार करते हैं।

बोलता–संज्ञा पुं० [हिं० बोलना] (१) ज्ञान कराने और बोलने-वाला तत्व। आत्मा। उ०—बोलते को जान ले पहचान ले। बोलता जो कुछ कहे सो मान ले। (२) जीवन तत्व। प्राण। (३) अर्थयुक्त शब्द बोलनेवाला प्राणी। मनुष्य। (४) हुक्का। (फ़क़ीर)।

वि० खूब बोलनेवाला। वाक्पटु। वाचाल।

बोलती–संज्ञा स्त्री० [हिं० बोलना] बोलने की शक्ति। वाक्। वाणी।

मुहा०—बोलती मारी जाना=बोलने की शक्ति न रह जाना। मुँह से शब्द न निकलना।

बोलना–क्रि० अ० [सं० 'ब्रू' 'ब्रूयते' से बूर्यते, प्रा० बुलइ] (१) मुँह से शब्द निकालना। मुख से शब्द उच्चारण करना। जैसे, आदमियों का बोलना, चिड़ियों का बोलना, मेढक का बोलना इत्यादि।

संयो० क्रि०—उठना। उ०—आरही कुंज के भीतर पैठि सुधारि कै सुंदर सेज बिछाई। बातें बनाय सटा के नटा करि, माधो सों आय कै राधा मिलाई। आली कहा कहौं हाँसी की बात बिदूषक जैसी करी निठुराई। जाय रह्यो पिछवारे उतै, पुनि बोलि उठ्यो वृषभान की नाईं।

यौ०—बोलना चालना=बातचीत करना।

मुहा०—बोल जाना=(१) मर जाना। संसार में न रह जाना। (अशिष्ट) (२) निःशेष हो जाना। बाक़ी न रह जाना। चुक जाना। जैसे,—अब मिठाई बोल गई; और मँगाओ। (३) पुराना या जीर्ण होना। और व्यवहार के योग्य न रह जाना। टूट फूट जाना, घिस जाना या फट जाना। जैसे,—तुम्हारा जूता चार ही महीने में बोल गया। (४) हार मान लेना। हैरान होकर और आगे किसी काम में लगे रहने का बल या साहस न रखना। जैसे,—इतनी ही दूर में बोल गए, और दौड़ो। (५) सिटपिटा जाना। स्तब्ध हो जाना। (६) दिवाला निकाल देना। खुक्ख हो जाना।

(२) किसी वस्तु का शब्द उत्पन्न करना। किसी चीज़ का आवाज़ निकालना। जैसे,—(क) घंटा बोलना। (ख) यह जूता चलने में बहुत बोलता है।

क्रि० स० (१) कुछ कहना। कथन करना। वचन उच्चारण करना। जैसे, कोई बात बोलना, वचन बोलना।

संयो० क्रि०—देना।—जाना।

मुहा०—बोल उठना=एकाएक कुछ कहने लगना। सहसा कोई वचन निकाल देना। चुप न रहा जाना। जैसे,—हम लोग तो बात कर ही रहे थे, बीच में तुम क्यों बोल उठे?

(२) आज्ञा देकर कोई बात स्थिर करना। ठहराना। बदना। जैसे, (क) कूच बोलना, पड़ाव बोलना, मुक़ाम बोलना। (ख) साहब ने आज ख़ज़ाने पर नौकरी बोली है। (३) उत्तर में कुछ कहना। उत्तर देना। (४) रोक टोक करना। जैसे,—इस रास्ते से चले जाओ, कोई नहीं बोलेगा। (५) छेड़छाड़ करना। सताना। दुःख देना। जैसे,—तुम डरो मत, यहाँ कोई नहीं बोल सकता। *† (६) किसी का नाम आदि लेकर इसलिये चिल्लाना, जिसमें वह सुनकर पास चला आवे। आवाज़ देना। बुलाना। पुकारना। उ०—ग्वाल सखा ऊँचे चढ़ि बोलत बार बार लै नाम।—सूर।

संयो० क्रि०—लेना।

*† (७) आने के लिये कहना या कहलाना। पास आने के लिये कहना या सँदेसा भेजना। उ०—केसव बेगि चलौ, बलि, बोलति दीन भई वृषभानु की रानी।—केशव।

मुहा०—*बोलि पठाना=बुला भेजना। उ०—नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी।—तुलसी।

बोलबाला–संज्ञा पुं० [अं० बोल+फ़ा० बाला=ऊँचा] एक बहुत ऊँचा सदाबहार पेड़ जिसकी लकड़ी बहुत मज़बूत और भीतर ललाई लिए होती है। मकान में लगाने के लिये यह बहुत अच्छी होती है।

बोलवाना–क्रि० स० [हिं० बोलना का प्रेरणा०] (१) उच्चारण कराना। जैसे, पहाड़े बोलवाना। (२) दे० "बुलवाना"।

बोलसर†–संज्ञा पुं० [हिं० मौलसिरी] मौलसिरी। उ०—कोइ सो बोलसर, पुहुप बकोरी। कोई रूप मंजरी गोरी।—जायसी।

बोलांस—संज्ञा पुं० [हिं० बोला+अंश] वह अंश या भाग जो किसी का कह दिया गया हो।

बोलाना–क्रि० स० दे० "बुलाना"।

बोलावा–संज्ञा पुं० [हिं० बुलाना] कहीं आने के लिये भेजा हुआ सँदेसा या न्योता। निमंत्रण या आह्वान।

क्रि० प्र०—आना।—जाना।—भेजना।

बोली—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोलना] (१) किसी प्राणी के मुँह से निकला हुआ शब्द। मुँह से निकली हुई आवाज़। वाणी। जैसे,—(क) बच्चे की बोली, चिड़िया की बोली। (ख) वह ऐसा घबरा गया कि उसके मुँह से बोली तक न निकली।

क्रि० प्र०—बोलना।

मुहा०—मीठी बोली=कानों को अच्छा लगनेवाला सुर या शब्द।

(२) अर्थयुक्त शब्द या वाक्य। वचन। बात।

मुहा०—मीठी बोली=शब्द या वाक्य जिसका अर्थ प्रिय हो। मधुर वचन।

(३) नीलाम करनेवाले और लेनेवाले का ज़ोर से दाम का कहना। (४) वह शब्द समूह जिसका व्यवहार किसी प्रदेश के निवासी अपने भाव या विचार प्रकट करने के लिये संकेत रूप से करते हैं। भाषा। जैसे,—वहाँ बिहारी नहीं बोली जाती, वहाँ की बोली उड़िया है। (५) वह वाक्य जो उपहास या कूट व्यंग्य के लिये कहा जाय। हँसी दिल्लगी या ताना। ठठोली। उ०—सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं।—जायसी।

क्रि० प्र०—बोलना।—सुनाना।

यौ०—बोली ठोली।

मुहा०—बोली छोड़ना, बोलना या मारना=किसी को लक्ष्य करके उपहास या व्यंग्य के शब्द कहना। जैसे,—अब आप भी मुझ पर बोली बोलने लगे।

बोलीदार—संज्ञा पुं० [हिं० बोली+फ़ा० दार] वह असामी जिसे जोतने के लिये खेत योंही ज़बानी कहकर दिया जाय, कोई लिखा-पढ़ी न हो।

बोल्लाह—संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों की एक जाति।

बोवना†—क्रि० स० दे० "बोना"।

बोवाई—संज्ञा स्त्री० दे० "बोआई"।

बोवाना—क्रि० स० [हिं० बोना का प्रेरणा०] बोने का काम दूसरे से कराना।

बोह—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोर। या सं० वाह] डुबकी। गोता।

मुहा०—बोह लेना=डुबकी लेना। गोता लगाना। उ०—रूप जलधि बपुष लेत मन गयंद बोहैं।—तुलसी।

बोहनी—संज्ञा स्त्री० [सं० बोधन=जगाना] (१) किसी सौदे की पहली बिक्री। (२) किसी दिन की पहली बिक्री। उ०—(क) मारग जात गहि रह्यो री अँचरा मेरो नाहिन देत हौं बिना बोहनी।—हरिदास। (ख) औरन छाँड़ि परे हठ हमसों दिन प्रति कलह करत गहि झगरो। बिन बोहनी तनक नहिं देहौं ऐसेहि छीनि लेहु बरु सगरो।—सूर।

विशेष—जब तक बोहनी नहीं हुई रहती, तब तक दूकानदार किसी को उधार सौदा नहीं देते। उनका विश्वास है कि पहली बिक्री यदि अच्छी होगी, तो दिन भर अच्छी होगी। इस पहली बिक्री का शकुन किसी समय सब देशों में माना जाता था।

बोहारना†—क्रि० स० दे० "बुहारना"।

बोहारी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बोहारना] झाड़ू।

बोहित*—संज्ञा पुं० [सं० वोहित्थ] नाव। जहाज़। उ०—(क) बोहित भरा चला लै रानी। दान माँग सत देखी दानी।—जायसी। (ख) बंदौं चारिउ बेद, भव-बारिधि बोहित सरिस।—तुलसी।

बोहिया—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चाय जो चीन में होती है। इसकी पत्तियाँ छोटी और काली होती हैं।

बौंड़†—संज्ञा स्त्री० [सं० वोण्ट=वृंत, टहनी] (१) टहनी जो दूर तक डोरी के रूप में गई हो। (२) लता। बेल। उ०—नृपहि मोद सुनि सचिव सुभाखा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा।—तुलसी।

बौंड़ना†—क्रि० अ० [हिं० बौंड़] लता की तरह बढ़ना। टहनी फेंकना। बढ़कर फैलना। उ०—(क) मूल मूल सुर बीथि बेलि तमतोम सुदल अधिकाई। नखत सुमन नभ बिटप बौंड़ि मनो छपा छिटकि छबि छाई।—तुलसी। (ख) राम-काम तरु पाइ बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ, माँग कोखि तोषि पोषि फैलि फूलि फरि कै।—तुलसी। (ग) राम-बाहु-बिटप बिसाल बौंड़ी देखियत जनक मनोरथ कलपबेलि फरी है।—तुलसी।

बौंडर‡—संज्ञा पुं० [सं० वायुमंडल, हिं० बवंडर] घूम घूमकर चलनेवाली वायु का झोंका। बगूला। उ०—(क) तेहि समय बौंडर इक आई। हमैं बाहि लै चला उड़ाई। (ख) जहँ तहँ उड़े कीश भय पाये। यथा पात बौंडर के आये।—रघु० दा०।

बौंड़ी—संज्ञा स्त्री० [हिं० बौंड़] (१) पौधों या लताओं के वे कच्चे फल जो सार रहित होते हैं। ढेंढी। ढोंड़। जैसे, मदार या सेमर के बोड़े। उ०—गये हैं दहर भूमि तहाँ कृष्ण झूमि आये करी दवा धूम आक बौंड़िन सों मारि कै।—प्रिया।

† (२) फली। छीमी।

बौआना†—क्रि० अ० [सं० वायु, हिं० बाउ+आना (प्रत्य०)] सपने में कुछ कहना। स्वप्नावस्था का प्रलाप। (२) पागल या बाई चढ़े मनुष्य की भाँति अट्ट सट्ट बक उठना। बर्राना। उ०—एकोहं बहुस्यामि में काहि लगा अज्ञान। को मूरख को पंडिता केहि कारण बौआन।—कबीर।

बौखल—वि० [हिं० बाउ+सं० स्खलन] सनकी। पागल।

बौखलाना—क्रि० अ० [हिं० बाउ+सं० स्खलन] कुछ कुछ पागल हो जाना। बहक जाना। सनक जाना।

बौखा-संज्ञा स्त्री० [सं० वायु+स्खलन] हवा का तेज़ झोंका जो वेग में आँधी से कम हो ।

बौछाड़-संज्ञा स्त्री० [सं० वायु+क्षरण] (१) वायु के झोंके से तिरछी आती हुई बूँदों का समूह । बूँदों की झड़ी जो हवा के झोंके के साथ कहीं जा पड़े । झटास ।

क्रि० प्र०—आना ।

(२) वर्षा की बूँदों के समान किसी वस्तु का बहुत अधिक संख्या में कहीं आकर पड़ना । जैसे, फेंके हुए ढेलों की बौछाड़ । (३) बहुत अधिक संख्या में लगातार किसी वस्तु का उपस्थित किया जाना । बहुत सा देते जाना या सामने रखते जाना । वर्षा । झड़ी । जैसे,—उस विवाह में उसने रुपयों की बौछाड़ कर दी । (४) लगातार बात पर बात, जो किसी से कही जाय । किसी के प्रति कहे हुए वाक्यों का तार । जैसे, गालियों की बौछाड़ ।

क्रि० प्र०—छूटना ।—छोड़ना ।—पड़ना ।

(५) प्रच्छन्न शब्दों में आक्षेप या उपहास । व्यंग्यपूर्ण वाक्य जो किसी को लक्ष्य करके कहा जाय । ताना । कटाक्ष । बोली ठोली ।

क्रि० प्र०—करना ।—छोड़ना ।—मारना ।—होना ।

बौछार†-संज्ञा स्त्री० दे० "बौछाड़" ।

बौड़हा-वि० [सं० वातुल, हिं० बाउर+हा (प्रत्य०)] बावला । पागल ।

बौता-संज्ञा पुं० [सं० व्याय+हिं० प्र० ता या टा] जहाज़ों को किसी स्थान की सूचना देने के लिये पानी की सतह पर ठहराई हुई पीपे के आकार की वस्तु । समुद्र में तैरता हुआ निशान । तिरौंदा । काती । (लश०)

बौद्ध-वि० [सं०] बुद्ध द्वारा प्रचारित । जैसे, बौद्ध मत ।

संज्ञा पुं० गौतम बुद्ध का अनुयायी ।

बौद्धधर्म-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध द्वारा प्रवर्त्तित धर्म । गौतम बुद्ध का सिखाया मत ।

विशेष—संबोधन प्राप्त करने के उपरांत शाक्य मुनि गया से काशी आए और यहाँ उन्होंने अपने साक्षात् किए हुए धर्म-मार्ग का उपदेश आरंभ किया । "आर्य्य सत्य" और "द्वादशनिदान" (या प्रतीत्य समुत्पाद) के अंतर्गत उन्होंने अपने सिद्धांत की व्याख्या की है । आर्य सत्य के अंतर्गत ही प्रतिपद या मार्ग है । इस नवीन मार्ग का नाम, जिसका साक्षात्कार गौतम को हुआ, "मध्यमा प्रतिपदा" है । इस मध्यम मार्ग की व्याख्या भगवान् बुद्ध ने इस प्रकार की है—"हे भिक्षुओ ! परिव्राजक को इन दो अंतों का सेवन न करना चाहिए । वे दोनों अंत कौन हैं ? पहला तो काम या विषय में सुख के लिये अनुयोग करना । यह अंत अत्यंत दीन, ग्राम्य, अना्° और अनर्थ-संहित है । दूसरा है, शरीर को क्लेश देकर दुःख उठाना । यह भी अनार्य्य और अनर्थ-संहित है । हे भिक्षुओ ! तथागत ने (मैंने) इन दोनों अंतों का त्याग कर मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) को जाना है ।"

मार्ग आर्य्य सत्यों में चौथा है । चार आर्य्य सत्य ये हैं—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और मार्ग । पहली बात तो यह है कि दुःख है । फिर इस दुःख का कारण भी है । कारण है तृष्णा । यह तृष्णा इस प्रकार उत्पन्न होती है । मूल है अविद्या । अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप, नाम रूप से षडायतन (इंद्रियाँ और मन), षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से भव, भव से जाति (जन्म), जाति या जन्म से जरामरण इत्यादि । निदानों द्वारा इस प्रकार कारण मालूम हो जाने पर उसका निरोध आवश्यक है, यह जानना चाहिए। अंत में उस निरोध का जो मार्ग है, उसे भी जानना चाहिए। इसी मार्ग को निरोधगामिनी प्रतिपदा कहते हैं । यह मार्ग अष्टांग है । आठ अंग ये हैं—सम्यक्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वाचा, सम्यक्कर्मांत, सम्यगार्जीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि ।

बौद्ध मत के अनुसार कोई पदार्थ नित्य नहीं, सब क्षणिक हैं । नित्य चैतन्य कोई पदार्थ नहीं, सब विज्ञान मात्र है । बौद्ध अमर आत्मा नहीं मानते, पर कर्मवाद पर उनका बहुत ज़ोर है । कर्म के शेष रहने से ही फिर जन्म के बंधन में पड़ना पड़ता है । यहाँ पर शंका हो सकती है कि जब शरीर के उपरांत आत्मा रहती ही नहीं, तब पुनर्जन्म किसका होता है । बौद्ध आचार्य इसका इस प्रकार समाधान करते हैं—मृत्यु के उपरांत उसके सब खंड—आत्मा इत्यादि सब—नष्ट हो जाते हैं; पर उसके कर्म के कारण फिर उन खंडों के स्थान पर नए नए खंड उत्पन्न हो जाते हैं और एक नया जीव उत्पन्न हो जाता है । इस नए और पुराने जीव में केवल कर्म संबंध-सूत्र रहता है; इसी से दोनों को एक कहा करते हैं ।

बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ हैं—हीनयान और महायान । हीनयान बौद्ध मत का विशुद्ध और पुराना रूप है । महायान उस का अधिक विस्तृत रूप है, जिसके अंतर्गत बहुदेवोपासना और तंत्र की क्रियाएँ तक हैं । हीनयान का प्रचार बरमा, स्याम और सिंहल में है; और महायान का तिब्बत, मंगोलिया, चीन, जापान, मंचूरिया आदि में है । इस प्रकार बौद्ध मत के माननेवाले अब भी पृथ्वी पर सबसे अधिक हैं ।

बौधायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जिन्होंने श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र की रचना की थी ।

बौना–संज्ञा पुं० [सं० वामन] [स्त्री० बौनी] बहुत छोटे डील का मनुष्य। बहुत छोटा आदमी जो देखने में लड़के के समान जान पड़े, पर हो पूरी अवस्था का। अत्यंत ठिंगना या नाटा मनुष्य।

बौर†–संज्ञा पुं० [सं० मुकुल, प्रा० मुउड़] आम की मंजरी। मौर।

बौरई–संज्ञा स्त्री० [हिं० बौरा] पागलपन। सनक।

बौरना–क्रि० अ० [हिं० बौर+ना (प्रत्य०)] आम के पेड़ में मंजरी निकलना। आम का फूलना। मौरना। उ०—(क) डहडही बौरीं मंजु डारैं सहकारन की, चहचही चुहिल चहूँ कित अलीन की।—रसखानि। (ख) कूजे करि डारी खरी बौरी बौरे आम।—बिहारी। (ग) बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।—ठाकुर।

बौरहा†–वि० [हिं० बौरा+हा (प्रत्य०)] पागल। विक्षिप्त।

बौरा–वि० [सं० वातुल, प्रा० बाउड़, पुं० हिं० बाउर] [स्त्री० बौरी] (१) बावला। पागल। विक्षिप्त। सनकी। सिड़ी। जिसका मस्तिष्क ठीक न हो। (२) भोला। अज्ञान। नादान। मूर्ख। उ०—(क) हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरो सब गाउँ।—बिहारी। (ख) हौं बौरी ढूँढ़न गई रही किनारे बैठ।—कबीर। † (३) गूँगा।

बौराई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० बौरा+ई] पागलपन। उ०—सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई।—तुलसी।

बौराना†–क्रि० अ० [हिं० बौरा+ना (प्रत्य०)] (१) पागल हो जाना। सनक जाना। विक्षिप्त हो जाना। उ०—वा खाये बौरात है या पाये बौराइ।—कबीर। (२) उन्मत्त हो जाना। विवेक या बुद्धि से रहित हो जाना। उ०—भरतहिं दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये।—तुलसी।

क्रि० स० बेवकूफ़ बनाना। किसी को ऐसा कर देना कि वह भला बुरा न विचार सके। मति फेरना। उ०—(क) मथत सिंधु रुद्रहिं बौरायो। सुरन प्रेरि विष-पान करायो।—तुलसी। (ख) भल भूलिहु ठग के बौराये।—तुलसी।

बौराह*†–वि० [हिं० बौरा] (१) बावला। पागल। सनकी। उ०—बर बौराह बरद असवारा।—तुलसी।

बौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बौरा] बावली स्त्री। दे० "बौरा"।

बौलड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० बहु+लड़] सिकड़ी के आकार का सिर पर पहनने का एक गहना।

बौहर–संज्ञा स्त्री० [सं० वधूवर, हिं० बहुवर] वधू। दुलहिन। स्त्री। पत्नी।

ब्यंग–संज्ञा पुं० दे० "व्यंग्य"।

ब्यंजन–संज्ञा पुं० दे० "व्यंजन"।

ब्यक्ति–संज्ञा स्त्री० पुं० दे० "व्यक्ति"।

ब्यजन–संज्ञा पुं० दे० "व्यजन"।

ब्यतीतना*–क्रि० स० [सं० व्यतीत+हिं० प्रत्य० ना] गुज़र जाना। व्यतीत हो जाना। बीत जाना। उ०—(क) जबै दिवस दस पाँच ब्यतीते।—रघुराज। (ख) एक समय दिन रात व्यतीते। सबै संत भोजन ते रीते।—रघुराज। (ग) साधु प्रीति दिवस में नहिं गयऊ। पहरा काल ब्यतीतत भयऊ।—रघुराज।

ब्यथा–संज्ञा स्त्री० दे० "व्यथा"।

ब्यथित–वि० दे० "व्यथित"।

ब्यलीक–वि० दे० "व्यलीक"।

ब्यवसाय–संज्ञा पुं० दे० "व्यवसाय"।

ब्यवस्था–संज्ञा स्त्री० दे० "व्यवस्था"।

ब्यवहर†–संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार] उधार। क़र्ज़।

क्रि० प्र०—देना।

ब्यवहरिया–संज्ञा पुं० [हिं० व्यवहार] व्यवहार या लेन देन करनेवाला। रुपए का लेन देन करनेवाला। महाजन। उ०—तब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली।—तुलसी।

ब्यवहार–संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार] (१) दे० "व्यवहार"। (२) रुपए का लेन देन। (३) रुपए के लेन देन का संबंध। (४) सुख दुःख में परस्पर सम्मिलित होने का संबंध। इष्ट मित्र का संबंध। जैसे,—हमारा उनका ब्यवहार नहीं है।

ब्यवहारी–संज्ञा पुं० [सं० व्यवहारिन्] (१) कार्यकर्त्ता। मामला करनेवाला। (२) लेन देन करनेवाला। व्यापारी (३) जिसके साथ प्रेम का व्यवहार हो। हितू या इष्ट मित्र। (४) जिसके साथ लेन देन हो।

ब्यसन–संज्ञा पुं० दे० "व्यसन"। उ०—आसन बसन ब्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होहिं तहँ सुनहीं।—तुलसी।

ब्यसनी–वि० दे० "व्यसनी"।

ब्याज–संज्ञा पुं० [सं० व्याज] (१) दे० "व्याज"। (२) वृद्धि। सूद। उ०—कलि का स्वामी लोभिया मनसा रहै बँधाय। देवै पैसा ब्याज को लेखा करत दिन जाय।—कबीर। (ख) सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गयेउ ब्याज बहु बाढ़ा।—तुलसी।

क्रि० प्र०—जोड़ना।—फैलाना।—लगाना।

ब्याघ्र–संज्ञा पुं० दे० "व्याघ्र"।

ब्याधा–संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि"।

ब्याधि–संज्ञा स्त्री० दे० "व्याधि"।

ब्याना–क्रि० स० [सं० वीज=हिं० बिया+ना (प्रत्य०)] जनना। उत्पन्न करना। पैदा करना। गर्भ से निकालना। जैसे, गाय का बछड़ा ब्याना।

क्रि० अ० बच्चा देना। जनना।

ब्यापना*†–क्रि० अ० [सं० व्यापन] (१) किसी वस्तु वा स्थान में इस प्रकार फैलना कि उसका कोई अंश बाक़ी न रह जाय।

ओत-प्रोत होना । किसी स्थान में भर जाना । कोई जगह छेंक लेना । (२) चारों ओर जाना । फैलना । उ०—सुनि नारद के बचन तब सब कर मिटा विषाद । छन महँ ब्यापेउ सकल पुर घर घर यह संवाद ।—तुलसी । (३) घेरना । ग्रसना । उ०—जरा अवहि तोहि ब्यापे आई । भयेउ वृद्ध तन कह्यो शिर नाई ।—सूर । (४) प्रभाव करना । असर करना । उ०—(क) चिंता साँपिन को नहिं खाया । को जग जाहि न ब्यापी माया ।—तुलसी । (ख) गुरू मिला तब जानिये मिटे मोह तन ताप । हरष शोक ब्यापै नहीं तब हरि आपै आप ।—कबीर ।

संयो० क्रि०—जाना ।

ब्यापार-संज्ञा पुं० दे० "ब्यापार" ।

ब्यारी-संज्ञा स्त्री० [सं० विहार ?] (१) रात का भोजन । ब्यालू । उ०—एक दिन हरि ब्यारी करवाई । पूजक बीरी दियो न जाई ।—रघुराज ।

क्रि० प्र०—करना ।

(२) वह भोजन जो रात के लिये हो । जैसे,—मेरे लिये ब्यारी यहीं लाओ ।

ब्याल-संज्ञा पुं० दे० "ब्याल" ।

ब्याली-संज्ञा स्त्री० [सं० ब्याली] सर्पिणी । साँपिन । नागिन । उ०—दृग पुतरी इव सब दिन पाली । निरखत रहिन यथा मणि ब्याली ।—रघु० दा० ।

वि० [सं० ब्यालिन्] सर्पों को धारण करनेवाला । उ०—निरगुण निलज कुवेष कपाली । अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ।—तुलसी ।

ब्यालू-संज्ञा पुं० [सं० विहार ?] वह भोजन जो सायंकाल के समय किया जाता है । रात का खाना । ब्यारी । उ०—महाराज इधर आय परमानंद से ब्यालू कर सोये ।—लल्लू० ।

ब्याह-संज्ञा पुं० [सं० विवाह] देश, काल और जाति के नियमानुसार वह रीति या रस्म जिससे स्त्री और पुरुष में पति पत्नी का संबंध स्थापित होता है । विवाह । वि० दे० "विवाह" । उ०—(क) पढ़े पढ़ाये कछु नहीं ब्राह्म भक्ति ना जान । ब्याह श्राद्ध कारणे बैया सूँड़ा तान ।—कबीर । (ख) हिम हिमसैल-सुता-सिव-ब्याहू । सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—करना ।—होना ।

पर्या०—विवाह । उपयम । परिणय । उद्वाह । उपयाम । दारपरिग्रह । पाणिग्रहण । दारकर्म ।

ब्याहता-वि० [सं० विवाहित] जिसके साथ विवाह हुआ हो । जैसे, ब्याहता औरत ।

संज्ञा पुं० पति ।

ब्याहना-क्रि० स० [सं० विवाह+ना (प्रत्य०)] [वि० ब्याहता] (१) देश, काल और जाति की रीति के अनुसार पुरुष का किसी स्त्री को अपनी पत्नी या स्त्री का किसी पुरुष को अपना पति बनाना । उ०—(क) ताल झाँझ भल बाजत आवे कहरा सब कोइ नाचै हो । जेहि रँग दुलहा ब्याहन आयो तेहि रँग दुलहिन राचै हो ।—कबीर । (ख) चैत्र मास पूनों को शुभ दिन शुभ नछत्र शुभ वार । ब्याहि लई हरि देवि रुक्मिणी बाढ्यो सुख जो अपार ।—सूर ।

संयो० क्रि०—लेना ।

(२) किसी का किसी के साथ विवाह-संबंध कर देना । जैसे,—उसने उसको अपनी लड़की ब्याह दी ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

ब्यूँगा-संज्ञा पुं० [देश०] लकड़ी का एक औज़ार जिससे चमार चमड़े को रगड़ा देकर सुलझाते हैं । यह राँपी के आकार का होता है, पर इसका अगला भाग अधिक चौड़ा होता है ।

ब्योंचना-क्रि० अ० [सं० विकुंचन, प्रा० विउंचन] (१) हाथ, पैर, उँगली, गरदन आदि धड़ से अतिरिक्त किसी अंग के एकबारगी झोंके के साथ मुड़ जाने या टेढ़े हो जाने से नसों का स्थान से हट जाना, जिसमें पीड़ा और सूजन होती है । मुरकना । जैसे, पैर ब्योंचना । (२) किसी अंग का एकबारगी इधर उधर मुड़ जाना जिससे पीड़ा हो ।

संयो० क्रि०—जाना ।

ब्योंची‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० ब्योंचना] उलटी । वमन । कै ।

ब्योंत-संज्ञा स्त्री० पुं० [सं० व्यवस्था] (१) व्यवस्था । हाल । मामला । माजरा । ब्योरा । विवरण । उ०—छुवै छिगुनी पहुँचो गिलत अति दीनता दिखाय । बलि बामन को ब्योंत सुनि को बलि तुमहिं पत्याय ।—बिहारी । (२) कोई काम करने का ढंग । ढब । विधि । विधान । तरीका । साधन-प्रणाली । (३) युक्ति । उपाय । उ०—(क) मारिए कागहीं मोहिं पै लै सिर मेरे ही केतिकौ ब्योंत बतावत ।—बेनी । (ख) ए दई ऐसो कछू कर ब्योंत जु देखे अदेखिन के दृग दागै ।—पद्माकर । (४) आयोजन । भूमिका । उपक्रम । किसी काम को करने की तैयारी । जैसे,—वह ऊपर चढ़ने की ब्योंत कर रहा है ।

मुहा०—ब्योंत बाँधना=आयोजन करना ।

(५) संयोग । अवसर । नौबत । उ०—साहि रह्यो जकि सिवराज रह्यो तकि, और चाहि रह्यो चकि बने ब्योंत अनबन के ।—भूषण । (६) प्रबंध । इंतज़ाम । व्यवस्था । डौल । जैसे,—तुमने अपनी ब्योंत तो कर ली; और किसी को चाहे मिले या न मिले ।

क्रि० प्र०—करना ।—बैठाना ।

मुहा०—ब्योंत खाना=ठीक इंतज़ाम बैठना। व्यवस्था अनुकूल पड़ना। ब्योंत फैलना=दे० "ब्योंत खाना"।

(७) प्राप्त सामग्री से कार्य्य के साधन की व्यवस्था। काम पूरा उतारने का हिसाब किताब। जैसे,—कपड़ा तो कम है, पूरे कुरते की ब्योंत कैसे करें?

मुहा०—ब्योंत खाना=पूरा हिसाब किताब बैठना। ब्योंत फैलना=दे० "ब्योंत खाना।"

(८) साधन या सामग्री आदि की सीमा। समाई। जैसे,—जहाँ तक ब्योंत होगा, वहीं तक न ख़र्च करेंगे। (९) पहनावा बनाने के लिये कपड़े की काट छाँट। तराश। क़िता।

यौ०—कतरब्योंत।

ब्योंतना—क्रि० स० [हिं० ब्योंत] (१) कोई पहनावा बनाने के लिये कपड़े को नापकर काटना छाँटना। नाप से कतरना। उ०—(क)......मोटो एक थान आयो राख्यो है बिछाइ के। लावो वेगि याही क्षण मन की प्रवीन जानि, लायो दुख आनि ब्योंत लई है सिमाइ के।—प्रिया। (ख) जीत्यो जरासंधि बंदि छोरी। युगल कपाट बिदारि बाट करि लतनि जुही संधियोरी......। कह्यो न काहू को करै बहुरि बहुरि अरै एक ही पाइ दै इक पग पकरि पछाऱ्यो। सूर स्वामी अति रिसि भीम की भुजा के मिस ब्योंतल बसन ज्यों सुत तन फाऱ्यो।—सूर। (ग) दरजी किते तिते धन गरजी। ब्योंतहिं पटु पट जिमि नृप मरजी।—गोपाल। (२) मारना। काटना। मार डालना। (बाज़ारी)

ब्योंताना—क्रि० स० [हिं० ब्योंतना का प्रेरणा०] दरजी से नाप के अनुसार कपड़ा कटाना।

ब्योपार—संज्ञा पुं० दे० "ब्यापार"।

ब्योपारी—संज्ञा पुं० दे० "ब्यापारी"।

ब्योरना—क्रि० स० [सं० विवरण] (१) गुथे वा उलझे हुए बालों को अलग अलग करना। उ०—वेई कर ब्योरनि वहै ब्योरो कर न विचार। जिनही उरझो मो हियो तिनही सुरझे बार।—बिहारी। (२) सूत या तागे के रूप की उलझी हुई वस्तुओं के तार तार अलग करना।

ब्योरा—संज्ञा पुं० [हिं० ब्योरना] (१) किसी घटना के अंतर्गत एक एक बात का उल्लेख या कथन। विवरण। तफ़सील। उ०—एक लड़के ने पेड़ गिरने का ब्योरा ज्यों त्यों कहा।—लल्लू०।

यौ०—ब्योरेवार=एक एक बात के उल्लेख के साथ। सविस्तर। विस्तार के साथ।

(२) किसी विषय का अंग प्रत्यंग। किसी एक विषय के भीतर की सारी बात। किसी बात को पूरा करनेवाला एक एक खंड। जैसे,—सब १००) ख़र्च हुआ, जिसका ब्योरा नीचे लिखा है।

यौ०—ब्योरेवार।

(३) वृत्त। वृत्तांत। हाल। समाचार। उ०—उसने वहाँ का सब ब्योरा कह सुनाया।—लल्लू०।

ब्योसाय—संज्ञा पुं० दे० "ब्यवसाय"।

ब्योहर—संज्ञा पुं० [हिं० व्यवहार] लेन देन का व्यापार। रुपया ऋण देना। उ०—ऋण में निपुण ब्याज लेने में निपुण भये, ब्योहर निपुण स्वर्ग कौड़ी की कमाई है।—रघुराज।

मुहा०—ब्योहर चलाना=सूद पर रुपया देना। महाजनी करना।

ब्योहरा—संज्ञा पुं० [हिं० ब्योहार] सूद पर रुपया देनेवाला। हुंडी चलानेवाला।

ब्योहरिया—संज्ञा पुं० [सं० व्यवहार] सूद पर रुपए के लेन देन का व्यापार करनेवाला। महाजनी करनेवाला। उ०—(क) अब आनिय ब्यौहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली।—तुलसी। (ख) जेहि ब्यौहरिया कर ब्यौहारू। का लेइ देब जो छेकहि बारू।—जायसी।

ब्योहार—संज्ञा पुं० दे० "ब्यवहार"।

ब्यौहर—संज्ञा पुं० दे० "ब्योहर"।

ब्यौहरिया—संज्ञा पुं० दे० "ब्योहरिया"।

ब्यौहार—संज्ञा पुं० दे० "ब्योहार"।

ब्रज—संज्ञा पुं० दे० "ब्रज"।

ब्रजना*—क्रि० अ० [सं० ब्रजन] जाना। चलना। गमन करना। उ०—(क) ब्रजति ब्रजेस के निवेस 'भुवनेस' बेस, चक्षुकृत चकृत विवकृत भृकुटि बंक।—भुवनेश। (ख) अब न ब्रजहु ब्रज में ब्रज प्यारे। हमरे भाग्य विवस पगु धारे।—रघुराज। (ग) षोडस कला कृष्ण सुखसारा। द्वादश कला राम अवतारा। षोडस तजि द्वादश कस भजहू। समाधान करु नहिं घर ब्रजहू।—रघुराज।

ब्रजबादनी—संज्ञा स्त्री० [सं० ब्रज+बादनी ?] एक प्रकार का आम जिसका पेड़ लता के रूप का होता है। इसे राजवल्ली भी कहते हैं।

ब्रध्न—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) वृक्षमूल। (३) अर्क। आक का पौधा। (४) शिव। (५) दिन। (६) घोड़ा। (७) चौदहवें मनु भौत्य के पुत्र का नाम। (मार्कं० पु०) (८) एक रोग।

ब्रह्म—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मन्] (१) एक मात्र नित्य चेतन सत्ता जो जगत का कारण है। सत्, चित्, आनंद-स्वरूप तत्त्व जिसके अतिरिक्त और जो कुछ प्रतीत होता है, सब असत् या मिथ्या है।

विशेष—ब्रह्म जगत् का कारण है, यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानंद, अखंड, नित्य, निर्गुण, अद्वितीय इत्यादि है, यह उसका स्वरूप लक्षण है। जगत् का कारण होने पर भी जैसी कि सांख्य की प्रकृति या वैशेषिक का

परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्म परिणामी या आरंभक नहीं। वह जगत् का अभिन्न—निमित्तोपादान विवर्त्त कारण है, जैसे मकड़ी, जो जाले का निमित्त और उपादान दोनों कही जा सकती है। सारांश यह कि जगत् ब्रह्म का परिणाम या विकार नहीं है, विवर्त्त है। किसी वस्तु का कुछ और हो जाना विकार या परिणाम है। उसका और कुछ प्रतीत होना विवर्त्त है। जैसे,—दूध का दही हो जाना विकार है, रस्सी का साँप प्रतीत होना विवर्त्त है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, अतः मिथ्या या भ्रम रूप है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। और जो कुछ दिखाई पड़ता है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। चैतन्य आत्मवस्तु के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता न स्वगत भेद के रूप में, न सजातीय भेद के रूप में और न विजातीय भेद के रूप में सिद्ध हो सकती है। अतः शुद्ध अद्वैत दृष्टि में जीवात्मा ब्रह्म का अंश (स्वगत भेद) नहीं है, अपने को परिच्छिन्न और माया-विशिष्ट समझता हुआ ब्रह्म ही है। 'सत्' पदार्थ केवल एक ही हो सकता है। दो सत् पदार्थ मानने से दोनों को देश या काल से परिच्छिन्न मानना पड़ेगा। नाम और रूप की उत्पत्ति का ही नाम सृष्टि है। नाम और रूप ब्रह्म के अवयव नहीं; क्योंकि वह तीनों प्रकार के भेदों से रहित है। अतः अद्वैत ज्ञान ही सत्य ज्ञान है, द्वैत्य या नानात्व ज्ञान अज्ञान है, भ्रम है। 'ब्रह्म' का सम्यक् निरूपण करनेवाले आदि ग्रंथ उपनिषद् हैं। उनमें 'नेति' 'नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर ब्रह्म प्रपंचों से परे कहा गया है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य द्वारा आत्मा और ब्रह्म का अभेद व्यंजित किया गया है। ब्रह्म संबंधी इस ज्ञान का प्राचीन नाम 'ब्रह्मविद्या' है, जिसका उपदेश उपनिषदों में स्थान स्थान पर है। पीछे ब्रह्मतत्व का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन व्यास द्वारा 'ब्रह्मसूत्र' में हुआ, जो वेदांत दर्शन का आधार हुआ। दे० "वेदांत"। (२) ईश्वर। परमात्मा। (३) आत्मा। चैतन्य। जैसे,—जैसा तुम्हारा ब्रह्म कहे, वैसा करो। (४) ब्राह्मण (विशेषतः समस्त पदों में)। जैसे,—ब्रह्मद्रोही, ब्रह्महत्या। उ०—कुल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई।—तुलसी। (५) ब्रह्मा (समास में)। जैसे, ब्रह्मसुता, ब्रह्मकन्यका। (६) ब्राह्मण जो मरकर प्रेत हुआ हो। ब्राह्मण भूत। ब्रह्मराक्षस। उ०—तासु सुता रहि सुछबि विशाला। ताहि लग्यो इक ब्रह्म कराला।—रघुराज।

मुहा०—**ब्रह्म लगना**=किसी के ऊपर ब्राह्मण प्रेत का अधिकार होना।

(७) वेद। (८) एक की संख्या। (९) फलित ज्योतिष में २७ योगों में से पचीसवाँ योग जो सब कार्यों के लिये शुभ कहा गया है। (१०) संगीत में ताल के चार भेदों में से एक।

ब्रह्मकन्यका, ब्रह्मकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मा की कन्या, सरस्वती। (२) भारंगी नाम की बूटी जो दवा के काम में आती है। ब्राह्मी बूटी।

ब्रह्मकर्म्म—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मकर्म्मन्] (१) वेद विहित कर्म। (२) ब्राह्मण का कर्म।

ब्रह्मकला—संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायनी।

ब्रह्मकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा तुल्य। (२) उतना समय जितने में एक ब्रह्मा रहते हैं।

ब्रह्मकांड—संज्ञा पुं० [सं०] वेद का वह भाग जिसमें ब्रह्म की मीमांसा की गई है और जो कर्मकांड से भिन्न है। ज्ञानकांड। अध्यात्म।

ब्रह्मकाय—संज्ञा पुं० [सं०] एक विशेष जाति के देवता।

ब्रह्मकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] तूत का पेड़। शहतूत।

ब्रह्मकुशा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा।

ब्रह्मकूर्च—संज्ञा पुं० [सं०] रजस्वला के स्पर्श या इसी प्रकार की और अशुद्धि दूर करने के लिये एक व्रत जिसमें एक दिन निराहार रहकर दूसरे दिन पंचगव्य पिया जाता है।

ब्रह्मकोशी—सं० स्त्री० [सं०] अजमोदा।

ब्रह्मक्षत्र—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण और क्षत्रिय से उत्पन्न एक जाति। (विष्णु पु०)

ब्रह्मगति—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुक्ति। नजात।

ब्रह्मगाँठ—संज्ञा स्त्री० [सं० ब्रह्म ग्रंथि] जनेऊ की गाँठ।

ब्रह्मगोल—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मांड।

ब्रह्मग्रंथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञोपवीत या जनेऊ की मुख्य गाँठ।

ब्रह्मग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म राक्षस।

ब्रह्मघातक—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण की हत्या करनेवाला।

ब्रह्मघातिनी—वि० स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मण को मारनेवाली। (२) रजस्वला होने के दूसरे दिन स्त्री की संज्ञा (छूत के विचार से)।

ब्रह्मघाती—वि० [सं० ब्रह्मघातिन्] [स्त्री० ब्रह्मघातिनी] ब्राह्मण को मार डालनेवाला। ब्रह्महत्या करनेवाला।

ब्रह्मघोष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेदध्वनि। (२) वेदपाठ। उ०—भाँति भाँति कहौं कहँ लगि बाटिका बहुधा भली। ब्रह्मघोष घने तहाँ जनु है गिरा बन की थली।

ब्रह्मचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] संसारचक्र। (उपनिषद्)

ब्रह्मचर—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्म=ब्राह्मण+चर=भोजन] वह माफ़ी ज़मीन जो ब्राह्मण को पूजा आदि करने के बदले में दी जाय।

ब्रह्मचर्य्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग में एक प्रकार का यम। वीर्य को रक्षित रखने का प्रतिबंध। मैथुन से बचने की साधना।

विशेष—शुक्र धातु को विचलित न होने देने से मन और बुद्धि की शक्ति बहुत बढ़ती है और चित्त की चंचलता नष्ट होती है।

(२) चार आश्रमों में पहला आश्रम। आयु या जीवन के कर्त्तव्यानुसार चार विभागों में से प्रथम विभाग जिसमें पुरुष को स्त्रीसंभोग आदि व्यसनों से दूर रहकर केवल अध्ययन में लगा रहना चाहिए।

विशेष—प्राचीन काल में उपनयन संस्कार के उपरांत बालक इस आश्रम में प्रवेश करता था और आचार्य के यहाँ रहकर वेद शास्त्र का अध्ययन करता था। ब्रह्मचारी के लिये मद्य मांस ग्रहण, गंध द्रव्यसेवन, स्वादिष्ट और मधुर वस्तुओं का खाना, स्त्री-प्रसंग करना, नृत्य, गीतादि देखना-सुनना सारांश यह कि सब प्रकार के व्यसन निषिद्ध थे। उसे अच्छे पवित्र गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा लेना और आचार्य के लिये आवश्यक वस्तुओं को जुटाना पड़ता था। भिक्षा माँगने में गुरु का कुल, अपना कुल और नाना का कुल बचाना पड़ता था। पर यदि भिक्षा योग्य कोई गृहस्थ न मिलता तो वह नाना-मामा के कुल से माँगना आरंभ कर सकता था। नित्य समिध-काष्ठ वन से लाकर प्रातः सायं होम करना होता था। यह होम यदि छूट जाता तो अवकर्णी प्रायश्चित्त करना पड़ता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिये एकान्त भोजन आवश्यक होता था, पर क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिये नहीं। ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा के समय आदि को छोड़ सदा आचार्य की आँख के सामने रहना कर्त्तव्य था। आचार्य न हों तो आचार्य्य पुत्र के पास, वह भी न हों तो अग्निहोत्र की अग्नि के पास रहना होता था।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकार का कहा गया है—एक उपकुर्वाण जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पूर्व सब द्विजों का कर्त्तव्य है; दूसरा नैष्ठिक जो आजीवन रहता है।

ब्रह्मचारिणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करनेवाली स्त्री। (२) दुर्गा। पार्वती। गौरी। (३) सरस्वती। (४) भारंगी बूटी।

ब्रह्मचारी—संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मचारिन्] [स्त्री० ब्रह्मचारिणी] (१) ब्रह्मचर्य्य का व्रत धारण करनेवाला। (२) ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति। स्त्री-संसर्ग आदि व्यसनों से दूर रहकर पहले आश्रम में विद्याध्ययन करनेवाला पुरुष। प्रथमाश्रमी।

ब्रह्मज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिरण्यगर्भ। (२) ब्रह्मा। (३) ब्रह्म से उत्पन्न जगत्

ब्रह्मजटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दौने का पौधा। दमनक।

ब्रह्मजन्म—संज्ञा पुं० [सं०] उपनयन संस्कार।

ब्रह्मजार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मणी का उपपति। (२) इंद्र।

ब्रह्मजीवी—वि० [सं० ब्रह्मजीविन्] श्रौत आदि कर्म करा कर जीविका चलानेवाला।

ब्रह्मज्ञ—वि० [सं०] ब्रह्म को जाननेवाला। वेदांत का तत्त्व समझनेवाला। ज्ञानी।

ब्रह्मज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म का बोध। पारमार्थिक सत्ता का बोध। दृश्य जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय और एकमात्र शुद्ध निर्गुण चैतन्य की जानकारी। अद्वैत सिद्धांत का बोध। उ०—ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।—तुलसी।

ब्रह्मज्ञानी—वि० [सं० ब्रह्मज्ञानिन्] परमार्थ तत्त्व का बोध रखनेवाला। अद्वैतवादी।

ब्रह्मण्य—वि० [सं०] (१) ब्राह्मणनिष्ठ। ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखनेवाला। उ०—प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना। मोहि हित पिता तजे भगवाना।—तुलसी। (२) ब्रह्म या ब्रह्मा संबंधी।

संज्ञा पुं० तूत का पेड़। शहतूत।

ब्रह्मताल—संज्ञा पुं० [सं०] १४ मात्राओं का ताल। इसमें १० आघात और ४ खाली रहते हैं।

ब्रह्मतीर्थ—संज्ञा पुं० [सं०] नर्मदा के तट पर एक प्राचीन तीर्थ (महाभारत)।

ब्रह्मत्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुद्ध ब्रह्म भाव। (२) ब्राह्मणत्व। (३) ब्रह्मा नामक ऋत्विक् होने का भाव या धर्म।

ब्रह्मदंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण ब्रह्मचारी का डंडा। (२) तीन शिखावाला केतु। (३) ब्राह्मण का शाप।

ब्रह्मदंडी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक जड़ी जो जंगलों में प्रायः पाई जाती है। इसकी पत्तियों और फलों पर काँटे होते हैं। वैद्यक में इसे गरम और कड़वी तथा कफ और वातनाशक माना गया है।

पर्या०—अजदंती। कटपत्रफला।

ब्रह्मदर्भा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवाइन।

ब्रह्मदाता—संज्ञा स्त्री० [सं० ब्रह्मदातृ] वेद पढ़ानेवाला आचार्य्य।

ब्रह्मदान—संज्ञा पुं० [सं०] वेद-विद्या देना। वेद पढ़ाना।

ब्रह्मदाय—संज्ञा पुं० [सं०] वेद का वह भाग जिसमें ब्रह्म का निरूपण है।

ब्रह्मदारु—संज्ञा पुं० [सं०] तूत का पेड़। शहतूत।

ब्रह्मदिन—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा का एक दिन जो १००० चतुर्युगियों का माना जाता है।

ब्रह्मदेया—वि० स्त्री० [सं०] ब्रह्मविवाह में दी जानेवाली (कन्या)।

ब्रह्मदैत्य—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण प्रेत। ब्रह्म राक्षस।

ब्रह्मदोष—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण को मारने का दोष। ब्रह्म-हत्या का बुरा प्रभाव। जैसे,—इस कुल में ब्रह्मदोष है।

ब्रह्मदोषी—वि० [सं०] वह जिसे ब्रह्महत्या लगी हो।

ब्रह्मद्रव—संज्ञा पुं० [सं०] गंगाजल।

ब्रह्मद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] पलास । टेसू ।

ब्रह्मद्रोही—वि० [सं०] ब्राह्मणों से बैर रखनेवाला ।

ब्रह्मद्वार—संज्ञा पुं० [सं०] खोपड़ी के बीच माना हुआ वह छेद जिससे योगियों के प्राण निकलते हैं । ब्रह्मरंध्र । ब्रह्मछिद्र । उ०—(क) षट दल अष्ट द्वादश दल निर्मल अजपा जाप जपाली । त्रिकुटी संगम ब्रह्मद्वार भिदि यों मिलिहैं बनमाली । —सूर । (ख) ब्रह्मद्वार फिरि फोरि कै निकसे गोकुल राय । —सूर ।

ब्रह्मनाभ—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

ब्रह्मनिष्ठ—वि० [सं०] (१) ब्राह्मण-भक्त । (२) ब्रह्मज्ञान संपन्न । संज्ञा पुं० पारिस पीपल ।

ब्रह्मपत्र—संज्ञा पुं० [सं०] पलास का पत्ता ।

ब्रह्मपद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मत्व । (२) ब्राह्मणत्व । (३) मोक्ष । मुक्ति ।

ब्रह्मपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पिठवन नाम की लता ।

ब्रह्मपवित्र—संज्ञा पुं० [सं०] कुश ।

ब्रह्मपादप—संज्ञा पुं० [सं०] पलाश का पेड़ ।

ब्रह्मपाश—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा का दिया हुआ पाश नामक अस्त्र । (पाश या फंदे का प्रयोग प्राचीन काल में युद्ध में होता था) ।

ब्रह्मपुत्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा का पुत्र । (२) नारद । (३) वशिष्ठ । (४) मनु । (५) मरीचि । (६) सनकादिक । (७) एक प्रकार का विष । यह एक पौधे का कंद है जो मलयाचल पर होता है । इसका प्रयोग रसायन और वाजीकरण में होता है । (८) एक नद जो मानसरोवर से निकलकर हिमालय के पूर्वीय प्रांत से भारतवर्ष में प्रवेश करता है और आसाम, बंगाल होता हुआ बंगाल की खाड़ी में गिरता है । इसका प्राचीन नाम लौहित्य है । अमोघानंदन नाम भी मिलता है ।

ब्रह्मपुत्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती । (२) सरस्वती नदी । (३) वाराहीकंद ।

ब्रह्मपुर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मलोक । (२) ब्रह्म के अनुभव का स्थान, हृदय । (३) ईशान कोण में स्थित एक देश (बृहत्संहिता) ।

ब्रह्मपुराण—संज्ञा पुं० [सं०] अठारह पुराणों में से एक ।

विशेष—पुराणों में इसका नाम पहले आने से कुछ लोग इसे आदि पुराण भी कहते हैं । मत्स्यादि पुराणों में इसके श्लोकों की संख्या दस हजार लिखी है । पर आज कल ७००० श्लोकों का ही यह पुराण मिलता है । जिस रूप में यह पुराण मिलता है, उस रूप में प्राचीन नहीं जान पड़ता । इसमें 'पुरुषोत्तम क्षेत्र' का बहुत अधिक वर्णन है । जगन्नाथ जी और कोणादित्य के मंदिर आदि का ४० अध्यायों में वर्णन है । "पुरुषोत्तम प्रासाद" से जगन्नाथ जी के विशाल मंदिर का अभिप्राय है जिसे गांगेय वंश के राजा चोड़गंग ने वि० संवत् ११३४ में बनवाया था । उत्तरखंड में मारवाड़ की 'बलजा' नदी का माहात्म्य है । कृष्ण की कथा भी आई है, पर अधिकतर वर्णन तीर्थों और उनके माहात्म्य का है ।

ब्रह्मफाँस—संज्ञा स्त्री० दे० "ब्रह्मपाश"

ब्रह्मबंधु—संज्ञा पुं० [सं०] वह ब्राह्मण जो अपने कर्म से हीन हो । पतित ब्राह्मण ।

ब्रह्मबल—संज्ञा पुं० [सं०] वह तेज या शक्ति जो ब्राह्मण को तप आदि द्वारा प्राप्त हो । ब्राह्मण की शक्ति ।

ब्रह्मभूमिजा—संज्ञा पुं० [सं०] सिंहली ।

ब्रह्मभूय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मत्व । (२) मोक्ष ।

ब्रह्मभोज—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मणों को खिलाने का कर्म । ब्राह्मण भोजन ।

ब्रह्ममंडूकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मजीठ । (२) मंडूकपर्णी । (३) भारंगी ।

ब्रह्ममति—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों में एक प्रकार के उपदेवता (ललितविस्तर) ।

ब्रह्ममुहूर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] बड़े तड़के का समय । सूर्योदय से ३-४ घड़ी पहले का समय । उ०—(क) ब्रह्ममुहूरत भयो सबेरो जागो दोऊ भाई ।—सूर । (ख) ब्रह्ममुहूरत जानि नरेशा । आयो निज यदुनाथ निवेशा ।—रघुराज ।

ब्रह्ममेखल—संज्ञा पुं० [सं०] मुंज तृण । मूँज ।

ब्रह्ममेध्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी (महाभारत) ।

ब्रह्मयज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विधिपूर्वक वेदाभ्यास । (२) वेदाध्ययन । वेद पढ़ाना ।

ब्रह्मयष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी । बम्हनेटी ।

ब्रह्मयामल—संज्ञा पुं० [सं०] एक तंत्र ग्रंथ ।

ब्रह्मयोग—संज्ञा पुं० [सं०] १८ मात्राओं का एक ताल जिसमें १२ आघात और ६ खाली होते हैं ।

ब्रह्मयोनि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक तीर्थ स्थान जो गया जी में है । (२) ब्रह्म की प्राप्ति के लिये उसका ध्यान ।

ब्रह्मरंध्र—संज्ञा पुं० [सं०] मूर्द्धा का छेद । ब्रह्मांड द्वार । मस्तक के मध्य में माना हुआ गुप्त छेद जिससे होकर प्राण निकलने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है । कहते हैं कि योगियों के प्राण इसी रंध्र से निकलते हैं । उ०—ब्रह्मरंध्र फोरि जीव यों मिल्यो बिलोकि जाइ । गेह चूरि ज्यों चकोर चंद्र में मिलै उड़ाइ ।—केशव ।

ब्रह्मराक्षस—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेत योनि में गया हुआ ब्राह्मण । वह ब्राह्मण जो मरकर भूत हुआ हो (२) महादेव का एक गण ।

ब्रह्मरात—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुकदेव । (२) याज्ञवल्क्य मुनि ।

ब्रह्मरात्र—संज्ञा पुं० [सं०] रात के शेष चार दंड । ब्राह्ममुहूर्त्त ।

ब्रह्मरात्रि–संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मा की एक रात जो एक कल्प की होती है।

ब्रह्मराशि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परशुराम का एक नाम। (२) बृहस्पति से आक्रांत श्रवण नक्षत्र।

ब्रह्मरीति–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पीतल।

ब्रह्मरूपक–संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में गुरु लघु गुरु लघु के क्रम से १६ अक्षर होते हैं। इसे 'चंचला' और 'चित्र' भी कहते हैं। उ०—अब देह सीख देह राखि लेह प्राण जात। राज बाप मोल लै करै जु दीह पांथि गात। दास होय पुत्र होय शिष्य होय कोइ माइ। शासना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ।—केशव।

ब्रह्मरूपिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बंदा। बाँदा।

ब्रह्मरेख, ब्रह्मलेख–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाग्य वा अभाग्य का लेख जिसके विषय में कहा जाता है कि ब्रह्मा किसी जीव के गर्भ में आते ही उसके मस्तक पर लिख देते हैं।

ब्रह्मर्षि–संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण ऋषि।

ब्रह्मर्षिदेश–संज्ञा पुं० [सं०] वह भूभाग जिसके अंतर्गत कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और शूरसेनक देश थे। (मनु०)

ब्रह्मलोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लोक जहाँ ब्रह्मा रहते हैं। (२) मोक्ष का एक भेद।

विशेष—कहते हैं कि जो लोग देवयान पथ से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, उन्हें फिर इस लोक में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता।

ब्रह्मवध–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्महत्या।

ब्रह्मवध्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्महत्या। ब्राह्मणवध।

ब्रह्मवर्चस्–संज्ञा पुं० [सं०] वह शक्ति जो ब्राह्मण तप और स्वाध्याय द्वारा प्राप्त करे। ब्रह्मतेज।

ब्रह्मवर्चस्वी–वि० [सं० ब्रह्मवर्चस्विन्] ब्रह्म तेजवाला।

ब्रह्मवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।

ब्रह्मवाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद।

ब्रह्मवाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद का पढ़ना पढ़ाना। वेदपाठ। (२) वह सिद्धांत जिसमें शुद्ध चैतन्य मात्र की सत्ता स्वीकार की जाय, अनात्म की सत्ता न मानी जाय। अद्वैतवाद।

ब्रह्मवादिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गायत्री।

ब्रह्मवादी–वि० [सं० ब्रह्मवादिन्] [स्त्री० ब्रह्मवादिनी] ब्रह्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य मात्र की सत्ता का स्वीकार करनेवाला। वेदांती। अद्वैतवादी।

ब्रह्मबिंदु–संज्ञा पुं० [सं०] वेदपाठ करने में मुँह से निकला हुआ थूक का छींटा।

ब्रह्मविद्–वि० [सं०] (१) ब्रह्म को जानने वा समझनेवाला। (२) वेदार्थज्ञाता।

ब्रह्मविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह विद्या जिसके द्वारा कोई व्यक्ति ब्रह्म को जान सके। उपनिषद् विद्या। (२) दुर्गा।

ब्रह्मवृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलाशवृक्ष। (२) गूलर का पेड़।

ब्रह्मवेत्ता–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म को समझनेवाला। ब्रह्मज्ञानी। तत्त्वज्ञ।

ब्रह्मवैवर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह प्रतीति मात्र जो ब्रह्म के कारण हो; जैसे,—जगत् की। (२) ब्रह्म का विवर्त्त जगत्। ब्रह्म के कारण प्रतीत होनेवाला जगत्। (३) श्रीकृष्ण। (४) अठारह पुराणों में से एक पुराण जो कृष्ण-भक्ति-संबंधी है।

विशेष—मत्स्यपुराण में इस पुराण का जो परिचय दिया हुआ है, उसमें लिखा है कि इसमें सावर्णि ने नारद से 'रथंतर' कल्प के श्रीकृष्ण का माहात्म्य और ब्रह्मवाराह की गाथा कही है। पर इस नाम का जो पुराण आजकल मिलता है, उसमें न तो सावर्णि वक्ता हैं और न ब्रह्मवाराह की गाथा है। प्रचलित पुराण में नारायण ऋषि नारदजी से और नारदजी व्यासजी से कहते हैं। इसके 'ब्रह्म', 'प्रकृति', 'गणेश' और 'कृष्ण-जन्म' नामक चार खंड हैं। ब्रह्मखंड में परब्रह्मनिरूपण, सृष्टि, ब्रह्मांड की उत्पत्ति, कृष्ण रूप में नारायण का आविर्भाव, महाविराट्-जन्म, रासमंडल, राधा की उत्पत्ति, गोपों और गौओं की उत्पत्ति, वेद शास्त्र की उत्पत्ति, पृथ्वी के गर्भ से मंगल की उत्पत्ति इत्यादि विषय हैं। प्रकृति खंड में शक्ति शब्द की निरुक्ति, ब्रह्मांड की उत्पत्ति, देवताओं का आविर्भाव, सरस्वती, लक्ष्मी और गंगा का परस्पर विवाद और शाप के कारण नदी रूप में हो जाना, भूमिदान आदि का पुण्य, भगीरथ का गंगा लाना, गोलोक में क्रोध करके राधा का गंगा को पान करने दौड़ना, गंगा का श्रीकृष्ण के चरण में शरण लेना, फिर ब्रह्मा आदि की प्रार्थना पर कृष्ण का गंगा को पैर से निकाल कर देना, तुलसी की कथा इत्यादि हैं। गणेशखंड में शिव का पार्वती को गंगातट पर हरिमंत्र देना, पार्वती का कृष्ण से वर प्राप्त करना, गणेशजन्म, गणेश के शिरच्छेद और गजाननत्व का कारण है। श्रीकृष्ण-जन्म खंड में श्रीकृष्ण की अनेक कथाओं और विहार आदि का वर्णन है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस पुराण के असल होने में बहुत संदेह है। नारद और शिवपुराण में दिए हुए लक्षण भी इस पर नहीं घटते। वैष्णव पुराण तो यह है ही, पर विष्णु के कृष्ण रूप को सबसे अधिक महत्व प्रदान करना ही इसका मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है।

ब्रह्मशल्य–संज्ञा पुं० [सं०] बबूल का पेड़।

ब्रह्मशासन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद या स्मृति की आज्ञा।

(२) वह गाँव या भूमि जो राजा की ओर से ब्राह्मण को दी गई हो।

ब्रह्मशिर–संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मशिरस्] एक अस्त्र जिसका उल्लेख रामायण और महाभारत दोनों में है। इस अस्त्र का चलाना अगस्त्य से सीखकर द्रोणाचार्य ने अर्जुन और अश्वत्थामा को सिखाया था।

ब्रह्मसती–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती नदी।

ब्रह्मसत्र–संज्ञा पुं० [सं०] विधिपूर्वक वेदपाठ। ब्रह्मयज्ञ।

ब्रह्मसदन–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में ब्रह्मा नामक ऋत्विक् का आसन जो वारुणी काष्ठ का और कुश से ढका हुआ होता था (कात्या० श्रौत०)।

ब्रह्मसभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्माजी की सभा। (२) ब्राह्मणों की सभा।

ब्रह्मसमाज–संज्ञा पुं० [सं०] एक नया संप्रदाय जिसके प्रवर्त्तक बंगाल के राजा राममोहनराय थे। इसमें उपनिषदों में निरूपित एक ब्रह्म की उपासना और मनुष्यमात्र के प्रति भ्रातृभाव का उपदेश मुख्य है। बंग देश के नवशिक्षितों में एक समय इसका बहुत प्रचार हो चला था।

ब्रह्मसर–संज्ञा पुं० [सं० ब्रह्मसरस्] एक प्राचीन तीर्थ। (महाभारत)

ब्रह्मसावर्णि–संज्ञा पुं० [सं०] दसवें मनु का नाम।

विशेष—भागवत के अनुसार इनके मन्वंतर में विष्वक्सेन अवतार और इंद्र, शंभु, सुवासन, विरुद्ध इत्यादि देवता होंगे।

ब्रह्मसिद्धांत–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष की एक सिद्धांत-पद्धति।

ब्रह्मसुत–संज्ञा पुं० [सं०] मरीचि आदि ब्रह्मा के पुत्र।

ब्रह्मसुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती।

ब्रह्मसुवर्चला–संज्ञा स्त्री० [सं०] हुरहुज या हुरहुर नाम का पौधा। पहले तपस्वी लोग इसका कड़ुवा रस पीते थे।

ब्रह्मसू–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु की चतुर्व्यूहात्मक मूर्त्तियों में से एक।

ब्रह्मसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जनेऊ। यज्ञोपवीत। (२) व्यास का शारीरक सूत्र जिसमें ब्रह्म का प्रतिपादन है और जो वेदांत दर्शन का आधार है।

ब्रह्मसृज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा को उत्पन्न करनेवाला। (२) शिव का एक नाम।

ब्रह्मस्तेय–संज्ञा पुं० [सं०] गुरु की अनुमति के बिना अन्य को पढ़ाया हुआ पाठ सुनकर अध्ययन करना। (मनु०)

ब्रह्मस्व–संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण का भाग। ब्राह्मण का धन।

ब्रह्महत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मणवध। ब्राह्मण को मार डालना।

विशेष—मनु आदि ने ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी और गुरुपत्नी के साथ गमन को महापातक कहा है।

ब्रह्महृदय–संज्ञा पुं० [सं०] प्रथम वर्ग के १९ नक्षत्रों में से एक नक्षत्र जिसे अँगरेज़ी में कैपेला (Capella) कहते हैं।

ब्रह्मांड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौदहों भुवनों का समूह। विश्वगोलक। संपूर्ण विश्व, जिसके भीतर अनंत लोक हैं।

विशेष—मनु ने लिखा है कि स्वयंभू भगवान् ने प्रजा सृष्टि की इच्छा से पहले जल की सृष्टि की और उसमें बीज फेंका। बीज पड़ते ही सूर्य्य के समान प्रकाशवाला स्वर्णाभ अंड या गोल उत्पन्न हुआ। पितामह ब्रह्मा का इसी अंड या ज्योतिर्गोलक में जन्म हुआ। उसमें अपने एक संवत्सर तक निवास करके उन्होंने उसके आधे आध दो खंड किए। ऊर्द्ध्वखंड में स्वर्ग आदि लोकों की और अधोखंड में पृथ्वी आदि की रचना की। विश्वगोलक इसी से ब्रह्मांड कहा जाता है। हिरण्यगर्भ से सृष्टि की उत्पत्ति श्रुतियों में भी कही गई है। ज्योतिर्गोलक की यह कल्पना जगदुत्पत्ति के आधुनिक सिद्धांत से कुछ कुछ मिलती है जिसमें आदिम ज्योतिष्क नीहारिका मंडल या गोलक से सूर्य्य और ग्रहों उपग्रहों आदि की उत्पत्ति निरूपित की गई है।

(२) मत्स्यपुराण के अनुसार एक महादान जिसमें सोने का विश्वगोलक (जिसमें लोक, लोकपाल आदि बने रहते हैं) दान दिया जाता है। (३) खोपड़ी। कपाल।

मुहा०—**ब्रह्मांड चटकना**=(१) खोपड़ी फटना। (२) अधिक ताप या गरमी से सिर में असह्य पीड़ा होना।

ब्रह्मा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्म के तीन सगुण रूपों में से सृष्टि की रचना करनेवाला रूप। सृष्टिकर्त्ता। विधाता। पितामह।

विशेष—मनुस्मृति के अनुसार स्वयंभू भगवान् ने जल की सृष्टि करके उसमें जो बीज फेंका, उसी से ज्योतिर्मय अंड उत्पन्न हुआ जिसके भीतर से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ (दे० ब्रह्मांड)। भागवत आदि पुराणों में लिखा है कि भगवान् विष्णु ने पहले महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा द्वारा एकादश इंद्रियाँ और पंचमहाभूत इन सोलह कलाओं से विशिष्ट विराट् रूप धारण किया। एकार्णव में योगनिद्रा में पड़कर जब उन्होंने शयन किया, तब उनकी नाभि से जो कमल निकला, उस पर ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा के चार मुख माने जाते हैं जिनके संबंध में मत्स्यपुराण में यह कथा है। ब्रह्मा के शरीर से जब एक अत्यंत सुंदरी कन्या उत्पन्न हुई, तब वे उस पर मोहित होकर उसे ताकने लगे। वह उनके चारों ओर घूमने लगी। जिधर वह जाती, उधर देखने के लिये ब्रह्मा को एक सिर उत्पन्न होता। इस प्रकार उन्हें चार मुँह हो गए।

ब्रह्मा के क्रमशः दस मानस पुत्र हुए—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और

नारद। इन्हें प्रजापति भी कहते हैं। महाभारत में २१ प्रजापति कहे गए हैं। दे० "प्रजापति"।

पुराणों में ब्रह्मा वेदों के प्रकटकर्त्ता कहे गए हैं। कर्मानुसार मनुष्य के शुभाशुभ फल या भाग्य को गर्भ के समय स्थिर करनेवाले ब्रह्मा ही माने जाते हैं।

(२) यज्ञ का एक ऋत्विक्। (३) एक प्रकार का धान जो बहुत जल्दी पकता है।

ब्रह्माणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्रह्मा की स्त्री। ब्रह्मा की शक्ति। उ०—आसिष दै दै सराहहिँ सादर उमा रमा ब्रह्मानी।—तुलसी। (२) सरस्वती। (३) रेणुका नामक गंध द्रव्य। (४) एक छोटी नदी जो कटक के ज़िले में वैतरणी नदी से मिली है।

ब्रह्मादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] हंसपदी। रक्त लज्जालु।

ब्रह्मानंद—संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्म के स्वरूप के अनुभव का आनंद। ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आत्मतृप्ति।

ब्रह्मावर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रदेश का प्राचीन नाम। सरस्वती और दृशद्वती नदियों के बीच का प्रदेश।

विशेष—मनु ने इस देश के परंपरागत आचार को सब से श्रेष्ठ माना है।

ब्रह्मासन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह आसन जिससे बैठकर ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। (२) तंत्रोक्त देवपूजा में एक आसन।

ब्रह्मास्त्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का अस्त्र जो मंत्र से पवित्र करके चलाया जाता था। यह अमोघ अस्त्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ कहा गया है। (२) एक रसौषध जो सन्निपात में दिया जाता है। यह रस पारे, गंधक, सींगिया और काली मिर्च के योग से बनता है।

ब्रह्मिष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

ब्रांडी—संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार की अँगरेज़ी शराब।

ब्रात*—संज्ञा पुं० दे० "व्रात्य"।

ब्राह्म—वि० [सं०] ब्रह्म संबंधी। जैसे, ब्राह्म दिन।

संज्ञा पुं० (१) विवाह का एक भेद। (२) एक पुराण। (३) नारद। (४) राजाओं का एक धर्म जिसके अनुसार उन्हें गुरुकुल से लौटे हुए ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। (५) नक्षत्र।

ब्राह्मण—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० ब्राह्मणी] (१) चार वर्णों में सबसे श्रेष्ठ वर्ण। प्राचीन आर्य्यों के लोक-विभाग के अनुसार सबसे ऊँचा माना जानेवाला विभाग। हिन्दुओं में सबसे ऊँची जाति जिसके प्रधान कर्म पठन-पाठन, यज्ञ, ज्ञानोपदेश आदि हैं। (२) उक्त जाति या वर्ण का मनुष्य।

विशेष—ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ब्राह्मणों की उत्पत्ति विराट् या ब्रह्म के मुख से कही गई है। अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मणों के कहे गए हैं, इसीसे उन्हें षट्कर्म्मा भी कहते हैं। ब्राह्मण के मुख में गई हुई सामग्री देवताओं को मिलती है; अर्थात् उन्हीं के मुख से वे उसे प्राप्त करते हैं। ब्राह्मणों को अपने उच्च पद की मर्य्यादा रक्षित रखने के लिये आचरण अत्यंत शुद्ध और पवित्र रखना पड़ता था। ऐसी जीविका का उनके लिये निषेध है जिससे किसी प्राणी को दुःख पहुँचे। मनु ने कहा है कि उन्हें ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृत द्वारा जीविका निर्वाह करना चाहिए। ऋत का अर्थ है भूमि पर पड़े हुए अनाज के दानों को चुनना (उंछ वृत्ति) या छोड़ी हुई बालों से दाने झाड़ना (शिलवृत्ति)। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय, उसे ले लेना 'अमृत' वृत्ति है। भिक्षा माँगने का नाम है मृत वृत्ति। कृषि प्रमृत वृत्ति है और वाणिज्य सत्यानृत वृत्ति। इन्हीं वृत्तियों के अनुसार ब्राह्मण चार प्रकार के कहे गए हैं—कुशूलधान्यक, कुंभीधान्यक, त्र्यैहिक और अश्वस्तनिक। जो तीन वर्ष के लिये अन्नादि सामग्री संचित कर रखे उसे कुशूलधान्यक, जो एक वर्ष तक के लिये संचित करे, उसे कुंभीधान्यक, जो तीन दिन के लिये रखे, उसे त्र्यैहिक और जो नित्य संग्रह करे और नित्य खाय, उसे अश्वस्तनिक कहते हैं। चारों में अश्वस्तनिक श्रेष्ठ हैं।

आदिम काल में मंत्रकार या वेदपाठी ऋषि ही ब्राह्मण कहलाते थे। ब्राह्मण का परिचय उसके वेद, गोत्र और प्रवर से ही होता था। संहिता में जो ऋषि आए हैं, श्रौत ग्रंथों में उन्हीं के नाम पर गोत्र कहे गए हैं। श्रौत ग्रंथों में प्रायः सौ गोत्र गिनाए गए हैं।

पर्य्या०—द्विज। द्विजाति। अग्रजन्मा। भूदेव। वाडव। विप्र। सूत्रकंठ। ज्येष्ठवर्ण। द्विजन्मा। वक्त्रज। मैत्र। वेदवास। नय। गुरु। षट्कर्म्मा।

(३) वेद का वह भाग जो मंत्र नहीं कहलाता। वेद का मंत्रातिरिक्त अंश। (४) विष्णु। (५) शिव। (६) अग्नि।

ब्राह्मणक—संज्ञा पुं० [सं०] निंद्य ब्राह्मण।

ब्राह्मणत्व—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण का भाव, अधिकार या धर्म। ब्राह्मण-पन।

ब्राह्मणब्रुव—संज्ञा पुं० [सं०] केवल कहने भर को ब्राह्मण। कर्म और संस्कार से हीन ब्राह्मण।

ब्राह्मणभोजन—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मणों का भोजन। ब्राह्मणों को खिलाना।

ब्राह्मणयष्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी। भार्ङ्गी।

ब्राह्मणाच्छंसी—संज्ञा पुं० [सं०] सोमयाग में ब्रह्मा का सहकारी एक ऋत्विक्। (ऐतरेय ब्राह्मण)

ब्राह्मणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मण जाति की स्त्री। (२) बुद्धि। (महाभारत) (३) एक तीर्थ। (महाभारत)

ब्राह्मण्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण का धर्म या गुण। ब्राह्मणत्व। (२) ब्राह्मणों का समूह। (३) शनि ग्रह।

ब्राह्ममुहूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] रात्रि के पिछले पहर के अंतिम दो दंड । सूर्योदय से पहले दो घड़ी तक का समय ।

ब्राह्मसमाज-संज्ञा पुं० [सं०] बंग देश में प्रवर्त्तित एक नया संप्रदाय जिसमें एक मात्र ब्रह्म की ही उपासना की जाती है ।

विशेष—अँगरेज़ी राज्य के आरंभ में जब ईसाई उपदेशक एक ईश्वर की उपासना के उपदेश द्वारा नवशिक्षितों को आकर्षित कर रहे थे, उस समय राजा राममोहनराय ने उपनिषद् में प्रतिपादित अद्वैत ब्रह्म की उपासना पर ज़ोर दिया जिससे बहुत से हिंदू ईसाई न होकर उनके संप्रदाय में आ गए ।

ब्राह्मिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मयष्टिका । भारंगी ।

ब्राह्मी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दुर्गा । (२) शिव की अष्ट मातृकाओं में से एक । (३) रोहिणी नक्षत्र (क्योंकि उसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा हैं) । (४) भारतवर्ष की वह प्राचीन लिपि जिससे नागरी, बँगला आदि आधुनिक लिपियाँ निकली हैं । हिंदुस्तान की एक प्रकार की पुरानी लिखावट या अक्षर ।

विशेष—यह लिपि उसी प्रकार बाईं ओर से दाहनी ओर को लिखी जाती थी जैसे उससे निकली हुई आजकल की लिपियाँ । ललितविस्तर में लिपियों के जो नाम गिनाए गए हैं, उनमें ब्रह्म लिपि का भी नाम मिला है । इस लिपि का सबसे पुराना नमूना अभी तक अशोक के शिलालेखों में ही मिला है । पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि भारतवासियों ने अक्षर लिखना विदेशियों से सीखा और ब्राह्मी लिपि भी उसी प्रकार प्राचीन फिनीशियन लिपि से ली गई जिस प्रकार अरबी, यूनानी, रोमन आदि लिपियाँ । पर कई देशी विद्वानों ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि का विकास भारत में स्वतंत्र रीति से हुआ । दे० "नागरी" । (५) औषध के काम में आनेवाली एक बूटी जो छत्ते की तरह ज़मीन में फैलती है, ऊँची नहीं होती । इसकी पत्तियाँ छोटी छोटी और गोल होती हैं और एक ओर खिली सी होती हैं । इसके दो भेद होते हैं । जिसे ब्रह्ममंडूकी कहते हैं, उसकी पत्तियाँ और भी छोटी होती हैं । वैद्यक में ब्राह्मी शीतल, कसैली, कड़वी, बुद्धिदायक, मेधाजनक, आयुर्वर्द्धक, अग्निजनक, सारक, कंठशोधक, स्मरणशक्तिवर्द्धक, रसायन तथा कुष्ठ, पांडु रोग, खाँसी, सूजन, खुजली, पित्त, प्लीहा आदि को दूर करनेवाली मानी जाती है ।

पर्य्या०—वयस्था । मत्स्याक्षी । सुरसा । ब्रह्मचारिणी । सोमवल्लरी । सरस्वती । सुवर्चला । कपोतवेगा । वैधात्री । दिव्यतेजा । ब्रह्मकन्यका । मंडूकमाता । दिव्या । शारदा ।

ब्राह्मीअनुष्टुप-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ४८ वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीउष्णिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ४२ वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीकंद-संज्ञा पुं० [सं०] बाराहीकंद ।

ब्राह्मीगायत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ३६ वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीजगती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ७२ वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीत्रिष्टुप-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ६६ वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीपंक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ६० वर्ण होते हैं ।

ब्राह्मीबृहती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर ५४ वर्ण होते हैं ।

ब्रिगेड-संज्ञा पुं० [अं०] सेना का एक समूह ।

यौ०—ब्रिगेडियर जनरल ।

ब्रिगेडियर जनरल-संज्ञा पुं० [अं०] एक सैनिक कर्मचारी जो एक ब्रिगेड भर का संचालक होता है ।

ब्रिटिश-वि० [अं०] (१) उस द्वीप से संबंध रखनेवाला जिसमें इंगलैंड और स्काटलैंड प्रदेश हैं । (२) इंगलिस्तान का । अँगरेज़ी ।

ब्रीड़ना*-क्रि० अ० [सं० व्रीड़न] लज्जित होना । लजाना
उ०—कुंडल झलक कपोलन मानहु मीन सुधासर क्रीड़त । भृकुटी धनुष नैन खंजन मानो उड़त नहीं मन ब्रीड़त ।—सूर ।

ब्रीड़ा-संज्ञा स्त्री० दे० "व्रीड़ा" ।

ब्रीवियर-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का छोटा टाइप जो आठ प्वाइंट का अर्थात् पाइका का $\frac{2}{3}$ होता है । ब्रीवियर टाइप ।

ब्रीहि-संज्ञा पुं० दे० "व्रीहि" ।

ब्रुश-संज्ञा पुं० [अं०] बालों का बना हुआ कूँचा जिससे टोपी वा जूते इत्यादि साफ़ किए जाते हैं ।

ब्रूहम-संज्ञा स्त्री० [अं०] एक प्रकार की घोड़ा गाड़ी जिसे ब्रूहम नामक डाक्टर ने ईजाद किया था । इसमें एक ओर डाक्टर के बैठने का और उसके सामने दूसरी ओर केवल दवाओं का बेग रखने का स्थान होता है ।

ब्रेवरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का कश्मीरी तंबाकू जो बहुत अच्छा होता है ।

ब्लाक-संज्ञा पुं० [अं०] (१) ठप्पा जिस पर से कोई चित्र छापा जाय । (२) भूमि का कोई चौकोर टुकड़ा या वर्ग ।

भ

भ–हिंदी वर्णमाला का चौबीसवाँ और पवर्ग का चौथा वर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है और इसका प्रयत्न संवार, नाद और घोष है। यह महाप्राण है और इसका अल्पप्राण 'ब' है।

भँइस‡–संज्ञा स्त्री० दे० "भैंस"।

भँकारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भुनगा। (२) एक प्रकार का छोटा मच्छर।

भंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तरंग। लहर। (२) पराजय। हार। (३) खंड। टुकड़ा। (४) भेद। (५) कुटिलता। टेढ़ापन। (६) रोग। (७) गमन। (८) जलनिर्गम। स्रोत। (९) एक नाग का नाम। (१०) भय। (११) टूटने का भाव। विनाश। विध्वंस। उ०—(क) अकिल बिहूना सिंह ज्यों गयो ससा के संग। अपनी प्रतिमा देखिके भयो जो तन को भंग।—कबीर। (ख) प्रभु नारद संबाद कहि मारुत मिलन प्रसंग। पुनि सुग्रीव मिताई बालि प्रान को भंग।—तुलसी। (ग) देवराज मख-भंग जानि कै बरस्यो ब्रज पै आई। सूर श्याम राखे सब निज कर गिरि लै भए सहाई।—सूर। (१२) बाधा। उच्छत्ति। अड़चन। रोक। उ०—(क) कबीर छुधा है कूकरी करत भजन में भंग। याको टुकड़ा डारि के सुमरन करो सुरंग।—कबीर। (ख) छाड़ि मन हरि विमुखन को संग। जिनके सँग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग।—सूर। (१३) टेढ़े होने वा झुकने का भाव। (१४) लकवा नामक रोग जिसमें रोगी के अंग टेढ़े और बेकाम हो जाते हैं।

यौ०—अस्थिभंग। कर्णभंग। गात्रभंग। ग्रीवाभंग। भ्रूभंग। प्रसवभंग। वस्त्रभंग। भंगनय। भंगसार्थ।

संज्ञा स्त्री० दे० "भाँग"।

भंगकार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरिवंश के अनुसार सत्राजित के पुत्र का नाम। (२) महाभारत के अनुसार राजा अभिक्षित् के पुत्र का नाम।

भंगड़–वि० [हिं० भाँग+अड़ (प्रत्य०)] जो नित्य और बहुत अधिक भाँग पीता हो। बहुत भाँग पीनेवाला। भँगेड़ी।

भंगना†–क्रि० अ० [हिं० भंग] (१) टूटना। (२) दबना। हार मानना। उ०—कहि न जाय छबि कवि मति भंगी। चपला मनहुँ करति गति संगी।—गोपाल।

क्रि० स० (१) तोड़ना। (२) दबाना। उ०—राम रँग ही से रँगरेजवा मोरी अँगिया रँगा दे रे। और रंग है दिन चटकीले, देखत देखत होत मटीले, नहीं अमीरी नहिं महकीले, उन रंगन को भँगि दे रे।—देव स्वामी।

भँगरा–संज्ञा पुं० [हिं० भाँग+रा=का] भाँग के रेशे से बुना हुआ एक प्रकार का मोटा कपड़ा जो बिछाने या बोरा बनाने के काम में आता है।

संज्ञा पुं० [सं० भृंगराज] एक प्रकार की वनस्पति जो बरसात में विशेष कर प्रायः ऐसी जगह, जहाँ पानी का सोत बहता है, या कूएँ आदि के किनारे उगती है। इसकी पत्तियाँ लँबोतरी, नुकीली, कटावदार और मोटे दल की होती हैं, जिनका ऊपरी भाग गहरे हरे रंग का और नीचे का भाग हलके रंग का खुर्दुरा होता है। इसकी पत्तियों को निचोड़ने से काले रंग का रस निकलता है। वैद्यक में इसका स्वाद कड़वा, चरपरा, प्रकृति रूखी, गरम तथा गुण कफनाशक, रक्त-शोधक, नेत्ररोग और शिर की पीड़ा को दूर करनेवाला लिखा है और इसे रसायन माना है। यह तीन प्रकार का होता है—एक पीले फूल का जिसे स्वर्णभृंगार, हरिवास, देवप्रिय आदि कहते हैं; दूसरा सफ़ेद फूल का और तीसरा काले फूल का जिसे नील भृंगराज, महानील, सुनीलक, महाभृंग, नीलपुष्प या श्यामल कहते हैं। सफ़ेद भँगरा तो प्रायः सब जगह और पीला भँगरा कहीं कहीं होता है; पर काले फूल का भँगरा जल्दी नहीं मिलता। यह अलभ्य है और रसायन माना गया है। लोगों का विश्वास है कि काले फूल के भँगरे के प्रयोग से सफ़ेद पके बाल सदा के लिये काले हो जाते हैं। सफ़ेद फूल के भँगरे की दो जातियाँ हैं—एक हरे डंठलवाली, दूसरी काले डंठलवाली। भँगरैया। भंगराज।

पर्य्या०—मार्कव। भृंगराज। केशरंजन। रंगक। कुंतलवर्द्धन। भृंगार। मर्कर।

भंगराज–संज्ञा पुं० [सं० भृंगराज] (१) काले रंग की कोयल के आकार की एक चिड़िया जो सिर से दुम तक १२ इंच लंबी होती है और जिसमें ७ इंच केवल पूँछ होती है। यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में होती है। यह अत्यंत सुरीली और मधुर बोली बोलती है और प्रायः सभी पशु-पक्षियों की बोलियों का अनुकरण करती है। यह लड़ती भी है। इसका रंग बिलकुल काला होता है, केवल पंख पर दो एक पीली वा सफ़ेद धारियाँ होती हैं। इसकी पूँछ भुजेटे की पूँछ की तरह कैंचीनुमा होती है। यह प्रायः जाड़े में अधिक देख पड़ती है और कीड़े मकोड़े खाकर रहती है। (२) दे० "भँगरा"।

भंगरैया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "भँगरा"।

भंगवासा–संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

भंगसार्थ–वि० [सं०] कुटिल।

भंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाँग।

भंगान–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

भँगार–संज्ञा पुं० [सं० भंग] (१) ज़मीन में का वह गड्ढा जो बरसात के दिनों में आप से आप हो जाता है और जिसमें वर्षा का पानी समाता है। (२) वह गड्ढा जो कूआँ बनाते समय पहले खोदा जाता है।

संज्ञा पुं० [हिं० भाग] घास फूस। कूड़ा करकट। उ०—(क) माला फेरे कुछ नहीं डारि मुआ गल भार। ऊपर ढेला ही गला भीतर भरा भँगार।—कबीर। (ख) वैष्णव भया तो क्या भया माला पहिरी चार। ऊपर कली लपेट के भीतर भरा भँगार।—कबीर।

भंगारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मच्छड़।

भँगास्यन–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा जिसने पुत्र की कामना से अग्निष्टुत् यज्ञ किया था और जिसे सौ पुत्र हुए थे।

भंगि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विच्छेद। (२) कुटिलता। टेढ़ाई। (३) विन्यास। अंगनिवेश। अंदाज़। (४) कल्लोल। लहर। (५) भंग। (६) व्याज। (७) प्रतिकृति।

भँगिरा†–संज्ञा पुं० दे० "भँगरा"।

भंगी–संज्ञा पुं० [सं० भंगिन्] [स्त्री० भंगिनी] (१) भंगशील। नष्ट होनेवाला। (२) भंग करनेवाला। भंगकारी। उ०—रसना रसालिका रसति हंस मालिका रतन ज्योति जालिका सो देव दुःख भंगिनी।—देव। (३) रेखाओं के झुकाव से खींचा हुआ चित्र वा बेलबूटा आदि।

संज्ञा पुं० [सं० भक्ति] [स्त्री० भंगिन्] एक अस्पृश्य जाति जिसका काम मल मूत्र आदि उठाना है।

वि० [हिं० भाँग] भाँग पीनेवाला। भँगेड़ी।

भंगील–संज्ञा पुं० [सं०] ज्ञानेंद्रिय की विकलता।

भंगुर–वि० [सं०] (१) भंग होनेवाला। नाशवान्। जैसे, क्षणभंगुर। (२) कुटिल। टेढ़ा।

संज्ञा पुं० नदी का मोड़ या घुमाव।

भंगुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अतिविषा। अतीस। (२) प्रियंगु।

भँगेड़ी–वि० [हिं० भाँग+एड़ी (प्रत्य०)] जिसे भाँग पीने की लत हो। बहुत अधिक भाँग पीनेवाला। भंगड़।

भँगेरा–संज्ञा पुं० [हिं० भाँग+एरा (प्रत्य०)] भाँग की छाल का बना हुआ कपड़ा। भँगरा। भँगेला।

संज्ञा पुं० [सं० भृंगराज] भँगरा भँगरैया।

भँगेला–संज्ञा पुं० [हिं० भाँग] भाँग की छाल का बना हुआ कपड़ा। भँगेरा। भँगरा।

भंजक–वि० [सं०] [स्त्री० भंजिका] भंगकारी। तोड़नेवाला।

भंजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तोड़ना। भंग करना। (२) भंग। ध्वंस। (३) नाश। (४) मंदार। आक। (५) भाँग। (६) व्रण की वह पीड़ा जो वायु के कारण होती है।

वि० भंजक। तोड़नेवाला। जैसे, भवभंजन, दुःख-भंजन।

भंजनक–संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें मुँह टेढ़ा हो जाता है। लकवा। भंग।

भँजना–क्रि०अ० [सं० भंजन] (१) किसी पदार्थ के संयोजक अंगों का अलग अलग होना। विभक्त होना। टुकड़े टुकड़े होना। टूटना। (२) किसी बड़े सिक्के का छोटे छोटे सिक्कों से बदला जाना। भुनना। जैसे, रुपया भँजना।

क्रि० अ० [हिं० भाँजना] (१) बटा जाना। जैसे, रस्सी वा तागे का भँजना। (२) काग़ज़ के तख़्तों का कई परतों में मोड़ा जाना। भाँजा जाना।

भंजना*–क्रि० स० [सं० भंजन] तोड़ना। टुकड़े करना। उ०—उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक संतापा।—तुलसी।

भंजनागिरि–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

भँजनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाँजना] करघे का एक अंग जो ताने को विस्तृत रखने के लिये उसके किनारे पर लगाया जाता है। यह बाँस की तीन चिकनी, सीधी और दृढ़ लकड़ियों से बनता है जो पास पास समानांतर पर रहती हैं। इन्हीं तीनों लकड़ियों के बीच की संधियों में से ऊपर नीचे होकर ताना लगाया जाता है। यह बुननेवाले के सामने किनारे पर रहता है। भँसरा।

भंजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अन्नपूर्णा का एक नाम।

भँजाना†–क्रि०स० [हिं० भँजना] (१) भँजने का सकर्मक रूप। भागों वा अंशों में परिणत कराना। तुड़वाना। (२) बड़ा सिक्का आदि देकर उतने ही मूल्य के छोटे सिक्के लेना। भुनाना। जैसे,—रुपया भँजाना।

क्रि० स० [हिं० भाँजना] भाँजने का प्रेरणार्थक रूप। दूसरे को भाँजने के लिये प्रेरणा करना वा नियुक्त करना। जैसे, रस्सी भँजाना। काग़ज़ भँजाना।

भंझा–संज्ञा पुं० [देश०] वह लकड़ी जो कूएँ के किनारे के खंभे वा ओटे के ऊपर आड़ी रखी जाती है और जिस पर गड़ारी लगाकर धुरे टिकाए जाते हैं।

भंटक–संज्ञा पुं० [सं०] मरसा नामक साग।

भँटकटैया†–संज्ञा स्त्री० दे० "भटकटैया"।

भंटा†–संज्ञा पुं० [सं० वृंताक] बैंगन।

भंटूक–संज्ञा पुं० [सं०] श्योनाक।

भंड–संज्ञा पुं० [सं०] भाँड़। वि० दे० "भाँड़"।

वि० [सं०] (१) अश्लील या गंदी बातें बकनेवाला। (२) धूर्त। पाखंडी।

भँड़ताल†–संज्ञा पुं० [हिं० भाँड़+ताल] एक प्रकार का गाना और नाच जिसमें गानेवाला गाता है और शेष समाजी उसके पीछे

तालियाँ पीटते हैं। भँड़तिल्ला। उ०—साँग संगीत भँड़ताल रहम होने लगा।—इंशाअल्ला।

भंडन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हानि। क्षति। (२) युद्ध। (३) कवच।

भंडना–क्रि० स० [सं० भंडन] (१) हानि पहुँचाना। बिगाड़ना। (२) भंग करना। तोड़ना। (३) गड़बड़ करना। नष्ट भ्रष्ट करना। (४) बदनाम करना। अपकीर्त्ति फैलाना।

भँड़फोड़†–संज्ञा पुं० [हिं० भांडा+फोड़ना] (१) मिट्टी के बर्तनों को गिराना या तोड़ना फोड़ना। उ०—जब हम देत लेत नहिं छोरा। पाछे आह करत भँड़फोरा।—गि० दा०।

क्रि० प्र०—करना।—मचना।—मचाना।—होना।

(२) मिट्टी के बर्तनों का टूटना फूटना। (३) भेद खोलने का भाव। रहस्योद्घाटन। भंडाफोड़ करना।

भँड़भाँड़–संज्ञा पुं० [सं० भार्ङार] एक कँटीला क्षुप जिसकी पत्तियाँ नुकीली, लंबी और कँटीली होती हैं। यह जाड़े के दिनों में उगता है। इसका फूल पोस्त के फूल के आकार का पीले या बसंती रंग का होता है। फूल के झड़ जाने पर पोस्त की तरह लंबी और काँटों से युक्त ढेंढी लगती है जिसमें पकने पर काले रंग के पोस्त से और कुछ बड़े दाने निकलते हैं। इन दानों को पेरने से तेल निकलता है जो जलाने और दवा के काम आता है। इसके पौधे से पीले रंग का दूध निकलता है जो घाव और चोट पर लगाया जाता है। इसकी जड़ भी फोड़े फुंसियों पर पीसकर लगाई जाती है। इसके नरम डंठल की गूदी की तरकारी भी बनाई जाती है। भड़भाँड़।

भँडरिया–संज्ञा पुं० [हिं० भड्डुरि] एक जाति का नाम। इस जाति के लोग फलित ज्योतिष या सामुद्रिक आदि की सहायता से लोगों को भविष्य बताकर अपना निर्वाह करते हैं और शनैश्चरादि ग्रहों का दान भी लेते हैं। कहीं कहीं इस जाति के लोग तीर्थों में यात्रियों को स्नान और दर्शन आदि भी कराते हैं। इस जाति के लोग माने तो ब्राह्मण ही जाते हैं, पर ब्राह्मणों में बिलकुल अंतिम श्रेणी के समझे जाते हैं। भड्डुर।

वि० (१) ढोंगी। पाखंडी। (२) धूर्त्त। मक्कार।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भंडारा+इया (प्रत्य०)] दीवारों अथवा उनकी संधियों में बना हुआ वह ताख या छोटी कोठी जिसके आगे छोटे छोटे दरवाज़े लगे रहते हैं और जिनमें छोटी मोटी चीज़ें रखी जाती हैं।

भँड़सार, भँड़साल†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भांड+शाला] वह गोदाम जहाँ सस्ता अन्न ख़रीदकर महँगी में बेचने के लिये इकट्ठा किया जाता है। खत्ती। खत्ता।

भंडा–संज्ञा पुं० [सं० भांड] (१) बर्तन। पात्र। भाँड़ा। उ०—हम गृह फोरहिं शिशु बहु भंडा। तिनहिं न देत नेक कोउ दंडा।—गोपाल। (२) भंडारा। (३) भेद। रहस्य।

मुहा०—भंडा फूटना=गुप्त रहस्य खुलना। भेद खुलना। भंडा फोड़ना=गुप्त रहस्य खोलना। भेद खोलना।

(४) वह लकड़ी वा बल्ला जिसका सहारा लगाकर मोटे और भारी बल्लों को उठाते वा खसकाते हैं।

भँडाना–क्रि० स० [हिं० भांड] (१) उछल-कूद मचाना। उपद्रव करना। (२) दौड़ धूप करके वस्तुओं को न्यस्तव्यस्त करना वा तोड़ना फोड़ना। नष्ट करना। उ०—नंद घरनि सुत भलो पढ़ायो। ब्रज की बीथिन पुरनि घरनि घर बाट घाट सब सोर मचायो। लरिकन मारि भजत काहू के काहू को दधि दूध लुटायो। काहू के घर करत ढढाई में ज्यों त्यों करि पकरन पायो। अब तौ इन्हें जकरि बाँधौंगी इहि सब तुम्हरो गाँव भँडायो। सूरश्याम भुज गहि नँदरानी बहुरि कान्ह सपने ढिग आयो।—सूर।

भंडार–संज्ञा पुं० [सं० भांडागार] (१) कोष। ख़ज़ाना। (२) अन्नादि रखने का स्थान। कोठार। (३) वह स्थान जहाँ व्यंजन पकाकर रखे जाते हैं। पाकशाला। भंडारा। उ०—कबीर जैनी के हिये बिली को इतबार। साधन व्यंजन मोक्षहित सौंपेउ तेहि भंडार।—कबीर। (४) पेट। उदर। (५) अग्निकोण। (६) दे० "भंडारा"।

भंडारा–संज्ञा पुं० [हिं० भडार] (१) दे० "भंडार"। (२) समूह। झुंड। उ०—पान करत जल पाप अपारा। कोटि जन्म कर जुरा भँडारा। नास होहिं छिन महं महिपाला। सत्य सत्य यह बचन रसाला।

क्रि० प्र०—जुड़ना वा जुटना।—जोड़ना।

(३) साधुओं का भोज। वह भोज जिसमें संन्यासी और साधु आदि खिलाए जाते हैं। उ०—विजय कियो भरि आनंद भारा। होय नाथ इत ही भंडारा।—रघुराज।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—होना।—जुड़ना।—खाना।

(४) पेट। उ०—उक्त पुरुष ने अपने स्थान से उचक कर चाहा कि एक हाथ कटार का ऐसा लगाए कि भंडारा खुल जाय, पर पथिक ने झपट कर उसके हाथ से कटार छीन लिया।—अयोध्यासिंह।

भंडारी–संज्ञा स्त्री० [हिं०भंडार+ई (प्रत्य०)] (१) छोटी कोठरी। (२) कोश। ख़ज़ाना। उ०—कौरव पासा कपट बनाये। धर्मपुत्र को जुवा खेलाये। तिन हारी सब भूमि भँडारी। हारी बहुरि द्रौपदी नारी।—सूर।

संज्ञा पुं० [हिं० भंडार+ई (प्रत्य०)] (१) ख़ज़ानची। कोषाध्यक्ष। उ०—(क) शेर शाह सम दूज न कोऊ। समुँद सुमेरु भँडारी दोऊ।—जायसी। (ख) भूमि देव देव देखिकै ना देव सुखारी। बोलि सचिव सेवक सखा

पटधारि भँडारि।—तुलसी। (२) तोशाखाने का दारोगा। भंडारे का प्रधान अध्यक्ष। उ०—पद्मावति पहँ आइ भँडारी। कहेसि मंदिर महँ परी मँजारी।—जायसी। (३) रसोइया। रसोईदार।

भंडि–संज्ञा स्त्री० [सं०] लहर। वीचि।

भंडित–संज्ञा पु० [सं०] एक गोत्रकार ऋषि का नाम।

भंडिर–संज्ञा पु० [सं०] सिरसा। शिरीष।

भंडिल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिरस का पेड़। (२) दूत। (३) शिल्पी।

वि० अच्छा। शुभ।

भंडीतकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

भंडीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चौलाई। (२) सिरसा। (३) बट। (४) भँडभाँड।

भंडीरलतिका–संज्ञा स्त्री०[सं०] मजीठ।

भंडीरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मंजिष्ठा। मजीठ।

भंडूक–संज्ञा पु० [सं०] (१) भाकुर नामक मछली। (२) श्योनाक।

भंडेरिया‡–संज्ञा पुं० दे० "भँडरिया"।

भंडेरियापन–संज्ञा पुं० [हिं० भँडेरिया+पन (प्रत्य०)] (१) ढोंग। मक्कारी। (२) चालाकी।

भँडौआ–संज्ञा पुं० [हिं० भाँड] (१) भाँड़ों के गाने का गीत। ऐसा गीत जो सभ्य अथवा शिष्ट समाज में गाने के योग्य न समझा जाय। (२) हास्य आदि रसों की साधारण अथवा निम्न कोटि की कविता।

भँबूरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बबूर] बबूल की जाति का एक पेड़ जिसे फुलाई भी कहते हैं। दे० "फुलाई"।

भँभरना–क्रि० अ० [हिं० भय+रना (प्रत्य०)] [संज्ञा भँभेरिया] भयभीत होना। डरना।

भँभा–संज्ञा पुं० [सं० भंसस्] बिल। छेद।

भँभाका–संज्ञा स्त्री० [हिं० भंभा] अधिक अवस्था की स्त्री की भग (बाजारू)।

भँभाना–क्रि० अ० [अनु०] गौ आदि पशुओं का चिल्लाना। रँभाना। उ०—सपने में गई सखि देखन हौं सुनु नाचत नंद जसोमति को नट। वा मुसुकाय कै भाव बताय कै मेरोई ऐंचि खरो पकरो पट। तौ लगि गाय भँभाय उठी कवि देव बधू न मथ्यो दधि को मट। जागि परी तौ न कान्ह कहूँ न कदंब को कुंज न कालिंदी को तट।—देव।

भँभीरी–संज्ञा स्त्री० [अनु०] एक पतिंगा जिसकी पूँछ लंबी और पतली, रंग लाल और बिलकुल झिल्ली के समान पारदर्शक चार पर होते हैं। इसकी आँखें टिड्डी की आँखों की तरह बड़ी और ऊपर निकली रहती हैं। यह वर्षा के अंत में दिखाई पड़ता है और प्रायः पानी के किनारे घासों के ऊपर उड़ता है। पकड़ने पर यह अपने परों को हिलाकर भन भन शब्द करता है। इसे जुलाहा भी कहते हैं। उ०—बाल अवस्था के तुम धाई। उड़त भँभीरी पकरी जाई।—सूर।

भँभेरि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भँभरना] भय। डर। उ०—राज मराल को बालक पेलि कै पालत लालत खूसर को। सुचि सुंदर सालि सकेलि सुवारि कै बीज बटोरत ऊसर को। गुन ज्ञान गुमान भँभेरि बड़ो कलपद्रुम काटत मूसर को। कलिकाल अचार बिचार हरी नहीं सूझै कछु धमधूसर को।—तुलसी।

भँमर, भँमरा†–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] (१) बड़ी मधुमक्खी। सारंग। डंगर। (२) बर्रे। भिड़।

भँवना–क्रि० अ० [सं० भ्रमण] (१) घूमना। फिरना। उ०—(क) लंपट लुबुध मन भव से भँवत कहा करि भूरि भाव ताकी भावना-भवन में।—मतिराम। (ख) भौंर ज्यों जगत निसि चातक ज्यों भँवत श्याम नाम तेरोई जपत है।—केशव। (२) चक्कर लगाना। उ०—केशौदास आस पास भँवत भँवर जल केलि में जलजमुखी जलज सी सोहिये।—केशव।

भँवर–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर, पा० भमर, प्रा० भँवर] (१) भौंरा। उ०—कुदरत पाई खीर सो चित सो चित्त मिलाय। भँवर बिलंबा कमल रस अब कैसे उड़ि जाय।—कबीर। (२) पानी के बहाव में वह स्थान जहाँ पानी की लहर एक केंद्र पर चक्राकार घूमती है। ऐसे स्थान पर यदि मनुष्य या नाव आदि पहुँच जाय, तो उसके डूबने की संभावना रहती है। आवर्त। चक्कर। यमकातर। उ०—(क) तड़ित विनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीन। नाभि मनोहर लेत जनु जमुन-भँवर छबि छीन।—तुलसी। (ख) भागहु रे भागौ भैया भागनि ज्यों भाग्यो, परै भव के भवन माँझ भय को भँवर है।—केशव।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मुहा०—भँवर में पड़ना=चक्कर में पड़ना। घबरा जाना।

यौ०—भँवरकली। भँवरजाल। भँवर भीख।

(३) गड्ढा। गर्त। उ०—उरज भँवरी भँवर मानो मीन मणि को कांति। भृगुचरण हृदय चिह्न ये सब, जीव जल बहु भाँति।—सूर।

भँवरकली–संज्ञा स्त्री० [हिं० भँवर+कली] लोहे वा पीतल की वह कड़ी जो कील में इस प्रकार जड़ी रहती है कि वह जिधर चाहे, उधर सहज में घुमाई जा सकती है। यह प्रायः पशुओं के गले की सिकड़ी या पट्टे आदि में लगी रहती है। पशु चाहे जितने चक्कर लगावे, पर इसकी सहायता से उसकी सिकड़ी में बल नहीं पड़ने पाता। घूमनेवाली कुंडी या कड़ी।

भँवरगीत–संज्ञा पुं० दे० "भ्रमरगीत"।

भँवरजाल–संज्ञा पुं० [हिं० भँवर+जाल] संसार और सांसारिक झगड़े बखेड़े। भ्रमजाल। उ०—भँवरजाल में आसन माड़ा। चाहत सुख दुख संग न छाड़ा।—कबीर।

भँवरभीख–संज्ञा स्त्री० [हिं० भँवर+भीख] वह भीख जो भौंरे के समान घूम फिर कर माँगी जाय। तीन प्रकार की भिक्षा में से दूसरी। उ०—भँवर भीख मध्यम कही सुनौ संत चित लाय। कहै कबीर जाको गही मध्यम माहिं समाय।—कबीर।

भँवरा–संज्ञा पुं० दे० "भौंरा"।

भँवरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भँवरा] (१) पानी का चक्कर। भँवर। (२) जंतुओं के शरीर के ऊपर वह स्थान जहाँ के रोएँ और बाल एक केंद्र पर घूमे हुए हों। बालों का इस प्रकार का घुमाव स्थान-भेद से शुभ अथवा अशुभ लक्षण माना जाता है। उ०—श्याम उर सुधा दह मानौ। मलय चंदन लेप कीन्हे बरन यह जानौ। मलय तनु मिलि लसति सोभा महा जाल गँभीर। निरखि लोचन भ्रमति पुनि पुनि धरत नहिं मन धीर। उरज भँवरी भँवर, मानों मीन मणि की कांति। भृगुचरण हृदय चिह्न ये सब जीव जल बहु भाँति।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भँवरना वा भँवना] (१) दे० "भाँवर"। (२) बनियों का सौदा लेकर घूम घूमकर बेचना। फेरी। (३) रक्षक, कोतवाल या अन्य कर्मचारियों का प्रजा की रक्षा के लिये चक्कर लगाना। फेरी। गश्त। उ०—फिरैं पाँच कुतवार सु भँवरी। काँपै पाउँ चँपत वहि पौरी।—जायसी।

क्रि० प्र०—फिरना।—लगाना।

(४) परिक्रमा। (स्त्रियाँ)

क्रि० प्र०—देना।

भँवाना*–क्रि० स० [हिं० भँवना] (१) घुमाना। फिराना। चक्कर देना। उ०—(क) प्यारे चंद्र पूर्व फिर जाय। बहु कलेस सों दिवस भँवाय।—जायसी। (ख) तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई।—तुलसी। (२) भ्रम में डालना। उलझन में डालना।

भँवारा†–वि० [हिं० भँवना+आरा (प्रत्य०)] भ्रमणशील। घूमनेवाला। फिरनेवाला। उ०—बिलग मत मानो ऊधो प्यारे। यह मथुरा काजर की ओबरि जे आवैं ते कारे। तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे मधुप भँवारे। ता गुण श्याम अधिक छबि उपजत कमल नैन मणि पारे।—सूर। (ख) बिबरन आनन अरिगनी निरखि भँवारे मोर। दरकि गई आँगी नई फरकि उठे कुच कोर।—शृं० स०।

भँसना–क्रि० अ० [हिं० बहना] (१) पानी के ऊपर तैरना। जैसे, भँसता जहाज़। (लश०)। (२) पानी में डाला या फेंका जाना। दे० "भसाना"।

भँसरा–संज्ञा पुं० दे० "भँजनी"।

भ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नक्षत्र। (२) ग्रह। (३) राशि। (४) शुक्राचार्य। (५) भ्रमर। भौंरा। (६) भूधर। पहाड़। (७) भ्रांति। (८) छंद-शास्त्रानुसार एक गण का नाम जिसके आदि का वर्ण गुरु और शेष दो लघु होते हैं (ऽ।।)। भगण।

भइया–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+इया (प्रत्य०)] (१) भाई। (२) एक आदरसूचक शब्द जिसका व्यवहार प्रायः बराबरवालों के लिये होता है।

भउजाई*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "भौजाई"।

भक–संज्ञा स्त्री० [अनु०] सहसा अथवा रह रहकर आग के जल उठने अथवा वेग से धूएँ के निकलने के कारण उत्पन्न होनेवाला शब्द। इसका प्रयोग प्रायः "से" विभक्ति के साथ होता है। जैसे,—लंप भक से जल उठा।

भकक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नक्षत्रकक्षा।

भकटाना‡–क्रि० अ० दे० "भकसाना"।

भकड़ना‡–क्रि० अ० दे० "भगरना"।

भकराँध†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भगरना अथवा भक ?+गंध] अनाज के सड़ने की गंध। सड़े हुए अनाज की गंध।

भकराँधा†–वि० [हिं० भकराँध+आ (प्रत्य०)] सड़ा हुआ (अन्न)।

भकसा†–वि० [हिं० भकसाना या भकटाना] (खाद्य पदार्थ) जो अधिक समय तक पड़ा रहने के कारण कसैला हो गया हो और जिसमें से एक विशेष प्रकार की दुर्गंध आती हो। बुसा हुआ।

भकसाना†–क्रि० अ० [हिं० कसाव] किसी खाद्य पदार्थ का अधिक समय तक पड़े रहने अथवा और किसी कारण से बदबूदार और कसैला हो जाना।

भकाऊँ–संज्ञा पुं० [अनु०] बच्चों को डराने के लिये एक कल्पित व्यक्ति। हौवा।

भकुआ†–वि० [सं० भेक] मूर्ख। मूढ़।

भकुआना–क्रि० अ० [हिं० भकुआ] चकपका जाना। घबरा जाना। क्रि० स० (१) चकपका देना। घबरा देना। (२) मूर्ख बनाना।

भकुड़ा†–संज्ञा पुं० [हिं० भाँकुट] मोटा गज़ जिससे तोप में बत्ती आदि ठूँसी जाती है।

भकुड़ाना†–क्रि० स० [हिं० भकुड़ा+आना (प्रत्य०)] (१) लोहे के गज़ से तोप के मुँह में बत्ती भरना। (२) लोहे के गज़ से तोप के मुँह का भीतरी भाग साफ़ करना।

भकुवा‡–वि० दे० "भकुआ"।

भकूट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की राशियों का समूह जो विवाह की गणना में शुभ मानी जाती हैं। (फलित ज्यो०)।

भकोसना-क्रि० स० [सं० भक्षण] (१) किसी चीज़ को बिना अच्छी तरह कुचले हुए जल्दी जल्दी खाना। निगलना। (२) खाना। (व्यंग्य)

भक्किका-संज्ञा स्त्री० [सं०] झिल्ली। झींगुर।

भक्त-वि० [सं०] (१) बाँटा हुआ। भागों में बाँटा हुआ। (२) बाँटकर दिया हुआ। प्रदत्त। (३) अलग किया हुआ। (४) पक्षपाती। (५) अनुयायी। (६) सेवा करनेवाला। भजन करनेवाला। भक्ति करनेवाला।

संज्ञा पुं० (१) पका हुआ चावल। भात। (२) धन। (३) [स्त्री० भक्तिन] सेवा पूजा करनेवाला पुरुष। उपासक।

विशेष—भगवद्गीता के अनुसार आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त तथा भागवत के अनुसार नवधा भक्ति के भेद से नौ प्रकार के भक्त माने गए हैं।

भक्तकर-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सुगंधित द्रव्य जो अनेक दूसरे द्रव्यों के योग से बनाया जाता है।

भक्तकार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोइया। (२) भक्तकर नामक सुगंधित द्रव्य।

भक्तजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अमृत।

भक्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भक्ति।

भक्ततूर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो भोजन करते समय बजाया जाता था।

भक्तत्व-संज्ञा पुं० [सं०] किसी के अंग वा भाग होने का भाव। अव्ययीभूत होना। अंगत्व।

भक्तदास-संज्ञा पुं० [सं०] वह दास जो केवल भोजन लेकर ही काम करता हो। यह मनु के अनुसार सात प्रकार के दासों में से दूसरे प्रकार का दास है।

भक्तपन-संज्ञा पुं० [सं० भक्त+हिं० पन (प्रत्य०)] भक्ति।

भक्तपुलाक-संज्ञा पुं० [सं०] माँड़। पीच।

भक्तबच्छल*-वि० दे० "भक्तवत्सल"।

भक्तवत्सल-वि० [सं०] [संज्ञा भक्तवत्सलता] (१) जो भक्तों पर कृपा करता हो। भक्तों पर स्नेह रखनेवाला। (२) विष्णु।

भक्तशरण-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ भात पकाकर रखा जाता है। रसोईघर।

भक्तशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाकशाला। रसोईघर। (२) वह स्थान जहाँ भक्त लोग बैठकर धर्म्मोपदेश सुनते हों।

भक्ताई*‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० भक्त+आई (प्रत्य०)] भक्ति।

भक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अनेक भागों में विभक्त करना। बाँटना। (२) भाग। विभाग। (३) अंग। अवयव। (४) खंड। (५) वह विभाग जो रेखा द्वारा किया गया हो। (६) विभाग करनेवाली रेखा। (७) सेवा सुश्रूषा। (८) पूजा। अर्चन। (९) श्रद्धा। (१०) विश्वास। (११) रचना। (१२) अनुराग। स्नेह। (१३) शांडिल्य के भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर में अत्यंत अनुराग का होना। यह गुण भेद से सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की मानी गई है। भक्तों के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की होती है जिसे नवधा भक्ति कहते हैं। वे नौ प्रकार ये हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। (१४) जैन मतानुसार वह ज्ञान जिसमें निरतिशय आनंद हो और जो सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट तथा वितृष्णा का उदयकारक हो। (१५) गौणवृत्ति। (१६) भंगी। (१७) उपचार। (१८) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण और अंत में गुरु होता है।

भक्तिकर-वि० [सं०] (१) भक्ति के योग्य। (२) जिसे देखकर भक्ति उत्पन्न हो। भक्त्युत्पादक।

भक्तिच्छेद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह चित्रकारी जो रेखाओं द्वारा की जाय। (२) भक्तों के विशेष चिह्न। जैसे, तिलक, मुद्रा आदि।

भक्तियोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उपास्य देव में अत्यंत अनुरक्त रहना। सदा भगवान में श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनकी उपासना करना। (२) भक्ति का साधन।

भक्तिल-वि० [सं०] भक्तिदायक।

संज्ञा पुं० उत्तम घोड़ा।

भक्तिसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वैष्णव संप्रदाय का एक सूत्र ग्रंथ। यह ग्रंथ शांडिल्य मुनि के नाम से प्रख्यात है। इसमें भक्ति का वर्णन है।

भक्तोद्देशक-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के प्राचीन संघाराम का एक कर्मचारी जो इस बात की जाँच करता था कि आज कौन क्या भोजन करेगा।

भक्तोपसाधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोइया। (२) परिवेशक।

भक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाने का पदार्थ। भक्ष्य। खाना। भोजन। (२) खाने का काम। भक्षण। उ०—शबरी कटुक बेर तजि मीठे भाषि गोद भरि लाई। जूठे की कछु शंक न मानी भक्ष किये सत भाई।—सूर।

भक्षक-वि० [सं०] [स्त्री० भक्षिका] खानेवाला। भोजन करनेवाला। खादक।

भक्षकार-संज्ञा पुं० [सं०] हलवाई।

भक्षटक-संज्ञा पुं० [सं०] छोटा गोखरू।

भक्षण-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० भक्ष्य, भक्षित, भक्षणीय] (१) भोजन करना। किसी वस्तु को दाँतों से काटकर खाना। जैसे, पूआ आदि का खाना। (२) आहार। भोजन।

भक्षना*-क्रि० स० [सं० भक्षण] भोजन करना। खाना। उ०—(क) छहूँ रसहूँ धरत आगे बहै गंध सुहाइ। और अहित

अभक्ष भक्षति गिरा बरणि न जाइ।—सूर। (ख) अति तनु धनु रेखा नेक नाकी न जाकी। खल शर खर धारा क्यों सहै तिच्छ ताकी। बिड़ कन घन घूरे भक्षि क्यों बाज जीवै। शिव सिर शशि श्री को राहु कैसे सु छीवै।—केशव। (ग) जाति लता दुहुँ आँख रहि नाम कहै सब कोय। सूधे सुख मुख भक्षिये उलटे अंबर होय।—केशव।

भक्षित—वि० [सं०] खाया हुआ।

भक्षी—वि० [सं० भक्षिन्] [स्त्री० भक्षिणी] खानेवाला। भक्षक।

भक्ष्य—वि० [सं०] भक्षण करने के योग्य। खाने के योग्य।

संज्ञा पुं० खाद्य। अन्न। आहार।

भख*—संज्ञा पुं० [सं० भक्ष, प्रा० भक्ख] आहार। भक्ष्य। भोजन। उ०—(क) आनँद ब्याह करैं मस-खावा। अब भख जन्म जन्म कहँ पावा।—जायसी। (ख) वेद वेदांत उपनिषद अरपै सो भख भोक्ता नाहिं। गोपी ग्वालिन के मंडल में सो हँसि जूठन खाहिं।—सूर। (ग) पट पाखै भख काँकरै सफर परेई संग। सुखी परेवा जगत में एकै तुहीं बिहंग।—बिहारी।

मुहा०—भख करना=खाना। उ०—आछे देहु जो गढ़ तौ जनि चालहु यह बात। तिनहि जो पाहन भख करहिं अस केहि के मुख दाँत।—जायसी।

भखना*—क्रि० स० [सं० भक्षण=प्रा० भक्खन] (१) खाना। भोजन करना। उ०—(क) नीलकंठ कीड़ा भखै मुख वाके है राम। औगुन वाके लगै नहिं दर्शन ही से काम।—कबीर। (ख) कृमि पावक तेरो तन भखिहैं समुझि देखु मन माँही। दीन दयालु सूर हरि भजि ले यह औसर फिर नाहीं।—सूर। (ग) क्यों खरि सीतल बास करैं मुख ज्यों भखिये घनसार के साटे।—केशव। (२) निगलना।

भखी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास जो दलदलों में उत्पन्न होती है और छप्पर छाने के काम में आती है। इसकी टट्टियाँ भी बनती हैं। यह नैनीताल में बहुत होती है। इसके फल में नारंगी की सी महक होती है। पकने पर यह घास लाल रंग की हो जाती है। इसे चौपाए बड़े चाव से चरते हैं। इसे 'खत्री' भी कहते हैं।

भगंदर—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग का नाम जो गुदावर्त के किनारे होता है। यह एक प्रकार का फोड़ा है जो फूटकर नासूर हो जाता है और इतना बढ़ जाता है कि उसमें से मल मूत्र निकलता है। जब तक यह फोड़ा फूटता नहीं, तब तक उसे पिड़िका वा पीड़िका कहते हैं; और जब फूट जाता है तब उसे भगंदर कहते हैं। फूटने पर इससे लगातार लाल रंग का फेन और पीब निकलता है। यहाँ तक कि यह छेद गहरा होता जाता है और अंत को मल और मूत्र के मार्ग से मिल जाता है और इस राह से मल का अंश निकलने लगता है। वैद्यक में भगंदर की उत्पत्ति पाँच कारणों से मानी गई है और तदनुसार उसके भेद भी पाँच ही माने गए हैं—वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगंतु; और इनसे उत्पन्न होनेवाले भगंदर क्रमशः शतपानक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शंबूकावर्त और उन्मार्गी कहलाते हैं। वैद्यक में यह रोग, विशेष कर सन्निपातज असाध्य माना गया है। वैद्यों का मत है कि भगंदर रोग में फुनसियों के होने पर बड़ी खुजलाहट उत्पन्न होती है; फिर पीड़ा, जलन और शोफ होता है। कमर में पीड़ा होती है और कपोल में भी पीड़ा होती है। वैद्यक में इस रोग की चिकित्सा व्रण के समान ही करने का विधान है। डाक्टर लोग इसे एक प्रकार का नासूर समझते हैं और चीर फाड़ के द्वारा इसकी चिकित्सा करते हैं।

भग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि। (२) सूर्य्य। (३) बारह आदित्यों में से एक। (४) ऐश्वर्य। (५) छः प्रकार की विभूतियाँ जिन्हें सम्यगैश्वर्य्य, सम्यग्वीर्य्य, सम्यग्यश, सम्यक्श्रिय और सम्यंज्ञान कहते हैं। (६) इच्छा। (७) माहात्म्य। (८) यत्न। (९) धर्म। (१०) मोक्ष। (११) सौभाग्य। (१२) कांति। (१३) चंद्रमा। (१४) धन। (१५) गुदा। (१६) पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र। (१७) एक देवता का नाम। पुराणानुसार दक्ष के यज्ञ में वीरभद्र ने इनकी आँख फोड़ दी थी।

भगई‡—संज्ञा स्त्री० [हिं० भगवा] लँगोटी।

भगण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) खगोल में ग्रहों का पूरा चक्कर। यह ३६० अंश का होता है जिसे ज्योतिर्षीगण यथेच्छ राशियों और नक्षत्रों में विभक्त करते हैं। इस चक्कर को शीघ्रगामी ग्रह स्वल्प काल में और मंदगामी दीर्घ काल में पूरा करते हैं। आजकल के ज्योतिषी इस चक्कर का प्रारंभ रेवती के योगतारा से मानते हैं। सूर्य्यसिद्धांत में ग्रहों का भगण सत्युग के प्रारंभ से माना गया है; पर सिद्धांत शिरोमणि आदि में ग्रहों के भगण का हिसाब कल्पादि से लिया जाता है। (२) छंदःशास्त्रानुसार एक गण जिसमें आदि का एक वर्ण गुरु और अंत के दो वर्ण लघु होते हैं। जैसे, पाचन, भोजन आदि।

भगत—वि० [सं० भक्त] [हिं० भगतिन] (१) सेवक। उपासक। उ०—वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के।—तुलसी। (२) साधु। (३) जो मांस आदि न खाता हो। सक्त का उलटा। (४) विचारवान्।

संज्ञा पुं० (१) वैष्णव वा वह साधु जो तिलक लगाता और मांस आदि न खाता हो। (२) राजपूताने की एक जाति का नाम। इस जाति की कन्याएँ वेश्या वृत्ति और नाचने गाने का काम करती हैं। दे० "भगतिया"। (३) होली में

वह स्वाँग जो भगत का किया जाता है। इस स्वाँग में एक आदमी को सफ़ेद बालों की दाढ़ी मोछ लगाकर उसके सिर पर तिलक, गले में तुलसी वा किसी और काठ की माला पहनाते हैं और उसके सारे शरीर पर राख लगाकर उसके हाथ में एक तूँबी और सोंटा दे देते हैं। वह भगत बना हुआ स्वाँगी जोगीड़े में नाचनेवाले लौंडे के साथ रहता है और बीच बीच में नाचता और भाँड़ों की तरह मसखरापन करता जाता है। (४) भूत प्रेत उतारनेवाला पुरुष। ओझा। सयाना। भोपा। (५) वेश्या के साथ तबला आदि बजाने का काम करनेवाला पुरुष। सफ़रदाई। (राजपूताना)।

मुहा०—भगतबाज़=(१) लौंडों को नचानेवाला। (२) स्वाँग भरकर लौंडों को अनेक रूप का बनानेवाला पुरुष।

भगतबछल*-वि० दे० "भक्तवत्सल"।

भगति*-संज्ञा स्त्री० दे० "भक्ति"।

भगतिया-संज्ञा पुं० [हिं० भक्त] [स्त्री० भगतिन] राजपूताने की एक जाति का नाम। इस जाति के लोग वैष्णव साधुओं की संतान हैं जो अब गाने बजाने का काम करते हैं और जिनकी कन्याएँ वेश्याओं की वृत्ति करके अपने कुटुंब का भरण पोषण करती है और भगतिन कहलाती हैं। (बंगाल में भी वैष्णव साधुओं की लड़कियाँ वेश्यावृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करती हैं और अपनी जाति बोष्टम वा वैष्णव बतलाती हैं।) उ०—सेठ की दौलत पर गीध के समान ताक लगाए बैठे हुए मीर शिकार भाँड भगतिए दूर दूर से आ जमा होने लगे।—बालकृष्ण भट्ट।

भगती-संज्ञा स्त्री० दे० "भक्ति"।

भगदत्त-संज्ञा पुं० [सं०] प्राग्ज्योतिषपुर के एक राजा का नाम। इसके पिता का नाम नरक वा नरकासुर था। महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय इसका अर्जुन से आठ दिन तक लड़कर अंत में पराजित होना लिखा है। महाभारत युद्ध में यह कौरवों की ओर था और बड़ी वीरता से लड़कर अर्जुन के हाथ से मारा गया था।

भगदर-संज्ञा स्त्री० [हिं० भागना] अचानक बहुत से लोगों का किसी कारण से एक ओर न्यस्तव्यस्त होकर भागना। भागने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—पड़ना।—मचना।

भगनहा-संज्ञा पुं० [सं० भग्नहा] करेरुआ नामक कँटीली बेल। विशेष दे० "करेरुआ"।

भगना†-क्रि० अ० दे० "भागना"।

संज्ञा पुं० [सं० भागनेय] बहिन का लड़का। भानजा।

भगनी*†-संज्ञा स्त्री० दे० "भगिनी"।

भगयुग-संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति के बारह युगों में से अंतिम युग। इसके पाँच वर्ष दुंदुभि, उद्गारी, रक्त, क्रोध और क्षय हैं। इनमें पहले को छोड़ शेष चार वर्ष उत्तरोत्तर भयानक माने जाते हैं।

भगर*‡-संज्ञा पुं० [देश०] छल। फ़रेब। ढोंग। उ०—काटे जो कहत सीस, काटत घनेरे घाघ, भगर के खेले महा भट पद पावहीं।—केशव।

संज्ञा पुं० [हिं० भगरना] सड़ा हुआ अन्न।

भगरना-क्रि० अ० [सं० विकरण, हिं० बिगड़ना] खत्ते में गर्मी पाकर अनाज का सड़ने लगना।

संयो० क्रि०—जाना।

भगल-संज्ञा पुं० [देश०] (१) छल। कपट। ढोंग। (२) हाथ की सफ़ाई। जादू। इंद्रजाल। बाजीगरी।

भगली-संज्ञा पुं० [हिं० भगल+ई (प्रत्य०)] (१) ढोंगी। छली। (२) बाजीगर। उ०—जाग्रत जाग्रत साँच है सोवत सपना साँच। देह गये दोऊ गये ज्यों भगली को नाच।—कबीर।

भगवंत*†-संज्ञा पुं० [सं० भगवत् का बहु० भगवन्त] भगवान। ईश्वर। दे० "भगवत्"। उ०—ब्रह्म निरूपण धर्म विधि बरनहिं तत्व विभाग। कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान विराग।—तुलसी।

भगवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) देवी। (२) गौरी। (३) सरस्वती। (४) गंगा। (५) दुर्गा।

भगवत्-वि० [सं०] [स्त्री० भगवती] ऐश्वर्ययुक्त। भगवान्। पूजनीय।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। परमेश्वर। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) बुद्ध। (५) कार्तिकेय। (६) सूर्य्य। (७) जिन।

भगवत्पदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भगवद्गीता-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के भीष्मपर्व के अंतर्गत अठारह अध्यायों का एक प्रकरण। इसमें उन उपदेशों और प्रश्नोत्तरों का वर्णन है जो भगवान् कृष्णचंद्र ने अर्जुन का मोह छुड़ाने के लिये उससे युद्धस्थल में किए थे। यह ग्रंथ प्रस्थान चतुष्टय में चौथा है और बहुत दिनों से महाभारत से पृथक् माना जाता है। इस पर शंकराचार्य, रामानुज, वल्लभादि आचार्य्यों के भाष्य हैं। हिंदू धर्म में यह ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ और सब संप्रदायों का मान्य ग्रंथ है।

भगवद्द्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] महाबोधि वृक्ष।

भगवद्भक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भगवान का भक्त। ईश्वरभक्त। (२) विष्णुभक्त। (३) दक्षिण भारत के वैष्णवों का एक संप्रदाय।

भगवद्विग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् का विग्रह। भगवान् की मूर्ति।

भगवान्, भगवान-वि० [सं० भगवत् का एक व० प्र० भगवान्] (१) भगवत्। ऐश्वर्ययुक्त। (२) पूज्य। (३) ऐश्वर्य, बल, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से संपन्न।

संज्ञा पुं० (१) ईश्वर। परमेश्वर। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) बुद्ध। (५) जिन। (६) कार्तिकेय। (७) कोई पूज्य और आदरणीय व्यक्ति। जैसे, भगवान् वेदव्यास।

भगशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] कामशास्त्र।

भगहर‡-संज्ञा स्त्री० दे० "भगदर"।

भगहारी-संज्ञा पुं० [सं० भगहारिन्] शिव। महादेव।

भगांकुर-संज्ञा पुं० [सं०] अर्श रोग। बवासीर।

भगाना-क्रि० स० [सं० व्रज] (१) किसी को भागने में प्रवृत्त करना। दौड़ाना। (२) हटाना। दूर करना। खदेड़ना। उ०—दरस भूख लागै दगन भूखहि देत भगाइ।—रसनिधि।

क्रि० अ० दे० "भागना"। उ०—(क) उछरत उतरात हहरात मरि जात भभरि भगात जल थल मीचु मई है।—तुलसी। (ख) सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान।—तुलसी।

भगाल-संज्ञा पुं० [सं०] आदमी की खोपड़ी।

भगाली-संज्ञा पुं० [सं० भगालिन्] आदमी की खोपड़ी धारण करनेवाले, शिव।

भगास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र।

भगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहन। सहोदरा।

भगिनीय-संज्ञा पुं० [सं०] बहन का लड़का। भागिनेय। भानजा।

भगीरथ-संज्ञा पुं० [सं०] अयोध्या के एक प्रसिद्ध सूर्य्यवंशी राजा जो राजा दिलीप के पुत्र थे। कहते हैं कि कपिल के शाप से जल जाने के कारण सगरवंशी राजाओं ने गंगा को पृथ्वी पर लाने का बहुत प्रयत्न किया था; पर उनको सफलता नहीं हुई। अंत में भगीरथ घोर तपस्या करके गंगा को पृथ्वी पर लाए थे और इस प्रकार उन्होंने अपने पुरखाओं का उद्धार किया था। इसीलिये गंगा का एक नाम भागीरथी भी है।

वि० [सं०] भगीरथ की तपस्या के समान भारी। बहुत बड़ा। जैसे, भगीरथ परिश्रम।

भगेड़ू, भगेलू-वि० [हिं० भागना+एड़ू या एलू (प्रत्य०)] (१) भागा हुआ। जो कहीं से छिपकर भागा हो। (२) जो काम पड़ने पर भाग जाता हो। कायर।

भगोड़ा-वि० [हिं० भागना+ओड़ा (प्रत्य०)] (१) भागा हुआ। (२) भागनेवाला। कायर।

भगोल-संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्र चक्र। वि० दे० "खगोल"।

भगौती*†-संज्ञा स्त्री० दे० "भगवती"।

भगौहाँ-वि० [हिं० भागना+औहाँ (प्रत्य०)] (१) भागने को उद्यत। (२) कायर।

वि० [हिं० भगवा] गेरू से रँगा हुआ। भगवा। गेरुआ उ०—तरुनी दसंबर में गूदरी पलक दोऊ, कोए राते बसन भगौहें भेष रखियाँ।—देव।

भग्गुल*‡-वि० [हिं० भागना] (१) रण से भागा हुआ। भगोड़ा। भग्गू। उ०—आय भग्गुल्ल लोग बरनैं युद्ध की सब गाथ।—केशव। (२) भागनेवाला। कायर।

भग्गू†-वि० [हिं० भागना+ऊ (प्रत्य०)] जो विपत्ति देखकर भागता हो। कायर। डरपोक। भागनेवाला।

भग्न-वि० [सं०] (१) टूटा हुआ। (२) जो हारा या हराया गया हो। पराजित।

संज्ञा पुं० हड्डियों अथवा उनके जोड़ों का टूट जाना।

भग्नदूत-संज्ञा पुं० [सं०] रणक्षेत्र से हारकर भागी हुई वह सेना जो राजा के पराजय का समाचार देने आती हो।

भग्नपाद-संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार पुनर्वसु, उत्तराषाढ़, कृत्तिका, उत्तरफाल्गुनी, पूर्वभाद्रपद और विशाखा ये छः नक्षत्र जिनमें से किसी एक में मनुष्य के मरने से द्विपाद दोष लगता है। इस दोष की शांति अशौच काल के अंदर ही कराने का विधान है।

भग्नसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] हड्डी का जोड़ पर से टूट जाना।

भग्नसंधिक-संज्ञा पुं० [सं०] मठा।

भग्नांश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल द्रव्य का कोई अलग किया हुआ भाग वा अंश। (२) गणित शास्त्र के अनुसार किसी वस्तु के दो या अधिक किए हुए विभागों में से एक या अधिक विभाग। जैसे,—किसी वस्तु के किए हुए सात विभागों में से दो विभाग; अर्थात् $\frac{2}{7}$ मूल वस्तु का भग्नांश है।

भग्नात्मा-संज्ञा पुं० [सं० भग्नात्मन्] चंद्रमा।

भग्नावशेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी टूटे फूटे मकान या उजड़ी हुई बस्ती का बचा हुआ अंश। खँडहर। (२) किसी टूटे हुए पदार्थ के बचे हुए टुकड़े।

भग्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भगिनी। बहन।

भचक-संज्ञा स्त्री० [हिं० भचकना] भचककर चलने का भाव। लँगड़ापन।

भचकना-क्रि० अ० [हिं० भौंचक] आश्चर्य्य में निमग्न होकर रह जाना।

क्रि० अ० [भच अनु०] चलने के समय पैर का इस प्रकार रुक कर या टेढ़ा पड़ना कि देखने में लँगड़ापन मालूम हो।

भचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राशियों या ग्रहों के चलने का मार्ग। कक्षा। (२) नक्षत्रों का समूह।

भच्छ*†-संज्ञा पुं० दे० "भक्ष्य"।

भच्छक*†-संज्ञा पुं० दे० "भक्षक"।

भच्छन*†-संज्ञा पुं० दे० "भक्षण"।

भच्छना*†-क्रि० स० [सं० भक्षण] खाना। भक्षण करना।

भजक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भजन करनेवाला। भजनेवाला। (२) विभाग करनेवाला।

भजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाग। खंड। (२) सेवा। पूजा। (३) बार बार किसी पूज्य या देवता आदि का नाम लेना। स्मरण। जप। (४) वह गीत जिसमें ईश्वर अथवा किसी देवता आदि के गुणों का कीर्त्तन हो।

भजना–क्रि स० [सं० भजन] (१) सेवा करना। (२) आश्रय लेना। आश्रित होना। उ०—(क) विधिवश हठि अविवेकहिं भजई।—तुलसी। (ख) तजो हठ आनि भजौ किन मोहिं।—केशव। (३) देवता आदि का नाम रटना। स्मरण करना। जपना।

क्रि० अ० [सं० व्रजन पा० वजन] (१) भागना। भाग जाना। उ०—भजन कह्यौ तातें भज्यौ भज्यो न एको बार। दूरि भजन जातें कह्यौ सो तैं भज्यो गँवार।—बिहारी। (२) पहुँचना। प्राप्त होना। उ०—चित्रकूट तब राम जू तज्यो। जाय यज्ञथल अत्रि को भज्यो।—केशव।

भजनानंद–संज्ञा पुं० [सं०] वह आनंद जो परमेश्वर का नाम स्मरण करने से प्राप्त होता है। भजन से मिलनेवाला आनंद।

भजनानंदी–संज्ञा पुं० [सं० भजनानंद+ई (प्रत्य०)] वह जो दिन रात भजन करने में ही मगन रहता हो। भजन गाकर सदा प्रसन्न रहनेवाला।

भजनी–संज्ञा पुं० [हिं० भजन+ई (प्रत्य०)] भजन गानेवाला। उ०—करन लगै जप जेहि समय तब भरि मोद अनंत। भजन सुनै भजनीन सों निर्मित निज बहु संत।—रघुराज।

भजनीय–वि० [सं०] (१) सेवा करने योग्य। (२) आश्रय लेने योग्य। (३) भजने के योग्य।

भजाना–क्रि० अ० [सं० व्रजन हिं० भजना=दौड़ना] दौड़ना। भागना। उ०—भौन को भजाने अलि, छूटे लट केश के।—भूषण।

क्रि० अ० [सं० व्रजन, हिं० भजना का सक० रूप] भगाना। दूर कर देना। उ०—(क) पिय जियहिं रिझावै दुखनि भजावै, बिबिध बजावै गुण गीता।—केशव। (ख) सर बरसत रव करैं जलद मद दूरि भजावै।—गोपाल।

भजियाउर†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाजी+चावर (चावल)] चावल, दही, घी आदि एक साथ पकाकर बनाया हुआ भोजन जिसमें नमक भी पड़ता है। इसे उझिया और भिजियाउर भी कहते हैं। उ०—भइ जाउर भजियाउर सीझी सब ज्यौनार।—जायसी।

भज्य–वि० [सं०] (१) विभाग करने के योग्य। (२) सेवा करने के योग्य। (३) भजने के योग्य।

भट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध करने या लड़नेवाला। योद्धा। (२) सिपाही। सैनिक। (३) प्राचीन काल की एक वर्ण-संकर जाति।

संज्ञा पुं० दे० "भटनास"।

भटकटाई, भटकटैया–संज्ञा स्त्री० [सं० कंटकारी, हिं० कटेरी या कटाई] एक छोटा और काँटेदार क्षुप जो बहुधा औषध के काम में आता है। इसके पत्तों पर भी काँटे होते हैं। इसके फूल बैंगनी होते हैं और फूल का जीरा पीला होता है। कहीं कहीं सफेद फूल की भी भटकटैया मिलती है। इसमें एक प्रकार के छोटे फल भी लगते हैं जो पहले कच्चे रहते हैं, पर पकने पर पीले हो जाते हैं। वैद्यक में इसे सारक, कड़वी, चरपरी, रूखी, हलकी, अग्निदीपक तथा खाँसी, ज्वर, कफ़, वात, पीनस तथा हृदय रोग की नाश करनेवाली माना है।

पर्य्या०—कंटकारी। कुली। क्षुद्रा। कासघ्नी। कंटतारिका। स्पृही। धावनिका। व्याघ्री। दुःस्पर्शा। दुष्प्रधर्षिणी। कंटश्रेणी। प्रचोदिनी। सिंही। भंटाकी। धावनी। बहुकंटा। चित्रफला।

भटकना–क्रि० अ० [सं० भ्रम ?] (१) व्यर्थ इधर उधर घूमते फिरना। उ०—अरे बैठि रहु जाय घर कत भटकत बेकाज। चितवन टोना को अरे होना नहीं इलाज।—रसनिधि। (२) रास्ता भूल जाने के कारण इधर उधर घूमना। (३) भ्रम में पड़ना। उ०—साँवरी मूरति सों अटकी भटकी सी बधू बट की भरै भाँवरी।—दत्त।

भटकाना–क्रि० स० [हिं० भटकना का सक० रूप] (१) गलत रास्ता बताना। ऐसा रास्ता बताना जिसमें आदमी भटके। (२) धोखा देना। भ्रम में डालना।

भटकैया*‡–संज्ञा पुं० [हिं० भटकना+ऐया (प्रत्य०)] (१) भटकनेवाला। (२) भटकानेवाला।

भटकौंहाँ*‡–वि० [हिं० भटकना+औहाँ (प्रत्य०)] भटकानेवाला। भुलावे में डालनेवाला। उ०—तुम भटकौंहैं वचन बोलि हरि करत रिसौंहैं।—अंबिकादत्त।

भटतीतर–संज्ञा पुं० [हिं० भट=बड़ा+तीतर] प्रायः एक फुट लंबा एक प्रकार का पक्षी जो उत्तर-पश्चिम भारत में पाया जाता है। इसकी मादा एक बार में तीन अंडे देती है। लोग प्रायः इसके मांस के लिये इसका शिकार करते हैं।

भटधर्मा–वि० [सं०] वीर धर्म का पालन करनेवाला। सच्चा बहादुर।

भटनास–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की लता जो चीन, जापान और जावा में बहुत अधिकता से होती है और अब बरमा, पूर्वी बंगाल, आसाम तथा गोरखपुर-बस्ती आदि में भी जिसकी खेती होने लगी है। इसमें एक प्रकार की फलियाँ लगती हैं; और उन्हीं फलियों के लिये इसकी खेती की जाती है। फलियों के दानों की दाल भी बनाई जाती है।

और सत्तू भी। ये फलियाँ बहुत पुष्ट होती हैं और पशुओं को भी खिलाई जाती हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक सफ़ेद और दूसरी काली। मैदानों में यह प्रायः ख़रीफ़ की फ़सल के साथ बोई जाती है।

भटनेर–संज्ञा पुं० [सं० भट+नगर] एक प्राचीन राज्य का मुख्य नगर जो सिंध नदी के पूर्वी तट पर स्थित था। इस नगर को तैमूर ने अपनी चढ़ाई के समय लूटा था।

भटनेरा–संज्ञा पुं० [सं० भट+नगरा] (१) भटनेर नगर का निवासी। (२) वैश्यों की एक उपजाति।

भटभेरा*†–संज्ञा पुं० [हिं० भट+भिड़ना] (१) दो वीरों का सामना। मुकाबला। भिड़ंत। उ०—एक पिशाचिनि है यहि बीच चलो किन तात करो भटभेरो।—हनुमन्नाटक। (२) धक्का। टक्कर। ठोकर। उ०—कबहुँक हौं संगति सुभाव तें जाउ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो।—तुलसी। (३) आकस्मिक मिलन। ऐसी भेंट जो अनायास हो जाय। आमने सामने से आते हुए मिलन। संयोग। उ०—गली अँधेरी साँकरी भो भटभेरो आनि।—बिहारी।

भटबाँस–संज्ञा स्त्री० दे० "भटनास"।

भटा†–संज्ञा पुं० दे० "बैंगन"।

भटियारा–संज्ञा पुं० दे० "भठियारा"।

भटियारी–संज्ञा स्त्री० [?] संपूर्ण जाति की एक संकर रागिनी जिसमें ऋषभ कोमल लगता है।

भटियाल–क्रि० वि० [हिं० भाटा+इयाल (प्रत्य०)] धार की ओर। धार के साथ साथ। जिस ओर भाटा जाता हो, उस ओर। (लश०)

भटू†–संज्ञा स्त्री० [सं० वधू] (१) स्त्रियों के संबोधन के लिये एक आदरसूचक शब्द। (२) सखी। गोइयाँ। (३) प्रिय व्यक्ति।

भटेरा–संज्ञा पुं० [देश०] वैश्यों की एक जाति।

भटोट–संज्ञा पु० [देश०] यात्रियों के गले में फाँसी लगानेवाला ठग। (ठगों की भाषा)

भटैया–संज्ञा स्त्री० [हिं० भटकटैया] भटकटैया। उ०—भौंर भटैया जाहु जनि काँट बहुत रस थोर।—गिरिधर।

भटोला†–वि० [हिं० भाट+ओला (प्रत्य०)] (१) भाट का। भाट संबंधी। (२) भाट के योग्य।

संज्ञा पुं० वह भूमि जो भाट को इनाम के तौर पर दी गई हो।

भट्ट–संज्ञा पुं० [सं० भट] (१) ब्राह्मणों की एक उपाधि जिसके धारण करनेवाले दक्षिण भारत, मालव आदि कई प्रांतों में पाए जाते हैं। (२) महाराष्ट्र ब्राह्मणों की एक उपाधि जिसके धारण करनेवाले दक्षिण भारत, मालव आदि कई प्रांतों में पाए जाते हैं। (३) महाराष्ट्र ब्राह्मण। (४) भाट। (५) योद्धा। सूर। भट।

भट्टिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक की भाषा में राजा की वह पत्नी जिसका अभिषेक न हुआ हो।

भट्टी–संज्ञा स्त्री० दे० "भट्ठी"।

भट्टोत्पल–संज्ञा पुं० [सं०] वराहमिहिर के ग्रंथों की टीका करनेवाले एक आचार्य का नाम।

भट्ठा–संज्ञा पुं० [सं० भ्रष्ट, प्रा० भट्ठ] (१) बड़ी भट्ठी। (२) ईंटें वा खपड़े इत्यादि पकाने का पजावा। वह बड़ी भट्ठी जिसमें ईंटें आदि पकती हों, चूना फूँका जाता हो, लोहा आदि गलाया जाता हो या इसी प्रकार का और कोई काम होता है।

भट्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्राष्ट्र, प्रा० भट्ठ] (१) विशेष आकार और प्रकार का ईंटों आदि का बना हुआ बड़ा चूल्हा जिस पर हलवाई पकवान बनाते, लोहार लोहा गलाते, वैद्य लोग रस आदि फूँकते अथवा इसी प्रकार के और और काम करते हैं। (भिन्न भिन्न कार्यों के लिये भट्ठियों का आकार और प्रकार भी भिन्न भिन्न हुआ करता है।)

मुहा०—भट्ठी दहकना=किसी का कार-बार ज़ोरों पर होना। बहुत आय होना। (व्यंग्य)

(२) देशी मद्य टपकाने का कारख़ाना। वह स्थान जहाँ देशी शराब बनती हो।

भठियाना†–क्रि० अ० [हिं० भाठा+इयाना (प्रत्य०)] समुद्र में भाटा आना। समुद्र के पानी का नीचे उतरना।

भठियारपन–संज्ञा पु० [हिं० भठियारा+पन (प्रत्य०)] (१) भठियारे का काम। (२) भठियारों की तरह लड़ना और अश्लील गालियाँ बकना।

भठियारा–संज्ञा पु० [हिं० भट्ठा+इयार (प्रत्य०)] [स्त्री० भठियारी वा भठियारिन] सराय का प्रबंध करनेवाला वा रक्षक जो यात्रियों के खाने पीने और ठहरने आदि की व्यवस्था करता है।

भठियाल–संज्ञा पुं० [हिं० भाटा] समुद्र के पानी का नीचे उतरना। ज्वार का उलटा। भाटा।

भठुली†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भट्ठी+उली (प्रत्य०)] ठठेरों की मिट्टी की बनी हुई वह छोटी भट्ठी जिसमें किसी चीज़ को गढ़ने से पहले तपाते या लाल करते हैं।

भड़ंबा–संज्ञा पुं० [स० विडंबा] दिखौआ शान। आडंबर।

भड़–संज्ञा स्त्री० [अं० बार्ज] एक प्रकार की नाव जो बहुत हलकी होती है। (लश०)

संज्ञा पुं० [सं० भट] वीर। योद्धा। (डिं०)

संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जिसकी उत्पत्ति लेट पिता और तीवर माता से हुई थी।

भड़क–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) दिखाऊ चमक दमक। चमकीलापन।

भड़कीले होने का भाव। (२) भड़कने का भाव। सहम। जैसे,—अभी इसमें कुछ भड़क बाकी है।

भड़कदार–वि० [हिं० भड़क+फ़ा० दार] (१) जिसमें ख़ूब चमकदमक हो। चमकीला। भड़कीला। (२) रोबदार।

भड़कना–क्रि० अ० [भड़क अनु०+ना (प्रत्य०)] (१) प्रज्वलित हो उठना। तेज़ी से जल उठना। जैसे, आग भड़कना। (२) झिझिकना। चौंकना। डरकर पीछे हटना। (विशेषतः घोड़े आदि पशुओं के लिये बोलते हैं।) (३) क्रुद्ध होना (४) बढ़ जाना। तेज़ होना।

संयो० क्रि०—उठना।—जाना।

भड़काना–क्रि० स० [हिं० भड़कना का स० रूप] (१) प्रज्वलित करना। जलाना। ज्वाला को बढ़ाना। (२) उत्तेजित करना। उभारना। (३) भयभीत कर देना। चमकाना। (घोड़े आदि पशुओं के लिये)। (४) बढ़ावा देना। (५) किसी को इस प्रकार भ्रम में डालना कि वह कोई काम करने के लिये तैयार न हो। बहकाना।

संयो० क्रि०—देना।

भड़कीला–वि० [हिं० भड़क+ईला (प्रत्य०)] (१) भड़कदार। चमकीला। जिसमें ख़ूब चमक दमक हो। (२) चौकन्ना होनेवाला। डरकर उत्तेजित होनेवाला। जैसे, भड़कीला बैल या घोड़ा। (क०)

भड़कीलापन–संज्ञा पुं० [हिं०भड़कीला+पन (प्रत्य०)] चमक-दमक। भड़कीले होने का भाव।

भड़भड़–संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) भड़भड़ शब्द जो प्रायः एक चीज़ पर दूसरी चीज़ ज़ोर ज़ोर से पटकने अथवा बड़े बड़े ढोल आदि बजाने से उत्पन्न होता है। आघातों का शब्द। उ०—कड़ कड़ बजत टाप हयंद। भड़भड़ होत शब्द बलंद।—सूदन। (२) जन समूह जिसमें छोटे बड़े वा खोटे खरे का विचार न हो। भीड़। भब्भड़। (३) व्यर्थ की और बहुत अधिक बातचीत।

भड़भड़ाना–क्रि० स० [अनु०] भड़ भड़ शब्द करना।

क्रि० अ० किसी चीज़ में भड़भड़ शब्द उत्पन्न होना।

भड़भड़िया–वि० [हिं० भड़भड़+इया (प्रत्य०)] बहुत अधिक और व्यर्थ की बातें करनेवाला। गप्पी।

भड़भाँड़–संज्ञा पुं० [सं० भांडीर] एक कँटीला पौधा। सत्या-नासी। घमोय। वि० दे० "घमोय" या "भँड़भाँड़"।

भड़भूँजा–संज्ञा पुं० [हिं० भाड़+भूँजना] हिंदुओं की एक छोटी जाति जो भाड़ झोंकने और अन्न भूनने का काम करती है।

पर्या०—भुजवा। भुरजी।

भड़वा–संज्ञा पुं० दे० "भड़आ"।

भड़सार†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाँड़+शाला] भोज्य पदार्थ रखने के लिये किवाड़ीदार आला या ताक। भँड़रिया।

भड़हर–संज्ञा स्त्री० दे० "भँडेहर"

भड़ार*†–संज्ञा पुं० दे० "भंडार"।

भड़ाल†–संज्ञा पुं० [सं० भट] सुभट। योद्धा। लड़ाका।

भड़िहा†–संज्ञा पुं० [सं० भांडहर] चोर। तस्कर। (बुंदेलखंडी)

भड़िहाई*†–क्रि० वि० [हिं० भड़िहा] चोरों की तरह। लुक-छिप या दबकर। उ०—इत उत चितै चला भड़िहाईं।—तुलसी।

भड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० बढ़ाना या भड़काना] वह उत्तेजना जो किसी को मूर्ख बनाने या उत्तेजित करने के लिये दी जाय। झूठा बढ़ावा।

क्रि० प्र०—देना।—में आना।

भड़ुआ–संज्ञा पुं० [हिं० भाँड़] (१) वह जो वेश्याओं की दलाली करता हो। पुंश्चली स्त्रियों की दलाली करनेवाला। (२) वेश्याओं के साथ तबला या सारंगी आदि बजानेवाला। सफरदाई।

भड्डर–संज्ञा पुं० [सं० भद्र] ब्राह्मणों में बहुत निम्न श्रेणी की एक जाति। इस जाति के लोग ग्रहादिक का दान लेते अथवा यात्रियों को दर्शन आदि कराते हैं। भंडर।

भण–संज्ञा पुं० [?] ताड़ का वृक्ष। (डिं०)

भणना*†–क्रि० अ० [सं० भण] कहना। बोलना। उ०—मन लोभ मोह मद काम बस भये न केशवदास भणि। सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं अवतारी अवतार-मणि।—केशव।

भणित–संज्ञा स्त्री० [सं०] कही हुई बात। कथा।

वि० [सं०] कहा हुआ। जो कहा गया हो।

भतरौड़–संज्ञा पुं० [हिं० भात+रौड़ ?] (१) मथुरा और वृंदावन के बीच का एक स्थान जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यहाँ श्रीकृष्ण ने चौबाइनों से भात मँगवाकर खाया था। उ०—भट्ट जमुना भतरौड़ लौं औंड़ी।—रसखान। (२) ऊँचा स्थान। (३) मंदिर का शिखर।

भतवान–संज्ञा पुं० [हिं० भात+वान (प्रत्य०)] विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के एक दिन पहले कन्यापक्ष के लोग भात, दाल आदि कच्ची रसोई बनाकर वर और उसके साथ चार और कुँआरे लड़कों को बुलाकर भोजन कराते हैं।

भतार†–संज्ञा पुं० [सं० भर्तार] पति। खाविंद। खसम।

भतीजा–संज्ञा पुं० [सं० भ्रातृज] [स्त्री० भतीजी] भाई का पुत्र। भाई का लड़का।

भतुआ†–संज्ञा पुं० [देश०] सफ़ेद कुम्हड़ा। पेठा।

भतुला–संज्ञा पुं० [देश०] गकरिया। बाटी।

भत्ता–संज्ञा पुं० [सं० भरण] दैनिक व्यय जो किसी कर्मचारी को यात्रा के समय दिया जाता है। वेतन के अतिरिक्त वह धन जो किसी को यात्रा काल में विशेष रूप से दिया जाता है।

भदईं–वि० [हिं० भादों] भादों संबंधी। भादों का।

संज्ञा स्त्री० वह फ़सल जो भादों में तैयार होती है।

भदभद-वि० [अनु०] (१) बहुत मोटा। (२) भद्दा।

भदयल‡-संज्ञा पुं० [हिं० भादों ?] मेंढक।

भदवरिया-वि० [हिं० भदावर+इया (प्रत्य०)] भदावर प्रांत का।

भदावर-संज्ञा पुं० [सं० भद्रवर] एक प्रांत जो आजकल ग्वालियर राज्य में है।

विशेष—यहाँ के क्षत्रियों का एक विशिष्ट वर्ग है। यहाँ के बैल भी बहुत प्रसिद्ध होते हैं।

भदेस, भदेसिल†-वि० [हिं० भद्दा] भद्दा। भोंडा। कुरूप। बद-शकल।

भदैल‡-संज्ञा पुं० [हिं० भादों ?] मेंढक।

भदैला†-वि० [हिं० भादों] भादों मास में उत्पन्न होनेवाला। भादों का।

भदौंह†-वि० [हिं० भादों] भादों मास में होनेवाला। उ०—वह रस यह रस एक न होई जैसे आम भदौंह।—देव-स्वामी।

भदौरिया-वि० [हिं० भदावर] भदावर प्रांत का। भदावर संबंधी।

संज्ञा पुं० [हिं० भदावर] (१) क्षत्रियों की एक जाति। (२) भदावर प्रांत का निवासी।

भद्दा-वि० पुं० [भद अनु०] [स्त्री० भद्दी] (१) जिसकी बनावट में अंग प्रत्यंग की सापेक्षिक छोटाई बड़ाई का ध्यान न रखा गया हो। (२) जो देखने में मनोहर न हो। बेढंगा। कुरूप।

भद्दापन-संज्ञा पुं० [हिं० भद्दा+पन (प्रत्य०)] भद्दे होने का भाव।

भद्र-वि० [सं०] (१) सभ्य। सुशिक्षित। (२) कल्याणकारी। (३) श्रेष्ठ। (४) साधु।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कल्याण। क्षेम कुशल। (२) चंदन। (३) हाथियों की एक जाति जो पहले विंध्याचल में होती थी। (४) बलदेवजी का एक सहोदर भाई। (५) महादेव। (६) एक प्राचीन देश का नाम। (७) उत्तर दिशा के दिग्गज का नाम। (८) खंजन पक्षी। (९) बैल। (१०) विष्णु के एक पारिषद् का नाम। (११) रामजी के एक सखा का नाम। (१२) स्वर साधन की एक प्रणाली जो इस प्रकार है—सा रे सा, रे ग रे, ग म ग, म प म, प ध प, ध नि ध, नि सा नि, सा रे सा। सा नि सा, नि ध नि, ध प ध, प म प, म ग म, ग रे ग, रे सा रे, सा नि सा। (१३) ब्रज के ८४ वनों में से एक वन। (१४) सुमेरु पर्वत। (१५) कदंब। (१६) सोना। स्वर्ण। (१७) मोथा। (१८) रामचंद्र की सभा का वह सभासद जिसके मुँह से सीता की निंदा सुनकर उन्होंने सीता को वनवास दिया था। (१९) विष्णु का वह द्वारपाल जो उनके दरवाज़े पर दाहिनी ओर रहता है। (२०) पुराणानुसार स्वायंभुव मन्वंतर के विष्णु से उत्पन्न एक प्रकार के देवता जो तुषित भी कहलाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं० भद्राकरण] सिर, दाढ़ी, मूछों आदि सबके बालों का मुंडन। उ०—लीन्हों हृदय लगाय सूर प्रभु पूछत भद्र भये क्यों भाई।—सूर।

भद्रकंट-संज्ञा पुं० [सं०] गोक्षुर। गोखरू।

भद्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम। (२) चना, मूँग इत्यादि अन्न। (३) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ऽ।। ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ।।। ऽ (भ र न र न र न ग) और ४, ६, ६, ६ पर यति होती है। (४) नागरमोथा। (५) देवदार।

भद्रकपिल-संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

भद्रकल्पिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्त्व का नाम।

भद्रकाय-संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

भद्रकार-वि० [सं०] मंगल या कल्याण करनेवाला।

संज्ञा पुं० एक प्राचीन देश का नाम जिसका उल्लेख महा-भारत में है।

भद्रकाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा देवी की एक मूर्त्ति जो १६ हाथोंवाली मानी जाती है। (२) कात्यायिनी। (३) कार्त्ति-केय की एक मातृका का नाम। पुराणानुसार इसकी उत्पत्ति दक्ष-यज्ञ के समय भगवती के क्रोध से हुई थी। इसने उत्पन्न होते ही वीरभद्र के साथ मिलकर यज्ञ का ध्वंस किया था। (४) गंधप्रसारिणी। (५) नागरमोथा।

भद्रकाष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु वृक्ष।

भद्रगणित-संज्ञा पुं० [सं०] बीज गणित के अंतर्गत एक प्रकार का गणित जो चक्रविन्यास की सहायता से होता है।

भद्रगौड़-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश जो पुराणानुसार पूर्वी भारत में था।

भद्रघन-संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा।

भद्रचारु-संज्ञा पुं० [सं०] रुक्मिणी से उत्पन्न श्रीकृष्ण का एक पुत्र।

भद्रज-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजौ।

भद्रतरुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का गुलाब।

विशेष—पाटल, कुंजिका, भद्रतरुणी इत्यादि गुलाब की कई जातियाँ हैं।

भद्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भद्र होने का भाव। शिष्टता। सभ्यता। शराफ़त। भलमनसी।

भद्रतुंग-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ।

भद्रतुरग-संज्ञा पुं० [सं०] जंबू द्वीप के नौ वर्षों में से एक वर्ष।

भद्रदंत-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

भद्रदंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] दंती वृक्ष का एक भेद। वैद्यक में इसे कटु, उष्ण, रेचक और कृमि, शूल, कुष्ठ, आमदोष आदि का नाशक माना है।
पर्य्या०—केशरुहा। भिषग्भद्रा। जयावहा। आवर्त्तकी। जरांगी।

भद्रदारु–संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु।

भद्रदेह–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

भद्रद्वीप–संज्ञा पु० [सं०] पुराणानुसार कुरु वर्ष के अंतर्गत एक द्वीप का नाम।

भद्रनिधि–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का महादान।

भद्रपदा–संज्ञा स्त्री० दे० "भाद्रपद"।

भद्रपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्रसारिणी।

भद्रपाल–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

भद्रपीठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आसन जिस पर बैठा जाय। (२) वह सिंहासन आदि जिस पर राजाओं या देवताओं का अभिषेक होता है।

भद्रबन–संज्ञा पुं० [सं०] मथुरा के पास का एक बन।

भद्रबल्लभ–संज्ञा पुं० [सं०] बलराम।

भद्रबला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रसारिणी लता। (२) माधवी लता।

भद्रबाहु–संज्ञा पु० [सं०] रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम।

भद्रभीमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कश्यप की एक कन्या का नाम जो दक्ष की कन्या क्रोधा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी।

भद्रभूषणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] देवी की एक मूर्त्ति का नाम।

भद्रमंद्र–संज्ञा पु० [सं०] हाथियों की एक जाति।

भद्रमुंज–संज्ञा पु० [सं०] सरपत।

भद्रमुख–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नाग का नाम।

भद्रमुस्ता–संज्ञा पु० [सं०] नागरमोथा।

भद्रमृग–संज्ञा पु० [सं०] हाथियों की एक जाति।

भद्रयव–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजौ।

भद्रयान–संज्ञा पुं० [सं०] शाखा प्रवर्त्तक एक बौद्ध आचार्य्य।

भद्ररेणु–संज्ञा पुं० [सं०] ऐरावत।

भद्रवट–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

भद्रवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल। (२) नाग्नजिती के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण की एक कन्या का नाम।

भद्रवल्लिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] अनंतमूल।

भद्रवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माधवी लता। (२) वल्लिका।

भद्रविंद–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

भद्रविराट–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णार्द्धसम वृत्त का नाम जिसके पहले और तीसरे चरण में १० और दूसरे तथा चौथे चरण में ११ अक्षर होते हैं।

भद्रशाख–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय।

भद्रश्रय–संज्ञा पुं० [सं०] चंदन।

भद्रश्रवा–संज्ञा पुं० [सं० भद्रश्रवस्] पुराणानुसार धर्म के एक पुत्र का नाम।

भद्रश्री–संज्ञा पुं० [सं०] चंदन का वृक्ष।

भद्रश्रेयाय–संज्ञा पुं० [सं०] हरिवंश के अनुसार वाराणसी के एक प्राचीन राजा जो दिवोदास से भी पहले हुए थे।

भद्रषष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

भद्रसेन–संज्ञा पु० [सं०] (१) देवकी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम जिसे कंस ने मार डाला था। (२) भागवत के अनुसार कुंतिराज के पुत्र का नाम। (३) बौद्धों के अनुसार मारपापीय आदि कुमति के दलपति का नाम।

भद्रसोमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा का एक नाम। (२) मार्कण्डेय पुराण के अनुसार कुरुवर्ष की एक नदी का नाम।

भद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केकयराज की एक कन्या जो श्रीकृष्ण-जी को ब्याही थी। (२) रास्ना। (३) आकाश गंगा। (४) द्वितिया, सप्तमी, द्वादशी तिथियों की संज्ञा। (५) प्रसारिणी लता। (६) जीवंती। (७) बरियारी। (८) शमी। (९) बच। (१०) दंती। (११) हलदी। (१२) दूर्वा। (१३) चंसुर। (१४) गाय। (१५) दुर्गा। (१६) छाया से उत्पन्न सूर्य की एक कन्या। (१७) पिंगल में उपजाति वृत्त का दसवाँ भेद। (१८) कटहल। (१९) कल्याणकारिणी शक्ति। (२०) पृथ्वी। (२१) पुराणानुसार भद्राश्ववर्ष की एक नदी का नाम जो गंगा की शाखा कही गई है। (२२) बुद्ध की एक शक्ति का नाम। (२३) सुभद्रा का एक नाम। (२४) कामरूप प्रदेश की एक नदी का नाम। (२५) फलित ज्योतिष के अनुसार एक योग जो कृष्ण पक्ष की तृतीया और दशमी के शेषार्द्ध में तथा अष्टमी और पूर्णिमा के पूर्वार्द्ध में रहता है। जब यह योग कर्क, सिंह, कुंभ और मीन राशि में होता है, तब पृथ्वी पर, जब मेष, वृष, मिथुन और वृश्चिक राशि में होता है, तब स्वर्ग-लोक में और जब कन्या, धन, तुला और मकर राशि में होता है, तब पाताल में रहता है। इस योग के स्वर्ग में रहने के समय यदि कोई कार्य किया जाय तो कार्यसिद्धि और पाताल में रहने के समय किया जाय तो धन की प्राप्ति होती है। पर यदि इस योग के इस पृथ्वी पर रहने के समय कोई कार्य किया जाय तो वह बिलकुल नष्ट हो जाता है। अतः भद्रा के समय लोग कोई शुभ कार्य नहीं करते। इसे विष्टिभद्रा भी कहते हैं। (२६) बाधा। (बोलचाल)।

मुहा०—किसी के सिर की भद्रा उतरना=किसी प्रकार की हानि विशेषतः आर्थिक हानि होना। भद्रा लगाना=बाधा उत्पन्न करना।

भद्रांग-संज्ञा पुं० [सं०] बलराम।

भद्राकरण-संज्ञा पुं० [सं०] मुंडन। सिर मुँड़ाना।

भद्रात्मज-संज्ञा पुं० [सं०] खड्ग।

भद्रानंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की स्वर-साधना प्रणाली जो इस प्रकार है—आरोही—सा रे ग म, रे ग म प, ग म प ध, म प ध नि, प ध नि सा। अवरोही—सा नि ध प, नि ध प म, ध प म ग, प म ग रे, म ग रे सा।

भद्रायुध-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम।

भद्रारक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार अठारह क्षुद्र द्वीपों में से एक द्वीप का नाम।

भद्रावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटहल का पेड़। (२) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नगरी।

भद्राश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] चंदन।

भद्राश्व-संज्ञा पुं० [सं०] जंबू द्वीप के नौ खंडों या वर्षों में से एक खंड।

भद्रासन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मणियों से जड़ा हुआ राजसिंहासन जिस पर राज्याभिषेक होता है। (२) योग साधन का एक आसन।

भद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पिंगल में एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में रगण, नगण और रगण होते हैं। (२) भद्रा तिथि। द्वितीया, सप्तमी और द्वादशी तिथि। (३) फलित ज्योतिष के अनुसार योगिनी दशा के अंतर्गत पाँचवीं दशा।

भद्री-वि० [सं० भद्रिन्] भाग्यवान्। उ०—समरथ महा मनोरथ पूरत होत अभद्री भद्री।—रघुराज।

भद्रोदनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बला। (२) नागबला।

भनक-संज्ञा स्त्री० [सं० भणन] (१) धीमा शब्द। ध्वनि। (२) अस्पष्ट या उड़ती हुई ख़बर। जैसे,—हमारे कान में पहले ही इसकी कुछ भनक पड़ गई थी।

भनकना*†-क्रि० स० [सं० भणन] बोलना। कहना।

भनना*-क्रि० स० [सं० भणन] कहना।

भनभनाना-क्रि० अ० [अनु०] भन भन शब्द करना। गुंजारना।

भनभनाहट-संज्ञा स्त्री० [हिं० भनभनाना+आहट (प्रत्य०)] भनभनाने का शब्द। धीमी आवाज़ या ध्वनि। गुंजार।

भनित*-वि० दे० "भणित"।

भबका-संज्ञा पुं० [हिं० भाप] अर्क़ उतारने या शराब चुआने का बंद मुँह का एक प्रकार का बड़ा घड़ा जिसके ऊपरी भाग में एक लंबी नली लगी रहती है। जिस चीज़ का अर्क़ उतारना होता है, वह चीज़ पानी आदि के साथ इसमें डाल कर आग पर चढ़ा दी जाती है और उसकी भाप बनती है। तब वह भाप उस नली के रास्ते से ठंढी होकर अर्क़ आदि के रूप में पास रखे हुए दूसरे बर्तन में गिरती है।

भभक-संज्ञा स्त्री० [हिं० भक से अनु०] किसी वस्तु का एकाएक गरम होकर ऊपर को उबलना। उबाल।

भभकना-क्रि० अ० [अनु०] (१) उबलना। (२) गरमी पाकर किसी चीज़ का फूटना। (३) प्रज्वलित होना। ज़ोर से जलना। भड़कना।

भभका-संज्ञा पुं० दे० "भबका"।

भभकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भभक] झूठी धमकी। घुड़की। जैसे, बँदरभभकी।

भभ्भड़, भभ्भड़-संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़+भाड़ अनु०] भीड़भाड़। अव्यवस्थित जन-समुदाय।

भभरना*†-क्रि० अ० [हिं० भय०] (१) भयभीत होना। डरना। उ०—सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान।—तुलसी। (२) घबरा जाना। (३) भ्रम में पड़ना। उ०—(क) अब ही सुधि भूलिहौ मेरी भटू भभरौ जिन मीठी सी तानन में। कुलकानि जो आपनी राखो चहौ अँगुरी दै रहौ दोउ कानन में।—नेवाज। (ख) कहै पदमाकर सुमंद चलि कंध‍ तें भ्रमि भ्रमि भौंहै सी भुजा में त्यौं भभरि गो।—पद्माकर।

भभूका-संज्ञा पुं० [हिं० भभक] ज्वाला। लपट। उ०—चातुर शंभु कहावत वे ब्रज सुंदरी सोहि रही ज्यों भभूकें। जानी न जात मसाल औ बाल गोपाल गुलाल चलावत चूकें।—शंभु।

भभूत-संज्ञा स्त्री० [सं० विभूति] (१) वह भस्म जो शिवजी लगाया करते थे। (२) शिव की मूर्त्ति के सामने जलनेवाली अग्नि की भस्म जिसे शैव लोग मस्तक और भुजा आदि पर लगाते हैं। भस्म।

क्रि० प्र०—मलना।—रमाना।—लगाना।

(३) दे० "विभूति"।

भभूदर-संज्ञा स्त्री० दे० "भूभल"।

भयंकर-वि० [सं०] जिसे देखने से भय लगता हो। डरावना। भयानक। भीषण। विकराल। ख़ौफ़नाक।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक अस्त्र का नाम। (२) डुंडुल पक्षी।

भयंकरता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भयंकर होने का भाव। डरावनापन। भयानकता। भीषणता।

भय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध मनोविकार जो किसी आनेवाली भीषण आपत्ति अथवा होनेवाली भारी हानि की आशंका से उत्पन्न होता है और जिसके साथ उस आपत्ति अथवा हानि से बचने की इच्छा लगी रहती है। भारी

अनिष्ट या विपत्ति की संभावना से मन में होनेवाला क्षोभ। डर। भीति। ख़ौफ़।

विशेष—यदि यह विकार सहसा और अधिक मान में उत्पन्न हो तो शरीर काँपने लगता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, मुँह से शब्द नहीं निकलता और कभी कभी हिलने डुलने तक की शक्ति भी जाती रहती है।

मुहा०†*—भय खाना=डरना। भयभीत होना।

यौ०—भयभीत। भयानक। भयंकर।

(२) बालकों का वह रोग जो उनके कहीं डर जाने के कारण होता है। (३) निर्ऋति के एक पुत्र का नाम। (४) द्रोण के एक पुत्र का नाम जो उसकी अभिमति नामक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। (५) कुब्जक पुष्प। मालती। वि० दे० "भया" या "हुआ" उ०—भय दस मास पूरि भइ घरी। पद्मावत कन्या अवतरी।—जायसी।

भयकर–वि० [सं०] जिसे देखकर भय लगे। भय उत्पन्न करनेवाला। भयानक।

भयचक–वि० दे० "भौचक"।

भयडिंडिम–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का लड़ाई का बाजा।

भयत–संज्ञा पुं० [डिं०] चंद्रमा।

भयद–वि० [सं०] भय उत्पन्न करनेवाला। भयानक। डरावना। ख़ौफ़नाक।

भयदोष–संज्ञा पुं० [सं०] जैनों के अनुसार एक प्रकार का दोष जो उस समय होता है जब मनुष्य अपनी इच्छा से नहीं बल्कि केवल लोकापवाद के भय से सामयिक कर्म्म आदि करता है।

भयनाशन–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

भयनाशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रायमाणा लता।

भयप्रद–वि० [सं०] जिसे देखकर भय उत्पन्न हो। भय उत्पन्न करनेवाला। भयानक। ख़ौफ़नाक।

भयभीत–वि० [सं०] जिसके मन में भय उत्पन्न हो गया हो। डरा हुआ।

भयमोचन–वि० [सं०] भय छुड़ानेवाला। डर दूर करनेवाला। निर्भय करनेवाला।

भयवर्जिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यवहार में दो गाँवों के बीच की वह सीमा जिसे वादी और प्रतिवादी आपस में मिलकर ही मान लें और जिसका निर्णय किसी दूसरे को न करना पड़ा हो।

भयवाद–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+आद (प्रत्य०)] (१) एक ही गोत्र या वंश के लोग। भाई-बंद। (२) बिरादरी का आदमी। सजातीय।

भयव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का व्यूह जो युद्ध-काल में इसलिये रचा जाता था जिसमें भय उपस्थित होने पर राजा उसमें आश्रय लेकर अपनी रक्षा करे।

भयहरण–वि० [सं०] भय का नाश करनेवाला। भय दूर करनेवाला।

भयहारी–वि० [सं० भयहारिन्] डर छुड़ानेवाला। भयहरण। डर दूर करनेवाला।

भया–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक राक्षसी जो काल की बहन और हेति की स्त्री थी। विद्युत्केश इसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

*† वि० दे० "हुआ"। उ०—जहँ भए शाक्य हरिचंद अरु नहुष ययाती।—हरिश्चंद्र।

भयाकुल–वि० [सं०] भय से व्याकुल। डर से घबराया हुआ। भयभीत।

भयातिसार–संज्ञा पुं० [सं०] अतिसार का एक भेद जिसमें केवल भय के कारण दस्त आने लगते हैं।

भयातुर–वि० [सं०] डर से घबराया हुआ। भयभीत।

भयान*†–वि० [सं० भयानक] डरावना। भयानक। उ०—तुम बिना सोभा न ज्यों गृह बिना दीप भयान। आस स्वास उसास घट में अवध आशा प्रान।—सूर।

भयानक–वि० [सं०] जिसे देखने से भय लगता हो। भीषण। भयंकर। डरावना।

संज्ञा पुं० (१) बाघ। (२) राहु। (३) साहित्य में नौ रसों के अंतर्गत छठा रस जिसमें भीषण दृश्यों (जैसे, पृथ्वी के हिलने या फटने, समुद्र में तूफ़ान आने आदि) का वर्णन होता है। इसका वर्ण श्याम, अधिष्ठाता देवता यम, आलंबन भयंकर दर्शन, उद्दीपन उसके घोर कर्म्म और अनुभाव कंप, स्वेद, रोमांच आदि माने गए हैं।

भयाना*†क्रि० अ० [सं० भय+आना (प्रत्य०)] डरना। भयभीत होना। उ०—जो अहि कबहुँ न देखिया रज्जु में नहिं दरसाय। सर्प ज्ञान जाको भया सो जहँ तहँ देखि भयाय।—कबीर।

क्रि० स० भयभीत करना। डराना।

भयावन*†–वि० [हिं० भय+आवन (प्रत्य०)] डरावना। भयानक। भयंकर।

भयावह–वि० [सं०] भयंकर। डरावना। ख़ौफ़नाक।

भय्या–संज्ञा पुं० दे० "भैया"।

भरंत*†–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रांति] भ्रम। संदेह। शक। उ०—लीला राजा राम की खेलहिं सबही संत। आपा पर एकहु भये छूटी सबइ भरंत।—दादू।

भर–वि० [हिं० भरना] कुल। पूरा। सब। तमाम। जैसे, सेर भर, जाड़े भर, शहर भर। उ०—(क) अति करुणा रघुनाथ गुसाईं युग भर जात घड़ी।—सूर। (ख) रहै तो कर्रा

जनम भर सेवा। चलै तो यह जिव साथ परेवा।—जायसी।

*† क्रि० वि० [हिं० भार] भार से। बल से। द्वारा। उ०—(क) सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा।—तुलसी। (ख) गिरिगो मुँह के भर भूमि तहाँ। चलि बैठि पराय लजाय जहाँ।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं० भार] (१) भार। बोझ। वज़न। (२) पुष्टि। मोटाई। उ०—भर लाग्यो परन उरोजनि में रघुनाथ राजी रोम राजी भाँति कल अलि सैनी की।—रघुनाथ

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो भरण पोषण करता हो। (२) युद्ध। लड़ाई।

संज्ञा पुं० [सं० भरत या भरतपुत्र] एक छोटी और अस्पृश्य जाति जो संयुक्त प्रांत और बिहार में पाई जाती है। आजकल इस जाति के कुछ लोग अपने आपको भरद्वाज के वंशज बतलाते हैं।

भरई†–संज्ञा पुं० दे० "भरकूल"।

भरक–संज्ञा पुं० [देश०] दलदलों में रहनेवाला एक प्रकार का पक्षी जो पंजाब और बंगाल में अधिकता से पाया जाता है। यह प्रायः अकेला रहता है, पर कभी कभी दो या तीन भी एक साथ दिखाई देते हैं। मांस के लिये इसका शिकार किया जाता है।

संज्ञा स्त्री० दे० "भड़क"।

भरकना*†–क्रि० अ० दे० "भड़कना"।

भरका–संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह ज़मीन जिसकी मिट्टी काली और चिकनी हो, परंतु सूख जाने पर सफ़ेद और भुरभुरी हो जाय। यह प्रायः जोती नहीं जाती। (२) दे० "भरक"।

भरकाना*†–क्रि० स० दे० "भड़काना"।

भरकी–संज्ञा स्त्री० दे० "भरका"।

भरकूट–संज्ञा पुं० [डिं०] मस्तक। माथा।

भरके–अव्य० [हिं० भरना] एक संकेत जो पालकी ढोनेवाले कहार नाली आदि से बचकर चलने के लिये करते हैं।

भरचिंटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] हिसार प्रांत में होनेवाली एक प्रकार की घास जो वर्षा ऋतु में अधिकता से होती है। पशुओं के लिये यह बहुत पुष्टिकारक होती है। यह छोटी और बड़ी दो प्रकार की होती है।

भरट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हार। (२) सेवक। नौकर।

भरटक–संज्ञा पुं० [सं०] संन्यासियों का एक संप्रदाय।

भरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पालन। पोषण। उ०—विश्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।—तुलसी। (२) भरणी नक्षत्र। (३) वेतन। तनख़्वाह। (४) किसी वस्तु के बदले में जो कुछ दिया जाय। भरती।

भरणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोषक लता। कड़वी तरोई। घिया-तरोई। (२) सत्ताइस नक्षत्रों में दूसरा नक्षत्र। तीन तारों के कारण इसकी आकृति त्रिकोण सी है। इसके अधिष्ठाता देवता यम हैं। यमदैवत। यमभू। (३) एक लग्न जो भूमि खोदने के लिये अच्छा माना जाता है।

वि० भरण करनेवाली। पालन करनेवाली। उ०—तोहीं कर्णि हरणी। तोहीं विश्व भरणी।—विश्राम।

भरणीभू–संज्ञा पुं० [सं०] राहु।

भरणीय–वि० [सं०] भरण करने के योग्य। पालने पोसने के लायक़।

भरण्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल्य। दाम। (२) वेतन। तनख़ाह।

भरण्यु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर। (२) चंद्रमा। (३) अग्नि। (४) मित्र।

भरत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न राजा दशरथ के पुत्र और रामचंद्र के छोटे भाई जिनका विवाह माण्डवी के साथ हुआ था। ये प्रायः अपने मामा के यहाँ रहते थे और दशरथ के देहांत के उपरांत अयोध्या आए थे। दशरथ का श्राद्ध आदि इन्हीं ने किया था। कैकेयी ने इन्हीं को अयोध्या का राज्य दिलवाने के लिये रामचंद्र को वनवास दिलाया था; पर इसके लिये इन्होंने अपनी माता की बहुत कुछ निंदा की थी। रामचंद्र को ये सदा अपने बड़े भाई के तुल्य मानते थे और उनके प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे। पिता के देहांत के उपरांत रामचंद्र को अयोध्या वापस लाने के लिये भी यही चित्रकूट गए थे। जब रामचंद्र किसी प्रकार आने के लिये तैयार नहीं हुए, तब ये अपने साथ उनकी पादुका लेते आए और उसी पादुका को सिंहासन पर रखकर रामचंद्र के आने के समय तक अयोध्या का शासन करते रहे। और जब रामचंद्र लौट आए, तब इन्होंने राज्य उन्हें सौंप दिया। इनको तक्ष और पुष्कर नामक दो पुत्र हुए थे। उन्हीं पुत्रों को साथ लेकर इन्होंने गंधर्व देश के राजा शैलुश के साथ युद्ध किया था और उसे परास्त करके उसका राज्य अपने दोनों पुत्रों में बाँट दिया था। पीछे ये रामचंद्र के साथ स्वर्ग चले गए थे। (२) भागवत के अनुसार ऋषभ देव के पुत्र का नाम। वि० दे० "जड़ भरत"। (३) शकुंतला के गर्भ से उत्पन्न दुष्यंत के पुत्र का नाम जिनका जन्म कण्व ऋषि के आश्रम में हुआ था। जन्म के समय ऋषि ने इनका नाम सर्वदमन रखा था और इनको शकुंतला के साथ दुष्यंत के पास भेज दिया था। दे० "दुष्यंत"। बड़े होने पर ये बड़े प्रतापी और सार्वभौम राजा हुए। विदर्भराज की तीन कन्याओं से इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अनेक अश्वमेध और

राजसूय यज्ञ किए थे। इस देश का "भारतवर्ष" नाम इन्हीं के नाम से पड़ा है (४) एक प्रसिद्ध मुनि जो नाट्य शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। संभवतः ये पाणिनि के बाद हुए थे; क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में नाट्य शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व दो आचार्यों का तो उल्लेख है, पर इनका नाम नहीं आया है। इनका लिखा हुआ नाट्य शास्त्र नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध और प्रामाणिक माना जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने नाट्य कला ब्रह्मा से और नृत्य कला शिव से सीखी थी। (५) संगीत शास्त्र के एक आचार्य का नाम। (६) वह जो नाटकों में अभिनय करता हो। नट। (७) शबर। (८) तंतुवाय। जुलाहा। (९) क्षेत्र। खेत। (१०) प्राचीन काल का उत्तर भारत का एक देश जिसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण में है।

संज्ञा पुं० [सं० भरद्वाज] लवा पक्षी का एक भेद जो प्रायः सारे भारत में पाया जाता है। यह लंबा होता है और झुंड में रहता है। जाड़े के दिनों में खेतों और खुले मैदानों में इसके झुंड बहुत पाए जाते हैं। इसका शब्द बहुत मधुर होता है और यह बहुत ऊँचाई तक उड़ सकता है। यह प्रायः अंडे देने के समय ज़मीन पर घास से घोंसला बनाता है और एक बार में ४-५ अंडे देता है। यह अनाज के दाने या कीड़े मकोड़े खाकर अपना निर्वाह करता है।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) काँसा नामक धातु। कसकुट। वि० दे० "काँसा"। † (२) काँसे के बरतन बनानेवाला। ठठेरा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना] मालगुज़ारी। (दिल्ली)

भरतखंड—संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा भरत के किए हुए पृथ्वी के नौ खंडों में से एक खंड। भारतवर्ष। हिंदुस्तान। (२) भारतवर्ष के अंतर्गत कुमारिका खंड।

भरतपुत्रक—संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में नाट्य करनेवाला पुरुष। नट।

भरतरी—संज्ञा स्त्री० [हिं०] पृथ्वी।

भरतवर्ष—संज्ञा पुं० दे० "भारतवर्ष"।

भरतवीणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की वीणा जो कच्छपी वीणा से बहुत कुछ मिलती जुलती होती है। यह बजाई भी कच्छपी वीणा की तरह ही जाती है।

भरता—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का सालन जो बैंगन, आलू या अरुई आदि को भूनकर, उसमें नमक मिर्च आदि मिलाकर और कभी कभी उसे घी या तेल आदि में छौंक कर तैयार किया जाता है। चोखा।

संज्ञा पुं० दे० "भर्त्ता"।

भरतार—संज्ञा पुं० [सं० भर्त्ता] (१) पति। खसम। खाविंद। (२) स्वामी। मालिक।

भरतिया—वि० [हिं० भरत+इया (प्रत्य०)] भरत अर्थात् कसकुट धातु का बना हुआ।

संज्ञा पुं० कसकुट के बर्तन या घंटे आदि ढालनेवाला। भरत धातु से चीज़ें बनानेवाला।

भरती—संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना] (१) किसी चीज़ में भरे जाने का भाव। भरा जाना।

मुहा०—भरती करना=किसी के बीच में रखना, लगाना या बैठाना। जैसे,—(क) टाँका भरती करना। (ख) इसमें ५) की और भरती करो। भरती का=जो केवल स्थान पूरा करने के लिये रक्खा जाय। बहुत ही साधारण या रद्दी।

(२) नक्काशी, चित्रकारी या कशीदे आदि में बीच का खाली स्थान इस प्रकार भरना जिसमें उसका सौंदर्य बढ़ जाय। जैसे, कशीदे के बूटों में की भरती। नैचे में की भरती। (३) दाखिल या प्रविष्ट होने का भाव। प्रवेश होना। जैसे, लड़कों का स्कूल में भरती होना, फ़ौज में भरती होना। (४) वह नाव जिसमें माल लादा जाता हो। (लश०) (५) वह माल जो ऐसी नाव में भरा या लादा जाय। (लश०) (६) जहाज़ पर माल लादने की क्रिया। (लश०)। (७) समुद्र के पानी का चढ़ाव। ज्वार। (लश०) (८) नदी के पानी की बाढ़। (लश०)

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) साँवाँ नामक कदन्न। (२) एक प्रकार की घास जो पशुओं के चारे के काम में आती है।

भरतोद्धता—संज्ञा पुं० [सं०] केशव के अनुसार एक प्रकार के छंद का नाम।

भरत्थ*†—संज्ञा पुं० दे० "भरत"।

भरथ†—संज्ञा पुं० दे० "भरत"।

भरथरी—संज्ञा पुं० दे० "भर्तृहरि"।

भरदूल—संज्ञा पुं० दे० "भरत" (पक्षी)।

भरद्वाज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगिरस गोत्र के उतथ्य ऋषि की स्त्री ममता के गर्भ में से उतथ्य के भाई बृहस्पति के वीर्य से उत्पन्न एक वैदिक ऋषि जो गोत्र-प्रवर्त्तक और मंत्रकार थे। कहते हैं कि एक बार उतथ्य की अनुपस्थिति में उनके भाई बृहस्पति ने उनकी स्त्री ममता के साथ संसर्ग किया था जिससे भरद्वाज का जन्म हुआ। अपना व्यभिचार छिपाने के लिये ममता ने भरद्वाज का त्याग करना चाहा था, पर बृहस्पति ने उसको ऐसा करने से मना किया। दोनों में कुछ विवाद भी हुआ, पर अंत में दोनों ही नवजात बालक को छोड़कर चले गए। उनके चले जाने पर मरुद्-गण इनको उठा ले गए और उन्होंने इनका पालन किया। जब भरत ने पुत्र-कामना से मरुत्स्तोम यज्ञ किया, तब मरुद्गण ने प्रसन्न होकर भरद्वाज को उनके सुपुर्द कर दिया। महाभारत में लिखा है कि एक बार ये हिमालय में

गंगास्नान कर रहे थे। उधर से जाती हुई घृताची अप्सरा को देखकर इनका वीर्यपात हो गया, जिससे द्रोणाचार्य्य का जन्म हुआ। एक बार इन्होंने भ्रम में पड़कर अपने मित्र रैभ्य को शाप दे दिया था; और पीछे से पछताकर जल मरे थे। पर रैभ्य के पुत्र अर्वावसु ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इनको फिर जिला लिया था। वनवास के समय एक बार रामचंद्र इनके आश्रम में भी गए थे। भावप्रकाश के अनुसार अनेक ऋषियों के प्रार्थना करने पर ये स्वर्ग जा कर इंद्र से आयुर्वेद सीख आए थे। ये राजा दिवोदास के पुरोहित और सप्तर्षियों में से भी एक माने जाते हैं। (२) बौद्धों के अनुसार एक अर्हत का नाम। (३) एक अग्नि का नाम। (४) एक प्राचीन देश का नाम। (५) भरद्वाज ऋषि के वंशज या गोत्रापत्य। (६) भरत पक्षी।

भरना—क्रि० स० [सं० भरण] (१) किसी रिक्त पात्र आदि में कोई पदार्थ इस प्रकार डालना जिसमें वह पूर्ण हो जाय। ख़ाली जगह को पूरा करने के लिये कोई चीज़ डालना। पूर्ण करना। जैसे, लोटे में पानी भरना। गड्ढे में मिट्टी भरना। गाड़ी में माल भरना। तकिए में रूई भरना। (२) उँडेलना। उलटना। डालना। (३) रिक्त स्थान की पूर्ण अथवा उसकी अंशतः पूर्त्ति करना। स्थान को ख़ाली न रहने देना। जैसे,—(क) सेनापति ने अपनी सेना से सारा शहर भर दिया। (ख) जुलाहे नली में सूत भरते हैं। (ग) तस्वीर में रंग भर दो। (४) दो पदार्थों के बीच के अवकाश या छिद्र आदि में कुछ डालकर उसे बंद करना। जैसे, दरज भरना। (५) तोप या बंदूक आदि में गोली बारूद आदि डालना। जैसे, बंदूक भरना। (६) पद पर नियुक्त करना। रिक्त पद की पूर्त्ति करना। जैसे,—उन्होंने अपने संबंधियों को लाकर ही सारे पद भर दिए। (७) ऋण का परिशोध या हानि की पूर्त्ति करना। चुकाना। देना। जैसे,—(क) यदि आपको कोई हानि होगी तो मैं भर दूँगा। (ख) अभी तो वे अपने भाई का देना ही भर रहे हैं।

मुहा०—(किसी का) घर भरना=(किसी को) खूब धन देना। जैसे,—पहले आप अपने संबंधियों का तो घर भर लीजिए।

(८) खेत में पानी देना। (९) गुप्त रूप से किसी की निंदा करना अथवा कोई बुरी बात मन में बैठाना। जैसे,—किसी ने उनको भर दिया है, इसीलिये वे सीधे मुँह से नहीं बोलते। (१०) धातु के छड़ आदि को पीटकर अथवा और किसी प्रकार छोटा और मोटा करना। (११) किसी प्रकार व्यतीत करना। कठिनता से बिताना। (१२) निर्वाह करना। निबहना। उ०—तेरे ही किए मान व्याप होत तनक ही कैसे कै भरौं।—हरिदास। (१३) काटना। डसना। उ०—जहाँ सो नागिन भर गई काला करै सो अंग।—जायसी। (१४) सहना। झेलना। जैसे, (क) दुःख भरना। (ख) करे कोई, भरे कोई। (१५) पशुओं पर बोझ आदि लादना। (१६) सारे शरीर में लगाना। पोतना। उ०—भूषण कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे।—तुलसी।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० अ० (१) किसी रिक्त पात्र आदि का कोई और पदार्थ पड़ने के कारण पूर्ण होना। जैसे, (क) गगरा भर गया। (ख) तालाब भर गया। गड्ढा भर गया।

यौ०—भरा पूरा=(१) जो सब प्रकार से सुखी और संपन्न हो। (२) सब प्रकार से पूर्ण। जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि न हो।

(२) उँडेला या डाला जाना। (३) रिक्त स्थान की पूर्त्ति होना। स्थान का ख़ाली न रहना। जैसे,—थिएटर की सब कुरसियाँ भर गईं। (४) पदार्थों के बीच के छिद्र या अवकाश का बंद होना। (५) तोप या बंदूक आदि में गोली, बारूद आदि का होना। जैसे, भरा हुआ तमंचा। (६) ऋण आदि का परिशोध होना। जैसे,—सारा देना भरा गया। (७) मन में क्रोध होना। असंतुष्ट या अप्रसन्न रहना। जैसे,—ज़रा उन्हें जाकर देखो तो सही, कैसे भरे बैठे हैं। (८) धातु के छड़ आदि का पीटकर मोटा और छोटा किया जाना। (९) पशुओं पर बोझ आदि लदना। (१०) चेचक के दानों का सारे शरीर में निकल आना। (११) घाव में अँगूर आना। घाव का ठीक और बराबर होना। (१२) किसी अंग का बहुत काम करने के कारण दर्द करने लगना। जैसे,—लोटा उठाए उठाए हाथ भर गया। (१३) शरीर का हृष्ट पुष्ट होना। (१४) पशुओं का गर्भ धारण करना। गाभिन होना। (१५) जितना चाहिए, उतना हो जाना। कुछ कमी या कसर न रह जाना। जैसे,—मेला भर गया। (भिन्न भिन्न शब्दों के साथ अकर्मक और सकर्मक दोनों रूपों में आकर यह शब्द भिन्न भिन्न अर्थ देता है। जैसे, अंक भरना, दम भरना। ऐसे अर्थों के लिये उन शब्दों को देखना चाहिए।)

संज्ञा पुं० (१) भरने की क्रिया या भाव। जैसे,—अपना भरना भरते हैं। (२) रिश्वत। घूस।

भरनि*†—संज्ञा स्त्री० [सं० भरण] पहनावा। पोशाक। कपड़े लत्ते। उ०—मंजु मेचक मृदुल मेचक तनु अनुहरति भूषन भरनि।—तुलसी।

भरनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना] करघे में की ढरकी। नार।

संज्ञा स्त्री० [?] (१) छछूँदर। (२) मोरनी। (३) गारुड़ी मंत्र। (४) एक प्रकार की जंगली बूटी।

भरपाई–क्रि० वि० [हिं० भरना+पाना (भर पाना)] पूर्ण रूप से। भली भाँति। उ०—आपुन वज्र समान भए हरि माला दुखित भई भरपाई।—सूर।

संज्ञा स्त्री० (१) भर पाने का भाव। जो कुछ बाक़ी हो, वह पूरा पूरा पा जाना। (२) वह रसीद जो पूरी पूरी वसूली हो जाने पर दी जाय। कुल बाक़ी चुक जाने पर दी जानेवाली रसीद।

भरपूर–वि० [हिं० भरना+पूरा] (१) जो पूरी तरह से भरा हुआ हो। पूरा पूरा। (२) जिसमें कोई कमी न हो। परिपूर्ण।

क्रि० वि० (१) पूर्ण रूप से। अच्छी तरह पूरा करके। (२) भली भाँति।

संज्ञा पुं० समुद्र की तरंगों का चढ़ाव। ज्वार। भाटा का उलटा। (लश०)

भरभराना–क्रि० अ० [अनु०] (१) (रोआँ) खड़ा होना। (इस अर्थ में इसका प्रयोग केवल "रोआँ" शब्द के साथ होता है।) (२) व्याकुल होना। घबराना। उ०—भरभराय देखे बिना देखे पल न अघायँ। रसनिधि नेही नैन ये क्यों समुझाये जायँ।—रसनिधि।

भरभूँजा–संज्ञा पुं० दे० "भड़भूँजा"।

भरभेंटा*†–संज्ञा पुं० [हिं० भर+भेटना] सामना। मुक़ाबला। मुठभेड़। उ०—मारे ताड़ुका को जाको देवहू डेराते हुते गयो पंथ ही में परितासु भरभेंटा है।—रघुराज।

भरम*†–संज्ञा पुं० [सं० भ्रम] (१) भ्रांति। संशय। संदेह। धोखा। (२) भेद। रहस्य।

मुहा०—भरम गँवाना=अपना भेद खोलना। अपनी थाह देना। भरम बिगाड़ना=भेंडा फोड़ना। रहस्य खोलना।

भरमना*†–क्रि० अ० [सं० भ्रमण] (१) घूमना। चलना। फिरना। (२) मारा मारा फिरना। भटकना। (३) धोखे में पड़ना।

संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रम] (१) भूल। ग़लती। (२) धोखा। भ्रांति। भ्रम।

भरमाना–क्रि० स० [हिं० भरमना का स० रूप] (१) भ्रम में डालना। चक्कर में डालना। बहकाना। उ०—कोउ निरखि रही चारु लोचन निमिष भरमाई। सूर प्रभु की निरखि सोभा कहत नहिं आई।—सूर। (२) भटकाना। व्यर्थ इधर उधर घुमाना। उ०—माधो जू मोहि काहे की लाज। जन्म जन्म योहीं भरमान्यो अभिमानी बेकाज।—सूर।

क्रि० अ० चकित होना। हैरान होना। अचंभे में आना। उ०—सूर श्याम छबि निरखि कै युवती भरमाहीं।—सूर।

भरमार–संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना+मार=अधिकता] बहुत ज़्यादती। अत्यंत अधिकता।

भरराना–क्रि० अ० [अनु०] (१) भरर शब्द के साथ गिरना। अरराना। (२) पिल पड़ना। टूट पड़ना। उ०—भरराने भीर भारी। ढहरान ग्रीव सारी।—सूदन।

क्रि० स० (१) भरर शब्द के साथ गिराना। (२) दूसरों को पिलने अथवा टूट पड़ने में प्रवृत्त करना।

भरल–संज्ञा स्त्री० [देश०] नीले रंग की एक प्रकार की जंगली भेड़ जो हिमालय में भूटान से लद्दाख़ तक होती है।

भरवाई–संज्ञा स्त्री० [सं० भारवाही] बोझ उठाने की दौरी। वह डलिया या टोकरी जिसमें बोझ रखा जाता है।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भरवाना] (१) भरवाने की क्रिया या भाव। (२) भरवाने की मज़दूरी।

भरवाना–क्रि० स० [हिं० भरना का प्रे० रूप] भरने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को भरने में प्रवृत्त करना।

भरसक–क्रि० वि० [हिं० भर=पूरा+सक=शक्ति] यथा शक्ति। जहाँ तक हो सके।

भरसन*–संज्ञा स्त्री० [सं० भर्त्सना] डाँट। फटकार। उ०—मित्र चितहि हँसि हेरि सत्रु तेजहि करि भरसन।

भरसाई–संज्ञा पुं० दे० "भाड़।"

भरहरना–क्रि० अ० दे० "भरभराना"। उ०—जाको सुयश सुनत अरु गावत पाप वृंद जैहैं भजि भरहरि।—सूर।

भरहराना–क्रि० अ० दे० "भहराना"।

भरांति*–संज्ञा स्त्री० दे० "भ्रांति"। उ०—अपनी अपनी जाति सों सब कोइ बैसइ पाँति। दादू सेवक राम का ताको नहीं भरांति।—दादू।

भराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना] (१) एक प्रकार का कर जो पहले बनारस में लगता था और जिसमें से आधा कर उगाहनेवाले राजकर्मचारी को मिलता था और आधा सरकार में जमा होता था। (२) भरने की क्रिया या भाव। (३) भरने की मज़दूरी।

भरा पूरा–वि० [हिं० भरना+पूरा] (१) जिसे किसी बात की कमी न हो। संपन्न। (२) जिसमें किसी बात की कमी या न्यूनता न हो।

भराव–संज्ञा पुं० [हिं० भरना+आव (प्रत्य०)] (१) भरने का भाव। भरत। (२) भरने का काम। (३) कसीदा काढ़ने में, पत्तियों के बीच के स्थान को तागों से भरना।

भरित–वि० [सं०] (१) जो भरा गया हो। भरा हुआ। (२) जिसका भरण या पालनपोषण किया गया हो। पाला पोसा हुआ।

भरिया–वि० [हिं० भरना] (१) भरनेवाला। पूर्ण करनेवाला। (२) ऋण भरनेवाला। क़र्ज़ चुकानेवाला।

संज्ञा पुं० वह जो बरतन आदि ढालने का काम करता हो। ढलाई करनेवाला। ढालिया।

भरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भर] एक तौल जो दश माशे या एक रुपए के बराबर होती है।

भरु*–संज्ञा पुं० [सं० भार] (१) बोझ। वज़न। बोझा। उ०—(क) विविध सिंगार किये आगे ठाढ़ी ठाढ़ी प्रिये सखी भयो भरु आनि रतिपति दल दलकें।—हरिदास। (ख) भावक उभरौहौं भयो कछु पर्‍यो भरु आय। सीपहरा के मिस हियो निसि दिन हेरत जाय।—बिहारी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) समुद्र। (३) स्वामी। मालिक। (४) सोना। स्वर्ण। (५) शंकर।

भरुआ–संज्ञा पुं० [देश०] टसर।

संज्ञा पुं० दे० "भड़ुआ"। उ०—चोर चतुर बटपार नट प्रभु प्रिय भरुआ भंड। सब भच्छक परमारथी कलि कुपंथ पाषंड।—तुलसी।

भरुका†–संज्ञा पुं० [हिं० भरना] पुरवे के आकार का मिट्टी का बना हुआ कोई छोटा पात्र। मटकना। कुल्हड़।

भरुहाना†–क्रि० अ० [हिं० भार या भारी+आना या हाना (प्रत्य०)] घमंड करना। अभिमान करना। उ०—(क) अब वे भरुहाने फिरैं कहुँ डरत न माई। सूरज प्रभु मुँह पाइ कै भए ढीठ बजाई।—सूर। (ख) नीच एहि बीच पति पाइ भरुहाइगो बिहाइ प्रभु भजन बचन मन कायको।—तुलसी।

क्रि० स० [हिं० भ्रम] (१) बहकाना। धोखा देना। भ्रम में डालना। उ०—तुमको नंदमहर भरुहाए। माता गर्भ नहीं तुम उपजे तौ कहो कहाँ ते आए।—सूर। (२) उत्तेजित करना। बढ़ावा देना। उ०—भरुहाए नट भाट के चपरि चढ़ैं संग्राम। कै वे भाजे आइहै कै बाँधे परिनाम।

भरुही–संज्ञा स्त्री० [देश०] क़लम बनाने की एक प्रकार की कच्ची किल्क।

संज्ञा स्त्री० दे० "भरत" (पक्षी)।

भरेंड़†–संज्ञा पुं० दे० "रेंड़"।

भरेठ†–संज्ञा पुं० [हिं० भार+काठ] दरवाज़े के ऊपर लगी हुई वह लकड़ी जिसके ऊपर दीवार उठाई जाती है। इसे 'पटाव' भी कहते हैं।

भरैया†–वि० [सं० भरण+ऐया (प्रत्य०)] पालन करनेवाला। पोषक। पालक। रक्षक।

वि० [हिं० भरना+ऐया (प्रत्य०)] भरनेवाला। जो भरता हो।

भरोसा–संज्ञा पुं० [सं० वर+आशा] (१) आश्रय। आसरा। (२) सहारा। अवलंब। (३) आशा। उम्मेद। (४) दृढ़ विश्वास। यक़ीन।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

भरोसी†–वि० [हिं० भरोसा+ई (प्रत्य०)] (१) भरोसा या आसरा रखनेवाला। जो किसी बात की आशा रखता हो। (२) जो आश्रय में रहता हो। आश्रित। (३) जिसका भरोसा किया जाय। विश्वास करने योग्य। विश्वसनीय।

भरौंट–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की जंगली घास जो राजपूताने में अधिकता से होती है और जो पशुओं के खाने के काम में आती है। इसमें छोटे छोटे दाने या फल भी लगते हैं जिनके चारों ओर काँटे होते हैं। भुरत।

भरौती†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भरना+औती (प्रत्य०)] वह रसीद जिसमें भरपाई की गई हो। भरपाई का काग़ज़।

भरौना†–वि० [हिं० भार+औना (प्रत्य०)] बोझल। वज़नी। भारी।

भर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। शंकर। उ०—अमेय तेज भर्ग भक्त सर्गवंश देखिये।—केशव। (२) वीतिहोत्र के पुत्र का नाम। (३) सूर्य का तेज। (४) एक प्राचीन देश का नाम।

संज्ञा पुं० [सं० भर्गस्] ज्योति। दीप्ति। चमक।

भर्गायन–संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम।

भर्जन–संज्ञा पुं० [सं०] भाड़ में भूना हुआ अन्न।

भर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं० भर्तृ] (१) अधिपति। स्वामी। मालिक। (२) खाविंद। (३) विष्णु।

संज्ञा पुं० दे० "भरता"।

भर्त्तार–संज्ञा पुं० [सं० भर्तृ] स्त्री का पति। स्वामी। मालिक। खाविंद। उ०—काम अति तन दहत दीजै सूरश्याम भर्त्तार।—सूर।

भर्त्ती–संज्ञा स्त्री० दे० "भरती"।

भर्तृहरि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रसिद्ध वैयाकरण और कवि जो उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के छोटे भाई और गंधर्वसेन के दासी-पुत्र थे। कहते हैं कि ये अपनी स्त्री के साथ बहुत अनुराग रखते थे, पर पीछे से उसकी दुश्चरित्रता के कारण संसार से विरक्त हो गए थे। यह भी कहा जाता है कि काशी में आकर योगी होने के उपरांत इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी। कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि ये अपने भाई विक्रमादित्य के ही हाथ से मारे गए थे। आजकल कुछ योगी या साधु हाथ में सारंगी लेकर इनके संबंध के गीत गाते और भीख माँगते हैं। ये लोग अपने आपको इन्हीं के संप्रदाय का बतलाते हैं। (२) एक संकर राग जो ललित और पुरज के मेल से बनता है। इसमें सा वादी और म संवादी होता है।

भर्त्सन–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) निंदा। शिकायत। (२) डाँट-डपट।

भर्म†–संज्ञा पुं० दे० "भ्रम"।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। स्वर्ण। (२) नाभि।

भर्मन*†–संज्ञा पुं० दे० "भ्रमण"।

भर्रा–संज्ञा पुं० [भर शब्द से अनु०] (१) पक्षियों की उड़ान। (२) एक प्रकार की चिड़िया।

भर्राना–क्रि० अ० [भर से अनु०] भर्र भर्र शब्द होना। जैसे, आवाज़ भर्राना।

भर्सन※†–संज्ञा स्त्री० [सं० भर्त्सन] (१) निंदा। अपवाद। शिकायत। (२) फटकार। डाँट-डपट।

भलंदन–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कन्नौज के एक राजा का नाम जिसको यज्ञकुंड मे कलावती नाम की एक कन्या मिली थी।

भल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालने की क्रिया। वध। (२) दान। (३) निरूपण।

भलका†–संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक विशेष आकार का बना हुआ सोने या चाँदी का टुकड़ा जो शोभा के लिये नथ में जड़ा जाता है। (२) एक प्रकार का बाँस।

भलटी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] हँसिया नाम का लोहे का औज़ार।

भलपति–संज्ञा पुं० [हिं० भाला+सं० पति] भाला रखनेवाला। नेज़ेबरदार। उ०—ऊपर कनक मजूसा, लाग चँवर औ-दार। भलपति बैठ भाल लै औ बैठ धन्कार।—जायसी।

भलमनसत–संज्ञा स्त्री० [हिं० भला+मनुष्य+त (प्रत्य०)] भले मानस होने का भाव। सज्जनता। शराफ़त।

भलमनसाहत–संज्ञा स्त्री० दे० "भलमनसत"।

भलमनसी–संज्ञा स्त्री० दे० "भलमनसत"।

भला–वि० [सं० भद्र] (१) जो अच्छा हो। उत्तम। श्रेष्ठ। जैसे, भला काम। भला आदमी। उ०—खलहु करहि भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू।—तुलसी।

यौ०—भला चंगा=शरीर से स्वस्थ।

(२) बढ़िया। अच्छा।

यौ०—भला बुरा=(१) उलटी सीधी बात। अनुचित बात। (२) डाँट फटकार। जैसे,—जब तुम भला बुरा सुनोगे, तब सीधे होगे।

संज्ञा पुं० (१) कल्याण। कुशल। भलाई। जैसे,—तुम्हारा भला हो। (२) लाभ। नफ़ा। प्राप्ति। जैसे,—इस काम में उनका भी कुछ भला हो जायगा।

यौ०—भला बुरा=हानि और लाभ। नफ़ा-नुक़सान। जैसे,—तुम अपना भला बुरा समझ लो।

अव्य० (१) अच्छा। ख़ैर। अस्तु। जैसे,—भला, मैं उनसे समझ लूँगा। उ०—भलेहिं नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनि बृंद समेता।—तुलसी। (२) "नहीं" का सूचक अव्यय जो प्रायः वाक्यों के आरंभ अथवा मध्य में रखा जाता है। जैसे,—(क) भला कहीं ठंढा लोहा भी पीटने से दुरुस्त होता है। (अर्थात् नहीं होता) (ख) वहाँ भला चित्रकारी को कौन पूछता है (अर्थात्–कोई नहीं पूछता)

मुहा०—भले ही=ऐसा हुआ करे। इससे कोई हानि नहीं। अच्छा ही है। जैसे,—भले ही वे चले जायँ। उ०—हृदय हेरि हारेउ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा।—तुलसी। (इस प्रयोग मे कुछ उपेक्षा या संतोष का भाव प्रकट होता है।)

भलाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० भला+ई (प्रत्य०)] (१) भले होने का भाव। भला-पन। अच्छा-पन। (२) उपकार। नेकी। (३) सौभाग्य।

भलापन–संज्ञा पुं० दे० "भलाई"।

भले–क्रि० वि० [हिं० भला] (१) भली भाँति। अच्छी तरह। पूर्ण रूप से। जैसे,—आप भी भले रुपया देने आए। (व्यंग्य) (कविता में इसका प्रायः "भलि कै" हो जाता है। उ०—हाथ हरि नाथ के बिकाने रघुनाथ जनु सील सिंधु तुलसीस भलो मान्यौ भलि कै।—तुलसी।)

अव्य० खूब। वाह। जैसे,—तुम कल शाम को आनेवाले थे, भले आए।

भलेरा※†–संज्ञा पुं० दे०। "भला"। उ०—ह्वैहै जब तब तुम्हहि ते तुलसी को भलेरौ।—तुलसी।

भल्ल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वध। हत्या। (२) दान। (३) भालू। (४) बृहत्संहिता के अनुसार एक प्राचीन देश। (५) पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ। (६) प्राचीन काल की एक जाति। (७) प्राचीन काल का एक शस्त्र जिससे शरीर में धँसा हुआ तीर निकाला जाता था। (८) एक प्रकार का बाण। (९) दे० "भाला"।

भल्लक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भालू। (२) इंगुदी का वृक्ष। (३) भिलावाँ। (४) एक प्रकार की चिड़िया। (५) एक प्रकार का सन्निपात। दे० "भल्लु"।

भल्लपुच्छी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

भल्लय–संज्ञा पुं० [सं०] ईशान दिशा का एक प्राचीन प्रदेश।

भल्लाक्ष–वि० [सं०] जिसे कम दिखाई देता हो। मंद दृष्टि।

भल्लात, भल्लातक–संज्ञा पुं० [सं०] भिलावाँ।

भल्लु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसमें शरीर के अंदर जलन और बाहर जाड़ा मालूम होता है, प्यास बहुत लगती है, सिर, गले और छाती में बहुत दरद रहता है, बड़े कष्ट से कफ और पित्त निकलता है, साँस और हिचकी बहुत आती है और आँखें प्रायः बंद रहती हैं।

भल्लुक–संज्ञा पुं० [सं०] भालू।

भल्लूक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भालू (२) सुश्रुत के अनुसार शंख की तरह का कोश में रहनेवाला एक प्रकार का जीव। (३) एक प्रकार का श्योनाक। (४) कुत्ता।

भवँ–संज्ञा स्त्री० दे० "भौंह"।

भवंग, भवंगा*–संज्ञा पुं० [सं० भुजंग] साँप । सर्प । उ०—विष सागर लहर तरंगा । यह अइसा कूप भवंगा ।—दादू ।

भवँर–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] दे० "भँवर" ।

भवँरकली–संज्ञा स्त्री० दे० "भँवरकली" ।

भवँरी–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रमरी] दे० "भँवरी" ।

भवंत–वि० [सं० भवत्] भवत् का बहुवचन । आप लोगों का । आपका । उ०—अवलंब भवंत कथा जिन्हके । प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके ।—तुलसी ।

भवँलिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० भंवर] एक प्रकार की नाव जो बजरे की तरह की पर उससे कुछ छोटी होती है । इसमें भी बजरे की तरह ऊपर छत पटी होती है । भौलिया ।

भव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उत्पत्ति । जन्म । (२) शिव । (३) मेघ । बादल । (४) कुशल । (५) संसार । जगत् । (६) सत्ता । (७) प्राप्ति । (८) कारण । हेतु । (९) कामदेव । (१०) संसार का दुःख । जन्म मरण का दुःख । उ०—कमलनयन मकराकृत कुंडल देखत ही भव भागै ।—सूर । (११) सत्ता । (१२) प्राप्ति । (१३) मांस । (डिं०)

संज्ञा पुं० [सं० भय] डर । उ०—(क) राजा प्रजा भए गति-भागी । भव संभवित भूरि भव भागी ।—रघुराज । (ख) भव भंजन रंजन सुर जूथा । त्रातु सदा नो कृपा-बरूथा ।—तुलसी ।

वि० (१) शुभ । कल्याणकारक । (२) उत्पन्न । जन्मा हुआ ।

भवकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक पुच्छल तारा जो कभी कभी पूर्व में दिखाई देता है और जिसकी पूँछ शेर की पूँछ की भाँति दक्षिणावर्त्त होती है । कहते हैं कि जितने मुहूर्त्त तक यह दिखाई देता है, उतने महीने तक भीषण अकाल या महामारी आदि होती है ।

भवचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार वह कल्पित चक्र जिससे यह जाना जाता है कि कौन कौन कर्म करने से जीवात्मा को किन किन योनियों में भ्रमण करना पड़ता है । (भिन्न भिन्न बौद्ध संप्रदायों के अनुसार ये भवचक्र भी कुछ भिन्न भिन्न हैं ।

भवचाप–संज्ञा पुं० [सं०] शिव जी के धनुष का नाम । पिनाक ।

भवत्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमि । ज़मीन । (२) विष्णु ।

वि० मान्य । पूज्य ।

भवतव्यता–संज्ञा स्त्री० दे० "भवितव्यता" ।

भवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जहरीला बाण ।

भवदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

भवदारु–संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु ।

भवदीय–सर्व० [सं०] आपका । तुम्हारा । उ०—नाहिनै नाथ अवलंब मोहि आनकी । करम मन बचन प्रन सत्य करुनानिधे एक गति राम भवदीय पदत्रान की ।—तुलसी ।

भवधरण–संज्ञा पुं० [सं०] संसार को धारण करनेवाला, परमेश्वर ।

भवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घर । मकान । (२) प्रासाद । महल । (३) तर्क शास्त्र में भाव । (४) जन्म । उत्पत्ति । (५) सत्ता । (६) छप्पय का एक भेद ।

संज्ञा पुं [सं० भुवन] जगत । संसार । उ०—हरि के जे वल्लभ हैं दुर्लभ भवन माँझ तिनही की पदरेणु आशा जियकारी है ।—प्रियादास ।

संज्ञा पुं० [सं० भ्रमण] कोल्हू के चारों ओर का वह चक्कर जिसमें बैल घूमते हैं ।

भवनपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनियों के दस देवताओं का एक वर्ग जिनके नाम इस प्रकार हैं—असुर कुमार, नागकुमार, तड़ित्कुमार, सुपर्णकुमार, वह्निकुमार, अनिलकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार । (२) गृहस्वामी । घर का मालिक । (३) राशिचक्र के किसी घर का स्वामी । (ज्यो०)

भवना–क्रि० अ० [सं० भ्रमण] घूमना । फिरना । चक्कर खाना । उ०—भौंर ज्यौं भवत भूतवासुकी गणेश युत मानों मकरंद बृंद माल गंगाजल की ।—केशव ।

भवनाशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार सरयू नदी का एक नाम ।

भवनी–संज्ञा स्त्री० [सं० भवन+ई (प्रत्य०)] गृहिणी । भार्या । स्त्री । उ०—देखि बड़ो आचरज पुलकि तन कहति मुदित मुविभवनी ।—तुलसी ।

भवन्नाथ–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भवपाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार भुवनेश्वरी देवी जो संसार की रक्षा करनेवाली शक्ति मानी जाती है ।

भवप्रत्यय–संज्ञा स्त्री० [सं०] समाधि की एक अवस्था जो प्रकृति लयों को प्राप्त होती है ।

भवबंधन–संज्ञा पुं० [सं०] संसार की झंझट । सांसारिक दुःख और कष्ट ।

भवभंजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर । (२) संसार का नाश करनेवाला । काल ।

भवभय–संज्ञा पुं० [सं०] संसार में बार बार जन्म लेने और मरने का भय । उ०—त्रिपुरारि त्रिलोचन दिगवसन विषभोजन भवभयहरन ।—तुलसी ।

भवभामिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती । भवानी । उ०—अंतर्जामिनी भवभामिनी स्वामिनि सो हौं कही चहौं बात मातु अंत तौ हौं लरिकै ।—तुलसी ।

भवभूष*†-संज्ञा पुं० [सं०] संसार के भूषण। उ०—भवभूष दुरंतरनंत हते दुख मोह मनोज महा जुर को।—केशव।

भवमोचन-वि० [सं०] संसार के बंधनों से छुड़ानेवाले, भगवान। उ०—होइहहिं सुफल आज मम लोचन। देखि वदन पंकज भवमोचन।—तुलसी।

भवरुत्-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो मृतक की अंत्येष्टि क्रिया के समय बजाया जाता था। प्रेतपटह।

भववामा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव जी की स्त्री, पार्वती। भवानी।

भवविलास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माया। (२) संसार के सुख जो ज्ञान के अंधकार में उदित होते हैं। उ०—मनहुँ ज्ञानघन प्रकास बीते सब भवविलास आस वास तिमिर तोष तरनि तेज जारे।—तुलसी।

भवशूल-संज्ञा पुं० [सं०] सांसारिक दुःख और क्लेश।

भवसंभव-वि० [सं०] संसार में होनेवाला। सांसारिक। उ०—तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका।—तुलसी।

भवाँ†-संज्ञा स्त्री० [हिं० भवना] भौंरी। फेरी। चक्कर। उ०—जनु यमकात करहिं सब भवाँ। जिय पै चीन्ह स्वर्ग अपसवाँ।—जायसी।

भवाँना†-क्रि० स० [सं० भ्रमण] घुमाना। फिराना। चक्कर देना। उ०—(क) या विधि के सुनि बैन सुरारी। मुष्टिक एक भवाँइ कै मारी।—विश्राम। (ख) तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भवाँई।—तुलसी।

भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पार्वती। भवानी। दुर्गा।

भवाचल-संज्ञा पुं० [सं०] कैलास पर्वत जो पुराणानुसार मंदर पर्वत के पूर्व में है।

भवानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भव की भार्या, दुर्गा।

भवाभीष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल।

भवायन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव का उपासक या भक्त। शैव।

भवायना-संज्ञा स्त्री० [सं०] शिव के सिर पर रहनेवाली, गंगा।

भवित-संज्ञा पुं० [सं०] जो हो चुका हो। बीता हुआ। भूत।

भवितव्य-संज्ञा पुं० [सं०] अवश्य होनेवाली बात। भवनीय। होनहार।

भवितव्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) होनी। भावी। होनहार। (२) भाग्य। क़िस्मत।

भविष*-संज्ञा पुं० दे० "भविष्य"।

भविष्य-वि० [सं० भविष्यत्] वर्तमान काल के उपरांत आनेवाला काल। वह काल जो प्रस्तुत काल के समाप्त हो जाने पर आनेवाला हो। आनेवाला काल।

भविष्यगुप्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] काल के अनुसार गुप्ता नायिका का एक भेद। वह नायिका जो रति में प्रवृत्त होनेवाली हो और पहले से उसे छिपाने का उद्योग करे। भविष्य सुरति गुप्ता।

भविष्यत्-संज्ञा पुं० [सं०] वर्तमान काल के उपरांत आनेवाला काल। आनेवाला समय। आगामी काल। भविष्य।

भविष्यद्वक्ता-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो होनेवाली बात पहले से ही कह दे। भविष्यद्वाणी करनेवाला। (२) ज्योतिषी।

भविष्यद्वाणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भविष्य में होनेवाली वह बात जो पहले से ही कह दी गई हो।

भविष्य सुरति गोपना-संज्ञा स्त्री० दे० "भविष्यगुप्ता"।

भवीला*†-वि० [हिं० भाव+ईला (प्रत्य०)] (१) जिसमें कोई भाव हो। भावयुक्त। भावपूर्ण। बाँका तिरछा।

भवेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार का स्वामी। (२) महादेव। शिव। उ०—पावनि करौं सो गाइ भवेस भवानिहिं।—तुलसी।

भव्य-वि० [सं०] (१) जो देखने में भारी और सुंदर जान पड़े। शानदार। (२) शुभ। मंगलसूचक। (३) सत्य। सच्चा। (४) योग्य। लायक़। (५) भविष्य में होनेवाला। (७) श्रेष्ठ। बड़ा। (८) प्रसन्न।

संज्ञा पुं० (१) भलता नामक वृक्ष। (२) कमरख। (३) नीम। (४) करेला। (५) वह जिसे लिंग पद की प्राप्ति हो। भवसिद्धक। (जैन) (६) वह जो जन्म ग्रहण करता हो। शरीर धारण करनेवाला। (७) नवें मन्वंतर के एक ऋषि का नाम। (८) पुराणानुसार ध्रुव के एक पुत्र का नाम। (९) मनु चाक्षुष् के अंतर्गत देवताओं के एक वर्ग का नाम।

भव्यता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भव्य होने का भाव।

भव्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उमा। पार्वती। गजपीपल।

भष*-संज्ञा पुं० [सं० भक्ष्य] आहार। भोजन। उ०—अति आतुर भष कारण धाई धरत फनन समाई।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

भषना*-क्रि० स० [सं० भक्षण] खाना। भोजन करना।

भसंधि-संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्लेषा, ज्येष्ठा और रेवती नक्षत्रों के चौथे चरण की बाद के नक्षत्रों से संधि।

भसन-संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमर। भौंरा।

भसना†-क्रि० अ० [बँ०] (१) पानी के ऊपर तैरना। (२) पानी में डूबना।

भसम-संज्ञा पुं० दे० "भस्म"।

भसमा-संज्ञा पुं० [सं० भस्म] (१) पीसा हुआ आटा। (साधुओं की परिभाषा) (२) नील की पत्ती की बुकनी।

संज्ञा पुं० [फ़ा० दस्मा का अनु०] एक प्रकार का खिजाब जिससे बाल काले किए जाते हैं।

भसान†–संज्ञा पुं० [बं० भसाना] पूजा के उपरांत काली या सरस्वती आदि की मूर्ति को किसी नदी में प्रवाहित करना।

भसाना†–क्रि० स० [बं०] (१) किसी चीज़ को पानी में तैरने के लिये छोड़ना। जैसे, जहाज़ भसाना। (लश०) मूर्त्ति भसाना। (२) किसी चीज़ को पानी में डालना।

भसिंड, भसींड–संज्ञा स्त्री० [देश०] कमलनाल। मुरार। कमल की जड़।

भसुंड–संज्ञा पुं० [सं० भुशुण्ड] हाथी। गज। उ०—लाखन चले भसुंड सुंड सों नभतल परसत।—गोपाल।

भसुर–संज्ञा पुं० [हिं० ससुर का अनु०] पति का बड़ा भाई। जेठ।

भसूँड–संज्ञा पुं० [सं० भुशुंड] हाथी की सूँड। (महावत)।

भस्त्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] आग सुलगाने की भाथी।

भस्म–संज्ञा पुं० [सं० भस्मन्] (१) लकड़ी आदि के जलने पर बची हुई राख। (२) चिता की राख जिसे पुराणानुसार शिव जी अपने सारे शरीर में लगाते थे। (३) विशेष प्रकार से तैयार की हुई अथवा अग्निहोत्र में की राख जो पवित्र मानी जाती है और जिसे शिव के भक्त मस्तक तथा शरीर में लगाते अथवा साधु लोग सारे शरीर में लगाते हैं।

क्रि० प्र०—रमाना।—लगाना।

(४) एक प्रकार का पथरी रोग।

वि० जो जलकर राख हो गया हो। जला हुआ

भस्मक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावप्रकाश के अनुसार एक रोग जिसमें भोजन तुरंत पच जाता है। कहते हैं कि बहुत अधिक और रूखा भोजन करने से मनुष्य का कफ क्षीण हो जाता है और वायु तथा पित्त बढ़कर जठराग्नि को बहुत तीव्र कर देता है; और तब जो कुछ खाया जाता है, वह तुरंत भस्म हो जाता है, परंतु शौच बिलकुल नहीं होता। इसमें रोगी को प्यास, पसीना, दाह और मूर्च्छा होती है और वह शीघ्र मर जाता है। इस रोग को भस्मकीट भी कहते हैं। (२) बहुत अधिक भूख। (३) सोना। (४) बिडंग।

भस्मकारी–वि० [सं० भस्मकारिन्] भस्म करनेवाला। जलानेवाला।

भस्मगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रेणुका नामक गंधद्रव्य।

भस्मगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] तिनिश नामक वृक्ष।

भस्मगर्भा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रेणुका नामक गंध-द्रव्य। (२) शीशम।

भस्मजाबाल–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

भस्मता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भस्म होने का कर्म्म।

भस्मतूल–संज्ञा पुं० [सं०] तुषार। हिम।

भस्मप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

भस्ममेह–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का अश्मरी रोग जो मेह के कारण होता है।

भस्मवेधक–संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

भस्मस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] राख से नहाना। सारे शरीर में राख मलना।

भस्माग्नि–संज्ञा स्त्री० [सं०] भस्मक रोग।

भस्माकार–संज्ञा पुं० [सं०] धोबी।

भस्माकूट–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप का एक पर्वत जिस पर शिव जी का वास माना जाता है।

भस्माचल–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप के एक पर्वत का नाम।

भस्मासुर–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रसिद्ध दैत्य जिसने तप करके शिवजी से वर पाया था कि तुम जिसके सिर पर हाथ रखोगे, वह भस्म हो जायगा। पीछे से यह पार्वती पर मोहित होकर शिव को ही जलाने पर उद्यत हुआ। तब शिवजी भागे। यह देखकर श्रीकृष्ण ने बटु का रूप धरकर छल से इसी के सिर पर इसका हाथ रखवा दिया जिससे यह स्वयं भस्म हो गया। शिव से वर प्राप्त करने से पहले इसका नाम 'वृकासुर' था।

भस्माह्वय–संज्ञा पुं० [सं०] कपूर।

भस्मित–वि० [सं०] (१) जलाया हुआ। (२) जला हुआ।

भस्मीभूत–वि० [सं०] जो जलकर राख हो गया हो। बिलकुल जला हुआ।

भहराना–क्रि० अ० [अनु०] (१) टूट पड़ना। (२) झोंक से गिर पड़ना। एकाएक गिरना। (३) फिसल पड़ना। (४) किसी काम में ज़ोरों से लग जाना। (व्यंग्य)।

भहूँ–संज्ञा स्त्री० दे० "भौंह"।

भाँई–संज्ञा पुं० [हिं० भाना=घुमाना] खरादनेवाला। खरादी। कूनी।

भाँउँ*–संज्ञा पुं० [सं० भाव] अभिप्राय। उ०—जहाँ ठाँव होवै करहँसा सो कह केहि भाँउँ।—जायसी।

भाँउर–संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर"।

भाँउरि†‡–संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर"।

भाँकड़ी–संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली झाड़ जिसे इसद सिंघाड़ा भी कहते हैं। यह गोखरू से मिलता जुलता होता है।

भाँग–संज्ञा स्त्री० [सं० भृंगा या भृंगी] गाँजे की जाति का एक प्रसिद्ध पौधा जिसकी पत्तियाँ मादक होती हैं और जिन्हें पीसकर लोग नशे के लिये पीते हैं। भंग। विजया बूटी। पत्ती।

विशेष—यह पौधा भारत के प्रायः सभी स्थानों में और विशेषतः उत्तर भारत में, इन्हीं पत्तियों के लिये बोया जाता है। नेपाल की तराई में कहीं कहीं यह आप से आप और

जंगली भी होता है। पर जंगली पौधे की पत्तियाँ विशेष मादक नहीं होतीं; और इसीलिये उस पौधे का कोई उपयोग भी नहीं होता। पौधा प्रायः तीन हाथ ऊँचा होता है और पत्तियाँ किनारों पर कटावदार होती हैं। इस पौधे के स्त्री, पुरुष और उभयलिंग तीन भेद होते हैं। स्त्री पौधों की पत्तियाँ ही बहुधा पीसकर पीने के काम में आती हैं। पर कभी कभी पुरुष पौधे की पत्तियाँ भी इस काम में आती हैं। इसकी पत्तियाँ उपयुक्त समय पर उतार ली जाती हैं; क्योंकि यदि यह पत्तियाँ उतारी न जायँ और पौधे पर ही रहकर सूखकर पीली पड़ जायँ, तो फिर उनकी मादकता और साथ साथ उपयोगिता भी जाती रहती है। भारत के प्रायः सभी स्थानों में लोग इसकी पत्तियों को पीस और छानकर नशे के लिये पीते हैं। प्रायः इसके साथ बादाम आदि कई मसाले भी मिला दिए जाते हैं। वैद्यक में इसे कफनाशक, ग्राहक, पाचक, तीक्ष्ण, गरम, पित्तजनक, बलवर्धक, मेधाजनक, रसायन, रुचिकारक, मलावरोधक और निद्राजनक माना गया है।

मुहा०—भाँग छानना=भाँग की पत्तियों को पीस और छानकर नशे के लिये पीना। **भाँग खा जाना या पी जाना**=नशे की सी बातें करना। नासमझी की या पागलपन की बातें करना। **घर में भूँजी भाँग न होना**=अत्यंत दारिद्र होना। पास में कुछ न होना। उ०—जुरि आए फाकेमस्त होली होय रही। घर में भूँजी भाँग नहीं है तौ भी न हिम्मत पस्त। होली होय रही।—भारतेंदु।

संज्ञा पुं० [?] वैश्यों की जाति।

भाँगर†—संज्ञा स्त्री० [देश०] किसी धातु आदि की गर्द या छोटे छोटे कण।

भाँज—संज्ञा स्त्री० [हिं० भाँजना] (१) किसी पदार्थ को मोड़ने या तह करने का भाव अथवा क्रिया। (२) भाँजने या घुमाने की क्रिया या भाव। (३) वह धन जो रुपया, नोट आदि भुनाने के बदले में दिया जाय। भुनाई। (४) ताने का सूत। (जुलाहा)

भाँजना—क्रि० स० [सं० भंजन] (१) तह करना। मोड़ना। (२) मुगदर आदि घुमाना। (व्यायाम) (३) दो या कई लड़ों को एक में मिलाकर बटना।

भाँजा†—संज्ञा पुं० दे० "भानजा"।

भाँजी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० भाँजना=मोड़ना] वह बात जो किसी की ओर से किसी को अप्रसन्न या रुष्ट करने के लिये कही जाय। वह बात जो किसी के होते हुए काम में बाधा डालने के लिये कही जाय। शिकायत। चुगली।

क्रि० प्र०—मारना।

भाँट—संज्ञा पुं० दे० "भाट"।

संज्ञा पुं० [देश०] देशी छींटों की छपाई में कई रंगों में से केवल काले रंग की छपाई जो प्रायः पहले होती है।

भाँटा†—संज्ञा पुं० दे० "बैंगन"।

भाँड़—संज्ञा पुं० [सं० भंड] (१) विदूषक। मसखरा। बहुत अधिक हँसी मज़ाक करनेवाला। (२) एक प्रकार के पेशेवर जो प्रायः अपना समाज बनाकर रहते हैं और महफ़िलों आदि में जाकर नाचते गाते, हास्यपूर्ण स्वाँग भरते और नक़लें उतारते हैं। (३) हँसी-दिल्लगी। भाँड़पन। (४) वह जिसे किसी की लज्जा न हो। नंगा। बेहया। (५) सत्तनाश। बरबादी। उ०—तुलसी राम नाम जपु आलस छाँड़ु। राम विमुख कलिकाल को भयो न भाँड़ु।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं० भांड, हिं० भाँड़ा] (१) बरतन। भाँड़ा। (२) भंडाफोड़। रहस्योद्घाटन। उ०—कह गुरु बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट कर होइहिं भाँड़ू।—तुलसी। (३) उपद्रव। उत्पात। गड़बड़ी। उ०—कबिरा माया मोहनी जैसे मीठी खाँड़। सतगुरु की किरपा भई नातर करती भाँड़।—कबीर।

संज्ञा पुं० दे० "भाड़"।

भाँड़ना*†—क्रि० अ० [सं० भंड] व्यर्थ इधर उधर घूमना। मारे मारे फिरना। उ०—सकल भुवन भाँड़े घने चतुर चलावनहार। दादू सो सूझइ नहीं तिसका वार न पार।—दादू।

क्रि० स० (१) किसी की चारों ओर निंदा करते फिरना। किसी को बहुत बदनाम करते फिरना। (२) नष्ट भ्रष्ट करना। बिगाड़ना। ख़राब करना। उ०—कहे की न लाज अजहूँ न आयो बाज पिय सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो।—तुलसी।

भाँड़ा—संज्ञा पुं० [सं० भाण्ड] (१) बरतन। बासन। पात्र। (२) बड़ा बरतन। जैसे, हंडा, कुंडा इत्यादि।

मुहा०—भाँड़े में जी देना=किसी पर दिल लगा होना। उ०—को तुम उतर देय हो पाँड़े। सो बोलै जाको जिव भाँड़े।—जायसी। **भाँड़े भरना**=पश्चात्ताप करना। पछताना। उ०—तब तू मरिबोई करति। रिसनि आगे कहि जो आवनि अब लै भाँड़े भरति।—सूर।

भंडागार—संज्ञा पुं० [सं०] भंडार। कोश। ख़ज़ाना।

भंडागारिक—संज्ञा पुं० [सं०] भंडार का निरीक्षक या प्रधान। भंडारी।

भंडायन—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

भंडार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ काम में आनेवाली बहुत सी चीज़ें रखी जाती हों। भंडार। (२) वह जिसमें एक ही तरह की बहुत सी चीज़ें या बातें हों। (३) वह कोठरी जिसमें अनाज आदि रखा जाता हो (४) ख़ज़ाना। कोश।

भांडारिक–संज्ञा पुं० [सं०] भांडार का प्रधान । भंडारी ।

भांडिक–संज्ञा पुं० [सं०] तुरहीं आदि बजाकर राजाओं को जगानेवाला मनुष्य ।

भांडिल–संज्ञा स्त्री० [सं०] नापित । हज्जाम ।

भांडिशाला–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ बैठकर हजामत बनाई या बनवाई जाती है ।

भांडीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वट वृक्ष । बड़ का पेड़ । (२) एक प्रकार का क्षुप ।

भाँत*†–संज्ञा स्त्री० दे० "भाँति" ।

भाँति–संज्ञा स्त्री० [सं० भेद] तरह । क़िस्म । प्रकार । रीति । जैसे,—(क) अनेक भाँति के वृक्ष लगे हैं । (ख) यह कार्य इस भाँति न होगा ।

मुहा०—भाँति भाँति के=तरह तरह के । अनेक प्रकार के । उ०—पाँयन के रँग सों रँगि जात सो भाँतिहि भाँति सरस्वति सेनी ।—पद्माकर ।

भाँपना†–क्रि० स० [?] (१) ताड़ना । पहचानना । (२) देखना । (बाज़ारू)

भाँभी–संज्ञा पुं० [हिं०] जूता सीनेवाला । चमड़े का काम करने वाला । मोची । चमार ।

भाँयँ भाँयँ–संज्ञा पुं० [अनु०] नितांत एकांत स्थान वा सन्नाटे में होनेवाला शब्द । जैसे,—उनके चले जाने से घर भाँयँ भाँयँ करता है ।

भाँरी‡–संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर" ।

भाँवता–संज्ञा पुं० दे० "भावता" ।

भाँवना†–क्रि० स० [सं० भ्रमण] (१) किसी चीज़ को खराद या चक्कर आदि पर घुमाना । खरादना । कुनना । (२) बहुत अच्छी तरह गढ़कर और सुंदरतापूर्वक बनाना । उ०—(क) साँचे की सी ढारी अति सूछम सुधारि कढ़ी केशोदास अंग अंग भाँइ के उतारी है ।—केशव । (ख) गढ़ि गुढ़ि छोलि छालि कुँद की सी कीन्ही भाँई बातें जैसी मुख कहौं तैसी उर जब आनिहौं ।—तुलसी । (ग) भाँई ऐसी ग्रीवा भुज पान सों उदर अरु पंकज सो पाँइ गति हंस ऐसी जासु है ।—केशव ।

भाँवर–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रमण] (१) चारों ओर घूमना या चक्कर काटना । घुमरी लेना । परिक्रमा करना । उ०—जो तोहि पिये सो भाँवर लेई । सीस फिरै पँथ पैग न देई ।—जायसी । (२) हल जोतने के समय एक बार खेत के चारों ओर घूम आना । (३) अग्नि की वह परिक्रमा जो विवाह के समय वर और वधू मिलकर करते हैं ।

क्रि० प्र०—फिरना ।—लेना ।

संज्ञा पुं० दे० "भौंरा" । उ०—श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज बिहारी पै वारौंगी मालती भाँवरो ।—हरिदास ।

भा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीप्ति । चमक । प्रकाश । (२) शोभा । छटा । छवि । (३) किरण । रश्मि । (४) बिजली । विद्युत् ।

*† अव्य० चाहे । यदि इच्छा हो । वा । उ०—जो भावै सो कर लला इन्हें बाँध भा छोर । हैं तुव सुबरन रूप के ये दृग मेरे चोर ।—रसनिधि ।

भाइ*†–संज्ञा पुं० [सं० भाव] (१) प्रेम । प्रीति । मुहब्बत । उ०—आय आगे लेन आप दिये हैं पठाय जन देखी द्वारावती कृष्ण मिले बहु भाइ कै ।—प्रियादास । (२) स्वभाव । भाव । उ०—भोरे भाई भोरही हाँ खेलन गई ही खेल ही में खुल खेले कछु औरै कहि रह्यो है ।—देव । (३) विचार । उ०—पिता घर आयो पति भूख ने सतायो अति माँगै तिया पास नहीं दियो यह भाइ कै ।—प्रियादास ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भाँति] (१) भाँति । प्रकार । तरह । उ०—(क) तब ब्रह्मा सों कह्यो सिर नाइ । जै ह्वैहै हमरी किहि भाइ ।—सूर । (ख) आशु बरषि हियरे हरषि सीतल सुखद सुभाइ । निरखि निरखि पिय मुद्रिकहि बरनति हैं बहु भाइ ।—केशव । (२) ढंग । चालढाल । रंग ढंग । उ०—बहु बिधि देखत पुर के भाइ । राज सभा महँ बैठे जाइ ।—केशव ।

भाइप*†–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+प (पन) (प्रत्य०)] (१) भाईचारा । भाईपन । (२) मित्रता । बंधुत्व ।

भाई–संज्ञा पुं० [सं० भ्रातृ] (१) किसी व्यक्ति के माता-पिता से उत्पन्न दूसरा पुरुष । किसी के माता-पिता का दूसरा पुत्र । बहन का उलटा । बंधु । सहोदर । भ्राता । भैया । (२) किसी वंश या परिवार की किसी एक पीढ़ी के किसी व्यक्ति के लिये उसी पीढ़ी का दूसरा पुरुष । जैसे, चाचा का लड़का=चचेरा भाई, फूफी का लड़का=फुफेरा भाई, मौसी का लड़का=मौसेरा भाई, मामा का लड़का=ममेरा भाई । (३) अपनी जाति या समाज का कोई व्यक्ति । बिरादरी ।

यौ०—भाई-बिरादरी ।

(४) बराबरवालों के लिये एक प्रकार का संबोधन । जैसे,—भाई, पहले यहाँ बैठकर सब बातें सोच लो । उ०—बर अनुहार बरात न भाई । हँसी करइहउ पर पुर जाई ।—तुलसी ।

भाईचारा–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+चारा (प्रत्य०)] (१) भाई के समान होने का भाव । (२) परम मित्र या बंधु होने का भाव ।

भाईदूज–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाई+दूज] यमद्वितिया । कार्तिक शुक्ल द्वितीया । भैया दूज । (इस दिन बहन अपने भाई को टीका लगाती और भोजन कराती है ।)

भाईपन–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+पन (प्रत्य०)] (१) भ्रातृत्व । भाई होने का भाव । (२) परम मित्र या बंधु होने का भाव ।

भाईबंद–संज्ञा पुं० [हिं० भाई+बंधु] भाई और मित्र-बंधु आदि ।

अपनी जाति और बिरादरी के लोग । नाते और बिरादरी के आदमी ।

भाई बिरादरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भाई+बिरादरी] जाति या समाज के लोग ।

भाउ⁕†—संज्ञा पुं० [सं० भाव] (१) चित्तवृत्ति । विचार । भाव । (२) प्रेम । प्रीति । उ०—(क) ते नर यह सर तजहु न काऊ । जिनके राम चरन भल भाऊ ।—तुलसी । (ख) राग रोष दोष पोषे गोगन समेत मन इन्ह की भगति कीन्हीं इन्हहीं को भाउ मैं ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० [सं० भव] उत्पत्ति । जन्म । उ०—होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० दे० "भाव" ।

भाऊ⁕—संज्ञा पुं० [सं० भाव] (१) प्रेम । स्नेह । मुहब्बत । उ०—पुनि सप्रेम बोलेउ खग राऊ । जो कृपाल मोहि ऊपर भाऊ ।—तुलसी । (२) भावना । (३) स्वभाव । उ०—महाराज रघुनाथ प्रभाऊ । करउ सकल कारज सति भाऊ । (४) हालत । अवस्था । उ०—(क) पारबती मन उपना चाऊ । देखो कुँवर केर सत भाऊ ।—जायसी । (ख) द्रौपति का प्रतिपाल दुराऊ । ताते होइ सबहि सुख भाऊ ।—सबलसिंह । (५) महत्व । महिमा । क़दर । उ०—का मोर पुरुष रैन कर राऊ । उलू न जान दिवस कर भाऊ ।—जायसी । (६) रूप । शक्ल । स्वरूप । आकृति । उ०—केतिक दिवस रहे तब राऊ । मोहित भए मोहनी भाऊ ।—सबल० । (७) सत्ता । प्रभाव । उ०—प्रथम अरंभ कौन के भाऊ । दूसर प्रगट कीन सो ठाऊ ।—कबीर । (८) वृत्ति । विचार । उ०—(क) बिहँसी धन सुनिके सत भाऊ । हौं रामा तू रावन राऊ ।—जायसी । (ख) कहौं सखी आपन सत भाऊ । हौं जो कहत जस रावन राऊ ।—जायसी ।

भाएँ⁕†—क्रि० वि० [सं० भाव] समझ में । बुद्धि के अनुसार । उ०—सब हीं या ब्रज के लोग चिकनिया मेरे भाएँ घास ।—सूर ।

भाकर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार नैऋत्य कोण में का एक देश । (२) सूर्य । भास्कर । उ०—मनहु सिंधु महँ धूम अति भाकर भाय छिपाय ।—रघुराज ।

भाकसी—संज्ञा स्त्री० [सं० भस्त्री] भट्ठी । भरसाईं । उ०—शूल से फूल सुवास कुवास सी भाकसी से भए भौन सुभागे ।—केशव ।

भाकुर—संज्ञा स्त्री० [सं० भाकुट] एक प्रकार की मछली जिसका सिर बहुत बड़ा होता है ।

भाख⁕†—संज्ञा पुं० दे० "भाषण" ।

भाखना⁕†—क्रि० स० [सं० भाषण] कहना । बोलना ।

भाखर—संज्ञा पुं० [डिं०] पर्वत । पहाड़ ।

भाखा‡—संज्ञा स्त्री० दे० "भाषा" ।

संज्ञा स्त्री० हिंदी भाषा ।

भाग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हिस्सा । खंड । अंश । जैसे,—इसके चार भाग कर डालो । उ०—बैनतेय बलि जिमि चह कागू । जिमि सस चहहि नाग अरि भागू ।—तुलसी । (२) पार्श्व । तरफ़ । ओर । उ०—वाम भाग सोभित अनुकूला । आदि शक्ति छबि निधि जगमूला ।—तुलसी । (३) नसीब । भाग्य । क़िस्मत । प्रारब्ध । उ०—और सुनो यह रूप जवाहर भाग बड़े बिरलै कोउ पावै ।—ठाकुर । (४) सौभाग्य । ख़ुशनसीबी । उ०—दिशि विदिशनि छबि लाग भाग पूरित पराग भर ।—केशव । (५) भाग्य का कल्पित स्थान, माथा । ललाट । उ०—सेज है सुहाग की कि भाग की सभा है शुभ भामिनी कौ भाल अहै भाग चारु चंद को ।—केशव । (६) प्रातःकाल । भोर । अरुणोदय काल । उ०—राग रजोगुण को प्रगट प्रतिपक्षी को भाग । रंगभूमि जावक बरणि को पराग अनुराग ।—केशव । (७) एक प्राचीन देश का नाम । (८) ऐश्वर्य । वैभव । (९) पूर्व फलगुनी नक्षत्र । (१०) गणित में एक प्रकार की क्रिया जिसमें किसी संख्या को कुछ निश्चित स्थानों या भागों में बाँटना पड़ता है । किसी राशि को अनेक अंशों या भागों में बाँटने की क्रिया । गुणन के विपरीत क्रिया ।

विशेष—जिस राशि के भाग किए जाते हैं, उसे "भाज्य" और जिससे भाग देते अथवा जितने अंशों में भाग देते हैं, उसे "भाजक" कहते हैं । भाज्य को भाजक से भाग देने पर जो संख्या निकलती है, उसे फल कहते हैं । जैसे,—

```
              भाज्य
   भाजक १५)  १३५  ( ९ फल
              १३५
              ---
               ×
```

भागजाति—संज्ञा स्त्री० [सं०] विभाग के चार प्रकारों में से एक जिसमें एक हर और एक अंश होता है, चाहे वह समभिन्न हो या विषम भिन्न हो । जैसे,—$\frac{१}{३}$, $\frac{१०}{९}$

भागड़—संज्ञा स्त्री० [हिं० भागना+ड़ (प्रत्य)] भागने, विशेषतः बहुत से लोगों के एक साथ घबराकर भागने की क्रिया या भाव ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—मचना ।

भागत्याग—संज्ञा पुं० दे० "जहदजहल्लक्षणा" ।

भागधेय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाग्य । तक़दीर । क़िस्मत । (२) वह कर जो राजा को दिया जाता है । (३) दायाद । सपिंड ।

भागना—क्रि० अ० [सं० भाज्] (१) किसी स्थान से हटने के

लिये दौड़कर निकल जाना। पीछा छुड़ाने के लिये जल्दी जल्दी चले जाना। चटपट दूर हो जाना। पलायन करना। जैसे,—मुहल्लेवालों की आवाज़ सुनते ही डाकू भाग गए।

संयो० क्रि०—जाना।—निकलना।—पड़ना।

मुहा०—सिर पर पैर रखकर भागना=बहुत तेज़ी से भागना। जल्दी जल्दी चले जाना।

(२) टल जाना। हट जाना। जैसे,—अब भागते क्यों हो, ज़रा सामने बैठकर बातें करो।

संयो० क्रि०—जाना।

(३) कोई काम करने से बचना। पीछा छुड़ाना। पिंड छुड़ाना। जैसे,—(क) आप उनके सामने जाने से सदा भागते हैं। (ख) मैं ऐसे कामों से बहुत भागता हूँ।

भागनेय–संज्ञा पुं० [सं०] बहिन का बेटा। भानजा।

भागफल–संज्ञा पुं० [सं०] वह संख्या जो भाज्य को भाजक से भाग देने पर प्राप्त हो। लब्धि। जैसे,—यदि १६ को ४ से भाग दें ४) १६ (४ तो यहाँ ४ भागफल होगा।
```
४) १६ (४
   १६
   —
   ×
```

भागरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक संकर राग जो किसी किसी के मत से श्रीराग का पुत्र माना जाता है।

भागवंत†–वि० [सं० भाग्यवान्] जिसका भाग्य बहुत अच्छा हो। .खुश-क़िस्मत। भाग्यवान्।

भागवत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अठारह पुराणों में से एक जिसमें १२ स्कंध, ३१२ अध्याय और १८००० श्लोक हैं। इसमें अधिकांश कृष्ण-संबंधी प्रेम और भक्ति-रस की कथाएँ हैं और यह वेदांत का तिलक स्वरूप माना जाता है। वेदांत शास्त्र में ब्रह्म के संबंध में जिन गूढ़ बातों का उल्लेख है, उनमें से बहुतों की इसमें सरल व्याख्या मिलती है। साधारणतः हिंदुओं में इस ग्रंथ का अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा विशेष आदर है और वैष्णवों के लिये तो यह प्रधान धर्मग्रंथ है। वे इसे महापुराण मानते हैं। पर शाक्त लोग देवी भागवत को ही भागवत कहते और महापुराण मानते हैं और इसे उपपुराण कहते हैं। श्रीमद्भागवत। (२) देवी भागवत। (३) भगवद्भक्त। हरिभक्त। ईश्वर का भक्त। (४) १३ मात्राओं के एक छंद का नाम।

वि० भगवत-संबंधी।

भागवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैष्णवों की गले में पहनने की गोल दानों की एक प्रकार की कंठी।

भागवान–वि० दे० "भाग्यवान्"।

भागसिद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हेत्वाभास।

भागहर–वि० [सं०] भाग या अंश लेनेवाला। हिस्सेदार।

भागहार–संज्ञा पुं० [सं०] गणित में किसी राशि को कुछ निश्चित अंशों में विभक्त करने की क्रिया। भाग। तक़सीम।

भागार्ह–वि० [सं०] जो भाग देने के योग्य हो। विभक्त करने के योग्य।

भागासुर–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक असुर का नाम।

भागिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह ऋण जो ब्याज पर दिया जाय। सूद पर दिया हुआ क़र्ज़।

भागिनेय–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भागिनेयी] बहिन का लड़का। भानजा।

भागी–संज्ञा पुं० [सं० भागिन्] (१) हिस्सेदार। शरीक। साँझी। (२) अधिकारी। हक़दार। (३) शिव।

भागीरथ–संज्ञा पुं० दे० "भगीरथ"। उ०—भागीरथ जब बहु तप कियो। तब गंगा जू दर्शन दियो।—सूर।

भागीरथी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा नदी। जाह्नवी। (कहते हैं कि राजा भगीरथ ही इस लोक में गंगा को लाए थे, इसी लिये उसका यह नाम पड़ा।) (२) गंगा की एक शाखा का नाम जो बंगाल में है।

संज्ञा पुं० गढ़वाल के पास की हिमालय की एक चोटी का नाम।

भागुरि–संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य के भाष्यकर्त्ता एक ऋषि का नाम।

भागू–संज्ञा पुं० [हिं० भागना+ऊ (प्रत्य०)] वह जो भाग गया हो। भगोड़ा।

भाग्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अवश्यंभावी दैवी विधान जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषतः मनुष्य के सब कार्य—उन्नति, अवनति, नाश आदि—पहले ही से निश्चित रहते हैं और जिससे अन्यथा और कुछ हो ही नहीं सकता। पदार्थों और मनुष्यों आदि के संबंध में पहले ही से निश्चित और अनिवार्य व्यवस्था या क्रम। तक़दीर। क़िस्मत। नसीब।

विशेष—भाग्य का सिद्धांत प्रायः सभी देशों और जातियों में किसी न किसी रूप में माना जाता है। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि हम लोग संसार में आकर जितने अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, उन सबका कुछ न कुछ संस्कार हमारी आत्मा पर पड़ता है और आगे चलकर हमें उन्हीं संस्कारों का फल मिलता है। यही संस्कार भाग्य या कर्म्म कहलाते हैं और हमें सुख या दुःख देते हैं। एक जन्म में जो शुभ या अशुभ कृत्य किए जाते हैं, उनमें से कुछ का फल उसी जन्म में और कुछ का जन्मांतर में भोगना पड़ता है। इसी विचार से हमारे यहाँ भाग्य के चार विभाग किए गए हैं—संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी। प्रायः लोगों का यही विश्वास रहता है कि संसार में जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता। साधारणतः शरीर में भाग्य का स्थान ललाट माना जाता है।

पर्या०—दैव। दिष्ट। भागधेय। नियति। विधि। प्राक्तन-कर्म्म। भवितव्यता। अदृष्ट।

यौ०—भाग्यचक्र। भाग्यबल। भाग्यवान्। भाग्यशाली। भाग्यहीन। भाग्योदय। आदि।

मुहा०—दे० "क़िस्मत" के मुहा०।

(२) उत्तर फल्गुनी नक्षत्र।

वि० जो भाग करने के योग्य हो। हिस्सा करने के लायक। भागार्ह।

भाग्यभाव–संज्ञा पुं० [सं०] जन्मकुंडली में जन्म-लग्न से नवाँ स्थान जहाँ से मनुष्य के भाग्य के शुभाशुभ का विचार किया जाता है।

भाचक्र–संज्ञा पुं० [सं०] क्रांतिवृत्त।

भाजक–वि० [सं०] विभाग करनेवाला। बाँटनेवाला।

संज्ञा पुं० वह अंक जिससे किसी राशि को भाग दिया जाय। विभाजक। (गणित)

भाजकांश–संज्ञा पुं० [सं०] वह संख्या जिससे किसी राशि को भाग देने पर शेष कुछ भी न बचे। गुणनीयक।

भाजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बरतन। (२) आधार। (३) आढ़क नाम की तौल। (४) योग्य। पात्र। जैसे, विश्वास-भाजन। उ०—लखन कहा जसभाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई।—तुलसी।

भाजनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाजन होने का भाव। पात्रता। योग्यता।

भाजना*–क्रि० अ० [सं० व्रजन=प्रा० वज्जन पुं० हिं० भजना] दौड़कर किसी स्थान से दूसरे स्थान को निकल जाना। भागना। उ०—(क) सूरा के मैदान में कायर का क्या काम। कायर भाजै पीठि दै सूर करै संग्राम।—कबीर। (ख) आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी।—तुलसी। (ग) और मल्ल मारे शल तो शल बहुत गये सब भाज। मल्ल युद्ध हरि करि गोपन सों लखि फूले ब्रजराज।—सूर। (घ) भाल लाल बेंदी ललन आखत रहे बिराजि। इंदु कला कुज में बसी मनौं राहु भय भाजि।—बिहारी।

भाजित–वि० [सं०] (१) जिसको दूसरी संख्या से भाग दिया गया हो। (२) अलग किया हुआ। विभक्त।

भाजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मांड। पीच। (२) तरकारी, साग आदि। उ०—(क) तुम तो तीन लोक के ठाकुर तुमते कहा दुराइय। हम तो प्रेम प्रीति के गाहक भाजी शाक चखाइय।—सूर। (ख) मीठे तेल चना की भाजी। एक मकूनी दै मोहिं साजी।—सूर। (३) मेथी।

संज्ञा पुं० [सं० भाजिन्] सेवक। भृत्य। नौकर।

भाज्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह अंक जिसे भाजक अंक से भाग दिया जाता है।

वि० विभाग करने के योग्य।

भाट–संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] [स्त्री० भाटिन] (१) राजाओं का यश वर्णन करनेवाला कवि। चारण। बंदी। उ०—सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा।—तुलसी। (२) एक जाति का नाम। इस जाति के लोग राजाओं के यश का वर्णन और कविता करते हैं। यह लोग ब्राह्मण के अंतर्गत माने और दसौंधी आदि के नाम से पुकारे जाते हैं। इस जाति की अनेक शाखाएँ उत्तरीय भारत में बंगाल से पंजाब तक फैली हुई हैं। उ०—चली लोहारिन बाँकी नैना। भाटिन चली मधुर अति बैना।—जायसी। (३) ख़ुशामद करनेवाला पुरुष। ख़ुशामदी। (४) राजदूत।

संज्ञा पुं० [सं०] भाड़ा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भाठ] (१) वह भूमि जो नदी के दो करारों के बीच में हो। पेटा। (२) बहाव की वह मिट्टी जो नदी का चढ़ाव उतरने पर उसके किनारों पर की भूमि पर वा कछार में जमती है। (३) नदी का किनारा। (४) नदी का बहाव। वह रुख जिधर को नदी बहकर दूसरे बड़े जलाशय में गिरती है। उतार। चढ़ाव का उलटा।

भाटक–संज्ञा पुं० [सं०] भाड़ा।

भाटा–संज्ञा पुं० [हिं० भाट] (१) पानी का चढ़ाव की ओर से उतार की ओर जाना। चढ़ाव का उतरना। (२) समुद्र के चढ़ाव का उतरना। ज्वार का उलटा। दे० "ज्वारभाटा"। (३) पथरीली भूमि।

भाटिया–संज्ञा पुं० [सं० भट्ट] एक जाति जो गुजरात में रहती है। इस जाति के लोग अपने को क्षत्रियों के अंतर्गत मानते हैं।

भाट्यौ*†–संज्ञा पुं० [हिं० भाट] भाट का काम। भटई। यश-कीर्तन। उ०—कहूँ भाट भाट्यौ करैं मान पावैं। कहूँ लोलिनी बेड़िनी गीत गावैं।—केशव।

भाठ†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाठना वा भरना] (१) वह मिट्टी जो नदी अपने साथ चढ़ाव में बहाकर लाती है और उतार के समय कछार में ले जाती है। यह मिट्टी तह के रूप में भूमि पर जम जाती है और खाद का काम देती है। (२) दे० "भाट। (१) (३)"। (३) धारा। बहाव।

भाठा–संज्ञा पुं० [हिं० भाठ] (१) दे० "भाटा"। (२) गड्ढा।

भाठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाठा] पानी का उतार। भाठा।

*† संज्ञा स्त्री० [सं० भ्राष्ट्र] (१) भट्ठी। उ०—भवन मोहिं भाठी सम लागत मरति सोचहीं सोचन। ऐसी गति मेरी तुम आगे करत कहा जिय दोचन।—सूर (२) वह स्थान जहाँ मद्य चुलाया जाता है। भट्ठी। उ०—कबिरा

भाठी प्रेम की, बहुतक बैठे आय। सिर सौंपे सो पीवही और पै पिया न जाय।—कबीर।

भाड़—संज्ञा पुं० [सं० भ्राष्ट्र=पा० भट्टो] भड़भूँजों की भट्टी जिसमें वे अनाज भूनने के लिये बालू गरम करते हैं। यह एक छोटी कोठरी के आकार का होता है जिसमें एक द्वार होता है और जिसकी छत पर बहुत से मिट्टी के बर्तन ऊपर को मुँह करके जड़े होते हैं। इसकी दीवार हाथ सवा हाथ ऊँची होती है। इसके द्वार से ईंधन डाला जाता है जिससे आग जलती है। आग की गर्मी से बालू लाल होता है जिसे अलग निकालकर दूसरे बर्तन में दानों के साथ रखकर भूनते हैं। दो तीन बार इस प्रकार गरम बालू डालने और चलाने से दाने खिल जाते हैं।

मुहा०—**भाड़ झोंकना**=(१) भाड़ में ईंधन झोंकना। भाड़ में कूड़ा फेंकना। भाड़ गरम करना। (२) तुच्छ काम करना। नीच वृत्ति धारण करना। नीच काम करना। अयोग्य काम करना। (३) व्यर्थ समय गँवाना। जैसे,—बारह बरस दिल्ली में रहे, भाड़ झोंकते रहे। **भाड़ में झोंकना वा डालना**=(१) आग में डालना। चूल्हे में डालना। जलाना। (२) फेंकना। नष्ट करना। (३) जाने देना। त्यागना। **भाड़ में पड़े वा जाय**=आग लगे। नष्ट हो। (उपेक्षा)

भाड़ा—संज्ञा पुं० [सं० भाट] किराया।

मुहा०—**भाड़े का टट्टू**=(१) थोड़े दिन तक रहनेवाला। जो स्थायी न हो। क्षणिक। (२) जिसकी सदा मरम्मत हुआ करे वा जिस पर लाभ से व्यय अधिक पड़ता हो।

संज्ञा पुं० एक घास जो प्रायः हाथ भर ऊँची होती और निर्बल भूमि में उपजती है। यह चारे के काम आती है।

संज्ञा पुं० [सं० भरण] वह दिशा जिस ओर को वायु बहती हो।

मुहा०—**भाड़े पड़ना**=जिधर वायु जाती हो, उधर नाव को चलाना। नाव को वायु के सहारे ले जाना। **भाड़े फेरना**=जिधर हवा का रुख हो, उधर नाव का मुँह फेरना।

भाण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाट्य शास्त्रानुसार एक प्रकार का रूपक जो नाटकादि दस रूपकों के अंतर्गत है। यह एक अंक का होता है और इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है। इसका नायक कोई निपुण, पंडित वा अन्य चतुर व्यक्ति होता है। इसमें नट आकाश की ओर देखकर आप ही आप सारी कहानी उक्ति प्रत्युक्ति के रूप में कहता जाता है, मानो वह किसी से बात कर रहा हो। वह बीच बीच में हँसता जाता और क्रोधादि करता जाता है। इसमें धूर्त के चरित्र का अनेक अवस्थाओं सहित वर्णन होता है। बीच बीच में कहीं कहीं संगीत भी होता है। इसमें शौर्य्य और सौभाग्य द्वारा शृंगार रस भी सूचित होता है। संस्कृत भाणों में कौशिकी वृत्ति द्वारा कथा का वर्णन किया जाता है। यह दृश्यकाव्य है। (२) ब्याज। मिस। (३) ज्ञान। बोध।

भाणिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अंक में समाप्त होनेवाला हास्य रस-प्रधान दृश्य काव्य। भाण।

भात—संज्ञा पुं० [सं० भक्त=पा० भत्त] (१) पानी में उबाला हुआ चावल। पकाया हुआ चावल। उ०—(क) अवधू वो तत्तुरावल राता। नाचै बाजन बाज बराता। मौर के माथे दूलह दीन्हों अकथा जोरि कहाता। मड़ये क चारन समधी दीन्हों पुत्र बहावल माता। दुलहिन लीपि चौक बैठाये निरभय पद परभाता। भातहि उलटि बरातहि खायो भली बनी कुशलाता।—कबीर। (ख) पहिले भात परोसे आना। जनहु सुबास कपूर बसाना। (ग) नंद बुलावत है गोपाल। आवहु बेगि बलैया लेहौं सुंदर नैन बिसाल। परसेउ थार धरेउ मग चितवत बेगि चलो तुम लाल। भात सिरात तात दुख पावत क्यों न चलो ततकाल।—सूर। (२) विवाह की एक रस्म। यह विवाह के दूसरे वा तीसरे दिन होती है। इसमें समधी को भात खाने के लिये कन्या के घर बुलाया जाता और उसे भात खिलाया जाता है। भात खाने के लिये उसे कुछ द्रव्य आदि भी भेंट किया जाता है। इसमें दोनों समधी मांडव में चौक पर बैठकर भात खाते हैं।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रभात। सवेरा। (२) दीप्ति। प्रकाश।

भाता—संज्ञा पुं० [सं० भक्त=भत्त] उपज का वह भाग जो हलवाहे को राशि में से खलिहान में मिलता है। (पूर्व काल में जब मासिक वेतन या दैनिक मजूरी देने की प्रथा नहीं थी, तब हल जोतनेवाले को अन्न की उपज का छठा भाग दिया जाता था; और इसके बदले में वह वर्ष भर सपरिवार खेती के सब काम काज करता था। यह प्रथा अब भी नेपाल की तराई में कहीं कहीं है।)

भाति—संज्ञा स्त्री० [सं०] शोभा। कांति। उ०—मनोहर है नैनन की भाति। मानहुँ दूरि करत बल अपने शरद कमल की भाति।—सूर।

संज्ञा स्त्री० दे० "भाँति"।

भानु—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

भाथा—संज्ञा पुं० [सं० भस्त्रा=पा० भत्था] (१) चमड़े की बनी हुई लंबी थैली जिसमें तीर भरकर तीर चलानेवाले पीठ पर वा कटि में बाँधते थे। तरकश। तूणीर। उ०—(क) पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा।—तुलसी। (ख) सूर चल्यो बान भरि भाथ में। लिए सरासन हाथ में।—गोपाल। (२) बड़ी भाथी।

भाथी—संज्ञा स्त्री० [सं० भस्त्री=पा० भत्थी] (१) चमड़े की धौंकनी जिसे लगाकर लोहार भट्ठी की आग सुलगाते हैं। धौंकनी। (यह चमड़े की होती है जो फैलती और सिकुड़ती है।

जब इसमें वायु भरना होता है, तो इसे खींचकर फैलाते हैं और फिर दबा कर इसमें से वायु निकालते हैं। वायु एक छोटे छेद वा नली से होकर भट्ठी में पहुँचती है जिससे आग सुलगती है।) उ०—परम प्रभाती पर लोह दहैं भाथी सम, एहो बने हाथी साथी उग्रसेन सेन के।—गोपाल।

भादों—संज्ञा पुं० [सं० भाद्र, पा० भद्दो] एक महीने का नाम जो वर्षा ऋतु में पड़ता है। इस महीने की पूर्णमासी के दिन चंद्रमा भाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। सावन के बाद और कार के पहले का महीना। उ०—बरषा ऋतु रघुपति भगति तुलसी शालि सुदास। राम नाम वर बरन जुग सावन भादों मास।—तुलसी।

पर्या०—भाद्र। भाद्रपद। प्रौष्ठपद। नभस्य।

भादों*—संज्ञा पुं० दे० "भादों"।

भाद्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक महीने का नाम जो वर्षा ऋतु में सावन और कुआर के बीच में पड़ता है। इस महीने की पूर्णमासी के दिन चंद्रमा भाद्रपदा नक्षत्र में रहता है। वैदिक काल में इस महीने का नाम नभस्य था। इसे प्रौष्ठपद भी कहते हैं। भाद्रपद। भादों।

भाद्रपद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाद्र। भादों। (२) बृहस्पति के एक वर्ष का नाम जब वह पूर्व भाद्रपदा वा उत्तर भाद्रपदा में उदय होता है।

भाद्रपदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नक्षत्र पुंज का नाम। इसके दो भाग किए गए हैं—पूर्वा भाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा। पूर्वा भाद्रपदा यमल आकृति की है। यह उत्तर ओर अक्षांश से २४° पर है और इसमें दो तारे हैं। उत्तरा भाद्रपदा की आकृति शय्या के आकार की है और यह अक्षांश से २६° उत्तर ओर है। इसमें भी दो तारे हैं। पूर्वा भाद्रपदा का देवता अजएकपात् और उत्तरा भाद्रपदा का अहिबुध्न्य है। पहली कुंभ राशि में और दूसरी मीन में मानी जाती है।

भाद्रमातुर—वि० [सं०] सती का पुत्र। जिसकी माता सती हो।

भान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रकाश। रोशनी (२) दीप्ति। चमक। (३) ज्ञान। (४) प्रतीति। आभास। उ०—वाटिका उजारि अक्षधारि मारि जारि गढ़ भानुकुल भानु को प्रताप भानु भानु सो।—तुलसी।

संज्ञा पुं० दे० "भानु"।

संज्ञा पुं० [देश०] तुंग नामक वृक्ष। दे० "तुंग"।

भानजा—संज्ञा पुं० [हिं० बहिन+जा] [स्त्री० भानजी] बहिन का लड़का। उ०—यह कन्या तेरी भानजी है। इसे मत मार।—लल्लू।

भानना*†—क्रि० स० [सं० भंजन, मि० पं० भन्नना] (१) तोड़ना। भंग करना। उ०—(क) तीन लोक महँ जे भट मानी। सब के सकति संभु धनु भानी।—तुलसी। (ख) आपुहि करता आपुहि हरता आपु बनावत आपुहि भाने। ऐसो सूरदास के स्वामी ते गोपिन के हाथ बिकाने।—सूर। (ग) सहस बाहु अति बली बखान्यो। परशुराम ताको बल भान्यो।—लल्लू। (२) नष्ट करना। नाश करना। मिटाना। ध्वंस करना। उ०—(क) आपनो कबहुँ करि जानिहौ। राम गरीब-नेवाज राजमनि विरद लाज उर आनिहौ।............आरत दीन अनाथन को हित मानत लौकिक कानि हौ। है परिनाम भलो तुलसी को सरनागत भय भानिहौ।—तुलसी। (ख) भाने मठ कूप बाय सरवर को पानी। गौरीकंत पूजत जहँ नव तन दल आनी।—तुलसी। (३) हटाना। दूर करना। उ०—(क) ऐसी रिसि तोको नँदरानी। भली बुद्धि तेरे जिय उपजी बड़ी बैस अब भई सयानी। ढोटा एक भए कैसेहु करि कौन कौन करवर विधि भानी। कर्म कर्म करि अबलों उबर्यो ताको मारि पितर दे पानी।—सूर। (ख) नाक में पिनाक मिसि बामता बिलोकि राम रोको परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै।—तुलसी। (ग) मों सों मिलवति चातुरी तू नहिं भानत भेद। कहे देत यह प्रगट ही प्रगट्यो पूस प्रस्वेद।—बिहारी। (४) काटना। उ०—(क) अति ही भई अवज्ञा जानी चक्र सुदर्शन मान्यो। करि निज भाव एक कुश तनु में क्षणक दुष्ट शिर भान्यो।—सूर। (ख) अजहूँ सिय सौंपु नतरु बीस भुजा भानै। रघुपति यह पैज करी भूतल धरि प्रानै।—सूर।

क्रि० स० [हिं० भान] समझना। अनुमान करना। जानना। उ०—भत अपंची कृत औ कारज, इतनी सूछम सृष्टि पछान। पंचीकृत भतन ते उपजेउ थूल पसारो सारो मान। कारण सूछम थूल देह अरु, पंचकोस इनहीं में जान। करि विवेक लखि आतम न्यारो, मूँज इषीका ते ज्यों भान।—निश्चलदास।

भानमती—संज्ञा स्त्री० [सं० भानुमती] वह नटी जो जादू का खेल करती हो। लाग का खेल करनेवाली स्त्री। जादूगरनी।

भानवी—संज्ञा स्त्री० [सं० भानवीया] जमुना। उ०—देवी कोउ दानवी न मानहान होइ ऐसी, भानवी नहाव भाव भारती पठाई है।—केशव।

भानवीय—वि० [सं०] भानु संबंधी।

संज्ञा पुं० दाहिनी आँख।

भाना*†—क्रि० अ० [सं० भान=ज्ञान] (१) जान पड़ना। मालूम होना। उ०—मैं घर को ठाढ़ी हौं तिहारो को मों सर करै आन। सोई लेहों जो मों मन भावै नंद महर की आना। धन्य नंद धनि धन्य यशोदा धनि धनि जायो पूत। धन्य भूमि ब्रजवासी धनि धनि आनँद करत अकूत। घर घर होत अनंद बधाई जहँ तहँ मागध सूत। मणि माणिक

पाटंबर देते लेत न बनत बहूत । हय गय सहन भँडार दिये सब फेरि भरे से भाति । जबहिं देत तब हीं फिरि देखत संपति घर न समाति ।—सूर । (२) अच्छा लगना । रुचना । पसंद आना । उ०—(क) महमद बाजी प्रेम की ज्यों भावे त्यों खेल । तेलहि फूलहि संग ज्यों होय फुलायल तेल ।—जायसी । (ख) गुन अवगुन जानत सब कोई । जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ।—तुलसी । (ग) भावै सो करहु तो उदास भाव प्राणनाथ, साथ लै चलहु कैसे लोक लाज बहनो ।—केशव । (३) शोभा देना । सोहना । फबना । उ०—तुम राजा चाहौ सुख पावा । जोगिहि भोग करत नहिं भावा ।—जायसी ।

संयो० क्रि०—जाना ।

क्रि० स० [सं० भा=प्रकाश] चमकाना । उ०—कनकदंड दुइ भुजा कलाई । जानहुँ फेरि कुँदेरे भाई ।—जायसी ।

भानु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य ।

यौ०—भानुजा । भानुतनया आदि ।

(२) विष्णु । (३) किरण । (४) मंदार । अर्क । (५) एक देवगंधर्व का नाम । (६) कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (७) जैन ग्रंथों के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी के पंद्रहवें अर्हत् के पिता का नाम । (८) राजा । (९) उत्तम मन्वंतर के एक देवता का नाम ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्ष की एक कन्या का नाम । पुराणानुसार यह धर्म वा मनु से ब्याही थी और इससे भानु वा आदित्य का जन्म हुआ था । (२) कृष्ण की एक कन्या का नाम ।

भानुकंप—संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहणादि के समय सूर्य्य के बिंब का काँपना । फलित ज्योतिष में यह अमंगलसूचक माना गया है ।

भानुकेशर—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य ।

भानुज—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भानुजा] (१) यम । (२) शनिश्चर (३) कर्ण ।

भानुजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुतनया—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुतनूजा*—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना ।

भानुदेव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य । (२) पांचाल देश के एक राजकुमार का नाम जो महाभारत में पांडवों की ओर से लड़कर कर्ण के हाथ से मारा गया था ।

भानुपाक—संज्ञा पुं० [सं०] औषध आदि को सूर्य्य की गर्मी या धूप की सहायता से पकाने की क्रिया ।

भानुप्रताप—संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक राजा का नाम । यह कैकय देश के राजा सत्यकेतु का पुत्र था । तुलसीकृत रामायण में इसकी कथा इस प्रकार दी है—एक दिन यह शिकार खेलने गया । इसे जंगल में एक सूअर देख पड़ा । इसने घोड़े को उसके पीछे डाल दिया । घने जंगल में जाकर सूअर कहीं छिप गया और राजा जंगल में भटक गया । उस जंगल में उसे एक तपस्वी का आश्रम मिला । वह तपस्वी राजा का एक शत्रु था जिसका राज्य इसने जीत लिया था । राजा प्यासा था और उसने तपस्वी को पहचाना न था । उससे उसने पानी माँगा । तपस्वी ने एक तालाब बतला दिया । राजा ने वहाँ जाकर जल पीकर अपना श्रम मिटाया । रात हो रही थी, इससे तपस्वी राजा को अपने आश्रम में ले गया । रात के समय दोनों में बातचीत हुई । तपस्वी ने कपट से राजा को अपनी मीठी मीठी बातों से वशीभूत कर लिया । भानुप्रताप उसकी बातें सुन कर उस पर विश्वास करके रात को वहीं आश्रम में सो रहा । तपस्वी ने अपने मित्र कालकेतु राक्षस को बुलाया । वह राजा को क्षण भर में उठाकर उसकी राजधानी में पहुँचा आया और उसके घोड़े को घुड़साला में बाँध आया । साथ ही उस राजा के पुरोहित को भी उठाकर एक पर्वत की गुफा में बंद कर आया और आप पुरोहित का रूप धरकर उसके स्थान पर लेट रहा । सबेरे जब राजा जागा तो उसे मुनि पर विशेष श्रद्धा हुई । पुरोहित को बुलाकर राजा ने तीसरे दिन भोजन बनाने की आज्ञा दी और ब्राह्मणों को भोजन का निमंत्रण दिया । कपटी पुरोहित ने अनेक मांसों के साथ मनुष्य का मांस भी पकाया । जब ब्राह्मण लोग भोजन करने उठे और राजा परोसने लगा तब इसी बीच में आकाशवाणी हुई कि तुम लोग यह अन्न मत खाओ, इसमें मनुष्य का मांस है । ब्राह्मण लोग आकाशवाणी सुनकर उठ गए और राजा को शाप दिया कि तुम परिवार सहित राक्षस हो । कहते हैं कि वही राजा भानुप्रताप मरने पर दूसरे जन्म में रावण हुआ ।

भानुफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] केला ।

भानुमत्—वि० [सं०] दीप्तियुक्त । प्रकाशमान् ।

संज्ञा पुं० (१) सूर्य्य । (२) कलिंग के एक राजा का नाम । (३) कृष्ण के एक पुत्र का नाम । (४) पुराणानुसार केशिध्वज के एक पुत्र का नाम । (५) भर्ग का एक नाम ।

भानुमती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विक्रमादित्य की रानी का नाम । यह राजा भोज की कन्या थी । यह अत्यंत रूपवती और इंद्रजाल विद्या की जानकार थी । (२) अंगिरस की पहली कन्या का नाम । (३) दुर्योधन की स्त्री का नाम । (४) सगर की एक स्त्री का नाम । (५) कृतवीर्य्य की कन्या का नाम जो अहंयाति से ब्याही थी । (६) गंगा । (७) जादूगरनी ।

भानुमान—वि० दे० "भानुमत्" ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोशल देश के एक राजा का नाम। यह दशरथ के श्वसुर थे। (२) दे० "भानुमत्"।

भानुमित्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णुपुराण के अनुसार चंद्र-गिरि के राजा के एक पुत्र का नाम। (२) एक प्राचीन राजा का नाम। यह पुष्यमित्र के बाद गद्दी पर बैठा था।

भानुमुखी—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्यमुखी।

भानुवार—संज्ञा पुं० [सं०] रविवार। एतवार।

भानुसुत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम। (२) मनु। (३) शनिश्चर। (४) कर्ण।

भानुसुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना।

भानुसेन—संज्ञा पुं० [सं०] कर्ण के एक पुत्र का नाम।

भानेमि—संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

भाप—संज्ञा स्त्री० [सं० वाष्प, प्रा० वप्प] (१) पानी के बहुत छोटे छोटे कण जो उसके खौलने की दशा में ऊपर को उठते दिखाई पड़ते हैं और ठंढक पाकर कुहरे आदि का रूप धारण करते हैं। वाष्प।

क्रि० प्र०—उठना।—निकलना।

मुहा०—भाप लेना=औषधोपचार के लिये पानी में कोई औषध आदि उबालकर उसकी वाष्प से किसी पीड़ित अंग को सेकना। बफारा लेना।

(२) भौतिक शास्त्रानुसार घनीभूत वा द्रवीभूत पदार्थों की वह अवस्था जो उनके पर्याप्त ताप पाने पर प्राप्त होती है। ताप के कारण ही घनीभूत वा ठोस पदार्थ द्रव होता तथा द्रव पदार्थ भाप का रूप धारण करता है। यों तो भाप और वायुभूत वा अतिवाष्प (गैस) एक ही प्रकार के होते हैं, पर भाप सामान्य सर्दी और दबाव पाकर द्रव तथा ठोस हो जाता है और प्रायः वे पदार्थ जिनकी वह भाप है, द्रव वा ठोस रूप में उपलब्ध होते हैं। पर गैस साधारण सर्दी और दबाव पाने पर भी अपनी अवस्था नहीं बदलती। भाप दो प्रकार की होती है—एक आर्द्र, दूसरी अनार्द्र। आर्द्र भाप वह है जो अधिक ठंढक पाकर गाढ़ी हो गई हो और अति सूक्ष्म बूँदों के रूप में, कहीं कुहरे, कहीं बादल आदि के रूप में दिखाई पड़े। अनार्द्र भाप अत्यंत सूक्ष्म और गैस के समान अगोचर पदार्थ है जो वायुमंडल में सब जगह अंशांशि रूप में न्यूनाधिक फैली हुई है। यही जब अधिक दबाव वा ठंढक पाती है, तब आर्द्र भाप बन जाती है।

मुहा०—भाप भरना=चिड़ियों का अपने बच्चों के मुँह में मुँह डालकर फूकना। (चिड़ियाँ अपने बच्चों को अंडे से निकलने पर दो तीन दिन तक उनके मुँह में दाना देने के पहले फूँकती हैं।)

भापना†—क्रि० स० दे० "भाँपना"।

भाबर—संज्ञा पुं० [सं० वप्र] एक ग्राम का नाम जो हिमालय, राजपूताने, मध्य भारत दक्षिण आदि में पहाड़ी प्रदेशों में होती है और रस्सी बनाने के काम आती है। अगिया। बनकस।

भाभर—संज्ञा पुं० [सं० वप्र] (१) वह जंगल जो पहाड़ों के नीचे और तराई के बीच में होते हैं। यह प्रायः साखू आदि के होते हैं। (२) एक प्रकार की घास जिसकी रस्सी बटी जाती है। यह पर्वतों पर होती है। इसे बनकस, बभनी, बबरी, बबई आदि कहते हैं।

भाभरा*†—वि० [हिं० भा+भरना] लाल। रक्ताभ। उ०—जाहुल जवारे जूमा भाभरे भरत भौर, भाकरे धवल धाये मानत अमान कौं।—सूदन।

भाभरी—संज्ञा स्त्री० [अनु०] (१) गरम राख। पलका। (२) कहारों की बोली में धूल जो राह में होती है। (जब राह में इतनी धूल होती है कि उसमें पैर धँस जायँ, तो कहार अपने साथियों को "भाभरी" कहकर सचेत करते हैं।)

भाभी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भाई] बड़े भाई की स्त्री। भौजाई। उ०—(क) खइबे को कछु भाभी दीन्हों श्रीपति श्रीमुख बोले। फेंट ऊपर तें अंजुल तंदुल बल करि हरिजू खोले।—सूर। (ख) देहौं सकों सिर तो कहँ भाभी पै ऊख के खेतन देखन जैहौं।

भाम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध। (२) प्रकाश। दीप्ति। (३) सूर्य। (४) बहनोई। (५) एक वर्ण वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में भगण, मगण और अंत में तीन सगण होते हैं (भ म स स स)

*संज्ञा स्त्री० [सं० भामा] स्त्री। उ०—आनि पर भाम बिधि बाम तेहि राम सों सकत संग्राम दसकंध काँधो।—तुलसी।

भामक—संज्ञा पुं० [सं०] बहनोई।

भामतीय—संज्ञा पुं० [हिं० भ्रमना] एक जाति का नाम। इस जाति के लोग दक्षिण भारत में घूमा करते हैं और चोरी और ठगी से जीविका निर्वाह करते हैं।

भामनी—वि० [सं०] (१) प्रकाशक। (२) मालिक।

संज्ञा पुं० परमेश्वर।

भामा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। उ०—वह सुधि आवत तोहि सुदामा। जब हम तुम बन गए, लकरियन पठए गुरु की भामा।—सूर। (२) क्रुद्ध स्त्री।

भामिन*—संज्ञा स्त्री० दे० "भामिनी"।

भामिनि*—संज्ञा स्त्री० दे० "भामिनी"।

भामिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्रोध करनेवाली स्त्री। (२) स्त्री। औरत।

भामी—वि० [सं० भामिन्] क्रुद्ध। नाराज़।

संज्ञा स्त्री० [सं०] तेज़ स्त्री।

भाय‡—संज्ञा पुं० [हिं० भाई] भाई। उ०—सेमर केरा तूमरा

सिहुले बैठा छाय । चोंच सहोरे सिर धुनै यह वाही को भाय ।—कबीर ।

※संज्ञा पुं० [सं० भाव] (१) अंतःकरण की वृत्ति । भाव । उ०—(क) भाय कुभाय अनख आलस हू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ।—तुलसी । (ख) गोविंद प्रीति सबन की मानत । जेहि जेहि भाय करी जिन सेवा अंतरगत की जानत ।—सूर । (ग) चितवनि भोरे भाय की गोरे मुँह मुसकानि । लगनि लटकि आली गरे चित खटकति नित आनि ।—बिहारी । (२) परिमाण । उ०—भक्ति द्वार है साँकरा राई दसयें भाय । मन तौ मयगल ह्वै रह्यो कैसे होय सहाय ।—कबीर । (३) दर । भाव । उ०—भले बुरे जहँ एक से तहाँ न बसिये जाय । ज्यों अन्यायपुर में बिके खर गुर एकै भाय ।—लल्लू । (४) भाँति । ढंग । उ०—(क) लखि पिय बिनती रिस भरी चितवै चंचल भाय । तब खंजन से दगन में लाली अति छबि छाय ।—मतिराम । (ख) मोहत अंग सुभाय के भूषण, भौंर के भाय लसैं लट छूटी । —नाथ । (ग) ससि लखि जात विदित कहो जाय कमल कुम्हिलाय । यह ससि कुम्हिलानो अहो कमलहि लखि केहि भाय । शं० स० ।

भायप—संज्ञा पुं० [हिं० भाई+प=पन (प्रत्य०)] भाईपन । भ्रातृ-भाव । भाईचारा । उ०—भायप भगति भरत आचरनू । कहत सुनत दुख दूषन-हरनू ।—तुलसी ।

भाया—वि० [हिं० भाना=रुचना] जो अच्छा जान पड़े । प्रिय । प्यारा । उ०—(क) शुक्र ताहि पढ़ि मंत्र जियायो । भयो तासु तनया को भायो ।—सूर । (ख) हमतो इतनेही सचु-पायो । सुंदर श्याम कमल दल लोचन बहुरो दरश देखायो । कहा भयो जो लोग कहत हैं कान्ह द्वारिका छायो । सुनि यह दशा बिरही लोगन की उठि आतुर होइ धायो । रजक धेनु गज केस मारि कै कियो आपनो भायो । महाराज होइ मातु पिता मिलि तऊ न ब्रज बिसरायो ।—सूर ।

भारंगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पौधा जो मनुष्य के बराबर ऊँचा होता है । इसकी पत्तियाँ महुए की पत्तियों से मिलती हुई, गुदार और नरम होती हैं और लोग उनका साग बनाकर खाते हैं । इसका फूल सफ़ेद होता है । इसकी जड़, डंठल, पत्ती और फल सब औषध के काम आते हैं । इसके फूल को गुल असबर्ग कहते हैं । इसकी पत्तियों का प्रयोग ज्वर, दाह, हिचकी और त्रिदोष में होता है । वैद्यक में इसके मूल का गुण गर्म, रुचिकर, दीपन लिखा है और स्वाद कडुवा, कसैला, चरपरा और रूखा बतलाया है जिसका प्रयोग ज्वर, श्वास, खाँसी और गुल्मादि में होता है । बम्हनेटी । भृंगजा । असबरग ।

पर्या०—असबरग । ब्राह्मणी । पद्मा । भृंगजा । अंगार वल्लरी । ब्राह्मणयष्टी । कंजी । दूर्वा ।

भार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक परिमाण जो बीस पसेरी का होता है । (२) विष्णु । (३) बोझ ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—ढोना ।—रखना ।—लादना ।

(४) वह बोझ जिसे बहँगी के दोनों पल्लों पर रखकर कंधे पर उठाकर ले जाते हैं । उ०—मीन पीन पाठीन पुराना भरि भरि भार कहाँरन आना ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—उठाना ।—काँधना ।—ढोना ।—भरना ।

(५) सँभाल । रक्षा । उ०—पर घर गोरसते कहेउ कर भार जुरावहु । सूर नृपति के द्वार पर उठि प्रात चलावहु ।—सूर । (६) किसी कर्त्तव्य के पालन का उत्तरदायित्व ।

मुहा०—किसी का भार उठाना=किसी का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना । भार उतरना=कर्त्तव्य के ऋण से मुक्त होना । भार उतारना=(१) कर्त्तव्य पूरा करना । (२) ज्यों त्यों किसी काम को पूरा करना । बला टालना । बेगार टालना । भार देना वा डालना—बोझ रखना । बोझ डालना । उ०—मंजुल मंजरी पै हो मलिंद बिचारि के भार सम्हारि कै दीजिये ।—प्रताप ।

(७) आश्रय । सहारा । बल । उ०—दोहूँ खंभ टेक सब मही । दुहुँ के भार सृष्टि सम रही ।—जायसी ।

※† संज्ञा पुं० दे० "भाड़" ।

भारक—संज्ञा पुं० [सं०] भार नाम की तौल ।

भारकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दाई । धाई ।

भारत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत का पूर्व रूप वा मूल जो २४००० श्लोकों का था । वि० दे० "महाभारत" । (२) एक वर्ष का नाम । यह पुराणानुसार जंबूद्वीप के नौ वर्षों के अंतर्गत है । वि० दे० "भारतवर्ष" । (३) नट । (४) अग्नि । (५) भरत के गोत्र में उत्पन्न पुरुष । (६) लंबा चौड़ा विवरण । कथा । उ०—गोकुल के कुल के गली के गोप गायन के जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं ।—पद्माकर ।

भारतखंड—संज्ञा पुं० दे० "भारतवर्ष" ।

भारतवर्ष—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार जंबूद्वीप के अंतर्गत नौ वर्षों वा खंडों में से एक जो हिमालय के दक्षिण और गंगोत्तरी से लेकर कन्याकुमारी तक और सिंधु नदी से ब्रह्मपुत्र तक फैला हुआ है । आर्यावर्त्त । हिंदुस्तान ।

विशेष—ब्रह्मपुराण में इसे भारतद्वीप लिखा है और अंग, यव, मलय, शंख, कुश और वाराह आदि द्वीपों को इसका उप-द्वीप लिखा है जिन्हें अब अनाम, जावा, मलाया, आस्ट्रेलिया आदि कहते हैं और जो भारतीय द्वीप पुंज के अंतर्गत माने जाते हैं । ब्रह्मांडपुराण में इसके इंद्रद्वीप, कशेरु, ताम्रपर्ण,

गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गंधर्व और वरुण ये नौ विभाग बतलाए गए हैं और लिखा है कि प्रजा का भरण पोषण करने के कारण मनु को भरत कहते हैं। उन्हीं भरत के नाम पर इस देश का नाम "भारतवर्ष" पड़ा। कुछ लोगों का मत है कि दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम "भारत" पड़ा। इसी प्रकार भिन्न भिन्न पुराणों में इस संबंध में भिन्न भिन्न बातें दी हैं।

भारतनंद–संज्ञा पु० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद का नाम। (संगीत)

भारति–संज्ञा पुं० [सं० भारती] (१) सरस्वती। (२) वाणी। उ०—मति भारति पंगु भई जो निहारि, बिचारि फिरी उपमान सबै।—तुलसी।

भारती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वचन। वाणी। (२) सरस्वती। (३) एक पक्षी का नाम। (४) एक वृत्ति का नाम। इसके द्वारा रौद्र और वीभत्स रस का वर्णन किया जाता है। यह साधु वा संस्कृत भाषा में होती है। (५) ब्राह्मी। (६) संन्यासियों के दश नामों में से एक। (७) एक नदी का नाम।

भारतीतीर्थ–संज्ञा पु० [सं०] एक तीर्थ का नाम।

भारतीय–वि० [सं०] भारत संबंधी। भारत का। जैसे, भारतीय चित्रकला, भारतीय दर्शन आदि।

भारतुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] वास्तु विद्या के अनुसार स्तंभ के नौ भागों में से पाँचवाँ भाग जो बीच में होता है।

भारथ†*–संज्ञा पु० [हिं० भारत] (१) दे० "भारत"। (२) युद्ध।

संग्राम। उ०—भारथ होय जूझ जो ओधा। होहिं सहाय आय सब जोधा।—जायसी।

भारथी–संज्ञा पुं० [सं० भारत] योद्धा। सिपाही। उ०—भयउ अपूर्व सीस कह कोपी। महाभारथी नाउँ अलोपी।—जायसी।

भारदंड–संज्ञा पु० [सं०] (१) एक प्रकार का साम। (२) भारयष्टि। बहँगी।

संज्ञा पु०[हिं० भार+दंड] एक प्रकार का दंड। (कसरत) इसमें दंड करनेवाला साधारण दंड करते समय अपनी पीठ पर एक दूसरे आदमी को बैठा लेता है। वह पुरुष उसके पैरों की नली पर पाँव जमाकर हाथों से उसकी कमर की करधनी वा बंधन पकड़कर झुका रहता है और दंड करनेवाला उसका बोझ सँभाले हुए साधारण रीति से दंड करता जाता है।

भारद्वाज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भरद्वाज के कुल में उत्पन्न पुरुष। (२) द्रोणाचार्य्य। (३) मंगल ग्रह। (४) भरदूल नामक पक्षी। (५) बृहस्पति के एक पुत्र का नाम। (६) एक देश का नाम। (७) हड्डी। (८) एक ऋषि का नाम जिनका रचा हुआ श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र है।

भारद्वाजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

भारना*†–क्रि० स० [हिं० भार] (१) बोझ लादना। भार डालना। बोझना। लादना। (२) दबाना। भार देना। उ०—आपुन तरि तरि औरन तारत। अस्म अचेत प्रगट पानी में बनचर डारत। इहि बिधि उपलैं सुतरु पात ज्यों तदपि सेन अति भारत। बूड़ि न सकतु सेतु रचना रचि राम प्रताप बिचारत।—सूर।

भारभारी–वि० [सं० भारभारिन्] बोझ उठानेवाला। बोझ ढोनेवाला।

भारभृत्–वि० [सं०] भार धारण करनेवाला। बोझ ढोनेवाला।

भारय–संज्ञा पुं० [सं०] भारद्वाज नामक पक्षी। भरदूल।

भारयष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] बहँगी।

भारव–संज्ञा पुं० [सं०] धनुष की रस्सी। ज्या।

भारवाह–वि० [सं०] (१) भार ले जानेवाला। (२) बहँगी ढोनेवाला।

भारवाहक–वि० [सं०] बोझ ढोनेवाला।

संज्ञा पुं० मोटिया।

भारवाहन–संज्ञा पु० [सं०] बोझ ढोने की क्रिया या भाव।

भारवाहिक–वि० [सं०] भारवाहक। भार ढोनेवाला।

संज्ञा पुं० मोटिया। मज़दूर।

भारवाही–वि० [सं० भारवाहिन्] [स्त्री० भारवाहिनी] भारवाह। बोझ ढोनेवाला।

संज्ञा स्त्री० [सं०] नाली।

भारवि–संज्ञा पु० [सं०] एक प्राचीन कवि जो किरातार्जुनीय नामक महाकाव्य के रचयिता थे।

विशेष—भारवि के जन्म और निवास-स्थान आदि के संबंध में अभी तक कोई पता नहीं लगा। कहते हैं कि ये अपने गुरु की गौएँ लेकर हिमालय की तराई में चराने जाया करते थे। वहीं प्राकृतिक शोभा देखकर इनमें कविता करने की स्फूर्त्ति हुई थी।

भारहारी–संज्ञा पुं० [सं० भारहारिन्] पृथ्वी का भार उतारनेवाले, विष्णु।

भारा†–वि० [सं० भार] दे० "भारी"। उ०—(क) रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समेत सँहारे।—तुलसी। (ख) जे पद पद्म सदाशिव के धन सिंधुसुता उतरे नहिं टारे। जे पद पद्म परसि अति पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।—सूर।

संज्ञा पुं० (१) दे० "भाड़ा"। (२) दे० "भार"।

भाराक्रांता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में न भ न र स और एक लघु और एक गुरु होते हैं और चौथे, छठे तथा सातवें वर्ण पर यति होती है।

भारावलंबकत्व—संज्ञा पुं० [सं०] पदार्थों के परमाणुओं का पारस्परिक आकर्षण ।

विशेष—बहुतेरे पदार्थों के परमाणुओं का परस्पर आकर्षण ऐसा रहता है जो उन पदार्थों को दोनों ओर से खींचने में प्रतिबाधक होता है जिससे वह टूट नहीं सकते । इसी धर्म को भारावलंबकत्व कहते हैं ।

भारि—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।

भारी—वि० [हिं० भार] (१) जिसमें भार हो । जिसमें अधिक बोझ हो । गुरु । बोझिल । उ०—(क) लपटहिं कोप परहिं तरवारी । औ गोला ओला जस भारी ।—जायसी । (ख) भारी कहो तो नहिं डरूँ हलका कहूँ तो झीठ । मैं क्या जानूँ राम को नैना कछू न दीठ ।—कबीर ।

मुहा०—पेट भारी होना=पेट में अपच होना । खाए हुए पदार्थों का ठीक तरह से न पचना । पैर भारी होना=गर्भिणी होना । पेट से होना । सिर भारी होना=सिर में पीड़ा होना । गला या आवाज़ भारी होना वा भारी पड़ना=गला पड़ना । गला बैठना । मुँह से ठीक आवाज न निकलना । भारी रहना=(१) नाव का रोकना (मल्लाह) । (२) धीरे चलना (कहार) ।

(२) असह्य । कठिन । कराल । भीषण । उ०—(क) भरि भादों दुपहर अति भारी । कैसे भरौं रैन अँधियारी ।—जायसी । (ख) पुनि नर राव कहा करि भारी । बोल्यो सभा बीच व्रतधारी ।—गोपाल । (ग) गगन निहारि किलकारी भारी, सुनि हनुमान पहिचानि भए सानंद सचेत हैं ।—तुलसी ।

क्रि० प्र०—लगना ।

(३) विशाल । बड़ा । बृहत् । महा । उ०—(क) दीरघ आयु भूमिपति भारी । इनमें नाहिं पदमिनी नारी ।—जायसी । (ख) जपहिं नाम जन आरति भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ।—तुलसी । (ग) जैसे मिटइ मोर भ्रम भारी । कहहु सो कथा नाथ विस्तारी ।—तुलसी ।

मुहा०—बड़ा भारी=बहुत बड़ा । भारी भरकम या भड़कम=बहुत बड़ा और भारी । जिसमें अधिक माल-मसाला लगा हो और जो फलतः अधिक मूल्य का हो । बहुमूल्य । जैसे, भारी जोड़ा, भारी गठरी ।

(४) अधिक । अत्यंत । बहुत । उ०—(क) धाइ दामिनी बेगि हँकारी । वह सौंपा हीए रिस भारी ।—जायसी । (ख) यह सुनि गुरु बानी धनु गुन तानी जानी द्विज दुखदानि । ताड़का सँहारी दारुण भारी नारी अतिबल जानि ।—केशव । (ग) अस तप करत गयो दिन भारी । चार पहर बीते जुग चारी ।—जायसी । (५) असह्य । दूभर । जैसे,—मेरा ही दम उन्हें भारी है ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—लगना ।

(६) सूजा हुआ । फूला हुआ । जैसे, मुँह भारी होना । (७) प्रबल । जैसे,—वह अकेला दस पर भारी है । (८) गंभीर । शांत ।

मुहा०—भारी रहना=चुप रहना । (दलाल)

भारीपन—संज्ञा पुं० [हिं० भारी+पन (प्रत्य०)] (१) भारी का भाव । गुरुत्व । (२) गरिष्ठता । भारी होना ।

भारुंड—संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार एक वन का नाम जो पंजाब में सरस्वती नदी के पास पूर्व में था ।

भारुंडि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साम । (गान) (२) एक ऋषि का नाम जो भारुंडि साम के द्रष्टा थे । (३) एक पक्षी का नाम । पुराणानुसार यह उत्तर कुरु का रहनेवाला है ।

भारू—संज्ञा पुं० [हिं० भार] धीरे चलने के लिये एक संकेत जिसका व्यवहार कहार करते हैं ।

भारोद्वह—वि० [सं०] भार ले जानेवाला ।

संज्ञा पुं० मोटिया । मजदूर ।

भार्गव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृगु के वंश में उत्पन्न पुरुष । (२) परशुराम । (३) शुक्राचार्य । (४) एक देश का नाम । यह मार्कंडेयपुराण के अनुसार भारतवर्ष के अंतर्गत पूर्व ओर है । (५) मार्कंडेय । (६) श्योनाक । (७) कुम्हार । (८) नीला भँगरा । (९) हीरा । (१०) गज । हाथी । (११) एक उपपुराण का नाम । (१२) जमदग्नि । (१३) च्यवन । (१४) एक जाति जो संयुक्त प्रदेश के पश्चिम में पाई जाती है । इस जाति के लोग अपने आपको ब्राह्मण कहते हैं; पर इनकी वृत्ति बहुधा वैश्यों की सी होती है । कुछ लोग इन्हें दूसर बनिया भी कहते हैं ।

वि० भृगु संबंधी । भृगु का । जैसे, भार्गव अस्त्र ।

भार्गवन—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार द्वारका के एक वन का नाम ।

भार्गवप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] हीरा ।

भार्गवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती । (२) लक्ष्मी । (३) दूर्वा । दूब । (४) नीली दूब । (५) सफेद दूब । (६) उड़ीसा देश की एक नदी का नाम ।

भार्गायन—संज्ञा पुं० [सं०] भर्ग के गोत्र के लोग ।

भार्गी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी ।

भार्ङ्गी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी ।

भार्द्वाजी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारद्वाजी । बनकपास ।

भार्य्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] पत्नी । जाया । जोरू । स्त्री ।

भार्य्याट—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो किसी दूसरे पुरुष को भोग के लिये अपनी स्त्री दे । अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष के पास भेजनेवाला मनुष्य ।

भार्य्योटिक–वि० [सं०] जो अपनी भार्या में बहुत अनुरक्त हो। स्त्रैण।
संज्ञा पुं० (१) एक मुनि का नाम। (२) एक प्रकार का हिरन।

भार्य्यात्व–संज्ञा पुं० [सं०] भार्य्या होने का भाव। पत्नीत्व।

भार्य्यारु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मृग। (२) एक पर्वत का नाम।

भार्य्यावृक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नामक वृक्ष।

भाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भवों के ऊपर का भाग। कपाल। ललाट। मस्तक। माथा। उ०—(क) भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुखदेनी।—केशव। (ख) कानन कुंडल विशाल, गोरोचन तिलक भाल ग्रीवा छवि देखि देखि शोभा अधिकाई। (२) तेज।
संज्ञा पुं० [हिं० भाला] (१) भाला। बरछा। उ०—(क) भाल बाँस खाँडे वह परहीं। जान पखाल बाज के चढ़हीं।—जायसी। (ख) भलपति बैठ भाल लै और बैठ धनकार।—जायसी। (२) तीर का फल। तीर की नोक। गाँसी। उ०—खीरि पनज भृकुटी धनुष बधिक समर तजि कानि। हनत तरुन मृग तिलक सर सुरकि भाल भरि तानि।
संज्ञा पुं० [सं० भल्लूक] रीछ। भालू। उ०—तहाँ सिंह बहु श्वान वृक सर्प गीध अरु भाल।—विश्राम।

भालचंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। (२) गणेश।
संज्ञा स्त्री० दुर्गा।

भालदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर। सेंदुर।

भालना–क्रि० स० (१) ध्यानपूर्वक देखना। अच्छी तरह देखना। जैसे, देखना भालना। † (२) ढूँढ़ना। तलाश करना।

भालनेत्र, भाललोचन–संज्ञा पुं० [सं०] शिव, जिनके मस्तक में एक तीसरा नेत्र है।

भालवी–संज्ञा पुं० [सं० भल्लुक] रीछ। भालू। (डिं०)

भालांक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) करपत्र नामक अस्त्र। (२) एक प्रकार का साग। (३) रोहित मछली। (४) कछुआ। (५) शिव। (६) ऐसा मनुष्य जिसके शरीर में बहुत अच्छे अच्छे लक्षण हों। (सामुद्रिक)

भाला–संज्ञा पुं० [सं० भल] बरछा नाम का हथियार। साँग। नेज़ा।

भालाबरदार–संज्ञा पुं० [हिं० भाला+फ़ा० बरदार] बरछा चलानेवाला। बरछैत।

भालि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाला का स्त्री० अल्पा०] (१) बरछी। साँग। (२) शूल। काँटा। उ०—(क) बापुरी मंजुल अंब की डार सु भालि सी है उर में अरती क्यों।—देव। (ख) प्यारे के मरने को मूर्ख लोग हृदय में गड़ी हुई भालि मानते हैं।—लक्ष्मणसिंह।

भालिया–संज्ञा पुं० [देश०] वह अन्न जो हलवाहे को वेतन में दिया जाता है। भाता।

भाली–संज्ञा स्त्री० [हिं० भाला] (१) भाले की गाँसी या नोक। उ०—जब वह सुरति होत उर अंतर लागति काम बाण की भाली।—सूर। (२) शूल। काँटा। उ०—कहा री कहौं कछु कहत न बनि आवै लगी मरम की भाली री।—सूर।

भालु–संज्ञा पुं० दे० "भालू"।
संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

भालुक–संज्ञा पुं० [सं०] भालू। रीछ।

भालुनाथ–संज्ञा पुं० [हिं० भालू+सं० नाथ] जामवंत। जांबवान। उ०—भालुनाथ नल नील साथ चले बली बालि को जायो।—तुलसी।

भालू–संज्ञा पुं० [सं० भल्लुक] एक प्रसिद्ध स्तनपायी भीषण चौपाया जो प्रायः सारे संसार के बड़े बड़े जंगलों और पहाड़ों में पाया जाता है। आकार और रंग आदि के विचार से यह कई प्रकार का होता है। यह प्रायः ४ फुट से ७ फुट तक लंबा और २½ फुट से ४ फुट तक ऊँचा होता है। साधारणतः यह काले या भूरे रंग का होता है और इसके शरीर पर बहुत बड़े बड़े बाल होते हैं। उत्तरी ध्रुव के भालू का रंग प्रायः सफ़ेद होता है। यह मांस भी खाता है और फल, मूल आदि भी। यह प्रायः दिन भर माँद में सोया रहता है और रात के समय शिकार की तलाश में बाहर निकलता है। भारत में प्रायः मदारी इसे पकड़कर नाचना और तरह तरह के खेल करना सिखलाते हैं। इसकी मादा प्रायः जाड़े के दिनों में एक साथ दो बच्चे देती है। बहुत ठंढे देशों में यह जाड़े के दिनों में प्रायः भूखा प्यासा और मुरदा सा होकर अपनी माँद में पड़ा रहता है; और वसंत ऋतु आने पर शिकार ढूँढ़ने निकलता है। उस समय यह और भी भीषण हो जाता है। यह शिकार के पीछे अथवा फल आदि खाने के लिये पेड़ों पर भी चढ़ जाता है। जंगलों में यह अकेले दुकेले मनुष्यों पर भी आक्रमण करने से नहीं चूकता। रीछ।

भालूक–संज्ञा पुं० [सं०] भालू।

भावंता*†–संज्ञा पुं० [हिं० भावना या भाना=प्रिय लगना] प्रेमपात्र। प्रिय। प्रीतम। उ०—(क) इहि बिधि भावंता बसौ हिलि मिलि नैनन माहिं। खैंचे हग पर जात है मन कर प्रीतम बाँहिं।—रसनिधि। (ख) जाते ससि तुव मुख लखै मेरो चित्त सिहाय। भावंता उनिहार कछु तो में पैयत आय।—रसनिधि।
संज्ञा पुं० [सं० भावी] होनहार। भावी। उ०—आगे जस

हमीर मतमंता । जो तस करंसि तोर भावंता ।—जायसी ।

भावँर-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जिससे कागज़ बनता है ।

संज्ञा स्त्री० दे० "भाँवर" ।

भाव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सत्ता । अस्तित्व । होना । अभाव का उलटा । (२) मन में उत्पन्न होनेवाला विकार या प्रवृत्ति । विचार । ख़याल । जैसे,—(क) इस समय मेरे मन में अनेक प्रकार के भाव उठ रहे हैं । (ख) उस समय आपके मन का भाव आपके चेहरे पर झलक रहा था । (३) अभिप्राय । तात्पर्य्य । मतलब । जैसे,—इस पद का भाव समझ में नहीं आता । (४) मुख की आकृति या चेष्टा । (५) आत्मा । (६) जन्म । (७) चित्त । (८) पदार्थ । चीज़ । (९) क्रिया । कृत्य । (१०) विभूति । (११) विद्वान् । पंडित । (१२) जंतु । जानवर । (१३) रति आदि क्रीड़ा । विषय । (१४) अच्छी तरह देखना । पर्य्यालोचन । (१५) प्रेम । मुहब्बत । उ०—रामहि चितव भाव जेहि सीया । सो सनेह सुख नहिं कथनीया ।—तुलसी । (१६) किसी धातु का अर्थ । (१७) योनि । (१८) उपदेश । (१९) संसार । जगत् । दुनिया । (२०) जन्म समय का नक्षत्र । (२१) कल्पना । उ०—जैसे भाव न संभवै तैसे करत प्रकास । होत असंभावित तहाँ उपमा केशवदास ।—केशव । (२२) प्रकृति । स्वभाव । मिज़ाज । (२३) अंतःकरण में छिपी हुई कोई गूढ़ इच्छा । (२४) ढंग । तरीक़ा । उ०—देखा चाँद सूर्य्य जस साजा । सहसहिं भाव मदन तन गाजा ।—जायसी । (२५) प्रकार । तरह । उ०—गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव ।—कबीर । (२६) दशा । अवस्था । हालत । (२७) भावना । (२८) विश्वास । भरोसा । उ०—अबू लगि जावों घर कैसे कैसे आवै डर बोली हरि जानिए न भाव पै न आयो है ।—पियादास । (२९) आदर । प्रतिष्ठा । इज़्ज़त । उ०—कहा भयो जो सिर धर्‍यो तुम्हें कान्ह करि भाव । पंखा बिनु कछु और तुम यहाँ न पैहो नाव ।—रसनिधि । (३०) किसी पदार्थ का धर्म्म । गुण । (३१) उद्देश्य । (३२) किसी चीज़ की बिक्री आदि का हिसाब । दर । निर्ख़ ।

मुहा०—भाव उतरना या गिरना=किसी चीज़ का दाम घट जाना । भाव चढ़ना=दाम बढ़ जाना । दर तेज होना ।

(३३) ईश्वर, देवता आदि के प्रति होनेवाली श्रद्धा या भक्ति । उ०—भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाय भक्ति मम सब सुख खानी ।—तुलसी । (३४) साठ संवत्सरों में से आठवाँ संवत्सर । (३५) फलित ज्योतिष में ग्रहों की शयन, उपवेशन, प्रकाशन, गमन आदि बारह चेष्टाओं में से कोई चेष्टा या ढंग जिसका ध्यान जन्मकुंडली का विचार करने के समय रखा जाता है और जिसके आधार पर फलाफल निर्भर करता है ।

विशेष—किसी किसी के मत से दीप्त, दीन, सुस्थ, मुदित आदि नौ और किसी किसी के मत से दस भाव भी हैं ।

(३५) युवती स्त्रियों के २८ प्रकार के स्वभावज अलंकारों के अंतर्गत तीन प्रकार के अंगज अलंकारों में से पहला । नायक आदि को देखने के कारण अथवा और किसी प्रकार नायिका के मन में उत्पन्न होनेवाला विकार ।

विशेष—साहित्यकारों ने इसके स्थायी, व्यभिचारी और सात्विक ये तीन भेद किए हैं और रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय को स्थायी भाव के अंतर्गत निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विरोध, अमर्ष, उग्रता, व्याधि, उन्माद, मरण, भास और वितर्क को व्यभिचारी भाव के अंतर्गत; तथा स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय को सात्विक भाव के अंतर्गत रखा है ।

(३६) संगीत का पाँचवाँ अंग जिसमें प्रेमी या प्रेमिका के संयोग अथवा वियोग से होनेवाला सुख अथवा दुःख या इसी प्रकार का और कोई अनुभव शारीरिक चेष्टा से प्रत्यक्ष करके दिखाया जाता है । गीत का अभिप्राय प्रत्यक्ष कराने के लिये उसके विषय के अनुसार शरीर या अंगों का संचालन । स्वर, नेत्र, मुख तथा अंगों की आकृति में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करके यह अनुभव प्रत्यक्ष कराया जाता है । जैसे, प्रसन्नता, व्याकुलता, प्रतीक्षा, उद्वेग, आकांक्षा आदि का भाव बताना ।

क्रि० प्र०—बताना ।

मुहा०—भाव बताना=कोई काम न करके केवल हाथ पैर मटकाना । व्यर्थ पर नखरे के साथ हाथ पैर हिलाना । भाव देना=आकृति आदि से अथवा कोई अंग संचालित करके मन का भाव प्रकट करना । उ०—श्याम को भाव दै गई राधा । नारि नागरि न काहु लख्यो कोऊ नहीं कान्ह कछु करत हैं बहुत अनुराधा ।—सूर ।

(३७) नाज़ । नखरा । चोंचला । (३८) वह पदार्थ जो जन्म लेता हो, रहता हो, बढ़ता हो, क्षीण होता हो, परिणामशील हो और नष्ट होता हो । छः भावों से युक्त पदार्थ । (सांख्य) (३९) बुद्धि का वह गुण जिससे धर्म्म और अधर्म्म, ज्ञान और अज्ञान आदि का पता चलता है । (४०) वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ जिनका अस्तित्व होता

है। अभाव का उलटा।

भावअर्हंत-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के तीर्थंकर। (जैन)

भावइ*†-अव्य० [हिं० भावना या भाना=अच्छा लगना, मि० पं० भावें] जी चाहे। इच्छा हो तो। उ०—भावइ पानी सिर परइ, भावइ परै अँगार।

भावक*-क्रि० वि० [सं० भाव+क (प्रत्य०)] किंचित्। थोड़ा सा। ज़रा सा। कुछ एक। उ०—भावक उभरौंहौ भयो कछुक परयौ भरु आय। सीपहरा के मिस हियौ निसि दिन हेरत जाय।—बिहारी।

वि० [सं०] भाव से भरा। भावपूर्ण। उ०—भेद त्यों अभेद हाव भाव हूँ कुभाव केते, भावक सुबुद्धि यथामति निरधारती।—रघुराज।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावना करनेवाला। (२) भाव संयुक्त। (३) भक्त। प्रेमी। अनुरागी। उ०—ताहू पर जे भावक पूरे ते दुख सुख सुनि गाथा।—रघुराज। (४) भाव।

वि० [सं०] उत्पादक। उत्पन्न करनेवाला।

भावगति-संज्ञा स्त्री० [सं० भाव+गति] इरादा। इच्छा। विचार। उ०—ज़रा छिपे रहो, जिसमें मैं महाराज की भावगति जान सकूँ। रत्नावली।

भावगम्य-वि० [सं०] भक्ति भाव से जानने योग्य। जो भाव की सहायता से जाना जा सके। उ०—अयः शूल निर्मूलनं शूलपाणिम्। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यम्। —तुलसी।

भावग्राह्य-वि० [सं०] भक्ति से ग्रहण करने योग्य। जिसे ग्रहण करने से पूर्व मन में भक्ति-भाव लाने की आवश्यकता हो।

भावज-वि० [सं०] भाव से उत्पन्न।

संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रातृजाया, हिं० भौजाई] भाई की स्त्री। भाभी। भौजाई।

भावता-वि० [हिं० भावना=अच्छा लगना+ता (प्रत्य०)] [स्त्री० भावती] जो भला लगे। उ०—(क) सरदचंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के।—तुलसी। (ख) सुनियत भव भावते राम हैं सिय भावती भवानि हैं।—तुलसी। (ग) बाल विनोद भावती लीला अति पुनीत पुनि भाषी हो।—सूर।

संज्ञा पुं० प्रेमपात्र। प्रियतम। उ०—पथिक आपने पथ लगो इहाँ रहो न पुसाइ। रसनिधि नैन सराय में एक भावतो आइ।—रसनिधि।

भावताव-संज्ञा पुं० [हिं० भाव+ताव] किसी चीज़ का मूल्य या भाव आदि। निर्ख़। दर।

क्रि० प्र०—जाँचना।—देखना।

भावदत्त दान-संज्ञा पुं० [सं०] वास्तव में चोरी न करके, चोरी की केवल भावना करना। यह जैनियों के अनुसार एक प्रकार का पाप है।

भावदया-संज्ञा स्त्री० [सं०] किसी जीव की दुर्गति देखकर उसकी रक्षा के अर्थ अंतःकरण में दया लाना। (जैन)

भावन*†-वि० [हिं० भावन=अच्छा लगना] अच्छा लगनेवाला। प्रिय लगनेवाला। जो भला लगे। भानेवाला। उ०—इमि कहि कै व्याकुल भई सो लखि कृपानिधान। धीर धरहु भाषत भए भव भावन भगवान।—गिरिधर।

यौ०—मन-भावन।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भावना। (२) ध्यान। (३) विष्णु।

भावना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मन में किसी प्रकार का चिंतन करना। ध्यान। विचार। ख़याल। उ०—जाकी रही भावना जैसी। हरि-मूरति देखी तिन्ह तैसी।—तुलसी।

विशेष—पुराणों में तीन प्रकार की भावनाएँ मानी गई हैं—ब्रह्म भावना, कर्म्म भावना और उभयात्मिका भावना; और कहा गया है कि मनुष्य का चित्त जैसा होता है, वैसी ही उसकी भावना भी होती है। जिसका चित्त निर्मल होता है, उसकी भावना ब्रह्म-संबंधी होती है; और जिसका चित्त समल होता है, उसकी भावना विषय वासना की ओर होती है। जैनियों में परिकर्म भावना, उपचार भावना और आत्म भावना ये तीन भावनाएँ मानी गई हैं; और बौद्धों में माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक और वैभाषिक ये चार भावनाएँ मानी गई हैं और कहा गया है कि मनुष्य इन्हीं के द्वारा परम पुरुषार्थ करता है। योगशास्त्र के अनुसार अन्य विषयों को छोड़कर बार बार केवल ध्येय वस्तु का ध्यान करना भावना कहलाता है। वैशेषिक के अनुसार यह आत्मा का एक गुण या संस्कार है जो देखे, सुने या जाने हुए पदार्थ के संबंध में स्मृति या पहचान का हेतु होता है; और ज्ञान, मद, दुःख आदि इसके नाशक हैं।

(२) चित्त का एक संस्कार जो अनुभव और स्मृति से उत्पन्न होता है। (३) कामना। वासना। इच्छा। चाह। उ०—(क) पाप के प्रताप ताके भोग रोग सोग जाके साध्यो चाहै आधि व्याधि भावना अशेष दाहि।—केशव। (ख) तहँ भावना करत मन माँहीं। पूजत हरि पद-पंकज काँहीं।—रघुराज। (४) साधारण विचार या कल्पना। (५) वैद्यक के अनुसार किसी चूर्ण आदि को किसी प्रकार के रस या तरल पदार्थ में बार बार मिलाकर घोटना और सुखाना जिसमें उस औषध में रस या तरल पदार्थ के कुछ गुण आ जायँ। पुट।

क्रि० प्र०—देना।

*क्रि० अ० अच्छा लगना। पसंद आना। रुचाना। उ०—(क) मन भावै तिहारे तुम सोई करौ, हमें नेह को नातो

निबाहनो है। (ख) गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई।—तुलसी। (ग) जग भल कहहिं भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू।—तुलसी।

वि० [हिं० भावना=अच्छा लगना] जो अच्छा लगे। प्रिय। प्यारा।

भावनामय शरीर—संज्ञा पुं० [सं०] सांख्य के अनुसार एक प्रकार का शरीर जो मनुष्य मृत्यु से कुछ ही पहले धारण करता है और जो उसके जन्म भर के किए हुए पापों और पुण्यों के अनुरूप होता है। जब आत्मा इस शरीर में पहुँच जाती है, तभी मृत्यु होती है।

भावनि*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० भाना या भावना=अच्छा लगना] जो कुछ जी में आवे। इच्छानुसार बात या काम। उ०—जब जमदूत आइ घेरत हैं करत आपनी भावनि।—काष्ठजिह्वा।

भावनीय—वि० [सं०] भावना करने योग्य। चिंता या विचार करने योग्य।

भावपरिग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] वास्तव में धन का संग्रह न करना, पर धन के संग्रह की मन में अभिलाषा रखना। (जैन)

भावप्रधान—संज्ञा पुं० दे० "भाववाच्य"।

भावभक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं० भाव+भक्ति] (१) भक्ति-भाव। (२) आदर। सत्कार। उ०—नैन मूँदि करजोरि बोलायो। भावभक्ति सों भोग लगायो।—सूर।

भावमन—संज्ञा पुं० [सं०] पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न ज्ञान। (जैन)

भावमृषावाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊपर से झूठ न बोलना, पर मन में झूठी बातों की कल्पना करना। (२) शास्त्र के वास्तविक अर्थ को दबाकर अपना हेतु सिद्ध करने के लिये झूठ मूठ नया अर्थ करना। (जैन)

भावमैथुन—संज्ञा पुं० [सं०] मन में मैथुन का विचार वा कल्पना करना। (जैन)

भावय—संज्ञा पुं० [देश०] वह व्यक्ति जो धातु की चद्दर पीटने के समय पासे को सँड़से से पकड़े रहता और उलटता रहता है।

भावली—संज्ञा स्त्री० [देश०] ज़मींदार और असामी के बीच उपज की बँटाई।

भाववाचक—संज्ञा स्त्री० [सं०] व्याकरण में वह संज्ञा जिससे किसी पदार्थ का भाव, धर्म्म या गुण आदि सूचित हो। जैसे, सज्जनता, लालिमा, ऊँचाई।

भाववाच्य—संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण में क्रिया का वह रूप जिससे यह जाना जाय कि वाक्य का उद्देश उस क्रिया का कर्त्ता या कर्म्म कोई नहीं है, केवल कोई भाव है। इसमें कर्त्ता के साथ तृतीया की विभक्ति रहती है; क्रिया को कर्म्म की अपेक्षा नहीं होती और वह सदा एकवचन पुल्लिंग होती है। भावप्रधान क्रिया। जैसे,—मुझसे बोला नहीं जाता। उससे खाया नहीं जाता।

भावविकार—संज्ञा पुं० [सं०] यास्क के अनुसार जन्म, अस्तित्व, परिणाम, वर्धन, क्षय और नाश ये छः विकार जिनके अधीन जीव तब तक रहता है, जब तक उसे ज्ञान नहीं होता।

भाववृत्त—संज्ञा पु० [सं०] ब्रह्मा।

भावव्यंजक—वि० [सं०] जिससे अच्छा वा अच्छी तरह भाव प्रकट होता हो। भाव प्रकट करनेवाला।

भावशबलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें कई भावों की संधि होती है।

भावसंधि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें दो विरुद्ध भावों की संधि का वर्णन होता है। जैसे,—दुहुँ समाज हिय हर्ष-विषादू। यहाँ हर्ष और विषाद की संधि है। (साधारणतः यह अलंकार नहीं माना जाता; क्योंकि इसका विषय रस से संबंध रखता है; और अलंकार से रस पृथक् है।)

भावसत्य—वि० [सं०] ऐसा सत्य जो ध्रुव न होने पर भी भाव की दृष्टि से सत्य हो। जैसे,—यद्यपि तोते कई रंग के होते हैं, तथापि साधारणतः वे हरे कहे जाते हैं। अतः तोतों को हरा कहना "भाव सत्य" है। (जैन)

भावसबलता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें कई एक भावों का एक साथ वर्णन किया जाता है।

भावसर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] तन्मात्राओं की उत्पत्ति। (सांख्य)

भावहिंसा—संज्ञा स्त्री० [सं०] ऐसी हिंसा जो केवल भाव में हो, पर द्रव्य में न हो। कार्य्यतः हिंसा न करना, पर मन में यह इच्छा रखना कि अमुक व्यक्ति का घर जल जाय, अमुक व्यक्ति मर जाय। (जैन)

भावाभाव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाव और अभाव। होना और न होना। (२) उत्पत्ति और लय वा नाश।

भावाभास—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार।

भावार्थ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अर्थ वा टीका जिसमें मूल का केवल भाव आ जाय, अक्षरशः अनुवाद न हो। (२) अभिप्राय। तात्पर्य्य। मतलब।

भावालंकार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार।

भावाश्रित—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नृत्य जिसमें अंगों से भाव बताया जाय। (संगीत) (२) संगीत में हस्तक का एक भेद। गाने के भाव के अनुसार हाथ उठाना, घुमाना और चलाना।

भाविक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अनुमान जो अभी हुआ न हो पर होनेवाला हो। भावी अनुमान। (२) वह अलं-

कार जिसमें भूत और भावी बातें प्रत्यक्ष वर्तमान की भाँति वर्णन की गई हों।

वि० जाननेवाला। मर्मज्ञ। उ०—बरनौं तासु सुवन पद-पंकज। जो विराग भाविक मनरंजन।—रघुराज।

भावित—वि० [सं०] (१) जिसकी भावना की गई हो। सोचा हुआ। विचारा हुआ। (२) मिलाया हुआ। (३) शुद्ध किया हुआ। (४) जिसमें किसी रस आदि की भावना दी गई हो। जिसमें पुट दिया गया हो। (५) सुगंधित किया हुआ। बासा हुआ। (६) मिला हुआ। प्राप्त। (७) भेंट किया हुआ। समर्पित।

भाविता—संज्ञा स्त्री० [सं०] भावी का भाव। होनहार। होनी।

भाविन्न—संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग, मर्त्य और पाताल इन तीनों लोकों का समूह। त्रैलोक्य।

भाविन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सीता की एक सखी का नाम। उ०—पुण्या पर्त्तीवत्सा नीर्त्ति अहलादिनी क्रांता। भाविन्या शोभना लंबिनी विद्या शांता।—विश्राम। (२) होनहार। होनी। भावी।

भावी—संज्ञा स्त्री० [सं० भाविन्] (१) भविष्यत् काल। आनेवाला समय। (२) भविष्य में होनेवाली वह बात या व्यापार जिसका घटना निश्चित हो। अवश्य होनेवाली बात। भवितव्यता। उ०—भावी काहू सों न टरै। कहँ वह राहु कहाँ वह रवि शशि आनि सँजोग परै।—सूर।

विशेष—साधारणतः भाग्यवादियों का विश्वास होता है कि कुछ घटनाएँ या बातें ऐसी होती हैं जिनका होना पहले से ही किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा निश्चित होता है। ऐसी ही बातों को "भावी" कहते हैं। (३) भाग्य। प्रारब्ध। तकदीर।

भावुक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल। आनंद। (२) बहनोई। (नाट्योक्ति में) (३) सज्जन। भला आदमी।

वि० (१) भावना करनेवाला। सोचनेवाला। (२) जिसके मन में भावों का विशेषतः कोमल भावों का सहज में संचार होता हो। जिस पर कोमल भावों का जल्दी प्रभाव पड़ता हो। (३) उत्तम भावना करनेवाला। अच्छी बातें सोचनेवाला।

भावोत्सर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध आदि बुरे भावों का त्याग। (जैन)

भावोदय—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अलंकार जिसमें किसी भाव के उदय होने की अवस्था का वर्णन होता है।

भाव्य—वि० [सं०] (१) अवश्य होनेवाला। जिसका होना बिलकुल निश्चित हो। भावी। (२) भावना करने के योग्य। (३) सिद्ध वा साबित करने के योग्य।

भाषक—संज्ञा पुं० [सं०] बोलनेवाला। कहनेवाला। भाषण करनेवाला।

भाषज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] भाषा जाननेवाला। भाषा का ज्ञाता।

भाषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कथन। बातचीत। कहना। (२) व्याख्यान। वक्तृता।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—सुनना।—सुनाना।

भाषना*†—क्रि० अ० [सं० भाषण] बोलना। कहना। बात करना।

क्रि० अ० [सं० भक्षण] भोजन करना। खाना।

भाषांतर—संज्ञा पुं० [सं०] एक भाषा में लिखे हुए लेख आदि के आधार पर दूसरी भाषा में लिखा हुआ लेख। अनुवाद। उल्था। तरजुमा।

भाषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) व्यक्त नाद की वह समष्टि जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक दूसरे पर प्रकट करते हैं मुख से उच्चरित होनेवाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिनके द्वारा मन की बात बतलाई जाती है। बोली। ज़बान। वाणी।

विशेष—इस समय सारे संसार में प्रायः हज़ारों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं जो साधारणतः अपने भाषियों को छोड़ और लोगों की समझ में नहीं आतीं। अपने समाज या देश की भाषा तो लोग बचपन से ही अभ्यस्त होने के कारण अच्छी तरह जानते हैं; पर दूसरे देशों या समाजों की भाषा बिना अच्छी तरह सीखे नहीं आती। भाषा-विज्ञान के ज्ञाताओं ने भाषाओं के आर्य्य, सेमेटिक, हेमेटिक आदि कई वर्ग स्थापित करके उनमें से प्रत्येक की अलग अलग शाखाएँ स्थापित की हैं; और उन शाखाओं के भी अनेक वर्ग उपवर्ग बनाकर उनमें बड़ी बड़ी भाषाओं और उनके प्रांतीय भेदों, उपभाषाओं अथवा बोलियों को रखा है। जैसे हमारी हिन्दी भाषा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषाओं के आर्य्य वर्ग की भारतीय आर्य्य शाखा की एक भाषा है; और ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेलखंडी आदि इसकी उपभाषाएँ या बोलियाँ हैं। पास पास बोली जानेवाली अनेक उपभाषाओं या बोलियों में बहुत कुछ साम्य होता है; और उसी साम्य के आधार पर उनके वर्ग या कुल स्थापित किए जाते हैं। यही बात बड़ी बड़ी भाषाओं में भी है जिनका पारस्परिक साम्य उतना अधिक तो नहीं, पर फिर भी बहुत कुछ होता है। संसार की सभी बातों की भाँति भाषा का भी मनुष्य की आदिम अवस्था के अव्यक्त नाद से अब तक बराबर विकास होता आया है; और इसी विकास के कारण भाषाओं में सदा परिवर्त्तन होता रहता है। भारतीय आर्य्यों की वैदिक भाषा से संस्कृत और

प्राकृतों का, प्राकृतों से अपभ्रंशों का और अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है।

क्रि० प्र०—जानना।—बोलना।—सीखना।—समझना।

(२) किसी विशेष जन-समुदाय में प्रचलित बात चीत करने का ढंग। बोली। जैसे, ठगों की भाषा। दलालों की भाषा। (३) वह अव्यक्त नाद जिससे पशु पक्षी आदि अपने मनोविकार या भाव प्रकट करते हैं। जैसे, बंदरों की भाषा। (४) आधुनिक हिंदी। (५) वह बोली जो वर्तमान समय में किसी देश में प्रचलित हो। (६) एक प्रकार की रागिनी। (७) ताल का एक भेद। (संगीत) (८) वाक्य। (९) वाणी। सरस्वती। (१०) अर्जीदावा। अभियोगपत्र।

भाषाबद्ध–वि० [सं०] साधारण देश-भाषा में बना हुआ। उ०—भाषाबद्ध करब मैं सोई।—तुलसी।

भाषासम–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शब्दालंकार। काव्य में केवल ऐसे शब्दों की योजना जो कई भाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त होते हों। उ०—मंजुल मणि मंजीरे कलगंभीरे विहार सरसीतीरे। विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गंधसार समीरे। यह श्लोक संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, नागर अपभ्रंश, अवंती आदि अनेक भाषाओं में इसी रूप में होगा।

भाषासमिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों के अनुसार एक प्रकार का आचार जिसके अंतर्गत ऐसी बातचीत आती है जिससे सब लोग प्रसन्न और संतुष्ट हों।

भाषित–वि० [सं०] कथित। कहा हुआ।

संज्ञा पुं० कथन। बातचीत।

यौ०—आकाशभाषित।

भाषी–संज्ञा पुं० [सं० भाषिन्] बोलनेवाला। जैसे, हिंदी-भाषी।

भाष्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूत्र-ग्रंथों का विस्तृत विवरण या व्याख्या। सूत्रों की की हुई व्याख्या या टीका। जैसे, वेदों का भाष्य। (२) किसी गूढ़ बात या वाक्य की विस्तृत व्याख्या। जैसे,—आपके इस पद्य के साथ तो एक भाष्य की आवश्यकता है।

भाष्यकार–संज्ञा पुं० [सं०] सूत्रों की व्याख्या करनेवाला। भाष्य बनानेवाला।

भास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दीप्ति। प्रकाश। प्रभा। चमक। (२) मयूख। किरण। (३) इच्छा। (४) गोशाला। (५) कुक्कुट। (श० क०) (६) गृध्र। गीध। (७) शकुंत पक्षी। (८) स्वाद। लज़्ज़त। (९) मिथ्या ज्ञान। (१०) महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

भासकर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का मुख्य नायक जिसको हनुमान ने प्रमदावन उजाड़ने के समय मारा था।

भासना–क्रि० अ० [सं० भास] (१) प्रकाशित होना। चमकना। (२) मालूम होना। प्रतीत होना। (३) देख पड़ना। (४) फँसना। लिप्त होना। उ०—अपने भुज दंडन कर गहिये विरह सलिल में भासी।—सूर।

※ † क्रि० अ० [सं० भाषण] कहना। बोलना।

भासमंत–वि० [सं०] चमकदार। ज्योतिपूर्ण।

भासमान–वि० [सं०] जान पड़ता हुआ। भासता हुआ। दिखाई देता हुआ।

संज्ञा पुं० सूर्य। (डिं०)

भासिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दिखाई पड़नेवाला। (२) मालूम होनेवाला। लक्षित होनेवाला।

भासित–वि० [सं०] तेजोमय। चमकीला। प्रकाशित। प्रकाशमान।

भासु–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

भासुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुष्ठ रोग का औषध। कोढ़ की दवा। (२) स्फटिक। बिल्लौर। (३) वीर। बहादुर।

वि० चमकदार। चमकीला।

भास्कर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुवर्ण। सोना। (२) सूर्य्य। (३) अग्नि। आग। (४) वीर। (५) मदार का पेड़। (६) महादेव। शिव। (७) ज्योतिष शास्त्र के एक आचार्य। इन्होंने सिद्धांत शिरोमणि आदि ज्योतिष के ग्रंथ रचे हैं। (८) महाराष्ट्र ब्राह्मणों की एक प्रकार की पदवी। (९) पत्थर पर चित्र और बेल बूटे आदि बनाने की कला।

भास्वत्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) मदार का पेड़। (३) चमक। दीप्ति। (४) वीर। बहादुर।

वि० (१) चमकीला। चमकदार। (२) प्रकाश करनेवाला। चमकनेवाला।

भास्वती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम। (महाभारत)

भास्वर–संज्ञा पुं० (१) [सं०] कुष्ठ का औषध। कोढ़ की दवा। (२) दिन। (३) सूर्य्य। (४) सूर्य का एक अनुचर जिसे भगवान् सूर्य ने तारकासुर के वध के समय स्कंद को दिया था।

वि० दीप्तियुक्त। चमकदार। प्रकाशमय। चमकीला।

भिंगा†–संज्ञा पुं० [सं० भृंग] (१) भृंगी नाम का कीड़ा जिसे बिलनी भी कहते हैं। (२) भौंरा।

संज्ञा स्त्री० [सं० भग्न वा भंग] बाधा।

भिंगराज–संज्ञा पुं० दे० "भृंगराज"।

भिंगाना–क्रि० स० दे० "भिगोना"।

भिंगोरा–संज्ञा पुं० [सं० भृंगारः] (१) **भँगरा । भृंगराज । घमरा । (२) भृंगराज पक्षी ।**

भिंगोरी†–संज्ञा स्त्री० [सं० भृंगराज] **भृंगराज नामक पक्षी**

भिंजाना–क्रि० स० दे० **"भिगोना"** ।

भिंडा–संज्ञा पुं० [देश०] **बड़ा नटक ।**

संज्ञा स्त्री० [सं०] **भिंडी ।**

भिंडि–संज्ञा पुं० [सं० भिंदि] **गोफना । ढेलवाँस ।**

भिंडिपाल–संज्ञा पुं० [सं० भिंदिपाल] **छोटा डंडा जो प्राचीन काल में फेंककर मारा जाता था ।**

भिंडी–संज्ञा स्त्री० [सं० भिंडा] **एक प्रकार के पौधे की फली जिसकी तरकारी बनती है । यह फली चार अंगुल से लेकर बालिश्त भर तक लंबी होती है । इसके पौधे चैत से जेठ तक बोए जाते हैं; और जब ६-७ अंगुल के हो जाते हैं, तब दूसरे स्थान में रोपे जाते हैं । इसकी फसल को खाद और निराई की बहुत आवश्यकता होती है । इसके रेशों से रस्से आदि बनाए जाते हैं; और काग़ज़ भी बनाया जा सकता है । वैद्यक में इसे उष्ण, ग्राही और रुचिकारक माना है । इसे कहीं कहीं रामतरोई भी कहते हैं ।**

भिंदिपाल–संज्ञा पुं० [सं०] दे० **"भिंडिपाल"** ।

भिंसार†–संज्ञा पुं० [सं० भानु+सरण] **सवेरा । सुबह । प्रातःकाल ।**

भिआ‡–संज्ञा पुं० [हिं० भैया] **भाई । भइया ।**

भिक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] **भिक्षा माँगने की क्रिया । भीख माँगना । भिखमंगी ।**

भिक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) **याचना । माँगना । जैसे,—मैं आपसे यह भिक्षा माँगता हूँ कि आप इसे छोड़ दें । (२) दीनता दिखलाते हुए अपने उदरनिर्वाह के लिये घूम घूमकर अन्न या धन आदि माँगने का काम । भीख ।**

क्रि० प्र०—माँगना ।

(३) इस प्रकार माँगने से मिली हुई वस्तु । भीख । (४) सेवा । नौकरी ।

भिक्षाक–संज्ञा पुं० [सं०] **भीख माँगनेवाला । भिक्षुक ।**

भिक्षाटन–संज्ञा पुं० [सं०] **भीख माँगने की फेरी । भीख माँगने के लिये इधर उधर घूमना ।**

भिक्षापात्र–संज्ञा पुं० [सं०] **वह पात्र जिसमें भिखमंगे भीख माँगते हैं ।**

भिक्षु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) **भीख माँगनेवाला । भिखारी । (२) गोरखमुंडी । मुंडी । (३) संन्यासी ।** [स्त्री० भिक्षुणी] **(४) बौद्ध संन्यासी ।**

भिक्षुक–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भिक्षुकी] **भिखमंगा । भिखारी । याचक ।**

वि० [सं०] **भीख माँगनेवाला ।**

भिक्षुरूप–संज्ञा पुं० [सं०] **महादेव ।**

भिखमंगा–संज्ञा पुं० [हिं० भीख+माँगना] **जो भीख माँगे । भिखारी । भिक्षुक ।**

भिखार–संज्ञा पुं० [हिं० भीख+आर (प्रत्य०)] **भीख माँगनेवाला । जो भीख माँगे । भिक्षुक ।**

भिखारिणी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिखारी] **वह स्त्री जो भिक्षा माँगे । भीख माँगनेवाली स्त्री ।**

भिखारिन–संज्ञा स्त्री० दे० **"भिखारिणी"** ।

भिखारी–संज्ञा पुं० [हिं० भीख+आरी (प्रत्य०)] [स्त्री० भिखारिन, भिखारिणी] **भीख माँगनेवाला व्यक्ति । भिक्षुक । भिखमंगा ।**

भिखिया†–संज्ञा स्त्री० दे० **"भिक्षा"** ।

भिखियारी†–संज्ञा पुं० दे० **"भिखारी"** ।

भिगाना–क्रि० स० दे० **"भिगोना"** ।

भिगोना–क्रि० स० [सं० अभ्यंज] **किसी चीज़ को पानी से तर करना । पानी में इस प्रकार डुबाना जिसमें तर हो जाय । गीला करना । भिगाना । जैसे,—यह दवा पानी में भिगो दो ।**

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

भिच्छा–संज्ञा स्त्री० दे० **"भिक्षा"** ।

भिजवना*†–क्रि० स० [हिं० भिगोना] **भिगोने में दूसरे को प्रवृत्त करना । पानी से तर कराना ।** उ०—(क) सर सरोज प्रफुलित निरखि हिय लखि अधिक अधीर । भिजवति तें मंजुल करनि भरि भरि अंजुलि नीर ।—प्रताप कवि । (ख) बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना बारि भूमि भिजई है ।—तुलसी ।

भिजवाना–क्रि० स० [हिं० भेजना का प्रे०] **किसी को भेजने में प्रवृत्त करना । भेजने का काम दूसरे से कराना । जैसे,—(क) ज़रा अपने नौकर से यह पत्र भिजवा दीजिए । (ख) उन्होंने सब रुपया भिजवा दिया है ।**

भिजवावर†–संज्ञा स्त्री० दे० **"भजियाउर"** ।

भिजाना–क्रि० स० [सं० अभ्यंज] **भिगोना । तर करना । गीला करना ।** उ०—मुख पखारि मुँड़हर भिजै सीस सजल कर छुवाइ । मौरि उचै घूटेनि नै नारि सरोवर न्हाइ ।—बिहारी ।

क्रि० स० दे० **"भिजवाना"** ।

भिजोना, भिजोवना*†–क्रि० स० दे० **"भिगोना"** ।

भिज्ञ–वि० [सं०] **जानकार । वाक़िफ़ ।**

भिटका†–संज्ञा पुं० [हिं० भीटा] **बमीठा । बाँबी ।**

भिटना†–संज्ञा पुं० [देश०] **छोटा गोल फल । जैसे, कपास का भिटना ।**

भिटनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिटना] **स्तन के आगे का भाग । चूँची ।**

भिटाना‡–क्रि० स० दे० "भेंटाना"।

भिड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० बरें] बर्रे। ततैया।

भिड़ना–क्रि० अ० [हिं० भड़ अनु० ?] (१) एक चीज़ का बढ़ कर दूसरी चीज़ से टक्कर खाना। टकराना। (२) लड़ना झगड़ना। लड़ाई करना। (३) समीप पहुँचना। पास पहुँचना। सटना। (४) प्रसंग करना। मैथुन करना। (बाज़ारू) संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

भिड़ज–संज्ञा पुं० [हिं० भिड़ना ?] शूर। वीर पुरुष। (डिं०)

भिड़उजाँ–संज्ञा पुं० [?] घोड़ा। (डिं०)

भितल्ला–संज्ञा पुं० [हिं० भीतर+तल] दोहरे कपड़े में भीतरी ओर का पल्ला। कपड़े के भीतर का परत। अस्तर।
वि० भीतर का। अंदर का।

भितल्ली–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीतर+तल] चक्की के नीचे का पाट।

भिताना–*†–क्रि० स० [सं० भीति] डरना। भयभीत होना। खौफ़ खाना। उ०—(क)जानि कै जोर करौ परिनाम तुम्है पछतैहौ पै मैं न भितैहौं।—तुलसी। (ख) हौं सनाथ ह्वैहौं सही तुमहु अनाथ पति जो लघुतहि न भितैहौ।—तुलसी।

भित्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दीवार। (२) डर। भय। भीति। (३) टुकड़ा। (डिं०) (४) चित्र खींचने का आधार। वह पदार्थ जिस पर चित्र बनाया जाय।

भिद–संज्ञा पुं० [सं० भिद] भेद। अंतर। उ०—(क) सम सरूप के माहिं जहाँ समरूप जु निकरै। सो सारूप्य निबंध नाहिं भिद पहिलो उफरै।—मतिराम। (ख) मोक्ष काम गुरु शिष्य लखि ताको साधन ज्ञान। वेद उक्त भाषण लगो जीव ब्रह्म भिद भान।—निश्चल।

भिदना–क्रि० अ० [सं० भिद] (१) पैवस्त होना। घुस जाना। धँस जाना। (२) छेदा जाना। (३) घायल होना। उ०—बज्र सरिस बर बान, हन्यो लवहिं रिपुदमन पुनि। भिदि तासों बलवान, कियो क्रोध सिय पुत्र अति।—श्यामविहारी।

भिदुर–संज्ञा पुं० [सं० भिदिर] वज्र उ०—अशनि कुलिस पवि भिदुर पुनि वज्र ह्रादिनी आहिं।—नंददास।

भिनकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) भिन भिन शब्द करना। (मक्खियों का)
मुहा०—किसी पर मक्खियाँ भिनकना=(१) किसी का इतना अशक्त हो जाना कि उस पर मक्खियाँ भिनभिनाया करें और वह उन्हें उड़ा न सके। नितांत असमर्थ हो जाना। (२) बहुत गंदा होना। अत्यंत मलिन रहना।
(२) किसी काम का अपूर्ण रह जाना। (३) घृणा उत्पन्न होना। जैसे,—अब तो उनकी सूरत देखकर जी भिनकता है।

भिनभिनाना–क्रि० अ० [अनु०] भिन भिन शब्द करना।

भिनसार†–संज्ञा पुं० [सं० विनिशा] सवेरा। प्रभात। प्रातःकाल।

भिनहीं–क्रि० वि० [सं० विनिशा] सवेरे। तड़के। प्रातःकाल।

भिन्न–वि० [सं०] (१) अलग। पृथक्। जुदा। जैसे,—ये दोनों बातें एक दूसरी से भिन्न हैं। (२) इतर। दूसरा। अन्य। जैसे,—इससे भिन्न और कोई कारण हो ही नहीं सकता।
संज्ञा पुं० (१) नीलम का एक दोष जिसके कारण पहननेवाले को पति, पुत्रादि का शोक प्राप्त होना माना जाता है। (२) वह संख्या जो एकाई से कुछ कम हो। (गणित) (३) किसी तेज धारवाले शस्त्र आदि से शरीर के किसी भाग का कट जाना। (वैद्यक)

भिन्नक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध।

भिन्नता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भिन्न होने का भाव। अलग होने का भाव। अलगाव। भेद। अंतर।

भिन्नत्व–संज्ञा पुं० [सं०] भिन्न होने का भाव। जुदाई।

भियना*†–क्रि० अ० [सं० भीत] भयभीत होना। डरना। उ०—(क) कलि मल खल दल देखि भारी भीति भियो है।—तुलसी। (ख) ढीली करि दाँवरी बावरी साँवरेहि देखि, सकुचि सहमि सिसु भारी भय भियो है।—तुलसी।

भिया†–संज्ञा पुं० [हिं० भैया] भाई। भ्राता।

भिरना*†–क्रि० स० दे० "भिड़ना"।

भिरिंग–संज्ञा पुं० दे० "भृंग"।

भिलनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भील] भील जाति की स्त्री।
संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का धारीदार कपड़ा या चारखाना।

भिलावाँ–संज्ञा पुं० [सं० भल्लातक] (१) एक प्रसिद्ध जंगली वृक्ष जो सारे उत्तरी भारत में आसाम से पंजाब तक और हिमालय की तराई में ३५०० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इसके पत्ते गूमा के पत्तों के समान होते हैं। इसके तने को पाछने से एक प्रकार का रस निकलता है जिससे वार्निश बनता है। इसमें जामुन के आकार का एक प्रकार का लाल फल लगता है जो सूखने पर काला और चिपटा हो जाता है और जो बहुधा औषध के काम में आता है। कच्चे फलों की तरकारी भी बनती है। पक्के फल को जलाने से एक प्रकार का तेल निकलता है जिसके शरीर में लग जाने से बहुत जलन और सूजन होती है। इस तेल से बहुधा भारत के धोबी कपड़ों पर निशान लगाते हैं जो कभी छूटता नहीं। इसमें फिटकिरी आदि मिलाकर रंग भी बनाया जाता है। कच्चे फल का ऊपरी गूदा या भीतरी गिरी कहीं कहीं खाने के काम में भी आती है। वैद्यक में इसे कसैला, गरम, शुक्रजनक, मधुर, हलका तथा वात, कफ

उदर-रोग, कुष्ट, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, ज्वर आदि का नाशक माना है।

पर्य्या०—अरुष्कर। शोथहृत्। वह्निनामा। वीरतरु। व्रण-वृंत। भूतनाशन। अग्निमुखी। भल्ली। शैलबीज। वातारि। धनुर्वृक्ष। बीजपादप। वह्नि। महातीक्ष्णा। अग्निक। स्फोटहेतु। रक्तहर।

भिल्ल-संज्ञा पुं० दे० "भील"।

भिल्लतरु-संज्ञा पुं० [सं०] लोध।

भिश्त*†-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बिहिश्त] वैकुण्ठ। स्वर्ग। उ०—अलख अकल जाने नहीं जीव जहन्नम लोय। हरदम हरि जान्या नहीं भिश्त कहाँ ते होय।—कबीर।

भिश्ती-संज्ञा पुं० [?] मशक द्वारा पानी ढोनेवाला व्यक्ति। सक्का।

भिषक्-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्य।

भिषक्प्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच।

भिषज-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्य।

भिष्ठा-संज्ञा पुं० [सं० विष्ठा] मल। गू। गलीज़।

भिसज-संज्ञा पुं० [सं० भिषज] वैद्य। (डिं०)

भिसटा-संज्ञा पुं० [विष्ठा] गू। मल।

भिसर-संज्ञा पुं० [भूसुर] ब्राह्मण। (डिं०)

भिसिणी-संज्ञा पुं० [सं० व्यसनी] व्यसनी। (डिं०)

भिस्त-संज्ञा स्त्री० दे० "भिश्त"।

भिस्स-संज्ञा स्त्री० [सं० विश] कमल की जड़। भसीड़।

भींगना-क्रि० अ० दे० "भीगना"।

भींगी-संज्ञा पुं० [सं० भृंगी] (१) भँवरा। अलि। (२) एक प्रकार का फतिंगा जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह किसी भी कृमि को अपने रूप में ले आता है।

भींचना†-क्रि० स० [हिं० खींचना] (१) खींचना। कसना। दबाना। उ०—त्यों तिय भींचि भुजनि मैं पी कूँ। (२) मूँदना। ढाँपना। बंद करना। (आँख के लिये)

भींजना*†-क्रि० अ० [हिं० भीगना] (१) आर्द्र होना। गीला होना। तर होना। भीगना। (२) पुलकित वा गद्‌गद् हो जाना। प्रेम मग्न हो जाना। (३) लोगों के साथ हेलमेल बढ़ाना। मेल मिलाप पैदा करना। (४) स्नान करना। नहाना। (५) समा जाना। घुस जाना।

भींट-संज्ञा पुं० दे० "भीट"।

भींत-संज्ञा स्त्री० दे० "भीत"।

भी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भय। डर। ख़ौफ़। उ०—सुनत आइ ऋषि कुसहरे नरसिंह मंत्र पढ़ि भय भी के।—तुलसी।

अव्य० [हिं० ही०] (१) अवश्य। निश्चय करके। ज़रूर।

विशेष—इस अर्थ में इसका प्रयोग किसी एक पदार्थ या मनुष्य के साथ दूसरे पदार्थ या मनुष्य का निश्चयपूर्वक होना सूचित करता है। जैसे,—(क) तुम्हारे साथ मैं भी चलूँगा। (ख) वेतन के साथ भोजन भी मिलेगा। (ग) सज़ा के साथ जुरमाना भी होगा।

(२) अधिक। ज़्यादा। विशेष। जैसे,—इस पर सन्नाटा और भी आश्चर्यजनक है। (३) तक। लौं। उ०—मनुष्य की कौन कहे, जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पशु भी दिखलाई न देता था।—अयोध्यासिंह।

भीउँ*-संज्ञा पुं० [सं० भीम] युधिष्ठिर के छोटे भाई, भीमसेन। उ०—जैसे जरत लच्छ घर साहस कीन्हा भीउँ। जरत खंभ तस काढ्यो कै पुरषारथ जीउँ।—जायसी।

भीक-वि० [सं०] डरा हुआ। भीत।

संज्ञा स्त्री० दे० "भीख"।

भीख-संज्ञा स्त्री० [सं० भिक्षा] (१) किसी दरिद्र का दीनता दिखाते हुए उदरपूर्त्ति के लिये कुछ माँगना। भिक्षा।

क्रि० प्र०—माँगना।

यौ०—भिखमंगा। भिखारी।

(२) वह धन या पदार्थ जो इस प्रकार माँगने पर दिया जाय। भिक्षा में दी हुई चीज़। ख़ैरात।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

भीखन*-वि० [सं० भीषण] भयानक। भयंकर। डरावना। उ०—एरी खनहुँ न सुख लखों दुख दै दुखद दिखाइ। भीखन भीखन लगत है तीखन तीख बनाइ।—रामसहाय।

भीखम*†-संज्ञा पुं० [सं० भीष्म] राजा शांतनु के पुत्र भीष्म पितामह।

वि० भयानक। डरावना।

भीगना-क्रि० अ० [सं० अभ्यंज] पानी या और किसी तरल पदार्थ के संयोग के कारण तर होना। आर्द्र होना। जैसे, वर्षा से कपड़े भीगना। पानी में दवा भीगना। उ०—गगरी भरत मोरी सारी भीगी, भीगी सुरख चुनरिया।—गीत।

मुहा०—भीगी बिल्ली होना=भय आदि के कारण दब जाना। बिलकुल चुप रहना।

भीचर-संज्ञा पुं० [डिं०] सुभट। वीर।

भीजना†-क्रि० अ० दे० "भींगना"।

भीट-संज्ञा पुं० [देश०] (१) ढूहवाली ज़मीन। टीलेदार भूमि। उभरी हुई पृथ्वी। (२) वह ऊँची भूमि जहाँ पान की खेती होती है। भीटा। (३) एक प्रकार की तौल जो प्रायः मन भर के बराबर होती है।

भीटन-संज्ञा स्त्री० दे० "भीटा"।

भीटा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) आस पास की भूमि से कुछ उभरी हुई भूमि। ऊँची या टीलेदार ज़मीन। (२) वह बनाई हुई ऊँची और ढालुआँ ज़मीन जिस पर पान की खेती होती है और जो चारों ओर से छाजन या लताओं आदि से ढकी हुई होती है। वि० दे० "पान"।

भीड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिड़ना] (१) एक ही स्थान पर बहुत से आदमियों का जमाव । जन-समूह । आदमियों का झुंड । ठठ । जैसे,—(क) इस मेले में बहुत भीड़ होती है । (ख) रेल में बहुत भीड़ थी ।

क्रि० प्र०—करना ।—लगना ।—लगाना ।—होना ।

मुहा०—भीड़ चीरना=जन-समूह को हटाकर जाने के लिये मार्ग बनाना । भीड़ छँटना=भीड़ के लोगों का इधर उधर हो जाना । भीड़ न रह जाना ।

(२) संकट । आपत्ति । मुसीबत । जैसे,—जब तुम पर कोई भीड़ पड़े, तब मुझसे कहना ।

क्रि० प्र०—कटना ।—काटना ।—पड़ना ।

भीड़न–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़ना] मलने, लगाने या भरने की क्रिया ।

भीड़ना*†–क्रि० स० [हिं० भिड़ाना] (१) मिलाना । लगाना । (२) मलना । उ०—करि गुलाल सों धुंधुरित सकल ग्वालिनी ग्वाल । रोरी भीड़न के सुमिस गोरी गहे गोपाल । —पद्माकर ।

भीड़भड़क्का–संज्ञा पुं० [हिं० भीड़+भड़क्का अनु०] बहुत से आदमियों का समूह । भीड़-भाड़ ।

भीड़भाड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़+भाड़ अनु०] मनुष्यों का जमाव । जन-समूह । भीड़ ।

भीड़ा†–संज्ञा स्त्री० दे० "भीड़" ।

वि० [हिं० भिड़ना] संकुचित । तंग । जैसे, भीड़ी गली । उ०—महंत जी ने कहा कि स्वामी, गली बहुत भीड़ी है । लोगों का आना जाना रुक गया ।—श्रद्धाराम ।

भीड़ी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिंडी] भिंडी । रामतरोई । उ०—बनकोरा पिंडि साची चीढ़ी । खीप पिंडारू कोमल भीड़ी । —सूर ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़] जनसमूह । भीड़ ।

भीत–संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] (१) भित्तिका । दीवार ।

मुहा०—भीत में दौड़ना=अपने सामर्थ्य से बाहर अथवा असंभव कार्य करना । उ०—बालि बली खरदूषन और अनेक गिरे जे जे भीत में दौरे ।—तुलसी । भीत के बिना चित्र बनाना=बे सिर पैर की बात करना । बिना प्रमाण की बात करना । उ०—तात रिस करत भ्राता कहै मारिहौं भीति बिन चित्र तुम करत रेखा ।—सूर ।

(२) विभाग करनेवाला परदा । (३) चटाई । (४) छत । गच । (५) खंड । टुकड़ा । (६) स्थान । (७) दरार । (८) कोर । कसर । त्रुटि । (९) अवसर । अवकाश । मौका ।

वि० [सं०] [स्त्री० भीता] डरा हुआ । जिसे भय लगा हो । उ०—कनक गिरि शृंग चढ़ि देखि मर्कट कटक वदत मंदोदरी परम भीता ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० भय । डर ।

भीतर–क्रि० वि० [?] अंदर । में । जैसे,—घर के भीतर, महीने भर के भीतर, सौ रुपए के भीतर । उ०—भरत मुनिहि मन भीतर भाए । सहित समाज राम पहँ आए ।—तुलसी ।

मुहा०—भीतर का कूआँ=वह उपयोगी पदार्थ जिससे कोई लाभ न उठा सके । अच्छी, पर किसी के काम न आ सकने योग्य चीज । उ०—सूरदास प्रभु तुम बिन जोबन घर भीतर को कूप ।—सूर । भीतर पैठकर देखना=तत्व जानना । असलियत जाँचना ।

संज्ञा पुं० (१) अंतःकरण । हृदय । जैसे,—जो बात भीतर से न उठे, वह न करनी चाहिए ।

मुहा०—भीतर ही भीतर=मन ही मन । हृदय में ।

(२) रनिवास । जनानखाना । उ०—अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ । भये प्रेम बस सचिव सुनि विप्र सभासद राउ ।—तुलसी

भीतरा†–वि० [हिं० भीतर] भीतर या ज़नानखाने में जानेवाला । स्त्रियों में आने जानेवाला ।

भीतरि*–अव्य० दे० "भीतर" ।

भीतरिया–संज्ञा पुं० [हिं० भीतर+इया (प्रत्य०)] (१) वह जो भीतर रहता हो । (२) वल्लभीय ठाकुरों के वे प्रधान पुजारी आदि जो मंदिर के भीतर मूर्त्ति के पास रहते हैं । (सब लोगों को मंदिर के भीतर जाने का अधिकार नहीं होता ।)

वि० भीतरवाला । अंदर का । भीतरी ।

भीतरी–वि० [हिं० भीतर+ई (प्रत्य०)] (१) भीतरवाला । अंदर का । जैसे,—भीतरी कमरा । भीतरी दरवाज़ा । (२) छिपा हुआ । गुप्त । जैसे,—भीतरी बात । भीतरी वैमनस्य ।

भीतरी टाँग–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीतरी+टाँग] कुश्ती का एक पेंच । जब शत्रु पीठ पर रहता है, तब मौका पाकर खिलाड़ी भीतर ही से टाँग मारकर विपक्षी को गिराता है । इसी को भीतरी टाँग कहते हैं ।

भीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डर । भय । ख़ौफ़ । उ०—वानरेंद्र तब यों हँसि बोल्यो । भीति भेद जिय को सब खोल्यो ।—केशव । (२) कंप ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] दीवार ।

भीतिकर–वि० [सं०] भयंकर । भयावना । डरावना ।

भीतिकारी–वि० [सं०] भयानक । डरावना । भयावना । ख़ौफ़नाक ।

भीती*†–संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] दीवार । उ०—परम प्रेम मय मृदु मसि कीनी । चारु चित्त भीती लिखि लीनी ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भीति] डर । भय । उ०—चंद्र की दुति गई पहँ पीरी भई सकुच नाहीं दई अति हि भीती ।—सूर ।

उदर-रोग, कुष्ट, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, ज्वर आदि का नाशक माना है।

पर्य्या०—अरुष्कर। शोथहृत्। वह्निनामा। वीरतरु। व्रणवृंत। भूतनाशन। अग्निमुखी। भल्ली। शैलबीज। वातारि। धनुर्वृक्ष। बीजपादप। वह्नि। महातीक्ष्णा। अग्निक। स्फोटहेतु। रक्तहर।

भिल्ल-संज्ञा पुं० दे० "भील"।

भिल्लतरु-संज्ञा पुं० [सं०] लोध।

भिश्त*†-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० बिहिश्त] बैकुण्ठ। स्वर्ग। उ०—अलख अकल जानै नहीं जीव जहन्नम लोय। हरदम हरि जान्या नहीं भिश्त कहाँ ते होय।—कबीर।

भिश्ती-संज्ञा पुं० [?] मशक द्वारा पानी ढोनेवाला व्यक्ति। सक्का।

भिषक्-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्य।

भिषक्प्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] गुडुच।

भिषज-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्य।

भिष्ठा-संज्ञा पुं० [सं० विष्ठा] मल। गू। गलीज़।

भिसज-संज्ञा पुं० [सं० भिषज] वैद्य। (डिं०)

भिसटा-संज्ञा पुं० [विष्ठा] गू। मल।

भिसर-संज्ञा पुं० [भूसुर] ब्राह्मण। (डिं०)

भिसिणी-संज्ञा पुं० [सं० व्यसनी] व्यसनी। (डिं०)

भिस्त-संज्ञा स्त्री० दे० "भिश्त"।

भिस्स-संज्ञा स्त्री० [सं० बिश] कमल की जड़। भसीड़।

भींगना-क्रि० अ० दे० "भीगना"।

भींगी-संज्ञा पुं० [सं० भृंगी] (१) भँवरा। अलि। (२) एक प्रकार का फतिंगा जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह किसी भी कृमि को अपने रूप में ले आता है।

भींचना†-क्रि० स० [हिं० खींचना] (१) खींचना। कसना। दबाना। उ०—त्यों तिय भींचि भुजनि मैं पी कूँ। (२) मूँदना। ढाँपना। बंद करना। (आँख के लिये)

भींजना*†-क्रि० अ० [हिं० भीगना] (१) आर्द्र होना। गीला होना। तर होना। भीगना। (२) पुलकित वा गद्गद् हो जाना। प्रेम मग्न हो जाना। (३) लोगों के साथ हेलमेल बढ़ाना। मेल मिलाप पैदा करना। (४) स्नान करना। नहाना। (५) समा जाना। घुस जाना।

भींट-संज्ञा पुं० दे० "भीट"।

भींत-संज्ञा स्त्री० दे० "भीत"।

भी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भय। डर। खौफ़। उ०—सुनत आइ ऋषि कुसहरे नरसिंह मंत्र पढ़ि भय भी के।—तुलसी।

अव्य० [हिं० ही०] (१) अवश्य। निश्चय करके। ज़रूर।

विशेष—इस अर्थ में इसका प्रयोग किसी एक पदार्थ या मनुष्य के साथ दूसरे पदार्थ या मनुष्य का निश्चयपूर्वक होना सूचित करता है। जैसे,—(क) तुम्हारे साथ मैं भी चलूँगा। (ख) वेतन के साथ भोजन भी मिलेगा। (ग) सज़ा के साथ जुरमाना भी होगा।

(२) अधिक। ज़्यादा। विशेष। जैसे,—इस पर सन्नाटा और भी आश्चर्यजनक है। (३) तक। लौं। उ०—मनुष्य की कौन कहे, जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पशु भी दिखलाई न देता था।—अयोध्यासिंह।

भीउँ*-संज्ञा पुं० [सं० भीम] युधिष्ठिर के छोटे भाई, भीमसेन। उ०—जैसे जरत लच्छ घर साहस कीन्हा भीउँ। जरत खंभ तस काढ़ो कै पुरुषारथ जीउँ।—जायसी।

भीक-वि० [सं०] डरा हुआ। भीत।

संज्ञा स्त्री० दे० "भीख"।

भीख-संज्ञा स्त्री० [सं० भिक्षा] (१) किसी दरिद्र का दीनता दिखाते हुए उदरपूर्त्ति के लिये कुछ माँगना। भिक्षा।

क्रि० प्र०—माँगना।

यौ०—भिखमंगा। भिखारी।

(२) वह धन या पदार्थ जो इस प्रकार माँगने पर दिया जाय। भिक्षा में दी हुई चीज़। ख़ैरात।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

भीखन*-वि० [सं० भीषण] भयानक। भयंकर। डरावना। उ०—एरी खनहुँ न सुख लखों दुख दै दुखद दिखाइ। भीखन भीखन लगत है तीखन तीख बनाइ।—रामसहाय।

भीखम*†-संज्ञा पुं० [सं० भीष्म] राजा शांतनु के पुत्र भीष्म पितामह।

वि० भयानक। डरावना।

भीगना-क्रि० अ० [सं० अभ्यंज] पानी या और किसी तरल पदार्थ के संयोग के कारण तर होना। आर्द्र होना। जैसे, वर्षा से कपड़े भीगना। पानी में दवा भीगना। उ०—गगरी भरत मोरी सारी भीगी, भीगी सुरख चुनरिया।—गीत।

मुहा०—भीगी बिल्ली होना=भय आदि के कारण दब जाना। बिलकुल चुप रहना।

भीचर-संज्ञा पुं० [डिं०] सुभट। वीर।

भीजना†-क्रि० अ० दे० "भींगना"।

भीट-संज्ञा पुं० [देश०] (१) ढूहवाली ज़मीन। टीलेदार भूमि। उभरी हुई पृथ्वी। (२) वह ऊँची भूमि जहाँ पान की खेती होती है। भीटा। (३) एक प्रकार की तौल जो प्रायः मन भर के बराबर होती है।

भीटन-संज्ञा स्त्री० दे० "भीटा"।

भीटा-संज्ञा पुं० [देश०] (१) आस पास की भूमि से कुछ उभरी हुई भूमि। ऊँची या टीलेदार ज़मीन। (२) वह बनाई हुई ऊँची और ढालुआँ ज़मीन जिस पर पान की खेती होती है और जो चारों ओर से छाजन या लताओं आदि से ढकी हुई होती है। वि० दे० "पान"।

भीड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिड़ना] (१) एक ही स्थान पर बहुत से आदमियों का जमाव। जन-समूह। आदमियों का झुंड। ठठ। जैसे,—(क) इस मेले में बहुत भीड़ होती है। (ख) रेल में बहुत भीड़ थी।

क्रि० प्र०—करना।—लगना।—लगाना।—होना।

मुहा०—भीड़ चीरना=जन-समूह को हटाकर जाने के लिये मार्ग बनाना। भीड़ छँटना=भीड़ के लोगों का इधर उधर हो जाना। भीड़ न रह जाना।

(२) संकट। आपत्ति। मुसीबत। जैसे,—जब तुम पर कोई भीड़ पड़े, तब मुझसे कहना।

क्रि० प्र०—कटना।—काटना।—पड़ना।

भीड़न–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़ना] मलने, लगाने या भरने की क्रिया।

भीड़ना*†–क्रि० स० [हिं० भिड़ाना] (१) मिलाना। लगाना। (२) मलना। उ०—करि गुलाल सों धुंधुरित सकल ग्वालिनी ग्वाल। रोरी भीड़न के सुमिस गोरी गहे गोपाल।—पद्माकर।

भीड़भड़क्का–संज्ञा पुं० [हिं० भीड़+भड़क्का अनु०] बहुत से आदमियों का समूह। भीड़-भाड़।

भीड़भाड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़+भाड़ अनु०] मनुष्यों का जमाव। जन-समूह। भीड़।

भीड़ा†–संज्ञा स्त्री० दे० "भीड़"।

वि० [हिं० भिड़ना] संकुचित। तंग। जैसे, भीड़ी गली। उ०—महंत जी ने कहा कि स्वामी, गली बहुत भीड़ी है। लोगों का आना जाना रुक गया।—श्रद्धाराम।

भीड़ी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भिंडी] भिंडी। रामतरोई। उ०—बनकोरा पिंडि मांची चीड़ी। सीप पिंडारू कोमल भीड़ी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़] जनसमूह। भीड़।

भीत–संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] (१) भित्तिका। दीवार।

मुहा०—भीत में दौड़ना=अपने सामर्थ्य से बाहर अथवा असंभव कार्य करना। उ०—बालि बली खरदूषन और अनेक गिरे जे जे भीत में दौरे।—तुलसी। भीत के बिना चित्र बनाना=बे सिर पैर की बात करना। बिना प्रमाण की बात करना। उ०—तात रिस करत भ्राता कहै मारिहौं भीति बिन चित्र तुम करत रेखा।—सूर।

(२) विभाग करनेवाला परदा। (३) चटाई। (४) छत। गच। (५) खंड। टुकड़ा। (६) स्थान। (७) दरार। (८) कोर। कसर। त्रुटि। (९) अवसर। अवकाश। मौक़ा।

वि० [सं०] [स्त्री० भीता] डरा हुआ। जिसे भय लगा हो। उ०—कनक गिरि शृंग चढ़ि देखि मर्कट कटक वदत मंदोदरी परम भीता।—तुलसी।

संज्ञा पुं० भय। डर।

भीतर–क्रि० वि० [?] अंदर। में। जैसे,—घर के भीतर, महीने भर के भीतर, सौ रुपए के भीतर। उ०—भरत मुनिहि मन भीतर भाए। सहित समाज राम पहँ आए।—तुलसी।

मुहा०—भीतर का कुआँ=वह उपयोगी पदार्थ जिससे कोई लाभ न उठा सके। अच्छी, पर किसी के काम न आ सकने योग्य चीज। उ०—सूरदास प्रभु तुम बिन जोबन घर भीतर को कूप।—सूर। भीतर पैठकर देखना=तत्व जानना। असलियत जाँचना।

संज्ञा पुं० (१) अंतःकरण। हृदय। जैसे,—जो बात भीतर से न उठे, वह न करनी चाहिए।

मुहा०—भीतर ही भीतर=मन ही मन। हृदय में।

(२) रनिवास। जनानखाना। उ०—अवधनाथ चाहत चलन भीतर करहु जनाउ। भये प्रेम बस सचिव सुनि विप्र सभासद राउ।—तुलसी

भीतरा†–वि० [हिं० भीतर] भीतर या ज़नानखाने में जानेवाला। स्त्रियों में आने जानेवाला।

भीतरि*–अव्य० दे० "भीतर"।

भीतरिया–संज्ञा पुं० [हिं० भीतर+इया (प्रत्य०)] (१) वह जो भीतर रहता हो। (२) वल्लभीय ठाकुरों के वे प्रधान पुजारी आदि जो मंदिर के भीतर मूर्त्ति के पास रहते हैं। (सब लोगों को मंदिर के भीतर जाने का अधिकार नहीं होता।)

वि० भीतरवाला। अंदर का। भीतरी।

भीतरी–वि० [हिं० भीतर+ई (प्रत्य०)] (१) भीतरवाला। अंदर का। जैसे,—भीतरी कमरा। भीतरी दरवाज़ा। (२) छिपा हुआ। गुप्त। जैसे,—भीतरी बात। भीतरी वैमनस्य।

भीतरी टाँग–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीतरी+टाँग] कुश्ती का एक पेंच। जब शत्रु पीठ पर रहता है, तब मौक़ा पाकर खिलाड़ी भीतर ही से टाँग मारकर विपक्षी को गिराता है। इसी को भीतरी टाँग कहते हैं।

भीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डर। भय। ख़ौफ़। उ०—बानरेंद्र तब यों हँसि बोल्यो। भीति भेद जिय को सब खोल्यो।—केशव। (२) कंप।

संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] दीवार।

भीतिकर–वि० [सं०] भयंकर। भयावना। डरावना।

भीतिकारी–वि० [सं०] भयानक। डरावना। भयावना। ख़ौफ़नाक।

भीती*†–संज्ञा स्त्री० [सं० भित्ति] दीवार। उ०—परम प्रेम मय मृदु मसि कीनी। चारु चित्त भीती लिखि लीनी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० भीति] डर। भय। उ०—चंद्र की दुति गई पहँ पीरी भई स्कुच नाहीं दई अति हि भीती।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की एक अनुचरी या मातृका का नाम।

भीन✻†-संज्ञा पुं० [हिं० बिहान] सवेरा। प्रातःकाल। उ०—काहू सों न कहो यह गहो मन माँझ एरी तेरी सौं सुनैगो जो पै आन रहै भीन है।—प्रियादास।

भीनना-क्रि० अ० [हिं० भीगना] भर जाना। समा जाना। पैवस्त हो जाना। जैसे,—(क) ज़हर रग रग में भीन गया है। (ख) कैसी भीनी भीनी खुशबू आ रही है। उ०—कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाइ है बाँसुरिया रँग भीनी।—रसखान।

भीम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भयानक रस। (२) शिव। (३) विष्णु। (४) अम्लबेत। (५) महादेव की आठ मूर्त्तियों के अंतर्गत एक मूर्त्ति। (६) एक गंधर्व का नाम। (७) पाँचों पांडवों में से एक जो वायु के संयोग से कुंती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। (जन्म कथा के लिये दे० "पांडु") ये युधिष्ठिर से छोटे और अर्जुन से बड़े थे। ये बहुत बड़े वीर और बलवान थे। कहते हैं कि जन्म के समय जब ये माता की गोद से गिरे थे, तब पत्थर टूटकर टुकड़े टुकड़े हो गया था। इनका और दुर्योधन का जन्म एक ही दिन हुआ था। इन्हें बहुत बलवान् देखकर दुर्योधन ने ईर्ष्या के कारण एक बार इन्हें विष खिला दिया था और इनके बेहोश हो जाने पर लताओं आदि से बाँधकर इन्हें जल में फेंक दिया था। जल में नागों के डसने के कारण इनका पहला विष उतर गया और नागराज ने इन्हें अमृत पिलाकर और इनमें दस हज़ार हाथियों का बल उत्पन्न कराके घर भेज दिया था। घर पहुँचकर इन्होंने दुर्योधन की दुष्टता का हाल सब से कहा। पर युधिष्ठिर ने इन्हें मना कर दिया कि यह बात किसी से मत कहना; और अपने प्राणों की रक्षा के लिये सदा बहुत सचेत रहना। इसके उपरांत फिर कई बार कर्ण और शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने इनकी हत्या करने का विचार किया, पर उसे सफलता न हुई। गदायुद्ध में भीम पारंगत थे। जब दुर्योधन ने जतुगृह में पांडवों को जलाना चाहा था, तब भीम ही पहले से समाचार पाकर माता और भाइयों को साथ लेकर वहाँ से हट गए थे। जंगल में जाने पर हिडिंब की बहन हिडिंबा इन पर आसक्त हो गई थी। उस समय इन्होंने हिडिंब को युद्ध में मार डाला था और भाई तथा माता की आज्ञा से हिडिंबा से विवाह कर लिया था। इसके गर्भ से इन्हें घटोत्कच नाम का एक पुत्र भी हुआ था। युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ के समय ये पूर्व और वंगदेश तक दिग्विजय के लिये गए थे और अनेक देशों तथा राजाओं पर विजयी हुए थे। जिस समय दुर्योधन ने जूए में द्रौपदी को जीतकर भरी सभा में उसका अपमान किया था, और उसे अपनी जाँघ पर बैठाना चाहा था, उस समय इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं दुर्योधन की यह जाँघ तोड़ डालूँगा और दुःशासन से लड़कर उसका रक्त पान करूँगा। वनवास में इन्होंने अनेक जंगली राक्षसों और असुरों को मारा था। अज्ञातवास के समय ये बल्लव नाम से सूपकार बनकर विराट के घर में रहे थे। जब कीचक ने द्रौपदी से छेड़छाड़ की थी, तब उसे भी इन्होंने मारा था। महाभारत युद्ध के समय कुरुक्षेत्र में इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया था। दुर्योधन के सब भाइयों को मारकर दुर्योधन की जाँघ तोड़ी थी और दुःशासन का रक्त पीया था। महाप्रस्थान के समय भी ये युधिष्ठिर के साथ थे और सहदेव, नकुल तथा अर्जुन तीनों के मर जाने के उपरांत इनकी मृत्यु हुई थी। भीमसेन। वृकोदर।

मुहा०—भीम के हाथी=भीमसेन के फेंके हुए हाथी। (कहा जाता है कि एक बार भीमसेन ने सात हाथी आकाश में फेंक दिये थे जो आज तक वायुमंडल में ही घूमते हैं, लौटकर पृथ्वी पर नहीं आए। इसका व्यवहार ऐसे पदार्थ या व्यक्ति के लिये होता है जो एक बार जाकर फिर न लौटे।) उ०—अब निज नैन अनाथ भये। मधुबन हुते माधव सजनी कहियत दूरि गये। मथुरा बसत हुती जिय आशा यह लागत व्यवहार। अब मन भयो भीम के हाथी सुपने अगम अपार।—सूर।

(८) विदर्भ के एक राजा जिन्हें दमन नामक ऋषि के वर से दम, दांत और दमन नामक तीन पुत्र तथा दमयंती नाम की कन्या हुई थी। (९) महर्षि विश्वामित्र के पूर्व पुरुष जो पुरूरवा के पौत्र थे। (१०) कुंभकर्ण के पुत्र का नाम जो रावण की सेना का एक सेनापति था।

वि० (१) भीषण। भयानक। भयंकर। (२) बहुत बड़ा।

भीमक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार के गण जो पार्वती के क्रोध से उत्पन्न हुए थे।

भीमकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] भीमसेन के पुत्र घटोत्कच।

भीमचंडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी का नाम।

भीमता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भीम या भयानक होने का भाव। भयंकरता। डरावनापन। उ०—कौन के तेज बलसीम भट भीम से भीमता निरखि करि नैन ढाँके।—तुलसी।

भीमतिथि-संज्ञा स्त्री० दे० "भीमसेनी एकादशी"।

भीमनाद-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। शेर।

भीमपलाशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक संकर रागिनी जिसके गाने का समय २१ दंड से २४ दंड तक है। यह धनाश्री और पूर्वी को मिलाकर बनाई गई है। इसमें गांधार, धैवत और निषाद तीनों स्वर कोमल और

बाकी शुद्ध लगते हैं। इसमें पंचम वादी और मध्यम संवादी होता है। कुछ लोग इसे श्रीराग की पुत्रवधू भी मानते हैं।

भीमबल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की अग्नि। (२) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

भीममुख–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बाण। (रामायण)

भीमर–संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध। समर।

भीमरथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक असुर जिसे विष्णु ने अपने कूर्म अवतार में मारा था। (२) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (३) विकृति के एक पुत्र का नाम।

भीमरथी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार सह्य पर्वत से निकली हुई एक नदी जिसमें स्नान करने का बहुत माहात्म्य है। (२) वैद्यक के अनुसार मनुष्य की वह अवस्था जो ७७ वें वर्ष के सातवें मास की सातवीं रात समाप्त होने पर होती है। कहते हैं कि मनुष्य के लिये यह रात बहुत कठिन होती है; और जो इसे पार कर जाता है, वह बहुत पुण्यात्मा होता है।

भीमरा–संज्ञा स्त्री० दे० "भीमा"। (नदी)

भीमराज–संज्ञा पुं० [सं० भृंगराज] एक प्रसिद्ध चिड़िया जो काले रंग की होती है। इसकी टाँगें छोटी और पंजे बड़े होते हैं और इसकी दुम में केवल १० पर होते हैं। यह प्रायः कीड़े मकोड़े खाती है और कभी कभी बड़ी चिड़ियों पर भी आक्रमण करती है। यह बहुत लड़ाकी होती है और छोटी छोटी चिड़ियों को, जिन्हें पकड़ सकती है, निगल जाती है। यह बोली की नक़ल करना बहुत अच्छा जानती है और अनेक पशुओं तथा मनुष्य की बोली बोल सकती है। इसकी स्वाभाविक बोली भी बहुत सुन्दर होती है। यह अपना घोंसला खुले हुए स्थानों में बनाती है। इसके अंडों पर लाल वा गुलाबी धब्बे होते हैं।

भीमरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार सत्यभामा के गर्भ से उत्पन्न श्रीकृष्ण की एक कन्या।

भीमसेन–संज्ञा पुं० [सं०] युधिष्ठिर के छोटे भाई भीम। वि० दे० "भीम"।

भीमसेनी–संज्ञा पुं० [हिं० भीमसेन+ई (प्रत्य०)] भीमसेनी कपूर। बरास। वि० दे० "कपूर"।

वि० भीमसेन संबंधी। भीमसेन का। जैसे, भीमसेनी एकादशी।

भीमसेनी एकादशी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीमसेनी+एकादशी] (१) ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी। निर्जला एकादशी। (२) माघ शुक्ला एकादशी।

भीमसेनी कपूर–संज्ञा पुं० दे० "कपूर"।

भीमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोचन नाम का गंध द्रव्य। (२) कोड़ा। चाबुक। (३) दक्षिण भारत की एक नदी जो पश्चिमी घाट से निकलकर कृष्णा नदी में मिलती है। (४) दुर्गा।

वि० स्त्री० भयंकर। भीषण।

भीमू–संज्ञा पुं० [डिं०] भीमसेन।

भीमोत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] कुम्हड़ा।

भीमोदरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

भीम्राथली–संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों की एक जाति। उ०—जाबानी पर्वती चीनिया भोटी बह्ला देशी। भवरी भीम्राथली काठिया मारवाड़ मधि देशी।—रघुराज।

भीर*–संज्ञा स्त्री० [हिं० भीड़] (१) दे० "भीड़"। (२) कष्ट। दुःख। तकलीफ़। (३) संकट। विपत्ति। आफ़त। उ०—(क) जब जब भीर परत संतन पर तब तब होत सहाई। (ख) भीर बाँह पीर की निपट राखी महावीर कान के सकोच तुलसी के सोच भारी।—तुलसी। (ग) अपर नरेश करै कोउ भीरा। बेगि जनाउब धर्मज तीरा।—सबल।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।

* वि० [सं० भीरु] (१) डरा हुआ। भयभीत। उ०—वामदेव राम को सुभाव सील जानि जिय नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं।—तुलसी। (२) डरपोक। डरनेवाला। कायर। साहसहीन। उ०—नृपहिं प्रान प्रिय तुम रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा।—तुलसी।

भीरना*–क्रि० अ० [सं० भी या हिं० भीरु] डरना। भयभीत होना। उ०—सुनो एक बात सुन लिया लै करौ तगात चोरें धीरें भीरे नाहिं पीछे उन भाषिए।—प्रियादास।

भीरा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जो मध्य भारत तथा दक्षिण भारत में होता है। इसकी लकड़ियों से शहतीर बनते हैं और इसमें से गोंद, रंग और तेल निकलता है।

संज्ञा स्त्री० दे० "भीर" या "भीड़"।

वि० [सं० भीरु] डरपोक। कायर।

भीरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] अरहर का डाल।

भीरु–वि० [सं०] डरपोक। कायर। कादर। बुज़दिल।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शतावरी। (२) कंटकारी। भटकटैया। (३) बकरी। (४) छाया।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृगाल। सियार। गीदड़। (२) व्याघ्र। बाघ। (३) ऊख की एक जाति।

भीरुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बन। जंगल। (२) उल्लू। (३) एक प्रकार की ईख। (४) चाँदी।

वि० डरपोक। कायर।

भीरुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) डरपोकपन। कायरता। बुज़दिली। (२) डर। भय।

भीरुताई*–संज्ञा स्त्री० दे० "भीरुता"।

भीरुपत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] शतमूली।

भीरुहृदय–संज्ञा पुं० [सं०] हिरन।

भीरू–वि० "भीरु"।

संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री। (डिं०)

भीरे*†–क्रि० वि० [हिं० भिड़ना] समीप। नज़दीक। पास।

भील–संज्ञा पुं० [सं० भिल] [स्त्री० भीलनी] एक प्रसिद्ध जंगली जाति जो बहुत प्राचीन काल से राजपूताने, सिंध और मध्य भारत के जंगलों और पहाड़ों में पाई जाती है। इस जाति के लोग बहुत वीर और तीर चलाने में सिद्धहस्त होते हैं। ये क्रूर, भीषण और अत्याचारी होने पर भी सीधे, सच्चे और स्वामिभक्त होते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि ये भारत के आदिम निवासी हैं। पुराणों में इन्हें ब्राह्मणी कन्या और तीवर पुरुष से उत्पन्न संकर माना गया है। उ०—चौदह बरष पाछे आए रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आए प्रभु देखिये।—प्रि० दा०।

संज्ञा स्त्री० [देश०] ताल की वह सूखी मिट्टी जो प्रायः पपड़ी के रूप में हो जाती है।

भीलभूषण–संज्ञा स्त्री० [सं०] गुंजा। घुँघची।

भीलु–वि० [सं०] भीरु। डरपोक।

भीलुक–संज्ञा पुं० [सं०] भालू।

वि० भीरु। डरपोक।

भीव*–संज्ञा पुं० [सं० भीम] भीमसेन। उ०—कुंभकरन की खोपड़ी बूड़त बाँचा भीव।—जायसी।

भीष–संज्ञा स्त्री० [सं० भिक्षा] भीख। ख़ैरात।

भीषक–वि [सं०] भीषण। भयंकर।

भीषज*†–संज्ञा पुं० [सं० भेषज] वैद्य। चिकित्सक।

भीषण–वि० [सं०] (१) जो देखने में बहुत भयानक हो। भयानक। डरावना। (२) जो बहुत उग्र या दुष्ट हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भयानक रस। (साहित्य) (२) कुँदरू। (३) कबूतर। (४) एक प्रकार का तालवृक्ष। (५) शिव। महादेव। (६) सलई। (७) ब्रह्मा।

भीषणता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भीषण होने का भाव। डरावनापन। भयंकरता।

भीषणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता की एक सखी का नाम। उ०—श्री भूलीला कांति कृपा योगी ईशाना। उत्कृष्णा भीषनी चंद्रिका क्रूरा ज्ञाना।—प्रियादास।

भीषन*–वि० दे० "भीषण"।

भीषम*–संज्ञा पुं० दे० "भीष्म"।

भीष्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भयानक रस। (साहित्य) (२) शिव। महादेव। (३) राक्षस। (४) राजा शांतनु के पुत्र जो गंगा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। देवव्रत। गांगेय।

विशेष—कहते हैं कि कुरु देश के राजा शांतनु से गंगा ने इस शर्त पर विवाह किया था कि मैं जो चाहूँगी, वही करूँगी। शांतनु से गंगा को सात पुत्र हुए थे। उन सबको गंगा ने जनमते ही जल में फेंक दिया था। जब आठवाँ पुत्र यही देवव्रत उत्पन्न हुआ था, तब शांतनु ने गंगा को उसे जल में फेंकने से मना किया। गंगा ने कहा—"महाराज, आपने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, अतः मैं जाती हूँ। मैंने देवकार्य की सिद्धि के लिये आपसे सहवास किया था। आप इस पुत्र को अपने पास रखें। यह बहुत वीर, धर्मात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ होगा और आजन्म ब्रह्मचारी रहेगा।" गंगा के चले जाने पर कुछ दिनों बाद राजा शांतनु सत्यवती या योजनगंधा नाम की एक धीवर कन्या पर आसक्त हुए। पर धीवर ने कहा कि मेरी कन्या के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही राज्य का अधिकारी होना चाहिए, भीष्म या उसकी संतान नहीं। इस पर देवव्रत ने यह भीष्म प्रतिज्ञा की कि मैं स्वयं राज्य नहीं लूँगा और न आजन्म विवाह ही करूँगा। इसी भीषण प्रतिज्ञा के कारण उनका नाम भीष्म पड़ा। शांतनु को उस धीवर कन्या से चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। शांतनु के उपरांत चित्रांगद को राज्य मिला; और चित्रांगद के एक गंधर्व द्वारा मारे जाने पर विचित्रवीर्य राजा हुए। एक बार काशीराज की स्वयंवर-सभा में से देवव्रत अंबा, अंबिका और अंबालिका नाम की तीन कन्याओं को उठा लाए थे और उनमें से अंबा तथा अंबालिका का विचित्रवीर्य से विवाह कर दिया था। विचित्रवीर्य के निःसंतान मर जाने पर सत्यवती ने देवव्रत से कहा कि तुम विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग करके संतान उत्पन्न करो। पर देवव्रत ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का जो व्रत किया था, उसे उन्होंने नहीं तोड़ा। अंत में वेदव्यास से नियोग कराके अंबिका और अंबालिका से धृतराष्ट्र और पांडु नामक दो पुत्र उत्पन्न कराए गए। महाभारत युद्ध के समय देवव्रत ने कौरवों का पक्ष लेकर दस दिन तक बहुत ही वीरतापूर्वक भीषण युद्ध किया था; और अंत में अर्जुन के हाथों घायल होकर शर-शय्या पर पड़ गए थे। युद्ध समाप्त होने पर इन्होंने युधिष्ठिर को बहुत अच्छे अच्छे उपदेश दिए थे जिनका उल्लेख महाभारत के शांतिपर्व में है। माघ शुक्ला अष्टमी को सूर्य्य के उत्तरायण होने पर ये अपनी इच्छा से मरे थे।

(५) दे० "भीष्मक"।

वि० भीषण। भयंकर।

भीष्मक–संज्ञा पुं० [सं०] विदर्भ देश के एक राजा जो रुक्मिणी के पिता थे।

भीष्मकसुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रीकृष्ण की स्त्री रुक्मिणी।

भीष्मपंचक–संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिक शुक्ला एकादशी से पंचमी तक के पाँच दिन। इन पाँच दिनों में लोग प्रायः व्रत रखते हैं।

भीष्मपितामह–संज्ञा पुं० दे० "भीष्म"।

भीष्ममणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के उत्तर में होनेवाला एक प्रकार का सफ़ेद रंग का पत्थर या मणि जिसका धारण करना बहुत शुभ समझा जाता है।

भीष्मसू–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भीष्मस्वरराज–संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

भीष्माष्टमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ल अष्टमी, जिस दिन भीष्म ने प्राण त्यागे थे। इस दिन भीष्म के नाम का तर्पण और दान आदि करने का विधान है।

भीसम*–संज्ञा पुं० दे० "भीष्म"।

भुँइ*–संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथिवी। भूमि। उ०—अति अनीति कुरीति भइ भुइँ तरनि हूँ ते ताति। जाउँ कहँ बलि जाउँ कहूँ न ठाउँ मति अकुलाति।—तुलसी।

भुँइधरा–संज्ञा पुं० दे० "भुँइहरा"।

भुँइफोर–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+फोड़ना] एक प्रकार की खुंभी जो बरसात के दिनों में बाँबी के आस पास निकलती है। यह तरकारी के काम आती है। गरजुआ।

भुँइहरा–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+घर] (१) वह स्थान जो भूमि के नीचे खोदकर बनाया गया हो। उ०—अस कहि बैठे भुँइहरा माहीं। कियो समाधि तीन दिन काहीं।—रघुराज। (२) पृथ्वी के नीचे बना हुआ कमरा। तहखाना।

भुँगाल–संज्ञा पुं० [अनु०] तुरुही या भोंपा जिसके द्वारा सैनिक नातों पर अध्यक्ष अपनी आज्ञा की घोषणा करता है। (लश०)

भुँजना†–क्रि० अ० [हिं० भुनना] (१) भूनने का अकर्मक रूप। भूना जाना। (२) झुलसना।

भुँजवा‡–संज्ञा पुं० [हिं० भूजना] भड़भूँजा।

भुंटा†–संज्ञा पुं० दे० "भुट्टा"।

भुंडली–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूरा या भुंडा] एक कीड़ा जिसे भिल्ला भी कहते हैं। इसके शरीर पर बाल होते हैं जो स्पर्श होने की दशा में शरीर में चुभ जाते हैं और खुजलाहट उत्पन्न करते हैं। कमला। सूँडी।

भुंडा–वि० [सं० रुंड का अनु०] [स्त्री० भुंडी] बिना सींग का। जिसके सींग न हों। (पशु)

भुंडी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भुंडा] एक छोटी मछली जिसके मूँछें नहीं होतीं। यह गिरई की जाति की होती है। गँवारों की धारणा है कि इसके खाने से खानेवालों को मूँछें नहीं निकलतीं।

भुअंग*†–संज्ञा पुं० [सं० भुजंग] [स्त्री० भुअगिन] साँप। सर्प। उ०—(क) बिरह भुअंगहि तन डसा मंत्र न लागै कोय। बिरह बियोगी क्यों जिये जिये तो बौरा होय।—कबीर। (ख) सोइ बसुधातल सुधा तरंगिनि। भय भंजिनि भ्रम भेक भुअंगिनि।—तुलसी। (ग) कहा कृपण की माया कितनी करत फिरत अपनी अपनी। खाइ न सकै खरच नहिं जानै ज्यों भुअंग सिर रहत मनी।—सूर।

भुअंगम*–संज्ञा पुं० [सं० भुजगम्] साँप। उ०—माई री मोहिं डस्यो भुअंगम करो।—सूर।

भुअन*–संज्ञा पुं० दे० "भुवन"।

भुआ‡–संज्ञा पुं० [सं० बहु वा भूय अथवा धूक प्रा० धूअ] सेमर आदि की रूई जो फल के भीतर भरी रहती है और डोडे के सूखने पर बाहर निकलती है।

भुआर*–संज्ञा पुं० दे० "भुआल"।

भुआल*–संज्ञा पुं० [सं० भूपाल, प्रा० भुआल] राजा। उ०—बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीन दयाल तनु तृन इव जिन परिहरेउ।—तुलसी।

भुइँ*–संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] भूमि। पृथ्वी। उ०—विपति बीज वर्षा रितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी।—तुलसी।

मुहा०—भुइँ लाना=झुकाना। उ०—कुंडल गहे सीस भुइँ लावा। पावँर सुअन जहाँ वै पावा।—जायसी।

भुइँआँवला–संज्ञा पुं० [सं० भूम्यामलक] एक घास का नाम जो बरसात में ठंढे स्थान में प्रायः घरों के आस पास होती है। इसकी पत्तियाँ छोटी छोटी एक सींके में दोनों ओर होती हैं और इन्हीं सींके में पत्तियों की जड़ों में सरसों के बराबर छोटे छोटे फूलों की कोठियाँ लगती हैं जिनके फूल फूलने पर इतने छोटे होते हैं कि उनकी पँखड़ियाँ स्पष्ट नहीं दिखाई देतीं। इसके फूलों के झड़ जाने पर राई के बराबर छोटा फल लगता है। यह घास औषधि के काम में आती है। वैद्यक में इसका स्वाद कड़वा, कसैला और मधुर तथा प्रकृति शीतल और गुण खाँसी, रक्तपित्त, कफ और पांडु रोग का नाशक लिखा है। यह वातकारक और दाहनाशक है। भद्र आँवला।

पर्या०—भूम्यामली। शिवा। ताली। क्षेत्रमली। झारिका। भद्रामलकी।

भुइँकाँड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+कंद] एक घास जिसकी पत्तियाँ लहसुन की पत्तियों से चौड़ी होती हैं और जिसकी जड़ में प्याज की तरह गोल गाँठें पड़ती हैं। यह समुद्र के किनारे वा जलाशयों के पास होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। इसके फूल लंबे होते हैं और बीच की एक डंडी के ऊपर सिरे पर गुच्छे में लगते हैं। इसे सफ़ेद खस भी कहते हैं।

भुइँडोल–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+डोलना] भूकंप। भूचाल।

भुइँतरवर–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ तरुवर] सनाय की जाति का एक पेड़ जिसकी पत्तियाँ सनाय के नाम से बाज़ारों में

दिकती हैं। इसका प्रयोग सनाय के स्थान में होता है। इसका पेड़ चकवँड़ से मिलता जुलता होता है।

भुइँदग्धा–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+दग्ध] (१) वह कर जो भूमि पर चिता जलाने के लिये मृतक के संबंधियों से लिया जाता है। मसान का कर। (२) वह कर जो भूमि का मालिक किसी व्यवसायी से व्यवसाय करने के लिये ले।

भुइँधरा–संज्ञा पुं० [हिं० भुइँ+धरना] आवाँ लगाने की वह रीति वा ढंग जिसके अनुसार बिना गड्ढा खोदे ही भूमि पर बरतनों वा अन्य पकाने की चीज़ों को रखकर आग सुलगा देते हैं।

भुइँनास–संज्ञा पुं० [सं० भून्यास] (१) किसी वस्तु के एक छोर को भूमि में इस प्रकार दबाकर जमाना कि उसका कुछ अंश पृथ्वी के भीतर गड़ जाय।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

(२) किवाड़ों की वह सिटकिनी जो नीचे की ओर पत्थर के गड्ढे में बैठती है। (३) अनार। (४) एक छोटा पौधा जो बिना जड़ का होता और जो खेतों में प्रायः उगता है।

भुइँहार–संज्ञा पुं० [सं० भूमि+हार] (१) मिरज़ापुर जिले के दक्षिण भाग में रहनेवाली एक अनार्य जाति। (२) दे० "भूमिहार"।

भुई–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूआ] एक कीड़ा जिसे सिला भी कहते हैं। इसके शरीर पर लंबे लंबे बाल होते हैं जो छू जाने पर शरीर में गड़ जाते और खुजलाहट उत्पन्न करते हैं। कमला। सुइली।

भुक*–संज्ञा पुं० [सं० भुज्] (१) भोजन। खाद्य। आहार। उ०—ए गुसाइँ तूँ ऐस बिधाता। जावँत जीव सबन्ह भुक दाता।—जायसी। (२) अग्नि। आग। उ०—अस कहि भे भुक अंतर्द्धाना। सुनि समाज सकलौ सुख माना।—विश्राम।

भुक्खड़–वि० [हिं० भूख+अड़ (प्रत्य०)] (१) जिसे भूख लगी हो। भूखा। (२) वह जो बहुत खाता हो और जिसे प्रायः भूख लगी रहती हो। पेटू। (३) दरिद्र। कंगाल।

भुक्त–वि० [सं०] (१) जो खाया गया हो। भक्षित। (२) भोगा हुआ। उपभुक्त।

भुक्तशेष–संज्ञा पुं० [सं०] खाने से बचा हुआ। उच्छिष्ट। जूठा।

भुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भोजन। आहार। (२) विषयोपभोग। लौकिक सुख। (३) धर्म्मशास्त्रानुसार चार प्रकार के प्रमाणों में से एक। क़ब्ज़ा। दखल। (४) ग्रहों का किसी राशि में एक एक अंश करके गमन वा भोग।

भुक्तिपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] भोजन का पात्र। खाने का बरतन।

भुक्तिप्रद–वि० [सं०] [स्त्री० भुक्तिप्रदा] भोग देनेवाला। भोगदाता। संज्ञा पुं० मूँग।

भुखमरा–वि० [हिं० भूख+मरना] (१) जो भूखों मरता हो। मरभुक्खा। भुक्खड़। (२) जो खाने के पीछे मरा जाता हो। पेटू।

भुखाना‡–क्रि० अ० [हिं० भूख] भूख से पीड़ित होना। भूखा होना। क्षुधित होना। उ०—सुनहु एक दिन एक ठिकाने। गये पशावन सखा भुखाने।—विश्राम।

भुखालू–वि० [हिं० भूख+आलू (प्रत्य०)] जिसे भूख लगी हो। भूखा। उ०—तो भी भुखालू और गुस्सैल है।—गंगाप्रबंध।

भुगत*†–संज्ञा स्त्री० दे० "भुक्ति"।

भुगतना–क्रि० स० [सं० भुक्ति] सहना। झेलना। भोगना। उ०—(ख) देह धरे का दंड है सब काहू को होय। ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि अज्ञानी भुगते रोय।—कबीर। (ख) हम तौ पाप कियो भुगतै को। पुण्य प्रगट क्यों निठुर दियो री। सूरदास प्रभु रूप सुधानिधि पुट थोरो विधि नहीं दियो री।—सूर। (ग) पहले हौं भुगतौं जो पाप। तनु धरि कै सहिहौं संताप।—लल्लू। (घ) और तो लोग दुखी अपने दुख में भुगत्यों जग क्लेश अपार।—निश्चल।

विशेष—इस क्रिया का प्रयोग 'अनिष्ट' भोग के सहने में होता है। जैसे, सज़ा भुगतना। दुःख भुगतना।

संयो० क्रि०—लेना।

मुहा०—भुगत लेना=समझ लेना। निपट लेना। जैसे,—आप चिंता न करें; मैं उनसे भुगत लूँगा।

क्रि० अ० (१) पूरा होना। निबटना। जैसे, देन का भुगतना। काम का भुगतना। (२) बीतना। चुकना। जैसे, दिन भुगतना।

भुगतान–संज्ञा पुं० [हिं० भुगतना] (१) निपटारा। फ़ैसला। (२) मूल्य या देन चुकाना। बेबाक़ी। जैसे, हुंडी का भुगतान। कपड़े का भुगतना। (३) देना। देन।

भुगताना–क्रि० स० [हिं० भुगतना का स० रूप] (१) भुगतने का सकर्मक रूप। पूरा करना। संपादन करना। उ०—घाम धूम नीर औ समीर मिले पाई देह, ऐसो घन कैसे दूत काज भुगतावैगो।—लक्ष्मण सिंह। (२) बिताना। लगाना। जैसे,—ज़रा से काम में सारा दिन भुगता दिया। (३) चुकाना। देना। बेबाक करना। जैसे, हुंडी भुगताना। (४) भुगतना का प्रेरणार्थक रूप। दूसरे को भुगतने में प्रवृत्त करना। झेलाना। भोग कराना। (५) दुःख देना। दुःख सहने के लिये बाध्य करना।

भुगाना–क्रि० स० [हिं० भोगना का प्रे० रूप] भोगना का प्रेरणार्थक रूप। भोग कराना।

भुगुति*–संज्ञा स्त्री० दे० "भुक्ति"।

भुग्न–वि० [सं०] (१) टेढ़ा। वक्र। (२) रोगी। रुग्ण। बीमार।

भुग्ननेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात जिसमें रोगी

की आँखें टेढ़ी हो जाती हैं। इस रोग में रोगी का ज्वर अधिक बढ़ जाता है, उन्माद के कारण वह बकझक करता है और उसके अवयवों में सूजन आ जाती है। यह असाध्य रोग है और इसकी अवधि शास्त्रों में आठ दिन कही गई है।

भुच्चड़-वि० [हिं० भूत+चढ़ना] जो समझाने पर भी न समझता हो। मूर्ख। बेवकूफ़।

भुजंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) स्त्री का यार। जार। (३) राजा का एक पार्श्ववर्ती अनुचर। (४) सीसा नामक धातु।

भुजंगघातिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकोली।

भुजंगजिह्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महासमंगा। कँगहिया।

भुजंगदमनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाकुली कंद।

भुजंगपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदमनी।

भुजंगपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक फूल के पेड़ का नाम। (२) सुश्रुत के अनुसार एक क्षुप का नाम।

भुजंगप्रयात-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं, जिनमें पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ वर्ण लघु और शेष गुरु होते हैं; अथवा प्रत्येक चरण चार यगण का होता है। उ०—कहूँ शोभना दुंदभी दीह बाजैं। कहूँ भीम भंकार कर्नाल साजैं। कहूँ सुंदरी बेनु बीना बजावैं। कहूँ किन्नरी किन्नरी लय सुनावैं।

भुजंगभुज्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़ (२) मयूर।

भुजंगभोजी-संज्ञा पुं० [सं० भुजंगभोजिन्] [स्त्री० भुजंगभोजिनी] (१) गरुड़। (२) मयूर। मोर।

भुजंगम-संज्ञा पुं० [सं० भुजंगम्] (१) साँप। (२) सीसा।

भुजंगविजृंभित-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में २६ वर्ण इस क्रम से होते हैं—आदि में दो मगण, फिर एक तगण, तीन नगण, फिर रगण, सगण और अंत में एक लघु और एक गुरु।

भुजंगसंगता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नौ नौ वर्ण होते हैं, जिनमें पहले सगण, मध्य में जगण और अंत में रगण होता है।

भुजंगा-संज्ञा पुं० [हिं० भुजंग] (१) काले रंग का एक पक्षी जिसकी लंबाई प्रायः डेढ़ बालिश्त होती है। यह कीड़े मकोड़े खाता है और बड़ा ढीठ होता है। यह भारत, चीन और स्याम देश में पाया जाता है। यह प्रातःकाल बोलता है और इसकी बोली सुहावनी लगती है। यह एक बार में चार अंडे देता है। इसकी अनेक अवांतर उपजातियाँ होती हैं; जैसे, केशराज, कृष्णराज इत्यादि। भुजैटा। कोतवाल। (२) दे० "भुजंग"।

भुजंगाक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना।

भुजंगाख्य-संज्ञा पुं० [सं०] नागकेसर।

भुजंगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोपाल नामक छंद का दूसरा नाम। (२) साँपिन। नागिन।

भुजंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साँपिन। नागिन। (२) एक वर्णिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण होते हैं जिनमें पहले तीन यगण आते हैं और अंत में एक लघु और एक गुरु रहता है।

भुजंगेरित-संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद का नाम।

भुजंगेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासुकि। (२) शेष। (३) पिंगल मुनि का नाम। (४) पतंजलि का एक नाम।

भुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाहु। बाँह।

मुहा०—भुज में भरना=आलिंगन करना। अंक भरना। गले लगाना। उ०—कहा बात कहि पियहि जगाऊँ। कैसे भुज भरि कंठ लगाऊँ।

(२) हाथ। (३) हाथी का सूँड़। (४) शाखा। डाली। (५) प्रांत। किनारा। मेंड़। (६) लपेट। फेंटा। (७) ज्यामिति वा रेखागणित के अनुसार किसी क्षेत्र का किनारा वा किनारे की रेखा।

यौ०—द्विभुज। त्रिभुज। चतुर्भुज इत्यादि।

(८) त्रिभुज का आधार। (९) छाया का मूल वा आधार। (१०) समकोणों का पूरक कोण। (११) दो की संख्या का बोधक शब्द-संकेत। (१२) ज्योतिषशास्त्र के अनुसार तीन राशियों के अंतर्गत ग्रहों की स्थिति वा खगोल का वह अंश जो तीन राशि से कम हो।

भुजकोटर-संज्ञा पुं० [सं०] बगल। काँख।

भुजग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) अश्लेषा नक्षत्र। (३) सीसा।

भुजगनिसृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नौ अक्षर होते हैं जिनमें छठा, आठवाँ और नवाँ अक्षर गुरु और शेष लघु होते हैं।

भुजगपति-संज्ञा पुं० [सं०] वासुकि। अनंत।

भुजगपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का फूल। (२) इस फूल का पौधा।

भुजगशिशुभृता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नौ अक्षर होते हैं जिनमें पहले दो नगण और अंत में एक मगण होता है। इसे भुजगशिशुसुता भी कहते हैं।

भुजगेंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] शेष। वासुकि।

भुजगेश, भुजगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] भुजगेंद्र। वासुकी।

भुजज्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिकोणमिति के अनुसार भुज की ज्या।

भुजदंड-संज्ञा पुं० [सं०] बाहुदंड।

भुजपाश-संज्ञा पुं० [सं०] गलबाँहीं। गले में हाथ डालना।

भुजप्रतिभुज-संज्ञा पुं० [सं०] सरल क्षेत्र की समानांतर या आमने सामने की भुजाएँ।

भुजबंद-संज्ञा पुं० [सं० भुजबंध] (१) दे० "भुजबंध"। (२) बाजूबंद। उ०—टाँड भुजबंद चूड़ा वलयादि भूषित, ज्यों देखि देखि दुरहुर इंद्र निदरत हैं।—हनुमान।

भुजबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंगद (२)। भुजवेष्ठन।

भुजबल-संज्ञा पुं० [हिं० भुज+बल] शालिहोत्र के अनुसार एक भौंरी जो घोड़े के अगले पैर में ऊपर की ओर होती है। लोगों का विश्वास है कि जिस घोड़े को यह भौंरी होती है, वह अधिक बलवान होता है।

भुजबाथ*-संज्ञा पुं० [हिं० भुज+बाधना] अँकवार। उ०—दृग मींचत मृगलोचनी भरेउ उलटि भुजबाथ। जान गई तिय नाथ को हाथ परस ही हाथ।—बिहारी।

भुजमूल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) खवा। पक्खा। मोढ़ा। (२) काँख।

भुजवा†-संज्ञा पुं० [हिं० भूनना] भड़भूँजा। उ०—भुजवा पढ़े कवित्त जीव दया धीमर जरावै।—बैताल।

भुजशिखर-संज्ञा पुं० [सं०] कंधा।

भुजशिर-संज्ञा पुं० [सं०] कंधा।

भुजांतर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोड़। गोद। (२) वक्ष। छाती। (३) दो भुजाओं का अंतर।

भुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बाँह। हाथ।

मुहा०—भुजा उठाना=प्रतिज्ञा करना। प्रण करना। उ०—चल न ब्रह्मकुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।—तुलसी। भुजा टेकना=प्रतिज्ञा करना। प्रण करना। उ०—भुजा टेकि कै पंडित बोला। छाड़हि देस बचन जो डोला।—जायसी।

भुजाना†-क्रि० स० दे० "भुनाना"।

भुजाली-संज्ञा स्त्री० [हिं० भुज+आली (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार की बड़ी टेढ़ी छुरी जिसका व्यवहार प्रायः नेपाली आदि करते हैं। इसे कुकरी या खुखरी भी कहते हैं। (२) छोटी बरछी।

भुजाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथ।

भुजादल-संज्ञा पुं० [सं०] करपल्लव।

भुजामूल-संज्ञा पुं० [सं०] कंधे का वह अगला भाग जहाँ हाथ और कंधे का जोड़ होता है। बाहुमूल।

भुजिया†-संज्ञा पुं० [हिं० भूजना=भूनना] (१) उबाला हुआ धान।

क्रि० प्र०—करना।—बैठाना।

(२) उबाले हुए धान का चावल। वि० दे० "धान" और "चावल"।

भुजिष्य-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भुजिष्या] दास। सेवक।

भुजिष्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दासी। (२) गणिका। वेश्या।

भुजेना†-संज्ञा पुं० [हिं० भूजना] भूना हुआ दाना। चबैना। भूना।

भुजैल-संज्ञा पुं० [सं० भुजंग] भुजंगा नामक पक्षी। उ०—भँवर पतंग जरे औ नागा। कोकिल भुजैल औ सब कागा।—जायसी।

भुजौना†*-संज्ञा पुं० [हिं० भूजना] (१) भुना हुआ अन्न। भूना। भूजा। भुजैना। उ०—फेर फेर तन कीन भुजौना। औटि रकत रँग हिरदे औना।—जायसी। (२) वह धन या अन्न जो भूनने के बदले में दिया जाय। भूनने की मज़दूरी। (३) वह धन जो रुपया या नोट आदि भुनाने के बदले में दिया जाय।

भुज्यु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भाजन। पात्र। (२) अग्नि। (३) वैदिक काल के एक राजा का नाम। यह तुग्र का पुत्र था और अश्विनी ने इसे समुद्र में डूबने से बचाया था।

भुटेया-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की धारी जो डोरिए और चारखाने के बुनने में डाली जाती है। (जुलाहे)

भुट्टा-संज्ञा पुं० [सं० भृष्ट प्रा० भुट्टो] (१) मक्के की हरी बाल। वि० दे० "मक्का"। (२) जुआर वा बाजरे की बाल। उ०—श्रीकृष्णचंद्र ने तिरछा कर एक हाथ ऐसा मारा कि उसका सिर भुट्टा सा उड़ गया।—लल्लू। (३) गुच्छा। घौद। उ०—कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं।—शिवप्रसाद।

भुठार-संज्ञा पुं० [हिं० भूड़] वह घोड़ा जो ऐसे प्रदेश में उत्पन्न हुआ हो जहाँ की भूमि बलुई वा रेतीली हो।

भुठौर-संज्ञा पुं० [हिं० भूड+ठौर] घोड़ों की एक जाति जो गुजरात आदि मरुस्थल देशों में होती है। उ०—मुराकी औ हिरमिजी इराकी। तुरकी कंगी भुठौर बुलाकी।—जायसी।

भुडली-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का फूल।

भुड़ारी-संज्ञा पुं० [हिं० भू+डालना] वह अन्न जो राशि के दाने पर बाल में डंठल के साथ लगा रहता है। लिङ्गुरी। दोबरी। पकूटी। चित्ती।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः रबी की फ़सल के लिये होता है।

भुन-संज्ञा पुं० [अनु०] मक्खी आदि का शब्द। अव्यक्त गुंजार का शब्द।

मुहा०—भुनभुन करना=कुढ़कर अस्पष्ट स्वर में कुछ कहना।

भुनगा-संज्ञा पुं० [अनु०] [स्त्री० भुनगी] (१) एक छोटा उड़नेवाला कीड़ा जो प्रायः फूलों और फलों में रहता है और शिशिर ऋतु में प्रायः उड़ता रहता है। (२) कोई उड़नेवाला छोटा कीड़ा। पतिंगा। (३) बहुत ही तुच्छ या निर्बल मनुष्य।

भुनगी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भुनगा] एक छोटा कीड़ा जो ईख के पौधों को हानि पहुँचाता है।

भुनना-क्रि० अ० [हिं० भूनना] (१) भूनने का अकर्मक रूप।

भूना जाना । (२) आग की गरमी से पककर लाल होना । पकना । जैसे, कबाब का भुनना ।

क्रि० अ० [सं० भंजन] भुनाने का अकर्मक रूप । रुपए आदि के बदले में अठन्नी, चवन्नी आदि का मिलना । अवयवी का अवयव में विभाजित वा परिणत होना । बड़े सिक्के आदि का छोटे छोटे सिक्कों में बदला जाना ।

भुनभुनाना-क्रि० अ० [अनु०] (१) भुन भुन शब्द करना । (२) किसी विरोधी वा प्रतिकूल दबाव में पड़कर मुँह से अव्यक्त शब्द निकालना । मन ही मन कुढ़कर अस्पष्ट स्वर में कुछ कहना । बड़बड़ाना ।

भुनाना-क्रि० स० [हिं० भूनना] भूनने का प्रेरणार्थक रूप । दूसरे को भूनने के लिये प्रेरणा करना ।

क्रि० स० [सं० भंजन] रुपए आदि को अठन्नी, चवन्नी आदि में परिणत कराना । बड़े सिक्के आदि को छोटे सिक्कों आदि से बदलना । उ०—जो इक रतन भुनावै कोई । करै सोई जो मन सहँ होई ।—जायसी ।

भुनुगा-संज्ञा पुं० दे० "भुनगा" ।

भुवि*-संज्ञा स्त्री० [सं० भू शब्द का सप्तमी एकवचन रूप भुवि] पृथ्वी । भूमि । उ०—जो जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई । तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ।—तुलसी ।

भुमिया†-संज्ञा पुं० दे० "भूमिया" ।

भुरकना-क्रि० अ० [सं० भुरण=गति या हिं० भुरका] (१) सूख कर भुरभुरा हो जाना । (२) भूलना । उ०—थोरियै बैस बिथोरी भट्ट ब्रजभोरी सी बानन में भुरकी है ।—देव ।

संयो० क्रि०—जाना ।

(३) चूर्ण के रूप के किसी पदार्थ को छिड़कना । भुरभुराना । बुरकना । उ०—जहँ तहँ लसत महा मदमत्त । वर बानर बारन दल दत्त । अंग अंग चरचे अति चंदन । मुंडन भुरके देखिय वंदन ।—केशव ।

संयो० क्रि०—देना ।

भुरका-संज्ञा पुं० [हिं० भुरकना वा सं० भूरि] बुकनी । अबीर ।

संज्ञा पुं० [हिं० भरना] (१) मिट्टी का बड़ा कसोरा । कुज्जा । कुल्हड़ । (२) मिट्टी आदि का वह पात्र जिसमें लड़के लिखने के लिये खड़िया मिट्टी घोलकर रखते हैं । बुदका । बुदकना ।

भुरकाना-क्रि० स० [हिं० भुरकना] (१) भुरभुरा करना । (२) छिड़कना । भुरभुराना । (३) भुलवाना । बहकाना । उ०—कहीं हँसि देव शठ कूर ऐवी बड़े आइ कोइ बाल भुरकाय दीन्हा ।—विश्राम ।

भुरकी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भुरका] (१) अन्न रखने के लिये छोटा कोठिला । धुनकी । (२) पानी का छोटा गड्ढा । हौज़ । (३) छोटा कुल्हड़ ।

भुरकुटा-संज्ञा पुं० [हिं० भुरकुस] छोटा कीड़ा वा मच्छड़ । छोटा मकोड़ा ।

भुरकुन-संज्ञा पुं० [सं० भुरण, हिं० भुरकना] चूर्ण । चूरा ।

भुरकुस-संज्ञा पुं० [अनु० या हिं० भुरकना] चूर्ण ।

मुहा०—भुरकुस निकलना=(१) चूर चूर होना । (२) इतना मार खाना कि हड्डी पसली चूर चूर हो जाय । बेदम होना । (३) नष्ट होना । बरबाद होना । भुरकुस निकालना=(१) इतना मारना कि हड्डी पसली चूर चूर हो जाय । मारते मारते बेदम करना । (२) बेकाम करना । किसी काम का न रहने देना (३) नष्ट करना । बरबाद करना ।

भुरजी†-संज्ञा पुं० [हिं० भूजना] भड़भूँजा ।

भुरत-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो बरसात में होती है । यह स्वच्छंद उगती है और जब तक नरम रहती है, तब तक पशु इसे बड़े चाव से खाते हैं । यह सुखाने के काम की नहीं होती । भरोट ।

भुरता-संज्ञा पुं० [हिं० भुरकना या भुरभुरा] (१) दबकर वा कुचलकर विकृतावस्था को प्राप्त पदार्थ । वह पदार्थ जो बाहरी दबाव से दबकर वा कुचलकर ऐसा बिगड़ गया हो कि उसके अवयव और आकृति पूर्व के समान न रह गई हो ।

मुहा०—भुरता करना वा कर देना=कुचलकर पीस डालना । दबाकर चूर चूर कर देना ।

(२) चोखा या भरता नाम का सालन । वि० दे० "चोखा" ।

भुरभुर-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक घास का नाम जो ऊसर या रेतीली भूमि में होती है । इसे भुरभुरोई या झुलनी भी कहते हैं ।

वि० दे० "भुरभुरा" ।

संज्ञा पुं० [अनु० वा सं० भूरि] बुका ।

भुरभुरा-वि० [अनु०] [स्त्री०भुरभुरी] जिसके कण थोड़ा आघात लगने पर भी बालू के समान अलग अलग हो जायँ । बलुआ । जैसे,—यह लकड़ी बिलकुल भुरभुरी हो गई है ।

भुरभुरोई-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की घास जो ऊसर और रेतीली भूमि में उपजती है । इसे झुलनी या भुरभुर भी कहते हैं ।

भुरली-संज्ञा स्त्री० [हिं० भुडली] (१) भुडली । सूँडी । कमला । (२) एक कीड़ा जो खेती की फ़सल को हानि पहुँचाता है ।

भुरवना*†-क्रि० स०[सं० भ्रमण, हिं० भरमना का प्रेर०] भुलवाना । भ्रम में डालना । फुसलाना । उ०—(क) सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि भुरई राधिका भोरी ।—सूर । (ख) ऊधो अब यह समझि भई । नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याइ दई । कुंतल कुटिल भँवर भामिनि वर मालति भुरै लई । तजत न गहरु कियो तिन कपटी जानि निराश भई ।—सूर ।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।—रखना।

भुराई*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० भोला] भोलापन। सीधापन। उ०—(क) लखहु ताहु कहि लछिमन भाई। भुजनि भयंकर भेष भुराई।—पद्माकर। (ख) मोचन लागी भुराई की बातन सौतिनि सोच भुरावन लागी।—मतिराम। (ग) राई नोन वारति भुराई देखि आँगनि में दुरै न दुराई पै भुराई सों भरति है।—देव।

संज्ञा पुं० [हिं० भूरा] भूरापन। भूरे होने का भाव।

भुराना*†–क्रि० स० [हिं० भुलाना वा भूलना] (१) भूलना। उ०—(क) मैं अपनी मन गाइ चरैहौं। प्रात होत बल के सँग जैहौं तेरे कहे न भुरैहौं।—सूर (ख) मोचन लागी भुराई की बातनि सौतिनि सोच भुरावन लागी।—मतिराम। (२) दे० "भुरवना"। उ०—तुम भुरये हौ नंद कहत हैं तुमसों ढोटा। दधि ओदन के काज देह धरि आए छोटा।—सूर।

भुरुंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम। (२) भारुण्ड पक्षी।

भुरकी–संज्ञा स्त्री० दे० "भुरका"।

भुलना†–संज्ञा पुं० [हिं० भूलना] (१) एक घास का नाम जिसके विषय में लोगों में यह प्रवाद है कि इसके खाने से लोग सब बातें भूल जाते हैं।

मुहा०—भुलना खर खाना=विस्मरणशील होना।

(२) वह जो भूल जाता हो। भूलनेवाला व्यक्ति।

भुलभुला†–संज्ञा पुं० [अनु०] आग का पलका। गरम राख।

भुलवाना–क्रि० स० [हिं० भूलना का प्रे०] (१) भूलना का प्रेरणार्थक रूप। भूलने के लिये प्रेरणा करना। भ्रम में डालना। (२) विस्मृत करना। बिसारना। दे० "भुलाना"।

भुलसना–क्रि० अ० [हिं० भुलभुला] पलके में झुलसना। गरम राख में झुलसना। उ०—लाल गुलाब अँगारन हूँ पुनि कछु न भुरसी। सुकवि नेह की बेल विरह झर नेकु न झुरसी।—व्यास।

भुलाना–क्रि० स० [हिं० भूलना] (१) भूलने का प्रेरणार्थक रूप। भ्रम में डालना। धोखा देना। उ०—बंधु कहत घर बैठे आवैं। अपनी माया माहिं भुलावैं।—लल्लू। (२) भूलना। विस्मृत करना। उ०—(क) हँसि हँसि बोलि टेके काँधा। प्रीति भुलाइ चहै जल बाँधा।—जायसी। (ख) ये हैं जिन सुख वे दिये, करति क्यों न हिय होस। ते सब अबहिं भुलाइयतु तनक दगन के दोस।—पद्माकर।

*†क्रि० अ० (१) भ्रम में पड़ना। उ०—(क) हाथ बीन सुनि मिरग भुलाहीं। नर मोहहिं सुनि पैग न जाहीं।—जायसी। (ख) पँडित भुलान न जानहिं चालू। जीव लेत दिन पूछ न कालू।—जायसी। (ग) यसुदा भरम भुलानी झूलें पालना रे।—गीत। (२) भटकना। भरमना। राह भूलना। उ०—सो सयान मारग रहि जाय। करै खोज कबहूँ न भुलाय।—कबीर। (३) भूल जाना। विस्मरण होना। बिसरना। उ०—(क) मान महातम मान भुलाना। मानत मानत गवना ठाना।—कबीर। (ख) घड़ी अन्त होय जो आई। चेतन की सब चेत भुलाई।—जायसी। (ग) एवमस्तु कहि कपट मुनि बोला कुटिल कठोर। मिलब हमार भुलाब जनि कहहु त हमहिं न खोरि।—तुलसी।

भुलावा–संज्ञा पुं० [हिं० भूलना] छल। धोखा। चक्कर। जैसे,—इस तरह भुलावा देने से काम नहीं चलेगा।

क्रि० प्र०—देना।—में डालना।

भुवंग–संज्ञा पुं० [सं० भुजंग=प्रा० भुअंग] [स्त्री० भुवंगिनी, भुवगिन] साँप। उ०—साकट का मुख बिंब है निकसत बचन भुवंग। ताकी औषधि मौन है विष नहिं व्यापै अंग।—कबीर।

भुवंगम–संज्ञा पुं० [सं० भुजंगम, प्रा० भुअंगम] साँप। उ०—(क) कपट करि ब्रजहि पूतना आई। रूप स्वरूप विष स्तन लाए राजा कंस पठाई।··· ··········गई मुरछा परी धरनि पै मनों भुवंगम खाई। सूरदास प्रभु तुम्हरी लीला भगतन गाइ सुनाई।—सूर। (ख) माई री मोहिं डस्यो भुवंगम कारो।—सूर।

भुवः–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह आकाश वा अवकाश जो भूमि और सूर्य्य के अंतर्गत है। अंतरिक्षलोक। यह सात लोकों के अंतर्गत दूसरा लोक है। (२) सात महाव्याहृतियों के अंतर्गत दूसरी महाव्याहृति। मनुस्मृति के अनुसार यह महाव्याहृति ओंकार की उकार मात्रा के संग यजुर्वेद से निकाली गई है।

भुव–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि। आग।

*संज्ञा स्त्री० [सं० भू का सप्तम्यंत रूप भुवि वा भूमि] पृथ्वी। उ०—(क) रोवैं वृषभ तुरंग अरु नाग। स्यार दिवस निसि बोलैं काग। कंपै भुव वर्षा नहिं होई। भये सोच चित यह नृप जोई।—सूर। (ख) भार उतारन भुव पर गए। साधु संत को बहु सुख दए।—लल्लू।

*संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रू] भौंह। भ्रू। उ०—(क) गहन दहन निर्दहन लंक निःसंक बंक भुव।—तुलसी। (ख) भुव तेग सुनैन के बान लिये मति बेसरि की सँग पालिका है।

भुवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जगत। (२) जल। (३) जन। लोग। (४) लोक। पुराणानुसार लोक चौदह हैं—सात स्वर्ग और सात पाताल। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये सात स्वर्ग लोक हैं और अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातल, रसातल और पाताल ये सात पाताल

हैं। (५) चौदह की संख्या का द्योतक शब्द संकेत। (६) सृष्टि। भूतजात। (७) एक मुनि का नाम।

भुवनकोश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूमंडल। पृथिवी। (२) चौदहों भुवन की समष्टि। ब्रह्मांड। उ०—को सों दोन कोस को भुवनकोस दूसरो न आपनी समुझि सूझि आयो टकटोरि हौं।—तुलसी।

भुवनपति–संज्ञा पुं० [सं०] एक देवता का नाम। महीधर के अनुसार यह अग्नि का भाई है।

भुवनपावन–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भुवनाधीश–संज्ञा पुं० [सं०] एक रुद्र का नाम।

भुवनेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव की एक मूर्ति का नाम। (२) ईश्वर।

भुवनेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] शक्ति की एक मूर्ति का नाम।

भुवनेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान का नाम जो उड़ीसा में पुरी के पास है। यहाँ अनेक शिवमंदिर हैं जिनमें प्रधान और प्राचीन मंदिर भुवनेश्वर शिव का है। (२) शिव की वह प्रधान मूर्ति जो भुवनेश्वर में है।

भुवनेश्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रानुसार एक देवी का नाम जो दस महाविद्याओं में एक मानी जाती है।

भुवन्यु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) अग्नि। (३) चंद्र। (४) प्रभु।

भुवपति–संज्ञा पुं० [सं०] एक देवता का नाम। महीधर के अनुसार यह अग्नि का भाई है।

भुवपाल*–संज्ञा पुं० दे० "भूपाल"।

भुवर्लोक–संज्ञा पुं० [सं०] सात लोकों में से दूसरे लोक का नाम। पृथ्वी और सूर्य का मध्यवर्ती पोला भाग। अंतरिक्षलोक।

भुवा–संज्ञा पुं० [हिं० घूआ] घूआ। रूई। उ०—रानी आइ धाइ के पासा। सुआ भुवा सेमर की आसा।—जायसी।

भुवार*–संज्ञा पुं० दे० "भुवाल"। उ०—रामलखन सम दैत्य सँहारा। तुम हलधर बलभद्र भुवारा।—जायसी।

भुवाल*–संज्ञा पुं० [सं० भूपाल, प्रा० भुआल] राजा। उ०—(क) कालिंदी के तीर एक मधुपुरी नगर रसाला हो। कालनेमि उग्रसेन वंश कुल उपजे कंस भुवाला हो।—सूर। (ख) यों दल काढ़े बलख तें तैं जय साह भुआल। उदर अघासुर के परे ज्यों हरि गाय गुवाल।—बिहारी।

भुवि–संज्ञा स्त्री० [सं० भू का सप्तमी रूप अथवा भूमि] भूमि। पृथिवी। उ०—एक काल एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुर रंजन सज्जन सुखद, हरि भंजन भुवि भार।—तुलसी।

भुशुंडी–संज्ञा पुं० [सं०] काक भुशुंडी।

विशेष—इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये अमर और त्रिकालज्ञ हैं और कलियुग में होनेवाली सब बातें देखा करते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अस्त्र का नाम जिसका प्रयोग महाभारत के काल में होता था। यह चमड़े का बनाया जाता था। इसके बीच में एक गोल चँदवा होता था जिसे चमड़े के कई तसमों से बाँधकर दो लंबी डोरियों में लगा देते थे। यह अस्त्र डोरी समेत एक छोर से दूसरे छोर तक तीन हाथ लंबा होता था। इसके चँदवे में पत्थर भरकर और डोरियों को दाहने हाथ से घुमाकर लोग शत्रु पर फेंकते थे। कुछ लोग भ्रमवश इस शब्द से बंदूक का अर्थ लेते हैं।

भुस–संज्ञा पुं० [सं० बुस] भूसा। उ०—बनजारे के बैल ज्यों भरमि फिरेउ चहुँ देस। खाँड़ लादि भुस खात है बिनु सत गुरु उपदेस।—कबीर।

भुसी*–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूसा] भूसी। उ०—कबिरा संगति साधु की जौ की भुसी जो खाय। खीर खाँड़ भोजन मिलै साकट संग न जाय।—कबीर।

भुसुंडी–संज्ञा पुं० दे० "भुशुंडी"।

भुसेहरा†–संज्ञा पुं० दे० "भुसौरा"।

भुसौरा–संज्ञा पुं० [हिं० भूसा+घर] [स्त्री० भुसौरी] वह घर जिसमें भूसा रखा जाता हो। भूसा रखने का स्थान।

भूँकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) भूँ भूँ या भौं भौं शब्द करना (कुत्तों का)। इस शब्द का प्रयोग कुत्तों की बोली के लिये होता है। (२) व्यर्थ बकना।

भूँख†–संज्ञा स्त्री० दे० "भूख"।

भूँखा–वि० दे० "भूखा"।

भूँचाल–संज्ञा पुं० दे० "भूकंप"।

भूँजना†–क्रि० स० [हिं० भूनना] (१) किसी वस्तु को आग में डालकर या और किसी प्रकार गर्मी पहुँचाकर पकाना। (२) तलना। पकाना। (३) दुःख देना। सताना।

क्रि० स० [सं० भोग] भोगना। भोग करना। उ०—(क) राज कि भूँजब भरतपुर नृप कि जियहिं बिन राम।—तुलसी। (ख) की हेसि राजा भूँजहिं राजू। की हेसि हस्ति घोर तिह साजू।—जायसी।

भूँजा†–संज्ञा पुं० [हिं० भूनना] (१) भूना हुआ अन्न। चबेना। (२) भड़भूँजा।

भूँडरी–संज्ञा स्त्री० [सं० भू] वह भूमि जो ज़मींदार नाऊ, बारी, फ़क़ीर वा किसी संबंधी को माफ़ी के तौर पर देता है।

भूँड़िया–संज्ञा पुं० [हिं० भूँडरी=माफी जमीन] वह व्यक्ति जो मँगनी के हल-बैलों से खेती करता हो।

भूँडोल–संज्ञा पुं० दे० "भूकंप"।

भूँभाई†–संज्ञा पुं० [सं० भू+भाई ?] वह मनुष्य जिसे गाँव का स्वामी किसी दूसरे स्थान से बुलाकर अपने यहाँ बसावे

और उसे निर्वाह के लिये कुछ माफ़ी ज़मीन दे।

भूँर-संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] भ्रमर। भौंरा। (डिं०)

भूँसना‡-क्रि० अ० दे० "भूँकना"।

भू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी।

यौ०—भूपति। भूसुर।

(२) स्थान। जगह। ज़मीन। (३) सीताजी की एक सखी का नाम। (४) सत्ता। (५) प्राप्ति। (६) यज्ञ का अग्नि। संज्ञा पुं० रसातल।

संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रू] भौंह। उ०—कीर नासा इंद्र धनु भ्रू भँवर सी अलकावली। अधर विद्रुम वज्रकन दाड़िम किधौं दशनावली।—सूर।

भूआ-संज्ञा पुं० [हिं० घूआ] रूई के समान हलकी और मुलायम वस्तु का बहुत छोटा टुकड़ा। जैसे, सेमर का भूआ।

भूकंद-संज्ञा पुं० [सं०] जमीकंद। सूरन। ओल।

भूकंप-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के ऊपरी भाग का सहसा कुछ प्राकृतिक कारणों से हिल उठना। भूचाल। भूडोल। ज़लज़ला।

विशेष—यद्यपि पृथ्वी का ऊपरी भाग बिलकुल ठंढा हो गया है, तथापि इसके गर्भ में अभी बहुत अधिक आग तथा गरमी है। यह आग या गरमी कई रूपों में प्रकट होती है, जिनमें से एक रूप ज्वालामुखी पर्वत भी है। जब कुछ विशेष कारणों से भूगर्भ की यह अग्नि विशेष प्रज्वलित अथवा शीतल होती है, तब भूगर्भ में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिनके कारण पृथ्वी का ऊपरी भाग भी हिलने या काँपने लगता है। इसी को भूकंप कहते हैं। कभी तो इस कंप का मान इतना सूक्ष्म होता है कि साधारणतः हम लोगों को बिना यंत्रों की सहायता के उसका ज्ञान भी नहीं होता; और कभी इतना भीषण होता है कि उसके कारण पृथ्वी में बड़ी बड़ी दरारें पड़ जाती हैं, बड़ी बड़ी इमारतें गिर जाती हैं और यहाँ तक कि कभी कभी जल के स्थान में स्थल और स्थल के स्थान में जल हो जाता है। कुछ भूकंपों का विस्तार तो दस बीस मील तक ही होता है और कुछ का सैकड़ों हज़ारों मीलों तक। कभी तो एक ही दो सेकेंड में दो चार बार पृथ्वी हिलने के बाद भूकंप रुक जाता है और कभी लगातार मिनटों तक रहता है। कभी कभी तो रह रहकर लगातार सप्ताहों और महीनों तक पृथ्वी हिलती रहती है। भूकंप से कभी कभी सैकड़ों हज़ारों मनुष्यों के प्राण तक चले जाते हैं, और लाखों करोड़ों की संपत्ति का नाश हो जाता है। जिन देशों में ज्वालामुखी पर्वत अधिक होते हैं, उन्हीं में भूकंप भी अधिक होते हैं। भूमध्य सागर, प्रशांत महासागर के तट, ईस्ट इंडीज़ टापुओं में प्रायः भूकंप हुआ करते हैं; और उत्तरी अमेरिका के उत्तर-पश्चिमी भाग, दक्षिण अमेरिका के पूर्वी भाग, एशिया के उत्तरी भाग और अफ्रिका के बहुत बड़े भाग में बहुत कम भूकंप होता है। स्थल के अतिरिक्त जल में भी भूकंप होता है जिसका रूप कभी कभी बहुत भीषण होता है। हिंदुओं में से बहुतों का विश्वास है कि पृथ्वी को उठानेवाले दिग्गजों अथवा शेषनाग के सिर हिलाने से भूकंप होता है।

क्रि० प्र०—आना—होना।

भूक-संज्ञा स्त्री० दे० "भूख"।

भूकना-क्रि० अ० दे० "भूँकना"।

भूकपित्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कैथ।

भूकर्दारक-संज्ञा पुं० [सं०] लिसोड़ा।

भूकश्यप-संज्ञा पुं० [सं०] वसुदेव।

भूकाक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का छोटा कंक या बाज़। (२) नीला कबूतर। (३) क्रौंच पक्षी।

भूकूष्मांडी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं कुम्हड़ा।

भूकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेवार। (२) वट वृक्ष, जिसकी जटाएँ ज़मीन पर लटकती रहती हैं।

भूकेशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] राक्षसी।

भूकेशी-संज्ञा पुं० [सं०] सोमराज नामक वृक्ष।

भूक्षित्-संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

भूख-संज्ञा स्त्री० [सं० बुभुक्षा] (१) वह शारीरिक वेग जिसमें भोजन की इच्छा होती है। खाने की इच्छा। क्षुधा।

यौ०—भूख प्यास।

मुहा०—भूख मरना-भूख लगने पर अधिक समय तक भोजन न मिलने के कारण उसका नष्ट हो जाना। पेट में अन्न न होने पर भी भोजन की इच्छा न रह जाना। भूख लगना=भोजन की इच्छा होना। खाने को जी चाहना। भूखों मरना=भूख लगने पर भोजन न मिलने के कारण कष्ट उठाना या मरना।

(२) आवश्यकता। ज़रूरत। (व्यापारी) जैसे,—अब तो इस सौदे की भूख नहीं है। (३) समाई। गुंजाइश। (क०) (४) कामना। अभिलाषा। उ०—सुख रूखी बातें कहै जिय में पिय की भूख।—केशव।

भूखण, भूखन*-संज्ञा पुं० दे० "भूषण"।

भूखना*†-क्रि० स० [सं० भूषण] भूषित करना। सुसज्जित करना। सजाना। उ०—(क) लाखन की दकसीस करिबे को उदित है भूखिबे को अंग भूपि भूषन न गनते।—रघुनाथ। (ख) लै तेहि काल अभूषन अंग में हीरा विलास के भूषन भूखे।—रघुनाथ। (ग) भूखन भूखे जरायन के पहिरे फरिया रँगि सौरभ मीली।—गोकुल।

भूखरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० भूख] (१) भूख। क्षुधा। (२) इच्छा। लालसा।

भूखा-वि० पुं० [हिं० भूख+आ (प्रत्य०)] [स्त्री० भूखी] (१)

जिसे भोजन की प्रबल इच्छा हो। जिसे भूख लगी हो। क्षुधित।

मुहा०—भूखा रहना=निराहार रहना। भोजन न करना। भूखे प्यासे-बिना खाए पिए। बिना अन्न जल ग्रहण किए। (२) जिसे किसी बात की इच्छा या चाह हो। चाहनेवाला। इच्छुक। जैसे,—हम तो प्रेम के भूखे हैं। उ०—दानि जो चारि पदारथ को त्रिपुरारि तिहूँ पुर में सिर टीको। भोरो भलो भले भाय को भूखो भलोई कियो सुमिरे तुलसी को।—तुलसी। (३) जिसके पास खाने तक को न हो। दरिद्र।

यौ०—भूखा नंगा।

भूगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुरा नामक गंध द्रव्य।

भूगर-संज्ञा पुं० [सं०] विष। जहर।

भूगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी का भीतरी भाग। (२) विष्णु।

भूगर्भगृह-संज्ञा पुं० [सं०] तहखाना। तलघर।

भूगर्भशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसके द्वारा इस बात का ज्ञान होता है कि पृथ्वी का संघटन किस प्रकार हुआ है, उसके ऊपरी और भीतरी भाग किन किन तत्वों के बने हैं, उसका आरंभिक रूप क्या था और उसका वर्त्तमान विकसित रूप किस प्रकार और किन कारणों से हुआ है। इसमें पृथ्वी की आदिम अवस्था से लेकर अब तक का एक प्रकार का इतिहास होता है जो कई युगों में विभक्त होता है और जिसमें से प्रत्येक युग की कुछ विशेषताओं का विवेचन होता है। बड़ी बड़ी चट्टानों, पहाड़ों तथा मैदानों के भिन्न भिन्न स्तरों की परीक्षा इसके अंतर्गत होती है; और इसी परीक्षा के द्वारा यह निश्चित होता है कि कौन सा स्तर या भूभाग किस युग का बना है। इस शास्त्र में इस बात का भी विवेचन होता है कि पृथ्वी पर जल-वायु और वातावरण आदि का क्या प्रभाव पड़ता है।

भूगोल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) वह शास्त्र जिसके द्वारा पृथ्वी के ऊपरी स्वरूप और उसके प्राकृतिक विभागों आदि (जैसे पहाड़, महादेश, देश, नगर, नदी, समुद्र, झील, डमरूमध्य, उपत्यका, अधित्यका, वन आदि) का ज्ञान होता है।

विशेष—विद्वानों ने भूगोल के तीन मुख्य विभाग किए हैं। पहले विभाग में पृथ्वी का सौर जगत् के अन्यान्य ग्रहों और उपग्रहों आदि से संबंध बतलाया जाता है और उन सबके साथ उसके सापेक्षिक संबंध का वर्णन होता है। इस विभाग का बहुत कुछ संबंध गणित ज्योतिष से भी है। दूसरे विभाग में पृथ्वी के भौतिक रूप का वर्णन होता है और उससे यह जाना जाता है कि नदी, पहाड़, देश, नगर आदि किसे कहते हैं और अमुक देश, नगर, नदी या पहाड़ आदि कहाँ हैं। साधारणतः भूगोल से उसके इसी विभाग का अर्थ लिया जाता है। भूगोल का तीसरा विभाग राजनीतिक होता है और उसमें इस बात का विवेचन होता है कि राजनीति, शासन, भाषा, जाति और सभ्यता आदि के विचार से पृथ्वी के कौन कौन विभाग हैं और उन विभागों का विस्तार और सीमा आदि क्या है ?

(३) वह ग्रंथ जिसमें पृथ्वी के ऊपरी स्वरूप और प्राकृतिक विभागों आदि का वर्णन होता है।

भूचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी की परिधि। (२) विषुवत्‌रेखा। (३) अयनवृत्त। (४) क्रांतिवृत्त।

भूचर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) दीमक। (३) वह जो पृथ्वी पर रहता हो। भूमि पर रहनेवाला प्राणी। (४) तंत्र के अनुसार एक प्रकार की सिद्धि। कहते हैं कि यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर मनुष्य के लिये न तो कोई स्थान अगम्य रह जाता है, न कोई पदार्थ अप्राप्य रह जाता है और न कोई बात अप्रत्यक्ष रह जाती है।

भूचरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] योग शास्त्रानुसार समाधि अंग की एक मुद्रा जिसका निवास नाक में है और जिसके द्वारा प्राण और अपान वायु दोनों एकत्र हो जाती हैं। उ०—दुसरी मुद्रा भूचरी नासा जासु निवास। प्राण अपान जुदी जुदी करि देवै एक पास।—विश्राम।

भूचाल-संज्ञा पुं० [सं० भू+हिं० चाल=चलना] भूकंप। भूडोल।

भूजंतु-संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

भूजंबु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेहूँ। (२) बन जामुन।

भूटान-संज्ञा पुं० [देश०] हिमालय का एक प्रदेश जो नेपाल के पूर्व और आसाम के उत्तर में है। इस देश के निवासी बहुत बलवान् और साहसी होते हैं और घोड़े बहुत प्रसिद्ध हैं।

भूटानी-वि० [हिं० भूटान+ई (प्रत्य०)] भूटान देश का। भूटान संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) भूटान देश का निवासी। (२) भूटान देश का घोड़ा।

संज्ञा स्त्री० भूटान देश की भाषा।

भूटिया बादाम-संज्ञा पुं० [हिं० भूटान+फ़ा० बादाम] एक पहाड़ी वृक्ष जिसे कासी भी कहते हैं। पाँच हजार से लेकर दस हजार फुट तक की ऊँचाई तक पहाड़ों पर यह वृक्ष होता है। यह मझोले आकार का होता है। इसकी लकड़ी मज़बूत और रंग में गुलाबी होती है, जिससे मेज, कुरसी आदि चीज़ें बनाई जाती हैं। इस वृक्ष का फल खाया जाता है।

भूड़-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की भूमि जिसमें बालू मिला हुआ होता है। बलुई भूमि। (२) कूएँ का सोत। झिर।

भूडोल—संज्ञा पुं० [सं० भू+हिं० डोलना] भूकंप ।

भूण—संज्ञा पुं० [सं० भ्रमण] (१) जलयात्रा । समुद्री सफ़र । (२) जल-भ्रमण । जल विहार । (हिं०)

भूत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे मूल द्रव्य जो सृष्टि के मुख्य उपकरण हैं और जिनकी सहायता से सारी सृष्टि की रचना हुई है । द्रव्य । महाभूत ।

विशेष—प्राचीन भारतीयों ने सावयव सृष्टि के पाँच मूल भूत या महाभूत माने हैं जो इस प्रकार हैं—पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि और आकाश । पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वायु और जल मूल भूत या द्रव्य नहीं हैं, बल्कि कई मूल भूतों या द्रव्यों के संयोग से बने हैं । पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने प्रायः ७५ मूल भूत माने हैं जिनमें से पाँच वाष्प, दो तरल तथा शेष ठोस हैं । पर इन समस्त मूल भूतों में भी एक तत्व ऐसा है जो सब में समान रूप से पाया जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि ये मूल भूत भी वास्तव में किसी एक ही भूत के रूपांतर हैं । अभी कुछ ऐसे भूतों का भी पता लगा है जो मूल भूत हो सकते हैं, पर जिनके विषय में अभी तक पूर्ण रूप से कुछ निश्चय नहीं हुआ है । वि० दे० "द्रव्य" ।

(२) सृष्टि का कोई जड़ वा चेतन, अचर वा चर पदार्थ वा प्राणी ।

यौ०—भूतदया=जड़ और चेतन सबके साथ की जानेवाली दया ।

(३) प्राणी । जीव । (४) सत्य । (५) वृत्त । (६) कार्त्तिकेय । (७) योगींद्र । (८) वह औषध जिसके सेवन से प्रेतों और पिशाचों का उपद्रव शांत होता हो । (९) लोध । (१०) कृष्ण पक्ष । (११) पुराणानुसार पौरवी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के बारह पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र का नाम । (१२) बीता हुआ समय । गुज़रा हुआ ज़माना । (१३) व्याकरण के अनुसार क्रिया के तीन प्रकार के मुख्य कालों में से एक । क्रिया का वह रूप जिससे यह सूचित होता हो कि क्रिया का व्यापार समाप्त हो चुका । जैसे, मैं गया था । पानी बरसा था । (१४) पुराणानुसार एक प्रकार के पिशाच या देव जो रुद्र के अनुचर हैं और जिनका मुँह नीचे की ओर लटका हुआ या ऊपर की ओर उठा हुआ माना जाता है । ये बालकों को पीड़ा देनेवाले ग्रह भी कहे जाते हैं । (१५) मृत शरीर । शव । (१६) मृत प्राणी की आत्मा । (१७) वे कल्पित आत्माएँ जिनके विषय में यह माना जाता है कि वे अनेक प्रकार के उपद्रव करती और लोगों को बहुत कष्ट पहुँचाती हैं । प्रेत । जिन । शैतान ।

विशेष—भूतों और प्रेतों आदि की कल्पना किसी न किसी रूप में प्रायः सभी जातियों और देशों में पाई जाती है । साधारणतः लोग इनके रूपों और व्यापारों आदि के संबंध में अनेक प्रकार की विलक्षण कल्पनाएँ कर लेते हैं और इनके उपद्रव आदि से बहुत डरते हैं । अनेक अवसरों पर इनके उपद्रवों से बचने तथा इन्हें प्रसन्न रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय भी किए जाते हैं । साधारणतः यह माना जाता है कि मृत प्राणियों की जिन आत्माओं को मुक्ति नहीं मिलती, वही आत्माएँ चारों ओर घूमा करती हैं और समय समय पर उपद्रव आदि करके लोगों को कष्ट पहुँचाती हैं । इनका विचरण-काल रात और निवास-स्थान एकांत या भीषण वन आदि माना जाता है । यह भी कहा जाता है कि ये भूत कभी कभी किसी के सिर पर, विशेषतः स्त्रियों के सिर पर, आ चढ़ते हैं और उनसे उपद्रव तथा बकवाद कराते हैं ।

क्रि० प्र०—उतरना ।—उतारना ।—चढ़ना ।—झाड़ना ।—लगना ।

मुहा०—(किसी बात का) भूत चढ़ना या सवार होना= (किसी बात के लिये) बहुत अधिक आग्रह या हठ होना । जैसे,—तुम्हें तो हर एक बात का इसी तरह भूत चढ़ जाता है । भूत चढ़ना या सवार होना=बहुत अधिक क्रोध होना । कुपित होना । जैसे,—उनसे मत बोलो, इस समय उन पर भूत चढ़ा है ।

विशेष—इन दोनों मुहावरों में "चढ़ना" के स्थान पर "उतरना" होने से अर्थ बिलकुल उलट जाता है ।

मुहा०—भूत बनना=(१) नशे में चूर होना । (२) बहुत अधिक क्रोध में होना । (३) किसी काम में तन्मय होना । भूत बनकर लगना=बुरी तरह पीछे लगना । किसी तरह पीछा न छोड़ना=भूत की मिठाई या पकवान=(१) वह पदार्थ जो भ्रम से दिखाई दे, पर वास्तव में जिसका अस्तित्व न हो । (लोग कहते हैं कि भूत प्रेत आकर मिठाई रख जाते हैं, जो देखने में तो मिठाई ही होती है, पर खाने या छूने पर मिठाई नहीं रह जाती, राख, मिट्टी, विष्ठा आदि हो जाती है ।) (२) सहज में मिला हुआ धन जो शीघ्र ही नष्ट हो जाय । उ०—भूत की मिठाई जैसी साधु की झुठाई तैसी स्यार की ढिठाई ऐसी क्षीण छहूँ ऋतु हैं ।—केशव ।

वि० (१) गत । बीता हुआ । गुज़रा हुआ । जैसे, भूतपूर्व । भूतकाल । (२) युक्त । मिला हुआ । (३) समान । सदृश । (४) जो हो चुका हो । हो चुका हुआ । (इन अर्थों में इसका व्यवहार प्रायः यौगिक शब्दों के अंत में होता है ।)

भूतक—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सुमेरु पर के २१ लोकों में से एक लोक ।

भूतकला—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की शक्ति जो पंचभूतों को उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है ।

भूतकृत—संज्ञा पुं० [सं०] (१) देवता । (२) विष्णु ।

भूतकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दक्ष सावर्णि के एक पुत्र का नाम ।

भूतकेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सफ़ेद दूब । (२) इंद्रावारुणी । (३) सफ़ेद तुलसी । (४) जटामासी ।

भूतखाना-संज्ञा पुं० [हिं० भूत+फ़ा० खाना=घर] बहुत मैला कुचैला या अँधेरा घर ।

भूतगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुर नामक गंध द्रव्य ।

भूतघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँट । (२) लहसुन । (३) भोजपत्र का पेड़ ।

वि० भूतों का नाश करनेवाला ।

भूतघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

भूतचतुर्दशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी । नरक चौदस । (इस दिन यम की पूजा और तर्पण होता है ।)

भूतचारी-संज्ञा पुं० [सं० भूतचारिन्] महादेव ।

भूतजटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामासी ।

भूततृण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का विष । (२) एक प्रकार का गंधद्रव्य ।

भूतत्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूत होने का भाव । (२) भूत का धर्म्म ।

भूतत्वविद्या-संज्ञा स्त्री० दे० "भूगर्भशास्त्र" ।

भूतद्रावी-संज्ञा पुं० [सं० भूतद्राविन्] लाल कनेर ।

भूतधात्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी ।

भूतधाम-संज्ञा पुं० [सं० भूतधामन्] पुराणानुसार इंद्र के एक पुत्र का नाम ।

भूतनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

भूतनायिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

भूतनाशन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुद्राक्ष । (२) सरसों । (३) भिलावाँ ।

भूतपक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मास का कृष्ण पक्ष । अँधेरा पक्ष ।

भूतपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) काली तुलसी ।

भूतपत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] तुलसी ।

भूतपाल-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] श्योनाक वृक्ष ।

भूतपूर्णिमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन की पूर्णिमा । शरद-पूर्णिमा ।

भूतपूर्व-वि० [सं०] वर्तमान से पहले का । इससे पहले का । जैसे,—भूतपूर्व मंत्री, भूतपूर्व संपादक ।

भूतभर्त्ता-संज्ञा पुं० [सं० भूतभर्तृ] शिव ।

भूतभव्य-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतभावन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । शंकर । (२) विष्णु ।

भूतभाषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पैशाची भाषा । वि० दे० "पैशाची" ।

भूतभृत-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

भूतभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भैरव की एक मूर्त्ति का नाम । (२) वैद्यक में एक प्रकार का रस जो हरताल और गंधक आदि से बनाया जाता है । इसके सेवन से ज्वर, दाह, वात-प्रकोप और कुष्ट आदि का दूर होना माना जाता है ।

भूतमात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँचों तन्मात्राएँ । वि० दे० "तन्मात्र" ।

भूतयज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य पंचयज्ञ में से एक यज्ञ । भूतबलि । बलिवैश्व ।

भूतराज-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

भूतल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पृथ्वी का ऊपरी तल । धरातल । (२) संसार । दुनिया । जगत् । (३) पाताल ।

भूतलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अल्पवर्ग ।

भूतवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) विष्णु ।

भूतवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव ।

भूतविक्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपस्मार रोग ।

भूतविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] आयुर्वेद का वह विभाग जिसमें देवता, असुर, गंधर्व, यक्ष, पिशाच, नाग, ग्रह, उपग्रह आदि के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले मानसिक रोगों का निदान और उपाय होता है । यह उपाय बहुधा ग्रह-शांति, पूजा, जप, होम दान, रत्न पहनने और औषध आदि के सेवन के रूप में होता है ।

भूतविनायक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

भूतवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] श्योनाक ।

भूतवेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] निर्गुंडी ।

भूतशुद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार शरीर की वह शुद्धि जो पूजन आदि से पहले की जाती है और जिसे बिना किए पूजा का अधिकार नहीं होता । भिन्न भिन्न तंत्रों में इस शुद्धि के भिन्न भिन्न विधान दिए गए हैं । इसमें कई प्रकार के जप और अंगन्यास आदि करने पड़ते हैं ।

भूतसंचार-संज्ञा पुं० [सं०] भूतोन्माद नामक रोग ।

भूतसंताप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम ।

भूतसंप्लव-संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय ।

भूतसिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार वह जिसने भूत-प्रेत आदि को सिद्ध और वश में कर लिया हो ।

भूतसूक्ष्म-संज्ञा पुं० दे० "तन्मात्र" ।

भूतहंत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नीली दूब । (२) बाँझ ककोड़ी ।

भूतहन्-संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का वृक्ष ।

भूतहर-संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल ।

भूतहारी-संज्ञा पुं० [सं० भूतहारिन्] (१) देवदार । (२) लाल कनेर ।

भूतहास-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात जिसमें इंद्रियाँ अपना काम नहीं करतीं, रोगी व्यर्थ बहुत बकता है, उसे बहुत हँसी आती है ।

भूतांकुश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कश्यप ऋषि । (२) गावज़ुबान ।

भूतांकुश रस–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का रस जिसमें पारा, लोहा, ताँबा, मोती, हरताल, गंधक, मैनसिल, रसांजन आदि पदार्थ पड़ते हैं। इससे भूतोन्माद आदि अनेक रोग दूर होते हैं।

भूतांतक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम। (२) रुद्र।

भूता–संज्ञा स्त्री० [सं०] कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि।

भूताक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य।

भूतात्मा–संज्ञा पुं० [सं० भूतात्मन्] (१) शरीर (२) परमेश्वर। (३) शिव। (४) विष्णु। (५) जीवात्मा। (६) युद्ध।

भूताधिपति–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूतादि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर। (२) सांख्य के अनुसार अहंकार तत्व जिससे पंचभूतों की उत्पत्ति होती है।

भूतायन–संज्ञा पुं० [सं०] नारायण। परमेश्वर।

भूतारि–संज्ञा पुं० [सं०] हींग।

भूतावास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संसार। दुनिया। (२) शरीर। देह। (३) बहेड़े का वृक्ष। (४) विष्णु।

भूताविष्ट–वि० [सं०] (१) जिसे भूत या पिशाच लगा हो। (२) जो भूतों आदि के प्रभाव से रोगी हुआ हो।

भूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैभव। धनसंपत्ति। राज्यश्री। उ०—धरमनीति उपदेशिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।—तुलसी। (२) भस्म। राख। उ०—भव अंग भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी।—तुलसी। (३) उत्पत्ति। (४) वृद्धि। अधिकता। (५) अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियाँ। (६) हाथी का मस्तक रँग कर उसका शृंगार करना। (७) पुराणानुसार एक प्रकार के पितृ। (८) लक्ष्मी। (९) वृद्धि नाम की ओषधि। (१०) भूतृण। (११) सत्ता। (१२) पकाया हुआ मांस। (१३) विष्णु। (१४) रूसा घास।

भूतिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कटहल। (२) अजवायन। (३) चंदन। (४) भूनिंब। चिरायता। (५) रूसा घास।

भूतिकाम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा का मंत्री। (२) बृहस्पति। वि० जिसे ऐश्वर्य की कामना हो। विभूति की अभिलाषा रखनेवाला।

भूतिकृत्–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूतितीर्था–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम।

भूतिद–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूतिदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा।

भूतिनि–संज्ञा स्त्री० दे० "भूतिनी"।

भूतिनिधान–संज्ञा पुं० [सं०] धनिष्ठा नक्षत्र।

भूतिनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूत] (१) भूत योनि में प्राप्त स्त्री। भूत की स्त्री। (२) शाकिनी, डाकिनी इत्यादि।

भूतियुवक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार कूर्मचक्र के एक देश का नाम। (२) इस देश का निवासी।

भूतिलय–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

भूतिवाहन–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भूती–संज्ञा पुं० [हिं० भूत+ई (प्रत्य०)] भूतपूजक।

भूतीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चिरायता। (२) अजवायन। (३) भूतृण। (४) कपूर।

भूतीवानी–संज्ञा स्त्री० [सं० विभूति] भस्म। राख। (डिं०)

भूतृण–संज्ञा पुं० [सं०] रूसा घास जिसका तेल बनता है। वैद्यक में इसे कटु और तिक्त तथा विष-दोषनाशक माना है।

पर्य्या०—रोहिष। भूति। कुटुंबक। मालातृण। छत्र। अहिछत्रक। सुगंध। अतिगंध। वधिर। करंदुक।

भूतेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमेश्वर। (२) शिव। (३) कार्त्तिकेय।

भूतेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। (२) एक तीर्थ का नाम।

भूतेष्टा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी। (२) आश्विन कृष्ण चतुर्दशी।

भूतोन्माद–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार वह उन्माद रोग जो भूतों या पिशाचों के आक्रमण के कारण हो।

भूत्तम–संज्ञा पुं० [सं०] सोना।

भूदार–संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

भूदारक–संज्ञा पुं० [सं०] शूर। वीर।

भूदेव, भूदेवता–संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

भूधन–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पहाड़। (२) शेषनाग। (३) विष्णु। (४) राजा। (५) वाराह अवतार। (६) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का यंत्र जिसमें किसी पात्र में पारा रखकर, मिट्टी से उस पात्र का मुँह बंद करके उसे आग में पकाते हैं।

भूधरेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] पर्वतों का राजा, हिमालय।

भूधात्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला।

भूध्र–संज्ञा पुं० [सं०] पर्वत। पहाड़।

भून*†–संज्ञा पुं० [सं० भ्रूण] गर्भ का बच्चा।

भूनना–क्रि० स० [सं० भर्जन] (१) अग्नि में डालकर पकाना। आग पर रखकर पकाना। जैसे, पापड़ भूनना। (२) गरम बालू में डालकर पकाना। जैसे, चना भूनना। (३) गरम घी या तेल आदि में डालकर कुछ देर तक चलाना जिससे उसमें सोंधापन आ जाय। तलना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(४) बहुत अधिक कष्ट देना। तकलीफ़ पहुँचाना।

भूनिंब–संज्ञा पुं० [सं०] चिरायता।

भूनीप–संज्ञा पुं० [सं०] भूमिकदंब।

भूनेता–संज्ञा पुं० [सं० भूनेतृ] राजा।

भूप–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूपग-संज्ञा पुं० [सं० भूप] राजा । (डिं०)

भूपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । (२) हनुमत के मत से एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है । (३) बटुक भैरव

भूपद-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष । पेड़ ।

भूपदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका । चमेली ।

भूपरा-संज्ञा पुं० [सं० भूप] सूर्य्य । (डिं०)

भूपलाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का वृक्ष ।

भूपवित्र-संज्ञा पुं० [सं०] गोबर ।

भूपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूपाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जिसके विषय में आचार्य्यों में बहुत मतभेद है । कुछ लोग इसे हिंडोल राग की रागिनी और कुछ मालकोश की पुत्रवधू मानते हैं । कुछ का यह भी मत है कि यह संकर रागिनी है और कल्याण, गौड़ तथा बिलावल के मेल से बनी है । कुछ लोग इसे संपूर्ण जाति की और कुछ ओड़व जाति की मानते हैं । यह हास्य रस की रागिनी मानी जाती है; पर कुछ लोग इसे धार्मिक उत्सवों पर गाने के लिये उपयुक्त बतलाते हैं । इसके गाने का समय रात को ६ दंड से १० दंड तक कहा गया है । इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—सा, ग, म, ध, नि, सा । अथवा—रि, ध, सा, रि, ग, म, प ।

भूपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल ग्रह । (२) नरकासुर नामक राक्षस ।

भूपुत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] जानकी । सीता ।

भूप्रकंप-संज्ञा पुं० [सं०] भूकंप ।

भूफल-संज्ञा पुं० [सं०] हरा मूँग ।

भूबदरी-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा बेर ।

भूभल-संज्ञा स्त्री० [सं० भू+भुर्ज या अनु ?] गर्म राख वा धूल । गर्म रेत । तत्तूरी ।

भूभुज्-संज्ञा पुं० [सं०] राजा ।

भूभुरि*-संज्ञा स्त्री० [सं० भू+भुर्ज] भूभल । तत्तूरी । गर्म रेत । उ०—(क) पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ।—तुलसी । (ख) जायहु बितै दुपहरी मैं बलि जाउँ । भुइँ भभुरि कस धरिहौ कोमल पाउँ ।—प्रताप-नारायण ।

भूभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा । (२) पहाड़ ।

भूमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

भूम-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी ।

भूमय-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य्य की पत्नी, छाया ।

भूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी । ज़मीन । वि० दे० "पृथ्वी" ।

मुहा०—भूमि होना=पृथ्वी पर गिर पड़ना । उ०—वीर मूर्छि तब भूमि भयो जू ।—केशव ।

(२) स्थान । जगह ।

यौ०—जन्मभूमि ।

(३) आधार । जड़ । बुनियाद । (४) देश । प्रदेश । प्रांत । जैसे, आर्यभूमि । (५) योगशास्त्र के अनुसार वे अवस्थाएँ जो क्रम क्रम से योगी को प्राप्त होती हैं और जिनको पार करके वह पूर्ण योगी होता है । (६) जीभ । (७) क्षेत्र ।

भूमिकंदली-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

भूमिकंप-संज्ञा पुं० [सं०] भूकंप । भूडोल ।

भूमिकदंब-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कदम जो वैद्यक में कटु, उष्ण, वृष्य और पित्त तथा वीर्य वर्धक माना जाता है ।

भूमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रचना । (२) भेस बदलना । (३) वक्तव्य के संबंध में पहले की हुई सूचना । (४) किसी ग्रंथ के आरंभ की वह सूचना जिससे उस ग्रंथ के संबंध की आवश्यक और ज्ञातव्य बातों का पता चले । मुखबंध । दीबाचा । (५) वेदांत के अनुसार चित्त की पाँच अवस्थाएँ जिनके नाम ये हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।

विशेष—जिस समय मन चंचल रहता है, उस समय उसकी अवस्था क्षिप्त; जिस समय वह काम, क्रोध आदि के वशीभूत रहता है और उस पर तम या अज्ञान छाया रहता है, उस समय मूढ़; जिस समय मन चंचल होने पर भी बीच बीच में कुछ समय के लिये स्थिर होता है, उस समय विक्षिप्त; जिस समय मन बिलकुल निश्चल होकर किसी एक वस्तु पर जम जाता है, उस समय एकाग्र; और जिस समय मन किसी आधार की अपेक्षा न रखकर स्वतः बिलकुल शांत रहता है, उस समय निरुद्ध अवस्था कहलाती है ।

संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी । ज़मीन । उ०—रसा अनंता भूमिका बिलाइला कह जाहि ।—नंददास ।

भूमिकुष्मांड-संज्ञा पुं० [सं०] गरमी के दिनों में होनेवाला कुम्हड़ा जो ज़मीन पर होता है । भुइँ-कुम्हड़ा ।

भूमिखर्जुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी खजूर ।

भूमिगम-संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट ।

भूमिगृह-संज्ञा पुं० [सं०] तहख़ाना ।

भूमिचंपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का फूलवाला पौधा जो भारत, बरमा, लंका, जावा आदि में प्रायः होता है । इसके लंबे लंबे पत्ते बहुत ही सुंदर और फूल बहुत सुगंधित होते हैं; और इसीलिये यह प्रायः बगीचों में लगाया जाता है । इसकी छाल, पत्ते और जड़ आदि का अनेक रोगों में ओषधि के रूप में प्रयोग होता है । इसकी जड़ पीसकर फोड़े पर लगाने से वह बहुत जल्दी पक जाता है । छाल का चूर्ण प्रायः घाव भरने में उपयोगी होता है । भुइँचंपा ।

भूमिचल-संज्ञा पुं० [सं०] भूकंप ।

भूमिजंबु-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा जामुन ।

भूमिज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। (२) मंगल ग्रह। (३) भूमिकदंब। (४) सीसा। (५) नरकासुर का एक नाम।
वि० भूमि से उत्पन्न। जो जमीन से पैदा हुआ हो।

भूमिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीताजी।

भूमिजात-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष। पेड़।
वि० भूमि से उत्पन्न। जो जमीन से पैदा हुआ हो।

भूमिजीवी-संज्ञा पुं० [सं० भूमिजीविन्] (१) वह जो भूमि जोत बोकर अपना निर्वाह करता हो। कृषक। खेतिहर। (२) वैश्य।

भूमित्व-संज्ञा पुं० [सं०] भूमि का भाव या धर्म्म।

भूमिदंड-संज्ञा पुं० [सं० भूमि+दंड] साधारण दंड या डंड नाम की कसरत जो दोनों हाथ जमीन पर टेककर और बार बार उन्हीं हाथों के बल झुक और उठकर की जाती है। वि० दे० "डंड"।

भूमिदंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चमेली।

भूमिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्राह्मण। (२) राजा।

भूमिधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पर्वत। (२) शेषनाग।

भूमिपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूमिपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूमिपिशाच-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ का पेड़।

भूमिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल ग्रह। (२) नरकासुर का एक नाम। (३) श्योनाक वृक्ष।

भूमिपुत्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता।

भूमिया-संज्ञा पुं० [सं० भूमि+इया (प्रत्य०)] (१) भूमि का अधिकारी। भूमि का असल मालिक। (२) ज़िमींदार। (३) ग्रामदेवता। (४) किसी देश के प्राचीन और मुख्य निवासी।

भूमिलग्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफ़ेद फूल की अपराजिता।

भूमिलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी।

भूमिलवण-संज्ञा पुं० [सं०] शोरा।

भूमिलेप-संज्ञा पुं० [सं०] गोबर।

भूमिवर्द्धन-संज्ञा पुं० [सं०] मृत शरीर। शव। लाश।

भूमिवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला।

भूमिसंभवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता।

भूमिसव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का व्रात्य स्तोम या यज्ञ।

भूमिसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंगल ग्रह। (२) नरकासुर का एक नाम। (३) वृक्ष। पेड़। (४) केवाँच। कौंच।

भूमिसुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] जानकीजी।

भूमिसुर-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

भूमिसेन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दसवें मनु के एक पुत्र का नाम।

भूमिस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक दिन में संपन्न होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

भूमिस्पर्श-संज्ञा पुं० [सं०] उपासना के लिये बौद्धों का एक आसन। वज्रासन।

भूमिहार-संज्ञा पुं० [सं०] एक जाति जो प्रायः बिहार में और कहीं कहीं संयुक्त प्रांत में भी पाई जाती है।
विशेष—इस जाति के लोग अपने आपको ब्राह्मणों के अंतर्गत बतलाते हैं और प्रायः अपने आपको "बाभन" कहते हैं। इस जाति की उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की बातें सुनने में आती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जब परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दिया था, तब जिन ब्राह्मणों को उन्होंने राज्य का भार सौंपा था, उन्हीं के वंशधर ये भूमिहार या बाभन हैं। कुछ लोगों का कहना है कि मगध के राजा जरासंध ने अपने यज्ञ में एक लाख ब्राह्मण बुलाए थे। पर जब इतनी संख्या में ब्राह्मण न मिले, तब उनके एक मंत्री ने छोटी जाति के बहुत से लोगों को यज्ञोपवीत पहनाकर ला खड़ा किया था; और उन्हीं की संतान ये लोग हैं। जो हो पर इसमें संदेह नहीं कि इस जाति में ब्राह्मणों के यजन, याजन आदि कर्म्मों का नितांत अभाव देखने में आता है और प्रायः क्षत्रियों की अनेक बातें इनमें पाई जाती हैं। ये लोग दान नहीं लेते और प्रायः खेती बारी या नौकरी करके अपना निर्वाह करते हैं।

भूमींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूमीरुह-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष। पेड़।

भूम्याफली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराजिता लता।

भूम्यामलकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] भुईं आँवला।

भूम्यालीक-संज्ञा पुं० [सं०] धरती संबंधी मिथ्या भाषण। किसी की ज़मीन को अपना बताना। (जैन)

भूय-अव्य० [सं० भूयस्] (१) पुनः। फिर। (२) बहुत। अधिक। (डिं०)

भूयण-संज्ञा स्त्री० [सं० भू] पृथ्वी। (डिं०)

भूयस्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भूमिखजुरी। भुईंखजूर।

भूर-वि० [सं० भूरि] बहुत। अधिक।
संज्ञा पुं० [हिं० भुरभुरा] बालू। उ०—भूरहु भूरि नदीनि के पूरनि नावनि मैं बहुतै बनि बैसे।—केशव।
संज्ञा स्त्री० [देश०] गाय की एक जाति।

भूरज-संज्ञा पुं० [सं० भूर्ज] भोजपत्र का पेड़। उ०—भूरज तरु सम संत कृपाला। पर हित नित सह बिपति बिसाला।—तुलसी।
संज्ञा पुं० [सं० भू+रज] पृथ्वी की धूलि। गर्द। मिट्टी। उ०—भूरज तो जाके सोधि परै बहुतेरे हमैं देखि द्वार भूरज तें निस चित चाह है।

भूरजपत्र-संज्ञा पुं० [सं० भूर्जपत्र] भोजपत्र। उ०—ललित लता दल भूरजपत्रा। विविध बिछाइत बटतरु छत्रा।—पद्माकर।

भूरति–संज्ञा पुं० [सं०] कृशाश्व के एक पुत्र का नाम।

भूरपूर*†–वि० [सं० भूरि+पूर्ण] भरपूर। परिपूर्ण।

क्रि० वि० पूरी तरह से। पूर्ण रूप से।

भूरला–संज्ञा पुं० [देश०] वैश्यों की एक जाति।

भूरलोखरिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूर=बालू+लोखरी=लोमड़ी] वह बलुई मिट्टी जिसमें लोमड़ी माँद बनाती है।

भूरसी दक्षिणा–संज्ञा स्त्री० [सं० भूयसी+दक्षिणा] (१) वह थोड़ी थोड़ी दक्षिणा जो किसी बड़े दान, यज्ञ या दूसरे धर्मकृत्य के अंत में उपस्थित ब्राह्मणों को दी जाती है। (२) वे छोटे छोटे खर्च जो किसी बड़े खर्च के बाद होते हैं।

क्रि० प्र०—देना।—बाँटना।

भूरा–संज्ञा पुं० [सं० बभ्रु] (१) मिट्टी का सा रंग। खाकी रंग। मटमैला रंग। धूमिल रंग। (२) युरोप देश का निवासी। युरोपियन। गोरा। (डिं०) (३) एक प्रकार का कबूतर जिसकी पीठ काली और पेट पर सफ़ेद छींटे होते हैं। (४) कच्ची चीनी को पकाकर और साफ़ करके बनाई हुई चीनी। (५) कच्ची चीनी। खाँड। (६) चीनी।

वि० मिट्टी के रंग का। मटमैले रंग का। खाकी।

भूरा कुम्हड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० भूरा+कुम्हड़ा] सफ़ेद रंग का कुम्हड़ा। पेठा।

भूरि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा। (२) विष्णु। (३) शिव। (४) इंद्र। (५) सोमदत्त के एक पुत्र का नाम। (६) स्वर्ण। सोना।

वि० [सं०] (१) प्रचुर। अधिक। बहुत (२) बड़ा। भारी।

भूरिक्–संज्ञा पुं० [सं०] गायत्री छंद का एक भेद।

संज्ञा स्त्री० [सं० भूरिक या भूरिज्] पृथ्वी।

भूरिगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुरा नामक गंध द्रव्य।

भूरिगम–संज्ञा पुं० [सं०] गधा।

भूरिज्–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

भूरिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भूरि अथवा अधिक होने का भाव। अधिकता। ज्यादती।

भूरितेजस–संज्ञा पुं० [सं० भूरितेजस्] (१) अग्नि। उ०—त्रिगेश विश्वानर प्लवगं हुभरितेजस सर्व जू। सुकुमार सू भगवान रुद्र हिरण्यगर्भ अखर्व जू।—विश्राम। (२) सोना।

भूरिदक्षिण–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

भूरिदा–वि० [सं०] बहुत बड़ा दानी। बहुत देनेवाला। उ०—प्रबुध प्रेम की राशि भूरिदा आविरहोता।—नाभा।

भूरिदुग्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली।

भूरिद्युम्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक चक्रवर्त्ती राजा जिसका नाम मैत्र्युपनिषद् में आया है। (२) नवें मनु के एक पुत्र का नाम।

भूरिधाम–संज्ञा पुं० [सं० भूरिधामन्] नवें मनु के एक पुत्र का नाम।

भूरिबल–संज्ञा पुं० [सं०] धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

भूरिबला–संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिबला। कँगही। ककही।

भूरिमंजरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सफ़ेद तुलसी।

भूरिमल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मणी या पाढ़ा नाम की लता।

भूरिमूलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मणी लता। पाढ़ा।

भूरिरस–संज्ञा पुं० [सं०] ईख। ऊँख।

भूरिल्लग्ना–संज्ञा स्त्री० [सं०] सफ़ेद अपराजिता।

भूरिवीर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राजा का नाम।

भूरिश्रवा–संज्ञा पुं० [सं० भूरिश्रवस्] वाह्लीक के चंद्रवंशी राजा सोमदत्त का पुत्र जो कौरवों की ओर से महाभारत में लड़ा था और जो अर्जुन के हाथ से मारा गया था।

भूरिषेण–संज्ञा पुं० [सं०] भागवत के अनुसार एक मनु का नाम।

भूरिसेन–संज्ञा पुं० [सं०] राजा शर्याति के तीन पुत्रों में से एक पुत्र का नाम।

भूरुंडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] हस्तिनी नामक वृक्ष। हाथीसूँड़।

भूरुह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष। पेड़। (२) अर्जुन वृक्ष। (३) शाल का वृक्ष।

भूरुहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब।

भूर्ज–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र का वृक्ष।

भूर्जकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक वर्णसंकर जाति।

भूर्जपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] भोजपत्र।

भूर्णि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। मरुभूमि। रेगिस्तान।

भूर्भुव–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा के एक मानस-पुत्र का नाम।

भूर्लोक–संज्ञा पुं० [सं०] मर्त्यलोक। संसार। जगत्।

भूल–संज्ञा स्त्री० [हिं० भूलना] (१) भूलने का भाव। (२) ग़लती। चूक। जैसे,—इस मामले में आपने बड़ी भूल की। उ०—कियो सयानी सखिन सों नहिं सयान यह भूल। दुरै दुराई फूल लौं क्यों पिय आगम फूल।—बिहारी।

यौ०—भूल चूक।

मुहा०—भूल के कोई काम करना=कोई ऐसा काम करना जो पहले न करते रहे हों। भ्रम में पड़कर कोई काम कर बैठना। जैसे,—आज हम भूल के तुम्हारे साथ चल पड़े। भूल के कोई काम न करना=कदापि कोई काम न करना। हरगिज कोई काम न करना। जैसे,—हम तो कभी भूल के भी उनके घर नहीं जाते।

(३) कसूर। दोष। अपराध। (४) अशुद्धि। ग़लती। जैसे,—हिसाब में २) की भूल है।

क्रि० प्र०—निकलना।—पड़ना।

भूलग्ना–संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी।

भूलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] केंचुआ नाम का कीड़ा।

भूलक*†-संज्ञा पुं० [हिं० भूल+क (प्रत्य०)] भूल करनेवाला। जिससे भूल होती हो।

भूलना-क्रि० स० [सं० विह्वल ?] (१) विस्मरण करना। याद न रखना। ध्यान न रखना। जैसे,—(क) आप तो बहुत सी बातें यों ही भूल जाते हैं। (ख) कल रात को लौटते समय मैं रास्ता भूल गया था। (२) ग़लती करना। (३) खो देना। गुम कर देना।

क्रि० अ० (१) विस्मृत होना। याद न रहना। जैसे,—अब वह बात भूल गई। (२) चूकना। ग़लती होना। (३) धोखे में आना। जैसे,—आप उनकी बातों में मत भूलिए। (४) अनुरक्त होना। आसक्त होना। लुभाना। (५) घमंड में होना। इतराना। जैसे,—आप १००) की नौकरी पर ही भूले हुए हैं। (६) गुम होना। खो जाना। उ०—जैसे चाँद गोहन सब तारा। पर्‍यो भुलाय देखि उँजियारा।—जायसी।

वि० जिसे स्मरण न रहता हो। भूलनेवाला। जैसे,—भूलना स्वभाव। भूलना आदमी।

भूलभुलैयाँ-संज्ञा स्त्री० [हिं० भूल+भुलाना+ऐयाँ (प्रत्य०)] (१) वह घुमावदार और चक्कर में डालनेवाली इमारत जिसमें एक ही तरह के बहुत से रास्ते और बहुत से दरवाज़े आदि होते हैं और जिसमें जाकर आदमी इस प्रकार भूल जाता है कि फिर बाहर नहीं निकल सकता। (२) चकाबू। (३) बहुत घुमाव-फिराव की बात या घटना। बहुत चक्करदार और पेचीली बात।

भूलोक-संज्ञा पुं० [सं०] मर्त्यलोक। भूतल। संसार। जगत्।

भूलोटन-वि० [हिं० भू+लोटना] पृथ्वी पर लोटनेवाला।

भूवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूवा-संज्ञा पुं० [हिं० धूआ] (१) रूई। उ०—सेंवर सेव न रेत कर सूवा। पुनि पछतास अंत हो भूवा।—जायसी।

वि० रूई के समान उजला। सफ़ेद। उ०—भँवर गये केशहि दै भूवा। जोबन गयो जीत लै जूवा।—जायसी।

संज्ञा स्त्री० दे० "बूआ" उ०—अंगद बहनि लागै वाकी भूवा पागै तासों देवो विष मारो फेरि तुही पग छिये हैं।—प्रिया०।

भूवायु-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी पर की हवा। वायु। पवन।

भूवारि-संज्ञा पुं० [डिं०] वह स्थान जहाँ हाथी पकड़कर रखे या बाँधे जाते हैं।

भूविद्या-संज्ञा स्त्री० दे० "भूगर्भशास्त्र"।

भूशक्र-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

भूशय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) नेवला, गोध आदि बिल में रहनेवाले जानवर। वैद्यक में इस वर्ग के जंतुओं का मांस गुरु, उष्ण, मधुर, स्निग्ध, वायुनाशक और शुक्र-वर्धक माना जाता है।

भूशय्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शयन करने की भूमि। (२) भूमि पर सोना।

भूशर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद।

भूशायी-वि० [सं० भूशायिन्] (१) पृथ्वी पर सोनेवाला। (२) पृथ्वी पर गिरा हुआ। (३) मृतक। मरा हुआ।

भूषण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अलंकार। गहना। ज़ेवर। (२) वह जिससे किसी चीज़ की शोभा बढ़ती हो। जैसे,—आप अपने कुल के भूषण हैं। (३) विष्णु।

भूषणता-संज्ञा स्त्री० [सं०] भूषण का भाव या धर्म्म।

भूषन*-संज्ञा पुं० दे० "भूषण"।

भूषना*†-क्रि० स० [सं० भूषण] भूषित करना। अलंकृत करना। सजाना। उ०—अरुण पराग जलज भरि नीके। शशि भूषत अहि लोभ अमी के।—तुलसी।

भूषा-संज्ञा पुं० [सं० भूषण] (१) गहना। ज़ेवर। (२) अलंकृत करने की क्रिया। सजाने की क्रिया।

यौ०-वेष-भूषा।

भूषित-वि० [सं०] (१) गहना पहने हुआ। अलंकृत। (२) सजाया हुआ। सँवारा हुआ। सज्जित। उ०—राम भक्ति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी।—तुलसी।

भूष्य-वि० [सं०] भूषित करने के योग्य। अलंकार पहनाने या सजाने के योग्य।

भूसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करने से पहले भूमि को परिष्कृत करने, नापने, रेखाएँ खींचने आदि की क्रियाएँ। भूमि का वह संस्कार जो यज्ञ से पहले किया जाता है।

भूस‡-संज्ञा पुं० दे० "भूसा"।

भूसठ†-संज्ञा पुं० [देश०] कुत्ता। श्वान।

भूसन*†-संज्ञा पुं० दे० "भूषण"।

‡ संज्ञा पुं० [हिं० भूकना] कुत्तों का शब्द करना। भूँकना।

भूसना†-क्रि० अ० [हिं० भूँकना] कुत्तों का बोलना। भूँकना।

भूसा-संज्ञा पुं० [सं० तुष] (१) गेहूँ, जौ आदि की बालों का महीन और टुकड़े टुकड़े किया हुआ छिलका जो पशुओं और विशेषतः गौओं, भैंसों को खिलाया जाता है। भुस। भूसी।

भूसी-संज्ञा स्त्री० [हिं० भूसा] (१) भूसा। (२) किसी प्रकार के अन्न या दाने के ऊपर का छिलका जैसे, कँगनी की भूसी।

भूसीकर-संज्ञा पुं० [हिं०भूसी+कर ?] एक प्रकार का धान जो अगहन के महीने में तैयार होता है और जिसका चावल सालों रह सकता है।

भूसुत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वृक्ष। पेड़। पौधा। (२) मंगल ग्रह। (३) नरकासुर।

वि० जो पृथ्वी से उत्पन्न हो।

भूसुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता।

भूसुर—संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के देवता, ब्राह्मण।

भूस्तृण—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की घास। खवी। घटियारी।

भूस्थ—संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य।

भूस्वर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] सुमेरु पर्वत।

भृंग—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौंरा। (२) एक प्रकार का कीड़ा, जिसे बिलनी भी कहते हैं। इसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यह किसी कीड़े के ढोले को पकड़कर ले आता है और उसे मिट्टी से ढक देता है; और उस पर बैठकर और डंक मार मारकर इतनी देर तक और इतने ज़ोर से "भिन्न भिन्न" शब्द करता है कि वह कीड़ा भी इसी की तरह हो जाता है। उ०—(क) भइ मति कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखे रघुराई।—तुलसी। (ख) कीट भृंग ऐसे उर अंतर। मन स्वरूप करि देत निरंतर।—लल्लू।

भृंगक—संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज पक्षी।

भृंगज—संज्ञा पुं० [सं०] अगरु।

भृंगजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] भारंगी।

भृंगप्रिया—संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता।

भृंगबंधु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंद का पेड़। (२) कदम का पेड़।

भृंगमोही—संज्ञा पुं० [सं० भृंगमोहिन्] (१) चंपा। (२) कनकचंपा।

भृंगरज—संज्ञा पुं० दे० "भृंगराज"।

भृंगराज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भँगरा नामक वनस्पति। भङ्गरैया। घमरा। (२) काले रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जो प्रायः सारे भारत, बरमा, चीन आदि देशों में पाया जाता है। भीमराज। वि० दे० "भीमराज"।

भृंगराजघृत—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का घृत जो साधारण घी में भँगरैया का रस मिलाकर बनाया जाता है। कहते हैं कि इसकी नास लेने से सफ़ेद बाल काले हो जाते हैं।

भृंगरीट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के द्वारपाल। (२) लोहा।

भृंगवल्लभ—संज्ञा पुं० [सं०] भूमि कदंब।

भृंगाभीष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] आम का वृक्ष।

भृंगार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लौंग। (२) सोना। स्वर्ण। (३) सोने का बना हुआ जल पीने का पात्र। (४) जल भरकर अभिषेक करने की झारी।

भृंगारि—संज्ञा स्त्री० [सं०] केवड़ा।

भृंगारिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] झिल्ली नामक कीड़ा।

भृंगार्क—संज्ञा पुं० [सं०] भँगरैया।

भृंगी—संज्ञा पुं० [सं० भृंगिन्] (१) शिवजी का एक पारिषद वा गण। (२) बड़ का पेड़।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भौंरी। (२) बिलनी नामक कीड़ा जो और कीड़ों को भी अपने समान रूपवाला बना लेता है। (३) अतिविषा। अतीस। (४) भाँग।

भृंगीफल—संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा।

भृंगीश—संज्ञा पुं० [सं०] शिव। महादेव।

भृंगेष्टा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घीकुआर। (२) भारंगी। (३) युवती स्त्री।

भृंकुश—संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री का वेश धारण करनेवाला नट।

भृकुटी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भौंह।

भृगु—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध मुनि जो शिव के पुत्र माने जाते हैं। प्रसिद्ध है कि इन्होंने विष्णु की छाती में लात मारी थी। इन्हीं के वंश में परशुरामजी हुए थे। कहते हैं कि इन्हीं भृगु और अंगिरा तथा कपि से सारे संसार के मनुष्यों की सृष्टि हुई है। ये सप्तर्षियों में से एक माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में महाभारत में लिखा है कि एक बार रुद्र ने एक बड़ा यज्ञ किया था, जिसे देखने के लिये बहुत से देवता, उनकी कन्याएँ तथा स्त्रियाँ आदि आई थीं। जब ब्रह्मा उस यज्ञ में आहुति देने लगे, तब देवकन्याओं आदि को देखकर उनका वीर्य्य स्खलित हो गया। सूर्य्य ने अपनी किरणों से वह वीर्य्य खींचकर अग्नि में डाल दिया। उसी वीर्य्य से अग्निशिखा में से भृगु की उत्पत्ति हुई थी। (२) परशुराम। (३) शुक्राचार्य। (४) शुक्रवार का दिन। (५) शिव। (६) जमदग्नि। (७) पहाड़ का ऐसा किनारा जहाँ से गिरने पर मनुष्य बिलकुल नीचे आ जाय, बीच में कहीं रुक न सके।

भृगुक—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कूर्म्मचक्र के एक देश का नाम।

भृगुकच्छ—संज्ञा पुं० [सं०] आधुनिक भड़ौच जो प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध तीर्थ था।

भृगुज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृगु के वंशज। भार्गव। (२) शुक्राचार्य।

भृगुतुंग—संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय की एक चोटी का नाम। यह एक पवित्र तीर्थ स्थान माना जाता है।

भृगुनंद, भृगुनंदन—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम।

भृगुनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम।

भृगुनायक—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम।

भृगुपति—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम।

भृगुराम—संज्ञा पुं० [सं०] परशुराम।

भृगुरेखा—संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णु की छाती पर का वह चिह्न जो भृगु मुनि के लात मारने से हुआ था। उ०—(क) माथे मुकुट सुभग पीताम्बर उर सोभित भृगु-रेखा हो।—सूर। (ख) तट भुजदंड भौंर भृगुरेखा चंदन चित्रित रंगन सुंदर।—सूर।

भृगुलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भृगु मुनि के चरण का चिह्न जो विष्णु की छाती पर है।

भृगुवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] तैत्तिरीय उपनिषद् की तीसरी वल्ली जिसका अध्ययन भृगु मुनि ने किया था।

भृगुसुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुक्राचार्य। (२) शुक्र ग्रह।

भृत–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भृता] (१) भृत्य। दास। सेवक। (२) मिताक्षरा के अनुसार वह दास जो बोझ ढोता हो। ऐसा दास अधम कहा गया है।

वि० [सं०] (१) भरा हुआ। पूरित। उ०—छाए आम पास दीसैं भौंर भृत भनकार।—भुवनेश। (२) पाला हुआ। पोषण किया हुआ।

भृतक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो वेतन लेकर काम करता हो। नौकर।

भृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नौकरी। (२) मज़दूरी। (३) वेतन। तनख़ाह (४) मूल्य। दाम। (५) भरने की क्रिया। (६) पालन करना। उ०—वै पथ विकल चकित अति आतुर अर्मत हेतु दियो। भृति बिलंबि पृष्टि दै श्यामा श्यामै श्याम बियो।—सुर।

भृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भृत्या] सेवक। नौकर।

भृत्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] भृत्य का धर्म्म, भाव या पद।

भृत्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दासी। (२) वेतन। तनख़ाह।

भृमि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमनेवाली वायु। बवंडर। (२) पानी में का भँवर या चक्कर। (३) वैदिक काल की एक प्रकार की वीणा।

वि० घूमनेवाला। चक्कर काटनेवाला।

भृम्यश्व–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

भृश–क्रि० वि० [सं०] अत्यधिक। बहुत अधिक। उ०—तेहि के आगे मिलत हैं जोजन सहस अठार। तपत भानु भृश शीश पर तहँ अति तुदन अपार।—विश्वास।

भृशपत्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] महानीली।

भृष्ट–वि० [सं०] भूना हुआ।

भृष्टकार–संज्ञा पुं० [सं०] भड़भूँजा।

भेंउनी†–संज्ञा स्त्री० दे० "भौंती"।

भेंट–संज्ञा स्त्री० [हिं० भेंटना] (१) मिलना। मुलाक़ात। जैसे,—यदि समय मिले तो उनसे भी भेंट कर लीजिएगा। (२) उपहार। नज़राना। उपायन। जैसे,—ये ५०) आपकी भेंट हैं।

क्रि० प्र०—चढ़ना।—चढ़ाना।—देना।—पाना।—मिलना।—लेना।

भेंटना*†–क्रि० स० [सं० भिद्=आमने सामने से आकर भिड़ना] (१) मुलाक़ात करना। मिलना। (२) गले लगाना। छाती से लगाना। आलिंगन करना।

भेंटाना†–क्रि० स० [हिं० भेंट] (१) मुलाक़ात होना। मिलना। (२) किसी पदार्थ तक हाथ पहुँचना। हाथ से छुआ जाना।

भेंड़–संज्ञा स्त्री० दे० "भेड़"।

भेंवना–क्रि० स० [हिं० भिगोना] भिगोना। तर करना। उ०—(क) भेंवल धरल या दूध में खाजा तोरे बदे।—तेग अली। (ख) लुचई पोइ पोइ घी भेंई। पाछे चहनि खाँड़ सो जेंई।—जायसी।

भेउ*†–संज्ञा पुं० [सं० भेद] भेद। मर्म। रहस्य।

भेक–संज्ञा पुं० दे० "मेंढक"।

भेकराज–संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज। भँगरैया।

भेख–संज्ञा पुं० दे० "वेष"।

भेखज*–संज्ञा पुं० दे० "भेषज"।

भेज–संज्ञा स्त्री० [हिं० भेजना] (१) वह जो कुछ भेजा जाय। (२) लगान। (३) विविध प्रकार के कर जो भूमि पर लगाए जाते हैं।

भेजना–क्रि० स० [सं० व्रजन्] किसी वस्तु या व्यक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान के लिये रवाना करना। किसी वस्तु या पदार्थ के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का आयोजन करना।

संयो० क्रि०—देना।

भेजवाना–क्रि० स० [हिं० भेजना का प्रेर०] भेजने के लिये प्रेरणा करना। दूसरे को भेजने में प्रवृत्त करना। भेजने का काम दूसरे से कराना।

संयो० क्रि०—देना।

भेजा–संज्ञा पुं० [?] खोपड़ी के भीतर का गूदा। सिर के अंदर का मग़ज़।

मुहा०—भेजा खाना=बक बककर सिर खाना। बहुत बक बककर तंग करना।

† संज्ञा पुं० [हिं० भेजना] चंदा। बेहरी।

भेजाबरार–संज्ञा पुं० [हिं० भेजा=चंदा+फ़ा० बरार] एक प्रथा जिसके अनुसार देहातों में किसी दरिद्र या दिवालिए का देन चुकाने के लिये आस पास के लोगों से चंदा लिया जाता है।

भेट–संज्ञा स्त्री० दे० "भेंट"।

भेटना–क्रि० स० दे० "भेंटना"।

† संज्ञा पुं० [देश०] कपास के पौधे का फल। कपास का ढोंढा।

भेड़–संज्ञा स्त्री० [सं० मेष] [पुं० भेड़ा] (१) बकरी की जाति का, पर आकार में उससे कुछ छोटा एक प्रसिद्ध चौपाया जो बहुत ही सीधा होता है और किसी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता। गाडर।

विशेष—भेड़ प्रायः सारे संसार में पाई जाती है और इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। यह दूध, ऊन और मांस के लिये

पाली जाती है। इसका दूध गौ के दूध की अपेक्षा गाढ़ा होता है और उसमें से मक्खन अधिक निकलता है। इसका मांस बकरी के मांस की अपेक्षा कुछ कम स्वादिष्ट होता है; पर पाश्चात्य देशों में अधिकता से खाया जाता है। इसके शरीर पर से ऊन बहुत निकलता है और प्रायः उसी के लिये इस देश के गड़रिए इसे पालते हैं। कहीं कहीं की भेड़ें आकार में बड़ी भी होती हैं और उनका मांस भी बहुत स्वादिष्ट होता है। इसके नर को भेड़ा और बच्चे को मेमना कहते हैं। इसकी एक जाति की दुम बहुत चौड़ी और भारी होती है जिसे दुंबा कहते हैं। दे० "दुंबा"।

मुहा०—भेड़ियाधसान=बिना परिणाम सोचे समझे दूसरों का अनुसरण करना। (भेड़ों का यह नियम होता है कि यदि एक भेड़ किसी ओर को चल पड़ती है, तो बाकी सब भेड़ें भी चुपचाप उसके पीछे हो लेती हैं।)

(२) बहुत सीधा या मूर्ख मनुष्य।

संज्ञा स्त्री० [हिं० भिड़ाना या भेड़ना=थप्पड़ मारना] थप्पड़। (बाज़ारू)

भेड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० भेड़] भेड़ जाति का नर। मेढ़ा। मेष।

भेड़िया—संज्ञा पुं० [हिं० भेड़] एक प्रसिद्ध जंगली मांसाहारी जंतु जो प्रायः सारे एशिया, युरोप और उत्तर अमेरिका में पाया जाता है। यह प्रायः ३-३॥ हाथ लंबा होता है और जंगली कुत्तों से बहुत मिलता जुलता होता है। यह प्रायः बस्तियों के आस पास झुंड बाँधकर रहता है और गाँवों में से भेड़-बकरियों, मुरगों अथवा छोटे छोटे बच्चों आदि को उठा ले जाता है। यह अपने शिकार को दौड़ाकर उसका पीछा भी करता है और बहुत तेज दौड़ने के कारण शीघ्र ही उसको पकड़ लेता है। यह प्रायः रात के समय बहुत शोर मचाता है। यह ज़मीन में गड्ढा या माँद बनाकर रहता है और उसी में बच्चे देता है। इसके बच्चों की आँखें जन्म के समय बिलकुल बंद रहती हैं और कान लटके हुए होते हैं। इसके काटने से एक प्रकार का बहुत तीव्र विष चढ़ता है जिससे बचना बहुत कठिन होता है। सियार। शृगाल।

भेड़ी—संज्ञा स्त्री० दे० "भेड़"।

भेद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेदने की क्रिया। छेदने या अलग करने की क्रिया। (२) प्राचीन राजनीति के अनुसार शत्रु को वश में करने के चार उपायों में से तीसरा उपाय जिसके अनुसार शत्रु पक्ष के लोगों को बहकाकर अपनी ओर मिला लिया जाता है अथवा उनमें परस्पर द्वेष उत्पन्न कर दिया जाता है। (३) भीतरी छिपा हुआ हाल। रहस्य।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।—लेना।

(४) मर्म। तात्पर्य। (५) अंतर। फ़र्क़। जैसे,—इन दोनों कपड़ों में बहुत भेद है। (६) प्रकार। क़िस्म। जाति। जैसे,—इस वृक्ष के कई भेद होते हैं।

भेदक—वि० [सं०] (१) भेदन करनेवाला। छेदनेवाला। (२) रेचक। दस्तावर। (वैद्यक)

भेदकातिशयोक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें "औरै" "औरै" शब्द द्वारा किसी वस्तु की 'अति' वर्णन की जाती है। जैसे,—औरै कछु चितवनि चलनि औरै मृदु मुसकानि। औरै कछु सुख देति है सकै न बैन बखानि।

भेदकारी—संज्ञा पुं० [सं० भेदकारिन्] वह जो भेदन करता हो। भेदनेवाला।

भेदड़ी—संज्ञा स्त्री० [देश०] रबड़ी। उ०—पतली पेज (भेदड़ी, राबड़ी) में दूध या छाँछ या दही मिलाकर भर पेट खिला दो।—प्रतापसिंह।

भेदन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० भेदनीय, भेद्य] (१) भेदने की क्रिया। छेदना। बेधना। विदीर्ण करना। (२) अमलबेत। (३) हींग। (४) सूअर।

वि० (१) भेदनेवाला। छेदनेवाला। (२) दस्त लानेवाला। रेचक। दस्तावर।

भेदबुद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] एकता का नाश या अभाव। फूट। बिलगाव।

भेदभाव—संज्ञा पुं० [सं०] अंतर। फ़रक़।

भेदित—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार का मंत्र जो निंदित समझा जाता है।

भेदिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्र के अनुसार एक प्रकार की शक्ति जिसकी सहायता से योगी लोग षटचक्र को भेद सकते हैं। इस शक्ति के साधन से योगी बहुत श्रेष्ठ हो जाता है।

भेदिया—संज्ञा पुं० [सं० भेद+इया (प्रत्य०)] (१) भेद लेनेवाला। जासूस। गुप्तचर। (२) गुप्त रहस्य जाननेवाला।

भेदी—संज्ञा पुं० [हिं० भेद+ई (प्रत्य०)] (१) गुप्त हाल बतानेवाला। जासूस। गुप्तचर। (२) गुप्त हाल जाननेवाला।

वि० [सं० भेदिन्] भेदन करनेवाला। फोड़नेवाला।

संज्ञा पुं० अमलबेत।

भेदीसार—संज्ञा पुं० [सं०] बढ़इयों का एक औज़ार जिससे वे काठ में छेद करते हैं। बरमा। उ०—भेदि दुसार कियो हियो तन दुति भेदीसार।—बिहारी।

भेदुर—संज्ञा पुं० [सं०] वज्र।

भेद्य—वि० [सं०] भेदन करने योग्य। जो भेदा या छेदा जा सके।

संज्ञा पुं० शस्त्रों आदि की सहायता से किसी पीड़ित अंग या फोड़े आदि को भेदन करने की क्रिया। चीर-फाड़।

भेना†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहिन] बहिन। (इसका शुद्ध रूप प्रायः भैन है।) उ०—मुँह पीट के हमसाये से कहती है कि भेना। नाहक़ की खराबी है न लेना है न देना।—नज़ीर।

भेना†–क्रि० स० [हिं० भिगोना] भिगोना। तर करना। उ०—सिरका भेइ काढ़ि जनु आने। कमल जो भये रहहिं बिकसाने।—जायसी।

भेभम–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत छोटा और पतला बाँस जो हिमालय में होता है। इसे रिंगाल या निगाल भी कहते हैं। बंगाल में 'निगाली इसी बाँस की बनती है।

भेर–संज्ञा स्त्री० दे० "भेरी"।

भेरवा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का खजूर जिसके पत्तों के रेशों से रस्सियाँ बनती हैं। यह भारत के प्रायः सभी गरम प्रदेशों में पाया जाता है। इसे पाछने से एक प्रकार की ताड़ी भी निकलती है जिसका व्यवहार बंबई और लंका में बहुत होता है।

भेरा–संज्ञा पुं० [देश०] मध्य तथा दक्षिणी भारत का मझोले आकार का एक पेड़ जिससे लकड़ी, गोंद, रंग और तेल इत्यादि पदार्थ मिलते हैं। इसकी लकड़ी मेज़, कुर्सी, खेती के औज़ार और तसवीरों के चौखटे आदि बनाने के काम में आती है; पर जलाने के काम की नहीं होती, क्योंकि इससे धूआँ बहुत अधिक निकलता है। इसे भीरा भी कहते हैं।

*†संज्ञा पुं० दे० "बेड़ा"। उ०—भेरे चढ़िया झाँझरे भवसागर के माहिं।—कबीर।

भेरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा ढोल या नगाड़ा। ढक्का। दुंदुभी।

भेरीकार–संज्ञा पुं० [सं० भेरी+कार (प्रत्य०)] [स्त्री० भेरिकारी] भेरी बजानेवाला। उ०—नटिनि डोमिनी ढोलिनी सहनाइनि भेरिकारि।—जायसी।

भेल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

वि० (१) कादर। डरपोक। भीरु। (२) चंचल। (३) मूर्ख बेवकूफ़।

भेला*†–संज्ञा पुं० [हिं० भेंट] (१) भिड़ंत। (२) भेंट। मुलाक़ात। उ०—(क) कृष्ण संग खेलब बहु खेला। बहुत दिवस महँ परिगो भेला।—रघुराज। (ख) देउरा को दल जीत बघेला। तासों पर्‌यो एक दिन भेला।—रघुराज।

संज्ञा पुं० दे० "भिलावाँ"।

संज्ञा पुं० [?] बड़ा गोला या पिंड। जैसे, गुड़ का भेला।

भेली†–संज्ञा स्त्री० [?] (१) गुड़ या और किसी चीज़ की गोल बट्टी या पिंडी। जैसे, चार भेली गुड़। (२) गुड़। (क०)

भेव*†–संज्ञा पुं० [सं० भेद] (१) मर्म की बात। भेद। रहस्य। उ०—वास्तविक नृप चल्यो देव वर वाम देव बल। जरासंध नरदेव भेव गुनि मति अभेव भल।—गोपाल। (२) बारी। पारी। उ०—चौकी दै जनु अपने भेव। बहुरे देवलोक को देव।—केशव।

भेवना*†–क्रि० स० [हिं० भिगोना] भिगोना। तर करना। उ०—अति आदर अनुराग भगति मन भेवहिं।—तुलसी।

भेश–संज्ञा पुं० दे० "वेष"।

भेष–संज्ञा पुं० दे० "वेष"।

भेषज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) औषध। दवा। (२) जल। पानी। (३) सुख। (४) विष्णु।

भेषना*–क्रि० स० [हिं० भेष] (१) भेष बनाना। स्वाँग बनाना। उ०—जा दिन ते उनके परी डीठि ता दिन ते, कैयो भेष भेषि तुम्हें देखि देखि जात हैं।—रघुनाथ। (२) पहनना। उ०—अति सुगंध मर्दन अँग अँग ठनि बनि बनि भूषन भेषति।—सूर।

भेस–संज्ञा पुं० [सं० वेष] (१) बाहरी रूप रंग और पहनावा आदि। वेष।

यौ०—वेष-भूषा।

(२) वह बनावटी रूप-रंग और नक़ली पहनावा आदि जो अपना वास्तविक रूप या परिचय छिपाने के लिये धारण किया जाय। कृत्रिम रूप और वस्त्र आदि।

क्रि० प्र०—धरना।—बदलना।—बनाना।

भेसज*–संज्ञा स्त्री० [सं० भेषज] दवा। औषध।

भेसना*†–क्रि० स० [सं० वेश, हिं० भेष] वेश धारण करना। वस्त्रादि पहनना। उ०—भाव दियो आवैंगे श्याम। अंग अंग आभूषण साजति राजति अपने धाम। रति रण जानि अनंग नृपति सो आप नृपति राजति बल जोरति। अति सुगंध मर्दन अँग अँग ठनि बनि बनि भूषन भेषति।—सूर।

भैंस–संज्ञा स्त्री० [सं० महिष] (१) गाय की जाति और आकार-प्रकार का पर उससे बड़ा चौपाया (मादा) जिसे लोग दूध के लिये पालते हैं। इसके नर को भैंसा कहते हैं।

विशेष—भैंस सारे भारत में पाई जाती है और यहीं से विदेश में गई है। इसके शरीर का रंग बिलकुल काला होता है और इसके रोएँ कुछ बड़े होते हैं। यह प्रायः जल या कीचड़ आदि में रहना बहुत पसंद करती है। इसका दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक गाढ़ा होता है और उसमें से मक्खन या घी भी अधिक निकलता है। मान में भी यह गौ से बहुत अधिक दूध देती है।

मुहा०—भैंस काटना=गरमी का रोग होना। उपदंश होना। (बाज़ारू)

(२) एक प्रकार की मछली जो पंजाब, बंगाल तथा दक्षिण भारत की नदियों में पाई जाती है। इसकी लंबाई तीन फुट होती है। इसका मांस खाने में स्वादिष्ट होता है, परंतु उसमें हड्डियाँ अधिक होती हैं। (३) एक प्रकार की घास।

भैंसा–संज्ञा पुं० [हिं० भैंस] भैंस नामक पशु का नर जो प्रायः बोझ ढोने और गाड़ियाँ आदि खींचने के काम में आता है। पुराणानुसार यह यमराज का वाहन माना जाता है।

भैंसाव†–संज्ञा पुं० [हिं० भैंस+आव (प्रत्य०)] भैंस और भैंसे का जोड़ा खाना। भैंसे से भैंस का गर्भ धारण करना।

भैंसासुर—संज्ञा पुं० दे० "महिषासुर"।

भैंसौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भैंसा+औरी (प्रत्य०)] भैंस का चमड़ा।

भै*—संज्ञा पुं० दे० "भय"।

भैक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भिक्षा माँगने की क्रिया। (२) भिक्षा माँगने का भाव। (३) वह जो कुछ भिक्षा में मिले। भीख।

भैक्षचर्य्या, भैक्षवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] भिक्षा माँगने की क्रिया।

भैक्षाकुल—संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ से बहुत से लोगों को भिक्षा मिलती हो।

भैक्ष्य—संज्ञा पुं० [सं०] भिक्षा। भीख।

भैचक, भैचक*†—वि० [हिं० भय+चक=चकित] चकपकाया हुआ। घबराया हुआ। चकित। विस्मित।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।—होना।

भैजन*—वि० [हिं० भै=भय+जनक] भय उत्पन्न करनेवाला। भयप्रद। उ०—धुनि शत्रु भैजनी करत पाय पैजनी है बैजनी लगाम बनी चरम मृदुल की। पाँति सिंधु मुलकी तुरंगन के कुल की बिसाल ऐसी पुलकी सुचाल तैसी दुलकी।—गोपाल।

भैदा*—वि०[सं० भय+दा (प्रत्य०)] भयप्रद। डरावना।

भैन†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहिन] बहिन। भगिनी।

भैना—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहिन] बहिन। भगिनी।

संज्ञा स्त्री० [देश०] गंगई नामक पक्षी।

भैनी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० बहिन] बहिन। भगिनी।

भैने†—संज्ञा पुं० [सं० भागिनेय] बहिन का पुत्र। भानजा।

भैम—संज्ञा पुं० [सं०] राजा उग्रसेन।

वि० [सं०] भीम संबंधी। भीम का।

भैमगव—संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र का नाम।

भैमी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माघ शुक्ल एकादशी। भीमसेनी एकादशी। (२) भीम राजा की कन्या। दमयंती।

भैयंस†—संज्ञा पुं० [हिं० भाई+अंश] संपत्ति में भाइयों का हिस्सा। भाइयों का अंश।

भैया—संज्ञा पुं० [हिं० भाई] (१) भाई। भ्राता। (२) बराबर-वालों या छोटों के लिये संबोधन शब्द। उ०—(क) पितु समीप तब जायेहु भैया। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैया।—तुलसी। (ख) कहै मोहि मैया मैं न मैया भरत की बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [?] नाव की पट्टी या तख्ती।

भैयाचारा—संज्ञा पुं० दे० "भाईचारा"।

भैयाचारी—संज्ञा स्त्री० दे० "भाईचारा"।

भैयादोज—संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रातृ द्वितीया] कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया। भाईदूज।

विशेष—इस दिन बहिनें अपने भाइयों को टीका लगाती और भोजन कराती हैं।

भैरव—वि० [सं०] (१) जो देखने में भयंकर हो। भीषण। भयानक। (२) जिसका शब्द बहुत भीषण हो।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) शंकर। महादेव। (२) शिव के एक प्रकार के गण जो उन्हीं के अवतार माने जाते हैं।

विशेष—पुराणानुसार जिस समय अंधक राक्षस के साथ शिव का युद्ध हुआ था, उस समय अंधक की गदा से शिव का सिर चार टुकड़े हो गया था और उसमें से लहू की धारा बहने लगी थी। उसी धारा से पाँच भैरवों की उत्पत्ति हुई थी। तांत्रिकों के अनुसार, और कुछ पुराणों के अनुसार भी, भैरवों की संख्या साधारणतः आठ मानी जाती है जिनके नामों के संबंध में कुछ मतभेद है। कुछ के मत से महा-भैरव, संहार भैरव, असितांग भैरव, रुरु भैरव, काल भैरव, क्रोध भैरव, ताम्रचूड़ और चंद्रचूड़ तथा कुछ के मत से असितांग, रुरु, चंड, क्रोध, उन्मत्त, कपाल, भीषण और संहार ये आठ भैरव हैं। तांत्रिक लोग भैरवों की विशेष रूप से उपासना करते हैं।

(३) साहित्य में भयानक रस। (४) एक नाग का नाम। (५) एक नद का नाम। (६) एक राग का नाम जो हनुमत के मत से छः रागों में से मुख्य और पहला है; और ओड़व जाति का है; क्योंकि इसमें ऋषभ और पंचम नहीं होता। पर कुछ लोग इसे षाड़व जाति का और कुछ संपूर्ण जाति का भी मानते हैं। इसके गाने की ऋतु शरद्, वार रवि और समय प्रातःकाल है। हनुमत के मत से भैरवी, बैरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बंगाली ये पाँच इसकी रागिनियाँ और हर्ष तथा सोमेश्वर के मत से भैरवी, गुर्जरी, रेवा, गुणकली, बंगाली और बहुली ये छः इसकी रागिनियाँ हैं। इसकी रागिनियों और पुत्रों की संख्या तथा नामों के संबंध में आचार्य्यों में बहुत मतभेद है। यह हास्यरस का राग माना जाता है और इसका सहचर मधुमाधव तथा सहचरी मधुमाधवी है। एक मत से इसका स्वरग्राम ध, नि, सा, रि, ग, म, प और दूसरे मत से ध, नि, सा, रि, ग, म है। (७) ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक। (८) कपाली। (९) भयानक शब्द। (१०) वह जो मदिरा पीते पीते वमन करने लगे। (तांत्रिक)

भैरवमस्तक—संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक। उ०—न चतुष्कं विना शब्दं ताले भैरवमस्तके।—सं० दा०।

भैरवांजन—संज्ञा पुं० [सं०] आँखों में लगाने का एक प्रकार का अंजन। (वैद्यक)

भैरवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार की देवी जो महाविद्या की एक मूर्त्ति मानी जाती है। चामुंडा।

विशेष—भैरवी की कई मूर्त्तियाँ मानी जाती हैं। जैसे,

त्रिपुर भैरवी, कौलेश भैरवी, रुद्र भैरवी, नित्या भैरवी, चैतन्य भैरवी आदि। इन सबके ध्यान और पूजन आदि भिन्न भिन्न हैं।
(२) एक रागिनी जो भैरव राग की पत्नी और किसी किसी के मत से मालव राग की पत्नी मानी जाती है। हनुमत के मत से यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और शरद् ऋतु में प्रातःकाल के समय गाई जाती है। इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—म, प, ध, नि, सा, ऋ, ग। संगीत रत्नाकर के मत से इसमें मध्यम वादी और धैवत संवादी होता है। (३) पुराणानुसार एक नदी का नाम। (४) पार्वती। (डिं०)

भैरवीचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों या वाममार्गियों का वह समूह जो कुछ विशिष्ट तिथियों, नक्षत्रों और समयों में देवी का पूजन करने के लिये एकत्र होता है। इसमें सब लोग एक चक्र में बैठकर पूजन और मद्यपान आदि करते हैं। इसमें केवल दीक्षित लोग ही सम्मिलित होते हैं और वर्णाश्रम आदि का कोई विचार नहीं रखा जाता। (२) मद्यपों और अनाचारियों आदि का समूह।

भैरवीयातना—संज्ञा स्त्री० [सं० भैरवी यातना] पुराणानुसार वह यातना जो प्राणियों को मरते समय उनकी शुद्धि के लिये भैरवजी देते हैं। कहते हैं कि जब इस प्रकार की यातना से प्राणी सब पातकों से शुद्ध हो जाता है, तब महादेवजी उसे मोक्ष प्रदान करते हैं।

भैरवेश—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

भैरा†—संज्ञा पुं० दे० "बहेड़ा"।

भैरी†—संज्ञा स्त्री० दे० "बहरी"। (पक्षी)

भैरू—संज्ञा पु० दे० "भैरव"।

भैरो—संज्ञा पुं० दे० "भैरव"।

भैवा‡—संज्ञा पुं० दे० "भैया"।

भैवाद†—संज्ञा पुं० [हिं० भाई+आद (प्रत्य०)] (१) भाईचारा। भाईपना। (२) बिरादरी।

भैषज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) औषध। दवा। (२) वैद्य के शिष्य आदि। (३) लवा पक्षी।

भैषज्य—संज्ञा पु० [सं०] दवा। औषध।

भैष्मकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भीष्मक की कन्या रुक्मिणी।

भैहा*†—संज्ञा पुं० [हिं० भय+हा (प्रत्य०)] (१) भयभीत। डरा हुआ। (२) जिस पर भूत वा किसी देव का आवेश आता हो। उ०—घूमन लगे समर में भैहा। मनु अभुआत भाउ भर भैहा।—लाल।

भों—संज्ञा स्त्री० [अनु०] भों भों का शब्द।

भोंकना—क्रि० स० [भक से अनु०] बरछी, तलवार या इसी प्रकार की और कोई नुकीली चीज़ जोर से धँसाना। घुसेड़ना।
क्रि० अ० दे० "भूँकना"।

भोंगरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बेल या लता।

भोंगाल—संज्ञा पुं० [अं० ब्यूगुल] वह बड़ा भोंपा जिसका एक ओर का मुँह बहुत छोटा और दूसरी ओर का मुँह बहुत अधिक चौड़ा तथा फैला हुआ होता है। इसका छोटे मुँह-वाला सिरा जब मुँह के पास रखकर कुछ बोला जाता है, तब उसका शब्द चौड़े मुँह से निकलकर बहुत दूर तक सुनाई देता है। इसका व्यवहार प्रायः भीड़भाड़ के समय बहुत से लोगों को कोई बात सुनाने के लिये होता है।

भोंचाल—संज्ञा पुं० दे० "भूकंप"।

भोंडा—वि० [हिं० भद्दा या भों से अनु०] [स्त्री० भोंडी] भद्दा। बदसूरत। कुरूप।
संज्ञा पुं० [देश०] जुआर की जाति की एक प्रकार की घास जो पशुओं के चारे के काम में आती है। इसमें एक प्रकार के दाने लगते हैं जो ग़रीब लोग खाते हैं।

भोंडापन—संज्ञा पुं० [हिं० भोंडा+पन (प्रत्य०)] (१) भद्दापन। (२) बेहूदगी।

भोंडी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भोंडा] वह भेड़ जिसकी छाती पर के रोएँ सफ़ेद और बाक़ी सारे शरीर के रोएँ काले हों। (गड़रिया)

भोंतरा—वि० [हिं० भुथरा] (शस्त्र) जिसकी धार तेज़ न हो। कुंद धारवाला।

भोंतला†—वि० [हिं० भुथरा] जिसकी धार तेज न हो। कुंद। भुथरा।

भोंदू—वि० [हिं० बुद्धू] (१) बेवक़ूफ़। मूर्ख। (२) सीधा। भोला।

भोंपू—संज्ञा पुं० [भों अनु०+पू (प्रत्य०)] तुरही की तरह का, पर बिलकुल सीधा, एक प्रकार का बाजा जो फूँककर बजाया जाता है। इसका व्यवहार प्रायः वैरागी साधु आदि करते हैं।

भोंसले—संज्ञा पुं० [देश०] महाराष्ट्रों के एक राजकुल की उपाधि। (महाराज शिवाजी और रघुनाथ राव आदि इसी राजकुल के थे।)

भो*—क्रि० अ० [हिं० भया] भया। हुआ।
संबोधन [सं०] हे। हो। (क्व०)

भोकस*†—वि० [हिं० भूख+स (प्रत्य०)] भुक्खड़। भूखा।

भोकार—संज्ञा स्त्री० [भो से अनु०+कार (प्रत्य०)] ज़ोर ज़ोर से रोना।
क्रि० प्र०—फाड़ना।

भोक्ता—वि० [सं० भोक्तृ] (१) भोजन करनेवाला। (२) भोग करनेवाला। भोगनेवाला। (३) ऐश करनेवाला। ऐयाश।
संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) भर्त्ता। पति। (३) एक प्रकार का प्रेत।

भोक्तृत्व—संज्ञा पुं० [सं०] भोक्ता का धर्म्म या भाव।

भोक्तृशक्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि।

भोग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुख या दुःख आदि का अनुभव करना या अपने शरीर पर सहना। (२) सुख। विलास। (३) दुःख। कष्ट। (४) स्त्री संभोग। विषय। (५) साँप का फन। (६) साँप। (७) धन। (८) गृह। घर। (९) पालन। (१०) भक्षण। आहार करना। (११) देह। (१२) मान। परिमाण। (१३) पाप या पुण्य का वह फल जो सहन किया या भोगा जाता है। प्रारब्ध। (१४) पुर। (१५) एक प्रकार का सैनिक व्यूह। (१६) फल। अर्थ। उ०—क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकांडादि में उपकार लेना होता है। परंतु सर्वत्र कर्मकांड में भी इष्ट भोग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता।—दयानंद। (१७) मानुष प्रमाण के तीन भेदों में से एक। भुक्ति (कब्ज़ा)। (१८) देवता आदि के आगे रखे जानेवाले खाद्य पदार्थ। नैवेद्य। उ०—गयो लै महल माँझ टहल लगाये लोग लागे होन भोग जिय शंका तनु छीजिये।—नाभा।

क्रि० प्र०—लगाना।

(१९) भाड़ा। किराया। (२०) सूर्य्य आदि ग्रहों के राशियों में रहने का समय।

भोगदेह-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं०] पुराणानुसार वह सूक्ष्म शरीर जो मनुष्य को मरने के उपरांत स्वर्ग या नरक आदि में जाने के लिये धारण करना पड़ता है।

भोगना-क्रि० अ० [सं० भोग] (१) सुख-दुःख या शुभाशुभ कर्मफलों का अनुभव करना। आनंद या कष्ट आदि को अपने ऊपर सहन करना। भुगतना। (२) सहन करना। सहना। (३) स्त्री-प्रसंग करना।

भोगपति-संज्ञा पुं० [सं०] किसी नगर या प्रांत आदि का प्रधान शासक या अधिकारी।

भोगप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक देश जो उत्तर दिशा में माना गया है।

भोगबंधक-संज्ञा पुं० [सं० भोग्य+हिं० बंधक=रेहन] बंधक या रेहन रखने का वह प्रकार जिसमें उधार लिए हुए रुपए का ब्याज नहीं दिया जाता और उस ब्याज के बदले में रुपया उधार देनेवाले को रेहन रखी हुई भूमि या मकान आदि भोग करने अथवा किराए आदि पर चलाने का अधिकार प्राप्त होता है। दृष्टबंधक का उलटा।

भोगलदाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० भोग+लदाई ?] खेत में कपास का सब से बड़ा पौधा जिसके आस पास बैठकर देहाती लोग उसकी पूजा करते हैं।

भोगलिप्सा-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यसन। लत।

भोगलियाल-संज्ञा स्त्री० [डिं०] कटारी नाम का शस्त्र।

भोगली-संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) छोटी नली। पुपली। (२) नाक में पहनने का लौंग। (३) टेटका या तरकी नाम का कान में पहनने का गहना। (४) वह छोटी पतली पोली कील जो लौंग या कान के फूल आदि को अटकाने के लिये उसमें लगाई जाती है। (५) चपटे तार या बादले का बना हुआ सलमा जिससे दोनों किनारों के बीच की जंजीर बनाई जाती है। कँगनी।

भोगवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाताल गंगा। (२) गंगा। (३) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम। (४) महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नदी का नाम। (५) नागों के रहने का स्थान। नागपुरी। (६) कार्तिकेय की एक मातृका का नाम।

भोगवना*-क्रि० अ० [सं० भोग] भोगना। उ०—सनि कज्जल चख झष लगनि उपज्यो सुदिन सनेह। क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह।—बिहारी।

भोगवान्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) साँप। (२) नाट्य। (३) गान। गीत।

भोगवाना-क्रि० स० [हिं० भोगना का प्रे० रूप] भोगने में दूसरे को प्रवृत्त करना। भोग कराना।

भोगविलास-संज्ञा पुं० [सं०] आमोद प्रमोद। सुख चैन।

भोगांतराय-संज्ञा पुं० [सं०] वह अंतराय जिसका उदय होने से मनुष्य के भोगों की प्राप्ति में विघ्न पड़ता है। वह पाप कर्म्म जिनके उदित होने पर मनुष्य भोगने योग्य पदार्थ पाकर भी उनका भोग नहीं कर सकता। (जैन)

भोगाना-क्रि० स० [हिं० भोगना का प्रे०] भोगने में दूसरे को प्रवृत्त करना। भोग कराना।

भोगिन-संज्ञा स्त्री० दे० "भोगिनी"।

भोगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) राजा की उपपत्नी। राजा की रखेली स्त्री। (२) नागिन।

भोगींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि का एक नाम।

भोगी-संज्ञा पुं० [सं० भोगिन् या भोगीन] (१) भोगनेवाला। वह जो भोगता हो। (२) साँप। (३) ज़मींदार। (४) नृप। राजा। (५) नापित। नाऊ। नाई। (६) शेषनाग। (डिं०)

वि० (१) सुखी। (२) इंद्रियों का सुख चाहनेवाला। (३) भुगतनेवाला। (४) विषयासक्त। (५) आनंद करनेवाला। विलासी (६) विषयी। भोगासक्त। व्यसनी। ऐयाश। (७) खानेवाला।

भोगीन-संज्ञा पुं० दे० "भोगी"।

भोगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

भोग्य-वि० [सं०] (१) भोगने योग्य। काम में लाने योग्य। (२) जिसका भोग किया जाय। (३) खाद्य (पदार्थ)।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) धन। (२) धान्य। (३) भोगबंधक।

भोग्यभूमि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विलास की भूमि। आनंद का स्थान। (२) वह भूमि जिसमें किए हुए पाप-पुण्यों से सुख दुःख प्राप्त हों। मर्त्य लोक।

भोग्यमान–वि० [सं०] जो भोगा जाने को हो, अभी भोगा न गया हो। जैसे, भोग्यमान नक्षत्र।

भोग्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

भोज–संज्ञा पुं० [सं० भोजन या भोज्य] (१) बहुत से लोगों का एक साथ बैठकर खाना पीना। जेवनार। दावत। (२) भौज्य पदार्थ। खाने की चीज़। (३) ज्वार और भाँग के योग से बनी हुई एक प्रकार की शराब जो पूने की ओर मिलती है।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजकट नामक देश जिसे आजकल भोजपुर कहते हैं। (२) चंद्रवंशियों के एक वंश का नाम। (३) पुराणानुसार शांति देवी के गर्भ से उत्पन्न वसुदेव के एक पुत्र का नाम। (४) महाभारत के अनुसार राजा द्रुह्यु के एक पुत्र का नाम। (५) श्रीकृष्ण के सखा एक ग्वाल का नाम। उ०—अर्जुन, भोज अरु सुबल श्रीदामा मधुमंगल इक ताक।—सूर। (६) कान्यकुब्ज के एक प्रसिद्ध राजा जो महाराज रामभद्र देव के पुत्र थे। इन्होंने काश्मीर तक पर अधिकार किया था। ये नवीं शताब्दी में हुए थे। (७) मालवे के परमारवंशी एक प्रसिद्ध राजा जो संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् कवि और विद्याप्रेमी थे।

विशेष—ये धारा नगरी के सिंधुल नामक राजा के लड़के थे और इनकी माता का नाम सावित्री था। जब ये पाँच वर्ष के थे, तभी इनके पिता अपना राज्य और इनके पालन पोषण का भार अपने भाई मुंज पर छोड़कर स्वर्गवासी हुए थे। मुंज इनकी हत्या करना चाहता था; इसलिये उसने बंगाल के राजा वत्सराज को बुलाकर उसको इनकी हत्या का भार सौंपा। वत्सराज इन्हें बहाने से देवी के सामने बलि देने के लिये ले गया। वहाँ पहुँचने पर जब भोज को मालूम हुआ कि यहाँ मैं बलि चढ़ाया जाऊँगा, तब उन्होंने अपनी जाँघ चीरकर उसके रक्त से बड़ के एक पत्ते पर दो श्लोक लिखकर वत्सराज को दिए और कहा कि ये मुंज को दे देना। उस समय वत्सराज को इनकी हत्या करने का साहस न हुआ और उसने इन्हें अपने यहाँ ले जाकर छिपा रखा। जब वत्सराज भोज का कृत्रिम कटा हुआ सिर लेकर मुंज के पास गया, और भोज के श्लोक उसने उन्हें दिए, तब मुंज को बहुत पश्चात्ताप हुआ। मुंज को बहुत विलाप करते देखकर वत्सराज ने उन्हें असल हाल बतला दिया और भोज को लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया। मुंज ने सारा राज्य भोज को दे दिया और आप सस्त्रीक वन को चले। कहते हैं कि भोज बहुत बड़े वीर, प्रतापी, पंडित और गुणग्राही थे। इन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की थी और कई विषयों के अनेक ग्रंथों का निर्माण किया था। ये बहुत अच्छे कवि, दार्शनिक और ज्योतिषी थे। सरस्वती कंठाभरण, श्रृंगारमंजरी, चंपूरामायण, चारुचर्य्या, तत्व-प्रकाश, व्यवहार समुच्चय आदि अनेक ग्रंथ इनके लिखे हुए बतलाए जाते हैं। इनकी सभा सदा बड़े बड़े पंडितों से सुशोभित रहती थी। इनकी स्त्री का नाम लीलावती था जो बहुत बड़ी विदुषी थी।

भोजक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोग करनेवाला। भोगी। (२) ऐयाश। विलासी। उ०—तुम बारी पिय भोजक राजा। गर्व करोध वही पै छाजा।—जायसी।

भोजदेव–संज्ञा पुं० [सं०] कान्यकुब्ज के महाराज भोज। वि० दे० "भोज (७)"।

भोजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आहार को मुँह में रखकर चबाना। भक्षण करना। खाना। (२) वह जो कुछ भक्षण किया जाता हो। खाने की सामग्री। खाने का पदार्थ।

क्रि० प्र०—करना।—पाना।

मुहा०—भोजन पेट में पड़ना=भोजन होना। खाया जाना।

भोजनखानी*–संज्ञा स्त्री० [सं० भोजन+हिं० खान] पाकशाला। रसोईंघर। उ०—चकित विप्र सब सुनि नभ-बानी। भूप गयउ जहँ भोजनखानी।—तुलसी।

भोजनभट्ट–संज्ञा पुं० [हिं० भोजन+सं० भट] वह जो बहुत अधिक खाता हो। पेटू।

भोजनशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] रसोईंघर। पाकशाला।

भोजनाच्छादन–संज्ञा पुं० [सं०] खाना कपड़ा। अन्न वस्त्र। खाने और पहनने की सामग्री।

भोजनालय–संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला। रसोईंघर।

भोजनीय–वि० [सं०] भोजन करने योग्य। खाने योग्य। जो खाया जा सके।

भोजपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कंसराज। (२) राजा भोज। वि० दे० "भोज (७)"।

भोजपत्र–संज्ञा पुं० [सं० भूर्जपत्र] एक प्रकार का मझोले आकार का वृक्ष जो हिमालय पर १४००० फुट की ऊँचाई तक होता है। इसकी लकड़ी बहुत लचीली होती है और जल्दी ख़राब नहीं होती; इसलिये पहाड़ों में यह मकान आदि बनाने के काम में आती है। इसकी पत्तियाँ प्रायः चारे के काम में आती हैं। इसकी छाल काग़ज़ के समान पतली होती है और कई परतों में होती है। यह छाल प्राचीन काल में ग्रंथ और लेख आदि लिखने में बहुत काम आती थी; और अब भी तांत्रिक लोग इसे बहुत पवित्र मानते और इस पर प्रायः यंत्र मंत्र आदि लिखा करते हैं। इसके अतिरिक्त छाल का उपयोग छाते बनाने और छतें छाने में भी होता है; और कभी कभी यह पहनने के भी काम में आती है। छाल का रंग प्रायः लाली लिए ख़ाकी होता है और उस पर छोटी छोटी धारियाँ होती हैं। इसके पत्तों का काथ वातनाशक

मान जाता है। वैद्यक में इसे बलकारक, कफनाशक, कटु, कषाय और उष्ण माना गया है।

पर्य्या०—चर्म्मी। बहुलवल्कल। छत्रपत्र। शिव। स्थिरच्छद। मृदुत्वक्। पत्रपुष्पक। भुज। बहुपट। बहुत्वक्।

भोजपरीक्षक—संज्ञा पुं० [सं०] रसोई की परीक्षा करनेवाला। वह जो इस बात की परीक्षा करता हो कि भोजन में विष आदि तो नहीं मिला है।

भोजपुरिया—संज्ञा पुं० [हिं० भोजपुर+इया (प्रत्य०)] भोजपुर का निवासी। भोजपुर का रहनेवाला।

वि० भोजपुर संबंधी। भोजपुर का।

भोजपुरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० भोजपुर+ई (प्रत्य०)] भोजपुर की भाषा। संज्ञा पुं० भोजपुर का निवासी।

वि० भोजपुर का। भोजपुर संबंधी।

भोजराज—संज्ञा पुं० दे० "भोज"।

भोजविद्या—संज्ञा स्त्री० [सं० भोज+विद्या] इंद्रजाल। बाजीगरी।

भोजी—संज्ञा पुं० [सं० भोजन] खानेवाला। भोजन करनेवाला।

भोजू*—संज्ञा पुं० [सं० भोजन] भोजन। आहार।

भोजेश—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजराज। (२) कंस। (३) दे० "भोज (६)"।

भोज्य—संज्ञा पुं० [सं०] भोजन के पदार्थ। खाद्य पदार्थ।

वि० खाने योग्य। जो खाया जा सके।

भोट—संज्ञा पुं० [सं० भोटग] (१) भूटान देश। (२) एक प्रकार का बड़ा पत्थर जो प्रायः २॥ इंच मोटा, ५ फुट लंबा और १॥ फुट चौड़ा होता है।

भोटिया—संज्ञा पुं० [हिं० भोट+इया (प्रत्य०)] भोट या भूटान देश का निवासी।

संज्ञा स्त्री० भूटान देश की भाषा।

वि० भूटान देश संबंधी। भूटान का। जैसे,—भोटिया टट्टू।

भोटिया बादाम—संज्ञा पुं० [हिं० भोटिया+फ़ा० बादाम] (१) आलूबुखारा। (२) मूँगफली।

भोटी—वि० [हिं० भोट+ई (प्रत्य०)] भूटान देश का।

भोडर†—संज्ञा पुं० [देश०] अभ्रक। अबरक। उ०—पायल पाय लगी रहै लगो अमोलक लाल। भोडर हू की भासिहै बेंदी भामिनि भाल।—बिहारी। (२) अभ्रक का चूर जो होली आदि में गुलाल के साथ उड़ाया जाता है। बुक्का। (३) एक प्रकार का मुश्क बिलाव।

भोडल—संज्ञा पुं० दे० "अबरक"।

भोडागार—संज्ञा पुं० [सं० भांडागार] भंडार। (डिं०)

भोण—संज्ञा पुं० [सं०भवन] गृह। घर। मकान। (डिं०)

भोना*—क्रि० अ० [हिं० भीनना] (१) भीनना। संचरित होना। उ०—(क) रेख कछू कछू अंजन की कछु खंजन की अरुनाई रही भ्वै।—रघुनाथ। (ख) तब लागी गावन बिभास बीच ख्याल एक ताल तान सुर को बधान बीच भ्वै रही।—रघुनाथ। (२) लिप्त होना। लीन होना। (३) आसक्त होना। अनुरक्त होना।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

भोंपा—संज्ञा पुं० [भों से अनु०] (१) एक प्रकार की तुरही या फूँक कर बजाया जानेवाला बाजा। भोंपू। (२) मूर्ख। बेवकूफ़।

भोबरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जिसे झेरन भी कहते हैं।

भोम—संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी। (डिं०)

भोमी—संज्ञा स्त्री० [सं० भूमि] पृथ्वी। (डिं०)

भोर—संज्ञा पुं० [सं० विभावरी] प्रातःकाल। सबेरा। तड़का। उ०—जागे भोर दौड़ि जननी ने अपने कंठ लगायो।—सूर।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का बड़ा पक्षी जिसके पर बहुत सुंदर होते हैं। यह जल तथा हरियाली को बहुत पसंद करता है। यह फल फूल तथा कीड़े मकोड़े खाता और खेतों को बहुत अधिक हानि पहुँचाता है। रात के समय ऊँचे वृक्षों पर विश्राम करता है। (२) खमो नामक सदा बहार वृक्ष।

वि० दे० "खमो"।

*†संज्ञा पुं० [सं० भ्रम] धोखा। भूल। भ्रम। उ०—(क) की दुहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो।—तुलसी। (ख) हँसत परस्पर आपु में चली जाहिं जिय भोर।—सूर।

वि० चकित। स्तंभित। उ०—सूर प्रभु की निरखि सोभा भई तरुनी भोर।—सूर।

* वि० [हिं० भोला] भोला। सीधा। सरल। उ०—थाती राखि न माँगेउ काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ।—तुलसी।

भोरा—संज्ञा पुं० [देश०] प्रायः एक फुट लंबी एक प्रकार की मछली जो युक्तप्रांत, मद्रास और ब्रह्म देश की नदियों में पाई जाती है।

*† संज्ञा पुं० दे० "भोर"।

*†—वि० भोला। सीधा। सरल।

भोराई*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० भोरा+ई (प्रत्य०)] भोलापन। सिधाई। सरलता।

भोराना*—क्रि० स० [हिं० भोर+आना (प्रत्य०)] भ्रम में डालना। बहकाना। धोखा देना। उ०—सूरदास लोगन के भोरए काहे कान्ह अब होत पराए।—सूर।

क्रि० अ० भ्रम में पड़ना। धोखे में आना।

भोरानाथ*—संज्ञा पुं० [हिं० भोलानाथ] शिव। उ०—गौरीनाथ भोरानाथ भवत भवानीनाथ विश्वनाथपुर फिरि आन कलि-काल की।—तुलसी।

भोरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] अफ़ीम का एक रोग।

भोरु*—संज्ञा पुं० दे० "भोर"।

भोला–वि० [हिं० भूलना] (१) जिसे छल-कपट आदि न आता हो। सीधा-सादा। सरल।
यौ०—भोलानाथ। भोला भाला।
(२) मूर्ख। बेवक़ूफ़।

भोलानाथ–संज्ञा पुं० [हिं० भोला+सं० नाथ] महादेव। शिव।

भोलापन–संज्ञा पुं० [हिं० भोला+पन (प्रत्य०)] (१) सिधाई। सरलता। सादगी। (२) नादानी। मूर्खता।

भोला भाला–वि० [हिं० भोला+अनु० भाला] सीधा सादा। सरल चित्त का। निश्छल।

भोसर†–वि० [देश०] बेवक़ूफ़। मूर्ख।

भौं–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रू] आँख के ऊपर के बालों की श्रेणी। भृकुटी। भौंह।
मुहा०—दे० "भौंह"।

भौंकना–क्रि० अ० [भौं भौं से अनु०] (१) भौं भौं शब्द करना। कुत्तों का बोलना। भूँकना। (२) बहुत बकवाद करना। निरर्थक बोलना। बक बक करना।

भौंगर–संज्ञा पुं० [देश०] क्षत्रियों की एक जाति।
†वि० मोटा ताज़ा। हृष्ट पुष्ट।

भौंचाल†–संज्ञा पुं० दे० "भूकंप"।

भौंडी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] छोटा पहाड़। पहाड़ी। टीला।

भौंड़ा†–वि० दे० "भोंडा"।

भौंतुवा–संज्ञा पुं० [हिं० भ्रमना=घूमना] (१) खटमल के आकार का एक प्रकार का काले रंग का कीड़ा जो प्रायः वर्षा ऋतु में जलाशयों आदि में जल-तल के ऊपर चक्कर काटता हुआ चलता है। (२) एक प्रकार का रोग जिसमें बाहुदंड के नीचे एक गिलटी निकल आती है। उ०—कहा भयो जो मन मिलि कलि कालहि कियो भौंतुवा भोर को है।—तुलसी। (३) तेली का बैल जो सबेरे से ही कोल्हू में जोता जाता है और दिन भर घूमा करता है।

भौंर–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] (१) भौंरा। चंचरीक। (२) तेज़ बहते हुए पानी में पड़नेवाला चक्कर। आवर्त्त। नाँद।
क्रि० प्र०—पड़ना।

भौंरकली–संज्ञा स्त्री० दे० "भँवरकली"।

भौंरा–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर=पा० भमर, प्रा० भँवर] [स्त्री० भँवरी] (१) काले रंग का उड़नेवाला एक पतंगा जो गोबरैले के बराबर होता है और देखने में बहुत हढांग प्रतीत होता है। इसके छः पैर, दो पर और दो मूछें होती हैं। इसके सारे शरीर पर भूरे रंग के छोटे छोटे चमकदार रोएँ होते हैं। इसका रंग प्रायः नीलापन लिए चमकीला काला होता है और इसकी पीठ पर दोनों परों की जड़ के पास का प्रदेश पीले रंग का होता है। स्त्री के डंक होता है और वह डंक मारती है। यह गुंजारता हुआ उड़ा करता है और फूलों का रस पीता है। अन्य पतंगों के समान इस जाति के अंडे से भी ढोले निकलते हैं जो कालांतर में परिवर्त्तित होकर पतिंगे हो जाते हैं। यह डालियों और ठूठी टहनियों पर अंडे देता है। कवि इसकी उपमा और रूपक नायक के लिये लाते हैं। उनका यह भी कथन है कि यह सब फूलों पर बैठता है, पर चंपा के फूल पर नहीं बैठता। उ०—आपुहि भौंरा आपुहि फूल। आतम ज्ञान बिना जग भूल।—सूर। (२) बड़ी मधुमक्खी। सारंग। भंमर। डंगर। (३) काला वा लाल भड़। (४) एक खिलौना जो लट्टू के आकार का होता है और जिसमें कील वा छोटी डंडी लगी रहती है। इसी कील में रस्सी लपेटकर लड़के इसे भूमि पर नचाते हैं। उ०—लोचन मानत नाहिन बोल। ऐसे रहत श्याम के आगे मनु दै लीन्हें मोल। इत आवत दै जात देखाई ज्यों भौंरा चकडोर। उतते सूत्र न टारत कबहूँ मोसों मानत कोर।—सूर। (५) हिंडोले की वह लकड़ी जो मयारी में लगी रहती है और जिसमें डोरी वा डंडी बँधी रहती है। उ०—हिंडोरना माई झूलत गोपाल। संग राधा परम सुंदरि चहूँधा ब्रज-बाल। सुभग यमुना पुलिन मोहन रच्यो रुचिर हिंडोर। लाल डाँडी स्फटिक पटुली मणिन मरुवा घोर। भौंरा मयारिनि नील मरकत खँचे पांति अपार। सरल कंचन खंभ सुंदर रच्यो काम श्रुतिहार।—सूर। (६) गाड़ी के पहिए का वह भाग, जिसके बीच के छेद में धुरे का गज रहता है और जिसमें आरा लगाकर पहिए की पुट्ठियाँ जड़ी जाती हैं। नाभि। लट्ठा। मूँड़ी। (७) रहट की खड़ी चरखी जो भँवरी को फिराती है। चकरी (बुंदेल०)। (८) पशुओं का एक रोग जिसे चेचक कहते हैं (बुंदेल०)। (९) पशुओं की मिरगी (बुंदेल०)। (१०) वह कुत्ता जो गड़रियों की भेड़ों की रखवाली करता है। (११) एक प्रकार का कीड़ा जो ज्वार आदि की फ़सल को बहुत हानि पहुँचाता है।
संज्ञा पुं० [सं० भ्रमण] (१) मकान के नीचे का घर। तहख़ाना। (२) वह गड्ढा जिसमें अन्न रखा जाता है। खात। खत्ता।
†संज्ञा पुं० दे० "भाँवर"।

भौंराना–क्रि० स० [सं० भ्रमण] (१) घुमाना। परिक्रमा कराना। (२) विवाह कराना। विवाह की भाँवर दिलाना। उ०—बर खोजाय टीका करो बहुरि देहु भौंन्याय।—विश्राम।
क्रि० अ० घूमना। चक्कर काटना। फेरी लगाना।

भौंरी–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रमण] (१) पशुओं आदि के शरीर में रोओं या बालों आदि के घुमाव से बना हुआ वह चक्र जिसके स्थान आदि के विचार से उनके गुण-दोष का निर्णय होता है। जैसे,—इस घोड़े के अगले दाहिने पैर की भौंरी अच्छी पड़ी है।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

(२) विवाह के समय वर-वधू का अग्नि की परिक्रमा करना । भाँवर ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।—लेना ।

(३) तेज बहते हुए जल में पड़नेवाला चक्कर । आवर्त्त ।

क्रि० प्र०—पड़ना ।

(४) अँगाकड़ी । बाटी । (पकवान)

भौंह–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रू] आँख के ऊपर की हड्डी पर जमे हुए रोएँ या बाल । भृकुटी । भौं । भँव ।

मुहा०—भौंह चढ़ाना या तानना=(१) नाराज होना । क्रुद्ध होना । उ०—वदत काहू नहीं निधरक निदरि मोहिं न गनत । बार बार बुझाइ हारी भौंह मोपर तनत ।—सूर । (२) त्योरी चढ़ाना । बिगड़ना । भौंह जोहना=प्रसन्न रखने के लिये संकेत पर चलना । खुशामद करना । उ०—अकारन को हितू और को है । विरद गरीबनेवाज कौन को भौंह जासु जन जोहै ।—तुलसी । भौंह ताकना=किसी की प्रवृत्ति या विचार का ध्यान रखना । रुख देखना ।

भौं*–संज्ञा पुं० [सं० भव] संसार । जगत । दुनियाँ ।

संज्ञा पुं० [सं० भय] डर । ख़ौफ़ । भय । उ०—मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई ।············लोक कहैं राम को गुलाम हौं कहावौं । ए तो बड़ो अपराध मन भौ न पावौं ।—तुलसी ।

भौंका†–संज्ञा पुं० [देश०] [स्त्री० भौंकी] बड़ी दौरी । टोकरा ।

भौंगिया*†–संज्ञा पुं० [हिं० भोग+इया (प्रत्य०)] संसार के सुखों का भोग करनेवाला । वह जो सांसारिक सुख भोगता हो ।

भौगोलिक–वि० [सं०] भूगोल संबंधी । भूगोल का ।

भौचक–वि० [हिं० भय+चकित] जो कोई विलक्षण बात या आकस्मिक घटना देखकर घबरा गया हो । हक्का बक्का । चकपकाया हुआ । स्तंभित ।

क्रि० प्र०—रह जाना ।—होना ।

भौचाल†–संज्ञा पुं० दे० "भूकंप" ।

भौज*–संज्ञा स्त्री० [हिं० भावज] भाई की पत्नी । भौजाई । भावज । उ०—ननँद भौज परपंच रच्यो है मोर नाम कहि लीन्हा ।—कबीर ।

भौजाई–संज्ञा स्त्री० [सं० भ्रातृजाया] भाई की भार्या । भ्रातृवधू । भावज । भाभी ।

भौज्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह राज्य प्रबंध जिसमें प्रजा से राजा लाभ तो उठाता हो, पर प्रजा के स्वत्वों का कुछ विचार न करता हो । वह राज्य जो केवल सुख-भोग के विचार से होता हो, प्रजा-पालन के विचार से नहीं । इसमें प्रजा सदा दुःखी रहती है ।

भौटा†–संज्ञा पुं० [देश०] छोटा पहाड़ । टीला । पहाड़ी ।

भौतिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) मुक्ता । मोती । (३) उपद्रव । (४) आधि-व्याधि । (५) आँख, नाक आदि इंद्रियाँ ।

वि० (१) पंचभूत संबंधी । (२) पाँचों भूतों से बना हुआ । पार्थिव । उ०—भौतिक देह जीव अभिमानी देखत ही दुख लायो ।—सूर । (३) शरीर संबंधी । शरीर का ।

यौ०—भौतिक सृष्टि ।

(४) भूतयोनि से संबंध रखनेवाला ।

यौ०—भौतिक विद्या ।

भौतिक विद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह विद्या जिसके अनुसार भूत प्रेत आदि से बातें की जाती हैं और उनके अद्भुत व्यापार जाने अथवा रोके जाते हैं । भूतों-प्रेतों को बुलाने और दूर करने की विद्या ।

भौतिक सृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] आठ प्रकार की देव-योनि, पाँच प्रकार की तिर्यग् योनि और मनुष्य योनि, इन सबकी समष्टि ।

भौती–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात । रात्रि । रजनी ।

† संज्ञा स्त्री० [देश०] एक बालिश्त लंबी और पतली लकड़ी जिसकी सहायता से ताने का चरखा घुमाते हैं । भेड़ंती । (जुलाहा)

भौत्य–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भूति मुनि के पुत्र और चौदहवें मनु का नाम ।

भौन*–संज्ञा पुं० [सं० भवन] घर । मकान ।

भौना*†–क्रि० अ० [सं० भ्रमण] चक्कर लगाना । घूमना ।

भौम–वि० [सं०] (१) भूमि संबंधी । भूमि का । (२) भूमि से उत्पन्न । पृथ्वी से उत्पन्न । जैसे, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि ।

संज्ञा पुं० (१) मंगल ग्रह । (२) अंबर । (३) लाल पुनर्नवा । (४) योग में एक प्रकार का आसन । (५) वह केतु या पुच्छल तारा जो दिव्य और अंतरिक्ष के परे हो ।

भौमदेव–संज्ञा पुं० [सं०] ललितविस्तर के अनुसार प्राचीन काल की एक प्रकार की लिपि ।

भौम प्रदोष–संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रदोष व्रत जो मंगलवार को पड़े । वह त्रयोदशी जो मंगलवार के सायंकाल में पड़े । इस प्रदोष का माहात्म्य साधारण प्रदोष की अपेक्षा कुछ विशेष माना जाता है ।

भौमरत्न–संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा ।

भौमराशि–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेष और वृष राशियाँ ।

भौमवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] भौमासुर की स्त्री का नाम ।

भौमवार–संज्ञा पुं० [सं०] मंगलवार ।

भौमासुर–संज्ञा पुं० [सं०] नरकासुर नाम का असुर । वि० दे० "नरकासुर" ।

भौमिक–संज्ञा पुं० [सं०] भूमि का अधिकारी या स्वामी । ज़मींदार ।

वि० भूमि संबंधी। भूमि का।

भौमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी की कन्या, सीता।

भौर*–संज्ञा पुं० [सं० भ्रमर] (१) दे० "भौंरा"। (२) घोड़ों का एक भेद। उ०—लील समंद हाल जग-जाने। हाँसल भौर गियाह बखाने।—जायसी। (३) दे० "भँवर"।

भौलिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] बजरे की तरह की पर उससे कुछ छोटी एक प्रकार की नाव जो ऊपर से ढकी रहती है।

भौसा–संज्ञा पुं० [देश०] (१) भीड़-भाड़। जन-समूह। (२) हो हुल्लड़। गड़बड़।

भ्रंगारी–संज्ञा पुं० [सं० भृंगार] झींगुर। (डिं०)

भ्रंगी–संज्ञा पुं० [सं० भृंगी] एक प्रकार का गुंजार करनेवाला पतिंगा।

भ्रंश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अधःपतन। नीचे गिरना। (२) नाश। ध्वंस। (३) भागना।

वि० भ्रष्ट। ख़राब।

भ्रकुंश, भ्रकुंस–संज्ञा पुं० [सं०] वह नाचनेवाला पुरुष जो स्त्री का वेष धरकर नाचता हो।

भ्रकुटि–संज्ञा स्त्री० [सं०] भृकुटी। भौंह।

भ्रत–संज्ञा पुं० [सं० भृत्य] दास। सेवक। (डिं०)

भ्रद्र–सज्ञा पुं० [डिं०] हाथी।

भ्रम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ को और का और समझना। किसी चीज़ या बात को कुछ का कुछ समझना। मिथ्या ज्ञान। भ्रांति। धोखा। (२) संशय। संदेह। शक।

क्रि० प्र०—में डालना।—में पड़ना।—होना।

(३) एक प्रकार का रोग जिसमें रोगी का शरीर चलने के समय चक्कर खाता है और वह प्रायः जमीन पर पड़ा रहता है। यह रोग मूर्च्छा के अंतर्गत माना जाता है। (४) मूर्च्छा। बेहोशी। (५) नल। पनाला। (६) कुम्हार का चाक। (७) भ्रमण। घूमना-फिरना। (८) वह पदार्थ जो चक्राकार घूमता हो। चारों ओर घूमनेवाली चीज़।

वि० (१) घूमनेवाला। चक्कर काटनेवाला। (२) भ्रमण करनेवाला। चलनेवाला।

भ्रमकारी–वि० [सं० भ्रमकारिन्] भ्रम उत्पन्न करनेवाला। शक में डालनेवाला।

भ्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) घूमना-फिरना। विचरण। (२) आना-जाना। (३) यात्रा। सफ़र। (४) मंडल। चक्कर। फेरी।

भ्रमणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सैर या मनोविनोद के लिये चलना। घूमना फिरना। (२) जोंक।

भ्रमणीय–वि० [सं०] (१) घूमनेवाला। (२) चलने फिरनेवाला।

भ्रमना*–क्रि० अ० [सं० भ्रमण] घूमना। फिरना।

क्रि० अ० [सं० भ्रम] (१) धोखा खाना। भूल करना। उ०—कहा देखि के तुम भ्रमि गए।—सूर। (२) भटकना। भूलना।

भ्रममूलक–वि० [सं०] जो भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ हो। जिसका आविर्भाव भ्रम के कारण हुआ हो। जैसे,—आपका यह विचार भ्रममूलक है।

भ्रमर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौंरा। वि० दे० "भौंरा"।

यौ०—भ्रमर गुफा=योगशास्त्र के अनुसार हृदय के अंदर का एक स्थान। उ०—केवल सकल देह का साखी भ्रमर गुफा अटकाना।—कबीर। (२) उद्धव का एक नाम।

यौ०—भ्रमरगीत=वह गीत या काव्य जिसमें उद्धव के प्रति ब्रज की गोपियों का उपालंभ हो।

(३) दोहे का पहला भेद जिसमें २२ गुरु और ४ लघु वर्ण होते हैं। उ०—सीता सीता-नाथ को गावो आठो जाम। इच्छा पूरी जो करै औ देवै विश्राम। (४) छप्पय का तिरसठवाँ भेद जिसमें ८ गुरु, १३६ लघु, १४४ वर्ण या कुल १५२ मात्राएँ होती हैं।

वि० कामुक। विषयी।

भ्रमरक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) माथे पर लटकनेवाले बाल।

भ्रमरच्छली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का बहुत बड़ा जंगली वृक्ष जिसके पत्ते बादाम के पत्तों के समान होते हैं और जिसमें बहुत पतली पतली फलियाँ लगती हैं। इसकी लकड़ी सफ़ेद रंग की और बहुत बढ़िया होती है और प्रायः तलवार के म्यान बनाने के काम में आती है। वैद्यक में यह चरपरी, गरम, कड़वी रुचिकारक, अग्निदीपक और सर्वदोष-नाशक मानी जाती है।

पर्या०—भृंगाह्वा। भ्रमराह्वा। क्षीरद्र। भृंगमूलिका। उग्रगंधा। छली।

भ्रमरमारी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पौधा जो मालव में अधिकता से होता है। इसमें सुंदर और सुगंधित फूल लगते हैं। वैद्यक में यह तिक्त और पित्त, श्लेष्म, ज्वर, शोथ, कुष्ट, व्रण तथा त्रिदोष का नाश करनेवाली मानी जाती है।

पर्या०—भ्रमरादि। भृंगादि। मांसपुष्पिका। कुष्टारि। भ्रमरी। यष्टिलता।

भ्रमरविलासिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में म भ न ल ग SSS, SII, III, I, होता है। उ०—मैं भौने लोगन नहिं डरिहौं। माधो को दै मन नहिं फिरिहौं। फूलै वल्ली भ्रमरविलसिता। पावै शोभा अलि सह मुदिता।

भ्रमरहस्त–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के चौदह प्रकार के हस्तविन्यासों में से एक प्रकार का हस्तविन्यास।

भ्रमरा–संज्ञा पुं० [सं०] भ्रमरच्छली नामक पौधा।

भ्रमरातिथि–संज्ञा पुं० [सं०] चंपा का वृक्ष ।

भ्रमरावली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भँवरों की श्रेणी । (२) एक वृत्त का नाम जिसे नलिनी या मनहरण भी कहते हैं। इसके प्रत्येक पाद में पाँच सगण होते हैं । उ०—ससि सों सु सखी रघुनंदन को बदना । लखिकै पुलकीं मिथिलापुर की ललना । तिनके सुख में दिश फूल रहीं दशहूँ । पुर मैं नलिनी बिकसीं जनु ओर चहूँ ।—जगन्नाथ ।

भ्रमरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जतुका नामक लता । पुत्रदात्री । षट्पदी । (२) मिरगी रोग । (३) पार्वती । (४) भौंरे की मादा । भौंरी ।

भ्रमरेष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का श्योनाक ।

भ्रमरेष्टा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भुईं-जामुन । (२) भारंगी ।

भ्रमवात–संज्ञा पुं० [सं०] आकाश का वह वायुमंडल जो सर्वदा घूमा करता है । उ०—सूखिगे गात चले नभ जात परे भ्रमवात न भूतल आए ।—तुलसी ।

भ्रमात्मक–वि० [सं०] जिससे अथवा जिसके संबंध में भ्रम उत्पन्न होता हो । संदिग्ध ।

भ्रमाना*†–क्रि० स० [हिं० भ्रमना का स०] (१) घुमाना । फिराना । (२) धोखे में डालना । भटकाना ।

भ्रमासक्त–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो अस्त्र शस्त्र आदि साफ़ करता हो ।

भ्रमित–वि० [सं०] (१) जिसे भ्रम हुआ हो । शंकित । (२) घूमता हुआ ।

भ्रमितनेत्र–वि० [सं०] ऐंचाताना ।

भ्रमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घूमना-फिरना । भ्रमण । (२) चक्कर लगाना । फेरी देना । (३) सेना की वह रचना जिसमें सैनिक मंडल बाँधकर खड़े होते हैं । (४) तेज़ बहते हुए पानी में का भौंर । नाँद । (५) कुम्हार का चाक ।

वि० [सं० भ्रमिन्] (१) जिसे भ्रम हुआ हो । (२) चकित । भौचक । उ०—किधौं वेदविद्या प्रभाई भ्रमी सी ।—केशव ।

भ्रष्ट–वि० [सं०] (१) नीचे गिरा हुआ । पतित । (२) जो ख़राब हो गया हो । जो अच्छी दशा में या काम का न रह गया हो । बहुत बिगड़ा हुआ । (३) जिसमें कोई दोष आ गया हो । दूषित । (४) जिसका आचरण ख़राब हो गया हो । बुरी चाल-चलनवाला । बद-चलन । दुराचारी ।

भ्रष्टा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुंश्चली । कुलटा । छिनाल ।

भ्रांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तलवार के ३२ हाथों में से एक । तलवार को गोलाकार घुमाना । इसके द्वारा दूसरे के चलाए हुए शस्त्र को व्यर्थ किया जाता है । (२) राज-धतूरा । (३) मस्त हाथी । (४) घूमना-फिरना । भ्रमण ।

वि० [सं०] (१) जिसे भ्रांति या भ्रम हुआ हो । धोखे में आया हुआ । भूला हुआ । (२) व्याकुल । घबराया हुआ । हक्का बक्का । (३) उन्मत्त । (४) घुमाया हुआ ।

भ्रांतापह्नुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक काव्यालंकार जिसमें किसी भ्रांति को दूर करने के लिये सत्य वस्तु का वर्णन होता है ।

भ्रांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भ्रम । धोखा । (२) संदेह । संशय । शक । (३) भ्रमण । (४) पागलपन । (५) भँवरी । घुमेर । (६) भूलचूक । (७) मोह । प्रमाद । (८) एक प्रकार का काव्यालंकार । इसमें किसी वस्तु को, दूसरी वस्तु के साथ उसकी समानता देखकर, भ्रम से वह दूसरी वस्तु ही समझ लेना वर्णित होता है । जैसे,—अटारी पर नायिका को देखकर कहना—है ! यह चंद्रमा कहाँ से निकल आया !

भ्राज–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम जो गवामयन सत्र में विषुव नामक प्रधान दिन में गाया जाता था ।

भ्राजक–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार त्वचा में रहनेवाला पित्त । शरीर में जो कुछ तेल आदि मला जाता है, उसका परिपाक इसी पित्त के द्वारा होना माना जाता है ।

भ्राजना*–क्रि० अ० [सं० भ्राजन=दीपन] (१) शोभा पाना । शोभायमान होना । उ०—(क) उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन बीर ।—तुलसी । (ख) केकी पच्छ मुकुट सिर भ्राजत । गौरी राग मिले सुर गावत ।—सूर ।

भ्राजमान*–वि० [हिं० भ्राजना+मान (प्रत्य०)] शोभायमान ।

भ्राजिर–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भौत्य मन्वंतर के एक प्रकार के देवता ।

भ्रात*–संज्ञा पुं० दे० "भ्राता" ।

भ्राता–संज्ञा पुं० [सं० भ्रातृ] सगा भाई । सहोदर ।

भ्रातृक–संज्ञा पुं० [सं०] वह धन आदि जो भाई से मिला हो ।

भ्रातृज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० भ्रातृजा] भाई का लड़का । भतीजा ।

भ्रातृजाया–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाई की स्त्री । भौजाई । भाभी ।

भ्रातृत्व–संज्ञा पुं० [सं०] भाई होने का भाव या धर्म्म । भाईपन ।

भ्रातृद्वितीया–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया । यम द्वितीया । भाई दूज ।

विशेष—इस दिन यम और चित्रगुप्त का पूजन किया जाता है, बहनों से तिलक लगवाया जाता है, इन्हीं के दिए हुए पदार्थ खाए जाते हैं और उन्हें कुछ द्रव्य दिया जाता है ।

भ्रातृपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] भाई का लड़का । भतीजा ।

भ्रातृभाव–संज्ञा पुं० [सं०] भाई का सा प्रेम या संबंध । भाई-चारा । भाईपन ।

भ्रातृवधू–संज्ञा स्त्री० [सं०] भौजाई । भाभी । भावज ।

भ्रातृव्य–संज्ञा पुं० [सं०] भाई का लड़का । भतीजा ।

भ्रातृश्वसुर–संज्ञा पुं० [सं०] पति का बड़ा भाई । जेठ । भसुर ।

भ्रामक–वि० [सं०] (१) भ्रम में डालनेवाला । बहकानेवाला ।

धोखे में डालनेवाला। (२) संदेह उत्पन्न करनेवाला। (३) घुमानेवाला। चक्कर दिलानेवाला। (४) धूर्त्त। चालबाज़।

संज्ञा पुं० (१) गीदड़। सियार। (२) चुंबक पत्थर। (३) कांति लोहा।

भ्रामर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भ्रमर से उत्पन्न, मधु। शहद। (२) दोहे का दूसरा भेद। इसमें २१ गुरु और ६ लघु मात्राएँ होती हैं। उ०—माधो मेरे ही बसो राखो मेरी लाज। कामी क्रोधी लंपटी जानि न छाँड़ो काज। (३) वह नृत्य जिसमें बहुत से लोग मंडल बनाकर नाचते हैं। रास। (४) चुंबक पत्थर। (५) अपस्मार रोग।

वि० भ्रमर संबंधी। भ्रमर का।

भ्रामरी-संज्ञा पुं० [सं० भ्रामरिन्] जिसे भ्रामर या अपस्मार रोग हुआ हो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) पुत्रदात्री नाम की लता।

भ्राष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) वह बरतन जिसमें भड़भूँजे अनाज रखकर भूनते हैं।

भ्राष्ट्रकि-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र प्रवर्त्तक ऋषि का नाम।

भ्रालिक-संज्ञा पु० [सं०] शरीर की एक नाड़ी का नाम।

भ्रुकुंस-संज्ञा पुं० [सं०] वह नट जो स्त्री का वेष धारण करके नाचता हो।

भ्रुकुटि-संज्ञा स्त्री० दे० "भृकुटी"।

भ्रुकुटिमुख-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

भ्रू-संज्ञा स्त्री० [सं०] आँखों के ऊपर के बाल। भौं। भौंह।

क्रि० प्र०—चलाना।—मटकाना।—हिलाना।

भ्रूण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री का गर्भ। (२) बालक की उस समय की अवस्था जब कि वह गर्भ में रहता है। बालक की जन्म लेने से पहले की अवस्था।

भ्रूणहत्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] गर्भ गिराकर या और किसी प्रकार गर्भ में आए हुए बालक की हत्या। गर्भ के बालक की हत्या।

भ्रूणहा-संज्ञा पुं० [सं० भ्रूणहन्] वह जिसने भ्रूण-हत्या की हो।

भ्रूप्रकाश-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का काला रंग जिससे शृंगार आदि के लिये भौंहें बनाते हैं।

भ्रूभंग-संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध आदि प्रकट करने के लिये भौंह चढ़ाना। त्योरी चढ़ाना। उ०—ब्रह्म रुद्र उर डरत काल के काल डरत भ्रुवभंग की आँची।—सूर।

भ्रूविक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] त्योरी बदलना। नाराजगी दिखाना। भ्रूभंग।

भ्रेष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाश। (२) चलना। गमन। (३) भय। डर।

भ्रौणहत्या-संज्ञा स्त्री० दे० "भ्रूणहत्या"।

भ्वहरना*†-क्रि० अ० [हिं० भय+हरना (प्रत्य०)] भयभीत होना। डरना।

भ्वासर‡-वि० [देश०] बेवकूफ़। मूर्ख।

म

म-हिन्दी वर्णमाला का पचीसवाँ व्यंजन और प-वर्ग का अंतिम वर्ण। इसका उच्चारण स्थान होंठ और नासिका है। जिह्वा के अगले भाग का दोनों होंठों से स्पर्श होने पर इसका उच्चारण होता है। यह स्पर्श और अनुनासिक वर्ण है। इसके उच्चारण में संवार, नादघोष और अल्पप्राण प्रयत्न लगते हैं। प, फ, ब और भ इसके सवर्ण हैं।

मंकलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) महाभारत के अनुसार एक यक्ष का नाम।

मंकुर-संज्ञा पुं० [सं०] दर्पण। शीशा।

मंखी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बच्चों के कंठ में पहनाने का एक गहना।

मंग-संज्ञा पुं० [सं०] नाव का अगला भाग। गलही।

मंगता-संज्ञा पुं० [हिं० माँगना+ता (प्रत्य०)] भिखमंगा। भिक्षुक।

मंगन-संज्ञा पुं० [हिं० माँगना] भिखमंगा। भिक्षुक।

मँगनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० माँगना+ई (प्रत्य०)] (१) माँगने की क्रिया या भाव। (२) वह पदार्थ जो किसी से इस शर्त्त पर माँगकर लिया जाय कि कुछ समय तक काम लेने के के उपरांत फिर लौटा दिया जायगा। जैसे, मँगनी की गाड़ी, मँगनी की किताब। (३) इस प्रकार माँगने की क्रिया या भाव।

क्रि० प्र०—देना।—माँगना।—लेना।

(४) विवाह के पहले की वह रस्म जिसके अनुसार वर और कन्या का संबंध निश्चित होता है। जैसे,—चट मँगनी, पट ब्याह।

विशेष—साधारणतः वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्षवालों से विवाह के लिये कन्या माँगा करते हैं; और जब वर तथा कन्या के विवाह की बातचीत पक्की होती है, तब उसे मँगनी कहते हैं। इसके कुछ दिनों के उपरांत विवाह होता है। मँगनी केवल सामाजिक रीति है, कोई धार्मिक कृत्य नहीं है। अतः एक स्थान पर मँगनी हो जाने पर संबंध छूट सकता है और दूसरी जगह विवाह हो सकता है।

मंगल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभीष्ट की सिद्धि। मनोकामना का पूर्ण होना। (२) कल्याण। कुशल। भलाई। जैसे,—आपका मंगल हो। (३) सौर जगत का एक प्रसिद्ध ग्रह जो पृथ्वी के उपरांत पहले पहल पड़ता है और जो सूर्य्य से १४,१५,००,००० मील दूर है। यह हमारी पृथ्वी से बहुत ही छोटा और चंद्रमा से प्रायः दूना है। इसका वर्ष अथवा सूर्य्य की एक बार परिक्रमा करने का काल हमारे ६८७ दिनों का होता है; और इसका दिन हमारे दिन की अपेक्षा प्रायः आध घंटा बड़ा होता है। इसके साथ दो उपग्रह या चंद्रमा हैं जिनमें से एक प्रायः आठ घंटे में और दूसरा प्रायः तीस घंटे में इसकी परिक्रमा करता है। इसका रंग गहरा लाल है। अनुमान किया जाता है कि इस ग्रह में स्थल और नहरों आदि की बहुत अधिकता है और यहाँ का जल-वायु हमारी पृथ्वी के जल-वायु के बहुत कुछ समान है। पुराणानुसार यह ग्रह पुरुष, क्षत्रिय, सामवेदी, भरद्वाज मुनि का पुत्र, चतुर्भुज, चारों भुजाओं में शक्ति, वर, अभय तथा गदा का धारण करनेवाला, पित्त प्रकृति, युवा, क्रूर, वनचारी, गेरू आदि धातुओं तथा लाल रंग के समस्त पदार्थों का स्वामी और कुछ अंगहीन माना जाता हैं। इसके अधिष्ठाता देवता कार्त्तिकेय कहे गए हैं और यह अवंति देश का अधिपति बतलाया गया है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में लिखा है कि एक बार पृथ्वी विष्णु भगवान् पर आसक्त होकर युवती का रूप धारण करके उनके पास गई थी। जब विष्णु उसका शृंगार करने लगे, तब वह मूर्च्छित हो गई। उसी दशा में विष्णु ने उससे संभोग किया, जिससे मंगल की उत्पत्ति हुई। पद्मपुराण में लिखा है एक बार विष्णु का पसीना पृथ्वी पर गिरा था जिससे मंगल की उत्पत्ति हुई। मत्स्यपुराण में लिखा है कि दक्ष का नाश करने के लिये महादेव ने जिस वीरभद्र को उत्पन्न किया था, वही वीरभद्र पीछे से मंगल हुआ। इसी प्रकार भिन्न भिन्न पुराणों में इसकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार की कथाएँ दी हुई हैं।

पर्य्या०—अंगारक। भौम। कुज। वक्र। महीसुत। लोहितांग। ऋणांतक। आवनेय।

(४) एक वार जो इस ग्रह के नाम से प्रसिद्ध है। मंगलवार। (५) विष्णु।

मंगलचंडिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

मंगलच्छाय–संज्ञा पुं० [सं०] बड़ का पेड़।

मंगलपाठक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो राजाओं की स्तुति आदि करता हो। वंदीजन।

मंगलप्रद–वि० [सं०] जिससे मंगल होता हो। मंगल करनेवाला।

मंगलप्रदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हलदी। (२) शमी का वृक्ष।

मंगलप्रस्थ–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

मंगलवाद–संज्ञा पुं० [सं०] आशीर्वाद। आशीष।

मंगलवार–संज्ञा पुं० [सं०] सात वारों में तीसरा वार जो सोमवार के उपरांत और बुधवार के पहले पड़ता है। भौमवार।

मंगलसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह तागा जो किसी देवता के प्रसाद रूप में किसी शुभ अवसर पर कलाई में बाँधा जाता है।

मंगलस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्नान जो मंगल की कामना से अथवा किसी शुभ अवसर पर किया जाता है।

मंगला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पार्वती। (२) सफ़ेद दूब। (३) पतिव्रता स्त्री। (४) एक प्रकार का करंज। (५) हलदी। (६) नीली दूब।

मंगलाचरण–संज्ञा पुं० [सं०] वह श्लोक या पद आदि जो किसी शुभ कार्य्य के आरंभ में मंगल की कामना से पढ़ा, लिखा या कहा जाय।

मंगलामुखी–संज्ञा स्त्री० [सं० मंगल+मुखी] वेश्या। रंडी।

मंगलारंभ–संज्ञा पुं० [सं०] गणेश।

मंगलालय–संज्ञा पुं० [सं०] परमेश्वर।

मंगलाव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) एक व्रत जो स्त्रियाँ पार्वती के उद्देश्य से करती हैं।

मंगली–वि० [सं० मंगल (ग्रह)] जिसकी जन्मकुंडली के चौथे, आठवें या बारहवें स्थान में मंगल ग्रह पड़ा हो। (ऐसा स्त्री या पुरुष, फलित ज्योतिष के अनुसार, कई बातों में बुरा और विशेषतः विवाह संबंध के लिये बहुत ही बुरा और अनुपयुक्त समझा जाता है; और वर या कन्या में से जो मंगली होता है, वह दूसरे पर भारी माना जाता है।)

मंगल्य–वि० [सं०] (१) मंगलकारक। मंगल या कल्याण करनेवाला। (२) सुंदर। (३) साधु।

संज्ञा पुं० (१) त्रायमाणा लता। (२) अश्वत्थ। (३) बेल। (४) मसूर। (५) जीवक वृक्ष। (६) नारियल। (७) कैथ। (८) रीठा करंज। (९) दही। (१०) चंदन। (११) सोना। (१२) सिंदूर।

मंगल्यकुसुमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी।

मंगल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का अगरु जिसमें चमेली की सी गंध होती है। (२) शमी। (३) सफ़ेद बच। (४) रोचना। (५) शंखपुष्पी। (६) जीवंती। (७) ऋद्धि लता। (८) हलदी। (९) दूब। (१०) दुर्गा का एक नाम।

मँगवाना–क्रि० स० [हिं० माँगना का प्रे०] (१) माँगने का काम दूसरे से कराना। किसी को माँगने में प्रवृत्त करना। जैसे,—तुम्हारे ये लक्षण तुमसे भीख मँगवाकर छोड़ेंगे। (२) किसी को कोई चीज़ मोल ख़रीदकर या किसी से माँगकर लाने में प्रवृत्त करना। जैसे,—(क) अगर मैं किताब मँगवाऊँ,

तो भेज दीजिएगा। (ख) एक रुपए की मिठाई मँगवा लो।

संयो० क्रि०—देना।—रखना।—लेना।

मँगाना–क्रि० स० [हिं० माँगना का प्रे०] (१) दे० "मँगवाना"। (२) मँगनी का संबंध कराना। विवाह की बात चीत पक्की कराना।

मँगेतर–वि० [हिं० मँगनी+एतर (प्रत्य०)] जिसकी किसी के साथ मँगनी हुई हो। किसी के साथ जिसके विवाह की बातचीत पक्की हो गई हो।

मँगोल–संज्ञा पुं० [मंगोलिया प्रदेश से] मध्य एशिया और उसके पूरब की ओर (तातार, चीन, जापान में) बसनेवाली एक जाति जिसका रंग पीला, नाक चिपटी और चेहरा चौड़ा होता है।

विशेष—पृथ्वी के मनुष्यों के जो प्रधान चार वर्ग किए गए हैं; उनमें एक मंगोल भी है जिसके अंतर्गत नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान आदि के निवासी माने जाते हैं। आज से छः सात सौ वर्ष पहले इस जाति के लोगों ने एशिया के बहुत बड़े और युरोप के कुछ भाग पर भी अधिकार कर लिया था।

मंच, मंचक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खाट। खटिया। (२) खाट की तरह बुनी हुई बैठने को छोटी पीढ़ी। मँचिया। (३) ऊँचा बना हुआ मंडल जिस पर बैठकर सर्वसाधारण के सामने किसी प्रकार का कार्य किया जाय। जैसे, रंगमंच

मंचपत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुरपत्री नाम की लता।

मंचकाश्रय–संज्ञा पुं० [सं०] खटमल।

मंचकासुर–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक असुर का नाम।

मंचमंडप–संज्ञा पुं० [सं०] खेतों में बनी हुई वह मचान जिस पर खेतिहर लोग बैठकर पशुओं आदि से खेतों की रक्षा करते हैं।

मंजर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोती। (२) तिल का पौधा।

मंजरिका–संज्ञा स्त्री० दे० "मंजरी"।

मंजरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटे पौधे या लता आदि का नया निकला हुआ कल्ला। कोंपल। (२) कुछ विशिष्ट वृक्षों या पौधों में फूलों या फलों के स्थान में एक सींके में लगे हुए बहुत से दानों का समूह। जैसे, आम की मंजरी, तुलसी की मंजरी। (३) मोती। (४) तिल का पौधा। (५) लता। बेल। (६) तुलसी।

मंजरीक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तुलसी। (२) मोती। (३) तिल का पौधा। (४) बेंत (लता)। (५) अशोक का वृक्ष।

मंजि–संज्ञा स्त्री० दे० "मंजरी"।

मंजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेश्या। रंडी।

मंजिफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] केला।

मंजिष्ठा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

मंजिष्ठामेह–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का प्रमेह जिसमें मजीठ के पानी के समान मूत्र होता है।

मंजी–संज्ञा स्त्री० दे० "मंजरी"।

मंजीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नूपुर। घुँघरू। (२) वह खंभा या लकड़ी जिसमें मथानी का डंडा बँधा रहता है। (३) एक पहाड़ी जाति जो पश्चिमी बंगाल में रहती है।

मंजु–वि० [सं०] सुंदर। मनोहर।

मंजुकेशी–संज्ञा पुं० [सं० मंजुकेशिन्] श्रीकृष्ण।

मंजुगर्त्त–संज्ञा पुं० [सं०] नेपाल देश का प्राचीन नाम।

मंजुघोष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों के एक देवता का नाम। कहते हैं कि इनका पूजन करने से मूर्खता दूर होती है। (२) एक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य्य जो बौद्ध धर्म्म का प्रचार करने के लिये चीन गए थे। कहा जाता है कि जिस स्थान पर आजकल नेपाल देश है, उस स्थान पर पहले जल था। इन्होंने मार्ग बनाकर वह जल निकाला था और उस देश को मनुष्यों के रहने के योग्य बनाया था। इन्हें मंजुदेव और मंजुश्री भी कहते हैं।

मंजुघोषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम।

मंजुदेव–संज्ञा पुं० दे० "मंजुघोष (२)"।

मंजुनाशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा का एक नाम। (२) इंद्राणी का एक नाम।

मंजुपाठक–संज्ञा पुं० [सं०] तोता।

मंजुप्राण–संज्ञा पुं० [सं०] ब्रह्मा।

मंजुभद्र–संज्ञा पुं० दे० "मंजुघोष (२)"।

मंजुल–वि० [सं०] सुंदर। मनोहर। ख़ूबसूरत।

संज्ञा पुं० (१) नदी या जलाशय का किनारा। (२) कुंज।

मंजुला–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

मंजुवज्र–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के एक देवता का नाम।

मंजुश्री–संज्ञा पुं० दे० "मंजुघोष (२)"।

मंजूर–वि० [अ०] जो मान लिया गया हो। स्वीकृत।

मंजूरी–संज्ञा स्त्री० [अ० मनजूर+ई (प्रत्य०)] मंजूर होने का भाव। स्वीकृति।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—माँगना।—मिलना।—लेना।

मंजूषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा पिटारा या डिब्बा। पिटारी। (२) पत्थर। (३) मजीठ।

मंजूसा–संज्ञा पुं० दे० "मंजूषा"।

मंझा*†वि० [सं० मध्य=पा० मज्झ] मध्य का। बीच का। जो दो के बीच में हो।

संज्ञा पुं० (१) सूत कातने के चरखे में वह मध्य का अवयव जिसके ऊपर माल रहती है। मुँडला। (२) अटेरन के बीच की लकड़ी। मँझेरू।

संज्ञा स्त्री० वह भूमि जो गोयंड और पालों के बीच में हो।

संज्ञा पुं० [सं० मंच] (१) चौकी। (२) पलंग। खाट। (पंजाब)

संज्ञा पुं० [हिं० माँजना] वह पदार्थ जिससे रस्सी वा पतंग की डोर को माँजते हैं । माँझा ।

मुहा०—मंझा देना=माँजना । लेस चढ़ाना ।

मंठ-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का मैदे का बना हुआ पकवान जो शीरे में डुबोया हुआ होता था ।

मंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उबले हुए चावलों आदि का गाढ़ा पानी । भात का पानी । माँड़ । (२) पिच्छ । सार । (३) एरंड वृक्ष । अंडी । (४) भूषा । सजावट । (५) मेंढक । (६) एक प्रकार का साग ।

मंडक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का पिष्टक । मैदे की एक प्रकार की रोटी । माँड़ा । (२) माधवी लता । (३) गीत का एक अंग ।

मंडन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृंगार करना । अलंकरण । सजाना । सँवारना । (२) युक्ति आदि देकर किसी कथन या सिद्धांत का पुष्टीकरण । प्रमाण आदि द्वारा कोई बात सिद्ध करना । 'खंडन' का उलटा । जैसे, पक्ष का मंडन ।

मंडना*-क्रि० स० [सं० मंडन] (१) मंडित करना । सुसज्जित करना । सँवारना । भूषित करना । शृंगार करना । (२) युक्ति आदि देकर सिद्ध या प्रतिपादित करना । समर्थन या पुष्टिकरण करना ।

क्रि० स० [सं० मर्दन] मर्दित करना । दलित करना । माँड़ना । उ०—प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड खंडि मंडि मेदिनी को मंडलीक-लीक लोपिहैं ।—तुलसी ।

मंडप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऐसा स्थान जहाँ बहुत से लोग धूप, वर्षा आदि से बचते हुए बैठ सकें । विश्राम स्थान । घर । जैसे, देव मंडप । (२) बहुत से आदमियों के बैठने योग्य चारों ओर से खुला, पर ऊपर से छाया हुआ स्थान । बारहदरी ।

विशेष—ऐसा स्थान प्रायः पटे हुए चबूतरे के रूप में होता है जिसके ऊपर खंभों पर टिकी छत या छाजन होती है । देवमंदिरों के सामने नृत्य, गीत आदि के लिये भी ऐसा स्थान प्रायः होता है ।

(३) किसी उत्सव या समारोह के लिये बाँस, फूस आदि से छाकर बनाया हुआ स्थान । जैसे, यज्ञमंडप, विवाह-मंडप । (४) देवमंदिर के ऊपर का गोल या गावदुम हिस्सा । (५) चँदोवा । शामियाना ।

मंडपिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा मंडप ।

मंडपी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंडप] छोटा मंडप । मढ़ी ।

मंडर*-संज्ञा पुं० दे० "मंडल" ।

मँडरना-क्रि० अ० [सं० मंडल] मंडल बाँधकर छा जाना । चारों ओर से घेर लेना । उ०—झाँझ ताल सुर मँडरे रँग हो हो होरी ।—सूर ।

मँडराना-क्रि० अ० [सं० मंडल] (१) मंडल बाँधकर उड़ना । किसी वस्तु के चारों ओर घूमते हुए उड़ना । चक्कर देते हुए उड़ना । जैसे, चील का मँडराना । उ०—हंस को मैं अंश राख्यो काग कत मँडराय ?—सूर । (२) किसी के चारों ओर घूमना । परिक्रमण करना । उ०—मंडप ही में फिरै मँडरात न जात कहूँ तजि नेह को ओनो ।—पद्माकर । (३) किसी के आस पास ही घूम फिरकर रहना । उ०—देखहु जाय और काहू को हरि पै सबै रहित मँडरानी ।—सूर ।

मंडरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] पयाल की बनी हुई गोंदरी या चटाई ।

मंडल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चक्र के आकार का घेरा । किसी एक बिंदु से समान अंतर पर चारों ओर घूमी हुई परिधि । चक्कर । गोलाई । वृत्त ।

मुहा०—मंडल बाँधना=(१) चारों ओर वृत्त की रेखा के रूप में फिरना । चक्कर काटना । जैसे, मंडल बाँधकर नाचना । (२) चारों ओर घेरना । चारों ओर से छा जाना । जैसे, बादलों का मंडल बाँधकर बरसना । (३) अँधेरे का चारों ओर छा जाना ।

(२) गोल फैलाव । वृत्ताकार या अंडाकार विस्तार । गोला । जैसे, भूमंडल । (३) चंद्रमा वा सूर्य के चारों ओर पड़ने-वाला घेरा जो कभी कभी आकाश में बादलों की बहुत हलकी तह या कुहरा रहने पर दिखाई पड़ता है । परिवेश । (४) किसी वस्तु का वह गोल भाग जो अपनी दृष्टि के सम्मुख हो । जैसे, चंद्रमंडल, सूर्यमंडल, मुखमंडल । (५) चारों दिशाओं का घेरा जो गोल दिखाई पड़ता है । क्षितिज । (६) बारह राज्यों का समूह ।

यौ०—मंडलेश्वर ।

(७) चालीस योजन लंबा और बीस योजन चौड़ा भूमिखंड वा प्रदेश । (८) समाज । समूह । समुदाय । जैसे, मित्रमंडल । उ०—गोपिन मंडल मध्य बिराजत निसि दिन करत बिहार ।—सूर । (९) एक प्रकार का व्यूह । सेना की वृत्ताकार स्थिति । (१०) कूकुर । कुत्ता । (११) एक प्रकार का सर्प । (१२) एक प्रकार का गंधद्रव्य । व्याघ्रनखा । बघनही । (१३) एक प्रकार का कुष्ट रोग जिसमें शरीर में चकत्ते से पड़ जाते हैं । (१४) शरीर की आठ संधियों में से एक । (सुश्रुत०) (१५) ग्रह के घूमने की कक्षा । (१६) गेंद । (खेलने का) (१७) कोई गोल दाग वा चिह्न । (१८) ऋग्वेद का एक खंड । (१९) चक्र । चाक । पहिया ।

मंडलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "मंडल" । (२) दर्पण ।

मंडलनृत्य-संज्ञा पुं० [सं०] गति भेदानुसार नृत्य का एक भेद । वृत्त की परिधि के रूप में घूमते हुए नाचना ।

मंडलपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रक्त पुनर्नवा । लाल गदहपूरना ।

मंडलपुच्छक–संज्ञा पुं० [सं०] एक कीड़ा जिसको सुश्रुत में प्राणनाशक लिखा है। इसके काटने से सर्प का सा विष चढ़ता है।

मंडलाकार–वि० [सं०] गोल।

मंडलाग्र–संज्ञा पुं० [सं०] चीर फाड़ में काम आनेवाला एक प्रकार का शस्त्र या औज़ार। (सुश्रुत)

मंडलाना–क्रि० अ० दे० "मँडराना"।

मंडलायित–वि० [सं०] वर्त्तुल। गोल।

मंडली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) समूह। गोष्ठी। समाज। जमाअत। समुदाय। (२) दूब। (३) गुड़ुच।

संज्ञा पुं० [सं० मंडलिन्] (१) एक प्रकार का साँप। सुश्रुत के गिनाए हुए साँप के आठ भेदों में से एक।

विशेष—इनके शरीर में गोल गोल चित्तियाँ सी होती हैं और यह भारी होने के कारण चलने में उतने तेज़ नहीं होते।

(२) वटवृक्ष। (३) बिल्ली। बिड़ाल। (४) नेवले की जाति का बिल्ली की तरह का एक जंतु जिसे बंगाल में खटाश और युक्त प्रांत में कहीं कहीं सँधुवार कहते हैं। (५) सूर्य। उ०—सुख तेज सहस दस मंडली बुधि दस सहस कमंडली। —गोपाल।

मंडलीक–संज्ञा पुं० [सं० मांडलीक] एक मंडल वा १२ राजाओं का अधिपति। उ०—बालक मृपाल जू के ख्याल ही पिनाक तोर्‍यो मंडलीक मंडली प्रताप दाप दाली री।—तुलसी।

मंडलेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] एक मंडल का अधिपति। १२ राजाओं का अधिपति।

मँड़वा–संज्ञा पुं० [सं० मंडप, प्रा० मंडव] मंडप।

मंडहारक–संज्ञा पुं० [सं०] मद्य का व्यवसायी। कलवार।

मंडा–संज्ञा पुं० [सं० मंडल] भूमि का एक मान जो दो बिस्वे के बराबर होता है।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बँगला मिठाई।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरा। (२) आमलकी।

मँड़ार†–संज्ञा पुं० [सं० मंडल] गड्ढा।

मंडित–वि० [सं०] (१) विभूषित। सजाया हुआ। सँवारा हुआ। (२) आच्छादित। छाया हुआ। (३) पूरित। भरा हुआ।

मँड़ियार–संज्ञा पुं० [देश०] झरबेरी नाम कर्कटीली झाड़ी।

मंडी–संज्ञा स्त्री० [सं० मंडप] थोक बिक्री की जगह। बहुत भारी बाज़ार जहाँ व्यापार की चीज़ें बहुत आती हों। बड़ा हाट। जैसे, अनाज की मंडी।

मुहा०—*मंडी लगना*=बाजार खुलना।

संज्ञा स्त्री० [सं० मंडल] भूमि मापने का एक मान जो दो बिस्वे के बराबर होता है।

मँडुआ–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कदन्न।

मंडूक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेंढक। (२) एक ऋषि। (३) दोहा छंद का पाँचवाँ भेद जिसमें १८ गुरु और १२ लघु अक्षर होते हैं। (४) रुद्रताल के ग्यारह भेदों में से एक। (५) प्राचीन काल का एक बाजा। (६) एक प्रकार का नृत्य। (७) घोड़े की एक जाति।

मंडूकपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मी बूटी। (२) मंजिष्ठा।

मंडूका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मंजिष्ठा। मजीठ।

मंडूकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ब्राह्मी। (२) आदित्यभक्ता।

मंडूर–संज्ञा पुं० [सं०] लोह कीट। गलाए हुए लोहे की मैल। सिंघान।

विशेष—वैद्य लोग औषध में इसका व्यवहार शोध कर करते हैं। इसमें लोहे का ही गुण माना जाता है। मंडूर जितना ही पुराना हो; उतना ही व्यवहार के योग्य और गुणकारी माना जाता है। सौ वर्ष का मंडूर सब से उत्तम कहा गया है। बहेड़े की लकड़ी में जलाकर सात बार गोमूत्र में डालने से मंडूर शुद्ध हो जाता है। इसके सेवन से ज्वर, प्लीहा, कँवल आदि रोग आराम होते हैं।

मँढा, मंढा–संज्ञा पुं० [हिं० मढ़ना] कमखवाब बुननेवालों का एक औज़ार जो नक्शा उठाने में काम आता है। यह लकड़ी का होता है जिसमें दो शाखें सी निकली होती हैं। सिरे पर एक छेद होता है जिसमें एक डंडा लगा रहता है।

मंत*†–संज्ञा पुं० [सं० मंत्र] (१) सलाह। उ०—(क) कंत सुन मंत कुल अंत किय अंत, हानि हातो किजै हिय ये भरोसो भुज बीस को।—तुलसी। (ख) मैं जो कहौं कंत सुनु मंत भगवंत सों विमुख ह्वै बालि फल कौन लीन्हों।—तुलसी।

यौ०—तंत मंत=उपाय। प्रयत्न। उ०—के जिव तंत मंत सों हेरा। गयो हेराय जो वह भा मेरा।—जायसी।

(२) मंत्र।

मंतव्य–वि० [सं०] मानने योग्य। माननीय।

संज्ञा पुं० विचार। मत।

मंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोप्य वा रहस्यपूर्ण बात। सलाह। परामर्श।

(२) देवाधिसाधन गायत्री आदि वैदिक वाक्य जिनके द्वारा यज्ञ आदि क्रिया करने का विधान हो।

विशेष—निरुक्त के अनुसार वैदिक मंत्रों के तीन भेद हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। जिन मंत्रों द्वारा देवता को परोक्ष मानकर प्रथम पुरुष की क्रिया का प्रयोग करके स्तुति आदि की जाती है, उसे परोक्षकृत मंत्र कहते हैं। जिन मंत्रों में देवता को प्रत्यक्ष मानकर मध्यमपुरुष के सर्वनाम और क्रिया का प्रयोग करके उसकी स्तुति आदि होती है, उसे प्रत्यक्षकृत कहते हैं। जिन मंत्रों में देवता का आरोप अपने में करके उत्तमपुरुष के सर्वनाम और क्रियाओं

द्वारा उसकी स्तुति आदि की जाती है, वे आध्यात्मिक कहलाते हैं। मंत्रों के विषय प्रायः स्तुति, आशीर्वाद, शपथ, अभिशाप, परिदेवना, निंदा आदि होते हैं। मीमांसा के अनुसार वेदों का वह वाक्य जिसके द्वारा किसी कर्म के करने की प्रेरणा पाई जाय, मंत्रपद वाच्य है। मीमांसक मंत्र को ही देवता मानते हैं और उसके अतिरिक्त देवता नहीं मानते। वैदिक मंत्र गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाए जाते हैं। गद्य को यजु और पद्य को ऋचा कहते हैं। जो पद्य गाए जाते हैं, उन्हें साम कहते हैं। इन्हीं तीन प्रकार के मंत्रों द्वारा यज्ञ के सब कर्म संपादित होते हैं।

(३) वेदों का वह भाग जिसमें मंत्रों का संग्रह है। संहिता।

(४) तंत्र के अनुसार वे शब्द वा वाक्य जिनका जप भिन्न भिन्न देवताओं की प्रसन्नता वा भिन्न भिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिये करने का विधान है। ऐसा शब्द या वाक्य जिसके उच्चारण में कोई दैवी प्रभाव या शक्ति मानी जाती हो। (इन मंत्रों में एकाक्षर मंत्र जो अविस्पष्टार्थ हों, बीज मंत्र कहलाते हैं)।

क्रि० प्र०—पढ़ना।

यौ०—मंत्र यंत्र वा यंत्र मंत्र=जादू टोना। उ०—डाकिनी साकिनी खेचर भूचर यंत्र मंत्र भंजन प्रबल कल्मषारी।—तुलसी।

मंत्रकार-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र रचनेवाला ऋषि।

मंत्रकृत्-वि० [सं०] (१) परामर्शकारी। सलाह देनेवाला। (२) दौत्यकारी।

संज्ञा पुं० [सं०] वेदमंत्र रचनेवाला ऋषि। मंत्रकार।

मंत्रगूढ़-संज्ञा पुं० [सं०] गुप्तचर।

मंत्रगृह-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ मंत्र वा सलाह की जाती हो। परामर्श करने के लिये नियत स्थान।

मंत्रजल-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र से प्रभावित किया हुआ जल।

मंत्रजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मंत्रज्ञ-वि० [सं०] (१) मंत्र जाननेवाला। (२) जिसमें परामर्श देने की योग्यता हो। जो अच्छा परामर्श देना जानता हो। (३) भेद जाननेवाला।

संज्ञा पुं० (१) गुप्तचर। (२) चर। दूत।

मंत्रण-संज्ञा पुं० [सं०] परामर्श। मंत्रणा। सलाह। राय। मशवरा।

मंत्रणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परामर्श। सलाह। मशवरा।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—लेना।

(२) कई आदमियों की सलाह से स्थिर किया हुआ मत। मंतव्य।

मंत्रद-वि० [सं०] परामर्श देनेवाला।

संज्ञा पुं० मंत्र देनेवाला, गुरु।

मंत्रदर्शी-वि० [सं० मंत्रदर्शिन्] वेदवित्। वेदज्ञ।

मंत्रदीधिति-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मंत्रद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वंतर के इंद्र का नाम।

मंत्रधर-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री।

मंत्रपति-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र का देवता। मंत्र का अधिष्ठाता देवता।

मंत्रपूत-वि० [सं०] जो मंत्र द्वारा पवित्र किया गया हो।

मंत्रबीज-संज्ञा पुं० [सं०] मूल मंत्र।

मंत्रमूल-संज्ञा पुं० [सं०] राज्य।

मंत्रयान-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धधर्म की एक शाखा जिसका प्रचार तिब्बत, नेपाल, भूटान आदि में है। इस संप्रदाय के ग्रंथों में अनेक तंत्र ग्रंथ हैं जिनके अनुसार तांत्रिक उपासना होती है। इस मत के प्रधान आचार्य सिद्ध नागार्जुन माने जाते हैं। इसे वज्रयान भी कहते हैं।

मंत्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्र का प्रयोग। मंत्र पढ़ना।

मंत्रवादी-वि० [सं० मंत्रवादिन्] (१) मंत्रज्ञ। (२) जो मंत्रोच्चारण करे।

मंत्रविद्-वि० [सं०] (१) मंत्रज्ञ। (२) वेदज्ञ। (३) जो राज्य के रहस्यों को जानता हो।

मंत्रविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] तंत्रविद्या। भोजविद्या। मंत्रशास्त्र। तंत्र।

मंत्रसंस्कार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विवाह संस्कार।

यौ०—मंत्र संस्कारकृत्=विवाह करनेवाला। विवाहित।

(२) तंत्रानुसार मंत्रों का वह संस्कार जिसके करने का विधान मंत्र ग्रहण के पूर्व है और जिसके बिना मंत्र फलप्रद नहीं होते। ऐसे संस्कार दस हैं जिनके नाम ये हैं—

(१) जनन—मंत्र का मातृका यंत्र से उद्धार करना। इसे मंत्रोद्धार भी कहते हैं।

(२) जीवन—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को प्रणव से संपुट करके सौ सौ बार जपना।

(३) ताड़न—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को पृथक् पृथक् लिखकर लाल कनेर के फूल से वायु बीज पढ़ पढ़कर प्रत्येक वर्ण को सौ सौ बार मारना।

(४) बोधन—मंत्र के लिखे हुए प्रत्येक वर्ण पर 'रं' बीज से सौ सौ बार लाल कनेर के फूल से मारना।

(५) अभिषेक—मंत्र के प्रत्येक वर्ण को लाल कनेर के फूल से 'रं' बीज द्वारा अभिमंत्रित कर यथाविधि अभिषेक करना।

(६) विमलीकरण—सुषुम्ना नाड़ी में मनोयोगपूर्वक मंत्र की चिंता करके मंत्रों के प्रत्येक वर्ण के ऊपर अश्वत्थ के पल्लव से ज्योति मंत्र द्वारा जल सींचना।

(७) अप्यायन—ज्योतिर्मंत्र द्वारा सोने के जल, कुशोदक वा पुष्पोदक से मंत्र के वर्णों को सींचना।

(८) तर्पण—ज्योतिर्मंत्र द्वारा जल से मंत्र के प्रत्येक वर्ण का तर्पण करना।

(९) दीपन—ज्योतिर्मंत्र से दीप्ति साधन करना।

(१०) गोपन—मंत्र को प्रकट न करके सदा गुप्त रखना और ओठों के बाहर न निकालना।

मंत्रसंहिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदों का वह अंश जिसमें मंत्रों का संग्रह हो।

मंत्रसिद्ध-वि० [सं०] [स्त्री० मंत्रसिद्धा] जिसको मंत्र सिद्ध हो। जिसका प्रयोग किया हुआ कोई मंत्र निष्फल न जाता हो।

मंत्रसिद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] मंत्र का सिद्ध होना। मंत्र की सफलता। मंत्र में प्रभाव आना।

मंत्रसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह रेशम या सूत का तागा जो मंत्र पढ़कर बनाया गया हो। गंडा।

मंत्रित-वि० [सं०] मंत्र द्वारा संस्कृत। अभिमंत्रित।

मंत्रिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मंत्री का भाव वा पद। मंत्रित्व। (२) मंत्री की क्रिया। मंत्री का काम। मंत्रित्व।

मंत्रित्व-संज्ञा पुं० [सं०] मंत्री का कार्य्य वा पद। मंत्रिता। मंत्री-पन।

मंत्रिपति-संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान अमात्य।

मंत्री-संज्ञा पुं० [सं० मंत्रिन्] (१) परामर्श देनेवाला। सलाह देनेवाला। (२) वह पुरुष जिसके परामर्श से राज्य के काम काज होते हों। सचिव।

पर्या०—अमात्य। सचिव। धीसख। सामवायिक।

(३) शतरंज की एक गोटी का नाम जो राजा से छोटी मानी जाती है और पक्ष की शेष सब गोटियों से श्रेष्ठ होती है। यह टेढ़ी सीधी सब प्रकार की चालें चलती है। इसे वज़ीर या रानी भी कहते हैं।

मंथ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथना। बिलोना। (२) हिलाना। क्षुब्ध करना। (३) मर्द्दन। मलना। (४) मारना। ध्वस्त करना। (५) कंपन। (६) एक प्रकार की पीने की वस्तु जो कई द्रव्यों को एक साथ मथकर बनाते हैं। (७) दूध वा जल में मिलाकर मथा हुआ सत्तू। (८) मथानी। वह औज़ार जिससे कोई पदार्थ मथा जाता है। (९) मृग की एक जाति का नाम। (१०) सूर्य की किरण। (११) आँख का एक रोग जिसमें आँखों से पानी या कीचड़ बहता है। (१२) एक प्रकार का ज्वर जो बाल-रोग के अंतर्गत माना जाता है। वैद्यक के अनुसार यह रोग ज्वर में घी खाने और पसीना रोकने से होता है। इसमें रोगी को दाह, भ्रम, मोह और मतली होती है, प्यास अधिक लगती है, नींद नहीं आती, मुँह लाल हो आता है और गले के नीचे छोटे छोटे दाने निकल आते हैं। कभी कभी अतीसार भी होता है। मंथर।

मंथक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गोत्रकार मुनि का नाम। (२) मंथक मुनि के वंश में उत्पन्न पुरुष।

मंथज-संज्ञा पुं० [सं०] नवनीत। नैनूँ। मक्खन।

मंथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथना। बिलोना। (२) अवगाहन। खूब डूब डूबकर तत्वों का पता लगाना। (३) मथानी।

मंथपर्वत-संज्ञा पुं० [सं०] मंदर पर्वत।

मंथर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाल का गुच्छा। (२) कोष। ख़ज़ाना। (३) फल। (४) बाधा। अवरोध। रोक। (५) मथानी। (६) कोप। गुस्सा। (७) दूत। गुप्तचर। (८) वैशाख का महीना। (९) दुर्ग। (१०) भँवर। (११) हरिण। (१२) एक प्रकार का ज्वर। मंथ ज्वर। वि० दे० "मंथ"। (१३) मक्खन। वि० (१) मट्ठर। मंद। सुस्त। (२) जड़। मंदबुद्धि। (३) भारी। स्थूल। (४) झुका हुआ। टेढ़ा। (५) नीच। अधम।

मंथरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] रामायण के अनुसार कैकेयी की एक दासी जो उसके साथ मायके से आई थी। इसी के बहकाने पर कैकेयी ने रामचंद्र को बनवास और भरत को राज्य देने के लिये महाराज दशरथ से अनुरोध किया था।

मंथरु-संज्ञा पुं० [सं०] चँवर की वायु।

मंथा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

मंथान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथानी। (२) मंदर नामक पर्वत। (३) महादेव। (४) अमलतास। (५) एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण होते हैं। उ०—वाणी कही ज्ञान। कीन्ही न सो कान। अद्यापि आनीन। रे वंदिकानीन।—केशव। (६) भैरव का एक भेद।

मंथिता-वि० [सं० मंथितृ] [स्त्री० मंथित्री] मथनेवाला।

मंथिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] माठ। मटका।

मंथिप-वि० [सं०] मथा हुआ सोमरस पीनेवाला।

मंथी-वि० [सं० मंथिन्] (१) मथनेवाला। (२) पीड़ाकारक। (३) मंथनयुक्त।

संज्ञा पुं० मथा हुआ सोम रस।

मंद-वि० [सं०] (१) धीमा। सुस्त।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—होना।

(२) ढीला। शिथिल। (३) आलसी। (४) मूर्ख। कुबुद्धि। (५) खल। दुष्ट।

संज्ञा पुं० (१) वह हाथी जिसकी छाती और मध्य भाग की वलि ढीली हो, पेट लंबा, चमड़ा मोटा, गला, कोख और पूँछ की चँवरी मोटी हो तथा जिसकी दृष्टि सिंह के समान हो। (२) शनि। (३) यम। (४) अभाग्य। (५) प्रलय।

मंदरू†-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़े का एक रोग जिसमें उसके गले के पास की हड्डी में सूजन आ जाती है।

मंदक-वि० [सं०] मूर्ख। निर्बोध।

मंदकर्णि-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

मंदग–वि० [सं०] [स्त्री० मंदगा] धीमा चलनेवाला ।

संज्ञा पुं० महाभारत के अनुसार शक द्वीप के अंतर्गत चार जनपदों में से एक ।

मंदगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्रहों की गति की वह अवस्था जब वे अपनी कक्षा में घूमते हुए सूर्य से दूर निकल जाते हैं ।

मंदट–संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु ।

मंदता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आलस्य । (२) धीमापन । (३) क्षीणता ।

मंदधूप–संज्ञा पुं० [हिं० मंद+धूप] काला धूप । काला डामर । दे० "डामर" ।

मंदपरिधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] मंदोच्च वृत्ति ।

मंदफल–संज्ञा पुं० [सं०] गणित ज्योतिष में ग्रहगति का एक भेद ।

मंदभागी–वि० [सं०] अभागा । हतभाग्य ।

मंदभाग्य–वि० [सं०] दुर्भाग्य । अभाग्य ।

मंदयंती–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

मंदर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत जिससे देवताओं ने समुद्र को मथा था । (२) मंदार । (३) स्वर्ग । (४) मोती का वह हार जिसमें आठ वा सोलह लड़ियाँ हों । (५) मुकुर । दर्पण । आईना । (६) कुशद्वीप के एक पर्व्व का नाम । (७) बृहत्संहिता के अनुसार प्रासादों के बीस भेदों में दूसरा । वह प्रासाद जो छकोना हो और जिसका विस्तार तीस हाथ हो । इसमें दस भूमिकाएँ और अनेक कँगूरे होते हैं । (८) एक वर्ण वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में एक भगण (ऽ।।) होता है ।

वि० (१) मंद । धीमा । (२) मठा ।

मंदरगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंदराचल पर्वत । (२) एक छोटे पहाड़ का नाम जो मुँगेर के पास है । इस पर्वत पर हिंदुओं, जैनों और बौद्धों के अनेक मंदिर हैं और सीताकुंड नामक प्रसिद्ध गरम जल का कुंड है ।

मँदरा–वि० [सं० मंदर मि० पं० मदरा=नाटा] [स्त्री० मँदरी] नाटा । ठिंगना । उ०—स्त्रियाँ नाटी मँदरी और मर्दों से भी जियादः मज़बूत होती हैं ।—शिवप्रसाद ।

मंदरा–संज्ञा पुं० [सं० मंडल] एक प्रकार का बाजा । उ०—मंदरा तबल सुमरु खंजरी ढोलक धामक ।—सूदन ।

मँदरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] खाजे की जाति का एक पेड़ । इसकी लकड़ी मज़बूत होती है और खेती के सामान तथा गाड़ियाँ बनाने के काम आती है । छाल से चमड़ा सिझाया जाता है, फल खाए जाते हैं और पत्तियाँ पशुओं के चारे के काम आती हैं । इसी की जाति का एक और पेड़ होता है जिसे गँवली कहते हैं । इसकी छाल पर, जब वे छोटे रहते हैं, काँटे होते हैं; पर ज्यों ज्यों बड़ा होता है, छाल साफ़ होती जाती है । इसकी लकड़ी की तौल प्रति घन फुट २० से ३० सेर तक होती है और पानी में बहुत दिनों तक रहने पर भी ख़राब नहीं होती । यह खेरी, गोरखपुर, अजमेर और मध्यप्रांत के जंगलों में होती है । इसके बीज बरसात में बोए जाते हैं ।

मंदसान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि । (२) प्राण । (३) निद्रा ।

मंदसानु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वप्न । (२) जीव ।

मंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूर्य्य की वह संक्रांति जो उत्तरा फल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद और रोहिणी नक्षत्र में पड़े । ऐसी संक्रांति में संक्रमणानंतर तीन दंड तक पुण्य काल होता है । (२) वल्लीकरंज । लताकरंज ।

वि० [सं० मंद] [स्त्री० मंदी] (१) धीमा । मंद ।

क्रि० प्र०—करना ।—पड़ना ।—होना ।

(२) ढीला । शिथिल । (३) सामान्य मूल्य से कम मूल्य पर बिकनेवाला । जो महँगा न हो । जिसका दाम थोड़ा हो । सस्ता । उ०—मधुकर ह्याँ नाहिन मन मेरो । गयो जु संग नंद नंदन के बहुरि न कीन्हौं फेरो । उन नैनन मुसुकानि मोल लै कियो परायो चेरो । जाके हाथ परेउ ताही को बिसरेउ बास बसेरो । को सीखै ता बिनु सुनु सूरज योगज काहे केरो । मंदो परेउ सिधाउ अनत लै यहि निर्गुण मत मेरो ।—सूर । (४) ख़राब । निकृष्ट । उ०—योग वियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा ।—तुलसी । (५) बिगड़ा हुआ । नष्ट । भ्रष्ट ।

मंदाकिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार गंगा की वह धारा जो स्वर्ग में है । ब्रह्मवैवर्त के अनुसार इसकी धार एक अयुत योजन लंबी है । (२) आकाश गंगा । (३) एक छोटी नदी का नाम जो हिमालय पर्वत में उत्तर काशी में बहती है और भागीरथी में मिलती है । (४) महाभारत आदि के अनुसार एक नदी का नाम जो चित्रकूट के पास बहती है । इसे अब पयस्विनी कहते हैं । उ०—राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु । तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु ।—तुलसी । (५) हरिवंश के अनुसार द्वारका के पास की एक नदी का नाम । (६) संक्रांति के सात भेदों में से एक । (७) बारह अक्षरों की एक वर्णवृत्ति जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और दो रगण होते हैं (।।।,।।।,ऽ।ऽ,ऽ।ऽ) ।

मंदाक्रांता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सत्रह अक्षरों के एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण और तगण और अंत में दो गुरु होते हैं । अर्थात् ५, ६, ७, ८ और ९ तथा १२ और १३ अक्षर लघु और शेष गुरु होते हैं । (ऽऽऽ ऽ।। ।।। ऽऽ। ऽऽ। ऽऽ) उ०—मेरी भक्ति सुलभ तिहिं को शुद्ध है बुद्धि जाकी ।

मंदाग्नि–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रोग जिसमें रोगी की पाचनशक्ति मंद पड़ जाती है और अन्न नहीं पचा सकती । हारीत का मत है कि मंदाग्नि वात और श्लेष्मा से होती है । माधव

निदान के मत से कफ की अधिकता से मंदाग्नि होती है। इस रोग में अन्न न पचने के अतिरिक्त रोगी का सिर और उदर भारी रहता है, उसे मतली आती है, शरीर शिथिल रहता है और पसीना आता है। यह रोग दुःसाध्य माना जाता है। बदहज़मी। अपच।

मंदान–संज्ञा पुं० [?] जहाज़ का अगला भाग। (लश०)

मंदानल–संज्ञा पुं० [सं०] मंदाग्नि।

मंदार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्वर्ग के पाँच वृक्षों में से एक देव-वृक्ष। (२) फरहद का पेड़। नहसुत। (३) आक। मदार। (४) स्वर्ग। (५) हाथ। (६) धतूरा। (७) हाथी। (८) हिरण्यकशिपु के एक पुत्र का नाम। (९) मंदराचल पर्वत। (१०) विंध्य पर्वत के किनारे के एक तीर्थ का नाम।

मंदारमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] बाइस अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात तगण और अंत में एक गुरु होता है। उ०—मेरी कही मान ले मीत तू जन्म जावै वृथा आपको तार ले।

मंदारषष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत जो माघ शुक्ल षष्ठी के दिन पड़ता है।

मंदालसा–संज्ञा स्त्री० दे० "मदालसा"।

मंदिकुक्कुर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

मंदिर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासस्थान। (२) घर। (३) देवालय। (४) नगर। (५) शिविर। (६) शालिहोत्र के अनुसार घोड़े की जाँघ का पिछला भाग। (७) समुद्र। (८) एक गंधर्व का नाम।

मंदिरपशु–संज्ञा पुं० [सं०] बिल्ली।

मंदिरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) घोड़साल। अश्वशाला। (२) मजीरा नामक बाजा।

मंदिल*‡–संज्ञा पुं० [सं० मंदिर] (१) घर। (२) देवालय। (३) प्रत्येक रुपए या थान आदि के पीछे दाम में से काटा जानेवाला वह अलग धन जो किसी मंदिर या धार्मिक कृत्य के लिये दूकानदार दाम देते समय काटते हैं।

क्रि० प्र०—कटना।—काटना।

मंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मंद] भाव का उतरना। महँगी का उलटा। सस्ती।

मंदीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। (२) मंजीर।

मंदील–संज्ञा पुं० [हिं० मुंड] एक प्रकार का सिरबंद जिस पर काम बना रहता है।

मंदुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्वशाला। घोड़साल। (२) बिछाने की चटाई।

मंदुरिक–संज्ञा पुं० [सं०] साईस।

मंदोच्च–संज्ञा पुं० [सं०] ग्रहों की एक गति जिससे राशि आदि का संशोधन करते हैं।

मंदोदरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] रावण की पटरानी का नाम। यह मय की कन्या थी।

वि० सूक्ष्म पेटवाली।

मंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंभीर ध्वनि। (२) संगीत में स्वरों के तीन भेदों में से एक। इस जाति के स्वर मध्य से अवरोहित होते हैं। इसे उदारा वा उतार भी कहते हैं। (३) हाथी की एक जाति का नाम। (४) मृदंग।

वि० (१) मनोहर। सुंदर। (२) प्रसन्न। हृष्ट। (३) गंभीर। (४) धीमा। (शब्द आदि)

मंद्राज–संज्ञा पुं० [सं० मंद्र] [स्त्री० मंद्राजिन] दक्षिण का एक प्रधान नगर जो पूर्व घाट के किनारे पर है। इस नाम से दक्षिण का पूर्वीय प्रदेश भी ख्यात है।

मंद्राजी–वि० [हिं० मंद्राज] (१) मंद्राज में उत्पन्न वा मंद्राज का रहनेवाला। (२) मंद्राज संबंधी। (३) मंद्राज का बना हुआ। जैसे, मंद्राजी दुपट्टा।

मंसना–क्रि० स० [सं० मनस्] (१) इच्छा करना। मन में संकल्प करना। (२) दे० "मनसना"।

मंसब–संज्ञा पुं० [अ०] (१) पद। स्थान। पदवी। (२) काम। कर्त्तव्य। (३) अधिकार।

मंसा–संज्ञा स्त्री० [सं० मनस्] (१) इच्छा। चाहना। अभिरुचि। उ०—कह गिरधर कविराय केलि की रही न मंसा।—गि० दा०। (२) संकल्प। (३) आशय। अभिप्राय।

विशेष—यह शब्द संस्कृत 'मनस्' से निकला है; पर कुछ लोग भ्रमवश इसे अरबी 'मंशा' से निकला हुआ समझते हैं।

मंसूख–वि० [अ०] ख़ारिज किया हुआ। रद्द। काटा हुआ।

मंसूबा–संज्ञा पुं० दे० "मनसूबा"।

म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) चंद्रमा। (३) ब्रह्मा। (४) यम। (५) समय। (६) विष। जहर। (७) मधुसूदन।

मइँ‡–सर्व० दे० "मैं"।

मइका‡–संज्ञा पुं० दे० "मायका" या "मैका"।

मइमंत*–वि० [सं० मदमत्त, प्रा० मअमत्त] मदोन्मत्त। मतवाला। दे० "मैमंत"। उ०—जोबन अस मइमंत न कोई। नवैं हसति जउ आँकुस होई।—जायसी।

मइया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मैया"।

मई–संज्ञा स्त्री० [सं० मयी] (१) मय जाति की स्त्री। (२) ऊँटनी।

संज्ञा स्त्री० [अं० मे] अँगरेज़ी पाँचवाँ महीना जो अप्रैल के उपरांत और जून से पहले आता है। यह सदा ३१ दिन का होता है और प्रायः वैशाख में पड़ता है।

मउर†–संज्ञा पुं० [सं० मौलि] फूलों का बना हुआ वह मुकुट या सेहरा जो विवाह के समय दूल्हे के सिर पर पहनाया जाता है। मौर।

मउरछोराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मउर+छुड़ाई] (१) विवाह के

उपरांत मौर खोलने की रस्म। (जब वर कोहबर में पहुँच जाता है, तब ससुराल की स्त्रियाँ उसको कुछ देकर मौर उतार लेती हैं और उसे दही गुड़ खिलाकर कुछ नगद देकर बिदा करती हैं।) (२) वह धन जो वर को मौर खोलने के समय दिया जाता है।

मउरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मौर] एक प्रकार का कागज़ का बना हुआ तिकोना छोटा मौर जो विवाह के समय कन्या के सिर पर रखा जाता है।

मउलसिरी–संज्ञा स्त्री० दे० "मौलसिरी"।

मउसी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मासी] माता की बहिन। मासी।

मकई†संज्ञा स्त्री० [हिं० मक्का] ज्वार नामक अन्न।

मकड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० मकड़ी] बड़ी मकड़ी।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की घास जो बहुत शीघ्रता से बढ़ती है। यह पशुओं और विशेषतः घोड़ों के लिये बहुत पुष्टिकारक होती है। यह दस बरस तक सुखाकर रखी जा सकती है। कहीं कहीं ग़रीब लोग इसके बीज अनाज की भाँति खाते हैं। मधाना। मकरा। मनसा।

मकड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० मर्कटक] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध कीड़ा जिसकी सैकड़ों हजारों जातियाँ होती हैं और जो प्रायः सारे संसार में पाया जाता है। इसका शरीर दो भागों में विभक्त हो सकता है। एक भाग में सिर और छाती तथा दूसरे भाग में पेट होता है। साधारणतः इसके आठ पैर और आठ आँखें होती हैं। पर कुछ मकड़ियों को केवल छः, कुछ को चार और किसी किसी को केवल दो ही आँखें होती हैं। इनकी प्रत्येक टाँग में प्रायः सात जोड़ होते हैं। प्राणिशास्त्र के ज्ञाता इसे कीट वर्ग में नहीं मानते; क्योंकि कीटों को केवल चार पैर और दो पंख होते हैं। कुछ जाति की मकड़ियाँ विषैली होती हैं और यदि उनके शरीर से निकलनेवाला तरल पदार्थ मनुष्य के शरीर से स्पर्श कर जाय, तो उस स्थान पर छोटे छोटे दाने निकल आते हैं जिनमें जलन होती है और जिनमें से पानी निकलता है। कुछ मकड़ियाँ तो इतनी ज़हरीली होती हैं कि कभी कभी उनके काटने से मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। मकड़ी प्रायः घरों में रहती है और अपने उदर से एक प्रकार का तरल पदार्थ निकालकर उसके तार से घर के कोनों आदि में जाल बनाती है जिसे जाला या झाला कहते हैं। उसी जाल में यह मक्खियाँ तथा दूसरे छोटे छोटे कीड़े फँसाकर खाती है। दीवारों की संधियों आदि में यह अपने शरीर से निकाले हुए चमकीले, पतले और पारदर्शी पदार्थ का घर बनाती है और उसी में असंख्य अंडे देती है। साधारणतः नर से मादा बहुत बड़ी होती है और संभोग के समय मादा कभी कभी नर को खा जाती है। कुछ मकड़ियाँ इतनी बड़ी होती हैं कि छोटे मोटे पक्षियों तक का शिकार कर लेती हैं। मकड़ियाँ प्रायः उछलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं। इसकी कुछ प्रसिद्ध जातियों के नाम इस प्रकार हैं—जंगली मकड़ी, जल मकड़ी, राज-मकड़ी, कोढ़ी मकड़ी, जहरी मकड़ी आदि। (२) मकड़ी के विष के स्पर्श से शरीर में होनेवाले दाने जिनमें जलन होती है और जिनमें से पानी निकलता है।

मक़तब–संज्ञा पुं० [अ०] छोटे बालकों के पढ़ने का स्थान। पाठशाला। चटसाल। मदरसा।

मकता–संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश। (आईन अकबरी में मगध का यही नाम दिया गया है।)

मक़दूर–संज्ञा पुं० [अ०] सामर्थ्य। ताक़त। शक्ति।

मक़नातीस–संज्ञा पुं० [अ०] चुंबक पत्थर।

मक़फ़ूल–वि० [अ०] रेहन किया हुआ। गिरों रखा हुआ।

मक़बरा–संज्ञा पुं० [अ०] वह इमारत जिसमें किसी की लाश गाड़ी गई हो। रौज़ा। मज़ार। समाधि।

मक़बूज़ा–वि० [अ०] क़ब्ज़ा किया हुआ। अधिकृत।

मकरंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूलों का रस जिसे मधुमक्खियाँ और भौंरे आदि चूसते हैं। (२) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात जगण और एक यगण होता है। इसको 'राम' 'माधवी' और 'मंजरी' भी कहते हैं। उ०—जुलोक यथामति वेद पढ़ैं एह आगम औ दश आठ सयाने। (३) ताल के ६० मुख्य भेदों में से एक। (४) कुंद का पौधा। (५) किंजल्क। फूल का केसर।

मकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगर या घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जलजंतु। यह कामदेव की ध्वजा का चिह्न और गंगाजी तथा वरुण का वाहन माना जाता है। (२) बारह राशियों में से दसवीं राशि जिसमें उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अंतिम तीन पाद, पूरा श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठा के आरंभ के दो पाद हैं। इसे पृष्ठोदय, दक्षिण दिशा का स्वामी, रूक्ष, भूमिचारी, शीतल स्वभाव और पिंगल वर्ण का, वैश्य, वात-प्रकृति और शिथिल अंगोंवाला मानते हैं। ज्योतिष के अनुसार इस राशि में जन्म लेनेवाला पुरुष पर-स्त्री का अभिलाषी, धन उड़ानेवाला, प्रतापशाली, बात चीत में बहुत होशियार, बुद्धिमान् और वीर होता है। (३) फलित ज्योतिष के अनुसार एक लग्न। (४) सुश्रुत के अनुसार कीड़ों और छोटे जीवों का एक वर्ग। (५) कुबेर की नौ निधियों में से एक। (६) अस्त्र शस्त्र आदि को निष्फल बनाने के लिये उन पर पढ़ा जानेवाला एक प्रकार का मंत्र। (७) एक पर्वत का नाम। (८) एक प्रकार का व्यूह जिसमें सैनिक लोग इस प्रकार खड़े किए जाते हैं कि उनकी समष्टि मकर के आकार की जान पड़ती है। (९) माघ मास। (१०) मछली। उ०—श्रुति

मंडल कुंडल विवि मकर सुविलसत सदन सदाई ।—सूर । (११) छप्पय के उनतालीसवें भेद का नाम जिसमें ३२ गुरु, ८८ लघु, १२० वर्ण या १५२ मात्राएँ अथवा ३२ गुरु, ८४, लघु ११६ वर्ण, कुल १४८ मात्राएँ होती हैं ।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) छल । कपट । फ़रेब । धोखा (२) नख़रा ।

क्रि० प्र०—रचना ।—फैलाना ।

मकरकर्कट–संज्ञा पुं० [सं०] क्रांति वृत्त की वह सीमा जहाँ से सूर्य उत्तरायण वा दक्षिणायन होकर लौट आता है ।

मकरकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव ।

मकरतार–संज्ञा पुं० [हिं० मुकश] बादले का तार । उ०—चलु सखि चलु सखि प्रेम-बिलास । भ्रमर खेलौ सतगुरु के पास । श्वेत सिंहासन छत्र अँजोर । मकरतार पर लागी डोर ।—कबीर ।

मकरध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । कंदर्प । (२) रस सिंदूर । चंद्रोदय नामक रस । (३) इंद्र पुष्प । लौंग । (४) पुराणानुसार अहिरावण का एक द्वारपाल जो हनुमान का पुत्र माना जाता है । कहते हैं कि लंका को जलाने के उपरांत जब हनुमान ने समुद्र में स्नान किया था, तब एक मछली ने उनके पसीने से मिला हुआ जल पीकर गर्भ धारण किया था जिससे इसका जन्म हुआ । मत्स्योदर ।

मकरपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) ग्राह ।

मकरव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का व्यूह या सेना-रचना जिसमें सैनिक मकर के आकार में खड़े किए जाते हैं ।

मकरसंक्रांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह समय जब कि सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है । यह एक पर्व माना जाता है ।

मकरांक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) समुद्र । (३) एक मनु का नाम ।

मकरा–संज्ञा पुं० [सं० वरक] मडुवा नामक अन्न ।

संज्ञा पुं० [हिं० मकड़ा] (१) भूरे रंग का एक कीड़ा जो दीवारों और पेड़ों पर जाला बनाकर रहता है । इसकी टाँगें बड़ी बड़ी होती हैं । (२) हलवाइयों की एक प्रकार की घोड़िया या चौघड़िया जिससे सेव बनाया जाता है । यह एक चौकी होती है जिसमें छाननी की तरह छेद वाला लोहे का एक पात्र जड़ा होता है । इसी पात्र में घोला हुआ बेसन भरकर ऊपर से एक दस्ते से दबाते हैं जिससे नीचे सेव बनकर गिरता जाता है ।

मकराकर–संज्ञा स्त्री० [सं०] समुद्र । (डिं०)

मकराकार–वि० [सं०] मकर या मछली के आकार का ।

मकराकृत–वि० [सं०] मकर या मछली के आकारवाला ।

मकराक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] खर का पुत्र और रावण का भतीजा । यह कुंभ और निकुंभ के मारे जाने पर युद्ध में गया था और राम के द्वारा मारा गया था ।

मकरानन–संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

मकराना–संज्ञा पुं० [देश०] राजपूताने का एक प्रदेश जहाँ का संगमरमर बहुत प्रसिद्ध होता है ।

मकरा राई–संज्ञा स्त्री० [मकरा ?+राई] काली राई ।

मकरालय–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

मकराश्व–संज्ञा पुं० [सं०] मकर पर सवार होनेवाले, वरुण ।

मकरासन–संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों का एक आसन जिसमें हाथ और पैर पीठ की ओर कर लिए जाते हैं ।

मकरिकापत्र–संज्ञा पुं० [सं०] मछली के आकार का बना हुआ चंदन का चिह्न जो प्राचीन काल में स्त्रियाँ अपनी कनपटियों पर बनाती थीं ।

मकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मगर की मादा । मगरी । उ०—पोखरी बिसाल बाहुबल वारिचर पीर मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारिये ।—तुलसी । (२) एक प्रकार का वैदिक गीत । (३) चक्की में लगी हुई एक लकड़ी जो अनुमान आठ अंगुल की होती है और जो किल्ले की नोक पर रखकर और उसके दोनों सिरों पर जोती लगाकर जुए से बाँधी रहती है । इस जोती में दोनों ओर छोटी छोटी लकड़ियाँ लगी होती हैं जिनके घुमाने से ऊपर का पाट आवश्यकतानुसार ऊपर उठाया या नीचे गिराया जा सकता है । जब यह ऊपर कर दी जाती है, तब चक्की के ऊपर का पाट भी कुछ ऊपर उठ जाता है जिससे आटा कुछ मोटा और दरदरा होने लगता है । और जब इसे घुमाकर कुछ नीचे करते हैं, तब पाट के नीचे आ जाने के कारण आटा महीन होने लगता है । (४) जहाज़ में फ़र्श या खंभों आदि में लगा हुआ लकड़ी या लोहे का वह चौकोर टुकड़ा जिसके अगले दोनों भाग अँकुसे के आकार के होते हैं और जिनमें रस्सा आदि बाँधकर फँसा देते हैं । (लश०)

मकरूह–वि० [फ़ा०] (१) नापाक । अपवित्र । (२) जिसे देखकर घृणा उत्पन्न हो । घृणित ।

मकरेड़ा†–संज्ञा पुं० [हिं० मक्का+एड़ा (प्रत्य०)] ज्वार वा मक्के का डंठल ।

मकरौरा†–संज्ञा पुं० [हिं० मकड़ी] एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो प्रायः आम के पेड़ों पर चिपका रहता है ।

मकलई–संज्ञा स्त्री० [मकालिया बंदरगाह से] एक प्रकार का गोंद जो अदन से बंबई में आता है । यह सफ़ेद या लाली लिए पीले रंग का होता है और इसके गोल गोल दाने होते हैं । यह मकालिया नामक बंदरगाह से आता है; इसीलिये मकलई कहलाता है ।

मक़सद–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मनोरथ । मनोकामना । (२) अभिप्राय । तात्पर्य्य । मतलब ।

मक़सूद–वि० [अ०] उद्दिष्ट । अभिप्रेत ।

संज्ञा पुं० (१) अभिप्राय। मतलब। (२) मनोरथ।

मक़ाँ–संज्ञा पुं० [फ़ा०] गृह। घर। मकान।

मकाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मक्का] बड़ी जोन्हरी। ज्वार।

मकान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) गृह। घर। (२) निवासस्थान। रहने की जगह।

मक़ाम–संज्ञा पुं० दे० "मुकाम"।

मकुंद–संज्ञा पुं० दे० "मुकुंद"।

मकु–अव्य० [सं० म०] (१) चाहे। उ०—(क) तिमिर तरुन तरनिहिं मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहिं मिलई। —तुलसी। (ख) मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप-मद भरतहि भाई।—तुलसी। (२) बल्कि। वरन्। उ०—पाउँ छुवइ मकु पावउँ एहि मिस लहरइ देहु। —जायसी। (३) कदाचित्। क्या जाने। शायद। उ०—मकु यह खोज होइ निसि आई। तुरइ रोग हरि माँथइ जाई।—जायसी।

मकुआ–संज्ञा पुं० [हिं० मक्का] बाजरे के पत्तों का एक रोग।

मकुट–संज्ञा पुं० दे० "मुकुट"।

मकुना–संज्ञा पुं० [सं० मनाक=हाथी] (१) वह नर हाथी जिसके दाँत न हों अथवा छोटे छोटे दाँत हों। (२) बिना मूछों का पुरुष।

मकुनी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) आटे के भीतर बेसन या चने की पीठी भरकर बनाई हुई कचौरी। बेसनी रोटी। (२) चने का बेसन और गेहूँ का आटा एक में मिलाकर उसमें नमक, मेथी, मँगरैला आदि मिलाकर बाटी की भाँति भूभल में सेंकी हुई बाटी वा लिट्टी। (३) मटर के आटे की रोटी।

मकुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुम्हार का डंडा जिससे वह चाक घुमाता है। (२) बकुल। मौलसिरी। (३) शीशा। दर्पण। (४) कोरक। कली।

मकुष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] मोठ नामक अन्न।

मकुष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रका का धान। (२) मोठ नामक अन्न।

मकूनी–संज्ञा स्त्री० दे० "मकुनी"। उ०—मीठे तेल चना की भाजी। एक मकूनी दै मोहि साजी।—सूर।

मकूला–संज्ञा पुं० [अ०] (१) कहावत। कहनूत। (२) वचन। कथन।

मकेरा–संज्ञा पुं० [हिं० मक्का] वह खेत जिसमें ज्वार या बाजरा बोया जाता हो।

मकेरुक–संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार एक प्रकार का रोग जिसमें मल के साथ कीड़े निकलते हैं।

मको–संज्ञा स्त्री० दे० "मकोय"।

मकोइचा–संज्ञा पुं० दे० "मकोई"।

मकोइया–वि० [हिं० मकोय+इया (प्रत्य०)] मकोय के पके हुए फल के रंग का। मकोय के रंग के समान। ललाई लिये पीला। (रंग)

मकोई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मकोय] जंगली मकोय जिसमें काँटे होते हैं। मकोचा। उ०—झाँखर जहाँ सो छाँड़हु पंथा। हिलगि मकोइन फारहु कंथा।—जायसी।

मकोड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० कीड़ा का अनु०] कोई छोटा कीड़ा। जैसे,—बरसात में बहुत से कीड़े मकोड़े पैदा हो जाते हैं।

मकोय–संज्ञा स्त्री० [सं० काकमाता या काकमात्री से विप०] (१) एक प्रकार का क्षुप जिसके पत्ते गोलाई लिए लंबोतरे होते हैं और जिसमें सफ़ेद रंग के छोटे फूल लगते हैं। फल के विचार से यह क्षुप दो प्रकार का होता है। एक में लाल रंग के और दूसरे में काले रंग के बहुत छोटे छोटे, प्रायः काली मिर्च के आकार और प्रकार के, फल लगते हैं। इसकी पत्तियों और फलों का व्यवहार ओषधि के रूप में होता है। इसके पत्ते उबालकर रोगियों को दिए जाते हैं। इसके क्वाथ को मकोय की भुजिया कहते हैं। वैद्यक में इसे गरम, चरपरी, रसायन, स्निग्ध, वीर्य्यवर्धक, स्वर को उत्तम करनेवाली, हृदय और नेत्रों को हितकारी, रुचिकारक, दस्तावर और कफ, शूल, बवासीर, सूजन, त्रिदोष, कुष्ट, अतिसार, हिचकी, वमन, श्वास, खाँसी और ज्वर आदि को दूर करनेवाली माना है। कबैया। (२) इस क्षुप का फल। (३) एक प्रकार का कँटीला पौधा जो प्रायः सीधा ऊपर की ओर उठता है। इसमें प्रायः सुपारी के आकार के फल लगते हैं जो पकने पर कुछ ललाई लिए पीले रंग के होते हैं। ये फल एक प्रकार के पतले पत्तों के आवरण में बंद रहते हैं। फल खट-मिट्ठा होता है और उसमें एक प्रकार का अम्ल होता है जिसके कारण वह पाचक होता है। (४) इस पौधे का फल। रसभरी।

मकोरना*†–क्रि० स० दे० "मरोड़ना"। उ०—सुनि धन धनक भौंह कर फेरी। काम कटाछ मकोरत हेरी।—जायसी।

मकोसल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का ऊँचा वृक्ष जो सर्वदा हरा भरा रहता है। इसकी लकड़ी अंदर से लाल और बहुत कड़ी तथा दृढ़ होती है। यह इमारत के काम में आती है। आसाम में इससे नावें भी बनाई जाती हैं।

मकोहा†–संज्ञा पुं० [सं० मत्कुण या हिं० मकोय ?] लाल रंग का एक प्रकार का कीड़ा जो अनुमान एक इंच लंबा होता है। यह प्रायः अनावृष्टि के समय होता है और फ़सल को बहुत हानि पहुँचाता है।

मक्कर†–संज्ञा पुं० [अ० मक्र] (१) छल। कपट। धोखा। (२) नखरा।

क्रि० प्र०—दिखाना।—फैलाना।—बिछाना।—साधना।

मकल्ल–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का स्त्री-रोग जिसमें प्रसव के अनंतर प्रसूता स्त्री की नाभि के नीचे, पसली में, मूत्राशय में या उसके ऊपर वायु की एक गाँठ सी पड़ जाती है और पीड़ा होती है। इस रोग में पक्वाशय फूल जाता है और मूत्र रुक जाता है।

मक्का–संज्ञा पुं० [अ०] अरब का एक प्रसिद्ध नगर जहाँ मुहम्मद साहब का जन्म हुआ था। यह मुसलमानों का सबसे बड़ा तीर्थ-स्थान है। हज करने के लिये मुसलमान यहीं जाते हैं। संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ज्वार। बड़ी जोन्हरी। मकई। वि० दे० "ज्वार"।

मक्कार–वि० [अ०] मकर करनेवाला। फ़रेबी। कपटी। छली।

मक्कारी–संज्ञा स्त्री० [अ०] छल। धोखेबाजी। दग़ाबाज़ी। फ़रेब।

मक्की†–संज्ञा स्त्री० दे० "मक्का"।

मक्खन–संज्ञा पुं० [सं० मन्थज] दूध में की, विशेषतः गौ या भैंस के दूध में की, वह चरबी या सार भाग जो दही या मठे को मथने पर अथवा और कुछ विशिष्ट क्रियाओं से निकाला जाता है और जिसको तपाने से घी बनता है। वैद्यक में इसे शीतल, मधुर, बलकारक, संग्राहक, कांति-वर्धक, आँखों के लिये हितकर और सब दोषों का नाश करनेवाला माना है। नवनीत। नैनूँ।

मुहा०—कलेजे पर मक्खन मला जाना=शत्रु की हानि देख कर शान्ति या प्रसन्नता होना। कलेजा ठंढा होना।

मक्खा–संज्ञा पुं० [हिं० मक्खी] (१) बड़ी जाति की मक्खी। (२) नर मक्खी।

मक्खी–संज्ञा स्त्री० [सं० माक्षिका] (१) एक प्रसिद्ध छोटा कीड़ा जो प्रायः सारे संसार में पाया जाता है और जो साधारणतः घरों और मैदानों में सब जगह उड़ता फिरता है। इसके छः पैर और दो पर होते हैं। मक्षिका।

विशेष—मक्खी प्रायः कूड़े कतवार और सड़े गले पदार्थों पर बैठती है, उन्हीं को खाती और उन्हीं पर बहुत से अंडे देती है। इन अंडों में से बहुधा एक ही दिन में एक प्रकार का ढोला निकलता है, जो बिना सिर पैर का होता है। यह ढोला प्रायः दो सप्ताह में पूरा बढ़ जाता है और तब किसी सूखे स्थान में पहुँचकर अपना रूप परिवर्त्तित करने लगता है। प्रायः १०-१२ दिन में वह साधारण मक्खी का रूप धारण कर लेता है और इधर उधर उड़ने लगता है। मक्खी के पैरों में से एक प्रकार का तरल और लसदार पदार्थ निकलता है, जिसके कारण वह चिकनी से चिकनी चीज पर पेट ऊपर और पीठ नीचे करके भी चल सकती है।

यौ०—मक्खीचूस। मक्खीमार।

मुहा०—जीती मक्खी निगलना=(१) जान बूझकर कोई ऐसा अनुचित कृत्य या पाप करना जिसके कारण पीछे से हानि हो। (२) अनौचित्य या दोष की ओर ध्यान न देना। दोष या पाप की उपेक्षा करके वह दोष या पाप कर डालना। नाक पर मक्खी न बैठने देना=किसी को अपने ऊपर एह-सान करने का तनिक भी अवसर न देना। अभिमान के कारण किसी के सामने न दबना। मक्खी की तरह निकाल या फेंक देना=किसी को किसी काम से बिलकुल अलग कर देना। किसी को किसी काम से कोई संबंध न रहने देना। मक्खी छोड़ना और हाथी निगलना=छोटे छोटे पापों या अपराधों से बचना और बड़े बड़े पाप या अपराध करना। मक्खी मारना या उड़ाना=बिलकुल निकम्मा रहना। कुछ भी काम धंधा न करना।

(२) मधुमक्खी। मुमाखी। (३) बंदूक के अगले भाग में वह उभरा हुआ अंश जिसकी सहायता से निशाना साधा जाता है।

मक्खीचूस–संज्ञा पुं० [हिं० मक्खी+चूसना] घी आदि में पड़ी हुई मक्खी तक को चूस लेनेवाला व्यक्ति। बहुत अधिक कृपण। भारी कंजूस।

मक्खीमार–संज्ञा पुं० [हिं० मक्खी+मारना] (१) एक प्रकार का बहुत छोटा जानवर जो प्रायः मक्खियाँ मार मारकर खाया करता है। (२) एक प्रकार की छड़ी जिसके सिरे पर चमड़ा लगा होता है और जिसकी सहायता से लोग प्रायः मक्खियाँ उड़ाते हैं। (३) बहुत ही घृणित व्यक्ति।

मक्खीलेट–संज्ञा स्त्री० [हिं० मक्खी+लेट ?] एक प्रकार की जाली जिसमें बहुत छोटी छोटी बूटियाँ होती हैं।

मक़दूर–संज्ञा पुं० [अ०] (१) सामर्थ्य। ताक़त। शक्ति। बल। जोर। जैसे,—यह अपने अपने मक़दूर की बात है।

मुहा०—मक़दूर से बाहर पाँव रखना=सामर्थ्य या योग्यता से बढ़कर काम करना।

(२) वश। क़ाबू।

मुहा०—मक़दूर चलना=बस चलना। क़ाबू चलना।

(३) समाई। गुंजाइश। (४) दौलत। धन। पूँजी।

यौ०—मक़दूरवाला=धनवान्। संपन्न। अमीर।

मक्सी–संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह सब्जा घोड़ा जिस पर काले फूल या दाग़ हों। (२) बिलकुल काले रंग का घोड़ा।

मक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने दोष को छिपाना। अपना ऐब जाहिर न होने देना। (२) क्रोध। ग़ुस्सा। (३) समूह।

मक्षदृग–संज्ञा पुं० [सं० मत्स्यदृग] एक प्रकार का मोती जिसके विषय में लोगों की यह धारणा है कि इसके पहनने से पुत्र मर जाता है।

मक्षवीर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] पियार नाम का वृक्ष।

मक्षिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साधारण मक्खी। (२) शहद की मक्खी।

मक्षिकामल–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मक्षिकासन–संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता।

मख–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ।

मख़ज़न–संज्ञा पुं० [अ०] ख़ज़ाना। भंडार। कोष।

मख़तूल–संज्ञा पुं० [सं० महर्घ तूल] काला रेशम।

मख़तूली–वि० [हिं० मखतूल+ई (प्रत्य०)] काले रेशम से बना हुआ। काले रेशम का।

मखत्राता–संज्ञा पुं० [सं० मखत्रातृ] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो। (२) रामचंद्र जिन्होंने विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा की थी।

मख़दूम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जिसकी ख़िदमत की जाय। (२) स्वामी। मालिक।
वि० सेवा के योग्य। पूज्य।

मखद्वेषी–संज्ञा पुं० [सं० मखद्वेषिन्] राक्षस।

मखधारी–संज्ञा पुं० [सं० मखधारिन्] यज्ञ करनेवाला। वह जो यज्ञ करता हो।

मखन*–संज्ञा पुं० दे० "मक्खन"।

मखना–संज्ञा पुं० दे० "मकुना"।

मखनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु।

मखनिया†–संज्ञा पुं० [हिं० मक्खन+इया (प्रत्य०] मक्खन बनाने या बेचनेवाला।
वि० जिसमें से मक्खन निकाल लिया गया हो। जैसे, मखनिया दूध, मखनिया दही।

मखनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मक्खन] प्रायः एक बालिश्त लंबी एक प्रकार की मछली जो मध्य भारत की नदियों में पाई जाती है।

मखमय–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मख़मल–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) एक प्रकार का बहुत बढ़िया रेशमी कपड़ा जो एक ओर से रूखा और दूसरी ओर से बहुत चिकना और अत्यंत कोमल होता है। इस ओर छोटे छोटे रेशमी रोएँ भी उभरे रहते हैं। (२) एक प्रकार की रंगीन दरी जिसके बीचोबीच एक गोल चँदोआ बना रहता है।

मख़मली–वि० [अ० मखमल+ई (प्रत्य०)] (१) मख़मल का बना हुआ। जैसे, मख़मली टोपी। (२) मख़मल का सा। मख़मल की तरह का। जैसे, मख़मली किनारे की धोती।

मखमित्र–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मखराज–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञों में श्रेष्ठ, राजसूय यज्ञ।

मख़लूक़–संज्ञा पुं० [अ०] ईश्वर की सृष्टि। परमेश्वर के बनाए हुए प्राणी।

मखवल्क्य–संज्ञा पुं० दे० "याज्ञवल्क्य"।

मखशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ करने का स्थान। यज्ञशाला।

मख़सूस–वि० [अ०] जो किसी विशिष्ट कार्य के लिये अलग कर दिया गया हो। ख़ास तौर पर अलग किया या बनाया हुआ।

मखस्वामी–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु।

मखाना–संज्ञा पुं० दे० "ताल मखाना"।

मखान्न–संज्ञा पुं० [सं०] ताल मखाना।

मखालय–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला।

मखी*–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "मक्खी"।

मखेश–संज्ञा पुं० [देश०] राजसूय यज्ञ।

मखोना†–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का कपड़ा। उ०—चकवा चीर मखोना लोने। मोति लाग औ छापे सोने।—जायसी।

मग–संज्ञा पुं० [सं० मार्ग प्रा० मग्ग] (१) रास्ता। राह।
मुहा०—के लिये दे० "बाट" और "रास्ता"।
संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार के शाकद्वीपी ब्राह्मण। (२) मगह देश। मगध। उ०—कासी मग सुरसरि कवि नासा। मरु मारव महिदेव गवासा।—तुलसी। (३) मगध का निवासी। (४) पिप्पलीमूल।

मगज–संज्ञा पुं० [अ० मग्ज] (१) दिमाग़। मस्तिष्क।
यौ०—मगजपच्ची।
मुहा०—मगज खौलना=(१) कार्य्य की अधिकता के कारण दिमाग का कुछ काम न करना। (२) क्रोध के मारे दिमाग खराब होना। (३) दिमाग में गरमी आ जाना। पागल हो जाना। मगज खाना=बक कर तंग करना। मगज उड़ना या भिन्नाना=दुर्गंध या शोर के कारण दिमाग खराब होना। मगज उड़ाना=बहुत बक बककर दिक़ करना। मगज ख़ाली करना=दे० "मगज़ पचाना"। मगज़ चाटना=बक बक कर तंग करना। मगज चलना=(१) बहुत अभिमान होना। (२) पागल होना। मगज़ पचाना=(१) बहुत अधिक दिमाग लड़ाना। सिर खपाना। (२) समझाने के लिये बहुत बकना।
(२) गिरी। मींगी। गूदा।

मगजचट–संज्ञा पुं० [हिं० मगज+चाटना] वह जो बहुत बकता हो। बकवादी।

मगजचट्टी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मगज+चाटना] बकवाद। बकबक।

मगजपच्ची–संज्ञा स्त्री० [हिं० मगज+पचाना] किसी काम के लिये बहुत दिमाग़ लड़ाना। सिर खपाना।

मगजी–संज्ञा स्त्री० [देश०] कपड़े के किनारे पर लगी हुई पतली गोट।

मगण–संज्ञा पुं० [सं०] कविता के आठ गणों में से एक जिसमें ३ गुरु वर्ण होते हैं। लिखने में इसका स्वरूप यह है—ऽऽऽ। इसका छंद के आदि में आना शुभ माना जाता है। कहते हैं कि इसका देवता पृथ्वी है और यह लक्ष्मीदाता है। जैसे, आमोदी, काकोली, दीवाना।

मगद–संज्ञा पुं० [सं० मुद्ग] एक प्रकार की मिठाई जो मूँग के आटे और घी से बनती है।

मगदर†–संज्ञा पुं० दे० "मगदल"।

मगदल–संज्ञा पुं० [सं० मुद्ग] एक प्रकार का लड्डू जो मूँग वा उड़द के सत्तू में चीनी मिलाकर घी में फेंटकर बनाया जाता है।

मगदा–वि० [सं० मग+दा (प्रत्य०)] मार्गप्रदर्शक। रास्ता दिखलानेवाला। उ०—वे मगदा पग अंधन को तुम चालिवो अछेनहूँ को निवारेउ।—विश्राम।

मगदूर*–संज्ञा पुं० दे० "मक़दूर"।

मगध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिणी बिहार का प्राचीन नाम। वैदिक काल में इस देश का नाम कीकट था। (२) इस देश के निवासी। (३) राजाओं की कीर्त्ति का वर्णन करनेवाले, वंदीजन। मागध।

मगधेश–संज्ञा पुं० [सं०] मगध देश का राजा, जरासंध।

मगधेश्वर–संज्ञा पुं० दे० "मगधेश"।

मगन–वि० [सं० मग्न] (१) डूबा हुआ। समाया हुआ। (२) प्रसन्न। हर्षित। खुश। (३) बेहोश। मूर्च्छित। (४) लीन। वि० दे० "मग्न"।

मगना*†–क्रि० अ० [सं० मग्न] (१) लीन होना। तन्मय होना। (२) डूबना। उ०—तुलसी लगन लै दीन मुनिन्ह महेश आनँद रँग मगे।—तुलसी।

मगमा–संज्ञा पुं० [देश०] काग़ज़ बनाने में उसके लिये तैयार किए हुए गूदे को धोने की क्रिया।

मगर–संज्ञा पुं० [सं० मकर] (१) घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जलजंतु। (२) मीन। मछली। (३) मछली के आकार का कान में पहनने का एक गहना। (४) नैपालियों की एक जाति।

अव्य० लेकिन। परंतु। पर। जैसे,—आप कहते हैं मगर यहाँ सुनता कौन है?

मुहा०—अगर मगर करना=आनाकानी करना। हीला हवाला करना।

मगरधर–संज्ञा पुं० [सं० मकर+धर] समुद्र। (डिं०)

मग़रब–संज्ञा पुं० [अ०] पश्चिम।

यौ०—मग़रब की नमाज़=वह नमाज जो सूर्य्य अस्त होने के समय पढ़ी जाती है।

मगरबाँस–संज्ञा पुं० [हिं० मगर ?+बाँस] एक प्रकार का काँटेदार बाँस जो कोंकण और पश्चिमी घाट में अधिकता से होता है।

मगरमच्छ–संज्ञा पुं० [हिं० मगर+मछली] (१) मगर या घड़ियाल नामक प्रसिद्ध जल-जंतु। (२) बड़ी मछली।

मग़रूर–वि० [अ०] घमंडी। अभिमानी।

मग़रूरी–संज्ञा स्त्री० [अ० मग़रूर+ई (प्रत्य०)] घमंड। अभिमान।

मगरो†–संज्ञा पुं० [देश०] नदी का ऐसा किनारा जिसमें बालू के साथ कुछ मिट्टी मिली हो और जो जोतने बोने के योग्य हो गया हो।

मगरोसन†–संज्ञा स्त्री० [अ० मग़ज़+रौशन] सुँघनी। नसवार।

मगली एरंड–संज्ञा पुं० [देश० मगली+हिं० एरंड] रतन जोत। बागबेरंडा।

मग़लूब–संज्ञा पुं० [फ़ा०] चौबीस शोभाओं में से एक। (संगीत)
वि० जो जीत लिया गया हो। पराजित।

मगस–संज्ञा पुं० [देश०] पेरे हुए ऊखों की सीठी। खोई।
संज्ञा पुं० [सं०] शकद्वीप की एक प्राचीन योद्धा जाति का नाम।

मगसिर†–संज्ञा पुं० [सं० मार्गशीर्ष] अगहन मास।

मगह†–संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश।

मगहपति*–संज्ञा पुं० [सं० मगधपति] मगध देश का राजा, जरासंध।

मगहय*†–संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश। उ०—युद्धामन्यु अलंबु उलूका। मगहय बंधु चतुर अहि मूका।—सबल।

मगहर*†–संज्ञा पुं० [सं० मगध] मगध देश। उ०—सो मगहर महँ कीन्हों थाना। तहाँ बसत बहु काल बिताना।—रघुराज।

मगही–वि० [सं० मगह+ई (प्रत्य०)] (१) मगध संबंधी। मगध देश का। (२) मगह में उत्पन्न।

यौ०—मगही पान=मगध देश का पान जो सबसे उत्तम समझा जाता है। वि० दे० "पान"।

मगु*†–संज्ञा पुं० [सं० मार्ग] मग। मार्ग। पथ। राह। रास्ता।

मगोर–संज्ञा स्त्री० [देश०] सींगी की तरह की एक प्रकार की मछली जो बिना छिलके की और कुछ लाली लिये काले रंग की होती है। यह डंक मारती है। मंगुर। मँगुरी।

मग्गा*†–संज्ञा पुं० [सं० मार्ग] राह। रास्ता। मग। मार्ग।

मग़ज़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मस्तिष्क। दिमाग़। भेजा। (२) किसी फल के बीज की गिरी। मींगी। गूदा। जैसे, मग़ज़कद्दू।

मुहा०—के लिये दे० "मगज"।

मग़ज़रोशन–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सुँघनी। नास। वि० दे० "सुँघनी"।

मग्न–वि० [सं०] (१) डूबा हुआ। निमज्जित। (२) तन्मय। लीन। लिप्त। (३) प्रसन्न। हर्षित। खुश। (४) नशे आदि में चूर। मदमस्त। (५) नीचे की ओर गिरा या ढलका हुआ जो उन्नत न हो। जैसे, मग्न नासिका। मग्न स्तन।
संज्ञा पुं० एक पर्वत का नाम।

मग्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरस्कार। इनाम। (२) धन। संपत्ति। (३) एक प्रकार का फूल। पुराणानुसार एक द्वीप का नाम जिसमें म्लेच्छ रहते हैं।

मघई†–वि० दे० "मगही"।

मघवा–संज्ञा पुं० [सं० मघवन्] (१) इंद्र। (२) जैनों के बारह

चक्रवर्तियों में से एक। (३) पुराणानुसार सातवें द्वापर के व्यास का नाम। (४) पुराणानुसार एक दानव का नाम।

मघवाजित्-संज्ञा पुं० [सं०] रावण का बड़ा पुत्र इंद्रजित् जिसने इंद्र को जीत लिया था। मेघनाद।

मघवान-संज्ञा पुं० [सं० मघवन्] इंद्र। (डिं०)

मघवाप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रप्रस्थ नामक प्राचीन नगर। उ०—फिरि आए हस्तिनपुर पारथ मघवाप्रस्थ बसायो।—सूर।

मघवारिपु-संज्ञा पुं० [हिं० मघवा+रिपु=शत्रु] इंद्र का शत्रु, मेघनाद।

मघा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्रों में से दसवाँ नक्षत्र जिसमें पाँच तारे हैं। यह चूहे की जाति का माना जाता है और इसके अधिपति पितृगण कहे गए हैं। जिस समय सूर्य इस नक्षत्र में रहता है, उस समय खूब वर्षा होती है और उस वर्षा का जल बहुत अच्छा माना जाता है। उ०—(क) मनहुँ मघा-जल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे।—तुलसी। (ख) दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई।—तुलसी। (ग) मघा मकरी, पूर्वा डाँस। उत्तरा में सबका नास। (कहावत) (२) एक प्रकार की ओषधि।

मघाना-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बरसाती घास। वि० दे० "मकड़ा"।

मघाभव-संज्ञा पुं० [सं०] शुक्र ग्रह।

मघारना-†-क्रि० स० [हिं० माघ+आरना (प्रत्य०)] आगामी वर्षा ऋतु में धान बोने के लिये माघ के महीने में हल चलाना।

मघोनी*-संज्ञा स्त्री० [सं० मघवन्] इंद्राणी। इंद्रपत्नी। शची।

मचक-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचकना] दबाव। बोझ। दाब। उ०—बरजे दूनी ह्वै चढ़ै ना सकुचै न सँकाय। टूटति कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाय।—बिहारी

मचकना-क्रि० स० [मच मच से अनु०] किसी पदार्थ को, विशेषतः लकड़ी आदि के बने पदार्थ को, इस प्रकार जोर से दबाना कि उसमें से मच मच शब्द निकले। उ०—यों मिचकी मचकौ न हहा लचकै करिहाँ मचकै मिचकी के।—पद्माकर।

क्रि० अ० इस प्रकार दबना जिसमें मच मच शब्द हो। झटके से हिलना। उ०—उचकि चलत हरि दचकनि दचकत मंच ऐसे मचकत भूतल के थल थल।—केशव।

मचका-संज्ञा पुं० [हिं० मचकना] [स्त्री० अल्पा० मचकी] (१) झोंका। धक्का। झटका। हुमचन। (२) झूले की पेंग।

मचना-क्रि० अ० [अनु०] (१) किसी ऐसे कार्य का आरंभ या प्रचलित होना जिसमें कुछ शोर-गुल हो। जैसे,—क्या दिल्लगी मचा रखी है? (२) छा जाना। फैलना। जैसे,—होली मच गई। उ०—नाचैंगी निकसि ससिबदनी बिहँसि तहाँ को हमें गनत मही माह में मचति सी।—देव।

क्रि० अ० दे० "मचकना"। उ०—यह सुनि हँसत मचत अति गिरधर डरत देखि अति नारि।—सूर।

मचरंग-संज्ञा पुं० [देश०] किलकिला पक्षी।

मचक्रुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाभारत के अनुसार एक यक्ष का नाम। (२) कुरुक्षेत्र के पास का एक पवित्र स्थान जिसकी रक्षा उक्त यक्ष करता है।

मचर्चिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तमता। श्रेष्ठता।

वि० जो सबसे उत्तम हो। सर्वश्रेष्ठ।

मचल-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचलना] मचलने की क्रिया या भाव।

मचलना-क्रि० अ० [अनु०] किसी चीज़ को लेने अथवा न देने के लिये जिद बाँधना। हठ करना। अड़ना। (विशेषतः बालकों अथवा स्त्रियों के विषय में बोलते हैं।)

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

मचला-वि० [हिं० मचलना अ० पं० मचला] जो बोलने के अवसर पर जान बूझकर चुप रहे। अनजान बननेवाला।

मचलाना-क्रि० अ० [अनु०] कै मालूम होना। जी मतलाना। ओकाई आना।

क्रि० स० किसी को मचलने में प्रवृत्त करना।

*†क्रि० अ० दे० "मचलना"।

मचवा-संज्ञा पुं० [सं० मंच] (१) खाट। पलंग। मंझा। (२) खटिया वा चौकी का पावा। (३) नाव। किश्ती। (क्व०)

मचाँग†-संज्ञा स्त्री० दे० "मचान"।

मचान-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच+आन (प्रत्य०)] (१) चार खंभों पर बाँस का टट्टर बाँधकर बनाया हुआ स्थान जिस पर बैठकर शिकार खेलते वा खेत की रखवाली करते हैं। मंच। (२) कोई ऊँची बैठक। (३) दीया रखने की टिकठी। दीयट।

मचाना-क्रि० स० [हिं० मचना का स०] मचना का सकर्मक रूप। कोई ऐसा कार्य्य आरंभ करना जिसमें हुल्लड़ हो। जैसे, दिल्लगी मचाना, होली मचाना।

मचामच-संज्ञा स्त्री० [अनु०] किसी पदार्थ को दबाने से होनेवाला मचमच शब्द। हुमचने का शब्द।

मचिया-†-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच+इया (प्रत्य०)] ऊँचे पायों की एक आदमी के बैठने योग्य छोटी चारपाई। पलँगड़ी। पीढ़ी।

मचिलई*-संज्ञा स्त्री० [हिं० मचलना] (१) मचलने का भाव। (२) इतराहट। (३) मचलापन।

मचेरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बैलों के जूए के नीचे की लकड़ी।

मचोला-संज्ञा पुं० [देश०] बंगाल की खारी दलदलों में होनेवाला एक पौधा जिससे सुहागा बनता है।

मच्छ-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य, प्रा० मच्छ] (१) बड़ी मछली। (२) दोहे के सोलहवें भेद का नाम। इसमें ७ गुरु और ३४ लघु मात्राएँ होती हैं। (३) दे० "मत्स्य"।

मच्छअसवारी–संज्ञा पुं० [हिं० मच्छ+सवारी] कामदेव । मदन । (डिं०)

मच्छघातिनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मच्छ+सं० घातिनी] मछली फँसाने की लग्घी । बंसी ।

मच्छड़–संज्ञा पुं० [सं० मशक] एक प्रसिद्ध छोटा पतिंगा जो वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में, गरम देशों में और केवल ग्रीष्म ऋतु में कुछ ठंढे देशों में पाया जाता है । इसकी मादा पशुओं और मनुष्यों को काटती और डंक से उनका रक्त चूसती है । इसके काटने से शरीर में खुजली होती है और दाने से पड़ जाते हैं । यह पानी पर अंडे देता है; और इसीलिये जलाशयों तथा दलदलों के आस पास बहुत अधिक संख्या में पाया जाता है । प्रायः उड़ने के समय यह भुन् भुन् शब्द किया करता है । मलेरिया ज्वर इसी के द्वारा फैलता है ।

वि० कृपण । कंजूस ।

मच्छर–संज्ञा पुं० दे० "मच्छड़" ।

संज्ञा पुं० [सं०मत्सर] (१) क्रोध । कोप । (डिं०) (२) दे० "मत्सर" ।

मच्छरता*–संज्ञा स्त्री० [सं० मत्सर+ता (प्रत्य०)] मत्सर । ईर्ष्या । द्वेष ।

मच्छरिया†–संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] (१) दे० "मछली" । (२) एक प्रकार की बुलबुल ।

मच्छसीमा–संज्ञा स्त्री० [हिं० मच्छ+सीमा] भूमि संबंधी झगड़ों का वह निपटारा जो किसी नदी आदि को सीमा मानकर किया जाता है । महाज़ी ।

मच्छी–संज्ञा स्त्री० दे० "मछली" ।

मच्छीकाँटा–संज्ञा पुं० [हिं० मच्छी+काँटा] एक प्रकार की सिलाई जिसमें सीए जानेवाले टुकड़ों के बीच में एक प्रकार की पतली जाली सी बन जाती है । (२) कालीन में एक प्रकार की जालीदार बेल ।

मच्छीमार–संज्ञा पुं० [हिं० मच्छी+मार (प्रत्य०)] धीवर । मल्लाह ।

मच्छोदरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्योदरी] व्यासजी की माता और शांतनु की भार्या, सत्यवती । उ०—सत्यवती मच्छोदरि नारी । गंगा-तट ठाढ़ी सुकुमारी ।—सूर ।

मछली–संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य, प्रा० मच्छ] (१) सदा जल में रहनेवाला एक प्रसिद्ध जीव जिसकी छोटी बड़ी असंख्य जातियाँ होती हैं । इसे फेफड़े के स्थान में गलफड़े होते हैं जिनकी सहायता से ये जल में रहकर ही उसके अंदर की हवा खींचकर साँस लेती है; और यदि जल से बाहर निकाली जाय, तो तुरंत मर जाती है । पैरों या हाथों के स्थान में इसके दोनों ओर दो पर होते हैं जिनकी सहायता से यह पानी में तैर सकती है । कुछ विशिष्ट मछलियों के शरीर पर एक प्रकार का चिकना चिमड़ा छिलका होता है जो छीलने पर टुकड़े टुकड़े होकर निकलता है और जिससे सजावट के लिये अथवा कुछ उपयोगी सामान बनाए जाते हैं । अधिकांश मछलियों का मांस खाने के काम में आता है । कुछ मछलियों की चर्बी भी उपयोगी होती है । इसकी उत्पत्ति अंडों से होती है । मीन । मत्स्य ।

यौ०—**मछली का दाँत**=गैंडे के आकार के एक पशु का दाँत जो प्रायः हाथीदाँत के समान होता है और इसी नाम से बिकता है । **मछली का मोती**=एक प्रकार का कल्पित मोती जिसके विषय में लोगों की यह धारणा है कि यह मछली के पेट से निकलता है, गुलाबी रंग का और घुँघची के समान होता है और बड़े भाग्य से किसी को मिलता है । **मछली की स्याही**=एक प्रकार का काला रोगन जो भूमध्यसागर में पाई जानेवाली एक प्रकार की मछली के अंदर से निकलता है और जो नक़्क़ाशी आदि खींचने के काम में आता है ।

(२) मछली के आकार का बना हुआ सोने, चाँदी आदि का लटकन जो प्रायः कुछ गहनों में लगाया जाता है । (३) मछली के आकार का कोई पदार्थ ।

मछलीगोता–संज्ञा पुं० [हिं० मछली+गोता] कुश्ती का एक पेंच ।

मछलीडंड–संज्ञा पुं० [हिं० मछली+डंड] एक प्रकार का डंड जिसमें दोनों हाथ ज़मीन पर पास पास रखकर छाती और कोहनी को ज़मीन से ऊपर करते हुए मछली के समान उछलते हैं । इसमें पंजों को नीचे ज़मीन पर पटकने से आवाज़ होती है ।

मछलीदार–संज्ञा पुं० [हिं० मछली+दार (प्रत्य०)] दरी की एक प्रकार की बुनावट ।

मछलीमार–संज्ञा पुं० [हिं० मछली+मार (प्रत्य०)] मछली मारनेवाला । मछुआ । धीवर । मल्लाह ।

मछवा–संज्ञा पुं० [हिं० मछली] (१) वह नाव जिस पर बैठकर मछली का शिकार करते हैं । (लश०) (२) मल्लाह ।

मछुआ, मछुवा–संज्ञा पुं० [हिं० मछली+उआ (प्रत्य०)] मछली मारनेवाला । धीवर । मल्लाह ।

मछेह†–संज्ञा पुं० [देश०] शहद का छत्ता ।

मछोतर†–संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली के आकार का लकड़ी का वह टुकड़ा जिसकी सहायता से हरिस में हल जुड़ा रहता है ।

मज़कूर–वि० [फ़ा०] जिसका उल्लेख या चर्चा पहले हो चुकी हो । ज़िक्र किया हुआ । कथित । उक्त ।

मज़कूर-ए-बाला–वि० [फ़ा०] ऊपर कहा हुआ । पूर्वोक्त । उपर्युक्त ।

मज़कूरात–संज्ञा पुं० [फ़ा०] शामिलात देहात अराज़ी का लगान जो गाँव के ख़र्च में आता है ।

मज़कूरी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) ताल्लुकेदार। (२) चपरासी। (३) वह मनुष्य जिसको चपरासी अपनी ओर से अपने सम्मन वगैरह की तामील के लिये रख लेते हैं। (४) बिना वेतन का चपरासी। (५) वह ज़मीन जिसका बँटवारा न हो सके और जो सर्वसाधारण के लिये छोड़ दी गई हो।

मज़दूर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [स्त्री० मजदूरनी, मजदूरिन] (१) बोझ ढोनेवाला। मजूरा। कुली। मोटिया। (२) इमारत आदि या कल-कारखानों में छोटा मोटा काम करनेवाला आदमी। जैसे, राज-मज़दूर, मिलों के मज़दूर।

मज़दूरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मज़दूर का काम। बोझ ढोने का या इसी प्रकार का और कोई छोटा मोटा काम। (२) बोझ ढोने या और कोई छोटा मोटा काम करने का पुरस्कार। (३) वह धन जो किसी को कोई नियत कार्य करने पर मिले। परिश्रम के बदले में मिला हुआ धन। उजरत। पारिश्रमिक। (४) जीविका निर्वाह के लिये किया जानेवाला कोई छोटा मोटा और परिश्रम का काम।

मजना*†–क्रि० अ० [सं० मज्जन] (१) डूबना। निमज्जित होना। (२) अनुरक्त होना। उ०—मानत नहीं लोक मर्यादा हरि के रंग मजी। सूर स्याम को मिलि चूने हरदी ज्यों रँगरजी।—सूर।

मजनूँ–संज्ञा पुं० [अ०] (१) पागल। सिड़ी। बावला। दीवाना। सौदाई। (२) अरब के एक प्रसिद्ध सरदार का लड़का जिसका वास्तविक नाम कैस था और जो लैला नाम की एक कन्या पर आसक्त होकर उसके लिये पागल हो गया था; और इसी कारण जो "मजनूँ" प्रसिद्ध हुआ था। लैला के साथ मजनूँ के प्रेम के बहुत से कथानक प्रसिद्ध हैं। (३) आशिक। प्रेमी। आसक्त। (४) बहुत दुबला पतला आदमी। सूखा हुआ मनुष्य। अति दुर्बल मनुष्य। (५) एक प्रकार का वृक्ष जिसकी शाखाएँ झुकी हुई होती हैं। इसे 'बेद मजनूँ' भी कहते हैं। वि० दे० "बेद मजनूँ"।

मज़बूत–वि० [अ०] (१) दृढ़। पुष्ट। पक्का। (२) अटल। अचल। स्थिर। (३) बलवान्। सबल। तगड़ा। हृष्टपुष्ट।

मज़बूती–संज्ञा स्त्री० [अ० मजबूत+ई (प्रत्य०)] (१) मज़बूत का भाव। दृढ़ता। पुष्टता। पक्कापन। (२) ताकत। बल। (३) हिम्मत। साहस।

मजबूर–वि० [अ०] जिस पर जब्र किया गया हो। विवश। लाचार। जैसे,—आपको यह काम करने के लिये कोई मजबूर नहीं कर सकता।

मजबूरन्–क्रि० वि० [अ०] विवश होकर। लाचारी से।

मजबूरी–संज्ञा स्त्री० [अ० मजबूर+ई (प्रत्य०)] असमर्थता। लाचारी। बे-बसी।

मजमा–संज्ञा पुं० [अ०] बहुत से लोगों का एक स्थान में जमाव। भीड़भाड़। जमघट।

मजमुआ–वि० [अ०] इकट्ठा किया हुआ। जमा किया हुआ एकत्र किया हुआ। संगृहीत।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) एक ही प्रकार की बहुत सी चीज़ों का समूह। ज़खीरा। खजाना। (२) एक प्रकार का इत्र जो कई इत्रों को एक में मिलाकर बनता है। यह प्रायः जमा हुआ होता है।

मज़मून–संज्ञा पुं० [अ०] (१) विषय, जिस पर कुछ कहा या लिखा जाय।

मुहा०—मज़मून बाँधना=किसी विषय अथवा नवीन विचार को गद्य या पद्य में लिखना। मज़मून मिलना या लड़ना=दो अलग अलग लेखकों या कवियों के वर्णित विषयों या भावों का मिल जाना।

(२) लेख।

मजरिया–वि० [फ़ा०] जो जारी हो। प्रवर्त्तित। (कच०)

मजरी—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का झाड़ जिसके डंठलों से टोकरे बनाए जाते हैं। यह सिंध और पंजाब में अधिकता से होता है।

मज़रूआ–वि० [फ़ा०] जोता और बोया हुआ। (खेत)

मजरूह–वि० [अ०] चोट खाया हुआ। घायल। ज़ख़्मी।

मजल†–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मंजिल] मंज़िल। पड़ाव। टिकान।

मुहा०—मजल मारना=(१) बहुत दूर से पैदल चलकर आना। (२) कोई बड़ा काम करना।

मजलिस–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बहुत से लोगों के बैठने की जगह। वह स्थान जहाँ बहुत से मनुष्य एकत्र हों। (२) सभा। समाज। जलसा।

क्रि० प्र०—जमना।—जुड़ना।—लगना।

(३) महफ़िल। नाच-रंग का स्थान।

मजलिसी–संज्ञा पुं० [अ०] नेवता देकर मजलिस में बुलाया हुआ मनुष्य। निमंत्रित व्यक्ति।

वि० (१) मजलिस संबंधी। मजलिस का। (२) जो मजलिस में रहने योग्य हो। सब को प्रसन्न करनेवाला।

मज़लूम–वि० [अ०] जिस पर जुल्म हुआ हो। सताया हुआ। अत्याचार पीड़ित।

मज़हब–संज्ञा पुं० [अ०] धार्मिक संप्रदाय। पंथ। मत।

मज़हबी–वि० [अ०] किसी धार्मिक मत या संप्रदाय से संबंध रखनेवाला।

संज्ञा पुं० मेहतर सिक्ख। भंगी सिक्ख।

मज़ा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) स्वाद। लज़्ज़त। जैसे,—अब आमों में कुछ मज़ा नहीं रह गया।

मुहा०—मज़ा चखाना=किसी को उसके किए हुए अपराध का दंड देना। बदला लेना। किसी चीज़ का मज़ा पड़ना=

चसका लगना । आदत पड़ना । **मज़े पर आना**=अपनी सबसे अच्छी दशा में आना । जोबन पर आना ।

(२) आनंद । सुख । जैसे,—आपको तो लड़ाई झगड़े में ही मज़ा मिलता है ।

मुहा०—**मज़ा उड़ाना या लूटना**=आनंद लेना । सुख भोगना । **मज़ा किरकिरा होना**=आनंद में विघ्न पड़ना । रंग में भंग होना । **मज़े का** अच्छा । बढ़िया । उत्तम । **मज़े में या मज़े से**=आनंद पूर्वक । बहुत अच्छी तरह । सुख से ।

(३) दिल्लगी । हँसी । मज़ाक । जैसे,—मज़ा तो तब हो, जब वह आज भी न आवे ।

मुहा०—**मज़ा आ जाना** परिहास का साधन प्रस्तुत होना । दिल्लगी का सामान होना । जैसे,—अगर आप यहाँ गिरें तो मज़ा आ जाय । **मज़ा देखना या लेना**=दिल्लगी या तमाशा देखना । जैसे,—आप चुपचाप बैठे बैठे मज़ा देखा कीजिए ।

मज़ाक़–संज्ञा पुं० [अ०] (१) हँसी । ठट्ठा । दिल्लगी । ठठोली । क्रि० प्र०—करना ।—सूझना ।

मुहा०—**मज़ाक उड़ाना**=परिहास करना । दिल्लगी करना ।

यौ०—**मज़ाक का आदमी**=हँसमुख । दिल्लगीबाज़ । ठठोल ।

(२) प्रवृत्ति । रुचि ।

मज़ाक़न्–क्रि० वि० [अ०] मज़ाक से । हँसी-दिल्लगी के तौर पर । जैसे,—मैंने तो वह बात मज़ाक़न् कही थी ।

मज़ाक़िया–क्रि० वि० दे० "मज़ाकन्" ।

मजाज†–संज्ञा पुं० [फ़ा० मिज़ाज] (१) गर्व । अभिमान । (डिं०) (२) दे० "मिज़ाज" ।

मजाज़–संज्ञा पुं० [अ०] अधिकार । हक़ । इख़्तियार ।

मजाज़ी–वि० [अ०] (१) कृत्रिम । बनावटी । बनौवा । नकली । (२) माना हुआ । कल्पित ।

मज़ार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) समाधि । मकबरा । (२) कब्र ।

मजाल–संज्ञा स्त्री० [अ०] सामर्थ्य । शक्ति । ताकत । जैसे,—किसी की मजाल नहीं जो आपसे बातें कर सके ।

मजिल*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मंज़िल" ।

मजिस्टर–संज्ञा पुं० दे० "मजिस्ट्रेट" ।

मजिस्ट्रेट–संज्ञा पुं० [अं०] फौजदारी अदालत का अफ़सर, जो ब्रिटिश भारत में प्रायः जिले का माल विभाग का प्रधान अधिकारी भी होता है ।

यौ०—आनरेरी मजिस्ट्रेट । ज्वाइंट मजिस्ट्रेट । डिप्टी मजिस्ट्रेट ।

मजिस्ट्रेटी–संज्ञा स्त्री० [अं० मजिस्ट्रेट+ई (प्रत्य०)] (१) मजिस्ट्रेट का कार्य या पद । (२) मजिस्ट्रेट की अदालत ।

मजीठ–संज्ञा स्त्री० [सं० मंजिष्ठा] एक प्रकार की लता जो समस्त भारत के पहाड़ी प्रदेशों में पाई जाती है । इसकी सूखी जड़ और डंठलों को पानी में उबालकर एक प्रकार का बढ़िया लाल या गुलनार रंग तैयार किया जाता है जो सूती और रेशमी कपड़े रँगने के काम में आता है । पर आज कल विलायती बुकनी के कारण इसका व्यवहार बहुत कम होता जाता है । वैद्यक में भी अनेक रोगों में इसका व्यवहार होता है । यह मधुर, कषाय, उष्ण, गुरु और व्रण, प्रमेह, ज्वर, श्लेष्मा तथा विष का प्रभाव दूर करनेवाली मानी जाती है ।

पर्य्या०—विकसा । समंगा । कालमेषिका । मंडूकपर्णी । भंडी । हरिणी । रक्ता । गौरी । योजनवल्लिका । वप्रा । रोहिणी । चित्रा । चित्रलता । जननी । विजया । मंजूषा । रक्तयष्टिका । क्षत्रिणी । छत्रा । अरुणी । नागकुमारिका । वस्त्रभूषणी ।

मजीठी†–संज्ञा स्त्री० [सं० मध्य] (१) वह रस्सी जो जुआठे में बँधी रहती है । जोत । (२) रूई ओटने की चर्खी में लगी हुई बीच की लकड़ी जो घूमती है और जिसके घूमने से रूई में से बिनौले अलग होते हैं ।

मजीर*–संज्ञा स्त्री० [सं० मंजरी] मंजरी । घौद । उ०—करिकुंभ कुंजर विटप भारी चमर चारु मजीर । चमू चंचल चलत नाहिन रही है पुर तीर ।—सूर ।

मजीरा–संज्ञा पुं० [सं० मंजीर] काँसे की बनी हुई छोटी छोटी कटोरियों की जोड़ी जिनके मध्य में छेद होता है । इन्हीं छेदों में डोरा पहनाकर उसकी सहायता से एक कटोरी से दूसरी पर चोट देकर संगीत के साथ ताल देते हैं । जोड़ी । ताल । टुनकी । इसके बोल इस प्रकार हैं—ताँयँ ताँयँ, किट् ताँयँ, किट् किट्, ताँयँ ताँयँ ।

मजूर*–संज्ञा पुं० [सं० मयूर] मोर ।

संज्ञा पुं० दे० "मजदूर" ।

मजूरा†–संज्ञा पुं० दे० "मजदूर" ।

मजूरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मजदूरी" ।

मजेज*†–वि० [फ़ा० मिज़ाज] दर्प । अहंकार । अभिमान । उ०—(क) लाडिली कुँवरि राधा रानी के सदन तजी मदन मजेज-रति सेजहि सजति है ।—देव । (ख) खेस को बहानो कै सहेलिन के संग चलि आई केलि मंदिर लौं सुंदर मजेज पर ।—पद्माकर ।

मजेठी†–संज्ञा स्त्री० [सं० मध्य] सूत कातने के चर्खे में वह लकड़ी जो नीचे से उन दोनों डंडों को जोड़े रहती है जिनमें पहिया या चक्कर लगा होता है ।

मज़ेदार–वि० [फ़ा०] (१) स्वादिष्ट । ज़ायक़ेदार । (२) अच्छा । बढ़िया । (३) जिसमें आनंद आता हो । जैसे,—आपकी बातें बहुत मजेदार होती हैं ।

मज़ेदारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मज़ादार+ई (प्रत्य०)] (१) स्वाद । (२) आनंद । लुत्फ़ । मज़ा ।

मज्ज*–संज्ञा स्त्री० [सं० मज्जा] हड्डी के भीतर का भेजा । नली के अंदर का गूदा । उ०—आवत गलानि जो बखान करो

ज़्यादा यह मादा मल-मूत और मज्ज की सलीती है।—पद्माकर।

मज्जन–संज्ञा पुं० [सं०] स्नान। नहाना। उ०—दरस परस मज्जन अरु पाना।—तुलसी।

मज्जना*–क्रि० अ० [सं० मज्जन] (१) स्नान करना। गोता लगाना। नहाना। (२) डूबना। निमग्न होना।

मज्जा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नली की हड्डी के भीतर का गूदा जो बहुत कोमल और चिकना होता है।

मज्झ*–क्रि० वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ] मध्य। बीच।

मझधार–संज्ञा स्त्री० [हिं० मझ=मध्य+धार] (१) नदी के मध्य की धारा। बीच-धारा। (२) किसी काम का मध्य।

मुहा०—मझधार में छोड़ना=(१) किसी काम को बीच में ही छोड़ना। पूरा न करना। (२) किसी को ऐसी अवस्था में छोड़ना कि वह इधर का रहे, न उधर का।

मझरासिंगही–संज्ञा स्त्री० [देश०] बैलों की एक जाति।

मझला–वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+ला (प्रत्य०)] मध्य का। बीच का। जैसे, मझला भाई।

मझाना*†–क्रि० स० [सं० मध्य] प्रविष्ट करना। बीच में धँसाना। क्रि० अ० प्रविष्ट होना। पैठना।

मझार*†–क्रि० वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+आर (प्रत्य०)] बीच में। मध्य में। में। भीतर।

मझावना*†–क्रि० अ० स० दे० "मझाना"।

मझिया†–संज्ञा स्त्री० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+इया (प्रत्य०)] लकड़ी की वह पट्टियाँ जो गाड़ी के पेंदे में लगी रहती हैं।

मझियाना*†–क्रि० अ० [हिं० माँझी+इयाना (प्रत्य०)] नाव खेना। मल्लाही करना। उ०—प्रथमहि नैन मलाह जे लेत सुनेह लगाइ। तब मझियावत जाय कै गहिर रूप दरियाइ।—रसनिधि।

क्रि० अ० [सं० मध्य+इयाना (प्रत्य०)] मध्य में होकर आना। बीच से होकर निकलना। उ०—सपने हू आए न जे हित गलियन मझियाइ। तिन सों दिल को दरद कहि मत दे भरम गमाइ।—रसनिधि।

क्रि० स० मध्य में से निकालना। बीच में से ले जाना।

मझियारा*†–वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+इयारा (प्रत्य०)] बीच का। मध्यम।

मझुआ†–संज्ञा पुं० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+उआ (प्रत्य०)] हाथ में पहनने की मठिया नामक चूड़ियों में कोहनी की ओर से पड़नेवाली दूसरी चूड़ी जो पछेला के बाद होती है।

मझेरू†–संज्ञा पुं० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+एरू (प्रत्य०)] जुलाहों के ऊढ़ी नामक औज़ार के बीच की लकड़ी।

मझेला–संज्ञा पुं० [देश०] (१) चमारों का लोहे का एक औजार जो एक बालिश्त का होता है। इससे जूते का तला सिया जाता है। (२) लोहे का एक औज़ार जिसमें लकड़ी का दस्ता लगा रहता है और जिससे चमड़े पर का खुरखुरापन दूर किया जाता है।

† संज्ञा पुं० दे० "झमेला"।

मझोला–वि० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ+ओला (प्रत्य०)] (१) मझला। बीच का। मध्य का (२) जो आकार के विचार से न बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा। मध्यम आकार का।

मझोली–संज्ञा स्त्री० [हिं० मझोला] (१) एक प्रकार की बैलगाड़ी। (२) टेकुरी की तरह का एक औज़ार जिससे जूते की नोक सी जाती है।

मट†–संज्ञा पुं० [हिं० मटका] मिट्टी का बड़ा पात्र जिसमें दूध दही रहता है। मटका। मटकी। उ०—तौ लगि गाय बँबाय उठी कवि देव वधू न मथ्यो दधि को मट।—देव।

मटक–संज्ञा स्त्री० [सं० मट=चलना+क (प्रत्य०)] (१) गति। चाल। उ०—कुंडल लटक सोहै भृकुटी मटक मोहै अटकी चटक पट पीत फहरान की।—दीनदयाल। (२) मटकने की क्रिया या भाव।

यौ०—चटक मटक।

मटकना–क्रि० अ० [सं० मट=चलना] (१) अंग हिलाते हुए चलना। लचककर नखरे से चलना। (विशेषतः स्त्रियों का) (२) अंगों अर्थात् नेत्र, भृकुटी, उँगली आदि का इस प्रकार संचालन होना जिसमें कुछ लचक या नखरा जान पड़े। (३) हटना। लौटना। फिरना। उ०—श्याम सलोने रूप में अरी मन अट्यो। ऐसे ह्वै लटक्यौ तहाँ ते फिरि नहिं मटक्यौ बहुत जतन मैं कर्यो।—सूर। (४) विचलित होना। हिलना। उ०—उतर न देत मोहनी मौन ह्वै रही री सुनि सब बात नेकहू न मटकी।—सूर।

मटकनि*–संज्ञा स्त्री० [हिं० मटकना] (१) गति। चाल। (२) मटकने का भाव। उ०—भृकुटी मटकनि पीत पट चटक लटकती चाल।—बिहारी। (३) नाचना। नृत्य। (४) नखरा। मटक।

मटका–संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी+क (प्रत्य०)] मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का बड़ा घड़ा जिसमें अन्न, पानी इत्यादि रखा जाता है। मट। माट।

मटकाना–क्रि० स० [हिं० मटकना का स०] नखरे के साथ अंगों का संचालन करना। आँख, हाथ आदि हिलाकर कुछ चेष्टा करना। चमकाना। जैसे, हाथ मटकाना, आँखें मटकाना। उ०—भृकुटी मटकाय गुपाल के गाल में आँगुरी ग्वालि गड़ाय गई।—मुबारक।

क्रि० स० दूसरे को मटकने में प्रवृत्त करना।

मटकी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मटका] छोटा मटका। कमोरी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मटकाना] मटकाने का भाव। मटक।

मुहा०—मटकी देना=मटकाना । चमकाना । जैसे,—आँख की एक मटकी देकर चला गया ।

मटकीला–वि० [हिं० मटकना+ईला (प्रत्य०)] मटकनेवाला । नखरे से हिलने डोलनेवाला । उ०—चटकीली खौरि सजै मटकीली भौंहन पै दीनदयाल दग मोहे लटकीली चाल ने ।—दीनदयाल ।

मटकौअल, मटकौवल–संज्ञा स्त्री० [हिं० मटकाना+औवल (प्रत्य०)] मटकाने की क्रिया या भाव । मटक ।

मटखौरा–संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी+खौरा ?] एक प्रकार का हाथी जो दूषित माना जाता है ।

मटना–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की ऊख जो कानपुर और बरेली के जिलों में पैदा होती है ।

मटमँगरा–संज्ञा पुं० [हिं० माटी+मंगल] विवाह के पहले की एक रीति जिसमें किसी शुभ दिन वर या वधू के घर की स्त्रियाँ गाती बजाती हुई गाँव में बाहर मिट्टी लेने जाती हैं और उस मिट्टी से कुछ विशिष्ट अवसरों के लिये गोलियाँ आदि बनाती हैं ।

मटमैला–वि० [हिं० मिट्टी+मैला] मिट्टी के रंग का । खाकी । धूलिया ।

मटर–संज्ञा पुं० [सं० मधुर] एक प्रकार का मोटा अन्न जो वर्षा या शरद ऋतु में भारत के प्रायः सभी भागों में बोया जाता है । इसके लिये अच्छी तरह और गहरी जोती हुई भूमि और खाद की आवश्यकता होती है । इसमें एक प्रकार की लंबी फलियाँ लगती हैं जिन्हें छीमी या छींबी कहते हैं और जिनके अंदर गोल दाने रहते हैं । आरंभ में ये दाने बहुत ही मीठे और स्वादिष्ट होते हैं और प्रायः तरकारी आदि के काम में आते हैं । जब फलियाँ पक जाती हैं, तब उनके दानों से दाल बनाई जाती है अथवा रोटी के लिए उसका आटा पीसा जाता है । कहीं कहीं इसका सत्तू भी बनता है । इसकी पत्तियाँ और डंठल पशुओं के चारे के लिये बहुत उपयोगी होते हैं । यह दो प्रकार का होता है । एक को दुबिया और दूसरे को काबुली मटर या केराव कहते हैं । वैद्यक में इसे मधुर, स्वादिष्ट, शीतल, पित्तनाशक, रुचिकारक, वातकारक पुष्टिजनक, मल को निकालनेवाला और रक्तविकार को दूर करनेवाला माना है ।

पर्य्या०—कलाय । मुंडचणक । हरेणु । रेणुक । संदिक । त्रिपुट । अतिवर्तुल । शमन । नीलक । कंटी । सतील । सतीनक ।

मटरगश्त–संज्ञा स्त्री० पुं० [हिं० मट्ठर=मंद+फा० गश्त](१) धीरे धीरे घूमना । टहलना । (२) सैर-सपाटा ।

मटरबोर–संज्ञा पुं० [हिं० मटर+बोर=घुँघरू] मटर के बराबर घुँघरू जो पाजेब आदि में लगते हैं ।

मटराला–संज्ञा पुं० [हिं० मटर+आला (प्रत्य०)] जौ के साथ मिला हुआ मटर ।

मटलनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिट्टी] मिट्टी का कच्चा बर्तन ।

मटा†–संज्ञा पुं० [हिं० माटा] एक प्रकार का लाल च्यूँटा जिसके झुंड आम के पेड़ों पर रहा करते हैं ।

मटिआना†–क्रि० स० [हिं० मिट्टी+आना (प्रत्य०)] (१) मिट्टी से माँजना । अशुद्ध बरतन आदि में मिट्टी मलकर उसे साफ़ करना । (२) मिट्टी से ढाँकना । (३) टालने के हेतु किसी बात को सुनकर भी उसका कुछ जवाब न देना । सुनी अनसुनी करना ।

मटिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिट्टी] (१) मिट्टी । (२) मृत शरीर । लाश । शव ।

वि० मिट्टी का सा । मटमैला । खाकी ।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का लटोरा पक्षी जिसे कजला भी कहते हैं ।

मटियामसान–वि० [हिं० मटिया+मसान] गया बीता । नष्टप्राय । उ०—स्त्री प्रसंग, चाहे जो ऋतु हो, प्रति दिन करना हाथी सरीखे बलवान को भी मटियामसान कर बुड्ढों की कोटि में कर देता है ।—जगन्नाथ ।

मटियामेट–वि० दे० "मलिया मेट" ।

मटियार†–संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी+यार (प्रत्य०)] वह भूमि या क्षेत्र जिसमें चिकनी मिट्टी अधिक हो ।

मटियाला–वि० दे० "मटमैला" ।

मटीला–वि० दे० "मटमैला" ।

मटुका–संज्ञा पुं० दे० "मटका" ।

मटुकिया†–संज्ञा स्त्री० दे० "मटकी" ।

मटुकी*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मटका] मिट्टी का बना हुआ चौड़े मुँह का बरतन जिसमें अन्न या दूध आदि रखते हैं । मटकी ।

मट्टी–संज्ञा स्त्री० दे० "मिट्टी" ।

मट्ठा–संज्ञा पुं० [सं० मंथन] मथा हुआ दही जिसमें से नैनूँ निकाल लिया गया हो । मही । छाछ । तक्र ।

मट्ठी–संज्ञा स्त्री० [देश०] मैदे का बना हुआ एक प्रकार का बहुत खस्ता पकवान ।

मठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) निवास स्थान । रहने की जगह । (२) वह मकान जिसमें एक महंत की अधीनता में बहुत से साधु आदि रहते हों ।

यौ०—मठधारी । मठाधीश । मठपति ।

(३) वह स्थान जहाँ विद्या पढ़ने के लिये छात्र आदि रहते हों । (४) मंदिर । देवालय ।

यौ०—मठपति=पुजारी ।

मठधारी–संज्ञा पुं० [सं० मठधारिन्] वह साधु या महंत जिसके अधिकार में कोई मठ हो ।

मठपति–संज्ञा पुं० दे० "मठधारी"।

मठर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम।

मठरना–संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों तथा कसगरों का एक औज़ार जो छोटे हथौड़े की तरह का होता है। इसका व्यवहार उस समय होता है जिस समय हलकी चोट देने का काम पड़ता है।

मठरी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की मिठाई जिसे टिकिया भी कहते हैं। (२) दे० "मट्ठी"।

मठा–संज्ञा पुं० दे० "मट्ठा"।

मठाधीश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मठ का प्रधान कार्यकर्त्ता या मालिक। (२) मठ में रहनेवाला प्रधान साधु या महंत।

मठान†–संज्ञा पुं० दे० "मठरना"।

मठिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० मठ+इया (प्रत्य०)] (१) छोटी कुटी या मठ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] फूल (धातु) की बनी हुई चूड़ियाँ जो नीच जाति की स्त्रियाँ पहनती हैं। ये एक एक बाँह में २०–२५ तक होती हैं और कोहनी से कलाई तक पहनी जाती हैं। इनमें कोहनी के पास की चूड़ी सब से बड़ी होती है; और उसके उपरांत की चूड़ियाँ क्रमशः छोटी होती जाती हैं।

मठी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मठ+ई (प्रत्य०)] (१) छोटा मठ। (२) मठ का अधिकारी। मठ का महंत। मठधारी। उ०—सुपुत्र होहु जै-हठी मठीन सों न बोलिये।—केशव।

मठुलिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मठरी] (१) टिकिया या मठरी नाम की मिठाई। (२) दे० "मट्ठी"।

मठोर–संज्ञा स्त्री० [हिं० मट्ठा] (१) दही मथने वा मट्ठा रखने की मटकी जो साधारण मटकियों से कुछ बड़ी होती है। (२) नील बनाने की नाँद। नील का माठ।

मठोरना†–क्रि० स० [देश०] (१) किसी लकड़ी को खरादने के लिये रंदा लगाकर ठीक करना। (२) मठरना नामक हथौड़े से धीरे धीरे चोट लगाकर गहने आदि ठीक करना। (सुनार)

मठौरा–संज्ञा पुं० [हिं० मठोरना] एक प्रकार का रंदा जिससे लकड़ी रँदकर खरादने आदि के योग्य करते हैं।

मड़ई†–संज्ञा स्त्री० [सं० मंडपी] (१) छोटा मंडप। (२) कुटिया। पर्णशाला।

संज्ञा स्त्री० दे० "मंडी"।

मड़मड़ाना–क्रि० अ० स० दे० "मरमराना"।

मड़राना–क्रि० अ० दे० "मँडराना"। उ०—सरस कुसुम मड़रात अलि न झुकि झपटि लपटात।—बिहारी।

मड़ला†–संज्ञा पुं० [सं० मंडल] अनाज रखने की छोटी कोठरी।

मड़वा–संज्ञा पुं० दे० "मंडप"।

मड़वारी†–संज्ञा पुं० दे० "मारवाड़ी"।

मड़हा†–वि० [हिं० माँड+हा (प्रत्य०)] माँड़ खानेवाला।

संज्ञा पुं० [सं० मंडप] मिट्टी या घास फूस आदि का बना हुआ छोटा घर।

संज्ञा पुं० [देश०] भुना हुआ चना।

मड़ाड़†–संज्ञा पुं० [देश०] छोटा कच्चा तालाब या गड्ढा। उ०—मड़ाड़, बावली और कुएँ का झाँकना।—जगन्नाथ।

मड़ियार–संज्ञा पुं० [हिं० मारवाड़ ?] क्षत्रियों की एक जाति जो मारवाड़ में रहती है।

मड़ुआ–संज्ञा पुं० [देश०] (१) बाजरे की जाति का एक प्रकार का कदन्न जो बहुत प्राचीन काल से भारत में बोया जाता है; और अब तक अनेक स्थानों में जंगली दशा में भी मिलता है। यह वर्षा ऋतु में खाद दी हुई भूमि में कभी कभी ज्वार के साथ और कभी कभी अकेला बोया जाता है। मैदानों में इसकी देख रेख की विशेष आवश्यकता होती है; पर हिमालय की तराई में यह अधिकांश में आप से आप ही तैयार हो जाता है। अधिक वर्षा से इसकी फसल को हानि पहुँचती है। यदि इसकी फसल तैयार होने पर भी खेतों में रहने दी जाय, तो विशेष हानि नहीं होती। फसल काटने के उपरांत इसके दाने वर्षों तक रखे जा सकते हैं; और इसी कारण अकाल के समय गरीबों के लिये इसका बहुत अधिक उपयोग होता है। इसे पीसकर आटा भी बनाया जाता है और यह चावलों आदि के साथ उबालकर भी खाया जाता है। इससे एक प्रकार की शराब भी बनती है। वैद्यक में इसे कसैला, कड़ुआ, हलका, तृप्तिकारक, बल-वर्धक, त्रिदोष-निवारक और रक्त दोष को दूर करनेवाला माना है।

पर्य्या०—वटक। स्थूलकंगु। रूक्ष। स्थूल प्रियंगु।

(२) एक प्रकार का पक्षी।

मड़ैया†–संज्ञा स्त्री० [सं० मंडपी] (१) छोटा मंडप। (२) कुटी। पर्णशाला। झोपड़ी। (३) मिट्टी का बना हुआ छोटा घर।

मड़ोड़–संज्ञा स्त्री० दे० "मरोड़"।

मड़ोड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मरोड़ना+ई (प्रत्य०)] लोहे की छोटी पेंचदार कँटिया।

मढ़–संज्ञा पुं० दे० "मठ"।

वि० जो जल्दी हटाने से भी न हटे। अड़कर बैठनेवाला।

मढ़ना–क्रि० स० [सं० मंडन] (१) आवेष्ठित करना। चारों ओर से घेर देना। लपेट लेना। जैसे, तसवीर पर चौखटा मढ़ना, टेबुल पर कपड़ा मढ़ना। (२) बाजे के मुँह पर बजाने के लिये चमड़ा लगाना। उ०—(क) कमठ-खपर मढ़ि खाल निसान बजावहीं।—तुलसी। (ख) मढ़ौ दमामा जात क्यों सौ चूहे के चाम।—बिहारी।

मुहा०—मढ़ आना=घिर आना (जैसे बादलों का)। उ०—

रानि है आई चले घर को दसहू दिस मेघ महा मढ़ि आये ।
—केशव ।

(३) बलपूर्वक किसी पर आरोपित करना । किसी के गले लगाना । थोपना । जैसे,—अब तो आप सारा दोष मुझ पर ही मढ़ेंगे ।

संयो० क्रि०—डालना ।—देना ।

†क्रि० अ० आरंभ होना । मचना । मँड़ना । (क्व०)

मढ़वाना–क्रि० स० [हिं० मढ़ना का प्रेर०] मढ़ने का काम दूसरे से कराना । दूसरे को मढ़ने में प्रवृत्त करना

मढ़ा†–संज्ञा पुं० [हिं० मढ़ा] मिट्टी का बना हुआ छोटा घर ।

मढ़ाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मढ़ना] (१) मढ़ने का भाव । (२) मढ़ने का काम । (३) मढ़ने की मजदूरी ।

मढ़ाना–क्रि० स० दे० "मढ़वाना" ।

मढ़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० मठ] (१) छोटा मठ । (२) छोटा देवालय । (३) कुटी । झोंपड़ी । पर्णशाला । (४) छोटा घर । (५) छोटा मंडप ।

मढ़ैया†–संज्ञा स्त्री० दे० "मढ़ी" ।

संज्ञा पुं० [हिं० मढ़ना+ऐया (प्रत्य०)] मढ़नेवाला ।

मणगयण–संज्ञा पुं० [डिं०] सूर्य ।

मणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुमूल्य रत्न । जवाहिर । जैसे, हीरा, पन्ना, मोती, माणिक आदि । (२) सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति । जैसे, रघुकुल-मणि । (३) बकरी के गले की थैली । (४) पुरुषेंद्रिय का अगला भाग । (५) योनि का अगला भाग । (६) घड़ा । (७) एक प्राचीन मुनि का नाम । (८) एक नाग का नाम ।

मणिक–संज्ञा पुं० [सं०] मिट्टी का घड़ा ।

मणिकानन–संज्ञा पुं० [सं०] गला । कंठ ।

मणिकुट्टिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्तिकेय की एक मातृका का नाम ।

मणिकूट–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार कामरूप के पास के एक पर्वत का नाम ।

मणिकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक बहुत छोटा पुच्छल तारा जिसकी पूँछ दूध सी सफ़ेद मानी गई है । यह केतु पच्छिम में उगता है और केवल एक पहर दिखाई देता है ।

मणिगुण–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार नगण और एक सगण होता है । इसको 'शशिकला' और 'शरभ' भी कहते हैं । उ०—नचहु सुखद जसुमति सुत सहिता । लहहु जनम इह सुख सखि अमिता । बढ़त चरण रति सु हरि अनु-पला । जिमि सित पख नित बढ़त शशिकला ।—भानु ।

मणिगुणनिकर–संज्ञा पुं० [सं०] मणिगुण नामक छंद का एक रूप जो उसके ८ वें वर्ण पर विराम करने से होता है । इसका दूसरा नाम चंद्रावर्ती भी है ।

मणिग्रीव–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के एक पुत्र का नाम ।

मणिच्छिद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेधा नाम की ओषधि । (२) ऋषभा नाम की ओषधि ।

मणिजला–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम ।

मणितारक–संज्ञा पुं० [सं०] सारस ।

मणिद्वीप–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार रत्नों का बना हुआ एक द्वीप जो क्षीरसागर में है । यह त्रिपुरसुंदरी देवी का निवासस्थान माना जाता है ।

मणिधर–संज्ञा पुं० [सं०] सर्प । साँप ।

मणिपद्म–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

मणिपुर–संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र के अनुसार छः चक्रों में से तीसरा चक्र जो नाभि के पास माना जाता है । यह तेजोमय और विद्युत् के समान आभायुक्त, नीले रंग का, दस दलोंवाला और शिव का निवासस्थान माना जाता है । कहते हैं कि यदि इस पर ध्यान लगाया जा सके तो फिर सब विषयों का ज्ञान हो जाता है । यह भी कहते हैं कि इस पर "ड" से "फ" तक अक्षर लिखे हैं ।

मणिपुष्पक–संज्ञा पुं० [सं०] सहदेव के शंख का नाम ।

मणिबंध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नवाक्षरी वृत्त जिसके प्रति चरण में भगण, मगण और सगण होते हैं । उ०—कंठमणी मध्ये सुजला । टूट परी खोजैं अबला ।—भानु ।

(२) कलाई ।

मणिबीज–संज्ञा पुं० [सं०] अनार का पेड़ ।

मणिभद्र–संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक प्रधान गण का नाम ।

मणिभद्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है । (२) एक नाग का नाम ।

मणिभू–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह खान जिसमें से रत्न आदि निकलते हों ।

मणिभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह खान जिसमें से रत्न आदि निकलते हों । (२) पुराणानुसार हिमालय के एक तीर्थ का नाम ।

मणिमध्य–संज्ञा पुं० [सं०] मणिबंध नामक छंद ।

मणिमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बारह अक्षरों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तगण, यगण, तगण, यगण होते हैं । उ०—छाँड़ो सब जेते हैं रे जगमाला । फेरो हरि के नामों की मणिमाला । (२) मणियों की माला । (३) लक्ष्मी । (४) चमक । आभा ।

मणिमेघ–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार दक्षिण भारत के एक पर्वत का नाम ।

मणिरत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध आचार्य्य का नाम ।

मणिरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम ।

मणिराग-संज्ञा पुं० [सं०] हिंगुल । शिंगरफ ।

मणिरोग-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषेंद्रिय का एक रोग जिसमें लिंग के अगले भाग का चमड़ा उसके मस्तक पर चिपक जाता है और मूत्र मार्ग कुछ चौड़ा होकर उसमें से मूत्र की महीन धारा गिरती है ।

मणिशैल-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो मंदराचल के पूर्व में है ।

मणिश्याम-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रनील नामक मणि । नीलम ।

मणिसर-संज्ञा पुं० [सं०] मोतियों की माला ।

मणिस्कंध-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नाग का नाम ।

मणी-संज्ञा पुं० [सं० मणिन्] सर्प ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मणि" ।

मणीचक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रकांत नामक मणि । (२) पुराणानुसार शाकद्वीप के एक वर्ष का नाम । (३) एक प्रकार का पक्षी ।

मणीवक-संज्ञा पुं० [सं०] पुष्प । फूल ।

मतंग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी । (२) बादल । (३) एक दानव का नाम । (४) एक प्राचीन तीर्थ का नाम । (५) कामरूप के अग्निकोण के एक देश का प्राचीन नाम । (६) एक ऋषि का नाम जो शबरी के गुरु थे । महाभारत में लिखा है कि ये एक नापित के वीर्य्य से एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । उस ब्राह्मणी के पति ने इन्हें अपना ही पुत्र और ब्राह्मण समझकर पाला था । एक बार ये गधे के रथ पर सवार होकर पिता के लिये यज्ञ की सामग्री लाने जा रहे थे । उस समय इन्होंने गधे को बहुत निर्दयता से मारा था । इस पर उस गधे की माता गधी से इन्हें मालूम हुआ कि मैं ब्राह्मण की संतान नहीं हूँ, चांडाल के वीर्य्य से उत्पन्न हूँ । इन्होंने घर आकर पिता से सब समाचार कहे और ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये घोर तपस्या करने लगे । तब इंद्र ने आकर समझाया कि ब्राह्मणत्व प्राप्त करना सहज नहीं है । उसके लिये लाखों वर्षों तक अनेक जन्म धारण करके तपस्या करनी पड़ती है । तब इन्होंने वर माँगा कि मुझे ऐसा पक्षी बना दीजिए जिसकी सभी वर्णवाले पूजा करें; मैं जहाँ चाहूँ, वहाँ जा सकूँ और मेरी कीर्त्ति अक्षय हो । इंद्र ने इन्हें यही वर दिया और ये छंदोदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए । कुछ दिनों के उपरांत इन्होंने शरीर त्याग कर उत्तम गति प्राप्त की ।

मतंगा-संज्ञा पुं० [सं० मतंग] एक प्रकार का बाँस जिसे मूल भी कहते हैं । यह बंगाल और बरमा में बहुत होता है । इसके पोर लंबे और सुदृढ़ होते हैं । इसको दीमक नहीं खाती ।

मतंगी-संज्ञा पुं० [सं० मतंगिन्] हाथी का सवार । उ०—तिमि लच्छ मतंगी स्वच्छ भट सरी निखंगी अति भले ।—गोपाल ।

मत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) निश्चित सिद्धांत । सम्मति । राय ।

मुहा०—*मत उपाना=सम्मति स्थिर करना । उ०—करुना लखि करुना-निधान ने मन यह मती उपायो ।

(२) धर्म । पंथ । मज़हब । संप्रदाय । (३) भाव । आशय । मतलब । (४) ज्ञान । (५) पूजा ।

वि० (१) जिसकी पूजा की गई हो । पूजित । (२) कुत्सित । खराब । बुरा ।

क्रि० वि० [सं० मा] निषेधवाचक शब्द । न । नहीं । जैसे,—(क) वहाँ मत जाया करो । (ख) इनसे मत बोलो ।

मतना*-क्रि० अ० [सं० मति+ना (प्रत्य०)] सम्मति निश्चित करना । राय कायम करना । उ०—बिनय करहिं जेते गढ़-पती । का जिउ कीन्ह कौन मति मती ।—जायसी ।

क्रि० अ० [सं० मत्त] नशे आदि में चूर होना । मत्त होना ।

मतरिया‡-संज्ञा स्त्री० [हिं० माता] दे० "माता" या "माँ" ।

मुहा०—मतरिया बहिनिया करना=माँ बहन की गाली देना ।

*वि० [सं० मंत्र] (१) मंत्र देनेवाला । मंत्री । सलाहकार । (२) मंत्र से प्रभावित । मंत्रित ।

मतलब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) तात्पर्य्य । अभिप्राय । आशय । (२) अर्थ । मानी । (३) अपना हित । निज का लाभ । स्वार्थ ।

मुहा०—मतलब का यार=अपना भला देखनेवाला । स्वार्थी । मतलब गाँठना या निकालना=स्वार्थ साधन करना ।

(४) उद्देश्य । विचार । जैसे,—आप भी किसी मतलब से आए हैं ।

मुहा०—मतलब हो जाना=(१) सफल मनोरथ होना । (२) बुरा हाल हो जाना । (३) मर जाना ।

(५) संबंध । वास्ता । जैसे,—अब तुम उनसे कोई मतलब न रखना ।

मतलबिया†-वि० दे० "मतलबी" ।

मतलबी-वि० [अ० मतलब+ई (प्रत्य०)] जो केवल अपने हित का ध्यान रखता हो । स्वार्थी । खुदगरज ।

मतवार, मतवारा*-वि० दे० "मतवाला" ।

मतवाला-वि० पुं० [सं० मत्त+वाला (प्रत्य०)] [स्त्री० मतवाली] (१) नशे आदि के कारण मस्त । मदमस्त । नशे में चूर । (२) उन्मत्त । पागल । (३) जिसे अभिमान हो । व्यर्थ अहंकार करनेवाला ।

संज्ञा पुं० (१) वह भारी पत्थर जो क़िले या पहाड़ पर से नीचे के शत्रुओं को मारने के लिये लुढ़काया जाता है। (२) कागज का बना हुआ एक प्रकार का गावदुमा खिलौना जिसके नीचे का भाग मिट्टी आदि भरी होने के कारण भारी होता है और जो फेंकने पर सदा खड़ा ही रहता है, ज़मीन पर लोटता नहीं।

मता†–संज्ञा पुं० दे० "मत"।

संज्ञा स्त्री० दे० "मति"।

मतानुज्ञा–संज्ञा स्त्री० [सं०] न्याय दर्शन के अनुसार २१ प्रकार के निग्रह स्थानों में से एक जिसमें अपने पक्ष के दोष पर विचार न करके बार बार विपक्षी के पक्ष के दोष का ही उल्लेख किया जाता है।

मतानुयायी–संज्ञा पुं० [सं०] किसी के मत के अनुसार आचरण करनेवाला। किसी के मत को माननेवाला। मतावलंबी।

मतारी†–संज्ञा स्त्री० दे० "महतारी"।

मतावलंबी–संज्ञा पुं० [सं० मतावलम्बिन्] किसी एक मत, सिद्धांत या संप्रदाय आदि का अवलंबन करनेवाला। जैसे, जैन-मतावलंबी।

मति–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि। समझ। अक़्ल। (२) राय। सलाह। सम्मति। (३) इच्छा। ख़्वाहिश। (४) स्मृति।

वि० बुद्धिमान्। चतुर।

*†क्रि० वि० दे० "मत"।

मतिगर्भ–संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धिमान्। चतुर। होशियार।

मतिचित्र–संज्ञा पुं० [सं०] अश्वघोष का एक नाम।

मतिदर्शन–संज्ञा पुं० [सं०] वह शक्ति जिसके अनुसार दूसरे की योग्यता या भावों का पता लगता है।

मतिदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्योतिष्मती नाम की लता। (२) सेमल।

मतिभ्रंश–संज्ञा पुं० [सं०] उन्माद रोग। पागलपन।

मतिमंत–वि० [सं० मतिमत्] बुद्धिमान्। विचारवान्। चतुर।

मतिमान–वि० [सं०] बुद्धिमान्। विचारवान्।

मतिवंत–वि० दे० "मतिमंत"।

मती–संज्ञा स्त्री० दे० "मति"।

क्रि० वि० दे० "मति"।

†क्रि० वि० दे० "मत"।

मतीरा–संज्ञा पुं० [सं० मेट] तरबूज। कलींदा। उ०—(क) विषय वृषादित की तृषा जिये मतीरनि सोधि। अमित अपार अगाध जल मारौ मूँड़ पयोधि।—बिहारी। (ख) प्यासे दुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि। मरु धर पाय मतीर-हू मारू कहत पयोधि।—बिहारी।

मतीस–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाजा। उ०—मदनभेरि अरु घूँघरा घंटा घनै मतीस। मुहचंगी कौ आदि दै आवज लुटे छतीस।—सूदन।

मतेई*†–संज्ञा स्त्री० [सं० विमातृ मि० पं० मतरई=विमाता] माता की सपत्नी। विमाता। उ०—तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हू न जानिए मतेई है। बाम विधि मेरो सुख सिरस सुमन सम ताको छल छुरी को कुलिस लै टेई है।—तुलसी।

मत्कुण–संज्ञा पुं० [सं०] खटमल।

मत्त–वि० [सं०] (१) मस्त। (२) मतवाला। (३) उन्मत्त। पागल। (४) प्रसन्न। खुश।

संज्ञा पुं० (१) वह हाथी जिसके मस्तक से मद बहता हो। मतवाला हाथी। (२) धतूरा। (३) कोयल।

*† संज्ञा स्त्री० [सं० मात्रा] मात्रा।

मत्तकाशिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] उत्तम स्त्री। अच्छी औरत। उ०—श्यामा महिला भामिनी मत्तकाशिनी जान।—नंददास।

मत्तकीश–संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

मत्तगयंद–संज्ञा पुं० [सं०] सवैया छंद का एक भेद जिसके प्रत्येक चरण में ७ भगण और २ गुरु होते हैं। इसे 'मालती' और 'इंदव' भी कहते हैं।

मत्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्त होने का भाव। मतवालापन। मस्ती। उ०—सौभाग्य-मद की मत्तता धीरे धीरे उनकी नस नस में सनसन करती हुई चढ़ने लगी।—सरस्वती।

मत्तताई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० मत्तता+ई] मतवालापन। मस्ती। उ०—आप बलदेव सदा बरुणी सों मत्त रहे, चाहे मन मान्यो प्रेम मत्तताई चाखिये।—प्रियादास।

मत्तमयूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पंद्रह अक्षरों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में मगण, तगण, यगण, सगण और गगण होते हैं। (SSS, SSI, ISS, IIS, SSS) इसका दूसरा नाम माया भी है। उ०—कोऊ बोली ता कहँ लै आव सयानी। माया यां पै डार दई री हम जानी। (२) मेघ को देखकर उन्मत्त होनेवाला, मोर।

मत्तमयूरक–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल की एक योद्धा जाति का नाम।

मत्तमातंगलीलाकर–संज्ञा पुं० [सं०] एक दंडक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में ९ रगण होते हैं। जैसे,—सच्चिदानंद अनंद के कंद को छाँड़ि कै रे मतीमंद भूलो फिरै ना कहूँ।

विशेष—९ से अधिक रगणवाले दंडक भी इसी नाम से पुकारे जाते हैं। केशवदास ने ८ ही रगण के छंद का नाम मत्त-मातंगलीलाकर लिखा है। जैसे,—मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसैं देह धारी मनो।

मत्तवारण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकान के आगे का दालान या बरामदा। (२) आँगन के ऊपर की छत। (३) मतवाला हाथी।

मत्तसमक–संज्ञा पुं० [सं०] चौपाई छंद का एक भेद जिसमें नवीं मात्रा अवश्य लघु होती है।

मत्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बारह अक्षरों का एक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में मगण, भगण, सगण और एक गुरु होता है और ४, ६ पर यति होती है। जैसे,—मत्ता है कै हरि रस सानी। धावै बंसी सुनत सयानी। (२) मदिरा। शराब। प्रत्य० भाववाचक प्रत्यय। पन। (इसका प्रयोग शब्दों को भाववाचक बनाने में उसके अंत में होता है। जैसे, बुद्धि-मत्ता। नीतिमत्ता।)

*†संज्ञा स्त्री० दे० "मात्रा"।

मत्ताक्रीड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तेईस अक्षरों का एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो मगण, एक तगण, चार नगण और अंत में एक लघु और एक गुरु अक्षर होता है। जैसे,—यों रानी माधो की बानी सुनि कह कस तिय असत कहत री।

मत्था†–संज्ञा पुं० [सं० मस्तक] (१) ललाट। भाल। माथा। (२) सिर। मूँड़।

मुहा०—मत्था टेकना=प्रणाम करना। सिर झुकाकर अभिवादन करना। **मत्था मारना**=सिर-पच्ची करना। सिर खपाना।

(३) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग।

मत्स–संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य"।

मत्सर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी का सुख या विभव न देख सकना। डाह। हसद। जलन। (२) क्रोध। गुस्सा।

वि० (१) जो दूसरे की सुख संपत्ति देखकर जलता हो। डाह करनेवाला (२) कृपण। कंजूस। (३) जो सबको अपनी निंदा करते देखकर अपने आपको धिक्कारता हो।

मत्सरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्सरयुक्त होने का भाव। डाह। हसद।

मत्सरी–संज्ञा पुं० [सं० मत्सरिन्] वह जो दूसरों से मत्सर रखता हो। मत्सरपूर्ण व्यक्ति।

मत्सरीकृता–संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक मूर्च्छना का नाम। इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—म, प, ध, नि, स, रे, ग। ग, म, प, ध, नि, म, रे, ग, म, प, ध, नि।

मत्स्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली। (२) प्राचीन विराट देश का नाम।

विशेष—कुछ लोगों का मत है कि वर्त्तमान दीनाजपुर और रंगपुर ही प्राचीन काल का मत्स्य देश है; और कुछ लोग इसे प्राचीन पांचाल के अंतर्गत मानते हैं।

(३) छप्पय छंद के २३ वें भेद का नाम। (४) नारायण। (५) बारहवीं राशि। मीन राशि। (६) अठारह पुराणों में से एक जो महापुराण माना जाता है। कहते हैं कि जब विष्णु भगवान् ने मत्स्य अवतार धारण किया था, तब यह पुराण कहा था। (७) विष्णु के दस अवतारों में से पहला अवतार। कहते हैं कि यह अवतार सतयुग में हुआ था। इसका नीचे का अंग रोहू मछली के समान, ऊपर का अंग मनुष्य के समान और रंग श्याम था। इसके सिर पर सींग थे, चार हाथ थे, छाती पर लक्ष्मी थीं और सारे शरीर में कमल के चिह्न थे।

विशेष—महाभारत में लिखा है कि प्राचीन काल में विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत मनु एक बहुत ही प्रसिद्ध और बड़े तपस्वी थे। एक बार एक छोटी मछली ने आकर उनसे कहा कि मुझे बड़ी बड़ी मछलियाँ बहुत सताती हैं; आप उनसे मेरी रक्षा कीजिए। मनु ने उसे एक घड़े में रख दिया और वह दिन दिन बढ़ने लगी। जब वह बहुत बढ़ गई, तब मनु ने उसे एक कूएँ में छोड़ दिया। जब वह और बड़ी हुई, तब उन्होंने उसे गंगा में छोड़ा; और अंत में उसे वहाँ से भी निकालकर समुद्र में छोड़ दिया। समुद्र में पहुँचते ही उस मछली ने हँसते हुए कहा कि शीघ्र ही प्रलय काल आनेवाला है। इसलिये आप एक अच्छी और दृढ़ नाव बनवा लीजिए और सप्तर्षियों सहित उसी पर सवार हो जाइए। सब चीज़ों के बीज भी अपने पास रख लीजिएगा; और उसी नाव पर मेरी प्रतीक्षा कीजिएगा। वैवस्वत मनु ने ऐसा ही किया। जब प्रलय काल आया और सारा संसार जल-मग्न हो गया, तब वह विशाल मछली उन्हें दिखाई दी। उन्होंने अपनी नाव उस मछली के सींग से बाँध दी। कुछ दिनों बाद वह मछली उस नाव को खींचकर हिमालय के सब से ऊँचे शिखर पर ले गई। वहाँ वैवस्वत मनु और सप्तर्षियों ने उस मछली के कहने से अपनी नाव उस शिखर में बाँध दी। इसी लिये वह शिखर अब तक नौबंधन कहलाता है। उस समय उस मछली ने कहा कि मैं स्वयं प्रजापति ब्रह्मा हूँ। मैंने तुम लोगों की रक्षा करने और संसार की फिर से सृष्टि करने के लिये मत्स्य का अवतार धारण किया है। अब यही मनु फिर से सारे संसार की सृष्टि करेंगे। यह कहकर वह मछली वहीं अंतर्धान हो गई। मत्स्य पुराण में लिखा है कि प्राचीन काल में मनु नामक एक राजा ने घोर तपस्या करके ब्रह्मा से वर पाया था कि जब महाप्रलय हो, तब मैं ही फिर से सारी सृष्टि की रचना करूँ। और तब प्रलय काल आने से कुछ पहले विष्णु उक्त प्रकार से मछली का रूप धरकर उनके पास आए थे। इसी प्रकार भागवत आदि पुराणों में भी इससे मिलती जुलती अथवा भिन्न कई कथाएँ पाई जाती हैं।

(८) पुराणानुसार सुनहले रंग की एक प्रकार की शिला जिसका पूजन करने से मुक्ति होती है।

मत्स्यगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलपीपल । (२) व्यास की माता सत्यवती का एक नाम । वि० दे० "व्यास" ।

मत्स्यजीवी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्यजीविन्] निषाद जाति का एक नाम ।

मत्स्यद्वादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन सुदी द्वादशी ।

मत्स्यद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक द्वीप का नाम ।

मत्स्यनाथ-संज्ञा पुं० "मत्स्येंद्रनाथ" ।

मत्स्यनाशक-संज्ञा पुं० [सं०] कुरर पक्षी ।

मत्स्यनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच प्रकार की सीमाओं में से वह सीमा जो नदी या जलाशय आदि के द्वारा निर्धारित होती है ।

मत्स्यपुराण-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य" (६) ।

मत्स्यबंध-संज्ञा पुं० [सं०] धीवर । मल्लाह ।

मत्स्यबंधन-संज्ञा पुं० [सं०] मछली पकड़ने की वंशी ।

मत्स्यमुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक मुद्रा जो सभी पूजाओं में आवश्यक होती है । इसमें दाहिने हाथ के पिछले भाग पर बाएँ हाथ की हथेली रखकर अँगूठा हिलाते हैं । यह मुद्रा अभीष्ट सिद्ध करनेवाली मानी जाती है । इसे कूर्म्म मुद्रा भी कहते हैं ।

मत्स्यराज-संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली ।

मत्स्याक्षक-संज्ञा पुं० [सं०] सोम लता ।

मत्स्याक्षी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोम लता । (२) ब्राह्मी बूटी । (३) गाडर दूब ।

मत्स्यायिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जलपीपल । (२) दे० "मत्स्याक्षी" ।

मत्स्यावतार-संज्ञा पुं० दे० "मत्स्य" (७) ।

मत्स्यासन-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार योग का एक आसन ।

मत्स्यासुर-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक असुर का नाम ।

मत्स्येंद्रनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रसिद्ध साधु और हठ योगी जो गोरखनाथ के गुरु थे । नेपाल में ये पद्मपाणि नामक बोधिसत्व के अवतार माने जाते हैं ।

मत्स्योदरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] व्यासजी की माता सत्यवती का एक नाम । मत्स्यगंधा ।

मत्स्योपजीवी-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्योपजीविन्] धीवर । मल्लाह ।

मथन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथने का भाव या क्रिया । बिलोना । (२) एक अस्त्र का नाम । (३) गनियारी नामक वृक्ष ।
वि० मारनेवाला । नाशक । उ०—मधुकैटभ-मथन मुर भौम केशी भिदन कंस कुल काल अनुसाल हारी । जानि युग जूप में भूप तद्रूपता में बहुरि करिहै कलुष भूमिभारी ।—सूर ।

मथना-क्रि० सं० [सं० मथन वा मंथन] (१) किसी तरल पदार्थ को लकड़ी आदि से वेगपूर्वक हिलाना वा चलाना । बिलोना । रिडकना । जैसे, दही मथना, समुद्र मथना इत्यादि । उ०—(क) का भा जोग कहानी कथें । निकसै घीव न बिनु दधि मथें ।—जायसी । (ख) दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना मिथ्या स्वाद भुलाना । सलिला मथि कै घृत को काढेउ ताहि समाधि समाना ।—कबीर । (ग) मुदिता मथइ बिचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुबानी ।—तुलसी । (घ) ज्ञान कथा को मथि मन देखो ऊधो बहु धौपी । टरति घरी छिन एक न अँखिया श्याम रूप रोपी ।—सूर ।
क्रि० स०—डालना ।—देना ।—लेना ।
(२) चलाकर मिलाना । गति देकर एक में मिलाना । उ०—मथि मृग मलय कपूर सबन के तिलक किये । कर मणि माला पहिराए सबन विचित्र ठए ।—सूर । (३) न्यस्त व्यस्त करना । नष्ट करना । ध्वंस करना । उ०—(क) सेन सहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि । कस रे सठ हनुमान कपि गयेउ जो तव सुत मारि ।—तुलसी । (ख) अघ बक शकट प्रलंब हनि मारेउ गज चाणूर । धनुष भंजि हल दौरि पुनि कंस मथे मदमूर ।—केशव । (४) घूम घूमकर पता लगाना । बार बार श्रमपूर्वक ढूँढ़ना । पता लगाना । जैसे,—तुम्हारे लिये सारा शहर मथ डाला गया, पर कहीं तुम्हारा पता न लगा । (५) बार बार किसी क्रिया का करना । किसी कार्य्य को बहुत अधिक बार करना ।
संज्ञा पुं० मथानी । रई । उ०—आजु गई हौं नंदभवन में कहा करौं दधि चैनु री । बहु अंग चतुरंग छल सों कोटिक दुहियतु धेनु री । घूमि रहे जित तित दधि मथना सुनत मेघ ध्वनि लाजै री । बरनौं कहा सदन की सोभा बैकुंठहु ते राजै री ।—सूर ।

मथनियाँ*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मथानी] वह मटका जिसमें दही मथा जाता है । उ०—दही दहेंड़ी ढिग धरी भरी मथनियाँ बारि । कर फेरति उलटी रई नई बिलोवनिहारि ।—बिहारी ।

मथनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मथना] (१) वह मटका जिसमें दही मथा जाता है । मथनियाँ । उ०—(क) दूध दही के भोजन चाटे नेकहु लाज न आई । माखन चोरि फोरि मथनी को पीवत छाछ पराई ।—सूर । (ख) डारे कहूँ मथनि बिसारे कहूँ घी को घड़ा बिकल बगारे कहूँ माखन मठा मही । (२) दे० "मथानी" । (३) मथने की क्रिया ।

मथवाह-संज्ञा पुं० [हिं० माथा+वाह (प्रत्य०)] हाथी के सिर पर बैठ कर उसे हाँकनेवाला पुरुष । महावत । उ०—दिष्टि तराहिं हीयरे आगे । जनु मथवाह रहै सिर लागे ।—जायसी ।

मथानी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मथना] काठ का बना हुआ एक प्रकार का दंड जिससे दही से मथकर मक्खन निकाला जाता है । इसके दो भाग होते हैं—एक खोरिया वा सिरा और दूसरा डंडी । खोरिया प्रायः गोल, चिपटी और एक सम तथा

दूसरी ओर उन्नतोदर होती है। इसके किनारे पर कटाव होता है और जिस ओर समतल रहता है, उधर बीच में डेढ़ दो हाथ लंबी डंडी जड़ी रहती है। मथते समय खुरिया दही के भीतर डालकर डंडी को खंभे की चूल में लपेटकर रस्सी से केवल हाथों से खट खटकर घुमाते हैं जिससे दही क्षुब्ध हो जाता है और थोड़ा सा पानी डालने पर और मथने से नैनू वा मक्खन मट्ठे के ऊपर उतरा आता है, जिसे मथानी से समेटकर अलग इकट्ठा करते हैं। रई। बिलोनी। महनी। खैलर। उ०—को अस साज देइ मोहिं आनी। बासुकि दाम सुमेरु मथानी।—जायसी।

पर्य्या०—मंथान। मंथ। वैशाख। मथा। मंथन। तक्राट। भक्राद।

मुहा०—मथानी पड़ना या बहना=खलबली मचना। उ०—गढ़ ग्वालियर महँ वही मथानी। और कंधार मथा भै पानी।—जायसी।

मथित—वि० [सं०] (१) मथा हुआ। (२) घोलकर भली भाँति मिलाया हुआ। आलोड़ित।

मथी—वि० [सं० मथिन्] [स्त्री० मथिनी] मथनेवाला।
संज्ञा पुं० मथानी।

मथुरा—संज्ञा स्त्री० [सं० मधुपुर=मधुरा] पुराणानुसार सात पुरियों में से एक पुरी का नाम। यह व्रज में यमुना के दाहिने किनारे पर है। रामायण (उत्तर कांड) के अनुसार इसे मधु नामक दैत्य ने बसाया था जिसके पुत्र लवणासुर को पराजित कर शत्रुघ्न ने इसको विजय किया था। पाली भाषा के ग्रंथों में इसे मधुरा लिखा है। महाभारत काल में यहाँ शूरसेन वंशियों का राज्य था और इसी वंश की एक शाखा में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का यहाँ जन्म हुआ था। शूरसेन वंशियों के राज्य के अनंतर अशोक के समय में उनके आचार्य्य उपगुप्त ने इसे बौद्ध धर्म का केंद्र बनाया था। यह जैनों का भी तीर्थस्थान है। उनके उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का यह जन्म स्थान है। मौर्य्य साम्राज्य के अनंतर यह स्थान अनेक यूनानी, पारसी और शक क्षत्रपों के अधिकार में रहा। महमूद गज़नवी ने सन् १०१७ में आक्रमण कर इस नगर को न्यस्त व्यस्त कर डाला था। अन्य मुसलमान बादशाहों ने भी इस पर समय समय पर आक्रमण कर इसे तहस नहस किया था। यहाँ हिंदुओं के अनेक मंदिर हैं और अनेक कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदाय के आचार्य्यों का यह केंद्र है। पुराणानुसार यह मोक्षदायिनी पुरी है।

मथुरिया—वि० [हिं० मथुरा+इया (प्रत्य०)] मथुरा से संबंध रखनेवाला। मथुरा का। जैसे, मथुरिया पंडे। उ०—जो पै अलि अंत इहै करिबैहो। तो अतुलित अहीर अबलन को हठिन हिये हरिबेहो। जो प्रपंच परिणाम प्रेम फिरि अनुचित आचरिबेहो। तो मथुरही महा महिमा लहि सकल ढरनि ढरिबेहो।—तुलसी।

मथौरा—संज्ञा पुं० [हिं० मथना] एक प्रकार का भद्दा रंदा जिससे बढ़ई लकड़ी को खरादने के पहले छीलकर सीधा करते हैं। उ०—झाव हुसाखे झाम बसूल बरमा रु हथौरा। टाँकी नहनी घनी अरा आरी सु मथौरा।—सूदन।

मथौरी†—संज्ञा स्त्री० [हिं० माथा+औरी (प्रत्य०)] एक आभूषण का नाम जिसे स्त्रियाँ सिर में पहनती हैं। यह अर्द्ध चंद्राकार होता है जिसमें कई लटकन लगे रहते हैं। यह जंजीर वा धागे से बाँधा जाता है। चंद्रिका। चंदक।

मथ्थ†—संज्ञा पुं० दे० "माथा" उ०—भटक्कैं पटक्कैं कटक्कैं सुमथ्थं। सटक्कैं चलावैं अटक्कैं न तथ्थं।—सूदन।

मदंग—संज्ञा पुं० [सं० मृदंग] एक प्रकार का बाँस जो बरमा, आसाम, छोटा नागपुर आदि में होता है। यह खोखला और मोटा होता है। इससे चटाई, धड़नई आदि बनाई जाती है और फलटे चीरकर मकान छाए जाते हैं। इसके पोर में लोग चावल पकाते और चीज़ें भरकर रखते हैं।

मदंती—संज्ञा स्त्री० [सं०] विकृत धैवत की चार श्रुतियों में से दूसरी श्रुति का नाम।

मदंध*—वि० दे० "मदांध"।

मद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हर्ष। आनंद। (२) वह गंधयुक्त द्राव जो मतवाले हाथियों की कनपटियों से बहता है। दान। (३) वीर्य्य। (४) कस्तूरी। (५) मद्य। (६) चित्त का वह उद्वेग वा उमंग जो मादक पदार्थ के सेवन से होती है। मतवालापन। नशा। (७) उन्मत्तता। पागलपन। विक्षिप्तता। उ०—सत्यवती मच्छोदरी नारी। गंगातट ठाढ़ी सुकुमारी। पाराशर ऋषि तहँ चलि आए। विवश होइ तिनके महँ धाए।—सूर। (८) गर्व। अहंकार। घमंड। (९) अज्ञान। मतिविभ्रम। प्रमाद। (१०) एक रोग का नाम। उन्माद नामक रोग। (११) एक दानव का नाम। (१२) कामदेव। मदन।

मुहा०—मद पर आना=(१) उमंग पर आना। (२) कामोन्मत्त होना। गरमाना। (३) युवा होना।

वि० मत्त। उ०—मद गजराज द्वार पर ठाढ़ो हरि कहेउ नेक बचाय। उन नहिं मान्यो संमुख आयो पकरेउ पूँछ फिराय।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लम्बी लकीर जिसके नीचे लेखा लिखा जाता है। खाता। (२) कार्य्य वा कार्य्यालय का विभाग। सीगा। सरिश्ता। (३) खाता। जैसे,—इस मद में सौ रुपए खर्च हुए हैं। (४) शीर्षक। अधिकार। (५) ऊँची लहर। ज्वार।

मदक—संज्ञा स्त्री० [हिं० मद+क (प्रत्य०)] एक प्रकार का मादक

पदार्थ जो अफीम के सत में बारीक कतरा हुआ पान पकाने से बनता है। पीनेवाले इसकी छोटी छोटी गोलियों को चिलम पर रखकर तमाखू की भाँति पीते हैं।

यौ०—मदकची या मदकबाज=मदक पीनेवाला।

मदकची—वि० [हिं० मदक+ची (प्रत्य०)] जो मदक पीता हो। मदक पीनेवाला।

मदकट—संज्ञा पुं० [सं०] साँड़।

मदकमद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ का पेड़।

मदकर—वि० [सं०] मदवर्द्धक। मदकारक। जिससे मद उत्पन्न हो। संज्ञा पुं० धतूरा।

मदकल—वि० [सं०] (१) मत्त। मतवाला। (२) बावला। पागल।

मदकी—वि० [हिं० मदक+ई (प्रत्य०)] मदक पीनेवाला। मदकची।

मदकृत्—वि० [सं०] उन्मादजनक। मादक।

मदकोहल—संज्ञा पुं० [सं०] साँड़।

मदखूला—संज्ञा स्त्री० [अ०] वह स्त्री जिसे कोई बिना विवाह किए ही रख ले वा घर में डाल ले। गृहीता। रखनी। सुरैतिन।

मदगंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छितवन। (२) मद्य।

मदगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) अतसी। अलसी।

मदगमन—संज्ञा पुं० [सं०] महिष। भैंसा।

मदगल—वि० [सं० मदकल] मत्त। मस्त। उ०—साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थ महा मदगल अफजलै पंजा बल पटक्यो।—भूषण।

मदघ्नी—संज्ञा स्त्री० [सं०] पोय। पूतिका।

मदच्युत—वि० [सं०] गर्वनाशक।

मदजल—संज्ञा पुं० [सं०] मत्त हाथी के मस्तक का स्राव। हाथी का मद। दान।

मदद—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) सहायता। सहारा। उ०—पहलवान सो बखाने बली। मदद मीर हमजा औ अली।—जायसी।

यौ०—मदद खर्च। मददगार।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

मुहा०—मदद पहुँचना=कुमक पहुँचना। सहायता मिलना।

मजदूर और राज आदि जो किसी काम के ऊपर लगाए जाते हैं। साथ काम करनेवालों का समूह।

क्रि० प्र०—लगना।—लगाना।

मुहा०—मदद बाँटना=काम पर लगे हुए मजदूरों को मजदूरी बाँटना वा देना। दैनिक मजदूरी चुकाना।

मददखर्च—संज्ञा स्त्री० [अ० मदद+फ़ा० खर्च] (१) वह धन जो किसी को सहायतार्थ दिया जाय। (२) वह धन जो किसी काम करने के लिये काम करनेवालों को अगाऊ दिया जाय। पेशगी।

मददगार—वि० [फ़ा०] सहायता देनेवाला। मदद करनेवाला। सहायक।

मदधार—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

मदन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव (२) काम क्रीड़ा। (३) कामशास्त्र के अनुसार एक प्रकार का आलिंगन जिसमें नायक अपना एक हाथ नायिका के गले में डालकर और दूसरा हाथ मध्यदेश में लगाकर उसका आलिंगन करता है। (४) मैनफल नामक वृक्ष और उसका फल। (५) धतूरा (६) खैर। (७) मौलसिरी। (८) भ्रमर। (९) मोम। (१०) अखरोट का वृक्ष। (११) महादेव के चार प्रधान अवतारों में से तीसरे अवतार का नाम। (१२) मैना पक्षी। सारिका। (१३) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जन्म से सप्तम गृह का नाम। (१४) एक प्रकार का गीत। (१५) प्रेम। (१६) रूपमाल छंद का दूसरा नाम। (१७) छप्पय के एक भेद का नाम। (१८) खंजन पक्षी।

मदनकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] सात्विक रोमांच।

मदनक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदन वृक्ष। मैनफल। (२) दौना। (३) मोम। (४) खैर। (५) मौलसिरी। (६) धतूरा।

मदनगृह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि। भग। (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्मकुंडली में सप्तम स्थान। (२) मदन हर छंद का दूसरा नाम।

मदनगोपाल—संज्ञा पुं० [हिं० मदन+गोपाल] श्रीकृष्णचंद्र का एक नाम। उ०—जसुदा मदनगोपाल सुवावै। देखि स्वपन गत त्रिभुवन कंप्यो ईश बिरंचि भ्रमावै।—सूर।

मदन चतुर्दशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र मास की शुक्ल चतुर्दशी का नाम। यह मदन महोत्सव से अंतर्गत है।

मदनताल—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताल जिसमें पहले दो द्रुत और अंत में दीर्घ मात्रा होती है। (संगीत)

मदनत्रयोदशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र की शुक्ल त्रयोदशी का नाम। यह मदन महोत्सव के अंतर्गत है।

मदनदमन—संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक नाम।

मदनदिवस—संज्ञा पुं० [सं०] मदनोत्सव का दिन।

मदनदोला—संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्र ताल के छः भेदों में से एक का नाम। (संगीत)

मदनद्वादशी—संज्ञा स्त्री० [सं०] चैत्र शुक्ल द्वादशी का नाम। प्राचीन काल में इस दिन मदनोत्सव प्रारंभ होता था। पुराणों में इस दिन व्रत का विधान है।

मदननालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिस का विश्वास न हो। भ्रष्टा स्त्री। दुश्चरित्रा स्त्री।

मदनपति—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) विष्णु।

मदनपाठक-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिला । कोयल ।

मदनफल-संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल । मयनी ।

मदनबान-संज्ञा पुं० [हिं० मदन+बाण] एक प्रकार का बेला जिसकी कलियाँ लंबी तथा दल एकहरे और नुकीले होते हैं । यह वर्षा में फूलता है और इसकी गंध बहुत अच्छी पर तीव्र होती है ।

मदनभवन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि । भग । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुंडली में जन्म से सप्तम स्थान ।

मदनमनोरमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] केशवदास के मतानुसार सवैया के एक भेद का नाम जिसे दुर्मिल भी कहते हैं ।

मदनमनोहर-संज्ञा पुं० [सं०] दंडक के एक भेद का नाम जिसे मनहर भी कहते हैं ।

मदनमल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका वृत्ति का एक नाम ।

मदनमस्त-संज्ञा पुं० [हिं० मदन+मस्त] (१) जंगली सूरन का सुखाया हुआ टुकड़ा जिसका प्रयोग औषध में होता है । (२) चंपे की जाति का एक प्रकार का फूल जिसकी गंध कटहल से मिलती जुलती पर बहुत उग्र तथा प्रिय होती है ।

मदन महोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक उत्सव जो चैत्र शुक्ल द्वादशी से चतुर्दशी पर्य्यंत होता था । इस उत्सव में व्रत, कामदेव की पूजा, गीत-वाद्य और रात्रि जागरण आदि होते थे । इस उत्सव में स्त्री पुरुष दोनों सम्मिलित होते थे और उद्यान आदि में आमोद प्रमोद करते थे ।

मदनमोदक-संज्ञा पुं० [सं०] केशव के मतानुसार सवैया छंद के एक भेद का नाम जिसे सुंदरी भी कहते हैं ।

मदनमोहन-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्णचंद्र का एक नाम । उ०—जो मोहिं कृपा करी सोई जो हौं तो आयो माँगन । यशुमति सुत अपने पाइन जब खेलत आवै आँगन । जब तुम मदनमोहन करि टेरो इहि सुनि कै घर जाऊँ । हौं तो तेरो घर को ढाढ़ी सूर दास भट नाऊँ ।—सूर ।

मदनललिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्ति का नाम । इस वृत्ति के प्रति चरण में सोलह वर्ण होते हैं । पहले मगण फिर भगण, नगण, मगण, नगण और अंत में गुरु होता है । उ०—माँग्यो जी दान निज पति ह्वै दासी चरण की ।

मदनलेख-संज्ञा पुं० [सं०] प्रेमी और प्रेमिका के पारस्परिक प्रेम-पत्र ।

मदनशलाका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मैना । (२) कोकिला । कोयल ।

मदनसदन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भग । योनि । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुंडली के सप्तम स्थान का नाम ।

मदनसारिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सारिका । मैना ।

मदनहर-संज्ञा पुं० दे० "मदनहरा" ।

मदनहरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चालीस मात्राओं के एक छंद का नाम । छंद प्रभाकर में इसे मनहर लिखा है और दस, आठ, चौदह और आठ पर यति तथा आदि की दो मात्राओं का लघु और अंत की मात्रा का ह्रस्व होना लिखा है । उ०—सँग सीय लक्ष्मण, श्री रघुनंदन, मातन के शुभ पाइय रे सब दुःख हरे । इसे मदनगृह भी कहते हैं । इसके यति और आदि की लघु मात्रा के नियम को कोई कोई कवि नहीं मानते । जैसे,—सादल नजीब, महमूद आफ़बत, जैता गूजर सहित देख जुद्ध पड़े ।—सूदन ।

मदनांकुश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुरुष की इंद्रिय । लिंग । (२) नखक्षत ।

मदनांतक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मदनांध-वि० [सं०] कामांध ।

मदना-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैना । सारिका ।

मदनाग्रक-संज्ञा पुं० [सं०] कोदव । कोदों ।

मदनायुध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव का अस्त्र । (२) भग । (३) एक शस्त्र का नाम ।

मदनारि-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

मदनालय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भग । योनि । (२) फलित ज्योतिष के अनुसार जन्मकुंडली में के सप्तम स्थान का नाम ।

मदनावस्था-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामुकों की विरहावस्था । (२) काम-क्रीड़ा की दशा ।

मदनास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मदनायुध । (२) एक अस्त्र का नाम ।

मदनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरा । वारुणी । (२) कस्तूरी (३) मेथी । (४) अतिमुक्त नाम का फूल । (५) धाय का पेड़ । धौ ।

मदनीयहेतु-संज्ञा पुं० [सं०] धातकी । धाय का पेड़ । धौ ।

मदनेच्छाफल-संज्ञा पुं० [सं०] कलमी आम का पेड़ । बद्दरसाल ।

मदनोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] मदनमहोत्सव ।

मदनोत्सवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ग की वेश्या । अप्सरा ।

मदप्रयोग-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों का मद बहना ।

मदभंजिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शतमूली ।

मदयंतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका ।

मदयंती-संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका ।

मदयित्नु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मद्य । शराब । (२) कामदेव । (३) कलवार । (४) मेघ ।

मदर*-संज्ञा पुं० [सं० मंडल] मँडराना । घेरना । आक्रमण । उ०—ब्रज पर मदर करत है काम । कहियो पथिक जाइ श्याम सों राखहिँ आइ आपनो धाम ।—सूर ।

मदरसा-संज्ञा पुं० [अ०] पाठशाला । विद्यालय ।

मदरास-संज्ञा पुं० भारतवर्ष के अंतर्गत एक प्रांत का नाम जो अपने प्रधान नगर के नाम से प्रख्यात है । यह

प्रदेश दक्षिण प्रांत में पूर्व समुद्र के किनारे उड़ीसा से कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। यहाँ द्रविड़ और तैलंग लोग रहते हैं। इस प्रांत की राजधानी समुद्र के किनारे है और उसका भी यही नाम है।

मदलेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात सात वर्ण होते हैं, जिनमें पहले मगण फिर सगण और अंत में गुरु होता है। उ०—मोसी गोप किशोरी। पैहो ना हरि जोरी।

मदविक्षिप्त-वि० [सं०] मद से पागल। मदमत्त।

संज्ञा पुं० मतवाला हाथी।

मदशाक-संज्ञा पुं० [सं०] पोई। पोय।

मदसार-संज्ञा पुं० [सं०] शहतूत का पेड़।

मदहेतु-संज्ञा पुं० [सं०] धातकी। धाय या पेड़।

मदांतक-संज्ञा पुं० [सं०] मदात्यय नामक रोग।

मदांध-वि० [सं०] जिसे मस्ती, गर्व आदि के कारण भले बुरे का कुछ ज्ञान न हो। मदमत्त। मदोन्मत्त। मद से अंधा।

मदाखिलत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बाँध। रोक। रुकावट। (२) प्रवेश। अधिकार।

यौ०—मदाखिलत बेजा।

मदाखिलत बेजा-संज्ञा स्त्री० [अ० मदाखिलत+फ़ा० बेजा] (१) किसी ऐसे स्थान में प्रवेश करना जहाँ वैसा करने का अधिकार प्राप्त न हो। अनधिकार प्रवेश। (२) किसी ऐसे कार्य्य में हस्तक्षेप करना जिसमें वैसा करने का अधिकार न हो। अनुचित हस्तक्षेप।

मदाढ्य-संज्ञा पुं० [सं०] ताल का वृक्ष। ताड़।

मदात्यय-संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग का नाम जो लगातार अत्यंत मद्यपान करने से होता है। इस रोग में रोगी को चक्कर आता है, नींद नहीं आती, अरुचि होती है, प्यास लगती है, हाथ-पैर में जलन होती है और वे ढीले पड़ जाते हैं, तंद्रा आती है और अपच हो जाता है। कभी कभी ज्वर भी आता है और रोगी बहुत प्रलाप करता है।

पर्य्या०—मदांतक। मदव्याधि। मद।

मदाध-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

मदार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हस्ती। हाथी (२) धूर्त। चालबाज। (३) शूकर। सूअर। (४) एक गंध द्रव्य का नाम। कामुक।

संज्ञा पुं० [सं० मंदार] आक।

यौ०—मदारगदा।

संज्ञा पुं० दे० "मदारी"।

मदारगदा-संज्ञा पुं० [हिं० मदार+गदा ?] धूप में सुखाया हुआ मदार का दूध जो प्रायः औषध आदि में डाला जाता है।

मदारिया-संज्ञा पुं० दे० "मदारी"।

मदारी-संज्ञा पुं० [अ० मदार] (१) एक प्रकार के मुसलमान फकीर जो बंदर, भालू आदि नचाते और लोग के तमाशे दिखाते हैं। ये लोग शाह मदार के अनुयायी होते हैं। मदारिया। कलंदर।

विशेष—शाह मदार का जन्म १०५० ईसवी में एक यहूदी के के घर हुआ था और यह स्वयं इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए थे। यह फरुखाबाद में रहते थे और सुलतान शरकी के समय में कानपुर आए थे। उस समय कानपुर में 'मकनदेव' नामक जिन्न रहता था। शाह मदार उस जिन्न को वहाँ से निकालकर वहाँ रहने लगे। इसी से उस स्थान का नाम मकनपुर पड़ा। शाह मदार के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह चार सौ वर्ष जीते रहे और सन् १४३३ में मरे थे। शाह मदार की समाधि मकनपुर में सुलतान इब्राहीम ने बनवाई थी। मुसलमान इन्हें जिंदा शाह कहते हैं और अब तक जीवित मानते हैं। शाह मदार का पूरा नाम बदीउद्दीन था।

(२) बाजीगर। तमाशा करनेवाला। (२) बंदर आदि नचानेवाला।

मदालसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार विश्वावसु गंधर्व की कन्या का नाम जिसे वज्रकेतु के पुत्र पातालकेतु दानव ने उठा ले जाकर पाताल में रखा था। राजा शत्रुजित् के पुत्र ऋतुध्वज यज्ञ-रक्षार्थ गालवजी के आश्रम में रहते थे। एक दिन शूकर रूपधारी पातालकेतु के अधिक उपद्रव करने पर इन्होंने उसका पीछा किया और उसे मारकर पाताल में गए। वहाँ उन्हें मदालसा मिली जिससे उन्होंने विवाह किया। थोड़े दिनों बाद जब ऋतुध्वज अपने पिता की आज्ञा से पृथिवी पर्यटन करने निकले, तब उन्हें पातालकेतु का भाई तालकेतु मिला जो मुनि का रूप धारण कर तप कर रहा था। तालकेतु ने ऋतुध्वज से कहा कि मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, पर दक्षिणा देने के लिये मेरे पास द्रव्य नहीं है। यदि आप अपना हार मुझे दें, तो मैं जल में प्रवेश कर वरुण से धन प्राप्त कर यज्ञ करूँ। राजकुमार ने उसके माँगने पर अपना हार उसे दे दिया और उसके आश्रम में बैठकर उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगे। तालकेतु हार पहनकर जलाशय में घुसा और दूसरे मार्ग से निकलकर उनके पिता के पास पहुँचकर उनसे कहा कि राजकुमार यज्ञ की रक्षा कर रहे थे। राक्षसों से घोर युद्ध हुआ, जिसमें राक्षसों ने राजकुमार को मार डाला। मैं यह समाचार देने के लिये आया हूँ। जब ऋतुध्वज के मारे जाने का समाचार मदालसा को पहुँचा, तब उसने प्राण त्याग दिए। तालध्वज वहाँ से लौटा और उसी जलाशय से निकलकर ऋतुध्वज से बोला कि आपकी कृपा से मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया।

अब आप अपने घर जाइए। ऋतुध्वज जब अपने घर आया, तो मदालसा के शरीरपात का समाचार सुनकर अत्यंत दुःखित हुआ। निदान वह सदा चिंतातुर रहा करता था। उसे शोकातुर देख उसके सखा नागराज अश्वतर के दो पुत्रों ने अपने पिता से प्रार्थना की कि आप तप करके मदालसा को फिर राजा को दे उनको दुःख से छुड़ावें। अश्वतर ने शिव की तपस्या कर उनके वरदान से 'मदालसा' तुल्य पुत्री प्राप्त की और राजकुमार ऋतुध्वज को अपने यहाँ निमंत्रित कर उसे प्रदान किया। यह मदालसा परम विदुषी और ब्रह्मवादिनी थी। यह अपने पुत्रों को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करती हुई खेलाया करती थी। इसके तीन पुत्र विक्रांत, सुबाहु और शत्रुमर्दन आबाल ब्रह्मचारी और विरक्त थे; और चौथा पुत्र अलर्क गद्दी पर बैठा, जिसे राजा ऋतुध्वज ने अपना उत्तराधिकारी बनाया और अंत को उसी पर राज्य-भार छोड़ सस्त्रीक वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया। मार्कंडेय-पुराण में इसकी कथा विस्तार से आई है।

मदालापी-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मदालापिनी] कोकिल।

मदाह्व-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी।

मदि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पटेला। हेंगा।

मदिर-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल खैर।

मदिरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भबके से खींच वा सड़ाकर बनाया हुआ प्रसिद्ध मादक रस। वह अर्क जिसके पीने से नशा हो। शराब। दारू। मद्य।

विशेष—मदिरा के प्रधान दो भेद हैं। एक वह जिसे आग पर चढ़ाकर भबके से खींचते हैं जिसे अभिस्रवित कहते हैं। दूसरा वह जिसमें सड़ाकर मादकता उत्पन्न की जाती है और जिसे पर्युषित कहते हैं। यह दोनों प्रकार की मदिराएँ उत्तेजक, दाहक, कषाय और मधुर होती हैं वैदिक काल से ही मादक रसों के प्रयोग की प्रथा पाई जाती है। सोम का रस भी, जिसकी स्तुति प्रायः सभी संहिताओं में है, निचोड़कर कई दिन तक ग्राहों में रखा जाता था जिससे खमीर उठकर उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती थी। यजुर्वेद में यवसुरा शब्द आया है, जिससे यह पता चलता है कि यजुर्वेद के काल में यव की मदिरा खींचकर बनाई जाती थी। स्मृतियों में सुरा के तीन भेदों—गौड़ी, पेष्टी और माध्वी—का निषेध देखा जाता है। वैद्यक में सुरा, वारुणी, शीधु, आसव, माध्वीक, गौड़ी, पेष्टी, माध्वी, हाला, कादंबरी आदि के नाम मिलते हैं। जटाधर ने मध्वीक, पानास, द्राक्ष, खर्ज्जूर, ताल, ऐक्षव, मैरेय, माक्षिक, टांक, मधूक, नारिकेलज, अन्नविकारोत्थ, इन बारह प्रकार की मदिराओं का उल्लेख किया है। इनमें खर्ज्जूर और ताल आदि पर्य्युषित और शेष अभिस्रवित हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक प्रकार की और मदिरा होती है, जिसे अरिष्ट कहते हैं। यह क्राथ से बनाई जाती है। धान वा चावल की मदिरा को सुरा, यव की मदिरा को कोहल, गेहूँ की मदिरा को मधूलिका, मीठे रस की मदिरा को शीधु, गुड़ की मदिरा को गौड़ी और दाख की मदिरा को माध्वीक कहते हैं। धर्मशास्त्रों में गौड़ी, पेष्टी, और माध्वी को सुरा कहा गया है। वैद्यक ग्रंथों में भिन्न भिन्न प्रकार की मदिराओं के गुण लिखे हैं और उनका प्रयोग भिन्न भिन्न अवस्थाओं के लिये लाभकारी बतलाया गया है।

क्रि० प्र०—खींचना।—पीना।—पिलाना।

(२) वासुदेव की एक स्त्री का नाम। (३) बाइस अक्षरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सात भगण और अंत में एक गुरु होता है। इसे मालिनी, उमा और दिवा भी कहते हैं। उ०—तोरि शरासन शंकर के शुभ सीय स्वयंवर माँझ बरी।—केशव।

मदिराक्ष-वि० [सं०] [मदिराक्षी] जिसकी आँखें मद भरी हों। मस्त आँखोंवाला। मत्तालोचन।

मदी-संज्ञा स्त्री० "मदि"।

मदीना-संज्ञा पुं० [अ०] अरब के एक नगर का नाम। यहाँ मुसलमानी मत के प्रवर्तक मुहम्मद साहब की समाधि है।

मदीय-वि० [सं०] [स्त्री० मदीया] मेरा।

मदीयून-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो देनदार हो। कर्जदार। ऋणी।

मदीला-वि० [हिं० मद+ईला (प्रत्य०)] नशे से भरा हुआ। नशीला। उ०—गजन मदीले चढ़ि चले चटकीले हैं।—रघुराज।

मदुकल-संज्ञा पुं० [?] दोहे के एक भेद का नाम जिसमें तेरह गुरु और बाईस लघु मात्राएँ होती हैं। इसे गयंद भी कहते हैं। उ०—राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहिरे जौ चाहसि उजियार।—तुलसी।

मदोत्कट-वि० [सं०] मद गर्वित। मदोद्धत।

संज्ञा पुं०—मत्त हाथी।

मदोदग्र-वि० [सं०] मत्त। मतवाला।

मदोद्धत-वि० [सं०] (१) मदोन्मत्त। मत्त। (२) घमंडी।

मदोन्मत्त-वि० [सं०] मद में भरा हुआ। मदांध।

मदोलापी-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल।

मदोवै*-संज्ञा स्त्री० [सं० मंदोदरी] मंदोदरी। उ०—तुलसी मदोवै मीजि हाथ धुनि माथ कहै काहू कान कियो न मैं केतो कह्यो कालि है।—तुलसी।

मदगु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का जल पक्षी जिसकी लंबाई पूँछ से चोंच तक ३२ से ३४ इंच तक होती है। इसके डैने कुछ पीलापन लिए होते हैं। पूँछ काली, चोंच पीली और मुँह, कनपटी और गले के नीचे का भाग सफेद तथा पैर काले होते हैं। यह भारतवर्ष के प्रायः सभी

भागों में, विशेषकर पहाड़ी और जंगली प्रदेशों में होता है। वैद्यक में इसका मांस शीतल, वायुनाशक, स्निग्ध और भेदक माना गया है। यह रक्त पित्त के विकारों को दूर करता है इसे जलपाद और लम्पुच्छार भी कहते हैं। (२) पेड़ पर रहनेवाला एक प्रकार का जंतु। (३) मद्गुरी मछली। मंगुर। (४) एक प्रकार का साँप। (५) एक प्रकार का युद्धपोत। (६) एक वर्णसंकर जाति का नाम। मनुस्मृति में इसकी उत्पत्ति ब्राह्मण पिता और बंदी जाति की माता से लिखी है और इसका काम वन्य पशुओं का मारना बताया गया है।

मद्गुर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मँगुरी वा मंगुर नामक मछली। (२) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जिसका काम समुद्र में डूबकर मोती आदि निकालना था।

मद्गुरक–संज्ञा पुं० [सं०] मंगुर नामक मछली। मद्गुर।

मद्गुरसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मंगुर वा मद्गुर नामक मछली।

मद्दूसाही–संज्ञा पुं० [हिं० मधुसाह] एक प्रकार का पुराना पैसा जो ताँबे का चौकोर टुकड़ा होता है।

मद्धिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह मदिरा जो द्राक्षा से बनाई जाती है। द्राक्ष।

मद्धिम*†–वि० [सं० मध्यम] (१) मध्यम। अपेक्षाकृत कम अच्छा। (२) मंदा।

मद्धे–अव्य० [सं० मध्ये] (१) बीच में। में। उ०—गुरु संत समाज मद्धे भक्ति मुक्ति दृढ़ाइये।—कबीर। (२) विषय में। बाबत। संबंध में। उ०—परंतु अँगूठी मिलने के मद्धे इससे कुछ और पूछ ताछ होनी चाहिए।—लक्ष्मणसिंह। (३) लेखे में। बाबत। जैसे,—आपको सौ रुपए इस मद्धे दिए जा चुके हैं।

मद्य–संज्ञा पुं० [सं०] मदिरा। शराब।

मद्यद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] माड़ नामक वृक्ष।

मद्यपंक–संज्ञा पुं० [सं०] खमीर जो मद्य खींचने के लिए उठाया जाय।

मद्यप–वि० [सं०] मद्य पीनेवाला। सुरापी। शराबी।

मद्यपान–संज्ञा पुं० [सं०] मद्य पीने की क्रिया। शराब पीना।

मद्यपाशन–संज्ञा पुं० [सं०] मद्य के साथ खाई जानेवाली चटपटी चीज़। गज़क। चाट।

मद्यपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] धातकी। धौ।

मद्यबीज–संज्ञा पुं० [सं०] शराब के लिये उठाया हुआ खमीर।

मद्यमंड–संज्ञा पुं० [सं०] वह फेन जो मद्य का खमीर उठने पर ऊपर आता है। मद्यफेन।

मद्यमोद–संज्ञा पुं० [सं०] वकुल। मौलसिरी।

मद्यवासिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] धातकी। धौ।

मद्यसंधान–संज्ञा पुं० [सं०] मद्य निकालने का व्यापार।

मद्रंकर–वि० [सं०] मंगल-कारक।

मद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का वैदिक नाम। यह देश कश्यप सागर के दक्षिणी किनारे पर पश्चिम की ओर था। ऐतरेय ब्राह्मण में इसे उत्तर कुरु लिखा है। (२) पुराणानुसार रावी और झेलम नदियों के बीच के देश का नाम। (३) हर्ष।

मद्रक–वि० [सं०] (१) मद्र देश का। मद्र देश संबंधी। (२) मद्र देश में उत्पन्न।

मद्रकार–वि० [सं०] मंगलकारक। शुभ।

मद्रसुता–संज्ञा स्त्री० [सं०] नकुल और सहदेव की माता, माद्री।

मद्रुकस्थली–संज्ञा स्त्री० [सं०] पाणिनि के अनुसार एक देश का नाम।

मध*–संज्ञा पुं० दे० "मध्य"।

मधन–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो भैरव राग की पुत्र-वधू मानी जाती है।

मधि–संज्ञा पुं० दे० "मध्य"।

अव्य० [सं० मध्य] में।

मधिम*–वि० दे० "मध्यम"।

मधु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पानी। जल। (२) शहद। (३) मदिरा शराब। (४) फूल का रस। मकरंद। (५) वसंत ऋतु। (६) चैत्र मास। (७) एक दैत्य जिसे विष्णु ने मारा था और जिसके कारण उनका 'मधुसूदन' नाम पड़ा। (८) दूध। (९) मिसरी। (१०) नवनीत। मक्खन। (११) घी। (१२) एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दो लघु अक्षर होते हैं। (१३) शिव। महादेव। (१४) महुए का पेड़। (१५) अशोक का पेड़ (१६) मुलेठी। (१७) अमृत। सुधा। (१८) एक राग जो भैरव राग का पुत्र माना जाता है।

संज्ञा स्त्री० [सं०] जीवंती का पेड़।

वि० [सं०] (१) मीठा। (२) स्वादिष्ट। उ०—चारौ भ्रात मिलि करत कलेऊ मधु मेवा पकवाना।—सूर।

मधुकंठ–संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल। कोयल।

मधुक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए का पेड़। (२) महुए का फूल। (३) मुलेठी। जेठी मधु।

मधुकर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौंरा। (२) कामी पुरुष। (३) भँगरा। घमरा।

मधुकरी–संज्ञा स्त्री० [सं० मधुकर] (१) गकरिया। भौंरिया। बाटी। (२) पके अन्न की भिक्षा। वह भिक्षा जिसमें केवल पका हुआ दाल, चावल, रोटी, तरकारी आदि ली जाती हो। (३) भ्रमरी। भौंरी।

मधुकर्कटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] संतरा। मीठा नीबू।

मधुकलोचन–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मधुकार–संज्ञा पुं० [सं०] मधुमक्खी। शहद की मक्खी।

मधुकाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधुकुंभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की अनुचरी एक मातृका का नाम।

मधुकुल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार कुश द्वीप की एक नदी का नाम।

मधुकैटभ-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार मधु और कैटभ नाम के दो दैत्य जो दोनों भाई थे और जिन्हें विष्णु ने मारा था।

मधुकोष-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता। मधुचक्र।

मधुक्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] खजूर का पेड़।

मधुगंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अर्जुन का वृक्ष। (२) बकुल। मौलसिरी।

मधुगुंजन-संज्ञा पुं० [सं०] सहँजन का वृक्ष।

मधुग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] वाजपेय यज्ञ में का एक होम जो मधु से किया जाता है।

मधुघोष-संज्ञा पुं० [सं०] कोकिल। कोयल।

मधुचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता।

मधुच्छंदा-संज्ञा पुं० [सं० मधुच्छंदस्] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम जो ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के द्रष्टा थे।

मधुच्छदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मोरशिखा नाम की बूटी।

मधुज-संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

विशेष—पुराणानुसार पृथ्वी की उत्पत्ति मधु नामक राक्षस के मेद से हुई थी, इसी से उसका यह नाम पड़ा।

मधुजीरक-संज्ञा पुं० [सं०] सौंफ।

मधुजीवन-संज्ञा पुं० [सं०] बहेड़े का वृक्ष।

मधुतृण-संज्ञा पुं० [सं०] ईख। ऊख।

मधुत्रय-संज्ञा पुं० [सं०] शहद, घी और चीनी इन तीनों का समूह।

मधुत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मधु वा मधुर होने का भाव। मिठास। मीठापन।

मधुदीप-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधुदूत-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

मधुदूती-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटला वृक्ष।

मधुद्रु-संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा।

मधुद्रव-संज्ञा पुं० [सं०] लाल सहँजन का वृक्ष।

मधुद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] महुए का पेड़।

मधुधारी-संज्ञा पुं० [सं०] सोना मक्खी।

मधुधूलि-संज्ञा स्त्री० [सं०] खाँड़। शक्कर।

मधुनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का क्षुप जिसे घृतमंडा और सुमंगला भी कहते हैं।

मधुनेत्रा-संज्ञा पुं० [सं० मधुनेतृ] भ्रमर। भौंरा।

मधुप-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भौंरा। (२) शहद की मक्खी। वि० मधु पीनेवाला।

मधुपटल-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी का छत्ता।

मधुपति-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

मधुपर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दही, घी, जल, शहद और चीनी का समूह जो देवताओं को चढ़ाया जाता है और जिससे देवता बहुत संतुष्ट होते हैं। यह भी कहा गया है कि इसका दान करने से सुख और सौभाग्य की वृद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। पूजा के सोलह उपचारों में से देवता या पूज्य के सामने मधुपर्क रखना भी एक उपचार है। (२) तंत्र के अनुसार घी, दही और मधु का समूह जिसका उपयोग तांत्रिक पूजन में होता है।

मधुपर्क्य-वि० [सं०] मधुपर्क देने के योग्य। जिसके सामने मधुपर्क रक्खा जा सके।

मधुपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुरुच। (२) गंभारी नामक वृक्ष। (३) नीली नामक पौधा।

मधुपायी-संज्ञा पुं० [सं० मधुपायिन्] भौंरा।

मधुपालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभारी नामक वृक्ष।

मधुपिंग-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक मुनि का नाम।

मधुपीलु-संज्ञा पुं० [सं०] महापीलु। अखरोट।

मधुपुर-संज्ञा पुं० [सं०] मथुरा नगर का प्राचीन नाम।

मधुपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मथुरा का प्राचीन नाम।

मधुपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुआ। (२) सिरिस का पेड़। (३) अशोक वृक्ष। (४) मौलसिरी।

मधुपुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागदंती। (२) धौं।

मधुप्रमेह-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रमेह रोग जिसमें पेशाब में शक्कर आती है। वि० दे० "मधुमेह"।

मधुप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बलराम। (२) भुईं-जामुन।

मधुफल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाख। (२) कँटाय या विकंकत नामक वृक्ष।

मधुफलिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठी खजूर।

मधुबन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्रजभूमि के एक वन का नाम। (२) सुग्रीव का बगीचा जिसमें अंगूर के फल बहुत होते थे।

मधुबहुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वासंती लता। (२) सफेद जूही।

मधुबिंबी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कुँदरू।

मधुबीज-संज्ञा पुं० [सं०] अनार।

मधुभार-संज्ञा पुं० [सं०] एक मात्रिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में आठ मात्राएँ होती हैं और अंत में जगण होता है। जैसे,—प्रभु हौ सुदीन। तुम हौ प्रवीन। जग महँ महेश। हरिये कलेश।

मधुमक्खी-संज्ञा स्त्री० [सं० मधुमक्षिका] एक प्रकार की प्रसिद्ध मक्खी जो फूलों का रस चूसकर शहद एकत्र करती है। मुमाखी।

विशेष—दस हज़ार से पचास हज़ार तक मधुमक्खियाँ एक साथ एक घर बनाकर रहती हैं, जिसे छत्ता कहते हैं। इस छत्ते में मक्खियों के लिये अलग अलग बहुत से छोटे छोटे घर बने होते हैं। प्रत्येक छत्ते में तीन प्रकार की मधुमक्खियाँ होती हैं। एक तो मादा मक्खी होती है जो रानी कहलाती है। इसका काम केवल गर्भ धारण करके अंडे देना होता है। यह दिन में प्रायः दो हज़ार अंडे देती है। प्रत्येक छत्ते में ऐसी एक ही मक्खी होती है। साधारण मक्खियों की अपेक्षा यह कुछ बड़ी भी होती है। दूसरी जाति नर मक्खियों की होती है, जिनका काम रानी को गर्भ धारण कराना होता है। और तीसरे वर्ग में वे साधारण मक्खियाँ होती हैं जो फलों का रस पी पीकर आती हैं और उन्हें शहद या मधु के रूप में छत्ते में जमा करती हैं। जब नर मक्खियाँ गर्भ-धारण का काम करा चुकती हैं, तब उन्हें तीसरे वर्ग की साधारण मक्खियाँ मार डालती हैं। इसके अतिरिक्त छत्ता बनाने और नवजात मक्खियों के पालन पोषण का काम भी इसी तीसरे वर्ग की मक्खियाँ करती हैं। मादा और काम करनेवाली मक्खियों का डंक जहरीला होता है जिससे वे अपने शत्रु को मारती हैं। जब एक छत्ता बहुत भर जाता है, तब रानी मक्खी की आज्ञा से काम करनेवाली मक्खियाँ किसी दूसरी जगह जाकर नया छत्ता बनाती हैं। शहद में से जो मैल निकलती है, उसी को मोम कहते हैं। बहुत प्राचीन काल से प्रायः सभी देशों में लोग शहद और मोम के लिये इनका पालन करते आए हैं।

मधुमक्षिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] शहद की मक्खी। मधुमक्खी।

मधुमत—संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन देश का नाम जो काश्मीर के पास था।

मधुमती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण और एक गुरु होता है। (२) एक प्राचीन नदी का नाम। (३) तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार की नायिका जिसकी उपासना और सिद्धि से मनुष्य जहाँ चाहे, वहाँ आ जा सकता है। (४) पतंजलि के अनुसार समाधि की वह अवस्था जो अभ्यास और वैराग्य के कारण रजः और तम के बिलकुल दूर हो जाने और सतगुण का पूरा प्रकाश होने पर प्राप्त होती है। (५) गंगा का एक नाम। (६) मधु दैत्य की कन्या का नाम जो इक्ष्वाकु के पुत्र हर्य्यश्व को ब्याही थी। (७) पुराणानुसार नर्म्मदा की एक शाखा का नाम।

मधुमथन—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मधुमल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालती।

मधुमस्तक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पकवान जो मैदे को घी में भूनकर और ऊपर से शहद में लपेटकर बनाया जाता है। वैद्यक के अनुसार यह बलकारक और भारी होता है।

मधुमाखी†—संज्ञा स्त्री० दे० "मधुमक्खी"।

मधुमात—संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो भैरव राग का सहचर माना जाता है।

मधुमात सारंग—संज्ञा पुं० [सं०] सारंग राग का एक भेद जिसके गाने का समय दिन में १७ दंड से २० दंड तक माना जाता है। यह संकर राग है और सारंग तथा मधुमात के योग से बनता है।

मधुमाधव—संज्ञा पुं० [सं०] मालश्री, कल्याण और मल्लार के मेल से बना हुआ एक संकर राग।

मधुमाधवसारंग—संज्ञा पुं० [सं०] ओड़व जाति का एक संकर राग जिसमें धैवत और गांधार वर्जित हैं।

मधुमाधवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक रागिनी जो भैरव राग की सहचरी मानी जाती है। हनुमत के मत से इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—म प ध नि सा रे ग म अथवा म प नि सा ग म। (२) वासंती लता। (३) एक प्रकार की शराब।

मधुमाध्वीक—संज्ञा पुं० [सं०] मद्य। शराब।

मधुमारक—संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा।

मधुमालती—संज्ञा स्त्री० [सं०] मालती नाम की लता जिसके फूल पीले होते हैं। वि० दे० "मालती"।

मधुमूल—संज्ञा पुं० [सं०] रतालू।

मधुमेह—संज्ञा पुं० [सं०] किसी प्रकार के प्रमेह का बढ़ा हुआ रूप जिसमें पेशाब बहुत अधिक और मधु का सा मीठा तथा गाढ़ा आता है। यह रोग प्रायः असाध्य माना जाता है और इससे रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है। वि० दे० "प्रमेह"।

मधुमेही—संज्ञा पुं० [सं० मधुमेहिन्] जिसे मधु मेह रोग हो।

मधुयष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुलेठी। जेठी मद। (२) ऊख। ईख।

मधुयष्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुलेठी।

मधुयष्टी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुलेठी।

मधुर—वि० [सं०] (१) जिसका स्वाद मधु के समान हो। मीठा। (२) जो सुनने में भला जान पड़े। जैसे, मधुर वचन। (३) सुंदर। मनोरंजक। उ०—सोइ जानकी-पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई।—तुलसी। (४) सुस्त। मट्ठर (पशु)। (५) मंदगामी। धीरे चलनेवाला। (६) जो किसी प्रकार क्लेशप्रद न हो। हलका। उ०—मधुर मधुर गरजत घन घोरा।—तुलसी। (७) शान्त।

संज्ञा पुं० (१) मीठा रस। (२) जीवक वृक्ष। (३) लाल ऊख। (४) गुड़। (५) धान। (६) स्कंद के एक सैनिक

का नाम। (७) लोहा। (८) विष। जहर। (९) काकोली। (१०) जंगली बेर। (११) बादाम का पेड़। (१२) महुआ। (१३) मटर।

मधुरई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० मधुर+ई (प्रत्य०)] (१) मधुर होने का भाव। मधुरता। (२) मिठास। मीठापन। (३) सुकुमारता। कोमलता।

मधुरकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जिसे कजली कहते हैं।

मधुरक–संज्ञा पुं० [सं०] जीवक वृक्ष।

मधुरकर्कटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठा नीबू।

मधुरजंबीर–संज्ञा पुं० [सं०] मीठा जमीरी नीबू।

मधुरज्वर–संज्ञा पुं० [सं०] धीमा और सदा बना रहनेवाला ज्वर जो वैद्यक के अनुसार अधिक घी आदि खाने अथवा पसीना रुकने के कारण होता है। इसमें मुँह लाल हो जाता है, तालू और जीभ सूख जाती है, नींद नहीं आती, प्यास बहुत लगती और कै मालूम होती है।

मधुरता–संज्ञा स्त्री [सं०] (१) मधुर होने का भाव। (२) मिठास। (३) सौंदर्य। सुंदरता। मनोहरता। (४) सुकुमारता। कोमलता।

मधुरत्रय–संज्ञा पुं० [सं०] शहद, घी और चीनी इन तीनों का समूह।

मधुत्रिफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाख या किशमिश, गंभारी और खजूर इन तीनों का समूह।

मधुरत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर होने का भाव। मधुरता। (२) मीठापन। मिठास। (३) सुंदरता। मनोहरता।

मधुरत्वच–संज्ञा पुं० [सं०] धौ का पेड़।

मधुरफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बैर का वृक्ष। (२) तरबूज।

मधुरफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठा नीबू।

मधुरबिंबी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुँदरू।

मधुरस–संज्ञा पुं० [सं०] ईख। ऊख।

मधुरसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्वा। (२) दाख। (३) गंभारी। (४) दुधिया (५) शतपुष्पी। (६) प्रसारिणी लता।

मधु-रसिक–संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा।

मधुरस्रवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पिंड खजूर।

मधुरस्वर–संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्व

मधुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदरास प्रांत का एक प्राचीन नगर जो अब मदुरा या मदूरा कहलाता है। (२) मथुरा नगर। (३) शतपुष्पी। (४) मीठा नीबू। (५) मेदा। (६) मुलेठी। (७) काकोली। (८) सतावर। (९) महामेदा। (१०) पालक का साग। (११) सेम। (१२) केले का वृक्ष। (१३) मसूर। (१४) मीठी खजूर। (१५) सौंफ।

मधुराई*–संज्ञा स्त्री० [हिं० मधुर+आई (प्रत्य०)] (१) मधुरता। (२) मिठास। मीठापन। (३) कोमलता। (४) सुंदरता।

मधुराकर–संज्ञा पुं० [सं०] ईख। ऊख।

मधुराज–संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा। उ०—छुटि रही अलक झलक मधुराज राजी तापै छिति तैसीये बिराजै पर मोर की।—रघुनाथ।

मधुराना*†–क्रि० अ० [हिं० मधुर+आना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु में मीठा रस आ जाना। मीठा होना। उ०—ध्यंग ढंग तजि बानी हू कछु कछु मधुरानी।—व्यास। (२) सुंदरता से भर जाना। सुंदर हो जाना। उ०—आगे कौन हवाल जबै अँग अँग मधुरैहैं।—व्यास।

मधुराम्लक–संज्ञा पुं० [सं०] अमड़ा।

मधुराम्लरस–संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी का पेड़।

मधुरालापा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मैना पक्षी।

मधुरालिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की छोटी मछली।

मधुरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] सौंफ।

मधुरिपु–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मधुरिमा–संज्ञा स्त्री० [सं० मधुरिमन्] (१) मिठास। मीठापन। (२) सुंदरता। सौंदर्य।

वि० जो बहुत अधिक मीठा हो।

मधुरी*–संज्ञा स्त्री० [सं० माधुर्य] (१) सौंदर्य। सुंदरता। उ०—ता दिन देख परी सब की छबि कौन मिली इनकी मधुरी में।—रघुराज। (२) बहुत प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता था।

मधुरीछ–संज्ञा पुं० [हिं० मधु+रीछ] दक्षिणी अमेरिका का एक जंगली जंतु जो ऊँचाई में बिल्ली या कुत्ते के बराबर और रूप में रीछ के समान होता है। यह जंतु शहद के छत्तों से शहद चूसने का बड़ा प्रेमी होता है। इसीसे इसे लोग मधुरीछ कहते हैं।

मधुरोदक–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार सात समुद्रों में से अंतिम समुद्र जो मीठे जल का है और जो पुष्कर द्वीप के चारों ओर है।

मधुल–संज्ञा पुं० [सं०] मदिरा।

मधुलग्न–संज्ञा पुं० [सं०] लाल शोभांजन।

मधुलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास जिसे शूली भी कहते हैं।

मधुलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की शराब जो मधुली नामक गेहूँ से बनाई जाती है। (२) राई। (३) कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम। (४) फूलों का पराग।

मधुली–संज्ञा पुं० [सं० मधुलिका] भावप्रकाश के अनुसार एक प्रकार का गेहूँ।

मधुलोलुप–संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा।

मधुवटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन स्थान का नाम।

मधुवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मथुरा के पास यमुना के किनारे का एक वन जहाँ शत्रुघ्न ने लवण नामक दैत्य को मारकर मधुपुरी स्थापित की थी। (२) किष्किन्धा के पास का सुग्रीव का वन जिसमें सीता का समाचार लेकर लौटने पर हनुमान ने मधु-पान किया था। (३) वह वन या कुंज जिसमें प्रेमी और प्रेमिका आकर मिलते हों। (४) कोयल।

मधुवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम।

मधुवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुलेठी। (२) करेला।

मधुवामन–संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा। उ०—मधुप मधुव्रत मधुरसिक मधुवामन वग ओर।—नंददास।

मधुवार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मद्य पीने का दिन। (२) मद्य पीने की रीति। (३) मद्य। मदिरा।

मधुवाही–संज्ञा पुं० [सं० मधुवाहिन्] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नद का नाम।

मधुवीज–संज्ञा पुं० [सं०] अनार।

मधुव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] भौंरा।

मधु-शर्करा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शहद से बनाई हुई चीनी जो वैद्यक के अनुसार बलकारक और वृष्य होती है।

पर्य्या०—माध्वी। सिता। मधुजा। क्षौद्रजा। क्षौद्रशर्करा।

(२) सेम। लोबिया।

मधुशाक–संज्ञा पुं० [सं०] महुए का वृक्ष।

मधुशिग्नु–संज्ञा पुं० [सं०] शोभांजन। सहिंजन।

मधुशिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सेम। लोबिया।

मधुशिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधुशेष–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधुश्रम–संज्ञा पुं० [सं० मधुस्रवा] सजीवन मूरि। सजीवन बूटी। (नंददास)

मधुश्रेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा।

मधुश्वासा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जीवंती नामक वृक्ष।

मधुष्ठाल–संज्ञा पुं० [सं०] महुए का वृक्ष।

मधुसंभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोम (२) दाख।

मधुसख–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधुसहाय–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधुसारथि–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधुसिक्थक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोम। (२) एक प्रकार का स्थावर विष।

मधुसुक्त–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का रस जो पिप्पली मूल को एक बर्तन में बंद करके तीन दिन तक धूप में रखने से तैयार होता है।

मधुसुहृद्–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधुसूदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु नामक दैत्य को मारनेवाले, श्रीकृष्ण। (२) भौंरा।

मधुसूदनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पालक का साग।

मधुस्कंद–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

मधुस्थान–मधुमक्खी का छत्ता।

मधुस्पंदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिसमें तार लगा रहता था।

मधुस्यंद–संज्ञा पुं० [सं०] विश्वामित्र के एक पुत्र का नाम।

मधुस्रव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए का वृक्ष। (२) पिंड-खजूर का वृक्ष।

मधुस्रवा–संज्ञा पुं० [सं० मधुस्रवस्] महुए का वृक्ष।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सजीवन बूटी। (२) मुलेठी। (३) मूर्वा। (४) हंसपदी नाम की लता।

मधुस्राव–संज्ञा पुं० [सं०] महुए का वृक्ष।

मधुस्वर–संज्ञा पुं० [सं०] कोयल।

मधुहंता–संज्ञा पुं० [सं० मधुहंतृ] मधु दैत्य को मारनेवाले, विष्णु।

मधुहेतु–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मधूक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए का पेड़। (२) महुए का फूल। उ०—पहिराई नल के गले नव मधूक की माल।—गुमान। (३) मुलेठी।

मधूकपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] अमड़ा।

मधूकरी–संज्ञा स्त्री० दे० "मधुकरी"।

मधूक शर्करा–संज्ञा स्त्री० [सं०] महुए के फल या फूल से निकाली हुई चीनी।

मधूख–संज्ञा पुं० दे० "मधूक"।

मधूच्छिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधूत्थ–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधूत्थित–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मधूत्पन्ना–संज्ञा स्त्री० [सं०] शहद से बनाई हुई चीनी।

मधूत्सव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वसंतोत्सव। (२) चैत्र की पूर्णिमा।

मधूल–संज्ञा पुं० [सं०] जल-महुआ।

मधूलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल-महुआ। (२) मद्य। शराब।

मधूलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्वा। (२) मुलेठी। (३) एक प्रकार का मोटा अन्न। (४) छोटे दाने का गेहूँ। (५) छोटे दाने के गेहूँ से बनी हुई शराब। (६) एक प्रकार की घास। (७) एक प्रकार की मक्खी जिसके काटने से सूजन और जलन होती है। (वैद्यक)

मधूली–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का पेड़। (२) जल में उत्पन्न होनेवाली मुलेठी। (३) मध्य देश का गेहूँ।

मधूषक–संज्ञा पुं० [सं०] मोम।

मध्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ के बीच का भाग।

दरमियानी हिस्सा। (२) कमर। कटि। (३) संगीत में एक सप्तक जिसके स्वरों का उच्चारण वक्षस्थल से, कंठ के अंदर के स्थानों से किया जाता है। यह साधारणतः बीच का सप्तक माना जाता है। (४) नृत्य में वह गति जो न बहुत तेज हो और न बहुत मंद। (५) दस अरब की संख्या। (६) विश्राम। (७) सुश्रुत के अनुसार १६ वर्ष से ७० वर्ष तक की अवस्था। (८) अंतर। भेद। फरक। (९) पश्चिम दिशा।

वि० (१) उपयुक्त। ठीक। (२) अधम। नीच। (३) मध्यम। बीच का।

मध्य कुरु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश जो उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु के मध्य में था। वि० दे० "कुरु"।

मध्यखंड–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी का वह भाग जो उत्तर क्रांतिवृत्त और दक्षिण क्रांतिवृत्त के मध्य में पड़ता है।

मध्यगंध–संज्ञा पुं० [सं०] आम का वृक्ष।

मध्यगत–वि० [सं०] मध्यम। बीच का।

मध्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्य का भाव वा धर्म्म।

मध्यतापिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

मध्य देश–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन भौगोलिक विभाग के अनुसार भारतवर्ष का वह प्रदेश जो हिमालय के दक्षिण, विन्ध्य पर्वत के उत्तर, कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में है। यह प्रदेश किसी समय आर्य्यों का प्रधान निवास-स्थान था और बहुत पवित्र माना जाता था। मध्यम।

मध्यदेह–संज्ञा पुं० [सं०] उदर। पेट।

मध्यपदलोपी–संज्ञा पुं० दे० "मध्यम-पद-लोपी"।

मध्यपात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्योतिष में एक प्रकार का पात। (२) जान-पहचान। परिचय।

मध्यपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] जल-बेत।

मध्यम–वि० [सं०] जो दो विपरीत सीमाओं के बीच में हो। जो गुण, विस्तार, मान आदि के विचार से न बहुत बड़ा हो, न बहुत छोटा। मध्य का। बीच का।

संज्ञा पुं० (१) संगीत के सात स्वरों में से चौथा स्वर जिसका मूलस्थान नासिका, अंतःस्थान कंठ और शरीर में उत्पत्ति स्थान वक्षस्थल माना जाता है। कहते हैं कि यह मयूर का स्वर है, इसके अधिकारी देवता महादेव, आकृति विष्णु की, संतान दीपक राग, वर्ण नील, जाति शूद्र, ऋतु ग्रीष्म, वार बुध और छंद बृहती है और इसका अधिकार कुश द्वीप में है। संक्षेप में इसे "म" कहते या लिखते हैं। यह साधारण और तीव्र दो प्रकार का होता है। इसको स्वर (षड्ज) बनाने से सप्तक इस प्रकार होता है— मध्यम स्वर, पंचम ऋषभ, धैवत गान्धार, कोमल निषाद मध्यम, स्वर (षड्ज) पंचम, ऋषभ धैवत, गान्धार निषाद। तीव्र मध्यम को स्वर (षड्ज) बनाने से सप्तक इस प्रकार होता है—तीव्र मध्यम स्वर, कोमल धैवत ऋषभ, कोमल निषाद गान्धार, निषाद मध्यम, कोमल ऋषभ पंचम, कोमल गान्धार धैवत, मध्यम निषाद। (२) वह उपपति जो नायिका के क्रोध दिखलाने पर अपना अनुराग न प्रकट करे और उसकी चेष्टाओं से उसके मन का भाव जाने। (३) साहित्य में तीन प्रकार के नायकों में से एक। (४) एक प्रकार का मृग। (५) एक राग का नाम। (६) मध्य देश।

मध्यमता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यम होने का भाव।

मध्यमपदलोपी–संज्ञा पुं० [सं० मध्यमपदलोपिन्] व्याकरण में वह समास जिसमें पहले पद से दूसरे पद का संबंध बतलानेवाला शब्द लुप्त या समास से अध्याहृत रहता है। लुप्त पद समास।

विशेष—कुछ कर्म्मधारय और कुछ बहुव्रीहि समास मध्यमपदलोपी हुआ करते हैं। जैसे,—पर्णशाला (पर्णनिर्मित शाला), जेब-घड़ी (जेब में रहनेवाली घड़ी), मृगनयनी (मृग के समान नयनोंवाली)।

मध्यम पुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण के अनुसार तीन पुरुषों में से वह पुरुष जिससे बात की जाय। वह व्यक्ति जिसके प्रति कुछ कहा जाय।

मध्यमलोक–संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी।

मध्यमसंग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] मिताक्षरा के अनुसार स्त्री को अपने अधिकार में लाने का वह प्रकार जिसमें पुरुष उसे वस्त्र-आभूषण आदि भेजकर अपने पर अनुरक्त करता है।

मध्यम साहस–संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पाँच सौ पण तक का अर्थ-दंड या जुरमाना।

मध्यमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पाँच उँगलियों में से बीच की उँगली। (२) वह नायिका जो अपने प्रियतम के प्रेम वा दोष के अनुसार उसका आदर-मान वा अपमान करे। (३) रजस्वला स्त्री। (४) कनियारी। (५) छोटा जामुन। (६) काकोली।

मध्यमागम–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के चार प्रकार के आगमों में से एक प्रकार का आगम।

मध्यमात्रेय–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

मध्यमान–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का ताल जिसमें ८ ह्रस्व अथवा ४ दीर्घ मात्राएँ होती हैं और ३ आघात और १ खाली होता है। इसके तबले के बोल ये हैं:—धा धिन ताक् धिन, धा धिन ताक् धिन, धा तिन ताक् तिन, ता धिन ताक् धिन। धा।

मध्यमाहरण–संज्ञा पुं० [सं०] बीज गणित की वह क्रिया जिसके

अनुसार कोई आयत मान निकाला जाता है।

मध्यमिक-वि० [सं०] बीच का। मध्यम।

मध्यमिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

मध्यमीय-वि० दे० "मध्यम"।

मध्ययव-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक परिमाण जो ६ पीली सरसों के बराबर होता था।

मध्यरेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष और भूगोल शास्त्र में वह रेखा जिसकी कल्पना देशांतर निकालने के लिये की जाती है। यह रेखा उत्तर-दक्षिण मानी जाती है और उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों को काटती हुई एक वृत्त बनाती है।

मध्यलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी।

मध्यवर्त्ती-वि० [सं०] जो मध्य में हो। बीच का।

मध्यविवर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार सूर्य्य या चंद्र ग्रहण के मोक्ष का एक प्रकार जिसमें सूर्य्य या चंद्रमा का मध्य भाग पहले प्रकाशित होता है। कहते हैं कि इस प्रकार के मोक्ष से अन्न तो यथेष्ट होता है, पर वृष्टि अधिक नहीं होती।

मध्यसूत्र-संज्ञा पुं० दे० "मध्यरेखा"।

मध्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो वादियों के झगड़े को निपटानेवाला। बीच में पड़कर विवाद मिटानेवाला। (२) जो दोनों पक्षों में से किसी पक्ष में न हो। उदासीन। तटस्थ। उ०—शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हे बरियाई।—तुलसी। (३) वह जो अपनी हानि न करता हुआ दूसरों का उपकार करता हो।

मध्यस्थता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मध्यस्थ होने का भाव या धर्म्म।

मध्यस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] कमर।

मध्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काव्य शास्त्रानुसार वह नायिका जिसमें लज्जा और काम समान हों। (२) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन अक्षर होते हैं। इसके आठ भेद हैं। (३) बीच की उँगली।

मध्यान-संज्ञा पुं० दे० "मध्याह्न"।

मध्यान्ह-संज्ञा पुं० दे० "मध्याह्न"।

मध्याम्लि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

मध्याहारिणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ललित विस्तर के अनुसार ६४ प्रकार की लिपियों में से एक प्रकार की लिपि।

मध्याह्न-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का मध्य भाग। ठीक दोपहर का समय।

मध्याह्नोत्तर-संज्ञा पुं० [सं०] तीसरा पहर (दिन का)। दो पहर के बाद का समय।

मध्ये-क्रि० वि० [सं० मध्य] बाबत। बारे में। संबंध में। मद्धे। वि० दे० "मद्धे"।

मध्येज्योतिः-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाँच पाद का एक वैदिक छंद जिसके पहले और दूसरे चरण में आठ आठ वर्ण तथा तीसरे में ग्यारह, और पुनः चौथे और पाँचवें में आठ आठ वर्ण होते हैं।

मध्व-संज्ञा पुं० दे० "मधु"।

मध्वक-संज्ञा पुं० [सं०] शहद की मक्खी।

मध्वरिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का अरिष्ट जो संग्रहणी रोग में उपकारी माना जाता है।

मध्वल-संज्ञा पुं० [सं०] बार बार और बहुत शराब पीना।

मध्वाचार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य्य और माध्व या मध्वाचारि नामक संप्रदाय के प्रवर्त्तक जो बारहवीं शताब्दी में हुए थे। ये वायु के अवतार माने जाते थे। पहले इनका नाम वासुदेवाचार्य्य था। इन्होंने अच्युत प्रेक्षाचार्य्य या श्रद्धानंद नामक एक महात्मा से दीक्षा ली थी और दीक्षा लेते ही विरक्त हो गए थे। कहते हैं कि ये अपना गीता भाष्य तैयार करके बदरिकाश्रम गए थे और वहाँ इन्होंने उसे वासुदेव के अर्पण किया था। वासुदेव से इन्हें तीन शालिग्राम मिले थे जो इन्होंने तीन भिन्न भिन्न मठों में स्थापित किए थे। इन्होंने बहुत से ग्रंथ रचे और अनेक भाष्य लिखे थे। इनके सिद्धांत के अनुसार सब से पहले केवल नारायण थे; और उन्हीं से समस्त जगत् तथा देवताओं की उत्पत्ति हुई। ये जीव और ईश्वर दोनों की पृथक् पृथक् सत्ता मानते थे। इनके दर्शन का नाम पूर्णप्रज्ञ दर्शन है और इनके अनुयायी मध्वाचारी या माध्व कहलाते हैं।

मध्वाधार-संज्ञा पुं० [सं०] मधुमक्खी का छत्ता।

मध्वालु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के पौधे की जड़ जो खाई जाती है। यह स्वाद में मीठी होती है। वैद्यक में इसे भारी, शीतल, रक्त-पित्त-नाशक और वीर्य्य वर्द्धक माना है।

मध्वावास-संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

मध्वासव-संज्ञा पुं० [सं०] महुए की शराब। माध्वीक।

मध्वासवनिक-संज्ञा पुं० [सं०] शराब बनाकर बेचनेवाला। कलाल। कलवार।

मध्विजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मदिरा। मद्य। शराब।

मध्वृच-संज्ञा स्त्री० [सं०] वेद की एक ऋचा।

मनः-संज्ञा पुं० [सं० मनस्] मन।

मनःक्षेप-संज्ञा पुं० [सं०] मन का उद्वेग।

मनःपति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मनःपर्य्याप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] मन से संकल्प विकल्प वा बोध प्राप्ति करने की शक्ति।

मनःपर्य्याय-संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार वह ज्ञान जिसमें चिंतित अर्थ का साक्षात् होता है। यह ज्ञान ईर्ष्या और

अंतराय नामक ज्ञानावरणों के दूर होने पर निर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति के पूर्व की अवस्था में प्राप्त होता है। इसमें जीवों को मन रूपी द्रव्य के पर्य्यायों का साक्षात् ज्ञान होता है।

मनःप्रसाद–संज्ञा पुं० [सं०] मन की प्रसन्नता।

मनःप्रीति–संज्ञा स्त्री० [सं०] मन की प्रसन्नता।

मनःशास्त्र–संज्ञा पु० [सं०] वह शास्त्र जिसमें मन और मनोविकारों का वर्णन हो। मनोविज्ञान।

मनःशिल–संज्ञा पुं० [सं०] मैनसिल।

मनःशिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल।

मन–संज्ञा पुं० [सं० मनस्] (१) प्राणियों में वह शक्ति वा कारण जिससे उनमें वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि होते हैं। अंतःकरण। चित्त।

विशेष—वैशेषिक दर्शन में मन एक अप्रत्यक्ष द्रव्य माना गया है। संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार इसके गुण बतलाए गए हैं और इसे अणु रूप माना गया है। इसका धर्म संकल्प-विकल्प करना बतलाया गया है तथा इसे उभयात्मक लिखा है; अर्थात् उसमें ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय दोनों के धर्म हैं। योगशास्त्र में इसे चित्त कहा है। बौद्ध आदि इसे छठी इंद्रिय मानते हैं। वि० दे० "चित्त"।

(२) अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक जिससे संकल्प-विकल्प होता है।

मुहा०—किसी से मन अटकना वा उलझना=प्रीति होना। प्रेम होना। **मन आना वा मन में आना**=समझ पड़ना। जँचना। उ०—(क) मंगल मूरति कंचन पत्र की मैन रची मन आवत नीठि हैं।—दास। (ख) और दीन बहु रतन पखाना। सोन रूप जो मनहि न आना।—जायसी। **मन का खराब होना**=(१) मन फिरना। (२) नाराज होना। अप्रसन्न होना। (३) रोगी होना। बीमार होना। **मन टूटना**=साहस छूटना। हताश होना। उ०—फूटो निज कर्म नहिं लूटो सुख जानकी को टूटो न धनुष टूट गए मन सबके।—हनुमन्नाटक। **मन बिगड़ना**=(१) मन का हट जाना। मन का उदासीन हो जाना। (२) मतली आना। कै मालूम होना (३) उन्मत्त होना। पागल होना। **मन बढ़ना**=साहस बढ़ना। उत्साह बढ़ना। प्रोत्साहित होना। उ०—(क) सुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम। मन बढ़ि रहल लजाय हो रमैया राम।—कबीर। (ख) आपस के नित के वैर से शत्रुओं का मन बढ़ा।—शिवप्रसाद। **किसी का मन बूझना†**=किसी के मन की थाह लेना। उ०—तुम्हारा मन बूझने के लिये ही मैंने यह बातें कहीं।—हरिऔध। **मन का बूझना वा मानना**=मन में शांति होना। मन में धैर्य आना। **मन मानना**=मन में शांति होना। संतोष होना। जैसे,—हमारा मन नहीं मानता; हम उन्हें देखने अवश्य जायँगे। **मन का मारा**=खिन्न हृदय। दुखी चित्तवाला। **मन का मैला**=मन का खोटा। कपटी। घाती। **मन हरा होना**=मन प्रसन्न होना। चित्त प्रसन्न रहना। **मन की मन में रहना**=इच्छा पूरी न होना। जैसे,—मन की मन में ही रह गई; और वे चले गए। **मन के लड्डू खाना**=ऐसी बात को सोचकर प्रसन्न होना, जिसका होना असंभव वा दुःसाध्य हो। व्यर्थ की आशा पर प्रसन्न होना। उ०—विरह से पागल प्रेमी लोग मन के लड्डू से भूख बुझा लेते हैं।—हरिश्चंद्र। **मन खोलना**=दुराव छोड़ना। निष्कपट होना। शुद्ध-हृदय होना। **मन चलना**=इच्छा होना। प्रवृत्ति होना। जैसे,—बीमारी में किसी चीज़ पर मन नहीं चलता। **किसी का मन टटोलना वा मन को टटोलना**=किसी के मन की थाह लेना। किसी की इच्छा को जानना। जैसे,—आओ, कुछ आमोद प्रमोद की बातें करके उसका मन टटोलें। **मन डोलना**=(१) मन का चलायमान होना। मन का चंचल होना। (२) लालच उत्पन्न होना। लोभ आना। **मन डोलाना**=(१) मन में चंचलता उत्पन्न करना। मन चलायमान करना। उ०—भोजन करत गयो कर रुकमिनि सोई देहु जो मन न डोलावै। सूरदास प्रभु जब निधिदाता जापर कृपा सोई जन पावै।—सूर। (२) लालच उत्पन्न करना। लोभ दिलाना। **अपना मन डोलना**=लालच करना। **मन देना**=(१) जी लगाना। मन लगाना। उ०—(क) एक बार जो मन देइ सेवा। सेवहि फल प्रसन्न होइ देवा।—जायसी। (ख) रघुपति पुरी जनमु तव भयऊ। पुनि तैं मन सेवा मम दयऊ।—तुलसी। (२) ध्यान देना। **किसी को मन देना**=किसी पर आसक्त होना। मोहित होना। **किसी पर मन धरना**=ध्यान देना। मन लगाना। उ०—(क) त्रास भयो अपराध आप लखि स्तुति करत खरे। सूरदास स्वामी मनमोहन तामें मन न धरे।—सूर (ख) जोई भक्ति भाजन मन धरे। सोई हरि सों मिलि अनुसरे।—लल्लू। **मन तोड़ना वा हारना**=भग्नोत्साह होना। साहस छोड़ना। उ०—अंग बिनु है सबै नहीं एको फबै सुनत देखत जबै कहन लोरे। कहँ रसना सुनत श्रवन देखत नयन सूर सब भेद गुनि मनहि तोरे।—सूर। **किसी से मन फट जाना या फिर जाना**=घृणा होना। नफ़रत होना। **मन फिराना**=दे० "मन फेरना"। **मनफेरना**=चित्त को हटाना। मन को किसी ओर से अलग करना। प्रवृत्ति बदलना। उ०—फिरि फिरि फेरि फेरि फेर्यो मैं हरी को मन फेरै फिरी पुनि पुनि भाग की भली घरी।—केशव। **मन बढ़ाना**=साहस दिलाना। उत्साह बढ़ाना। प्रोत्साहित करना।

उ०—दियो शिरपाव नृपराउ ने महर को आप पहरावनो सब दिखाए। अतिहि सुख पाइ के लियौ सिर नाइ के हरषि नँदराइ के मन बढ़ाए।—सूर। मन में बसना=मन में खुभना। पसंद आना। अच्छा लगना। रुचना। भाना। जैसे,—उनकी सूरत तो मेरे मन में बस गई है। उ०—गुर के भेला जिव डरे काया छीजनहार। कुमति कमाई मन बसै लागु जुवा की लार।—कबीर। मन बहलाना=खिन्न वा दुःखी चित्त को किसी काम में लगाकर आनंदित करना। दुःख छोड़कर आनंद में समय काटना। चित्त प्रसन्न करना। जी बहलाना। उ०—ना कियान अब समाचार तहँ आप सुने हैं। ना नाऊ की बातें सब को मन बहलैहैं।—श्रीधर पाठक। मन भरना=प्रतीति होना। निश्चय या विश्वास होना। (२) संतोष होना। तुष्टि होना। तृप्ति होना। उ०—यह बीसों फूलों पर गया, पर इसका मन न भरा।—अयोध्या। मन भर जाना=(१) अघा जाना। तृप्ति होना। (२) अधिक प्रवृत्ति न रह जाना। मन भाना=भला लगना। पसंद होना। रुचना। उ०—(क) बामिन को बामदेव कामिनि को कामदेव रण जयथंभ रामदेव मन ये जू।—केशव। (ख) भाँति अनेक बिहंगम सुंदर फूलैं फलैं तरु ते मन भावैं।—प्रताप। (ग) हरिहर ब्रह्मा के मन भाई। बिबि अक्षर लै युगुति बनाई।—कबीर। (घ) कहेहु नीक मोरेहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा।—तुलसी। मन भारी करना=दुःखी होना। उदास होना। मन मानना=(१) संतोष होना। तसल्ली होना। उ०—(क) मधुकर कहि कैसे मन मानै। जिनके एक अनन्य व्रत सूझै क्यों दूजो उर आनै।—सूर। (ख) राजा भा निश्चै मन माना। बाँधा रतन छोड़ि कै आना।—जायसी। (२) निश्चय होना। प्रतीति होना। उ०—(क) कै बिनु सपथ न अस मन माना। सपथ बोलु बाचा परमाना।—जायसी। (३) अच्छा लगना। रुचना। पसंद आना। भाना। उ०—सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।—तुलसी। (४) स्नेह होना। अनुराग होना। उ०—सर्वारी श्याम सों मन मान्यो। नीके करि चित कमल नैन सों घालि एक ठों सान्यो।—सूर। किसी से मन मिलना=(१) प्रेम होना। अनुराग होना। (२) मित्रता होना। दोस्ती होना। मन में आना=(१) मन में किसी भाव का उत्पन्न होना। उ०—तासों उन कटु बचन सुनाये। पै ताके मन कछु न आये—सूर। (२) समझ पड़ना। ध्यान में आना। उ०—यह तनु क्यों ही दियौ न जावै। और देत कछु मन नहिं आवै।—सूर। (३) अच्छा जान पड़ना। भला लगना। मन में आनना=दे० "मन में लाना"। मन में जमना वा बैठना=(१) ठीक जँचना। उचित वा युक्तियुक्त प्रतीत होना। (२) विचार में आना। ध्यान में आना। मन में ठानना=निश्चय करना। दृढ़ संकल्प करना। मन में धरना=दे० "मन में रखना"। मन में भरना=हृदयंगम करना। मन में जमाना। मन में रखना=(१) गुप्त रखना। प्रकट न करना। जैसे,—अभी यह बात मन ही में रखना; किसी से कहना मत। (२) स्मरण रखना। जैसे,—हमारी सब बातें मन में रखना, भूल न जाना। मन में लाना=विचार करना। सोचना। ध्यान देना। उ०—कहै पदमाकर झकोर झिल्ली शोरन को मोरन को महत न कोऊ मन ल्यावतो।—पद्माकर। मन मोहना वा मन को मोहना=किसी के मन को अपनी ओर आकृष्ट करना। लुभाना। अनुरक्त करना। उ०—जग जदपि दिगंबर पुष्पवती नर निरखि निरखि मन मोहैं।—केशव। मन मिलना=दो मनुष्यों की प्रकृति या प्रवृत्तियों का अनुकूल अथवा एक समान होना। जैसे,—मन मिले का मेला। नहीं तो सबसे भला अकेला। मन मारना=(१) खिन्न चित्त होना। उदास होना। उ०—(क) भूसुत शत्रु थान किन हेरत लखत मोहिं मन मारैं। मुनि रिपु पुत्र-बधू किन बैरिन मोकों देत सवारैं।—सूर। (ख) मौन गहौं मन मारे रहौं निज पीतम की कहौं कौन कहानी।—प्रताप। (२) इच्छा को दबाना। मन को वश में करना। उ०—मन नहिं मार मना करी सका न पाँच प्रहारि। सील साँच सरधा नहीं अजहूँ इंद्रि उघारि।—कबीर। मन मारे हुए वा मन मारे=दुःखी। उदास। खिन्न चित्त। उ०—(क) कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे।—तुलसी। (ख) प्रिया वियोग फिरत मारे मन परे सिंधु तट आनि। ता सुंदरि हित मोहिं पठायो सकौं न हौं पहिचानि।—सूर। (ग) भवन ही मन मारि बैठी सहज सखी इक आई। देखि तनु अति विरह व्याकुल कहति बचन बनाई।—सूर। (घ) उर धरि धीरज गयउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मन मारे।—तुलसी। मन मैला करना=मन में खिन्न होना। अप्रसन्न या असंतुष्ट होना। उ०—माइ मिले मन का करिहौ मुँह ही के मिले ते किये मन मैले।—केशव। किसी से मन मोटा होना=किसी से अनबन होना। किसी का मन मोटा होना=विराग होना। उदासीन होना। मन मोड़ना=प्रवृत्ति या विचार को दूसरी ओर लगाना। उ०—विधाता ने हमारा तुम्हारा वियोग कर दिया; मुझे अब मन मोड़ लेना पड़ा।—तोताराम। किसी का मन रखना=किसी की इच्छा पूर्ण करना। किसी के मन में आई हुई बात पूरी करना। उ०—यहाँ के राजाओं से सारे बादशाह दबते थे और इनका वे लोग सब तरह मन रखते थे।

मन लगाना=(१) जी लगना। तबीयत लगना। (२) चित्त विनोद होना। उ०—बिरहागि है दुगुनी जगै। मन बाग देखत ना लगै।—गुमान। **मन लगाना**=(१) चित्त लगाना। मनोयोग देना। (२) चित्त विनोद करना। मन की उदासी मिटाना। (३) प्रेम करना। अनुराग करना। **मन लाना***=(१) मन लगाना। जी लगाना। उ०—(क) गगन मँडल माँ भा उजियारा उलटा फेर लगाया। कहै कबीर जन भये विवेकी जिन यंत्री मन लाया।—कबीर। (ख) छमिहहिं सज्जन मोर ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।—तुलसी। (ग) किये जो परम तत्व मन लावा। घूमि मात सुनि और न भावा।—जायसी। (१) प्रेम करना। आसक्त होना। उ०—पवन साँस तोसों मन लाई। जोवै मारग दृष्टि बिछाई।—जायसी। **मन मे उतरना**=(१) मन मे आदर-भाव न रह जाना। तिरस्कृत होना। घृणित ठहरना। (२) याद न रहना। विस्मृत होना। **मन से उतारना**=(१) मन में पहले का सा आदर भाव न रखना। तिरस्कार करना। घृणा करना। (२) चित्त से उतारना। विस्मृत करना। भुलाना। **मन हरना**=मुग्ध करना। मोहित करना। मोह लेना। अपने ऊपर अनुरक्त करना। उ०—(क) चेटक लाइ हरहिं मन जब लगि हो गरि फेंट। साठ नाट उठि भागहिं ना पहिचान न भेंट।—जायसी। (ख) वह देखो युवति वृंद में ठाढ़ी नील बसन तनु गोरी। सूरदास मेरो मन वाकी चितवन देखि हरेउ री।—सूर। (ग) कानन लसत बिजुरिया मन हरि लीन। तिन पर परै बिजुरिया जिन रचि दीन।—रहीम। (घ) स्वप्न रूप भाषण सुधि करि करि। गयो दुहुन के यहि विधि मन हरि।—शं० दि०। **किसी का मन हाथ में लेना वा करना**=वशीभूत करना। अपने वश मे करना। **मन ही मन**=हृदय मे। चुपचाप। बिना कुछ कहे हुए। भीतर ही भीतर। उ०—(क) ललिता मुख चितवत मुसुकाने। आप हँसी पिय मुख अवलोकत दुहुनि मनहिं मन जाने।—सूर। (ख) प्रथम केलि तिय कलह की, कथा न कछु कहि जाय। अतनु ताप तनुही सहै, मन ही मन अकुलाय।—पद्माकर।

(३) इच्छा। इरादा। विचार।

मुहा०—**मन करना**=इच्छा करना। चाहना। उ०—मन न मनावन को करै देत रुठाय रुठाय। कौतुक लाग्यो पिय प्रिया खिजहु रिझावति जाय।—बिहारी। **मनमाना**=अपने मन के अनुसार। यथेच्छ। **मन होना**=इच्छा होना। उ०—उमगत अनुराग सभा के सराहे भाग देखि दसा जनक की कहिबे को मनु भयो—तुलसी।

*संज्ञा पुं० [सं० मणि] (१) मणि। बहुमूल्य पत्थर। (२) चालिस सेर का एक मान या तौल।

मनई‡—संज्ञा पुं० [सं० मानव] मनुष्य। आदमी। उ०—बरसे नीर झराझर मनई उबर न पाये।—गि० दा०।

मनकना—क्रि० अ० [अनु०] (१) हिलना डोलना। चेष्टा करना। हाथ पैर चलाना। उ०—आए दरबार बिललाने छरीदार देखि जापता करनहारे नेकहु न मन के।—भूषण। (२) तर्क वितर्क करना। चीं चपड़ करना।

मनकरा*—वि० [हिं० मणि+कर (प्रत्य०)] चमकदार। प्रकाशमान। उ०—दुहुज ललाट अधिक मनकरा। शंकर देखि माथ भुइँ धरा।—जायसी।

मनका—संज्ञा पुं० [सं० मणिक वा मणिका] (१) पत्थर, लकड़ी आदि का बेधा हुआ गोल खंड वा दाना जिसे पिरोकर माला या सुमिरनी आदि बनाई जाती है। गुरिया। उ०—माला फेरत जग मुआ गया न मन का फेर। कर का मनका छाँड़ि के मन का मनका फेर।—कबीर। (२) माला या सुमिरनी। (क्व०)

संज्ञा पुं० [सं० मन्यका=गले की नस] गरदन के पीछे की हड्डी जो रीढ़ के बिलकुल ऊपर होती है।

मुहा०—**मनका ढलना या ढलकना**=मरने के समय गरदन टेढ़ी हो जाना। मृत्यु के समय गरदन का एक ओर झुक जाना। (यह अवस्था ठीक मरने के समय होती है; और इसके उपरान्त मनुष्य नहीं बचता।)

मनकामना—संज्ञा स्त्री० [हिं० मन+कामना] मनोरथ। अभिलाषा। इच्छा। उ०—सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजहि मनकामना तुम्हारी।—तुलसी।

मनकूला—वि० स्त्री० [अ०] स्थिर या स्थावर का उलटा। चर। यौ०—जायदाद मनकूला=चर संपत्ति। गैर मनकूला=स्थिर। स्थायी। स्थावर।

मनकूहा—वि० स्त्री० [अ०] जिसके साथ निकाह हुआ हो। विवाहिता। पाणिगृहीता। जैसे, मनकूहा औरत।

मनगढ़ंत—वि० [हिं० मन+गढ़ना] जिसकी वास्तविक सत्ता न हो, केवल कल्पना कर ली गई हो। कपोलकल्पित। जैसे,—आपकी सब बातें मनगढ़ंत ही हुआ करती हैं।

संज्ञा स्त्री० कोरी कल्पना। कपोल-कल्पना। जैसे,—यह सब आपकी मनगढ़ंत है।

मनचला—वि [हिं० मन+चलना] (१) धीर। निडर। जैसे, मनचला सिपाही। (२) साहसी। हिम्मतवाला। (३) रसिक।

मनचाहता—वि०[हिं० मन+चाहना] [स्त्री० मनचाहती] (१) जिसे मन चाहे। प्रिय। (२) मन के अनुकूल। यथेच्छ।

मनचाहा—वि० [हिं० मन+चाहना] [स्त्री० मनचाही] इच्छित। अभिलषित।

मनचीता—वि० [हिं० मन+चेतना] [स्त्री० मनचीती] मनचाहा। मनभाया। मन में सोचा हुआ। उ०—(क) घर दर

बिसरेउ बढ़ेउ उछाह। मनचीते हरि पायो नाह।—सूर। (ख) मेरे मन को दुख परिहरौ। मनचीतो कारज सब करौ।—लल्लू। (ग) पूरो जदपि भयो नहीं मनचीत्यो रति नाहँ।—लक्ष्मणसिंह।

मनजात—संज्ञा पुं० [हिं० मन+सं० जात] कामदेव। उ०—मनजात किरात निपात किए। मृग लोग कुभोग सरे न हिये।—तुलसी।

मनतोरवा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी।

मनन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विचार। चिंतन। सोचना। (२) भली भाँति अध्ययन करना। (३) वेदांत शास्त्रानुसार सुने हुए वाक्यों पर बार बार विचार करना और प्रश्नोत्तर वा शंका समाधान द्वारा उसका निश्चय करना।

मननशील—वि० [सं० मनन+ शील] जो किसी विषय पर बहुत अच्छी तरह विचार करता हो। विचारशील। विचारवान्।

मननाना—क्रि० अ० [मन् मन् से अनु०] गुंजारना। गूँजना। उ०—मननात भौंर भूषण अमोल झननात झबा झूलनि सरसे।—गुमान।

मनवांछित—वि० दे० "मनोवांछित"। उ०—जागी महरि पुत्र मुख देखेउ आनँद तूर बजाई। कंचन कलस हेम द्विज पूजा चंदन भवन लिपाई। दिन दसहीं ते बरसे कुसुमनि फूलनि गोकुल छाई। नंद कहै इच्छा सब पूजी मनवांछित फल पाई।—सूर।

मनभाया—वि० [हिं० मन+भाना] [स्त्री० मनभाई] जो मन को भावे। जो अच्छा लगे। मनोनुकूल। उ०—(क) सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि कियो कान्ह ग्वालिनि मन भायो।—सूर। (ख) ख्याल मन भाय कहूँ करिके गोपाल घरै आये अति आलस मढ़ेई बड़े तरके।—पद्माकर। (ग) करत सुहाय सुहाय मनभाय वर पाय सबै करि चतुराई अधिकाय अधिकात है।—प्रताप। (घ) आतुर ह्वै पिय केलि करी सुभरी निज अंक करी मन भाई।

मनभावता—वि० [हिं० मन+भाना] [स्त्री० मनभावती] (१) जो मन को भला लगता हो। (२) प्रिय। प्यारा उ०—रूपवंत जस दरपन धन तू जाकर कंत। चाही जैस मनोहर मिला सो मनभावंत।—जायसी। (ख) कहि पठई मनभावती पिय आवन की बात। फूली आँगन में फिरै आँगन अंग समात।—बिहारी। (ग) मोहिं तुम्हें न उन्हें न इन्हें, मनभावती सो न मनावन ऐहै।—पद्माकर।

मनभावन—वि० [हिं० मन+भाना] (१) मन को अच्छा लगनेवाला। उ०—चरण धोइ चरणोदक लीनो माँगि देउँ मनभावन। तीन पैड़ वसुधा हौं चाहौं परणकुटी को छावन।—सूर। (२) प्रिय। प्यारा। उ०—(क) भले सुदिन भये पूत अमर अजरावन रे। जुग जुग जीवहु कान्ह सबही मनभावन रे।—सूर। (ख) केशोदास सुंदर भवन ब्रजसुंदरी के मानो मनभावने के भावते भवन हैं।—केशव। (ग) शंख भेरि निशान बाजहिं नचहिं शुद्ध सुहावनी। भाट बोलें विरद नारी बचन कहैं मनभावनी।—सूर।

मनमत*†—वि० दे० "मैमंत"।

मनमति—वि० [हिं० मन+मति] अपने मन का काम करनेवाला। स्वेच्छाचारी। उ०—भाई, ये मनमति होना अच्छा नहीं; किसी की बात भी मान लेनी चाहिये।—श्रद्धाराम।

मनमथ—संज्ञा पुं० दे० "मन्मथ"।

मनमानता—वि० [हिं० मन+मानना] मनमाना। मनचाहा। मनोवांछित। उ०—सब ग्वालों ने प्रसन्न हो निधड़क फूल तोड़ मनमानती झोलियाँ भर लीं।—लल्लू।

मनमाना—वि० [हिं० मन मानना] [स्त्री० मनमानी] (१) जिसे मन चाहे। जो मन को अच्छा लगे। उ०—तुलसी विदेह की सनेह की दसा सुमिरि, मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं।—तुलसी। (२) मन के अनुकूल। मनोनीत। पसंद। उ०—पालने आन्यो, सबहि अति मन मान्यो, नीको सो दिन धराइ, सखिन मंगल गवाइ, रंगमहल में पौढ़्यौ है कन्हैया।—सूर (३)। यथेच्छ। इच्छानुकूल। मनचाहा। जैसे,—आप किसी की बात तो मानते ही नहीं। हमेशा मनमाना करते हैं।

मनमुखी†—वि० [हिं० मन+मुख्य] मनमाना काम करनेवाला। स्वेच्छाचारी। उ०—गुरु द्रोही औ मनमुखी नारी पुरुष विचार। ते नर चौरासी भ्रमहिं जब लगि शशि दिन कार।—कबीर।

मनमुटाव—संज्ञा स्त्री० [हिं० मन+मोटा] मन में भेद पड़ना। मन मोटा होना। वैमनस्य होना।

क्रि० प्र०—पड़ना।—होना।

मनमोदक—संज्ञा पुं० [हिं० मन+मोदक] अपनी प्रसन्नता के लिये बनाई हुई असंभव या कल्पित बात। मन का लड्डू। उ०—वृथा मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख बुताई।—तुलसी।

मनमोहन—वि० [हिं० मन+मोहन] [स्त्री० मनमोहनी] (१) मन को मोहनेवाला। मन को लुभानेवाला। चित्ताकर्षक। मुग्ध कारक। उ०—रूप जगत मनमोहन जेहि पद्मावति नाउँ। कोटि दरब तुहि देहौं आनि करेसि इक ठाउँ।—जायसी। (२) प्रिय। प्यारा।

संज्ञा पुं० (१) श्रीकृष्णचंद्र का एक नाम। उ०—मनमोहन खेलत चौगान। द्वारावती कोट कंचन में रच्यो रुचिर मैदान।—सूर। (२) एक मात्रिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएँ होती हैं, जिनमें से अंतिम तीन मात्राओं का लघु होना आवश्यक है। उ०—सुमहि

निहोरे खुले करम । तुमही भजे पावही धरम । (३) एक प्रकार का सदाबहार वृक्ष जो बरमा, जावा आदि देशों में होता है। यह सीधा और ऊँचा होता है। इसकी लकड़ी साफ़ होती है और इस पर रंग खूब खिलता है। इसके फूल बहुत सुगंधित होते हैं जिनसे इत्तर निकाला जाता है। इस इतर को इलंग कहते हैं और यूरोप में इसकी बहुत खपत होती है। इसे अब लोग बंगाल में भी बागों में लगाते हैं। यह बीजों से उगता है।

मनमौजी-वि० [हिं० मन+मौज] मन की मौज के अनुसार काम करनेवाला। मनमाना काम करनेवाला।

मनरंज*-वि० [हिं० मन+रंजना] मनोरंजन करनेवाला। मनोरंजक। उ०—तुमसों कीजै मान क्यों बहु नाहक मन रंज। बात कहत यों बाल कै भरि आये दृग कंज।—मतिराम।

मनरंजन-वि० [हिं० मन+रंजना] मनोरंजन करनेवाला। मन को प्रसन्न करनेवाला। मनोरंजक। उ०—(क) भृंगी री भज चरण कमल पद जहँ नहिं निशि को त्रास। जहँ बिधु भानु समान प्रभा नख सो वारिज सुख-रास। जिहिं किंजल्क भक्ति नव लक्षण काम ज्ञान रस एक। निगम सनक शुक नारद शारद मुनि जनभृंग अनेक। शिव विरंचि खंजन मनरंजन छिन छिन करत प्रवेश। अखिल कोश तहँ बसत सुकृत जन परगट श्याम दिनेश। सुनि मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव वर की आस। सूरज प्रेम सिंधु में प्रफुलित तहँ चलि करे निवास।—सूर। (ख) थिरकत सहज सुभाव सौं चलत चपल गत सैन। मनरंजन रिझवार के खंजन तेरे नैन।—रसनिधि।

संज्ञा पुं० दे० "मनोरंजन"।

मन लाडू*-संज्ञा पुं० दे० "मनमोदक"। उ०—धर्म अर्थ कामना सुनावत सब सुख मुक्ति समेत। काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।—सूर।

मनवाँ-संज्ञा पुं० [देश०] नरमा। देव कपास। रामकपास।

मनवाना-क्रि० स० [हिं० मानना का प्रेर०] मानने का प्रेरणार्थक रूप। मानने के लिये प्रेरणा करना। किसी को मानने में प्रवृत्त करना। उ०—भावत ही की सखी सों भटू मम भावते भावती को मनवायो।—रघुनाथ।

क्रि० स० [हिं० मनाना] मनाने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को मनाने में प्रवृत्त करना।

मनशा-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) इच्छा। विचार। इरादा। (२) तात्पर्य्य। मतलब। अर्थ।

मनसना*-क्रि० स० [हिं० मानस, सं० मनस्यन्] (१) इच्छा करना। विचार करना। इरादा करना। उ०—(क) भँवर जो मनसा मान सर लीन्ह कमल रस आय। घुन हियाव न कै सका झूर काठ तस खाय।—जायसी। (ख) पवन बाँध अपसरहिं अकासा। मनसहि जहाँ जाहिं तहँ बासा।—जायसी (ग) याही ते शूल रही शिशुपालहि। सुमिरि पछतातिं सदा वह मान भंग के कालहि। दुलहिनि कहति दौरि दीजहु द्विज पाती नँद के लालहि। वर सुबरात बुलाइ बड़े हित मनसि मनोहर बालहि।—सूर। (२) संकल्प करना। दृढ़ निश्चय या विचार करना। उ०—जोई चाहै सोई लेइ मने नहिं कीजै यह शिव के चढ़ाइबे को मनस्यो कमल है।—रघुनाथ। (३) हाथ में जल लेकर संकल्प का मंत्र पढ़कर कोई चीज़ दान करना।

मनसब-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पद। स्थान। उ०—पक्का मतो करि मलिच्छ मनसब छोड़ि मक्का के मिसि उतरत दरियाव हैं।—भूषण।

यौ०—मनसबदार।

(२) कर्म। काम। (३) अधिकार। (४) वृत्ति।

मनसबदार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो किसी मनसब पर हो। उच्चपदस्थ पुरुष। ओहदेदार। उ०—मंसन की कहा है मतंगनि के माँगिबे को मनसबदारनि के मन ललकत हैं।—मतिराम।

मनसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक देवी का नाम। पुराणानुसार यह जरत्कारु मुनि की पत्नी और आस्तीक की माता थी तथा कश्यप की पुत्री और वासुकी की बहिन थी।

संज्ञा स्त्री० [सं० मानस वा अ० मनशा] (१) कामना। इच्छा। उ०—(क) तन सराय मन पाहरू मनसा उतरी आय। कोउ काहू को है नहीं सब देखे ठोंक बजाय।—कबीर। (ख) छिन न रहै नँदलाल इहाँ बिनु जो कोउ कोटि सिखावै। सूरदास ज्यों मन ते मनसा अनत कहूँ नहिं जावै।—सूर। (२) संकल्प। अध्यवसाय। इरादा। उ०—(क) देव नदी कहँ जोजन जानि किए मनसा कुल कोटि उधारे।—तुलसी। (ख) मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विश्व विजय कहँ कीन्ही।—तुलसी। (३) अभिलाषा। मनोरथ। उ०—(क) मनसा को दाता कहै श्रुति प्रभु प्रवीन को।—तुलसी। (ख) कहा कमी जाको राम धनी। मनसा नाथ मनोरथ पूरण सुख-निधान जाको मौज घनी।—सूर। (४) मन। उ०—(क) विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के।—तुलसी। (५) बुद्धि। उ०—युगल कमल सों मिलत कमल युग युगल कमल ले संग। पाँच कमल मधि युगल कमल लखि मनसा भई अपंग।—सूर। (६) अभिप्राय। तात्पर्य्य। प्रयोजन। उ०—प्रभु मनसहिं लवलीन मनु चलत बाजि छबि पाव। भूषित उड़गन तड़ित घन जनु वर बरहिं नचाव।—तुलसी।

वि० (१) मन से उत्पन्न। (२) मन का। उ०—धर्म

विचारत मन में होई। मनसा पार न लागत कोई।—सूर।

क्रि० वि० मन से। मन के द्वारा। उ०—मनसा वाचा कर्मणा हम सों छाँड़हु नेहु। राजा को विपदा परी तुम तिनकी सुधि लेहु।—केशव।

संज्ञा पुं० दे० "मसी"।

मनसाना–क्रि० अ० [हिं० मनसा] उमंग में आना। तरंग में आना

क्रि० स० [हिं० मनसना का प्रेर०] मनसने का काम दूसरे से कराना। संकल्प का मंत्र आदि पढ़कर या पढ़ाकर दूसरे से दान आदि कराना।

मनसा पंचमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] आषाढ़ की कृष्णा पंचमी। इस दिन मनसा देवी का उत्सव होता है।

मनसायन†–वि० [हिं० मानुस=मनुष्य+आयन (प्रत्य०)] (१) वह स्थान जहाँ मन-बहलाव के लिये कुछ लोग हों।

मुहा०—मनसायन करना या रखना=बात चीत आदि के द्वारा इस प्रकार किसी का मन बहलाना जिसमें उसे अकेले होने का कष्ट न जान पड़े।

(२) मनोरम स्थान। गुलज़ार।

मनसिज–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मनसूख–वि० [अ०] (१) जो अप्रामाणिक ठहरा दिया गया हो। अतिवर्तित। जैसे, डिगरी मनसूख कराना। (२) परित्यक्त। त्यागा हुआ। जैसे,—हमने वहाँ जाने का इरादा मनसूख कर दिया।

मनसूखी–संज्ञा स्त्री० [अ०] मनसूख होने का भाव या क्रिया।

मनसूबा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) युक्ति। आयोजन। ढंग। उ०—(क) अब कीजै कैसा मनसूबा। हैं हैरान सीगरे सूबा।—लाल। (ख) लंक की विशालता लै उरज उतंग भये रंग कवि दूलह है तेरे मनसूबे को।—दूलह।

क्रि० प्र०—करना।—ठानना।—होना।

मुहा०—मनसूबा बाँधना=युक्ति निकालना। ढंग सोचना। उ०—उसने पक्का मनसूबा बाँधा था कि यदि लड़ाई हो तो आप धनुष बान लेके हाथी पर फ़ौज के साथ जावे।—शिवप्रसाद।

(२) इरादा। विचार। उ०—शकटार अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किये।—हरिश्चंद्र।

मनसूर–संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रसिद्ध मुसलमान साधु जो सूफी मत का आचार्य्य माना जाता है। यह नवीं शताब्दी में बैजानगर में हुसेन हलाज के घर उत्पन्न हुआ था। यह "अनलहक" अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" कहा करता था। बग़दाद के खलीफ़ा मकतदिर ने इसे इस्लाम धर्म का विरोधी समझकर सन् ९१९ ईस्वी में सूली पर चढ़ा दिया और इसके शव को भस्म करा दिया था।

मनसेधू‡–संज्ञा पुं० [सं० मनुष्य] पुरुष। आदमी।

मनस्क–संज्ञा पुं० [सं०] मन का अल्पार्थक रूप। इसका प्रयोग समस्त पदों में देखा जाता है। जैसे, अन्य मनस्क।

मनस्कांत–वि० [सं०] (१) मनोनीत। मन के अनुकूल। (२) प्रिय। प्यारा।

संज्ञा पुं० मन की अभिलाषा। मनोरथ।

मनस्काम–संज्ञा पुं० [सं०] मन की अभिलाषा। मनोरथ।

मनस्ताप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनःपीड़ा। आंतरिक दुःख। (२) अनुताप। पश्चात्ताप। पछतावा।

मनस्ताल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हरताल। (२) दुर्गा देवी के सिंह का नाम।

मनस्तोका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गाजी का एक नाम।

मनस्विनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृकंडु ऋषि की पत्नी का नाम। (२) प्रजापति की एक स्त्री का नाम जिससे सोम की उत्पत्ति हुई थी।

मनस्वी–वि० [सं० मनस्विन्] [स्त्री० मनस्विनी] (१) श्रेष्ठ मन से संपन्न। बुद्धिमान्। उच्च विचारवाला। (२) मनमौजी। स्वेच्छाचारी।

संज्ञा पुं० शरभ।

मनहंस–संज्ञा पुं० [हिं० मन+हंस] पंद्रह अक्षरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, फिर दो जगण, फिर भगण और अंत में रगण होता है (स ज ज भ र) इसे मानसहंस भी कहते हैं उ०—विरहीन को पलखात हो यहि नाम सों। यहि ते पलाश प्रसिद्ध हो गति वाम सों। कछु फूल लागत लाल हैं तेहि हेतु सों। इमि देखि के पुहुमी पुरंदर चेत सों।

मनहर–वि० [हिं० मन+हरना वा सं० मनोहर] मन हरनेवाला। मनोहर।

संज्ञा पुं० घनाक्षरी छंद का एक नाम। दे० "घनाक्षरी"।

मनहरण–संज्ञा पुं० [हिं० मन+हरण] (१) मन हरने की क्रिया वा भाव। (२) पंद्रह अक्षरों का एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में पाँच सगण होते हैं। इसे नलिनी और भ्रमरावली भी कहते हैं। उ०—दुर्जन की हानि विरधापनोई करै पर गुण लोप होत इक मोतिन को हारही।

वि० मनोहर। सुंदर।

मनहरन*–संज्ञा पुं० दे० "मनहरण"।

वि० [स्त्री० मनहरनी] मन हरनेवाला। उ०—जदपि पुराने बक तऊ सरवर निपट कुचाल। नये भये तु कहा भये ये मनहरन मराल।—बिहारी।

मनहार–वि० दे० "मनोहारी"।

मनहारि–वि० दे० "मनोहारी"।

मनहुँ*–अव्य० [हिं० मानना या मानों] मानों। जैसे। यथा।

उ०—(क) चाहहु सुनइ राम गुन गूढ़ा । कीन्हहुँ प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा ।—तुलसी । (ख) पंडित अति सिगरी पुरी मनहुँ गिरा गति गूढ़ । सिंहिनि युत जनु चंडिका मोहत मूढ़ अमूढ़ ।—केशव ।

मनहूस–वि० [अ०] (१) अशुभ । बुरा । जैसे,—उँगलियाँ तोड़ना बहुत मनहूस है । (२) अप्रिय-दर्शन । जो देखने में बेरौनक़ जान पड़े । जैसे,—वाह, क्या मनहूस सूरत है ! (३) सुस्त । आलसी । निकम्मा ।

मना–वि० [अ०] (१) जिसके संबंध में निषेध हो । निषिद्ध । वर्जित । जैसे,—मनुजी के धर्मशास्त्र में पासा खेलना मना है । (२) जो कुछ करने से रोका गया हो । वारण किया हुआ ।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल विधेय रूप में होता है । जैसे,—"यह काम मना है" । यह नहीं कहते—"मना काम न करना चाहिए ।"

(३) अनुचित । नामुनासिब ।

मनाई–संज्ञा स्त्री० दे० "मनाही" ।

मनाक्–वि० [सं०] (१) अल्प । थोड़ा । मंद ।

मनाक, मनाग–वि० [सं० मनाक्] अल्प । थोड़ा । ज़रा सा । उ०—(क) टूटत पिनाक के मनाक वाम राम से ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलक में ।—तुलसी । (ख) दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु महाब्याल विकल बिलोकि जनु जरी है ।—तुलसी । (ग) अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाग मनहि नहिं पीरा ।—तुलसी ।

मनाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] हथिनी ।

मनादी–संज्ञा स्त्री० दे० "मुनादी" ।

मनाना–क्रि० स० [हिं० मानना का प्रे०] (१) दूसरे को मानने पर उद्यत करना । यह कहलवाना कि हाँ कोई बात ऐसी ही है । स्वीकार कराना । सकरवाना । (२) जो अप्रसन्न हो, उसे संतुष्ट या अनुकूल करना । रूठे हुए को प्रसन्न करना । राज़ी करना । जैसे,—वह रूठा था; हमने मना लिया । उ०—(क) सो सुकृति सुचि मंत सुसंत सुसील सयान सिरोमनि स्वै । सुर तीरथ ताहि मनावन आवत पावन होत है तात न छ्वै ।—तुलसी । (ख) मोहिं तुम्हें न उन्हें न इन्हें मनभावती सो न मनावन आइहै ।—पद्माकर । (३) अप्रसन्न को प्रसन्न करने के लिये अनुनय विनय करना । रूठे हुए को प्रसन्न करने के लिये मीठी मीठी बातें करना । मनुहार करना । उ०—(क) जैसे आव तैसे साधि सौंहनि मनाई लाई तुम इक मेरी बात एती बिसरैयो ना ।—पद्माकर । (ख) केतो मनावैं पाउँ परि केतो मनावैं रोइ । हिंदू पूजै देवता तुरुक न काहुक होइ ।—कबीर । (ग) लाज कियो जो पिय नहिं पाउँ । तजों लाज कर जोरि मनाउँ ।—जायसी । (४) देवता आदि से किसी काम के होने के लिये प्रार्थना करना । उ०—(क) यह कहि कहि देवता मनावति । भोग समग्री धरति उठावति ।—सूर । (ख) सुकृति सुमिरि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै । रघुबर कर धनुभंग चहत सब अपनो सो हित चित लाइ कै ।—तुलसी । (५) प्रार्थना करना । स्तुति करना । (क) तुम सब सिद्ध मनावहु होइ गणेश सिध लेहु । चेला को न चलावै मिलै गुरु जेहि भेउ ।—जायसी । (ख) ताके युग पद कमल मनाऊँ । जासु कृपा निरमल मति पाऊँ ।—तुलसी । (ग) करी प्रतिज्ञा कहेउ भीष्म मुख पुनि पुनि देव मनाऊँ । जो तुम्हरे कर शर न गहाऊँ गंगा-सुत न कहाऊँ ।—सूर ।

मनार–संज्ञा पुं० दे० "मीनार" ।

मनाल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का चकोर जो शिमले की ओर होता है । इसके सुंदर परों के लिये इसका शिकार किया जाता है ।

मनावन†–संज्ञा पुं० [हिं० मनाना] (१) मनाने की क्रिया । (२) रूठे हुए को प्रसन्न करने का काम । (३) मनाने का भाव ।

मनावी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मनु की स्त्री का नाम ।

मनाही–संज्ञा स्त्री० [हिं० मना] न करने की आज्ञा । रोक । अवरोध । निषेध । उ०—मुक़र्रर तादाद से ज़ियादा ज़मीन, गाय-बैल बकरी रखने की मनाही थी ।—शिवप्रसाद ।

मनि–संज्ञा स्त्री० दे० "मणि" ।

मनिका†–संज्ञा स्त्री० [सं० मणि] माला में पिरोया हुआ दाना । गुरिया । दाना । उ०—माला फेरत युग गया गया न मन का फेर । कर का मनिका छोड़िकै मन का मनिका फेर ।—कबीर ।

मनित–वि० [सं०] जात । उत्पन्न ।

मनिधर*–संज्ञा पुं० दे० "मणिधर" ।

मनिया–संज्ञा स्त्री० [सं० माणिक्य, हिं० मनिका] (१) गुरिया । मनिका । दाना जो माला में पिरोया हो । (२) कंठी । गुरिया । माला । उ०—हौं करि रही कंठ में मनियाँ निर्गुन कहा रसहि ते काज । सूरदास सरगुन मिलि मोहन रोम रोम सुख साज ।—सूर ।

मनियार†*–वि० [हिं० मणि+आर (प्रत्य०)] (१) देदीप्यमान । उज्वल । चमकीला । (२) दर्शनीय । शोभायुक्त । स्वच्छ । रौनक़दार । सुहावना । उ०—बन कुसुमित गिरगन मनियारा । स्रवहि सकल सरितामृत धारा ।—तुलसी ।

मनिहार–संज्ञा पुं० [हिं० मणिकार, प्रा० मनियार] [स्त्री० मनिहारिन] चूड़ी बनानेवाला । चुड़िहारा ।

मनी*–संज्ञा स्त्री० [हिं० मान=अभिमान] अहंकार । उ०—(क) हो ये भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम सरन परिहरि मनी । भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी ।—तुलसी । (ख) मति समान जाके मनी नैकि न आवत पास ।

रसनिधि भावक करत है ताहि मन में बास।—रसनिधि।

*संज्ञा स्त्री० (१) दे० "मणि"। (२) वीर्य्य।

मनी आर्डर–संज्ञा पुं० [अं०] रुपए की हुंडी जो किसी के रुपया चुकाने पर एक डाकखाने से दूसरे डाकखाने में इसलिये भेजी जाती है कि वह वहाँ के किसी मनुष्य को हुंडी में लिखी रकम चुका दे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया प्रायः लोग इसी प्रकार डाकखाने की मारफ़त भेजा करते हैं।

क्रि० प्र०—आना।—जाना।—भेजना।

मनीक–संज्ञा पुं० [सं०] आँजन।

मनीरा†–संज्ञा स्त्री० [देश०] मोरनी।

मनीषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बुद्धि। अक्ल। (२) स्तुति। प्रशंसा।

मनीषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धि। मनीषा।

मनीषित–वि० [सं०] मनोभिलषित। वांछित।

मनीषिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्धिमत्ता। बुद्धिमानी।

मनीषि–वि० [सं०] (१) पंडित। ज्ञानी। (२) बुद्धिमान्। मेधावी। अक्लमंद।

मनु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा के पुत्र जो मनुष्यों के मूल पुरुष माने जाते हैं।

विशेष—वेदों में मनु को यज्ञों का आदि प्रवर्तक लिखा है। ऋग्वेद में कण्व और अत्रि को यज्ञ-प्रवर्तन में मनु का सहायक लिखा है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि मनु एक बार जलाशय में हाथ धोते थे; उसी समय उनके हाथ में एक छोटी सी मछली आई। उसने मनु से अपनी रक्षा की प्रार्थना की और कहा कि आप मेरी रक्षा कीजिए; मैं आपकी भी रक्षा करूँगी। उसने मनु से एक आनेवाली बाढ़ की बात कही और उन्हें एक नाव बनाने के लिये कहा। मनु ने उस मछली की रक्षा की; पर वह मछली थोड़े ही दिनों में बहुत बड़ी हो गई। जब बाढ़ आई, तब मनु अपनी नाव पर बैठकर पानी पर चले और अपनी नाव उस मछली की आड़ में बाँध दी। मछली उत्तर को चली और हिमालय पर्वत की चोटी पर उनकी नाव उसने पहुँचा दी। वहाँ मनु ने अपनी नाव बाँध दी। उस बड़े ओघ से अकेले मनु ही बचे थे। उन्हीं से फिर मनुष्य जाति की वृद्धि हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के अपने पुत्रों में अपनी संपत्ति का विभाग करने का वर्णन मिलता है। उसमें यह भी लिखा है कि उन्होंने नाभानेदिष्ठ को अपनी संपत्ति का भागी नहीं बनाया था। निघंटु में 'मनु' शब्द का पाठ द्युस्थान देव-गणों में है और वाजसनेय संहिता में मनु को प्रजापति लिखा है। पुराणों और सूर्य्य सिद्धांत आदि ज्योतिष के ग्रंथों के अनुसार एक कल्प में चौदह मनुओं का अधिकार होता है और उनके अधिकार-काल को मन्वंतर कहते हैं। चौदह मनुओं के नाम ये हैं—(१) स्वायम्भुव। (२) स्वारोचिष। (३) उत्तम। (४) तामस। (५) रैवत। (६) चाक्षुष। (७) वैवस्वत। (८) सावर्णि। (९) दक्ष सावर्णि। (१०) ब्रह्म सावर्णि। (११) धर्म सावर्णि। (१२) रुद्र सावर्णि। (१३) देव सावर्णि और (१४) इंद्र सावर्णि। वर्तमान मन्वंतर वैवस्वत मनु का है। मनुस्मृति में मनु को विराट का पुत्र लिखा है और मनु से दस प्रजापतियों की उत्पत्ति लिखी है। (२) विष्णु। (३) अंतःकरण। मन। (४) जैनियों के अनुसार एक जिन का नाम। (५) कृष्णाश्व के एक पुत्र का नाम। (६) मंत्र। (७) वैवस्वत मनु। (८) अग्नि। (९) एक रुद्र का नाम। (१०) १४ की संख्या। (११) ब्रह्मा।

संज्ञा स्त्री० (१) मनु की स्त्री। मनावी। (२) वनमेथी का साग। पृक्का।

अव्य० [हिं० मानना] मानों। जैसे। उ०—(क) रतन जटित कंकण बाजू बँद नगन मुद्रिका सोहै। डार डार मनु मदन विटप तरु विकच देखि मन मोहै।—सूर। (ख) मोर मुकुट की चंद्रिकन यों राजत नँदनंद। मनु ससि सेखर की अकस किये सिखर सत चंद।—बिहारी।

मनुआँ‡*–संज्ञा पुं० [हिं० मन] मन। उ०—(क) मनुआँ चाह देख औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू।—जायसी। (ख) चंचल मनुआँ दहुँ दिसि धावत अचल जाहि ठहरानो। कहु नानक यहि विधि को जो नर मुक्ति ताहि तुम मानो।—तेगबहादुर।

संज्ञा पुं० [हिं० मानव] मनुष्य। उ०—खाय पकाय लुटाय ले ऐ मनुआँ मेजवान। लेना होय सो लेइ ले यही गोइ मैदान।—कबीर।

संज्ञा पुं० [देश०] देव कपास। नरमा। मनवाँ।

मनुग–संज्ञा पुं० [सं०] प्रियव्रत के पौत्र और द्युतिमान् के पुत्र का नाम।

मनुज–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मनुजा, मनुजी] मनुष्य। आदमी।

मनुजात–वि० [सं०] मनु से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० मनुष्य। आदमी।

मनुजाद–वि० [सं०] नर-भक्षक। मनुष्यों को खानेवाला।

संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

मनुजाधिप–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

मनुज्येष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तलवार। (२) लाठी।

मनुयुग–संज्ञा पुं० [सं०] मन्वंतर।

मनुश्रेष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मनुष–संज्ञा पुं० [सं० मनुष्य] (१) मनुष्य। आदमी। उ०—कह्यो तिन तुम्हैं हम मनुष जानत नहीं जगतपितु जगत हित देह धार्‍यो। करोगे काज जो कियो ना कोउ नृपति किए जस जाय हम दोष सारो।—सूर। (२) पति।

खाविंद। उ०—माष मोर मनुष है अति सुजान। धंधा कूटि कूटि करै बिहान—कबीर।

मनुषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री।

मनुष्य-संज्ञा पुं० [सं०] जरायुज जाति का एक स्तनपायी प्राणी जो अपने मस्तिष्क या बुद्धि बल की अधिकता के कारण सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। आदमी। नर।

विशेष—मनुष्य महाभूत कहा गया है। प्राचीन ग्रंथों में सृष्टि के आदि में प्रायः सब जीव जंतुओं की उत्पत्ति एक साथ बताई गई है। पर आधुनिक प्राणि-विज्ञान के अनुसार मूल अणुजीवों से क्रमशः उन्नति प्राप्त करते हुए एक के पीछे दूसरे उन्नत जीव होते गए हैं। जैसे बिना रीढ़वाले जीवों से रीढ़वाले अंडज जीव हुए। फिर उन्हीं से जरायुज हुए। जरायुजों में सब के पीछे किंपुरुष वर्ग के बंदर या बनमानुष हुए। बनमानुसों से होते होते अंत में मनुष्य हुए। वैज्ञानिकों ने मनुष्य को पाँच प्रधान जातियों में बाँटा है—(१) काकेशी, जिसके अंतर्गत आर्य्य और असुर (सामी) हैं। (२) मंगोल (चीन, जापान आदि के पीले लोग)। (३) हब्शी। (४) अमेरिकन। और (५) मलाया।

पर्य्या०—मानुष। मनुज। मानव। नर। द्विपद।

मनुष्यकार-संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषकार। उद्योग। प्रयत्न।

मनुष्यगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रानुसार वह कर्म जिसके करने से मनुष्य बार बार मरकर मनुष्य ही का जन्म पाता है। ऐसे कर्म पर-स्त्रीगमन, मांस-भक्षण, चोरी आदि बतलाए गए हैं।

मनुष्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मनुष्य का भाव। आदमीपन (२) दया भाव। चित्त की कोमलता। शील। (३) सभ्यता, शिष्टता। व्यवहार ज्ञान। तमीज़। आदमीयत।

मनुष्यत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्यता। आदमीयत।

मनुष्यधर्मा-संज्ञा पुं० [सं० मनुष्यधर्मन्] कुबेर।

मनुष्ययज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] अतिथि का आदर सम्मान। अतिथियज्ञ। नृयज्ञ।

मनुष्यरथ-संज्ञा पुं० [सं०] वह रथ जिसे मनुष्य खींचते हैं। नर-रथ।

मनुष्यराशि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कन्या राशि।

मनुष्यलोक-संज्ञा पुं० [सं०] मर्त्यलोक। भू लोक।

मनुसाई*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मनुस+आई] (१) पुरुषार्थ। पराक्रम। बहादुरी। उ०—(क) साखा मृग के बड़ मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई।—तुलसी। (ख) जो अस करउँ न तदपि बड़ाई। मुयेहि बधे कछु नहिं मनुसाई।—तुलसी। (२) मनुष्यता। आदमीयत।

मनुस्मृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] धर्म शास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम जो मनु-प्रणीत है। कहा जाता है कि पहले मनुस्मृति में एक लाख श्लोक थे। फिर उसका संक्षेप बारह हजार श्लोकों में किया गया और अंत को उसका संक्षेप चार हजार श्लोकों में किया गया। आज कल की मनुस्मृति में ढाई हजार से कुछ ही अधिक श्लोक मिलते हैं। यह भृगु-प्रोक्त कहलाती है और इसमें बारह अध्याय हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, संस्कार, नित्य और नैमित्तिक कर्म, आश्रम धर्म, राजधर्म, वर्णधर्म, प्रायश्चित्त आदि विषयों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त एक नारद प्रोक्त मनु संहिता का भी पता चलता है; पर वह पूरी नहीं मिलती। मानव धर्मशास्त्र।

मनुहार-संज्ञा स्त्री० [हिं० मान+हरना] (१) वह विनती जो किसी का मान छुड़ाने वा क्रोध शांत करके उसे प्रसन्न करने के लिये की जाती है। मनौआ। खुशामद। उ०—(क) मारो मनुहरन भरी गारिउ भरी मिठाहिं। वाको अति अनखाहटौ मुसुकाहट बिनु नाहिं।—बिहारी। (ख) तुम न बिहारी नेकु मानो मनुहारी हम पायँ परि हारी अरु करि हारी नहियाँ।—तोष।

मुहा०—किसी की मनुहार करना=विनती करना। खुशामद करना। मनाना। उ०—(क) तुम्हरे हेतु हरि लियो अवतार। अब तुम जाइ करो मनुहार।—सूर। (ख) दुसह रोष मूरति भृगुपति अति नृपति निकर षयकारी। क्यों सौंपेउ सारंग हारि हिय करिहैं बहु मनुहारी।—तुलसी। (ग) कहत रुद्र मन माहिं विचारि। अब हरि की कीजै मनुहारि।—लल्लू। (घ) जो मेरो कृत मानहु मोहन करि लाओं मनुहारि। सूर रसिक तबही पै बदिहौं मुरली सकौ न सँभारि।—सूर। (२) विनय। प्रार्थना। उ०—(क) तापसी करि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि। बहुरि तेहि विधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि।—तुलसी। (ख) सबै करति मनुहारि ऊधो कहियो हो जैये गोकुल आवै।—सूर। (३) सत्कार। आदर। उ०—सौंहैं किये हू न सौं हैं करे मनुहार करेहू न सूधे निहारे।—केशव।

मनुहारना*†-क्रि० स० [हिं० मान+हरना] (१) मनाना। खुशामद करना। उ०—(क) पूजा करेउ बहुत मनुहारी। बोले मीठे बचन बिचारी।—सबलसिंह। (ख) कै पटुता परवीन तिया मनुहरि बाल कहै मन माने।—प्रताप। (२) विनय करना। प्रार्थना करना। उ०—निग्रहानुग्रह जो करे अरु देइ आशिष गारि। सो सबै फिर मानि लीजै सर्वथा मनुहारि।—केशव। (३) सत्कार करना। आदर करना। उ०—सुरभी ऐन कुंभ सम धारै। नंदिनि धेनु सरिस मनुहारै।—मन्नालाल। (४) खुशामद करना।

मनूरी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुनौवर] एक प्रकार की बुकनी जो मुरादाबादी कलई के बर्तनों को उजला करने में काम आती

है। यह धातुओं को गलाने की पुरानी घरियों को कूटकर बनाई जाती है।

मने†-वि० दे० "मना"। उ०—(क) जानि नाम अजान लीन्हे नरक जम पुर मने।—तुलसी। (ख) शिव सुपूजन माँह मने करे। मनहु सो अपकीरति सों भरे।—गुमान।

मनेजर-संज्ञा पुं० [अं०] किसी कार्य्यालय आदि का वह प्रधान अधिकारी जिसका काम सब प्रकार की व्यवस्था और देख रेख करना हो। प्रबंधकर्त्ता।

मनो†-अव्य० [हिं० मानना] मानो। जैसे। उ०—(क) मनो सर्व स्त्रीन में कामवामा। हनूमान ऐसी लखी रामरामा।—केशव। (ख) मकराकृत गोपाल के कुंडल सोहत कान। धस्यो मनो हिय घर समर ड्योढ़ी लसत निसान।—बिहारी।

मनोकामना-संज्ञा स्त्री० [हिं० मन+कामना] इच्छा। अभिलाषा।

मनोगत-वि० [सं०] जो मन में हो। मन में आया हुआ। दिली।

मनोगति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मन की गति। चित्त-वृत्ति। (२) इच्छा। आंतरिक अभीष्ट। ख्वाहिश। उ०—किंतु विधिना की यही मनोगति थी।—दुर्गेशनंदिनी।

मनोगवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा। अभिलाषा।

मनोगुप्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मैनसिल।

मनोगुप्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन शास्त्रानुसार मन को अशुभ प्रवृत्ति से हटाने की क्रिया या भाव।

मनोज-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव। मदन।

मनोजव-वि० [सं०] (१) मन के समान वेगवान्। अत्यंत वेगवान्। (२) पितृतुल्य।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) अनिल वा वायु के एक पुत्र का नाम जो उसकी शिवा नाम की पत्नी से उत्पन्न हुआ था। (३) रुद्र के एक पुत्र का नाम। (४) एक तीर्थ का नाम। (५) छठे मन्वंतर में होनेवाले इंद्र का नाम।

मनोजवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कलिहारी। करियारी। (२) मार्कंडेय पुराणानुसार अग्नि की एक जिह्वा का नाम। (३) स्कंद की माता का नाम। (४) क्रौंच द्वीप की एक नदी का नाम।

मनोजवी-वि० [सं० मनोजविन्] मनोजव। अति वेगवान्। बहुत तेज चलनेवाला।

मनोजवृद्धि-संज्ञा स्त्री० [सं०] कामवृद्धि नामक क्षुप। इसे कर्णाट में कामज कहते हैं।

मनोज्ञ-वि० [सं०] मनोहर। सुंदर।

संज्ञा पुं० (१) कुंद नामक फूल।

मनोज्ञता-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुंदरता। मनोहरता। खबसूरती।

मनोज्ञा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कलौंजी। मँगरैला। (२) जावित्री। (३) मदिरा। शराब। (४) बाँझ ककोड़ा। आवर्तकी।

मनोदंड-संज्ञा पुं० [सं०] मन की वृत्तियों का निरोध। चित्त को चंचलता से रोककर एकाग्र करना। मन का निग्रह।

मनोदाही-वि० [सं० मनोदाहिन्] [स्त्री० मनोदाहिनी] मन को जलानेवाला। हृदयदाही।

मनोदुष्ट-वि० [सं०] जिसका मन दूषित हो। जो मन ही से पापी हो। जिसका अंतःकरण कलुषित हो। दुष्ट या खराब हृदयवाला।

मनोदेवता-संज्ञा पुं० [सं०] अंतरात्मा। विवेक।

मनोध्यान-संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मनोनिग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] चित्त की वृत्तियों का निरोध। मन का निग्रह। मन को वश में रखना। मनोगुप्ति।

मनोनीत-वि० [सं०] (१) जो मन के अनुकूल हो। पसंद। (२) चुना हुआ।

मनोभय-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मनोभिराम-वि० [सं०] मनोज्ञ। सुंदर।

मनोभू-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव। मदन।

मनोभूत-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा। उ०—मनोभूत कोटिप्रभा श्री शरीरम्।—तुलसी।

मनोमथन-संज्ञा स्त्री० [सं०] कामदेव।

मनोमय-वि० [सं०] मनोरूप। मानसिक।

मनोमयकोश-संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत शास्त्रानुसार पाँच कोशों में से तीसरा कोश। मन, अहंकार और कर्मेंद्रियाँ इस कोश के अंतर्भूत मानी जाती हैं। इसे बौद्ध दर्शन में संज्ञा स्कंध कहते हैं।

मनोयोग-संज्ञा पुं० [सं०] मन को एकाग्र करके किसी एक पदार्थ पर लगाना। चित्त की वृत्ति का निरोध करके एकाग्र करना और उसे एक पदार्थ पर लगाना।

मनोयोनि-संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मनोरंजन-संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मनोरंजक, मनोरंजनीय] (१) मन को प्रसन्न करने की क्रिया वा भाव। मनः संप्रसादन। मनोविनोद। दिल बहलाव। (२) एक बँगला मिठाई का नाम।

मनोरथ-संज्ञा पुं० [सं०] अभिलाषा। वांछा। इच्छा।

मनोरथतृतीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत का नाम जो चैत्र शुक्ल तृतीया को होता है।

मनोरथद्वादशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक व्रत का नाम जो चैत्र शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन पड़ता है।

मनोरन-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास।

मनोरम-वि० [सं०] [स्त्री० मनोरमा] मनोज्ञ। मनोहर। सुंदर।

संज्ञा पुं० सखी छंद के एक भेद का नाम। इसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएँ होती हैं और ५, ४ और ५ पर विराम होता है। इसका मात्राक्रम २+३+२+२+३+२ है और तीसरी और दूसरी मात्रा सदा लघु होती है। उ०—जानकी नाथै, भजो रे। और सब धंधा तजो रे। सार है जग में जु येही। को प्रभु सों जन सनेही।

मनोरमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन। (२) सात सरस्वतियों में से चौथी का नाम। (३) बौद्ध धर्मानुसार बुद्ध की एक शक्ति का नाम। (४) छंदोमंजरी के अनुसार एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दस वर्ण होते हैं जिनमें पहला, दूसरा, तीसरा, सातवाँ और नवाँ वर्ण लघु और शेष गुरु होते हैं। (५) महाकवि चंद्रशेखर के अनुसार आर्य्या के ५७ भेदों में एक जिनमें १२ गुरु और ३३ लघु वर्ण होते हैं। (६) दस अक्षर के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, रगण और अंत में गुरु होता है। उ०—लहत मुक्ति पाप हो छमा। (७) केशव के मतानुसार चौदह अक्षरों का एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक पाद में ४ सगण और अंत में दो लघु होते हैं। उ०—यह शासन पठये नृप कानन। (८) केशव के मतानुसार दोधक छंद का एक नाम जिसके प्रत्येक चरण में ४ भगण और दो गुरु होते हैं। (९) सूदन के मतानुसार दस अक्षरों के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में तीन तगण और एक गुरु होता है। उ०—बीते कछु द्योस ही में जहाँ। (१०) मार्कंडेय पुराणानुसार इंदीवर नामक एक गंधर्व की स्त्री का नाम।

मनोरा—संज्ञा पुं० [सं० मनोहर] दीवार पर गोबर से बनाए हुए चित्र जो कार्तिक के महीने में दिवाली के पीछे बनाए जाते हैं। स्त्रियाँ और लड़कियाँ इन्हें रंग बिरंग के फूल-पत्तों से सजाती हैं, प्रतिदिन सायंकाल को पूजती हैं और दीपक जलाकर गीत गाती जाती हैं। झिंझिया। लोढ़िया। उ०—जेहि घर पिय सो मनोरा पूजा। मोकहँ बिरह, सवति दुःख दूजा।—जायसी।

यौ०—मनोरा झूमक=एक प्रकार का गीत जिसे स्त्रियाँ फागुन में गाती हैं और जिसके अंत में यह पद आता है। उ०—(क) कहूँ मनोरा झूमक होई। कर औ फूल लिये सब कोई।—जायसी। (ख) गोकुल सकल ग्वालिनी हो घर खेलैं फाग, मनोरा झूमक रे। तिन में श्रीराधा लाड़िली हो जिनको अधिक सुहाग, मनोरा झूमक रे।—सूर।

मनोराज—संज्ञा पुं० [सं० मनोराज्य] मानसिक कल्पना। मन की कल्पना। उ०—राग को न साज न बिराग जोग जाग जिय, काया नहिं छोड़े देत ठाठिबो कुठाट को। मनोराज करत अकाज भयो आजु लागि, चाहै चारु चीर पै लहै न टूक टाट को।—तुलसी।

मनोरिया—संज्ञा स्त्री० [हिं० मनोहर] एक प्रकार की सिकड़ी की ज़ंजीर जिसकी कड़ियों पर चिकनी चपटी दाल जड़ी रहती है और जिसमें घुँघरुओं के गुच्छे लगातार बंदनवार की तरह लटकते हैं। यह ज़ंजीर स्त्रियों की साड़ी या ओढ़नी के किनारे पर उस जगह टाँकी जाती है जो ओढ़ते समय ठीक सिर पर पड़ता है। घूँघट काढ़ने पर यह ज़ंजीर मुँह और सिर के चारों ओर आ जाती है।

मनोवती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पुराणानुसार मेरु पर्वत पर के एक नगर का नाम। (२) चित्रांगद विद्याधर की कन्या का नाम।

मनोवांछा—संज्ञा स्त्री० [सं०] इच्छा। अभिलाषा। ख़ाहिश।

मनोवांछित—वि० [सं०] इच्छित। मन माँगा। यथेच्छ। जैसे,—इससे आपको मनोवांछित फल मिलेगा।

मनोविकार—संज्ञा पुं० [सं०] मन की वह अवस्था जिसमें किसी प्रकार का सुखद या दुःखद भाव, विचार या विकार उत्पन्न होता है। जैसे, राग, द्वेष, क्रोध, दया आदि चित्तवृत्तियाँ। चित्त का विकार।

विशेष—मनोविकार किसी प्रकार के भाव या विचार के कारण होता है और उसके साथ मन का लक्ष किसी पदार्थ या बात की ओर होता है। जैसे,—किसी को दुःखी देखकर दया अथवा अत्याचारी का अत्याचार देखकर क्रोध का उत्पन्न होना। जिस समय कोई मनोविकार उत्पन्न होता है, उस समय कुछ शारीरिक विक्रियाएँ भी होती हैं; जैसे, रोमांच, स्वेद, कंप आदि। पर ये विक्रियाएँ साधारणतः इतनी सूक्ष्म होती हैं कि दूसरों को दिखाई नहीं देतीं। हाँ, यदि मनोविकार बहुत तीव्र रूप में हो, तो उसके कारण होनेवाली शारीरिक विक्रियाएँ अवश्य ही बहुत स्पष्ट होती हैं और बहुधा मनुष्य की आकृति से ही उसके मनोविकारों का स्वरूप प्रकट हो जाता है।

क्रि० प्र०—उठना।

मनोविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें चित्त की वृत्तियों का विवेचन होता है। वह विज्ञान जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि मनुष्य के चित्त में कौन सी वृत्ति कब, क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है। चित्त की वृत्तियों की मीमांसा करनेवाला शास्त्र।

मनोवृत्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वृत्ति। मनोविकार। वि० दे० "मनोविकार"।

मनोवेग—संज्ञा पुं० [सं०] मन का विकार। मनोविकार।

मनोव्यापार—संज्ञा पुं० [सं०] मन की क्रिया। संकल्प-विकल्प। विचार।

मनोसर*–संज्ञा पुं० [सं० मन] मन की वृत्ति। मनोविकार। उ०—सर्व मनोसर जाय मरि जो देखै तस चार। पहले सो दुःख बरनि कै बरनौं वहक सिंगार।

मनोहर–वि० [सं०] [संज्ञा मनोहरता] (१) मन हरनेवाला। चित्त को आकर्षित करनेवाला। (२) सुंदर। मनोज्ञ। संज्ञा पु० (१) छप्पय छंद के एक भेद का नाम जिसमें १३ गुरु, १२६ लघु, १४९ वर्ण और १५२ मात्राएँ अथवा १३ गुरु, १२२ लघु, १३५ वर्ण और १४८ मात्राएँ होती हैं। (२) एक संकर राग का नाम जो गौरी, मारवा और त्रिवण के मिलने से बना है। (३) कुंद पुष्प। (४) सुवर्ण। सोना।

मनोहरता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मनोहर होने का भाव। सुंदरता।

मनोहरताई*–संज्ञा स्त्री० [सं० मनोहरता] सुंदरता। मनोहरता। उ०—(क) मगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई।—तुलसी। (ख) किलकनि नटनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया। मनि खंभनि प्रतिबिंब झलक छबि छलकिहै भरि अँगनैया।—तुलसी।

मनोहरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जाती पुष्प। (२) स्वर्णजुही। सोनजुही। (३) त्रिशिर की माता का नाम। (४) एक अप्सरा का नाम।

मनोहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मनोहर] कान में पहनने की एक प्रकार की छोटी बाली।

मनोहारी–वि० [सं० मनोहारिन्] [स्त्री० मनोहारिणी] मनोहर। चित्ताकर्षक। सुंदर।

मनोह्लादी–वि० [सं० मनोह्लादिन्] [स्त्री० मनोह्लादिनी] (१) मन को प्रसन्न करनेवाला। दिल खुश करनेवाला। (२) मनोहर। सुंदर।

मनोह्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मनःशिला। मैनसिल।

मनौती*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मानना+औती (प्रत्य०)] (१) असंतुष्ट को संतुष्ट करना। मनाना। मनुहार। उ०—कभी गालियाँ देता था कभी धमकाता था, कभी इनाम का लालच दिखलाता था, कभी मनौती करता था; पर कोठरी का दरवाजा किसी ने न खोला।—शिवप्रसाद। (२) किसी देवता की विशेष रूप से पूजा करने की प्रतिज्ञा वा संकल्प। मानता। मन्नत।

क्रि० प्र०—उतारना।—करना।—चढ़ाना।—मानना।

मन्नत–संज्ञा स्त्री० [हिं० मानना] किसी देवता की पूजा करने की वह प्रतिज्ञा जो किसी कामना विशेष की पूर्ति के लिये की जाती है। मानता। मनौती। उ०—(बाबर ने) मन्नत मानी कि अगर साँगा पर फतह पाऊँ, फिर कभी शराब न पीऊँ और डाढ़ी बढ़ने दूँ।—शिवप्रसाद।

मुहा०—मन्नत उतारना या बढ़ाना=पूजा की प्रतिज्ञा पूरी करना। मन्नत मानना=यह प्रतिज्ञा करना कि अमुक कार्य्य के हो जाने पर अमुक पूजा की जायगी।

मन्ना–संज्ञा पुं० [देश०] शहद की तरह का एक प्रकार का मीठा निर्यास जो बाँस आदि कुछ विशेष वृक्षों में से निकलता है और जिसका व्यवहार ओषधि के रूप में होता है।

मन्मथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव। (२) कपित्थ। कैथ। (३) काम-चिंता। (४) साठ संवत्सरों में से उनतीसवें संवत्सर का नाम।

मन्मथकर–संज्ञा पुं० [सं०] कुमार के एक अनुचर का नाम।

मन्मथलेख–संज्ञा पुं० [सं०] प्रेमपत्र।

मन्मथानंद–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का आम जिसे महाराज-चूत भी कहते हैं।

मन्मथालय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का पेड़। (२) कामियों के मनोरथ पूर्ण होने की जगह। प्रेमी और प्रेमिका के मिलने का स्थान। विहारस्थल।

मन्मथी–वि० [सं० मन्मथिन्] कामी। कामुक।

मन्यका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले पर की एक शिरा या नस जो पीछे की ओर होती है। मन्या।

मन्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले की एक शिरा या नस। मन्यका।

मन्यास्तंभ–संज्ञा पु० [सं०] एक रोग का नाम जिसमें गले पर की मन्या शिरा कड़ी हो जाती है और गरदन इधर उधर नहीं घूम सकती।

मन्यु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्तोत्र। (२) कर्म। (३) शोक। (४) याग। (५) कोप। क्रोध। (६) दीनता। (७) अहंकार। (८) शिव। (९) अग्नि। (१०) भागवत के अनुसार वितथ राजा के पुत्र का नाम।

मन्युदेव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध का अभिमानी देवता। (२) एक ऋषि नाम।

मन्युपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भेकपर्णी। मंडूकपर्णी।

मन्वंतर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इकहत्तर चतुर्युगी का काल। ब्रह्मा के एक दिन का चौदहवाँ भाग। वि० दे० "मनु"। (२) दुर्भिक्ष। अकाल।

मन्वंतरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का उत्सव जो आषाढ़ शुक्ल दशमी, श्रावण कृष्ण अष्टमी और भाद्र शुक्ल तृतीया को होता था।

मन्वाद्य–संज्ञा पुं० [सं०] धान्य।

मन्होला†–संज्ञा पुं० [देश०] तमाल।

मम–सर्व० [सं० अहं का षष्ठी एकवचन रूप] मेरा वा मेरी। उ० —(क) साईं यों मति जानियो प्रीति घटै मम चित्त। मरूँ तो तुम सुमिरत मरूँ जीवत सुमिरूँ नित्त।—कबीर। (ख) नील सरोरुह श्याम, तरुन अरुन वारिज नयन। करहु सो मम उर धाम, सदा क्षीर-सागर सयन।—तुलसी। (ग)

महाराज तुम तो हौ साध । मम कन्या ते भयो अपराध । —सूर ।

ममकार–संज्ञा पुं० [सं०] किसी की निजी संपत्ति । अपनी कमाई हुई संपत्ति ।

ममता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव । किसी पदार्थ को अपना समझने का भाव । ममत्व । अपनापन । (२) स्नेह । प्रेम । (३) वह स्नेह जो माता का पुत्र के साथ होता है । (४) मोह । लोभ । (५) गर्व । अभिमान ।

ममतायुक्त–वि० [सं०] (१) अभिमानी । (२) कृपण । (३) जिसमें ममता हो ।

ममत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ममता । अपनापन । (२) स्नेह । (३) गर्व । अभिमान ।

ममरी–संज्ञा स्त्री० [सं० बरबरी] बनतुलसी । बबई ।

ममिया–वि० [हिं० मामा+इया (प्रत्य०)] जो संबंध में मामा के स्थान पर पड़ता हो । मामा के स्थान का । जैसे, ममिया ससुर, ममिया सास । (इसका प्रयोग संबंधसूचक शब्दों के साथ होता है ।)

ममियाउर†–संज्ञा पुं० दे० "ममियौरा" ।

ममियौरा†–संज्ञा पुं० [हिं० मामा+औरा (प्रत्य०)] मामा का घर । ममाना ।

ममीरा–संज्ञा पुं० [अ० मामीरान] हलदी की जाति के एक पौधे की जड़ जिसकी कई जातियाँ होती हैं । यह आँख के रोगों की अपूर्व औषधि मानी जाती है । यह पौधा समशीतोष्ण प्रदेशों में होता है । आसाम के पूर्व के देशों के पहाड़ी स्थानों में भी यह बहुत होता है । कुछ दूसरे पौधों की जड़ें भी, जो इससे मिलती जुलती होती हैं, ममीरे के नाम से बिकती हैं और उन्हें नकली ममीरा कहते हैं ।

मयंक–संज्ञा पुं० [सं० मृगांक] चंद्रमा । उ०—सरद-मयंक बदन छबि सीवाँ । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ ।—तुलसी ।

मयंद–संज्ञा पुं० [सं० मृगेंद्र] (१) सिंह । उ०—मानि यों बैठो नरिंद अरिंदहि मानो मयंद गयंद पछाऱ्यो ।—भूषण । (२) राम की सेना के एक बानर अधिनायक का नाम । उ०—द्विविद मयंद नील नल अंगदादि विकटासि । दधि-मुख केहरि कुमुद गव जामवंत बलरासि ।

मयंदी–संज्ञा स्त्री० [देश०] लोहे की छोटी सामी जो गाड़ी में चक्के की नाभि के दोनों ओर उस छेद के मुँह पर खोदकर बैठाई जाती है, जिसमें धुरे का सिरा रहता है । सामी ।

मय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊँट । (२) अश्वतर । खच्चर । (३) घोड़ा । (४) सुख । (५) एक देश का नाम । (७) पुराणानुसार एक प्रसिद्ध दानव का नाम जो बड़ा शिल्पी था । इसे असुरों और दैत्यों का शिल्पी कहते हैं । वाल्मीकीय रामायण के उत्तर कांड में मय को दिति का पुत्र 'दैत्य' लिखा है । मायावी और दुंदुभि को उसका पुत्र और मंदोदरी को उसकी कन्या लिखा है । (७) अमेरिका के मेक्सिको नामक देश के प्राचीन अधिवासी जो किसी समय बहुत अधिक उन्नत और सभ्य थे और जिनकी सभ्यता भारतवासियों की सभ्यता से बहुत कुछ मिलती जुलती है ।

प्रत्य० [सं०] [स्त्री० मयी] तद्धित का एक प्रत्यय जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य्य अर्थ में शब्दों के साथ लगाया जाता है । जैसे, आनंदमय । उ०—(१) तद्रूप—सिया-राममय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ।—तुलसी । (२) विकार—अमिय मूरिमय चूरन चारू । समन सकल भव रुज परिवारू ।—तुलसी । (३) प्राचुर्य्य—मुद-मंगल-मय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ।—तुलसी ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मै" ।

अव्य० दे० "मै"

मयगल–संज्ञा पुं० [सं० मदकल, प्रा० मयगल] मस्त हाथी । मद-मस्त हाथी ।

मयन–संज्ञा पुं० [सं० मदन] कामदेव । उ०—कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना अयन । जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन ।—तुलसी ।

मयना–संज्ञा स्त्री० दे० "मैना" ।

मयमंत, मयमत्त–वि० [सं० मदमत्त] मस्त । मदमत्त । उ० (क) महाराज दसरथ पुनि सोवत । हा रघुपति लछिमन बैदेही सुमिरि सुमिरि गुण रोवत । त्रिया चरित मयमंत न सूझत उठि पखाल मुख धोवत । महा विपरीत रीत कछु औरे बार बार मुख जोवत ।—सूर । (ख) जोबन अस मयमंत न कोई । नवे हस्ति जो आँकुस होई ।—जायसी ।

मयष्ठ, मयष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] बनमूँग ।

मयस्सर–वि० [अ०] (१) मिलता या मिला हुआ । प्राप्त । उपलब्ध । सुलभ । उ०—सैयद महमूद ने यह कहकर पंडितजी को प्रसन्न किया कि आपके इस धूलि-धूसर जूते की धूलि ही के प्रसाद से यह कालीन मुझे मयस्सर हुआ है ।—द्विवेदी ।

क्रि० प्र०—होना ।

मुहा०—मयस्सर आना=मिलना, प्राप्त होना ।

मया–संज्ञा स्त्री० [सं०] चिकित्सा ।

* संज्ञा स्त्री० [सं० माया] (१) माया । भ्रमजाल । इंद्रजाल । (२) जगत । संसार । (३) जीव और शरीर का संबंध । जीवन । उ०—तुम जिय मैं तन जौ लहि मया । कहे जो जीव करै सो कया ।—जायसी । (४) प्रेम-पाश । प्रेम-बंधन । मोह । उ०—(क) बहुत मया सुनि राजा फूला । चला साथ पहुँचावै भूला ।—जायसी । (ख) का रानी

का चेरी कोई। जेहि कहँ मया करे भल सोई।—जायसी। (ग) मृगया यहै शूर तर बढ़ी। बंदी मुखनि चाप सो पढ़ी। जो केहू चितवे यह दया। बात कहे तो बढ़िए मया।—केशव। (५) दया। अनुकंपा। छोह। उ०—(क) तहाँ चकोर कोकिला तेहि तन मया पईठ। नयनन रकत भरा यहि तुम पुनि कीन्ही डीठ।—जायसी। (ख) कहि धौरी बन बेलि कहूँ तुम देखी है नँद-नंदन। बूझो हौं मालती कहूँ तैं पाए हैं तनु चंदन।·········कहि धौं मृगी मया करि हमसों कहियौ मधुप मराल। सूरदास प्रभु के तुम संगी हौ कहँ परम दयाल।—सूर।

मयार–वि० [सं० माया, हिं० माया] [स्त्री० मयारी] दयालु। कृपालु। उ०—(क) रोवत बूड़ उठा संसारू। महादेव तब भयो मयारू।—जायसी। (ख) झारां भरी सुख धोइ बे को आपनी बिसारी सारी सवारी अति देखत मयारि है।—रघुनाथ।

मयारी–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) वह डंडा वा धरन जिस पर हिंडोले की रस्सी लटकाई जाती है। उ०—सुनि विनय श्रीपति बिहँसि बोले विश्वकर्मा श्रुति धारि। खचि खंभ कंचन के रचि पचि राजति मरुवा मयारि। पटुली लगे नग नाग बहु रँग बनी डाँडी चारि। भँवरा भवैं भजि केलि भूले नगर नागर नारि।—सूर। (२) छाजन की वह धरन जिस पर बहुआ के आधार पर बँडेर रहती है।

मयी–संज्ञा स्त्री० [सं०] ऊँटनी।

अव्य० स्त्री० दे० "मय"।

मयु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किन्नर। (२) मृग।

मयुराज–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

मयुष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] बनमूँग।

मयुष्ठक–संज्ञा पुं० [सं०] बनमूँग।

मयूक–संज्ञा पुं० [सं०] मयूर।

मयूख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किरण। रश्मि। (२) दीप्ति। प्रकाश। (३) ज्वाला। (४) शोभा। (५) कील। (६) पर्वत।

मयूखादित्य–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य के एक भेद का नाम।

मयूखी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल के एक अस्त्र का नाम।

मयूर–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मयूरी] (१) मोर। (२) मयूर शिखा नामक क्षुप। (३) एक असुर का नाम। (४) मार्कंडेय पुराणानुसार सुमेरु पर्वत के उत्तर के एक पर्वत का नाम।

मयूरक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपामार्ग। चिचड़ा। (२) तूतिया। (३) मोर। (४) मयूरशिखा नामक क्षुप।

मयूरकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] स्कंद का एक नाम।

मयूरगति–संज्ञा स्त्री० [सं०] चौबीस अक्षरों की एक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण में आदि में पाँच यगण, फिर मगण, यगण और अंत में भगण होता है। (य य य य य म य भ)।

मयूरग्रीवक–संज्ञा पुं० [सं०] तूतिया।

मयूरचटक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी।

मयूरचूड़–संज्ञा पुं० [सं०] थुनेर।

मयूरचूड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मयूरशिखा नामक क्षुप।

मयूरजंघ–संज्ञा पुं० [सं०] सोनापाढ़ा। श्योनाक।

मयूरनृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नाच जिसमें थिरकन अधिक होती है।

मयूरपदक–संज्ञा पुं० [सं०] नखाघात। नखक्षत।

मयूररथ–संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय। स्कंद।

मयूरविदला–संज्ञा स्त्री० [सं०] मोइया। अंबष्ठा।

मयूरशिखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मोरशिखा नामक क्षुप।

मयूरसारिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तेरह अक्षरों के एक छंद का नाम जिसके प्रत्येक पद में रगण, जगण फिर रगण और अंत में गुरु होता है।

मयूरसारी–वि० [सं० मयूरसारिन्] गर्वित।

मयूरस्थल–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

मयूरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंबष्ठा। मोइया। (२) एक प्रकार का विषैला कीड़ा।

मयूरेश–संज्ञा पुं० [सं०] कार्तिकेय।

मयेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] मय दानव। वि० दे० "मय"।

मयोभय–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मयोभू–वि० [सं०] यज्ञ के फल से उत्पन्न।

मरंद–संज्ञा पुं० [सं० मकरंद, प्रा० मरंद] मकरंद।

मरंदकोश–संज्ञा पुं० [हिं० मरंद+कोश] (१) फूल का वह भाग जिसमें 'सुधा' वा रस रहता है। मकरंद-कोश। (२) मधु-मक्खियों का छत्ता।

मर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृत्यु। (२) संसार जगत (३) पृथ्वी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मुरा"।

मरक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृत्यु। मरण। (२) वह रोग जिसमें थोड़े ही काल में अनेक मनुष्य ग्रस्त होकर मरते हैं। वह भीषण संक्रामक रोग जिससे बहुत से लोग मरें। मरी। (३) मार्कंडेय पुराणानुसार एक जाति का नाम।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मरकना=दबाना] (१) दबाकर संकेत करना। संकेत। इशारा। उ०—अर ते टरत न बर परै दई मरक मनु मैन। होड़ा होड़ी बढ़ि चले चित चतुराई नैन।—बिहारी। (२) दे० "मड़क"।

मरकट–संज्ञा पुं० दे० "मर्कट"।

मरकत–संज्ञा पुं० [सं०] पन्ना।

मरकताल–संज्ञा पुं० [देश०] समुद्र की तरंगों की उतार की

सब से अंतिम अवस्था। भाटा की चरम अवस्था जो प्रायः अमावास्या और पूर्णिमा से दो चार दिन पहले होती है।

मरकना–क्रि० अ० [अनु०] (१) दबकर मरमराना। दबाव के नीचे पड़कर टूटना। दबना। उ०—सुनत ही सौतिन करेजा करकन लाग्यो मरकन लाग्यो मान भवन मन हार्‌यो सो।—देव। (२) दे० "मुड़कना"।

मरकहा†–वि० [हिं० मारना+हा प्रत्य०] [स्त्री० मरकही] सींग से मारनेवाला। जो सींग से बहुत मारता हो। (पशु)

मरकाना–क्रि० स० [हिं० मरकना] (१) दबाकर चूर करना। इतना दबाना कि मरमराहट का शब्द उत्पन्न हो। तोड़ना। (२) दे० "मुड़काना"।

मरकूम–वि० [अ०] [स्त्री० मरकूमा] लिखित। लिखा हुआ।

मरकोटी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मिठाई।

मरखंडा‡–वि० दे० "मरखन्ना"।

मरखन्ना†–वि० [हिं० मारना+न्ना (प्रत्य०)] [स्त्री० मरखन्नी] सींग से मारनेवाला। मरकहा। (पशु)

मरखम–संज्ञा पुं० [हिं० मलखंभ] वह खूँटा जो कातर में गाड़ा रहता है।

मरगजा*†–वि० [हिं० मलना+मींजना] मला दला। मसला हुआ। मींजा हुआ। मलित दलित। उ०—(क) सब अरगज मरगज भा लोचन पीत सरोज। सत्य कहहु पद्मावत सखी परी सब खोज।—जायसी। (ख) घर पठई प्यारी अंक भरि। कर अपने मुख परसि प्रिया के प्रेम सहित दोऊ भुज धरि धरि। सँग सुख लूटि हरष भई हिरदय चली भवन भामिनि गजगति ढरि। अंग मरगजी पटोरी राजति छबि निरखत ठाढ़े ठाढ़े हरि।—सूर। (ग) तुम सौतिन देखत दई अपने हिय ते लाल। फिरत सबन में डहडही वहै मरगजी माल।—बिहारी।

संज्ञा पुं० दे० "मलगजा"।

मरगी‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० मरना मि० फ़ा० मर्ग] फैलनेवाला रोग। मरक। मरी।

मरगोल, मरगोला–संज्ञा पुं० [अ०] गाने में ली जानेवाली गिटकिरी। स्वरः कंपन। (संगीत)

क्रि० प्र०—भरना।—लेना।

मरघट–संज्ञा पुं० [सं०] वह घाट वा स्थान जहाँ मुर्दे फूँके जाते हैं। मुर्दों के जलाने की जगह। स्मशान घाट। मसान। उ०—(क) जा घर साधु न सेवइ पारब्रह्म पति नाहिं। ते घर मरघट सारिखा भूत बसे ता माहिं।—कबीर। (ख) हरिश्चंद्र का पुत्र रोहित मर गया। उस मृतक को ले रानी मरघट गई।—लल्लू।

मुहा०—मरघट का भुतना = प्रेत।

वि० (१) बहुत ही कुरूप और विकराल आकृति का। चेष्टाहीन। कुरूप। (२) जो सदा उदास रहता हो। मनहूस। रोना।

मरचा–संज्ञा पुं० दे० "मिरचा"।

मरचोबा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की तरकारी जिसका व्यवहार योरप में अधिकता से होता है।

मरज़–संज्ञा पुं० [अ० मर्ज़] (१) रोग। बीमारी। उ०—(क) आली कछू को कछू उपचार करै पै न पाइ सकै मरजै री।—पद्माकर। (ख) नेह तरजनि विरहागि सरजनि सुनि मान मरजनि गरजनि बदरान की।—श्रीपति। (२) बुरी लत। खराब आदत। कुटेव। जैसे—आपको तो बकने का मरज़ है। (इस अर्थ में इसका प्रयोग अनुचित बातों के लिये होता है।)

मरजाद*–संज्ञा स्त्री० [सं० मर्य्यादा] (१) सीमा। हद। उ०—गुरू नाम है गम्य का शिष्य सीख ले सोय। बिनु पद ई मरजाद बिनु गुरू शिष्य नहिं होय। (ख) सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिन बदन बखानी।—तुलसी। (२) प्रतिष्ठा। आदर। इज़्ज़त। महत्व। उ०—(क) गुरु मरजाद न भक्ति न नहिं पिय का अधिकार। कहै कबीर व्यभिचारिणी आठ पहर भरतार।—कबीर। (ख) यह जो अंध बीस हू लोचन छल बल करत आनि मुख हेरी। आइ श्रृगाल सिंह बलि माँगत यह मरजाद जात प्रभु तेरी।—सूर।

क्रि० प्र०—खोना।—जाना।—रखना।

(३) रीति। परिपाटी। नियम। विधि। उ०—संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ अस मरजादा।—तुलसी।

मरजादा–संज्ञा स्त्री० दे० "मर्यादा" या "मरजाद"।

मरजिया–वि० [हिं० मरना+जीना] (१) मरकर जीनेवाला। जो मरने से बचा हो। उ०—(क) तस रानी रानी कंठ लाई। पिय मरजिया नारि जनु पाई।—जायसी। (२) मृतप्राय। जो मरने के समीप हो। मरणासन्न। उ०—पद्मावति जो पावा पीऊ। जनु मरजिये परा तनु जीऊ।—जायसी। (३) जो प्राण देने पर उतारू हो। मरनेवाला। उ०—अब यह कौन पानि मैं पीया। भै तन पाँख पतँग मरजीया। (४) अधमरा। उ०—जहँ अस परी समुंद नग दीया। तेहि किमि जिया चहै मरजीया।—जायसी।

संज्ञा पुं० जो पानी में डूबकर उसके भीतर से चीज़ों को निकालता है। समुद्र में डूबकर उसके भीतर से मोती आदि निकालनेवाला। जिवकिया। उ०—(क) जस मरजिया समुँद धँसि मारे हाथ आव तब सीप। ढूँढ़ि लेहु जो स्वर्ग दुआरे चढ़े सो सिंहल दीप।—जायसी। (ख) कविता चेला बिधि गुरू सीप सेवाती बुंद। तेहि मानुष की आस का जो मरजिया समुंद।—जायसी। (ग) तन समुद्र

मन मरजिया एक बार धँसि लेइ। की लाल लै नीकसे कै लालच जिउ देइ।—कबीर।

मरज़ी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) इच्छा। कामना। चाह। उ०—(क) मरजी हमें और सुनाइबे को कहि तोष लख्यो सिगरी मरजी।—तोष। (ख) दरजी किते तिते धन गरजी। ब्योंतहि पटु पट जिमि नृप मरजी।—गोपाल। (२) प्रसन्नता। खुशी। (३) आज्ञा। स्वीकृति। उ०—(क) वा बिधि साँवरे रावरे की न मिली मरजी न मजा न मजाखे।—पद्माकर। (ख) इनकी सबकी मरजी करिकै अपने मन को समुझावने है।—ठाकुर। (ग) मरजी जो उठी पिय की सुधि लै चपला चमकै न रहै बरजी।

मरजीवा–संज्ञा पुं० दे० "मरजिया"। उ०—मोती उपजे सीप में सीप समुंदर माहिं। कोइ मरजिवा काढेसी जीवन की गम नाहिं।—कबीर।

मरण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरने का भाव। मृत्यु। मौत। (२) वत्सनाभ। बछनाग।

मरणधर्मा–वि० [सं० मरणधर्मन्] मरणशील। मरणस्वभाव। जो मरता हो।

मरत*–संज्ञा पुं० [सं० मृत्यु] मरण। मृत्यु। मौत।

मरतबा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) पद। पदवी।

क्रि० प्र०—पाना।—बढ़ना।—बढ़ाना।—मिलना।

(२) बार। दफ़ा। जैसे,—मैं आपके घर कई मरतबा गया था।

मरतबान–संज्ञा पुं० दे० "अमृतबान"।

मरद*–संज्ञा पुं० दे० "मर्द"। उ०—अर्थ धर्म काम मोक्ष बसत विलोकनि में कासी करामात जोगी जागता मरद की।—तुलसी।

मरदई‡–संज्ञा स्त्री० [हिं० मर्द+ई (प्रत्य०)] (१) मनुष्यत्व। आदमीयत। (२) साहस। (३) वीरता। बहादुरी।

क्रि० प्र०—करना।—दिखाना।

मरदन*–संज्ञा पुं० दे० "मर्दन"।

मरदना*–क्रि० स० [सं० मर्दन] (१) मसलना। मर्दन करना। मलना। उ०—(क) अति करहि उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहिं जानि अनाथा।—तुलसी। (ख) मदन मरदि मद सदन शत्रु सुर लोक पठावत।—गोपाल। (२) ध्वंस करना। चूर्ण करना। उ०—अमल कमल कुल कलित ललित गति बेलि सों बलित मधु माधवी को पानिये। मृग-मद मरदि कपूर धूरि चूरि पग केसरि को केशव विलास पहिचानिये।—केशव। (३) माँड़ना। गूँधना। जैसे, आटा मरदना।

मरदनिया†–संज्ञा पुं० [हिं० मर्दना] वह भृत्य जो बड़े आदमियों के अंग में तेल आदि मला करता है। शरीर में तेल मलने-वाला सेवक। उ०—लिये तेल मरदनियाँ आये। उबटि सुगंध चुपरि अन्हवाये।—लल्लू।

मरदानगी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) वीरता। शूरता। शौर्य्य। (२) साहस।

क्रि० प्र०—दिखाना।

मरदाना–वि० [फ़ा०] (१) पुरुष संबंधी। पुरुषों का। जैसे, मरदानी बैठक। (२) पुरुषों का सा। जैसे, मरदाना भेस, (३) वीरोचित। जैसे, मरदाना काम।

‡ क्रि० अ० [हिं० मरद] साहस करना। वीरता दिखाना।

मरदूद–वि० [अ०] (१) तिरस्कृत। (२) लुच्चा। नीच।

मरन–संज्ञा पुं० दे० "मरण"।

मरना–क्रि० अ० [सं० मरण] (१) प्राणियों या वनस्पतियों के शरीर में ऐसा विकार होना जिससे उनकी सब शारीरिक क्रियाएँ बंद हो जायँ। मृत्यु को प्राप्त होना। उ०—(क) साईं यों मत जानियो प्रीति घटै मम चित्त। मरूँ तो तुम सुमिरत मरूँ जीवत सुमिरौं नित्त।—कबीर। (ख) कर गहि खड्ग तोर बध करिहौं सुनि मारिच डर मान्यो। रामचंद्र के हाथ मरूँगो परम पुरुष फल जान्यो।—सूर। (ग) लघु आनन उत्तर देत बड़े लरिहैं मरिहैं करिहैं कछु साके।—तुलसी। (घ) मरिबे को साहस कियो बढ़ी बिरह की पीर। दौरति है समुहैं ससी सरसिज सुरभि समीर।—बिहारी।

मुहा०—मरना जीना=शादी गमी। शुभाशुभ अवसर। सुख दुःख। मरने की छुट्टी न होना वा न मिलना=बिलकुल छुट्टी न मिलना। अवकाश का अभाव होना। दिन रात कार्य्य में फँसा होना।

(२) बहुत अधिक कष्ट उठाना। बहुत दुःख सहना। पचना। उ०—(क) एक बार मरि मिलैं जो आये। दूसर बार मरै कित जाये।—जायसी। (ख) तुलसी भरोसो न भवेस भोरानाथ को तो कोटिक कलेस करो मरो छार छानि सो।—तुलसी। (ग) तुलसी तेहि सेवत कौन मरै, रज ते लघु को करै मेरु से भारै।—तुलसी। (घ) कठिन दुहूँ विधि दीप को सुन हो मीत सुजान। सब निसि बिनु देखे जरै मरै लखे मुख भान।—रसनिधि।

मुहा०—किसी के लिये मरना=हैरान होना। कष्ट सहना। किसी पर मरना=लुब्ध होना। आसक्त होना। मर पचना=अत्यंत कष्ट सहना। किसी की बात पर मरना वा किसी बात के लिए मरना=दुःख सहना। मर मिटना=श्रम करते करते विनष्ट हो जाना। उ०—सबने मर मिटने की ठान ली थी।—इन्शा। मरा जाना=(१) व्याकुल होना। व्यग्र होना। जैसे,—सूद देते देते किसान मरे जाते हैं। (२) उत्सुक होना। उतावली करना।

(३) मुरझाना। कुम्हलाना। सूखना। जैसे, पान का मरना,

फल का मरना। (४) मृतक के समान हो जाना। लज्जा, संकोच या घृणा आदि के कारण सिर न उठा सकना। उ०—(क) यहि लाज मरियत ताहि तुम सों भयो नातो नाथ जू। अब और मुख निरखै न ज्यों त्यों राखिये रघुनाथ जू।—केशव। (ख) तब सुधि पदुमावति मन भई। सँवरि बिछोह मुरछि मरि गई।—जायसी। (५) किसी पदार्थ का किसी विकार के कारण काम का न रह जाना। जैसे, आग का मरना, चूने का मरना, सुहागा मरना, धूल मरना।

मुहा०—पानी मरना=(१) पानी का दीवार की नींव में धँसना। (२) किसी के सिर कोई कलंक आना। उ०—पुनि पुनि पानि वहीं ठाँ मरै। फेर न निकसे जो तहँ परै।—जायसी।

(६) खेल में किसी गोटी वा लड़के का खेल के नियमानुसार किसी कारण से खेल से अलग किया जाना। जैसे, गोटी का मरना, गोइयाँ का मरना इत्यादि। (७) किसी वेग का शांत होना। दबना। जैसे, भूख का मरना, प्यास का मरना, दुःख का मरना, पित्त का मरना इत्यादि। उ०—मुँह मोरे मोरे ना मरति रिसि केशवदास मारहु धौं कहे कमल सनाल सों।—केशव। (८) डाह करना। जलना। (९) झनखना। पछताना। रोना। (१०) हारना। वशीभूत होना। पराजित होना। उ०—तू मन नाथ मार के स्वाँसा। जो पै मरहिं आप कर नासा। चारिहु लोक चार कहु बाता। गुप्त लाव मन जो सो राता।—जायसी।

मरनि*—संज्ञा स्त्री० दे० "मरनी"।

मरनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मरना] (१) मृत्यु। मौत। (२) दुःख। कष्ट। हैरानी। उ०—सुनि योगी की अम्मर करनी। न्योरी विरह बिथा की मरनी।—जायसी। (३) वह शोक जो किसी के मरने पर उसके संबंधियों को होता है। (४) वह कृत्य जो किसी के मरने पर उसके संबंधी लोग करते हैं।

यौ०—मरनी करनी=मृत्यु और मृतक की अंत्येष्टि क्रिया।

मरबुली—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का कंद जो पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होता है। इसके टुकड़े गज़ गज भर के गड्ढे खोद कर बोए जाते हैं। बोवाई सदा हो सकती है; पर गर्मी के दिनों में इसमें पानी देने की आवश्यकता होती है। यह दो प्रकार की होती है—मीठी और तीक्ष्ण या गला काटनेवाली। दोनों से तीखुर बनाया जाता है। इसकी जड़ को आलू वा कंद भी कहते हैं। कंद को धोकर उसके लच्छे बनाते हैं। फिर लच्छे को दबाकर वा कुचलकर रस निकालते हैं जिसे सुखाकर सत्त बनता है जो तीखुर कहलाता है। रस निकाले हुए खोइए को भी सुखा और पीसकर कोका के नाम से बेचते हैं। इसकी खेती पहाड़ों में अधिकता से होती है।

मरभुक्खा—वि० [हिं० मरना+भूखा] (१) भूख का मारा हुआ। भुक्खड़। (२) कंगाल। दरिद्र।

मरम—संज्ञा पुं० दे० "मर्म"।

मरमती—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का वृक्ष जिसकी लकड़ी कड़ी और बहुत टिकाऊ होती है और खेती के औजार और घर के सँगहे आदि बनाने के काम आती है। यह पेड़ छोटा होता है और भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में मिलता है। यह बीजों से उत्पन्न होता है।

मरमर—संज्ञा पुं० [यू०] एक प्रकार का दानेदार चिकना पत्थर जिस पर घोटने से अच्छी चमक आती है। इसमें चूने का अंश अधिक होता है और इसे जलाने से अच्छी कली निकलती है। यद्यपि संसार के भिन्न भिन्न प्रदेशों में अनेक रंगों के मरमर मिलते हैं, पर सफेद रंग के मरमर ही को लोग विशेष कर मरमर या संग मरमर कहते हैं। जो मरमर काला होता है, उसे संग मूसा कहते हैं। मरमर पत्थर की मूर्तियाँ, खिलौने, बरतन आदि बनाए जाते हैं और उसकी पटिया और ढोंके मकान बनाने में भी काम आते हैं। अच्छा मरमर इटली से आता है; पर भारतवर्ष में भी यह जोधपुर, जयपुर, कृष्णगढ़ और जबलपुर आदि स्थानों में मिलता है।

मरमरा‡—संज्ञा पुं० [हिं० मल या अनु०] वह पानी जो थोड़ा खारा हो।

संज्ञा पुं० [अनु०] एक पक्षी का नाम।

वि० जो सहज में टूट जाय। ज़रा सा दबाने पर मर मर शब्द करके टूट जानेवाला।

मरमराना—क्रि० अ० [अनु०] (१) मरमर शब्द करना। (२) अधिक दबाव पाकर पेड़ की शाखा व लकड़ी आदि का मरमर शब्द करके दबना। उ०—भयो भूरि भार धरा चलत जरा कुमार करत चिकार चार दिग्गज सहित सोग। गिरिधरदास भूमि मंडल मरमरात अति घबरात से परात हैं दिसन लोग। परम बिसेस भार सहि ना सकत सेस एक सिर ब्रह्म अंड सहस धरन जोग। लटकि लटकि सीस झटकि झटकि चित्त अटकि अटकि डारैं पटकि पटकि भोग।—गोपाल।

मरम्मत—संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी वस्तु के टूटे फूटे अंगों को ठीक करने की क्रिया वा भाव। दुरुस्ती। जीर्णोद्धार। जैसे, मकान की मरम्मत, घड़ी की मरम्मत।

मुहा०—मरम्मत करना=(१) टूटे फूटे अंशों को दुरुस्त करना वा सँवारना। (२) पीटना। ठोंकना। मारना।

मरल—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली। यह दो हाथ तक लंबी होती है और दलदलों या ऐसे तालाबों में पाई जाती है जिनमें घास फूस अधिक उगता है।

मरघट†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मरना] वह माफी ज़मीन जो किसी के मारे जाने पर उसके लड़के-बालों को दी जाती है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] पटुए की कच्ची छाल जो निकालकर सुखाई गई हो। सन का उलटा।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मलपट] वह लकीरें जो रामलीला आदि के पात्रों के गालों पर चंदन वा रंग आदि से बनाई जाती हैं।

मरवा–संज्ञा पुं० दे० "मरुआ"।

मरवाना–क्रि० स० [हिं० मारना का प्रेर०] (१) मारने का प्रेरणार्थक रूप। मारने के लिये प्रेरणा करना। (२) वध कराना।

संयो० क्रि०—डालना।

(३) दे० "मराना"।

मरसा-संज्ञा पुं० [सं० मारिष] एक प्रकार का साग जिसकी पत्तियाँ गोल, झुर्रीदार और कोमल होती हैं। इसके पेड़ तीन चार हाथ तक ऊँचे होते हैं। इसके डंठलों और पत्तियों का साग पकाकर लोग खाते हैं। मरसा दो प्रकार का होता है। एक लाल और दूसरा सफेद। लाल मरसा खाने में अधिक स्वादिष्ट होता है। मरसा बरसात के दिनों में बोया जाता है और भादों कुआँर तक इसका साग खाने योग्य होता है। पूरी बाढ़ के पहुँचने पर इसके सिरे पर एक मंजरी निकलती है जो एक बालिश्त से एक हाथ तक लंबी होती है। उस समय इसके डंठल और पत्तियाँ भी कड़ी हो जाती हैं और देर तक पकाई जाने पर कठिनाई से गलती हैं। मंजरी में सफेद सफेद छोटे फूल लगते हैं और फूलों के मुरझा जाने पर बीज पड़ते हैं। बीज छोटे, गोल, चिपटे और चमकीले काले रंग के होते हैं। यह बीज ओषधि में काम आते हैं। वैद्यक में इसके स्वाद को मधुर, इसकी प्रकृति शीतल और गुण रक्त-पित्तनाशक, वात-कफ-वर्द्धक और विष्टंभकारक लिखा है; और लाल मरसे को हल्का, चरपरा और सारक बताया गया है।

मरसिया–संज्ञा पुं० [अ०] (१) शोकसूचक कविता जो किसी की मृत्यु के संबंध में बनाई जाती है। यह उर्दू भाषा में अनेक छंदों में लिखी जाती है। इसमें किसी के मरने की घटना और उसके गुणों का ऐसे प्रभावोत्पादक शब्दों में वर्णन किया जाता है जिससे सुननेवालों में शोक उत्पन्न हो। ऐसी कविता प्रायः मुहर्रम के दिनों में पढ़ी जाती है।

क्रि० प्र०—पढ़ना।—लिखना।—सुनाना।

(२) सियापा। मरण-शोक। रोना-पीटना।

क्रि० प्र०—पड़ना।

मरहट*†–संज्ञा पुं० [हिं० मरघट] मसान। मरघट। उ०—कबिरा मंदिर आपने नित उठि करता आलि। मरहट देखी डरपता चौड़े दीया जालि।—कबीर।

*†–संज्ञा स्त्री० [देश०] मोठ। उ०—मूँग माख मरहट की पहिती चनक कनक सम दारी जी।—रघुनाथ।

मरहटा–संज्ञा पुं० [सं० महाराष्ट्र] (१) महाराष्ट्र देश का रहनेवाला। मरहठा। (२) उनतीस मात्राओं के एक मात्रिक छंद का नाम जिसमें १०, ८ और ११ पर विश्राम होता है तथा अंत में एक गुरु और लघु होता है। उ०—अति उच्च अगारनि बनी पगारनि जनु चिंतामणि नारि। बहुसत मख धूपनि धूपित अंगनि हरि की सी अनुहारि। चित्री बहु चित्रनि परम विचित्रिनि केशव दास निहारि। जनु विश्वरूप को विमल आरसी रची विरंचि विचारि।—केशव।

मरहठा–संज्ञा पुं० [सं०महाराष्ट्र=प्रा० मरहट्ठ] [स्त्री० मरहठिन] महाराष्ट्र देश का रहनेवाला। महाराष्ट्र। वि० दे० "महाराष्ट्र"।

मरहठी–वि० [हिं० मरहठा] महाराष्ट्र वा मरहठों से संबंध रखनेवाला। मरहठों का। जैसे, मरहठी कपड़ा, मरहठी चाल।

संज्ञा स्त्री० वह भाषा जो महाराष्ट्र देश में बोली जाती है। मरहठों की बोली। दे० "मराठी"।

मरहम–संज्ञा पुं० [अ०] ओषधियों का वह गाढ़ा और चिकना लेप जो घाव पर उसे भरने के लिये अथवा पीड़ित स्थानों पर लगाया जाता है।

क्रि० प्र०—लगाना।

यौ०—**मरहम पट्टी**=(१) आघात की चिकित्सा। घाव पर मरहम और पट्टी लगाना। (२) किसी जीर्ण पदार्थ की थोड़ी बहुत मरम्मत।

मरहला–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह स्थान जहाँ यात्री रात के समय ठहर जाते हैं। टिकान। मनजिल। पड़ाव।

(२) झोंपड़ी। (३) दर्जा। मरातिब।

मुहा०—**मरहला तय करना**=झमेला निबटाना। कठिन काम पूरा करना। **मरहला पड़ना वा मचना**=झमेला पड़ना। कठिनता उपस्थित होना। **मरहला डालना**=झगड़ा खड़ा करना।

मरहून–वि० [अ०] जो रेहन किया हो। गिरों रखा हुआ। (कच०)

मरहूना–वि० [फ़ा०] जो रेहन किया गया हो। जो गिरों रखा गया हो। जैसे, जायदाद मरहूना। (कच०)

मरहूम–वि० [अ०] स्वर्गवासी। मृत।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग किसी आदरणीय मृत व्यक्ति की चर्चा करते हुए उसके नाम के अन्त में किया जाता है।

मरातिब–संज्ञा पुं० [अ०] (१) दरजा। पद। (२) उत्तरोत्तर आनेवाली अवस्थाएँ।

मुहा०—मरातिब तै करना=किसी विषय के सारे झगड़ों का निबटेरा करना।

(३) पृष्ठ। तह। (४) मकान का खंड। तल्ला। उ०—अति उतंग सुंदर शशिशाळा सात मरातिबवारे।—रघुराज। (५) ध्वजा। झंडा। उ०—जामवंत हनुमंत नल नील मरातिब साथ। छरी छबीली शोभिजै दिक्पालन के हाथ।—केशव।

यौ०—माही मरातिब=एक प्रकार की ध्वजा जो मुसलमान राजाओं की सवारी के आगे हाथियों पर चलती है। ये ध्वजाएँ संख्या वा प्रकार मे सात होती हैं, जिन पर क्रमशः सूर्य्य, पंजा, तुला, नाग, मछली, गोल तथा सूर्य्यमुखी के चिह्न होते हैं।

मराना—क्रि० स० [हिं० मारना का प्रेर०] (१) मारने के लिये प्रेरणा करना। मरवाना। उ०—(क) पिता तुम्हार राज कर भोगी। पूजै विप्र मरावै जोगी।—जायसी। (ख) पंच कहै सिव सती बिवाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही।—तुलसी। (२) किसी को अपने ऊपर आघात करने के लिये प्रेरणा करना वा करने देना। (३) गुदा भंजन कराना। (बाजारू)।

मराय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकाहयज्ञ। (२) एक प्रकार का साम।

मरायल*†—वि० [हिं० मारना+आयल (प्रत्य०)] (१) जो किसी से कई बार मार खा चुका हो। पीटा हुआ। उ०—सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। कहि अस कोपि गगन पथ धायल।—तुलसी। (२) निःसत्व। सत्वहीन। जैसे, मरायल अन्न, मरायल पौधा। (३) मरियल। निर्बल। निर्जीव। (४) घाटा। टोटा।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।

मरार—संज्ञा पुं० [सं०] खलिहान।

मराल—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मराली] (१) एक प्रकार का बत्तख जो हलकी ललाई लिये सफेद रंग का होता है। (२) घोड़ा। (३) हाथी। (४) कारंडव नामक पक्षी। (५) हंस। उ०—सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग-माल से।—तुलसी। (६) अनार की वाटिका। (७) काजल। (८) बादल। (९) दुष्ट। खल।

मरिंद*—संज्ञा पुं० (१) दे० "मलिंद"। (२) दे० "मरंद"

मरिखम—संज्ञा पुं० दे० "मलखंभ"।

मरिच—संज्ञा पुं० [सं०] मिरिच।

मरिचा—संज्ञा पुं० [सं० मरिच] बड़ी लाल मिरिच।

वि दे० "मिरिच"।

मरिया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० मदना] (१) वह रस्सी जो खाट में पायताने की ओर उंचन लगाकर ऊपर से एक पट्टी से दूसरी पट्टी तक बाने की तरह बाँधी जाती है। (२) नाव में वह तख़्ता जो उसके पेंदे में गूढ़े के नीचे बेड़े बल में लगा रहता है। मढ़िया।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना] लोहे की एक छोटी हथौड़ी जिससे धातुओं पर खुदाई का काम करने वाले कलम को ठोंकते हैं।

मरी—संज्ञा स्त्री० [सं० मारी] (१) वह रोग जो स्पर्श दोष से फैलता है और जिसमें एक साथ बहुत से लोग मरते हैं। मारी।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना] एक प्रकार का भूत। लोगों का विश्वास है कि यह किसी ऐसी दुष्ट स्वभाववाली स्त्री की प्रेतात्मा होती है जो किसी रोग, आघात अथवा किसी अन्य कारणवश पूर्णायु को न पहुँचकर अल्पायु में मरी हो। मरहां।

संज्ञा स्त्री० [देश०] देशी सागूदाने का पेड़। यह भारतवर्ष तथा लंका, सिंगापुर आदि द्वीपों में उत्पन्न होता है। यह पेड़ देखने में बहुत सुंदर मालूम होता है। इससे ताड़ी निकाली जाती है जिसे लोग पीते हैं और जिससे गुड़ भी बनाते हैं। इसकी कोमल बालों वा मंजरी की तरकारी बनाई जाती है। इसके पुराने स्कंध में के गूदे से सागूदाना निकलता है जो पानी में पकाकर खाया जाता है वा पीस कर जिसकी रोटियाँ बनाई जाती हैं; और रेशे से कूँची, ब्रुश, रस्सी और जाल बनाए जाते हैं। इसकी लकड़ी मज़-बूत और टिकाऊ होती है। इसे भेरवा भी कहते हैं।

मरीचि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ऋषि का नाम। पुराणों में इन्हें ब्रह्मा का मानसिक पुत्र लिखा है, एक प्रजापति माना है और सप्तर्षियों में गिनाया गया है। किसी किसी पुराण में इनकी स्त्री का नाम 'कला' और किसी किसी में 'संभूति' लिखा है। (२) एक मरुत् का नाम। (३) एक ऋषि का नाम जो भृगु के पुत्र और कश्यप के पिता थे। (४) दनु के एक पुत्र का नाम। (५) प्रियव्रत-वंशी एक राजा का नाम। (६) एक प्राचीन मान जो छः त्रसरेणु के बराबर होता है। (७) एक दैत्य का नाम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किरण। उ०—(क) अति सुकुमारी वृषभान की दुलारी सो कैसे सहै प्यारी मरीचैं मारतंड की।—सरलाबाई। (ख) किधौं सुधा दिग भित्त पखारत चंद मरीचिन को करि कूचो।—मतिराम। (ग) रघुनाथ पिय बस करिबे को चली बाल मुख की मरीचि जल दिग्नि मढ़ि कै लई।—रघुनाथ। (२) भा। कांति। ज्योति। उ०—कीधौं मृगलोचन मरीचिका मरीचि किधौं रूप की रुचिर रुचि शुचि सों दुराई है।—केशव। (३) मरीचिका। मृगतृष्णा। उ०—बीच मरीचिनु के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिंद के।—देव।

मरीचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृगतृष्णा । सिरोह । (२) किरण । उ०—(क) बारिज बरत बिन वारे वारि दारु बीच बीच बीचिका मरीचिका सी छहरी ।—देव । (ख) चहचही सेज चहूँ चहक चमेलिन सों, बेलिन सों मंजु मंजु गुंजन मलिंद जाल । तरुई मरीचिका दरीचिन के दीवे ही में, छपा की छबीली छबि छहरत तत्काल ।—देव ।

मरीचिगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य । (२) दक्ष सावर्णि मन्वंतर में होनेवाले एक प्रकार के देवताओं का गण ।

मरीचिजल-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा ।

मरीचितोय-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा ।

मरीची-वि० [सं० मरीचिन्] [स्त्री० मरीचिनी] किरणयुक्त । जिसमें किरणें हों ।

संज्ञा पुं० (१) सूर्य्य । (२) चंद्रमा ।

मरीज़-वि० [अ०] रोगी । रोग-ग्रस्त । बीमार ।

मरीना-संज्ञा पुं० [स्पेनी० मेरिनो] एक प्रकार का बहुत मुलायम ऊनी पतला कपड़ा जो मेरीनो नामक भेड़ के ऊन से बनता है ।

मरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह भूमि जहाँ जल न हो और केवल बलुआ मैदान हो । मरुस्थल । निर्जल स्थान । रेगिस्तान । मरुभूमि । (२) वह पर्व्वत जिसमें जल का अभाव हो । (३) मारवाड़ और उसके आसपास के देश का नाम । (४) मरुआ नामक पौधा । (५) एक सूर्य्यवंशी राजा का नाम (६) नरकासुर के एक सहचर असुर का नाम ।

मरुआ-संज्ञा पुं० [सं० मरुव] बन-तुलसी वा बबरी की जाति के एक पौधे का नाम । यह पौधा बागों में लगाया जाता है । इसकी पत्तियाँ बबरी की पत्तियों से कुछ बड़ी, नुकीली, मोटी, नरम और चिकनी होती हैं जिनमें से उग्र गंध आती है । इसके दल देवताओं पर चढ़ाए जाते हैं । इसका पेड़ डेढ़ दो हाथ ऊँचा होता है और इसकी फुनगी पर कार्त्तिक अगहन में तुलसी की भाँति मंजरी निकलती है जिसमें नन्हें नन्हें सफेद फूल लगते हैं । फूलों के झड़ जाने पर बीजों से भरे हुए छोटे छोटे बीज-कोश निकल आते हैं जिनमें से पकने पर बहुत बीज निकलते हैं । ये बीज पानी में पड़ने पर ईसबगोल की तरह फूल जाते हैं । यह पौधा बीजों से उगता है; पर यदि इसकी कोमल टहनी वा फुनगी लगाई जाय तो वह भी लग जाती है । रंग के भेद से मरुआ दो प्रकार का होता है, काला और सफेद । काले मरुए का प्रयोग ओषधि रूप में नहीं होता और केवल फूल आदि के साथ देवताओं पर चढ़ाने के काम आता है । सफेद मरुआ ओषधियों में काम आता है । वैद्यक में यह चरपरा, कड़ुआ, रूखा और रुचिकर तथा तीखा, गरम, हलका, पित्तवर्द्धक, कफ और बात का नाशक, विष, कृमि और कुष्ठ-रोगनाशक माना गया है । नागबेल । नादबोई । उ०—अति व्याकुल भई गोपिका ढूँढ़त गिरिधारी । बूझति हैं बन बेलि सों देखे बनवारी । बूझा मरुआ कुंद सों कहे गोद पसारी । बकुल बहुल बट कदम पै ठाढ़ी ब्रजनारी ।—सूर ।

पर्य्या०—मरुवक । मरुत्तक । फणिज्झक । प्रस्थपुष्प । समीरण । कुलसौरभ । गंधपत्र । खटपत्र ।

संज्ञा पुं० [सं० मंड वा मेरु वा अनु०] (१) मकान की छाजन में सब से ऊपर की बल्ली जिस पर छाजन का ऊपरी सिरा रहता है । बँड़ेर । (२) जुलाहों के करघे में लकड़ी का वह टुकड़ा जो डेढ़ बालिश्त लंबा और आठ अंगुल मोटा होता है और छत की कड़ी में जड़ा होता है । (३) हिंडोले में वह ऊपर की लकड़ी जिसमें हिंडोला लटकाया जाता है वा हिंडोले को लटकाने की लकड़ी जड़ी वा लगाई जाती है । उ०—कंचन के खंभ मयारि मरुआ डाँड़ी खचित हीरा बिच लाल प्रवाल । रेसम बुनाई नवरतन लाई पालनो लटकन बहुत पिरोजा लाल ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [हिं० माँड] माँड़ ।

मरुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर । (२) एक प्रकार का मृग ।

मरुकच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार एक प्रदेश का नाम । यह दक्षिण दिशा में है और हस्त, चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के अधिकार में माना गया है ।

मरुकांतार-संज्ञा पुं० [सं०] बालू वा रेत का मैदान । रेगिस्तान । मरुभूमि ।

मरुकुच्छ-संज्ञा पुं० दे० "मरुकुत्स" ।

मरुकुत्स-संज्ञा पुं० [सं०] वाराही संहिता के अनुसार एक देश का नाम जो कूर्म विभाग के अनुसार पश्चिमोत्तर दिशा में है और जो उत्तराषाढ़, श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्रों के अधिकार में है ।

मरुचीपट्टन-संज्ञा पुं० [सं०] बृहत्संहिता के अनुसार दक्षिण दिशा के एक देश का नाम जो हस्त, चित्रा और स्वाती के अधिकार में है ।

मरुज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नख नामक सुगंधित द्रव्य । (२) बाँस का कल्ला ।

मरुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रायण की जाति की एक लता जो मरुस्थल में होती है ।

मरुजाता-संज्ञा स्त्री० [सं०] कपिकच्छु । केवाँच । कौंछ ।

मरुटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जिसका ललाट ऊँचा हो ।

मरुत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक देवगण का नाम । वेदों में इन्हें रुद्र और वृश्नि का पुत्र लिखा है और इनकी संख्या ६० की तिगुनी मानी गई है; पर पुराणों में इन्हें कश्यप और दिति का पुत्र लिखा गया है जिसे उसके वैमात्रिक भाई

इंद्र ने गर्भ काटकर एक से उनचास टुकड़े कर डाले थे, जो उनचास 'मरद्' हुए। वेदों में मरुद्गण का स्थान अंतरिक्ष लिखा है, उनके घोड़े का नाम पृशित बतलाया है तथा उन्हें इंद्र का सखा लिखा है। पुराणों में इन्हें वायु कोण का दिक्पाल माना गया है। (२) वायु। वात। हवा। (३) प्राण। (४) हिरण्य। सोना। (५) एक साध्य का नाम। (६) सौंदर्य। (७) बृहद्रथ राजा का एक नाम। (८) मरुआ। (९) ऋत्विक्। (१०) गठिवन। (११) असवर्ग। (१२) दे० "मरुत्त"।

मरुतवान*–संज्ञा पुं० दे० "मरुत्वान्"।

मरुत्कर–संज्ञा पुं० [सं०] राजमाष। उड़द।

मरुत्त–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक चक्रवर्ती राजा जो चंद्रवंशी महाराज करंधर के पुत्र अवीक्षित का पुत्र था। इसने अनेक बार बड़े बड़े यज्ञ किए थे जिनमें समस्त यज्ञ-पात्र सोने के बनवाए थे। इसके प्रभावती, सौवीरा, सुकेशी, केकयी, सैरंध्री, वसुमती और सुशोभना नाम की सात रानियाँ थीं, जिनसे अठारह लड़के उत्पन्न हुए थे। भागवत में इसे यदुवंशी और करंधर का पुत्र लिखा है।

मरुत्तक–संज्ञा पुं० [सं०] मरुआ नामक पौधा।

मरुत्पति–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मरुत्पथ–संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।

मरुत्पल–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मरुत्प्लव–संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। शेर।

मरुत्फल–संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

मरुत्वती–संज्ञा स्त्री० [सं०] धर्म की पत्नी का नाम। यह प्रजापति की कन्या थी।

मरुत्वान्–संज्ञा पुं० [सं० मरुत्वत् का प्र० ए० रूप] (१) इंद्र। (२) महाभारत के अनुसार देवताओं के एक गण का नाम जो धर्म के पुत्र माने जाते हैं। (३) हनूमान्।

मरुत्सख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) अग्नि।

मरुत्सहाय–संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

मरुत्सुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

मरुत्स्तोम–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का एकाह यज्ञ।

मरुथल–संज्ञा पुं० दे० "मरुस्थल"।

मरुदांदोल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धौंकनी। (२) प्राचीन काल की एक प्रकार की धौंकनी जो हरिन वा भैंस के चमड़े से बनती थी।

मरुदिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल। गूगुल।

मरुदेव–संज्ञा पुं० [सं०] ऋषभदेव के पिता का नाम।

मरुद्रथ–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

मरुद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विट्खदिर। (२) बबूल।

मरुद्वर्त्म–संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।

मरुद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) धूआँ। (२) आग।

मरुद्विप–संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।

मरुद्वीप–संज्ञा पुं० [सं०] वह उपजाऊ और सजल हरा भरा स्थान जो मरुस्थल में हो। ओसिज।

मरुद्वृधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पंजाब की एक नदी का वैदिक नाम।

मरुद्वेग–संज्ञा पुं० [सं०] एक दैत्य का नाम।

मरुधन्वा–संज्ञा पुं० [सं० मरुधन्वन्] (१) मरुस्थल। निर्जल प्रदेश। (२) इंदीवर नामक विद्याधर के पुत्र का नाम।

मरुधर–संज्ञा पुं० [सं०] मारवाड़ देश। उ०—प्यासे दुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि। मरुधर पाय मतीरह मारू कहत पयोधि।—बिहारी।

मरुभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] बालू का निर्जल मैदान जहाँ कोई वृक्ष वा वनस्पति आदि न उगती हो। रेगिस्तान।

मरुभूरुह–संज्ञा पुं० [सं०] करील का पेड़।

मरुन्माला–संज्ञा पुं० [सं०] पृक्का नाम की लता। असवर्ग।

मरुर–संज्ञा पुं० [सं० मूर्वा] गोरचकरा।

मरुरना*–क्रि० अ० [हिं० मरोरना] 'मरोरना' का अकर्मक रूप। ऐंठना। बल खाना। उ०—(क) तीखी दीठ तूख सी पतूख सी अहरि अंग ऊख सी मरुरि मुख लागति महूख सी।—(ख) मरुरत अंगन अमर रतरंग केश मरुरत नाथ देव जीति कै जगत है।—देव।

मरुल–संज्ञा पुं० [सं०] जंगली बत्तक की एक जाति का नाम। कारंडव।

मरुव–संज्ञा पुं० [सं०] मरुआ।

मरुवक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक कँटीले पेड़ का नाम जिसे मैनी कहते हैं। (२) मरुआ। नागदौना। (३) तिल का पौधा। (४) व्याघ्र। बाघ। (५) राहु।

मरुवा–संज्ञा पुं० दे० "मरुआ"।

मरुसंभव–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की छोटी मूली।

मरुसंभवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महेंद्रवारुणी। (२) एक प्रकार का खैर जिसका पेड़ बहुत छोटा होता है। (३) छोटा धमास। क्षुद्र जवास। (४) एक प्रकार का कनेर।

मरुसा†–संज्ञा पुं० दे० "मरसा"।

मरुस्थल–संज्ञा पुं० [सं०] बालू का मैदान जिसमें निर्जल होने के कारण कोई वृक्ष वा वनस्पति न उगती हो। मरुभूमि। रेगिस्तान।

मरुस्था–संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटा धमास।

मरू*–वि० [सं० मेरु वा हिं० मरना] कठिन। दुरूह। उ०—कल्प समान रैन तेहि बाढ़ी। तिल तिल मरु जुग जुग पर गाढ़ी।—जायसी।

मुहा०—मरू करि के वा मरू करि*=कठिनाई से। ज्यों त्यों करके। बहुत मुश्किल से। उ०—(क) ता कहँ तौ अब लौं

बहराइ के राखी बसाइ मरू करि मैं है ।—केशव । (ख) देह में नेकु सम्हार रह्यो नहिं ह्यों लगि भाजि मरू करि आई ।—मतिराम । (ग) अँसुआ ठहरात गरौ घहरात मरू करि आधिक बात कही ।—देव । (घ) द्यौस तो बीत्यो मरू करिके अब आई है राति सो कैसे धौं बीतिहै ।

मरूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मृग । (२) मयूर । मोर ।

मरूद्भवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जवास । (२) कपास । (३) एक प्रकार का खैर ।

मरूर-संज्ञा पुं० [सं०] गोरचकरा ।

मरूरा*†-संज्ञा पुं० [हिं० मरोड़] ऐंठन । बल । मरोड़ ।

मुहा०—मरूरा देना=बल देना । मरोड़ना । उमेठना । उ०—मुख के पवन परस्पर सुखवत गहे पानि पिय जूरो । बूझति जानि मन्मथ चिनगी फिरि मानो दियो मरूरो ।—सूर ।

मरूल-संज्ञा पुं० [सं० मुर्व] गोरचकरा । मरूर ।

मरेठी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मलना+ऐंठना] वह रस्सी जिससे हेंगा वा पटेला बाँधकर खेत में खींचा वा चलाया जाता है । बरहा । बेड़ । गुरिया । बखर ।

संज्ञा स्त्री० दे० "मुलेठी" ।

मरोड़-संज्ञा पुं० [हिं० मरोड़ना] (१) मरोड़ने का भाव या क्रिया । उ०—(क) मानत लाज लगाम नहिं नेकु न गहत मरोर । होत तोहि लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर ।—मतिराम । (ख) उतहीं ते मोरति दृगन आवत अलि जिहि ओर । सीखति है मुग्धा मनों भय मिसि भृकुटि मरोर ।—लक्ष्मणसिंह ।

मुहा०—मरोड़ खाना=चक्कर खाना । उ०—न्हाय बसन पहिरन लगी बस न चल्यो चित दोर । खाय मरोर खड़े गिर्‍यो गड़े कड़े कुच कोर ।—रामसहाय । मन में मरोड़ करना=मन में दुराव वा कपट रखना । कपट करना । उ०—साधू आवत देखि के मन में करत मरोर । सो होवेगा चूहड़ा बसे गाँव की ओर ।—कबीर । मरोड़ की बात=पेचदार बात । घुमाव फिराव की बात ।

(२) मरोड़ने से पड़ा हुआ घुमाव । ऐंठन । बल । (३) उद्वेग आदि के कारण उत्पन्न पीड़ा । व्यथा । क्षोभ । उ०—(क) घिरि आये चहुँ ओर घन तेहि तकि मारेस सोर । मोर सोर सुनि होत री तन में अधिक मरोर ।—रामसहाय । (ख) झिल्लत झकोर रहै जोबन को जोर रहै समद मरोर शोर रहै तब सो ।—पद्माकर । (ग) इक तो मार मरोर ते मरति भरति है साँस । दूजे जारत मास री यह सुचि लौं सुचि माँस ।—रामसहाय ।

मुहा०—मरोड़ खाना=उलझन में पड़ना । उ०—गुलफनि लौं ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर । फिर न फिर्‍यो मुरवान चपि चित अति खात मरोर ।—रामसहाय ।

(४) पेट में ऐंठन और पीड़ा होना । पेट ऐंठना । (५) घमंड । गर्व उ०—आये आप भली करी मेटन मान मरोर । दूर करौ यह देखिहै छला छिगुनिया छोर ।—बिहारी । (६) क्रोध । गुस्सा ।

मुहा०—मरोड़ गहना=क्रोध करना । उ०—रह्यो मोह मिलना रह्यो यों कहि गहै मरोर । उत दै सखिहि उराहनो इत चितइ मों ओर ।—बिहारी ।

विशेष—कविता में प्रायः "मरोड़" के स्थान में "मरोर" ही पाया जाता है ।

मरोड़ना-क्रि० स० [हिं० मोड़ना] (१) एक ओर से घुमाकर दूसरी ओर फेरना । बल डालना । ऐंठना । उ०—(क) बाँह मरोरे जात हौ मोहि सोवत लियो जगाय । कहै कबीर पुकारि कै यहि पैंडे ह्वै कै जाय ।—कबीर । (ख) गोड़ चाप लै जीभ मरोरी । दधि ढरकायो भाजन फोरी ।—सूर । (ग) कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी । महि पटकत भज भुजा मरोरी ।—तुलसी । (घ) मोहि झकझोरि डारी कुच को मरोर डारी तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बेनी त्यों ।—पद्माकर

क्रि० प्र०—देना ।—डालना ।—पड़ना ।

मुहा०—अंग मरोड़ना=अँगड़ाई लेना । उ०—सब अंग मरोरि मुरो मन मैं झरि पूरि रही रस मैं न भई ।—गुमान । भौंह मरोड़ना या दृग (आदि) मरोड़ना-(१) भ्रूभंग करना । आँख से इशारा करना वा कनखी मारना । उ०—(क) अंतर में पति को सुरति गहि गहि गहकि गुनाह । दृग मरोरि मुख मारि तिय छुवन देत नहिं छाँह ।—पद्माकर । (ख) पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी बहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी ।—देव । (२) नाक भौंह चढ़ना । भौंह सिकोड़ना । उ०—(क) हौं हूँ गही पद्माकर दौरि सो भौंह मरोरत सेज लौं आई ।—पद्माकर । (ख) सुनि सौतिन के गुन की चरचा द्विज जू तिय भौंह मरोरन लागी ।—द्विजदेव ।

(२) ऐंठकर नष्ट करना वा मार डालना । उ०—(क) महावीर बाँकुरे बराकी बाँह पीर क्यों न लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोर मारियो ।—तुलसी । (ख) माँदि मार्‍यो कलह बियोग मार्‍यो बोरि कै मरोरि मार्‍यो अभिमान भर्‍यो भय मार्‍यो है ।—केशव । (ग) कपि पुनि उपवन बारिहि तोरी । पंच सेनपति सेन मरोरी ।—पद्माकर ।

क्रि० प्र०—डालना ।—देना ।

(३) पीड़ा देना । दुःख देना । वेदना उत्पन्न करना । उ०—(क) बार बधू पिय पंथ लखि अँगरानी अंग मोरि । पौढ़ि रही परयंक मनु डारी मदन मरोरि ।—मतिराम । (ख) एक

आली गई कहि कान में आइ परी जहाँ मैन मरोरी गई ।
—वेणी । (४) मलना । मींजना । मसलना ।

मुहा०—हाथ मरोड़ना*=हाथ मलना । पछताना । उ०—(क) अब पछताव दरब जस जोरी । करहु स्वर्ग पर हाथ मरोरी ।—जायसी । (ख) पुरुष पुरातन छाड़ि कर चली आन के साथ । लोभी संगत बीछुड़ी खड़ी मरोरइ हाथ ।
—दादू ।

विशेष—कविता में "मरोड़ना" का रूप प्रायः "मरोरना" ही पाया जाता है ।

मरोड़फली-संज्ञा स्त्री० [हिं० मरोड़+फली] एक प्रकार की फली जो प्रायः पेट के मरोड़ के लिए गुणकारी होती है । मुर्रा । अवतरनी ।

मरोड़ा-संज्ञा पुं० [हिं० मरोड़ना] (१) ऐंठन । मरोड़ । उमेठ । बल । (२) पेट की वह पीड़ा जिसमें अन्दर की ओर कुछ ऐंठन सी जान पड़ती हो । यह एक रोग है जिसमें मलोत्सर्ग के समय पेट में ऐंठन सी होती है और प्रायः कोष्ठबद्ध रहता है । कभी कभी आँव के साथ भी मरोड़ होता है ।

क्रि० प्र०—उठना ।—पड़ना ।

मरोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मरोड़ना] (१) ऐंठन । घुमाव । बल ।

मुहा०—मरोड़ी करना=खींचातानी करना । इधर उधर करना ।
उ०—नख सिख लौं चित चोर सकल अँग चीन्हें पर कत करत मरोरी । एक सुनि सूर हर्‌यो मेरो सरबस अरु उलटी डोलों सँग डोरी ।—सूर ।
(२) वह बत्ती जो आटे आदि में सने हुए हाथों से मलने पर छूटकर निकलती है । (३) गुत्थी । गाँठ ।

मरोलि-संज्ञा पुं० [सं०] मकर की जाति का एक बड़ा सामुद्रिक जंतु ।

मर्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) देह । शरीर । (२) वायु । हवा । (३) शुक्राचार्य के एक पुत्र का नाम । (४) बंदर ।

मर्कक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मकड़ा । (२) हरगीला नामक पक्षी ।

मर्कट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंदर । बानर । (२) मकड़ा । (३) हरगीला नामक पक्षी । (४) एक प्रकार का विष । (५) दोहे के एक भेद का नाम जिसमें सत्रह गुरु और चौदह लघु मात्राएँ होती हैं । उ०—ब्रज में गोपन संग में राधा देखे श्याम । (६) छप्पय का आठवाँ भेद जिसमें ६३ गुरु, २६ लघु कुल ८९ वर्ण या १५२ मात्राएँ वा ६३ गुरु, २२ लघु कुल ८५ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं ।

मर्कटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बानर । बंदर । (२) मकड़ी । (३) एक प्रकार की मछली । (४) मडुआ नामक अन्न । (५) मकरा नामक घास । (६) एक दैत्य का नाम ।

मर्कटतिंदुक-संज्ञा पुं० [सं०] कुपीलु ।

मर्कटपाल-संज्ञा पुं० [सं०] बंदरों का राजा, सुग्रीव ।

मर्कटपिप्पली-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपामार्ग । चिचड़ा ।

मर्कटप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] खिरनी का पेड़ ।

मर्कटवास-संज्ञा पुं० [सं०] मकड़ी का जाला ।

मर्कटशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] हिंगुल ।

मर्कटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बानरी । बँदरी । (२) मकड़ी । (३) भूरी केवाँच । कौंछ । (४) अपामार्ग । (५) अजमोदा । (६) एक प्रकार का करंज । (७) छंद के ९ प्रत्ययों में से अंतिम प्रत्यय । इसके द्वारा मात्रा के प्रस्तार में छंद के लघु, गुरु कला और वर्णों की संख्या का परिज्ञान होता है ।

मर्कटेंदु-संज्ञा पुं० [सं०] कुचिला ।

मर्कत*-संज्ञा पुं० दे० "मरकत" ।

मर्कर-संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज । भँगरा । भँगरैया ।

मर्करा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरंग । (२) तहखाना । (३) भाँड़ा । बर्तन । (४) बाँझ स्त्री ।

मर्चा-संज्ञा स्त्री० दे० "मिर्च" ।

मर्जी-संज्ञा स्त्री० दे० "मरज़ी" ।

मर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । (२) भूलोक ।

मर्तबा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पद । पदवी । जैसे,—आज कल वे अच्छे मरतबे पर हैं ।

क्रि० प्र०—चढ़ना ।—देना ।—जाना ।—पाना ।—बढ़ना ।—मिलना ।

(२) बार । बेर । दफ़ा । जैसे,—मैं आपके मकान पर कई मर्तबा गया था, पर आप नहीं मिले ।

मर्तबान-संज्ञा पुं० [हिं० अमृतबान] रोगनी बर्तन जिसमें अचार, मुरब्बा, घी आदि रक्खा जाता है । अमृतबान ।

मर्त्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य । (२) भूलोक । (३) शरीर ।

मर्त्यमुख-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मर्त्यमुखी] किन्नर ।

मर्त्यलोक-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी । मनुष्य-लोक ।

मर्द-संज्ञा पुं० [फ़ा, मि० सं० मर्त्त और मर्त्य] (१) मनुष्य । पुरुष । आदमी । (२) साहसी पुरुष । पुरुषार्थी मनुष्य । उ०—मर्द शीश पर नवे मर्द बोली पहिचाने । मर्द खिलावे खाय मर्द चिंता नहिं आने । मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावे । गहिरे सँकरे काम मर्द के मर्दै आवै । पुनि मर्द उन्हीं को जानिये दुख सुख साथी कर्म के । बैताल कहै सुन विक्रम, तू ये लक्षण मर्द के ।

मुहा०—मर्द आदमी=(१) भला आदमी । सभ्य पुरुष । (२) वीर । बहादुर ।

(३) वीर पुरुष । योद्धा । जवान । उ०—चलेउ भूप गोनर्द वर्द वाहन समान बल । संग लिये बहु मर्द लखि होत अपरदल ।—गिरधरदास । (४) पुरुष । नर । जैसे—मर्द और औरतें । (५) पति । भर्ता ।

मर्दना*–क्रि० स० [सं० मर्दन] (१) अंग आदि पर ज़ोर से हाथ फेरना । मालिश करना । मलना । उ०—तन मर्दति पिय के तिया, दरसावति झुठ रोष ।—पद्माकर । (२) उबटन तेल आदि को अंगों पर चुपड़कर बलपूर्वक चुपड़े हुए स्थान पर बार बार हाथ फेरना जिससे अंग में उसका सार वा स्निग्ध अंश घुस जाय । मलना । (३) चूर्णित करना । तोड़ फोड़ डालना । (४) मसककर विकृत करना । नाश करना । कुचलना । रौंदना । उ०—(क) कबहुँ विटप भूधर उपारि पर सेन बरक्खे । कबहुँ बाजि सन बाजि मर्दि गजराज करक्खे ।—तुलसी । (ख) खायेसि फल अरु विटप उपारे । रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे ।—तुलसी । (ग) जेहि शर मधु मद मर्दि महासुर मर्दन कीन्हो । मार्‍यो कर्कश नरक शंख हनि शंख सुलीन्हो ।—केशव ।

मर्दानगी–संज्ञा स्त्री० दे० "मरदानगी" ।

मर्दाना–वि० [फ़ा०] (१) पुरुष संबंधी । (२) मनुष्योचित । (३) वीरोचित । (४) वीर । साहसी । (५) पुरुष का सा । पुरुषवत् ।

मर्दित–वि० दे० "मर्द्दित" ।

मर्दी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मरदानगी । वीरता । बहादुरी ।

मर्दुम–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मनुष्य ।

यौ०—मर्दुमशुमारी ।

मर्दुमशुमारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) किसी देश में रहनेवाले मनुष्यों की गणना । मनुष्य-गणना ।

विशेष—यद्यपि भारतवर्ष के मदरास और पंजाब प्रांतों में समय समय पर वहाँ के रहनेवालों की गिनती करने की प्रथा बहुत पूर्व से चली आती थी, पर पाश्चात्य देशों में नवीन प्रणाली की मनुष्य-गणना की प्रथा रोम में आरम्भ हुई है, जहाँ स्वतंत्र मनुष्यों के कुटुंब, संपत्ति, दास और मुखिया की परिस्थिति आदि का विवरण यथासमय लिखकर मनुष्यों की गणना की जाती थी । इंगलैंड में सबसे पहले मनुष्य-गणना सन् १८०१ में प्रारम्भ हुई और १८११ में आयरलैंड में गणना की चेष्टा हुई । पर सन् १८५१ तक की मनुष्य-गणना परिपूर्ण नहीं कही जा सकती । सन् १८६१ में नियमित रूप से इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड में मनुष्यगणना प्रारम्भ हुई, जिसमें प्रत्येक गाँव और नगर के मनुष्यों की आयु, वैवाहिक संबंध, पेशे, जन्म-स्थान आदि का सविस्तर विवरण लिखा गया; और सन् १८७१ में व्यवस्थित रूप से राजकीय वा इंपीरियल मनुष्य-गणना हुई । ठीक इसी समय अर्थात् सन् १८६७ और १८७२ में भारतवर्ष में भी मनुष्य गणना प्रारम्भ हुई । पर उस समय काश्मीर, हैदराबाद, राजपूताने और मध्यभारत के देशी राज्यों में मनुष्य-गणना नहीं हुई और गणना का प्रबंध भी समुचित नहीं था । भारतवर्ष की ठीक ठीक मनुष्य-गणना का आरम्भ १८८१ से माना जा सकता है । यह मनुष्य-गणना १७ फरवरी को हुई थी । तब से प्रति दसवें वर्ष प्रत्येक ग्राम और नगर में रहनेवालों का नाम, आयु, धर्म, जाति, शिक्षा, भाषा, व्यापार आदि का विवरण लिखा जाता है ।

(२) किसी स्थान में रहनेवाले मनुष्यों की संख्या । जन-संख्या । आबादी ।

मर्दुमी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मरदानगी । पौरुष । वीरता । (२) पुंसत्व ।

क्रि० प्र०—दिखलाना ।—रखना ।

मर्दूद–वि० दे० "मरदूद" ।

मर्द्दक–वि० [सं०] (१) मर्दन करनेवाला । मर्दनकारक । (२) दबानेवाला । तिरोभावक ।

मर्द्दन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मर्द्दित] (१) कुचलना । रौंदना । उ०—(क) भगवान करे, इस दरबार में तुझे वही मिले जो महादेवजी के सिर पर है और तुझे वह शास्त्र पढ़ाया जाय जो काँटों को मर्द्दन करता है ।—हरिश्चंद्र । (ख) तेरा नाम तभी है, जब तू इस रावण सरीखे शत्रु का मुकुट अपने चरण-तल में मर्दन करे ।—राधाकृष्ण । (२) दूसरे के अंगों पर अपने हाथों से बलपूर्वक रगड़ना । मलना । जैसे, तैल मर्द्दन करना । उ०—(क) तेल लगाइ कियो रुचि मर्द्दन वस्त्रादि रुचि रुचि धोये । तिलक बनाइ चले स्वामी है विषयनि के मुख जोये ।—सूर । (ख) हरि मिलन सुदामा आयो । विधि करि अरघ पाँवड़े दीन्हे अंतर प्रेम बढ़ायो । आदर बहुत कियो यादवपति मर्द्दन करि अन्हवायो । चोवा चंदन और कुमकुमा परिमल अंग चढ़ायो ।—सूर । (ग) पादपद्म निति मर्द्दन करई । तन छाया सम निति अनुसरई ।—शं० दि० । (३) तेल, उबटन आदि शरीर में लगाना । मलना । उ०—भाव दियो आवेंगे श्याम । अंग अंग आभूषण साजति राजति अपने धाम । रति रण जानि अनंग नृपति सों आप नृपति राजति बल जोरति । अति सुगंध मर्द्दन अँग अँग ठनि बनि बनि बनि भूषन भेषति ।—सूर । (४) द्वंद्व युद्ध में एक मल्ल का दूसरे मल्ल की गर्दन आदि पर हाथों से घस्सा लगाना । घस्सा । उ०—आकर्षण मर्द्दन भुज-बंधन । दाँव करत भेकर धरि कंधन ।—गोपाल । (५) ध्वंस । नाश । उ०—जेहि शर मधु-मद मर्दि महासुर मर्द्दन कीन्हो । मार्‍यो कर्कश नरक शंख हनि शंख सुलीन्हो ।—केशव । (६) रसेश्वर दर्शन के अनुसार अठारह प्रकार के रस-संस्कारों में दूसरा संस्कार । इसमें पारे आदि को ओषधियों के साथ खरल करते या घोंटते हैं । घोंटना । (७) पीसना । घोंटना । रगड़ना ।

वि० [स्त्री० मर्द्दनी] नाशक। विनाशक। संहारकर्ता। उ०—(क) कुंद इंदु सम देह उमारमण करुना अयन। जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्द्दन मयन।—तुलसी। (ख) किन गजपति मर्द्दन प्रबल सिंह पींजरा दीन।—हरिश्चंद्र।

मर्द्दल–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का मृदंग की तरह का एक प्रकार का बाजा। इस बाजे का उल्लेख महाभारत में है और आजकल इसका प्रचार बंगाल में पाया जाता है, जहाँ यह विशेषकर मृतकों की अर्थी के साथ अथवा हरिकीर्त्तन आदि के समय बजाया जाता है।

मर्द्दित–वि० [सं०] (१) जो मर्द्दन किया गया हो। मला या मसला हुआ। (२) टुकड़े टुकड़े किया हुआ। (३) नष्ट किया हुआ।

मर्म–संज्ञा पुं० [सं० मर्म्म] (१) स्वरूप। (२) रहस्य। तत्त्व। भेद।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—लेना।

यौ०—मर्मज्ञ।

(३) संधि स्थान। (४) प्राणियों के शरीर में वह स्थान जहाँ आघात पहुँचने से अधिक वेदना होती है। वैद्यक में मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि और संधि के सन्निपात स्थान को मर्म माना गया है और वहाँ प्राणों का निवास स्थान लिखा गया है। प्रकृति, स्थान और परिणाम भेद से मर्म पाँच प्रकार के होते हैं और कुल मर्मों की संख्या १०७ मानी गई है। प्रकृति के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—मांस मर्म ११, अस्थि मर्म ८, संधि मर्म २०, स्नायु मर्म २७, शिरा मर्म ४१। स्थान के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—सक्थि वा पैरों में २२, भुजाओं में २२, उर और कुक्ष में १२, पृष्ठ में १४, ग्रीवा और ऊर्ध्व भाग में ३७। परिणाम के विचार से मर्मों की संख्या इस प्रकार है—सद्यः प्राणहर १९, कालांतर मारक ३३, वैकल्यकारक ४४, रुजाकारक ८, विशल्यघ्न ३।

यौ०—मर्मच्छेदन। मर्मप्रहार। मर्मभेदक। मर्मभेदी। मर्मवचन। मर्मस्पर्शी।

मर्मग–वि० [सं०] मर्मज्ञ।

मर्मचर–संज्ञा पुं० [सं०] हृदय।

मर्मच्छेदक–वि० [सं०] मर्मभेदक। मर्म भेदनेवाला।

मर्मच्छेदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राणघातन। जान लेना। (२) अधिक कष्ट देना। बहुत सताना।

मर्मज्ञ–वि० [सं०] जो किसी बात का मर्म या गूढ़ रहस्य जानता हो। तत्त्वज्ञ। (२) भेद की बात जाननेवाला। रहस्य जाननेवाला।

मर्मपीड़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मन को पहुँचनेवाला क्लेश। आंतरिक दुःख।

मर्मप्रहार–संज्ञा पुं० [सं०] वह आघात जो मर्म स्थान पर हो। मर्म स्थान की चोट। वैद्यक में इसे व्रण का एक भेद माना है। इसमें रोगी गिरता पड़ता, अटपट बकता, घबराता और मूर्च्छित होता है, उसके शरीर में गरमी छटकती है और इंद्रियाँ ढीली पड़ जाती हैं।

मर्मभिद्–वि० [सं०] मर्मच्छिद्। मर्मभेदी। उ०—दुष्ट रावण कुंभकरण पाकारि जित मर्मभिद कर्म परिपाकदाता।—तुलसी।

मर्मभेदक–वि० [सं०] मर्म छेदनेवाला। (२) हृदय-विदारक। बहुत अधिक हार्दिक कष्ट पहुँचानेवाला।

मर्मभेदी–वि० [सं० मर्मभेदिन्] हृदय पर आघात पहुँचानेवाला। आंतरिक कष्ट देनेवाला। जैसे,—आपको इस प्रकार की मर्मभेदी बातें न कहनी चाहिएँ।

मर्ममय–वि० [सं०] रहस्यपूर्ण।

मर्मर–संज्ञा पुं० दे० "मरमर"।

मर्मवचन–संज्ञा पुं० [हिं० मर्म+वचन] वह बात जिससे सुननेवाले को आंतरिक कष्ट पहुँचे। मर्मभेदी बात। उ०—मर्मबचन सीता तब बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।—तुलसी।

मर्मवाक्य–संज्ञा पुं० [सं०] रहस्य की बात। भेद की या गूढ़ बात।

मर्मविद्–वि० [सं०] मर्म या तत्व जाननेवाला। मर्मज्ञ।

मर्मविदारण–संज्ञा पुं० [सं०] मर्मच्छेदन। मर्मच्छेद।

मर्मवेदी–वि० [सं०] मर्मज्ञ।

मर्मस्थल–संज्ञा पुं० [सं०] मर्म स्थान। वि० दे० "मर्म"।

मर्मस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] मर्म स्थल। मर्म। वि० दे० "मर्म"।

मर्मस्पृश–वि० [सं०] हृदय को स्पर्श करनेवाला। हृदय पर प्रभाव डालनेवाला। मर्मस्पर्शी।

मर्मांतक–वि० [सं०] मन में चुभनेवाला। मर्मभेदक। हृदयस्पर्शी।

मर्मान्वेषण–संज्ञा पुं० [सं०] किसी बात का तत्व या गूढ़ रहस्य जानना। तत्त्वानुसंधान।

मर्माविद, मर्माविध–वि० [सं०] मर्म भेदनेवाला। मर्मभेदी।

मर्मिक–वि० [सं०] मर्मविद्। मर्मज्ञ।

मर्मी–वि० [हिं० मर्म] रहस्य जाननेवाला। तत्त्वज्ञ। मर्मज्ञ। उ०—(क) ममा मूल गहल मन माना। मर्मी होय सो मर्महिं जाना।—कबीर। (ख) मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उर गारी।—तुलसी।

मर्य–संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य।

मर्यादा–संज्ञा स्त्री० दे० "मर्य्यादा"।

मर्य्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] सीमा।

मर्य्याद–संज्ञा स्त्री० [सं० मर्य्यादा] (१) दे० "मर्य्यादा"। उ०—भो मर्य्याद बहुत सुख लागा। यहि लेखे सब संशय

भागा।—कबीर। (२) रीति। रसम। प्रथा। (३) चाल। ढंग। (४) विवाह में वर पक्षवालों का वह भोज जो उन्हें विवाह के तीसरे दिन कन्यापक्ष की ओर से दिया जाता है। बढ़हार। बढ़ार।

मुहा०—मर्य्याद रहना=बरात का विवाह के तीसरे दिन ठहरकर भोज में सम्मिलित होना।

मर्य्यादा-संज्ञा सं० [सं०] (१) सीमा। हद। (२) कूल। नदी का किनारा। (३) दो वा दो से अधिक मनुष्यों के बीच की प्रतिज्ञा। मुआहिदा। करार। (४) नियम। (५) सदाचार। (६) मान। प्रतिष्ठा। गौरव।

क्रि० प्र०—रखना।

(७) धर्म्म।

मर्य्यादाबंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अधिकार की रक्षा। (२) नजरबंदी।

मर्य्यादी-वि० [सं० मर्य्यादिन्] सीमावान्। सीमायुक्त।

मर्री-संज्ञा स्त्री० [हिं० मरना] वह भूमि जो कर्ज लेनेवाले ने सूद के बदले में महाजन को दी हो।

मर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] क्षांति।

मर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षमा। माफ़ी। (२) घर्षण। रगड़। वि० (१) नाशक। ध्वंसक। (२) दूर करनेवाला। रोकने या हटानेवाला।

मर्षणीय-वि० [सं०] क्षमा करने के योग्य। क्षम्य।

मलंग-संज्ञा पुं० [फ़ा०=आप से बाहर] (१) एक प्रकार के मुसल्मान साधु। ये मदारशाह के अनुयायी होते हैं और सिर के बाल बढ़ाते और नंगे सिर और नंगे पैर अकेले भीख माँगते फिरते हैं। उ०—(क) कौड़ा आँसू बूँद, करि साँकर बरुनी सजल। कीने बदन न मूँद, दृग मलंग डारे रहै।—बिहारी। (ख) किधौं मैन मलंग चढ़यो बल तुंग अँजीर अरी न परै झटकी।—मुकुंदलाल। (२) एक प्रकार का बड़ा बगला जो स्वच्छ सफ़ेद रंग का होता है। यह भारतवर्ष और बरमा में होता है; और प्रायः एकांत में और अकेला रहता है।

मलंगा-संज्ञा पुं० दे० "मलंग"।

मल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैल। कीट। जैसे, धातुओं का मल। उ०—लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।—तुलसी। (२) शरीर से निकलनेवाली मैल वा विकार। ये मल बारह प्रकार के माने गए हैं—(१) वसा, (२) शुक्र, (३) रक्त, (४) मज्जा, (५) मूत्र, (६) विष्ठा, (७) कर्णमल वा खूँट, (८) नख, (९) श्लेष्मा वा कफ़, (१०) आँसू, (११) शरीर के ऊपर जमी हुई मैल और (१२) पसीना। (३) विष्ठा। पुरीष। (४) दूषण। विकार। (५) शुद्धतानाशक पदार्थ। (६) पाप। (७) दोष। बुराई। ऐब। (८) हीरे का एक दोष। (९) जैन शास्त्रानुसार आत्माश्रित दुष्ट भाव। यह पाँच प्रकार का माना गया है—मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्ति, हेतु और च्युति। (१०) कपूर। (११) प्रकृति-दोष। जैसे, वात, पित्त, कफ़।

[देश०] फीलवानों का एक सांकेतिक शब्द जो हाथियों को उठाने के लिए कहा जाता है।

मलकना†-क्रि० अ० [हिं० मलकाना] (१) हिलना डोलना। (२) इतराना। इठलाना।

मलकरन-संज्ञा पुं० [देश०] बरतन पर नकाशी करनेवालों का एक औज़ार जिससे खोदने पर दोहरी लकीर बनती है।

मलकाछ-संज्ञा पुं० [हिं० मल्ल+काछ] ठाकुरों के शृंगार के लिए एक प्रकार की कछनी जिसमें तीन झब्बे लगे होते हैं।

मलकाना†-क्रि० स० [अनु०] (१) हिलाना। डोलाना। विचलित करना। जैसे, आँख मलकाना।

क्रि० अ० बना बनाकर बातें करना।

मलखंभ-संज्ञा पुं० दे० "मलखम"।

मलखम-संज्ञा पुं० [सं० मल्ल+हिं० खंभा] (१) लकड़ी का एक प्रकार का खंभा जिस पर कसरत करनेवाले फुरती से चढ़ और उतरकर कसरत करते हैं। मलखम तीन प्रकार के होते हैं—गड़ा मलखम, लटका मलखम और बेत का मलखम। गड़ा मलखम एक लंबा मोटा चार पाँच हाथ ऊँचा मुगदर के आकार का खंभा होता है जो भूमि में गड़ा रहता है। लटका हुआ वा लटकौआँ मलखम छत्त या किसी और धरन के सहारे ऊपर से अधोमुख लटका रहता है। जब इस खंभे की जगह धरन आदि में बेंत लटकाया जाता है, तब इसे बेंत का मलखम कहते हैं। इस पर कसरत करनेवाले बेंत को हाथ में पकड़कर उस पर अनेक मुद्राओं से कसरत करते हैं। इसे बाँस, लगी या मलखानी भी कहते हैं। मलखम की कसरत भारतवर्ष की एक प्राचीन मल्ल नामक क्षत्रिय जाति की निकाली हुई है। इसी मल्ल जाति की आविष्कार की हुई कुश्ती को मल्लयुद्ध भी कहते हैं। मलखम पर चढ़ने उतरने को 'पकड़' कहते हैं। इस कसरत से मनुष्य में फुरती आती है और पैर की रानें दृढ़ होती हैं। मालखंभ। (२) वह कसरत जो मलखम पर वा उसके सहारे से की जाय। (३) पत्थर वा लकड़ी के पुरानी चाल के कोल्हू में लकड़ी का एक खूँटा जो कातर वा पाट में कोल्हू से दूसरी छोर पर गाड़ा जाता है और जिसमें ढेंके की रस्सी बाँधी जाती है; अथवा जिसमें रस्सी लगाकर ढेंकी बाँधकर जाट के ऊपर लगाते हैं। इसे मरखम भी कहते हैं।

मलखाना-वि० [हिं० मल+खाना] मल खानेवाला। उ०—

कोउ न जग में होत कुटिल मैले मलखाने। उसर बैठि मरजाद भ्रष्ट आचार न जाने।—गिरधरदास।

संज्ञा पुं० [सं० मल+सेन] (१) महोबे के राजा परमाल के भतीजे का नाम। यह पृथ्वीराज चौहान का समकालीन था। (२) पश्चिमी संयुक्त प्रांत में बसनेवाले एक प्रकार के राजपूत जो मुसलमान बना लिए गए थे। इन लोगों का आचार विचार अब तक प्राय: हिंदुओं का सा है।

मलखानी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मलखम] एक ऊँचा और सीधा पतला खंभा जिस पर बेंत से मलखम की कसरत की जाती है। इसे बाँस और लग्गी भी कहते हैं। वि० दे० "मलखम"।

मलगजा*–वि० [हिं० मलना+गींजना] मला दला हुआ। गींजा हुआ। मरगजा।

संज्ञा पुं० बेसन में लपेटकर तेल या घी में छाने हुए बैंगन के पतले टुकड़े।

मलगिरी–संज्ञा पुं० [हिं० मलयागिरि] एक प्रकार का हलका कत्थई रंग। यह रंग रँगने के लिए कपड़ा पहले हड़ के हलके काढ़े में और फिर कसीस के पानी में डुबोते हैं; और फिर उसे एक रंग में जिसमें कत्था, चूना, मेंहदी की पत्ती और चंदन का चूरा पीसकर घोला रहता है और छैल छबीला, नागरमोथा, कपूर कचरी, नख, पाँजर, बिरमी, सुगंधवाला, सुगंध कोकल, बालछड़, जरांकुश, बुढ़ना, सुगंध मैत्री, लौंग, इलायची, केशर और कस्तूरी का चूर्ण मिला रहता है, डालकर पहर भर उबालते हैं और उतारने पर उसे दिन रात उसी में पड़ा रहने देते हैं। दूसरे दिन कपड़े को उसमें से निकालकर निचोड़ लेते हैं और बर्तन के रंग को छानकर उसमें हिना का इत्र मिलाकर उसमें फिर उस कपड़े को डुबाकर सुखाते हैं। पर आजकल प्राय: रँगरेज मलगिरी रंग रँगने में कपड़े को कत्थे और चूने के रंग में रँगते हैं; फिर उसे कसीस के पानी में डुबा देते हैं। इसके बाद रँगे हुए कपड़े को आहार देकर निचोड़ते और सुखाते हैं और अंत में उसपर हिना का इत्र मल देते हैं।

वि० मलगिरी रंग का।

मलघन–संज्ञा पुं० [सं० मलघ्न] एक प्रकार का कचनार, जो लता रूप में होता है और हिमालय की तराई, मध्य भारत और टेनासरम के जंगलों में पाया जाता है। इसकी छाल मल्ल कहलाती है जिस पर रंग अच्छा चढ़ता है और जो कूटने पर ऊन की तरह चमकदार हो जाती है। इसे ऊन में मिलाकर तागा काता जाता है। जिससे ऊनी कपड़े बुने जाते हैं। यह छाल ऐसी साफ़ होती है कि ऊन में मिलाने पर इसकी मिलावट बहुत कम पहचानी जाती है।

मलघ्न–वि० [सं०] [स्त्री० मलघ्नी] मलनाशक।

संज्ञा पुं० (१) शाल्मली कंद। सेमल का मुसला। (२) कचनार का एक भेद। मलघन।

मलघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागदौना।

मलज–संज्ञा पुं० [सं०] पीब।

मलज्वर–संज्ञा पुं० [सं० मल+ज्वर] अमृत सागर के अनुसार एक प्रकार का ज्वर जो मल के रुकने के कारण होता है। इसमें रोगी के पेट में शूल और सिर में पीड़ा होती है, मुँह सूखा रहता है, जलन होती है, भ्रम होता है और कभी कभी मूर्च्छा भी आती है।

मलझन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की बेल जो बागों में लगाई जाती है।

मलट–संज्ञा पुं० [अं० मैलेट] (१) लकड़ी का हथौड़ा जिससे खूँटे आदि गाड़े जाते हैं। (२) काठ का वह हथौड़ा जिससे छापने के पहले सीसे के अक्षर ठोंककर बैठाए और बराबर किए जाते हैं।

मलद–संज्ञा पुं० [सं०] वाल्मीकीय रामायण के अनुसार एक प्रदेश का नाम। कहते हैं कि ताड़का यहीं रहती थी। इसे मल्लभूमि भी कहते थे।

मलदूषित–वि० [सं०] मलीन। मैला।

मलद्रावी–संज्ञा पुं० [सं० मलद्राविन्] जयपाल। जमालगोटा।

मलद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर की वे इंद्रियाँ जिनसे मल निकलते हैं। (२) पाखाने का स्थान। गुदा।

मलधात्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह धाय जो बच्चों का मल-मूत्र धोने पर नियुक्त हो।

मलधारी–संज्ञा पुं० [सं० मलधारिन्] एक प्रकार के जैन साधु जो शरीर में मल लगाए रहते हैं और उसको धोते और शुद्ध नहीं करते।

मलन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मर्दन। मींजना। (२) पोतना। लेप करना। लगाना।

मलना–क्रि० स० [सं० मलन] (१) हाथ अथवा किसी और पदार्थ से किसी तल पर उसे साफ़, मुलायम या अच्छा करने के लिए रगड़ना। हाथ या किसी और चीज़ से दबाते हुए घिसना। मर्दन। मींजना। मसलना। जैसे, लोई मलना, घोड़ा मलना, बरतन मलना। उ०—(क) यहि सर घड़ा न बूड़ता मंगर मलि मलि न्हाय। देवल बूड़ा कलस लों पक्षि पियासा जाय।—कबीर। (ख) चलि सखि तेहि सरोवर जाहिं। जेहि सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहिं। हंस उज्वल पंख निर्मल अंग मलि मलि न्हाहिं। मुक्ति मुक्ता अंबु के कल तिन्हैं चुनि चुनि खाहिं।—सूर।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—दलना मलना=(१) चूर्ण करना। पीस कर टुकड़े टुकड़े

करना। उ०—रन मत्त रावण सकल सुभट प्रचंड भुजबल दलमले।—तुलसी। (२) मसलना। हाथों से रगड़ना। घिसना। हाथ मलना=(१) पछताना। पश्चात्ताप करना। उ०—बार बार करतल कहँ मलि कै। निज कर पीठ रदन सों दलि कै।—गोपाल। (२) क्रोध प्रगट करना। उ०—भलो सुकर्मा बीर भलो अंबर तन धारे। मलो करहि भरि क्रोध हलोरन नद बहुवारे।—गोपाल।

(२) किसी तरल पदार्थ वा चूर्ण आदि को किसी तल पर रखकर हाथ से रगड़ना। मालिश करना। जैसे,—तेल मलना, सुरती मलना। उ०—(क) मधु सों गीले हाथ है ऐंचो धनुष न जाइ। ते पराग मलि कुसुम शर बेधत मोहिं बनाय।—गुमान। (ख) चलेउ भूप पुरुमित्र मित्रहुति मगध मित्र मन। पट पवित्र मनि चित्र सहित मलि इत्र धरे तन।—गोपाल। (३) किसी पदार्थ को टुकड़े टुकड़े या चूर्ण करने के लिए हाथ से रगड़ना या दबाना। मसलना। मींजना। उ०—जो कहो तिहारो बल पायँ बाएँ हाथ नाथ। आँगुरी सों मेरु मलि डारों यह किन मैं।—हनुमन्नाटक। (४) मरोड़ना। ऐंठना। जैसे, मुँह मलना, नाक मलना, कान मलना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(५) हाथ से बार बार रगड़ना या दबाना। जैसे, छाती मलना, गाल मलना।

मलनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मलना] आठ दस अंगुल लंबा, दो अंगुल चौड़ा, सुडौल और चिकना कतजन के आकार का बाँस का एक टुकड़ा जिससे कुम्हार मलकर सुराहियाँ आदि चिकनी करते हैं।

मलपंकी—वि० [सं० मलपंकिन्] (१) मलीन। मैला। (२) कीचड़ में सना हुआ।

मलपू—संज्ञा पुं० [सं०] कठूमर।

मलवा—संज्ञा पुं० [हिं० मल ?] (१) कूड़ा कर्कट। कतवार। (२) टूटी या गिराई हुई इमारत की ईंटें, पत्थर और चूना आदि। (३) एक प्रकार की उगाही वा बेहरी जो गाँव में पट्टीदारों से दौरे के हाकिमों आदि के खर्च के लिए वसूल की जाती है।

मलभुज—संज्ञा पुं० [सं०] कौवा।

मलभेदिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुटकी।

मलमल—संज्ञा स्त्री० [सं० मलमलक] एक प्रकार का पतला कपड़ा जो बहुत बारीक सूत से बुना जाता है। प्रचीन काल में यह कपड़ा भारतवर्ष में, विशेष कर बंगाल और बिहार में बुना जाता था और वहीं से भिन्न भिन्न देशों में जाता था। अब तक ढाके और मुर्शिदाबाद में अच्छी मलमल बनती है। उ०—(क) मलमल खासा पहनते खाते नागर पान। टेढ़ा होकर चालते करते बहुत गुमान।—कबीर। (ख) कमरी थोरे दाम की आवै बहुतै काम। खासा मलमल बाफता उनकर राखै मान।—गिरधरराय।

मलमला—संज्ञा पुं० [देश०] कुलफे का साग।

मलमलाना—क्रि० स० [हिं० मलना] (१) बार बार स्पर्श कराना। लगातार छुलाना। (२) बार बार खोलना और ढकना। जैसे, पलक मलमलाना। (३) पुनः पुनः आलिंगन करना। उ०—नवल सुनि नवल पिया नयो नयो दरश विवि तन मलमले प्राणपति पीय को अधर धर्‌यो री। प्रीति की रीति प्राण चंचल करत निरखि नागरी नैन चिबुक सो मोरी। तब काम केलि कमनीय चंदप चकोर चातक स्वाति बूँद पर्‌यो री। सुनि सूरदास रस राशि रस बरषि कै चली जनु हरति ले कुहू सु गोरी।—सूर।

मलमल्लक—संज्ञा पुं० [सं०] कोपीन।

मलमा—संज्ञा पुं० [हिं० मलबा] टूटे फूटे मकानों के गिरे पड़े पत्थर, रोड़े आदि सामान। मलबा।

मलमास—संज्ञा पुं० [सं०] वह अमांत मास जिसमें संक्रांति न पड़ती हो। इसे अधिक मास भी कहते हैं।

विशेष—यों तो साधारण रीति से बारह महीने का वर्ष माना जाता है, पर कभी कभी तेरह महीने का भी वर्ष होता है। पर यह बात केवल चांद्र मास में ही होती है; और मास सदा वर्ष में बारह ही होते हैं। चांद्र मास की वृद्धि का हेतु यह है कि दिन रात्रि का मान, जिसे दिनमान कहते हैं, ६० दंड का माना जाता है। पर एक तिथि का मान ५८ दंड का माना जाता है। इसलिए ३० दिन में ३१ तिथियाँ पड़ती हैं। इस हिसाब से चांद्र वर्ष और सामान्य वर्ष में प्रति वर्ष बारह दिन का अंतर पड़ा करता है जो पाँच वर्ष में पूरे दो महीने का अंतर डाल देता है। ऐसे अधिक महीने को मलमास कहते हैं। वह चांद्र मास, जिसमें सूर्य्य की संक्रांति पड़ती है, शुद्ध मास कहलाता है। पर संक्रांति वर्जित मास तीन प्रकार के माने गए हैं जिन्हें भानुलंघित, क्षय और मलमास कहते हैं। भानुलंघित और मलमास वे मास कहलाते हैं जिनमें सूर्य संक्रांति न पड़े। पर यदि सूर्य्य संक्रांति शुक्ल प्रतिपदा को पड़ी हो, तो उसे क्षयमास कहते हैं। बारह महीने दो अयनों में बाँटे गए हैं—एक वैशाख से कुआँर तक, दूसरा कातिक से चैत तक। यह मलमास प्रायः फागुन से अगहन तक दस ही महीनों में पड़ता है। शेष दो महीनों में से पूस में तो कभी मलमास पड़ता ही नहीं; और माघ में बहुत ही कम पड़ा करता है। इसका नियम यह है कि यदि दक्षिणायन और उत्तरायन दोनों अयनों में मलमास युक्त मास पड़ें, तो दक्षिणायन का मास भानुलंघित और उत्तरायण का

मास मलमास कहलावेगा। पर यदि एक ही अयन में दो मास मलमास लक्षणयुक्त हों, तो पहला मलमास और दूसरा भानुलंघित कहलावेगा। पर ऐसे दो मास उसी वर्ष में पड़ते हैं जिसमें क्षय मास भी पड़ता है। पर कार्तिक, अगहन और पूस के महीने में क्षय मास नहीं होता। विवाहादि शुभ कृत्य जिस प्रकार मलमास में वर्जित हैं, उसी प्रकार भानुलंघित और क्षय मास में भी वर्जित हैं।

पर्य्या०—अधिक मास। पुरुषोत्तम। मलिम्लुच। अधिमास। असंक्रांत मास। नपुंसक मास।

मलय—संज्ञा पुं० [सं० मलय=पर्वत] (१) एक पर्वत का नाम। यह पश्चिमी घाट का वह भाग है जो मैसूर राज्य के दक्षिण और ट्रावंकोर के पूर्व में है। यहाँ चंदन बहुत उत्पन्न होता है। पुराणों में इसे सात कुलपर्वतों में गिनाया गया है।

पर्य्या०—आषाढ़। दक्षिणाचल। चंदनादि। मलयाचल।

विशेष—मलय शब्द पवन, समीर, वायु आदि शब्दों के आदि में समस्त होकर (१) सुगंधित और (२) दक्षिणी वायु का अर्थ देता है।

(२) मलाबार देश। (३) मलाबार देश के रहनेवाले मनुष्य। (४) एक उपद्वीप का नाम। (५) सफेद चंदन। (६) गरुड़ के एक पुत्र का नाम। (७) नंदन वन। (८) छप्पय के एक भेद का नाम। इसमें २५ गुरु, १०२ लघु, कुल १२७ वर्ण या १५२ मात्राएँ वा २५ गुरु, ९८ लघु, कुल १२३ वर्ण या १४८ मात्राएँ होती हैं। (९) पहाड़ का एक प्रदेश। शैलांग। (१०) ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम।

मलयगिरि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलय नामक पर्वत जो दक्षिण में है। यहाँ चंदन अधिक और उत्तम उत्पन्न होता है। यह पश्चिमी घाट का वह भाग है जो मैसूर के दक्षिण और ट्रावंकोर के पूर्व में है। पुराणों में इसे कुल पर्वतों में गिनाया है। (२) मलयगिरि में उत्पन्न चंदन। उ०—बेधी जानि मलयगिरि बासा। सीस चढ़ी लोटहिं चहुँ पासा।—जायसी। (३) हिमालय पर्वत का वह देश जहाँ कामरूप और आसाम है। (४) दे० "मलयगिरी"।

मलयगिरी—संज्ञा पुं० [हिं० मलयगिरि] दारचीनी की जाति का एक प्रकार का बड़ा और बहुत ऊँचा वृक्ष जो कामरूप, आसाम और दारजिलिंग में उत्पन्न होता है। इसकी छाल दो अंगुल से चार पाँच अंगुल तक मोटी होती है और लकड़ी भारी, पीलापन लिये सफेद रंग की होती है। छाल और लकड़ी दोनों सुगंधित होती हैं। लकड़ी बहुत मजबूत होती है और साफ करने पर चमकदार निकलती है जिसमें दीमक आदि कीड़े नहीं लगते। इससे मेज, कुरसी, संदूक आदि बनते हैं और इमारत आदि में भी यह काम आती है। वसंत ऋतु में बीज बोने से यह वृक्ष उगता है।

मलयज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) राहु।

मलयद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) मदन। मैना वा मैनी नामक पेड़।

मलयभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] हिमालय के एक प्रदेश का नाम।

मलयवासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

मलया—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) त्रिवृता। निसोथ। (२) सोमराजी। बावची। बकुची।

मलयागिरि—संज्ञा पुं० दे० "मलयगिरि"।

मलयाचल—संज्ञा पुं० [सं] मलयगिरि। मलय पर्वत।

मलयानिल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलय पर्वत की ओर से आनेवाली वायु। दक्षिण की वायु। (२) सुगंधित वायु। (३) वसंत काल की वायु।

मलयालम—संज्ञा पुं० [ता० मलय=पर्वत+अलम=उपत्यका] दक्षिण के एक पहाड़ी देश का नाम जो पश्चिमी घाट के किनारे किनारे फैला हुआ है। इसे केरल भी कहते हैं। यहाँ की भाषा भी मलयालम कहलाती है। यहाँ नायर नामक हिंदुओं और मोपला नामक मुसलमान जाति की आबादी है।

मलयालि—संज्ञा पुं० [ता० मलयालम] मलयालम में बसनेवाली एक पहाड़ी जाति का नाम। इस जाति के लोग पशुपालन और खेती करते हैं और तामिल भाषा बोलते हैं।

मलयाली—वि० [ता० मलयालम] (१) मलाबार देश का। मलाबार देश संबंधी। (२) मलाबार देश में उत्पन्न।

संज्ञा स्त्री० मलाबार देश की भाषा।

मलयोद्भव—संज्ञा पुं० [सं०] चंदन।

मलरुचि—वि० [सं०] दूषित रुचि का। पापी। उ०—सेइय सहित सनेह देह भरि कामदेव कलि कासी। समनि सोक संताप पाप रुज सकल सुमंगलरासी।······दंडपानि भैरव बिषान मलरुचि खलगन भे दासी, लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन करनघंट घंटा सी।—तुलसी।

मलरोधक—वि० [सं०] जो मल को रोके। जिसके खाने से कोष्ठबद्ध हो। कब्जियत करनेवाला। काबिज।

मलरोधन—संज्ञा पुं० [सं०] विष्टंभ। कोष्ठबद्ध। कब्जियत।

मलवा—संज्ञा पुं० [बरमी] हावर की जाति का एक पेड़ जो बरमा में होता है। यह बहुत अधिक ऊँचा नहीं होता। इसकी लकड़ी चिकनी और नारंगी रंग की होती है और मेज, आदि बनाने के काम में आती है।

मलवाना—क्रि० स० [हिं० मलना] मलने का प्रेरणार्थक रूप। मलने के लिए प्रेरणा करना। मलने का काम दूसरे से कराना।

मलविनाशिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखपुष्पी। (२) क्षार।

मलवेग—संज्ञा स्त्री० [सं०] अतीसार।

मलसा—संज्ञा पुं० [सं० मल्लक] घी रखने का कुप्पा।

मलसी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मलसा] मिट्टी का बर्तन जिसमें प्रायः मुसलमान खाना पकाते हैं।

मलसूत–संज्ञा पुं० [अ० मब्सूत] भारी बोझ उठाकर गाड़ी वा नाव आदि पर लादने का यंत्र। गीध। दमकला।

मलहंता–संज्ञा पुं० [सं० मलहंतृ] सेमल का मूसल।

मलहम–संज्ञा पुं० [अ० मरहम्] ओषधियों के योग से बना हुआ चिकना चपकीला लेप जो घाव, फोड़े आदि पर लगाया जाता है। मरहम।

मलहर–संज्ञा पुं० [सं०] जमालगोटा। जयपाल।

मलहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] हरिवंश के अनुसार राजा रौद्राश्व की कन्या का नाम।

मलहारक–संज्ञा पुं० [सं०] भंगी। मेहतर।

मला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चमड़ा। (२) चमड़े से बना हुआ पदार्थ। (३) कसकुट। (४) भुइँआँवला। (५) बिच्छू का डंक। (६) आँबा हलदी।

मलाई–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) दूध की साढ़ी। उ०—छाछ को ललात जैसे राम नाम के प्रसाद खात खून सात सौंधे दूध की मलाई है।—तुलसी।

विशेष—जब दूध हलकी आँच पर गरम किया जाता है, तब वह गाढ़ा होता जाता है और उसके ऊपर सार भाग की एक हलकी तह जमती जाती है। यही तह बार बार जमने से मोटी हो जाती है। इसी को मलाई कहते हैं। यह मुलायम और चिकनाई से भरी होती है। जमाए जाने पर इसी मलाई को मथकर मसका निकाला जाता है।

क्रि० प्र०—आना।—जमना।—पड़ना।

(२) सार तत्व। रस। उ०—भूरि दई विष भूरि भई प्रहलाद सुधाई सुधा की मलाई। (३) एक रंग का नाम जो बहुत हलका बादामी होता है।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मलना] (१) मलने की क्रिया वा भाव। (२) मलने की मजदूरी।

मलाकर्षी–संज्ञा पुं० [सं० मलाकर्षिन्] [स्त्री० मलाकर्षिणी] भंगी। मेहतर।

मलाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामिनी स्त्री। (२) वेश्या। (३) दूती। (४) हथिनी।

मलाट–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मोटा घटिया काग़ज जो प्रायः खाकी रंग का होता है और काग़ज़ों के बंडल बाँधने या इसी प्रकार के और कामों में आता है।

मलान*–वि० दे० "म्लान"। उ०—(क) बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान। आइ पायँ पुनि देखिहउँ मन जनि करसि मलान।—तुलसी। (ख) सुनि सजनी सुर भान है अति मलान मतिमंद। पूनो रजनी में जु गिलि देत उगिलि यह चंद।—शृं० स०।

मलानि*–संज्ञा स्त्री० दे० "म्लानि"। उ०—जानि जिय अनुमानहीं सिय सहस बिधि सनमानि। राम सदगुन धाम परमित भई कछुक मलानि।—तुलसी।

मलापह–वि० [सं०] [स्त्री० मलापहा] (१) मलनाशक। मल दूर करनेवाला। (२) पापनाशक।

मलाबार–संज्ञा पुं० [सं० मलय+बार=किनारा] भारत के दक्षिणी प्रांत का वह प्रदेश जो पश्चिमी समुद्र के किनारे पर है। यह प्रदेश पश्चिमी घाट के पच्छिमी समुद्र के तट पर है।

मलामत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लानत। फटकार। दुतकार। उ०—आया रोज क्यामत मलामत से पाक हुए, रहैंगी सलामत खुदाई आप आपते।

यौ०—लानत मलामत।

(२) किसी पदार्थ में का निकृष्ट या खराब अंश। गंदगी।

क्रि० प्र०—निकलना।

मलामती–वि० [फ़ा०] (१) जो मलामत करने के योग्य हो। दुतकारने या फटकारने योग्य। (२) घृणित। जघन्य।

मलार–संज्ञा पुं० [सं० मलार] संगीत शास्त्रानुसार एक राग का नाम। कुछ आचार्य्य इसे छः प्रधान रागों के अंतर्भूत मानते हैं, पर दूसरे इसके बदले हिंडोल या मेघ राग को स्थान देते हैं। यह राग वर्षाऋतु में गाया जाता है। बेलावली, पूरबी, कान्हड़ा, माधवी, कोड़ा और केदारिका ये छः इसकी रागिनियाँ हैं। यह संपूर्ण जाति का राग है और इसके गाने की ऋतु वर्षा और समय रात का दूसरा पहर है। संगीत-सारवाले ने इसे मेघ राग का छठा पुत्र माना है। इसका रंग श्याम, आकृति भयानक, गले में साँप की माला पहने, फूलों के आभूषण धारण किये सशोक बतलाया गया है। इसका स्थान विंध्याचल, वस्त्र केले का पत्ता और मुकुट केले की कलिका कही जाती है। इसका अस्त्र धनुष, कटारी और छुरा लिखा है। उ०—पूस मास सुनि सखिन पै साईं चलत सवार। गहि कर बिन परवीन तिय राग्यौ राग मलार।—बिहारी।

मुहा०—मलार गाना=बहुत प्रसन्न होकर कुछ कहना, विशेषतः गाना। जैसे,—आप दिन भर घर पर बैठे मलार गाया करते हैं।

मलारि–संज्ञा पुं० [सं०] क्षार।

मलारी–संज्ञा स्त्री० [सं० मलारी] वसंत राग की एक रागिनी का नाम।

मलाल–संज्ञा पुं० [अ०] (१) दुःख। रंज।

मुहा०—मलाल निकालना=मन में दबा हुआ दुःख कुछ बक झककर दूर करना।

(२) उदासीनता। उदासी।

मलावह–संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पापों की एक कोटि

जिसमें कृमि-कीटों और पक्षियों की हत्या, मद्य के साथ एक पात्र में लाए हुए पदार्थों को खाना, फल, ईंधन और फूल की चोरी और अधैर्य्य सम्मिलित हैं।

मलाह*-संज्ञा पुं० दे० "मल्लाह"। उ०—रूप कहर दरियाव में तरिबो है न सलाह। नैनन समुझावत रहै निसि दिन ज्ञान मलाह।—रसनिधि।

मलिंग-संज्ञा पुं० [सं० मिलिंद] भौंरा। उ०—(क) मल्लिकान मंजुल मलिंद मतवारे मिले, मंद मंद मारुत मुहीम मनसा की है।—पद्माकर। (ख) नेह सरीखी रज्जु नहि, कविवर करै विचार। वारिज बाँध्यो मलिंद लखि, दार बिदारन-हार।—दीनदयाल। (ग) मंजुल मंजरी पै हो मलिंद विचारि कै भार सम्हारि कै दीजियो।—व्यंग्यार्थ।

मलिक-संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मलिका] (१) राजा। (२) अधीश्वर। (३) मुसल्मानों की एक जाति का नाम जो प्राय: कृषि कर्म करती है। ये लोग मध्यम श्रेणी के माने जाते हैं। (४) किन्नरों और कथकों के एक वर्ग की उपाधि।

मलिका-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) रानी। (२) अधीश्वरी। संज्ञा स्त्री० दे० "मल्लिका"।

मलिक्ष*-संज्ञा पुं० दे० "म्लेच्छ"। उ०—तबही विश्वामित्र तहँ विविध सुआयुध वाहि। व्याकुल कीन्ह मलिक्ष दल सब शक यवन विदाहि।—पद्माकर।

मलिच्छ*-संज्ञा पुं० दे० "म्लेच्छ"।

मलित-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की छोटी कूँची जिससे सुनार नकाशी के गहनों को साफ़ करते हैं।

मलिन-वि० [सं०] [स्त्री० मलिना, मलिनी] (१) मलयुक्त। मैला। गँदला। स्वच्छ का उल्टा। उ०—चाहै न चंपकली की थली मलिनी नलिनी की दिशान सिधावै।—केशव। (२) दूषित। खराब। (३) जिसका रंग खराब हो गया हो। मटमैला। धूमिल। बदरंग। उ०—मलिन भये रस माल सरोवर मुनिजन मानस हंस।—सूर। (४) पापात्मा। पापी। (५) धीमा। फीका। जैसे, ज्योति मलिन होना। (६) म्लान। विषण्ण। उदासीन। जैसे, मलिन मन, मलिन मुख।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार के साधु जो मैला कुचैला कपड़ा पहनते हैं। पाशुपत। (२) मट्ठा। (३) सोहागा। (४) काला अगर वा अगर चंदन। (५) गौ का ताजा दूध। (६) हंस। (७) दस्ता। मूठ। (८) पाप। दोष। (९) रत्नों की चमक और रंग का फीका और धुँधला होना। रत्नों के लिए यह एक दोष समझा जाता है।

मलिनता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मलिन होने का भाव। मैलापन।

मलिनत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मलिन होने का भाव। मलिनता। मालिन्य।

मलिनमुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। आग। (२) बैल की पूँछ। (३) प्रेत।

वि० जिसका मुँह उदास हो। उदासीन वदन। (२) क्रूर। (३) खल।

मलिनांबु-संज्ञा पुं० [सं०] मसी। स्याही।

मलिना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रजस्वला स्त्री। (२) लाल खाँड़। (३) छोटी भटकटैया।

मलिनाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मलिन+आई (प्रत्य०)] मैलापन। मलिनता। उ०—(क) सुखी भए सुरसंत भूमिसुर खलगन मन मलिनाई। सबै सुमन विकसत रवि निकसत कुमुद विपिन बिलखाई।—तुलसी। (ख) होम हुताशन धूमनगर एकै मलिनाइय।—केशव।

मलिनाना*-क्रि० अ० [हिं० मलिन] मैला होना। उ०—भरे नेह सौहैं खरे निपट रहे मलिनाय।—शृं० स०।

मलिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] रजस्वला स्त्री।

मलिनीकरण-संज्ञा पुं०[सं०] पापों की एक कोटि का नाम। मलावह।

मलिम्लुच-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलमास। (२) अग्नि। (३) चोर। (४) वायु। (५) पंच यज्ञ न करनेवाला पुरुष।

मलिया-संज्ञा स्त्री० [सं० मल्लक वा मल्लिका, हिं० मरिया] (१) मिट्टी के एक बर्तन का नाम जिसका मुँह तंग होता है। इसमें घी, दूध, दही आदि पदार्थ रखे जाते हैं। (२) गोटी के खेल में वह त्रिकोण चक्र जो चौक के दोनों ओर बीच में बना रहता है। इस खेल को अठारह गोटी कहते हैं। यह
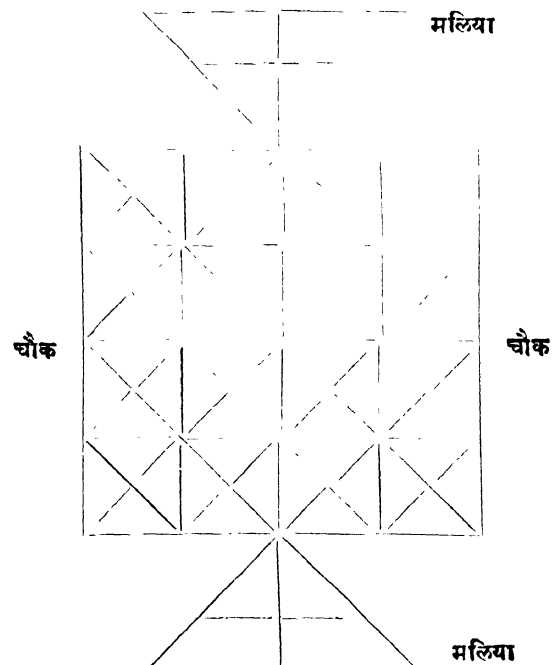
खेल दो आदमी खेलते हैं और प्रत्येक पक्ष में अठारह गोटियाँ होती हैं जिनमें से छ: गोटियाँ मलिया में और शेष

बारह ढाई पंक्तियों में रखी जाती है। केवल बीच का बिंदु खाली रहता है। गोटियों की चाल एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक लकीरों के मार्ग से होती है। जब एक गोटी किसी दूसरी गोटी को उल्लंघन करती है, तब वह पहली गोटी मानों मर जाती है और खेल में से निकालकर अलग कर दी जाती है। दोनों ओर की सब गोटियाँ जब मलिया से चौक में निकल आती हैं, तब यदि किसी पक्षवाला 'मलिया मेट' शब्द कह दे तो दोनों ओर की मलिया मिटा दी जाती है और फिर गोटियाँ चौक में ही रहती हैं। पर यदि कोई मलिया-मेट न कहे तो गोटियाँ बराबर मलिया में आती जाती रहती हैं।

यौ०—मलियामेट।

(३) घेरा। चक्कर।

मुहा०—मलिया बाँधना-रस्सी को मोड़कर बाँधना। (लश०)

मलियामेट-संज्ञा पुं० [हिं० मलिया+मिटाना] सत्तानाश। तहस नहस। जैसे,—उसने सारा घर मलियामेट कर दिया।

मलिष्ठ-वि०[सं०] अत्यंत मलिन बहुत अधिक मैला कुचैला।

मलिस-संज्ञा स्त्री० [देश०] छेनी के आकार का सुनारों का एक औज़ार जिससे हँसुली की गिरह वा घुंडियाँ उभारी जाती हैं।

मलीदा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चूरमा। (२) एक प्रकार का ऊनी वस्त्र जो बहुत मुलायम और गरम होता है। यह बुने जाने के बाद मलकर गफ़ और मुलायम बनाया जाता है। यह प्रायः काश्मीर और पंजाब से आता है।

मलीन-वि० [सं० मलिन] (१) मैला। अस्वच्छ। उ०—(क) जिनके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे।—तुलसी। (ख) मन मलीन मुख सुंदर कैसे। विष रस भरा कनक घट जैसे।—तुलसी। (२) उदास। उ०—अति मलीन बृषभानु कुमारी। हरिश्रम जल अंतर तनु भींजे ता लालच न धुवावति सारी।—सूर।

मलीनता-संज्ञा स्त्री० दे० "मलिनता"।

मलीमस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) लोहा। (२) पीले रंग का कसीस। (३) पाप।

वि० (१) मलिन। मैला। (२) काला। (३) पापी।

मलीयस्-वि० [सं०] [स्त्री० मलीयसी] अत्यंत मलिन। बहुत अधिक मैला कुचैला।

मलुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उदर। पेट। (२) एक प्रकार का पशु।

मलू-संज्ञा स्त्री० [सं० मालु] (१) मलघन नामक कचनार की छाल। यह बहुत दृढ़ होती है और रँगने पर कूट कर ऊन में मिलाई जाती है। (२) मलघन नामक वृक्ष।

मलूक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का कीड़ा। (२) एक प्रकार का पक्षी। उ०—मैना मलूक कोइल कपोत। बग-हंस और कलहंस गोत।—सूदन। (३) बौद्ध शास्त्रानुसार एक संख्यास्थान। (४) दे० "अमलूक"।

वि० [देश०] सुंदर। मनोहर। उ०—प्यारी प्यारी वे मलूक हरियाली कुंजें। शोभा छबि आनंद भरी सब सुख की पुंजें।—श्रीधर।

मलेक्ष-संज्ञा पुं० दे० "म्लेच्छ"।

मलेच्छ-संज्ञा पुं० दे० "म्लेच्छ"।

मलेरिया-संज्ञा पुं० [अं०] एक प्रकार का ज्वर जो वर्षा ऋतु में फैलता है।

विशेष—पहले डाक्टरों का विश्वास था कि वस्तुओं के सड़ने वा किसी अन्य कारण से वायु में विष फैलता है जिससे सविराम, अर्थात् अँतरिया, तिजरा, चौथिया आदि ज्वर, जो मलेरिया के अंतर्गत हैं, फैलते हैं। पर अब उन्होंने यह निश्चय किया है कि मच्छड़ों के दंश से मलेरिया का विष मनुष्यों के रक्त में पहुँचता है जिससे सविराम ज्वर का रोग उत्पन्न होता है।

मलोला-संज्ञा पुं० [अ० मलूल वा वलवला] (१) मानसिक व्यथा। दुःख। रंज। उ०—राधे अहो हरि भावते कों भरिके भुज भेंटिये मेटि मलोलैं।—देव।

मुहा०—मलोला वा मलोले आना=दुःख होना। पछतावा होना। पश्चात्ताप होना। मलोले खाना=मानसिक व्यथा सहना। दुःख उठाना। उ०—उन्होंने मसोसे के मलोले खा के कहा।—इंशा अल्लाह। दिल के मलोले निकालना=भड़ास निकालना। कुछ बक झककर मन का दुःख दूर करना।

(२) वह इच्छा जो उमड़ उमड़कर मानसिक व्याकुलता उत्पन्न करे। अरमान। जैसे,—मेरे मन का मलोला कब होगा। (गीत)

क्रि० प्र०—आना।—उठना।—निकालना।

मल्ल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति का नाम। इस जाति के लोग द्वंद्व युद्ध में बड़े निपुण होते थे; इसीलिए द्वंद्व युद्ध का नाम मल्लयुद्ध और कुश्ती लड़नेवाले का नाम मल्ल पड़ गया है। महाभारत में मल्ल जाति, उनके राजा और उनके देश का उल्लेख है। भारतवर्ष के अनेक स्थान जैसे मुलतान (मल्ल-स्थान) मालव, मालभूमि आदि में (मल्ल) शब्द विकृत रूप में मिलता है। त्रिपिटक से कुश-नगर में मल्लों के राज्य का होना पाया जाता है। मनुस्मृति में मल्लों को लिछिवी आदि के साथ संस्कारच्युत वा व्रात्य क्षत्रिय लिखा है। पर मल्ल आदि क्षत्रिय जातियाँ बौद्ध मतावलंबी हो गई थीं। इसका उल्लेख स्थान स्थान पर त्रिपिटक में मिलता है जिससे ब्राह्मणों के अधिकार से उनका निकल जाना और व्रात्य होना ठीक जान पड़ता है; और कदाचित् इसीलिए स्मृतियों में ये व्रात्य कहे गए

हैं। (२) द्वंद्व युद्ध करनेवाला। पहलवान। पट्ठा। (३) मनुस्मृति के अनुसार एक व्रात्य क्षत्रिय जाति का नाम। (४) ब्रह्म वैवर्त के अनुसार लेट पिता और तीवरी माता से उत्पन्न एक वर्ण संकर जाति का नाम। (५) पराशर पद्धति के अनुसार कुंदकार पिता और तंतुवाय माता से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति। (६) पात्र। (७) कपोल। (८) एक प्रकार की मछली। (९) एक प्राचीन देश का नाम जो विराट देश के पास था। (१०) दीप। उ०—दग दगाति जो मल्ल सी अग्नि राशि की कांति। सोई मणि माणिक विषे, कांति रंग की भाँति।—परीक्षा।

मल्लक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाँत। (२) दीवट। चिरागदान। (३) दीप। दीया। (४) नारियल के छिलके का बना हुआ पात्र। (५) बर्त्तन। पात्र। (६) डब्बे वा संपुट का पल्ला।

मल्लक्रीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लयुद्ध। कुश्ती।

मल्लखंभ—संज्ञा पुं० दे० "मलखम"।

मल्लज—संज्ञा पुं० [सं०] काली मिर्च।

मल्लतरु—संज्ञा पुं० [सं०] पियाल या पियार का पेड़। चिरौंजी।

मल्लताल—संज्ञा पुं० [सं०] संगीत शास्त्रानुसार एक ताल का नाम जिसमें पहले चार लघु और फिर दो द्रुत मात्राएँ होती हैं। यह ताल के आठ मुख्य भेदों में से एक माना जाता है।

मल्लनाग—संज्ञा पुं० [सं०] कामसूत्र के रचयिता वात्स्यायन का एक नाम।

मल्लभूमि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मलद नामक देश। (२) कुश्ती लड़ने की जगह। अखाड़ा।

मल्लयुद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] परस्पर द्वंद्व युद्ध जो बिना शस्त्र के केवल हाथों से किया जाय। बाहुयुद्ध। कुश्ती।

पर्य्या०—नियुद्ध। बाहु-युद्ध।

विशेष—यह युद्ध प्राचीन मल्ल जाति के नाम से प्रख्यात है। इस जाति के लोग अखाड़ों में व्यायाम और युद्ध किया करते थे। महाभारत काल में इनकी युद्ध-प्रणाली को राजा लोग इतना पसंद करते थे कि प्रायः सभी राजाओं के दरबार में मल्ल नियुक्त किए जाते थे और उन्हें अखाड़ों में लड़ाया जाता था। कितने लोग मल्लों को रखकर उनसे स्वयं शिक्षा प्राप्त करते थे और मल्ल युद्ध में निपुणता बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। जरासंध और भीम मल्लयुद्ध के बड़े व्यसनी थे। जरासंध के यहाँ मल्लों की एक सेना भी थी।

मल्लविद्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] कुश्ती की विद्या। मल्लयुद्ध की विद्या।

मल्लशाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लयुद्ध करने का स्थान। मल्ल-भूमि। अखाड़ा।

मल्ला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) मल्लिका। चमेली। (३) एक लता का नाम। पत्रवल्ली।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) जुलाहों के हत्था नामक औज़ार का ऊपरी भाग जिसे पकड़कर वह चलाया जाता है। (२) एक प्रकार का लाल रंग जो कपड़े को लाल वा गुलाबी रंग के माठ में बचे हुए रंग में डुबाने से आता है।

मल्लार—संज्ञा पुं० [सं०] मलार नामक राग। त्रि० दे० "मलार"।

मल्लारि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कृष्ण। (२) शिव।

संज्ञा स्त्री० दे० "मल्लारी"।

मल्लारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] वसंत राग की एक रागिनी का नाम। हलायुध ने इसे मेघ राग की रागिनी और ओड़व जाति की माना है और ध, नि, रि, ग, म, ध इसका स्वरग्राम बतलाया है।

मल्लाह—संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मल्लाहिन] एक अन्त्यज जाति जो नाव चलाकर और मछलियाँ मारकर अपना निर्वाह करती है। केवट। धीवर। माझी।

मल्लाही—वि० [फ़ा०] मल्लाह संबंधी। मल्लाह का।

मुहा०—मल्लाही काँटा=लोहे का एक काँटा जिसका सिर चिपटा करके मोड़ा वा घुमाया होता है। ऐसा काँटा नाव की पटरियों के जड़ने में काम आता है।

संज्ञा स्त्री० मल्लाह का काम या पद।

मल्लि—संज्ञा पुं० [सं०] जैन शास्त्रानुसार चौबीस जिनों में उन्नी-सवें जिन का नाम। इन्हें मल्लिनाथ कहते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लिका।

मल्लिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का हंस जिसके पैर और चोंच काली होती है। (२) जोलाहों की ढरकी। (३) माघ का महीना।

संज्ञा पुं० दे० "मलिक"।

मल्लिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का बेला जिसे मोतिया कहते हैं। वैद्यक में इसका स्वाद कड़वा और चरपरा, प्रति गरम और गुण हलका, वीर्य्यवर्द्धक, वात-पित्त-नाशक, अरुचि और विष में हितकर तथा व्रण और कोढ़ का नाशक लिखा है। इसका फूल सफेद और गोल तथा गंध मनोरम होती है। कुछ लोग भ्रमवश इसे चमेली समझते हैं। (२) आठ अक्षरों का एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में रगण, जगण और अंत में एक गुरु और एक लघु होता है। उ०—एक काल रामदेव। सोधु बंधु करत सेव। शोभिजै सबै सो और। मंत्रि मित्र ठौर ठौर। (३) सुमुखी वृत्ति का एक नाम।

मल्लिकाक्ष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का घोड़ा जिसकी आँख पर सफ़ेद धब्बे होते हैं। (२) घोड़े की आँख पर के सफेद धब्बे। (३) एक प्रकार के हंस का नाम।

वि० सफ़ेद आँखवाला। कंजा।

मल्लिकामोद—संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से

एक भेद का नाम जिसमें चार विराम होते हैं।

मल्लिकार्जुन-संज्ञा पुं० [सं०] एक शिव लिंग का नाम जो श्रीशैल पर है।

मल्लिगंधी-संज्ञा पुं० [सं०] अगर।

मल्लिनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के उन्नीसवें तीर्थंकर का नाम।

मल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मल्लिका। (२) सुंदरी वृत्ति का एक नाम।

मल्लू-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भालू। (२) बंदर।

मल्हनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव जिसका अगला भाग अधिक चौड़ा होता है।

मल्हराना†-क्रि० स० [सं० मल्ह=गोस्तन] चुमकारना। पुचकारना। मल्हाना। उ०—रुचिर सेज ले गई मोहन को भुजा उछंग सुवावति है। सूरदास प्रभु सोई कन्हैया लहरावति मल्हरावति है।—सूर।

विशेष—गौओं को दुहते समय जब दुहनेवाला उनके स्तन से दूध निकालता है, तब नई गौएँ बहुत उछलती कूदती और लात चलाती हैं। इसके लिए दुहनेवाले उन्हें चुमकारते पुचकारते हैं जिससे वे शांत हों और दुहने दें। इसीलिए मल्ह शब्द से, जिसका अर्थ गोस्तन है, मल्हराना, मल्हाना, मल्हारना आदि क्रियाएँ चुमकारने के अर्थ में बनी हैं।

मल्हाना†-क्रि० स० [सं० मल्ह=गोस्तन] चुमकारना। पुचकारना। मल्हराना। उ०—(क) यशोदा हरि पालनहि झुलावै। हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।—सूर। (ख) बहुरु छबीले छौना छगन मगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाई। सानुज हिय हुलसति तुलसी के प्रभु की ललित लरिकाई।—तुलसी। (ग) कहति मल्हाइ मल्हाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया। मोद कंद कुल कुमुद चंद मेरे रामचंद्र रघुरैया।—तुलसी।

मल्हार-संज्ञा पुं० दे० "मलार"।

मल्हारना-क्रि० स० दे० "मल्हाना"।

मवक्किल-संज्ञा पुं० [अ० मुवक्किल] [स्त्री० मवक्किला (क्व०)] (१) अपनी ओर से वकील वा प्रतिनिधि नियत करनेवाला पुरुष। मुकदमे में अपनी ओर से कचहरी वा न्यायालय में काम करने के लिए अधिकारी प्रतिनिधि नियत करनेवाला पुरुष। (२) किसी को अपना काम सुपुर्द करनेवाला। असामी।

मवर-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मतानुसार एक बहुत बड़ी संख्या।

मवर्रिखा-वि० [अ०] लिखित।

मवाजिब-संज्ञा पुं० [अ०] नियमित मात्रा में नियमित समय पर मिलनेवाला पदार्थ। जैसे, वेतन, महसूल आदि। उ०—फकीरों के मवाजिब बंद हो गए।—शिवप्रसाद।

मवाजी-वि० [अ०] अनुमान किया हुआ।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग रुपए और गाँव के अंशों का द्योतन करने के लिए होता है। जैसे, मवाजी दस आना, मवाजी पाँच बीघा छः बिस्वा।

मवाद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सामग्री। सामान। मसाला। (२) पीब।

मवास-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा का स्थान। त्राणस्थल। आश्रय। शरण। उ०—(क) चलन न पावत निगम पथ जग उपजौ अति त्रास। कुच उतंग गिरिबर गह्यौ मीना मैन मवास।—बिहारी। (ख) दैन लगै मन मृगहि जब बिरह अहेरी त्रास। जाइ लेत है दौरि तब प्रीतम सुबन मवास।—रसनिधि।

मुहा०—मवास करना=बसेरा करना। निवास करना। उ०—कहै पद्माकर कालिंदी के कदंबन पै, मधुपन कीन्हों आइ महत मवासो है।—पद्माकर।

(२) किला। दुर्ग। गढ़। उ०—(क) हठी मरहठी ता में राख्यो न मवास कोऊ छीने हथियार डोलैं बन बन जारे से।—भूषण (ख) रहि न सकी सब जगत में सिसिर सीत के त्रास। गरमि भाज गढ़वै भई तिय कुच अचल मवास।—बिहारी। (ग) सिंधु तरे बड़े बीर दले खल जारे हैं लंक से बंक मवासे।—तुलसी। (३) वे पेड़ जो दुर्ग के प्राकार पर होते हैं। उ०—जहाँ तहाँ होरी जरै हरि होरी है। मनहुँ मवासे आगि अहो हरि होरी है।—सूर।

मवासी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मवास] छोटा गढ़। गढ़ी। उ०—(क) जम ने जाइ पुकारिया डंडा दीया डारि। संत मवासी ह्व रहा फाँसी न परै हमारि।—कबीर। (ख) कोट किरीट किधौं मतिराम करै चढ़ि मोर-पखानि मवासी।—मतिराम।

मुहा०—मवासी तोड़ना=(१) गढ़ तोड़ना। (२) विजय करना। संग्राम जीतना। उ०—कबदत्ते मावासी तोरी। कब सुकदेव तोपची जोरी।—कबीर।

संज्ञा पुं० (१) गढ़पति। किलेदार। उ०—(क) आइ मिले सब विकट मवासी। चुक्यौ अमल ज्यों रैयत खासी।—लाल। (ख) हुते शत्रु जेते भये ते भिखारी। मवासे मवासीन की जोम झारी।—सूदन। (२) प्रधान। मुखिया। अधिनायक। उ०—गोरस चुराइ खाइ बदन दुराइ राखै मन न धरत वृंदावन को मवासी। सूर श्याम तोहि घर घर सब जानै इहाँ को है तिहारी दासी।—सूर।

मवेशी-संज्ञा पुं० [अ० मवाशी] पशु। ढोर। डंगर।

यौ०—मवेशीखाना।

मवेशीखाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह बाड़ा जिसमें मवेशी रखे जाते हैं।

विशेष—वर्तमान सरकारी राज्य में स्थान स्थान पर ऐसे मवेशीखाने हैं जिन में ऐसे मवेशी बंद किये जाते हैं जिन्हें कृषक उनकी खेती को हानि पहुँचाने पर हाँककर ले जाते

हैं। वे मवेशी तब तक उस मवेशीखाने में बंद रहते हैं जब तक कि उनका मालिक प्रति मवेशी कुछ दंड और खूराक खर्च वहाँ के कर्मचारी को नहीं दे देता। मवेशीखाने का कर्मचारी मुहर्रिर मवेशी कहलाता है।

मश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्रोध। (२) मच्छड़।

मशक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मच्छड़। (२) गार्ग्य गोत्र में उत्पन्न एक आचार्य्य का नाम। यह एक कल्पसूत्र के रचयिता थे। (३) महाभारत के अनुसार शकद्वीप में क्षत्रियों का एक निवास-स्थान। (४) मसा नामक चर्म रोग।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] चमड़े का बना हुआ थैला जिसमें पानी भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

मशककुटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मच्छड़ हाँकने की चौरी।

मशकहरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मसहरी।

मशकावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

मशक्कत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मेहनत। श्रम। परिश्रम। (२) वह परिश्रम जो जेलखाने के कैदियों को करना पड़ता है। जैसे, चक्की पीसना, कोल्हू पेरना, मिट्टी खोदना, रस्सी बटना आदि।

मशगूल-वि० [अ०] काम में लगा हुआ। प्रवृत्त। लीन।

मशरू-संज्ञा पुं० [अ० मशरुअ] एक प्रकार का धारीदार कपड़ा जो रेशम और सूत से बुना जाता है। मुसलमान स्त्री पुरुष इसका पायजामा बनाकर पहनते हैं। यह अधिकतर बनारस में बनता है।

मशविरा-संज्ञा पुं० [अ०] सलाह। परामर्श।

यौ०—सलाह-मशविरा=परामर्श। उ०—उन्होंने समझा कि सुदूर पूर्व में भी एक प्रबल शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और बड़े बड़े राजकीय मामलों में अब आगे उससे भी सलाह-मशविरा करने की जरूरत पड़ा करेगी।—द्विवेदी।

मशहूर-वि० [अ०] प्रख्यात। प्रसिद्ध।

मशान-संज्ञा पुं० [सं० श्मशान] मरघट। उ०—बसे मशान भूत सँग लिये। रक्त फूल की माला दिये।—लल्लू०।

मशाल-संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार की मोटी बत्ती जिसके नीचे पकड़ने के लिए काठ का एक दस्ता लगा रहता है और जो हाथ में लेकर प्रकाश के लिए जलाई जाती है। यह कपड़े की बनाई जाती है और चार पाँच अंगुल के व्यास की तथा दो ढाई हाथ लंबी होती है। जलते रहने के लिए इसके मुँह पर बार बार तेल की धार डाली जाती है।

मुहा०—मशाल लेकर वा जलाकर ढूँढ़ना=अच्छी तरह ढूँढ़ना। बहुत ढूँढ़ना।

मशालची-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [स्त्री० मशालचिन] मशाल दिखलाने-वाला। मशाल जलाकर हाथ में लेकर दिखलानेवाला।

मशीखत-संज्ञा स्त्री० [अ०] शेखी। घमंड।

मुहा०—मशीखत बघारना=बढ़ बढ़कर बातें करना। शेखी बघारना।

मशीन-संज्ञा स्त्री० [अं०] किसी प्रकार का यंत्र जिसकी सहायता से कोई चीज़ तैयार की जाय। कल।

मशीर-संज्ञा पुं० [अ०] मशविरा देनेवाला। सलाह देनेवाला। मंत्री।

मश्क-संज्ञा पुं० [अ०] किसी काम को अच्छी तरह करने का अभ्यास।

मश्शाक-वि० [अ०] जिसे कोई काम करने का खूब अभ्यास हो। अभ्यस्त।

मष-संज्ञा पुं० दे० "मख"।

मषि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) काजल। (२) सुरमा। (३) स्याही।

मषिकूपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मषिघटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मषिधान-संज्ञा पुं० [सं०] दावात।

मषिपण्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो लिखने का काम करता हो। लेखक।

मषिप्रसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दावात। (२) कलम।

मषिमणि-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मषी-संज्ञा स्त्री० दे० "मषि"।

मष्ट-वि० [सं० मष्ठ, प्रा० मट्ट=मट्ठ] (१) संस्कार-शून्य। जो भूल गया हो। (२) उदासीन। मौन। उ०—सो अवगुन कित कीजिये जिव दीजै जेहि काज। अब कहनो है कछु नहीं मष्ट भलो पखिराज।—जायसी।

मुहा०—मष्ट करना=चुप रहना। मुँह न खोलना। उ०—(क) बोलत लखनहिं जनक डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।—तुलसी। (ख) बूझेगि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।—तुलसी। (ग) ग्वालिनी श्याम तनु देख री आयु तन देखिये। भीत जब होइ तब चित्र अवरेखिये। कहाँ मेरो कान्ह की तनक सी आँगुरी बड़े बड़े नखनि के चिन्ह तेरे। मष्ट करु हँसै गरे लोगु अँकवार भुज कहाँ पाये तैं श्याम मेरे।—सूर। मष्ट धारना=मौन धारण करना। चुप्पी साधना। उ०—सुन्यो वसुदेव दोउ नंदसुअन आये। तिया सों कहत कछु सुनत है री नारि, रातिहू सपन कछु ऐसो पाये। गए अक्रूर तेहि नृपति माँगे बोलि, तुरत आए आनि कंस मारे। कहो पिय कहत सुनिहै बात पौरिया, जाय कहिहैं रहौ मष्ट धारे।—सूर। मष्ट मारना=मौन धारण करना। चुपचाप रहना। उ०—एक दिन वह रात्रि समय स्त्री के पास सेज पर तन छीन मन मलीन मष्ट मारे बैठा मन ही मन कुछ विचार करता था।—लल्लू०।

मष्णार-संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एक प्राचीन स्थान का नाम।

मस॥-संज्ञा स्त्री० [सं० मसि] स्याही। रोशनाई। उ०—सात स्वर्ग को कागद करई। धरती समुद दुहूँ मस भरई।—जायसी।

संज्ञा पुं० [सं० मशक] मच्छड़। मस।

संज्ञा स्त्री० [सं० श्मश्रु] मोछ निकलने से पहले उसके स्थान पर की रोमावली। उ०—उनके भी उगती मसों से रस का टपका पड़ना और अपनी परछाईं से अकड़ना इत्यादि।—शिवप्रसाद।

मुहा०—मस भींजना=मूछों का निकलना आरंभ होना। मूछों की रेखा दिखाई पड़ने लगना। उ०—उठत बैस मस भींजत सलोने सुठि सोभा देखवैया बिनु बित्त ही बिकै हैं।

संज्ञा पुं० दे० "मसा"।

मसक-संज्ञा पुं० [सं० मशक] मसा। मच्छड़। डाँस। उ०—मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि मन हरी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मशक"। उ०—छूछी मसक पवन पानी ज्यों तैसेइ जन्म विकारी हो।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [अनु०] मसकने की क्रिया या भाव।

मसकत॥-संज्ञा स्त्री० दे० "मशक्कत"। उ०—तुम कब मो सों पतित उधार्‌यो। काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिन मसकत को तार्‌यो।—सूर।

मसकना-क्रि० स० [अनु०] (१) खिंचाव वा दबाव में डालकर कपड़े को इस प्रकार फाड़ना कि बुनावट के सब तंतु टूटकर अलग हो जाएँ। (२) किसी चीज़ को इस प्रकार दबाना कि वह बीच में से फट जाय या उसमें दरार पड़ जाय। उ०—महाबली बालि को दबतु दलकत भूमि तुलसी उछरि सिंधु मेरु मसकतु हैं।—तुलसी। (३) जोर से दबाना। जोर से मलना। उ०—सो सुख भाषि सकै अब को रिस कै कसकै मसकै छतियाँ छिये।—पद्माकर।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

क्रि० अ० (१) किसी पदार्थ का दबाव या खिंचाव आदि के कारण बीच में से फट जाना। जैसे,—कपड़ा मसक गया, दीवार मसक गई।

संयो० क्रि०—जाना।

(२) (चित्त का) चिन्तित होना। दुःख के कारण धँसना। उ०—राजकुमार धीरे से उसी स्थान पर बैठ गए। पूर्वकालीन बातें स्मरण होने लगीं और कलेजा मसकने लगा।—गदाधरसिंह।

मसकरा-संज्ञा पुं० दे० "मसखरा"। उ०—जूझैंगे तब कहैंगे अब क्या कहें बनाय। भीर परै मन मसकरा लरै किधौं भगि जाय।—कबीर।

मसक़ला-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सिकलीगरों का एक औजार जो हँसिया के आकार का होता है और जिसमें काठ का एक दस्ता लगा रहता है। इससे रगड़ने से धातुओं पर चमक आ जाती है। प्रायः तलवारें आदि भी इसी से साफ की जाती हैं। उ०—(क) गुरु सिकलीगर कीजिये, ज्ञान मसकला देइ। मन की मैल छुड़ाइ कै, सुचि दर्पण कर लेइ।—कबीर। (ख) शिष्य खाँड़ गुरु मसकला, चढ़ै शब्द ख़रसान। शब्द सहे सन्मुख रहे, निपजे शिष्य सुजान।—कबीर। (२) सैकल वा सिकली करने की क्रिया।

मसकली-संज्ञा स्त्री० दे० "मसक़ला"।

मसका-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) नवनीत। मक्खन। नैनूँ। (२) ताजा निकला हुआ घी। (३) दही का पानी। (४) रासायनिक परिभाषा में, बँधा हुआ पारा। (५) चूने की बरी का वह चूर्ण जो उस पर पानी छिड़कने से हो जाता है। (६) कायस्थ। (सुनार)

मसकीन॥-वि० [अ० मिस्कीन] (१) ग़रीब। दीन। बेचारा। उ०—है मसकीन कुलीन कहावौ तुम योगी संन्यासी। ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता ई मति काहु न नासी।—कबीर। (२) साधु। संत। उ०—क्या मूड़ी भूमिहि शिर नाये क्या जल देह नहाये। खून करै मसकीन कहावै गुण को रहै छिपाये।—कबीर। (३) दरिद्र। कंगाल। (४) भोला। (५) सुशील।

मसख़रा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) बहुत हँसी मज़ाक करनेवाला। हँसोड़। ठट्ठेबाज़। उ०—कबिरा यह मन मसख़रा कहूँ तो माने रोस। जा मारग साहब मिलै तहाँ न चाले कोस।—कबीर। (२) विदूषक। नक़्क़ाल।

मसख़रापन-संज्ञा पुं० [अ० मसखरा+पन (प्रत्य०)] दिल्लगी। ठठोली। हँसी। ठट्ठा। उ०—मुझको तो आपके मुसाहबों में सिवाय मसखरापन के और कोई लियाक़त नहीं मालूम होती।—श्रीनिवासदास।

मसख़री-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मसख़रा+ई (प्रत्य०)] दिल्लगी। हँसी। मज़ाक। उ०—जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना।—तुलसी।

मसखवा॥-संज्ञा पुं० [हिं० मांस+खाना] वह जो मांस खाता हो। मांसाहारी। उ०—चूरहिं हस्ति घोर मानवा। चहुँ दिस आय जुरै मसखवा।—जायसी।

मसजिद-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मस्जिद] सिजदा करने का स्थान। मुसलमानों के एकत्र होकर नमाज़ पढ़ने तथा ईश्वर-वंदना करने के लिए विशिष्ट रूप में बना हुआ स्थान।

विशेष—मसजिद साधारणतः चौकोर बनाई जाती है और उसमें आगे की ओर कुछ खुला हुआ स्थान तथा हाथ-मुँह धोने के लिए पानी का हौज होता है और पीछे की ओर नमाज़ पढ़ने के लिए दालान होता है जिसके ऊपर प्रायः एक से चार तक ऊँची मीनारें भी होती हैं, जिनमें से किसी

एक पर चढ़कर अज़ान या नमाज के समय की सूचना दी जाती है।

मसक़ी–संज्ञा स्त्री० [अ० मिसरी] कंद। (हिं०) संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पक्षी।

मसती–संज्ञा पुं० [हिं० मस्त] हाथी। (हिं०)

मसनंद–संज्ञा स्त्री० दे० "मसनद"।

मसन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का टकुआ जिसकी सहायता से ऊन के कई तागे एक साथ मिलाकर बटे जाते हैं।

मसनद–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) बड़ा तकिया। गाव तकिया। (२) तकिया लगाने की जगह। (३) अमीरों के बैठने की गद्दी। उ०—क्या मसनद तकिये मुल्क मकाँ, क्या चौकी कुरसी तख़्त छतर।—नज़ीर।

मसनदनशीन–संज्ञा पुं० [अ० मसनद+फ़ा० नशीन] मसनद पर बैठनेवाला। बड़ा आदमी। अमीर।

मसना–क्रि० स० [हिं० मसलना] (१) मसलना। (२) गूँधना। उ०—नेत्रों के आस पास उर्द के मसे हुए आटे की एक अंगुल ऊँची दीवर सी बना दो।

मसमुंद*†–वि० [मस ?+मूँदना=बंद होना] कशमकश। ठेल-मठेल। धकमधका। उ०—तबही सूरज के सुभट निकट मचायो दुंद। निकसि सकै नहिं एकहू कस्यो कटक मसमुंद।—सूदन।

मसयारा*†–संज्ञा पुं० [अ० मशअल] (१) मशाल। उ०—(क) जानहुँ नखत करहिं उजियारा। छिप गए दीपक औ मसयारा।—जायसी। (ख) बारह अभरन सोरह सिंगारा। तोहि सोहै पिय ससि मसयारा।—जायसी। (२) मशालची। मशाल दिखानेवाला। उ०—सूक सुनेटा ससि मसयारा। पवन करै नित बार बोहारा।—जायसी।

मसरफ़–संज्ञा पुं० [अ०] व्यवहार में आना। काम में आना। उपयोग।

क्रि० प्र०—में आना।—में लाना।

मसरू–संज्ञा पुं० [अ० मशरूअ] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा। वि० दे० "मशरू"।

मसरूक़ा–वि० [अ०] चोरी किया हुआ। चुराया हुआ। जैसे, माल मसरूक़ा। (कच०)

मसरूफ़–वि० [अ०] काम में लगा हुआ। काम करता हुआ।

मसल–संज्ञा स्त्री० [अ०] कहावत। कहनूत। लोकोक्ति।

मसलन्–वि० [अ०] मिसाल के तौर पर। उदाहरण के रूप में। उदाहरणार्थ। जिस तरह। यथा। जैसे।

मसलना–क्रि० स० [हिं० मलना] (१) हाथ से दबाते हुए रगड़ना। मलना। उ०—(क) स्वास को चारु प्रकास बयारि मंद सुगंध हियो मसती है।—रघुनाथ। (ख) आजु परयो जानि उर आपने मैं सुने कान, वाको संबोधन मोसो कह्यौ हां। मसलु है।—रघुनाथ। (२) ज़ोर से दबाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(३) आटा गूँधना।

मसलहत–संज्ञा स्त्री० [अ०] ऐसी गुप्त युक्ति अथवा छिपी हुई भलाई जो सहसा ऊपर से देखने से जानी न जा सके। अप्रकट शुभ हेतु। जैसे,—(क) इसमें एक मसलहत है जो अभी तक आपकी समझ में नहीं आई। (ख) इस समय उसे यहाँ से उठा देने में एक मसलहत थी।

मसला–संज्ञा पुं० [अ०] कहावत। कहनूत। लोकोक्ति।

मसवई–संज्ञा स्त्री० [मसोवा द्वीप] एक प्रकार का बबूल का गोंद जो अदन से आता है। यह पहले मसोवा द्वीप से आता था, इसी से इसका यह नाम पड़ा।

मसवारा–संज्ञा पुं० [हिं० मास+वारा (प्रत्य०)] प्रसूता का वह स्नान जो प्रसव के उपरान्त एक मास समाप्त होने पर होता है।

मसवासी–संज्ञा पुं० [सं० मासवासी] (१) एक स्थान पर केवल एक मास तक निवास करनेवाला विरक्त। वह साधु आदि जो एक मास से अधिक किसी स्थान में न रहें। उ०—कोइ सुरिखेसु कोइ सनियासी। कोइ सुरामजति कोइ मसवासी।—जायसी। (२) एक महीने से अधिक किसी पुरुष के पास न रहनेवाली स्त्री। गणिका। उ०—तिरिया जो न होइ हरिदासी। जौ दासी गणिका सम जानो दुष्ट राँड़ मसवासी।—रघुराज।

मसविदा–संज्ञा पुं० [अ० मुसविदा] (१) वह लेख जो पहली बार काट छाँट के लिए तैयार किया गया हो और अभी साफ करने को बाकी हो। खर्रा। मसौदा। (२) युक्ति। उपाय। तरकीब।

क्रि० प्र०—निकालना।

मुहा०—मसविदा बाँधना=युक्ति रचना। उपाय सोचना।

मसहरी–संज्ञा स्त्री० [सं० मशहरी] (१) पलंग के ऊपर और चारों ओर लटकाया जानेवाला वह जालीदार कपड़ा जिसका उपयोग मच्छड़ों आदि से बचने के लिए होता है। (२) ऐसा पलंग जिसके चारों पायों पर इस प्रकार का जालीदार कपड़ा लटकाने के लिए चार ऊँची लकड़ियाँ या छड़ लगे हों। (ऊपर की ओर भी ये चारों लकड़ियाँ या छड़ लकड़ी की चार पट्टियों या छड़ों से जोड़े रहते हैं।)

मसहार*–संज्ञा पुं० [सं० मांसाहारिन्] मांसाहारी। मांस खानेवाला। उ०—(क) घटे नहिं कोह भरे उर छोह। नटे मसहार धरे मन मोह।—सूदन। (ख) मसहार छाए नभ धरनि धाय स्यार।—सूदन।

मसहूर–वि० दे० "मशहूर"।

मसा-संज्ञा पुं० [सं० मांसकील] (१) शरीर पर कहीं कहीं काले रंग का उभरा हुआ मांस का छोटा दाना जो वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का चर्म-रोग माना जाता है; और जो शरीर में अपने होने के स्थान के विचार से शुभ अथवा अशुभ माना जाता है। यह प्रायः सरसों अथवा मूँग के आकार से लेकर बेर तक के आकार का होता है। (२) बवासीर रोग में मांस के दाने जो गुदा के मुँह पर या भीतर होते हैं। इनमें बहुत पीड़ा होती है और कभी कभी इनमें से खून भी बहता है।

संज्ञा पुं० [सं० मशक] मच्छड़।

मसान-संज्ञा पुं० [सं० श्मशान] (१) वह स्थान जहाँ मुरदे जलाए जाते हों। मरघट।

पर्या०—पितृवन। शतानक। रुद्राक्रीड़। दाहसर। अंतशय्या। पितृकानन।

मुहा०—मसान जगाना=तंत्र शास्त्र के अनुसार श्मशान पर बैठकर शव की सिद्धि करना। मुरदा सिद्ध करना। उ०—कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहु मसान।—तुलसी। मसान पड़ना=सन्नाटा हो जाना।

(२) भूत, पिशाच आदि।

यौ०—मसान की बीमारी=बच्चों को होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें वे घुल घुलकर मर जाते हैं।

(३) रणभूमि। रणक्षेत्र। उ०—तुलसी महेश विधि लोकपाल देवगन देखत विमान कौतुक मसान के।—तुलसी।

मसाना-संज्ञा पुं० [अ०] पेट में की वह थैली जिसमें पेशाब जमा रहता है। पेशाब की थैली। मूत्राशय। बस्ति।

*संज्ञा पुं० दे० "मसान"।

मसानी-संज्ञा स्त्री० [सं० श्मशानी] स्मशान में रहनेवाली पिशाचिनी, डाकिनी इत्यादि। उ०—माइ मसानी सेढ़ि सीतला भैरू भूत हनुमंत। साहब से न्यारा रहै जो इनको पूजंत।—कबीर।

मसार-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रनील मणि। नीलम।

मसाल-संज्ञा स्त्री० दे० "मशाल"। उ०—आनि इतै छन वारि दे छबि घनसार मसाल। कौन काज तहँ राज जहँ सुधनबदन दुतिजाल।—रामसहाय।

मसालची-संज्ञा पुं० दे० "मशालची"।

मसालदुम्मा-संज्ञा पुं० [हिं० मशाल+दुम] एक प्रकार का पक्षी जिसकी दुम बिल्कुल काली रहती है, बाकी सारा शरीर चाहे जिस रंग का हो।

मसाला-संज्ञा पुं० [फ़ा० मसालह] (१) किसी पदार्थ को प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक सामग्री। वे चीज़ें जिनकी सहायता से कोई चीज़ तैयार होती हो। जैसे—(क) मकान बनाने के लिए सुर्खी, चूना, ईंटें आदि। (ख) रसोई बनाने के लिए हलदी, धनिया, मिर्च, जीरा, तेजपत्ता आदि। (ग) कपड़ा पर टाँकने के लिए गोटा, पट्ठा, किनारी आदि। (घ) ग्रंथ या लेख आदि लिखने के लिए दूसरे ग्रंथ आदि।

यौ०—गरम मसाला। मसालेदार। मसाले का तेल।

(२) ओषधियों अथवा रासायनिक द्रव्यों का योग या समूह। जैसे, पीतल साफ़ करने का मसाला, पान का मसाला, सिर मलने का मसाला, तेल में मिलाने का मसाला। (३) साधन। जैसे,—अब तो आपको भी दिल्लगी का अच्छा मसाला मिल गया। (४) तेल। जैसे,—रोशनी बुझ रही है; मसाला लेते आना। (५) आतिशबाजी। जैसे,—उनकी बारात में अच्छे अच्छे मसाले छूटे थे। (६) नव-यौवना और सुंदरी स्त्री। (बाजारू)।

मसाली-संज्ञा स्त्री० [अ० मशाल ?] रस्सी। डोरी (लश०)

क्रि० प्र०—कसना।—बाँधना।

मसाले का तेल-संज्ञा पुं० [हिं० मसाला+तेल] एक प्रकार का सुगंधित तेल जो साधारण तिल के तेल में कचूर, कचरी, बालछड़ आदि सुगंधित द्रव्य मिलाकर बनाया जाता है।

मसालेदार-वि० [अ० मसालह+फ़ा दार (प्रत्य०)] जिसमें किसी प्रकार का मसाला लगा या मिला हो। (इसका प्रयोग प्रायः खाद्य पदार्थों के लिए ही होता है।)

मसिंदर-संज्ञा पुं० [अ० मेसेंजर] जहाज में का वह बहुत बड़ा रस्सा जो चरखी या दौड़ में लपेटा रहता है और जिसकी सहायता से जहाज का गिराया हुआ लंगर उठाया जाता है। (लश०)

मसि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लिखने की स्याही। रोशनाई। उ०—तुम्हरे देश कागद मसि खूटी।—सूर। (ख) परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही—तुलसी। (२) निर्गुंडी का फल। (३) काजल। (४) कालिख। उ०—जनु मुँह लाइ गेरु मसि भए खरनि असवार।—तुलसी।

मसिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] शेफालिका। निर्गुंडी।

मसिकूपी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मसिजल-संज्ञा पुं० [सं०] लिखने की स्याही। रोशनाई।

मसिदानी-संज्ञा स्त्री० [सं० मसि+फ़ा० दानी] दावात। मसिपात्र

मसिधान-संज्ञा पुं० [सं०] दावात।

मसिपण्य-संज्ञा पुं० [सं०] लिखने का काम करनेवाला। लेखक।

मसिपथ-संज्ञा पुं० [सं०] कलम।

मसिपात्र-संज्ञा पुं० [सं०] दावात।

मसिबुंदा-संज्ञा पुं० [सं० मसिबिंदु] मसिबिंदु। उ०—(क) मुनिमन हरत मंजु मसिबुंदा। ललित बदन बलि बालमुकुंदा।—

तुलसी। (ख) उर बघनहा कंठ कँठुला झँडुले बार। बेनी लटकन मसिबुंदा मुनिमनहार।—सूर।

मसिमणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] दावात।

मसिमुख–वि० [सं०] जिसके मुँह में स्याही लगी हो। काले मुँहवाला। दुष्कर्म करनेवाला। उ०—जो भागै सत छाँड़ि कै मसिमुख चढ़ै बरात।

मसियाना–क्रि० अ० [?] भली भाँति भर जाना। पूरा हो जाना। उ०—नेगी गेज मिले अरकाना। पँवरथ बाजे घर मसियाना।—जायसी।

मसिबिंदु–संज्ञा पुं० [सं०] काजल का बुंदा जो नजर से बचने के लिए बच्चों को लगाया जाता है। दिठौना। उ०—(क) लोयन नील सरोज से भ्रू पर मसिबिंदु विराज।—तुलसी। (ख) ललित भाल मसिबिंदु बिराजै। भृकुटी कुटिल श्रवण अति भ्राजै।—विश्राम।

मसिल†–संज्ञा पुं० दे० "मैनसिल"।

मसी–संज्ञा स्त्री० दे० "मसि"।

मसीका–संज्ञा पुं० [हिं० माशा] (१) आठ रत्ती का मान। माशा। (२) चवन्नी। (दलाल)।

मसीत*‡–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मस्जिद] मुसलमानों का वंदना-स्थान। मसजिद। उ०—कबिरा काजी स्वाद बस जीव हते तब दोय। चढ़ि मसीत एको कहै क्यों दरगह साँचा होय।—कबीर।

मसीद*†–संज्ञा स्त्री० [अ० मस्जिद] उ०—माँगि कै खैबो मसीद को सोइबो लेनो है एक न देनो है दोऊ।—तुलसी।

मसीह–संज्ञा पुं०[अ०] ईसाइयों के धर्मगुरु हजरत ईसा का एक नाम।

मसीही–वि० [अ० मसीह+फ़ा० ई० (प्रत्य०)] ईसामसीह-संबंधी। मसीह का।

संज्ञा पुं० मसीह का अनुयायी। ईसाई।

मसुर†–संज्ञा पुं० दे० "मसूर"।

मसुरी–संज्ञा स्त्री० दे० "मसूर"।

मसू*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मरू मि० पं० मसाँ=कठिनता से] कठिनाई। कठिनता। मुश्किल।

मुहा०—मसू करके=बहुत कठिनता से। बड़ी मुश्किल से। उ०—रसखानि तिहारी सौं एरी जसोमति भागि मसू करि छूटन पाई।—रसखान।

मसूड़ा–संज्ञा पुं० [सं० श्मश्रु] मुँह के अंदर दाँतों की पंक्ति के नीचे या ऊपर का मांस जिस पर दाँत जमे होते हैं।

मसूढ़ी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] धातु गलाने की भट्ठी।

मसूर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अन्न जो द्विदल और चिपटा होता है और जिसका रंग मटमैला होता है। प्रायः इसकी दाल बनती है जो गुलाबी रंग की और अरहर की दाल से कुछ छोटी और पतली होती है। पकाने पर इसका भी रंग अरहर की दाल का सा हो जाता है। यह दाल बहुत ही पुष्टिकारक समझी जाती है। इसे प्रायः नीची जमीनों में, जहाँ पानी ठहरता है, खाली खेतों में अथवा धान के खेतों में बोते हैं। इसकी कच्ची फलियाँ भी खाई जाती हैं और इसकी सूखी पत्तियाँ और डंठल चारे के काम में आते हैं। वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, संग्राहक, कफ और पित्त का नाशक तथा ज्वर को दूर करनेवाला माना है। द्विजों में कुछ लोग इसका खाना कदाचित् इसलिए अच्छा नहीं समझते कि इसके नाम का "मांस" शब्द के साथ कुछ मेल मिलता है। पुराणों में रविवार के दिन इसका खाना निषिद्ध कहा गया है और विधवाओं के लिए इसका खाना नितान्त वर्जित किया गया है। मसुरी।

पर्य्या०—मांगल्यक। व्रीहिकांचन। पृथुवीजक। शूर। कल्याण-बीज। मसूरिका।

यौ०—मसूर का सत्त=भूने मसूर का आटा जो मीठा वा नमक मिलाकर पानी में घोलकर खाया जाता है।

मसूरक–संज्ञा पुं० [सं०] गोल तकिया।

मसूरकर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

मसूरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेश्या। रंडी। (२) मसूर की दाल। (३) मसूर की बनी हुई बरी। उ०—कीन्ह मसूरा धन सो रसोई। जो कछु सब माँसू सो होई।—जायसी।

संज्ञा पुं० दे० "मसवा"।

मसूरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शीतला। माता। चेचक। (२) छोटी माता जिसमें सारे शरीर में लाल लाल छोटी फुंसियाँ निकल आती हैं। (३) कुटनी।

मसूरिकापिडिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की माता या चेचक जिसमें मसूर की दाल के बराबर छोटे छोटे दाने निकलते हैं।

मसूरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) माता। चेचक। (२) दे० "मसूर"।

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जो कद में छोटा होता है और प्रतिवर्ष शिशिर ऋतु में जिसके पत्ते झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी सफेद, बढ़िया और बहुत मज़बूत होती है, जिससे संदूक तथा सजावट के अनेक प्रकार के सामान बनाए जाते हैं। शिमले, शिकम और भूटान आदि में यह वृक्ष अधिकता से होता है।

मसूल†–संज्ञा पुं० दे० "महसूल"।

मसूला–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की पतली लंबी नाव।

मसूस–संज्ञा स्त्री० [हिं० मसूसना] मन मसोसने का भाव। कुढ़न। कलपना। उ०—याही मसूस मरों का करों रिखिनाथ परोसिन मैं परों पैयाँ।—रिखिनाथ।

मसूसन–संज्ञा स्त्री० [हिं० मसूसना] मन मसूसने का भाव। आंतरिक व्यथा। कुढ़न। उ०—(क) कीजै कहा चाव अपनी

कत इहाँ मसूसन मरिए।—सूर। (ख) सूरत के मिस ही मन मूसति होत मसूसनहीं फिरै कोठनि।—देव।

मसूसना—क्रि० अ० [हिं० मरोड़ना या फ़ा० अफ़सोस, पं० मसोस ?] (१) ऐंठना। मरोड़ना। बल देना। (२) निचोड़ना। (३) किसी मनोवेग को रोकना। जब्त करना। (४) मन ही मन रंज करना। कुढ़ना। कलपना। (इस अर्थ में यह शब्द बहुधा मन शब्द के साथ आता है।) उ०—(क) डाँट दीजिये, हम मन ही मन मसूसकर रह जायँ।—राधाकृष्ण-दास। (ख) सोवति सजोवति न बूझति न सूझति मसूसति रिसाति रस रूसति हँसति सी।—देव।

मसृण—वि० [सं०] जो रूखा या कड़ा न हो। चिकना और मुलायम।

मसोढ़ा†—संज्ञा पुं० [देश०] सोना, चाँदी आदि गलाने की घरिया। (कुमाऊँ)

संज्ञा पुं० दे० "मसूढ़ा"।

मसोसना—क्रि० अ० दे० "मसूसना"।

मसौदा—संज्ञा पुं० [अ० मसव्विदा] (१) काट छाँट करने, दोहराने और साफ़ करने के उद्देश्य से पहली बार लिखा हुआ लेख। खर्रा। मसव्विदा। (२) उपाय। युक्ति। तरकीब।

मुहा०—**मसौदा गाँठना या बाँधना**=कोई काम करने की युक्ति या उपाय सोचना। तरकीब निकालना।

यौ०—मसौदेबाज़।

मसौदेबाज़—संज्ञा पुं० [अ० मसौदा+फ़ा बाज़ (प्रत्य०)] (१) वह जो अच्छा उपाय निकालता हो। अच्छी युक्ति सोचनेवाला। (२) धूर्त्त। चालाक।

मस्कर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वंश। खानदान। (२) गति। (३) ज्ञान।

मस्करा*—संज्ञा पु० दे० "मसखरा"।

मस्करी—संज्ञा पुं० [सं० मस्करिन्] (१) वह जो चौथे आश्रम में हो। संन्यासी। (२) भिक्षु। (३) चन्द्रमा।

संज्ञा स्त्री० दे० "मसखरी"।

मस्का—संज्ञा पु० [अ०] (१) मक्खन। नवनीत। (२) दे० "मसका"।

मस्कुर‡—संज्ञा पुं० दे० "मसूढ़ा"।

मस्खरा—संज्ञा पुं० दे० "मसखरा"।

मस्जिद—संज्ञा स्त्री० दे० "मसजिद"। उ०—क्या भो वजू व मज्जन कीन्हें क्या मस्जिद सिर नाये। हृदया कपट निमाज गुजारै कह भो मक्का जाये।—कबीर।

मस्त—वि० [फ़ा०, मि० सं० मत्त] (१) जो नशे आदि के कारण मत्त हो। मतवाला। मदोन्मत्त। जैसे,—वह दिन रात शराब में मस्त रहता है। (२) जिसे किसी बात का पता न लगता हो। जिसे किसी की चिन्ता या परवाह न होती हो। सदा प्रसन्न और निश्चिन्त रहनेवाला। (३) जो अपनी पूरी जवानी पर आने के कारण आपे से बाहर हो रहा हो। यौवन मद से भरा हुआ। जैसे, मस्त हाथी, मस्त औरत। (४) जिसमें मद हो। मदपूर्ण। जैसे, मस्त आँखें। (५) परम प्रसन्न। मग्न। आनंदित। जैसे,—वह अपने बाल-बच्चों में ही मस्त रहता है। (६) अभिमानी। घमंडी। जैसे,—आज कल ये मज़दूर मस्त हो रहे हैं; इनसे काम लेना कुछ सहज नहीं है।

मस्तक—संज्ञा पुं० [सं०] सिर। उ०—मस्तक टीका काँध जनेऊ। कवि बिआस पंडित सहदेऊ।—जायसी।

मस्तकी—संज्ञा स्त्री० दे० "मस्तगी"।

मस्तगी—संज्ञा स्त्री० [अ० मस्तकी] एक प्रकार का बढ़िया पीला गोंद जो भूमध्यसागर के आस पास के प्रदेशों में होनेवाली एक प्रकार की सदाबहार झाड़ी के तनों को पाछकर निकाला जाता है; और जो अपने उत्पत्ति-स्थान रूम के कारण प्रायः "रूमी मस्तगी" कहलाता है। यह गोंद वार्निश में मिलाया जाता है और ओषधि-रूप में भी काम में आता है। दाँतों के अनेक रोगों में यह बहुत उपकारी होता है। इससे दाँतों का हिलना, पीड़ा, दुर्गन्धि आदि दूर होती है। और भी कई रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है।

मस्तरी—संज्ञा स्त्री० [सं० मस्त्रा] धातु गलाने की भट्ठी। (शाहजहाँपुर)।

मस्ताना—वि० [फ़ा० मस्तानः] (१) मस्तों का सा। मस्तों की तरह का। जैसे, मस्ताना चाल। (२) मस्त। मत्त।

क्रि० अ० [फ़ा० मस्त+आना (प्रत्य०)] मस्ती पर आना। मस्त होना। मत्त होना।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० स०—मस्ती पर लाना। मस्त करना। मत्त करना।

संयो० क्रि०—देना।

मस्तिक—संज्ञा पुं० दे० "मस्तिष्क"।

मस्तिकी—संज्ञा स्त्री० दे० "मस्तगी"।

मस्तिष्क—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक के अंदर का गूदा। भेजा। मगज।

विशेष—कहा जाता है कि भोजन का परिपाक होने पर जो रस बनता है, वह क्रमशः मस्तक में पहुँचकर स्निग्ध रूप धारण करता है और उसी के द्वारा स्मृति और बुद्धि काम करती है। उसी को "मस्तिष्क" कहते हैं।

(२) बुद्धि के रहने का स्थान। दिमाग।

मस्ती—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मस्त होने की क्रिया या भाव। मत्तता। मतवालापन।

क्रि० प्र०—आना।—उतरना।—चढ़ना।—दिखाना।

मुहा०—**मस्ती झड़ना**=मस्ती दूर होना। **मस्ती झाड़ना**=मस्ती दूर करना।

(२) भोग की प्रबल कामना। प्रसंग की उत्कट इच्छा।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।—चढ़ना।—अड़ना।—में आना।

मुहा०—मस्ती निकालना=प्रसंग करके वीर्यपात करना। संभोग करके वीर्य स्खलित करना।

(३) वह स्राव जो कुछ विशिष्ट पशुओं के मस्तक, कान, आँख आदि के पास से कुछ विशिष्ट अवसरों पर, विशेषत: उनके मस्त होने के समय होता है। मद। जैसे, हाथी की मस्ती, ऊँट की मस्ती।

क्रि० प्र०—टपकना।—बहना।

(४) वह स्राव जो कुछ विशिष्ट वृक्षों अथवा पत्थरों आदि में से कुछ विशेष अवसरों पर होता है। जैसे, नीम की मस्ती। पहाड़ की मस्ती।

क्रि० प्र०—टपकना।—बहना।

मस्तु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दही का पानी। (२) छेने का पानी।

मस्तुलुंग–संज्ञा पुं० [सं०] मस्तिष्क। मगज़।

मस्तूरी–संज्ञा स्त्री० [सं० भस्त्रा] धातु गलाने की भट्ठी। (फतहपुर)

मस्तूल–संज्ञा पुं० [पुर्त०] बड़ी नावों आदि के बीच में खड़ा गाड़ा जानेवाला वह बड़ा लट्ठा या शहतीर जिसमें पाल बाँधते हैं।

मस्सा–संज्ञा पुं० दे० "मसा"।

महँ*†–अव्य० [सं० मध्य] में।

महँई*†–वि० [सं० महा] महान्। भारी। उ०—विदित पठान-राज महँ रहई। रहे पठान प्रबल तहँ महँई।

अव्य० दे० "महँ"।

महँक–संज्ञा स्त्री० दे० "महक"।

महँकना–क्रि० अ० दे० "महकना"।

महँगा–वि० [सं० महार्घ] जिसका मूल्य साधारण या उचित की अपेक्षा अधिक हो। अधिक मूल्य पर बिकनेवाला। जैसे,—आजकल कपड़ा और गल्ला दोनों महँगे हैं। उ०—कारण अगर रहत है संगा। कारज अगर बिकत सो महँगा।—विश्राम।

महँगाई†–संज्ञा स्त्री० दे० "महँगी"।

महँगी–संज्ञा स्त्री० [हिं० महँगा+ई (प्रत्य०)] (१) महँगे होने का भाव। महँगापन। (२) महँगे होने की अवस्था। (३) दुर्भिक्ष। अकाल। कहत।

क्रि० प्र०—पड़ना।

महँड़ा†–संज्ञा पुं० [देश०] भुने हुए चने (बिहार)।

महंत–संज्ञा पुं० [सं० महत्=बड़ा] साधु मंडली या मठ का अधिष्ठाता। साधुओं का मुखिया।

वि० बड़ा। श्रेष्ठ। प्रधान। मुखिया। उ०—सखा प्रवीन हमारे तुम हौ तुम नहीं महंत।

महंताई†–संज्ञा स्त्री० दे० "महंती"।

महंती–संज्ञा स्त्री० [हिं० महंत+ई (प्रत्य०)] (१) महंत का भाव। (२) महंत का पद।

क्रि० प्र०—पाना।—मिलना।

महँदी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेंहदी"।

मह–अव्य० दे० "महँ"।

वि० [सं० महत्] (१) महा। अति। बहुत। उ०—पिय बिन तिय मह दुखिया जान। तब यों गोरी कियो बखान।—लल्लू०। (२) महत्। श्रेष्ठ। बड़ा।

महक–संज्ञा स्त्री० [हिं० गमक] गंध। बास। गमक। बू।

यौ०—महकदार। महकीला।

महकदार–वि० [हिं० महक+फ़ा० दार (प्रत्य०)] जिसमें महक हो। महकनेवाला। गंध देनेवाला।

महकना–क्रि० अ० [हिं० महक+ना (प्रत्य०)] गंध देना। बास देना।

महकमा–संज्ञा पुं० [अ०] किसी विशिष्ट कार्य्य के लिए अलग किया हुआ विभाग। सीगा। सरिश्ता। जैसे, चुंगी का महकमा, रजिस्टरी का महकमा।

महकान*–संज्ञा पुं० दे० "महक"। उ०—कनक बरन जगमग तन में अस चंदन की महकान।—देव स्वामी।

महकाली–संज्ञा स्त्री० [सं० महाकाली] पार्वती। (डिं०)

महकीला–वि० [हिं० महक+ईला (प्रत्य०)] जिससे अच्छी महक आती हो। सुगंधित। महकदार। खुशबूदार।

महचक्र–संज्ञा पुं० [डिं०] सूर्य।

महज़–वि० [अ०] (१) शुद्ध। खालिस। जैसे,—यह तो महज़ पानी है। (२) केवल। मात्र। सिर्फ़। जैसे,—महज़ आप की ख़ातिर से मैं यहाँ आ गया।

महज़रनामा–संज्ञा पुं० [अ० महज़र=खून+फ़ा० नामा] वह लेख जिसमें किसी की हत्या होने अथवा किसी के हत्या के अपराधी होने का प्रमाण हो। हत्या अथवा हत्यारे के संबंध का साक्षीपत्र। हिंसा विषयक साक्षीपत्र।

महजित–संज्ञा स्त्री० दे० "मसजिद"।

महण–संज्ञा पुं० [डिं०] समुद्र।

महत्–वि० [सं०] (१) महान्। बृहत्। बड़ा। (२) सबसे बढ़कर। सर्वश्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० (१) प्रकृति का पहला विकार, महत्तत्व। (२) ब्रह्म। (३) राज्य। (४) जल।

महत–संज्ञा पुं० दे० "महत्व"। उ०—कहै पद्माकर झकोर झिल्ली शोरन को मोरन को महत न कोऊ मन ल्यावतो।—पद्माकर।

महतवान–संज्ञा पुं० [देश०] करघे में पीछे की ओर लगी हुई वह खूँटी जिसमें ताने को पीछे की ओर कसकर खींचे रहने-

वाली डोरी लपेटकर बरतेले में बाँधी जाती है। पिंडा। मुठ्ठी। हथेला।

महता–संज्ञा पुं० [सं० महत्] (१) गाँव का मुखिया। सरदार। महतो। (२) लेखक। मोहर्रिर। मुंशी।

*संज्ञा स्त्री० [सं० महत्ता] अभिमान। घमंड। उ०—महता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं सो द्वैता क्यों मानो।

महताब–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) चाँदनी। चंद्रिका। उ०—मोद मदमाती मन मोहन मिलै के काज साजि मणि मंदिर मनोज कैसी महताब।—पद्माकर। (२) एक प्रकार की आतिशबाजी। दे० "महताबी"। उ०—(क) जब चंद नखावली देखि चप्यो तब जोति किती महताब में है।—कमलापति। (ख) चाँदनी में कवि संभु मनो चहुँ ओर विराजि रही महताबें।—शंभु। (३) जहाज पर रात के समय संकेत के लिए होनेवाली एक प्रकार की नीली रोशनी जो काठ की एक नली में कुछ मसाले भरकर जलाई जाती है। (लश०)

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) चाँद। चंद्रमा। शशि। उ०—आई बारबधू छबि छाई ऐसी गाउँ बीच जाके मुख आगे दबै जोति महताब की।—रघुनाथ। (२) एक प्रकार का जंगली कौआ। मूतरी। महालत।

महताबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मोमबत्ती के आकार की बनी हुई एक प्रकार की आतिशबाजी जो मोटे काग़ज़ में बारूद, गंधक आदि मसाले लपेटकर बनाई जाती है और जिसके जलने से बहुत तेज प्रकाश होता है। इसकी रोशनी सफ़ेद, लाल, नीली, पीली आदि कई प्रकार की होती है। (२) किसी बड़े प्रासाद के आगे अथवा बाग के बीच में बना हुआ गोल या चौकोर ऊँचा चबूतरा जिस पर लोग रात के समय बैठकर चाँदनी का आनन्द लेते हैं। (३) एक प्रकार का बड़ा नीबू। चकोतरा। (पूरब)

महतारी*†–संज्ञा स्त्री० [सं० माता] माँ। माता। जननी। उ०—(क) कौशल्या आदिक महतारी आरति करति बनाइ।—सूर। (ख) हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप बिचारी।—तुलसी।

महती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नारद की वीणा का नाम। (२) बृहती। कँटाई। बनभंटा। (३) कुश द्वीप की एक नदी का नाम जो पारिपात्र पर्वत से निकली है। (४) महिमा महत्व। बड़ाई। उ०—मातु पितु गुरु जाति जान्यो भली खोई महति।—सूर। (५) योनि का बहुत फैल जाना जो एक रोग माना जाता है। (६) वह हिचकी जिससे मर्मस्थान पीड़ित हो और देह में कंप हो। (७) वैश्यों की एक जाति।

महती द्वादशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की वह द्वादशी जो श्रवण नक्षत्र में पड़े। ऐसी द्वादशी को व्रत आदि करने का विधान है।

महतु*†–संज्ञा पुं० [सं० महत्त्व] महिमा। बड़ाई। महत्त्व। उ०—बृंदावन व्रज को महतु का पै बरन्यो जाय।—सूर।

महतो–संज्ञा पुं० [हिं० महता] (१) कुछ गयावाल पंडों की एक उपाधि। (२) कहार। (पूरब) (३) जुलाहों का वह खूँटा जो भाँज के आगे गड़ा रहता है और जिसमें भाँज की डोरी फँसाई रहती है।

महत्कथ–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मीठी मीठी बातें करके बड़े आदमियों को प्रसन्न करता हो। खुशामदी।

महत्तत्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सांख्य के अनुसार पचीस तत्त्वों में से तीसरा तत्त्व जो प्रकृति का पहला विकार है और जिससे अहंकार की उत्पत्ति होती है। प्रकृति का पहला कार्य्य या विकार। बुद्धितत्त्व। वि० दे० "तत्त्व" और "प्रकृति"। (२) कुछ तांत्रिकों के अनुसार संसार के सात तत्त्वों में से सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व। (३) जीवात्मा।

महत्तम–वि० [सं०] सबसे अधिक बड़ा या श्रेष्ठ।

महत्तर–वि० [सं०] दो पदार्थों में से बड़ा या श्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० शूद्र।

महत्पुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषोत्तम।

महत्त्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महत् का भाव। बड़प्पन। बड़ाई। गुरुता। (२) श्रेष्ठता। उत्तमता।

महदूद–वि० [अ०] जिसकी हद बँधी हो। घेरा हुआ। सीमाबद्ध। परिमित।

महदेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] मैसूर में होनेवाली बैलों की एक जाति। इस जाति के बैल बहुत हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होते हैं।

महद्धिक–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक देवता का नाम।

महद्वारुणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महेंद्रवारुणी नाम की लता।

महन*†–संज्ञा पुं० दे० "मथन"। उ०—मयन महन पुर दहन गहन जानि आनि कै सबै को सारु धनुष गढ़ायो है।—तुलसी।

महना*†–क्रि० स० [सं० मथन] दही या मठा आदि मथना। महना। बिलोना।

संज्ञा पुं० मथानी। रई।

महनिया†–संज्ञा पुं० [हिं० महना=मथना+इया (प्रत्य०)] वह जो मथता हो। मथनेवाला।

महनीय–वि० [सं०] पूजन करने योग्य। पूजनीय। मान्य।

महनु*–संज्ञा पुं० [सं० मथन] मथन करनेवाला। विनाशक। उ०—नाम बामदेव दाहिना सदा असंग रंग अर्द्ध अंग अंगना अनंग को महनु है।—तुलसी।

महफ़िल-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मनुष्यों के एकत्र होने का स्थान। मजलिस। सभा। समाज। जलसा। (२) नृत्य गीत होने का स्थान। नाच गाना होने का स्थान।

क्रि० प्र०—जमना।—भरना।—लगना।

महफ़ूज़-वि० [अ०] जिसकी हिफ़ाज़त की गई हो। सुरक्षित। बचाया हुआ। रक्षा किया हुआ।

महबूब-संज्ञा पुं० [अ०] वह जिससे प्रेम किया जाय। जिससे दिल लगाया जाय। उ०—रसनिधि आवत देखिकै मन-मोहन महबूब। उमड़ी डिठ बरुनीन की दगन बधाई बूब।—रसनिधि।

महबूबा-संज्ञा स्त्री० [अ०] वह स्त्री जिससे प्रेम किया जाय। प्रेमिका। माशूका। उ०—आशिक हू पुनि आप ही महबूबा पुनि आप। चाहनहारो आप त्यौं बेपरवाही आप।—रसनिधि।

महमंत*-वि० [सं० महा+मत्त] मस्त। उन्मत। मदमत्त। उ०—काया कजरी बन अहै मन कुंजर महमंत। अंकुश ज्ञान रतन है फेरै साधू संत।—कबीर।

महमद*-संज्ञा पुं० दे० "मुहम्मद"।

महमदी*-वि० [अ० मुहम्मदी] मुहम्मद का मतानुयायी। मुसलमान।

मह मह-क्रि० वि० [हिं० महकना] सुगंधि के साथ। खुशबू के साथ। उ०—(क) मह मह मह मह महकत धरती रोम रोम जनु पुलकि उठी।—देवस्वामी। (ख) चारु चमेली बन रही मह मह महकि सुबास।—हरिश्चंद्र।

महमहण-संज्ञा पुं० [सं० महि+मथन] विष्णु। (डिं०)

महमहा-वि० [हिं० महमह] सुगंधित। खुशबूदार। उ०—(क) महमही मंद मंद मारुत मिलनि, तैसी गहगही खिलनि गुलाब के कलीन की।—रसखानि। (ख) महमहे लोक दस चारहू सुगंधन तें उमहे महेश अज आदि सुर ठठ्ठ हैं।

महमहाना-क्रि० अ० [हिं० महमह अथवा महकना] गमकना। सुगंधि देना। उ०—मल्ली द्रुम बलित, ललित पारिजात पुंज, मंजु बन बेलिन, चमेलिन महमहात।—रसकुसुमाकर।

महमा*†-संज्ञा स्त्री० दे० "महिमा"।

महमान-संज्ञा पुं० दे० "मेहमान"।

महमानी-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहमानी"।

महमाय-संज्ञा स्त्री० [सं० महामाया] पार्वती। (डिं०)

महमूदी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० महमूद+ई (प्रत्य०)] तनजेब की तरह का एक प्रकार का मोटा देशी कपड़ा।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का पुराना छोटा सिक्का।

महमेज़-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] एक प्रकार की लोहे की नाल जो जूते में पीछे की ओर एँड़ी के पास लगाई जाती है और जिसकी सहायता से घोड़े के सवार उसे चलाने के लिए एँड़ लगाते हैं।

महम्मद-संज्ञा पुं० दे० "मुहम्मद"।

महर-संज्ञा पुं० [सं० महत्] [स्त्री० महरि] (१) ब्रज में बोला जानेवाला एक आदरसूचक शब्द जिसका व्यवहार विशेषतः ज़मींदारों और वैश्यों आदि के संबंध में होता है। (कभी कभी इस शब्द का व्यवहार केवल श्रीकृष्ण के पालक और पिता नंद के लिए भी बिना उनका नाम लिए ही होता है।) उ०—(क) महर विनय दोऊ कर जोरे घृत मिष्टान पय बहुत मँगायो।—सूर। (ख) पूरि अभिलाषन को चाखन कै माखन लै दाखन मधुर भरे महर सँगाय रे।—दीन। (ग) ब्रज को विरह अरु संग महर को कुबरिहि बरत न नेकु लजाने।—तुलसी। (२) एक प्रकार का पक्षी। उ०—सारो सुआ महर कोकिला। रहसत आइ पपिहा मिला।—जायसी। (३) दे० "महरा"। उ०—नाऊ बारी महर सब, धाऊ धाय समेत।—रघुराज।

वि० [फ़ा० मेहर=दया] दयावान्। दयालु। (डिं०)

संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों में वह सम्पत्ति या धन जो विवाह के समय वर की ओर से कन्या को देना निश्चित होता है।

मुहा०—महर बाँधना=महर के लिए धन या सम्पत्ति नियत करना।

वि० [हिं० महक] महमहा। सुगंधित। उ०—महर महर घर बाहर राउर देह। लहर लहर छबि तम जिमि, ज्वलन सनेह।—रहिमन।

महरबान-संज्ञा पुं० दे० "मेहरबान"।

महरम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मुसलमानों में किसी कन्या या स्त्री के लिए उसका कोई ऐसा बहुत पास का संबंधी जिसके साथ उसका विवाह न हो सकता हो। जैसे, पिता, चाचा, नाना, भाई, मामा आदि। (मुसलमानी धर्म्म के अनुसार स्त्रियों को केवल ऐसे ही पुरुषों के सामने बिना परदे या घूँघट के जाना चाहिए।) (२) भेद का जाननेवाला। रहस्य से परिचित। उ०—दिल का महरम कोई न मिलिया जो मिलिया सो गरजी। कह कबीर असमानै फाटा क्योंकर सीवै दरज़ी।—कबीर।

संज्ञा स्त्री० (१) अँगिया का मुलकट। अँगिया की कटोरी। (२) अँगिया। उ०—गए जदपि मुनि सूर तन पत्थर घने चलाय। व्यापै तन जे फूल वे महरम घाले आय।—रसनिधि।

महरा-संज्ञा पुं० [हिं० महता] [स्त्री० महरी] (१) कहार। (२) श्वसुर के लिए आदरसूचक शब्द। (चमार)

वि० प्रधान। श्रेष्ठ। बड़ा।

महराई†*-संज्ञा स्त्री० [हिं० महर+आई (प्रत्य०)] प्रधानता। श्रेष्ठता। उ०—कुंडल श्रवनन देऊँ गलाई। महरा कै सौंपों महराई।—जायसी।

महराज-संज्ञा पुं० दे० "महाराज"। उ०—चलेउ मद्र महराज सुभट सिरताज साज सजि।—गोपाल।

महराजा*†-संज्ञा पुं० दे० "महाराज"।

महराण-संज्ञा पुं० [डिं०] समुद्र।

महराना-संज्ञा पुं० [हिं० महर+आना (प्रत्य०)] महरों के रहने का स्थान। महरों के रहने की जगह, महल्ला या गाँव। उ०—(क) तुमको लाज होत की हमको बात परै जो कहुँ महराने।—सूर। (ख) गोकुल में आनंद होत है मंगल ध्वनि महराने ढोल।—सूर।

संज्ञा पु० दे० "महाराणा"।

महराब-संज्ञा स्त्री० दे० "मेहराब"। उ०—बाट बाट बहु द्वार बिराजत चामीकर महराबैं।—रघुराज।

महरि-संज्ञा स्त्री० [हिं० महर] (१) एक प्रकार का आदरसूचक शब्द जिसका व्यवहार ब्रज में प्रतिष्ठित स्त्रियों के संबंध में होता है।

विशेष—कभी कभी इस शब्द का व्यवहार केवल यशोदा के लिए भी बिना उनका नाम लिए ही होता है।

(२) गृहस्वामिनी। मालकिन। घरवाली। उ०—बाल बोलि डहकि बिरावत चरित लखि गोपीगन महरि मुदित पुलकित गात।—तुलसी। (३) ग्वालिन नामक पक्षी। दहिंगल। उ०—दही दही कर महरि पुकारा। हारिल बिनवइ आपु निहारा।—जायसी।

महरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] ग्वालिन नामक पक्षी। दहिंगल।

महरुआ†-संज्ञा पुं० [देश०] जस्ता। (सुनार)

महरू-संज्ञा पुं० [देश०] (१) चंडू पीने की नली। (२) एक प्रकार का वृक्ष।

महरूम-वि० [अ०] जिसे प्राप्त न हो। जिसे न मिले। वंचित।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—रहना।

महरेटा-संज्ञा पुं० [हिं० महर+एटा (प्रत्य०)] (१) महर का बेटा। महर का लड़का। (२) श्रीकृष्ण।

महरेटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महरेटा] वृषभानु महर की लड़की, श्रीराधिका। उ०—(क) नूपुर की धुनि सुनि रीझत हैं महरेटी खोलति न याते जब जब आपु गसि जात।—रघुनाथ। (ख) लाली महरेटी के अधर सरसान लागे अधरन बार लागे बतिया रसाल की।—रघुनाथ।

महर्घता-संज्ञा स्त्री० [सं०] महँगे होने का भाव। महँगी।

महर्लोक-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भू, भुव आदि चौदह लोकों में से एक। उ०—सत्यलोक जनलोक तप और महर निजलोक।—सूर।

विशेष—१४ लोकों में से ७ ऊर्ध्वलोक और ७ अधोलोक हैं। महर्लोक इन ऊर्ध्वलोकों में से चौथा है।

महर्षभी-संज्ञा स्त्री० [सं०] कौंछ। केवाँच।

महर्षि-संज्ञा पुं० [सं० महा+ऋषि] (१) बहुत बड़ा और श्रेष्ठ ऋषि। ऋषीश्वर। जैसे, वेदव्यास, नारद, अंगिरा इत्यादि। (२) एक राग जो भैरव के आठ पुत्रों में से एक माना जाता है। उ०—पंचम ललित महर्षि बिलावल। अरु वैशाख सुमाधव पिंगल। सहित समृद्धि आठ संताना। भैरव के जानहु नर ग्याना।—गोपाल।

महर्षिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] सफेद कंटकारी। भटकटैया।

महल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) राजा या रईस आदि के रहने का बहुत बड़ा और बढ़िया मकान। प्रासाद। (२) राजप्रासाद का वह विभाग जिसमें रानियाँ आदि रहती हों। रनिवास। अंतःपुर। उ०—कुंज कुंज नवपुंज महल में सुबस बसो यह गाँव री।—स्वा० हरिदास। (३) बड़ा कमरा। (४) अवसर। मौका। वक्त। (५) पहाड़ी मधुमक्खी। सारंग। डंगर।

महलसरा-संज्ञा स्त्री० [अ० महल+फ़ा० सरा] महल का वह भाग जिसमें रानियाँ या बेगमें आदि रहती हैं। अंतःपुर। रनिवास।

महलाठ-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी जिसकी दुम लंबी, ठोर काली, छाती खैरी, पीठ खाकी रंग की और पैर काले होते हैं।

महली पटैला-संज्ञा पुं० [हिं० महल+पटैला] एक प्रकार की बड़ी नाव जिस पर केवल लकड़ी वा पत्थर आदि लादा जाता है।

महल्ला-संज्ञा पु० [अ०] शहर का कोई विभाग या टुकड़ा जिसमें बहुत से मकान आदि हों।

यौ०—महल्लेदार=महल्ले का चौधरी या प्रधान।

महसिल-संज्ञा पुं० [अ० मुहस्सिल] तहसील वसूल करनेवाला। महसूल आदि वसूल करनेवाला। उगाहनेवाला। उ०—मीत नैन महसिल नये बैठत नहिं हुइ सील। तन बीघा पै करत हैं ये मन की तहसील।—रसनिधि।

महसीर-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली। वि० दे० "महासीर"।

महसूल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह धन जो राजा या कोई अधिकारी किसी विशिष्ट कार्य्य के लिए ले। कर। (२) भाड़ा। किराया। जैसे,—आज कल रेल का महसूल कुछ बढ़ गया है। (३) मालगुजारी। लगान।

महाँ*-अव्य० दे० "महँ"। उ०—प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नर केहरि खंभ महाँ।—तुलसी।

वि० दे० "महा"।

महा-वि० [सं०] (१) अत्यंत। बहुत अधिक। उ०—महा

अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर। जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।—तुलसी। (२) सर्व-श्रेष्ठ। सब से बढ़कर। उ०—महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।—तुलसी। (३) बहुत बड़ा। भारी। जैसे, महाबाहु, महासमुद्र। उ०—(क) बुँद सोखि गो कहा महासमुद्र छीजई।—केशव। (ख) कहै पद्माकर सुबास तें जवास तें सुफूलन की रास तें जगी है महा सास तें।—पद्माकर।

विशेष—ब्राह्मण, पात्र, यात्रा, प्रस्थान, तैल और मांस इन शब्दों में 'महा' शब्द लगाने से इन शब्दों के अर्थ कुत्सित हो जाते हैं। जैसे,—महाब्राह्मण=कट्टहा ब्राह्मण। महा-पात्र=कट्टहा ब्राह्मण। महायात्रा=मृत्यु। महाप्रस्थान=मृत्यु। महानिद्रा=मृत्यु। महामांस=मनुष्य का मांस।

महाअरंभ—वि० [सं० महा+रंभ=शोर, हलचल] बहुत शोर। बहुत हलचल। उ०—नीर होइ तर ऊपर सोई। महाअरंभ समुद जस होई।—जायसी।

महाअहि—संज्ञा पुं० [सं०] शेषनाग।

महाई—संज्ञा स्त्री० [सं० मथन हिं० महना+आई (प्रत्य०)] (१) मथने का काम। (२) नील की मथाई। नील के रंग को मथने का काम। (३) मथने का भाव। (४) मथने की मजदूरी।

महाउत*—संज्ञा पुं० दे० "महावत"। उ०—हूलै हूलै पर मैन महाउत लाज के आँदू परे गथि पायन।

महाउर—संज्ञा पुं० दे० "महावर"। उ०—(क) प्यारो लगै यह जाको सनेह महा उर बीच महाउर को रंग।—देव। (ख) मोहिं तो साध महाउर है री महाउर नाइन तोसों दिवाऊँ।—दास।

महाकंकर—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या।

महाकंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लहसुन। (२) प्याज।

महाकच्छ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) वरुणदेव। (३) पर्वत। पहाड़। (४) एक प्राचीन देश का नाम।

महाकंबु—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाकन्य—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रवरकार ऋषि का नाम।

महाकपाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक राक्षस का नाम। (२) शिव के एक अनुचर का नाम।

महाकपि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के एक अनुचर का नाम। (२) एक बोधिसत्व का नाम।

महाकपित्थ—संज्ञा पुं० [सं०] बेल का वृक्ष।

महाकपोत—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार २६ प्रकार के बहुत ही विषधर साँपों में से एक प्रकार का साँप।

महाकपोल—संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम।

महाकरंज—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज जो बड़ा होता है। इसका व्यवहार औषध रूप में होता है। वैद्यक में इसे तीक्ष्ण, उष्ण, कटु तथा विष, कंडु, कुष्ट, व्रण और त्वचा के दोषों का नाशक माना है।

पर्य्या०—हस्तिचारिणी। विषघ्नी। काकघ्नी। मदहस्तिनी। मधुमती। रसायनी। हस्तिकरंज। काकभांडी। मधुमत्ता।

महाकर—संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

महाकर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] एक नाग का नाम।

महाकर्णा—संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम।

महाकर्णिकार—संज्ञा पुं० [सं०] अमलतास।

महाकल्प—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार उतना काल जितने में एक ब्रह्मा की आयु पूरी होती है। ब्रह्म-कल्प। वि० दे० "कल्प"। उ०—महाकल्पांत ब्रह्मांड मंडल दवन भवन कैलाश आसीन कासी।—तुलसी।

महाकांत—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाकांता—संज्ञा स्त्री० [सं०] पृथ्वी।

महाकांतार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम।

महाकाय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिवजी का नंदी नामक गण और द्वारपाल। (२) हाथी।

महाकार्त्तिकी—संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिक की वह पूर्णिमा जो रोहिणी नक्षत्र में हो। यह बहुत बड़ी पुण्यतिथि मानी जाती है।

महाकाल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि और प्राणियों का अंत करनेवाले, महादेव। शिव का एक स्वरूप। उ०—करालं महाकाल कालं कृपालं।—तुलसी। (२) समय जो विष्णु के समान अखंड और अनंत है। (३) शिव के एक गण का नाम। (४) पुराणानुसार शिव के एक पुत्र का नाम।

विशेष—कालिका पुराण में लिखा है कि एक बार देवताओं ने अग्नि से शिव का वीर्य्य धारण करने के लिए कहा था। जब वह वीर्य्य धारण करने लगी, तब उसमें से दो बूँदें अलग जा पड़ीं जिनसे महाकाल और भृंगी नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। एक बार इन दोनों पुत्रों ने भवानी को उस समय देख लिया था जिस समय वे शिव के साथ विहार करने के उपरांत बाहर निकल रही थीं। भवानी ने इन्हें शाप दिया जिससे ये दोनों बैताल और भैरव हुए।

महाकाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाकाल स्वरूप शिव की पत्नी जिसके पाँच मुख और आठ भुजाएँ मानी जाती हैं। (२) दुर्गा की एक मूर्त्ति। (३) शक्ति की एक अनुचरी का नाम। (४) जैनों के अनुसार सोलह विद्या-देवियों में से एक जो अवसर्पिणी के पाँचवें अर्हत की देवी हैं।

महाकालेय—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

महाकाव्य—संज्ञा पुं० दे० "काव्य"।

महाकाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

महाकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम।
महाकुमार-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का सब से बड़ा पुत्र। युवराज।
महाकुमुदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंभारी।
महाकुल-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो। कुलीन।
महाकुष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] कुष्ठ के अट्ठारह भेदों में से वह जिसमें हाथ-पैर की उँगलियाँ गलकर गिर जाती हैं। गलित कुष्ठ।
महाकूट-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक देश का नाम।
महाकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।
महाकृष्ण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत ज़हरीला साँप। (२) एक प्रकार का चूहा।
महाकेतु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
महाकोश-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
महाकोशा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।
महाकोशातकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नेनुआँ या घीआ तरोई नाम की तरकारी।
महाक्रतु-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा यज्ञ। जैसे, राजसूय, अश्वमेध आदि।
महाक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु का एक नाम।
महाक्रोध-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
महाक्लीतन-संज्ञा पुं० [सं०] शालिपर्णी।
महाक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु।
महाक्षीर-संज्ञा पुं० [सं०] ईख। ऊख।
महाक्षेत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कालिका पुराण के अनुसार एक तीर्थ जो सुमदना नदी के पूर्व ब्रह्मक्षेत्र के पश्चिम में है।
महाक्षौभ्य-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या।
महाखर्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या जो सौ खर्व की होती है।
महागंगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।
महागंध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुटज। (२) जल-बेंत। (३) चंदन।
महागंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नागबला। (२) केवड़ा। (३) चामुंडा का एक नाम।
महागज-संज्ञा पुं० [सं०] दिग्गज।
महागण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महासमुद्र। (२) लोगों का समूह। भीड़।
महागणपति-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव के एक अनुचर का नाम। (२) गणपति। गणेश।
महागति-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बड़ी संख्या।
महागद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ज्वर। बुखार। (२) वह रोग जो कठिनता से अच्छा हो। जैसे, प्रमेह, कोढ़, भगंदर, बवासीर आदि। (३) एक प्रकार की औषध जो सोंठ, पीपल और गोलमिर्च आदि से बनती है।
महागर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।
महागर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) शिव। (३) एक दानव का नाम।
महागिरि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा पहाड़। (२) कुबेर के आठ पुत्रों में से एक जो पिता के शिवपूजन के लिए सूँघकर कमल-पुष्प लाया था। इसी दोष पर कुबेर से शाप पाकर वह कंस का भाई हुआ था और कृष्ण के हाथों मारा गया था।
महागीत-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।
महागुद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के फोड़े जो कफ़ से उत्पन्न होते हैं। (चरक)
महागुनी-संज्ञा पुं० दे० "महोगनी"।
महागुल्मा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोमलता।
महागोधूम-संज्ञा पुं० [सं०] बड़े दाने का गेहूँ।
महागोपा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शारिवा। अनंतमूल।
महागौरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) पुराणानुसार एक नदी जो विंध्य पर्वत से निकली है।
महाग्रंथिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह औषध जिसके सेवन से रोग निश्चित रूप से रुक जाय और बढ़ने न पावे।
महाग्रह-संज्ञा पुं० [सं०] राहु।
महाग्रीव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) शिव के एक अनुचर का नाम। (३) पुराणानुसार एक देश का नाम (४) ऊँट।
महाघूर्णा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सुरा। शराब।
महाघृत-संज्ञा पुं० [सं०] १११ वर्ष का पुराना घी जो बहुत गुणकारी माना जाता है। वैद्यक में इसे कफनाशक, बलकारक और मेधाजनक माना है।
महाघोष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भारी शब्द। (२) हाट। बाज़ार।
महाघोषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] काकड़ासिंगी।
महाचंचु-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग। चेंच।
महाचंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम के दूत। (२) शिव के एक अनुचर का नाम।
वि० प्रचंड। भयानक।
महाचंडा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चामुंडा का एक नाम।
महाचक्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।
महाचक्रवर्ती-संज्ञा पुं० [सं० महाचक्रवर्तिन्] बहुत बड़ा चक्रवर्त्ती राजा। सम्राट्।
महाचक्र जल-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक पवत का नाम।

महाचक्री-संज्ञा पुं० [सं० महाचक्रिन्] (१) विष्णु । (२) वह जो षड्यंत्र रचने में बहुत प्रवीण हो ।

महाचपला-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह आर्या छंद जिसके दोनों दलों में चपला छंद के लक्षण हों ।

महाचार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाचित्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम ।

महाचूड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की एक मातृका का नाम ।

महाच्छाय-संज्ञा पुं० [सं०] वट वृक्ष । बड़ का पेड़ ।

महाजंबीर-संज्ञा पुं० [सं०] कमला नींबू ।

महाजंबु-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा जामुन ।

महाजंभ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा या श्रेष्ठ पुरुष । (२) साधु । (३) धनी व्यक्ति । धनवान । दौलतमंद । (४) रुपए पैसे का लेन देन करनेवाला व्यक्ति । कोठीवाल । उ०—बहुरि महाजन सकल बोलाए ।—तुलसी । (५) बनिया । उ०—महतो से मुगुल, महाजन से महाराज डाँड़ि लीन्हे पकरि पठान पटवारी से ।—भूषण । (६) प्रामाणिक आचरणवाला व्यक्ति । भलामानुस । उ०—पथ सो जाहु महाजन थापै ।—रघुनाथ ।

महाजनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महाजन+ई (प्रत्य०)] (१) रुपए के लेन देन का व्यवसाय । हुंडी पुरजे का काम । कोठीवाली । (२) एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं लगाई जातीं । यह लिपि महाजनों के यहाँ बही खाता लिखने में काम आती है । मुड़िया ।

महाजय-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाजल-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र । उ०—मलय तनु मिलि लसति सोभा महाजल गंभीर । निरखि लोचन भ्रमत पुनि पुनि धरत नहिं मन धीर ।—सूर ।

महाजवा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुमार की अनुचरी एक मातृका का नाम । (२) एक नदी का नाम ।

महाजानु-संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम ।

महाजावालि-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम ।

महाजिह्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) पुराणानुसार एक दैत्य का नाम ।

महाज्ञानी-संज्ञा पुं० [सं० महाज्ञानिन्] (१) वह जो बड़ा ज्ञानी हो । (२) शिव ।

महाज्योतिष्मती-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी मालकँगनी ।

महाज्वाल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हवन की अग्नि । (२) पुराणानुसार एक नरक का नाम । कहते हैं कि जो लोग अपनी पुत्रवधू या कन्या के साथ गमन करते हैं, वे इस नरक में जाते हैं । (३) महादेव ।

महाज्वाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की एक विद्यादेवी का नाम ।

महातत्त्व-संज्ञा पुं० दे० "महत्तत्व" । उ०—त्रिगुण तत्व ते महातत्व, महातत्व ते अहंकार । मन इंद्रिय शब्दादि पंचौ ताते किए विस्तार ।—सूर । (ख) देव, प्रकृति महातत्व सब्दादि गुण देवता व्योम मरुदग्नि अनिलांबु उर्वी ।—तुलसी ।

महातप्तकृच्छ्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें तीन दिन तक गरम दूध, गरम घी या गरम जल पीकर चौथे दिन उपवास किया जाता है ।

महातम*†-संज्ञा पुं० दे० "माहात्म्य" । उ०—(क) करि प्रणाम देखत बन बागा । कहत महातम अति अनुरागा ।—तुलसी । (ख) मम सुखनिधि हरि नाम महातम पायो हैं नाहिं न पहिचानत ।—सूर ।

महातल-संज्ञा पुं० [सं०] चौदह भुवनों में से पृथ्वी के नीचे का पाँचवाँ भुवन वा तल । उ०—अतल वितल अरु सुतल तलातल और महातल जान । पाताल और रसातल मिलि सातौ भुवन प्रमान ।—सूर ।

महातारा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महातिक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महानिंब । बकायन । (२) चिरायता ।

महातीक्ष्ण-वि० [सं०] (१) अत्यंत तीक्ष्ण या तेज़ । (२) बहुत कड़वा या झालदार ।

संज्ञा पुं० भिलावाँ ।

महातेज-संज्ञा पुं० [सं० महातेजस्] (१) शिव । (२) पारा ।

महात्मा-संज्ञा पुं० [सं० महात्मन्] (१) वह जिसकी आत्मा या आशय बहुत उच्च हों । वह जिसका स्वभाव, आचरण और विचार आदि बहुत उच्च हों । महानुभाव । (२) बहुत बड़ा साधु, संन्यासी या विरक्त । (३) दुष्ट । पाजी । (व्यंग्य) (४) परमात्मा । (५) पितरों का एक गण । (६) महादेव । शिव । (७) महत्तत्व ।

महात्रिफला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बहेड़ा, आँवला और हड़ इन तीनों का समूह ।

महात्याग-संज्ञा पुं० [सं०] दान ।

महात्यागी-संज्ञा पुं० [सं० महात्यागिन्] शिव ।

महादंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यम के हाथ का दंड । (२) यम के दूत ।

महादंडधारी-संज्ञा पुं० [सं० महादंडधारिन्] यमराज । उ०—करै कोतवाली महादंडधारी । सभा मेघमाला, शिखी पाककारी ।—केशव ।

महादंत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । (२) हाथी-दाँत ।

महादंता-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबेल ।

महादंष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव । शंकर । (२) एक

राक्षस का नाम। (३) विद्याधर।

महादान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार तुला पुरुष, सोने की गौ या घोड़ा आदि तथा पृथ्वी, हाथी, रथ, कन्या आदि पदार्थों का दान जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। (२) वह दान जो ग्रहण आदि के समय डोमों, चमारों आदि छोटी जातियों को दिया जाता है।

महादारु-संज्ञा पुं० [सं०] देवदारु।

महादूत-संज्ञा पुं० [सं०] यमदूत।

महादूषक-संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का धान।

महादेव-संज्ञा पुं० [सं०] शंकर। शिव।

महादेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) राजा की प्रधान पत्नी या पटरानी की एक पदवी जो हिन्दू-काल में भारत में प्रचलित थी।

महादैत्य-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार भौत्य मन्वंतर के एक दैत्य का नाम।

महाद्रावक-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का औषध जो सोनामक्खी, रसांजन, समुद्रफेन, सज्जी आदि से बनाया जाता है।

महाद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वत्थ। पीपल। (२) ताड़। (३) महुआ। (४) पुराणानुसार एक वर्ष या देश का नाम।

महाद्रोण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) सुमेरु पर्वत।

महाद्रोणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रोणपुष्पी।

महाद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी का वह बड़ा भाग जो चारों ओर नैसर्गिक सीमाओं से घिरा हुआ हो और जिसमें अनेक देश हों और अनेक जातियाँ बसती हों। जैसे, एशिया, अफ्रीका आदि (आधुनिक भूगोल)।

महाधन-वि० [सं०] (१) बहुमूल्य। अधिक मूल्य का। उ०—(क) बाहु विशाल ललित सायक धनु कर कंकन केयूर महाधन।—तुलसी। (ख) तहँ राजत निज वीर शेषनाग ताकें तर क्रम बरात महाधन धीर।—सूर। (२) बहुत धनी।

संज्ञा पुं० (१) स्वर्ण। सोना। (२) धूप। सुगंध धूप। (३) कृषि। खेती।

महाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के एक देवता का नाम।

महाध्वनि-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक दानव का नाम।

महाध्वनिक-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो पुण्य कार्य्य के लिए हिमालय में गया हो, और वहाँ मर गया हो।

महान्-वि० [सं०] बहुत बड़ा। विशाल। जैसे,—देशसेवा का कार्य्य महान् है, जो सब लोग नहीं कर सकते।

महानंद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मगध देश का एक प्रतापी राजा जिसके डर से सिकंदर आगे न बढ़कर पंजाब ही से अपने देश को लौट गया था। (२) दस अंगुल की मुरली। इस वाद्य के देवता ब्रह्मा माने गए हैं। (३) मुक्ति। मोक्ष।

महानंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सुरा। शराब। (२) माघ शुक्ला नवमी। इस तिथि को दान, होम और व्रत आदि करने का विधान है। (३) बंगाल की एक छोटी नदी का नाम जो हिमालय के अंतर्गत दार्जिलिंग से निकली है।

महानक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा होता था।

महानस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रेमी। प्रेम करनेवाला। (२) स्त्री का यार। उपपति। जार। (३) प्राचीन काल का एक राजकर्म्मचारी जो बहुत ऊँचे पद पर होता था।

महानट-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महानद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नद का नाम। (२) एक तीर्थ का नाम।

महानवमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन शुक्ल नवमी। आश्विन के नवरात्र की नवमी।

महानस-संज्ञा पुं० [सं०] पाकशाला। रसोईघर।

महानाटक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक के लक्षणों से युक्त दस अंकोंवाला नाटक।

वि०—दे० "नाटक"।

महानाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी। (२) ऊँट। (३) सिंह। (४) मेघ। बादल। (५) शंख। (६) बड़ा ढोल। (७) महादेव। शिव।

महानाभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मंत्र जिससे शत्रु के फेंके हुए शस्त्र व्यर्थ जाते हैं। उ०—पद्मनाभ अरु महानाभ दोउ द्वंदहु नाभ सुनाभा।—रघुनाथ। (२) एक दानव का नाम। (३) पुराणानुसार हिरण्यकशिपु के एक पुत्र का नाम।

महानारायण-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महानास-संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

महानिंब-संज्ञा स्त्री० [सं०] बकायन।

महानिद्रा-संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु। मरण। मौत।

महानिधान-संज्ञा पुं० [सं०] बुभुक्षित धातुभेदी पारा जिसे "बावन तोला पाव रत्ती" भी कहते हैं। उ०—महाराज का कल्याण हो, आपकी कृपा से महानिधान सिद्ध हुआ। आपको बधाई है।—हरिश्चंद्र।

महानियम-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महानियुत-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महानिरय-संज्ञा पुं० [सं०] एक नरक का नाम।

महानिर्वाण-संज्ञा पुं० [सं०] परिनिर्वाण जिसके अधिकारी केवल अर्हत् या बुद्धगण माने जाते हैं।

महानिशा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात्रि का मध्य भाग। आधी रात। (२) कल्पांत या प्रलय की रात्रि।

महानिशीथ–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक संप्रदाय का नाम।

महानीच–संज्ञा पुं० [सं०] धोबी।

महानीबू–संज्ञा पुं० [सं० महा+हिं० नीबू] बिजौरा नीबू।

महानीम–संज्ञा स्त्री० [सं० महानिंब] (१) बकायन। (२) तुन का पेड़।

महानील–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भृंगराज पक्षी। (२) एक प्रकार का नीलम जो सिंहल द्वीप में होता है। (३) एक प्रकार का गुग्गुल। (४) एक पर्वत का नाम जो मेरु पर्वत के पास माना जाता है। (५) एक प्रकार का साँप। एक नाग का नाम।

महानीली–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली अपराजिता।

महानुभाव–संज्ञा पुं० [सं०] कोई बड़ा और आदरणीय व्यक्ति। महापुरुष। महाशय।

महानुभावता–संज्ञा स्त्री० [सं०] महानुभाव होने का भाव। बड़प्पन। उ०—यह आपकी महानुभावता है कि आपने अपनी गलती मान ली।

महानृत्य–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महानेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महानेमि–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महापंचमूल–संज्ञा पुं० [सं०] बेल, अरनी, सोनापाढ़ा, काश्मरी और पाटला इन पाँचों वृक्षों की जड़ों का समूह जिसका व्यवहार वैद्यक में होता है।

महापंचविष–संज्ञा पुं० [सं०] शृंगी, कालकूट, मुस्तक, बछनाग और शंखकर्णी इन पाँचों विषों का समूह।

महापंचांगुल–संज्ञा पुं० [सं०] लाल अंडी का वृक्ष।

महापक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरुड़। (२) उल्लू। (३) एक प्रकार का राजहंस।

महापगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

महापथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत लंबा और चौड़ा रास्ता। राजपथ। (२) याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार २१ नरकों में से १६ वाँ नरक। (३) परलोक का मार्ग। मृत्यु। मौत। (४) सुषुम्ना नाड़ी। (५) हिमालय के एक तीर्थ का नाम। (६) शिव।

महापथगमन–संज्ञा पुं० [सं०] मरण। देहांत।

महापथिक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मरने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत पर जाय।

महापद्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) नौ निधियों में से एक निधि। (२) आठ दिग्गजों में से एक दिग्गज जो दक्षिण दिशा में स्थित है। (३) हाथी की एक जाति। (४) फनवाली जाति के अंतर्गत एक प्रकार का साँप। (५) एक प्रकार का दैत्य। (६) सफेद कमल। (७) महाभारत काल के एक नगर का नाम जो गंगा के किनारे पर था। (८) सौ पद्म की संख्या (९) कुबेर के अनुचर एक किन्नर का नाम।

महापद्य–संज्ञा पुं० [सं०] महाकाव्य।

महापनस–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप।

महापर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का शाल वृक्ष।

महापवित्र–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महापातक–संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार पाँच बहुत बड़े पाप जो ये हैं—ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरु की पत्नी के साथ व्यभिचार और ये सब पाप करनेवालों का साथ करना। कहते हैं कि जो लोग ये महापातक करते हैं, वे नरक भोगने के उपरांत भी सात जन्म तक घोर कष्ट भोगते हैं।

महापातकी–संज्ञा पुं० [सं० महापातकिन्] वह जिसने महापातक किया हो।

महापात्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महाब्राह्मण या कट्टहा ब्राह्मण जो मृतक कर्म का दान लेता है। (२) महामंत्री। प्रधान मंत्री।

महापाद–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महापाप–संज्ञा पुं० [सं०] महापातक।

महापार्श्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दानव का नाम। (२) एक राक्षस का नाम।

महापाश–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का यमदूत।

महापाशुपत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बकुल। मौलसिरी। (२) शैवों का एक प्राचीन संप्रदाय जिसमें पशुपति की उपासना होती थी।

महापासक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध भिक्षुक। श्रमण।

महापितृयज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का श्राद्ध या पितृयज्ञ जो शाकमेध में दूसरे दिन होता था।

महापीठ–संज्ञा पुं० दे० "पीठ"।

महापीलु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पीलु वृक्ष।

महापुट–संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार रस आदि तैयार करने का एक प्रकार जिसमें दो हाथ लंबा, दो हाथ चौड़ा और दो हाथ गहरा एक गड्ढा खोदकर उसमें एक हजार उपलें रखते हैं; और उन उपलों पर मिट्टी के बर्तन में औषधि आदि डालकर उसका मुँह बंद करके रख देते हैं; और तब ऊपर से पाँच सौ उपलें रखकर आग लगा देते हैं।

महापुण्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

महापुण्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महापुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] लड़के का पुत्र। पोता।

महापुमान्–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

महापुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह नगर जो दुर्ग आदि से भली भाँति रक्षित हो। (२) महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

महापुराण-संज्ञा पुं० दे० "पुराण"।

महापुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] राजधानी।

महापुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंद का वृक्ष। (२) काला मूँग। (३) लाल कनेर। (४) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा।

महापुष्पा-संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराजिता।

महापुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) नारायण। (२) श्रेष्ठ पुरुष महात्मा। महानुभाव। (३) दुष्ट। पाजी। (व्यंग्य)

महापूजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा की वह पूजा जो आश्विन के नवरात्र में होती है।

महापृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋग्वेद के एक अनुवाक का नाम जो अश्वमेध यज्ञ के संबंध में है। (२) ऊँट।

महाप्रकृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार दुर्गा का एक नाम जो सृष्टि का मूल कारण मानी जाती है।

महाप्रजापति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महाप्रतिहार-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक उच्च कर्मचारी जो प्रतिहारों अथवा नगर या प्रासाद की रक्षा करनेवाले चौकीदारों का प्रधान होता था।

महाप्रभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महाप्रभु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वल्लभाचार्यजी की एक आदरसूचक पदवी। (२) बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य चैतन्य की एक आदरसूचक पदवी। (३) ईश्वर। (४) शिव। (५) इंद्र। (६) विष्णु। (७) राजा। (८) संन्यासी या साधु।

महाप्रलय-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह काल जब संपूर्ण सृष्टि का विनाश हो जाता है और अनंत जल के अतिरिक्त कुछ भी बाकी नहीं रहता। ऐसा समय प्रत्येक कल्प अथवा ब्रह्मा के दिन के अंत में आता है। वि० दे० "प्रलय"।

महाप्रसाद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईश्वर या देवताओं का प्रसाद। (२) जगन्नाथजी का चढ़ा हुआ भात। (३) मांस। (व्यंग्य) (४) अखाद्य पदार्थ। (व्यंग्य)

महाप्रसूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महाप्रस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर त्यागने की कामना से हिमालय की ओर जाना। (२) मरण। देहांत।

महाप्राण-संज्ञा पुं० [सं०] व्याकरण के अनुसार वह वर्ण जिसके उच्चारण में प्राण वायु का विशेष व्यवहार करना पड़ता है। वर्णमाला में प्रत्येक वर्ग का दूसरा तथा चौथा अक्षर महाप्राण है जैसे—

कवर्ग का—ख, घ।
चवर्ग का—छ, झ।
टवर्ग का—ठ, ढ।
तवर्ग का—थ, ध।
पवर्ग का—फ, भ।

महाबल-वि० [सं०] (१) अत्यंत बलवान्। बहुत बड़ा ताकतवर। उ०—(क) भीषम कहत मेरे अनुमान हनुमान सारिखो त्रिकाल न त्रिलोक महाबल भो।—तुलसी। (ख) सत मति जय जय धारि विपृथु भट चल्यौ महाबल।—गोपाल। (ग) मेघनाद से पुत्र महाबल कुंभकरण से भाई।—सूर।

संज्ञा पुं० (१) पितरों के एक गण का नाम। (२) बुद्ध। (३) तामस और रौच्य मन्वंतर के इंद्र का नाम। (४) वायु। (५) शिव के एक अनुचर का नाम। (६) एक नाग का नाम। (७) सीसा।

महाबला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सहदेवी नाम की जड़ी। पीली सहदेइया। (२) पिप्पली। पीपल। (३) धौ। (४) नील का पौधा। (५) कार्त्तिकेय की एक मातृका नाम। (६) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महाबलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) गुफा। (३) मन।

महाबाहु-वि० [सं०] (१) लंबी भुजावाला। (२) बली। बलवान्।

संज्ञा पुं० (१) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (२) एक राक्षस का नाम। (३) विष्णु का एक नाम।

महाबुद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के बुद्ध जो साधारण बुद्धों से श्रेष्ठ माने जाते हैं।

महाबुद्धि-वि० [सं०] (१) बहुत बुद्धिमान्। (२) धूर्त्त।

महाबृहती-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जो तीन पाद का होता है और जिसके प्रत्येक पाद में १२ वर्ण होते हैं।

महाबोधि-संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव।

महाब्राह्मण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह ब्राह्मण जो मृतक कृत्य का दान लेता हो। कट्टहा। (साधारणतः लोक में ऐसा ब्राह्मण निन्दित माना जाता है।) (२) निकृष्ट ब्राह्मण।

महाभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम। (१) पुराणानुसार मेरु पर्वत के उत्तर के एक सरोवर का नाम।

महाभद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंगा। (२) काश्मरी।

महाभय-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार अधर्म के एक पुत्र का नाम जो निर्ऋति के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।

महाभया-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम।

महाभाग-वि० [सं०] भाग्यवान्। किस्मतवर।

महाभागवत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारह महाभक्त अर्थात् मनु, सनकादि, नारद, जनक, कपिल, ब्रह्मा, बलि, भीष्म, प्रह्लाद, शुकदेव, धर्मराज और शंभु। (२) २६ मात्राओं के छंदों की संज्ञा। (३) परम वैष्णव। (४) दे० "भागवत" (पुराण)।

महाभागा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दाक्षायिणी का एक नाम ।

महाभारत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक परम प्रसिद्ध प्राचीन ऐतिहासिक महाकाव्य जिसमें कौरवों और पांडवों के युद्ध का वर्णन है । यह ग्रंथ आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शांति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थान और स्वर्गारोहण इन अठारह पर्वों में विभक्त है । कुछ लोग हरिवंश पुराण को भी इसी के अंतर्गत और इसका अंतिम अंश मानते हैं । इस ग्रंथ में लगभग ८०-९० हजार श्लोक हैं । ऐतिहासिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से इस ग्रंथ का महत्व बहुत अधिक है । यों तो महाभारत ग्रंथ कौरव-पांडव युद्ध का इतिहास ही है, पर इसमें वैदिक काल की यज्ञों में कही जानेवाली अनेक गाथाओं और आख्यानों आदि के संग्रह के अतिरिक्त धर्म्म, तत्त्वज्ञान, व्यवहार, राजनीति आदि अनेक विषयों का भी बहुत अच्छा समावेश है । कहते हैं कि कौरव-पांडव युद्ध के उपरांत व्यासजी ने "जय" नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की थी । वैशंपायन ने उसे और बढ़ाकर उसका नाम "भारत" रखा । सब के पीछे सौति ने उसमें और भी बहुत सी कथाएँ आदि का समावेश करके उसे वर्तमान रूप देकर महाभारत बना दिया । महाभारत में जिन बातों का वर्णन है, उसके आधार पर एक ओर तो यह ग्रंथ वैदिक साहित्य तक जा पहुँचता है; और दूसरी ओर जैनों तथा बौद्धों के आरंभिक काल के साहित्य से आ मिलता है । हिंदू इसे बहुत ही प्रामाणिक धर्मग्रंथ मानते हैं । (२) कोई बहुत बड़ा ग्रंथ । (२) कौरवों और पांडवों का प्रसिद्ध युद्ध जिसका वर्णन उक्त महाकाव्य में है । (४) कोई बड़ा युद्ध या लड़ाई-झगड़ा । जैसे—यूरोपीय महाभारत ।

महाभाष्य-संज्ञा पुं० [सं०] पाणिनि के व्याकरण पर पतंजलि का लिखा हुआ प्रसिद्ध भाष्य ।

महाभिक्षु-संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध ।

महाभीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम । (२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महाभीत-संज्ञा पुं० [सं०] लजालू ।

महाभीम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा शांतनु का एक नाम । (२) शिव के भृंगी नामक द्वारपाल का एक नाम ।

महाभीरु-संज्ञा पुं० [सं०] ग्वालिन नाम का बरसाती कीड़ा ।

महाभीष्म-संज्ञा पुं० [सं०] राजा शांतनु का एक नाम ।

महाभुज-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी बाँहें बहुत लंबी हों । आजानुबाहु ।

महाभूत-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचतत्त्व । उ०—कालहू के काल महाभूतनि के महाभूत करम के करम निदान के निदान हौ ।—तुलसी । वि० दे० "भूत" ।

महाभृंग-संज्ञा पुं० [सं०] नीले फूलवाला भँगरा ।

महाभैरव-संज्ञा पुं० [सं०] शिव ।

महाभैरवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक विद्या का नाम ।

महाभोग-संज्ञा पुं० [सं०] साँप ।

महाभोगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा ।

महाभोगी-संज्ञा पुं० [सं० महाभोगिन्] बड़े फनवाला साँप ।

महामंत्री-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा मंत्री ।

महामति-वि० [सं०] जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् हो ।

संज्ञा पुं० (१) गणेश । (२) एक यक्ष का नाम । (३) एक बोधिसत्त्व का नाम ।

महामद-संज्ञा पुं० [सं०] मस्त हाथी ।

महामयूरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम ।

महामह-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा उत्सव । महोत्सव ।

महामहोपाध्याय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुरुओं का गुरु । बहुत बड़ा गुरु । (२) एक प्रकार की उपाधि जो आज कल भारत में संस्कृत के विद्वानों को ब्रिटिश सरकार की ओर से मिलती है ।

महामांस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) गोमांस । गौ का गोश्त । (२) मनुष्य का मांस ।

विशेष—कुछ लोग मनुष्य, गौ, हाथी, घोड़े, भैंस, सूअर, ऊँट और साँप इन आठ जीवों के मांस को महामांस मानते हैं । महामांस खाना परम निषिद्ध कहा गया है ।

महामाई-संज्ञा स्त्री० [सं० महा+हिं० माई] (१) दुर्गा । (२) काली ।

महामात्य-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का प्रधान या सब से बड़ा अमात्य । महामंत्री ।

महामात्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महामात्य । (२) महावत । (३) हाथियों का निरीक्षक ।

वि० (१) प्रधान । बड़ा । (२) समृद्ध । संपन्न । (३) धनवान् । अमीर ।

महामानसिका, महामानसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] जैनियों की एक देवी का नाम ।

महामाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रकृति । (२) दुर्गा । (३) गंगा । (४) शुद्धोदन की पत्नी और बुद्ध की माता का नाम । (५) आर्या छंद का तेरहवाँ भेद जिसमें १५ गुरु और २७ लघु वर्ण होते हैं ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) शिव । (३) एक असुर का नाम । (४) एक विद्याधर का नाम ।

वि० मायावी ।

महामारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह संक्रामक और भीषण रोग जिससे एक साथ ही बहुत से लोग मरें। वबा। मरी। जैसे, हैजा, चेचक, प्लेग इत्यादि। (२) महाकाली का एक नाम।

महामाल-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महामालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाराच छंद का एक नाम।

महामाष-संज्ञा पुं० [सं०] राजमाष। बड़ा उड़द।

महामाषतैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक में एक प्रकार का तेल जो साधारण तिल के तेल में चने की दाल, दशमूल और बकरी का मांस आदि मिलाकर पकाने से बनता है।

महामुंड-संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंध-द्रव्य।

महामुंडनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

महामुख-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुंभीर नामक जल-जंतु। (२) नदी का मुहाना। वह स्थान जहाँ नदी गिरती है। (३) महादेव।

महामुद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) योग के अनुसार एक प्रकार की मुद्रा या अंगों की स्थिति। (२) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

महामुनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा मुनि। (२) कपटी व्यक्ति। ठग। धोखेबाज। (व्यंग्य) (३) अगस्त्य ऋषि। (४) बुद्ध। (५) कृपाचार्य्य। (६) काल। (७) व्यास। (८) एक जिन का नाम। (९) तुंबुरु का वृक्ष।

महामूर्त्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] विष्णु।

महामूल-संज्ञा पुं० [सं०] प्याज।

महामूल्य-संज्ञा पुं० [सं०] माणिक।

वि० (१) जिसका मूल्य बहुत अधिक हो। बहुमूल्य। (२) महँगा।

महामृग-संज्ञा पुं० [सं०] हाथी।

महामृत्युंजय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) शिवजी का एक मंत्र। कहते हैं कि इसके जप से अकाल मृत्यु टल जाती और आयु बढ़ती है।

महामेघ-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महामेद-संज्ञा पुं० दे० "महामेदा"।

महामेदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद जो मोरंग देश में पाया जाता है। यह देखने में अदरक के समान होता है। इसकी लता चलती है। वैद्यक में इसे शीतल, रुचिकर, कफ और शुक्र को बढ़ानेवाली, दाह, रक्तपित्त, क्षय और वात को नाश करनेवाली माना है।

विशेष—यह जड़ी आजकल नहीं मिलती। इसके स्थान पर च्यवनप्राश आदि में दूसरी ओषधि डालते हैं।

पर्य्या०—देवमणि। वसुच्छिद्रा। देवेष्ट। सुरमेदा। दिव्या। त्रिदंता। सोमा।

महामैत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

महामोदकारी-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में ६ यगण होते हैं। इसका दूसरा नाम क्रीड़ाचक्र भी है।

महामोह-संज्ञा पुं० [सं०] सांसारिक सुखों के भोग की इच्छा जो अविद्या का रूपांतर मानी गई है।

महामोहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महाय*-वि० [सं० महा] महान्। बहुत। अधिक। ज़्यादा। उ०—(क) तीसर अपनो रूप रचि व्यंकट शैल भराय। कह्यो सकल शिष्यन करहु यामें प्रीति महाय।—रघुराज। (ख) याके सनमुख हम दोऊ बैठि रूप बनाय। हमपै तनक तकै नहीं अचरज लगत महाय।—रघुराज।

महायक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्षों का राजा। (२) एक प्रकार के बौद्ध देवता।

महायज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार नित्य किये जानेवाले कर्म। जो मुख्यतः पाँच हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ=संध्योपासन, (२) देवयज्ञ=हवन, (३) पितृयज्ञ=तर्पण, (४) भूतयज्ञ=बलि और (५) नृयज्ञ=अतिथि-सत्कार।

विशेष—इन पाँचों कर्म्मों के नित्य करने का विधान है। कहते हैं कि मनुष्य नित्य जो पाप करता है, उनका नाश इन यज्ञों के अनुष्ठान से हो जाता है।

महायम-संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।

महायात्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु। मौत।

महायान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक विद्याधर का नाम। (२) बौद्धों के तीन मुख्य संप्रदायों में से एक संप्रदाय जो महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण के थोड़े ही दिनों बाद उनके शिष्यों और अनुयायियों में मतभेद होने के कारण चला था। इसका प्रचार नैपाल, तिब्बत, चीन, जापान आदि उत्तरीय देशों में है जहाँ इसमें तंत्र भी बहुत कुछ मिला हुआ है। जिस प्रकार शिव की शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार बुद्ध की कई शक्तियाँ या देवियाँ हैं जिनकी उपासना की जाती है।

महायाम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

महायाम्य-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

महायुग-संज्ञा पुं० [सं०] सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का समूह जो देवताओं का एक युग माना जाता है।

महायुत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बड़ी संख्या जो सौ अयुत की होती है।

महायुध-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महायोगेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] पितामह, पुलस्त्य, वसिष्ठ, पुलह, अंगिरा, क्रतु और कश्यप जो बहुत बड़े ऋषि और योगी माने जाते हैं।

महायोगेश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) नागदमनी।

महायोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार स्त्रियों का एक प्रकार का रोग जिसमें उनकी योनि बहुत बढ़ जाती है।

महायौगिक-संज्ञा पुं० [सं०] २९ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

महारंभ-वि० [सं०] जिसका आरंभ करने में बहुत अधिक यत्न करना पड़े। बहुत बड़ा। उ०—सच है, छोटे जी के लोग थोड़े ही कामों में ऐसा घबरा जाते हैं मानो सारे संसार का बोझ इन्हीं पर है। पर जो बड़े लोग हैं, उनके सब काम महारंभ होते हैं; तब भी उनके मुख पर कहीं से व्याकुलता नहीं झलकती।—हरिश्चंद्र।

महारक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों के अनुसार महाप्रतिसरा, महामयूरी, महासहस्रप्रमर्दिनी, महाशीतवती और महामंत्रानुसारिणी ये पाँच देवियाँ।

महारक्त-संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा।

महारजत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोना। सुवर्ण। (२) धतूरा।

महारजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुसुम का फूल। (२) सोना।

महारत-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] अभ्यास। मश्क।

महारत्न-संज्ञा पुं० [सं०] मोती, हीरा, वैदूर्य्य, पद्मराग, गोमेद, पुष्पराग (पुखराज), पन्ना, मूँगा और नीलम इन नौ रत्नों में से कोई रत्न।

महारत्नवर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम।

महारथ-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत भारी योद्धा जो अकेला दस हज़ार योद्धाओं से लड़ सके। उ०—पूरण प्रकृति सात धीर बीर हैं विख्यात रथी महारथी अतिरथी रण साज के।—रघुराज।

महारथी-संज्ञा पुं० दे० "महारथ"।

महारथ्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] चौड़ा रास्ता। सड़क।

महारस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) काँजी। (२) खजूर। (३) कसेरू। (४) ऊख। (५) पारा। (६) कांतीसार लोहा। (७) ईंगुर। (८) सोनामक्खी। (९) रूपामक्खी। (१०) अभ्रक। (११) जामुन का वृक्ष।

महाराज-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महारानी] (१) राजाओं में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा राजा। (२) ब्राह्मण, गुरु, धर्माचार्य्य या और किसी पूज्य के लिए एक संबोधन। (३) एक उपाधि जो आधुनिक भारत में ब्रिटिश सरकार की ओर से बड़े बड़े राजाओं को दी जाती है।

महाराजाधिराज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा राजा। अनेक राजाओं में श्रेष्ठ। (२) एक प्रकार की पदवी जो ब्रिटिश भारत में सरकार की ओर से बड़े राजाओं को मिलती है।

महाराजिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता जिनकी संख्या कुछ लोगों के मत से २२६ और कुछ लोगों के मत से ४००० है।

महाराज्ञी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) महारानी।

महाराज्य-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा राज्य। साम्राज्य।

महाराणा-संज्ञा पुं० [सं० महा+हिं० राणा] मेवाड़, चित्तौर और उदयपुर के राजाओं की उपाधि।

महारात्रि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) महाप्रलयवाली रात, जब कि ब्रह्मा का लय हो जाता है और दूसरा महाकल्प होता है। (२) तांत्रिकों के अनुसार ठीक आधी रात बीतने पर दो मुहूर्त्तों का समय जो बहुत ही पवित्र समझा जाता है। कहते हैं कि इस समय जो पुण्य-कृत्य किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है। (३) दुर्गा।

महारावण-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह रावण जिसके हज़ार मुख और दो हज़ार भुजाएँ थीं। अद्भुत रामायण के अनुसार इसे जानकी जी ने मारा था।

महारावल-संज्ञा पुं० [सं० महा+हिं० रावल] जैसलमेर, डूँगरपुर आदि राज्यों के राजाओं की उपाधि।

महाराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध प्रदेश जो अरब सागर के तट पर, गुजरात के दक्षिण, कर्णाट के उत्तर और तैलंग प्रदेश के पश्चिम में है। कोंकण प्रदेश इसी का दक्षिणी भाग है। बहुत प्राचीन काल में इस प्रदेश का उत्तरी भाग दण्डक वन कहलाता था। यहाँ सातवाहन, चालुक्य, कलचुरी और यादव आदि वंशों का राज्य बहुत दिनों तक था। मुसलमानों के राजत्व काल में यहाँ बहमनी, निज़ामशाही और कुतुबशाही आदि वंशों का राज्य था। पीछे सुप्रसिद्ध वीर महाराज शिवाजी ने इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। यह प्रदेश आधुनिक बंबई प्रांत के लगभग है और यहाँ के निवासी भी महाराष्ट्र कहलाते हैं। (२) इस देश के निवासी, विशेषतः ब्राह्मण निवासी। (३) बहुत बड़ा राष्ट्र। जैसे, अमेरिकन महाराष्ट्र।

महाराष्ट्री-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की प्राकृत भाषा जो प्राचीन काल में महाराष्ट्र देश में बोली जाती थी (२) महाराष्ट्र की आधुनिक देशभाषा। (३) जल-पीपल।

महारुद्र-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महारूप-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महारूपक-संज्ञा पुं० [सं०] नाटक।

महारुरु-संज्ञा पुं० [सं०] मृगों की एक जाति।

महारूख-संज्ञा पुं० [सं० महावृक्ष] (१) थूहर। सेंहुड़। स्नुही। (२) एक जंगली वृक्ष जो बहुत सुंदर होता है। इसकी लकड़ी से आरायशी सामान बनता है। इसकी छाल में सुगंधि होती है। मदरास और मध्य प्रदेश में यह अधिकता से पाया जाता है।

महारोग-संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा रोग। जैसे, पागलपन, कोढ़, तपेदिक, दमा, भगंदर आदि। कहते हैं कि इस प्रकार के रोग पूर्व जन्म के पापों के परिणाम-स्वरूप होते

हैं। वैद्य लोग ऐसे रोगों की चिकित्सा करने से पहले रोगी से प्रायश्चित्त आदि कराते हैं।

महारोगी–संज्ञा पुं० [सं० महारोगिन्] जिसे कोई महारोग हो।

महारौद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) २२ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

महारौद्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महारौरव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक नरक का नाम। कहते हैं कि जो लोग देवताओं का धन चुराते या गुरु की पत्नी के साथ गमन करते हैं, वे इस नरक में भेजे जाते हैं। (२) एक प्रकार का साम।

महार्घ–वि० [सं०] (१) बहुमूल्य। बड़े मोल का। (२) जिसका मूल्य ठीक से अधिक हो। मँहगा।

संज्ञा पुं० महा सोमलता।

महार्घता–संज्ञा स्त्री० [सं०] महार्घ होने का भाव। महँगी।

महार्घ्य–वि० दे० "महार्घ"।

महार्णव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा समुद्र। महासागर। (२) शिव। (३) पुराणानुसार एक दैत्य जिसे भगवान् ने कूर्म्म अवतार में अपने दाहिने पैर से उत्पन्न किया था।

महार्थ–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

महार्द्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जंगली अदरक। (२) सोंठ।

महार्बुद–संज्ञा पुं० [सं०] सौ करोड़ या दस अर्बुद की संख्या।

महार्ह–संज्ञा पुं० [सं०] सफेद चंदन।

वि० दे० "महार्घ"।

महाल–संज्ञा पुं० [अ० महल का बहु० व०] (१) वह स्थान जहाँ बहुत से बड़े मकान हों। मुहल्ला। टोला। पुरा। पाड़ा। (२) बंदोबस्त के काम के लिए किया हुआ ज़मीन का एक विभाग, जिसमें कई गाँव होते हैं। (२) भाग। पट्टी। हिस्सा। उ०—कैधौं रसाल के ताल फले कुच दोऊ महाल जगीर अनंग के।

महालक्ष्मी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी देवी की एक मूर्ति का नाम। (२) पुराणानुसार नारायण की एक शक्ति का नाम। (३) एक वर्णिक वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन रगण होते हैं। उ०—(क) रात्रि चौसौ रहै कामिनी। पीव की जो मनोगामिनी। भाषती बोल बोलै अमी। जानिये सो महालक्ष्मी। (ख) राधिका वल्लभै गाइ ले। चित्रनी इंद्र से पाइ ले।

महालय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँआर का कृष्णपक्ष जिसमें पितरों के लिए तर्पण और श्राद्ध आदि किया जाता है। पितृपक्ष। (२) तीर्थ। (३) पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम (४) नारायण।

महालया–संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन कृष्णा अमावास्या, जिस दिन पितृ-विसर्जन होता है। पितृपक्ष की अंतिम तिथि।

महालिंग–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

महालोक–संज्ञा पुं० दे० "महर्लोक"।

महालोध्र–संज्ञा पुं० [सं०] पठानी लोध।

महालोभ–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महालोल–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

महावक्ष–संज्ञा पुं० [सं० महावक्षस्] महादेव।

महावट–संज्ञा स्त्री० [हिं० माह=माघ+वट (प्रत्य)] पूस माघ की वर्षा। वह वर्षा जो जाड़े में हो। जाड़े की झड़ी। उ०—पैठी हो सरदी रग रग में और बर्फ़ निकलता हो पत्थर। झड़ बाँध महावट पड़ती हो और तिस पर लहरें ले लेकर। सन्नाटा बाव का चलता हो तब देख बहारें जाड़े की।—नज़ीर।

महावत–संज्ञा पुं० [सं० महामात्र] हाथी हाँकनेवाला। फीलवान। हाथीवान। उ०—(क) हूलै इतै पर मैन महावत लाज के आँदू परे जउ पाइन।—पद्माकर। (ख) द्वार कुबलया गज ठढ़ियावा। अयुत नाग बल तासें पावा। कहेसि महावत ते गोहराई। प्रविशत तैं डारे चँपवाई।—विश्राम।

महावतारी–संज्ञा पुं० [सं० महावतारिन्] २५ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

महावध–संज्ञा पुं० [सं०] वज्र।

महावर–संज्ञा पुं० [सं० महावर्ण ?] लाख से बना हुआ एक प्रकार का लाल रंग जिससे सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पाँवों को चित्रित कराती हैं। यावक। उ०—(क) पलन पीक अंजन अधर धरे महावर भाल। आज मिले सु भली करी भले बने हौ लाल।—बिहारी। (ख) आई हौ पायँ दिवाय महावर कुंजन तें करि कै सुख सेनी।—मतिराम। (ग) काहू दियो लाख रस सोई। जासों तुरत महावर होई।—लक्ष्मणसिंह।

महावरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूब।

संज्ञा पुं० दे० "मुहावरा"।

महावराह–संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् का वराह अवतार।

महावरी–संज्ञा पुं० [हिं० महावर] महावर की बनी हुई गोली या टिकिया जिससे स्त्रियों के पैर चित्रित किए जाते हैं। उ०—(क) पायँ महावर देन को नाइन बैठी आय। फिरि फिरि जानि महावरी एँड़ी मींड़ति जाय।—बिहारी। (ख) छैल छबीली का छवा लहि महावरी संग। जानि परै नाइन लगै जबहि निचोरन रंग।—रामसहाय।

महावरेदार–वि० दे० "मुहावरेदार"। उ०—कमिटी ने सिफारिश की कि नंबर १ का तरजमा बहुत महावरेदार देशी भाषा में किया जाय।—सरस्वती।

महावरोह–संज्ञा पुं० [सं०] पलाश।

महावल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता।

महावस–संज्ञा पुं० [सं०] मगर नामक जल-जंतु।

महावसु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रावरुण का एक नाम ।

महावाक्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) 'सोऽहं' शब्द । (२) शंकराचार्य जी के मतानुयायियों के मत से 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' और 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद् के वाक्य । (३) दान आदि के समय पढ़ा जानेवाला संकल्प ।

महावात-संज्ञा पुं० [सं०] जोर की हवा । आँधी । तूफ़ान ।

महावामदेव्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम जो शांति-कर्म्मों के समय पढ़ा जाता है ।

महावायु-संज्ञा पुं० स्त्री० [सं०] तूफ़ान ।

महावारुणी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंगा-स्नान का एक योग ।

विशेष—यदि चैत्र कृष्ण त्रयोदशी को शतभिषा नक्षत्र हो तो उस दिन वारुणी योग होता है । यदि यह योग शनिवार को पड़े तो महावारुणी कहलाता है । पुराणों के अनुसार इस योग में गंगा-स्नान का बहुत अधिक फल होता है ।

महावार्त्ताकिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वनभंटा । जंगली बैंगन ।

महावाहन-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविक्रम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिंह । (२) एक नाग का नाम ।

महाविदेहा-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगशास्त्र के अनुसार मन की एक बहिर्वृत्ति ।

महाविद्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तंत्र में मानी हुई दस देवियाँ जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) काली, (२) तारा, (३) षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) बगलामुखी, (९) मातंगी और (१०) कमलात्मिका । इन्हें सिद्ध विद्या भी कहते हैं । कुछ तांत्रिकों का यह मत है कि इन्हीं दस महाविद्याओं ने दस अवतार धारण किए थे । (२) दुर्गादेवी । (३) गंगा ।

महाविद्येश्वरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा की एक मूर्त्ति का नाम ।

महाविभूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

महाविभूति-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

महाविल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश । (२) अंतःकरण ।

महाविष-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसके काटते ही तुरंत मृत्यु हो जाय ।

महाविषुव-संज्ञा पुं० [सं०] वह समय जब सूर्य्य मीन से मेष राशि में जाता है और दिन रात दोनों समान होते हैं । मेष संक्रांति । चैत्र की संक्रांति । (इस दिन की गणना पुण्यतिथियों में होती है ।)

महावीचि-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक नरक का नाम ।

महावीत-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम ।

महावीर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान जी । (२) गौतम बुद्ध का एक नाम । (३) गरुड़ । (४) देवता । (५) सिंह । (६) मनु के पुत्र मरवानल का एक नाम । (७) वज्र । (८) सफेद घोड़ा । (९) बाज पक्षी । (१०) जैनियों के चौबीसवें और अंतिम जिन या तीर्थंकर जो महापराक्रमी राजा सिद्धार्थ के वीर्य्य से उनकी रानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । कहते हैं कि त्रिशला ने एक दिन सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके प्रभाव से वह गर्भवती हो गई थी । जब इनका जन्म हुआ, तब इंद्र इन्हें ऐरावत पर बैठाकर मंदराचल पर ले गए थे और वहाँ इनका पूजन करके फिर इन्हें माता की गोद में पहुँचा गए थे । इनका नाम बर्द्धमान पड़ा था । ये बहुत ही शुद्ध और शांत प्रकृति के थे और भोग-विलास की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं होती थी । कहते हैं कि तीस वर्ष की अवस्था में कोई बुद्ध या अर्हत् आकर इनमें ज्ञान का संचार कर गए थे । मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को ये अपना राज्य और सारा वैभव छोड़कर वन में चले गए और बारह वर्ष तक इन्होंने वहाँ घोर तपस्या की । इसके उपरांत ये इधर-उधर घूमकर उपदेश देने लगे । एक बार इन्होंने भोजन त्याग दिया, जिससे वैशाख कृष्ण दशमी को इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था । इन्होंने मौन धारण करके राजगृह में रहना आरंभ किया । वहाँ देवताओं ने इनके लिए एक रत्न-जटित प्रासाद बनाया था । वहाँ इंद्र के भेजे हुए बहुत से देवता आदि इनके पास आए, जिन्हें इन्होंने अनेक उपदेश दिए और जैन धर्म्म का प्रचार आरंभ किया । कहते हैं कि इनके जीवन काल में ही सारे मगध देश में जैन धर्म्म का प्रचार हो गया था । जैनियों के अनुसार ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था; और तभी से वीर संवत् चला है ।

वि० बहुत बड़ा वीर । बहुत बड़ा बहादुर ।

महावीरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] क्षीरकाकोली ।

महावीर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) एक बुद्ध का नाम । (३) जैनों के एक अर्हत् का नाम । (४) तामस शौच्य मन्वन्तर के एक इंद्र का नाम । (५) वराहीकंद ।

महावीर्य्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सूर्य्य की पत्नी संज्ञा का एक नाम । (२) वनकपास । (३) महाशतावरी ।

महावृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंहुड़ । थूहर । (२) करंज । (३) ताड़ । (४) महापीलु ।

महावृष-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ जो सुरम्य पर्वत के पास है ।

महावेग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । गरुड़ ।

महावेगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम ।

महाव्याधि-संज्ञा स्त्री० दे० "महारोग" ।

महाव्याहृति-संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार ऊपरवाले सात

लोकों में से पहले तीन लोकों का समूह। भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक।
महाव्यूह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की समाधि।
महाव्रण–संज्ञा पुं० दे० "दुष्टव्रण"।
महाव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद की एक ऋचा का नाम। (२) वह व्रत जो बारह वर्षों तक चलता रहे। (३) आश्विन की दुर्गा-पूजा।
महाव्रती–संज्ञा पुं० [सं० महाव्रतिन्] (१) वह जिसने कोई महाव्रत धारण किया हो। (२) शिव।
महाशंख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ललाट। (२) कनपटी की हड्डी। (३) मनुष्य की ठठरी। (४) नौ निधियों में से एक। (५) बड़ा शंख। (६) एक प्रकार का सर्प। (७) एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।
महाशक्ति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। (२) शिव। (३) पुराणानुसार कृष्ण के एक पुत्र का नाम।
महाशठ–संज्ञा पुं० [सं०] पीला धतूरा।
महाशतावरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी शतावरी। वि० दे० "सतावर"।
महाशय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) उच्च आशयवाला व्यक्ति। महानुभाव। महात्मा। सज्जन। (२) समुद्र।
महाशय्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] राजाओं की शय्या या सिंहासन।
महाशर–संज्ञा पुं० दे० "रामशर"।
महाशल्क–संज्ञा पुं० [सं०] झींगा मछली।
महाशाखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबला। गँगेरन।
महाशासन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा की आज्ञा। (२) राजा का वह मंत्री जो उसकी आज्ञाओं या दानपत्रों आदि का प्रचार करता हो।
महाशिव–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।
महाशीतवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की पाँच महादेवियों में से एक देवी का नाम।
महाशीता–संज्ञा स्त्री० [सं०] शतमूली।
महाशीर्ष–संज्ञा पुं० [सं०] शिव के एक अनुचर का नाम।
महाशील–संज्ञा पुं० [सं०] जन्मेजय के एक पुत्र का नाम।
महाशुंडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] हाथीसूँड़ नामक क्षुप।
महाशुक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप।
महाशुक्ला–संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती।
महाशुभ्र–संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।
महाशून्य–संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।
महाशोण–संज्ञा पुं० [सं०] सोन नद।
महाश्मशान–संज्ञा पुं० [सं०] काशी नगरी का एक नाम।
महाश्रमण–संज्ञा पुं० [सं०] भगवान् बुद्ध का एक नाम।
महाश्रावणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।
महाश्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध की एक शक्ति का नाम।
महाश्वास–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का श्वास रोग। (२) वह अंतिम साँस जो मरने के समय चलता है।
महाश्वेता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सरस्वती। (२) दुर्गा। (३) सफ़ेद अपराजिता। (४) चीनी।
महाषष्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।
महाष्टमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी।
महासंस्कारी–संज्ञा पुं० [सं० महासंस्कारिन्] १७ मात्राओं के छंदों की संज्ञा।
महासत्य–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।
महासत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुबेर। (२) शाक्य मुनि। (३) एक बोधिसत्व का नाम।
महासन–संज्ञा पुं० [सं०] सिंहासन।
महासमंग–संज्ञा स्त्री० [सं०] कँगही या कंघी नामक पौधा।
महासर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] जगत् की वह रचना जो महाप्रलय के उपरांत फिर से होती है।
महासर्ज–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष।
महासांतपन–संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें पाँच दिन तक क्रम से पंचगव्य, छठे दिन कुश-जल पीकर सातवें दिन उपवास किया जाता है।
महासाहसिक–संज्ञा पुं० [सं०] चोर।
महासिंह–संज्ञा पुं० [सं०] दुर्गादेवी का वाहन सिंह।
महासीर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की मछली जो पहाड़ी नदियों में पाई जाती है और जिसका मांस बहुत अच्छा माना जाता है।
महासुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शृंगार। सजावट। (२) बुद्धदेव का एक नाम।
महासुर–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।
महासुरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।
महासूचि–संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध के समय की एक प्रकार की व्यूह-रचना।
महासूत–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जो युद्ध-क्षेत्र में बजाया जाता था।
महासेन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। स्वामि-कार्त्तिक। (२) शिव। (३) बहुत बड़ा या सब से प्रधान सेनापति।
महासौषिर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें दाँतों के मसूड़े सड़ जाते हैं और मुँह में से बहुत दुर्गंधि आती है। कहते हैं कि जब यह रोग होता है, तब आदमी सात दिनों के अंदर मर जाता है।
महास्कंध–संज्ञा पुं० [सं०] ऊँट।
महास्कंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जामुन का वृक्ष।

महास्नायु–संज्ञा पुं० [सं०] वह प्रधान नाड़ी जिसमें से रक्त बहता है। इसे कंडरा या अस्थिबंधन नाड़ी भी कहते हैं।

महास्मृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महाहंस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का हंस। (२) विष्णु।

महाहनु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) तक्षक की जाति का एक प्रकार का साँप। (३) एक दानव का नाम।

महाहस्त–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाहास–संज्ञा पुं० [सं०] जोर से ठठाकर हँसना। अट्टहास।

महाहि–संज्ञा पुं० [सं०] वासुकि नाग।

महाहिक्का–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का हिचकी का रोग जिसमें हिचकी आने के समय सारा शरीर काँप उठता है और मर्म-स्थान में वेदना होती है।

महाह्रद–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

महाह्रस्व–संज्ञा पुं० [सं०] केवाँच। कौंछ।

महिं*–अव्य० दे० "महँ"।

महिंजक–संज्ञा पुं० [सं०] चूहा।

महिंधक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा। (२) नेवला। (३) भार उठाने का छींका। सिकहर जिसे बहँगी के दोनों छोरों में बाँधकर कहार बोझ उठाते हैं।

महि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) महिमा। (३) विज्ञान शक्ति। महत्तत्व।

महिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] हिम। बर्फ।

महिख*–संज्ञा पुं० दे० "महिष"।

महिखगी–संज्ञा स्त्री० [?] अट्ठाईस मात्राओं के एक छंद का नाम जिसमें चौदह मात्राओं पर यति होती है।

महिदास–संज्ञा पुं० दे० "महीदास"।

महिदेव–संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महिधर–संज्ञा पुं० दे० "महीधर"।

महिपाल*–संज्ञा पुं० दे० "महीपाल"।

महिफर‡–संज्ञा पुं० [सं० मधुफल] मधु। शहद।

महिमा–संज्ञा स्त्री० [सं० महिमन्] (१) महत्त्व। माहात्म्य। बड़ाई। गौरव। (२) प्रभाव। प्रताप। उ०—सुनि आचरज करइ जनि कोई। सत संगति महिमा नहिं गोई।—तुलसी। (३) अणिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धियों वा ऐश्वर्यों में से पाँचवीं जिससे सिद्ध योगी अपने आपको बहुत बड़ा बना लेता है।

महिमावान्–संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराणानुसार एक प्रकार के पितृगण।

महिम्न–संज्ञा पुं० [सं०] शिव का एक प्रधान स्तोत्र जिसे पुष्पदंताचार्य्य ने रचा था।

महियाँ*†–अव्य० [सं० मध्य प्रा० मज्झ=महँ] में। उ०—(क) जेती लाज गोपालहिं मेरी। तेती नाहिं बधू हौं जाकी अंबर हरत सबन तन हेरी। पति अति रोष करै मनी महियाँ भीषम दई वेद विधि टेरी।—सूर (ख) सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ। जो नहिं लेत उठाइ गोवर्धन को बाँचत ब्रज महियाँ। कोमल कर गिरि धर्यो घोष पर शरद कमल की छहियाँ। सूरदास प्रभु तुमरे दरश आनंद होत ब्रज महियाँ।—सूर।

महिया†–संज्ञा पुं० [हिं० महना] ईख के रस का फेन जो उबाल खाने पर निकलता है।

महिर–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

महिरावण–संज्ञा पुं० [सं० महि+रावण] एक राक्षस का नाम। कहते हैं कि यह रावण का लड़का था और पाताल में रहता था। यह रामचंद्र और लक्ष्मण को लंका के शिविर से उठा कर पाताल ले गया था। रामचंद्र और लक्ष्मण को ढूँढ़ते हुए हनुमान जी पाताल गए थे और महिरावण को मार कर राम-लक्ष्मण को ले आए थे। यह कथा वाल्मीकि रामायण और पुराणों में नहीं पाई जाती।

महिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। (२) फूलप्रियंगु। (२) रेणुका नामक गंध द्रव्य।

महिष–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महिषी] (१) भैंस। (२) वह राजा जिसका अभिषेक शास्त्रानुसार किया गया हो। (३) एक राक्षस का नाम जिसे पुराणानुसार दुर्गा देवी ने मारा था। (४) एक वर्णसंकर जाति का नाम जो स्मृतियों में क्षत्रिय पिता और तीवरी माता से उत्पन्न कही है। (५) एक साम का नाम। (६) पुराणानुसार कुश द्वीप के एक पर्वत का नाम। (७) कुश द्वीप के एक वर्ष का नाम। (८) (९) भागवत के अनुसार अनुह्राद के पुत्र का नाम।

महिषकंद–संज्ञा पुं० [सं०] शुभ्रालु। भैंसा कंद।

महिषक–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति का नाम।

महिषघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा

महिषध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) जैन शास्त्रानुसार एक अर्हत् का नाम।

महिषमत्स्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली जो काले रंग की होती है। इसके सेहरे बड़े बड़े होते हैं। यह बल-वीर्य्यकारी और दीपन-गुण-युक्त मानी जाती है।

महिषमर्दिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का एक नाम।

महिषमस्तक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जड़हन धान।

महिषवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरेटा।

महिषवाहन–संज्ञा पुं० [सं०] यमराज।

महिषाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा, गुग्गुल।

महिषार्दन–संज्ञा पुं० [सं०] स्कंद का एक नाम।

महिषासुर–संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर का नाम जो रंभ नामक दैत्य का पुत्र था। कहते हैं कि इसकी आकृति भैंसे की

थी और इसे दुर्गा जी ने मारा था। मार्कंडेय पुराण में इसकी सविस्तर कथा लिखी है।

महिषी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भैंस। (२) रानी, विशेषतः पटरानी। (३) सैरिंध्री। (४) एक ओषधि का नाम।

महिषीकंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद जिसे भैंसा कंद भी कहते हैं। शुभ्रालु।

महिषीप्रिया-संज्ञा पु० [सं०] शूली नामक घास।

महिषेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महिषासुर। उ०—महामोह महिषेश विशाला। राम कथा कालिका कराला।—तुलसी। (२) यमराज। उ०—कह महिषेश वहाँ ले जाओ। चित्रगुप्तै वाहि देखाओ।—विश्राम।

महिषोत्सर्ग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

महिष्ठ-वि० [सं०] बहुत बड़ा।

महिसुर-संज्ञा पुं० दे० "महीसुर"।

मही-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पृथ्वी। (२) मिट्टी। (३) अवकाश। देश। स्थान। (४) नदी। (५) क्षेत्र का आधार। (६) सेना। (७) झुंड। समूह। (८) एक की संख्या। (९) गाय। (१०) हुरहुर। हुल हुल। (११) एक छंद का नाम जिसमें एक लघु और एक गुरु मात्रा होती है। जैसे, मही, लगी, नदी इत्यादि।

संज्ञा पु० [हिं० महना] मट्ठा। छाछ। उ०—(क) तुलसी मुदित दूत भयो मानहुँ अमिय लाहु माँगत मही।—तुलसी। (ख) छाँड़ि कनक मणि रत्न अमोलक काँच की किरच गही। ऐसो तू है चतुर विवेकी पय तजि पियत मही।—सूर। (ग) दूध दही माखन मही बचै नहीं ब्रज माँझ। ऐसी चोरी करतु हैं फिरतु भोर अरु साँझ।—लल्लू०।

महीक्षित्-संज्ञा पु० [सं०] राजा।

महीखड़ी-संज्ञा स्त्री० [देश०] सिकलीगरों का एक औज़ार जिसकी धार कुंद होती है और जिसमें लकड़ी का दस्ता लगा रहता है। इससे बर्तन आदि खुरचकर साफ किए जाते हैं और उन पर जिला की जाती है।

महीज-संज्ञा पु० [सं०] (१) अदरक। आदी। (२) मंगल ग्रह।

महीतल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी। संसार।

महीदास-संज्ञा पु० [सं०] ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता एक ऋषि का नाम। यह इतरा नामक दासी के पुत्र थे।

महीदेव-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महीधर-संज्ञा पु० [सं०] (१) पर्वत। (२) बौद्धों के अनुसार एक देवपुत्र का नाम (३) शेषनाग। उ०—धर्म करत अति अर्थ बढ़ावत। संतति हित रति कोविद गावत। संतति उपजत ही निशि वासर। साधत तन मन मुक्ति महीधर।—केशव। (४) एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसमें चौदह बार क्रम से लघु और गुरु आते हैं। उ०—सदा सुसंग धारिये नहीं कुसंग मारिये लगाय चित्त सीख मानिये खरी।

महीध्र-संज्ञा पुं० [सं०] महीधर।

महीध्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महीध्र। (२) एक राजा का नाम।

महीन-वि० [सं० महा+क्षीन (सं० क्षीण)] (१) जिसकी मोटाई या घेरा बहुत ही कम हो। "मोटा" का उलटा। पतला। सूक्ष्म। जैसे, महीन तागा, महीन तार, महीन सुई आदि। (२) जिसके दोनों ओर के तलों के बीच बहुत कम अंतर हो। जो बहुत कम मोटा हो। बारीक। झीना। पतला। जैसे, महीन कपड़ा, महीन कागज़, महीन छाल। उ०—दास मनोहर आनन बाल को दीपित जाकी दिपैं सब दीपैं। श्रौन सुहाये बिराजि रहे मुकुताहल संयुत ताहि समीपैं। सारी महीन सी लीन बिलोकि बिचारत हैं कवि के अवनीपैं। सोदर जानि ससीही मिली सुत संग लिए मनों सिंधु की सीपैं।—मनोहरदास।

मुहा०—महीन काम=वह काम जिसके करने में बहुत सावधानी और आँख गड़ाने की आवश्यकता पड़ती हो। जैसे, सोना, चित्रकारी, सूची कर्म आदि।

(३) जो बहुत कम ऊँचा या तेज हो। कोमल। धीमा। मंद (इस अर्थ में यह शब्द प्रायः शब्द वा स्वर के लिए ही आता है)।

संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीना-संज्ञा पुं० [सं० मास वा माः मि० फ़ा० माह] (१) काल का एक परिमाण जो वर्ष के बारहवें अंश के बराबर होता है। यह साधारणतया तीस दिन का होता है; पर कोई कोई महीने इससे अधिक और न्यून भी होते हैं। आजकल भारतवर्ष में कई प्रकार के महीने प्रचलित हैं—देशी, अर्बी और अँगरेज़ी। देशी वा हिंदी महीने चार प्रकार के होते हैं, सौर मास, चंद्र मास, नक्षत्र मास और सावन मास। (विवरण के लिये देखो "मास") अरबी महीना एक प्रकार का चान्द्र मास है जो शुक्ल द्वितीया से प्रारंभ होता है। अँगरेज़ी महीना सौर मास का एक भेद है जिसमें संक्रांति से महीना नहीं बदलता, किंतु प्रत्येक महीने के दिन नियत होते हैं। जो काल प्रचलित वा चांद्र वर्ष में, उसे सौर वर्ष के बराबर करने के लिए जोड़ा जाता है, उसे लौंद कहते हैं; और यदि यह काल एक महीने का होता है, तो उसे; लौंद का महीना वा मल मास कहते हैं (देखो "मल मास")। देशी वर्षों में प्रति तीसरे वर्ष मल मास होता है और उस समय वर्ष में बारह महीने न होकर तेरह महीने होते हैं। अँगरेज़ी वर्षों में प्रति चौथे वर्ष लौंद का एक दिन अधिक बढ़ाया जाता है; पर अर्बी महीनों के वर्षों में सौर वर्ष से

मेल मिलाने के लिए लौंद का काल नहीं जोड़ा जाता; इसलिए प्रति तीसरे वर्ष सौर वर्ष से लगभग एक महीने का अंतर पड़ जाता है। देशी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—

संस्कृत	हिंदी
चैत्र	चैत
वैशाख	बैसाख
ज्येष्ठ	जेठ
आषाढ़	असाढ़
श्रावण	सावन
भाद्र वा भाद्रपद	भादों
आश्विन	कुआर, आसोज वा आसों
कार्तिक	कातिक
मार्गशीर्ष	अगहन वा मँगसर।
पौष	पूस
माघ	माघ वा माह
फाल्गुन	फागुन

अरबी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—मुहर्रम, सफ़र, रबी-उल्-अव्वल, रबी-उस्-सानी, जमदिउल्-अव्वल, जमादिउस्सानी, रजब, शाबान, रमज़ान, शौवाल, ज़ीक़ाद, ज़िलहिज्ज। अँगरेज़ी महीनों के नाम इस प्रकार हैं—जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई, जून, जूलाई, अगस्त, सितंबर, अक्तूबर, नवंबर, दिसंबर। (२) वह वेतन जो महीना भर काम करने के बदले में काम करनेवाले को मिले। मासिक वेतन। दरमाहा। (३) स्त्रियों का रजोधर्म वा मासिक धर्म।

मुहा०—महीने से होना=स्त्रियों का रजस्वला होना। रजोधर्म से होना।

महीप-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपाल-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीप्राचीर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीप्रावर-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र।

महीभर्ता-संज्ञा पुं० [सं० महीभर्तृ] [स्त्री० महीभर्त्री] राजा।

महीभुक्, महीभुज्-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीभृत्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा। (२) पर्वत।

महीमंडल-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी। भूमंडल।

महीम-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का गन्ना जो पीलापन लिए हरे रंग का होता है इसे पूने का पौंडा भी कहते हैं।

महीमृग-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जंतु।

महीयस्-वि० [सं०] बहुत बड़ा।

महीर-संज्ञा स्त्री० [हिं० मही] वह तलछट जो मक्खन तपाने से नीचे बैठ जाती है। (२) मट्ठे में पकाया हुआ चावल। मट्ठे की खीर।

महीरण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार धर्म के एक पुत्र का नाम। यह विश्वेदेवा के अंतर्भूत है।

महीरावण-संज्ञा पुं० [सं०] अद्भुत रामायण के अनुसार रावण के एक पुत्र का नाम। वि० दे० "महिरावण"।

महीरुह-संज्ञा पुं० [सं०] वृक्ष। पेड़।

महीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] केंचुआ।

महीश-संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

महीसुत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह।

महीसुर-संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

महीसूनु-संज्ञा पुं० [सं०] मंगलग्रह।

महुँ*-अव्य० दे० "महँ"।

महुअर-संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ] (१) वह भेड़ जिसका ऊन कालापन लिये लाल रंग का होता है। (२) वह रोटी जो महुआ मिलाकर पकाई गई हो।

संज्ञा पुं० [सं० मधुकर, प्रा० महुअर] (१) एक प्रकार का बाजा जिसे तुमड़ी वा तूँबी भी कहते हैं। यह कड़वी पतली तूँबी का होता है जिसमें दोनों ओर दो नलियाँ लगी होती हैं। एक ओर की नली को मुँह में लगाकर और दूसरी ओर की नली के छेद पर उँगलियाँ रखकर इसे बजाते हैं। प्रायः मदारी लोग साँपों को मस्त करने के लिये इसे बजाते हैं। (२) एक प्रकार का इंद्रजाल का खेल जो महुअर बजाकर किया जाता है। इसमें दो प्रतिद्वंद्वी खेलाड़ी होते हैं जिनमें से प्रत्येक महुअर बजाकर दूसरे को मूर्छित अथवा चलने-फिरने में असमर्थ करने का प्रयत्न करता है।

महुअरि†-संज्ञा स्त्री० दे० "महुअर"।

महुअरी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ] वह रोटी जो आटे में महुआ मिलाकर बनाई जाती है।

महुआ-संज्ञा पुं० [सं० मधूक प्रा० महुअ] एक प्रकार का वृक्ष जो भारतवर्ष के सभी भागों में होता है और पहाड़ों पर तीन हजार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

विशेष—इसकी पत्तियाँ पाँच-सात अंगुल चौड़ी, दस बारह अंगुल लंबी और दोनों ओर नुकीली होती हैं। पत्तियों का ऊपरी भाग हलके हरे रंग का और पीठ भूरे रंग की होती है। हिमालय की तराई तथा पंजाब के अतिरिक्त सारे उत्तरीय भारत तथा दक्षिण में इसके जंगल पाए जाते हैं जिनमें यह स्वच्छंद रूप से उगता है। पर पंजाब में यह सिवाय बागों के, जहाँ लोग इसे लगाते हैं और कहीं नहीं पाया जाता। इसका पेड़ ऊँचा और छतनार होता है

और डालियाँ चारों ओर फैलती हैं। यह पेड़ तीस चालीस हाथ ऊँचा होता है और सब प्रकार की भूमि पर होता है। इसके फूल, फल, बीज, लकड़ी सभी चीज़ें काम में आती हैं। पेड़ बीस पचीस वर्ष में फूलने और फलने लगता और सैकड़ों वर्ष तक फूलता-फलता है। इसकी पत्तियाँ फूलने के पहले फागुन चैत में झड़ जाती हैं। पत्तियों के झड़ने पर इसकी डालियों के सिरों पर कलियों के गुच्छे निकलने लगते हैं जो कूँची के आकार के होते हैं। इसे महुए का कुचियाना कहते हैं। कलियाँ बढ़ती जाती हैं और उनके खिलने पर कोश के आकार का सफेद फूल निकलता है जो गुदारा और दोनों ओर खुला हुआ होता है और जिसके भीतर जीरे होते हैं। यही फूल खाने के काम में आता है और महुआ कहलाता है। महुए का फूल बीस बाईस दिन तक लगातार टपकता है। महुए के फूल में चीनी का प्रायः आधा अंश होता है; इसी से पशु-पक्षी और मनुष्य सब इसे चाव से खाते हैं। इसके रस में विशेषता यह होती है कि उसमें रोटियाँ पूरी की भाँति पकाई जा सकती हैं। इसका प्रयोग हरे और सूखे दोनों रूपों में होता है। हरे महुए के फूल को कुचलकर रस निकालकर पूरियाँ पकाई जाती हैं और पीसकर उसे आटे में मिलाकर रोटियाँ बनाते हैं जिन्हें "महुअरी" कहते हैं। सूखे महुए को भूनकर उसमें पियार, पोस्त के दाने आदि मिलाकर कूटते हैं। इस रूप में इसे लाटा कहते हैं। इसे भिगोकर और पीसकर आटे में मिलाकर "महुअरी" बनाई जाती है। हरे और सूखे महुए लोग भूनकर भी खाते हैं। गरीबों के लिए यह बड़ा ही उपयोगी होता है। यह गौओं भैंसों को भी खिलाया जाता है जिससे वे मोटी होती हैं और उनका दूध बढ़ता है। इससे शराब खींची जाती है। महुए की शराब को संस्कृत में "माध्वी" और आज कल के गँवार "ठर्रा" कहते हैं। महुए का फूल बहुत दिनों तक रहता है और बिगड़ता नहीं। इसका फल परवल के आकार का होता है और कलेंदी कहलाता है। इसके बीच में एक बीज होता है जिससे तेल निकलता है। वैद्यक में महुए के फूल को मधुर, शीतल, धातु-वर्द्धक तथा दाह, पित्त और बात का नाशक, हृदय को हितकर और भारी लिखा है। इसके फल को शीतल, शुक्रजनक, धातु और बलवर्द्धक, वात, पित्त, तृषा, दाह, श्वास, क्षयी आदि को दूर करनेवाला माना है। छाल रक्त-पित्त-नाशक और व्रणशोधक मानी है। इसके तेल को कफ, पित्त और दाहनाशक और सार को भूतबाधा निवारक लिखा है।

पर्य्या०—मधूक। मधुष्ठील। मधुस्रवा। मधुपुष्प। रोध्रपुष्प। माधव। वानप्रस्थ। मधग। तीक्ष्णसार। महाद्रुम।

महुआ दही—संज्ञा पुं० [हिं० महना+दही] वह दही जिसमें से मथकर मक्खन निकाल लिया गया हो। मखनिया दही।

महुआरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ+बारी] महुए का जंगल।

महुछा—संज्ञा पुं० [सं० महोत्सव=प्रा० महोच्छव मि० पं० महोछा] महोत्सव। उ०—कथा कीरतन मगन महुछा करि संतन भीर। कबहुँ न काज बिगरै नर तेरो, सत सत कहै कबीर।—कबीर।

महुला†—वि० [हिं० महुआ] [स्त्री० महुली] महुए के रंग का।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बैलों गौओं आदि के संबंध में होता है।

संज्ञा पुं० वह बैल जिसके शरीर पर लाल और काले रंग के बाल हों। (ऐसा बैल निकम्मा समझा जाता है।)

महुवरि—संज्ञा स्त्री० [हिं० महुअर] महुअर नाम का बाजा। तूँबड़ी। उ०—तैं कत तोर्यो हार नौसर को। मोती बगरि रहे सब बन में गयो कान को तरको॥ ए अवगुन जो करत गोकुल में तिलक दिये केसरि को। दीठ गुलाब दही में माते ओढ़न हरि कमरी को॥ जाइ पुकारैं जसुमति आगे कहत जु मोहन लरिको। सूर श्याम जानि चतुराई जेहि अभ्यास महुवरि को।—सूर।

महुवा—संज्ञा पुं०—दे० "महुआ"।

महूख*—संज्ञा पुं० [सं० मधूक] (१) महुआ। उ०—(क) छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नहिं बतराय। ऊख महूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय।—बिहारी। (ख) ऊख रस केतकु महूख रस मीठो है पियूखहू की पैली चाहे जाको नियराइये। (ग) कहाँ ऊख महूख में एती मिठास पियूख हू ना हरिऔध हहै। जिती चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अधरा में अहै।—हरिऔध। (२) जेठीमधु। मुलेठी।

महूरति*—संज्ञा पुं० दे० "मुहूर्त्त"। उ०—धरती अंबर ना हता कौन था पंडित पास। कौन महूरति थापिया चाँद सूर आकास।—कबीर।

महेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) इंद्र। (३) भारतवर्ष के एक पर्वत का नाम जो सात कुल पर्वतों में गिना जाता है। महेंद्राचल।

महेंद्रवारुणी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ा इंद्रायण।

महेंद्राल—संज्ञा स्त्री० [हिं० महेंद्र+अलि] महेंद्री नामक नदी का नाम।

महेंद्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम जो गुजरात में बहती है। इसे महेंद्राल भी कहते हैं।

महेर‡—संज्ञा पुं० दे० "महेरा"।

संज्ञा पुं० [देश०] झगड़ा। बखेड़ा।

मुहा०—किसी बात वा काम में महेर डालना=(१) अड़चन डालना। बखेड़ा खड़ा करना। (२) देर लगाना।

संज्ञा स्त्री० दे० "महेरी"।

महेरा-संज्ञा पुं० [हिं० मही+एरा (प्रत्य०)] [स्त्री० महेर, महेरी] (१) एक प्रकार का व्यंजन जो दही में चावल पकाकर बनाया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—सलोना और मीठा। सलोने में हलदी, राई आदि मसाले डाले जाते हैं और मीठे में गुड़ पड़ता है। महेला। महेरी। महेर। (२) एक भोज्य-पदार्थ जो खेसारी के आटे को दही में उबालने से बनता है।

संज्ञा पुं० दे० "महेला"।

महेरि-संज्ञा स्त्री० [हिं० महेर वा मही] महेरा नामक खाद्य-पदार्थ। उ०—भोजन भयो भावती मोहन। तातोइ जेइँ जाहु गो गोहन। खीर खाइ खीचरी सँवारी। मधुर महेरि सो गोपन प्यारी।—सूर।

महेरी-संज्ञा स्त्री० [हिं० महेरा] उबाली हुई ज्वार जिसे लोग नमक-मिर्च से खाते हैं।

वि० [हिं० महेर] अड़चन डालनेवाला। बखेड़ा खड़ा करनेवाला।

महेला-संज्ञा पुं० [हिं० माष] पशुओं के खिलाने का एक पदार्थ। यह चने, उर्द, मोठ आदि को उबालकर और उसमें गुड़, घी आदि डालकर बनाया जाता है। इसके खिलाने से घोड़े बैल आदि पुष्ट होते हैं और गौएँ भैंसें आदि अधिक दूध देती हैं।

महेश-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महादेव। शिव। (२)। ईश्वर।

महेशबंधु-संज्ञा पुं० [सं०] बैल।

महेशान-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेशानी] शिव।

महेशानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

महेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महेश्वरी] (१) महादेव। शिव। (२) ईश्वर। परमेश्वर। (३) सफेद मदार। (४) सोना। स्वर्ण।

महेषुधि-वि० [सं०] बड़ा धनुर्धारी।

महेष्वस्-वि० [सं०] बड़ा धनुर्धारी।

महेस*-संज्ञा पुं० दे० "महेश"।

महेसिया-संज्ञा पुं० [हिं० महेश] एक प्रकार का उत्तम अगहनी धान।

महैकोद्दिष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] वह श्राद्ध जो मरने के बाद पहले पहल अशौच के अंत में मृत प्राणी के उद्देश्य से किया जाता है।

महैतरेय-संज्ञा पुं० [सं०] ऐतरेय उपनिषद्।

महैरंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा रेंड जिसके बीज भी बड़े होते हैं।

महैला-संज्ञा स्त्री० [सं०] बड़ी इलायची।

महोक-संज्ञा पुं० दे० "महोखा"।

महोक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा बैल।

महोख-संज्ञा पुं० दे० "महोखा"।

महोखा-संज्ञा पुं० [सं० मधूक] एक प्रकार का पक्षी जो कौए के बराबर होता है और भारतवर्ष में, विशेष कर उत्तरी भारत में झाड़ियों और बँसवाड़ियों में मिलता है। इसकी चोंच, पैर, और पूँछ काली, आँखें लाल और सिर, गला और डैने खैरे रंग के या लाल होते हैं। यह झाड़ियों के आस पास रहता है और कीड़े मकोड़े खाता है। यह बहुत तेज दौड़ सकता है, पर बहुत दूर तक नहीं उड़ सकता। इसकी बोली बहुत तेज होती है और यह बहुत देर तक लगातार बोलता है। उ०—(क) हारिल शब्द महोख सुहावा। काग कुराहर करहिं सोभावा।—जायसी। (ख) कूजत पिक मानों गज माते। ढेंक महोख ऊँट बिसराते।—तुलसी।

महागनी-संज्ञा पुं० [अं०] भारत, मध्य अमेरिका और मेक्सिको आदि में होनेवाला एक प्रकार का बहुत बड़ा पेड़ जो सदा हरा रहता है। इसकी लकड़ी कुछ ललाई लिए भूरे रंग की, बहुत ही दृढ़ और टिकाऊ होती है और उस पर वार्निश बहुत खिलती है। यह लकड़ी बहुत महँगी बिकती है और प्रायः मेजें, कुर्सियाँ और सजावट के दूसरे सामान बनाने के काम में आती है।

महोच्छव*†-संज्ञा पुं० [सं० महोत्सव, प्रा० महोच्छव] बड़ा उत्सव। महोत्सव। उ०—मरना भला बिदेस का जहँ अपना नहिं कोय। जीव जंतु भोजन करैं सहज महोच्छव होय।—कबीर।

महोछा†-संज्ञा पुं० दे० "महोच्छव"।

महोटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती। कटैया।

महोटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती। कटैया।

महोती-संज्ञा स्त्री० [हिं० महुआ] महुए का फल। कुलेंदी।

महोल्का-संज्ञा पुं० [सं०] महोल्का। बड़ी उल्का।

महोत्संग-संज्ञा पुं० [सं०] सब से बड़ी संख्या।

महोत्सव-संज्ञा पुं० [सं०] बड़ा उत्सव।

महोदधि-संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

महोदय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० महोदया] (१) आधिपत्य। (२) स्वर्ग। (३) महाफल। (४) स्वामी। (५) कान्यकुब्ज। (६) बड़ों के लिए एक आदरसूचक शब्द। महाशय। महानुभाव।

महोदया-संज्ञा स्त्री० [सं०] नागबला। गँगेरन। गुलशकरी।

महोदर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक नाग का नाम। (२) एक राक्षस का नाम। (३) धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम। (४) शिव।

वि०—जिसका पेट बड़ा हो।

महोना–संज्ञा पुं० [हिं० मुंह] पशुओं के एक रोग का नाम जिसमें उनके मुँह और पैर पक जाते हैं।

महोबा–संज्ञा पुं० [देश०] बुंदेलखंड का एक प्राचीन नगर। यह हमीरपुर जिले में है और इस नाम की तहसील और परगने का प्रधान नगर है। यहाँ बहुत काल तक चंदेल राजाओं की प्रधान राजधानी थी और इस वंश के मूल पुरुष चंद्रवर्मा की छतरी का चिह्न अब तक रामकुंड के किनारे मिलता है। यहाँ प्राचीन दुर्ग अब तक वर्तमान है। पृथ्वीराज के समय में यहाँ परमाल नामक चंदेल राजा था जिसके यहाँ आल्हा और उदयन वा ऊदल नामक दो प्रसिद्ध वीर योद्धा थे। यहाँ का पान बहुत अच्छा होता है।

महोबी–वि० [हिं० महोबा+ई (प्रत्य०)] महोबे का।

महोदिया–वि० दे० "महोबी"।

महोबिहा–वि० दे० "महोबी"।

महोरग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ा साँप। (२) तगर का पेड़। (३) जैनियों के एक प्रकार के देवताओं का नाम। यह व्यंतर नामक देवगण के अंतर्गत हैं।

महोरस्क–वि० [सं०] जिसका वक्षःस्थल विशाल हो।

महोला*†–संज्ञा पुं० [अ० मुहेल] (१) हीला। बहाना। उ०—बाहर क्या देखराइये अंतर जपिये राम। कहा महोला खलक सों परेउ धनी से काम।—कबीर। (२) धोखा। चकमा। उ०—सती शूर तन ताइया तन मन कीया दान। दिया महोला पीव को तब मरहट करै बखान।—कबीर।

महोशिरीय–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

महौघ–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र की बाढ़। तूफान।

महौज–वि० [सं० महौजस्] अति तेजस्वी।

संज्ञा पुं० काल के पुत्र एक असुर का नाम।

महौजस्क–वि० [सं०] अति तेजस्वी। बहुत तेजवान्।

महौदवाहि–संज्ञा पुं० [सं०] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार एक आचार्य्य का नाम।

महौषध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूम्याहुल्य। भुंजित खर। (२) सोंठ। (३) लहसुन। (४) बाराहीकंद। गेठी। (५) वत्सनाभ। बछनाग। (६) पीपल। (७) अतीस।

महौषधि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूब। (२) लजालू। (३) संजीवनी। (४) कुछ विशिष्ट ओषधियों का समूह जिनका चूर्ण महास्नान वा अभिषेकादि के जल में मिलाया जाता है।

महौषधी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफेद भटकटैया। श्वेत कंटका। (२) ब्राह्मी। (३) कुटकी। (४) अतिबला। (५) हिलमोचिका।

मह्यत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

माँ–संज्ञा स्त्री० [सं० अंबा या माता] जन्म देनेवाली, माता। जननी। उ०—दोउ भया जेंवत माँ आगे। पुनि लै दधि खात कन्हाई और जननि पै माँगे।—सूर।

यौ०—माँ-जाया=सगा भाई। सहोदर।

‡ अव्य० [सं० मध्य] में। उ०—(क) इन युग माँ को बड़ सुखरासी। बोले तब रघुनाथ उदासी।—रघुनाथ। (ख) कहु गुरु द्रोह केर फल का है। तेरी गति सब शास्त्रन माँ है।—रघुराज। (ग) लख चौरासी धार माँ तहाँ दीन जिउ बास। चौदह जम रखवारिया चारि वेद विश्वास।—कबीर।

माँकड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मकड़ी] (१) दे० "मकड़ी"। (२) कमखाब बुननेवालों का एक औजार जिसमें डेढ़ डेढ़ बालिश्त की पाँच तीलियाँ होती हैं और नीचे तिरछे बल में इतनी ही बड़ी एक और तीली होती है। यह ठाठ सवा गज़ लंबी एक लकड़ी पर चढ़ा हुआ होता है जो करघे के लघे पर रखी जाती है। (३) पतवार के ऊपरी सिरे पर लगी हुई और दोनों ओर निकली हुई वह लकड़ी जिसके दोनों सिरों पर वे रस्सियाँ बँधी होती हैं, जिनकी सहायता से पतवार घुमाते हैं। (लश०) (४) जहाज में रस्से बाँधने के खूँटे आदि का वह बनाया हुआ ऊपरी भाग जिसमें लकड़ी या लोहा दोनों या चारों ओर इस अभिप्राय से निकाला हुआ रहता है, जिसमें उस खूँटे में बाँधा हुआ रस्सा ऊपर न निकल आवे। (ल०)

माँखण–संज्ञा पुं० [डिं०] मक्खन। नवनीत।

माँखना*†–क्रि० अ० [सं० मक्ष] क्रुद्ध होना। क्रोध करना। गुस्सा करना। वि०—दे० "माखना"।

माँखी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मक्खी"।

माँग–संज्ञा स्त्री० [हिं० माँगना] (१) माँगने की क्रिया या भाव। (२) बिक्री या खपत आदि के कारण किसी पदार्थ के लिए होनेवाली आवश्यकता या चाह। जैसे,—आजकल बाजार में देशी कपड़ों की माँग बढ़ रही है।

संज्ञा स्त्री० [सं० मार्ग ?] (१) सिर के बालों के बीच की वह रेखा जो बालों को दो ओर विभक्त करके बनाई जाती है। सीमंत।

विशेष—हिंदू सौभाग्यवती स्त्रियाँ माँग में सिंदूर लगाती हैं और इसे सौभाग्य का चिह्न समझती हैं।

यौ०—माँग चोटी=स्त्रियों का केशविन्यास। माँगजली=विधवा। राँड़।

मुहा०—माँग कोख से सुखी रहना या जुड़ाना=स्त्रियों का सौभाग्यवती और संतानवती रहना। उ०—आनँद अवनि राज रानी सब माँगहु कोखु जुड़ानी।—तुलसी। माँग पट्टी करना। केश विन्यास करना। बालों में कंघी करना। माँग पारना

या फारना=केशों को दो ओर करके बीच में माँग निकालना। माँग बाँधना=कंघी चोटी करना। (क०)
(२) किसी पदार्थ का ऊपरी भाग। सिरा। (क०) (३) सिल का वह ऊपरी भाग जो कूटा हुआ नहीं होता और जिस पर पीसी हुई चीज़ रखी जाती है। (४) नाव का गावदुमा सिरा (५) दे० "माँगी"।

माँग-टीका-संज्ञा पुं० [हिं० माँग+टीका] स्त्रियों का एक गहना जो माँग पर पहना जाता है और जिसके बीच में एक प्रकार का टिकड़ा होता है जो माथे पर लटका होने के कारण टीके के समान जान पड़ता है।

माँगन*†-संज्ञा पुं० [हिं० माँगना] (१) माँगने की क्रिया या भाव। (२) याचक। भिक्षुक। भिखमंगा। मंगन। उ०—(१) नृप करि विनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे।—तुलसी। (ख) रीति महाराज की निवाजिये जी माँगनो सो दोष दुख दारिद दरिद्र कै कै छोड़िये।—तुलसी।

माँगना-क्रि० स० [सं० मार्गण=याचना] (१) किसी से यह कहना कि तुम अमुक पदार्थ मुझे दो। कुछ पाने के लिए प्रार्थना करना या कहना। याचना करना। जैसे,—(क) मैंने उनसे १०) माँगे थे। (ख) तुम अपनी पुस्तक उनसे माँग लो। उ०—(क) सो प्रभु मोंसरिता तरिबे कहँ माँगत नाउ करारे ह्वै ठाढ़े।—तुलसी। (ख) माँगउँ दूसर बर कर जोरी।—तुलसी। (२) किसी से कोई आकांक्षा पूरी करने के लिए कहना। जैसे,—हम तो ईश्वर से दिन रात यही माँगते हैं कि आप नीरोग हों। उ०—माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।—तुलसी।

माँगफूल-संज्ञा पुं० दे० "माँग-टीका"।

मांगल गीत-संज्ञा पुं० [सं० मांगल्य गीत] वह शुभ गीत जो विवाह आदि मंगल के अवसरों पर गाए जाते हों।

मांगलिक-वि० [सं०] मंगल प्रकट करनेवाला। शुभ।
संज्ञा पुं० नाटक का वह पात्र जो मंगल-पाठ करता है।

मांगल्य-वि० [सं०] शुभ। मंगलकारक।
संज्ञा पुं० मंगल का भाव।

मांगल्यकाया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूब। (२) हलदी। (३) ऋद्धि। (४) गोरोचन। (५) हरें।

मांगल्यकुसुमा-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखपुष्पी।

मांगल्यप्रवरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वच।

मांगल्या-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गोरोचन। (२) शमी का वृक्ष। (३) जीवंती।

माँगी-संज्ञा स्त्री० [सं० मार्ग ? हिं० माँग] धुनियों की धुनकी में की वह लकड़ी जो उसकी उस डाँड़ी के ऊपर लगी रहती है जिस पर ताँत चढ़ाते हैं।

माँच-संज्ञा पुं० [देश०] (१) पाल में हवा लगने के लिए चलते हुए जहाज का रुख कुछ तिरछा करना। गोस (लश०) (२) पाल के नीचेवाले कोने में बँधा हुआ वह रस्सा जिसकी सहायता से पाल को आगे बढ़ाकर या पीछे हटाकर हवा के रुख पर करते हैं। (लश०)

माँचना*†-क्रि० अ० [हिं० मचना] (१) आरंभ होना। जारी होना। शुरू होना। उ०—देव गिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची।—तुलसी। (२) प्रसिद्ध होना। उ०—श्रीहरिदास के स्वामी स्याम कुंज बिहारी की अटल अटल प्रीति माँची।—काष्ठजिह्वा।

माँचा†-संज्ञा पुं० [सं० मंच, हिं० मंझा] [स्त्री० अल्पा० माँची] (१) पलंग। खाट। मंझा। (२) खाट की तरह की बुनी हुई छोटी पीढ़ी जिस पर लोग बैठते हैं। (३) मचान।

माँची-संज्ञा स्त्री० [हिं० माँचा] बैल-गाड़ियों आदि में बैठने की जगह के आगे लगी हुई वह जालीदार झोली जिसमें माल असबाब रखते हैं।

माँछ†-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—आइ सुगुन सगुनि अइताका। दहिउ माँछ रूपइकर टाका।—जायसी।
संज्ञा पुं० दे० "माँच"।

माँछना-क्रि० अ० [सं० मध्य ?] घुसना। धँसना। पैठना। (लश०)

माँछर†-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली।

माँछली†-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली।

माँछी-संज्ञा स्त्री० दे० "मक्खी"।

माँजना-क्रि० स० [सं० मज्जन] (१) जोर से मलकर साफ करना। किसी वस्तु से रगड़कर मैल छुड़ाना। जैसे, बरतन माँजना। (२) थपुवे के तवे पर पानी देकर उसे ठीक करने के लिए उसके किनारे झुकाना। (कुम्हार) (३) सरेस को पानी में पकाकर उससे तानी के सूत रँगना। (४) सरेस और शीशे की बुकनी आदि लगाकर पतंग की नख या डोर को दृढ़ करना। माँझा देना।
क्रि० अ० (१) अभ्यास करना। मश्क करना। जैसे, हाथ माँजना। (२) किसी गीत वा छंद को बार बार आवृत्ति करके पक्का करना।

माँजर*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० पंजर या पाँजर] हड्डियों की ठठरी। पंजर। उ०—झुर झुर माँजर धन भई बिरह की लागी आग।—जायसी।

माँजा-संज्ञा पुं० [देश०] पहली वर्षा का फेन जो मछलियों के लिए मादक होता है। उ०—(क) नयन सजल तन थर थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु माँपी।—तुलसी। (ख) तलफत विषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ व्यापा।—तुलसी।

मांजिष्ठ–वि० [सं० मंजिष्ठा] (१) मजीठ का सा। मजीठ के समान। (२) मजीठ के रंग का।
संज्ञा पुं० एक प्रकार का मूत्ररोग या प्रमेह जिसमें मजीठ के रंग का लाल पेशाब होता है।

माँझ†*–अव्य० [सं० मध्य] में। भीतर। बीच। अंदर। उ०—(क) ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ। सुरभी सबै लेहु आगे करि रैनि होइ पुनि बनही माँझ।—सूर। (ख) तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद। मो सन भिरिहि कवन योधा बद।—तुलसी। (ग) आपुन माँझ महोदर साँचे। क्यों तुम बीर विरोधनि राँचे।—केशव। (घ) रंज करि सौतिन मजेज त्यों निकेत माँझ, पर पति हेत सेज साँझ तें सँवारती।—प्रताप।
*† संज्ञा पु० (१) अंतर। फरक।
मुहा०—माँझ पड़ना या होना=बीच पड़ना। अंतर पड़ना। उ०—द्वादश बरष माँझ भयो तब ही पिता सेवा सावधान मन नीको कर आनिये।—प्रियादास।
(२) नदी के बीच में पड़ी हुई रेतीली भूमि।

माँझा–संज्ञा पुं० [सं० मध्य] (१) नदी के बीच की ज़मीन। नदी में का टापू। (२) एक प्रकार का आभूषण जो पगड़ी पर पहना जाता है। उ०—पैर में लेगर, पाग पर माँझा आदि यावत् प्रतिष्ठा बख़्शता हूँ।—राधाकृष्णदास। (३) एक प्रकार का ढाँचा जो गोड़ई के बीच में रहता है और जो पाई को ज़मीन पर गिरने से रोकता है। (जुलाहे) (४) वृक्ष का तना। (५) वे पीले कपड़े जो कहीं कहीं वर और कन्या को विवाह से दो तीन दिन पहले हलदी चढ़ने पर पहनाए जाते हैं।
संज्ञा पुं० [हिं० माँजना] पतंग या गुड्डी उड़ाने के डोरे या नख पर सरेस और शीशे के चूरे आदि से चढ़ाया जानेवाला कलफ जिससे डोरे या नख में मज़बूती आती है।
क्रि० प्र०—चढ़ाना।—देना।
संज्ञा पुं० दे० "मंझा"।

माँझिल*†–क्रि० वि० [सं० मध्य] बीच का। मध्य का। बीचवाला। उ०—बोला माँझिल तल्प तुरंग तेंतीस जू। लावहु मम हित माँगि ग्राम गुरु बीस जू।—विश्राम।

माँझी–संज्ञा पुं० [सं० मध्य, हिं० माँझ ?] (१) नाव खेनेवाला। केवट। मल्लाह। (२) दो व्यक्तियों के बीच में पड़कर मामला ते करा देनेवाला। उ०—सँवरि रकत नैनन भरि चुवा। रोइ हँकारेसि माँझी सुवा।—जायसी। (३) जोरावर। बलवान्। (डिं०)

माँट*†–संज्ञा पुं० [सं० मट्टक] (१) मिट्टी का बड़ा बरतन जिसमें अनाज या पानी आदि रखते हैं। मटका। कुंडा। उ०—(क) पुनि कमंडलु धऱ्यो तहाँ सो बढ़ि गयो कुंभ धरि बहुरि पुनि माँट राख्यो।—सूर। (ख) मानो नील माँट महँ बोरे लै यमुना जु पखारे।—सूर। (२) घर का ऊपरी भाग। अटारी।

माँठ–संज्ञा पुं० [सं० मट्टक] (१) मटका। कुंडा। मिट्टी का बड़ा बरतन। (२) नील घोलने का मिट्टी का बना बड़ा बरतन।

माँठी*–संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) एक प्रकार की फूल धातु की ढली हुई चूड़ियाँ जो पूरब में नीच जाति की स्त्रियाँ हाथ में कलाई से लेकर कोहनी तक पहनती हैं। इसे 'मठिया' भी कहते हैं। (२) मट्ठी या मठरी नामक पकवान जो मैदे का बना होता है।

माँड़–संज्ञा पुं० [सं० मंड] पकाए हुए चावलों में से निकला हुआ लसदार पानी। भात का पसेव। पीच। पसाव।
संज्ञा स्त्री० [हिं० माँड़ना] माँड़ने की क्रिया या भाव।
संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का राग।

माँड़ना*†–क्रि० स० [सं० मंडन] (१) मर्दन करना। मलना। मसलना। मींजना। सानना। गूँधना। जैसे, आटा माँड़ना। उ०—तब पीसै जब पहिले धोये। कापर-छान माँड़ भल होये।—जायसी। (२) लगाना। पोतना। लेपन करना। जैसे, मुँह में केसर वा गुलाब माँड़ना। (३) रचना। बनाना। सजाना। (४) किसी अन्न की बाल में से दाने झाड़ना। उ०—माँड़ि माँड़ि खरिहान क्रोध को फोता भजन भरावैं। (५) मचाना। ठानना। उ०—और मंत्र कछु उर जनि आनो आजु सुकवि रन माँड़हि।—सूर।

माँडनी–संज्ञा स्त्री० [सं० मंडन] संजाफ। मगजी। गोट। हाशिया। किनारा। उ०—(क) अँगिया नील माँडनी राती निरखत नैन चुराइ।—सूर। (ख) नील कंचुकी माँडनि लाल। भुजनि नवइ आभूषण माल।—सूर।

माँड्यो*†–संज्ञा पुं० [सं० मंडप] (१) आगंतुक लोगों के ठहरने का स्थान। अतिथिशाला। (२) विवाहादि के घर में वह स्थान जहाँ संपूर्ण आहूत देवताओं का स्थापन किया जाता है। (३) विवाह का मंडप। मँड़वा। उ०—आए नाथ द्वारिका नीके रच्यो माँड्यो छाय। ब्याह केलि बिधि रची सकल सुख सौंजगनी नहिं जाय।—सूर।

मांडलिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी मंडल या प्रांत की रक्षा अथवा शासन करता हो। (२) वह छोटा राजा जो किसी सार्वभौम या चक्रवर्ती राजा के अधीन हो और उसे कर देता हो। (३) शासन कार्य।

माँड़व–संज्ञा पुं० [सं० मंडप] विवाह आदि अथवा दूसरे शुभ कृत्यों के लिए छाया हुआ मंडप। उ०—(क) आलेहि बाँस के माँड़व मनिगन पूरन हो। मोतिन झालर लागि चहूँ दिसि झूलन हो।—तुलसी। (ख) गुनि गन कहेउ नृप माँड़व छावन। गावहिं गीत सुआसिनि बाज बधावन।—तुलसी।

मांडवी-संज्ञा स्त्री० [सं० माण्डवी] राजा जनक के भाई कुशध्वज की कन्या जो भरत को ब्याही थी। उ०—मांडवी चित्तचातक नवांबुदबरन सरन तुलसीदास अभयदाता।—तुलसी।

मांडव्य-संज्ञा पुं० [सं० माण्डव्य] (१) एक प्राचीन ऋषि जिनको बाल्यावस्था के किए हुए पाप के अपराध के कारण यमराज ने शूली चढ़वा दिया था। इस पर ऋषि ने यमराज को शाप दिया कि तुम शूद्र हो जाओ, जिससे यमराज दासी के गर्भ से पंडु के यहाँ उत्पन्न हुए थे। उ०—विदुर सुधर्मराइ अवतार। ज्यों भयो कहौं सुनो चितधार। मांडव्य ऋषि जब शूली दयो। तब सो काठ हन्यो ह्वै गयो।—सूर। (२) एक प्राचीन जाति का नाम। (३) एक प्राचीन नगर का नाम।

माँड़ा-संज्ञा पुं० [सं० मंड] आँख का एक रोग जिसमें उसके ऊपरी पर्दे के अंदर महीन झिल्ली सी पड़ जाती है। इस झिल्ली का रंग चावल के माँड़ के समान होता है और इसके कारण रोगी को दिखाई नहीं पड़ता। यह औषधोपचार या शस्त्र-क्रिया से निकाला भी जाता है।

संज्ञा पुं० [सं० मंडप] मंडप। मँड़वा।

संज्ञा पुं० [हिं० माँड़ना=गूँधना] (१) एक प्रकार की बहुत पतली रोटी जो मैदे की होती और घी में पकती है। लुचई। उ०—(क) मुर्दा दोजख में जाय या बिहिश्त में, हमें तो अपने हलुवे माँड़े से काम है। (कहावत) (ख) काकी भूख गई बयारि भख बिना दूध घृत माँड़े।—सूर। (२) एक प्रकार की रोटी जो तवे पर थोड़ा घी लगाकर पकाई जाती है। पराँठा। उल्टा।

माँड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मंड] (१) भात का पसावन। पीच। माँड़। (२) कपड़े या सूत के ऊपर चढ़ाया जानेवाला कलफ़, जो भिन्न भिन्न कामों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से तैयार किया जाता है।

विशेष—यह माँड़ी आटे, मैदे, अनेक प्रकार के चावलों तथा कुछ चीजों से तैयार की जाती है और प्रायः लेई के रूप में होती है। कपड़ों में इसकी सहायता से कड़ापन या करारापन लाया जाता है।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

मांडूक-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के ब्राह्मण जो वैदिक मंडूक शाखा के अंतर्गत होते थे।

मांडूकायनि-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य का नाम।

मांडूक्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

वि० मंडूक संबंधी।

माँड़ो*†-संज्ञा पुं० [सं० मंडप] विवाह का मंडप। मँड़वा। उ०—माँड़ो गड्यो रंग-मंदिर के आँगन बेद विधाना। ता ऊपर जरकसी रज्जु मणिमय विशद बिताना।—रघुराज।

माँढ़ा-संज्ञा पु० दे० "माँड़व"।

माँत*-वि० [सं० मत्त] (१) उन्मत्त। मस्त। मत्त। बेसुध। (२) दीवाना। पागल।

वि० [हिं० माता या सं० मंद] (१) बे-रौनक। उदास। बदरंग। उ०—पड़ा माँत गोरख कर चेला। जिव तन छाँड़ि स्वर्ग कहँ खेला।—जायसी। (२) हारा हुआ। पराजित। मात।

माँतना*†-क्रि० अ० [सं० मत्त+ना (प्रत्य०)] उन्मत्त होना। पागल होना।

माँता*†-वि० [सं० मत्त] मतवाला। उन्मत्त।

मांत्र-वि० [सं०] मंत्र संबंधी। मंत्र का।

मांत्रिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मंत्रों का पाठ करने में पारंगत हो। (२) वह जो तंत्र-मंत्र का काम करता हो।

माँथ†-संज्ञा पुं० [सं० मस्तक] माथा। सिर।

माँथबंधन-संज्ञा पुं० [हिं० माँथ+बंधन] (१) सूत या ऊन की डोरी जिससे स्त्रियाँ सिर के बाल बाँधती हैं। पराँदा। चबकी। चँवरी। (२) सिर पर लपेटने या बाँधने का कपड़ा। जैसे, पगड़ी, साफा आदि।

माँद-वि० [सं० मंद] (१) बेरौनक। उदास। बदरंग। (२) किसी के मुकाबले में फीका, खराब या हलका।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—होना।

(३) पराजित। हारा हुआ। मात।

संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) गोबर का वह ढेर जो पड़ा पड़ा सूख जाता है और जो प्रायः जलाने के काम आता है। इसकी आँच उपलों की आँच के मुकाबले में मंद या धीमी होती है। (२) हिंसक जंतुओं के रहने का विवर। बिल। गुफा। घर। खोह।

मांद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तालाब का जल। (२) ग्रहों की रवि या चंद्र संबंधी नीचोच्च या मंदोच्च गति।

माँदगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) बीमारी। रोग। (२) थकावट।

माँदर-संज्ञा पुं० [हिं० मर्दल] मृदंग का एक भेद जिसे मर्दल कहते हैं। उ०—बाजहिं ढोल दुंदुभि औ भेरी। माँदर तूर झाँझ चहुँ फेरी।—जायसी।

माँदा-वि० [फ़ा० मांदः] (१) थका हुआ। (२) बचा हुआ। बाकी। अवशिष्ट।

संज्ञा पुं० रोगी। बीमार।

मांदार-वि० [सं०] मंदार संबंधी। मंदार का।

मांदार्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो विषयों या राग-द्वेष आदि से परे हो गया हो। वीतराग।

मांद्य-संज्ञा पु० [सं०] (१) कमी। न्यूनता। घटी। (२) मंद होने की क्रिया या भाव। जैसे, अग्नि-मांद्य। (३) रोग। बीमारी।

मांधाता-संज्ञा पुं० [सं० मांधातृ] एक प्राचीन सूर्यवंशी राजा जो युवनाश्व का पुत्र था और जिसकी राजधानी अयोध्या में थी। कहते हैं कि राजा युवनाश्व कोई संतान न होने पर भी संसार त्यागकर वन में ऋषियों के साथ रहने लगा था। ऋषियों ने उस पर दया करके उसके घर संतान होने के लिए यज्ञ किया। आधी रात के समय जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब ऋषियों ने एक घड़े में अभिमंत्रित जल भरकर वेदी में रख दिया और आप सो गए। रात के समय जब युवनाश्व को बहुत अधिक प्यास लगी, तब उसने उठकर वही जल पी लिया जिसके कारण उसे गर्भ रह गया। समय पाकर उस गर्भ से दाहिनी कोख फाड़कर एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो यही मांधाता था। इंद्र ने इसे अपना अँगूठा चुसाकर पाला था। आगे चलकर यह बड़ा प्रतापी और चक्रवर्ती राजा हुआ था और इसने शशविंदु की कन्या विंदुमती के साथ विवाह किया था, जिसके गर्भ से इसे पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचुकुंद नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। उ०—कह्यो मांधाता सों जाइ। पुत्री एक देहु मोहिं राइ।—सूर।

माँपना*†-क्रि० अ० [हिं० मातना] नशे में चूर होना। उन्मत्त होना। उ०—नयन सजल तन थरथर काँपी। माँजहिं खाइ मीन जनु माँपी।—तुलसी।

क्रि० स० दे० "मापना"।

माँयँ-अव्य० [सं० मध्य, हिं० माँझ] में। बीच। मध्य। अंदर। उ०—बरष एक के माँयँ एकादशी चौबिस परैं। सुनो सबन के नाँयँ, फल समेत वर्णन कए।—विश्राम।

मांस-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों और पशुओं आदि के शरीर के अंतर्गत वह प्रसिद्ध चिकना, मुलायम, लचीला, लाल रंग का पदार्थ जो शरीर का एक मुख्य अवयव है और जो रेशेदार तथा चरबी मिला हुआ होता है। शरीर का यह अंश हड्डी, चमड़े, नाड़ी, नस और चरबी आदि से भिन्न है। इसका एक अंश कंकाल से लगा हुआ छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा रहता है और वह ऐच्छिक कहलाता है; अर्थात् इच्छानुसार उसका संचालन किया जा सकता है। ये टुकड़े आपस में सूत्रों के द्वारा जुड़े रहते हैं और उन सूत्रों के हटाने पर सहज में अलग हो सकते हैं। इन टुकड़ों को मांसपेशी कहते हैं। ये मांसपेशियाँ छोटी, बड़ी, पतली, मोटी आदि अनेक प्रकार की होती हैं। आशयों, नलियों, मार्गों और हृदय आदि अंगों का मांस पेशियों में विभक्त नहीं होता। इन अंगों में माँस की केवल पतली या मोटी तहें रहती हैं। जो आपस में एक दूसरी से बिलकुल मिली हुई होती हैं। ऐसा मांस अनैच्छिक या स्वाधीन कहलाता है; अर्थात् इच्छानुसार उसका संचालन नहीं किया जा सकता। मांस अथवा मांस-पेशी मुलायम होने के कारण चाकू आदि से सहज में कट जाती है। शरीर में सभी जगह थोड़ा बहुत माँस रहता है औ शरीर के भार में उसका अंश प्रति सैकड़े ४२-४३ के लगभग होता है। शरीर की सब प्रकार की गतियाँ मांस के ही द्वारा होती हैं। मांस आवश्यकता पड़ने पर सिकुड़कर छोटा और मोटा होता है और फिर अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है। सुश्रुत के अनुसार मांसपेशियों की संख्या ५०० तथा आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों के मत से ५१९ हैं। वैद्यक के अनुसार यह रक्त से उत्पन्न तीसरी धातु है। भावप्रकाश के अनुसार जब शरीर की अग्नि अथवा ताप के द्वारा रक्त का परिपाक होता है और वह वायु के संयोग से घनीभूत होता है, तब वह मांस का रूप धारण करता है। वैद्यक के अनुसार साधारणतः सभी प्रकार का मांस वायुनाशक, उपचयकारक, बलवर्धक, पुष्टिकारक, गुरु, हृदयग्राही और मधुर-रस होता है। गोश्त।

पर्य्या०—आमिष। पिशित। पालल। क्रव्य। पल। आस्रज।

यौ०—मांस का घी=चरबी।

(२) कुछ विशिष्ट पशुओं के शरीर का उक्त अंश जो प्रायः खाया जाता है। गोश्त।

विशेष—हमारे यहाँ यह मांस दो प्रकार का माना गया है—जांगल और अनूप। जंघाल, विलस्थ, गुहाशय, पर्णमृग, विष्किर, प्रतुद, प्रसह और ग्राम्य इन आठ प्रकार के जंगली जीवों का मांस जांगल कहलाता है; और वैद्यक के अनुसार मधुर, कषाय, रूक्ष, लघु, बलकारक, शुक्रवर्धक, अग्निदीपक; दोषघ्न और बधिरता, अरुचि, वमि, प्रमेह, मुखरोग, श्लीपद और गलगंड आदि का नाशक माना जाता है। कुलेचर, प्लव, कोशस्थ, पादी और मत्स्य इन पाँच प्रकार के जीवों का मांस आनूप कहलाता है; और वैद्यक के अनुसार साधारणतः मधुर रस, स्निग्ध, गुरु, अग्नि को मंद करनेवाला, कफकारक तथा मांसपोषक होता है। पक्षियों में से पुरुष जाति अथवा नर का और चौपायों में स्त्री जाति अथवा मादा का मांस अच्छा कहा गया है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न जीवों के मांस के गुण भी भिन्न भिन्न होते हैं। साधारणतः प्रायः सभी देशों और सभी जातियों में कुछ विशिष्ट पशुओं, पक्षियों और मछलियों आदि का मांस बहुत अधिकता से खाया जाता है। पर भारत के कुछ धार्मिक संप्रदायों के अनुसार मांस खाना बहुत ही निषिद्ध है। पुराणों में इसका खाना पाप माना गया है। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों और चिकित्सकों आदि का मत है कि मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है और उसके खाने से अनेक प्रकार के घातक तथा असाध्य रोग उत्पन्न होते हैं।

यौ०—मांसाहारी।

संज्ञा पुं० दे० "मास"।

मांसकच्छप–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का रोग जो तालू में होता है।

मांसकारी–संज्ञा पुं० [सं० मांसकारिन्] रक्त। लहू।

मांसकीलक–संज्ञा पुं० [सं०] बवासीर का मसा।

मांसकेशी–संज्ञा पुं० [सं० मांसकेशिन्] वह घोड़ा जिसके पैरों में मांस के गुठले निकलते हों।

मांसखोर–संज्ञा पुं० [सं० मांस+फा० खोर] मांस खानेवाला। मांसाहारी।

मांसग्रंथि–संज्ञा स्त्री० [सं०] मांस की गाँठ जो शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में निकल आती है।

मांसच्छद–संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी या मांसी नाम की लता।

मांसज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस से उत्पन्न हो। (२) मांस से उत्पन्न शरीर में की चर्बी।

मांसतान–संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का भीषण रोग जिसमें गले में सूजन होकर चारों ओर फैल जाती है और जिसमें बहुत अधिक पीड़ा होती है। इसमें कभी कभी गले की नाड़ी घुटकर बंद हो जाती है और रोगी मर जाता है।

मांसतेज–संज्ञा पुं० [सं० मांसतेजस्] चर्बी।

मांसद्रावी–संज्ञा पुं० [सं० मांसद्राविन्] अम्लबेत।

मांसधरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के चमड़े की सातवीं तह जो स्थूलापर भी कहलाती है।

मांसपाक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लिंग का रोग जिसमें लिंग का मांस फट जाता है और उसमें पीड़ा होती है।

मांसपिंड–संज्ञा पुं० [सं०] शरीर। देह।

मांसपिंडी–संज्ञा स्त्री० [सं० मांसपिंड] शरीर के अंदर होनेवाली मांस की गाँठ। (कहते हैं कि पुरुषों के शरीर में इस प्रकार की ५०० और स्त्रियों के शरीर में ५२० गाँठें होती हैं।)

मांसपित्त–संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी।

मांसपुष्पिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का पौधा जिसमें सुंदर फूल लगते हैं और जिसे "भ्रमरारि" भी कहते हैं।

मांसपेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर के अंदर होनेवाला मांस-पिंड। वि० दे० "मांस"। (२) भावप्रकाश के अनुसार गर्भ की वह अवस्था जो गर्भ-धारण के सात दिनों के बाद होती है और प्रायः एक सप्ताह तक रहती है।

मांसफल–संज्ञा पुं० [सं०] तरबूज।

मांसफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] भिंडी।

मांसभक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मांस खाता हो। मांसाहारी। (२) पुराणानुसार एक दानव का नाम।

मांसभक्षी–संज्ञा पुं० [सं० मांसभक्षिन्] मांस खानेवाला। मांसाहारी। गोश्तखोर।

मांसभोजी–संज्ञा पुं० [सं० मांसभोजिन्] मांस खानेवाला। मांसाहारी।

मांसमंड–संज्ञा पुं० [सं०] मांस का झोल या रसा। शोरबा। यख़नी।

मांसमासा–संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी।

मांसयोनि–संज्ञा पुं० [सं०] रक्त-मांस से उत्पन्न जीव।

मांसरक्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी। रोहिणी।

मांसरज्जु–संज्ञा स्त्री० [सं०] सुश्रुत के अनुसार शरीर के अंदर होनेवाले स्नायु जिनसे मांस बँधा रहता है। (२) मांस का रसा। शोरबा।

मांसरस–संज्ञा पुं० [सं०] मांस का रसा। यख़नी। शोरबा।

मांसरुहा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मांसरोहिणी।

मांसरोहिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का जंगली वृक्ष जिसकी प्रत्येक डाली में खिरनी के पत्तों के आकार के सात सात पत्ते लगते हैं और जिसके फल बहुत छोटे छोटे होते हैं। वैद्यक में इसे उष्ण, त्रिदोषनाशक, वीर्य्यवर्धक, सारक और व्रण के लिए हितकारी माना है।

पर्या०—अतिरुहा। वृत्ता। चर्मकषा। वसा। प्रहावरवल्ली। विकशा। वीरवती। अग्निरुहा। कशामांसी। महामांसी। मांसरोहा। रसायनी। सुलोमा। लोमकर्णी। रोहिणी। चंद्रवल्लभा।

मांसल–वि० [सं०] (१) मांस से भरा हुआ। मांसपूर्ण। (अंग) जैसे, चूतड़, जाँघ आदि। (२) मोटा ताजा। पुष्ट। (३) बलवान्। मजबूत। दृढ़।

संज्ञा पुं० (१) काव्य में गौड़ी रीति का एक गुण। (२) उड़द।

मांसलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मांसल होने का भाव। (२) स्थूलता और पुष्टि।

मांसलफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भिंडी। (२) तरबूज।

मांसलिप्त–संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी।

मांसवारुणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार की मदिरा जो हिरन आदि के मांस से बनाई जाती है।

मांसविक्रयी–संज्ञा पुं० [सं० मांसविक्रयिन्] (१) वह जो मांस बेचता हो। कसाब। (२) वह जो धन के लिए अपनी कन्या या पुत्र बेचता हो।

मांसवृद्धि–संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के किसी अंग के मांस का बढ़ जाना। जैसे, घेघा, फीलपाँव आदि।

मांससंघात–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें तालू में कुछ दूषित मांस बढ़ जाता है। इसमें पीड़ा नहीं होती।

मांससमुद्भवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] चर्बी।

मांससार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शरीर के अंतर्गत मेद नामक धातु। (२) वह जो हृष्ट पुष्ट हो।

मांसस्नेह–संज्ञा पुं० [सं०] चर्बी।

मांसहासा–संज्ञा पुं० [सं०] चमड़ा।

मांसाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो माँस खाता हो। (२) राक्षस।

मांसारि–संज्ञा पुं० [सं०] अम्लबेत।

मांसार्बुद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें लिंग के ऊपर कड़ी फुंसियाँ सी हो जाती हैं। (२) शरीर में मुक्के आदि के आघात से होनेवाली एक प्रकार की सूजन जिसमें वह स्थान पत्थर के समान कड़ा हो जाता है और उसमें पीड़ा नहीं होती। ऐसी सूजन असाध्य मानी जाती है।

मांसाशन–संज्ञा पुं० दे० "मांसाशी"।

मांसाशी–संज्ञा पुं० [सं० मांसाशिन्] (१) वह जो मांस खाता हो। मांसाहारी। (२) राक्षस।

मांसाष्टका–संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ कृष्ण अष्टमी। प्राचीन काल में इस दिन मांस के बने हुए पदार्थों से श्राद्ध करने का विधान था।

मांसाहारी–संज्ञा पुं० [सं० मांसाहारिन्] मांसभक्षी। मांस भोजन करनेवाला।

मांसिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जटामाँसी।

मांसी–वि० [सं० माष] उर्द के रंग का।

संज्ञा पुं० उर्द के रंग के समान एक प्रकार का हरा रंग।

मांसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी। (२) काकोली। (३) मांसरोहिणी। (४) चंदन आदि का तेल। (५) इलायची।

माँसु*–संज्ञा पुं० दे० "मांस"। उ०—जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नैनन आँसू।—जायसी।

माँह*†–अव्य० [सं० मध्य] में। बीच। अंदर। भीतर।

माँहा*†–अव्य० दे० "माँह"।

माँहिं, माहीं*†–अव्य० दे० "माँह"।

माँहै*†–अव्य० दे० "माँह"।

मा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी उ०—सिंधु सुता मा इंदिरा विष्णु-वल्लभा सोइ।—अने०। (२) माता। (३) ज्ञान। (४) दीप्ति। प्रकाश।

माइँ, माई–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] छोटा पूआ जिससे विवाह में मातृपूजन किया जाता है।

मुहा०—**माइँन में थापना**=पितरों के समान आदर करना। उ०—जौ लौं हौं जीवन भर जीवों सदा नाम तुव जपिहौं। दधि ओदन दोना करि देहौं अरु माइँन में थपिहौं।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [अनु०] पुत्री। लड़की। कन्या।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मामा] मामा की स्त्री। मामी।

माइ*†–संज्ञा स्त्री० दे० "माई"। उ०—(क) तब पूछियो रघुराइ। सुख है पिता तन माइ।—केशव। (ख) मेरे गुरु को धनुष यह सीता मेरी माइ।—केशव।

माइका–संज्ञा पुं० [सं० मातृ+गृह] स्त्री के लिए उसके माता-पिता का घर। नैहर। उ०—(क) और तो मोंहि सबै सुख री दुख री यहै माइके जान न देत है।—पद्माकर। (ख) बैठी हुती तिय माइके में ससुरारि को काहू सँदेस सुनायो।—मतिराम।

माई–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१ माता। जननी। माँ।

यौ०—**माई का लाल**=(१) उदार चित्तवाला व्यक्ति। उ०—क्या फिर कोई देवनंदन जैसा माई का लाल न जनमेगा।—अयोध्या। (२) वीर। शूर। बली। शक्तिवान्। उ०—(क) क्या ऐसा कोई माई का लाल नहीं है जो मुझको इनके हाथों से बचावे।—अयोध्या। (ख) एक बार एक पंजाबी हाजी को बद्दुओं ने घेर लिया। उसने अपनी कमर से रुपये निकालकर सामने रख दिये और ललकार कर कहा कि कोई माई का लाल हो, तो इसे मेरे सामने से ले जाय।—सरस्वती।

(२) बूढ़ी वा बड़ी स्त्री के लिए आदरसूचक शब्द। उ०—(क) सत्य कहौं मोहिं जान दे माई।—तुलसी। (ख) कहहिं झूठ फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई।—तुलसी। (ग) सीय स्वयंवरु माई दोउ भाई आये देखन।—तुलसी।

माउल्लहम–संज्ञा पुं० [अ०] हिकमत में मांस का बना हुआ एक प्रकार का अरक जो बहुत अधिक पुष्टिकारक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्रायः जाड़े के दिनों में शरीर का बल बढ़ाने के लिए होता हो।

माकंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आम का वृक्ष। (२) दे० "मानकंद"।

माकंदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आँवला। (२) महाभारत काल के एक गाँव का नाम।

विशेष—युधिष्ठिर ने दुर्योधन से जो पाँच गाँव माँगे थे, उनमें से एक यह भी था।

(३) पीला चंदन।

माकरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मरुआ।

माकरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] माघ शुक्ला सप्तमी जो एक पुण्यतिथि मानी जाती है।

माकलि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) इंद्र के सारथी मातलि का एक नाम।

माकुली–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप।

माकूल–वि० [अ०] (१) उचित। वाजिब। ठीक। (२) लायक। योग्य। (३) यथेष्ट। पूरा। (४) अच्छा। बढ़िया। (५) जिसने वाद-विवाद में प्रतिपक्षी की बात मान ली हो। जो निरुत्तर हो गया हो।

माक्षिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शहद । मधु । (२) सोनामक्खी । (३) रूपामक्खी ।

माक्षिकज-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

माक्षिकांत-संज्ञा पुं० [सं०] माधवी नामक मद्य । महुए की शराब ।

माक्षिकाश्रय-संज्ञा पुं० [सं०] मोम ।

माक्षीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु । शहद । (२) सोनामक्खी । (३) रूपामक्खी ।

माख*-संज्ञा पुं० [सं० मक्ष] (१) अप्रसन्नता । नाराजगी । नाखुशी । क्रोध । रिस । उ०—(क) देखेउँ आय जो कछु कपि भाखा । तुम्हरे लाज न रोष न माखा ।—तुलसी । (ख) लीबे को लाख करै अभिलाष करै कहूँ माख परै कबहूँ हँसि ।—बेनी । (२) अभिमान । घमंड । (३) पछतावा । (४) अपने दोष को ढकना ।

माखन-संज्ञा पुं० दे० "मक्खन" । उ०—(क) माखन ते मन कोमल है यह जानि त जानति कौन कठोर है ।—आनंदघन । (ख) ता खिन ते इन आँखिन ते न कढ़ो वह माखन चाखन-हारो ।—पद्माकर । (ग) माखन सो मेरे मोहन को मन काठ सी तेरी कठेठी ये बातैं ।—केशव ।

यौ०—माखनचोर=श्रीकृष्ण ।

माखना*†-क्रि० अ० [हिं० माख] अप्रसन्न होना । नाराज होना । क्रोध करना । उ०—(क) अब जनि कोउ माखइ भट मानी । बीर-बिहीन मही मैं जानी ।—तुलसी । (ख) माखे लखन कुटिल भइँ भौंहैं । रदपुट फरकत नैन रिसौंहैं ।—तुलसी । (ग) पत्र सुनत रतनावती मुंडन कीन्ह्यो केश । सुनत माखि मारन चह्यौ रतनावतिहिं नरेश ।—रघुराज । (घ) कछू न थिरता लहै छनक रीझै छन माखै ।—व्यास ।

माखी*†-संज्ञा स्त्री० [सं० माक्षिक] (१) मक्खी । उ०—(क) दूध की माखी उजागर बीर सो हाय मैं आँखिन देखत खाई ।—ठाकुर । (ख) चंदन पास न बैठे माखी ।—जायसी । (ग) भामिनि भइउ दूध कर माखी ।—तुलसी । (२) सोनामक्खी ।

मागध-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन जाति जो मनु के अनुसार वैश्य के वीर्य्य से क्षत्रिय कन्या के गर्भ से उत्पन्न है । इस जाति के लोग वंशक्रम से विरुदावली का वर्णन करते हैं और प्रायः "भाट" कहलाते हैं । उ०—(क) मागध बंदी सूत गण बिरद बदहिं मतिधीर ।—तुलसी । (ख) मागध बंशावली बखाना ।—रघुराज । (२) जरासंध का एक नाम । उ०—मागध मगध देश तें आयो लीन्हें फौज अपार ।—सूर । (३) जीरा । (४) पिप्पलीमूल ।

वि० [सं० मगध] मगध देश का ।

मागधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मागध । भाट । (२) मगध देश का निवासी ।

मागधपुर-संज्ञा पुं० [सं०] मगध की पुरानी राजधानी, राजगृह ।

मागधिक-वि० [सं०] मगध देश संबंधी । मगध का ।

मागधिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पिप्पली । पीपल ।

मागधी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मगध देश की प्राचीन प्राकृत भाषा । (२) जूही । यूथिका । (३) शकर । चीनी । (४) छोटी पीपल । पिप्पली । (५) छोटी इलायची ।

माघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्यारहवाँ चांद्र मास जो पूस के बाद और फागुन से पहले पड़ता है । उ०—माघ मकरगत रबि जब होई । तीरथपतिहिं आव सब कोई ।—तुलसी । (२) संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि का नाम । (३) उपर्युक्त कवि का बनाया हुआ एक प्रसिद्ध काव्यग्रंथ जिसमें कृष्ण-द्वारा शिशुपाल का वध वर्णन किया गया है ।

संज्ञा पुं० [सं० माघ्य] कुंद का फूल । उ०—मुसुकान कढ़हिं रद माघ से फाल्गुन सो शोभा महत ।—गोपाल ।

माघी-संज्ञा स्त्री० [सं० माघ+ई] माघ मास की पूर्णिमा जो मघा नक्षत्र से युक्त होती है । कहते हैं कि कलियुग का आरंभ इसी तिथि को हुआ था ।

वि० माघ का । जैसे, माघी मिर्च ।

माघ्य-संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का फूल ।

माच*†-संज्ञा पुं० दे० "मचान" । उ०—जब यदुपति कुल कंसहिं मार्‌यो । तिहूँ भुवन भयो सोर पमार्‌यो । तुरत माच तें धरनि गिरायो ऐसेहि मारत विलम न लायो ।—सूर ।

संज्ञा पुं० [सं०] मार्ग । रास्ता ।

माचना*†-क्रि० स० दे० "मचना" । उ०—(क) इमि संगर माचत भयो मधुबन के सब ओर ।—गोपाल । (ख) द्वादस दिवस चहूँ दिसि माच्यो फागु सकल ब्रज माँझ ।—सूर । (ग) बंदौं कौसल्या दिसि प्राची । कीरति जासु सकल जग माची ।—तुलसी । (घ) कहै पदमाकर त्यों तिनकी अवाइन के, माचि रहे जोर सुरलोकन में सोर है ।—पद्माकर ।

माचल*†-वि० [हिं० मचलना] (१) मचलनेवाला । जिद्दी । हठी । उ०—महा माचल मारिबे की सकुच नाहिन मोहिं । पर्‌यौ हौं प्रण किये द्वारे लाज प्रण की तोहिं ।—सूर । (२) मचला ।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) ग्रह । (२) रोग । बीमारी । (३) बंदी । कैदी । (४) चोर ।

माचा†-संज्ञा पुं० [सं० मंच] बैठने की पीढ़ी जो खाट की तरह बुनी होती है । बड़ी मचिया ।

माचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मक्खी । (२) अमड़े का वृक्ष ।

माची†-संज्ञा स्त्री० [सं० मंच] (१) हल जोतने का जुआ । वह जुआ जो हल जोतते समय बैलों के कंधे पर रखा जाता है । (२) बैल-गाड़ी में वह स्थान जहाँ गाड़ीवान् बैठता और

अपना सामान रखता है। (३) बैठने की वह पीढ़ी जो खाट की तरह बुनी हुई होती है।

माचीक-संज्ञा पुं० [सं०] देवदार।

माचीपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जिसे सुरपर्ण भी कहते हैं।

माछ†-संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—चारा मेलि धरा जस माछू।—जायसी।

माछर*†-संज्ञा पुं० दे० "मच्छड़"।

संज्ञा पुं० [सं० मत्स्य] मछली। उ०—वह कैलास इंद्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछर माँसू।—जायसी।

माछी†-संज्ञा स्त्री० [सं० माक्षिका] (१) मक्खी। उ०—काँची रोटी कुचकुची परती माछी बार। फूहर वही सराहिये परसत टपकै लार।—गिरधर। (२) बंदूक की मछिया।

वि०—दे० "मछिया"।

‡-संज्ञा स्त्री० [सं० मत्स्य] मछली। (क्व०)।

माजरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) हाल। वृत्तांत। (२) घटना।

माजू-संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की झाड़ी जो यूनान और फारस आदि देशों में बहुतायत से होती है। इसकी आकृति सरो की सी होती है। इसकी डालियों पर से एक प्रकार का गोंद निकलता है जो "माजूफल" कहलाता है और जिसका व्यवहार रंग तथा ओषधि के लिए होता है।

माजून-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) औषध के रूप में काम आनेवाला कोई मीठा अवलेह। (२) वह बरफी या अवलेह जिसमें भाँग मिली हो।

माजूफल-संज्ञा पुं० [फ़ा० माजू+फल] माजू नामक झाड़ी का गोटा या गोंद जो ओषधि तथा रंगाई के काम में आता है।

पर्या०—मायाफल। माईफल। मागरगोटा।

माट-संज्ञा पुं० [हिं० मटका] (१) मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का बड़ा बरतन जिसमें रँगरेज लोग रंग बनाते हैं। इसे 'मठोर' भी कहते हैं।

मुहा०—माट बिगड़ जाना=किसी के स्वभाव का ऐसा बिगड़ जाना कि उसका सुधार असंभव हो।

(२) बड़ी मटकी जिसमें दही रखा जाता है। उ०—सिर दधि माखन के माट गावत गीत नये। कर माँझ मृदंग बजाइ सब नँद भवन गये।—सूर।

माटा-संज्ञा पुं० [हिं० मटा] लाल च्यूँटा जिसके झुंड के झुंड आम के पेड़ों पर रहते हैं।

माटी*†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिट्टी] (१) दे० "मिट्टी"। (२) साल भर की जोताई या उसकी मेहनत। जैसे,—यह बैल चार माटी का चला है। (३) मृत शरीर। शव। लाश। उ०—(क) कहता सुनता देखता लेता देता प्रान। दादू सो कतहूँ गया माटी धरी मसान। (ख) मरनो भलो बिदेस को जहाँ न अपनो कोय। माटी खायँ जनावराँ महा महोच्छव होय। (ग) काल आइ दिखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँड़ि कै माटी।—जायसी। (४) शरीर। देह। (५) पाँच तत्वों के अंतर्गत पृथ्वी नामक तत्व। उ०—पानी पवन आग अरु माटी। सब की पीठ तोर है साँटी।—जायसी। (६) धूल। रज। उ०—(क) गढ़ गिरि फूटि भये सब माटी। हस्ति हेरान तहाँ का चाँटी।—जायसी। (ख) महँगि माटी मग हू की मृगमद साथ जू।—तुलसी। (मुहा० के लिए दे "मिट्टी"।)

माठ-संज्ञा पुं० [हिं० मीठा] एक प्रकार की मिठाई।

विशेष—मैदे की एक मोटी और बड़ी पूरी पकाकर शक्कर के पाग में उसे पाग लेते हैं। इसी को माठ कहते हैं। यही मिठाई जब छोटे आकार में बनाई जाती है, तब उसे 'मठरी' या 'टिकिया' कहते हैं। उ०—भइ जो मिठाई कही न जाई। मुख मेलत खत जाय बिलाई। मतलड़ ढाल औ मरकोरी। माट पिराँकें और बुँदौरी।—जायसी।

संज्ञा पुं० [हिं० मटका] मिट्टी का पात्र जिसमें कोई तरल पदार्थ भरा जाय। मटकी। उ०—(क) मानो मजीठ की माठ ढुरी इक ओर ते चाँदनी ओरत आवत।—शंभु कवि। (ख) धरत जहाँ ही जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ, मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।—पद्माकर। (ग) स्वामिदसा लखि लखन सखा कपि पघिले हैं आँच माठ मानो घिय के।—तुलसी। (घ) टूट कंध सिर परे निरारे। माठ मँजीठ जानु रण ढारे।—जायसी।

विशेष—कविता में यह शब्द प्रायः स्त्रीलिंग ही मिलता है।

माठर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य के एक पारिपार्श्वक जो यम माने जाते हैं। (२) व्यास। (३) ब्राह्मण। (४) कलाल।

माठा†-संज्ञा पुं० दे० "मट्ठा" या "मठा"।

संज्ञा पुं० [डिं०] कृपण। कंजूस।

माठी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की कपास जो बंगाल, आसाम और संयुक्त प्रदेश में अधिकता से होती है। आजकल यह कपास बहुत निम्न कोटि की मानी जाती है। उ०—सूर प्रभु को औसेर अतिही भई अबेर री, बेग चलि सजि शृंगार काढ़ि माठी खग वारो आइकै साज।—सूर।

माड़-संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ की जाति का एक पेड़।

संज्ञा पुं० दे० "माँड़"।

माड़ना*†-क्रि० अ० [सं० मंडन] ठानना। मचाना। करना। उ०—(क) निरखि यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध सों युद्ध माड़यौ।—सूर। (ख) मधुसूदन यह बिरह अरु अरि नित माड़त रार। करुनानिधि अब यहि समय अपनो बिरद बिचार।—रसनिधि। (ग) ताते कठिन कुठार अब रामहिं सों रण माड़ि।—केशव। (घ) हौं तुम

सों फिर युद्धहिं माड़ौं। क्षत्रिय वंश को बैर लै छाँड़ौं।—केशव। (ङ) मनोज मख माड़्यौ नाभि कुंड में।—देव।

क्रि० स० [सं० मंडन] (१) मंडित करना। भूषित करना। (२) धारण करना। पहनना। उ०—सब शोकन छाँड़ौ भूषण माड़ौ कीजै विविध बधाये।—केशव। (३) आदर करना। पूजना। उ०—ताते ऋषिराज सबै तुम छाँड़ौ। भूदेव सनाढ्यन के पद माड़ौ।—केशव।

क्रि० स० [सं० मर्दन] (१) मर्दन करना। पैर वा हाथ से मसलना। मलना। उ०—कोउ काजर कोउ बदन माड़तीं हर्षहिं करहिं कलोल।—सूर। (२) घूमना। फिरना। उ०—डटी वस्तु फिर ताहि न छाड़ै। माखन हित सब के घर माड़ै।—विश्राम।

माड़व–संज्ञा पुं० दे० "माड़ौ" वा "मंडप"।

संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णसंकर जाति जो पुराणानुसार लेट पिता और तीवर माता के गर्भ से उत्पन्न है।

माढ़ा*†–संज्ञा पुं० [सं० मंडप] (१) अटारी पर का वह चौबारा जिसकी छत गोल मंडप के आकार की हो। (२) अटारी पर का चौबारा (चाहे वह किसी बनावट का हो)। उ०—को पलंग पौढ़ै को माढ़े। सोवनहार परा बँद गाढ़े।—जायसी। (३) दे० "मठा"।

माढ़ी*†–संज्ञा स्त्री० "मढ़ी"। उ०—अँगिया बनी कुचन सो माढ़ी।—सूर।

संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों का मूल।

माणक–संज्ञा पुं० [सं०] मानकंद।

माणतुंडिक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलचर पक्षी।

माणव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। आदमी। (२) बालक बच्चा। (३) सोलह लड़ी का हार।

माणवक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह वर्ष की अवस्थावाला युवक। (२) बीस वा सोलह लड़ी का हार। (३) विद्यार्थी। बटु। (४) निंदित या नीच आदमी।

माणवक्रीड़ा–संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक पद में आठ वर्ण (एक भगण, एक तगण और दो लघु) होते हैं।

माणिक–संज्ञा पुं० दे० "माणिक्य"।

माणिक्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल रंग का एक रत्न जो "लाल" कहलाता है। पद्मराग। चुन्नी। वि०—दे० "लाल"। उ०—(क) परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट। किधौं शक्र को छत्र मढ़्यौ माणिक मयूष पट।—केशव। (ख) अनेक राजा गणों के मुकुट-माणिक्य से सर्वदा जिनके पदतल लाल रहते हैं, उन महाराज चंद्रगुप्त ने आपके चरणों में दंडवत करके निवेदन किया है।

पर्या०—रविरत्नक। शृंगारी। रंगमाणिक्य। तरुण। रत्ननायक। रत्न। सौगंधिक। लोहितिक। कुरुविन्द।

(२) भाव प्रकाश के अनुसार एक प्रकार का केला।

वि० सर्वश्रेष्ठ। शिरोमणि। परम आदरणीय। उ०—नृप माणिक्य सुदेश, दक्षिण तिय जिय भावती। कटि तट सुपट सुदेश, कल काँची शुभ मंडई।—केशव।

माणिक्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] छिपकली।

माणिबंध–संज्ञा पुं० [सं०] सेंधा नमक।

माणिमंथ–संज्ञा पुं० [सं०] सेंधा नमक।

मातंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथी। (२) श्वपच। चांडाल। उ०—मदमत्त यदपि मातंग संग। अति तदपि पतित पावन तरंग।—केशव।

विशेष—इस उदाहरण में श्लेष से यह शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त है।

(३) एक ऋषि का नाम जो शबरी के गुरु और मातंगी देवी के उपासक थे। ये मौन रहा करते थे; इसीलिये जिस पर्वत पर ये रहते थे, उसका नाम ऋष्यमूक पड़ गया था। (४) अश्वत्थ। (५) संवर्तक मेघ का एक नाम। (६) एक नाग का नाम।

मातंगनक्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बड़ा कुंभीर (जलजंतु)।

मातंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कश्यप की एक कन्या। कहते हैं कि हाथी इसी से उत्पन्न हुए थे। (२) तांत्रिकों के अनुसार दस महाविद्याओं में से नवीं महाविद्या।

मात–संज्ञा स्त्री० दे० "माता"। उ०—तात को न मात को न भ्रात को कहा कियो।—पद्माकर।

–संज्ञा स्त्री० [अ०] पराजय। हार। उ०—रविकुल रवि प्रताप के आगे रिपुकुल मानत मात।—राधाकृष्णदास।

क्रि० प्र०—करना।—देना।

वि० [अ०] पराजित। उ०—(क) तुव दृग सतरँज बाज सों मेरो बस न बसात। पातसाह मन को करै छवि सह देकर मात।—रसनिधि। (ख) देख्यौ बादशाह भाव, कूदि परे गहे पाव, देखि करामात मात भये सब लोक हैं।—विश्वनाथसिंह। (ग) जासों मातलि मात अरुण गति जाति सदा रुक।—गोपाल।

*वि० [सं० मत्त] मदमस्त। मतवाला। (क्व०)

मातदिल–वि० [अ० मोअतदिल] मध्यम प्रकृति का। जो गुण के विचार से न बहुत ठंढा हो और न बहुत गरम।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः ओषधियों या जल-वायु आदि के संबंध में होता है।

मातना*†–क्रि० अ० [सं० मत्त] मस्त होना। मदमत्त हो जाना। नशे में हो जाना। उ०—(क) जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिन साधु सभा जिन सेई।—तुलसी। (ख) पियत जहाँ मधु रसना मातत नैन। झुकत अतनुगति अध-

रनि कहत बनै न।—रहीम। (ग) साधु रहै लगाये छाता ताहि देखि नृप अमरष माता।—रघुराज।

मातबर-वि० [अ० मोतबिर] विश्वास करने योग्य। विश्वसनीय जैसे,—इन्हें रुपए दे दीजिए; ये मातबर आदमी हैं।

मातबरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मातबर होने का भाव। विश्वस-नीयता।

मातम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) मृतक का शोक। वह रोना-पीटना आदि जो किसी के मरने पर होता है। उ०—जब बादशाह मर जाता है, तो सारे मुल्क के आदमी सौ दिन तक मातम रखते हैं और कोई काम खुशी का नहीं करते।—शिव-प्रसाद।

यौ०—मातमपुर्सी।

(२) किसी दुःखदायिनी घटना के कारण उत्पन्न शोक।

मातमपुर्सी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] जिसके यहाँ कोई मर गया हो, उसके यहाँ जाकर उसे ढारस देने का काम। मृतक के संबंधियों को सांत्वना देना।

मातमी-वि० [फ़ा०] मातम-संबंधी। शोक-सूचक। जैसे, मातमी पोशाक, मातमी सूरत, मातमी रंग।

मातमुख-वि० [डिं०] मूर्ख।

मातरिपुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो केवल घर में अपनी माता आदि के सामने ही अपनी वीरता प्रकट करता हो; बाहर या औरों के सामने कुछ भी न कर सकता हो।

मातरिश्वा-संज्ञा पुं० [सं० मातरिश्वन्] (१) अंतरिक्ष में चलने-वाला, पवन। वायु। हवा। (२) एक प्रकार की अग्नि।

मातलि-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के सारथी या रथ हाँकनेवाले का नाम। उ०—सुरपति निज रथ तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लै आवा।—तुलसी।

यौ०—मातलिसूत=इंद्र।

मातलिसूत-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र। उ०—कौशिक वासव वृत्रहा मघवा मातलिसूत।—नंददास।

मातली-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के वैदिक देवता जो यम और पितरों के साथ उत्पन्न माने गए हैं।

मातहत-संज्ञा पुं० [अ०] किसी की अधीनता में काम करने-वाला। अधीनस्थ कर्मचारी।

मातहती-संज्ञा स्त्री० [अ० मातहत+ई (प्रत्य०)] मातहत या अधीनता में होने का काम या भाव।

माता-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) जन्म देनेवाली स्त्री। जननी। उ०—जौ बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।—तुलसी। (२) कोई पूज्य वा आदरणीय बड़ी स्त्री। (३) गौ। (४) भूमि। (५) विभूति। (६) लक्ष्मी। (७) रेवती। (८) इंद्रवारुणी। (९) जटामासी। (१०) शीतला। चेचक।

वि० [सं० मत्त] [स्त्री० माती] मदमस्त। मतवाला। उ०—(क) आठ गाँठ कोपीन के साधु न मानै शंक। नाम अमल माता रहै गिनै इंद्र को रंक।—कबीर। (ख) जोर जगी जमुना जलधार में धाम धँसी जल केलि की माती।—पद्माकर। (ग) चली सोनारि सोहाग सोहाती। औ कलवारि प्रेम-मद माती।—जायसी।

मातामह-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातामही] माता का पिता। नाना।

मातु*-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] माता। माँ। जननी। उ०—(क) कबहूँ करताल बजाय के नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।—तुलसी। (ख) तुलसी प्रभु भंजिहैं संभु धनु भूरि भाग सिय मातु पिता री।—तुलसी।

मातुल-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुला, मातुलानी] (१) माता का भाई। मामा। उ०—कह्यौ मत मातुल बिभीषण हू बार बार अंचल पसारि पिय पाँय लै लै हौं परी।—तुलसी। (२) धतूरा। उ०—(क) कमलपत्र मातुल चढ़ावैं। नयन मूँदि यह ध्यान लगावैं।—सूर। (ख) द्वै मृणाल मातुल उभे द्वै कदली खंभ बिन पात।—सूर। (३) एक प्रकार का धान। (४) एक प्रकार का साँप। (५) मदन वृक्ष।

मातुला, मातुलानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री। मामी। (२) सन। (३) प्रियंगु। (४) भाँग।

मातुलाहि-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

मातुली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मामा की स्त्री। मामी। (२) भाँग।

मातुलुंग-संज्ञा पुं० [सं०] बिजौरा नीबू।

मातुलेय-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातुलेयी] मामा का लड़का। ममेरा भाई।

मातृ-संज्ञा स्त्री० दे० "माता"।

मातृक-वि० [सं०] माता-संबंधी।

संज्ञा पुं० माता का भाई। मामा।

मातृकच्छिद्-संज्ञा पुं [सं०] परशुराम।

मातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दूध पिलानेवाली दाई। धाय। (२) माता। जननी। (३) उपमाता। सौतेली माता। (४) तांत्रिकों की ये सात देवियाँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इंद्राणी और चामुंडा। (५) वर्णमाला की बारहखड़ी। (६) ठोढ़ी पर की आठ विशिष्ट नसें।

मातृकाकुंड-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार गुदा का एक फोड़ा या व्रण जो बहुत छोटे बच्चों को होता है।

मातृकेशट-संज्ञा पुं० [सं०] मामा।

मातृगंधिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) विमाता। सौतेली माता। (२) पिता की उपपत्नी।

मातृतीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] हथेली में सब से छोटी उँगली के नीचे का स्थान।

मातृदेवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक देवी का नाम।

मातृनंदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। (२) महाकरंज का पेड़।

मातृनंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] शाक्तों की एक देवी का नाम।

मातृपालित–संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम।

मातृपूजा–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृपूजन] विवाह की एक रीति जिसमें विवाह के दिन से एक वा दो दिन पूर्व छोटे छोटे मीठे पूए बनाकर पितरों का पूजन किया जाता है। इसी को 'मातृ-पूजा' या 'मातृकापूजन' कहते हैं।

मातृबंधु–संज्ञा पुं० [सं०] माता के संबंध का कोई आत्मीय।

मातृभाषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह भाषा जो बालक माता की गोद में रहते हुए बोलना सीखता है। माता-पिता के बोलने की और सब से पहले सीखी जानेवाली भाषा।

मातृमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] दोनों आँखों के बीच का स्थान।

मातृमाता–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृमातृ] (१) माता की माता। नानी। (२) दुर्गा।

मातृयज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ जो मातृकाओं के उद्देश्य से किया जाता है।

मातृरिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार एक दोष जो संतान के ऐसे बुरे लग्न में जन्म लेने से होता है जिसके कारण माता पर संकट आवे या उसके प्राण चले जायँ।

मातृवत्सल–संज्ञा पुं० [सं०] कार्त्तिकेय।

मातृशासित–वि० [सं०] मूर्ख।

मातृष्वसा–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृष्वसृ] माँ की बहन। मासी। मौसी।

मातृष्वसेय–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मातृष्वसेयी] माँ की बहन का लड़का। मौसेरा भाई।

मातृसपत्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] सौतेली माता। विमाता।

मात्र–अव्य० [सं०] केवल। भर। सिर्फ। जैसे, नाममात्र। तिलमात्र। उ०—(क) रहे तुम सल्य कहावत मात्र। अबै सह सल्य करौं सब गात्र।—गोपाल। (ख) केवल भक्त चारि युग केरे। तिनके जे हैं चरित घनेरे। सोई मात्र कथौं यहि माहीं। कछुक कथा उपयोगिन काहीं।—रघुराज।

मात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परिमाण। मिकदार। जैसे,—इसमें पानी की मात्रा अधिक है। (२) एक बार खाने योग्य औषध। (३) उतना काल जितना एक ह्रस्व अक्षर का उच्चारण करने में लगता है। छंदःशास्त्र में इसे मत्त, मत्ता, कल या कला भी कहते हैं। (४) बारहखड़ी लिखते समय वह स्वर-सूचक रेखा जो अक्षर के ऊपर या आगे-पीछे लगाई जाती है। (५) किसी चीज़ का कोई निश्चित छोटा भाग। (६) हाथी, घोड़ा आदि। परिच्छद। (७) कान में पहनने का एक आभूषण। (८) इंद्रिय जिसके द्वारा विषयों का अनुभव होता है। (९) शक्ति। (१०) अवयव। अंग। (११) रूप। (१२) संगीत में गीत और वाद्य का समय निरूपित करने के लिए उतना काल जितना एक स्वर के उच्चारण में लगता है।

विशेष—एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं; दो ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे दीर्घ मात्रा कहते हैं; और तीन अथवा उससे अधिक स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे प्लुत मात्रा कहते हैं।

मात्रावस्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक की एक क्रिया जिसमें रोगी को दस्त कराने के लिए उसकी गुदा में पिचकारी आदि से तेल आदि मिला हुआ कोई तरल पदार्थ भरते हैं।

मात्रासमक–संज्ञा पुं० [सं०] एक छंद जिसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ और अंत में गुरु होता है। चौपाई नामक छंद के मत्तसमक, वानवासिका, चित्रा और विश्लोक नामक चार भेद इसी के अंतर्गत हैं।

मात्रिक–वि० [सं०] (१) मात्रा संबंधी। मात्रा का। (२) मात्राओं के हिसाबवाला। जिसमें मात्राओं की गणना की जाय। जैसे, मात्रिक छंद।

मात्सर्य–संज्ञा पुं० [सं०] मत्सर का भाव। किसी का सुख वा उसकी संपदा न देख सकने का स्वभाव। किसी को अच्छी दशा में देखकर जलना। ईर्ष्या। डाह।

मात्स्य–वि० [सं०] मछली संबंधी। मछली का।
संज्ञा पुं० एक ऋषि का नाम।

मात्स्यिक–संज्ञा पुं० [सं०] मछली मारनेवाला। मछुआ।

माथ–*†–संज्ञा पुं० दे० "माथा"।

माथा–संज्ञा पुं० [सं० मस्तक] (१) सिर का ऊपरी भाग। मस्तक।

मुहा०—**माथा कूटना**=दे० "माथा पीटना।" **माथा घिसना**=नम्रता प्रकट करना। मिन्नत खुशामद करना। **माथा खपाना या खाली करना**=बहुत अधिक समझाना या सोचना। सिर खपाना। मगज-पच्ची करना। (**किसी के आगे**) **माथा झुकाना या नवाना**=बहुत अधिक नम्रता या अधीनता प्रकट करना। **माथा टेकना**=सिर झुकाकर प्रणाम करना। **माथा ठनकना**=पहले से ही किसी दुर्घटना या विपरीत बात होने की आशंका होना। **माथा धुनना**=दे० "माथा पीटना"। **माथा पीटना**=सिर पर हाथ मारकर बहुत अधिक दुःख या शोक करना। **माथा रगड़ना**=दे० "माथा घिसना"। **माथे चढ़ाना या धरना**=शिरोधार्य करना। सादर स्वीकार करना। उ०—मम आयसु तुम माथे धरौ। छल बल करि मम कारज करौ।—सूर। **माथे टीका होना**=किसी प्रकार की विशेषता या अधिकता होना।

जैसे,—क्या तुम्हारे माथे टीका है जो तुम्हीं को सब चीज़ें दे दी जायँ? **माथे पड़ना**=उत्तरदायित्व आ पड़ना। ऊपर भार आ पड़ना। जैसे,—वह तो खिसक गए; अब सब काम हमारे माथे आ पड़ा। **माथे पर चढ़ना**=दे० "सिर पर चढ़ना"। **माथे पर बल पड़ना**=आकृति से क्रोध, दुःख या असंतोष आदि के चिह्न प्रकट होना। शक्ल से नाराजगी जाहिर होना। जैसे,—रुपए की बात सुनते ही उनके माथे पर बल पड़ गए। **माथे भाग होना**=भाग्यवान् होना। तकदीरवर होना। **माथे मढ़ना**=गले बाँधना। गले मढ़ना। जबरदस्ती देना।* **माथे मानना**=शिरोधार्य करना। सादर स्वीकार करना। उ०—(क) कह रविसुत मम कारज होई। माथे मानि करब हम सोई।—सबलसिंह। (ख) सूरदास प्रभु के जिय भावै आयसु माथे मानि।—सूर। **माथे मारना**=बहुत ही उपेक्षा या तिरस्कारपूर्वक किसी को कुछ देना। बहुत तुच्छ भाव से देना। जैसे,—वह रोज़ तगादा करता है; उसकी किताब उसके माथे मारो।

यौ०—**माथा-पच्ची** या **माथा-पिट्टन**=बहुत अधिक बकना या समझाना। सिर खपाना। मगज़-पच्ची करना।

(२) वह चित्र आदि जिसमें मुख और मस्तक की आकृति बनी हो। (लश०) (३) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग। जैसे, नाव का माथा, अलमारी का माथा।

मुहा०—**माथा मारना**=जहाज का वायु के विपरीत इस प्रकार जोर मारकर चलना कि मस्तूल, पाल तथा ऊपरी भागों पर बहुत जोर पड़े।

(४) यात्रा। सफर। खेप। (लश०)

संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का रेशमी कपड़ा।

माथुर—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० माथुरानी] (१) मथुरा का निवासी। वह जो मथुरा का रहनेवाला हो। (२) ब्राह्मणों की एक जाति। चौबे। (३) कायस्थों की एक जाति। (४) वैश्यों की जाति। (५) मथुरा प्रांत।

वि० मथुरा संबंधी। मथुरा का।

माथे—क्रि० वि० [हिं० माथा] (१) माथे पर। मस्तक पर। सिर पर। उ०—नागरि गूजरि ठगि लीनो मेरो लाल गोरोचन को तिलक माथे मोहनी।—हरिदास। (२) भरोसे। सहारे पर। उ०—सो जनु हमरे माथे काढ़ा। दिन चलि गयउ ब्याज बहु बाढ़ा।—तुलसी।

माथै*†—क्रि० वि० दे० "माथे"।

माद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिमान। शेखी। घमंड। (२) हर्ष। प्रसन्नता। (३) मत्तता। मस्ती।

संज्ञा पुं० [देश०] छोटा रस्सा। (लश०)

मादक—वि० [सं०] नशा उत्पन्न करनेवाला। जिससे नशा हो। नशीला।

संज्ञा पुं० (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसके प्रयोग से शत्रु में प्रमाद उत्पन्न होता था। (२) वह चीज़ जिसके खाने से नशा हो। नशा उत्पन्न करनेवाला पदार्थ। जैसे, अफीम, भाँग, शराब आदि। (३) एक प्रकार का हिरन।

मादकता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मादक होने का भाव। नशीलापन। उ०—कनक कनक तें सौगुनो मादकता अधिकाय। वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय।

मादन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लौंग। (२) मदन वृक्ष। (३) कामदेव। (४) धतूरा।

मादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] भाँग।

मादनीय—वि० [सं०] मादकता उत्पन्न करनेवाला। मादक। नशीला।

मादर—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मि० सं० मातृ] माँ। माता। जननी।

मादरज़ाद—वि० [फ़ा०] (१) जन्म का। पैदाइशी। जैसे, मादरज़ाद अंधा। (२) एक माँ से उत्पन्न। सहोदर। (भाई) (३) जैसा माँ के पेट से निकला था, वैसा ही। बिलकुल नंगा। दिगंबर।

मादरिया*—संज्ञा स्त्री० दे० "मादर"। उ०—सासु ननदि मिलि अदल चलाई। मादरिया घर बेटी आई।—कबीर।

मादा—संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] स्त्री जाति का प्राणी। नर का उलटा। जैसे,—(क) साँड़ की मादा गाय कहलाती है। (ख) इस कबूतर की मादा कहीं खो गई है।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार बहुधा जीव-जंतुओं के लिए ही होता है।

मादिक*—वि० दे० "मादक"।

मादिकता*—संज्ञा स्त्री० दे० "मादकता"।

मादिन†—संज्ञा स्त्री० दे० "मादा"।

मादी—संज्ञा स्त्री० दे० "मादा"।

मादीन‡—संज्ञा स्त्री० दे० "मादा"।

माद्दा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह मूल तत्त्व जिससे कोई पदार्थ बना हो। (२) शब्द की व्युत्पत्ति। शब्द का मूल। (३) योग्यता। जैसे,—आप में यह बात समझने का माद्दा ही नहीं है। (४) मवाद। पीब।

माद्रवती—संज्ञा स्त्री० [सं०] राजा परीक्षित की स्त्री का नाम।

माद्रिसुत—संज्ञा पुं० [सं०] नकुल और सहदेव।

माद्री—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पांडु राजा की पत्नी और नकुल तथा सहदेव की माता जो मद्र के राजा की कन्या थी। राजा पांडु के मरने पर यह उनके साथ सती हुई थी। (२) अतिविषा। अतीस।

माद्रेय—संज्ञा पुं० [सं०] माद्री के पुत्र नकुल और सहदेव।

माधव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु भगवान्। नारायण। (२)

वैशाख मास। उ०—कियो गवन जनु दिननाथ उत्तर सन साधु माधव लिये।—तुलसी। (३) वसंत ऋतु। (४) एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में ८ जगण होते हैं। इसी का दूसरा नाम 'मुक्तहरा' है। (५) एक राग जो भैरव राग के आठ पुत्रों में से एक माना जाता है। (६) एक प्रकार का संकर राग जो मल्लार, बिलावल और नट नारायण को मिलाकर बनाया गया है। (७) मधूक वृक्ष। महुआ। (८) काला उर्द।

माधवक-संज्ञा पुं० [सं०] महुए की शराब।

माधविका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी लता।

माधवी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध लता जिसमें इसी नाम के प्रसिद्ध सुगंधित फूल लगते हैं। यह चमेली का एक भेद है। वैद्यक के अनुसार यह कटु, तिक्त, कषाय, मधुर, शीतल, लघु और पित्त, खाँसी, व्रण, दाह आदि की नाशक मानी जाती है। (२) ओड़व जाति की एक रागिनी जिसमें गांधार और धैवत वर्जित हैं। (३) सवैया छंद का एक भेद। (४) एक प्रकार की शराब। (५) तुलसी। (६) दुर्गा। (७) माधव की पत्नी। (८) कुटनी। (९) शहद की चीनी।

माधवीलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] माधवी नामक सुगंधित फूलों की लता वि० दे० "माधवी (१)"।

माधवोद्भव-संज्ञा पुं० [सं०] खिरनी का पेड़।

माधी-संज्ञा पुं० [देश०] भैरव राग के एक पुत्र का नाम। (संदिग्ध)

माधुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मैत्रेयक नाम की वर्ण संकर जाति। (२) महुए की शराब।

माधुपर्किक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जो मधुपर्क देने के समय दिया जाता है।

माधुर-संज्ञा पुं० [सं०] मल्लिका। चमेली।

माधुरई*-संज्ञा स्त्री० [सं० माधुरी] मधुरता। मिठास। उ०—ए अलि या बलि के अधरानि में आनि मढ़ी कछु माधुरई सी।—पद्माकर

माधुरता*-संज्ञा स्त्री० [सं० मधुरता] मीठापन। मिठास। उ०—जिती चारुता कोमलता सुकुमारता माधुरता अधरा में अहै।

माधुरिया*-संज्ञा स्त्री० दे० "माधुरी"। उ०—लक्ष्मण को बकसै कछु चाखि सुभाखि कै माधुरिया अधिकाई।—रघुराज।

माधुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिठास। (२) माधुर्य। शोभा। सुंदरता। उ०—(क) भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुवास।—तुलसी। (ख) रामचंद्र की देखि माधुरी दर्पण देख दिखावै।—सूर। (३) मद्य। शराब।

माधुर्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधुर होने का भाव। मधुरता। (२) सुंदरता। लावण्य। (३) मिठाई। मिठास। मीठापन। (४) पांचाली रीति के अंतर्गत काव्य का एक गुण जिसके द्वारा चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है। यह शृंगार, करुण और शांत रस में ही अधिक होता है। ऐसी रचना में प्रायः ट, ठ, ड, ढ और ण नहीं रहते; क्योंकि इनसे माधुर्य का नाश होना माना जाता है। "उपनागरिका" वृत्ति में यह गुण अधिकता से होता है। (५) सात्विक नायक का एक गुण। बिना किसी प्रकार के शृंगार आदि के ही नायक का सुंदर जान पड़ना। (६) वाक्य में एक से अधिक अर्थों का होना। वाक्य का श्लेष।

माधुर्य-प्रधान-संज्ञा पुं० [सं०] गाने का एक प्रकार। वह गाना जिसमें माधुर्य का अधिक ध्यान रखा जाय और उसके शुद्ध रूप के बिगड़ने की परवा न की जाय।

माधूक-संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक वर्ण संकर जाति का नाम। इस जाति के लोग मधुर शब्दों में लोगों की प्रशंसा करते हैं; इसीलिए ये "माधूक" कहलाते हैं। कुछ लोग "वन्दी" को ही "माधूक" मानते हैं।

माधैया*-संज्ञा पुं० दे० "माधव"। उ०—हरि हित मेरो माधैया। देहरी चढ़त परत गिरि गिरि कर पल्लव जो गहत है री मैया।—सूर।

माधो-संज्ञा पुं० [सं० माधव] (१) श्रीकृष्ण। उ०—(क) जब माधो होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै।—सूर। (ख) शीश नाइ कर जोरि कह्यो तब नारद सभा महेश। तत्क्षण भीम धनंजय माधो धन्य द्विजन को भेस।—सूर। (२) श्री रामचंद्रजी। उ०—आधो पल माधो जू के देखे बिन सोई शशि सीता को बदन कहूँ होत दुखदाई है।—केशव

माधौ-संज्ञा पुं० दे० "माधव"।

माध्यंदिन-संज्ञा पुं० [सं०] दिन का मध्य भाग। मध्याह्न। दोपहर।

माध्यंदिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा का नाम।

माध्यंदिनीय-संज्ञा पुं० [सं०] नारायण। परमेश्वर।

माध्यम-वि० [सं०] मध्य का। जो मध्य में हो। बीचवाला। संज्ञा पुं० वह जिसके द्वारा कोई कार्य्य संपन्न हो। कार्य्यसिद्धि का उपाय या साधन।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत हाल में होने लगा है।

माध्यमिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बौद्धों का एक भेद। इस वर्ग के बौद्धों का विश्वास है कि सब पदार्थ शून्य से उत्पन्न होते हैं और अंत में शून्य हो जाते हैं। बीच में जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल उसी समय तक रहता है; पश्चात् सब शून्य हो जाता है। जैसे 'घट' उत्पत्ति के पूर्व न तो था और न टूटने के पश्चात् ही रहता है। बीच में जो ज्ञान

होता है, वह चित्त के पदार्थांतर में जाने से नष्ट हो जाता है। अतः एक शून्य ही तत्त्व है। इनके मत से सब पदार्थ क्षणिक हैं और समस्त संसार स्वप्न के समान है। जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है, उन दोनों को ये लोग समान ही मानते हैं। (२) मध्य देश। (३) मध्य देश का निवासी।

माध्यस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो दो मनुष्यों या पक्षों के बीच में पड़कर किसी वाद-विवाद आदि का निपटारा करे। पंच। बिचवई। मध्यस्थ। (२) दलाल। (३) कुटना। (४) ब्याह करनेवाला ब्राह्मण। बरेखी।

माध्यस्थ्य-संज्ञा पुं० [सं०] मध्यस्थ होने का भाव। मध्यस्थता।

माध्याकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] पृथ्वी के मध्य भाग का वह आकर्षण जो सदा सब पदार्थों को अपनी ओर खींचता रहता है और जिसके कारण सब पदार्थ गिरकर जमीन पर आ पड़ते हैं।

विशेष—इंगलैंड के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता न्यूटन ने वृक्ष से एक सेब को जमीन पर गिरते हुए देखकर यह सिद्धांत स्थिर किया था कि पृथ्वी के मध्य भाग में एक ऐसी आकर्षण शक्ति है, जिसके द्वारा सब पदार्थ, यदि बीच में कोई चीज बाधक न हो तो, उसकी ओर खिंच आते हैं।

माध्याह्निक-संज्ञा पुं० [सं०] वह कार्य्य जो ठीक मध्याह्न के समय किया जाता हो। ठीक दोपहर के समय किया जानेवाला कार्य्य, विशेषतः धार्मिक कृत्य।

माध्व-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वैष्णवों के चार मुख्य संप्रदायों में से एक जो मध्वाचार्य का चलाया हुआ है। इस मतवाले काला तिलक लगाते हैं और प्रतिवर्ष चक्रांकित होते रहते हैं। (२) महुए की शराब। (३) मधुर-कंटक नाम की मछली।

माध्वक-संज्ञा पुं० [सं०] महुए की शराब।

माध्वी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा। शराब। (२) वह शराब जो महुए से बनाई जाती है। (३) मधुरकंटक नाम की मछली। (४) पुराणानुसार एक नदी का नाम।

माध्वीक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) महुए की शराब। (२) मधु। मकरंद। (३) दाख की शराब। (४) मेम।

माध्वीका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेम।

माध्वीमधुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मीठी खजूर।

मान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का भार, तौल या नाप आदि। परिमाण। मिकदार। (२) वह साधन जिसके द्वारा कोई चीज़ नापी या तौली जाय। पैमाना। जैसे, गज, सेर आदि। (३) किसी विषय में यह समझना कि हमारे समान कोई नहीं है। अभिमान। अहंकार। गर्व। शेखी। (न्यायदर्शन के अनुसार जो गुण अपने में न हो, उसे भ्रम से अपने में समझकर उसके कारण दूसरों से अपने आपको श्रेष्ठ समझना मान कहलाता है।)

मुहा०—मान मथना=मान भंग करना। गर्व चूर्ण करना। शेखी तोड़ना। उ०—इन जरासंध मदअंभ मम मान मथि बाँधि बिनु काज बल इहाँ आने।—सूर।

(४) प्रतिष्ठा। इज़्ज़त। सम्मान। उ०—भोजन करत तुष्ट घर उनके राज मान भँग टारत।—सूर।

मुहा०—मान रखना=इज्जत रखना। प्रतिष्ठा करना। उ०—कमरी थोरे दाम की आवै बहुतै काम। खासा मखमल बाफता उन कर राखै मान।—गिरधर।

यौ०—मान-महत=आदर-सत्कार। प्रतिष्ठा।

(५) साहित्य के अनुसार मन में होनेवाला वह विकार जो अपने प्रिय व्यक्ति को कोई दोष या अपराध करते देखकर होता है। मान बहुधा स्त्रियाँ ही करती हैं। अपने प्रेमी को किसी दूसरी स्त्री की ओर देखते अथवा उससे बातचीत करते देखकर, कोई अभिलषित पदार्थ न मिलने पर अथवा कोई कार्य्य इच्छानुसार न होने पर ही प्रायः मान किया जाता है। यह लघु, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का कहा गया है। रूठना। उ०—बिधि बिधि के निकरैं टरैं नहीं परेहू पान। चितै कितै तैं लै धर्‍यौ इतो इतै तन मान।—बिहारी।

मुहा०—मान मनाना=दूसरे का मान दूर करना। रूठे हुए को मनाना। उ०—घरी चारि परम सुजान पिय प्यारी रीझि, मान न मनाओ मानिनी को मान देखि रह्यो।—रघुनाथ। मान मोरना=मान का त्याग करना। मान छोड़ देना। उ०—मुख को निहारो जो न मान्यो स्यो भली करी न केशौराय की सौं तोहिं जो तू मान मोरिहै।—केशव।

(६) पुराणानुसार पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम। (७) सामर्थ्य। शक्ति। (८) उत्तर दिशा के एक देश का नाम। (९) ग्रह। (१०) मंत्र। (११) संगीत-शास्त्र के अनुसार ताल में का विराम जो सम, विषम, अतीत और अनागत चार प्रकार का होता है।

मानकंद-संज्ञा पुं० [सं० माणक] (१) एक प्रकार का मीठा कंद जो बंगाल में बहुत अधिकता से होता है। यह प्रायः तरकारी के रूप में या दूसरे अनाजों के साथ खाया जाता है। यह बहुत जल्दी पचता है। इसलिए दुर्बल रोगियों आदि के लिए बहुत लाभदायक होता है। कहीं कहीं अरारोट या सागूदाने की जगह भी इसका व्यवहार होता है। यह मृदु, विरेचक, मूत्रकारक और बवासीर तथा कब्जियत के लिए बहुत उपयोगी माना जाता है। (२) एक प्रकार की मिस्री जो सालिब मिस्री के नाम से बाजारों में मिलती है।

मानक-संज्ञा पुं० [सं०] मानकच्चू। मानकंद।

मानकच्चू-संज्ञा पुं० दे० "मानकंद"।

मानकलह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईर्ष्या। डाह। (२) प्रतिद्वंद्विता। चढ़ा-ऊपरी।

मानक्रीड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सूदन के अनुसार एक प्रकार का छंद। उ०—मदन सुत चाइकै। भरतपुर जाइकै। थपितु सिरदार कौं। जतन पितरार कौं।—सूदन।

मानगृह—संज्ञा पुं० [सं०] रूठकर बैठने का स्थान। कोपभवन। उ०—बैठी जाय एकांत भवन में जहाँ मानगृह चार।—सूर।

मानग्रंथि—संज्ञा स्त्री० [सं०] अपराध। जुर्म।

मानचित्र—संज्ञा पुं० [सं०] किसी स्थान का बना हुआ नकशा। जैसे, एशिया का मानचित्र।

मानज—संज्ञा पुं० [सं०] क्रोध।

वि० मान से उत्पन्न।

मानतरु—संज्ञा पुं० [सं०] खेतपापड़ा।

मानता—संज्ञा स्त्री० [हिं० मानना+ता (प्रत्य०)] मनौती। मन्नत।

क्रि० प्र०—उतारना।—चढ़ाना।—मानना।

मानदंड—संज्ञा पुं० [सं०] वह डंडा या लकड़ी जिससे कोई चीज़ नापी जाय।

मानद—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मानद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़।

मानधन—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत बड़ा अभिमानी हो।

मानधाता—संज्ञा पुं० दे० "मांधाता"।

मानधानिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।

मानना—क्रि० अ० [सं० मानन] (१) अंगीकार करना। स्वीकार करना। मंजूर करना। जैसे,—(क) हम मानते हैं कि आप उनकी बुराई नहीं कर रहे हैं। (ख) मान न मान, मैं तेरा मेहमान। (कहा०) (२) कल्पना करना। फर्ज करना। समझना। जैसे,—मान लीजिए कि हम लोग वहाँ न जा सकें; तो फिर क्या होगा? (३) ध्यान में लाना। समझना। जैसे, बुरा मानना। भला मानना।

संयो० क्रि०—जाना।—लेना।

(४) ठीक मार्ग पर आना। अनुकूल होना। जैसे,—यह लड़का सीधी तरह से नहीं मानेगा।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० स० (१) कोई बात स्वीकृत करना। कुछ मंजूर करना। जैसे,—आप किसी का कहना ही नहीं मानते। (२) किसी को पूज्य, आदरणीय या योग्य समझना। किसी के बड़प्पन या लियाकत का कायल होना। आदर करना। जैसे,—(क) उन महात्मा को यहाँ के बहुत से लोग मानते हैं। (ख) लड़ाई झगड़ा लगाने में मैं तुम्हें मानता हूँ।

विशेष—कभी कभी कर्त्ता को छोड़कर उसके गुण या कार्य के संबंध में भी इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे,—उनका गाना-बजाना अच्छे अच्छे उस्ताद मानते थे। (३) दक्ष समझना। पारंगत समझना। उस्ताद समझना। (४) धार्मिक दृष्टि से श्रद्धा या विश्वास करना। जैसे,—शिव को माननेवाले शैव कहलाते हैं। (५) देवता आदि की भेंट करने का प्रण करना। चढ़ावा चढ़ाने आदि का दृढ़ संकल्प करना। मन्नत करना। जैसे,—१।) के लड्डू गणेश-जी को मानो तो इम्तहान में पास हो जाओगे। (६) ध्यान में लाना। समझना। जैसे,—यह तो किसी को कुछ भी नहीं मानता। (७) स्वीकृत करके अनुकूल कार्य्य करना। जैसे,—शिवरात्रि किसी ने आज मानी है और किसी ने कल। (८) किसी पर बहुत अनुरक्त होना। किसी के साथ बहुत प्रेम करना। (बाज़ारू)

माननीय—वि० [सं०] [स्त्री० माननीया] जो मान करने के योग्य हो। पूजनीय। आदरणीय। मान्य।

मानपात—संज्ञा पुं० दे० "मानकंद"।

मानभाव—संज्ञा पुं० [सं०] चोचला। नखरा।

मानमंदिर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों के रूठकर बैठने का एकांत स्थान। (२) वह स्थान जिसमें ग्रहों आदि का वेध करने के यंत्र तथा सामग्री हो। वेधशाला।

मानमनौती—संज्ञा स्त्री० [हिं० मान+मनौती] (१) मानता। मन्नत। मनौती। (२) पारस्परिक प्रेम। (३) रूठने और मनाने की क्रिया।

मानमरोर—संज्ञा स्त्री० [हिं० मान+मरोर] मन-मुटाव। रंजिश। उ०—राधे सुजान इतै चित दै हित में कत कीजतु मानमरोर है।—घनानंद।

मानमान्यता—संज्ञा स्त्री० [सं०] इज़्ज़त। प्रतिष्ठा।

मानमोचन—संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य के अनुसार रूठे हुए प्रिय को मनाना जो नीचे लिखे छः उपायों के द्वारा बतलाया गया है—(१) साम, (२) दाम, (३) भेद, (४) प्रणति, (५) उपेक्षा, और (६) प्रसंग-विध्वंस।

मानरंध्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] जल-घड़ी जिसका व्यवहार प्राचीन काल में समय जानने के लिए होता था।

विशेष—इसमें एक छोटा कटोरा होता था जिसके पेंदे में एक छोटा सा छेद होता था। यह कटोरा किसी बड़े जल-पात्र में छोड़ दिया जाता था और उस छेद के द्वारा धीरे धीरे कटोरे में पानी भरने लगता था। वह कटोरा ठीक एक दंड या घड़ी में भर जाता था और पानी में डूब जाता था। फिर उसे निकालकर खाली करके उसी प्रकार पानी में छोड़ देते थे और इस प्रकार समय का निरूपण करते थे।

मानव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनु से उत्पन्न, मनुष्य। आदमी। मनुज। (२) १४ मात्राओं के छंदों की संज्ञा। इनके ६१० भेद हैं।

मानवक–संज्ञा पुं० [सं० मानव] (१) छोटे कद का आदमी। वामन। बौना। (२) तुच्छ आदमी।

मानवत्–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मानवती] वह जो मान करता हो। रूठा हुआ।

मानवपति–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

मानवर्जित–वि० [सं०] नीच। अप्रतिष्ठित।

मानवर्त्तिक–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन देश का नाम जो पूर्व दिशा में था। जैनों के हरिवंश के अनुसार यह देश वर्त्तमान मानभूमि है।

मानव शास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें मानव जाति की उत्पत्ति और विकास आदि का विवेचन होता है। इस शास्त्र से यह भी जाना जाता है कि संसार के भिन्न भिन्न भागों में मनुष्य की कितनी जातियाँ हैं, सृष्टि के अन्यान्य जीवों में मनुष्य का क्या स्थान है, मनुष्यों की सृष्टि कब और कैसे हुई, उसकी सभ्यता का कैसे विकास हुआ, इत्यादि इत्यादि।

मानवाचल–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

मानवास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र।

मानवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। नारी। औरत। (२) पुराणानुसार स्वायंभुव मनु की कन्या का नाम।

वि० [सं० मानवीय] मानव-संबंधी। मनुष्य का।

मानवीय–वि० [सं०] मानव संबंधी। मनुष्य का।

मानवेंद्र, मानवेश–संज्ञा पुं० [सं०] राजा।

मानव्य–संज्ञा पुं० दे० "मानव"।

मानस–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मन। हृदय। उ०—माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे।—तुलसी। (२) मान सरोवर। उ०—रोष महामारी परतोष महतारी दुनी देखिये दुखारी मुनि मानस मरालि के। (३) कामदेव। (४) संकल्प-विकल्प। (५) एक नाग का नाम। (६) शाल्मली द्वीप के एक वर्ष का नाम। (७) पुष्कर द्वीप के एक पर्वत का नाम। (८) मनुष्य। आदमी। उ०—कोमल मृणालिका सी मल्लिका की मालिका सी बालिका जु डारी माड मानस के पशु है।—केशव। (९) दूत। चर। उ०—(क) मानस पठाए सुधि लाए साँच आँच लगी करो साष्टांग बात मानी भाग फले हैं।—प्रियादास। (ख) देकै बहु भाँति सों पठाए संग मानसहू आवो पहुँचाइ तब तुम पर रीझिये।—प्रियादास।

वि० (१) मन से उत्पन्न। मनोभव। (२) मन का विचारा हुआ। उ०—कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होइ नहिं पापा।—तुलसी।

क्रि० वि० मन के द्वारा। उ०—रहै गंडकी सुत मुख बीचा। पूज्यो मानस शिर करि नीचा।—विश्राम।

मानसचारी–संज्ञा पुं० [सं० मानसचारिन्] एक प्रकार का हंस जो मान सरोवर में होता है।

मानस तीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] वह मन जो राग द्वेष आदि से नितांत रहित हो गया हो।

मानसपुत्र–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार वह पुत्र या संतान जिसकी उत्पत्ति इच्छामात्र से ही हुई हो। जैसे,—सनक, सनंदन आदि ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं।

मानस पूजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पूजा के दो प्रकारों में से एक। वह पूजा जो मन ही मन की जाय और जिसमें अर्घ्य, पाद्य आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता न रहे।

मानसर–संज्ञा पुं० दे० "मान सरोवर"।

मान सरोवर–संज्ञा पुं० [सं० मानस+सरोवर] हिमालय के उत्तर की एक प्रसिद्ध बड़ी झील जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा ने अपनी इच्छामात्र से ही इसका निर्माण किया था। इस सरोवर का जल बहुत ही सुंदर, स्वच्छ और गुणकारी है तथा इसके चारों ओर की प्राकृतिक शोभा बहुत ही अद्भुत है। हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियों ने इसके आस-पास की भूमि को स्वर्ग कहा है।

मानस व्रत–संज्ञा पुं० [सं०] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य आदि व्रत।

मानस शास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें इस बात का विवेचन होता है कि मन किस प्रकार कार्य करता है और उसकी वृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। मनोविज्ञान।

मानस संन्यासी–संज्ञा पुं० [सं०] दशनामी संन्यासियों के अंतर्गत एक प्रकार के संन्यासी। ऐसे संन्यासी मन में सच्चा वैराग्य उत्पन्न होने पर गृहस्थाश्रम का त्याग करके जंगल में जा रहते हैं और वहीं तपस्या करते हैं। ये लोग गैरिक वस्त्र आदि नहीं धारण करते।

मानस सर–संज्ञा पुं० [सं०] मानस सरोवर। मान सरोवर।

मानस हंस–संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त का नाम। इसके प्रत्येक चरण में 'स ज ज भ र' होता है। इसका दूसरा नाम मानहंस या रणहंस है।

मानसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक नदी का नाम। कहते हैं कि तृणविंदु नामक एक ऋषि इसे मान सरोवर से लाए थे।

मानसालय–संज्ञा पुं० [सं०] हंस।

मानसिक–वि० [सं०] (१) मन की कल्पना से उत्पन्न। (२) मन संबंधी। मन का। जैसे, मानसिक कष्ट। मानसिक चिंता।

संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मानसी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानस पूजा । वह पूजा जो मन ही मन की जाय । उ०—आभरण नाम हरि साधु-सेवा कर्ण फूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये ।—प्रियादास ।
(२) पुराणानुसार एक विद्या देवी का नाम ।
वि० मन का । मन से उत्पन्न उ०—मानसी सरूप में अग्रदास जगै करत बयार नाभा मधुर सँभार सों ।—प्रियादास ।

मानसी गंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोवर्धन पर्वत के पास के एक सरोवर का नाम ।

मानसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] करधनी ।

मानसून–संज्ञा पुं० [अं० मि० अ० मौसिम] (१) एक प्रकार की वायु जो भारतीय महासागर में अप्रैल से अक्तूबर मास तक बराबर दक्षिण-पश्चिम के कोण से चलती है और अक्तूबर से अप्रैल तक उत्तर-पूर्व के कोण से चलती है । अप्रैल से अक्तूबर तक जो हवा चलती है, प्रायः उसी के द्वारा भारत में वर्षा भी हुआ करती है ।
क्रि० प्र०—आना ।—उठना । दबना ।
(२) वह वायु जो महादेशों और महाद्वीपों तथा उनके आसपास के समुद्रों में पड़नेवाले वातावरण संबंधी पारस्परिक अंतर के कारण उत्पन्न होती है और जो प्रायः छः मास तक एक निश्चित दिशा में और छः मास तक उसकी विपरीत दिशा में बहती है ।

मानहंस–संज्ञा पुं० [सं०] एक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में 'स ज ज भ र' होते हैं । इसके अन्य नाम 'मनहंस' 'रणहंस' और 'मानसहंस' भी हैं ।

मानहानि–संज्ञा स्त्री० [सं०] अप्रतिष्ठा । अपमान । बेइज़्ज़ती । हतक इज़्ज़त ।

मानहुँ*–अव्य० दे० "मानों" ।

माना–संज्ञा पुं० [इब०] एक प्रकार का मीठा निर्यास जो इटली और एशिया माइनर आदि देशों के कुछ विशिष्ट वृक्षों में से छेव लगाकर निकाला जाता है; अथवा कभी कभी उन वृक्षों पर कुछ कीड़ों आदि की कई क्रियाओं से उत्पन्न होता है और जो पीछे से कई रासायनिक क्रियाओं से शुद्ध करके ओषधि के रूप में काम में लाया जाता है । भारत के कई प्रकार के बाँसों तथा दूसरे अनेक वृक्षों पर भी यह कभी कभी पाया जाता है । यह रेचक होता है और इसके व्यवहार के उपरांत मनुष्य विशेष निर्बल नहीं होता । देखने में यह पीले रंग का, पारदर्शी और हलका होता है और प्रायः बहुत महँगा मिलता है ।
†संज्ञा पुं० [सं० मान] अन्नादि नापने का एक पात्र जिसमें पाव भर अन्न आता है । यह लकड़ी, मिट्टी या धातु का बना होता है । इससे तरल पदार्थ भी नापे जाते हैं ।
*†क्रि० स० [सं० मान अथवा हिं० मापना] (१) नापना । तौलना । उ०—देखि विराट सुधि पाय गीध सें स्वनि अपनो बलु मायो ।—तुलसी । (२) जाँचना । परीक्षा करना ।
* क्रि० अ० दे० "समाना" या "अमाना" । उ०—(क) इतनो बचन श्रवण सुनि हरष्यो फूलयो अंग न मात । लै लै चरन रेनु निज प्रभु की रिपु के शोणित न्हात ।—सूर । (ख) माई कहाँ यह माइगी दीपति जो दिन दो यहि भाँति बढ़ेगी ।—केशव ।

मानिंद–वि० [फ़ा०] समान । तुल्य । सदृश । जैसे,—वे भी आपके ही मानिंद शरीफ़ हैं ।

मानिक–संज्ञा पुं० [सं० माणिक्य] एक मणि का नाम । यह लाल रंग का होता है और हीरे को छोड़कर सबसे कड़ा पत्थर है । रासायनिक विश्लेषण द्वारा मानिक में दो भाग अल्यूमिनम और तीन भाग आक्सिजन का पाया जाता है, जिससे रसायन-शास्त्रियों के मत से यह कुरंड की जाति का पत्थर प्रतीत होता है । इसमें एक और विशेषता यह भी है कि बहुत अधिक ताप से सुहागे के योग से यह काँच की भाँति गल जाता है और गलने पर इसमें कोई रंग नहीं रह जाता । आजकल के रासायनिकों ने काँच से नकली मानिक बनाया है जो असली मानिक से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है । मानिक पत्थर गहरे लाल रंग से लेकर गुलाबी रंग और नारंगी से लेकर बैंगनी रंग तक के मिलते हैं । मानिक की दो प्रधान जातियाँ हैं—नरम चुन्नी और मानिक । नरम चुन्नी का विश्लेषण करने से मैग्नेशियम, अल्यूमिनम और आक्सिजन मिलते हैं । उस पर यदि मानिक से रगड़ा जाय, तो लकीर पड़ जाती है । अगस्त जी के मत से मानिक के तीन प्रधान भेद हैं—पद्मराग, कुरुविंद और सौगंधिक । कमल पुष्प के समान रंगवाला पद्मराग, गाढ़ रक्तवर्ण सा ईषत् नील वर्ण सौगंधिक और टेसू के फूल के रंग का कुरुविंद कहलाता है । इनमें सिंहल में पद्मराग, कालपुर और अंध्र में कुरुविंद और तुंकर में सौगंधिक उत्पन्न होता है । मतांतर से नीलगंधिक नामक एक और जाति का मानिक होता है जो नीलापन लिए रक्त वर्ण या लाखी रंग का माना गया है । इसकी खानें बरमा, श्याम, लंका, मध्य एशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि अनेक भूभागों में पाई जाती हैं । जिस मानिक में चिह्न नहीं होते और चमक अधिक होती है, वह उत्तम माना जाता और अधिक मूल्यवान् होता है । वैद्यक में मानिक को मधुर, स्निग्ध और वात-पित्त-नाशक लिखा है ।
पर्या०—पद्मराग । कुरुविंद । शोणरत्न । सौगंधिक । लौहितक । तरुण । शृंगारी । रविरत्नक ।
संज्ञा पुं० [सं०] आठ पल का एक मान ।

मानिकखंभ–संज्ञा पुं० [हिं० मानिक+खंभा] (१) वह खूँटा जो कातर के किनारे गड़ा रहता है और जिसमें धुये को रस्सी से बाँधकर जाठ के सिरे पर अटकाते हैं। मरखम। (२) वह खंभा जो विवाह में मंडप के बीच में गाड़ा जाता है। (३) मालखंभ। मलखम।

मानिकचंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मानिकचंद] साधारण छोटी सुपारी।

मानिकजोड़–संज्ञा पुं० [हिं० मानिक+जोड़] एक प्रकार का बड़ा बगुला जिसकी चोंच और टाँगें लंबी होती हैं।

मानिकजोर–संज्ञा पुं० दे० "मानिकजोड़"।

मानिकरेत–संज्ञा स्त्री० [हिं० मानिक+रेत] मानिक का चूरा जिससे गहने साफ किए जाते हैं और उन पर चमक लाई जाती है।

मानिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मद्य। (२) आठ पल या साठ तोले का एक मान।

मानिटर–संज्ञा पुं० [अं०] पाठशाला की कक्षा में वह प्रधान छात्र जो अन्य छात्रों पर कुछ विशिष्ट अधिकार रखता हो।

मानित–वि० [सं०] सम्मानित। प्रतिष्ठित। आदृत।

मानिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मानित्व। सम्मान। आदर। (२) गौरव। (३) अहंकार। गर्व।

मानिनी–वि० स्त्री० [सं०] (१) मानवती। गर्ववती। अभिमानयुक्त। (२) मान करनेवाली। रुष्टा।

संज्ञा स्त्री० साहित्य में वह नायिका जो नायक के दोष को देखकर उससे रूठ गई हो। उ०—मान करत बरजत न हौं उलटि दिवावत सौंह। करी रिसौंहीं जायँगी सहज हँसौंहीं भौंह।

मानी–वि० [सं० मानिन्] [स्त्री० मानिनी] (१) अहंकारी। घमंडी। (२) सम्मानित। गौरवान्वित। (३) मनोयोगी।

संज्ञा पुं० (१) सिंह। (२) साहित्य में वह नायक जो नायिका से अपमानित होकर रूठ गया हो।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुंभ। घड़ा। (२) प्राचीन काल का एक प्रकार का मान-पात्र जिसमें दो अंजुली या आठ पल आता था। (३) चक्की के ऊपर के पाट में लगी हुई वह लकड़ी जिसके बीच के छेद में कीली रहती है। जुआ न होने पर यह लकड़ी ऊपर के पाट के छेद में जड़ी रहती है। (४) कुदाल, बसूले आदि का वह छेद जिसमें बेंट लगाई जाती है। (५) किसी चीज में बनाया हुआ छेद जिसमें कुछ जड़ा जाय। (६) अन्न का एक मान जो सोलह सेर का होता है। (७) साधारण छेद।

संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अर्थ। मतलब। तात्पर्य्य। (२) तत्त्व। रहस्य। (३) प्रयोजन। (४) हेतु। कारण।

मानुख*–संज्ञा पुं० दे० "मनुष्य"।

मानुष–वि० [सं०] [स्त्री० मानुषी] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्य। (२) याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार प्रमाण के दो भेदों में से एक। इसके तीन उपभेद हैं—लिखित, भुक्ति और साक्षी।

मानुषक–वि० [सं०] मनुष्य-संबंधी। मनुष्य का।

मानुषता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मनुष्य का भाव या धर्म्म मनुष्यता। आदमीयत।

मानुषिक–वि० [सं०] मनुष्य-संबंधी। मनुष्य का।

मानुषिबुद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] मनुष्य शरीरधारी बुद्ध। जैसे, गौतम बुद्ध आदि। (ये ध्यानी बुद्ध से पृथक् होते हैं)

मानुषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्त्री। औरत। (२) तीन प्रकार की चिकित्साओं में से एक। मनुष्यों के उपयुक्त चिकित्सा। (शेष दो चिकित्साएँ आसुरी और दैवी कहलाती हैं।)

वि० [सं० मानुषीय] मनुष्य-संबंधी। मनुष्य का। उ०—तूरि जब लौं जरा रोगरु चलत इंद्री भाई। आपनो कल्याण करि ले मानुषी तनु पाई।—सूर।

मानुषीय–वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुष्य–वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का

मानुष्यक–वि० [सं०] मनुष्य संबंधी। मनुष्य का।

मानुस–संज्ञा पुं० [सं० मानुष] मनुष्य। आदमी। उ०—का निचिंत रे मानुस अपनी चिन्ता आछु। लेहु सजग होइ अगमन पुनि पछतासि न पाछु।—जायसी

यौ०—भला मानुस।

माने–संज्ञा पुं० [अ० मानी] अर्थ। मतलब। आशय।

मानों–अव्य [हिं० मानना] जैसे। गोया। उ०—(क) मयन मदन पुर दहन गहन जानि आनि कै सबै को सारु धनुष गढ़ायो है। जनक सदसि जहाँ भले भले भूमिपाल कियो बलहीन बल आपनो बढ़ायो है। कुलिस कठोर कूर्म पीठ तें कठिन अति हठनि पिनाक काहू चपरि चढ़ायो है। तुलसी सो राम के सरोज पानि परसत टूट्यो मानों बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है।—तुलसी। (ख) तिलक भाल पर परम मनोहर गोरोचन को दीन्हों। मानों तीन लोक की शोभा अधिक उदय सो कीन्हों।—सूर। (ग) प्रिय पठयो मानों सखि सुजान। जगभूषण को भूषण निधान। निज आई हम को सीख देन। यह किधौं हमारो भरम लेन।—केशव।

मानाखी–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की चिड़िया।

मानौ*–अव्य दे० "मानों"।

मान्य–वि० [सं०] [स्त्री० मान्या] (१) मानने योग्य। माननीय। (२) आदर के योग्य। सम्मान के योग्य। पूजनीय। पूज्य। (३) प्रार्थनीय।

संज्ञा पुं० (१) विष्णु। (२) शिव। महादेव। (३) मैत्रावरुण।

संज्ञा पुं० दे० "मान"।

मान्यस्थान–संज्ञा पुं० [सं०] आदर या मान का कारण।

विशेष—मनु जी ने पाँच मान्यस्थान लिखे हैं—वित्त, बंधु,

वय, कर्म और विद्या। अर्थात् धन-संपत्ति, संबंध, अवस्था, कार्य्य और योग्यता इन पाँच कारणों से मनुष्य का आदर किया जाता है।

माप-संज्ञा स्त्री० [हिं० मापना] (१) मापने की क्रिया या भाव। नाप।

यौ०—माप तौल=जाँच।

(२) वह मान जिससे कोई पदार्थ मापा जाय। अड्डा। मान। (३) परिमाण।

मापक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मान। माप। अड्डा। पैमाना। (२) वह जिससे कुछ मापा जाय। मापने की चीज़। (३) वह जो मापता हो।

मापना-क्रि० स० [सं० मापन] (१) किसी पदार्थ के विस्तार, आयत वा वर्गत्व और घनत्व का किसी नियत मान से परिमाण करना। नापना। जैसे—अंगुल के मान से किसी पटरी की लंबाई और चौड़ाई का मान निकालना कि इसकी लंबाई इतने अंगुल वा चौड़ाई इतने अंगुल है। किसी कोठरी के वर्गत्व का मान करना कि वह इतने वर्ग गज़ की है। उ०—(क) कहि धौं शुक्र कहा धौं कीजै आपुन भए भिखारी। जै जैकार भयो भुव मापत तीन पैंड भइ सारी। —सूर। (ख) बावन को पद लोकन मापि ज्यों बावन के बपु माहँ सिधायो।—केशव। (ग) हँसन लगी सहचरि सबै देखहिं नयन दुराइ। मानों मापति लोयननि कर परसनि फैलाइ।—गुमान। (२) किसी मान वा पैमाने में भरकर द्रव वा चूर्ण वा अन्नादि पदार्थों का नापना। जैसे, दूध मापना, चूना मापना। (३) पदार्थ के परिमाण को जानने के लिए कोई क्रिया करना। नापना।

क्रि० अ० [सं० मत्त] मतवाला होना। उ०—(क) नयन सजल तन थर थर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु मापी।—तुलसी। (ख) तलफत विषम मोह मन मापा। माँजा मनहु मीन कहँ ब्यापा।—तुलसी।

माफ-वि० [अ०] जो क्षमा कर दिया गया हो। क्षमित।

मुहा०—माफ करना=क्षमा करना। उ०—(क) प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो। साबिक जमा हुती जो जोरी मीजां कुल तल लायो। ·· ·········बको तुम्हार बरामद हू को लिखि कीन्हों है साफ। सूरदास को वह मुहासिबा दस्तक कीजो माफ।—सूर। (ख) खलनि को योग जहाँ नाज़ ही में देखियतु माफ करिबेहो माहँ होत कर नाशु है।—गुमान।

माफकत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुआफिक होने का भाव। अनुकूलता। (२) मेल। मैत्री।

यौ०—मेल-माफकत।

माफल-संज्ञा पुं० [?] एक प्रकार का खट्टा नीबू।

माफिक†-वि० [अ० मुआफिक] (१) अनुकूल। अनुसार।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—होना।

(२) योग्य।

माफिकत-संज्ञा स्त्री० दे० 'माफकत'।

माफी-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) क्षमा।

मुहा०—माफी चाहना वा माँगना=क्षमा माँगना। माफ किए जाने के लिये प्रार्थना करना।

(२) वह भूमि जिसका कर सरकार से माफ हो। बाध।

यौ०—माफीदार=माफी की भूमि का मालिक। जिसकी भूमि की मालगुजारी सरकार ने माफ की हो।

(३) वह भूमि जो किसी को बिना कर के दी गई हो।

क्रि० प्र०—देना।—पाना।—मिलना।

माम*‡-संज्ञा पुं० [सं० माम्] (१) ममता। अहंकार। उ०—रहहु सँभारे राम बिचारे कहत अहौ जो पुकारे हो। मूँड मुड़ाय फूलिके बैठे मुद्रा पहिर मँजूसा हो। ताहि उपर कछु छार लपेटे भितर भितर घर मूसा हो। गाउँ बसत है गर्व भारती माम काम हंकारा हो। मोहनि जहाँ तहाँ लै जैहै नाहीं रहे तुम्हारा हो।—कबीर। (२) शक्ति। अधिकार। इख़्तियार।

मामता-संज्ञा स्त्री० [सं० ममता] (१) अपनापन। आत्मीयता। (२) प्रेम। मुहब्बत। अनुराग।

मामरी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का पेड़ जो हिमालय की तराई में रावी नदी से पूर्व की ओर तथा पश्चिम और मध्य भारत में होता है। इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत और चिकनी होती है, जिस पर रोगन करने से बहुत अच्छी चमक आती है। इसकी लकड़ी से मेज़, कुरसी, आलमारी आदि आरायशी चीज़ें बनाई जाती हैं। इसकी छाल ओषधि के काम में आती है और जड़ साँप के काटने की ओषधि है। यह बीजों से उगता है। इसे चौरी और रूही भी कहते हैं।

मामलत, मामलति*†-संज्ञा स्त्री० [अ० मुआमिलत] (१) मामिला। व्यवहार की बात (२) विवादास्पद विषय। उ०—वही जो मामिलत पहले चुकाई। करौ सो जाइ तेरे हाथ भाई।—सूदन।

मामला-संज्ञा पुं० [अ० मुआमिला] (१) व्यापार। काम। धंधा। उद्यम।

मुहा०—मामला बनाना=काम साधना।

(२) पारस्परिक व्यवहार। जैसे, लेन-देन, क्रय-विक्रय इत्यादि। (३) व्यावहारिक, व्यापारिक वा विवादास्पद विषय।

मुहा०—मामला करना=(१) बात चीत करना। बात पक्की करना। (२) पारस्परिक वैषम्य दूर करके निश्चयपूर्वक कुछ निर्धारण करना। फैसला करना। मामला बनाना=काम ठीक करना। बात पक्की करना।

(४) पक्की या तै की हुई बात। कौल करार। (५) झगड़ा। विवाद। मुक़दमा।

मुहा०—दे० "मुकदमा" के मुहा०।

(७) प्रधान विषय। मुख्य बात। (८) सुंदर स्त्री। युवती। (बाज़ारू) (९) संभोग। स्त्री-प्रसंग।

मुहा०—मामला बनाना=संभोग करना। प्रसंग करना।

मामा-संज्ञा पुं० [अनु० मि० सं० मातुल] [स्त्री० मामी] माता का भाई। माँ का भाई।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) माता। माँ। उ०—आदम आदि सिद्धि नहिं पावा। मामा हौवा कहँ ते आवा।—कबीर। (२) रोटी पकानेवाली स्त्री।

यौ०—मामागीरी=दूसरों की रोटी पकाने का काम।

(३) बुड्ढी स्त्री। बुढ़िया। (४) नौकरानी। दाई। दासी। लौंडी।

मामिला-संज्ञा पुं० दे० "मामला"।

मामी-संज्ञा स्त्री० [सं० मा=निषेधार्थक] आरोप को ध्यान में न लाना। अपने दोष पर ध्यान न देना।

मुहा०—मामी पीना=दोषारोपण को ध्यान में न लाना। मुकर जाना। अपने दोष पर ध्यान न देना। उ०—(क) ऊधो हरि काहे के अंतर्यामी। अजहुँ न आइ मिले यहि औसर अवधि बतावत लामी। कीन्ही प्रीति पुहुप संडा की अपने काज के कामी। तिनको कौन परेखा कीजै जे हैं गरुड़ के गामी। आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी। सूर इते पर सुनसनि मरियत ऊधो पीवत मामी।—सूर। (ख) लाज कि और कहा कहि केशव जे सुनिये गुण ते सब ठाये। मामी पिये इनकी मेरी माइ को है हरि आठहू गाँठ हठाये।—केशव।

मामूँ-संज्ञा स्त्री० [अनु० मि० सं० मातुल] [स्त्री० ममानी] माता का भाई। मामा। (मुसलमान)

मामूल-संज्ञा पुं० [अ०] (१) टेव। लत। (२) रीति। रवाज। परिपाटी। (३) वह धन जो किसी को रवाज आदि के कारण मिलता हो।

मामूली-वि० [अ०] (१) नियमित। नियत। (२) सामान्य। साधारण।

माय✻†-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृ] (१) माता। माँ। जननी। उ०—जसुमति माय लाल अपने को शुभ दिन डोल झुलायो।—सूर। (२) किसी बड़ी वा आदरणीय स्त्री के लिए संबोधन का शब्द। उ०—तब जानकी सासु पग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं० माया] दे० "माया"। उ०—(क) ईश माय विलोकि कै उपजाइयो मन पूत।—केशव। (ख) मुनि बेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय हैं।—तुलसी।

अव्य० [सं० मध्य] दे० "माहिं"। उ०—पाछे लोकपाल सब जीते सुरपति दियो उठाय। बरुण कुबेर अग्नि यम मारुत स्ववस किये क्षण माय।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीतांबर। (२) असुर।

मायक-संज्ञा पुं० [सं०] माया करनेवाला। मायावी। उ०—(क) सायक सम मायक नयन रँगे त्रिविधि रँग गात। झरनौ लखि दुरि जाति जल लखि जलजात लजात।—बिहारी। (ख) हंसगति नायक कि गूढ़ गुण गायक कि श्रवण सुहायक कि मायक हैं मय के।—केशव।

† संज्ञा पुं० दे० "मायका"।

मायका-संज्ञा पुं० [सं० मातृ+का (प्रत्य०)] नैहर। पीहर। उ०—(क) पठई ससुझाय सहेलिन यों कोऊ मायके में मिलतीं न कहा। (ख) सो जा सखी भरमै मति री यह खोजा हमारे ही मायके-वारो।—दूलह। (ग) मायके में मनभावन की रति कीरति शंभु गिरा हू न गावति।—शंभु।

मायण-संज्ञा पुं० [सं०] वेद का भाष्य करनेवाले सायण के पिता का नाम।

मायन✻†-संज्ञा पुं० [सं० मातृका+आनयन] (१) वह दिन वा तिथि जिस में विवाह में मातृका-पूजन और पितृ-निमंत्रण होता है। उ०—बनि बनि आवत नारि जानि गृह मायन हो।—तुलसी। (२) उपर्युक्त दिन का कृत्य। मातृका-पूजन या पितृ-निमंत्रण आदि कार्य। उ०—अभ्युदयिक करवाय श्राद्ध विधि सब विवाह के चारा। कृत्य तेल मायन करवैहैं ब्याह विधान अपारा।—रघुराज।

मायनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मायाविनी"। उ०—प्रचंड कोप ताड़का अखंड ओज मायनी। गिरी धरा धड़ाक दै सुरेश शोक-दायनी।—रघुराज।

संज्ञा स्त्री० [अ० मानी] अर्थ। मतलब। आशय।

मायल-वि० [फ़ा०] (१) झुका हुआ। रुजू। प्रवृत्त। उ०—इक तो हायल रहत हौं मायल है वा चाय। तापर घायल कै गई पायल बाल बजाय।—रामसहाय। (२) मिश्रित। मिला हुआ। जैसे,—सब्जी मायल सफेद रंग का पक्षी देखने में बहुत सुंदर लगता है।

मायव-संज्ञा पुं० [सं०] मायु के गोत्र के लोग।

माया-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लक्ष्मी। (२) द्रव्य। धन। संपत्ति। दौलत। उ०—(क) माया त्यागे क्या भया मान तजा नहिं जाय।—कबीर। (ख) दब माया को दोष यह जो कबहूँ घटि जाय। तौ रहीम मरिबो भलो दुख सहि जियै बलाय।—रहीम। (ग) जो चाहै माया बहु जोरी। करै अनर्थ सो लाख करोरी।—निश्चल। (३) अविद्या। अज्ञानता। भ्रम। (४) छल। कपट। धोखा। चालबाजी। उ०—(क) सुर माया बस केकई कुसमय कीन्ह कुचाल।—तुलसी। (ख)

धरि कै कपट भेष भिक्षुक को दसकंधर तहँ आयो। हरि लीन्हों छिन में माया करि अपने रथ बैठायो।—सूर। (ग) तब रावण मन में कहै करौं एक अब काम। माया को परपंच कै रचौं सु लछमन राम।—हनुमन्नाटक। (घ) साहस अनृत चपलता माया।—तुलसी। (५) सृष्टि की उत्पत्ति का मुख्य कारण। प्रकृति। उ०—(क) माया, ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा।—तुलसी। (ख) माया माहिं नित्य लै पावै। माया हरि पद माहिं समावै।—सूर। (ग) माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं ऐसी मन गुनिये।—तुलसी। (६) ईश्वर की वह कल्पित शक्ति जो उसकी आज्ञा से सब काम करती हुई मानी गई है। उ०—तहँ लखि माया की प्रभुताई। मणि मंदिर सुचि सेज सुहाई। (७) इंद्रजाल। जादू। छल-मय रचना। उ०—जीति को सकै अजय रघुराई। माया ते अस रची न जाई।—तुलसी। (८) इंद्रवज्रा नामक वर्ण-वृत्त का एक उपभेद। यह वर्णवृत्त इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के मेल से बनता है। इस के दूसरे तथा तीसरे चरण का प्रथम वर्ण लघु होता है। जैसे,—राधा रमा गौरि गिरा सु सीता। इन्हैं विचारे नित नित्य गीता। कटैं अपारे अघ ओघ मीता। ह्वैहै सदा तोर भला सुबीता। (९) मगण, तगण, यगण, सगण और एक गुरु का एक वर्णवृत्त। उ०—लीला ही सों बासव जी में अनुरागौ। तीनों लोके पालत नीके सुख पागौ। जो जो चाहो सो तुम बासों सब लीजै। कीजै मेरी ओर कृपा सो सर भीजै।—गुमान। (१०) मय दानव की कन्या जो विश्रवा को ब्याही थी और जिससे खर, दूषण, त्रिशिरा और सूर्पनखा पैदा हुए। उ०—माया सुन जन में कहि लेखा। खर दूषण त्रिशिरा सुपनेखा।—विश्राम। (११) देवताओं में से किसी की कोई लीला, शक्ति, इच्छा वा प्रेरणा। उ०—(क) राम जी की माया। कहीं धूप कहीं छाया। (कहावत) (ख) अति प्रचंड रघु-पति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया।—तुलसी। (ग) तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया वसंत निरमयऊ।—तुलसी (घ) बोले बिहँसि महेश, हरि माया बल जानि जिय।—तुलसी। (१२) कोई आदरणीय स्त्री। (१३) बुद्धि। अक्ल। (१४) दुर्गा का एक नाम। (१५) बुद्धदेव (गौतम) की माता का नाम।

यौ०—मायाकार। मायाजीवी।

*†संज्ञा स्त्री० [हिं० माता] माता। माँ। जननी। उ०—बिनवै रतनसेन की माया। माथे छात पाट नित पाया।—जायसी।

*†संज्ञा स्त्री० [हिं० ममता] (१) किसी को अपना समझने का भाव। ममत्व। (२) कृपा। दया। अनुग्रह। उ०—(क) भलेहिं आय अब माया कीजै। पहुनाई कहँ आयसु दीजै।—जायसी। (ख) साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया।—तुलसी। (ग) दंड एक माया कर मोरे। जोगिनि होउँ चलौं सँग तोरे।—जायसी।

मायाकार—संज्ञा पुं० [सं०] जादूगर। ऐंद्रजालिक।

मायाक्षेत्र—संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिण के एक तीर्थ का नाम।

मायाचार—संज्ञा पुं० [सं०] मायावी।

मायाजीवी—संज्ञा पुं० [सं० मायाजीविन्] जादूगरी से जीविका निर्वाह करनेवाला। जादूगर।

मायातंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का तंत्र।

मायाति संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों की वह नर-बलि जो अष्टमी या नवमी को दुर्गा के सामने दी जाती है।

मायाद्—संज्ञा पुं० [सं०] कुंभीर। मगर।

मायादेवी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बुद्ध की माता का नाम।

मायाधर, मायापटु—संज्ञा पुं० [सं०] मायावी।

मायापुरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नगरी का नाम।

मायाफल—संज्ञा पुं० [सं०] माजूफल।

माया-मोह—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार विष्णु के शरीर से निकला हुआ एक कल्पित पुरुष जिसकी सृष्टि असुरों का दमन करने के लिए हुई थी।

मायायंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] किसी को मोहने की विद्या। सम्मोहन।

मायारवि—संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मायावत्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मायावी। (२) राक्षस। असुर। (३) कंस का एक नाम।

मायावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] कामदेव की स्त्री रति का एक नाम।

मायावाद—संज्ञा पुं० [सं०] ईश्वर के अतिरिक्त सृष्टि की समस्त वस्तुओं को अनित्य और असत्य मानने का सिद्धांत जिसके अनुसार यह सारी सृष्टि केवल माया या मिथ्या समझी जाती है।

मायावादी—संज्ञा पुं० [सं० मायावादिन्] ईश्वर के सिवा प्रत्येक वस्तु को अनित्य माननेवाला। वह जो मायावाद के अनुसार सारी सृष्टि को माया या भ्रम समझता हो।

मायाविनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] छल वा कपट करनेवाली स्त्री। ठगिनी।

मायावी—संज्ञा पुं० [सं० मायाविन्] [स्त्री० मायाविनी] (१) बहुत बड़ा चालाक। छलिया। धोखेबाज़। फ़रेबी। (२) एक दानव का नाम जो मय का पुत्र था और बालि से लड़ने के लिए किष्किंधा में आया था। वाल्मीकि के अनु-सार यह दुंदुभी नामक दैत्य का पुत्र था। उ०—मय सुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ।—तुलसी। (३) बिल्ली। (४) परमात्मा।

मायाबीज–संज्ञा पुं० [सं०] 'ह्रीं' नामक तांत्रिक मंत्र ।

मायासीता–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार वह कल्पित सीता जिसकी सृष्टि सीता-हरण के समय अग्नि के योग से हुई थी । (कुछ पुराणों तथा रामायणों में यह कथा है कि सीता-हरण के समय अग्नि ने वास्तविक सीता को हटाकर उनके स्थान पर माया से एक दूसरी सीता खड़ी कर दी थी ।)

मायासुत–वि० संज्ञा [सं०] मायादेवी के पुत्र, बुद्ध ।

मायास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कल्पित अस्त्र जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसका प्रयोग विश्वामित्र ने श्रीरामचंद्रजी को सिखाया था ।

मायिक–संज्ञा पुं० [सं०] माजूफल ।

वि० [सं०] (१) माया से बना हुआ । जो वास्तविक न हो । बनावटी । जाली । उ०—कहि जग गति मायिक मुनि नाथा । कहे कछुक परमारथ गाथा ।—तुलसी । (१) मायावी । माया करनेवाला ।

मायी–संज्ञा पुं० [सं० मायिन्] (१) माया का अधिष्ठाता, परब्रह्म । ईश्वर । (२) माया करनेवाला व्यक्ति । (३) जादूगर ।

संज्ञा स्त्री० दे० "माई" ।

मायु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पित्त । (२) शब्द । (३) वाक्य ।

मायुक–वि० [सं०] शब्द करनेवाला ।

मायुराज–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर के एक पुत्र का नाम ।

मायूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह रथ जो मयूरों से चलता हो । (२) मयूर । मोर ।

वि० मयूर-संबंधी । मोर का ।

मायूरक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो जंगली मोरों को पकड़ता हो ।

मायूरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] कठूमर ।

मायूरी–संज्ञा स्त्री [सं०] अजमोदा ।

मायूस–वि० [फ़ा०] निराश । ना-उम्मेद ।

मायूसी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा] निराशा । ना-उम्मेदी ।

मायोभव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शुभ । अच्छा । (२) सौभाग्य ।

मार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कामदेव । (२) विघ्न । (३) विष । जहर । (४) धतूरा ।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना] (१) मारने की क्रिया या भाव । (२) आघात । चोट । (३) जिस वस्तु पर मार पड़े । निशाना । (४) मार-पीट । (५) युद्ध । लड़ाई ।

यौ०—मार-काट । मार-पीट ।

अव्य० [हिं० मारना] (१) अत्यंत । बहुत । उ०—(क) सुनत द्वारावती मार उतसौ भयो ······ ।—सूर । (ख) सोने की अटारी चित्रसारी मार जारी जैसे घास की अटारी जर गई फिरे बाँस ते ।—राम ।

*†संज्ञा स्त्री० [हिं० माला] माला । उ०—अमल कपोले आरसी बाहु चंपक मार ।—केशव ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] काली मिट्टी की जमीन । करैल मिट्टी की भूमि । मरवा भूमि ।

मारकंडेय–संज्ञा पुं० [सं० मार्कंडेय] पुराणानुसार एक ऋषि का नाम जो अष्ट चिरंजीवियों में से एक माने जाते हैं । इनके पिता का नाम मृकंड था । इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे । मार्कंडेय ।

मुहा०—मारकंडेय की आयु होना=दीर्घजीवी होना । चिरायु होना । (आशीर्वाद)

मारक–वि० [सं०] (१) मार डालनेवाला । मृत्युकारक । संहारक । उ०—(क) लै उतारि यातैं नृपति भलो चढ़ायो बान । निरदोषिन मारक नहीं यह तारक दुखियान ।—लक्ष्मणसिंह । (ख) सुकवि मिलन की आस एक अवलंब उधारक । नहिं तो कैसे बचती मारयौ मार सु मारक ।—व्यास । (२) किसी के प्रभाव आदि को नष्ट करनेवाला । घात पर प्रतिघात करनेवाला । जैसे,—यह औषध अनेक प्रकार के विषों का मारक है ।

मारका–संज्ञा पुं० [अं० मार्क] (१) चिह्न । निशान । (२) किसी प्रकार का चिह्न जिससे कोई विशेषता सूचित होती हो ।

संज्ञा पुं० [अ०] युद्ध । लड़ाई । (२) बहुत बड़ी या महत्वपूर्ण घटना ।

मुहा०—मारके की बात या काम=कोई महत्वपूर्ण या बड़ी बात या काम ।

मार-काट–संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना+काटना] (१) युद्ध । लड़ाई । जंग । (२) मारने काटने का काम । (३) मारने काटने का भाव ।

मारकायिक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार मार के अनुचर ।

मारकीन–संज्ञा स्त्री० [अं० नैनकिन्] एक प्रकार का मोटा कोरा कपड़ा जो प्रायः गरीबों के पहनने के काम में आता है ।

मारखोर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की बकरी या भेड़ जो काश्मीर और अफगानिस्तान में होती है । यह प्रायः दो तीन हाथ ऊँची होती है और ऋतु के अनुसार रंग बदलती है । इसके सींग जड़ में प्रायः सटे रहते हैं और इसकी दाढ़ी बहुत लंबी और घनी होती है ।

मारग*†–संज्ञा पुं० [सं० मार्ग] राह । रास्ता । मार्ग । उ०—(क) दीपक लेसि जगत कहँ दीन्हा । भा निरमल जग मारग चीन्हा ।—जायसी । (ख) मारग हुत जो अँधेर असूझा । भा उजेर सब जाना बूझा ।—जायसी । (ग) मारग चलहिं पयादेहि पाये । कोतल संग जाहिं डोरियाये ।—तुलसी । (घ) सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौं । मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ।—तुलसी ।

मुहा०—मारग मारना=रास्ते में पथिक को लूट लेना । उ०—

मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो ।—तुलसी । मारग लगना=रास्ते लगना । रास्ता लेना । चला जाना । उ०—(क) जोगी होहु तो जुक्ति सों माँगहु । भुगुति लेहु लै मारग लागहु ।—जायसी । (ख) खप्पर लिये वार भा माँगौं । भुगुति देहु लै मारग लागौं ।—जायसी । (ग) यह सुनि मुनि मारग लगे सुख पायो नर देव ।—केशव । मारग लेना=दे० "मारग लगना" ।

मारगन*-संज्ञा पुं० [सं० मार्गण] (१) बाण । तीर । उ०—तानेउ चाँप स्रवन लगि छाँड़े बिसिख कराल । राम मारगन-गन चले लहलहात जनु ब्याल ।—तुलसी । (२) भिक्षुक । याचक । भिखमंगा ।

मारजन-संज्ञा पुं० दे० "मार्जन" ।

मारजनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मार्जनी" ।

मारजार-संज्ञा पुं० दे० "मार्जार" ।

मारजित्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने कामदेव को जीत लिया हो । (२) बुद्ध ।

मारण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार डालना । प्राण लेना । हत्या करना । (२) एक कल्पित तांत्रिक प्रयोग जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्य के मारने के लिए यह प्रयोग किया जाता है, वह मर जाता है । उ०—(क) मारण मोहन बसिकरण उच्चाटन अरथंभ । आकर्षण बहु भाँति के पढ़ैं सदा करि दंभ ।—रघुनाथदास । (ख) सीखौ सबै मिलि धातु कर्मनि द्रव्य बाढ़त जाइ । आकर्षणादि उचाट मारण वशीकरण उपाइ ।—केशव ।

मारतंड-संज्ञा पुं० दे० "मार्तंड" ।

मारतंड मंडल-संज्ञा पुं० दे० "मार्त्तंड मंडल" ।

मारतंडसुत-संज्ञा पुं० दे० "मार्त्तंडसुत" ।

मारतौल-संज्ञा पुं० [पुर्त० मार्टेलो] एक प्रकार का बड़ा हथौड़ा ।

मारना-क्रि० स० [सं० मारण] (१) बध करना । हनन करना । घात करना । प्राण लेना । उ०—(क) जिन बेधत सुख लक्ष लक्ष नृप कुँवर कुँवरमनि । तिन बानन बाराह बाघ मारत नहिं सिंहनि ।—केशव (ख) धाय सुवा लै मारन गई । समुझि ज्ञान हिये महँ भई । सुआ सो राजा कर बिसरामी । मारि न जाय चहै जेहि स्वामी ।—जायसी । (२) दंड देने के लिए किसी को किसी वस्तु से पीटना वा आघात पहुँचाना । जैसे, लात, थप्पड़, मुक्का, लाठी, जूता, तलवार आदि मारना । उ०—(क) एक ठौर देखत भयो वृषभ एक एक गाय । भय बस भागे जात दोउ एक नर मारत जाय ।—विश्राम । (ख) जो न मुदित मन आज्ञा देही । लाग्यौ मारन तुरतै तेही ।—विश्राम । (३) जरब लगाना । ठोंकना । उ०—जब मैं परेग को मारतौल से मारता हूँ, तो यह परेग इस लकड़ी में घुस जाती है ।—वेलेन्टाइन । (४) दुःख देना । सताना । जैसे,—मुझे तुम्हारी चिंता मार रही है । उ०—देखी राम दुखित महतारी । जनु सुबेलि अवली हिम मारी ।—तुलसी । (५) कुश्ती या मल्लयुद्ध में विपक्षी को पछाड़ देना । जैसे,—इस पहलवान को मेरे पहलवान ने दो बार मारा है । (६) बंद कर देना । जैसे, किवाड़ा मारना । (७) शस्त्र आदि चलाना । फेंकना । जैसे,—उसने कई तीर मारे । उ०—पारथ बाण चहूँ दिशि मारे । यूथ यूथ छत्री संहारे ।—सबलसिंह ।

मुहा०—गोली मारना=(१) किसी को बंदूक की गोली से मार देना । किसी पर बंदूक चलाना वा छोड़ना । (२) जाने देना त्याग देना । ध्यान न देना । तुच्छ वा अनावश्यक समझना । जैसे,—अरे मारो गोली, इस बात में धरा ही क्या है । बंदूक मारना=किसी पर बंदूक की गोली छोड़ना । बंदूक दागना । फैर करना । उ०—दुश्मनों ने भी हर तरफ से वहाँ आकर मुकाबिले के वास्ते दीवारें और बुरजें बनाईं जिनमें बंदूकों के मारने के वास्ते जगह रखी ।—देवीप्रसाद ।

(८) किसी शारीरिक आवेग या मनोविकार आदि को रोकना । (९) नष्ट कर देना । अंत कर देना । न रहने देना । जैसे,—(क) पाले ने फसल मार दी । (ख) तुमने उनका रोज़गार मार दिया । (ग) उसने बार बार उपवास करके अपनी भूख मार ली है । (घ) भूख मारने से अरुचि, तंद्रा, दाह और बल का नाश होता है । (ङ) उसने बहुतेरे घर मारे हैं । (१०) शिकार करना । अहेर करना । आखेट करना । जैसे, मछली मारना, हिरन मारना । (११) किसी वस्तु को इस प्रकार फेंकना कि वह किसी दूसरी वस्तु से ज़ोर से टकरा जाय । उ०—उसने ढोंके को ऊँचा करके ज़ोर से उस खंभे पर मारा जिससे वह खंभा हिल उठा ।—देवकीनंदन ।

मुहा०—दे मारना=(१) पटकना । (२) पछाड़ना । वह मारा=बस अब कार्य सिद्ध हो गया । विजय प्राप्त हुई । जो चाहते थे, सो हो गया । उ०—यह आपकी मेहरबानी है, मैं किस काबिल हूँ । (मन में) वह मारा—अब कहाँ जाती है । आज का शिकार तो बहुत ही नफीस है ।—राधाकृष्णदास ।

(१२) गुप्त रखना । छिपाना । दबाना । उ०—(क) रिस उर मारि रंक जिमि राजा । बिपिन बसै तापस के साजा ।—तुलसी । (ख) खोज मारि रथ हाँकहु ताता । आन उपाय बनहि नहिं बाता ।—तुलसी । (१३) चलाना । संचालित करना ।

मुहा०—गाल मारना=सीटना । बढ़ बढ़कर बातें करना । उ०—(क) मूढ़ मृषा जनि मारेसि गाला । राम बैर होइहि अस हाला ।—तुलसी (ख) काहू को सर सूधो न परै मारत गाल गली गली हाट ।—हरिदास । (ग) मारत गाल

कहा इतनो मनमोहन जू अपने मन ऊटे।—रघुनाथ। कुछ पढ़कर मारना=मंत्र से फूककर कोई चीज किसी पर फेंकना। जैसे, मूँग मारना। साँप पर सरसों मारना। जादू मारना=किसी पर जादू का प्रयोग करना। किसी पर मंत्र या तंत्र करना। डींग मारना=शेखी बघारना। बड़ी बड़ी बातें करना। ऐसी बातें करना जिनका होना असंभव हो। उ०—वाह ऐसा ही था तो चूड़ी पहिर लेते; जवाँमर्दी की डींग क्यों मारते हैं।—देवकीनंदन। मंत्र मारना=जादू करना। मंत्र पढ़कर फूँकना। उ०—गड्डी को एक दिवाल पर फेंक देना और ऐसा मंत्र मारना कि पहिचाना हुआ ही ताश उसमें चिपक जाय, बाकी सब गिर पड़ें।—रामकृष्ण। (१४) धातु आदि को जलाकर उसकी भस्म तैयार करना। जैसे, पारा मारना, सोना मारना। (१५) अनुचित रूप से, बिना परिश्रम के अथवा बहुत अधिक प्राप्ति करना। (इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रायः माल या रकम आदि शब्दों के ही साथ होता है।) जैसे, माल मारना, किसी का हक मारना। (१६) करना। लगाना। जैसे, गोता मारना। चक्कर मारना। (१७) विजय प्राप्त करना। जीतना। जैसे, मैदान मारना। (१८) ताश या शतरंज आदि खेलों में विपक्षी के पत्ते या गोट आदि को जीतना। (१९) जो कुछ देना वाजिब हो, वह न देना। अनुचित रूप से रख लेना। जैसे,—हमारे १००) उसने मार लिए। (२०) बल या प्रभाव कम करना। मारक होना। जैसे,—जहर को जहर मारता है। (२१) किसी योग्य न रहने देना। निर्जीव सा कर देना। जैसे,—इन्हें तो फजूलखर्ची ने मारा है। (२२) डसना। काटना। डंक मारना। (२३) लगाना। देना। जैसे, टाँका मारना। (२४) गुदा भंजन करना। पुरुष का पुरुष के साथ संभोग करना। (२५) संभोग करना। स्त्री-प्रसंग करना।

विशेष—(क) यह शब्द भिन्न भिन्न संज्ञाओं तथा कुछ विशिष्ट क्रियाओं के साथ मुहावरे के रूप में अनेक प्रकार के अर्थ देता है। जैसे,—दम मारना, लकीर मारना, कोर मारना, धार मारना, पीस मारना, सता मारना, आदि। (ख) इसके साथ प्रायः "डालना" और "देना" आदि संयोज्य क्रियाएँ आती हैं।

मारपेंच—संज्ञा पुं० [हिं० मारना+पेंच] वह युक्ति जो किसी को धोखे में रखकर उसकी हानि करने या उसे नीचा दिखाने के लिए की जाय। धूर्तता। चालबाज़ी।

मारफ़त—अव्य० [अ०] द्वारा। वसीले से। ज़रिये से। उ०—(क) सधै मागध मारफत यह काज श्रम बिनु आसु।—गोपाल। (ख) नैपाल में एक अँगरेज़ी दूत रहता है। उसे रेजीडेंट कहते हैं। उसी की मारफत नैपाल राज्य और हिंदुस्तान की गवर्नमेंट से आवश्यकतानुसार लिखा-पढ़ी होती है।—द्विवेदी।

मारव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरु देवता। (२) राजतरंगिणी के अनुसार एक प्राचीन देश।

मारवा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक संकर राग जो परज, विभास और गौरी को मिलाकर बनाया जाता है। कुछ लोग इसे भ्रम से श्रीराग का पुत्र मानते हैं। (२) एक प्रकार का खयाल जो तिलवाड़ा ताल पर बजाया जाता है।

मारवाड़—संज्ञा पुं० [हिं० मेवाड़] (१) मेवाड़ राज्य। दे० "मेवाड़"। (२) राजपूताने का एक प्रांत जहाँ अब बीकानेर और जोधपुर के राज्य हैं। मेवाड़ के आस-पास का प्रांत।

मारवाड़ी—संज्ञा पुं० [हिं० मारवाड़] [स्त्री० मारवाड़िन] (१) मारवाड़ देश का निवासी। (२) मारवाड़ देश की भाषा।
वि० [हिं० मारवाड़] मारवाड़ देश का। मारवाड़ देश संबंधी।

मारवीज—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र।

मारा*—वि० [हिं० मारना] जो मार डाला गया हो। मारा हुआ। निहत। उ०—परखेसु मोहिं एक पखवारा। नहिं आवहुँ तो जानेसु मारा।—तुलसी।
मुहा०—मारा फिरना, मारा मारा फिरना=व्यर्थ घूमना फिरना। बुरी दशा में इधर उधर घूमना। उ०—टुक हिर्स हवा को छोड़ मियाँ मत देश विदेस फिरे मारा।—नज़ीर।

मारात्मक—वि० [सं०] (१) हिंसक। (२) दुष्ट। (३) प्राणनाशक। सांघातिक।

माराभिभू—संज्ञा पुं० [सं०] बुद्धदेव।

मारामार—क्रि० वि० [हिं० मारना] अत्यंत शीघ्रता से। बहुत जल्दी। उ०—मैं अयोध्या के राजा का सारथी हूँ। दमयंती का स्वयंवर आज ही सुनके मारामार घोड़ों को यहाँ लाया हूँ।—शिवप्रसाद।
संज्ञा स्त्री० दे० "मारपीट"।

मारि*—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार डालना। वध करना। (२) मरी (रोग)।

मारिच*—संज्ञा पुं० दे० "मारीच"।
संज्ञा पुं० दे० "मार्च"।

मारित*—वि० [सं०] (१) जो मार डाला गया हो। निहत। (२) जो भस्म कर दिया गया हो। (वैद्यक)

मारिष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) नाटक का सूत्रधार। (२) नाटक में किसी मान्य या प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए संबोधन। (३) मरसा नामक साग।

मारिषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्ष की माता का नाम।

मारी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना] कोई ऐसा संक्रामक रोग जिसके कारण बहुत से लोग एक साथ मरें। मरी। जैसे हैजा

प्लेग, चेचक इत्यादि। दे० "मरी"। उ०—(क) ईति भीति ग्रह प्रेत चौरानल व्याधि बाधा समन घोर मारी।—तुलसी। (ख) सब जदपि अमारीधर तदपि अमारी सम परदल धँसत।—गोपाल।

संज्ञा पुं० [सं० मारिन्] हत्या करनेवाला। घातक।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चंडी। (२) माहेश्वरी शक्ति। (३) मरी। (रोग)

मारीच–संज्ञा पुं० [सं०] रामायण के अनुसार वह राक्षस जिसने सोने का हिरन बनकर रामचंद्र को धोखा दिया था।

मारीचपत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] सरल वृक्ष।

मारीचवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] मिर्च का पेड़।

मारीष–संज्ञा पुं० [सं०] मरसा साग।

मारीची–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार के देवता।

मारीन्य–संज्ञा पुं० [सं०] अग्निदाता।

मारुंड–संज्ञा पुं० [सं०] साँप का अंडा।

मारु*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मार"।

मारुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु। पवन। हवा। (२) वायु का अधिपति देवता।

यौ०—मारुतनंदन, मारुतसुत, मारुततनय=हनुमान।

मारुतसुत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

मारुतापह–संज्ञा पुं० [सं०] वरुण वृक्ष।

मारुताशन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्त्तिकेय। (२) साँप।

मारुति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हनुमान। (२) भीम।

मारुदेव–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम।

मारुध–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन देश का नाम।

मारू–संज्ञा पुं० [हिं० मारना] (१) एक राग जो युद्ध के समय बजाया और गाया जाता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह श्रीराग का पुत्र माना जाता है। उ०—(क) भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई।—तुलसी। (ख) सैयद समर्थ भूप अली अकबर दल चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।—गुमान। (ग) रण की टंकार गाजे दुंदुभी में मारू बाजे तेरे जीय ऐसो रुद्र मेरी ओर ल्यैगो।—हनु०। (२) बहुत बड़ा डंका या नगाड़ा। जंगी धौंसा। उ०—उस काल मारू जो बाजता था, सो तो मेघ सा गाजता था।—लल्लू०।

संज्ञा पुं० [सं० मरुभूमि] मरुदेश के निवासी। मारवाड़। उ० —प्यासे दुपहर जेठ के थके सबै जल सोधि। मरुधर पाय मतीरहू मारू कहत पयोधि।—बिहारी।

वि० [हिं० मारना] (१) मारनेवाला। (२) हृदयवेधक। कटीला। उ०—काजल लगे हुए मारू नयनों के कटाक्ष अपने सामने तरुणियों को क्या समझते थे।—गदाधरसिंह।

संज्ञा पुं० [देश०] (१) एक प्रकार का शाहबलूत जो शिमले और नैनीताल में अधिकता से पाया जाता है। इसकी लकड़ी केवल जलाने और कोयला बनाने के काम में आती है। इसके पत्ते और गोंद चमड़ा रँगने में काम आते हैं। (२) काकरेजी रंग।

मारूत–संज्ञा स्त्री० [हिं० मारना ?] घोड़ों के पिछले पैरों की एक भौंरी जो मनहूस समझी जाती है।

संज्ञा पुं० [सं० मारुति] हनुमान। (डिं०)

मारे–अव्य० [हिं० मारना] वजह से। कारण से। उ०—(क) नैन गये फिरि, फेन बहै मुख, चैन रह्यो नहिं मैन के मारे।—पद्माकर। (ख) परंतु आश्रम को छोड़ते हुए दुःख के मारे पाँव आगे नहीं पड़ते।—लक्ष्मणसिंह। (ग) मेरे नाम से चूल्हे की राख भी रखी रहे, तौ भी लोगों के मारे बचने नहीं पाती।—दुर्गाप्रसाद मिश्र। (घ) कुँवर कह्यो वे वृद्ध बिचारे। छाँड़ेन धर्म प्यास के मारे।—रघुनाथदास। (ङ) तिस समय एक बड़ी आँधी चली कि जिसके मारे पृथ्वी डोलने लगी।—लल्लूलाल।

मार्कंड–संज्ञा पुं० दे० "मार्कंडेय"।

मार्कंडेय–संज्ञा पुं० [सं०] मृकंड ऋषि के पुत्र जिनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे अपने तपोबल से सदा जीवित रहते हैं और रहेंगे।

मार्क–संज्ञा पुं० दे० "मार्का"।

संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज। भँगरैया।

मार्कर, मार्कव–संज्ञा पुं० [सं०] भृंगराज। भँगरैया।

मार्का–संज्ञा पुं० [अं०] कोई अंक वा चिह्न जो किसी विशेष बात का सूचक हो। संकेत। छाप।

मार्केट–संज्ञा पुं० [अं०] बाज़ार। हाट।

मार्ग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रास्ता। पंथ। (२) गुदा। (३) कस्तूरी। (४) अगहन का महीना। उ०—हिम ऋतु मार्ग मास सुखमूला। ग्रह तिथि नखत योग अनुकूला।—रघुनाथदास। (५) मृगशिरा नक्षत्र। (६) विष्णु। (७) लाल अपामार्ग।

वि० [सं०] मृग-संबंधी।

मार्गक–संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन का महीना।

मार्गण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्वेषण। ढूँढ़ना। (२) प्रेम। (३) याचक। भिखमंगा।

मार्गद–संज्ञा पुं० [सं०] केवट।

मार्गधेनु–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक योजन का परिमाण।

मार्गन*–संज्ञा पुं० [सं० मार्गण] बाण। तीर।

मार्गप, मार्गपति–संज्ञा पुं० [सं०] राज्य का वह कर्म्मचारी जो मार्गों का निरीक्षण करता हो।

मार्गव–संज्ञा पुं० [सं०] एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति निषाद पिता और आयोगवी माता से मानी जाती है।

मार्गवती-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह देवी जो मार्ग चलनेवालों की रक्षा करनेवाली मानी जाती है।

मार्गवेद-संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक ऋषिकुमार का नाम।

मर्गशिर-संज्ञा पुं० [सं० मार्गशीर्ष] अगहन का महीना। मार्गशीर्ष।

मार्गशिरस्-संज्ञा पुं० दे० "मार्गशीर्ष"।

मार्गशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] अगहन का महीना।

मार्गिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पथिक। यात्री। (२) मृगों को मारनेवाला, व्याध।

मार्गी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक मूर्च्छना जिसका स्वरग्राम इस प्रकार है—नि, स, रे, ग, म, प, ध। म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स।

संज्ञा पुं० [मार्गिन्] मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति। रास्ता चलनेवाला। बटोही।

मार्गीयव-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सामगान।

मार्च-संज्ञा पुं० [अं०] (१) अँगरेज़ी तीसरा मास जो प्रायः फागुन में पड़ता है। फरवरी के बाद और अप्रैल के पहले पड़नेवाला अँगरेज़ी महीना। (२) गमन। गति। (३) सेना का कूच। सेना का प्रस्थान।

मार्ज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मार्जन। (२) विष्णु। (३) धोबी।

मार्जन-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) साफ करने का भाव। स्वच्छ करना। (२) सफाई। (३) लोध का वृक्ष। (४) लोध।

मार्जना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सफाई। (२) क्षमा। माफ़ी।

मार्जनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) झाड़ू। बुहारी। (२) मध्यम स्वर की चार श्रुतियों में से अंतिम श्रुति। (संगीत)

मार्जनीय-संज्ञा पुं० [सं०] अग्नि।

वि० मार्जन करने योग्य।

मार्जार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मार्जारी] (१) बिलार। बिल्ली। (२) लाल चीता (वृक्ष)। (३) पूतिमारवा।

मार्जारक-संज्ञा पुं० [सं०] मोर।

मार्जारकर्णिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] चामुंडा का एक नाम।

मार्जारगंधा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्गपर्णी।

मार्जारपाद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बुरे लक्षणवाला घोड़ा।

मार्जारी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी। (२) गंधनाकुली।

मार्जारी टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [सं० मार्जारी+हिं० टोड़ी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।

मार्जारीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली। (२) शूद्र।

मार्जालीय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बिल्ली। (२) शूद्र। (३) शिव। (४) एक ऋषि का नाम।

मार्जित-वि० [सं०] स्वच्छ किया हुआ। साफ किया हुआ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्राचीन खाद्य पदार्थ जो दही, चीनी, शहद और मिर्च आदि को मिलाकर और उसमें कपूर डालकर बनाया जाता था।

मार्तंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य। (२) आक का वृक्ष। (३) सूअर। (४) सोनामक्खी।

मार्तंडवल्लभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सूर्य्य की पत्नी, छाया।

मार्त्तिकावत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार चेदि राज्य का एक प्राचीन नगर। (२) उस देश का निवासी।

मार्दव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अहंकार का त्याग। अभिमान-रहित होना। (२) दूसरे को दुःखी देखकर दुःखी होना। (३) सरलता। (४) एक प्राचीन संकर जाति। इस जाति के लोग बहुत मृदु स्वभाव के होते थे।

मार्द्वीक-संज्ञा पुं० [सं०] अंगूर की शराब।

मार्फत-अव्य० [अ०] द्वारा। ज़रिए से। जैसे,—आपकी मार्फत सब काम हो जायगा।

मार्मिक-वि० [सं०] मर्म स्थान पर प्रभाव डालनेवाला। जिसका प्रभाव मर्म पर पड़े। विशेष प्रभावशाली। जैसे, मार्मिक व्याख्यान। मार्मिक कवित्त।

मार्मिकता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मार्मिक होने का भाव। (२) किसी वस्तु के मर्म तक पहुँचने का भाव। पूर्ण अभिज्ञता। जैसे,—संगीत के संबंध में आपकी मार्मिकता प्रसिद्ध है।

मार्ष-संज्ञा पुं० दे० "मारिष"।

माल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षेत्र। (२) कपट। (३) बन। जंगल। (४) हरताल। (५) विष्णु। (६) एक प्राचीन अनार्य्य जाति। भागवत में इसे म्लेच्छ लिखा है। (७) एक देश का नाम।

*संज्ञा पुं० [सं० मल] कुश्ती लड़नेवाला। दे० "मल्ल"। उ०—(क) कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।—तुलसी। (ख) योगी घर मेले सब पाछे। उतरे माल आये रन काछे।—जायसी।

†संज्ञा स्त्री० [सं० माला] (१) माला। हार। उ०—(क) बिनय प्रेम-बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी।—तुलसी। (ख) पहिरि लियो छन माँझ असुर बल औरउ नखन बिदारी। रुधिर पान करि आँत माल धरि जय जय शब्द पुकारी।—सूर। (ग) चंदन चित्रित रंग, सिंधुराज यह जानिए। बहुत दाहिनी संग, मुकुता माल बिसाल उर।—केशव। (घ) कितने काज चलाइयतु चतुराई की चाल। कहे देत गुन रावरे सब गुन निर्गुन माल।—बिहारी। (२) वह रस्सी वा सूत की डोरी जो चरखे में मूढ़ी वा बेलन पर से होकर जाती है और टेकुए को घुमाती है। (३) पंक्ति। पाँती। उ०—(क) सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से।—तुलसी। (ख) कालधी बिसाल दिकराल ज्वाल माल मानो लंक लीलिबे को काल

रसना पसारी है।—तुलसी। (ग) धाम धामनि आगि की बहु ज्वाल माल बिराजहीं। पवन के झकझोर ते झँझरी झरोखे बाजहीं।—केशव। (घ) गीधन की माल कहुँ जंबुक कराल कहुँ नाचत बैताल लै कपाल जाल जात से।—हनुमन्नाटक।

संज्ञा पुं० [अ०] (१) संपत्ति। धन। उ०—(क) भली करी उन श्याम बँधाए। बरज्यो नहीं कह्यो उन मेरो अति आतुर उठि धाए। अल्प चोर बहु माल लुभाने संगी सबन धराए। निदरि गए तैसो फल पायो अब वे भए पराए।—सूर। (ख) धाम औ धरा को माल बाल अबला को अरि तजत परान राह चहत परान की।—गुमान। (ग) माखन चोरी सों अरी परकि रहेउ नँदलाल। चोरन लागै अब लखौ नेहिन को मन-माल।—रसनिधि।

यौ०—मालखाना। मालगाड़ी। मालगोदाम। मालज़ामिन। माल मनकूला। माल गैरमनकूला। मालदार आदि।

मुहा०—माल उड़ाना=(१) बहुत रुपया खर्च करना। धन का अपव्यय करना। (२) किसी की संपत्ति को हड़प लेना। दूसरे का माल अनुचित रूप से ले लेना। माल काटना=किसी के धन को अनुचित रूप से अधिकार में लाना। माल उड़ाना। माल चीरना=पराया धन हड़पना। माल उड़ाना। माल मारना। माल मारना=अनुचित रूप से पराए धन पर अधिकार करना। पराया धन हड़पना। दूसरे की संपत्ति दबा बैठना।

(२) सामग्री। सामान। असबाब। उ०—(क) कहो तुमहिं हम को का बूझति। लै लै नाम सुनावहु तुम हीं मो सों कहा अरूझति। तुम जानति मैं हूँ कछु जानत जो जो माल तुम्हारे। डारि देहु जा पर जो लागै मारग चलौ हमारे।—सूर। (ख) मिती ज्वार भाटा हू की शीघ्र ही निकारै। लोग कहत हैं भरे माल कूँ कृति हु डारे।—श्रीधर।

मुहा०—माल काटना=चलती रेलगाड़ी में से वा मालगुदाम आदि में से माल चुराना। माल-टाल=धन-संपति। माल-असबाब। माल-मता=माल-असबाब।

(३) क्रय विक्रय का पदार्थ। (४) वह धन जो कर में मिलता है। (५) फसल की उपज। (६) उत्तम और सुस्वादु भोजन।

मुहा०—माल उड़ाना=सुस्वादु और बहुमूल्य भोजन करना।

(७) गणित में वर्ग का घात। वर्ग अंक। (८) किसी वस्तु का सार द्रव्य। वह द्रव्य जिससे कोई चीज़ बनी हो। जैसे,—(क) इस अँगूठी का माल अच्छा है। (ख) इस कड़े का माल खोटा है। (ग) एक बीघे पोस्त से दो सेर अच्छा माल निकलता है। (९) सुंदर स्त्री। युवती। (बाजारू)।

मालकँगनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० माल ? +कँगनी] एक लता का नाम जो हिमालय पर्वत पर झेलम नदी से आसाम तक ४००० फुट की ऊँचाई तक तथा उत्तरीय भारत, बरमा और लंका में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ गोल और कुछ कुछ नुकीली होती हैं। यह लता पेड़ों पर फैलती है और उन्हें आच्छादित कर लेती है। चैत के महीने में इसमें घौद के घौद फूल लगते हैं और सारी लता फूलों से लदी हुई दिखाई पड़ती है। फूलों के झड़ जाने पर इसमें नीले नीले फल लगते हैं जो पकने पर पीले रंग के और मटर के बराबर होते हैं, जिनके भीतर से लाल लाल दाने निकलते हैं। इन दानों में तेल का अंश अधिक होता है जिससे इन्हें पेरकर तेल निकाला जाता है। मदरास में उत्तरीय सरकार तथा विजिगापट्टम, दलौरा आदि स्थानों में इसका तेल बहुत अधिक तैयार होता है। यह तेल नारंगी रंग का होता है और औषध में काम आता है। वैद्यक के अनुसार इसका स्वाद चरपरापन लिए कड़ुवा, इसकी प्रकृति रूक्ष और गर्म तथा इसका गुण अग्नि, मेधा स्मृतिवर्द्धक और वात, कफ तथा दाह की नाशक बतलाई गई है।

पर्या०—महाज्योतिष्मती। तीक्ष्णा। तेजोवती। कनकप्रभा। सुरलता। अग्निफला। मेधावती। पीता इत्यादि।

मालकँगुनी—संज्ञा स्त्री० दे० "मालकँगनी"।

मालक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्थल पद्म। (२) नीम।

†संज्ञा पुं० दे० "मालिक"।

मालकगुनी—संज्ञा स्त्री० दे० "मालकँगनी"।

मालका—संज्ञा स्त्री० [सं०] माला।

मालकुंडा—संज्ञा पुं० [हिं० माल+हिं० कुंडा] वह कुंडा जिसमें नील कड़ाहे में डाले जाने के पहले रखा जाता है।

मालकोश—संज्ञा पुं० [सं०] एक राग का नाम जिसे कौशिक राग भी कहते हैं। हनुमत् ने इसे छः रागों के अंतर्गत माना है। यह संपूर्ण जाति का राग है। इसका स्वरूप वीर रस-युक्त, रक्त वर्ण, वीर पुरुषों से आवेष्ठित, हाथ में रक्त वर्ण का दंड लिए और गले में मुंड माला धारण किए लिखा गया है। कोई कोई इसे नील वस्त्रधारी, श्वेत दंड लिए और गले में मोतियों की माला धारण किए हुए मानते हैं। इसकी ऋतु शरद् और काल रात का पिछला पहर है। कोई कोई शिशिर और वसंत ऋतु को भी इसकी ऋतु बतलाते हैं। हनुमत् के मत से कौशिकी, देवगिरी, वरवारी, सोहनी और नीलांबरी ये पाँच इसकी प्रियाएँ और बागेश्वरी, ककुभा, पर्य्यंका, शोभनी और खंभाती ये पाँच भार्य्याएँ तथा माधव, शोभन, सिंधु, मारू, मेवाड़, कुंतल, केलिंग, सोम, विहार और नीलरंग ये दस पुत्र हैं। परंतु अन्यत्र बागेश्वरी, बहार, शहाना, अताना, छाया और कुमारी नाम की इसकी रागिनियाँ, शंकरी और जयजयवंती

सहचरियाँ, केदारा, हम्मीर नट, कामोद, खम्माच और बहार नामक पुत्र और भूपाली, कामिनी, झिंझोटी, कामोदी और त्रिजया नाम की पुत्र-वधुएँ मानी गई हैं। कुछ लोग इसे संकर राग मानते हैं और इसकी उत्पत्ति षट सारंग, हिंडोल, बसंत, जयजयवंती और पंचम के योग से बतलाते हैं। रागमाला में इसे पाटल वर्ण, नीलपरिच्छद, यौवन-मदमत्त यष्टिधारी और स्त्री-गण से परिवेष्टित, गले में शत्रुओं के मुंड की माला पहने, हास्य में निरत लिखा है; और चौकी, गौरी, गुणकरी, खंभाती और ककुभा नाम की पाँच स्त्रियाँ, मारू, मेवाड़, बड़हंस, प्रबल, चंद्रक, नंद, भ्रमर और खुखर नामक आठ पुत्र बतलाए हैं; और भरत ने गौरी, दयावती, देवदाली, खंभावती और कोकभा नाम की पाँच भार्य्याएँ और गांधार, शुद्ध, मकर, त्रिंजन, सहान, भक्त-वल्लभ, मालीगौर और कामोद नामक आठ पुत्र और धनाश्री, मालश्री, जयश्री, सुधोरायी, दुर्गा, गांधारी, भीमपलाशी और कामोदी नाम की उनकी भार्याएँ लिखी हैं।

मालकोस-संज्ञा पुं० दे० "मालकोश"।

मालखाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह स्थान जहाँ पर माल असबाब जमा होता हो वा रखा जाता हो। भंडार।

मालगाड़ी-संज्ञा पुं० [हिं० माल+गाड़ी] रेल में वह गाड़ी जिसमें केवल माल असबाब भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाता है। ऐसी गाड़ियों में यात्री नहीं जाने पाते।

मालगुजार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मालगुजारी देनेवाला पुरुष। (२) मध्य-प्रदेश में एक प्रकार के जमींदार जो किसानों से वसूल करके सरकार को मालगुजारी देते हैं।

मालगुजारी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) वह भूमि-कर जो जमींदार से सरकार लेती है। (२) लगान।

मालगुर्जरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। कुछ लोग इसे गौरी और सोरठ से बनी हुई संकर रागिनी मानते हैं।

मालगोदाम-संज्ञा पुं० [हिं० माल+गोदाम] (१) वह स्थान जहाँ पर व्यापार का माल रखा जाता है वा जमा रहता है। (२) रेल के स्टेशनों पर वह स्थान जहाँ मालगाड़ी से भेजा जानेवाला अथवा आया हुआ माल रहता है।

मालचक्रक-संज्ञा पुं० [सं०] पुट्ठे पर का वह जोड़ जो कमर के नीचे जाँघ की हड्डी और कूल्हे में होता है। कूल्हा। चक्का।

मालजातक-संज्ञा पुं० [सं०] गंधबिलाव। गंधमार्जार।

मालटा-संज्ञा स्त्री० [अं० माल्टा] एक प्रकार की लाल रंग की नारंगी जो देखने में सुंदर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होती है। गुजराँवाला और लखनऊ में यह बहुतायत से होती है।

मालति*-संज्ञा स्त्री० दे० "मालती"।

मालतिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिकेय की एक मातृका का नाम।

मालती-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की लता का नाम जो हिमालय और विंध्य पर्वत के जंगलों में अधिकता से होती है। इसकी पत्तियाँ लँबोतरी और नुकीली, ढाई तीन अंगुल चौड़ी और चार पाँच अंगुल लंबी होती हैं। यह युग्मपत्रक लता है और बड़े से बड़े वृक्ष पर भी घटाटोप फैलती है। यह बरसात के प्रारंभ में फूलती है। इसमें फूलों के घौद लगते हैं। फूल सफेद होता है जिसमें पँखुड़ियाँ होती हैं, जिनके नीचे दो अँगुल का लंबा डंठल होता है। इस फूल में भीनी मधुर सुगंध होती है। फूल झड़ने पर वृक्ष के नीचे फूलों का बिछौना सा बिछ जाता है। जब यह लता फूलती है, तब भौंरे और मधुमक्खियाँ प्रातःकाल उस पर चारों ओर गुंजारती फिरती हैं। यह उद्यानों में भी लगाई जाती है; पर इसके फैलने के लिए बड़े वृक्ष वा मंडप आदि की आवश्यकता होती है। यह कवियों की बड़ी पुरानी परि-चित पुष्पलता है। कालिदास से लेकर आज तक के प्रायः सभी कवियों ने अपनी कविता में इसका वर्णन अवश्य किया है। कितने कोशकारों ने भ्रमवश इसे चमेली भी लिखा है। उ०—(क) सोनजर्द बहु फूली सेवती। रूप-मंजरी और मालती।—जायसी। (ख) देखहु धौं प्राणपति निकल अली की गति, मालती सों मिल्यो चाहै लीने साथ आलिनी।—केशव। (ग) घाम घटीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज। जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज।—बिहारी। (२) छः अक्षरों की एक वर्णवृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में दो जगण होते हैं। उ०—जो पै जिय जोर। तजौ सब शोर। सरासन तोरि। लहौ सुख कोरि।—केशव। (३) बारह अक्षरों की एक वर्णिक वृत्ति का नाम। इसके प्रत्येक चरण में नगण, दो जगण और अंत में रगण होता है। उ०—विपिन विराध बलिष्ठ देखिये। नृप तनया भयभीत लेखिये। तब रघुनाथ बाण कै हयो। निज निर्णवा पंथ को ठयो।—केशव। (४) सवैया के मत्तगयंद नामक भेद का दूसरा नाम। (५) युवती। (६) चाँदनी। ज्योत्स्ना। (७) रात्रि। रात। (८) पाठा। पाढ़ा। (९) जायफल का पेड़। जाती।

मालतीक्षारक-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीजात-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालती टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मालती+टोड़ी] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मालतीतीरज-संज्ञा पुं० [सं०] सोहागा।

मालतीपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जातीपत्री। जावित्री।

मालतीफल-संज्ञा पुं० [सं०] जायफल।

मालद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार एक प्रदेश का नाम जिसे ताड़का ने उजाड़ दिया था। (२) मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक अनार्य्य जाति का नाम।

मालदह–संज्ञा पुं० [देश०] (१) भागलपुर के पास के एक नगर का नाम जहाँ का आम अच्छा होता है। (२) उक्त नगर के आस पास होनेवाला एक प्रकार का बड़ा आम जो प्रायः कलमी होता है।

मालदही–संज्ञा स्त्री० [हिं० मालदह] (१) एक प्रकार की नाव जिसमें माझी छप्पर के नीचे बैठकर खेते हैं। (२) एक प्रकार का रेशमी डोरिया (कपड़ा) जो पहले मालदह में बनता था और जिसके लहँगे बनाए जाते थे।

मालदा–संज्ञा पुं० दे० "मालदह"।

मालदार–वि० [फ़ा०] धनवान्। धनी। संपन्न।

मालद्वीप–संज्ञा पुं० [सं० मलयद्वीप] भारतीय महासागर में भारतवर्ष के पश्चिम ओर के एक द्वीपपुंज का नाम। इस द्वीपपुंज में चार छोटे छोटे द्वीप हैं।

मालन–संज्ञा स्त्री० दे० "माली"।

मालपुआ–संज्ञा पुं० दे० "मालपूआ"।

मालपूआ–संज्ञा पुं० [सं० पूप] एक पकवान का नाम। गेहूँ के आटे वा सूजी को शक्कर के रस में गीला घोलते हैं। फिर उसमें चिरौंजी पिस्ता आदि मिलाकर धीमी आँच पर घी में थोड़ा थोड़ा डालकर सिझाकर छान लेते हैं। कभी कभी पानी की जगह घोलते समय इसमें दूध वा दही भी मिलाते हैं।

मालपूवा–संज्ञा पुं० दे० "मालपूआ"।

मालबरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मालाबार] एक प्रकार की ईख जो सूरत में होती है।

मालभंजिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के खेल का नाम।

मालभंडारी–संज्ञा पुं० [हिं० माल+भंडारी] जहाज पर का वह कर्मचारी जिसके अधिकार में लदे हुए माल रहते हैं। (लश०)

मालभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं० मल्लभूमि] एक प्रदेश का नाम जो नैपाल के पूर्व में है।

मालय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) गरुड़ के पुत्र का नाम। (३) व्यापारियों का झुंड।

वि० मलय-संबंधी।

मालव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मालवा देश। (२) एक राग का नाम, जिसे भैरव राग भी कहते हैं। संगीत दामोदर में इसका रूप माला पहने, हरित वस्त्रधारी, कानों में कुंडल धारण किए, संगीतशाला में स्त्रियों के साथ बैठा हुआ लिखा है। इसकी धनश्री, मालश्री, रामकीरी, सिंधुड़ा, आसावरी और भैरवी नाम की छः रागिनियाँ हैं। कोई कोई इसे षाड़व जाति का और कोई संपूर्ण जाति का राग मानते हैं। षाड़व माननेवाले इसमें 'मध्यम' स्वर वर्जित मानते हैं। यह रात को १६ दंड से २० दंड तक गाया जाता है। (३) मालव देश-वासी वा मालव देश में उत्पन्न पुरुष। (४) सफ़ेद लोध।

वि० मालव देश संबंधी। मालवे का।

मालवक–वि० [सं०] मालवा देश-संबंधी। मालवे का।

संज्ञा पुं० मालव देश का निवासी।

मालवगौड़–संज्ञा पुं० [सं०] षाड़व जाति का एक संकर राग जिसमें पंचम स्वर नहीं लगता। इसका स्वरग्राम म, ध, नि, स, रि, ग, म है। इसका उपयोग वीर रस में किया जाता है। कुछ लोग इसे संपूर्ण जाति का मानते हैं और इसके गाने का समय सायंकाल बतलाते हैं।

मालवर्त्ति–संज्ञा पु० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम।

मालवश्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रीराग की एक रागिनी का नाम। यह संपूर्ण जाति की रागिनी है और इसके गाने का समय सायंकाल है। नारद इसे मालव की रागिनी मानते हैं और हनुमत् इसे हिंडोल राग की रागिनी लिखते हैं। हनुमत् इसे ओड़व जाति की मानते हैं और इसके गाने में धैवत और गांधार को वर्जित लिखते हैं। इसे मालश्री और मालसी भी कहते हैं।

मालवा–संज्ञा पुं० [सं० मालव] एक प्राचीन देश का नाम जो अब मध्य भारत में है। इसकी प्रधान नगरी अवंती है जो सप्तमोक्षदायिनी पुरियों में गिनी गई है और जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं। इंदौर, भूपाल, धार, रतलाम, जावरा, राजगढ़, नृसिंहगढ़ और ग्वालियर का राज्य नीमच तक इसी मालवा राज्य की सीमा के अंतर्गत है। यह बहुत प्राचीन देश है और अथर्व वेद की संहिता तक में इसका नाम मिलता है।

संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

मालविका–संज्ञा स्त्री० [सं०] निसोथ।

मालविटपी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कुंभी वृक्ष।

मालवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) श्रीराग की एक रागिनी का नाम। यह ओड़व जाति की है और हनुमत् के मत से इसका स्वरग्राम नि, सा, ग, म, ध, नि है। इसमें ऋषभ और पंचम स्वर वर्जित हैं। कोई कोई इसे हिंडोल राग की रागिनी मानते हैं। (२) पाढ़ा।

वि० दे० "मालवीय"।

मालवीय–वि० [सं०] मालव देश-संबंधी। मालवे का। (२) मालव देश का निवासी। मालवे का रहनेवाला।

मालश्री–संज्ञा स्त्री० दे० "मालवश्री"।

मालसी–संज्ञा स्त्री० दे० "मालवश्री"।

मालहायन-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम।
मालांक-संज्ञा पुं० [सं०] भूस्तृण।
माला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति। अवली। जैसे, पर्वतमाला। (२) फूलों का हार। गजरा।
विशेष—मालाएँ प्रायः फूलों, मोतियों, काठ वा पत्थर के मनकों, कुछ वृक्षों के बीजों अथवा सोने, चाँदी आदि धातुओं से बने हुए दानों से बनाई जाती हैं। फूल या मनके आदि धागे में गुँथे होते हैं और धागे के दोनों छोर एक साथ किसी बड़े फूल वा उसके गुच्छे वा दाने में पिरोकर बाँध दिए जाते हैं। मालाएँ प्रायः शोभा के लिए धारण की जाती हैं। भिन्न भिन्न संप्रदायों की मालाएँ भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की होती हैं और उनका उपयोग भी भिन्न होता है। हिंदुओं की जप करने की मालाएँ १०८ दानों या मनकों की अथवा इसके आधे, चौथाई वा छठे भाग की होती हैं। भिन्न भिन्न संप्रदायों के लोग भिन्न भिन्न पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं। जैसे, वैष्णव तुलसी की, शैव रुद्राक्ष की, शाक्त रक्तचंदन, स्फटिक वा रुद्राक्ष की तथा अन्य संप्रदाय के लोग अन्य पदार्थों की मालाएँ धारण करते हैं। वह माला जिसमें अठारह या नौ दाने होते हैं, सुमिरनी कहलाती है।
पर्य्या०—माल्य। स्रक्। मालिका। गुणिका। गुणंतिका।
मुहा०—माला फेरना=जपना। जप करना। भजन करना।
(३) समूह। झुंड। जैसे, मेघमाला। (४) एक नदी का नाम। (५) दूब। (६) भुइँ आँवला। (७) उपजाति छंद के एक भेद का नाम। इसके प्रथम और द्वितीय चरण में जगण, तगण, जगण और अंत में दो गुरु तथा तीसरे और चौथे चरण में दो तगण, फिर जगण और अंत में दो गुरु होते हैं। ‡ (८) काठ की लंबी डोंकिया जिसमें बच्चों के लगाने का उबटन और तेल आदि रखा जाता है।
मालाकंठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपामार्ग। (२) एक गुल्म का नाम।
मालकंद-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कंद। वैद्यक में इसे तीक्ष्ण, दीपन, गुल्म और गंडमाला रोग को हरनेवाला तथा वात और कफ का नाशक लिखा है।
पर्य्या०—मालकंद। वलकंद। पंक्तिकंद। त्रिशिखदला। ग्रंथिदला। कंदलता।
मालाकार-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मालाकारी] (१) पुराणानुसार एक वर्णसंकर जाति का नाम। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार यह जाति विश्वकर्मा और शूद्रा से उत्पन्न है; पर पराशर पद्धति के अनुसार यह तेलिन और कर्मकार से उत्पन्न है। (२) माली।
मालागिरी-संज्ञा पुं० [हिं० मलयागिरि] एक रंग का नाम। यह रंग टेसू और नासफल से बनाया जाता है। सेर भर टेसू का फूल पानी में आठ दिन तक भिगोया जाता है जिसे दिन में दो बार चलाया जाता है। इसी प्रकार आध सेर नासफल की बुकनी पानी में भिगोई जाती और प्रतिदिन दो बार चलाई जाती है। फिर आठ दिन बाद दोनों के रंग अलग अलग छान लिए जाते और फिर मिला दिए जाते हैं। फिर इसमें डेढ़ माशे हरा रंग मिला दिया जाता है और तब उसमें दो बार कपड़ा रँगा जाता है। सुगंध के लिए इसमें कपूरकचरी की जड़ भी पीसकर मिलाई जाती है।
वि० मालागिरी रंग में रँगा हुआ।
मालागुण-संज्ञा पुं० [सं०] गले का हार।
मालागुणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का असाध्य रोग जिसे लूता कहते हैं।
मालातृण-संज्ञा पुं० [सं०] भूस्तृण।
मालादीपक-संज्ञा पुं० [सं०] एक अलंकार का नाम। इसमें एक धर्म्म के साथ उत्तरोत्तर धर्मियों का संबंध वर्णित होता है या पूर्व-कथित वस्तु को उत्तरोत्तर वस्तु के उत्कर्ष का हेतु बतलाया जाता है। इस अलंकार को कविराज मुरारिदान ने संकर अलंकार माना है और इसे दीपक तथा शृंखलालंकार का समुच्चय कहा है। उ०—रस सों काव्य अरु काव्य सों सोहत वचन महान। बाणी ही सों रसिकजन तिन सों सभा सुजान।
मालादूर्वा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दूब जिसमें बहुत सी गाँठें होती हैं। इसे गंड दूर्वा भी कहते हैं। वैद्यक में इसका स्वाद मधुर, तिक्त और गुण पित्त तथा कफ-नाशक माना गया है।
मालाधर-संज्ञा पुं० [सं०] सत्रह अक्षरों के एक वर्णिक वृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में नगण, सगण, जगण फिर सगण और यगण और अंत में एक लघु और फिर गुरु होता है। उ०—फिरत हम साथ बंधु तुम्हरीहि चिंता भरे।
मालाधार-संज्ञा पुं० [सं०] दिव्यावदान के अनुसार बौद्धों के एक देवता का नाम।
मालाप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर का नाम।
मालाफल-संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष।
मालामंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र।
मालामणि-संज्ञा पुं० [सं०] रुद्राक्ष।
मालामनु-संज्ञा पुं० [सं०] माला-मंत्र।
मालामाल-वि० [फ़ा०] धन-धान्य से पूर्ण। संपन्न।
मालारिष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] पाटी लता जिसके पत्तों की गणना सुगंधि द्रव्य में होती है।
मालालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृक्का। असबरग।

मालाली-संज्ञा स्त्री० [सं०] पृक्का । असबरग ।

मालावती-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक संकर रागिनी का नाम जो पंचम, हम्मीर, नट और कामोद के संयोग से बनती है। कुछ लोग इसे मेघ राग की पुत्रवधू भी मानते हैं।

मालिंद्य-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन पर्वत का नाम ।

मालिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माली । (२) एक प्रकार की चिड़िया । (३) रजक । धोबी ।

संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मालिका] (१) ईश्वर । अधिपति । उ०—माया जीव ब्रह्म अनुमाना । मानत ही मालिक बौराना ।—कबीर । (२) स्वामी । (३) पति । शौहर ।

मालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पंक्ति । (२) माला । (३) गले में पहनने के एक आभूषण का नाम । (४) पक्के मकान के ऊपर का खंड । रावटी । (५) द्राक्षा मद्य । अंगूर की शराब । (६) मद्य । (७) पुत्री । (८) चमेली । चंद्रमल्लिका । (९) अलसी । (१०) मालिन । (११) मुरा । (१२) सप्तला । सातला ।

मालिकाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह कर, दस्तूरी वा हक जो मालिक-अदना वा कब्जेदार मालिक ताल्लुकेदार को देते हैं। (२) स्वामी का अधिकार या स्वत्व । मिल्कियत । स्वामित्व ।

क्रि० वि० मालिक की भाँति । मालिक की तरह । जैसे, मालिकाना तौर पर ।

मालिकी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मालिक+ई (प्रत्य०)] (१) मालिक होने का भाव । (२) मालिक का स्वत्व ।

मालिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मालिन । (२) चंपा नगरी का एक नाम । (३) स्कंद की सात माताओं में से (जिन्हें मातृकाएँ कहते हैं) एक माता का नाम । (४) गौरी । (५) एक नदी का नाम जो हिमालय पर्वत में है । पुराणानुसार इसी के तट पर मेनका के गर्भ से शकुंतला का जन्म हुआ था । (६) मंदाकिनी । गंगा । (७) कलियारी । करियारी । (८) दुरालभा । जवासा । (९) एक वर्णिक वृत्त का नाम । इसके प्रत्येक पाद में १५ अक्षर होते हैं जिनमें पहले छः वर्ण, दसवाँ और तेरहवाँ अक्षर लघु और शेष गुरु होते हैं (न न भ य य) । जैसे,—'अतुलित बलधामं स्वर्णशैलाभदेहं' वा 'दसरथ सुत द्वैषी रुद्र ब्रह्मा न भासै' । इसे कोई कोई मात्रिक भी मानते हैं । (१०) मदिरा नाम की एक वृत्ति का नाम । (११) महाभारत के अनुसार एक राक्षसी का नाम । (१२) मार्कंडेय पुराण के अनुसार रौच्य मनु की माता का नाम ।

मालिन्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मलीनता । मैलापन । (२) अंधकार । अँधेरा ।

मालिमंडन-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक राजा का नाम ।

मालियत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कीमत । मूल्य । (२) संपत्ति । धन । (३) मूल्यवान् पदार्थ । कीमती चीज़ ।

मालिया-संज्ञा पुं० [देश०] मोटे रस्सों में दी जानेवाली एक प्रकार की गाँठ जिसका व्यवहार जहाज के पाल बाँधने में होता है । (लश०)

मालिवान*-सं० पुं० दे० "माल्यावान्" ।

मालिश-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मलने का भाव वा क्रिया । मलाई । मर्द्दन ।

माली-संज्ञा पुं० [सं० मालिन्, प्रा० मालिय] [स्त्री० मालिनि, मालिन, मालन, मालिनी] (१) बाग को सींचने और पौधों को ठीक स्थान पर लगानेवाला पुरुष । वह जो पौधों को लगाने और उनकी रक्षा करने की विद्या जानता और इसी का व्यवसाय करता हो । उ०—पुलक वाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु । माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु ।—तुलसी (२) एक छोटी जाति का नाम । इस जाति के लोग बागों में फूल और फल के वृक्ष लगाते, उनकी कलमें काटते, फूलों को चुनते और उनकी मालाएँ बनाते और फूल तथा माला बेचते हैं । इस जाति को लोग शूद्र वर्ण के अंतर्गत माने जाते हैं । इनके हाथ का छूआ जल ब्राह्मण-क्षत्रियादि पीते हैं ।

वि० [सं० मालिन्] [स्त्री० मालिनी] जो माला धारण किए हो । माला पहने हुए ।

संज्ञा पुं० (१) वाल्मीकीय रामायण के अनुसार सुकेश राक्षस का पुत्र जो माल्यवान् और सुमाली का भाई था । (२) राजीवगण नामक छंद का दूसरा नाम ।

वि० [फ़ा०, अ० माल से] माल से संबंध रखनेवाला । आर्थिक । धन संबंधी । जैसे,—आज कल उसकी माली हालत खराब है ।

माली गौड़-संज्ञा पुं० दे० "मालव गौड़" ।

मालीद-संज्ञा पुं० [अं० मालिबडेना ?] एक धातु का नाम जो चाँदी की भाँति उज्वल और चमकदार पर चाँदी से अधिक कड़ी होती है और बहुत तेज आँच में गलती है । इसका अणुभार ९६ होता है । इसका क्रोमियम, टंग्स्टेन और यूरेनियम से रासायनिक संबंध है और उनके सदृश ही इससे अम्लजित् बनता और क्षार के गुणों को धारण करता है । यह सल्फेट के रूप में मिलता है ।

मालीदा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मलीदा । चूरमा । (२) एक प्रकार का ऊनी कपड़ा जो बहुत कोमल और गरम होता है । यह काश्मीर और अमृतसर आदि स्थानों में बनता है । ऊनी चादर को लेकर गरम पानी में खूब मलते हैं जिससे उसके रोएँ बहुत गाढ़े और मुलायम हो जाते हैं । मालीदे की गिनती बढ़िया ऊनी कपड़ों में होती है ।

मालु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक लता का नाम जो पेड़ों में लिपटती है । (२) नारी ।

मालुक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मटमैले रंग का राजहंस ।

मालुकाच्छद–संज्ञा पुं०[सं०] अश्मंतक । बहेड़ा ।

मालुद–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध मतानुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।

मालुधान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का साँप । (२) आठ नागों में से एक नाग का नाम । (३) महापथ ।

मालुधानी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक लता का नाम ।

मालूक–संज्ञा पुं० [सं०] काली तुलसी । कृष्ण तुलसी ।

मालूधानी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता ।

मालूम–वि० [अ०] जाना हुआ । ज्ञात । उ०—रिपि नारि उधार कियो, सठ केवट मीत पुनीत सुकीर्त्ति लही । निज लोक दियो सेवरी खग को कपि थाप्यो सो मालुम है सब ही । दससीस-विरोध-सभीत विभीषन भूप कियो जन लीक रही । करुनानिधि को भजु रे तुलसी रघुनाथ अनाथ के नाथ सही ।—तुलसी ।

मालूर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेल का पेड़ । (२) कपित्थ । कैथ ।

मालोपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का उपमालंकार जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान होते हैं और प्रत्येक उपमान के भिन्न भिन्न धर्म्म होते हैं । जैसे,—परम पवित्र है पुनीत पृथिवी में आज, पन प्रजापालन में जैसे अवधेस को । जाके भुज जुगल विराजै धर्म क्षत्रिन को धारैं भुवि भार फन मंडन ज्यों सेस को । भनत मुरार सब जगत उचार रह्यौ देखौ धन्य भाग यहै मरुधर देस को । अथक समंद सोहै, ताप-हर चंद सोहै सुखमा सुरिंद सोहै नंद तखतेस को ।—मुरारिदान ।

माल्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) फूल । (२) माला । (३) वह माला जो सिर पर धारण की जाय ।

माल्यक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दमनक । दौना । (२) माला ।

माल्यजीवक–संज्ञा पुं० [सं०] माला बनानेवाला । मालाकार । माली ।

माल्यपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] सन का पेड़ । सनई ।

माल्यवंत–संज्ञा पुं० दे० "माल्यवान्" ।

माल्यवत्–संज्ञा पुं० दे० "माल्यवान्" ।

वि० [स्त्री० माल्यवती] जो माला पहने हो ।

माल्यवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन नदी का नाम ।

वि० स्त्री० जो माला पहने हो ।

माल्यवान्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम । सिद्धांत शिरोमणि में इसे केतुमाल और इलावृत वर्ष के बीच का सीमा-पर्वत लिखा है और नील पर्वत से निषध पर्वत तक इसका विस्तार कहा है । (२) एक राक्षस जो सुकेश का पुत्र था और एक गंधर्व की कन्या देववती से उत्पन्न हुआ था । इसके भाई का नाम सुमाली था जिसकी कन्या कैकसी से रावण उत्पन्न हुआ था । (३) बंबई प्रांत में रत्नागिरि जिले के अंतर्गत एक परगने का नाम ।

वि० [सं० माल्यवत्] [स्त्री० माल्यवती] जो माला पहने हो ।

माल्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की घास ।

माल्ल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक वर्णसंकर जाति जो ब्रह्मवैवर्त्त में लेट पिता और धीवरी माता से उत्पन्न कही गई है । (२) दे० "मल्ल" ।

माल्लवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मल्लों की विद्या या कला ।

माल्ह–संज्ञा स्त्री० दे० "माल" ।

संज्ञा पुं० दे० "मल्ल" ।

मावत*†–संज्ञा पुं० दे० "महावत" । उ०—दियो पठाय श्याम निज पुर को मावत सह गजराज । आगे चले सभा में पहुँचे जहँ नृप सकल समाज ।—सूर ।

मावली–संज्ञा पुं० [देश०] दक्षिण भारत की एक पहाड़ी वीर जाति का नाम । इस जाति के लोग शिवाजी की सेना में अधिकता से थे । उ०—सावन भादौं की भारी कुहू की अँधयारी चढ़ि दुग्ग पर जात मावलीदल सचेत हैं ।—भूषण ।

मावस*–संज्ञा स्त्री० दे० "अमावस" । उ०—दुसह दुराज प्रजान को क्यों न करै अति दंद । अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद ।—बिहारी ।

मावा–संज्ञा पुं० [सं० मंड, हिं० माँड] (१) माँड । पीच । (२) सत्त । निष्कर्ष ।

मुहा०—मावा निकालना=खूब पीटना । कचूमर निकालना ।

(३) वह दूध जो गेहूँ आदि को भिगोकर वा कच्चा मलकर निचोड़ने से निकलता है । (४) प्रकृति । (५) खोया । (६) अंडे के भीतर का पीला रस । जरदी । (७) चंदन का इत्र जिसे आधार बनाकर फूलों और गंध द्रव्यों का इत्र उतारा जाता है । ज़मीन । (८) वह गाढ़ा लसदार सुगंधित द्रव्य जिसे तमाकू में डालकर उसे सुगंधित करते हैं । ख़मीर । (९) मसाला । सामान । (१०) हीरे की बुकनी जिससे मलकर सोने चाँदी को चमकाते हैं वा उन पर कुंदन या जिला करते हैं ।

मावासी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मवासी" ।

माश–संज्ञा पुं० दे० "माष" ।

माशा–संज्ञा पुं० [सं० माष, जंद मष, माहः] एक प्रकार का बाट वा मान जिसका व्यवहार सोने, चाँदी, रत्नों और औषधियों के तौलने में होता है । यह आठ रत्ती के बराबर होता है और एक तोले का बारहवाँ भाग होता है ।

संज्ञा पुं० [सं० महाशय] (१) भला आदमी। सज्जन। शरीफ़। (बंगाली) (२) वंग देश का निवासी। बंगाली।

माशी-संज्ञा पुं० [हिं० माष=उड़द] (१) एक रंग जो कालापन लिए हरा होता है। कपड़े पर यह रंग कई पदार्थों में रँगने से आता है जिनमें हड़ का पानी, कसीस, हलदी और अनार की छाल प्रधान हैं। इनमें रँगे जाने के बाद कपड़े को फिटकरी के पानी में डुबाना पड़ता है। (२) ज़मीन की एक नाप जो २४० वर्ग गज़ की होती है।

वि० उड़द के रंग का। कालापन लिए हरे रंग का। माशी रंग का।

माशूक-संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० माशूका] वह जिसके साथ प्रेम किया जाय। प्रेम-पात्र।

माशूकी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] माशूक होने का भाव। प्रेम-पात्रता।

यौ०—आशिकी माशूकी।

माष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) उड़द। (२) माशा। (३) शरीर के ऊपर काले रंग का उभरा हुआ दाग या दाना। मसा।

वि० मूर्ख।

* संज्ञा स्त्री० दे० "माख"।

माषक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) माशा (तौल)। (२) उड़द।

माषतैल-संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का तेल जो अर्द्धांग, कंप आदि रोगों में उपयोगी माना जाता है।

माषना*-क्रि० स० दे० "माखना"।

माषपत्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] माषपर्णी।

माषपर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वन माष। जंगली उड़द। वैद्यक में इसको वृष्य, बलकारक, शीतल और पुष्टिवर्द्धक माना है।

पर्य्या०—सिंहपुच्छी। ऋषिप्रोक्ता। कृष्णवृंता। पांडु। लोमपर्णी।

माषवटी-संज्ञा स्त्री० [सं०] उड़द की बनी हुई बड़ी। वि०—दे० "बड़ी"।

माषभक्तबलि-संज्ञा पुं० [सं०] तांत्रिकों के अनुसार एक प्रकार का बलि जो दुर्गा, काली आदि को चढ़ाया जाता है। इसमें उड़द, भात, दही आदि कई पदार्थ होते हैं।

माषयोनि-संज्ञा स्त्री० [सं०] पापड़।

माषरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] माँड़। पीच।

माषरावि-संज्ञा पुं० [सं०] लाट्यायन सूत्रानुसार एक ऋषि का नाम। ये माषराविन् ऋषि के गोत्र में थे।

माषवर्द्धक-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्णकार। सुनार।

माषाद-संज्ञा पुं० [सं०] कछुआ।

माषाश-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

माषीण-संज्ञा पुं० [सं०] माष का खेत।

माष्य-संज्ञा पुं० [सं०] माष बोने योग्य खेत। मशार।

मास्-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा। (२) महीना। मास।

मास-संज्ञा पुं० [सं०] काल के एक विभाग का नाम जो वर्ष के बारहवें भाग के बराबर होता है। महीना।

विशेष—मास सौर, चांद्र, नाक्षत्र और सावन भेद से चार प्रकार का होता है। (क) सौर मास उतने काल को कहते हैं जितने काल तक सूर्य का उदय किसी एक राशि में हो; अर्थात् सूर्य्य की एक संक्रांति से दूसरी संक्रांति तक का समय सौर मास कहलाता है। यह मास प्रायः तीस, इकतीस और कभी कभी उन्तीस और बत्तीस दिन का भी होता है। (ख) चांद्र मास चंद्रमा की कला की वृद्धि और ह्रासवाले दो पक्षों का होता है जिन्हें शुक्ल और कृष्ण पक्ष कहते हैं। यह मास दो प्रकार का होता है—एक मुख्य और दूसरा गौण। जो मास शुक्ल प्रतिपदा से आरंभ होकर अमावस्या को समाप्त होता है, उसे मुख्य चांद्र मास कहते हैं। इसका दूसरा नाम अमांत भी है। गौण चांद्र मास कृष्ण प्रतिपदा से आरंभ होता और पूर्णिमा को समाप्त होता है। इसे पूर्णिमांत भी कहते हैं। दोनों प्रकार के मास अट्ठाईस दिन के और कभी कभी घट बढ़कर उन्तीस, तीस और सत्ताईस दिन के भी होते हैं। (ग) नाक्षत्र मास उतना काल है जितने में चंद्रमा सत्ताईस नक्षत्रों में भ्रमण करता है। यह मास लगभग २७ दिन का होता है और उस दिन से प्रारंभ होता है, जिस दिन चंद्रमा अश्विनी नक्षत्र में प्रवेश करता है; और उस दिन समाप्त होता है, जिस दिन वह रेवती नक्षत्र से निकलता है। (घ) सावन मास का व्यवहार व्यापार आदि व्यावहारिक कामों में होता है और यह तीस दिन तक का होता है। यह किसी दिन से प्रारंभ होकर तीसवें दिन समाप्त होता है। सौर और चांद्र भेद से इसके भी दो भेद हैं। सौर सावन मास सौर मास की किसी तिथि से और चांद्र सावन मास चांद्र मास की किसी तिथि वा दिन से प्रारंभ होकर उसके तीसवें दिन समाप्त होता है। प्रत्येक संवत्सर में बारह सौर और बारह ही चांद्र मास होते हैं; पर सौर वर्ष ३६५ दिन का और चांद्र वर्ष ३५५ दिन का होता है, जिससे दोनों में प्रति वर्ष १० दिन का अंतर पड़ता है। इस वैषम्य को दूर करने के लिए प्रति तीसरे वर्ष बारह के स्थान में तेरह चांद्र मास होते हैं। ऐसे बढ़े हुए मास को अधिमास वा मलमास कहते हैं। वि०—दे० "अधिमास" और "मलमास"। वैदिक काल में मास शब्द का व्यवहार चांद्र मास के लिए ही होता था। इसी से संहिताओं और ब्राह्मणों में कहीं बारह महीने का संवत्सर और कहीं तेरह महीने का संवत्सर मिलता है।

*संज्ञा पुं० दे० "मांस"। उ०—बहक न यहि बहनापने

जब तब बीर बिनास। बचै न बड़ी सबीलहू चीलह घौंसुआ मास।—बिहारी।

मासक–संज्ञा पुं॰ [सं॰] महीना। मास।

मासचारिक–वि॰ [सं॰] जो एक मास तक कर्त्तव्य हो।

मासज्ञ–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) दात्यूह नामक पक्षी। बनमुर्गी। (२) एक प्रकार का हिरन।

मासताला–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का बाजा।

मासन–संज्ञा पुं॰ [सं॰] सोमराज के बीज।

मासना*†–क्रि॰ अ॰ [सं॰ मिश्रण, हिं॰ मासना] मिलना। उ॰—पंडित वृक्षि पियो तुम पानी। जा माटी के घर में बैठे तामें सृष्टि समानी। छप्पन कोटि जादो जहँ बिनसे मुनि जन सहज अठासी। परग परग पैगंबर गाड़े ते सरि माटी मासी।—कबीर।

क्रि॰ स॰ मिलाना।

मासप्रवेश–संज्ञा पुं॰ [सं॰] महीने का प्रारंभ होना।

मासफल–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह पत्र जिसमें फलित ज्योतिष के अनुसार महीने भर का शुभाशुभ फल लिखा हो। इसे मास-पत्र भी कहते हैं।

मासर–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) एक प्रकार का पेय पदार्थ जो चावल के माँड़ और अंगूर के उठे हुए रस से बनाया जाता था। इसका प्रयोग यज्ञों में होता था। यह मादक होता था। (कात्या॰ श्रौत सूत्र)

पर्य्या॰—अचाम। निस्राव।

(२) काँजी।

मासवर्त्तिका–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] श्यामा या पवई की जाति का एक पक्षी। सर्पपी।

मासस्तोम–संज्ञा पुं॰ [सं॰] एक प्रकार का एकाह यज्ञ।

मासांत–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) महीने का अंत। (२) अमावस्या। (३) संक्रांति।

मासा–संज्ञा पुं॰ दे॰ "माशा"।

मासाधिप–संज्ञा पुं॰ [सं॰] वह ग्रह जो मास का स्वामी हो। मासेश।

मासानुमासिक–वि॰ [सं॰] प्रति मास संबंधी। प्रति मास का।

मासिक–वि॰ [सं॰] (१) मास संबंधी। महीने का। जैसे, मासिक आय। मासिक कृत्य। मासिक वेतन। (२) महीने में एक बार होनेवाला। जैसे, मासिक श्राद्ध। मासिक पत्र।

यौ॰—त्रैमासिक। षाण्मासिक।

मासी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ मातृष्वसा, पा॰ मातुच्छा, प्रा॰ मउच्छा] माँ की बहिन। मौसी। उ॰—हम तो निपट अहीर बावरी जोग दीजिये ज्ञानन। कहा कथत मासी के आगे जानत नानी नानन।—सूर।

मासीन–वि॰ [सं॰] जिसकी अवस्था एक महीने की हो। महीने भर का। एक महीने का।

यौ॰—द्विमासीन। पंचमासीन। षण्मासीन इत्यादि।

मासुरकर्ण–संज्ञा पुं॰ [सं॰] मसुरकर्ण के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मासुरी–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] सुश्रुत के अनुसार चीर फाड़ के एक शस्त्र या औज़ार का नाम।

मासेष्टि–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] वह इष्टि या यज्ञ जो प्रतिमास हो।

मास्टर–संज्ञा पुं॰ [अं॰] (१) स्वामी। मालिक। (२) शिक्षक। गुरु। अध्यापक। उस्ताद। (३) किसी विषय में परम प्रवीण। (४) बालकों के लिए व्यवहृत शब्द।

मास्टरी–संज्ञा स्त्री॰ [अं॰ मास्टर+ई (प्रत्य॰)] (१) मास्टर का काम। पढ़ाने का काम। अध्यापकी। (२) मास्टर का भाव।

मास्य–वि॰ [सं॰] महीने भर का। जो एक महीने का हो। मासीन।

माहँ*–अव्य॰ [सं॰ मध्य, प्रा॰ मज्झ] बीच। में। उ॰—यह शिशुपाल भजैत श्री दीनबंधु ब्रजनाथ कबै मुख देखिहौं। कहि रुक्मिणि मन माहँ सबै सुख लेखिहौं।—सूर।

माह*†–संज्ञा पुं॰ [सं॰ माघ, प्रा॰ माह] माघ। उ॰—(क) गहली गरब न कीजिये समै सुहागहि पाय। जिय की जीवनि जेठ सो माह न छाँह सुहाय।—बिहारी। (ख) नाचैंगी निकसि शशिवदनी बिहँसि तहाँ को हमैं गनत मही माह में रुचति सी।—देव।

संज्ञा पुं॰ [सं॰ माष, प्रा॰ माह] माष। उड़द।

संज्ञा पुं॰ [फ़ा॰] मास। महीना।

माहकस्थलक–वि॰ [सं॰] (१) माहकस्थली में रहनेवाला। (२) माहकस्थली में उत्पन्न। (३) माहकस्थली संबंधी। माहकस्थली का।

माहकस्थली–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰] एक प्राचीन जनपद का नाम।

माहकि–संज्ञा पुं॰ [सं॰] (१) महक नामक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। (२) एक आचार्य्य का नाम।

माहत*–संज्ञा स्त्री॰ [सं॰ महत्ता] महत्त्व। महत्ता। बड़ाई।

माहताब–संज्ञा पुं॰ [फ़ा॰] (१) चंद्रमा। (२) दे॰ "महताबी"।

माहताबी–संज्ञा स्त्री॰ [फ़ा॰] (१) दे॰ "महताबी"। (२) एक प्रकार का कपड़ा जिस पर सूर्य्य, चंद्रादि की सुनहरी या रुपहली आकृतियाँ बनी रहती हैं। (३) आँगन में ऊँचा खुला हुआ चबूतरा जिस पर लोग चाँदनी में बैठते हैं। (४) तरबूज। (५) चकोतरा नीबू।

माहन–संज्ञा पुं॰ [सं॰] ब्राह्मण (जो अवध्य होता है)।

माहना*–क्रि॰ अ॰ दे॰ "उमाहना"।

माहनीय–संज्ञा पुं॰ [सं॰] ब्राह्मण।

माहर–संज्ञा पुं॰ [सं॰ माहिर=इंद्र] इंद्रायन। इनारू।

मुहा०—माहर का फल=जो देखने में सुंदर हो, पर दुर्गुणों से भरा हो।

वि०—दे० "माहिर"।

माहली–संज्ञा पुं० [हिं० महल] (१) वह पुरुष जो अंतःपुर में आता जाता हो। महली। खोजा। (२) सेवक। दास। उ०—तुलसी सुभाइ कहै नहीं किए पक्षताप कौन ईस कियो, कीस भालु खास माहली।—तुलसी।

माहवार–क्रि० वि० [फ़ा०] प्रतिमास। महीने महीने।

वि० हर महीने का। मासिक।

संज्ञा पुं० महीने का वेतन।

माहवारी–वि० [फ़ा०] हर महीने का। मासिक।

माहाँ*‡–अव्य० दे० "महँ"।

माहात्म्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) महिमा। गौरव। महत्त्व। बड़ाई। (२) आदर। मान।

माहिं*–अव्य० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ] (१) भीतर। अंदर। उ०—कर कमान सर साँधिके खैंचि जो मारा माहिं। भीतर विधे सो मारिहै जीव पै जीवै नाहिं।—कबीर। (२) अधिकरण कारक का चिह्न, में या पर। उ०—बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं।—तुलसी।

माहिक–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक जाति का नाम।

माहित–संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित्थ–संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक ऋषि का नाम।

माहित्य–संज्ञा पुं० [सं०] महित ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहित्र–संज्ञा पुं० [सं०] मनुस्मृति के अनुसार एक ऋचा का नाम।

माहियत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तत्त्व। भेद। (२) प्रकृति। (३) विवरण।

माहियाना–वि० [फ़ा०] माहवार।

संज्ञा पुं० मासिक वेतन।

माहिर–वि० [अ०] ज्ञाता। जानकार। तत्त्वज्ञ। उ०—सूधी सुधा सी सुभाय भरी पै, खरी रति केलि कलान में माहिर।—जवाहिर।

संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

माहिला*†–संज्ञा पुं० [अ० मल्लाह] माँझी। मल्लाह। उ०—कबिरा मन का माहिला अबला बहै असोस। देखत ही दह में पड़ै देइ किसी को दोस।—कबीर।

माहिष–वि० [सं०] (१) भैंस का (दूध आदि) (२) भैंस संबंधी।

माहिषक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्राचीन देश का नाम। (२) इस देश में रहनेवाली एक जाति का नाम।

माहिषवल्लरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] काला विधारा। कृष्ण वृद्धदारक।

माहिषवल्ली–संज्ञा स्त्री० [सं०] छिरहटी।

माहिषस्थली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

माहिषाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा गुग्गुल।

माहिषिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) व्यभिचारिणी स्त्री का पति। (२) भैंस से जीविका निर्वाह करनेवाला व्यक्ति।

माहिषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

माहिष्मती–संज्ञा स्त्री० [सं०] दक्षिण देश के एक प्रसिद्ध प्राचीन नगर का नाम। इसका उल्लेख पुराणों, महाभारत और बौद्ध ग्रंथों में आया है। यह माहिषमंडल नामक जनपद की राजधानी थी। पुराणों में इसे नर्मदा नदी के किनारे लिखा है। सहस्रार्जुन यहीं का रहनेवाला था। महाभारत में माहिष्मती और त्रिपुर का नाम साथ आया है। त्रिपुर को आजकल त्रिपुरी कहते हैं; पर माहिष्मती का अब तक ठीक पता नहीं है। पुरातत्त्वविद् कनिंघम साहब ने 'माहिषमंडल' के 'मंडल' शब्द को लेकर 'मंडला' नगर को माहिष्मती लिखा है।

माहिष्य–संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों के अनुसार एक संकर जाति।

विशेष—याज्ञवल्क्य इसे क्षत्रिय पिता और वैश्या माता की औरस संतान मानते हैं। आश्वलायन इसे सुवर्ण नामक जाति के करण जाति की माता में उत्पन्न मानते हैं। सह्याद्रि खंड में इसको यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का वैश्यों के समान अधिकारी कहा है; पर आश्वलायन इसे यज्ञ करने का निषेध करते हैं। इस जाति के लोग अब तक बालि द्वीप में मिलते हैं और अपने को माहिष्य क्षत्रिय कहते हैं। संभवतः ये लोग किसी समय माहिषमंडल देश के रहनेवाले होंगे।

माहीं*–अव्य० दे० "माँहिं"।

माही–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मछली।

यौ०—माहीगीर। महीपुश्त। माही-मरातिब।

संज्ञा स्त्री० [सं० माहेय] दक्षिण देश की एक नदी का नाम जो खंभात की खाड़ी में गिरती है।

माहीगीर–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मछली पकड़नेवाला। मछुवा।

माहीपुश्त–वि० [फ़ा०] जो मछली की पीठ की तरह बीच में उभरा हुआ और किनारे किनारे ढालुआँ हो।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का कारचोबी का काम जो बीच में उभरा हुआ और इधर उधर ढालुआँ होता है।

माही मरातिब–संज्ञा पुं० [फ़ा०] राजाओं के आगे हाथी पर चलनेवाले सात झंडे जिन पर अलग अलग मछली, सातों ग्रहों आदि की आकृतियाँ कारचोबी की बनी होती हैं। इस प्रकार के झंडों का आरंभ मुसलमानों के राजत्व काल में हुआ था।

विशेष—(१) सूर्य्य, (२) पंजा, (३) तुला, (४) अजगर, (५) सूर्य्यमुखी, (६) मछली और (७) गोले, ये सात शकलें झंडों पर होती हैं।

माहुर–संज्ञा पुं० [सं० मधुर, प्रा० महुर=विष] विष। जहर
उ०—(क) साँप बीछ को मंत्र है, माहुर झारे जाय। विकट नारि के पाले परा काटि करेजा खाय।—कबीर। (ख) दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिय सजीवन माहुर मीचू।—तुलसी।

मुहा०—माहुर की गाँठ=(१) भारी विषैली वस्तु। (२) अत्यंत दुष्ट या कुटिल मनुष्य।

माहुल–संज्ञा पुं० [सं०] महुल के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

माहूँ–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक छोटा कीड़ा जो राई, सरसों, मूली आदि की फसल में उनके डंठलों पर फूलने के समय या उसके पहले अंडे दे देता है, जिससे फसल नितांत हीन होकर नष्ट हो जाती है। यह काले रंग का परदार भुनगे के आकार का कीड़ा होता है और जाड़े के दिनों में फसल पर लगता है। यदि पानी बरस जाय तो कीड़े नष्ट हो जाते हैं। प्रायः अधिक बदली के दिनों में, जब पानी नहीं बरसता, ये कीड़े अंडे देते हैं और फसल के डंठलों पर फूलों के आस पास उत्पन्न हो जाते हैं।

मुहा०—माहूँ लगना=माहूँ का फसल के हरे डंठल पर अंडे देना।

माहेंद्र–वि० [सं०] (१) जिसका देवता महेंद्र हो। (२) महेंद्र संबंधी। इंद्र संबंधी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जैनियों के एक देवता जो कल्पभव नामक वैमानिक देवगण में हैं। (२) एक अस्त्र का नाम। (३) वार के अनुसार भिन्न भिन्न दंडों में पड़नेवाला एक योग जिसमें यात्रा करने का विधान है। यह योग प्रतिवार को क्रमानुसार पंद्रह बार आता है। प्रतिदिन के दंडों में ये चार चार योग भिन्न भिन्न क्रम से आते रहते हैं—माहेंद्र, वरुण, वायु और यम। ये चारों योग सप्ताह के प्रतिदिन इस प्रकार आया करते हैं—

दिन	प्रथम दंड	द्वितीय दंड	तृतीय दंड	चतुर्थ दंड
रवि	वायु	वरुण	यम	माहेंद्र
चंद्र	माहेंद्र	वायु	वरुण	यम
भौम	वरुण	यम	माहेंद्र	वायु
बुध	माहेंद्र	वायु	वरुण	यम
गुरु	वायु	वरुण	यम	माहेंद्र
शुक्र	माहेंद्र	वायु	यम	वरुण
शनि	यम	माहेंद्र	वायु	वरुण

इन चारों योगों में माहेंद्र योग विजयकारक, वरुण धनप्रद, वायु नित्य फिरानेवाला और यम मृत्युदायक कहा जाता है। (४) सुश्रुत के अनुसार एक देवग्रह जिसके आक्रमण करने से ग्रहग्रस्त पुरुष में माहात्म्य, शौर्य्य, शास्त्र-बुद्धिता, भृत्यभरण आदि गुण एकाएक आ जाते हैं।

माहेंद्रवाणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

माहेंद्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्राणी। (२) गाय। (३) इंद्रायन। (४) सात मातृकाओं में से एक। यह स्कंद की अनुचरी है। (५) इंद्र की शक्ति।

माहेताबा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] चिलमची।

माहेय–वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ।

संज्ञा पुं० मूँगा। विद्रुम।

माहेयी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गाय। (२) माही नदी।

माहेल–संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्तक ऋषि का नाम।

माहेश–वि० [सं०] महेश संबंधी। महेश का।

माहेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

माहेश्वर–वि० [सं०] महेश्वर संबंधी। महेश्वर का।

संज्ञा पुं० (१) एक यज्ञ का नाम। (२) एक उपपुराण का नाम। (३) पाणिनि के वे चौदह सूत्र जिनमें स्वर और व्यंजन वर्णों का संग्रह प्रत्याहारार्थ किया गया है। इसके विषय में लोगों का विश्वास है कि ये सूत्र शिवजी के तांडव नृत्य के समय उनके डमरू से निकले थे। सूत्र ये हैं—अइउण्। ऋऌक्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। झभञ्। घढधष्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। शषसर्। हल्। (४) शैव संप्रदाय का एक भेद। (५) एक अस्त्र का नाम। माहेश्वरास्त्र।

माहेश्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) एक मातृका का नाम। (३) एक पीठ का नाम। (४) एक नदी का नाम। (५) वैश्यों की एक जाति।

माहों†–संज्ञा स्त्री० दे० "माहूँ"।

मिंगनी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेंगनी"।

मिंगी–संज्ञा स्त्री० दे० "मींगी"।

मिंट–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह स्थान जहाँ सिक्के ढलते हों। टकसाल। (२) एक प्रकार का बढ़िया सोना। टकसाली सोना।

† संज्ञा स्त्री० दे० "मिनट"।

मिंड़ाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मींड़ना] (१) मींड़ने या मींजने की क्रिया या भाव। (२) मींड़ने की मजदूरी। (२) देशी छींट की छपाई में एक क्रिया जो कपड़े को छापने के उपरांत और धोने से पहले होती है। इसके लिए पानी से भरी एक नाँद में कुछ रेंड़ी का तेल और बकरी की मेंगनी तथा दो एक और मसाले डाले जाते हैं; और उसमें छापा हुआ कपड़ा तीन चार दिन तक भिगोया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर यह क्रिया दो तीन बार भी की जाती है। नाँद में से

निकालकर कपड़ा धोबी के यहाँ भेजा जाता है। इससे छींट का रंग पक्का और चमकदार हो जाता है। इसे तेल-चलाई भी कहते हैं।

मिंहदी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेंहदी"।

मिश्राद–संज्ञा स्त्री० दे० "मीआद"।

मिश्रादी–वि० दे० "मीआदी"।

मिश्रान–वि० दे० "मियाना"।
संज्ञा पुं० दे० "मियाना"।

मिक़द–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मिक़अद] मलद्वार। गुदा।

मिक़दार–संज्ञा स्त्री० [अ०] परिमाण। मात्रा। मान। जैसे,—यह दवा ज़्यादा मिकदार में नहीं खानी चाहिए।

मिकनातीस–संज्ञा पुं० [फ़ा०] चुंबक पत्थर।

मिकाडो–संज्ञा पुं० [जा०] जापान के सम्राट् की उपाधि।

मिचकना†–क्रि० अ० [हिं० मिचना] (१) (आँखों का) बार बार खुलना और बंद होना। (२) (पलकों का) झपकना या बंद होना।

मिचकाना†–क्रि० स० [हिं० मिचना] (१) बार बार (आँखें) खोलना और बंद करना। (२) (पलक) झपकाना या बंद करके दबाना। जैसे, आँखें मिचकाना।
संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मिचना–क्रि० अ० [हिं० मीचना का अक० रूप] (आँखों का) बंद होना। जैसे,—मारे नींद के आँखें मिची जाती हैं।

मिचराना–क्रि० अ० [मिचर, चाबने के शब्द से अनु०] बिना भूख के खाना। इच्छा न होने पर भी भोजन करना। (विशेषतः बालकों के संबंध में बोलते हैं।)

मिचलाना–क्रि० अ० [हिं० मथना, मतलाना] कै आने को होना। उबकाई आना। मतली आना।

मिचवाना–क्रि० स० [हिं० मीचना का प्रे० रूप] मीचने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को मीचने में प्रवृत्त करना। दूसरे से आँखें बंद कराना।

मिचिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

मिचौलना†–क्रि० स० दे० "मीचना"।

मिच्छक–संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध स्थविर का नाम।

मिछा*†–वि० दे० "मिथ्या"।

मिजराब–संज्ञा स्त्री० [अ०] तार का बना हुआ एक प्रकार का छल्ला जिसमें मुड़े तार की एक नोक आगे निकली रहती है और जिससे सितार आदि के तार पर आघात करके बजाते हैं। डंका। नाखुना।

मिज़ाज–संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी पदार्थ का वह मूल गुण जो सदा बना रहे। तासीर। (२) प्राणी की प्रधान प्रवृत्ति। स्वभाव। प्रकृति। जैसे,—उनका मिज़ाज बहुत सख्त है; वे बात बात पर बिगड़ जाते हैं। (३) शरीर या मन की दशा। तबीयत। दिल।
यौ०—मिज़ाज आली। मिज़ाज शरीफ़। मिज़ाज-पुरसी।
मुहा०—मिज़ाज खराब होना=(१) मन में किसी प्रकार की अप्रसन्नता आदि उत्पन्न होना। ग्लानि आदि होना। (२) अस्वस्थता होना। मिजाज बिगड़ना=दे० "मिज़ाज खराब होना"। मिज़ाज बिगाड़ना=किसी के मन में क्रोध, अभिमान आदि मनोविकार उत्पन्न करना। मिजाज पाना=(१) किसी के स्वभाव से परिचित होना। (२) किसी को अनुकूल या प्रसन्न देखना। मिज़ाज पूछना=(१) तबीयत का हाल पूछना। यह पूछना कि आपका शरीर तो अच्छा है। (२) अच्छी तरह खबर लेना। दंड देना। मिज़ाज में आना=ध्यान में आना। समझ में आना। जैसे,—अगर आपके मिज़ाज में आवे तो आप भी वहाँ चलिए। मिज़ाज सीधा होना=अनुकूल या प्रसन्न होना। तबीयत ठिकाने होना।
(४) अभिमान। घमंड। शेखी।
मुहा०—मिजाज आना=अभिमान करना। घमंड होना। मिज़ाज में आना=अभिमान करना। घमंड करना। जैसे,—इस वक्त कुछ न पूछो, आप मिज़ाज में आ गये हैं। मिज़ाज न मिलना=अभिमान के कारण किसी का अलग रहना। घमंड के कारण बात न करना। जैसे,—आजकल तो आपके मिज़ाज ही नहीं मिलते।
विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुधा बहुवचन में होता है।
यौ०—मिज़ाजदार।

मिज़ाज आली ?–[अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के समय होता है। आप अच्छे तो हैं ?

मिज़ाजदार–वि० [अ० मिज़ाज+फ़ा० दार (प्रत्य०)] जिसे बहुत अभिमान हो। घमंडी।

मिज़ाजपीटा–वि० [अ० मिज़ाज+हिं० पीटना] [स्त्री० मिज़ाज पीटी] जिसे बहुत अधिक घमंड हो। अभिमानी। (स्त्री०)

मिज़ाजपुरसी–संज्ञा स्त्री० [अ० मिज़ाज+फ़ा० पुरसी] किसी से यह पूछना कि आपका मिज़ाज तो अच्छा है। तबीयत का हाल पूछना। शारीरिक कुशल-मंगल पूछना।

मिज़ाज शरीफ़ ?–[अ०] एक वाक्यांश जिसका व्यवहार किसी का शारीरिक कुशल-मंगल पूछने के लिए होता है। आप अच्छे तो हैं ? आप सकुशल तो हैं ?

मिज़ाजी†–वि० स्त्री० [हिं० मिजाज+ई (प्रत्य०)] अभिमानी। घमंडी।

मिझोना†–संज्ञा पुं० [सं० मध्य, पु० हिं० मांझ] वह खूँटी जो हल में बेड़े बल में लगी हुई लकड़ी के बीच में रहती है। (बुंदेल०)

मिटका–संज्ञा पुं० दे० "मटका"।

मिटना–क्रि० अ० [सं० मृष्ट, प्रा० मिट्ट] (१) किसी अंकित चिह्न आदि का न रह जाना। जैसे,—इस पन्ने के कई अक्षर मिट गए हैं। (२) नष्ट हो जाना। न रह जाना। (३) खराब होना। बरबाद होना। जैसे, घर मिटना। (४) रद्द होना। जैसे, विधाता का लेख मिटना।

संयो० क्रि०—जाना।

मिटाना–क्रि० स० [हिं० मिटना का सक० रूप] (१) रेखा, दाग, चिह्न आदि दूर करना। (२) नष्ट करना। न रहने देना। (३) खराब करना। चौपट करना। बरबाद करना। (४) रद्द करना।

संयो० क्रि०—जाना।—देना।

मिटिया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिटा+इया (प्रत्य०)] मिट्टी का छोटा बरतन जिसमें प्रायः दूध आदि रखा जाता है। मटकी। वि० [हिं० मिट्टी+इया० (प्रत्य०)] मिट्टी का।

मिटियाना–क्रि० स० [हिं० मिट्टी+आना (प्रत्य०)] मिट्टी लगाकर साफ करना, रगड़ना या चिकना करना। जैसे, लोटा मिटियाना।

मिटिया फूस–वि० [हिं० मिटिया+फूस] जो कुछ भी दृढ़ न हो। बहुत ही कमजोर।

मिटिया महल–संज्ञा पुं० [हिं० मिटिया+फ़ा० महल] मिट्टी का मकान। झोंपड़ी। (व्यंग्य)

मिटिया साँप–संज्ञा पुं० [हिं० मिटिया+साँप] मटमैले रंग का एक प्रकार का साँप जिसके ऊपर काले रंग की चित्तियाँ होती हैं।

मिट्टी–संज्ञा स्त्री० [सं० मृत्तिका, प्रा० मिट्टिआ] (१) पृथ्वी। भूमि। जमीन। जैसे,—जो चीज़ मिट्टी से बनती है, वह मिट्टी में ही मिल जाती है।

मुहा०—मिट्टी पकड़ना=जमीन पर दृढ़तापूर्वक जम जाना।

(२) वह भुरभुरा पदार्थ जो पृथ्वी के ठोस विभाग अथवा स्थल में साधारणतः सब जगह पाया जाता है और जो उसके ऊपरी तल की प्रधान वस्तु है। खाक। धूल।

मुहा०—मिट्टी करना=नष्ट करना। खराब करना। चौपट करना। जैसे, रुपया मिट्टी करना, इज्जत मिट्टी करना, शरीर मिट्टी करना, कपड़े मिट्टी करना। मिट्टी के मोल=बहुत सस्ता। बहुत ही थोड़े मूल्य पर। जैसे,—वह मकान तो मिट्टी के मोल बिक रहा है। मिट्टी डालना=(१) किसी बात को जाने देना। छोड़ देना। (२) किसी के दोष को छिपाना। परदा डालना। (३) एक प्रकार का प्रयोग जिसमें किसी की कोई छोटी मोटी चीज, विशेषतः गहना आदि, खो जाने पर सब लोग एक स्थान पर जाकर थोड़ी थोड़ी मिट्टी डाल आते हैं। इस प्रकार कभी कभी चुरानेवाला भी भयवश अथवा और किसी कारण से चुराई हुई चीज उसी मिट्टी के साथ वहाँ रख आता है, जिससे मालिक को चीज तो मिल जाती है और यह नहीं प्रकट होने पाता कि चोर कौन है। मिट्टी डलवाना=चोरी गई हुई चीज का पता लगाने के लिए लोगों से किसी स्थान पर मिट्टी डालने के लिए कहना। वि०—दे० "मिट्टी डालना"। (३) मिट्टी देना–(१) मुसलमानों में किसी के मरने पर सब लोगों का उसकी कब्र में तीन तीन मुट्ठी मिट्टी डालना जो पुण्य का कार्य समझा जाता है। (२) क़ब्र में गाड़ना। (मुसल०) मिट्टी पकड़े या छूए सोना होना=भाग्य का प्रबल होना। सितारा चमकना। साधारण काम में भी विशेष लाभ होना। मिट्टी में मिलना–(१) नष्ट होना। चौपट होना। खराब होना। (२) मरना। मिट्टी में मिलाना=नष्ट करना। चौपट करना। बरबाद करना। मिट्टी होना=(१) नष्ट होना। खराब होना। (२) गंदा या मैला कुचैला होना।

यौ०—मिट्टी का पुतला=मानव शरीर। मिट्टी की सूरत=मानव शरीर। मिट्टी के माधव=मूर्ख। बेवकूफ। भोंदू। मिट्टी खराबी–(१) दुर्दशा। (२) बरबादी। नाश।

(३) किसी चीज़ को जलाकर तैयार की हुई राख। भस्म। जैसे, पारे की मिट्टी। सोने की मिट्टी। (४) कुछ विशेष प्रकार की अथवा साफ की हुई मिट्टी जो भिन्न भिन्न कामों में आती है। जैसे, मुलतानी मिट्टी, पीली मिट्टी। (५) शरीर। जिस्म। बदन।

मुहा०—किसी की मिट्टी पलीद या बरबाद करना=दुर्दशा करना। खराबी करना। (इस अर्थ में यह मुहावरा अर्थ नं० ६ के साथ भी लगता है।)

(६) शव। लाश।

मुहा०—मिट्टी ठिकाने लगना=शव की उचित अन्त्येष्टि क्रिया होना। मिट्टी ठिकाने लगाना=शव की उचित अंत्येष्टि क्रिया करना।

(७) खाने का गोश्त। मांस। कलिया। (क्व०) (८) शारीरिक गठन। बदन की बनावट। जैसे,—उसकी मिट्टी बहुत अच्छी है; साठ बरस का होने पर भी जवान जान पड़ता है।

मुहा०—मिट्टी ढह जाना=शरीर में बुढ़ापे के चिह्न दिखाई देना।

(९) चंदन की जमीन जो इत्र में दी जाती है।

मिट्टी का तेल–संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी+का+तेल] एक प्रसिद्ध ज्वलन-शील, खनिज, तरल पदार्थ जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में दीपक आदि जलाने और प्रकाश करने के लिए होता है। यह संसार के भिन्न भिन्न भागों में जमीन के अंदर पाया जाता है। कभी कभी तो जमीन में आप से आप दरारें हो जाती हैं जिनमें से यह तेल निकलने लगता है; और इस प्रकार वहाँ इसके चश्मे बन जाते हैं। पर प्रायः यह ज़मीन में बड़े बड़े सूराख या छिद्र करके पिचकारी की तरह के बड़े बड़े यंत्रों की सहायता से ही निकाला जाता है।

कभी कभी ज़मीन के अंदर की गैसों के जोर करने के कारण भी यह आप से आप फूट निकलता है। कुछ लोग कहते हैं कि ज़मीन के अंदर जो लोह-मिश्रित बहुत गरम कारबाइड होता है, उस पर जल पड़ने से यह तैयार होता है; और कुछ लोगों का मत है कि ज़मीन के अंदर अनेक प्रकार के जीवों के मृत शरीरों के सड़ने आदि से यह तैयार होता है। एक मत यह भी है कि इसकी उत्पत्ति का संबंध नमक की उत्पत्ति से है; क्योंकि अनेक स्थानों में यह नमक की खान के पास ही पाया जाता है। इसी प्रकार इसकी उत्पत्ति के संबंध में और भी अनेक मत हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों तथा रूस में इसकी खानें बहुत अधिक हैं; और इन्हीं दोनों देशों से सब से अधिक मिट्टी का तेल निकलता है। भारत में इसकी खानें या तो पंजाब और बलोचिस्तान की ओर हैं या आसाम तथा बरमा की ओर। परंतु पश्चिमी प्रांतों से अभी तक बहुत थोड़ा तेल निकाला जाता है और पूर्वी प्रांतों से अपेक्षाकृत अधिक। बहुत बढ़िया तेल का रंग सफ़ेद और स्वच्छ जल के समान होता है; पर साधारण तेल का रंग कुछ लाली या पीलापन लिए और घटिया तेल का रंग प्रायः काला होता है। बढ़िया साफ किया हुआ तेल पतला और घटिया तेल गाढ़ा होता है। प्रकाश करने के अतिरिक्त इसका उपयोग छोटे इंजन चलाने, गैस तैयार करने, अनेक प्रकार के तेलों और वारनिशों आदि को गलाने और मोमबत्तियाँ आदि बनाने में होता है। इसमें एक प्रकार की उग्र और अप्रिय गंध होती है। थोड़ी मात्रा में जबान पर लगने या गले के नीचे उतरने पर यह कै लाता है; और अधिक मात्रा में भीषण विष का काम करता है। मोटरों आदि में जो पेट्रोलियम जलाया जाता है, वह भी इसी का एक भेद है।

मिट्टी का फूल—संज्ञा पुं० [हिं० मिट्टी+फूल] मिट्टी या ज़मीन के ऊपर जम आनेवाला एक प्रकार का क्षार जिसका व्यवहार कपड़ा धोने और शीशा बनाने में होता है। रेह।

मिट्टी खरिया—संज्ञा स्त्री० दे० "खड़िया"।

मिट्ठा†—वि० संज्ञा पुं० दे० "मीठा"।

मिट्ठी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा] चुंबन। चूमा। (इस शब्द का व्यवहार स्त्रियाँ प्रायः छोटे बालकों के साथ करती हैं।)

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मिट्ठू—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+ऊ (प्रत्य०)] (१) मीठा बोलनेवाला। (२) तोता।

मुहा०—अपने मुँह से आप मियाँ मिट्ठू बनना=अपनी प्रशंसा आप करना। अपने मुँह से अपनी बड़ाई करना।

वि० (१) चुप रहनेवाला। न बोलनेवाला। (२) प्रिय बोलनेवाला। मधुर-भाषी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मिट्टी"।

मिट्ठो—संज्ञा स्त्री० दे० "मिट्ठी"।

मिठ—वि० [हिं० मीठा] मीठा का संक्षिप्त रूप जिसका व्यवहार प्रायः यौगिक बनाने के लिए होता है और जो किसी शब्द के पहले जोड़ा जाता है। जैसे, मिठलोना, मिठबोला।

मिठबोलना—संज्ञा पुं० दे० "मिठबोला"।

मिठबोला—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+बोलना] (१) वह जो मीठी मीठी बातें करता हो। मधुर-भाषी। (२) वह जो मन में कपट रखकर ऊपर से मीठी बातें करता हो।

मिठरी†—संज्ञा स्त्री० दे० "मठरी"।

मिठलोना—संज्ञा पुं० [हिं० मीठा=कम+लोन=नोन] वह जिसमें नमक बहुत ही कम हो। थोड़े नमकवाला।

मिठाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा+आई (प्रत्य०)] (१) मीठे होने का भाव। मिठास। माधुरी। (२) कोई मीठी खाने की चीज़। जैसे, लड्डू, पेड़ा, बरफ़ी, जलेबी आदि। (३) कोई अच्छा पदार्थ या बात।

मिठास—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा+आस (प्रत्य०)] मीठे होने का भाव। मीठापन। माधुर्य। जैसे,—इसकी मिठास तो बिलकुल मिसरी के समान है।

मिठौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा+बरी] पीसे हुए उड़द या चने की बनी हुई बरी।

मिड़ाई—संज्ञा स्त्री० दे० "मिंड़ाई"।

मिडिल—वि० [अं०] किसी पदार्थ का मध्य। बीच।

संज्ञा पुं० शिक्षाक्रम में एक छोटी कक्षा या दरजा जो स्कूल के अंतिम दर्जे इंट्रेंस से छोटा होता था। अब यह नाम प्रचलित नहीं है।

मिडिलची—संज्ञा पुं० [हिं० मिडिल+ची (प्रत्य०)] वह जो मिडिल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ हो। मिडिल पास। (उपेक्षा)

मिडिल स्कूल—संज्ञा पुं० [अं०] वह स्कूल या विद्यालय जिसमें केवल मिडिल तक की पढ़ाई होती हो।

मितंग*—संज्ञा पुं० [सं० मितंगम] हाथी।

मित—वि० [सं०] (१) जो सीमा के अंदर हो। परिमित। थोड़ा। कम। जैसे, मितव्ययी। मित-भाषी। (३) फेंका हुआ। क्षिप्त।

मितद्रु—संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र। सागर।

मितभाषी—संज्ञा पुं० [सं० मितभाषिन्] वह जो बहुत कम बोलता हो। थोड़ा बोलनेवाला। समझ बूझकर बात कहनेवाला।

मितमति—संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें बहुत कम बुद्धि हो। थोड़ी बुद्धिवाला।

मितव्यय—संज्ञा पुं० [सं०] कम खर्च करना। किफ़ायत।

मितव्ययता—संज्ञा स्त्री० [सं०] कम खर्च करने का भाव।

मितव्ययी-संज्ञा पुं० [सं० मितव्ययिन्] वह जो कम ख़र्च करता हो। किफ़ायत करनेवाला।

मिताई*†-संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र। हिं० मीत+आई (प्रत्य०)] मित्रता। दोस्ती।

मिताक्षरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] याज्ञवल्क्य स्मृति की विज्ञानेश्वर कृत टीका।

मितार्थ-सं० पुं० [सं०] साहित्य में तीन प्रकार के दूतों में से एक प्रकार का दूत। वह दूत जो बुद्धिमत्तापूर्वक थोड़ी बातें कहकर अपना काम पूरा करे।

मिताशन-संज्ञा पुं० [सं०] कम भोजन करना। थोड़ा खाना।

मिताशी-संज्ञा पु० [सं० मिताशिन्] [स्त्री० मिताशिनी] वह जो बहुत थोड़ा खाता हो। कम भोजन करनेवाला।

मिति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मान। परिमाण। (२) सीमा। हद। (३) काल की अवधि। दिया हुआ वक़्त।

मुहा०—मिति पूजना=आयु के दिन पूरे होना। दे० "मिती"।

मिती-संज्ञा स्त्री० [सं० मिति] (१) देशी महीने की तिथि या तारीख़। जैसे,—मिती आषाढ़ सुदी ४ सं० १९८१ की चिट्ठी मिली।

मुहा०—मिती चढ़ाना=तिथि लिखना। तिथि डालना। मिती उगना या पूजना=हुंडी का नियत समय पूरा होना। हुंडी के भुगतान का दिन आना। जैसे,—इस हुंडी की मिती पूजे दो दिन हो गए, पर रुपया नहीं आया।

(२) दिन। दिवस। जैसे,—उसके यहाँ अभी तीन मिती का ब्याज और बाकी है। (३) वह तिथि जब तक का ब्याज देना हो। जैसे,—इस हुंडी की मिती में अभी चार दिन बाकी हैं। (महाजन)

मुहा०—मिती काटना=सूद काटना।

मित्तर†-संज्ञा पुं० [सं० मित्र] (१) वह लड़का जो किसी खेल में और सब लड़कों का प्रधान या अगुआ होता है। (२) मित्र। दोस्त।

मित्र-संज्ञा पु० [सं०] (१) वह जो सब बातों में अपना साथी, सहायक, समर्थक और शुभचिंतक हो। सब प्रकार से अपने अनुकूल रहनेवाला और अपना हित चाहनेवाला। शत्रु या विरोधी का उलटा। बंधु। सखा। सुहृद्। दोस्त। (२) अतिविषा नाम की लता। अतीस। (३) सूर्य्य का एक नाम। (४) बारह आदित्यों में से पहले आदित्य का नाम। (५) पुराणानुसार मरुद्गण में से पहले मरुत् का नाम। (६) वशिष्ठ के एक पुत्र का नाम जो ऊर्जा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। (७) आर्य्यों के एक प्राचीन देवता का नाम। ऋक्संहिता में लिखा है कि तनु से अदिति को जो आठ पुत्र हुए थे, उनमें से सात को अपने साथ लेकर अदिति देवलोक को चली गई थी; केवल मार्त्तंड नामक पुत्र को फेंक दिया था। ये आठ पुत्र मित्र, वरुण, धाता, अर्य्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और आदित्य या मार्त्तंड थे। इनमें से पहले सातों की गिनती आदित्यों में होती है परंतु महाभारत और पुराणों में द्वादश आदित्य का वर्णन है, जिनमें से एक मित्र भी हैं। वेदों में मित्र ही सर्वप्रधान आदित्य माने गए हैं; परंतु पुराणों आदि में उनका स्थान गौण है। वेदों में मित्र और वरुण की बहुत अधिक स्तुति की गई है, जिससे जान पड़ता है कि ये दोनों वैदिक ऋषियों के प्रधान देवता थे। वेदों में यह भी लिखा है कि मित्र के द्वारा दिन और वरुण के द्वारा रात होती है। यद्यपि पीछे से मित्र का महत्त्व घटने लगा था, तथापि पहले किसी समय सभी आर्य्य मित्र की पूजा करते थे। पारसियों में इनकी पूजा 'मिथ्र' के नाम से होती थी। मित्र की पत्नी मित्रा भी उनमें पूजनीय थी और अग्नि की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी। कदाचित् असीरिया वालों की माहलेत्ता तथा अरबवालों की आलिता देवी भी यही मित्रा थी। (८) भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध प्राचीन राजवंश का नाम जिसका राज्य उदुंबर और पांचाल आदि स्थानों में था। कुछ लोग इसे शुंग वंश की एक शाखा बतलाते हैं, तथा कुछ लोग इस वंशवालों को शाकद्वीपी ब्राह्मण और कुछ शक क्षत्रिय मानते हैं। ईसवी पहली और दूसरी शताब्दी में इस वंश का बहुत जोर था। भानुमित्र, सूर्यमित्र, अग्निमित्र जयमित्र, इंद्रमित्र आदि इस वंश के प्रधान राजा थे। इनके जो सिक्के पाए गए हैं, उनमें से कुछ में शैवों के, कुछ में वैष्णवों के और कुछ में सौरों के चिह्न पाए जाते हैं।

मित्रकृत्-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम।

मित्रघ्न-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मित्र की हत्या करनेवाला हो। (२) विश्वासघातक। (३) एक राक्षस का नाम।

मित्रघ्ना-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक नदी का नाम।

मित्रज्ञ-संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम जो यज्ञ की सामग्री आदि छीन ले जाया करता था।

मित्रता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र होने का भाव। दोस्ती। (२) मित्र का धर्म्म।

मित्रत्व-संज्ञा पुं० [सं०] मित्र होने का धर्म्म या भाव। दोस्ती। मित्रता।

मित्रदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (२) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम। (३) मित्र नाम के आदित्य। वि० दे० "मित्र"।

मित्रपंचक-संज्ञा पुं० [सं०] घी, शहद, गुंजा, सुहागा और गुग्गुल इन पाँचो का समूह। (वैद्यक)

मित्रपद-संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मित्रबाहु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

मित्रभानु–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजकुमार का नाम।

मित्रभेद–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दो मित्रों में लड़ाई कराया करता हो। मित्रों में झगड़ा करानेवाला।

मित्रवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक कन्या का नाम।

मित्रवन–संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के मुलतान नामक नगर का प्राचीन नाम।

मित्रवर्द्धन–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

मित्रवान्–वि० [सं० मित्रवत्। स्त्री० मित्रवती] जिसे मित्र हो। संज्ञा पुं० (१) एक असुर का नाम। (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

मित्रवाह–संज्ञा पुं० [सं०] बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम।

मित्रविंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि। (२) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (३) पुराणानुसार श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम।

मित्रविंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार श्रीकृष्ण की एक पत्नी का नाम।

मित्रविद्–संज्ञा पुं० [सं०] गुप्तचर। जासूस।

मित्रवैर–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मित्र से वैर या द्वेष करता हो।

मित्र सप्तमी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी। कहते हैं कि इसी दिन कश्यप के वीर्य से अदिति के गर्भ से मित्र नामक दिवाकर की उत्पत्ति हुई थी; इसी से इसका यह नाम पड़ा।

मित्रसह–संज्ञा पुं० [सं०] कल्माषपाद राजा का एक नाम।

मित्रसाहसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार स्वर्ग में रहनेवाली एक देवी का नाम।

मित्रसेन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बारहवें मनु के एक पुत्र का नाम। (२) श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम। (३) एक बुद्ध का नाम।

मित्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मित्र नामक देवता की स्त्री का नाम। वि० दे० "मित्र (७)"। (२) शत्रुघ्न की माता सुमित्रा। (३) महाभारत के अनुसार एक अप्सरा का नाम। (४) पराशर के शिष्य मैत्रेय की माता का नाम।

मित्राई*†–संज्ञा स्त्री० [सं० मित्र+आई (हिं० प्रत्य०)] मित्रता। दोस्ती।

मित्राक्षर–संज्ञा पुं० [सं०] छंद के रूप में बना हुआ पद।

मित्रायु–संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम।

मित्रावरुण–संज्ञा पुं० [सं०] मित्र और वरुण नामक देवता।

मित्रावसु–संज्ञा पुं० [सं०] विश्वावसु के एक पुत्र का नाम।

मित्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] दशरथ की पत्नी सुमित्रा जो लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता थीं। सुमित्रा।

मित्रेयु–संज्ञा पुं० [सं०] राजा दिवोदास के एक पुत्र का नाम।

मिथनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

मिथि–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार राजा निमि के पुत्र जनक का एक नाम। कहते हैं कि राजा निमि को कोई पुत्र नहीं था। मुनियों को यह भय हुआ कि निमि के मरने के उपरांत कहीं अराजकता न उत्पन्न हो, इसलिये उन लोगों ने निमि के शरीर को अरणी से मथा जिससे जनक की उत्पत्ति हुई। ये मथन से उत्पन्न हुए थे; इसलिये इनका एक नाम मिथि भी था। इन्हें उदावसु नामक एक पुत्र हुआ था।

मिथिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

मिथिल–संज्ञा पुं० [सं०] राजा जनक का एक नाम।

मिथिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वर्त्तमान तिरहुत का प्राचीन नाम। राजा जनक इसी प्रदेश के राजा थे। (२) इस प्रांत की प्राचीन राजधानी।

मिथु–संज्ञा पुं० [सं०] असत्य। मिथ्या। झूठ।

मिथुन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्री और पुरुष का युग्म। मर्द और औरत का जोड़ा। (२) संयोग। समागम। (३) मेष आदि राशियों में से तीसरी राशि जिसमें मृगशिरा नक्षत्र के अंतिम दो पाद, पूरा आर्द्रा नक्षत्र और पुनर्वसु के आरंभिक तीन पाद हैं। इसके अधिष्ठाता देवता गदाधारी पुरुष और वीणाधारिणी स्त्री मानी गई हैं। इसका दूसरा नाम जितुम है। (४) ज्योतिष में मेष आदि लग्नों में से तीसरी लग्न। कहते हैं कि इस लग्न में जन्म लेनेवाला प्रियभाषी, द्विमात्रिक, शत्रुओं का नाश करनेवाला, गुणी, धार्म्मिक, कार्य्यकुशल और प्रायः रोगी रहनेवाला होता है; और उसकी मृत्यु मनुष्य, साँप, जहर या पानी आदि के द्वारा होती है।

मिथुनत्व–संज्ञा पुं० [सं०] मिथुन का भाव या धर्म्म।

मिथ्या–वि० [सं०] असत्य। झूठ।

मिथ्याचर्य्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] झूठा या कपटपूर्ण व्यवहार।

मिथ्याचार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कपटपूर्ण आचरण। (२) वह जो कपटपूर्ण आचरण करता हो।

मिथ्यात्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिथ्या होने का भाव। (२) माया। (३) जैनों के अनुसार अठारह दोषों में से एक।

मिथ्यादृष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] नास्तिकता।

मिथ्याध्यवसिति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अर्थालंकार जिसमें कोई एक असंभव या मिथ्या बात निश्चित करके तब कोई दूसरी बात कही जाती है; और इस प्रकार वह दूसरी बात

भी मिथ्या ही होती है। उ०—जो आँजै नभ-कुसुम-रस, लखै सो अहि के कान।

मिथ्यानिरसन–संज्ञा पुं० [सं०] शपथपूर्वक किसी सच्ची बात का अस्वीकार करना।

मिथ्यापंडित–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कुछ न जानता हो और झूठ मूठ पंडित बनता हो।

मिथ्यापुरुष–संज्ञा पुं० दे० "छायापुरुष

मिथ्याभियोग–संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ अभियोग लगाना। अभ्याख्यान।

मिथ्याभिशंसन–संज्ञा पुं० [सं०] किसी पर झूठ मूठ कलंक लगाना।

मिथ्यामति–संज्ञा स्त्री० [सं०] भ्रांति। धोखा। भूल। गलती।

मिथ्यायोग–संज्ञा पुं० [सं०] चरक के अनुसार वह कार्य्य जो रूप, रस या प्रकृति आदि के विरुद्ध हो। जैसे,—मल, मूत्र आदि का वेग रोकना शरीर का मिथ्यायोग है, कठोर वचन आदि कहना वाणी का मिथ्यायोग है; तीव्र गंध आदि सूँघना और भीषण शब्द आदि सुनना घ्राण और श्रवण का मिथ्यायोग है।

मिथ्यावादी–संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यावादिन्] [स्त्री० मिथ्यावादिनी] वह जो झूठ बोलता हो। असत्यवादी। झूठा।

मिथ्याव्याहार–संज्ञा पुं० [सं०] किसी विषय को न जानते हुए भी उसमें दखल देना। अनधिकार चर्चा।

मिथ्यासाक्षी–संज्ञा पुं० [सं० मिथ्यासाक्षिन्] वह जो झूठी गवाही देता हो। झूठ गवाह।

मिथ्याहार–संज्ञा पुं० [सं०] अनुचित या प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना। जैसे, मछली के साथ दूध।

मिथ्योत्तर–संज्ञा पुं० [सं०] व्यवहार में चार प्रकार के उत्तरों में से एक प्रकार का उत्तर। अभियुक्त का अपना अपराध छिपाने के लिये झूठ बोलना। (याज्ञवल्क्य स्मृति)

मिनती†–संज्ञा स्त्री० दे० "विनति"।

संज्ञा पुं० [अनु० मक्खी के शब्द से] मक्खी की बोली के समान, धीमा, कुछ नाक से निकला हुआ स्वर।

मिनमिन–क्रि० वि० [अनु०] मक्खी की भनभनाहट के रूप में। धीमे दबे हुए स्वर में। कुछ नाक से निकले धीमे स्वर में। जैसे,—वह मिनमिन बोलता है; इसी से उसे सीधा समझते हो।

मिनमिना–वि० [हिं० मिनमिन] (१) मिनमिन शब्द करनेवाला। नाक से स्वर निकालकर धीमे बोलनेवाला। (२) थोड़ी सी बात पर कुढ़नेवाला। (३) सुस्त। मट्ठर।

मिनमिनाना–क्रि० अ० [मिन् मिन् से अनु०] (१) मिन् मिन् शब्द करना। नाक से बोलना। नकियाना। (२) कोई काम बहुत धीरे धीरे करना। बहुत सुस्ती से काम करना।

मिनवाल–संज्ञा पुं० [अ०] करघे में का वह बेलन जिस पर बुना हुआ कपड़ा लपेटा जाता है और जो बुननेवाले के ठीक आगे रहता है।

मिनहा–वि० [अ०] जो काट या घटा लिया गया हो। मुजरा किया हुआ। जैसे,—अभी इसमें दो तीन रकमें मिनहा होने को हैं।

मिनारा†–संज्ञा पुं० दे० "मीनार"।

मिन्‌जानिब–क्रि० वि० [अ०] ओर से। तरफ़ से। (कच०)

मिन्‌जुमला–क्रि० वि० [अ०] सब में से। कुल में से।

मिन्नत–संज्ञा स्त्री० [अ०, मि० सं० विनति] (१) प्रार्थना। निवेदन। (२) दीनता।

यौ०—मिन्नत ख़ुशामद=दीनतापूर्वक की हुई प्रार्थना।

(३) एहसान। कृतज्ञता। (क०)

क्रि० प्र०—उठाना।

मिमत–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

मिमियाई†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिमियाना+ई (प्रत्य०)] बकरी। संज्ञा स्त्री० दे० "मोमियाई"।

मिमियाना–क्रि० अ० [मिन मिन से अनु०] बकरी या भेंड़ का 'मि मि' शब्द करना। भेंड़ या बकरी का बोलना।

मियाँ–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) स्वामी। मालिक। (२) पति। खसम। जैसे,—मियाँ के मियाँ गए, बुरे बुरे सपने आए।

यौ०—मियाँ-बीबी।

(३) बड़ों के लिए एक प्रकार का संबोधन। महाशय। (मुसल०) (४) बच्चों के लिए एक प्रकार का संबोधन। (५) शिक्षक। उस्ताद। (६) पहाड़ी राजपूतों की एक उपाधि। जैसे, मियाँ रामसिंह। (७) मुसलमान। जैसे,—वे सब मियाँ ठहरे; एक ही में खा पका लेंगे।

मियाँ मिट्ठू–संज्ञा पुं० [हिं० मियाँ+मिट्ठू] (१) मीठी बोली बोलनेवाला। मधुर-भाषी।

मुहा०—अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना=अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करना।

(२) तोता।

मुहा०—मियाँ मिट्ठू बनाना=तोते की तरह रटाना। बिना समझाए पढ़ाना।

(३) मूर्ख। बेवकूफ़।

मियान–संज्ञा स्त्री० दे० "म्यान"।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] मध्य भाग। बीच का हिस्सा।

यौ०—दरमियान=मध्य में। बीच में।

मियानतह–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मियान=मध्य+हिं० तह] वह साधारण कपड़ा जो किसी अच्छे कपड़े के नीचे उसकी रक्षा आदि के लिए दिया जाता है। जैसे, रजाई की मियानतह।

मियानतही–संज्ञा स्त्री० दे० "मियानतह"।

मियाना–वि० [फ़ा०] न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा। मध्यम आकार का।

संज्ञा पुं० (१) वे खेत जो किसी गाँव के बीच में हों। (२) एक प्रकार की पालकी। (३) गाड़ी में आगे की ओर बीच में लगा हुआ वह बाँस जिसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते हैं। बम। बल्ली।

मियानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मियान+ ई (प्रत्य०)] पायजामे में वह कपड़ा जो दोनों पायँचों के बीच में पड़ता है। इसे कहीं कहीं रूमाल भी कहते हैं।

मियार, मियाल†–संज्ञा पुं० [हिं० मंझार ?] वह लकड़ी जो कूएँ के ऊपर दो खंभों पर लगी होती है और जिसमें गराड़ी पड़ी रहती है।

मियेध–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पशु। (२) यज्ञ।

मिरंगा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] प्रवाल। मूँगा।

मिरकी–संज्ञा स्त्री० [देश०] चौपायों को होनेवाली एक प्रकार की मुँह की बीमारी। (अवध)

मिरखंभ–संज्ञा पुं० दे० "मिरखम"।

मिरखम–संज्ञा पुं० [सं० मेरुस्तम्भ, प्रा० मेरुखंभ।] कोल्हू में वह लकड़ी जो बैठकर हाँकने की जगह खड़े बल में लगी रहती है।

मिरग*†–संज्ञा पुं० [सं० मृग] मृग। हरिन।

मिरगचिड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० मिरग+चिड़ा] एक प्रकार का छोटा पक्षी।

मिरगछाला‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मृगछाला"।

मिरगिया–संज्ञा पुं० [हिं० मिरगी+इया (प्रत्य०)] वह जिसे मिरगी का रोग हो।

मिरगी–संज्ञा स्त्री० [सं० मृगी] एक प्रसिद्ध मानसिक रोग जिसका बीच बीच में दौरा हुआ करता है और जिसमें रोगी प्रायः मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है, उसके हाथ-पैर ऐंठने लगते हैं और उसके मुँह से झाग निकलने लगता है। कभी कभी रोगी के केवल हाथ-पैर ही ऐंठते हैं और उसे मूर्च्छा नहीं आती। अपस्मार रोग।

क्रि० प्र०—आना।

मिरघ–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या।

मिरचा–संज्ञा पुं० [सं० मरिच] लाल मिर्च।

मिरचाई–संज्ञा स्त्री० दे० (१) "मिर्च"। (२) दे० "काला दाना"।

मिरचियागंध–संज्ञा पुं० [हिं० मिर्च+गंध] रूसा घास।

मिरची–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिर्च] छोटी, पर बहुत तेज लाल मिर्च।

मिरज़ई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मिरजा] एक प्रकार का बंददार अंगा जो कमर तक और प्रायः पूरी बाँह का होता है।

मिरज़ा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मीर या अमीर का लड़का। मीर-जाया। अमीर-ज़ादा। (२) राजकुमार। कुँअर। (३) मुगलों की एक उपाधि। (४) तैमूर वंश के शाहज़ादों की उपाधि।

वि० कोमल। नाज़ुक। (व्यक्ति)

मिरज़ाई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मिरजा का भाव या पद। (२) सरदारी। नेतृत्व। (३) अभिमान। घमंड। (४) दे० "मिरज़ई"।

मिरज़ान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] प्रवाल। मूँगा।

मिरज़ामिजाज–वि० [फ़ा० मिरजा+मिजाज] नाज़ुक दिमाग का।

मिरत‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मृत्यु"।

मिरदंग–संज्ञा पुं० दे० "मृदंग"।

मिरदंगी–संज्ञा पुं० [हिं० मिरदंग+ई (प्रत्य०)] वह जो मृदंग बजाता हो। पखावजी।

मिरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूर्च्छा। (२) मदिरा। शराब।

मिरासी–संज्ञा पुं० दे० "मीरासी"।

मिरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की लता।

मिरिच–संज्ञा स्त्री० दे० "मिर्च"।

मिरिचिया कंद–संज्ञा पुं० [हिं० मिरिच+गंध] रोहिस घास।

मिर्गी–संज्ञा स्त्री० दे० "मिरगी"।

मिर्च–संज्ञा स्त्री० [सं० मरिच] (१) कुछ प्रसिद्ध तिक्त फलों और फलियों का एक वर्ग जिसके अंतर्गत काली मिर्च, लाल मिर्च और उनकी कई जातियाँ हैं। (२) इस वर्ग की एक प्रसिद्ध तिक्त फली जिसका व्यवहार प्रायः सारे संसार में व्यंजनों में मसाले के रूप में होता है और जिसे प्रायः लाल मिर्च और कहीं कहीं मिरचा, मरिचा या मिरचाई भी कहते हैं।

विशेष—इस फली का क्षुप मकोय के क्षुप के समान, पर देखने में उससे अधिक झाड़दार होता है; और प्रायः सारे भारत में इसी फली के लिए उसकी खेती की जाती है। इसके पत्ते पीछे की ओर चौड़े और आगे की ओर अनीदार होते हैं। इसके लिए काली चिकनी मिट्टी की अथवा याही बाँगर मिट्टी की ज़मीन अच्छी होती है। दुम्मट ज़मीन में भी यह क्षुप होता है; पर कड़ी और अधिक बालूवाली मिट्टी इसके लिए उपयुक्त नहीं होती। इसकी बोआई असाढ़ से कार्त्तिक तक होती है। जाड़े में इसमें पहले सफेद रंग के फूल आते हैं और तब फलियाँ लगती हैं। ये फलियाँ आकार में छोटी, बड़ी, लंबी, गोल अनेक प्रकार की होती हैं। कहीं कहीं इसका आकार नारंगी के समान गोल और कहीं कहीं गाजर के समान भी होता है; पर साधारणतः यह उंगली के बराबर लंबी और उतनी ही मोटी होती है। इन फलियों का रंग हरा, पीला, काला, नारंगी या लाल होता है और ये कई महीनों तक लगातार फलती

रहती हैं। प्रायः कच्ची दशा में इनका रंग हरा और पकने पर लाल हो जाता है। मसाले में कच्ची फलियाँ भी काम आती हैं और पकी तथा सुखाई हुई फलियाँ भी। कुछ जाति की फलियाँ बहुत अधिक तिक्त तथा कुछ बहुत कम तिक्त होती हैं। अचार आदि में तो ये फलियाँ और मसालों के साथ डाली ही जाती हैं, पर स्वयं इन फलियों का भी अचार पड़ता है। इसके पत्तों की तरकारी भी बनाई जाती है। इसका स्वाद तिक्त होने के कारण तथा इसके गरम होने के कारण कुछ लोग इसका बहुत कम व्यवहार करते हैं अथवा बिलकुल ही नहीं करते। वैद्यक में यह तिक्त, अग्निदीपक, दाहजनक तथा कफ, अरुचि, विशूचिका, व्रण, आर्द्रता, तंद्रा, मोह, प्रलाप और स्वर-भेद आदि को दूर करनेवाली मानी गई है। त्वचा पर इसका रस लगाने से जलन होती है; और यदि इसका लेप किया जाय तो तुरंत छाले पड़ जाते हैं। इसके सेवन से हृदय, त्वचा, वृक्क और जननेंद्रिय में अधिक उत्तेजना होती है। पर यदि इसका बहुत अधिक सेवन किया जाय, तो बल और वीर्य की हानि होती है। वैद्यक, हिकमत और डाक्टरी सभी में इसका व्यवहार ओषधि रूप में होता है।

पर्या०—कटुवीरा। रक्त मरिच। कुमरिच। तीक्ष्णा। उज्ज्वला। तीव्रशक्ति। अजड़ा।

(२) एक प्रकार का प्रसिद्ध तिक्त, काला, छोटा दाना जिसे "काली मिर्च" या "गोल मिर्च" कहते हैं और जिसका व्यवहार व्यंजनों में मसाले के रूप में होता है।

विशेष—यह दाना एक लता का फल होता है। इस लता की खेती पूर्व भारत में आसाम में, तथा दक्षिण भारत में मलाबार, कोचीन, ट्रावनकोर आदि प्रदेशों में अधिकता से होती है। देहरादून और सहारनपुर आदि कुछ स्थानों में भी इसकी थोड़ी बहुत खेती होती है। यह लता प्रायः दूसरे वृक्षों पर चढ़ती और उन्हीं के सहारे फैलती है। यह लता बहुत दृढ़ होती है और इसके पत्ते पीपल के पत्तों के समान और ५-७ इंच लंबे तथा ३-४ इंच चौड़े होते हैं। इसकी लंबी लंबी डंडियों में गुच्छों में फूल और फल लगते हैं। प्रायः वर्षा ऋतु में पान की बेल की तरह इस लता के भी छोटे छोटे टुकड़े करके बड़े बड़े वृक्षों की जड़ों के पास गाड़ दिए जाते हैं, जो थोड़े दिनों में लता के रूप में बढ़कर उन वृक्षों पर फैलने लगते हैं। नारियल, कटहल और आम के वृक्षों पर यह लता बहुत अच्छी तरह फैलती है। तीसरे या चौथे वर्ष इन लताओं में फल लगने लगते हैं और प्रायः बीस वर्ष तक लगते रहते हैं। कच्ची दशा में ये फल लाल रंग के होते हैं; पर पकने और सूखने पर काले रंग के हो जाते हैं; और प्रायः इसी रूप में बाजारों में मिलते हैं। कभी कभी इन सूखे फलों को पानी में भिगोकर उनका ऊपरी छिलका अलग कर लिया जाता है जिससे अंदर से सफेद या मटमैले रंग के फल निकल आते हैं और जो बाजारों में "सफेद मिर्च" के नाम से बिकते हैं। इस दशा में उनका तीतापन भी कुछ कम हो जाता है। भारतवर्ष में इसका व्यवहार और उपज बहुत प्राचीन काल से होती आई है और यहाँ से बहुत अधिक मात्रा में विदेश में भेजी जाती रही है। वैद्यक में यह कड़वी, हलकी, चरपरी, गरम, रूखी, तीक्ष्ण, अवृष्य, छेदक, शोषक, पित्तकारी, अग्निप्रदीपक, रुचिकारी, तथा कफ, वात, श्वास, शूल, कृमि, खाँसी, हृदय रोग, प्रमेह और बवासीर का नाश करनेवाली मानी गई है। साधारणतः इसका व्यवहार मसाले के रूप में ही होता है, पर वैद्यक, हिकमत और डाक्टरी में यह ओषधि के रूप में भी काम आती है। जिन लोगों को लाल मिर्च अप्रिय या हानिकारक होती है, वे प्रायः इसी का व्यवहार करते हैं; क्योंकि यह उससे तिक्त भी कम होती है, और उत्तेजक तथा दाहजनक भी कम होती है।

पर्या०—मरिच। वेणुज। यवनप्रिय। वल्लीज। कोलक। कृष्ण। शुद्ध। कोलक। धर्मपत्तन। ऊषण। वरिष्ट। कटुक। वेणुक। शिरोवृत्त। वार आदि।

वि० जिसका स्वभाव बहुत ही उग्र, तीव्र या कटु हो। (क०)

मिर्चन†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिर्च+न (प्रत्य०)] झड़बेरी के फलों का चूर्ण जो नमक-मिर्च मिलाकर चाट के रूप में बेचा जाता है।

मिर्चिया–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिर्च] रोहिस घास।

मिलक†–संज्ञा स्त्री० [अ० मिल्क] (१) जमीन-जायदाद। जमींदारी। मिलकियत। (२) जागीर। उ०—ब्रज की भूमि इंद्र तें मानो मदन मिलक करि पाई।—सूर।

मिलकी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलक+ई (प्रत्य०)] (१) वह जिसके पास ज़मीन-जायदाद हो। ज़मींदार। (२) वह जिसके पास धन-संपत्ति हो। दौलतमंद। अमीर।

मिलन–संज्ञा पु० [सं०] (१) मिलने की क्रिया या भाव। मिलाप। भेंट। समागम। योग। (२) मिश्रण। मिलावट।

मिलनसार–वि० [हिं० मिलन+सार (प्रत्य०)] जो सब से प्रेमपूर्वक मिलता हो। सब से हेल-मेल रखनेवाला। सद्व्यवहार रखनेवाला और सुशील।

मिलनसारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलनसार+ई (प्रत्य०)] सब से प्रेमपूर्वक मिलने का गुण। सब से हेल-मेल रखना। सद्-व्यवहार और सुशीलता।

मिलना–क्रि० स [सं० मिलन] (१) एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में पड़ना। सम्मिलित होना। मिश्रित होना। जैसे, दाल में नमक मिलना। (२) दो भिन्न भिन्न पदार्थों का एक होना। बीच में का अंतर मिटना। जैसे,—अब ये दोनों

मकान मिलकर एक हो गए हैं। (३) सम्मिलित होना। समूह या समुदाय के भीतर होना। जैसे,—(क) हमारी किताबें भी इन्हीं में मिल गई हैं। (ख) अब वह भी जात में मिल गए हैं।

यौ०—मिला जुला=(१) सम्मिलित। (२) मिश्रित।

(४) सटना। जुड़ना। चिपकना। (५) आकृति, गुण आदि में समान होना। बिलकुल या बहुत कुछ बराबर होना। जैसे,—(क) इन दोनों पुस्तकों का विषय बहुत कुछ मिलता है। (ख) इन दोनों का स्वभाव बहुत कुछ मिलता है।

यौ०—मिलता जुलता=एक सा। समान। तुल्य।

(६) आलिंगन करना। छाती से लगाना। भेंटना। जैसे, राम और भरत का मिलना। (७) भेंट होना। मुलाकात होना। देखा देखी होना। जैसे,—वह मुझसे रोज़ मिलते हैं। (८) विरोध या द्वेष दूर होना। मेल-मिलाप होना। (९) संभोग करना। मैथुन करना। (१०) किसी के पक्ष में हो जाना। जैसे,—अब तो आप भी उधर ही जा मिले। (११) लाभ होना। फायदा होना। नफा होना। जैसे,—इस सौदे में आपको भी कुछ न कुछ मिल रहेगा। (१२) प्रत्यक्ष होना। सामने आना। पता लगना। जैसे,—रास्ता मिलना।

संयो० क्रि०—जाना।

(१३) बजने से पहले बाजों का सुर या आवाज़ ठीक होना। जैसे, तबला मिलना। सारंगी मिलना।

*†क्रि० स० [?] गौ आदि का दूध दूहना।

मिलनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलना+ई (प्रत्य०)] (१) विवाह की एक रस्म जो कहीं तो कन्यादान हो चुकने के उपरांत और कहीं उससे पहले होती है। इसमें कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष के लोगों से गले मिलते और उन्हें कुछ नकद देते हैं। कहीं कहीं यह रस्म स्त्रियों में भी होती है। (२) दे० "मिलन"।

मिलपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] अश्मंतक वृक्ष। बहेड़े का पेड़।

मिलवाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलवाना+ई (प्रत्य०)] (१) मिलवाने की क्रिया या भाव। (२) वह धन या पुरस्कार जो मिलवाने के बदले में दिया जाय।

मिलवाना-क्रि० स० [हिं० मिलाना का प्रेर० रूप] (१) मिलने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को मिलने में प्रवृत्त करना। (२) भेंट या परिचय कराना। (३) मेल कराना। (४) संभोग कराना।

मिलाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलाना+ई (प्रत्य०)] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) मिलाने की मजदूरी। (३) विवाह की मिलनी नामक रसम। वि० दे० "मिलनी"। (४) जाति से निकाले हुए आदमी को फिर से जाति में मिलाने का काम।

मिलान-संज्ञा पुं० [हिं० मिलाना] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। (२) तुलना। मुकाबला। (३) ठीक होने की जाँच।

क्रि० प्र०—करना।—मिलाना।—होना।

मिलाना-क्रि० स० [सं० मिलन। हिं० मिलना का सक० रूप] (१) एक पदार्थ में दूसरा पदार्थ डालना। मिश्रण करना। जैसे, दूध में पानी मिलाना। (२) दो भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक करना। बीच में अंतर न रहने देना। जैसे,—दोनों दीवारें मिला दी गईं। (३) सम्मिलित करना। एक करना। जैसे,—यह रकम भी उसी में मिला दी गई है।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(४) सटाना। जोड़ना। चिपकाना। (५) दो पदार्थों में तुलना करना। मुकाबला करना। जैसे,—दोनों कपड़े मिला कर देख लीजिए। (६) यह देखना कि प्रतिलिपि आदि मूल के अनुसार है या नहीं। ठीक होने की जाँच करना। जैसे,—नकल तो पूरी हो चुकी है, पर अभी मिलाना बाकी है।

संयो० क्रि०—लेना।

(७) भेंट या परिचय कराना। (८) दो व्यक्तियों का विरोध या द्वेष दूर करके उनमें मेल कराना। सुलह या संधि कराना। (९) स्त्री और पुरुष का संयोग कराना। संभोग या संबंध कराना।

संयो० क्रि०—देना।

(१०) किसी को अपने पक्ष में करना। अपना भेदिया या साथी बनाना। गाँठना। जैसे,—हम उन्हें अपनी ओर मिला लेंगे।

संयो० क्रि०—लेना।

यौ०—मिलाना-जुलाना।

(११) बजाने से पहले बाजों का सुर या आवाज़ ठीक करना। जैसे, पखावज मिलाना। सारंगी मिलाना।

मिलाप-संज्ञा पुं० [हिं० मिलना+आप (प्रत्य०)] (१) मिलने की क्रिया या भाव। (२) मेल या सद्भाव होना। मित्रता।

यौ०—मेल-मिलाप।

(३) भेंट। मुलाकात। (४) एक साथ बजनेवाले बाजों का एक सुर में होना। (५) संभोग। संयोग। (६) दे० "मिलाई"।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग अधिकतर मनुष्यों या प्राणियों के संबंध में होता है, वस्तुओं के मिश्रण के लिए नहीं।

मिलाव-संज्ञा पुं० [हिं० मिलाना+आव (प्रत्य०)] (१) मिलाने की क्रिया या भाव। मिलावट। (२) मिलाप।

मिलावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलाना+आवट (प्रत्य०)] (१) मिलाए

जाने का भाव। (२) किसी अच्छी या बढ़िया चीज़ में कोई बुरी या घटिया चीज़ का मेल। खोट। जैसे,—यह सोना ठीक नहीं है; इसमें कुछ मिलावट है।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग केवल वस्तुओं के मिश्रण के लिए होता है, प्राणियों के संयोग के लिए नहीं।

मिलिंदक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साँप।

मिलिक*†–संज्ञा स्त्री० [अ० मिल्क] (१) ज़मींदार। मिल्कियत (२) जागीर। उ०—ब्रज की भूमि इंद्र तें मानों मदन मिलिक करि पाई।—सूर।

मिलित–वि० [सं०] मिला हुआ। युक्त।

मिलेठी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मुलेठी"।

मिलौना†–क्रि० स० [हिं० मिलाना] (१) दे० "मिलाना"। (२) गौ का दूध दूहना।

संज्ञा पुं० एक प्रकार की बढ़िया ज़मीन जिसमें कुछ बालू भी मिली होती है।

मिलौनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलना+औनी (प्रत्य०)] (१) मुसलमानों में विवाह की एक रस्म जिसमें बरातियों आदि को कुछ नकद या वस्तुएँ भेंट की जाती हैं। मिलाई। (२) किसी अच्छी चीज़ में कोई ख़राब चीज़ मिलाना। (३) दे० "मिलाई"। (४) मिलने की क्रिया या भाव। मिलावट। (५) मिलाने के बदले में मिला हुआ धन।

मिल्क–संज्ञा पुं० [अ०] (१) जमींदारी। (२) जागीर। मुआफी। (३) ज़मीन की एक प्रकार की मिलकियत या मालिकाना हक। जिसे यह हक प्राप्त होता है, वह ज़मींदार को किसी प्रकार का लगान आदि नहीं देता। इस प्रकार की मिल्कियत ज़मींदारी और काश्तकारी के बीच की होती है और मुरादाबाद आदि कुछ पश्चिमी ज़िलों में ही पाई जाती है। (४) धन-संपत्ति। (५) अधिकार। मिल्कियत।

मिल्कियत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) ज़मींदारी। (२) जागीर। माफी। (३) धन-संपत्ति। जायदाद। (४) वह पदार्थ या धन-संपत्ति जिस पर नियमानुसार अपना स्वामित्व हो सकता हो या अधिकार पहुँच सकता हो। जिस पर मालिकों का सा हक हो। जैसे,—वह सब तो हमारी मिल्कियत ठहरी; हम छोड़ कैसे दें?

मिल्की–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मिल्क का स्वामी या अधिकारी। ज़मींदार। (२) जागीरदार। माफीदार।

मिल्लत–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिलन+त (प्रत्य०)] (१) मेल-जोल। घनिष्टता। मिलाप। जैसे,—उन दोनों में बहुत मिल्लत है। (२) मिलनसारी। जैसे,—उनमें मिल्लत बहुत है।

मुहा०—मिल्लत का=जिसमें मिलनसारी हो। मिलनसार। जैसे,—वह बहुत मिल्लत का आदमी है।

(३) समूह। मंडली। जत्था। (क०)

संज्ञा स्त्री० [अ०] मजहब। संप्रदाय। पंथ। मत। जैसे,—हर मिल्लत के आदमी से वह अच्छा व्यवहार करता है।

मिशन–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह जो किसी विशेष कार्य या उद्देश्य से कहीं भेजा जाय। विशिष्ट कार्य के लिए भेजे हुए आदमी। (२) उद्देश्य। (३) वह संस्था, विशेषतः ईसाइयों की संस्था जो संगठित रूप से धर्म्म-प्रचार का उद्योग करती है। (४) ऐसी संस्था का केंद्र या कार्य्यालय आदि। (५) राजनीतिक उद्देश्य से भेजा हुआ दूत-मंडल।

मिशनरी–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह ईसाई पादरी जो किसी मिशन का सदस्य होता है और अनेक स्थानों में ईसाई धर्म्म का प्रचार करने के लिये जाता है। (२) ईसाइयों का कोई धर्म्म-पुरोहित। पादरी।

मिशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी। (२) मधुरिका। सोआ। (३) सौंफ। (४) मेथी। (५) दाभ। बड़ी डाभी।

मिश्र–वि० [सं०] (१) मिला या मिलाया हुआ। मिश्रित। संयुक्त। जैसे, मिश्र धातु। (२) श्रेष्ठ। बड़ा। (३) जिसमें कई भिन्न भिन्न प्रकार की रकमों (जैसे, रुपया, आना, पाई; मन, सेर, छटाँक) की संख्या हो। जैसे, मिश्र भाग, मिश्र गुणा। (गणित)

संज्ञा पुं० [सं०] (१) हाथियों की चार जातियों में से एक जाति। (२) सन्निपात। (३) रक्त। लहू। (४) मूली। (५) ज्योतिष के अनुसार उग्र आदि सात प्रकार के गणों में से अंतिम या सातवाँ गण जो कृत्तिका और विशाखा नक्षत्र के योग में होता है। (६) सरयूपारीण, कान्यकुब्ज और सारस्वत आदि ब्राह्मणों के एक वर्ग की एक उपाधि।

मिश्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) खारी नमक। (२) वैद्यक में एक प्रकार का वंग या राँगा जिसे खुरा राँगा भी कहते हैं। (३) देवताओं का उद्यान। नंदन वन (४) एक तीर्थ का नाम। (५) जस्ता। (६) मूली।

वि० (१) मिलानेवाला। मिश्रण करनेवाला। (२) मूलक।

मिश्रकस्नेह–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की औषध जो त्रिफला, दशमूल और दंती की जड़ आदि से बनाई जाती है और जिसका व्यवहार गुल्म आदि रोगों में होता है। (वैद्यक)

मिश्रकेशी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अप्सरा का नाम जो मेनका की सखी थी।

मिश्रज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो दो भिन्न जातियों के मिश्रण से बना या उत्पन्न हुआ हो। (२) खच्चर।

मिश्रजाति–वि० [सं०] जो दो जातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ हो। वर्णसंकर। दोगला।

मिश्रण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मिश्रणीय, मिश्रित] (१) दो या

अधिक पदार्थों को एक में मिलाने की क्रिया। मेल। मिलावट। (२) जोड़ लगाने की क्रिया। जोड़ना। (गणित)

मिश्रणीय–वि० [सं०] जो मिश्रण करने योग्य हो। मिलाने योग्य।

मिश्रता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मिश्रित होने का भाव। मिलने या मिलाने का भाव।

मिश्रधान्य–संज्ञा पुं० [सं०] एक में मिलाए हुए कई प्रकार के धान्य।

मिश्रपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेथी।

मिश्रवन–संज्ञा पुं० [सं०] भंटा।

मिश्रवर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काला अगरु। (२) गन्ना। पौंढ़ा।

मिश्रव्यवहार–संज्ञा पुं० [सं०] गणित की एक क्रिया।

मिश्रशब्द–संज्ञा पुं० [सं०] खच्चर।

मिश्रित–वि० [सं०] एक में मिलाया हुआ। मिश्रण किया हुआ।

मिश्रिता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मंदा आदि सात प्रकार की संक्रांतियों में से एक प्रकार की संक्रांति। वह सूर्य्य-संक्रमण जो कृत्तिका और विशाखा नक्षत्र के समय हो।

मिश्री–संज्ञा पुं० [सं० मिश्रिन्] (१) मिलानेवाला। मिश्रण करनेवाला। (२) एक नाग का नाम।

संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी"।

मिश्रीकरण–संज्ञा पुं० [सं०] मिलाने की क्रिया। मिश्रण करना।

मिश्रीतुत्थ–संज्ञा पुं० [सं०] खपरिया। खर्पर। संग बसरी।

मिश्रेया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मधुरिका। सोरी। (२) एक प्रकार का साग। (३) शतपुष्पा। तालपर्ण।

मिश्रोदन–संज्ञा पुं० [सं०] खिचड़ी।

मिष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छल। कपट। (२) बहाना। हीला। मिस। (३) ईर्ष्या। डाह। (४) स्पर्द्धा। होड़। (५) दर्शन। (६) सेचन। सींचना।

मिषि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी। (२) सोआ। (३) सौंफ। (४) अजमोदा। (५) खस। उशीर।

मिषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोआ। (२) सौंफ। (३) जटामाँसी। बालछड़।

मिषी–संज्ञा स्त्री० दे० "मिषि"।

मिष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] मीठा रस।

वि० (१) मीठा। मधुर। (२) सेंका, भूना या पकाया हुआ।

मिष्टनिंब–संज्ञा पुं० [सं०] मीठी नीम।

मिष्टनिंबु–संज्ञा पुं० [सं०] मीठा नीबू। जमीरी नीबू।

मिष्टपाक–संज्ञा पुं० [सं०] मुरब्बा।

मिष्टपाचक–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत अच्छा भोजन बनाता हो। जिसका बनाया भोजन बहुत स्वादिष्ट होता हो।

मिष्टभाषी–संज्ञा पुं० [सं० मिष्टभाषिन्] वह जो मीठा बोलता हो। मधुरभाषी।

मिष्टवाताद–संज्ञा पुं० [सं०] मीठा बादाम।

मिष्टान्न–संज्ञा पुं० [सं०] मिठाई।

मिस–संज्ञा पुं० [सं० मिष] (१) बहाना। हीला। जैसे,—उन्होंने उपदेश के मिस ही उन्हें बहुत कुछ खरी-खोटी कह सुनाई। (२) नकल। पाखंड। उ०—भाँड़ पुकारै पीर-बस, मिस समुझै सब कोय।—वृंद।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] ताँबा।

यौ०—मिसगर–ताँबे का काम करनेवाला। तमेरा।

संज्ञा स्त्री० [अं०] कुँआरी लड़की। कुमारी।

मिसकीन–वि० [अ० मिस्कीन] (१) जिसमें कुछ भी सामर्थ्य या बल न हो। बेचारा। दीन। (२) गरीब। निर्धन। (३) सीधा-सादा।

मिसकीनता*–संज्ञा स्त्री० [अ० मिसकीन+ता (सं० प्रत्य०)] दीनता। गरीबी। नम्रता। उ०—एही दरबार है गरब तें सरब हानि, लाभ जोग छेम को गरीबी मिसकीनता।—तुलसी।

मिसकीनी–संज्ञा स्त्री० [अ०] मिसकीन होने का भाव। दीन या दरिद्र होने का भाव।

मिसन–संज्ञा स्त्री० [हिं० मिसना=मिलना] ऐसी भूमि जिसकी मिट्टी में बालू भी मिली हो। बालू मिली हुई मिट्टी की जमीन।

मिसना*†–क्रि० अ० [सं० मिश्रण] मिश्रित होना। मिलना।

क्रि० अ [हिं० मीसना का अक० रूप] मींजा या मला जाना। मीसा जाना।

मिसर–संज्ञा पुं० दे० "मिस्र"।

संज्ञा पुं० दे० "मिश्र"।

मिसरा–संज्ञा पुं० [अ० मिसरअ] कविता, विशेषतः उर्दू या फ़ारसी आदि की कविता का एक चरण। पद।

मुहा०—मिसरा लगाना=किसी एक मिसरे में अपनी ओर से रचना करके दूसरा मिसरा जोड़ना।

यौ०—मिसरा तरह।

मिसरा तरह–संज्ञा पुं० [अ० मिसरा+फ़ा० तरह] वह दिया हुआ मिसरा जिसके आधार पर उसी तरह की गज़ल कही जाती है। पूर्त्ति के लिए दी हुई (उर्दू या फ़ारसी कविता की) समस्या।

मिसरी–संज्ञा स्त्री० [मिस्र देश से] (१) मिश्र देश का निवासी। (२) मिस्र देश की भाषा। (३) दोबारा बहुत साफ़ करके जमाई हुई दानेदार या रवेदार चीनी जो प्रायः कूजे या कतरे के रूप में बाज़ारों में बिकती है। यह वैद्यक में स्निग्ध, धातुवर्धक, मुखप्रिय, बलकारक, दस्तावर, हलकी, तृप्तिकारी,

सब प्रकार के रोगों को शांत करनेवाली और रक्त-पित्त को नष्ट करनेवाली मानी गई है।

मुहा०—मिसरी की डली=बहुत ही मीठा या मधुर पदार्थ।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की शहद की मक्खी।

मिसरोटी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मिस्सा+रोटी] (१) मिस्से आटे की बनी हुई रोटी। वि० दे० "मिस्सा"। (२) कंडे आदि पर सेंककर बनाई हुई बाटी। अँगाकड़ी।

मिसल-संज्ञा स्त्री० [अं० मिसिल] सिक्खों के वे अनेक समूह जो अलग अलग नायकों की अधीनता में स्वतंत्र हो गए थे। (गुरु नानक के बंदा नामक शिष्य की देखा-देखी और भी अनेक सिक्ख सरदारों ने अपने अपने समूह स्थापित कर लिए थे, जिन्हें वे मिसल कहते थे। जैसे, भंगियों की मिसल, रामगढ़िया मिसल, अहलूवालिया मिसल आदि।

मिसाल-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) उपमा। जैसे,—लोग आँखों की मिसाल बादाम से देते हैं। (२) उदाहरण। नमूना। नजीर। जैसे,—यों ही कहने से काम न चलेगा, कोई मिसाल भी दीजिए।

क्रि० प्र०—देना।

(३) कहावत। लोकोक्ति। मसल।

मिसि-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामाँसी। बालछड़। (२) सौंफ। (३) सोआ। (४) अजमोदा। (५) खस।

मिसिरी-संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी"।

मिसिल-वि० [अ०] समान। तुल्य। बराबर। दे० "मिस्ल"।

संज्ञा स्त्री० (१) किसी एक मुकदमे या विषय से संबंध रखनेवाले कुल काग़ज़-पत्रों आदि का समूह। (२) किसी पुस्तक के अलग अलग छपे फार्म जो सिलाई आदि के काम के लिए क्रम से लगाकर रखे गए हों।

मुहा०—मिसिल उठाना=पुस्तक के अलग अलग फार्मों को सीने के लिए पहले एक क्रम से लगाना। (दफ्तरी)

मिसिली-वि० [हिं० मिसिल+ई (प्रत्य०)] (१) जिसके संबंध में अदालत में कोई मिसिल बन चुकी हो। (२) जिसे न्यायालय से दंड मिल चुका हो। सज़ायाफ्ता।

मुहा०—मिसिली चोर या बदमास=बहुत बड़ा चोर या बदमाश जिसके अपराध अदालत की मिसिलों तक से प्रमाणित होते हों।

मिसी-संज्ञा स्त्री० दे० (१) "मिशी"। (२) दे० "मिसि"।

मिसीन‡-संज्ञा स्त्री० दे० "मशीन"।

मिस्कला-संज्ञा पुं० [अ०] सिकली करनेवालों का वह औज़ार जिसकी सहायता से वे सिकली करते हैं।

मिस्कीन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दीन। बेचारा। (२) दरिद्र। गरीब। (३) भूखा-नंगा। कंगाल। (४) सीधा-सादा। सुशील।

यौ०—मिस्कीन सूरत।

मिस्कीन सूरत-वि० [अ० मिस्कीन+फ़ा० सूरत] जो देखने में सीधा-सादा या दीन, पर वास्तव में दुष्ट या पाजी हो।

मिस्कीनी-संज्ञा स्त्री० [अ० मिस्कीन+ई (प्रत्य०)] (१) दीनता। (२) गरीबी। (३) सुशीलता।

मिस्कोट-संज्ञा पुं० [अं० मेस=भोज] (१) भोजन। खाना। (२) एक साथ बैठकर खाने पीनेवालों का समूह। (३) गुप्त परामर्श।

मिस्टर-संज्ञा पुं० [अं०] महाशय। महोदय।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः अँगरेजों में अथवा अँगरेजी ढंग से रहनेवाले लोगों के नाम के साथ होता है। जैसे, मिस्टर जॉन, मिस्टर गुप्त।

मिस्तर-संज्ञा पुं० [हिं० मिस्तरी ?] (१) काठ का वह औज़ार जिससे राज लोग छत या पलस्तर आदि पीटते हैं। पिटना। (२) वह कल जिससे नील की टिकियाँ बनाई जाती हैं।

संज्ञा पुं० [अ०] दफ्ती का वह बड़ा टुकड़ा जिस पर समानांतर पर डोरे लपेट या सी लेते हैं और जो लिखने के समय लकीरें सीधी रखने के लिए लिखे जानेवाले काग़ज़ के नीचे रख लिया जाता है, अथवा जिस पर रखकर कागज दबा लिया जाता है।

संज्ञा पुं० दे० "मेहतर"।

मिस्तरी-संज्ञा पुं० [अं० मास्टर=उस्ताद] वह जो हाथ का बहुत अच्छा कारीगर हो। चतुर शिल्पकार।

विशेष—इस शब्द का प्रयोग बहुधा लोहारों, बढ़इयों, राजगीरों और कल-पेंच आदि का काम करनेवालों के लिए ही होता है।

मिस्तरीखाना-संज्ञा पुं० [हिं० मिस्तरी+फ़ा० खाना] वह स्थान जहाँ लोहार, बढ़ई या कल-पेंच का काम जाननेवाले बैठकर काम करते हैं।

मिस्ता†-संज्ञा पुं० [देश०] (१) वह मैदान जिसमें किसी प्रकार की हरियाली न हो। बंजर। (२) अनाज दाँने के लिए तैयार की हुई सम भूमि।

मिस्र-संज्ञा पुं० [अ०=नगर] एक प्रसिद्ध देश जो अफ्रिका के उत्तर-पूर्वी भाग में समुद्र के तट पर है और जो बहुत प्राचीन काल में अपनी सभ्यता और उन्नति के लिए बहुत विख्यात था। इसके उत्तर में भूमध्य सागर, पूर्व में स्वेज की खाड़ी और पश्चिम में सहारा का रेगिस्तान है। दक्षिण में यह नील नदी के उद्गम तक चला गया है। नील नदी में प्रति वर्ष बहुत बड़ी बाढ़ आती है जिसके कारण उसके आस-पास का प्रदेश बहुत अधिक उपजाऊ है। इसके अंतर्गत चौदह प्रांत हैं। इसका राजनगर क़ाहरा है और इसका सब से बड़ा बंदरगाह अस्कंदरिया है। इधर बहुत दिनों से यह देश तुर्की के अधीन था और वहीं का राजप्रतिनिधि इसका

शासन करता था; पर अब इसे अँगरेज़ों ने अपने संरक्षण में ले लिया है। इस देश के विशुद्ध प्राचीन निवासी अब नहीं रह गए हैं और उनकी वर्ण-संकर संतान बची है, जिसका धर्म्म प्रायः इस्लाम और भाषा अरबी से उत्पन्न है। किसी समय में इस देश के निवासी उन्नति और सभ्यता के बहुत ही उच्च शिखर पर पहुँच गए थे; और यह देश रोम, भारत तथा चीन आदि का समकक्ष माना जाता था; पर अब इसका बहुत कुछ पतन हो गया है। कहते हैं कि नूह के पुत्र मिस्र ने अपने नाम पर एक नगर बसाया था, जिसके नाम पर इस देश का यह नाम पड़ा। बड़े बड़े भवनों और इमारतों के जितने प्राचीन खँडहर इस देश में मिलते हैं, उतने और कहीं नहीं पाए जाते।

मिस्रा–संज्ञा पुं० दे० "मिसरा"।

मिस्री–संज्ञा स्त्री० दे० "मिसरी"।

मिस्ल–वि० [अ०] समान। तुल्य। बराबर। जैसे,—यह घोड़ा मिस्ल तीर के जाता है।

मिस्सा–संज्ञा पुं० [हिं० मिसना=मिलना या मीसना=मलना] (१) मूँग, मोठ आदि का भूसा जो भेड़ों और ऊँटों के लिए बहुत अच्छा समझा जाता है। (२) कई तरह की दालों आदि को पीसकर तैयार किया हुआ आटा जिसकी रोटी गरीब लोग बनाकर खाया करते हैं।

यौ०—मिस्सा कुस्सा=बहुत ही मोटा अनाज या उसका बना खाद्य-पदार्थ।

मिस्सी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मिसी=ताँबे का] (१) एक प्रकार का प्रसिद्ध मंजन जो माजूफल, लोहचून और तूतिए आदि से तैयार किया जाता है और जिसे प्रायः सधवा स्त्रियाँ दाँतों में लगाती हैं। इससे दाँत काले हो जाते और सुन्दर जान पड़ते हैं।

क्रि० प्र०—मलना।—लगाना।

मुहा०—मिस्सी काजल करना=स्त्रियों का बनाव-सिंगार करना। मिस्सी और काजल आदि लगाना।

(२) किसी वेश्या का पहले पहल किसी पुरुष से समागम होना, जिसके उपलक्ष में प्रायः कुछ गाना बजाना और जलसा भी होता है। सिर-ढकाई। (मुसल्मान वेश्या)

मिह–संज्ञा पुं० [सं०] बरसता हुआ बादल। मेंह।

मिहतर–संज्ञा पुं० दे० "मेहतर"।

मिहदार–संज्ञा पुं० [फ़ा० मिह=मिहनत+दार (प्रत्य०)] वह मज़दूर जिसे नक़द मज़दूरी दी जाती हो, अन्न आदि के रूप में न दी जाती हो। (रुहेल०)

मिहनत–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहनत"।

मिहनताना–संज्ञा पुं० दे० "मेहनताना"।

मिहनती–वि० दे० "मेहनती"।

मिहना–संज्ञा पुं० दे० "मेहना"।

मिहमान–संज्ञा पुं० दे० "मेहमान"।

मिहमानदारी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहमानदारी"।

मिहमानी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहमानी"।

मिहर–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहर"।

मिहरबान–संज्ञा पुं० दे० "मेहरबान"।

मिहरबानी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहरबानी"।

मिहरा–संज्ञा पुं० (१) दे० "मेहरा"। (२) दे० "महरा"।

मिहराब–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहराब"।

मिहरारू†–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहरारू"।

मिहानी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मथानी"।

मिहिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आसमान से पड़नेवाला बरफ। पाला। (२) ओस। (३) कपूर।

मिहिर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) आक का पौधा। (३) ताँबा। (४) बादल। (५) हवा। (६) चंद्रमा। (७) राजा। (८) दे० "वराहमिहिर"।

वि० वृद्ध। बुड्ढा।

मिहिरकुल–संज्ञा पुं० [फ़ा० महगुल का सं० रूप] शाकल प्रदेश के प्रसिद्ध हूण राजा तोरमाण (तुरमान शाह) के पुत्र का नाम जिसने गुप्त सम्राटों पर विजय प्राप्त करके मध्य भारत तक अधिकार जमाया था। यह बौद्धों का बहुत बड़ा शत्रु था। एक बार मगध के राजा बालादित्य ने इसे पकड़ लिया था; पर फिर अपनी माता के कहने से छोड़ दिया था। इसने कुछ दिनों तक काश्मीर पर भी शासन किया था। यह ईसवी छठी शताब्दी के मध्य में हुआ था।

मिहिराण–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मिही–संज्ञा स्त्री० [देश०] मध्य प्रदेश में होनेवाली एक प्रकार की अरहर जिसके दाने कुछ बड़े होते हैं और जो कुछ देर में तैयार होती है।

मिहीन†–वि० दे० "महीन"।

मींगनी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेंगनी"।

मींगी–संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्ग=दाल] बीज के अंदर का गूदा। गिरी।

मींजना†–क्रि० स० [हिं० मींडना] (१) हाथों से मलना। मसलना। जैसे, छाती मींजना, हाथ मींजना। (२) मर्दन करना। दलना।

मींड़–संज्ञा स्त्री० [सं० मीड़म्] संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय मध्य का अंश इस सुंदरता से कहना जिसमें दोनों स्वरों के बीच का संबंध स्पष्ट हो जाय; और यह न जान पड़े कि गानेवाला एक स्वर से कूदकर दूसरे स्वर पर चला आया है। जैसे,—'सा' का उच्चारण करने के उपरांत 'रि' का उच्चारण करते समय पहले कोमल रिषभ का

उच्चारण करना। गमक।

विशेष—मींड़ की आवश्यकता किसी स्वर से केवल उसके दूसरे परवर्ती स्वर पर ही जाने में नहीं पड़ती, बल्कि किसी एक स्वर से किसी दूसरे स्वर पर जाने अथवा उतरने में भी पड़ती है। अर्थात् आरोहण और अवरोहण दोनों में उसके लिए स्थान हैं। जैसे,—सा के उपरांत म का अथवा नि के उपरांत ग का उच्चारण करने में भी मींड़ का प्रयोग हो सकता और होता है। स्वरों की मूर्च्छनाओं का उच्चारण मींड़ की सहायता से ही होता है। देशी बाजों में से बीन, रबाब, सरोद, सितार, सारंगी आदि में मींड बहुत अच्छी तरह निकाली जाती है; पर पियानो और हारमोनियम आदि अँगरेज़ी ढंग के बाजों में यह किसी प्रकार निकल ही नहीं सकती। विद्वानों का यह भी मत है कि मींड निकालने के लिये स्त्रियों के कंठ की अपेक्षा पुरुषों का कंठ बहुत अधिक उपयुक्त होता है; और इसका कारण यह है कि पुरुषों की स्वर-नालिका स्त्रियों की स्वर-नालिका की अपेक्षा अधिक लंबी होती है।

मींडना†-क्रि० स० [हिं० मांड़ना] हाथों से मलना। मसलना। जैसे, आटा मींडना।

मींड़ासींगी-संज्ञा स्त्री० दे० "मेंढासींगी"।

मीआद-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) किसी कार्य्य की समाप्ति आदि के लिए नियत समय। अवधि।

क्रि० प्र०—गुजरना।—बढ़ना।—बढ़ाना।—बीतना।

(२) कारागार के दंड का काल। क़ैद की अवधि।

मुहा०—मीआद काटना=कारागार का दंड भोगना। सज़ा भुगतना। मीआद बोलना=कारागार-वास का दंड देना। कैद की सजा देना।

मीआदी-वि० [हिं० मीआद+ई (प्रत्य०)] (१) जिसके लिए कोई समय या अवधि नियत हो। जैसे, मीआदी हुंडी। (२) जो कारागार में रह चुका हो। जो जेलखाने में रह कर सजा भुगत चुका हो। जैसे, मीआदी चोर।

मीआदी हुंडी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मीआदी+हुंडी] वह हुंडी जिसका रुपया तुरंत न देना पड़े, बल्कि एक नियत समय या अवधि पर देना पड़े। वह हुंडी जो मिती पूजने पर भुगताई जाय।

मीचना-क्रि० स० [सं० मिष=झपकना या मिच्छ=रोकना] (आँखें) बंद करना। मूँदना।

मिचु*†-संज्ञा स्त्री० [सं० मृत्यु, प्रा० मिच्चु] मृत्यु। मौत।

मीजा†-संज्ञा स्त्री० [अ० मिजाज] (१) अनुकूलता। (२) स्वभाव।

मुहा०—मीजा पटना या मिलना=दो व्यक्तियों का परस्पर मेल जोल होना। स्वभाव मिलने के कारण मेल होना।

(३) सम्मति। राय।

क्रि० प्र०—लेना।

मीजान-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तुला। तराजू। (२) तुला राशि। (३) कुल संख्याओं का योग। जोड़। (गणित)

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(४) दे० "मीज़ा"।

मीटना†-क्रि० अ० दे० "मीचना"।

मीटिंग-संज्ञा स्त्री० [अं०] परामर्श आदि के लिए एक स्थान पर बहुत से लोगों का जमावड़ा। अधिवेशन। सभा।

मीठा-वि० [सं० मिष्ट, प्रा० मिट्ठ] [स्त्री० मीठी] (१) जो स्वाद में मधुर और प्रिय हो। चीनी या शहद आदि के स्वाद-वाला। 'खट्टा' या 'नमकीन' का उलटा। मधुर। जैसे, (क) जितना गुड़ डालोगे, उतना मीठा होगा। (ख) यह आम बहुत मीठा है।

मुहा०—मीठा होना=किसी प्रकार के लाभ या आनंद आदि की प्राप्ति होना। अपने पक्ष में कुछ भलाई होना। जैसे,—हमें ऐसा क्या मीठा है, जो हम नित्य दौड़ दौड़कर तुम्हारे पास आया करें।

(२) जिसका स्वाद बहुत अच्छा हो। स्वादिष्ट। जायकेदार। जैसे,—मीठा मीठा हप, कड़ुआ कड़ुआ थू। (३) धीमा। सुस्त। जैसे,—यह घोड़ा कुछ मीठा चलता है। (४) जो बहुत अच्छा न हो। साधारण या मध्यम श्रेणी का। मामूली। (५) जो तीव्र या अधिक न हो। हलका। मद्धिम। मंद। जैसे,—आज सबेरे से पेट में मीठा मीठा दर्द हो रहा है। (६) जिसमें पुंसत्व न हो, या कम हो। नामर्द। नपुंसक। (७) जो गुदा भंजन कराता हो। औंधा। (८) जो बहुत अधिक सुशील हो। किसी का कुछ भी अनिष्ट न करनेवाला। बहुत अधिक सीधा। जैसे,—इतने मीठे न बनो कि कोई चट कर जाय। (९) प्रिय। रुचिकर। जैसे, मीठे वचन, मीठी बात। उ०—वह चाहता है कि हम सब से मीठे बने रहें।

संज्ञा पुं० (१) मीठा खाद्य पदार्थ। मिठाई। (२) गुड़। (३) हलुआ। (४) एक प्रकार का कपड़ा जो प्रायः मुसलमान लोग पहनते हैं और जिसे शीरींबाफ़ भी कहते हैं। (५) मीठा तेलिया या बछनाग नामक विष। (६) मीठा नीबू।

मीठा अमृतफल-संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+अमृतफल] मीठा चकोतरा।

मीठा आलू-संज्ञा पुं० [हिं०मीठा+आलू] शकरकंद।

मीठा इंद्रजौ-संज्ञा पुं [हिं० मीठा+इंद्रजौ] कृष्ण कुटज। काली कुड़ा।

मीठा कद्दू-संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+कद्दू] कुम्हड़ा।

मीठा गोखरू-संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+गोखरू] छोटा गोखरू।

मीठा चावल–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+चावल] वह चावल जो चीनी या गुड़ के शरबत में पकाया गया हो।

मीठा ज़हर–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+अ० ज़हर] वत्सनाभ। बछनाग विष।

मीठा जीरा–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+जीरा] (१) काला जीरा। (२) सौंफ।

मीठा ठग–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+ठग] झूठा और कपटी मित्र। जो ऊपर से मिला रहे, पर धोखा दे।

मीठा तेल–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+तेल] (१) तिल का तेल। (२) पोस्त के दाने या खस-खस का तेल।

मीठा तेलिया–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+तेलिया] बछनाग। वत्सनाभ विष।

मीठा नीबू–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+नीबू] जमीरी नीबू। चकोतरा।

मीठा नीम–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+नीम] एक प्रकार का छोटा वृक्ष जो प्रायः सारे भारत में पाया और कहीं कहीं लगाया जाता है। इसमें से एक प्रकार की मीठी गंध निकलती है। इसकी छाल पतली और खाकी रंग की होती है और पत्ते बकायन या नीम के पत्तों के समान होते हैं। फल भी नीम के फल के ही समान होते हैं जो कच्चे रहने पर हरे, और पकने पर काले हो जाते हैं। इनमें दो बीज रहते हैं। चैत-बैसाख में इसके गुच्छों में छोटे छोटे फूल लगते हैं। इसकी जड़, छाल और पत्तियाँ औषध के रूप में काम आती हैं। वैद्यक में इसे चरपरा, कड़ुआ, कसैला और दाह, बवासीर, शूल आदि का नाशक माना है।

मीठा पानी–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+पानी] नीबू का अँगरेज़ी सत मिला हुआ पानी जो बाज़ारों में बंद बोतलों में मिलता है। लेमनेड।

मीठा पोइया–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+पोइया] घोड़े की वह चाल जो न बहुत तेज हो और न बहुत धीमी।

मीठा प्रमेह–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+सं० प्रमेह] मधुमेह।

मीठा बरस–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+बरस] स्त्रियों की अवस्था का अठारहवाँ और कुछ लोगों के विचार से तेरहवाँ बरस जो उनके लिए कठिन समझा जाता है। मीठा साल।

मीठा भात–संज्ञा पुं० दे० "मीठा चावल"।

मीठा विष–संज्ञा पुं० [हिं० मीठा+सं० विष] वत्सनाभ। बछनाग।

मीठा साल–संज्ञा पुं० दे० "मीठा बरस"।

मीठी खरखोड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठी+खरखोड़ी] पीली जीवंती। स्वर्ण जीवंती।

मीठी छुरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठी+छुरी] (१) वह जो देखने में मित्र पर वास्तव में शत्रु हो। विश्वासघातक। (२) वह जो देखने में सीधा पर वास्तव में दुष्ट हो। कपटी। कुटिल।

मीठी तूँबी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठी+तूँबी] कद्दू।

मीठी दियार–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठा+दियार] महापीलू वृक्ष।

मीठी मार–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठी+मार] ऐसी मार जिसकी चोट अंदर हो और जिसका ऊपर से कोई चिह्न न दिखाई दे। भीतरी मार।

मीठी लकड़ी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मीठी+लकड़ी] मुलेठी।

मीढ़–वि० [सं०] (१) पेशाब किया हुआ। मूत्र के मार्ग से निकला या निकाला हुआ। (२) मूत्र के समान। मूत्र का सा।

मीढ़ुष–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के पुत्र का नाम।

वि० दयार्द्र। रहमदिल।

मीढ़ुष्टम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। महादेव। (२) सूर्य्य। (३) चोर।

मीन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछली। (२) मेष आदि राशियों में से अंतिम या बारहवीं राशि। इस राशि में पूर्वभाद्रपद नक्षत्र का अंतिम पद, और उत्तर भाद्रपद तथा रेवती नक्षत्र हैं। इस राशि की अधिष्ठात्री देवियाँ दो मछलियाँ हैं और यह चरण-रहित, कफ-प्रकृति, जलचारी, निःशब्द, पिंगल वर्ण, स्निग्ध, बहुत संतानवाली और ब्राह्मण वर्ण की मानी गई है। कहते हैं कि इस राशि में जो जन्म लेता है, वह क्रोधी, तेज चलनेवाला, अपवित्र और अनेक विवाह करनेवाला होता है।

पर्य्या०—कीट। जलज। सौम्य। अंगन। युग्म। मत्य। भक्ष्य। गुरुक्षेत्र। दिनात्मक।

(३) मेष आदि बारह लग्नों में से अंतिम लग्न। फलित ज्योतिष के अनुसार इस लग्न में जन्म लेनेवाला कार्य्यदक्ष, अल्पभोजी, स्त्री का बहुत कम साथ करनेवाला, चंचल, अनेक प्रकार की बातें करनेवाला, धूर्त्त, तेजस्वी, दलवान्, विद्वान्, धनवान्, चर्म्मरोगी, विकृतमुख, पराक्रमी, पवित्रतापूर्वक और शास्त्रानुकूल आचार आदि से रहनेवाला, विनीत, संगीतप्रेमी, कन्या-संततिवाला, कीर्त्तिशाली, विधर्मी और धीर होता है और इसकी मृत्यु मूत्रकृच्छ्र, गुह्य रोग या उपवास आदि से होती है।

मीनक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का नयनांजन। एक तरह का सुरमा।

मीनकाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कनेर।

मीनकेतन–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

मीनगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मत्स्यगंधा या सत्यवती का एक नाम।

मीनगंधिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जलाशय, तालाब या झील आदि।

मीनघाती–संज्ञा पुं० [सं० मीनघातिन्] बगला।

वि० मछली मारनेवाला।

मीननाथ–संज्ञा पुं० [सं०] गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ का एक नाम। मछंदरनाथ।

मीननेत्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गाडर दूब ।

मीनपित्त–संज्ञा पुं० [सं०] कुटकी नामक ओषधि ।

मीनरंक–संज्ञा पुं० [सं०] जलकौवा । मुरगाबी ।

मीनरंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मछरंग नामक पक्षी जो मछली खाता है । (२) जल-कौआ ।

मीनर–संज्ञा पुं० [सं०] शाखोट वृक्ष । सहोरा ।

मीनांडी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की शकर ।

मीना–संज्ञा स्त्री० [सं०] ऊषा की कन्या का नाम जिसका विवाह कश्यप से हुआ था ।

संज्ञा पुं० [देश०] राजपूताने की एक प्रसिद्ध योद्धा जाति । इस जाति के लोग बहुत वीर होते हैं और युद्ध में इनकी बहुत प्रवृत्ति होती है । किसी समय ये बहुत बल-शाली थे और प्राय: लूटमार करके अपना निर्वाह करते थे । महाराणा प्रताप को अपने युद्धों में इनसे बहुत सहायता मिली थी ।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) रंग बिरंगा शीशा । (२) एक प्रकार का नीले रंग का कीमती पत्थर । (३) कीमिया । (४) सोने, चाँदी आदि पर किया जानेवाला रंग बिरंग का काम ।

यौ०—मीनाकारी ।

(५) शराब रखने का कंटर या सुराही ।

मीनाकार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो चाँदी या सोने आदि पर रंगीन काम बनाता हो । मीना करनेवाला ।

मीनाकारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा] (१) सोने या चाँदी पर होनेवाला रंगीन काम । (२) किसी काम में निकाली या की हुई बहुत बड़ी बारीकी ।

मुहा०—मीनाकारी छाँटना=व्यर्थ का छिद्रान्वेषण करना । निरर्थक दोष निकालना । बाल की खाल निकालना ।

मीनाक्ष–वि० [सं०] मछली के समान सुंदर आँखोंवाला ।

संज्ञा पुं० [सं०] एक राक्षस का नाम ।

मीनाक्षी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुबेर की कन्या का नाम । (२) गाडर दूब । (३) ब्राह्मी बूटी । (४) शकर । चीनी ।

मीनाघ्रीण–संज्ञा पुं० [सं०] खंजरीट पक्षी । ममोला । खंजन ।

मीनार–संज्ञा स्त्री० [अ० मनार] (१) ईंट, पत्थर आदि की वह चुनाई जो प्राय: गोलाकार चलती है और ऊपर की ओर बहुत अधिक ऊँचाई तक चली जाती है । यह प्राय: किसी प्रकार की स्मृति के रूप में तैयार की जाती है । स्तंभ । लाठ । (२) मसजिदों आदि के कोनों पर बहुत ऊँची उठी हुई इसी प्रकार की गोल इमारत जो खंभे के रूप में होती है ।

मीनारा–संज्ञा पुं० दे० "मीनार" ।

मीनालय–संज्ञा पुं० [सं०] समुद्र ।

मीमांसक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो किसी बात की मीमांसा करता हो । (२) वह जो मीमांसा शास्त्र का ज्ञाता हो । मीमांसा का पंडित । (३) पूर्व मीमांसा के सूत्रकार जैमिनि ऋषि । (४) कुमारिल भट्ट का एक नाम । (५) भाष्यकार शबरस्वामी का एक नाम । (६) रामानुज का एक नाम । (७) माधवाचार्य्य का एक नाम ।

मीमांसन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मीमांसित] किसी प्रश्न की मीमांसा या निर्णय करने का काम ।

मीमांसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी तत्त्व का विचार, निर्णय या विवेचन । अनुमान, तर्क आदि द्वारा यह स्थिर करना कि कोई बात कैसी है । (२) हिंदुओं के छः दर्शनों में से दो दर्शन जो पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा कहलाते हैं । (साधारणत: 'मीमांसा' शब्द से पूर्व मीमांसा का ही ग्रहण होता है; उत्तर मीमांसा 'वेदांत' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है ।) (३) जैमिनि कृत दर्शन जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं और जिसमें वेद के यज्ञ-परक वचनों की व्याख्या बड़े विचार के साथ की गई है ।

विशेष—सूत्र जैमिनि के हैं और भाष्य शबर स्वामी का है । मीमांसा पर कुमारिल भट्ट के "कार्तत्रवार्त्तिक' और 'श्लोक-वार्त्तिक' भी प्रसिद्ध हैं । माधवाचार्य्य ने भी "जैमिनीय न्यायमाला विस्तार" नामक एक भाष्य रचा है । मीमांसा-शास्त्र में यज्ञों का विस्तृत विवेचन है, इससे इसे "यज्ञ-विद्या" भी कहते हैं । बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण यह मीमांसा 'द्वादशलक्षणी' भी कहलाती है ।

न्यायमाला-विस्तार में माधवाचार्य्य ने मीमांसा-सूत्रों के विषय को संक्षेप में इस प्रकार बतलाया है—पहले अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र, स्मृति और नामधेय की प्रमाणता का विचार है; दूसरे में अपूर्व कर्म और उसके फल का प्रतिपादन तथा विधि और निषेध की प्रक्रिया है; तीसरे में श्रुतिलिंग वाक्यादि की प्रमाणता और अप्रमाणता कही गई है; चौथे में नित्य और नैमित्तिक यज्ञों का विचार है; पाँचवें में यज्ञों और श्रुति-वाक्यों के पूर्वापर संबंध पर विचार किया गया है; छठे में यज्ञों के करने और करानेवालों के अधिकार का निर्णय है; सातवें और आठवें में एक यज्ञ की विधि को दूसरे यज्ञ में करने का वर्णन है; नवें में मंत्रों के प्रयोग का विचार है, दसवें में यज्ञों में कुछ कर्मों के करने या न करने से होनेवाले दोष का वर्णन है; ग्यारहवें में तंत्रों का विचार है; और बारहवें में प्रसंग का तथा कोई इच्छा पूर्ण करने के हेतु यज्ञों के करने का विवेचन है । इसी बारहवें अध्याय में शब्द के नित्यानित्य होने के संबंध में भी सूक्ष्म विचार करके शब्द की नित्यता प्रतिपादित की गई है । मीमांसा में प्रत्येक अधिकरण के पाँच भाग हैं— विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धांत । अत:

सूत्रों के समझने के लिए यह जानना आवश्यक होता है कि कोई सूत्र इन पाँचों में से किसका प्रतिपादक है।

इस शास्त्र में वाक्य, प्रकरण, प्रसंग या ग्रंथ का तात्पर्य निकालने के बहुत सूक्ष्म नियम और युक्तियाँ दी गई हैं। मीमांसकों का यह श्लोक सामान्यतः तात्पर्य-निर्णय के लिए प्रसिद्ध है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग-तात्पर्य-निर्णये॥

अर्थात् किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय के लिए सात बातों पर ध्यान देना चाहिए—उपक्रम (आरंभ), उपसंहार (अंत), अभ्यास (बार बार कथन), अपूर्वता (नवीनता), फल (ग्रंथ का परिणाम या लाभ जो बताया गया हो), अर्थवाद (किसी बात को जी में जमाने के लिए दृष्टांत, उपमा, गुण-कथन आदि के रूप में जो कुछ कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो) और उपपत्ति (साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि)। मीमांसक ऐसे ही नियमों के द्वारा वेद के वचनों का तात्पर्य निकालते हैं। शब्दार्थों का निर्णय भी विचारपूर्वक किया गया है। जैसे, यज्ञ के लिए जहाँ 'सहस्र-संवत्सर' हो, वहाँ 'संवत्सर' का अर्थ दिवस लेना चाहिए। इत्यादि।

मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है; अतः मीमांसक पौरुषेय, अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य-परक मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक वाक्य किसी व्यापार या कर्म का बोधक होता है, जिसका कोई फल होता है। अतः वे किसी बात के संबंध में यह निर्णय करना बहुत आवश्यक मानते हैं कि वह 'विधि वाक्य' (प्रधान कर्मसूचक) है अथवा केवल अर्थवाद (गौण कथन, जो केवल किसी दूसरी बात को जी में बैठाने, उसके प्रति उत्तेजना उत्पन्न करने आदि के लिए हो)। जैसे,—रणक्षेत्र में जाओ; वहाँ स्वर्ग रखा है।" इस वाक्य में दो खंड हैं—"रणक्षेत्र में जाओ" यह तो 'विधि वाक्य' या मुख्य कथन है; और "वहाँ स्वर्ग रखा है" यह केवल 'अर्थवाद' या गौण बात है।

मीमांसा का तत्त्व-सिद्धांत विलक्षण है। इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में है। आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन इसमें नहीं है। यह केवल वेद या उसके शब्द की नित्यता का ही प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मंत्र ही सब कुछ हैं। वे ही देवता हैं; देवताओं की अलग कोई सत्ता नहीं। 'भट्टदीपिका' में स्पष्ट कहा है 'शब्द मात्रं देवता'। मीमांसकों का तर्क यह है कि सब कर्म फल के उद्देश्य से होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म-द्वारा ही होती है। अतः वे कहते हैं कि कर्म और उनके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से और किसी देवता या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है। मीमांसकों और नैयायिकों में बड़ा भारी भेद यह है कि मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; पर वेद की प्रामाणिकता दोनों मानते हैं। भेद इतना ही है कि सांख्य प्रत्येक कल्प में वेद का नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य अर्थात् कल्पांत में भी नष्ट न होनेवाला कहते हैं।

इस शास्त्र का 'पूर्वमीमांसा' नाम इस अभिप्राय से नहीं रखा गया है कि यह उत्तर मीमांसा से पहले बना। 'पूर्व' कहने का तात्पर्य यह है कि 'कर्मकांड' मनुष्य का प्रथम धर्म है; ज्ञान-कांड का अधिकार उसके उपरांत आता है।

मीमांसित–वि० [सं०] जिसकी मीमांसा की जा चुकी हो। जो विचारपूर्वक स्थिर किया जा चुका हो।

मीमांस्य–वि० [सं०] (१) जो मीमांसा करने के योग्य हो। (२) जिसकी मीमांसा करनी हो।

मीर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) पर्वत का एक भाग। (३) सीमा। हद। (४) जल।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) सरदार। प्रधान। नेता। (२) धार्मिक आचार्य। (३) सैयद जाति की उपाधि। जैसे, मीर सुलतानअली। (४) किसी बड़े सरदार या रईस का पुत्र। (५) ताश या गंजीफे में का सब से बड़ा पत्ता। (६) वह जो खेल में औरों से पहले जीतकर या अपना दाँव खेल कर अलग हो गया हो। (लड़के) (७) वह जो सब से पहले कोई काम विशेषतः प्रतियोगिता का काम कर डाले। किसी काम में लगे हुए कई आदमियों में से वह जो सब से पहले काम कर ले।

मीर अर्ज़–संज्ञा पुं० [फ़ा० मीर+अ० अर्ज़] वह कर्मचारी जो बादशाहों की सेवा में लोगों के निवेदनपत्र आदि उपस्थित करे।

मीर आतिश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह कर्मचारी जिसकी अधीनता में तोपखाना हो।

मीरज़ा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) अमीर या सरदार का लड़का। अमीरज़ादा। (२) मुगल शाहज़ादों की एक उपाधि। (३) सैयद मुसलमानों की एक उपाधि। वि० दे० "मिरज़ा"।

मीरज़ाई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मीरज़ा होने का भाव। (२) मीरज़ा का पद या उपाधि। (३) सरदारी। अमीरी। (४) अमीरों या शाहज़ादों का सा ऊँचा दिमाग होना। (५) अभिमान। घमंड। शेखी। (६) दे० "मिरज़ई"।

मीरफ़र्श–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वे गोल, ऊँचे और भारी पत्थर जो बड़े बड़े फ़र्शों या चाँदनियों आदि के कोनों पर इसलिए रखे जाते हैं जिसमें वे हवा से उड़ न जायँ।

मीर बख्शी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मुसलमानी राजत्व काल का एक प्रधान कर्म्मचारी जिसका काम वेतन बाँटना होता था।

मीर बहर–संज्ञा पुं० दे० "मीर बहरी"।

मीर बहरी–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मुसलमानी राजत्व काल में जल-सेना का प्रधान अधिकारी। (२) वह प्रधान कर्म्मचारी जो बंदरगाहों आदि का निरीक्षण करता था।

मीर बार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] पुराने मुसलमानी समय का वह अधिकारी जो लोगों को किसी सरदार या बादशाह के सामने उपस्थित होने से पहले उन्हें देखता और तब उपस्थित होने की आज्ञा देता था।

मीर भुचड़ी–संज्ञा पुं० [फ़ा मीर+देश० भुचड़ी] एक कल्पित पीर जिसे हीजड़े अपना आदि पुरुष और आचार्य्य मानते हैं और जिसके वंश में वे अपने आपको समझते हैं। कहते हैं कि ये स्त्रियों के वेश में रहते, चरखा कातकर अपना निर्वाह करते और छः महीने स्त्री तथा छः महीने पुरुष रहा करते थे। जब हीजड़ों में कोई नया हीजड़ा आकर सम्मिलित होता है, तब वे उसी के नाम की कड़ाही तलते और उसे पकवान खिलाते हैं। कहते हैं कि जो कोई यह पकवान खा लेता है, वह भी हीजड़ों की तरह हाथ पैर मटकाने लगता है।

मीर मंज़िल–संज्ञा पुं० [फ़ा० मीर+अ० मंज़िल] वह कर्म्मचारी जो बादशाहों या लश्कर आदि के पहुँचने से पहले ही मंज़िल या पड़ाव पर पहुँचकर वहाँ सब प्रकार की व्यवस्था करे।

मीर मजलिस–संज्ञा पुं० [फ़ा०] सभा या अधिवेशन का प्रधान अधिकारी। सभापति।

मीर महल्ला–संज्ञा पुं० [फ़ा० मीर+अ० महला] किसी महल्ले का प्रधान या सरदार।

मीर मुंशी–संज्ञा पुं० [फ़ा० मीर+अ० मुंशी] मुंशियों में प्रधान या सरदार। सब से बड़ा मुंशी।

मीर शिकार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह प्रधान कर्म्मचारी जो अमीरों या बादशाहों के शिकार की व्यवस्था करता है।

मीर सामान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह प्रधान कर्म्मचारी जो अमीरों या बादशाहों की पाकशाला की व्यवस्था करता है।

मीर हाज–संज्ञा पुं० [फ़ा० मीर अ०+हज्ज] हाजियों का सरदार। हाजियों के समूह का प्रधान।

मीरास–संज्ञा स्त्री० [अ०] वह धन-संपत्ति जो किसी के मरने पर उसके उत्तराधिकारी को मिले। तरका। बपौती।

मीरासी–संज्ञा पुं० [अ० मीरास] [स्त्री० मीरासिन] एक प्रकार के मुसलमान जो पश्चिम में पाए जाते हैं। ये प्रायः गाने बजाने का काम करते हैं और भाँड़ों की तरह मसखरापन करके लोगों को प्रसन्न करते हैं।

मीरी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मीर+ई (प्रत्य०)] (१) मीर होने का भाव। (२) खेल में किसी लड़के का सर्वप्रथम होना। (३) खेल में लड़कों का अपना दाँव खेलकर खेल से अलग हो जाना।

मील–संज्ञा पुं० [सं०] वन। जंगल।

संज्ञा पुं० [अं०] दूरी की एक नाप जो १७६० गज़ की होती है। इसे साधारण कोस का आधा मानते हैं।

मीलक–संज्ञा पुं० [सं०] रोहित मछली। रोहू।

मीलन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मीलनीय, मीलित] (१) बंद करना। जैसे, नेत्रमीलन। (२) संकुचित करना। सिकोड़ना।

मीलित–वि० [सं०] (१) बंद किया हुआ। (२) सिकोड़ा हुआ।

संज्ञा पुं० एक अलंकार जिसमें यह कहा जाता है कि एक होने के कारण दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) में भेद नहीं जान पड़ता, वे एक में मिली जान पड़ती हैं। उ०—पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाय।

मीवग–संज्ञा पुं० [सं०] एक बहुत बड़ी संख्या का नाम। (बौद्ध)

मीवर–वि० [सं०] (१) हिंसक। (२) पूज्य।

संज्ञा पुं० सेनापति।

मीवा–संज्ञा पुं० [सं० मीवन्] (१) पेट में का कीड़ा। (२) वायु। हवा। (३) सार। तत्त्व।

मीशान–संज्ञा पुं० [सं०] महारग्वध वृक्ष। अमलतास।

मुँगना†–संज्ञा पुं० [हिं० मुनगा] सहिजन। मुनगा।

मुँगरा–संज्ञा पुं० [सं० मुद्गर] [स्त्री० मुगरी] हथौड़े के आकार का काठ का बना हुआ वह औज़ार जो किसी प्रकार का आघात करने या किसी चीज़ को पीटने-ठोंकने आदि के काम आता है। जैसे, खूँटा गाड़ने का मुँगरा, घंटा बजाने की मुँगरी, रँगरेजों की मुँगरी।

† संज्ञा पुं० [हिं० मोगरा] नमकीन बुँदिया।

मुंगा–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुराणानुसार एक देवी का नाम।

मुगिया–संज्ञा पुं० [हिं० मूँग] एक प्रकार का धारीदार या चारखानेदार कपड़ा। वि० दे० "मूँगिया"।

मुँगौरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँग+बरी] मूँग की बनी हुई बरी।

मुंज–संज्ञा पुं० [सं० मुंजातक] मूँज।

मुंजक–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख का एक रोग जो कीड़ों के कारण नेत्र-पटल पर होता है। जब यह बढ़ जाता है, तब मुंजजालक कहलाता है।

मुंजकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

मुंजकेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) विष्णु। (३) महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम।

मुंजकेशी–संज्ञा पुं० [सं० मुंजकेशिन्] विष्णु।

मुंजग्राम–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन नगर का नाम।

मुंजजालक–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों की आँख के मुंजक रोग का उस समय का नाम जब वह बहुत बढ़ जाता है।

मुंजपृष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन प्रदेश का नाम जो हिमालय पर्वत में था।

मुंजमणि–संज्ञा स्त्री० [सं०] पुष्पराग मणि। पुखराज।

मुंजमेखला–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज की बनी हुई वह मेखला जो यज्ञोपवीत के समय पहनी जाती है।

मुंजमेखली–संज्ञा पुं० [सं० मुंजमेखलिन्] (१) विष्णु। (२) शिव।

मुंजर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कमल की जड़। (२) कमल की नाल। मृणाल।

मुंजवट–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुंजवान्–संज्ञा पुं० [सं० मुंजवत्] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार की सोम लता। (२) महाभारत के अनुसार कैलास पर्वत के पास के एक पर्वत का नाम।

मुंजातक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूँज। (२) मुंजरा कंद।

मुंजाद्रि–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

मुंजारा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार का कंद। मुंजरा कंद।

मुंड–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गरदन के ऊपर का अंग जिसमें केस, मस्तक, आँख, मुँह आदि होते हैं। सिर। (२) पुराणानुसार राजा बलि के सेनापति एक दैत्य का नाम। (३) शुंभ के सेनापति एक दैत्य का नाम जो उसकी आज्ञा से भगवती के साथ लड़ा था और उन्हीं के हाथों मारा गया था। चंड और मुंड को मारने के कारण ही भगवती का नाम चामुंडा पड़ा था। (४) राहु ग्रह। (५) मुंडन करनेवाला, हज्जाम। (६) वृक्ष का ठूँठ। (७) कटा हुआ सिर। (८) बोल नामक गंध द्रव्य। (९) एक उपनिषद् का नाम। (१०) मंडूर। (११) गायों का समूह या मंडल।

वि० (१) मुँड़ा हुआ। मुंडा। बिना बाल का। (२) अधम। नीच।

मुंडक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मस्तक। सिर। (२) हज्जाम। (३) एक उपनिषद् का नाम।

मुँडकरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँड+करी (प्रत्य०)] घुटनों में सिर देकर बैठना या सोना, जो प्रायः बहुत दुःख के समय होता है।

मुहा०—**मुँडकरी मारना**=घुटनों में सिर देकर, बहुत दुःखी होकर बैठना।

मुंडकिट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] मंडूर।

मुंडचणक–संज्ञा पुं० [सं०] चना।

मुँड़चिरा–संज्ञा पुं० [हिं० मूँड+चीरना] (१) एक प्रकार के फ़क़ीर जो प्रायः अपना सिर, आँख या नाक आदि छुरे या किसी नुकीले हथियार से घायल करके भिक्षा माँगते हैं, और भिक्षा न मिलने पर अड़कर बैठ जाते और अपने अंगों को और भी अधिक घायल करते हैं। ऐसे फ़क़ीर प्रायः मुसलमान ही होते हैं। (२) वह जो लेन-देन में बहुत हुज्जत और हठ करे।

मुँड़चिरापन–संज्ञा पुं० [हिं० मुँड़चिरा+पन (प्रत्य०)] लेन-देन आदि में बहुत हुज्जत और हठ।

मुंडधान्य–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का शालिधान्य जो मुंडशालि भी कहलाता है। बोरो धान।

मुंडन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सिर को उस्तरे से मूँड़ने की क्रिया। (२) द्विजातियों के १६ संस्कारों में से एक जो बाल्यावस्था में यज्ञोपवीत से पहले होता है और जिसमें बालक का सिर मूँड़ा जाता है।

मुंडनक–संज्ञा पुं० [सं०] (२) मुंडशालि नामक धान्य। बोरो धान। (२) वट का वृक्ष।

मुँडना–क्रि० अ० [सं० मुंडन] (१) मूँड़ा जाना। सिर के बालों की सफ़ाई होना। (२) लुटना। (३) ठगा जाना। धोखे में आना। (४) हानि उठाना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुंडनिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुंडशालि। बोरो धान।

मुंडपृष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जनपद का नाम।

मुंडफल–संज्ञा पुं० [सं०] नारियल।

मुंडमंडली–संज्ञा स्त्री० [सं०] अशिक्षित सेना। बिना सीखी हुई फौज।

मुंडमाल–संज्ञा पुं० [सं०] दे० "मुंडमाला"।

मुंडमाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कटे हुए सिरों या खोपड़ियों की माला जो शिव या काली देवी के गले में होती है। (२) बंगाल की एक नदी का नाम।

मुंडमालिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] गले में खोपड़ियों की माला पहननेवाली, काली।

मुंडमाली–संज्ञा पुं० [सं० मुण्डमालिन्] मुंड की माला धारण करनेवाले, शिव।

मुंडलोह–संज्ञा पुं० [सं०] मंडूर।

मुंडवेदांग–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नागासुर का नाम।

मुंडशालि–संज्ञा पुं० [सं०] बोरो धान।

मुंडा–संज्ञा पुं० [सं० मुंड] [स्त्री० मुंडी] (१) वह जिसके सिर के बाल न हों या मुँड़े हुए हों। (२) वह जो सिर मुँड़ाकर किसी साधू या जोगी आदि का शिष्य हो गया हो। (३) वह पशु जिसके सींग होने चाहिए, पर न हों। जैसे, मुंडा बैल। मुंडा बकरा। (४) वह जिसके ऊपरी अथवा इधर-उधर फैलनेवाले अंग न हों। जैसे, मुंडा पेड़। (५)

एक प्रकार की लिपि जिसमें मात्राएँ आदि नहीं होतीं और जिसका व्यवहार प्रायः कोठीवाल करते हैं। कोठीवाली। (६) एक प्रकार का जूता जिसमें नोक नहीं होती और जो प्रायः सिपाही लोग पहना करते हैं।

संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

संज्ञा पुं० [देश०] छोटा नागपुर में रहनेवाली एक असभ्य जाति।

मुँड़ाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँड़ना+आई (प्रत्य०)] (१) मूँड़ने या मुँड़ाने की क्रिया अथवा भाव। (२) मूँड़ने या मुँड़ाने के बदले में मिला हुआ धन।

मुंडाख्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुंडासन–संज्ञा पुं० [सं०] योग के अनुसार एक प्रकार का आसन।

मुंडासा†–संज्ञा पुं० [हिं० मुंड=सिर+आसा (प्रत्य०)] सिर पर बाँधने का साफा।

क्रि० प्र०—कसना। बाँधना।

मुँड़ासाबंद–संज्ञा पुं० [हिं० मुँड़ासा+बंद (प्रत्य०)] वह जो कपड़े से पगड़ी बनाने का काम करता हो। दस्तारबंद।

मुंडा हिरन–संज्ञा पुं० [हिं० मुंडा+हिरन] पाढ़ी मृग।

मुंडित–संज्ञा पुं० [सं०] लोहा।

वि० मुँड़ा हुआ।

मुंडितिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुंडिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी मृग।

मुंडिभ–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जो वाजसनेय संहिता के कई मंत्रों के द्रष्टा या कर्त्ता कहे जाते हैं।

मुँड़िया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँड़=सिर का स्त्री०] मूँड़। सिर।

संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़ना+इया (प्रत्य०)] वह जो सिर मुँड़ाकर किसी साधू या जोगी आदि का शिष्य हो गया हो। संन्यासी। उ०—जिनके जोग जोग यह ऊधो, ते मुँड़िया बसैं कासी।—सूर।

मुंडी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँड़ना+ई (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मुँड़ा हो। (२) विधवा। राँड़। (गाली) (३) एक प्रकार की बिना नोकवाली जूती।

संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

संज्ञा पुं० [सं० मुंडिन्] (१) वह जिसका मुंडन हुआ हो। मुँड़ा हुआ। (२) नापित। हज्जाम। (३) संन्यासी। मुँड़िया।

मुंडीरिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोरखमुंडी।

मुँडेर–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुंडेरा] (१) मुँडेरा। (२) खेत के चारों ओर सीमा पर अथवा क्यारियों में का उभरा हुआ अंश। मेंड़। डोला।

क्रि० प्र०—बँधना।—बाँधना।

मुँडेरा–संज्ञा पुं० [हिं० मूड़=सिर+एरा (प्रत्य०)] (१) दीवार का वह ऊपरी भाग जो सबसे ऊपर की छत के चारों ओर कुछ कुछ उठा हुआ होता है। (२) किसी प्रकार का बाँधा हुआ पुश्ता।

क्रि० प्र०—बँधना।—बाँधना।

मुँडेरी–संज्ञा स्त्री० दे० "मुँडेर"।

मुंडो–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँड़ना+ओ (प्रत्य०)] (१) वह स्त्री जिसका सिर मूँड़ा गया हो। (२) स्त्रियों की एक प्रकार की गाली जिससे प्रायः विधवा का बोध होता है। राँड़।

मुहा०—मुंडो का=एक प्रकार की बाजारी गाली जिसका अर्थ हरामी या वर्णसंकर आदि होता है। विधवा स्त्री के गर्भ से उसके वैधव्य काल में उत्पन्न पुरुष।

मुँढ़िया†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मोढ़ा+इया (प्रत्य०)] बैठने का छोटा मोढ़ा।

मुंतक़िल–वि० [अ०] एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया हुआ।

मुहा०—मुंतक़िल करना=एक के नाम से हटाकर दूसरे के नाम करना। दूसरे को देना। जैसे, जायदाद मुंतक़िल करना।

मुंतज़िम–संज्ञा पुं० [अ०] वह जो इंतज़ाम करता हो। प्रबंध करनेवाला। व्यवस्था करनेवाला।

मुंतज़िर–वि० [अ०] इंतजार करनेवाला। प्रतीक्षा करनेवाला। राह देखनेवाला।

क्रि० प्र०—रखना।—रहना।—होना।

मुँदना–क्रि० अ० [सं० मुद्रण] (१) खुली हुई वस्तु का ढक जाना। बंद होना। जैसे, आँख मुँदना। (२) लुप्त होना। छिपना। जैसे, दिन मुँदना। सूर्य्य मुँदना। (३) छिद्र आदि का पूर्ण होना। छेद, बिल आदि बंद होना।

संयो० क्रि०—जाना।

मुँदरा–संज्ञा पुं० [हिं० मुँदरी] (१) एक प्रकार का कुंडल जो जोगी लोग कान में पहनते हैं। (२) एक प्रकार का आभूषण जो कान में पहना जाता है।

मुँदरी–संज्ञा स्त्री० [सं० मुद्रा] (१) उँगली में पहनने का सादा छल्ला। (२) अँगूठी।

मुंशियाना–वि० [अ० मुंशी+हिं० इयाना (प्रत्य०)] मुंशियों का सा। मुंशियों की तरह का।

मुंशी–संज्ञा पुं० [अ०] (१) लेख या निबंध आदि लिखनेवाला। लेखक। (२) लिखा-पढ़ी का काम या प्रतिलिपि आदि करनेवाला। मुहर्रिर। लेखक। (३) वह जो बहुत सुंदर अक्षर, विशेषतः फारसी आदि के अक्षर, लिखता हो।

मुंशीखाना–संज्ञा पुं० [अ० मुंशी+फ़ा० खाना] वह स्थान जहाँ मुंशी या मुहर्रिर आदि बैठकर काम करते हों। दफ्तर।

मुंशीगिरी–संज्ञा स्त्री० [अ० मुंशी+फ़ा० गिरी (प्रत्य०)] मुंशी का काम या पद।

मुंसरिम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) प्रबंध या व्यवस्था करनेवाला।

इंतज़ाम करनेवाला। (२) कचहरी का वह कर्मचारी जो दफ्तर का प्रधान होता है और जिसके सुपुर्द मिसलें आदि ठीक करना और ठिकाने से रखना होता है।

मुंसलिक—वि० [अ०] साथ में बाँधा या नत्थी किया हुआ। (कच०)

मुंसिफ़—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो न्याय करता हो। इन्साफ करनेवाला। (२) दीवानी विभाग का एक न्यायाधीश जो छोटे छोटे मुकदमों का निर्णय करता है और जो सब-जज से छोटा होता है।

मुंसिफ़ी—संज्ञा स्त्री० [अ० मुंसिफ+ई (प्रत्य०)] (१) न्याय करने का काम। (२) मुंसिफ का काम या पद। (३) मुंसिफ की अदालत। मुंसिफ की कचहरी।

मुँह—संज्ञा पुं० [सं० मुख] (१) प्राणी का वह अंग जिससे वह बोलता और भोजन करता है। मुख-विवर।

विशेष—प्रायः सभी प्राणियों का मुँह सिर में होता है और उससे वे खाने का काम लेते हैं। शब्द निकालनेवाले प्राणी उससे बोलने का भी काम लेते हैं। अधिकांश जीवों के मुँह में जीभ, दाँत और जबड़े होते हैं; और उसे खोलने या बंद करने के लिए आगे की ओर ओंठ होते हैं। पक्षियों तथा कुछ और जीवों के मुँह में दाँत नहीं होते। कुछ छोटे छोटे जीव ऐसे भी होते हैं जिनका मुँह पेट या शरीर के किसी और भाग में होता है।

(२) मनुष्य का मुख-विवर।

मुहा०—**मुँह आना**=मुँह के अंदर छाले पड़ना और चेहरा सूजना। (प्रायः गरमी आदि के रोग में पारा आदि कुछ विशिष्ट औषध खाने से ऐसा होता है।) **मुँह का कच्चा**=(१) (घोड़ा) जो लगाम का झटका न सह सके। (२) जिसकी बात का कोई विश्वास न हो। झूठा। (३) जो किसी बात को गुप्त न रख सकता हो। हर एक बात सब से कह देनेवाला। **मुँह का कड़ा**=(१) (घोड़ा) जो हाँकनेवाले के इच्छानुसार न चले। लगाम के संकेत को कुछ न समझनेवाला। (२) कड़ा। तेज। (३) उद्दंडतापूर्वक बातें करनेवाला। **मुँह किलना**=मुँह का कीला या बंद किया जाना। **मुँह की बात छीनना**=जो बात कोई दूसरा करना चाहता हो, वही आप कह देना। **मुँह की मक्खी न उड़ा सकना**=बहुत अधिक दुर्बल होना। **मुँह कीलना**=बोलने से रोकना। चुप करना। **मुँह खराब करना**=(१) जबान का स्वाद बिगाड़ना। (२) जबान से गंदी बातें कहना। **मुँह खुलना**=उद्दंडतापूर्वक बातें करने की आदत पड़ना। जैसे,—**आजकल तुम्हारा मुँह बहुत खुल गया है; किसी दिन धोखा खाओगे।** **मुँह खुलवाना**=किसी को उदंडतापूर्वक बातें करने के लिए बाध्य करना। **मुँह खुश्क होना**=दे० "मुँह सूखना"। **मुँह खोलकर रह जाना**=कुछ कहते कहते लज्जा या संकोच के कारण चुप हो जाना। सहमकर चुप रह जाना। **मुँह खोलना**=(१) कहना। बोलना। (२) गालियाँ देना। खराब बातें कहना। **(किसी को) मुँह चढ़ाना**=(१) किसी को बहुत उद्दंड बनाना। बातें करने में धृष्ट करना। शोख़ करना। जैसे,—**आपने इस नौकर को बहुत मुँह चढ़ा रखा है।** (२) अपना पार्श्ववर्त्ती और प्रिय बनाना। **मुँह चलना**=(१) भोजन होना। खाया जाना। (२) मुँह से व्यर्थ की बातें या दुर्वचन निकलना। **मुँह चलाना**=(१) खाना। भोजन करना। (२) बोलना। बकना। (३) गालियाँ देना। दुर्वचन कहना। (४) दाँत से काटना, विशेषतः घोड़े का काटना। **मुँह चिढ़ाना**=किसी को चिढ़ाने के लिए उसकी आकृति, हाव-भाव या कथन की बहुत बिगाड़कर नकल करना। **मुँह चूमकर छोड़ देना**=लज्जित करके छोड़ देना। शरमिंदा करके छोड़ देना। **मुँह छुआना**=दे० "मुँह छूना"। **मुँह छूना**=[संज्ञा मुँह-छुआई]=(१) नाम मात्र के लिए कहना। मन से नहीं, बल्कि ऊपर से कहना। जैसे,—**मुँह छूने के लिये वे मुझे भी निमंत्रण दे गए थे।** (२) दिखौआ बात करना। **मुँह जहर होना**=कड़ुआ पदार्थ खाने के कारण मुँह में बहुत अधिक कड़ुआहट होना। **मुँह जुठारना या जूठा करना**=नाम-मात्र के लिये कुछ खाना। **मुँह जोड़ना**=पास होकर आपस में धीरे धीरे बात करना। कानाफूसी करना। **मुँह डालना**=(१) किसी पशु आदि का खाद्य पदार्थ पर मुँह चलाना। (२) मुरगों का लड़ना या आक्रमण करना। (मुर्गबाज) **मुँह तक आना**=जबान पर आना। कहा जाना। **मुँह थकना**=बहुत अधिक बोलने के कारण शिथिलता आना। **मुँह थकाना**=बहुत अधिक बोलकर अपने आपको शिथिल करना। **मुँह देना**=किसी पशु आदि का किसी बरतन या खाद्य पदार्थ में मुँह डालना। जैसे,—**दूध में बिल्ली मुँह दे गई है।** **मुँह पकड़ना**=बोलने से रोकना। बोलने न देना। जैसे,—**कहो न, कोई तुम्हारा मुँह पकड़ता है!** **मुँह पर न रखना**=तनिक भी स्वाद न लेना। जरा भी न खाना। जैसे,—**लड़के ने कल से एक दाना भी मुँह पर नहीं रखा।** **मुँह पर बात आना**=(१) कुछ कहने को जी चाहना। (२) कुछ कहना। **मुँह पर मोहर करना**=बोलने से रोकना। कहने न देना। चुप कराना। **मुँह पर लाना**=मुँह से कहना। वर्णन करना। जैसे,—**अपनी की हुई नेकी मुँह पर नहीं लानी चाहिए।** **मुँह पर हाथ रखना**=बोलने से जबरदस्ती रोकना या मना करना। **मुँह पसारकर दौड़ना**=कुछ पाने के लालच में बहुत उत्सुक होकर आगे बढ़ना। **मुँह पसारकर रह जाना**=(१) परम चकित हो जाना। हका बका हो जाना। (२) लज्जित होकर रह जाना। शरमाकर रह जाना। **मुँह पेट चलना**=कै दस्त होना। हैजा होना। **मुँह फटना**=चूना आदि लगने के कारण मुँह में छोटे छोटे घाव हो जाना। **मुँह फाड़कर कहना**=बेहया बनकर

जबान पर लाना। निर्लज्ज होकर कहना। जैसे,—**हमने उनसे मुँह फाड़कर कहा भी, पर उन्होंने कुछ ध्यान ही न दिया। मुँह फैलाना**=(१) दे० "मुँह बाना"। (२) अधिक लेने की इच्छा या हठ करना। जैसे,—**कचहरीवाले तो ज़रा ज़रा सी बात पर मुँह फैलाते हैं। मुँह फोड़कर कहना** दे० "मुँह फाड़कर कहना"। **मुँह बंद करना**=चुप कराना। बोलने से रोकना। **मुँह बंद कर लेना**=बिलकुल चुप हो जाना। कुछ न बोलना। **मुँह बंद होना**=चुप होना। जैसे,—**तुम्हारा भी मुँह कभी बंद नहीं होता। मुँह बाँधकर बैठना**=चुपचाप बैठना। कुछ न बोलना। **मुँह बाँधना या बाँध देना**=चुप करा देना। बोलने न देना। **मुँह बाना**=(१) मुँह फाड़ना या खोलना। (२) जँभाई लेना। (३) अपनी हीनता सिद्ध होने पर भी हँस पड़ना। (४) बुरी तरह से हँसना। बेहूदेपन से हँसना। **मुँह बिगड़ना**=(१) मुँह का स्वाद खराब होना। जैसे,—**तुमने कैसा आम खिला दिया; बिलकुल मुँह बिगड़ गया। मुँह बिगाड़ना**=मुँह का स्वाद खराब करना। **मुँह भर आना**=(१) मुँह में पानी भर आना। किसी चीज को लेने के लिए बहुत लालच होना। (२) मितली आना। जी मिचलाना। कै करने को जी चाहना। **मुँह भरके**=(१) मुँह तक। लबालब। (२) जहाँ तक इच्छा हो। जितना जी चाहे। जैसे,—**(क) जो कुछ माँगना हो, मुँह भरके माँग लो। (ख) उन्होंने मुझे मुँह भरके गालियाँ दीं।** (३) पूरी तरह से। भली भाँति। **मुँह भर बोलना**=अच्छी तरह बोलना। जैसे,—**वहाँ मुझसे कोई मुँह भर बोला तक नहीं। मुँह भरना**=(१) रिश्वत देना। घूस देना। (२) खिलाना। भोजन कराना। (३) मुँह बंद करना। बोलने से रोकना। **मुँह मारना**=(१) खाने की चीज में मुँह लगाना। (२) दाँत लगाना। काटना। (३) जल्दी जल्दी भोजन करना। **(किसी का) मुँह मारना**=(१) किसी को बोलने से रोकना। चुप कराना। (२) रिश्वत देना (३) कान काटना। बढ़कर होना। जैसे,—**यह कपड़ा रेशम का मुँह मारता है। मुँह मीठा करना**=(१) मिठाई खिलाना। (२) देकर प्रसन्न करना। **मुँह मीठा होना**=(१) खाने को मिठाई मिलना। (२) प्राप्ति होना। लाभ होना। (३) मँगनी होना। **(बात) मुँह में आना**=कहने को जी चाहना। कहने को प्रवृत्त होना। जैसे, —**जो कुछ मुँह में आता है, कह चलते हो। मुँह में खून या लहू लगना**=चसका पड़ना। चाट पड़ना। जैसे,—**एक दिन में तुम्हें रुपए क्या मिल गए, तुम्हारे मुँह में खून लग गया। मुँह में जबान होना**=कहने की सामर्थ्य होना। बोलने की ताकत होना। **मुँह में तिनका लेना**=बहुत अधिक दीनता या अधीनता प्रकट करना। **मुँह में पड़ना**=खाया जाना। खाने के काम आना। **(बात का) मुँह में पड़ना**=बात का मुँह से निकलना या कहा जाना। जैसे,—**जो बात तुम्हारे मुँह में पड़ी, वह सारे शहर में फैल जायगी। मुँह में पानी भर आना**=(१) कोई पदार्थ प्राप्त करने के लिए बहुत लालायित होना। बहुत ललचना। जैसे,—**सेब का नाम सुनते ही तुम्हारे मुँह में पानी भर आता है।** (२) ईर्ष्या होना। **मुँह में बोलना या बात करना**=इतने धीरे धीरे बोलना कि जल्दी औरों को सुनाई न दे। **मुँह में लगाम देना**=समझ बूझकर बातें करना। कम और ठीक तरह से बोलना। **मुँह में लगाम न होना**=बोलने के समय सचेत न रहना। जो मुँह में आवे, सो कह देना। **मुँह लगाना**=खाना। चखना। **मुँह सँभालना**=व्यर्थ बकने या गाली-गलौज करने से जबान को रोकना। जबान में लगाम देना। **(अपना) मुँह सीना**=बोलने से रुकना। मुँह से बात न निकालना। बिलकुल चुप रहना। **मुँह सूखना**=प्यास या रोग आदि के कारण गला खुश्क होना। गले और जबान में काँटे पड़ना। **मुँह से दूध की बू आना**=दे० "मुँह से दूध टपकना"। **मुँह से दूध टपकना**=बहुत ही अनजान या बालक होना। (परिहास) जैसे,—**आप इन बातों को क्यों जानने लगे; आपके मुँह से तो अभी दूध टपक रहा है। मुँह से निकालना**=कहना। उच्चारण करना। जैसे,—**ऐसी बात मुँह से मत निकाला करो जिससे किसी को दुःख हो। मुँह से फूटना**=कहना। बोलना। (उपेक्षा या व्यंग्य) जैसे,—**आखिर तुम भी तो कुछ मुँह से फूटो। मुँह से फूल झड़ना**=मुँह से बहुत ही सुंदर और प्रिय बातें निकलना। **मुँह से बात छीनना, या उचकना**=किसी के कहते कहते उसकी बात कह देना। किसी के कहने से पहले ही उसका विचार या भाव प्रकट करना। किसी के मन की बात कह देना। **मुँह से बात न निकलना**=क्रोध या भय के मारे कुछ बोला न जाना। मुँह से शब्द न निकलना। **मुँह से भाप न निकलना**=भय आदि के कारण सन्न हो जाना। चूँ तक न करना। **मुँह से लार गिरना**=दे० "मुँह से लार टपकना"। **मुँह से लार टपकना**=कोई चीज प्राप्त करने के लिए अत्यंत लालच होना। पाने के लिए परम उत्सुकता होना। जैसे,—**जहाँ तुमने कोई अच्छी पुस्तक देखी, वहाँ तुम्हारे मुँह से लार टपकने लगी। मुँह से लाल उगलना**=दे० "मुँह से फूल झड़ना"।

(३) **मनुष्य अथवा किसी और जीव के सिर का अगला भाग जिसमें माथा, आँखें, नाक, मुँह, कान, ठोढ़ी और गाल आदि अंग होते हैं। चेहरा।**

मुहा०—**अपना सा मुँह लेकर रह जाना**=लज्जित होकर रह जाना। काम न होने के कारण शरमिंदा होना। **इतना सा मुँह निकल आना**=दे० "मुँह उतरना"। **मुँह अँधेरे**=प्रभात के समय। तड़के। **(किसी के) मुँह आना**=किसी के सामने होकर उसे कोई कठोर वचन कहना। किसी से हुज्जत करना। **मुँह उजला होना**=प्रतिष्ठा रह जाना। बात रह जाना। इज्जत

न जाना। **मुँह उजाले या मुँह उठे**=प्रभात के समय। तड़के। बहुत सवेरे। **मुँह उठना**=किसी ओर चलने की प्रवृत्ति होना। जैसे,—**हमारा क्या, जिधर मुँह उठा, उधर ही चल देंगे। मुँह उठाए चले जाना**=बेधड़क चले जाना। बिना रुके हुए चले जाना। **मुँह उठाकर कहना**=बिना सोचे समझे कहना। जो मुँह में आवे, सो कहना। **मुँह उठाकर चलना**=नीचे की ओर बिना देखे हुए, केवल ऊपर की ओर मुँह करके चलना। अंधाधुंध चलना। **मुँह उतरना**=(१) दुर्बलता के कारण सुस्त होना। चेहरे पर रौनक न रह जाना। (२) विफलता, हानि या दुःख आदि के कारण उदास होना। विवर्णता होना। चेहरे का तेज जाता रहना। **(अपना) मुँह काला करना**=(१) व्यभिचार करना। अनुचित संभोग करना। (२) अपनी बदनामी करना। **(दूसरे का) मुँह काला करना**=उपेक्षा से हटाना। त्यागना। जैसे,—**मुँह काला करो, क्यों इसे अपने पास रखे हो? मुँहकी खाना**=(१) थप्पड़ खाना। तमाचा खाना। (२) बेइज्जत होना। दुर्दशा कराना। (३) मुँह-तोड़ उत्तर सुनना। (४) लज्जित होना। शर्मिंदा होना। (५) धोखा खाना। चूक जाना। (६) बुरी तरह परास्त होना। **मुँह के बल गिरना**=(१) ठोकर खाना। धोखा खाना। (२) बिना सोचे-समझे किसी ओर प्रवृत्त होना। कोई वस्तु प्राप्त करने के लिए लपकना। **मुँह खोलना**=चेहरे पर से घूँघट आदि हटाना। चेहरे के आगे का परदा हटाना। **मुँह चढ़ाना**=दे० "मुँह फुलाना"। **मुँह चाटना**=खुशामद करना। ठकुरसुहाती कहना। लल्लो पत्तो करना। **मुँह छिपाना**=लज्जा के मारे सामने न होना। **मुँह झटक जाना**=रोग या दुर्बलता आदि के कारण चेहरा उतर जाना। **मुँह झुलसाना**=(१) मुँह में आग लगाना। मुँह फूँकना। (स्त्रि० गाली) (२) दाह-कर्म्म करना। मुरदे को जलाना। (उपेक्षा) (३) कुछ दे लेकर दूर करना। **(अपना) मुँह टेढ़ा करना**= मुँह फुलाना। अप्रसन्नता या असंतोष प्रकट करना। **(दूसरे का) मुँह टेढ़ा करना**=दे० "मुँह तोड़ना"। **मुँह ढाँकना**=किसी के मरने पर उसके लिए शोक करना या रोना। (मुसल०) **(किसी का) मुँह ताकना**=(१) किसी का मुखापेक्षी होना। किसी के मुँह की ओर, कुछ पाने आदि की आशा से, देखना। (२) टक लगाकर देखना। (३) विवश होकर देखना। (४) चकित होकर देखना। आश्चर्य से देखना। **मुँह ताकना**=अकर्म्मण्य होकर चुपचाप बैठे रहना। जैसे,—**सब लोग अपने अपने रुपये ले आए, और आप मुँह ताकते रहे। मुँह तोड़कर जवाब देना**=पूरा पूरा जवाब देना। ऐसा जवाब देना कि कोई बोल ही न सके। **मुँह थुथाना**= मुँह को थूथुन की तरह बनाना। मुँह फुलाना। क्रोध या अप्रसन्नता प्रकट करना। **मुँह दिखाना**=सामने आना। **मुँह देखकर उठना**=प्रातःकाल सोकर उठने के समय किसी को सामने पाना। जैसे,—**आज न जाने किसका मुँह देखकर उठे थे कि दिन भर भोजन ही न मिला। (प्रायः लोग मानते हैं कि प्रातःकाल सोकर उठने के समय शुभ या अशुभ आदमी का मुँह देखने का फल दिन भर मिला करता है।) मुँह देख कर बात कहना**=खुशामद करना। **(किसी का) मुँह देखना**=(१) सामना करना। किसी के सामने जाना। किसी के साथ देखादेखी या साक्षात्कार करना। (२) चकित होकर देखना। **(अपना) मुँह देखना**=दर्पण में अपने मुँह का प्रतिबिंब देखना। **(किसी का) मुँह देखकर**=(१) किसी के प्रेम में लगकर। किसी के प्रेम के आसरे। जैसे,—**पति मर गया, पर बच्चों का मुँह देखकर धीरज धरो।** (२) किसी को संतुष्ट या प्रसन्न करने के विचार से। जैसे,—**तुम तो उनका मुँह देखकर बात करते हो। मुँह धो रखना**=किसी पदार्थ की प्राप्ति से निराश हो जाना। आशा न रखना। (व्यंग्य) जैसे,—**आपको यह पुस्तक मिल चुकी; मुँह धो रखिए। मुँह न देखना**=किसी से बहुत अधिक घृणा करना। किसी से देखा-देखी तक न करना। न मिलना जुलना। जैसे,—**मैं तो उस दिन से उनका मुँह नहीं देखता। मुँह न फेरना या मोड़ना**=(१) दृढ़तापूर्वक सन्मुख ठहरे रहना। पीछे न हटना। (२) विमुख न होना। अस्वीकार न करना। **मुँह निकल आना**=रोग या दुर्बलता आदि के कारण चेहरे का तेज जाता रहना। चेहरा उतर जाना। **मुँह पर**=सामने। प्रत्यक्ष। रूबरू। जैसे,—**(क) तुम तो मुँह पर झूठ बोलते हो। (ख) वह मुँह पर खुशामद करता है और पीठ पीछे गालियाँ देता है। मुँह पर चढ़ना**=लड़ने या प्रतियोगिता करने के लिए सामने आना। मुकाबला करना। **मुँह पर थूकना**= बहुत अधिक अप्रतिष्ठित और लज्जित करना। **मुँह पर नाक न होना**=शरम न होना। लज्जा न होना। निर्लज्ज होना। जैसे,—**तुम्हारे मुँह पर नाक तो है ही नहीं; तुमसे कोई क्या बात करे। मुँह पर पानी फिर जाना**=चेहरे पर तेज आना। प्रसन्न बदन होना। **मुँह पर फेंकना या फेंक मारना**=बहुत अप्रसन्न होकर किसी को कोई चीज देना। **मुँह पर या से बरसना**=आकृति से प्रकट होना। चेहरे से जाहिर होना। जैसे,—**पाजीपन तो तुम्हारे मुँह पर बरस रहा है। मुँह पर बसंत फूलना या खिलना**=(१) चेहरा पीला पड़ जाना। (२) उदास या भयभीत हो जाना। **मुँह पर मारना**=दे० "मुँह पर फेंकना"। **मुँह दर मुँह कहना**=मुँह पर कहना। सामने कहना। **मुँह पर मुरदनी फिरना या छाना**=(१) मृत्यु के चिह्न प्रकट होना। अंतिम समय समीप आना। (२) चेहरा पीला पड़ना (३) भयभीत, लज्जित या उदास होना। **मुँह पर रखना**=किसी के सामने ही कोई बात कह देना। पूरा पूरा उत्तर देना। **मुँह पर हवाई उड़ना या छूटना**=भय या लज्जा आदि के कारण चेहरा पीला पड़ जाना। जैसे,—**मुझे देखते ही उनके मुँह पर हवाई उड़ने लगी। (किसी का) मुँह पाना**= प्रवृत्ति को अपने अनुकूल देखना। रुख पाना। **मुँह पीट लेना**=

बहुत अधिक क्रोध या दुःख की अवस्था में दोनों हाथों से अपने मुँह पर आघात करना। **मुँह फक होना**=चेहरे का रंग उड़ जाना। विवर्णता होना। भय या आशंका से चेहरा पीला पड़ जाना। **मुँह फिरना या फिर जाना**=(१) मुँह का टेढ़ा, कुरूप या खराब हो जाना। जैसे,—**एक थप्पड़ दूँगा, मुँह फिर जायगा।** (२) लकवे का रोग हो जाना। (३) सामना करने के योग्य न रह जाना। सामने से हट या भाग जाना। जैसे,—**घंटे भर की लड़ाई में ही शत्रु का मुँह फिर गया। मुँह फुलाना या फुलाकर बैठना**=आकृति से असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। जैसे,—**तुम तो ज़रा सी बात पर मुँह फुलाकर बैठ जाते हो। मुँह फूँकना**=(१) मुँह में आग लगाना। मुँह झुलसना। (स्त्रि० गाली) जैसे,—**ऐसे नौकर का तो मुँह फूँक देना चाहिए।** (२) दाह कर्म करना। मुर्दे को जलाना। (उपेक्षा) (३) कुछ दे लेकर दूर करना। हटाना। **मुँह फूलना**=अप्रसन्नता या असंतोष होना। नाराजगी होना। जैसे,—**मैं कुछ कहूँगा, तो अभी तुम्हारा मुँह फूल जायगा। (किसी का) मुँह फेरना**=परास्त करना। दबा लेना। **(अपना) मुँह फेरना**=(१) किसी की ओर पीठ करना। (२) उपेक्षा प्रकट करना। (३) किसी ओर से अपना मन हटा लेना। **मुँह बनना या बन जाना**=ऐसी आकृति होना जिसमें असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट हो। जैसे,—**मेरी बात सुनते ही उनका मुँह बन गया। मुँह बनवाना**=किसी कार्य्य अथवा प्राप्ति के योग्य अपनी आकृति बनवाना। (व्यंग्य) जैसे,—**पहले आप अपना मुँह बनवा लीजिए, तब यह कोट माँगिएगा। मुँह बनाना**=ऐसी आकृति बनाना जिससे असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट हो। (इसके साथ संयो० क्रि० लेना या बैठना आदि का भी प्रयोग होता है।) **मुँह बिगड़ना**=चेहरे की आकृति खराब होना। **(दूसरे का) मुँह बिगाड़ना**=(१) मार पीट कर चेहरे की आकृति खराब कर देना। बहुत मारना। जैसे,—**मारते मारते मुँह बिगाड़ दूँगा। (अपना) मुँह बिगाड़ना**=असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। **मुँह बुरा बनाना**=असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। **मुँह में कालिख पुतना या लगाना**=बहुत अधिक बदनामी होना। कलंक लगना। **(अपना) मुँह मोड़ना**=(किसी ओर से प्रवृत्ति हटा लेना। ध्यान न देना। वि० दे० "मुँह फेरना।" (२) इनकार करना। अस्वीकृत करना। जैसे,—**हम कभी किसी बात से मुँह नहीं मोड़ते। (दूसरे का) मुँह मोड़ना**=परास्त करना। हराना। जैसे,—**थोड़ी ही देर में सैनिकों ने डाकुओं का मुँह मोड़ दिया। (किसी के) मुँह लगना**=(१) किसी के सिर चढ़ना। किसी के सामने बढ़ बढ़कर बातें करना। उद्दंड बनना। (२) बातें करना। जवाब सवाल करना। जैसे,—**सब के मुँह लगना ठीक नहीं। मुँह लगाना**=सिर चढ़ाना। उद्दंड बनाना। जैसे,—**तुमने भी लड़कों को मुँह लगा रखा है। मुँह लपेटकर पड़ना**=बहुत ही दुःखी होकर पड़ा रहना। **मुँह लाल करना**=(१) मुँह पर थप्पड़ आदि मारकर उसे सुजा देना। (२) पान-तमाकू से आदर-सत्कार करना। **मुँह लाल होना**=मारे क्रोध के चेहरा तमतमाना। आकृति से बहुत अधिक क्रोध प्रकट होना। **मुँह सफेद होना**=भय या लज्जा से चेहरे का रंग उड़ जाना। उदासी छा जाना। **मुँह सिकोड़ना**=आकृति से अप्रसन्नता या असंतोष प्रकट करना। नाक भौं चढ़ाना। **(अपना) मुँह सुजाना**=आकृति से असंतोष या अप्रसन्नता प्रकट करना। नाराजी जाहिर करना। **(किसी का) मुँह सुजाना**=थप्पड़ मार मारकर मुँह लाल करना। **मुँह सुर्ख होना**=क्रोध के मारे चेहरा तमतमाना। गुस्से से चेहरा लाल होना। **मुँह सूखना**=भय या लज्जा आदि से चेहरे का तेज जाता रहना।

(४) **किसी पदार्थ के ऊपरी भाग का विवर जो आकार आदि में मुँह से मिलता जुलता हो। जैसे,—इस बरतन को मुँह बाँधकर रख दो।** (५) **सूराख। छेद। छिद्र। जैसे,—दो दिन में इस फोड़े में मुँह हो जायगा।** (६) **मुलाहज़ा। मुरव्वत। लिहाज। जैसे,—हमें तो खाली तुम्हारा मुँह है; उससे तो हम कभी बात ही नहीं करते।**

यौ०—मुँह-मुलाहज़ा।

मुहा०—मुँह करना=मुलाहज़ा करना। खयाल करना। जैसे,—**धनवानों का तो सभी लोग मुँह करते हैं; पर गरीबों को कोई नहीं पूछता। मुँह देखे का**=जो हार्दिक न हो, केवल ऊपरी या दिखौआ हो। जो केवल सामना होने पर हो। मुलाहज़े का। मुरव्वत का। जैसे,—(क) **आपका प्रेम तो मुँह देखे का है।** (ख) **ये सारी बातें मुँह देखे की हैं। मुँह पर जाना**=किसी का ध्यान करना। लिहाज करना। जैसे,—**मैं तुम्हारे मुँह पर जाता हूँ; नहीं तो अभी इसकी गत बनाकर रख देता। मुँह मुलाहजे का**=जान पहचान का। परिचित। **मुँह रखना**=किसी का लिहाज रखना। ध्यान रखना। जैसे,—**आप इतनी दूर से चलकर आए हैं; आपका मुँह रखो।**

(७) **योग्यता। सामर्थ्य। शक्ति। जैसे,—तुम्हारा मुँह नहीं है कि तुम उसके सामने जाओ।**

मुहा०—(अपना) मुँह तो देखो=पहले यह तो देखो कि इस योग्य हो या नहीं। (व्यंग्य) **मुँह देखकर बात करना**=किसी के साथ उसकी योग्यता के अनुसार बात करना।

(८) **साहस। हिम्मत।**

मुहा०—मुँह पड़ना=साहस होना। हिम्मत होना। जैसे,—**उनके सामने कुछ कहने का भी तो मुँह नहीं पड़ता।**

(९) **ऊपरी भाग। ऊपर की सतह या किनारा।**

मुहा०—मुँह तक आना या भरना=पूरी तरह से भर जाना। लबालब होना। जैसे,—**तालाब में पानी मुँह तक आ गया है।**

मुँहअखरी*†–वि० [हिं० मुँह+अक्षर] जो केवल मुँह से कहा जाय, लिखा न जाय। जबानी। शाब्दिक।

मुँहकाला–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+काला] (१) अप्रतिष्ठा। बेइज़्ज़ती। (२) बदनामी। (३) एक प्रकार की गाली। जैसे,—जा तेरा मुँह काला हो।

मुँहचटौवल–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+चाटना+औवल (प्रत्य०)] (१) चुंबन। चूमाचाटी। (२) बक बक। बकवाद।

मुँहचोर–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+चोर] वह जो दूसरों के सामने जाने से मुँह छिपाता हो। लोगों के सामने जाने में संकोच करनेवाला।

मुँहछुआई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+छूना+आई (प्रत्य०)] केवल मुँह छूने के लिए, ऊपरी मन से कुछ कहना।

मुँहछुट–वि० [हिं० मुँह+छूटना] जिसका मुँह ओछी या कटु बातें कहने के लिए खुला रहे। मुँहफट।

मुँहजोर–वि० [हिं० मुँह+जोर] (१) वह जो बहुत अधिक बोलता हो। बकवादी। (२) दे० "मुँहफट"। (३) जो जल्दी किसी के वश में न आता हो। तेज। उद्दंड। जैसे, मुँहजोर घोड़ा।

मुँहजोरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँहजोर+ई (प्रत्य०)] (१) मुँहजोर होने की क्रिया या भाव। (२) तेज़ी। उद्दंडता।

मुँहदिखलाई–संज्ञा स्त्री० दे० "मुँहदिखाई"।

मुँहदिखाई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+दिखाई] (१) नई वधू का मुँह देखने की रस्म। मुँह देखनी। (२) वह धन जो मुँह देखने पर वधू को दिया जाय।

मुँहदेखा–वि० [हिं० मुँह+देखा] [स्त्री० मुँहदेखी] (१) केवल सामना होने पर होनेवाला (काम या व्यवहार)। जो हार्दिक या आंतरिक न हो। जो किसी को केवल संतुष्ट या प्रसन्न करने के लिए हो। जैसे, मुँहदेखी बात। (२) सदा आज्ञा की प्रतीक्षा में रहनेवाला। सदा मुँह ताकता रहनेवाला।

मुँहनाल–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+नाल=नली] (१) धातु की बनी हुई वह नली जो हुक्के की सटक या नै आदि के अगले भाग में लगा देते हैं और जिसे मुँह में लगाकर धूआँ खींचते हैं। (२) धातु का वह टुकड़ा जो म्यान के सिरे पर लगा होता है।

मुँहपड़ा–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+पड़ना] वह जो सब लोगों के मुँह पर हो। प्रसिद्ध। मशहूर। (क्व०)

मुँहफट–वि० [हिं० मुँह+फटना] जो अपनी जबान को वश में न रख सके और जो कुछ मुँह में आवे, कह दे। ओछी या कटु बात कहने में संकोच न करनेवाला। जिसकी वाणी संयत न हो। बोलने में इस बात का विचार न करनेवाला कि कोई बात किसी को बुरी लगेगी या भली। बद-जबान।

मुँहबंद–वि० [हिं० मुँह+बंद] (१) जिसका मुँह बंद हो, खुला न हो। जैसे, मुँहबंद बोतल। (२) कुँआरी। अक्षत-योनि। (बाजारी)

मुँहबँधा–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+बँधना] जैन साधु जो प्रायः मुँह पर कपड़ा बाँधे रहते हैं।

मुँहबोला–वि० [हिं० मुँह+बोलना] (संबंधी) जो वास्तविक न हो, केवल मुँह से कहकर बनाया गया हो। वचन द्वारा निरूपित। जैसे, मुँहबोला भाई, मुँहबोली बेटी।

मुँहभराई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+भरना+आई (प्रत्य०)] (१) मुँह भरने की क्रिया या भाव। (२) वह धन आदि जो किसी का मुँह बंद करने के लिए, उसे कुछ कहने या करने से रोकने के लिए, दिया जाय। रिश्वत। घूस।

क्रि० प्र०—देना।—लेना।

मुँहमाँगा–वि० [हिं० मुँह+माँगना] अपनी इच्छा के अनुसार। अपने माँगने के अनुसार। इच्छानुकूल। जैसे, मुँह माँगा वर पाना। मुँह माँगी मुराद पाना। मुँह माँगा दाम पाना। मुँह माँगी मौत नहीं मिलती। (कहा०)

मुँहामुँह–क्रि० वि० [हिं० मुँह+मुँह] मुँह तक। अंदर से बिलकुल ऊपर तक। लबालब। भरपूर। जैसे,—(क) गगरा मुँहामुँह तो भरा है, और पानी क्यों डालते हो? (ख) अब की एक ही वर्षा में तालाब मुँहामुँह भर गया।

मुँहासा–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+आसा (प्रत्य०)] मुँह पर के वे दाने या फुंसियाँ जो युवा अवस्था में निकलती हैं और यौवन का चिह्न मानी जाती हैं। इनसे चेहरा कुछ भद्दा हो जाता है। इन्हें 'ढोंढ़ना' भी कहते हैं। ये केवल युवावस्था में ही २० से २५ वर्ष तक प्रकट होती हैं; इसके पूर्व या पर बहुत कम रहती हैं।

मुअज़्ज़न–संज्ञा पुं० [अ०] वह जो मसजिद में नमाज़ के समय अज़ान देता है। नमाज़ के लिए सब लोगों को पुकारनेवाला।

मुअत्तल–वि० [अ०] (१) जिसके पास काम न हो। खाली। (२) जो काम से कुछ समय के लिए, दंड-स्वरूप, अलग कर दिया गया हो।

क्रि० प्र०—करना।—होना।

मुअत्तली–संज्ञा स्त्री० [अ० मुअत्तल+ई (प्रत्य०)] (१) मुअत्तल होने का भाव। बेकारी। (२) काम से कुछ दिन के लिए अलग कर दिया जाना।

मुअम्मा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) रहस्य। भेद।

मुहा०—मुअम्मा खुलना या हल होना=रहस्य खुलना। भेद प्रकट होना।

(२) पहेली। (३) घुमाव-फिराव की बात। ऐसी बात जो जल्दी समझ में न आवे।

मुअ़ल्लिम–संज्ञा पुं० [अ०] इल्म सिखानेवाला। शिक्षा देनेवाला। शिक्षक।

मुआफ़–वि० दे० "माफ़"।

मुआफ़कत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुआफ़िक़ या अनुकूल होने का भाव (२) साथ। दोस्ती। मेलजोल। हेलमेल।

यौ०—मेल मुआफ़क़त।

मुआफ़िक़–वि० [अ०] (१) जो विरुद्ध न हो। अनुकूल। (२) सदृश। समान। (३) ठीक ठीक। न अधिक, न कम। बराबर। (४) मनोनुकूल। इच्छानुसार।

मुआफ़िक़त–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अनुरूपता। (२) अनुकूलता। (३) मित्रता। दोस्ती।

यौ०—मेल मुआफ़िक़त।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

मुआफ़ी–संज्ञा स्त्री० दे० "माफ़ी"।

मुआमला–संज्ञा पुं० दे० "मामला"।

मुआयना–संज्ञा पुं० [अ०] देख भाल। जाँच पड़ताल। निरीक्षण।

मुआलिज–संज्ञा पुं० [अ०] इलाज करनेवाला। चिकित्सक।

मुआलिजा–संज्ञा पुं० [अ०] इलाज। चिकित्सा।

यौ०—इलाज मुआलिजा।

मुआवज़ा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) बदला। पलटा। (२) वह धन जो किसी कार्य्य अथवा हानि आदि के बदले में मिले। (३) वह रकम जो ज़मींदार को उस ज़मीन के बदले में मिलती है, जो किसी सार्वजनिक काम के लिए क़ानून की सहायता से ले ली जाती है।

क्रि० प्र०—दिलाना।—देना।—पाना।—मिलना।

मुआहिदा–संज्ञा पुं० [अ०] पक्की बातचीत। दृढ़ निश्चय। करार।

मुकंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँदरू। (२) प्याज। (३) साठी धान।

मुकंदक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज। (२) एक प्रकार का साठी धान।

मुकट–संज्ञा पुं० दे० "मुकुट"।

मुकटा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार की रेशमी धोती जो प्रायः पूजन या भोजन आदि के समय पहनी जाती है।

मुकता–संज्ञा पुं० दे० "मुक्ता"।

वि० [हिं० (प्रत्य०) अ+मुकना=समाप्त होना] [स्त्री० मुकती] जो जल्दी समाप्त न हो। बहुत अधिक। यथेष्ट। जैसे,—उनके पास मुकते कपड़े हैं; कहाँ तक पहनेंगे।

मुक़त्ता–वि० [अ० मुक़त्तअ] (१) काट छाँटकर दुरुस्त किया हुआ। ठीक तरह से बनाया हुआ। जैसे, मुक़त्ता दाढ़ी। (२) सभ्य। शिष्ट। जैसे, मुक़त्ता सूरत।

मुक़दमा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) दो पक्षों के बीच का धन, अधिकार आदि के संबंध रखनेवाला कोई झगड़ा अथवा किसी अपराध (जुर्म) का मामला जो निबटारे या विचार के लिए न्यायालय में जाय। व्यवहार या अभियोग। जैसे,—वह वकील जो मुक़दमा हाथ में लेता है, वही जीतता है।

क्रि० प्र०—उठाना।—खड़ा करना।—चलना।—चलाना।—जीतना।—हारना।

मुहा०—मुकदमा लड़ना=मुक़दमे में अपने पक्ष में प्रयत्न करना।

(२) धन का अधिकार आदि पाने के लिए अथवा किए हुए अपराध पर दंड दिलाने के लिए किसी के विरुद्ध न्यायालय में कार्रवाई। दावा। नालिश।

क्रि० प्र०—दायर करना।

यौ०—मुक़दमेबाजी।

मुक़दमेबाज–संज्ञा पुं० [अ० मुक़दमा+फ़ा० बाज (प्रत्य०)] वह जो प्रायः मुक़दमे लड़ा करता हो।

मुक़दमेबाज़ी–संज्ञा स्त्री० [अ० मुक़दमा+फ़ा बाज़ी] मुक़दमा लड़ने का काम।

मुक़द्दम–वि० [अ०] (१) प्राचीन। पुराना। (२) सर्वश्रेष्ठ। (३) ज़रूरी। आवश्यक।

क्रि० प्र०—जानना।—समझना।

संज्ञा पुं० (१) मुखिया। नेता। (२) रान का ऊपरी भाग जो कूल्हे से जुड़ा होता है। (कसाई)

मुक़द्दमा–संज्ञा पुं० दे० "मुक़दमा"।

मुक़द्दर–संज्ञा पुं० [अ०] प्रारब्ध। भाग्य। तकदीर।

मुहा०—मुक़द्दर आज़माना=भाग्य की परीक्षा करना। मुक़द्दर चमकना=भाग्योदय होना।

मुक़द्दस–वि० [अ०] पवित्र। शुचि। पाक।

यौ०—मुक़द्दस किताब=ऐसी धर्म्मपुस्तक जो अपौरुषेय मानी जाती हो।

मुकना–संज्ञा पुं० दे० "मकुना"

*†क्रि० अ० [सं० मुक्त] (१) मुक्त होना। छूटना। (२) खतम होना। चुकना।

मुकम्मल–वि० [अ०] पूरा किया हुआ। जिसमें कुछ भी करने को बाकी न हो। सब तरह से तैयार।

मुकरना–क्रि० अ० [सं० मा=नहीं+करना] कोई बात कहकर उससे फिर जाना। कही हुई बात से या किए हुए काम से इनकार करना। नटना। जैसे,—उनका तो यही काम है; सदा कहकर मुकर जाते हैं।

संयो० क्रि०—जाना।—पड़ना।

संज्ञा पुं० कहकर मुकर जानेवाला। वह जो कहे और फिर मुकर जाय।

मुकरनी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुकरना] मुकरी या कह-मुकरी नामक कविता। वि० दे० "मुकरी"।

मुकराना–क्रि० स० [हिं० मुकरना का स० रूप] (१) दूसरे को मुकरने में प्रवृत्त करना। (२) दूसरे को झूठा बनाना। (क०)

मुकरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुकरना+ई (प्रत्य०)] एक प्रकार की कविता जो प्रायः चार चरणों की होती है। इसके पहले तीन चरण ऐसे होते हैं, जिनका आशय दो जगह घट सकता है। इनसे प्रत्यक्ष रूप से जिस पदार्थ का आशय निकलता है, चौथे चरण में किसी और पदार्थ का नाम लेकर, उससे इनकार कर दिया जाता है। इस प्रकार मानों कही हुई बात से मुकरते हुए कुछ और ही अभिप्राय प्रकट किया जाता है। कह-मुकरी। उ०—(क) वा बिन मोको चैन न आवे। वह मेरी तिस आन बुझावे। है वह सब गुन बारह बानी। ऐ सखि साजन ? ना सखि पानी। (ख) आप हिले औ मोहिं हिलावे। वाका हिलना मोको भावे। हिल हिल के वह हुआ निसंखा। ऐ सखि साजन ? ना सखि पंखा। (ग) रात समय मेरे घर आवे। भोर भए वह घर उठ जावे। यह अचरज है सब से न्यारा। ऐ सखि साजन ? ना सखि तारा। (घ) सारि रैन वह मो सँग जागा। भोर भई तब बिछुड़न लागा। वाके बिछुड़त फाटे हिया। ऐ सखि साजन ? ना सखि दिया।

विशेष—अमीर खुसरो ने इस प्रकार की बहुत सी मुकरियाँ कही हैं। इसके अंत में प्रायः 'सखि' शब्द आता है, अतः कुछ लोग इसे सखी या सखिया भी कहते हैं।

मुकर्रर–क्रि० वि० [अ०] दोबारा। फिरसे। दूसरी बार।

मुहा०—मुकर्रर सिकर्रर=दूसरी और तीसरी बार फिर। कई बार।

मुकर्रर–वि० [अ०] (१) जिसका इकरार किया गया हो। जो ठहराया गया हो। तय किया-हुआ। निश्चित। जैसे,—इस काम का उनसे सौ रुपया मुकर्रर हुआ है। (२) जो तैनात किया गया हो। नियुक्त। जैसे,—किसी आदमी को इस काम पर मुकर्रर कर दो।

क्रि० वि० अवश्य ही। निस्संदेह।

मुकर्ररी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुकर्रर होने की क्रिया या भाव। नियुक्ति। (२) नियत राजकर। मालगुजारी। (३) नियत वेतन या वृत्ति आदि।

मुकल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आरग्वध। अमलतास। (२) गुग्गुल।

मुकव्वी–वि० [अ०] ताकत बढ़ानेवाला। बलवर्धक। पुष्टिकारक।

मुकाबला–संज्ञा पुं० [अ०] (१) आमना-सामना। (२) मुठभेड़। (३) बराबरी। समानता। (४) तुलना। (५) मिलान। (६) विरोध। लड़ाई।

मुहा०—मुकाबले पर आना=विरोध या प्रतिद्वंद्विता करने अथवा लड़ने के लिए सामने आना।

मुकाबिल–क्रि० वि० [अ०] सम्मुख। सामने।

वि० (१) सामनेवाला। (२) समान। बराबर का।

संज्ञा पुं० (१) प्रतिद्वंद्वी। (२) शत्रु। दुश्मन।

मुकाम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) ठहरने का स्थान। टिकाम। पड़ाव। (२) ठहरने की क्रिया। कूच का उलटा। विराम।

मुहा०—मुकाम बोलना=अधिकारी का अपने अधीनस्थ कर्मचारियों या सैनिकों को ठहरने की आज्ञा देना। मुकाम देना=किसी के मर जाने पर उसके घर मातमपुरसी करने जाना।

(३) रहने का स्थान। घर। (४) अवसर। मौका। (५) सरोद का कोई परदा। (संगीत)

मुकियल–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बाँस जिसे नल-बाँस या बिधुली भी कहते हैं।

मुकियाना–क्रि० स० [हिं० मुक्की+इयाना (प्रत्य०)] (१) किसी के शरीर पर मुक्कियों से बार बार आघात करना जिसमें उसके अंगों की शिथिलता दूर हो। (२) आटा गूँधने के उपरांत उसे नरम करने के लिए मुक्कियों से बार बार दबाना। (३) मुक्का लगाना या मारना। घूँसे लगाना।

मुकिर–वि० [अ०] (१) इकरार करनेवाला। प्रतिज्ञा करनेवाला। (२) किसी दस्तावेज या अरजीदावे आदि का लिखनेवाला, जिसके हस्ताक्षर से वह प्रस्तुत हो। (कच०)

मुकुंटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] प्राचीन काल का एक अस्त्र।

मुकुंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति देनेवाले, विष्णु। (२) पुराणानुसार एक प्रकार की निधि। (३) एक प्रकार का रत्न। (४) कुँदरू। (५) पारा। (६) सफ़ेद कनेर। (७) गंभारी नामक वृक्ष। (८) पोई का साग।

मुकुंदक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्याज। (२) साठी धान।

मुकुंदु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुँदरू। (२) सफेद कनेर। (३) पारा। (४) गंभारी। (५) पोई का साग।

मुकु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुक्ति। मोक्ष। (२) छुटकारा। रिहाई।

मुकुट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का प्रसिद्ध शिरोभूषण जो प्रायः राजा आदि धारण किया करते थे। यह प्रायः बीच में ऊँचा और कँगूरेदार होता था और सारे मस्तक के ऊपर एक कान के पास से दूसरे कान के पास तक होता था। यह सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं का और कभी कभी रत्न-जटित भी होता था। यह माथे पर आगे की ओर रखकर पीछे से बाँध लिया जाता था। इसमें कभी कभी किरीट भी खोंसा जाता था।

पर्या०—मौलि। कोटीर। शेखर। अवतंस। उत्तंस।

(२) पुराणानुसार एक देश का नाम।

संज्ञा स्त्री० एक मातृगण।

मुकुटी–संज्ञा पुं० [सं० मुकुटिन्] वह जिसने मुकुट धारण किया हो।

मुकुटेकार्षापण-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीनकाल का एक प्रकार का राजकर जो राजा का मुकुट बनवाने के लिए लिया जाता था।

मुकुटेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक शिव-लिंग का नाम। (२) एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुकुट्ट-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है।

मुकुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुख देखने का शीशा। आईना। दर्पण। (२) बकुल का वृक्ष। मौलसिरी। (३) कुम्हार का वह डंडा जिससे वह चाक चलाता है। (४) मोतिया। (५) कली। (६) बेर का पेड़।

मुकुल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कली। (२) शरीर। (३) आत्मा। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का राजकर्म्मचारी। (५) एक प्रकार का छंद। (६) जमालगोटा। (७) भूमि। पृथ्वी। संज्ञा पुं० दे० "गुग्गुल"।

मुकुलक-संज्ञा पुं० [सं०] दंती वृक्ष।

मुकुलाग्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो कली की आकृति का होता था।

मुकुलित-वि० [सं०] (१) जिसमें कलियाँ आई हों। (२) कुछ खिली हुई। (कली) (३) आधा खुला, आधा बंद। कुछ कुछ खुला। (४) झपकता हुआ। (नेत्र)।

मुकुली-संज्ञा पुं० [सं० मुकुलिन्] वह जिसमें कलियाँ आई हों।

मुकुष्ठ-संज्ञा [सं०] मोठ।

मुकुष्ठक-संज्ञा पुं० [सं०] मोठ।

मुक्का-संज्ञा पुं० [सं० मुष्टिका] [स्त्री० अल्पा० मुक्की] हाथ का वह रूप जो उँगलियों और अँगूठे को बंद कर लेने पर होता है और जिससे प्रायः आघात किया जाता है। बँधी मुट्ठी जो मारने के लिए उठाई जाय।

मुहा०—मुक्का चलाना या मारना=मुक्के से आघात करना। मुक्का सा लगना=हार्दिक कष्ट पहुँचना।

यौ०—मुक्केबाजी।

मुक्की-संज्ञा पुं० [हिं० मुक्का+ई (प्रत्य०)] (१) मुक्का। घूँसा। (२) वह लड़ाई जिसमें मुक्कों की मार हो। (३) आटा गूँधने के उपरांत उसे मुट्ठियों से बार बार दबाना जिससे आटा नरम हो जाता है।

क्रि० प्र०—देना।—लगाना।

(४) मुट्ठियाँ बाँधकर उससे किसी के शरीर पर धीरे धीरे आघात करना, जिससे शरीर की शिथिलता और पीड़ा दूर होती है। (यह हाथ-पैर आदि दबाने की एक क्रिया है।)

क्रि० प्र०—मारना।—लगाना।

मुक्केबाजी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मुक्का+बाजी (प्रत्य०)] मुक्कों की लड़ाई। घूँसेबाजी। घूसमघूँसा।

मुक्कैश-संज्ञा पुं० [अ०] (१) चाँदी या सोने का एक विशिष्ट रूप में काटा हुआ तार जिसे बादला कहते हैं। (२) सुनहले या रुपहले तारों का बना हुआ कपड़ा। ताश। तमामी। ज़रबफ़त।

मुक्कैशी-वि० [अ० मुक्कैश+ई (प्रत्य०)] (१) बादले का बना हुआ। (२) ज़री या ताश का बना हुआ।

मुक्कैशी गोखरू-संज्ञा पुं० [हिं० मुक्कैशी+गोखरू] एक प्रकार का महीन गोखरू जो तारों को मोड़कर बनाया जाता है।

मुक्खी-संज्ञा पुं० [हिं० मुख+ई (प्रत्य०)] (१) गोले कबूतर से मिलता जुलता एक प्रकार का कबूतर जो प्रायः उन्हीं के साथ मिलकर उड़ता है और अपनी गरदन जरा कपे रहता है। (२) वह कबूतर जिसका सारा शरीर तो काला, हरा या लाल हो, पर जिसके सिर और डैनों पर एक या दो सफेद पर हों।

मुक्त-वि० [सं०] (१) जिसे मोक्ष प्राप्त हो गया हो। जिसे मुक्ति मिल गई हो। जैसे,—काशी में मरने से मनुष्य मुक्त हो जाता है। (२) जो बंधन से छूट गया हो। जिसका छुटकारा हो गया हो। जैसे,—वह कारागार से मुक्त हो गया।

संज्ञा पुं० पुराणानुसार एक प्राचीन ऋषि का नाम।

(३) जो पकड़ या दबाव से इस प्रकार अलग हुआ हो कि दूर जा पड़े। चलने के लिए छूटा हुआ। फेंका हुआ। क्षिप्त। जैसे, बाण का मुक्त होना।

मुक्तकंचुक-संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसने अभी हाल में केंचुली छोड़ी हो।

मुक्तकंठ-वि० [सं०] (१) जो ज़ोर से बोलता हो। चिल्लाकर बोलनेवाला। (२) जो बोलने में बेधड़क हो। जिसने कहने में आगा-पीछा न हो। जैसे, मुक्तकंठ होकर कोई बात स्वीकार करना।

मुक्तक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जो फेंककर मारा जाता था। (२) एक प्रकार का काव्य जो एक ही पद्य में पूरा होता है। वह कविता जिसमें कोई एक कथा या प्रसंग कुछ दूर तक न चले। फुटकर कविता। 'प्रबंध' का उलटा जिसे 'उद्भट' भी कहते हैं।

मुक्तकच्छ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बौद्ध का नाम।

मुक्तकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] काली देवी का एक नाम।

मुक्तचंदन-संज्ञा पुं० [सं०] लाल चंदन।

मुक्तचंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चिंचा नामक साग। चंचु।

मुक्तचक्षु-संज्ञा पुं० [सं० मुक्तचक्षुस्] सिंह। शेर।

मुक्तचेता-संज्ञा पुं० [सं० मुक्तचेतस्] वह जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की बुद्धि आ गई हो।

मुक्तता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्त होने का भाव। मुक्ति। मोक्ष। (२) छुटकारा।

मुक्तनिर्म्मोक–संज्ञा पुं० [सं०] वह साँप जिसने अभी हाल में केंचुली छोड़ी हो।

मुक्तपत्राढ्य–संज्ञा पुं० [सं०] तालीश।

मुक्तपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसकी आत्मा मुक्त हो। वह जिसका मोक्ष हो गया हो।

मुक्तबंधना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का मोतिया। (२) बेला।

मुक्तबुद्धि–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसमें मुक्ति प्राप्त करने के योग्य बुद्धि आ गई हो। मुक्तचेता।

मुक्तमाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तरसा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रासना।

मुक्तलज्ज–वि० [सं०] (१) जिसने लज्जा का परित्याग कर दिया हो। (२) निर्लज्ज। बेहया।

मुक्तवर्च्चा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अदितमंजरी। रुद्रा।

मुक्तवर्षीय–संज्ञा पुं० [सं०] कुप्पा।

मुक्तवसन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके शरीर पर कोई वस्त्र न हो। (२) वह जिसने वस्त्र पहनना छोड़ दिया हो। नंगा रहनेवाला। (३) जैन यतियों या संन्यासियों का एक भेद।

मुक्तवास–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तवेणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) द्रौपदी का एक नाम। (२) प्रयाग का त्रिवेणी संगम।

मुक्तव्यापार–संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसका संसार के कार्य्यों या व्यापारों से कोई संबंध न रह गया हो। संसार-त्यागी।

मुक्तशृंग–संज्ञा पुं० [सं०] रोहू मछली।

मुक्तसंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो विषय-वासना से रहित हो गया हो। (२) परिव्राजक।

मुक्तसार–संज्ञा पुं० [सं०] केले का पेड़।

मुक्तहस्त–वि० [सं०] [संज्ञा मुक्तहस्तता] जो खुले हाथों दान करता हो। बहुत बड़ा दानी।

मुक्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मोती। (२) रासना।

मुक्ताकेशी–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बहुत बढ़िया बैंगन।

मुक्तागार–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तागृह–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तापात–संज्ञा पुं० [सं० मुक्ता+हिं० पात=पत्ता] एक प्रकार की झाड़ी जिसके डंठलों से सीतलपाटी नामक चटाई बनाई जाती है। यह झाड़ी पूर्व बंगाल, आसाम और बरमा की नीची तर भूमि में अधिकता से होती है और प्रायः इसकी पनीरी लगाई जाती है।

मुक्तापुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] कुंद का पौधा या फूल।

मुक्ताप्रसू–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्ताफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोती। (२) कपूर। (३) हरफा-रेवरी। लवनीफल। (४) एक प्रकार का छोटा लिसोड़ा।

मुक्ताभा–संज्ञा स्त्री० [सं०] त्रिपुर-मल्लिका। त्रिपुरमाली।

मुक्तामाता–संज्ञा स्त्री० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तामोदक–संज्ञा पुं० [सं०] मोतीचूर का लड्डू।

मुक्तालता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मोतियों का कंठा।

मुक्तावास–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तास्फोट–संज्ञा पुं० [सं०] सीप। शुक्ति।

मुक्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसमें मुक्ति के संबंध में मीमांसा की गई है।

मुक्तिक्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वाराणसी। काशी। (२) कावेरी नदी के पास का एक प्राचीन तीर्थ जिसका दूसरा नाम वकुलारण्य भी था।

मुक्तितीर्थ–संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति देनेवाले, विष्णु।

मुक्तिप्रद–संज्ञा पुं० [सं०] हरा मूँग।

मुक्तिमती–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

मुक्तिमुक्त–संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस। सिल्हक।

मुक्तिसाधन–संज्ञा पुं० [सं०] मुक्ति प्राप्त करने की कामना से ईश्वर और आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना।

मुक्तेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] एक शिव-लिंग का नाम।

मुखंडा–संज्ञा पुं० [हिं० मुख+अंडा (प्रत्य०)] झारी आदि टोंटीदार बरतनों में किया हुआ वह छेद जिसमें टोंटी जड़ी जाती है।

मुख–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह। आनन। (२) घर का द्वार। दरवाजा। (३) नाटक में एक प्रकार की संधि। (४) नाटक का पहला शब्द। (५) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी खुला भाग। (६) शब्द। (७) नाटक। (८) वेद। (९) पक्षी की चोंच। (१०) जीरा। (११) आदि। आरंभ। (१२) बड़हर। (१३) मुरगाबी। (१४) किसी वस्तु से पहले पड़नेवाली वस्तु। आगे या पहले आनेवाली वस्तु। जैसे, रजनीमुख=संध्या काल।

वि० प्रधान। मुख्य।

मुखक्षुर–संज्ञा पुं० [सं०] दाँत।

मुखगंधक–संज्ञा पुं० [सं०] प्याज।

मुखचपल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बोलता हो। (२) वह जो कटु वचन कहता हो।

मुखचपलता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बोलना। (२) कटु भाषण।

मुखचपला–संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद।

मुखचपेटिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] कान के अंदर का एक अवयव।

मुखचीरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जीभ। जिह्वा। (२) फाज।

मुखज–वि० [सं०] मुँह से उत्पन्न ।
संज्ञा पुं० ब्राह्मण (जो भगवान् के मुख से उत्पन्न माने गए हैं)।

मुखड़ा–संज्ञा पुं० [सं० मुख+हिं० ड़ा (प्रत्य०)] मुख । चेहरा । आनन ।
विशेष—इस शब्द का प्रयोग प्रायः बहुत ही सुंदर मुख के लिए होता है । जैसे, चाँद सा मुखड़ा ।

मुख़तार–संज्ञा पुं० [अ०] (१) जिसे किसी ने अपना प्रतिनिधि बनाकर कोई काम करने का अधिकार दिया हो ।
यौ०—मुखतार आम । मुख़तार खास ।
(२) एक प्रकार के कानूनी सलाहकार और काम करनेवाले जो वकील से छोटे होते हैं और प्रायः छोटी अदालतों में फौजदारी या माल के मुकदमे लड़ते हैं ।

मुखतार आम–संज्ञा पु० [अ०] वह गुमाश्ता या प्रतिनिधि जिसे सब प्रकार के काम करने, विशेषतः मुकदमे आदि लड़ने का अधिकार दिया गया हो ।

मुख़तारकार–संज्ञा पुं० [अ० मुख़तार+फ़ा० कार] वह जो किसी काम की देख-रेख के लिए नियुक्त किया गया हो ।

मुख़तारकारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुखतारकार+ई (प्रत्य०)] (१) मुखतारकार का काम या पद । (२) दे० "मुख़तारी" ।

मुख़तारख़ास–संज्ञा पु० [अ० मुख़तार+फ़ा० ख़ास] वह जो किसी विशिष्ट कार्य्य या मुकदमे के लिए प्रतिनिधि बनाया गया हो ।

मुख़तारनामा–संज्ञा पुं० [अ० मुख़तार+फ़ा० नामा] (१) वह अधिकार-पत्र जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी की ओर से अदालती कार्रवाई करने के लिए मुखतार बनाया जाय । यह दो प्रकार का होता है—मुख़तारनामा खास और मुख़तारनामा आम । (२) वह अधिकार-पत्र जिसके अनुसार कोई पेशेवर मुखतार कोई मुकदमा लड़ने के लिए नियुक्त किया जाय ।

मुख़तारनामा आम–संज्ञा पुं० [हिं० मुख़तारनामा+फ़ा० आम] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुखतार आम नियुक्त किया जाय ।

मुख़तारनामा ख़ास–संज्ञा पु० [हिं० मुखतारनामा+फ़ा० ख़ास] वह अधिकारपत्र जिसके द्वारा कोई मुख़तारख़ास नियुक्त किया जाय ।

मुख़तारी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुख़तार+ई (प्रत्य०)] (१) मुख़तार होकर दूसरे के मुकदमे लड़ने का काम । (२) मुख़तार का पेशा । (३) प्रतिनिधित्व ।

मुखताल–संज्ञा पुं० [हिं० मुख+ताल] किसी गीत का पहला पद । टेक ।

मुखदूषण–संज्ञा पुं० [सं०] प्याज ।

मुखदूषिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँह का एक प्रकार का क्षुद्र रोग जिसमें चेहरे पर छोटी छोटी फुंसियाँ निकल आती हैं । मुँहासा ।

मुखदूषी–संज्ञा पुं० [सं० मुखदूषिन्] लहसुन ।

मुखधौता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भारंगी । भार्गी । (२) ब्राह्मण-यष्टिका ।

मुख़न्नस–वि० [अ०] नपुंसक ।

मुखपट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह ढकने का वस्त्र । नकाब । (२) घूँघट ।

मुखपाक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जो मनुष्यों और घोड़ों को होता है और जिसमें उनके मुँह में छोटे छोटे घाव हो जाते हैं ।

मुखपान–संज्ञा पुं० [हिं० मुख+पान] पान के आकार का पीतल या किसी और धातु का कटा हुआ वह टुकड़ा जो संदूक या अलमारी आदि में ताली लगाने के स्थान में सुंदरता के लिए जड़ा जाता है और जिसके बीच में ताली लगाने के लिए छेद होता है ।

मुखपिंड–संज्ञा पुं० [सं०] वह पिंड जो मृत व्यक्ति के उद्देश्य से उसकी अंत्येष्टि क्रिया मे पहले दिया जाता है ।

मुखपिड़िका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुँहासा ।

मुखपूरण–संज्ञा पु० [सं०] (१) मुँह में पानी भरकर फेंकना । कुल्ला । (२) मुँह में कुल्ली के लिए लिया हुआ पानी ।

मुखप्रसेक–संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार मुँह का एक रोग जो श्लेष्मा के विकार से होता है ।

मुखप्रिय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा लगे । स्वादिष्ट । नारंगी । (३) ककड़ी ।

मुख़फ़्फ़फ़–वि० [अ०] जो खफ़ीफ़ या हलका किया गया हो । जो घटाकर कम किया गया हो ।
संज्ञा पुं० किसी पदार्थ या शब्द आदि का संक्षिप्त रूप । जैसे,—"मीठा" का मुख़फ़्फ़फ़ "मिठ" या "बोका" का मुख़फ़्फ़फ़ "बुक" होता है ।

मुखबंद–संज्ञा पुं० [सं० मुख+हिं० बंद] घोड़ों का एक रोग जिसमें उनका मुँह बंद हो जाता है और जल्दी नहीं खुलता इसमें उसके मुँह से लार भी बहुत बहती है ।

मुखबंध–संज्ञा पुं० [सं०] किसी ग्रंथ की प्रस्तावना या भूमिका ।

मुखबंधन–संज्ञा पुं० [सं०] मुखबंध । प्रस्तावना ।

मुख़बिर–संज्ञा पुं० [अ०] खबर देनेवाला । जासूस । गोइंदा ।

मुख़बिरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुखबिर+ई (प्रत्य०)] (१) खबर देने का काम । मुखबिर का काम । (२) मुखबिर का पद ।

मुखभूषण–संज्ञा पुं० [सं०] तांबूल । पान ।

मुखभेद*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मुठभेड़" ।

मुखमंडनक–संज्ञा पुं० [सं०] तिल का पौधा ।

मुखमंडिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार एक प्रकार का मुख-रोग। (२) इस रोग की अधिष्ठात्री देवी।

मुखमंडितिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] बालकों का एक प्रकार का रोग।

मुख़मसा—संज्ञा पुं० [अ० मख़मसा=विकलता या कठिनता] झगड़ा। झमेला। झंझट। बखेड़ा।

क्रि० प्र०—में पड़ना।

मुखमाधुर्य्य—संज्ञा पुं० [सं०] भावप्रकाश के अनुसार श्लेष्मा के विकार से होनेवाला एक प्रकार का रोग जिसमें मुँह मीठा सा बना रहता है।

मुखमोद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सलई का वृक्ष। शल्लकी। (२) काला सहिजन।

मुख़म्मस—वि० [अ०] जिसमें पाँच कोने या अंग आदि हों।

संज्ञा पुं० उर्दू या फारसी की एक प्रकार की कविता जिसमें एक साथ पाँच चरण या पद होते हैं।

मुखयंत्रण—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़े या बैल आदि की लगाम।

मुखर—वि० [सं०] (१) जो अप्रिय बोलता हो। कटुभाषी। (२) बहुत बोलनेवाला। बकवादी। (३) प्रधान। अग्रगण्य।

संज्ञा पुं० (१) कौआ। (२) शंख।

मुखरोग—संज्ञा पुं० [सं०] ओंठ, मसूड़े, दाँत, जीभ, तालू या गले आदि में होनेवाले रोग जो वैद्यक के अनुसार सब मिलाकर ६७ प्रकार के माने गए हैं। इन से ओंठों में होनेवाले ८ प्रकार के, मसूड़ों में होनेवाले १६ प्रकार के, दाँतो में होनेवाले ८ प्रकार के, जीभ में होनेवाले ५ प्रकार के, तालू में होनेवाले ९ प्रकार के, कंठ में होनेवाले १८ प्रकार के और सारे मुख में होनेवाले ३ प्रकार के हैं।

मुखलांगल—संज्ञा पुं० [सं०] सूअर।

मुख़लिसी—संज्ञा स्त्री० [अ०] छुटकारा। रिहाई।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—पाना।—मिलना।—होना।

मुखलेप—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का मुख-रोग। मुँह का चट चट करना। (२) वह लेप जो मुँह पर शोभा या सुगंध के लिए लगाया जाय।

मुखवल्लभ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो खाने में अच्छा लगे। स्वादिष्ट। (२) अनार का पेड़।

मुखवाचिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मणी या पाढ़ा नाम की लता। अंबष्ठा।

मुखवाद्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुँह से बम् बम् शब्द करना। (शिवपूजन में) (२) मुँह से फूँककर बजाया जानेवाला बाजा। जैसे, शंख, शहनाई आदि।

मुखवास—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गंधतृण। (२) तरबूज की लता।

मुखवासन—संज्ञा पुं० [सं०] अनेक प्रकार की सुगंधित ओषधियों आदि को मिलाकर बनाया हुआ वह चूर्ण जिससे मुँह की दुर्गंध दूर होती है और उसमें सुवास आती है।

मुखवासिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] सरस्वती।

मुखविपुला—संज्ञा स्त्री० [सं०] आर्य्या छंद का एक भेद।

मुखविष्ठा—संज्ञा स्त्री० [सं०] तेलचट या सनकिरवा नाम का कीड़ा।

मुखवैदल—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का कीड़ा जिसके काटने से वायु-जन्य पीड़ा होती है।

मुखव्यंग—संज्ञा पुं० [सं०] मुँह पर पड़नेवाले छोटे छोटे दाग वैद्यक के अनुसार अधिक क्रोध या परिश्रम करने के कारण वायु और पित्त के मिल जाने से ये दाग होते हैं। इनसे कोई कष्ट तो नहीं होता, पर मुख की शोभा बिगड़ जाती है।

मुखशाफ—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो कटु वचन कहता हो। मुखर।

मुखशुद्धि—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मंजन या दातन आदि की सहायता से मुँह साफ़ करना। (२) भोजन के उपरांत पान, सुपारी आदि खाकर मुँह शुद्ध करना।

मुखशोधन—संज्ञा पुं० [सं०] वह पदार्थ जिसके खाने से मुँह शुद्ध होता हो। (२) दालचीनी। (३) तज।

वि० चरपरा।

मुखशोधी—संज्ञा पुं० [सं० मुखशोधिन्] (१) मुँह को शुद्ध करनेवाला पदार्थ। (२) जँबीरी नीबू।

मुखशोष—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तृषा। प्यास। (२) प्यास या गरमी से मुँह सूखना।

मुखसंभव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भगवान् के मुख से उत्पन्न, ब्राह्मण। (२) पुष्करमूल। पुहकरमूल।

मुखसिंचन मंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का मंत्र जिससे जल फूँककर उस आदमी के मुँह पर छींटे दिए जाते हैं, जिसके पेट में किसी प्रकार का विष उतर जाता है।

मुखसुर—संज्ञा पुं० [सं०] ताड़ी।

मुखसूची—संज्ञा स्त्री० [सं०] अमड़े का वृक्ष। आम्रातक।

मुखस्थ—वि० [सं०] जो ज़बानी याद हो। कंठस्थ। बर-ज़बान।

मुखस्राव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक। लार। (२) बालकों का एक रोग जिसमें उनके मुँह से बहुत अधिक लार बहती है। कहते हैं कि कफ़ से दूषित स्तन पीने से यह रोग होता है।

मुखाग्नि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जंगल की आग। दावानल। (२) मृत व्यक्ति को चिता पर रखकर पहले उसके मुँह में आग लगाने की क्रिया।

मुखाग्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) ओंठ। (२) किसी पदार्थ का अगला भाग।

वि० जो ज़बानी याद हो। कंठस्थ। बर-ज़बान। जैसे,—उसे सारी गीता मुखाग्र है।

मुख़ातिब–वि० [फ़ा०] जिससे बात की जाय। जिससे कुछ कहा जाय।

मुहा०—(किसी की तरफ) मुखातिब होना=(१) किसी की ओर घूम कर उससे बातें करना। (२) किसी की बात सुनने के लिए उसकी ओर प्रवृत्त होना।

मुखापेक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] दूसरों का मुँह ताकनेवाला। दूसरों के सहारे रहनेवाला। दूसरों की कृपा पर रहनेवाला।

मुखापेक्षा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दूसरों का मुँह ताकना। दूसरों के आश्रित रहना।

मुखापेक्षी–संज्ञा पुं० [सं० मुखापेक्षिन्] वह जो दूसरों का मुँह ताकता हो। दूसरों के सहारे रहनेवाला। दूसरे की कृपा-दृष्टि के भरोसे रहनेवाला। आश्रित।

मखामय–संज्ञा पुं० [सं०] मुँह में होनेवाला रोग। मुखरोग।

मुखार्जक–संज्ञा पुं० [सं०] बनतुलसी का पौधा। बबरी तुलसी।

मुख़ालिफ़–वि० [अ०] (१) जो खिलाफ़ हो। विरुद्ध पक्ष का। विरोधी। (२) शत्रु। दुश्मन। (३) प्रतिद्वंद्वी।

मुख़ालिफ़त–वि० [अ०] (१) विरोध। (२) शत्रुता। दुश्मनी।

मुखालु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का बड़ा मीठा कंद जिसे स्थूलकंद, महाकंद या दीर्घकंद भी कहते हैं। वैद्यक में यह मधुर, शीतल, रुचिकारी, वातवर्द्धक तथा पित्त, शोष, दाह और प्यास को दूर करनेवाला माना गया है।

मुखासव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) थूक। (२) लार।

मुखास्र–संज्ञा पुं० [सं०] केकड़ा।

मुखास्रव–संज्ञा पुं० [सं०] मुँह से बहनेवाली थूक या लार।

मुखिक–संज्ञा पुं० [सं०] मोखा नामक वृक्ष।

मुखिया–संज्ञा पुं० [सं० मुख्य+इया (प्रत्य०)] (१) नेता। प्रधान। सरदार। जैसे,—वे अपने गाँव के मुखिया हैं। (२) वह जो किसी काम में सब से आगे हो। किसी काम को सब से पहले करनेवाला। अगुआ। (३) वल्लभ संप्रदाय के मंदिरों का वह कर्म्मचारी जो मूर्त्ति का पूजन करता और भोग आदि लगाता है। ऐसा कर्म्मचारी प्रायः पाक-विद्या में भी निपुण हुआ करता है।

मुखुली–संज्ञा स्त्री० [सं०] बौद्धों की एक देवी का नाम।

मुखोल्का–वि० [सं०] दावाग्नि।

मुख़्तलिफ़–वि० [अ०] (१) भिन्न। अलग। पृथक्। (२) अनेक प्रकार का। तरह तरह का।

मुख़्तसर–वि० [अ०] (१) जो थोड़े में हो। संक्षिप्त। (२) छोटा। (३) अल्प। थोड़ा।

मुख़्तार–संज्ञा पुं० दे० "मुख़तार"।

विशेष—इसके यौगिक शब्दों के लिए दे० "मुख़तार" के यौगिक।

मुख्य–वि० [सं०] सब में बड़ा। ऊपर या आगे रहनेवाला। प्रधान। श्रेष्ठ।

संज्ञा पुं० (१) यज्ञ का पहला कल्प। (२) वेद का अध्ययन और अध्यापन। (३) अमांत मास।

मुख्यचांद्र–संज्ञा पुं० [सं०] चांद्र मास के दो विभागों में से एक। शुक्ल प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक का काल जो 'अमांत चांद्र मास' भी कहलाता है। वि० दे० "मास"।

मुख्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मुख्य होने का भाव। प्रधानता। श्रेष्ठता।

मुख्यसर्ग–संज्ञा पुं० [सं०] स्थावर सृष्टि।

मुगदर–संज्ञा पुं० [सं० मुद्गर] लकड़ी की एक प्रकार की गावदुमी, लंबी और भारी मुगरी जिसका प्रायः जोड़ा होता है और जिसका उपयोग व्यायाम के लिए किया जाता है। जोड़ी।

विशेष—इसमें ऊपर की ओर पकड़ने के लिए पतली मुठिया होती है और नीचे का भाग बहुत मोटा होता है। दोनों हाथों में एक एक मुगदर उठा लिया जाता है और बारी से हर एक मुगदर पीठ के पीछे से घुमाकर सामने लाते और उलटे बल में ऊपर की ओर खड़ा करते हैं। इससे बाहुओं में बहुत बल आता है।

क्रि० प्र०—फेरना।—हिलाना।

मुगना–संज्ञा पुं० [हिं० मुनगा] सहिंजन। मुनगा।

मुगरा–संज्ञा पुं० दे० "मोगरा"।

मुगरेला †–संज्ञा पुं० [हिं० मँगरैला] कलौंजी या मँगरैला नामक दाना, जिसका व्यवहार मसाले में होता है।

मुग़ल–संज्ञा पुं० [फ़ा०] [स्त्री० मुगलानी] (१) मंगोल देश का निवासी। (२) तुर्कों का एक श्रेष्ठ वर्ग जो तातार देश का निवासी था। इस वर्ग के लोगों ने इधर कुछ दिनों तक भारत में आकर अपना साम्राज्य स्थापित करके चलाया था। इस वर्ग का पहला सम्राट् बाबर था, जिसने सन् १५२६ ई० में भारत पर विजय प्राप्त की थी। अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब इसी जाति के और बाबर के वंशज थे। इन लोगों के शासन काल में साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। परंतु औरंगज़ेब की मृत्यु (सन् १७०७ ई०) के उपरांत इस साम्राज्य का पतन होने लगा और सन् १८५७ में उसका अंत हो गया। (३) मुसलमानों के चार वर्गों में से एक वर्ग जो शेखों और सैयदों से छोटा तथा पठानों से बड़ा और श्रेष्ठ समझा जाता है।

मुगलई–वि० [फ़ा० मुगल+ई (प्रत्य०)] मुगलों का सा। मुगलों की तरह का। जैसे, मुगलई पाजामा, मुगलई कुरता मुगलई हड्डी।

मुगल पठान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार का खेल जो जमीन पर खाने खींचकर सोलह कंकड़ियों से खेला जाता है। गोटी।

मुगलाई–वि० दे० "मुगलई"
संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुगल+आई (प्रत्य०)] मुगल होने का भाव। मुगलपन।

मुगलानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुगल+आनी (प्रत्य०)] (१) मुगल जाति की स्त्री। (२) कपड़ा सीनेवाली स्त्री। (३) दासी। मजदूरनी। (मुसल०)

मुगली–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुगल+ई (प्रत्य०)] बच्चों को होनेवाला पसली का रोग जिसमें उनके हाथ-पैर ऐंठ जाते हैं और वे बेहोश हो जाते हैं।

मुगवन–संज्ञा पुं० [सं० वनमुद्ग] बनमूँग। मोठ।

मुगवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अतिस्रवा। मधूरवल्ली।

मुग़ालता–संज्ञा पुं० [अ०] धोखा। छल। झाँसा।
क्रि० प्र०—खाना।—देना।—में डालना।

मुगूह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पपीहा। (२) एक प्रकार का हिरन।

मुग्घम–वि० [देश०] (बात) जो बहुत खोलकर या स्पष्ट करके न कही जाय। संकेत रूप में कही हुई (बात)।
मुहा०—मुग्घम रहना=(१) चुप रहना। कुछ न बोलना। (व्यक्ति के संबंध में) (२) किसी का रहस्य प्रकट न होना। भेद न खुलना। परदा ढका रह जाना।
संज्ञा पुं० दाँव में वह अवस्था जिसमें न हार हो और न जीत। (जुआरी)
क्रि० प्र०—रहना।

मुग्ध–वि० [सं०] (१) मोह या भ्रम में पड़ा हुआ। मूढ़। (२) सुन्दर। खूबसूरत। (३) नया। नवीन। (४) आसक्त। मोहित। लुभाया हुआ।

मुग्धता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुग्ध का भाव। मूढ़ता। (२) सुन्दरता। खूबसूरती। (३) मोहित या आसक्त होने का भाव।

मुग्धबुद्धि–वि० [सं०] जिसकी बुद्धि भ्रांत हो। बेवकूफ।

मुग्धा–संज्ञा स्त्री० [सं०] साहित्य में वह नायिका जो यौवन को तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो। इसके दो भेद होते हैं—अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना। इसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ बहुत ही मनोहारिणी होती हैं। इसका कोप बहुत ही मृदु होता है और इसे साज-सिंगार का बहुत चाव रहता है।

मुचंगड़–वि० [हिं० मुच्चा+अंगड़ (प्रत्य०)] मोटा और भद्दा। जैसे, मुचंगड़ रोट।

मुचक–संज्ञा पुं० [सं०] लाख। लाह।
† संज्ञा स्त्री० दे० "मोच"।

मुचकुंद–संज्ञा पुं० [सं० मुचुकुंद] एक बड़ा पेड़ जिसके पत्ते फालसे के पत्तों के आकार के और बड़े बड़े होते हैं। पत्तों में महीन महीन रोईं होती है जिससे वे छूने में खुरदरे लगते हैं। फूल में पाँच छः अंगुल लंबे और एक अंगुल के लगभग चौड़े सफ़ेद दल होते हैं। दलों के मध्य से सूत के समान कई केसर निकले होते हैं। दलों के नीचे का कोश भी बहुत लंबा होता है। फूल की सुगंध बहुत ही मीठी और मनोहर होती है। ये फूल सिर के दर्द में बहुत लाभकारी होते हैं। इसके फल कटहल के प्रारंभिक फलों के समान लंबे लंबे और पत्थर की तरह कड़े होते हैं। इसके फूल और छाल औषध के काम में आती है। वैद्यक में यह चरपरा, गरम, कड़ुवा, स्वर को मधुर करनेवाला तथा कफ, खाँसी, त्वचा के विकार, सूजन, सिर का दर्द, त्रिदोष, रक्तपित्त और रुधिर-विकार को दूर करनेवाला माना गया है।
पर्य्या०—छत्रवृक्ष। चित्र। प्रतिविष्णुक। दीर्घपुष्प। बहुपत्र। सुदल। सुपुष्प। हरिवल्लभ। रक्तप्रसव।

मुचलका–संज्ञा पुं० [तु०] वह प्रतिज्ञापत्र जिसके द्वारा भविष्य में कोई काम, विशेषतः अनुचित काम, न करने अथवा किसी नियत समय पर अदालत में उपस्थित होने की प्रतिज्ञा की जाती है; और कहा जाता है कि यदि मुझसे अमुक अनुचित काम हो जायगा, अथवा मैं अमुक समय पर अमुक अदालत में उपस्थित न होऊँगा, तो मैं इतना आर्थिक दंड दूँगा।
क्रि० प्र०—लिखना।—लिखाना।—लेना।

मुचिर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दाता। उदार। (२) धर्म्म। (३) वायु। (४) देवता।

मुचिलिंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद वृक्ष। (२) तिलक का पौधा। तिलपुष्पी। (३) एक नाग का नाम। (४) एक पर्वत का नाम।

मुचिलिंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद। (२) तिलक। तिलपुष्प।

मुचुक–संज्ञा पुं० [सं०] मैनफल।
† संज्ञा स्त्री० दे० "मोच"।

मुचुकुंद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुचकुंद। (२) भागवत के अनुसार मान्धाता के एक पुत्र का नाम।

मुचुटी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उँगली मटकाना। (२) मुट्ठी।

मुच्चा–संज्ञा पुं० [देश०] मांस का बड़ा टुकड़ा। गोश्त का लोथड़ा।

मुछंदर–संज्ञा पुं० [हिं० मूछ] (१) जिसकी मूछें बड़ी बड़ी हों। (२) कुरूप और मूर्ख। भद्दा और बेवकूफ़। (३) चूहा। (क०)

मुछियल–वि० [हिं० मूछ+इयल (प्रत्य०)] जिसकी मूछें बड़ी बड़ी हों।

मुज़क्कर–वि० [अ०] पुल्लिंग।

मुजम्मा–संज्ञा पुं० [अ०] चमड़े या रस्सी का वह फेरा जो घोड़े

को आगे बढ़ने से रोकने के लिए उसकी गामची या दुमची में पिछाड़ी की रस्सी के साथ लगा रहता है।

क्रि० प्र०—बाँधना।—लगाना।

मुहा०—मुजम्मा लगाना=ऐसा काम करना जिससे कोई बात या काम रुक जाय। रोक या आड़ लगाना। मुजम्मा लेना=आड़े हाथों लेना। खबर लेना। ठीक करना।

मुजरा-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो जारी किया गया हो। (२) वह रकम जो किसी रकम में से काट ली गई हो। जैसे,—१०) हमारे निकलते थे; वह हमने उसमें से मुजरा कर लिए।

क्रि० प्र०—करना।—देना।—पाना।—लेना।

(३) किसी बड़े या धनवान आदि के सामने जाकर उसे सलाम करना। अभिवादन। (४) वेश्या का वह गाना जो बैठकर हो और जिसमें उसका नाच न हो।

क्रि० प्र०—करना।—सुनना।—सुनाना।—होना।

मुजर्रद-वि० [अ०] (१) जिसके साथ और कोई न हो। अकेला। (२) जिसका विवाह न हुआ हो। बिन-ब्याहा। (३) जिसने संसार का त्याग कर दिया हो।

मुजर्रब-वि० [अ०] तजरुबा किया हुआ। आजमाया हुआ। परीक्षित। जैसे, मुजर्रब दवा, मुजर्रब नुसखा।

मुजराई-संज्ञा पुं० [हिं० मुजरा+ई (प्रत्य०)] (१) वह जो मुजरा या सलाम करता हो। (२) वह व्यक्ति जो केवल सलाम करने के लिए वेतन पाता हो। (३) वह जो मरसिया पढ़ता हो। (४) काटने या घटाने की क्रिया। (५) काटी या मुजरा की हुई रकम।

मुजराकंद-संज्ञा पुं० [सं० मुजर] एक प्रकार का कंद जो उत्तर भारत में होता है और जिसे मुंजात भी कहते हैं। वैद्यक में यह अत्यंत स्वादिष्ट, वीर्यवर्धक तथा वात-पित्त नाशक माना गया है।

मुजरिम-संज्ञा पुं० [अ०] वह जिस पर कोई जुर्म या अपराध लगाया गया हो। जिस पर अभियोग लगाया गया हो। अभियुक्त।

मुजल्लद-वि० [अ०] जिसकी जिल्द बँधी हो। जिल्ददार।

मुजस्सिम-वि० [अ०] स-शरीर। प्रत्यक्ष। जैसे,—लीजिए, आपके सामने मुजस्सिम खड़े हैं।

मुजारिया-वि० [अ०] जो जारी किया या कराया गया हो। (कच०)

मुजावर-संज्ञा पुं० [अ०] वह मुसलमान जो किसी पीर आदि की दरगाह या रौजे पर रहकर वहाँ की सेवा का कार्य करता हो और चढ़ावा आदि लेता हो।

मुज़िर-वि० [अ०] नुकसान पहुँचानेवाला। हानिकारक।

मुझ-सर्व० [हिं० मुझे] मैं का वह रूप जो उसे कर्त्ता और संबंध कारक को छोड़कर शेष कारकों में, विभक्ति लगने से पहले प्राप्त होता है। जैसे, मुझको, मुझसे, मुझमें।

मुझे-सर्व० [सं० मह्यम्, प्रा० मज्झम] एक पुरुषवाचक सर्वनाम जो उत्तम पुरुष, एकवचन और उभयलिंग है और वक्ता या उसके नाम की ओर संकेत करता है। यह "मैं" का वह रूप है जो उसे कर्म और संप्रदान कारक में प्राप्त होता है। इसमें लगी हुई एकार की मात्रा विभक्ति का चिह्न है, इसलिए इसके आगे कारक चिह्न नहीं लगता। मुझको। जैसे,—(क) मुझे वहाँ गए कई दिन हो गए। (ख) मुझे आज कई पत्र लिखने हैं।

मुटकना†-वि० [हिं० मोटा+कना (प्रत्य०)] आकार में छोटा या साधारण, पर सुन्दर। जैसे, मुटकना सा बाग।

मुटका-संज्ञा पुं० [हिं० मोटा ?] एक प्रकार का रेशमी वस्त्र जो अधिकतर बंगाल में बनता है और धोती के स्थान में पहनने के काम में आता है।

मुटकी-संज्ञा स्त्री० [देश०] कुलथी नामक अन्न। खुरथी।

मुटमुरी-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का भदई धान।

मुटाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोटा+ई (प्रत्य०)] (१) मोटापन। स्थूलता। (२) पुष्टि। (३) अहंकार। घमंड। शेखी। (४) वह बेपरवाही या अभिमान जो भरपूर भोजन मिलने या कुछ धन हो जाने से हो जाय।

मुहा०—मुटाई चढ़ना=बहुत अधिक अभिमान होना। शेखी होना। मुटाई झड़ना=अभिमान चूर्ण होना। शेखी टूटना।

मुटाना-क्रि० अ० [हिं० मोटा+आना (प्रत्य०)] (१) मोटा हो जाना। स्थूलांग हो जाना। (२) शेखीबाज़ हो जाना। अहंकारी हो जाना। अहंमन्य हो जाना। उ०—हमरे आवत रिस करत अस तुम गये मुटाय।—विश्राम।

मुटासा-वि० [हिं० मोटा+आ सा (प्रत्य०)] वह जो खाने पीने से मज़े में हो जाने या कुछ धन कमा लेने से बेपरवा और घमंडी हो गया हो।

मुटिया-संज्ञा पुं० [हिं० मोट=गठरी+इया (प्रत्य०)] बोझ ढोनेवाला। मजदूर।

मुट्ठा-संज्ञा पुं० [हिं० मूठ] (१) घास, फूस, तृण या डंठल का उतना पूला जितना हाथ की मुट्ठी में आ सके। (२) चंगुल भर वस्तु। जितनी एक मुट्ठी में आ सके उतनी वस्तु। जैसे,—एक मुट्ठा आटा। (३) समेटा या बँधा हुआ समूह जो मुट्ठी में आ सके। पुलिंदा। जैसे, कागज़ का मुट्ठा, तार का मुट्ठा। (४) शस्त्र या यंत्र आदि का वह अंश जो उसके प्रयोग के समय मुट्ठी में पकड़ा जाय। बेंट। दस्ता। (५) धुनियों का बेलन के आकार का वह औज़ार जिससे रुई धुनते समय ताँत पर आघात किया जाता है। (६) कपड़े की गद्दी जो

प्राय: पहलवान आदि बाहों पर मोटाई दिखलाने या सुंदरता बढ़ाने के लिए बाँधते हैं।

मुट्ठामुहेर–संज्ञा स्त्री० [देश०] युवती स्त्री। (कहार)

मुट्ठी–संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिका प्रा० मुट्ठिआ] (१) हाथ की वह मुद्रा जो उँगलियों को मोड़कर हथेली पर दबा लेने से बनती है। बँधी हुई हथेली। (२) उतनी वस्तु जितनी उपर्युक्त मुद्रा के समय हाथ में आ सके। जैसे, एक मुट्ठी चावल।

मुहा०—मुट्ठी में=कब्जे में। अधिकार में। काबू में। वश में। उ०—नीच कहा बिरहा करतो सखी होती कहूँ जु पै मीचु मुठी में।—पद्माकर। मुट्ठी गरम करना–रुपया देना। धन देना। मुट्ठी बंद या बँधी होना=घर का भेद किसी को मालूम न होना। रहस्य प्रकट न होना। मुट्ठी में रखा होना=बहुत समीप होना। पास होना। जैसे,—कपड़े क्या यहाँ मुट्ठी में रखे हैं जो तुम्हें दे दिए जायँ!

(३) उपर्युक्त मुद्रा के समय बँधे हुए पंजे की चौड़ाई का मान। बँधी हथेली के बराबर का विस्तार। जैसे,—इसका किनारा मुट्ठी भर ऊँचा होना चाहिए। (४) हाथों से किसी के अंगों को विशेषतः हाथ पैर को पकड़ पकड़कर दबाने की क्रिया जिससे शरीर की थकावट दूर होती है। चंपी।

क्रि० प्र०—भरना।

(५) एक प्रकार की छोटी पतली लकड़ी जिसके दोनों सिरे कुछ मोटे और गोल होते हैं और जो छोटे बच्चों को खेलने के लिए दी जाती है। इसे बच्चे प्रायः चूसा करते हैं। चुसनी। (६) घोड़े के सुम और टखने के बीच का भाग।

मुठभेड़–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूठ+भिड़ना] (१) टक्कर। भिड़ंत। लड़ाई। (२) भेंट। सामना।

मुठिका*–संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिक] (१) मुट्ठी। उ०—रावण सो भट भयो मुठिका के खाय कों।—तुलसी। (२) घूँसा। मुक्का। उ०—मुठिका एक ताहि कपि हनी। रुधिर बमत धरती ढनमनी।—तुलसी।

मुठिया–संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टिका] (१) छुरी, हँसिया आदि औज़ारों का वह भाग जो मुट्ठी में पकड़ा जाय। दस्ता। बेंट। (२) हाथ में रखी या ली जानेवाली वस्तु का वह भाग जो मुट्ठी में पकड़ा जाता है। जैसे, छड़ी की मुठिया, छाते की मुठिया। (३) धुनियों का वह औज़ार जिससे वे धुनकी की ताँत पर आघात करते हैं।

मुठी*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मुट्ठी"।

मुठुकी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूठ] काठ का बना हुआ बच्चों का एक खिलौना जिसके दोनों सिरों पर गोलियाँ सी होती हैं और बीच में पकड़ने की मूठ होती है। गोलियों में कंकड़ भरे रहते हैं जिनके कारण हिलाने से वह बजता है। मुट्ठी। उ०—कोउ मुठुकी घुनघुना डुलावैं कोउ करताल बजावैं।—रघुराज।

मुड़क–संज्ञा स्त्री० दे० "मुरक"।

मुड़कना–क्रि० अ० दे० "मुरकना"।

मुड़ना–क्रि० अ० [सं० मुरण=लिपटना, फेरा खाना] (१) छड़ की तरह सीधी गई हुई वस्तु का कहीं से बल खाकर दूसरी ओर फिरना। दबाव या आघात से लचना या झुक जाना। घुमाव लेना। जैसे,—(क) छड़ पर दाब पड़ी, इससे वह मुड़ गई। (ख) यह तार तो मुड़ता ही नहीं है; इसे कैसे लपेटें। (२) किसी धारदार किनारे या नोक का इस प्रकार झुक जाना कि वह आगे की ओर न रह जाय। जैसे, छुरी की धार या सूई की नोक मुड़ना। (३) लकीर की तरह सीधे न जाकर घूमकर किसी ओर झुकना। वक्र होकर भिन्न दिशा में प्रवृत्त होना। जैसे,—आगे चलकर यह नदी (या सड़क) दक्खिन की ओर मुड़ गई है। (४) चलते चलते सामने से किसी दूसरी ओर फिर जाना। दाएँ अथवा बाएँ घूम जाना। जैसे,—कुछ दूर जाकर दाहिनी ओर मुड़ जाना, तो उसका घर मिल जायगा। (५) घूमकर फिर पीछे की ओर चल पड़ना। पलटना। लौटना।

संयो० क्रि०—जाना।

क्रि० अ० दे० "मुँड़ना"।

मुड़ला*†–वि० [सं० मुंड] [स्त्री० मुड़ली] जिसके सिर पर बाल न हों। बिना बालवाला। मुंडा। उ०—कच खुबिआँ धर काजर कानी नकटी पहरे बेसरि। मुड़ली पटिया पारि सँवारै कोढ़ी लावै केसरि।—सूर।

मुड़वाना–क्रि० स० [हिं० मूँड़ना का प्रेर० रूप] (१) किसी को मूँड़ने में प्रवृत्त करना। उस्तरे से बाल या रोएँ दूर कराना। (२) दे० "मुँड़वाना"।

क्रि० स० [हिं० मुड़ना का प्रेर० रूप] मुड़ने या घूमने में प्रवृत्त करना।

मुड़वारी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँड़+वारी (प्रत्य०)] (१) अटारी की दीवार का सिरा। मुँड़ेरा। उ०—मुड़वारी रविमणिन सँवारी। अनल झार छूटी छबिवारी।—गुमान। (२) लेटे हुए मनुष्य का वह पार्श्व जिधर सिर हो। सिरहाना। (३) वह पार्श्व जिधर किसी पदार्थ का सिरा अथवा ऊपरी भाग हो।

मुड़हर†–संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़+हर (प्रत्य०)] (१) स्त्रियों की साड़ी वा चादर का वह भाग जो ठीक सिर पर रहता है। उ०—मुख पखारि मुड़हर भिजै सीस सजल कर छ्वाइ।—बिहारी। (२) सिर का अगला भाग।

मुड़ाना–क्रि० स० [सं० मुंडन] सिर के सब बाल बनवाना। मुंडन कराना। मुँड़ाना।

मुड़िया†–संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़ना+इया (प्रत्य०)] वह जिसका

सिर मुँड़ा हुआ हो। विशेषतः कोई संन्यासी, साधु या बैरागी आदि। उ०—यह निर्गुण लै तिनहि सुनावहु जे मुड़िया बसैं काशी।—सूर। वि० दे० "मुँड़िया"।

[देश०] एक प्रकार की मछली।

मुडेरा—संज्ञा पुं० दे० "मुँडेरा"।

मुतअल्लिक़—वि० [अ०] (१) संबंध रखनेवाला। लगाव रखनेवाला। संबद्ध। (२) मिला हुआ। सम्मिलित।

क्रि० वि० संबंध में। विषय में। जैसे,—उसके मुतअल्लिक मुझे कुछ नहीं कहना है।

मुतका—संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़+टेक] (१) कोठे के छज्जे या चौक के ऊपर पाटन के किनारे खड़ी की हुई पटिया या नीची दीवार जो गिरने से रोकने के लिए हो। (२) खंभा। (३) मीनार। लाट।

मुतदायरा—वि० [अ०] (मुक़दमा) जो दायर किया गया हो। (कच०)

मुतफ़न्नी—वि० [अ०] बहुत बड़ा धूर्त्त। चालाक। धोखेबाज़।

मुतफ़र्रिक़—वि० [अ०] (१) भिन्न भिन्न। अलग अलग। (२) विविध। कई प्रकार का।

मुतबन्ना—संज्ञा पुं० [अ०] गोद लिया हुआ पुत्र। दत्तक पुत्र।

मुतमौवल—वि० [अ०] धनवान्। संपत्तिशाली। अमीर।

मुतरज्जिम—संज्ञा पुं० [अ०] जो अनुवाद करे। तरजुमा करनेवाला। अनुवादक।

मुतलक़—क्रि० वि० [अ०] ज़रा भी। तनिक भी। रत्ती भर भी।

वि० बिलकुल। निरा। निपट।

मुतवफ़्फ़ा—वि० [अ०] परलोकवासी। मृत। स्वर्गीय। (कच०)

मुतवल्ली—संज्ञा पुं० [अ०] किसी नाबालिग़ और उसकी संपत्ति का रक्षक। किसी बड़ी संपत्ति और उसके अल्पवयस्क अधिकारी का क़ानूनी संरक्षक। वली।

मुतवातिर—क्रि० वि० [अ०] लगातार। निरंतर।

मुतसद्दी—संज्ञा पुं० [अ०] (१) लेखक। मुंशी। (२) पेशकार। दीवान। (३) जिम्मेदार। उत्तरदायी। (४) इंतज़ाम करनेवाला। प्रबंधकर्त्ता। (५) हिसाब रखनेवाला। जमा-खर्च लिखनेवाला। (६) मुनीम। गुमाश्ता।

मुतसिरी*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० मोती+सं० श्री] कंठ में पहनने की मोतियों की कंठी। उ०—ग्रीव मुतसिरी तोरि के अँचरा सों बाँध्यो।—सूर।

मुतहम्मिल—वि० [अ०] बरदाश्त करनेवाला। सहिष्णु। सहनशील।

मुताबिक़—क्रि० वि० [अ०] अनुसार। बमूजिब।

वि० अनुकूल।

मुतालबा—संज्ञा पुं० [अ०] उतना धन जितना पाना वाजिब हो। प्राप्तव्य धन। बाकी रुपया।

मुताह—संज्ञा पुं० [अ० मुतअ] मुसलमानों में एक प्रकार का अस्थायी विवाह जो 'निकाह' से निकृष्ट समझा जाता है। इस प्रकार का विवाह प्रायः शीया लोगों में होता है।

मुताही—वि० [हिं० मुताह+ई (प्रत्य०)] (१) वह जिसके साथ मुताह किया गया हो। (२) रखेली (स्त्री)।

मुतिलाडू*†—संज्ञा पुं० [हिं० मोती+लड्डू] मोतीचूर का लड्डू। उ०—मुतिलाडू हैं अति मीठे। वै खात न कबहुँ उबीठे।—सूर।

मुतेहरा*†—संज्ञा पुं० [हिं० मोती+हार] कंकण की आकृति का एक प्रकार का आभूषण जो स्त्रियाँ कलाई पर पहनती हैं।

मुत्तफ़िक़—वि० [अ०] राय से इत्तफ़ाक करनेवाला। सहमत।

मुत्तसिल—वि० [अ०] निकट। नज़दीक। समीप। पास। लगा हुआ।

क्रि० वि० लगातार। निरंतर।

मुद्—संज्ञा पुं० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता। उ०—मुद-मंगलमय संत-समाजू।—तुलसी।

मुद्गर—संज्ञा पुं० दे० (१) "मुद्गर"। (२) दे० "मुगदर"।

मुदरा—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मादक पेय पदार्थ जो अफीम, भाँग, शराब और धतूरे के योग से बनता है और जिसका व्यवहार पश्चिमी पंजाब तथा बलोचिस्तान में होता है।

मुदर्रिस—संज्ञा पुं० [अ०] पाठशाला का शिक्षक। अध्यापक।

मुदा*†—अव्य० [अ० मुद्दआ=अभिप्राय] (१) तात्पर्य यह कि। (२) मगर। लेकिन।

संज्ञा स्त्री० [सं०] हर्ष। आनंद। प्रसन्नता।

मुदाम—क्रि० वि० [फ़ा०] (१) सदा। हमेशा। सदैव। उ०—(क) राम लखत सीता की छवि को सीयराम अभिरामै। उभय दृगंचल भये अचंचल प्रीति पुनीत मुदामै।—रघुराज। (ख) अहैं हम सत्य धरा सरनाम। करैं रन में पर सत्य मुदाम।—गोपाल। (२) निरंतर। लगातार। † (३) ठीक ठीक। हू ब-हू। (क्व०)

मुदामी—वि० [फ़ा०] जो सदा होता रहे। सार्वकालिक। उ०—दगी मुकामी फेरि सलामी। बँधी पंचदस जौन मुदामी।—रघुराज।

मुदावसु—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार प्रजापति के एक पुत्र का नाम।

मुदित—वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न। खुश।

संज्ञा पुं० कामशास्त्र के अनुसार एक प्रकार का आलिंगन नायिका का नायक की बाईं ओर लेटकर उसकी दोनों जाँघों के बीच में अपना बायाँ पैर रखना।

मुदिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) परकीया के अंतर्गत एक प्रकार

की नायिका जो पर-पुरुष-प्रीति संबंधी कामना की आकस्मिक प्राप्ति से प्रसन्न होती है। उ०—रखि प्रेमवश पर पुरुष हरपि रही मन मैन। तब लगि झुकि आई घटा अधिक अँधेरी रैन।—पद्माकर। (२) हर्ष। आनंद। (३) योग शास्त्र में समाधि योग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म जिसका अभिप्राय है—पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष उत्पन्न करना। (ये परिकर्म चार कहे गए हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा)

मुदिर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बादल। मेघ। उ०—(क) धाराधर जलधर जलद जग-जीवन जीमूत। मुदिर बलाहक तडितपति परजन्य जल-सुपूत।—नंददास। (ख) करै मतिराम दीने दीरघ दुरदवृंद मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे हैं।—मतिराम। (२) वह जिसे काम-वासना बहुत अधिक हो। कामुक। (३) मेंढक।

मुद्ग—संज्ञा पुं० [सं०] मूँग नामक अन्न जिससे दाल बनाई जाती है। वि० दे० "मूँग"।

मुद्गगिरि—संज्ञा पुं० [सं०] मूँगेर और उसके आस पास के प्रांत का प्राचीन नाम।

मुद्गदला—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुद्गपर्णी। बनमूँग।

मुद्गपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] बनमूँग। मुगवन।

मुद्गभोजी—संज्ञा पुं० [सं० मुद्गभोजिन्] घोड़ा।

मुद्गर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) काठ का बना हुआ एक प्रकार का गावदुमा दंड जो मूठ की ओर पतला और आगे की ओर बहुत भारी होता है। इसे हाथ में लेकर हिलाते हुए पहलवान लोग कई तरह की कसरतें करते हैं। इससे कलाइयों और बाँहों में बल आता है। इसकी प्रायः जोड़ी होती है जो दोनों हाथों में लेकर बारी बारी से पीठ के पीछे से घुमाते हुए सामने लाकर तानी जाती है। मुगदर।

क्रि० प्र०—फेरना।—हिलाना।

(२) प्राचीन काल का एक अस्त्र जो दंड के आकार का होता था और जिसके सिरे पर बड़ा भारी गोल पत्थर लगा होता था। (३) एक प्रकार की चमेली। मोगरा। (४) एक प्रकार की मछली।

मुद्गल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहिष नामक तृण। (२) एक गोत्रकार मुनि का नाम, जिनकी स्त्री इंद्रसेना थी। (३) एक उपनिषद् का नाम।

मुद्गष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] मुगवन। बन-मूँग।

मुद्दआ—संज्ञा पुं० [अ०] अभिप्राय। तात्पर्य। मतलब।

मुद्दई—संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० मुद्दइया] (१) दावा करनेवाला। दावादार। वादी। (२) दुश्मन। बैरी। शत्रु। उ०—मोहन मीत समीत गो लखि तेरो सनमान। अब सु दगा दै तू चल्यो अरे मुद्दई मान।—पद्माकर।

मुद्दत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अवधि। जैसे,—इस हुंडी की मुद्दत पूरी हो गई है।

मुहा०—मुद्दत काटना=थोक माल का मूल्य अवधि से पहले देने पर अवधि के बाकी दिनों का सूद काटना। (कोठीवाला)

(२) बहुत दिन। अरसा। जैसे,—बाद मुद्दत के आज आपकी शक्ल दिखाई दी है।

मुद्दती—वि० [अ० मुद्दत+ई (प्रत्य०)] वह जिसके साथ कोई मुद्दत लगी हो। वह जिसमें कोई अवधि हो। जैसे,—मुद्दती हुंडी—वह हुंडी जिसका रुपया कुछ निश्चित समय पर देना पड़े।

मुद्दाअलेह—संज्ञा पुं० [अ०] वह जिसके ऊपर कोई दावा किया जाय। वह जिस पर कोई मुक़दमा चलाया गया हो। प्रतिवादी।

मुद्दालेह—संज्ञा पुं० दे० "मुद्दाअलेह"।

मुद्ध*†—वि० दे० "मुग्ध"।

मुद्रण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी चीज पर अक्षर आदि अंकित करना। छपाई। (२) ठप्पे आदि की सहायता से अंकित करके मुद्रा तैयार करना। (३) ठीक तरह से काम चलाने के लिए नियम आदि बनाना और लगाना।

मुद्रणा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अँगूठी।

मुद्रणालय—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का मुद्रण होता हो। (२) छापाखाना। प्रेस।

मुद्रांक—संज्ञा पुं० [सं०] मुद्रा पर का चिह्न।

मुद्रांकन—संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मुद्रांकित] (१) किसी प्रकार की मुद्रा की सहायता से अंकित करने का काम। (२) छापने का काम। छपाई।

मुद्रांकित—वि० [सं०] (१) मोहर किया हुआ। (२) जिसके शरीर पर विष्णु के आयुध के चिह्न गरम लोहे से दागकर बनाए गए हों। (वैष्णव)

मुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी के नाम की छाप। मोहर। उ०—मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै, आई दिसि दसौ जीति सेना रघुनाथ की।—केशव। (२) रुपया, अशरफ़ी आदि। सिक्का। (३) अँगूठी। छाप। छल्ला। उ०—बनचर कौन देश तें आयो। कहँ वे राम कहाँ वे लछिमन क्यों करि मुद्रा पायो।—सूर। (४) टाइप के छपे हुए अक्षर। (५) गोरखपंथी साधुओं के पहनने का एक कर्णभूषण जो प्रायः काँच वा स्फटिक का होता है। यह कान की लौ के बीच में एक बड़ा छेद करके पहना जाता है। उ०—(क) शृंगी मुद्रा कनक खपर लै करिहौं जोगिन भेस।—सूर। (ख) भसम लगाऊँ गात चंदन उतारों तात, कुंडल उतारों मुद्रा कान पहिराय धौं।—हनुमान। (६) हाथ, पाँव, आँख, मुँह, गर्दन आदि की कोई स्थिति। (७)

बैठने, लेटने वा खड़े होने का कोई ढंग। अंगों की कोई स्थिति। (८) चेहरे का ढंग। मुख की आकृति। मुख की चेष्टा। उ०—मायावती अकेले इस बाग में टहल रही थी और एक ऐसी मुद्रा बनाये हुए थी, जिससे मालूम होता था कि यह किसी बड़े गंभीर विचार में मग्न है।—बालकृष्ण भट्ट। (९) विष्णु के आयुधों के चिह्न जो प्रायः भक्त लोग अपने शरीर पर तिलक आदि के रूप में अंकित करते हैं या गरम लोहे से दगाते हैं। (जैसे—शंख, चक्र, गदा आदि के चिह्न) छाप। (१०) तांत्रिकों के अनुसार कोई भूना हुआ अन्न। (११) तंत्र में उँगलियों आदि की अनेक रूपों की स्थिति जो किसी देवता के पूजन में बनाई जाती है। जैसे, धेनु मुद्रा, योनि मुद्रा। (१२) हठ योग में विशेष अंगविन्यास। ये मुद्राएँ पाँच होती हैं। जैसे, खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उनमुनी। (१३) अगस्त्य ऋषि की स्त्री, लोपामुद्रा। (१४) वह अलंकार जिसमें प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त पद्य में कुछ और भी साभिप्राय नाम निकलते हैं। जैसे,—कत लपटैयत मो गरे सोन जुही निसि सैन। जेहि चंपकबरनी किये गुल अनार रँग नैन।—बिहारी। (इस पद्य में प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त 'मोगरा' 'सोनजुही' 'चंपक' इत्यादि फूलों के नाम भी निकलते हैं।)

मुद्राकर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राज्य का वह प्रधान अधिकारी जिसके अधिकार में राजा की मोहर रहती है। (२) वह जो किसी प्रकार की मुद्रा तैयार करता हो। (३) वह जो किसी प्रकार के मुद्रण का काम करता हो।

मुद्रा कान्हड़ा-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का राग जिसमें सब कोमल स्वर लगते हैं।

मुद्राक्षर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह अक्षर जिसका उपयोग किसी प्रकार के मुद्रण के लिए होता हो। (२) सीसे के ढले हुए अक्षर जो छापने के काम में आते हैं। टाइप।

मुद्रा टोरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की रागिनी जिसके गाने में सब कोमल स्वर लगते हैं।

मुद्रा तत्त्व-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसके अनुसार किसी देश के पुराने सिक्कों आदि की सहायता से उस देश की ऐतिहासिक बातें जानी जाती हैं।

मुद्राबल-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम।

मुद्रामार्ग-संज्ञा पुं० [सं०] मस्तक के भीतर का वह स्थान जहाँ प्राणवायु चढ़ती है। ब्रह्मरंध्र।

मुद्रायंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] छापने या मुद्रण करने का यंत्र। छापे आदि की कल।

मुद्राविज्ञान-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रातत्त्व"।

मुद्राशास्त्र-संज्ञा पुं० दे० "मुद्रातत्त्व"।

मुद्रिक-संज्ञा स्त्री० दे० "मुद्रिका"। उ०—कर कंकण केयूर मनोहर दीत मोद मुद्रिक न्यारी।—तुलसी।

मुद्रिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अँगूठी। उ०—ठौर पाइ पौन-पुत्र डारि मुद्रिका दई।—केशव। (२) कुश की बनी हुई अँगूठी जो पितृ-कार्य में अनामिका में पहनी जाती है। पवित्री। पैंती। उ०—पहिरि दर्भ मुद्रिका सुभूरी। समिध अनेक लीन्ह कर रूरी।—मधुसूदन। (३) मुद्रा। सिक्का। रुपया। उ०—नरसी पै जब संत सब कहे सकोपित बैन। ठग ठगि लीन्ही मुद्रिका चल्यो मारि तेहि लैन।—रघुराज।

मुद्रित-वि० [सं०] (१) मुद्रण किया हुआ। अंकित किया हुआ। छपा हुआ। (२) मुँदा हुआ। बंद। उ०—(क) नासिका अग्र की ओर दिये अध-मुद्रित लोचन कोर समाधित।—देव। (ख) राजिव दल इंदीवर सतदल कमल कुसेसै जाति। निसि मुद्रित प्रातहिं वे बिगसत वे बिगसत दिन राति।—सूर। (ग) नील कंज मुद्रित निहार विद्यमान भानु, सिंधु मकरंदहि अलिंद पान करिगो। (३) त्यागा हुआ। छोड़ा हुआ।

मुधा-क्रि० वि० [सं०] व्यर्थ। वृथा। बेफ़ायदा। उ०—(क) यह सब जाग्यबल्क कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा।—तुलसी। (ख) तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू।—तुलसी।

वि० (१) व्यर्थ का। निष्प्रयोजन। (२) असत्। मिथ्या। झूठ। उ०—मुधा भेद जद्यपि कृत माया।—तुलसी।

संज्ञा पुं० असत्य। मिथ्या। उ०—भूतल माहिं बली शिवराज भो भूषन भाषत शत्रु मुधा को।—भूषण।

मुनक्का-संज्ञा पुं० [अ० मि० सं० मृद्वीका] एक प्रकार की बड़ी किशमिश या सूखा हुआ अंगूर जो रेचक होता और प्रायः दवा के काम में आता है। वि० दे० "अंगूर"।

मुनगा†-संज्ञा पुं० [सं० मधुगृंजन वा देश०] सहिंजन।

मुनब्बतकारी-संज्ञा स्त्री० [अ०] पत्थरों पर उभरे हुए बेल-बूटों का काम।

मुनमुना-संज्ञा पुं० [देश०] मैदे का बना हुआ एक प्रकार का पकवान जो रस्सी की तरह बटकर छाना जाता है।

मुनरा†-संज्ञा पुं० [सं० मुद्रा] कान में पहनने का एक प्रकार का गहना जो कमाऊँ आदि पहाड़ी जिलों के निवासी पहनते हैं। यह अधिकतर लोहे का ही बनता है।

मुनरी†-संज्ञा स्त्री० दे० "मुँदरी"।

मुनादी-संज्ञा स्त्री० [अ०] किसी बात की वह घोषणा जो कोई मनुष्य डुग्गी या ढोल आदि पीटता हुआ सारे शहर में करता फिरे। ढिंढोरा। डुग्गी।

क्रि० प्र०—करना।—पिटना।—फिरना।—फेरना।—होना।

मुनाफ़ा-संज्ञा पुं० [अ०] किसी व्यापार आदि में प्राप्त वह धन जो मूल धन के अतिरिक्त होता है। लाभ। नफ़ा। फायदा।
क्रि० प्र०—उठाना।—करना।—निकालना।—होना।

मुनारा†-संज्ञा पुं० दे० "मीनार"। उ०—भनै रघुराज नव पल्लवित मल्लिका के, अमल अगारा हैं मुनारा हैं दुआरा हैं। —रघुराज।

मुनासिब-वि० [अ०] उचित। योग्य। वाजिब। ठीक।

मुनि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मनन करे। ईश्वर, धर्म्म और सत्यासत्य आदि का सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति। मननशील महात्मा। जैसे, अंगिरा, पुलस्त्य, भृगु, कर्दम, पंचशिख आदि। (२) तपस्वी। त्यागी।
यौ०—मुनिचीर, मुनिपट=वल्कल। मुनिव्रत=तपस्या।
(३) सात की संख्या। उ०—तब प्रभु मुनि शर मारि गिरावा। (४) जिन। (५) पियाल या पयार का वृक्ष। (६) पलास का वृक्ष। (७) आठ वसुओं के अंतर्गत आप नामक वसु के पुत्र का नाम। (८) क्रौंच द्वीप के एक देश का नाम। (९) द्युतिमान् के सब से बड़े पुत्र का नाम। (१०) कुरु के एक पुत्र का नाम। (११) दौना। दमनक।
संज्ञा स्त्री० दक्ष की एक कन्या जो कश्यप की सब से बड़ी स्त्री थी।

मुनिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्राह्मी का क्षुप।

मुनिच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] मेथी।

मुनितरु-संज्ञा पुं० [सं०] बक्कम। पतंग।

मुनिद्रुम-संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्योनाक वृक्ष। (२) बक्कम। पतंग।

मुनिधान्य-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनिपत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दौना। दमनक।

मुनिपादप-संज्ञा पुं० [सं०] बक्कम। पतंग।

मुनिपित्तल-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।

मुनिपुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] दमनक। दौना।

मुनिपुत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] खंजन पक्षी।

मुनिपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार का फूल।

मुनिप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का धान्य जिसे पक्षिराज भी कहते हैं। (२) पिंडखजूर। (३) चिरौंजे का पेड़। पियार।

मुनिभक्त-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनिभेषज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अगस्त का फूल। (२) हड़। हर्रे। (३) लंघन। उपवास।

मुनिभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] तिन्नी का चावल। तिनी।

मुनियाँ-संज्ञा स्त्री० [देश०] लाल नामक पक्षी की मादा। उ०—झुंड तें झपटि गहि आनी प्रेम पींजरा में, लाल मुनियाँ ज्यौं गुण लाल गहि तागी है।—देव।
संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का धान जो अगहन में तैयार होता है।

मुनिवर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुंडरीक वृक्ष। पुंडरिया। (२) दौना।

मुनिवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] विजयसार। पियासाल।

मुनिवीर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ग के विश्वेदेवा आदि देवताओं के अंतर्गत एक देवता।

मुनिवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] बक्कम। पतंग।

मुनिशस्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] सफेद कुश। सफेद दाभ।

मुनिसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] एक यज्ञ का नाम।

मुनिसुत-संज्ञा पुं० [सं०] दौना।

मुनिसुव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के एक तीर्थंकर का नाम।

मुनिहत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा पुष्यमित्र की एक उपाधि।

मुनींद्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बुद्धदेव का एक नाम (२) पुराणानुसार एक दानव का नाम।

मुनी-संज्ञा पुं० दे० "मुनि"।

मुनीब-संज्ञा पुं० दे० "मुनीम"।

मुनीम-संज्ञा पुं० [अ० मुनीब=नायब रखनेवाला] (१) नायब। मददगार। सहायक। (२) साहूकारों का हिसाब-किताब लिखनेवाला।
यौ०—मुनीमखाना=वह स्थान जहाँ किसी कोठी के हिसाब-किताब लिखनेवाले मुनीम बैठकर काम करें।

मुनीश, मुनीश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुनियों में श्रेष्ठ। (२) बुद्धदेव का एक नाम। (३) विष्णु।

मुन्ना-संज्ञा पुं० [देश०] (१) छोटों के लिए प्रेमसूचक शब्द। प्रिय। प्यारा। उ०—मुन्ना! मैंने तो यह कहा था कि इस मिट्टी के मोर को देख।—लक्ष्मणसिंह। (२) तारकशी के कारखाने के वे दोनों खूँटे जिनमें जंता लगा रहता है।

मुन्नू-संज्ञा पुं० दे० "मुन्ना"।

मुन्यन्न-संज्ञा पुं० [सं०] मुनियों के खाने का अन्न। जैसे, तिन्नी का चावल आदि।

मुन्ययन-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ।

मुन्यालय-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम।

मुफ़लिस-वि० [अ०] धनहीन। निर्धन। दरिद्र। ग़रीब।

मुफ़लिसी-संज्ञा स्त्री० [अ०] ग़रीबी। निर्धनता। दरिद्रता।

मुफ़सिद-संज्ञा पुं० [अ०] वह जो फसाद खड़ा करे। झगड़ा या फसाद करनेवाला आदमी।

मुफ़स्सल-वि० [अ०] वह जिसकी तफ़सील की गई हो। ब्योरेवार। विस्तृत।
संज्ञा पुं० किसी केंद्रस्थ नगर के चारों ओर के कुछ दूर के स्थान। जैसे,—मुफस्सल से कई तरह की ख़बरें आ रही हैं।

मुफ़ीद-वि० [अ०] फ़ायदेमंद। लाभकारी। लाभदायक।

मुफ़्त-वि० [अ०] जिसमें कुछ मूल्य न लगे । बिना दाम का । सेंत का ।

यौ०—मुफ़्तखोर=वह व्यक्ति जो दूसरों के धन पर सुख-भोग करे । मुफ़्त का माल खानेवाला ।

मुहा०—मुफ़्त में=(१) बिना दाम के । बिना मूल्य दिए या लिए । जैसे,—यह घड़ी मुझे मुफ़्त में मिली । (२) व्यर्थ । बेफ़ायदा । निष्प्रयोजन । जैसे,—(क) मुफ़्त में उसकी जान गई । (ख) मुफ़्त में क्यों हैरान होते हो !

मुफ़्ती-संज्ञा पु० [अ०] धर्म-शास्त्री ।

वि० [अ० मुफ़्त+ई (प्रत्य०)] जो बिना दाम दिए मिला हो । मुफ़्त का ।

मुबतिला-वि० [अ० मुब्तिला] पकड़ा हुआ । फँसा हुआ । ग्रस्त । गृहीत ।

विशेष—इस शब्द का व्यवहार प्रायः रोग, विपत्ति आदि के संबंध में ही होता है । जैसे,—(क) वे कई दिनों से बुखार में मुबतिला हैं । (ख) मैं भी आजकल एक आफ़त में मुबतिला हो गया हूँ ।

मुबादिला-संज्ञा पुं० [अ०] बदला । पलटा । एवज़ ।

मुबारक-वि० [अ०] (१) जिसके कारण बरकत हो । (२) शुभ । मंगलप्रद । मंगलमय । नेक । अच्छा ।

मुबारकबाद-संज्ञा पु० [अ० मुबारक+फ़ा० बाद] कोई शुभ बात होने पर यह कहना कि "मुबारक हो" । बधाई ।

क्रि० प्र०—देना—पाना ।—मिलना ।

मुबारकबादी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुबारक+फ़ा० बादी] (१) "मुबारक" कहने की क्रिया । बधाई । (२) वे गीत आदि जो शुभ अवसरों पर बधाई देने के लिए गाए जायँ ।

क्रि० प्र०—देना ।—पाना ।—मिलना ।

मुबारकी-संज्ञा स्त्री० दे० "मुबारकबादी" ।

मुबालिग़ा-संज्ञा पु० [अ०] बहुत बढ़ाकर कही हुई बात । लंबी-चौड़ी बात । अत्युक्ति ।

मुबाहिसा-संज्ञा पुं० [अ०] किसी विषय के निर्णय के लिए होनेवाला विवाद । बहस ।

मुमकिन-वि० [अ०] जो हो सकता हो । संभव ।

मुमतहिन-संज्ञा पुं० [अ०] इम्तहान लेनेवाला । परीक्षा लेनेवाला । परीक्षक ।

मुमुक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुक्ति की इच्छा । मोक्ष की अभिलाषा ।

मुमुक्षु-वि० [सं०] मुक्ति पाने का इच्छुक । मोक्ष का अभिलाषी । जो मुक्ति की कामना करता हो ।

मुमुक्षुता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मुमुक्षु का भाव या धर्म्म ।

मुमुचान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो मुक्त हो गया हो । वह जिसका मोक्ष हो गया हो । (२) मेघ । बादल ।

मुमूर्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्यु की अभिलाषा । मरने की इच्छा ।

मुमूर्षु-वि० [सं०] जो मरने के समीप हो । जो मर रहा हो । आसन्न-मृत्यु ।

मुयस्सर-वि० दे० "मयस्सर" ।

मुरंगिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा ।

मुरंडा-संज्ञा पुं० [देश०] भूने हुए गरमागरम गेहूँ में गुड़ मिलाकर बनाया हुआ लड्डू । गुड़-धानी । उ०—(क) अउर दही के मुरंडा बाँधे । औ सँधान बहु भाँतिन साधे ।—जायसी । (ख) पुनि सँधान आने बहु साँधी । दूध दही के मुरंडा बाँधी ।—जायसी ।

मुहा०—मुरंडा करना=(१) गठरी सा बना देना । समेट कर लड्डू सा कर देना । (२) भून डालना । (३) बहुत मारना-पीटना । (४) मोह लेना । मुग्ध कर लेना । आशिक़ बना लेना ।

वि० सूखा हुआ । शुष्क ।

मुहा०—मुरंडा होना=(१) सूख कर काँटा हो जाना । जैसे,—चार दिन की मेहनत में मुरंडा हो गए । (२) मुग्ध होना । मोहित होना ।

मुरंदला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्म्मदा नदी का एक नाम ।

मुरंदा-संज्ञा पुं० दे० "मुरंडा" ।

मुर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेष्टन । बेठन । (२) एक दैत्य जिसे विष्णु ने मारा था और जिसे मारने के कारण उनका नाम 'मुरारि' पड़ा । उ०—मधुकैटभ मथन मुर-भौम केशी-भिदन कंस-कुल-काल अनुसाल हारी ।—सूर ।

अव्य० फिर । दोबारा ।

मुरई†-संज्ञा स्त्री० दे० "मूली" ।

मुरक-संज्ञा स्त्री० [हिं० मुरकना] मुरकने की क्रिया या भाव ।

मुरकना-क्रि० अ० [हिं० मुड़ना] (१) लचक कर किसी ओर झुकना । मुड़ना । (२) फिरना । घूमना । (३) लौटना । वापस होना । फिर जाना । (४) किसी अंग का झटके आदि के कारण किसी ओर तन जाना । किसी अंग का किसी ओर इस प्रकार मुड़ जाना कि जल्दी सीधा न हो । मोच खाना । जैसे, बाँह मुरकना, कलाई मुरकना । (५) हिचकना । रुकना । उ०—लोचन भरि भरि दोउ माता के कनछेदन देखत जिय मुरकी ।—सूर । (६) विनष्ट होना । चौपट होना । उ०—साहि सुत महाबाहु सिवाजी सलाह बिन कौन पातसाह की न पातसाही मुरकी ।—भूषण ।

मुरका-संज्ञा पुं० [देश०] (१) बहुत ऊँचा और बड़े बड़े दाँतोंवाला सुंदर हाथी । (२) गड़रियों का भोज जो वे अपनी बिरादरी को देते हैं ।

मुरकाना-क्रि० स० [हिं० मुरकना का स० रूप] (१) फेरना । घुमाना । (२) लौटाना । घुमाना । वापस करना । (३) किसी अंग में मोच लाना । (४) नष्ट करना । चौपट करना ।

मुरकी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुरकना=घूमना] कान में पहनने की छोटी बाली।

मुरकुल–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की लता जो हिमालय में होती है और शिकिम तक पाई जाती है। इसकी शाखाओं में से एक प्रकार का रेशा निकलता है जिससे रस्सियाँ आदि बनाई जाती हैं। इसे 'बेरी' भी कहते हैं।

मुरखाई*†–संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्ख+आई (प्रत्य०)] मूर्खता। बेवकूफ़ी। अज्ञता। उ०—तपु करति हर-हित सुनि बिहँसि बटु कहत मुरखाई महा।—तुलसी।

मुरगा–संज्ञा पुं० [फ़ा० मुर्ग] [स्त्री० मुरगी] (१) एक प्रसिद्ध पक्षी जो सफेद, पीले आदि कई रंगों का और खड़ा होने पर प्राय: एक हाथ से कुछ कम ऊँचा होता है। इसके नर के सिर पर एक कलगी होती है। यह अपनी शानदार चाल और प्रभात के समय "कुकडूँ कूँ" बोलने के लिए प्रसिद्ध है। यह प्राय: घरों में पाला जाता है। लोग इसे लड़ाते और इसका मांस भी खाते हैं। इसके बच्चे को चूज़ा कहते हैं। (२) पक्षी। चिड़िया।

संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्वा"।

मुरग़ाबी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मुरगे की जाति का एक पक्षी जो जल में तैरता और मछलियाँ पकड़कर खाता है। यह पानी के भीतर बहुत देर तक गोता मारकर रह सकता है। इसके पर कोमल होते हैं और नर मादा दोनों प्रायः एक से ही होते हैं। जल-कुक्कुट। जल-मुरगा।

मुरगाली–संज्ञा स्त्री० [सं० मुरंगिका] मूर्वा।

मुरचंग–संज्ञा पुं० [हिं० मुँहचंग] लोहे का बना हुआ मुँह से बजाने का एक प्रकार का बाजा जिससे ताल देते हैं। मुँहचंग।

मुहा०—मुरचंग झाड़ना=आनंद करना। चैन करना। (व्यंग्य)

मुरचा–संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मुरची–संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा के एक देश का नाम।

मुरछना*–क्रि० अ० [सं० मूर्च्छन] (१) शिथिल होना। (२) अचेत होना। बेसुध होना। बेहोश होना। उ०—अधर दसनन भरे कठिन कुच उर लरे परे सुख सेज मन मुरछि दोऊ।—सूर।

मुरछल–संज्ञा पुं० दे० "मोरछल"।

मुरछा–संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्छा"।

मुरछाना*†–क्रि० अ० [सं० मूर्च्छा] अचेत होना। मूर्च्छित होना। बेहोश होना। उ०—तात मरन सुधि श्रवण कृपानिधि धरणि परे मुरछाई। मोह मगन लोचन चल धारा बिपति हृदय न समाई।—सूर।

मुरछावंत*–वि० [सं० मूर्च्छा+वंत (प्रत्य०)] मूर्च्छित। बेहोश। अचेत। उ०—धरम धुरंधर श्री रघुराई। मुरछावंत भए मुनिराई।—मधुसूदन।

मुरछित*–वि० दे० "मूर्च्छित"। उ०—जोगी अकंटक भए पति-गति सुनत रति मुरछित भई।—तुलसी।

मुरज–संज्ञा पुं० [सं०] मृदंग। पखावज। उ०—(क) कोउ मंजु मुरज अमोल ढोलन तबल अमल अपार हैं।—रघुराज। (ख) रुज मुरज डफ ताल बाँसुरी झालर को झंकार।—सूर।

मुरजफल–संज्ञा पुं० [सं०] कटहल का वृक्ष।

मुरजित्–संज्ञा पुं० [सं०] मुर नामक राक्षस को जीतनेवाले, श्रीकृष्ण। मुरारि।

मुरझाना–क्रि० अ० [सं० मूर्च्छन] (१) फूल या पत्ती आदि का कुम्हलाना। सूखने पर होना। (२) सुस्त हो जाना। उदास होना। उ०—(क) गिरि मुरझाइ दया आइ कछू भाय भरे ढर प्रभु ओर मति आनँद सों भीनी है।—प्रियादास। (ख) सखी कुरंगिके, यह हिम-उपचार तो मुझ कमल की लता को और भी मुरझा देगा।—हरिश्चंद्र। (ग) देव मुरझाइ उरमाल कह्यो दीजै मुरझाइ बात पूछी है छेम की।—देव।

संयो० क्रि०—जाना।

मुरड़–संज्ञा पुं० [डिं०] गर्व। अभिमान। दर्प। अहंकार।

मुरड़की†–संज्ञा स्त्री० दे० "मरोड़"।

मुरतंगा–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का ऊँचा पेड़ जिसके हीर की लकड़ी लाल और कड़ी होती है और जिससे सजावट के सामान बनाए जाते हैं। यह पेड़ आसाम, बंगाल और चटगाँव में अधिकता से पाया जाता है।

मुरतहिन–संज्ञा पुं० [अ०] वह जिसके पास कोई वस्तु रेहन या गिरों रखी जाय। जिसके पास बंधक रखा जाय। रेहनदार।

मुरता–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली झाड़ जो पूर्वी बंगाल और आसाम में होता है। इससे प्राय: चटाई या सीतलपाटी बनाई जाती है।

मुरदर–संज्ञा पुं० [सं०] मुरारि। श्रीकृष्ण। उ०—जिमि मुरदर तकि असुर कंध धरि धुनकर सरहुर।—गोपाल।

मुरदा–संज्ञा पुं० [फ़ा० मि० सं० मृतक] वह जो मर गया हो। मरा हुआ प्राणी। मृतक।

मुहा०—मुरदा उठना=मर जाना। (गाली) जैसे,—उसका मुरदा उठे। मुरदा उठाना=मृतक को उठाकर जलाने या गाड़ने आदि के लिए ले जाना। अंत्येष्टि क्रिया के लिए ले जाना। मुरदे से शर्त बाँधकर सोना=बहुत अधिक सोना। मुरदे का माल=वह माल जिसका कोई वारिस न हो।

वि० (१) मरा हुआ। मृत्यु को प्राप्त। मृत। (२) जो बहुत ही दुर्बल हो। जिसमें कुछ भी दम न हो। (३) मुरझाया हुआ। कुम्हलाया हुआ। जैसे, मुरदा पान।

मुरदार–वि० [फ़ा०] (१) अपनी मौत से मरा हुआ। मृत।

(२) अपवित्र। (३) बेदम। बेजान। जैसे,—हाथ का चमड़ा मुरदार हो गया है।

संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जानवर जो अपनी मौत से मरा हो और जिसका मांस खाया न जा सकता हो।

मुरदारी—संज्ञा पुं० [फ़ा० मुरदार+ई (प्रत्य०)] अपनी मौत से मरे हुए जानवर का चमड़ा।

मुरदा संख—संज्ञा पुं० [फ़ा० मुरदार संग] एक प्रकार का औषध जो फूँके हुए सीसे और सिंदूर से बनता है।

मुरदासन*—संज्ञा पुं० दे० "मुरदासंख"। उ०—मिरिच मोचरस मैदा लकरी। मुरदासन मनुसिल मिसमकरी।—सूदन।

मुरदासिंघी—संज्ञा स्त्री० दे० "मुरदा संख"।

मुरधर—संज्ञा पुं० [सं० मरुधरा] मारवाड़ देश का प्राचीन नाम। उ०—(क) मुरधर देश में बिलौंदा नाम ग्राम एक तहाँ के निवासी संत दूसरे मुरारिदास।—रघुराज। (ख) मुरधर-खंड भूप सब आज्ञाकारी। रामनाम बिस्वास भक्तपद-राज-व्रतधारी।—प्रियादास।

मुरना*—क्रि० अ० दे० "मुड़ना"। उ०—(क) एकते एक रणवीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नेक अति सबल जी के।—सूर। (ख) तुरत सुरत कैसें दुरत मुरत नैन जुरि नीठ। डौंड़ी दै गुन रावरे कहै कनौड़ी दीठ।—बिहारी।

मुरपरेना‡—संज्ञा पुं० [हिं० मूड़=सिर+पारना=रखना] फेरी करके सौदा बेचनेवालों का बुकचा। सिर पर रखकर बेचने की वस्तुओं का बोझ। उ०—ऊधो बेगि मधुबन जाहु। हम बिरहीं नारि हरि बिन कौन करै निबाहु। तहीं दीजै मुरपरेना नफो तुम कछु खाहु। जो नहीं ब्रज में बिकानो नगर नारी साहु। सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु।—सूर।

मुरब्बा—संज्ञा पुं० [अ० मुरब्बः] चीनी या मिसरी आदि की चाशनी में रक्षित किया हुआ फलों या मेवों आदि का पाक जो उत्तम खाद्य पदार्थों में माना जाता है।

क्रि० प्र०—डालना।—पड़ना। बनाना।

संज्ञा पुं० [अ० मुरब्बअ] (१) ऐसा चतुष्कोण जिसके चारों भुज बराबर हों। (२) किसी अंक को उसी अंक से गुणन करने से प्राप्त फल। वर्ग।

वि० उसी अंक से गुणन द्वारा प्राप्त। वर्गीकृत। जैसे, मुरब्बा गज़।

मुरब्बी—संज्ञा पुं० [अ०] (१) पालन करनेवाला। (२) रक्षक। आश्रयदाता। (३) सहायक। मददगार।

मुरमर्दन—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु या श्रीकृष्ण। मुरारि।

मुरमुराना—क्रि० अ० [मुरमुर से अनु०] (१) ऐंठन खाकर टूट जाना। चूर चूर हो जाना। मुरमुर होना। (२) कड़ी या खरी चीज का टूटने पर शब्द करना।

मुररिपु—संज्ञा पुं० [सं०] मुर नामक दैत्य को मारनेवाले, विष्णु। मुरारि। उ०—सूर मुररिपु रंग रंगे सखि सहित गोपाल।—सूर।

मुररिया†—संज्ञा स्त्री० दे० "मुर्री"। उ०—त्रिभुवन नाथ जो भंजन लागे श्याम मुररिया दीना। चाँद सूर्य दुइ गोफा कीन्हों माँझ दीप किय तीना।—कबीर।

मुरल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक प्रकार का बाजा जिस पर चमड़ा मढ़ा हुआ होता था। (२) एक प्रकार की मछली।

मुरला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नर्मदा नदी। (२) केरल देश की काली नाम की नदी।

मुरलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुरली। बंसी। बाँसुरी। उ०—(क) अँखियनि की सुधि भूलि गई। श्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकृत नारि भई।—सूर। (ख) उर पर पदिक कुसुम बनमाला अंग धुकधुकी बिराजै। चित्रित बाहु पौंचिआँ पौंचै हाथ मुरलिका छाजै।—सूर। (ग) बन बन गाय चरावत डोलत काँध कमरिया राजै। लकुटी हाथ गरे गुँजमाला अधर मुरलिका बाजै।—सूर।

मुरलिया†—संज्ञा स्त्री० [सं० मुरलिका] मुरली। वंशी। उ०—खड़ी एक पग तप कियो सहि बहु भाँति दवागि। ताही पुन्यन मुरलिया रहत स्याम मुख लागि।—सुकवि।

विशेष—हिन्दी में शब्द के अंत में जोड़े हुए आ, वा, या आदि अक्षर कुछ विशिष्टता सूचित करते हैं; जैसे, 'हरवा' का अर्थ होगा—'हार विशेष'। इसी प्रकार मुरलिया का अर्थ भी "मुरली विशेष" होगा।

मुरली—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बाँसुरी नाम का प्रसिद्ध बाजा जो मुँह से फूँककर बजाया जाता है। वंशी।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द के साथ "वाला" या उसका कोई पर्याय लगाने से "श्रीकृष्ण" का अर्थ निकलता है।

(२) एक प्रकार का चावल जो आसाम में होता है।

मुरलीधर—संज्ञा पुं० [सं०] मुरली धारण करनेवाले, श्रीकृष्ण। उ०—गिरिधर ब्रजधर मुरलीधर धरनीधर पीतांबरधर मुकुटधर गोपधर उरगधर शंखधर शारंगधर चक्रधर गदाधर रस धरैं अधर सुधाधर।—सूर।

मुरलीमनोहर—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

मुरलीवाला—संज्ञा पुं० [सं० मुरली+हिं० वाला (प्रत्य०)] श्रीकृष्ण।

मुरवा—संज्ञा पुं० [देश०] (१) एड़ी के ऊपर की हड्डी के चारों ओर का घेरा। पैर का गिट्टा। उ०—(क) एकिन चढ़ि गुलुफन चढ़ो सुख न बचो दवाइ। सो चित चिकने जघन चढ़ि तितहिं परी बिछिलाइ।—रामसहाय। (ख) लखि प्रभु पाछे पाउँ पसारा। परसि बही मुरवन तक धारा।—

विश्राम। (ग) रह्यो ढीठ ढारस गहै ससहर गयो न सूर मुर्‍यौ न मन मुरवान चुभि भौ चूरन चपि चूर।—बिहारी।
(२) एक प्रकार की कपास जो ३–४ वर्ष तक फलती है।
†-संज्ञा पुं० दे० "मोर"।

मुरवी✻-संज्ञा स्त्री० [सं० मौर्वी] धनुष की डोरी। चिल्ला।

मुरवैरी-संज्ञा पुं० [सं० मुरवैरिन्] श्रीकृष्ण। मुरारि।

मुरव्वत-संज्ञा स्त्री० दे० "मुरौवत"।

मुरशिद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) गुरु। पथदर्शक। (२) पूज्य। (३) धूर्त्त। चालाक। उस्ताद।

मुरसुत-संज्ञा पुं० [सं०] मुर दैत्य का पुत्र वत्सासुर। उ०—मुरसुत हो प्रमोल सो जाई। गृह वसिष्ठ के देख्यो गाई।—गोपाल।

मुरस्सा-वि० [अ० मुरस्सः] जड़ा हुआ। जड़ाऊ। जटित।

मुरस्साकार-संज्ञा पुं० [अ० मुरस्सः+फ़ा०कार] गहनों में नग वा मणि जड़नेवाला। जड़िया।

मुरस्साकारी-संज्ञा स्त्री० [अ० मुरस्सः+फ़ा० कारी] गहनों में नग आदि जड़ने का काम।

मुरहा-संज्ञा पुं० [सं०] मुर को मारनेवाले, विष्णु या श्रीकृष्ण।
†-वि० [सं० मूल (नक्षत्र)+हा (प्रत्य०)] [स्त्री० मुरही] (१) (बालक) जो मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुआ हो। (ऐसा बालक माता-पिता के लिए दोषी माना जाता है।) (२) जिसके माता-पिता मर गए हों। अनाथ। यतीम। (३) नटखट। उपद्रवी। शरारती।
†-संज्ञा पुं० [हिं० मुराना] वह जो चलते हुए कोल्हू में गँडेरियाँ डालता है।

मुरहारी-संज्ञा पुं० [सं०] मुर दैत्य को मारनेवाले विष्णु या श्रीकृष्ण। उ०—थके जगत समुझाय सब निपट पुराण पुकारि। मेरे मन वे चुभि रहे मधुमर्दन मुरहारि।—केशव

मुरा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध गंधद्रव्य जिसे एकांगी या मुरामांसी भी कहते हैं। वि० दे० "एकांगी (३)"। (२) कथा सरित्सागर के अनुसार उस नाइन का नाम जिसके गर्भ से महानंद का पुत्र चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ था।

मुराड़ा-संज्ञा पुं० [देश०] जलती हुई लकड़ी। लुआठा। उ०—हम घर जारा आपना लिया मुराड़ा हाथ। अब घर जारौं तासु का जो चलै हमारे साथ।—कबीर।

मुराद-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) अभिलाषा। इच्छा। लालसा। कामना।
क्रि० प्र०—पूरी करना या होना।—हासिल होना, आदि।
मुहा०—मुराद आना=अभिलाषा पूरी होना। मुराद पाना=मनोरथ पूर्ण होना। मुराद माँगना=मनोरथ पूरा होने की प्रार्थना करना। मुराद मानना=मन्नत मानना। मनौती करना। मुरादों के दिन=युवावस्था। जवानी।
(२) अभिप्राय। आशय। मतलब।
क्रि० प्र०—रखना।—लेना।
यौ०—मुराद दावा=नालिश करने का अभिप्राय। दावा करने का मतलब या उद्देश्य।

मुरादी-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह जो कोई कामना रखता हो। अभिलाषी। आकांक्षी।

मुराना✻†-क्रि० स० [अनु० मुरमुर=चबाने का शब्द] मुँह में कोई चीज़ डालकर उसे मुलायम करना। चुभलाना। उ०—सोइ बीरी मुख मेलियो लगे मुरावन सोय। सोइ बीरी को राग मुख प्रगट लख्यो सब कोय।—रघुराज।
✻†-क्रि० स० दे० "मोड़ना"।

मुराफा-संज्ञा पुं० [अ० मुराफ़अ] छोटी अदालत में हार जाने पर बड़ी अदालत में फिर से दावा पेश करना। अपील।

मुरार-संज्ञा पुं० [सं० मृणाल] कमल की जड़। कमलनाल।
✻-संज्ञा पुं० दे० "मुरारि"।

मुरारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुर दैत्य के शत्रु, विष्णु या श्रीकृष्ण। (२) डगण के तीसरे भेद (।ऽ।) की संज्ञा। (पिंगल)

मुरारी-संज्ञा पुं० दे० "मुरारि"।

मुरारे-संज्ञा पुं० [सं०] हे मुरारि! (संबोधन) उ०—बाल-सखा की बिपत-विहंडन संकट-हरन मुरारे।—सूर।

मुरासा†-संज्ञा पुं० [हिं० मुरना, मुरका] तरकी। कर्णफूल। उ०—लसै मुरासा तिय स्रवन यौं मुकुतनि दुति पाइ। मानो परस कपोल के रहे स्वेद-कन छाइ।—बिहारी।
†संज्ञा पुं० दे० "मुँडासा"।

मुरीद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) शिष्य। चेला। (२) वह जो किसी का अनुकरण करता या उसके आज्ञानुसार चलता हो। अनुगामी। अनुयायी।

मुरु✻-संज्ञा पुं० दे० "मुर"। उ०—मुरु-सुत हो प्रमोल सो जाई। गृह वशिष्ठ के देख्यो गाई।—गोपाल।

मुरुआ†-संज्ञा पुं० [देश०] एड़ी के ऊपर का घेरा। पैर का गट्टा। उ०—जो पाँव के मुरुओं में होता है।—नूतनामृतसागर।

मुरुकुटिया†-वि० दे० "मरकट"।

मुरुख✻†-वि० दे० "मूर्ख"। उ०—दिसिटिवंत कहँ नीअरे अंध मुरुख कहँ दूरि।—जायसी।

मुरुछना✻-क्रि० अ० दे० "मुरछना"।
संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्च्छना"।

मुरुझना✻†-क्रि० अ० दे० "मुरझाना"।

मुरेठा-संज्ञा पुं० [हिं० मूड़=सिर+एठा (प्रत्य०)] (१) पगड़ी। साफ़ा।
क्रि० प्र०—बाँधना।
(२) दे० "मुरैठा"।

मुरेर-संज्ञा स्त्री० दे० "मरोड़"।

मुरेरना†-क्रि० स० दे० "मरोड़ना"।

मुरेरा†-संज्ञा पुं० (१) दे० "मुँडेरा"। (२) दे० "मरोड़"।

मुरैठा†-संज्ञा पुं० [हिं० मुरेठा] नाव की लंबाई में चारों ओर घूमी हुई गोट जो तीन चार इंच मोटे तख्तों से बनाई जाती है और "गूढ़ा" के ऊपर रहती है।

मुरौअत-संज्ञा स्त्री० दे० "मुरौवत"।

मुरौवत-संज्ञा स्त्री० [अ० मुरुव्वत] (१) शील। संकोच। लिहाज।
मुहा०—**मुरौवत तोड़ना**=रुखाई का व्यवहार करना। शील के विरुद्ध आचरण करना।
(२) भलमनसी। आदमीयत।
क्रि० प्र०—करना।—बरतना।

मुर्ग-संज्ञा पुं० दे० "मुरगा"।

मुर्गकेश-संज्ञा पुं० [फ़ा० मुर्ग+केश (चोटी)] मरसे की जाति का एक पौधा जिसमें मुरगे की चोटी के से गहरे लाल रंग के चौड़े चौड़े फूल लगते हैं। इसे जटाधारी भी कहते हैं।

मुर्गखाना-संज्ञा पुं० [फ़ा०] मुरगों के रहने के लिए बनाया हुआ स्थान।

मुर्गाबी-संज्ञा पुं० दे० "मुरगाबी"।

मुर्चा-संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मुर्तकिब-वि० [अ०] अपराध करनेवाला। अपराधी। कसूरवार। मुजरिम।

मुर्दनी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुर्दन=मरना+ई (प्रत्य०)] (१) आकृति का वह विकार जो मरने के समय अथवा मृत्यु के कारण होता है। मुख पर प्रकट होनेवाले मृत्यु के चिह्न।
मुहा०—**चेहरे पर मुर्दनी छाना या फिरना**=(१) मुख पर मृत्यु के चिह्न प्रकट होना। (२) बहुत अधिक निराश या उदास होना।
(२) शव के साथ उसकी अंत्येष्टि क्रिया के लिए जाना। मुर्दे के साथ उसे गाड़ने या जलाने के स्थान तक जाना। (३) मृतक की अंत्येष्टि क्रिया के लिए जानेवालों का समूह।
क्रि० प्र०—में जाना।

मुर्दा-संज्ञा पुं० दे० "मुरदा"।

मुर्दावली-संज्ञा स्त्री० दे० "मुर्दनी"।
वि० मृतक के संबंध का। मुरदे का।

मुर्दासिंगी-संज्ञा पुं० दे० "मुरदासंख"।

मुर्मुर-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कामदेव। (२) सूर्य के रथ के घोड़े। (३) भूसी की आग। तुषाग्नि।

मुर्रा-संज्ञा पुं० [हिं० मरोड़ या मुड़ना] (१) मरोड़फली नाम की ओषधि। इसकी लता जंगलों में होती है। (२) पेट में ऐंठन होकर पतला मल निकलना और बार बार दस्त होना। मरोड़। (३) पेट का दर्द।
संज्ञा स्त्री० [हिं० मुड़ना] हिसार और दिल्ली आदि में होनेवाली एक प्रकार की भैंस जिसके सींग छोटे, जड़ के पास पतले और ऊपर की ओर मुड़े हुए होते हैं। इस जाति की भैंसें और भैंसे दोनों बहुत अच्छे समझे जाते हैं।

मुर्रातिसार-संज्ञा पुं० दे० "मरोड़"।

मुर्री-संज्ञा स्त्री० [हिं० मुड़ना या मरोड़ना] (१) दो डोरों के सिरों को आपस में जोड़ने की एक क्रिया जिसमें गाँठ का प्रयोग नहीं होता, केवल दोनों सिरों को मिलाकर मरोड़ या बट देते हैं। (२) कपड़े आदि में लपेटकर डाली हुई ऐंठन या बल। जैसे, धोती की मुर्री।
मुहा०—**मुर्री देना**-(१) कपड़ा फाड़ते समय उसके फटे हुए अंश को बराबर घुमाते या मोड़ते जाना जिसमें कपड़ा बिलकुल सीधा फटे। (बजाज) (२) धोती को ठहराने के लिए कमर पर कई बल लपेटकर छल्ला सा बनाना।
(३) कपड़े आदि को मरोड़कर बटी हुई बत्ती।
यौ०—मुर्री का नैचा।
(४) चिकन या कशीदे की कढ़ाई का एक प्रकार जिसमें बटे हुए सूत का व्यवहार होता है और जिसका काम उभारदार होता है। (५) एक प्रकार की जंगली लकड़ी।

मुर्री का नैचा-संज्ञा पुं० [हिं० मुर्री+नैचा] एक प्रकार का नैचा जिसमें कपड़े की मुर्री या बत्ती बनाकर कसकर लपेटते जाते हैं। यह देखने में उलटी चीन ही की तरह जान पड़ती है, परंतु वस्तुतः बत्ती होती है। इस बनावट का नैचा उतना दृढ़ नहीं होता। जहाँ कपड़ा सड़ता है, वहीं से बत्ती टूटने लगती है और बराबर खुलती ही चली जाती है।

मुर्रीदार-वि० [हिं० मुर्री+फ़ा० दार (प्रत्य०)] जिसमें मुर्री पड़ी हो। ऐंठनदार।

मुर्वा-संज्ञा पुं० [सं०] मरूल या गोरचकरा नाम का जंगली पौधा जिससे प्राचीन काल में प्रत्यंचा की रस्सी बनाई जाती थी। वि० दे० "गोरचकरा"।

मुर्वी-वि० [सं०] धनुष की प्रत्यंचा।

मुर्शिद-संज्ञा पुं० [अ०] (१) सुमार्ग बतानेवाला। मार्गदर्शक। गुरु। (२) श्रेष्ठ। बड़ा। (३) उस्ताद। चतुर। चालाक। होशियार। (४) पाजी। नटखट। धूर्त। (व्यंग्य)

मुलक‡-संज्ञा पुं० दे० "मुल्क"। उ०—नव नागरि तन मुलक लहि जोबन आमिल जोर। घटि बढ़ि तें बढ़ि घटि रकम करी और की और।—बिहारी।

मुलकना*†-क्रि० अ० [सं० पुलकित ?] मंद मंद हँसना। पुलकित होना। नेत्रों में हँसी प्रकट करना। मुसकराना। उ०—(क) पर-तिय दोष पुरान सुनि हँसि मुरली सुखदानि। कसि करि राखी मिसरहू मुख आई मुसुकानि। मुख आई

मुसुकानि मिसरहू कस करि राखी। सर्व दोषहर राम नाम की कीरति भाखी। बातन ही बहराय और की और कथा किय। सुकवि चतुर सब समुझि गए लखि मुलकित पर-तिय।—सुकवि। (ख) सकुचि सरकि पिय निकट तें मुलकि कछुक तन तोरि। कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुख मोरि।—बिहारी। (ग) कवि देव कछू मुलकै पुलकै उरकै उर प्रेम कलोलनि पै।—देव।

मुलकी-वि० [अ० मुल्क] (१) दे० "मुल्की"। (२) देशी। विलायती का उलटा। उ०—पाँति सिंधु मुलकी तुरंगन के कुलकी बिसाल ऐसी पुलकी सुचाल तैसी दुलकी।—गोपाल।

मुलज़िम-वि० [अ०] जिसके ऊपर किसी प्रकार का इलजाम लगाया गया हो। जिस पर कोई अभियोग हो। अभियुक्त।

मुलतवी-वि० [अ० मुल्तवी] जो कुछ समय के लिए रोक दिया गया हो। जिसका समय टाल दिया गया हो। स्थगित। जैसे,—(क) अब आज वहाँ का जाना मुलतवी रखिए। (ख) जलसा दो दिन के लिए मुलतवी हो गया।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—रहना।—होना।

मुलतानी-वि० [हिं० मुलतान (नगर)] मुलतान का। मुलतान संबंधी।

संज्ञा स्त्री० (१) एक रागिनी जिसमें गांधार और धैवत कोमल, शुद्ध निषाद और तीव्र मध्यम लगता है। इनके अतिरिक्त तीनों स्वर शुद्ध लगते हैं। शास्त्र में इसे श्रीराग की रागिनी कहा है और हनुमत् के मत से यह दीपक राग की रागिनी है। इसके गाने का समय २१ से २४ दंड तक है। (२) एक प्रकार की बहुत कोमल और चिकनी मिट्टी जो मुलतान से आती है। इसका रंग बादामी होता है और यह प्रायः सिर मलने में साबुन की तरह काम में आती है। इससे सोनार लोग सोना भी साफ़ करते हैं और छीपी लोग इससे अनेक प्रकार के रंगों में अस्तर देते हैं। साधु आदि इससे कपड़ा रँगते हैं।

मुहा०—मुलतानी करना=छींट छापने के पहले कपड़े को मुलतानी मिट्टी में रँगना।

मुलना†-संज्ञा पुं० [अ० मौलाना] मौलवी। मुल्ला। उ०—बाम्हन ते गदहा भला आन देव तें कुत्ता। मुलना ते मुरगा भला सहर जगावे सुत्ता।—कबीर।

मुलमची-संज्ञा पुं० [हिं० मुलम्मा+ची (प्रत्य०)] किसी चीज़ पर सोने या चाँदी आदि का मुलम्मा करनेवाला। गिलट करनेवाला। मुलम्मासाज़।

मुलम्मा-वि० [अ०] (१) चमकता हुआ। (२) जिस पर सोना या चाँदी चढ़ाई गई हो। सोना या चाँदी चढ़ा हुआ।

संज्ञा पुं० (१) वह सोना या चाँदी जो पत्तर के रूप में, पारे या बिजली आदि की सहायता से, अथवा और किसी विशेष प्रक्रिया से किसी धातु पर चढ़ाया जाता है। किसी चीज़ पर चढ़ाई हुई सोने या चाँदी की पतली तह। गिलट। कलई। झोल।

विशेष—साधारणतः मुलम्मा गरम और ठंढा दो प्रकार का होता है। जो मुलम्मा कुछ विशिष्ट क्रियाओं से आग की सहायता से चढ़ाया जाता है, वह गरम कहलाता है; और जो बिजली की बैटरी से अथवा और किसी प्रकार बिना आग की सहायता के चढ़ाया जाता है, वह ठंढा मुलम्मा कहलाता है। ठंढे की अपेक्षा गरम मुलम्मा अधिक स्थायी होता है।

यौ०—मुलम्मासाज़-मुलम्मा चढ़ानेवाला। मुलमची।

(२) किसी पदार्थ, विशेषतः धातु आदि को चाँदी या सोने का दिया हुआ रूप।

क्रि० प्र०—करना।—चढ़ना।—चढ़ाना।—होना।

(३) वह बाहरी भड़कीला रूप जिसके अंदर कुछ भी न हो। ऊपरी तड़क-भड़क।

मुलम्मासाज़-संज्ञा पुं० [अ०+फ़ा०] किसी धातु पर सोना या चाँदी आदि चढ़ानेवाला। मुलम्मा करनेवाला। मुलमची।

मुलहठी†-संज्ञा स्त्री० दे० "मुलेठी"।

मुलहा†-वि० [सं० मूल=नक्षत्र+हा (प्रत्य०)] (१) जिसका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ हो। (२) उपद्रवी। शरारती। नटखट। उ०—उर में उलहे मुलहे है उरोज सरोज करैं गुनदासव के।—सुंदरीसर्वस्व।

मुलाँ†-संज्ञा पुं० [अ० मुल्ला] मौलवी। मुल्ला। उ०—आठ बाट बकरी गई माँस मुलाँ गए खाय। अजहूँ खाल खटीक के भिस्त कहाँ ते जाय।—कबीर।

मुलाक़ात-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) आपस में मिलना। एक दूसरे का मिलाप। भेंट। मिलन। (२) मेल-मिलाप। हेलमेल। रब्त-ज़ब्त। (३) प्रसंग। रति-क्रीड़ा।

मुलाक़ाती-संज्ञा पुं० [अ० मुलाक़ात+ई (प्रत्य०)] वह जिससे मुलाक़ात या जान पहचान हो। परिचित।

मुलाज़िम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) पास रहनेवाला। प्रस्तुत रहनेवाला। उपस्थित रहनेवाला। (२) नौकर। चाकर। सेवक। दास।

मुलाज़िमत-संज्ञा स्त्री० [अ०] सेवा। नौकरी। चाकरी।

मुलाम†-वि० दे० "मुलायम"।

मुलायम-वि० [अ०] (१) 'सख्त' का उलटा। जो कड़ा न हो। (२) नरम। हलका। मन्द। धीमा। ढीला। जैसे,—आजकल सोने का बाज़ार मुलायम है। (३) नाज़ुक। सुकुमार। (४) जिसमें किसी प्रकार की कठोरता या

खिंचाव आदि न हो। जैसे,—(क) उनका मुलायम स्वभाव है। (ख) ज़रा मुलायम तौलो; यह तो अभी पूरा भी नहीं हुआ।

मुहा०—मुलायम करना=किसी का क्रोध शांत करना।

यौ०—मुलायम चारा=(१) हलका भोजन। (२) वह जो सहज में दूसरों की बातों में आ जाय। (३) वह जो सहज में प्राप्त किया जा सके। (४) कोमल या सुकुमार शरीरवाला।

मुलायमत—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुलायम होने का भाव। (२) सुकुमारता। (३) नज़ाकत। कोमलता।

मुलायम रोआँ—संज्ञा पुं० [हिं० मुलायम+रोआँ] सफ़ेद और लाल रोआँ जो मुलायम होता है। (गड़रिया)

मुलायमियत—संज्ञा स्त्री० [अ० मुलायमत] (१) मुलायम होने का भाव। नर्मी। (२) नज़ाकत। कोमलता।

मुलायमी—संज्ञा स्त्री० दे० "मुलायमत"।

मुलाहज़ा—संज्ञा पुं० [अ०] (१) निरीक्षण। देख-भाल। मुआयना। (२) संकोच। (३) रिआयत।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।—होना।

मुलुक—संज्ञा पुं० दे० "मुल्क"।

मुलेठी—संज्ञा स्त्री० [सं० (मधुयष्टि) मूलयष्टी, प्रा० मूलयट्ठी] घुँघची या गुंजा नाम की लता की जड़ जो औषध के काम में आती है। जेठी मधु। मुलट्ठी।

विशेष—यह खाँसी की बहुत प्रसिद्ध और अच्छी ओषधि मानी जाती है। वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, बलकारक, नेत्रों के लिए हितकारी, वीर्यजनक तथा पित्त, वात, सूजन, विष, वमन, तृषा, ग्लानि और क्षय-रोगनाशक माना है। इसका सत्त भी तैयार किया जाता है जो काले रंग का होता है और बाज़ारों में रुब्बुसूस के नाम से मिलता है। यह साधारण जड़ की अपेक्षा अधिक गुणकारी समझा जाता है।

पर्य्या०—यष्टिमधु। क्लीतका। मधुक। यष्टिका। मधुस्तमा। मधुम। मधुवल्ली। मधूली। मधुररसा। अतिरसा। मधुरनाम। शोषापहा। सौम्या।

मुल्क—संज्ञा पुं० [अ०] (१) देश। (२) सूबा। प्रांत। प्रदेश। (३) संसार। जगत्।

मुल्कगीरी—संज्ञा स्त्री० [अ०] देश पर अधिकार प्राप्त करना। मुल्क जीतना।

मुल्की—वि० [अ०] (१) देश संबंधी। देशी। (२) शासन या व्यवस्था संबंधी।

मुल्तवी—वि० [अ०] जो रोक दिया गया हो। जिसका समय आगे बढ़ा दिया गया हो। स्थगित। वि० दे० "मुलतवी"।

मुल्ला—संज्ञा पुं० [अ०] मुसलमानों का आचार्य्य वा पुरोहित। मौलवी। वि० दे० "मौलवी"।

मुवक्किल—संज्ञा पुं० [अ०] वह जो अपने किसी काम के लिए कोई वकील नियुक्त करे। वकील करनेवाला।

मुवना*†—क्रि० अ० [सं० मृत, प्रा० मिअ या मुअ+ना (प्रत्य०)] मरना। मृत होना। उ०—(क) गइ तजि लहरैं पुरइन पाता। मुवउँ धूप सिर अहा न छाता।—जायसी। (ख) जैसे पतंग आगि धँसि लीन्ही। एक मुवै दूसर जिउ दीन्ही।—जायसी। (ग) नारि मुई, घर संपति नासी।—तुलसी।

मुवाना*‡—क्रि० स० [हिं० मुवना का स० रूप] हत्या करना। प्राण लेना। मार डालना। उ०—इक सखी मिलि हँसति पूछति खैंचि कर की ओर। तजि मुवाइ सुभखत नाहीं निरखि उनकी ओर।—सूर।

मुशज्जर—संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का छपा हुआ कपड़ा।

मुशफ़िक़—वि० [अ०] (१) कृपालु। दयालु। (२) मित्र। दोस्त। (३) तरस खानेवाला। दयावान। रहम-दिल।

मुशल—संज्ञा पुं० [सं०] धान आदि कूटने का डंडा। मूसल।

मुशली—संज्ञा पुं० [सं०] मूसल धारण करनेवाले, श्री बलदेव।

मुश्क—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) कस्तूरी। मृगमद। मृगनाभि। † (२) गंध। बू।

संज्ञा स्त्री० [देश०] कंधे और कोहनी के बीच का भाग। भुजा। बाँह।

मुहा०—मुश्कें कसना या बाँधना=(अपराधी आदि की) दोनों भुजाओं को पीठ की ओर करके बाँध देना। (इससे आदमी बेबस हो जाता है।)

मुश्कदाना—संज्ञा पुं० [फ़ा०] एक प्रकार की लता का बीज जो इलायची के दाने के समान होता है और जिसके टूटने पर कस्तूरी की सी सुगंध निकलती है। संस्कृत में इसे लता-कस्तूरी कहते हैं। वैद्यक में इसे स्वादिष्ट, वीर्यजनक, शीतल, कटु, नेत्रों के लिए हितकारी, कफ, तृषा, मुखरोग और दुर्गंध आदि का नाश करनेवाला माना है।

मुश्कनाफ़ा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] कस्तूरी का नाफ़ा जिसके अंदर कस्तूरी रहती है।

मुश्कनाभ—संज्ञा पुं० [फ़ा० मुश्क+सं० नाभ] वह मृग जिसकी नाभि में कस्तूरी होती है। कस्तूरी मृग। वि० दे० "कस्तूरीमृग"।

मुश्कबिलाई—संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुश्क+हिं० बिलाई=बिल्ली] एक प्रकार का जंगली बिलाव जिसके अंडकोशों का पसीना बहुत सुगंधित होता है। गंध बिलाव।

विशेष—अरबी में इसे ज़ुबाद और संस्कृत में गंधमार्जार कहते हैं। इसके कान गोल और छोटे होते हैं और रंग भूरा होता है। दुम काली होती है, पर उस पर सफ़ेद छल्ले पड़े रहते हैं। लंबाई प्रायः ४० इंच होती है। यह जंतु राजपूताने और पंजाब के सिवा बाकी सारे हिंदुस्थान में पाया जाता है। यह बिलों में रहता है; शिकारी होता है;

और पाला भी जा सकता है। यह चूहे, गिलहरी आदि खाकर रहता है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। जैसे, भोंडर, लकाटी इत्यादि।

मुश्कमेंहदी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मुश्क+मेंहदी] एक प्रकार का छोटा पौधा जो बागों में शोभा के लिए लगाया जाता है।

मुश्किल–वि० [अ०] कठिन। दुष्कर। दुस्साध्य।

संज्ञा स्त्री० (१) कठिनता। दिक्क़त। (२) मुसीबत। विपत्ति। संकट।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—में पड़ना।

मुहा०—मुश्किल आसान होना=संकट टलना।

मुश्की–वि० [फ़ा०] (१) कस्तूरी के रंग का। काला। श्याम। (२) जिसमें मुश्क मिला हो। जिसमें कस्तूरी पड़ी हो। जैसे, मुश्की ज़रदा।

संज्ञा पुं० वह घोड़ा जिसका सारा शरीर काला हो।

मुश्त–संज्ञा पुं० [फ़ा०] मुट्ठी।

यौ०—एकमुश्त=एक साथ। एक ही बार। (प्रायः रुपयों के लेन देन के संबंध में ही बोलते हैं।) जैसे,—उसने सब रुपए एकमुश्त दे दिये।

मुश्तहिर–वि० [अ०] जिसका इश्तहार दिया गया हो। जो प्रसिद्ध किया गया हो।

मुश्ताक़–वि० [अ०] (१) इच्छा रखनेवाला। चाहनेवाला। (२) प्रेमी। आशिक।

मुषल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूसल। (२) विश्वामित्र के पुत्र का नाम।

मुषली–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तालमूलिका। (२) छिपकली।

मुषित–वि० [सं०] (१) चुराया हुआ। मूसा हुआ। (२) ठगा हुआ। वंचित।

मुषीवन्–संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

मुषुर*†–संज्ञा स्त्री० [सं० मुखर] गूँजने का शब्द। गुंजार। उ०—हेम जलज कल कलिन मध्य जनु मधुकर मुषुर सोहाई।—तुलसी।

मुष्क–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) मोखा नाम का वृक्ष। (३) चोर। (४) ढेर। राशि।

वि० मांसल।

मुष्कक–संज्ञा पुं० [सं०] मोखा नाम का वृक्ष।

मुष्कर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंडकोष। (२) पुरुष की मूत्रेंद्रिय।

मुष्कशून्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसके अंडकोष निकाल लिए गए हों। बधिया। (२) वह जो इस क्रिया के उपरांत अन्तःपुर में काम करने के लिए नियुक्त हो।

मुष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] चोरी।

मुष्टि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुट्ठी। (२) मुक्का। घूँसा। उ०—तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार वज्र सम लागा।—तुलसी। (३) एक प्राचीन परिमाण जो किसी के मत से ३ तोले का और किसी के मत से ८ तोले का होता था। (४) चोरी। (५) दुर्भिक्ष। अकाल। (६) ऋषि नामक ओषधि। (७) मोखा नामक वृक्ष। (८) राज्य का एक नाम। (९) कंस के दरबार का एक मल्ल। मुष्टिक। उ०—कह्यो चाणूर मुष्टि सब मिलिकै जानत हौ सब जी के।—सूर। (१०) छुरे, तलवार आदि की मूँठ। बेंट।

पर्य्या०—आम्र। चतुर्थिका। प्रकुंच। षोडशी। बिल्व।

मुष्टिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राजा कंस के पहलवानों में से एक जिसे बलदेवजी ने मारा था। उ०—तहँ नृप सुत मल्ल हैं शल तोशल चानूर। मुष्टिक कूट सु पाँच ये समर सूर भरपूर।—गोपाल। (२) मुक्का। घूँसा। उ०—एक बार हनि मुष्टिक मारा। गिरा अवनि करि घोर चिकारा।—विश्राम। (३) चार अंगुल की नाप। उ०—षट तिल यव त्रै अंगुल होई। चतुरांगुल कर मुष्टिक सोई।—विश्राम। (४) मुट्ठी। (५) सुनार। (६) तांत्रिकों के अनुसार एक उपकरण जो बलिदान के योग्य होता है।

मुष्टिकांतक–संज्ञा पुं० [सं०] मुष्टिक नामक मल्ल को मारनेवाले, बलदेव।

मुष्टिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मुक्का। घूँसा। उ०—वृक्ष पाषाण को जब उहाँ नाश भयो मुष्टिका युद्ध दोऊ प्रचारी।—सूर। (२) मुट्ठी।

मुष्टिदेश–संज्ञा पुं० [सं०] धनुष का मध्य भाग जो मुट्ठी में पकड़ा जाता है।

मुष्टियुद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] वह लड़ाई जिसमें केवल मुक्कों से प्रहार किया जाय। घूँसेबाज़ी।

मुष्टियोग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की कुछ क्रियाएँ जो शरीर की रक्षा करने, बल बढ़ाने और रोग दूर करनेवाली मानी जाती हैं। (२) किसी बात का कोई छोटा और सहज उपाय।

मुष्टक–संज्ञा पुं० [सं०] सरसों।

मुसक‡–संज्ञा पुं० दे० "मुश्क"।

मुसकनि*†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुसकराना] मुसकराहट। उ०—(क) सकल सुगंध अंग भरि भोरी पिय निरतत मुसकनि मुखमोरी परिरंभन रसरोरी।—हरिदास। (ख) अटके नैन माधुरी मुसकनि अमृतवचन स्रवनन को भावत।—सूर।

मुसकनिया‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकान"। उ०—मनमोहन की तुतरी बोलन मुनि मन हरत सुहँस मुसकनियाँ।—सूर।

मुसकराना–क्रि० अ० [सं० स्मय+कृ] ऐसी आकृति बनाना जिससे जान पड़े कि हँसना चाहते हैं। ऐसी कम हँसी जिसमें न दाँत निकले, न शब्द हो। बहुत ही मन्द रूप से हँसना। होंठों में हँसना। मृदु हास। मंद हास।

मुसकराहट–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुसकराना+आहट (प्रत्य०)] मुसकराने की क्रिया या भाव। मधुर या बहुत थोड़ी हँसी। मंद हास।

मुसक्का–संज्ञा पुं० [देश०] रस्सी की बनी हुई एक प्रकार की छोटी जाली जो पशुओं, विशेषतः बैलों के मुँह पर इसीलिए बाँध दी जाती है, जिसमें वे खलिहानों या खेतों में काम करते समय कुछ खा न सकें। जाला।

मुसकान–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुसकाना–क्रि० अ० दे० "मुसकराना"।

मुसकानि–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुसकिराना–क्रि० अ० दे० "मुसकराना"।

मुसकिराहट–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुसकुराना–क्रि० अ० दे० "मुसकराना"

मुसकुराहट–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुसक्यान–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुसक्याना*†–क्रि० अ० दे० "मुसकराना"।

मुसखोरी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूस=चूहा+खोरी=खाना] खेत में चूहों की अधिकता होना। मुसहरी।

मुसजर–संज्ञा पुं० [अ० मुशज्जर] एक प्रकार का छपा कपड़ा। उ०—बादला दारयाई नौरंग साई जरकस काई झिलमिल है। ताफता कलंदर बाफताबंदर मुसजर सुंदर गिलमिल है।—सूदन।

मुसटी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूस=चूहा+टी (प्रत्य०)] चुहिया।

मुसदी†–संज्ञा स्त्री० [देश०] मिठाई बनाने का साँचा।

मुसद्दिक़ा–वि० [अ०] परताल किया हुआ। तसदीक़ किया हुआ। जाँचा हुआ।

मुसना–क्रि० अ० [सं० मूषण=चुराना] लूटा जाना। अपहृत होना। मूसा जाना। चुराया जाना। (धन आदि)

मुहा०—घर मुसना=घर में चोरी होना।

मुसन्ना–संज्ञा पुं० [अ०] (१) किसी असल काग़ज़ की दूसरी नकल जो मिलान आदि के लिए रखी जाती है। (२) रसीद आदि का वह आधा और दूसरा भाग जो रसीद देनेवाले के पास रह जाता है।

मुसन्निफ़–संज्ञा पुं० [अ०] पुस्तक बनानेवाला। ग्रन्थकर्त्ता, रचयिता।

मुसब्बर–संज्ञा पुं० [अ०] कुछ विशिष्ट क्रियाओं से सुखाया और जमाया हुआ घीकुवाँर का दूध या रस जिसका व्यवहार औषधि के रूप में होता है। इसका उपयोग अधिकतर रेचन के लिए या चोट आदि लगने पर मालिश और सेंक आदि करने में होता है। यह प्रायः जंजीबार, नेटाल तथा भूमध्य सागर के आस पास के प्रदेशों से आता है। वैद्यक में इसे चरपरा, शीतल, दस्तावर, पारे को शोधनेवाला तथा शूल, कफ, वात, कृमि और गुल्म को दूर करनेवाला माना है। एलुआ।

मुसमर–संज्ञा पुं० [हिं० मूस=चूहा+मारना] एक प्रकार की चिड़िया जो खेत के चूहों को पकड़कर खाती है।

मुसमरवा†–संज्ञा पुं० [हिं० मूस+मारना] (१) मुसमर चिड़िया। (२) एक नीच जाति जो चूहे खाती है। मुसहर।

मुसमुंद*†–वि० [देश०] ध्वस्त। नष्ट। बरबाद। उ०—पुरद्वार रुकि ठाढौ बली सबै दुग्ग मुसमुंद किय।—सूदन।

संज्ञा पुं० नाश। ध्वंस। बरबादी।

मुसमुंध*†–संज्ञा पुं० दे० "मुसमुंद"। उ०—दिस धुँधरी चकचुँधरी मुसमुँधरी सुवसुँधरी।—सूदन।

मुसम्मा–वि० पुं० [अ०] [स्त्री० मुसम्मात] जिसका नाम रखा गया हो। नामक। नामी। नामधारी।

मुसम्मात–वि० [अ० मुसम्मा का स्त्री० रूप] मुसम्मा शब्द का स्त्रीलिंग रूप। नाम्नी। नामधारिणी।

संज्ञा स्त्री० स्त्री। औरत।

मुसरा†–संज्ञा पुं० [हिं० मूसल] पेड़ की वह जड़ जिसमें एक ही मोटा पिंड धरती के अंदर दूर तक चला जाय और इधर उधर शाखाएँ न हों। जैसे, मूली, सेमल आदि की जड़। 'झगरा' का उलटा।

मुसरिया†–संज्ञा स्त्री० [देश०] काँच की चूड़ियाँ बनाने का साँचा।

†संज्ञा स्त्री० [हिं० मूस] चूहे का बच्चा। मुसटी।

संज्ञा स्त्री० दे० "मुसरा"।

मुसल–संज्ञा पुं० दे० "मूसल"।

मुसलधार–क्रि० वि० दे० "मूसलधार"। उ०—भले नाथ नाइ माथ चले पाथप्रदनाथ बरषैं मुसलधार बार बार घोरि कै।—तुलसी।

मुसलमान–संज्ञा पुं० [फ़ा०][स्त्री० मुसलमानी] वह जो मुहम्मद साहब के चलाए हुए संप्रदाय में हो। मुहम्मद साहब का अनुयायी और इस्लाम धर्म्म को माननेवाला। मुहम्मदी। उ०—हिंदू में क्या और है मुसलमान में और। साहब सब का एक है ब्याप रहा सब ठौर।—रसनिधि।

मुसलमानी–वि० [फ़ा०] मुसलमान संबंधी। मुसलमान का। जैसे, मुसलमानी मज़हब।

संज्ञा स्त्री० मुसलमानों की एक रसम जिसमें छोटे बालक की इंद्री पर का कुछ चमड़ा काट डाला जाता है। बिना यह रसम हुए वह पक्का मुसलमान नहीं समझा जाता। सुन्नत।

मुसली–संज्ञा पुं० दे० "मुशली"।

संज्ञा स्त्री० [सं० मुषली] हलदी की जाति का एक पौधा जिसकी जड़ें औषध के काम में आती हैं और बहुत पुष्टिकारक मानी जाती हैं। यह पौधा सीड़ की ज़मीन में उगता

है। विलासपुर ज़िले में, विशेषत: अमरकंटक पहाड़ पर यह बहुत होता है।

मुसल्लम–वि० [फ़ा०] जिसके खंड न किए गए हों। साबुत। पूरा। अखंड। जैसे,—यह गाँव मुसल्लम उन्हीं का है।
संज्ञा पुं० दे० "मुसलमान"। उ०—हिंदू एकादशि चौबिस रोजा मुसल्लम तीस बनाये।—कबीर।

मुसल्ला–संज्ञा पुं० [अ०] [स्त्री० अल्पा० मुसल्ली] (१) नमाज़ पढ़ने की दरी या चटाई। (२) एक प्रकार का बरतन जो बड़े दिए के आकार का होता है। यह बीच में उभरा हुआ होता है। इसमें मुहर्रम में चढ़ौआ चढ़ाया जाता है।
संज्ञा पुं० दे० "मुसलमान"।

मुसवाना–क्रि० स० [हिं० मूसना का प्रेर० रूप] (१) लुटवाना। (२) चोरी कराना।

मुसव्विर–संज्ञा पुं० [अ०] (१) चित्रकार। तसवीर खींचनेवाला। (२) बेल-बूटे बनानेवाला।

मुसव्विरी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) चित्रकारी। (२) नक्काशी। बेल-बूटे का काम।

मुसहर–संज्ञा पुं० [हिं० मूस=चूहा+हर (प्रत्य०)] एक प्रकार की जंगली जाति जिसका व्यवसाय जंगली जड़ी बूटी आदि बेचना है। कहते हैं कि इस जाति के लोग प्राय: चूहे तक मारकर खाते हैं; इसी से मुसहर कहलाते हैं। आजकल यह जाति गाँवों और नगरों के आस-पास बस गई है और दोने, पत्तल बनाने तथा पालकी आदि उठाने का काम करती है।

मुसहिल–वि० [अ०] वह दवा जिससे दस्त आवें। दस्तावर। रेचक। (ऐसी दवा प्राय: जुलाब से एक दिन पहले खाई जाती है।)
संज्ञा पुं० जुलाब।

मुसाफिर–संज्ञा पुं० [अ०] यात्री। राहगीर। बटोही। पथिक।

मुसाफिरखाना–संज्ञा पुं० [अ० मुसाफिर+फ़ा० खाना] (१) यात्रियों के विशेषत: रेल के यात्रियों के ठहरने के लिए बना हुआ स्थान। (२) धर्म्मशाला। सराय।

मुसाफ़िरत–संज्ञा स्त्री० [अ०] मुसाफ़िर होने की दशा। मुसाफिरी। प्रवास।

मुसाफिरी–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मुसाफिर होने की दशा। (२) यात्रा। प्रवास।

मुसाहब–संज्ञा पुं० [अ०] वह जो किसी धनवान् या राजा आदि के समीप उसका मन बहलाने अथवा इसी प्रकार के और कामों के लिए रहता है। पार्श्ववर्त्ती। सहवासी।

मुसाहबत–संज्ञा स्त्री० [अ०] मुसाहब का पद या काम।

मुसाहबी–संज्ञा स्त्री० [अ० मुसाहब+ई (प्रत्य०)] मुसाहब का पद या काम।

मुसीका†–संज्ञा पुं० दे० "मुसका"।

मुसीबत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) तकलीफ़। कष्ट। (२) विपत्ति। संकट।
क्रि० प्र०—उठाना।—झेलना।—भोगना।—सहना।

मुसुकाहट*–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुस्किल–वि० दे० "मुश्किल"।

मुस्की–संज्ञा स्त्री० दे० मुसकराहट"।
वि० दे० "मुश्की"।

मुस्क्यान*†–संज्ञा स्त्री० दे० "मुसकराहट"।

मुस्टंडा–वि० [सं० पुष्ट] (१) मोटा-ताज़ा। हृष्ट-पुष्ट। (२) बदमाश। गुंडा। लुच्चा। शोहदा।

मुस्त–संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा।

मुस्तक–संज्ञा पुं० [सं०] नागरमोथा। मोथा।

मुस्तक़िल–वि० [अ०] (१) अटल। स्थिर। (२) पक्का। मज़बूत। दृढ़।

मुस्तग़ीस–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जो किसी प्रकार का इस्तगासा या अभियोग उपस्थित करे। फरियादी। (२) मुद्दई। दावेदार।

मुस्तनद–वि० [अ०] जो सनद के तौर पर माना जाय। विश्वास करने के योग्य। प्रामाणिक।

मुस्तशना–वि० [अ०] (१) अलग किया हुआ। छाँटा हुआ। भिन्न। (२) जो अपवाद स्वरूप हो। (३) उससे मुक्त किया हुआ, जिसका पालन औरों के लिए आवश्यक हो। बरी किया हुआ।

मुस्तहक़–वि० [अ०] (१) हकदार। अधिकारी। (२) योग्य। पात्र।

मुस्ताद–संज्ञा पुं० [सं०] जंगली सूअर (जो मोथे की जड़ खाता है)।

मुस्तैद–वि० [अ० मुस्तअद] (१) जो किसी कार्य्य के लिए तत्पर हो। सन्नद्ध। (२) चुस्त। चालाक। तेज।

मुस्तैदी–संज्ञा स्त्री० [अ० मुस्तअद+ई (प्रत्य०)] (१) सन्नद्धता। तत्परता। (२) फुरती। उत्साह।

मुस्तौफ़ी–संज्ञा पुं० [अ०] वह पदाधिकारी जो अपने अधीनस्थ कर्म्मचारियों के हिसाब की जाँच-पड़ताल करे। आय-व्यय-परीक्षक। उ०—वासिल-बाकी स्याहा मुजलिम सब अधर्म की बाकी। चित्रगुप्त होते मुस्तौफी शरण गहूँ मैं काकी।—सूर

मुहकम–वि० [अ०] दृढ़। पक्का। उ०—सूर पाप को गढ़ दृढ़ कीन्हो मुहकम लाइ किंवारे।—सूर।

मुहकमा–संज्ञा पुं० [अ०] सरिश्ता। विभाग। सीगा।

मुहतमिम–संज्ञा पुं० [अ०] बंदोबस्त करनेवाला। इंतज़ाम करनेवाला। निगरानी करनेवाला। प्रबंधक। व्यवस्थापक।

मुहतरका–संज्ञा पुं० [?] वह कर जो व्यापार, वाणिज्य आदि पर लगाया जाय।

मुहताज-वि० [अ०] (१) जिसे किसी ऐसे पदार्थ की बहुत अधिक आवश्यकता हो जो उसके पास बिलकुल न हो। जैसे, दाने दाने को मुहताज। (२) दरिद्र। गरीब। कंगाल। निर्धन। (३) निर्भर। आश्रित। (४) चाहनेवाला। आकांक्षी। जैसे,—हम तुम्हारे रुपए के मुहताज नहीं।

मुहबनी-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार का फल जो नारंगी की तरह का होता है।

मुहब्बत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रीति। प्रेम। प्यार। चाह।

मुहा०—मुहब्बत उछलना=प्रेम का आवेश होना।

(२) दोस्ती। मित्रता। (३) इश्क। लगन। लौ।

क्रि० प्र०—करना।—रखना।

मुहम्मद-संज्ञा पुं० [अ०] अरब के एक प्रसिद्ध धर्म्माचार्य्य जिन्होंने इस्लाम या मुसलमानी धर्म्म का प्रवर्त्तन किया था। इनका जन्म मक्के में सन् ५७० ई० के लगभग और मृत्यु मदीने में सन् ६३२ ई० में हुई थी। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला और माता का अमीना था। इन्होंने अपने जीवन के आरंभिक काल में ही यहूदियों और ईसाइयों की बहुत सी धार्म्मिक बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसी समय से ये स्वतंत्र रूप से अपना एक धर्म्म चलाने की चिंता में थे और उसी उद्देश्य से लोगों को कुछ उपदेश भी देने लगे थे। प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में इन्होंने यह प्रसिद्ध किया था कि ईश्वर ने मुझे इस संसार में अपना पैगंबर (दूत) बनाकर धर्म्म-प्रचार करने के लिए भेजा है। इसके उपरांत इन्होंने कुरान की रचना की; और उसके संबंध में यह प्रसिद्ध किया कि इसकी सब बातें खुदा अपने फरिश्ते जिब्राईल के द्वारा समय समय पर मुझसे कहलाता रहा है। धीरे धीरे कुछ लोग इनके अनुयायी हो गए। पर बहुत से लोग इनके विरोधी भी थे, जिनसे समय समय पर इन्हें युद्ध करना पड़ता था। यह भी प्रसिद्ध है कि ये एक बार सदेह स्वर्ग गये थे और वहाँ ईश्वर से मिले थे। अरबवालों ने कई बार इनके प्राण लेने की चेष्टा की थी; पर ये किसी न किसी प्रकार बराबर बचते ही गए। ये मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी और एकेश्वरवाद के प्रचारक थे। अपने आपको ये पैगंबर या ईश्वरीय दूत बतलाते थे। इन्होंने कई विवाह भी किए थे। ये जैसे उदार और कृपालु थे, वैसे ही कट्टर और निर्दय भी थे।

मुहम्मदी-संज्ञा पुं० [अ०] मुहम्मद साहब का अनुयायी। मुसलमान।

मुहय्या-वि० दे० "मुहैया"।

मुहर-संज्ञा स्त्री० दे० "मोहर"।

मुहरा-संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+रा (प्रत्य०)] (१) सामने का भाग। आगा। सिरा। सामना।

मुहा०—मुहरा लेना=मुकाबिला करना। सामने होकर लड़ना।

(२) निशाना। (३) मुँह की आकृति।

यौ०—चेहरा मोहरा।

(४) शतरंज की कोई गोटी। उ०—घोड़ा दै फ़रजी बदलावा। जेहि मुहरा रुख चहै सो पावा।—जायसी। (५) पच्ची घोटने का शीशा। (६) घोड़े का एक साज जो उसके मुँह पर पहनाया जाता है। उ०—अनुपम सुछबि मुहरो लगाम ललाम दुमची जीन की।—रघुराज।

मुहरी-संज्ञा स्त्री० (१) दे० "मोरी"। (२) दे० "मोहरी"।

मुहर्रम-संज्ञा पुं० [अ०] अरबी वर्ष का पहला महीना। इसी महीने में इमाम हुसेन शहीद हुए थे। मुसलमानों में यह महीना शोक का माना जाता है।

मुहा०—मुहर्रमी सूरत=रोनी सूरत। मनहूस सूरत। मुहर्रम की पैदाइश होना=मनहूस होना। सदा दुःखी और चिंतित रहना।

मुहर्रमी-वि० [अ० मुहर्रम+ई (प्रत्य०)] (१) मुहर्रम संबंधी। मुहर्रम का। (२) शोक-व्यंजक। (३) मनहूस।

यौ०—मुहर्रमी सूरत=रोनी सूरत। मनहूस सूरत।

मुहर्रिर-संज्ञा पुं० [अ०] लेखक। मुंशी। उ०—पाँच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बड़ी विपरीत। जिम्मे उनके, माँगै मोंते यह तो बड़ी अनीत।—सूर।

मुहर्रिरी-संज्ञा स्त्री० [अ०] मुहर्रिर का काम। लिखने का काम।

मुहलत-संज्ञा स्त्री० दे० "मोहलत"।

मुहलेठी-संज्ञा स्त्री० दे० "मुलेठी"।

मुहल्ला-संज्ञा पुं० दे० "महल्ला"।

मुहसिन-वि० [अ०] एहसान करनेवाला। अनुग्रह करनेवाला।

मुहसिल-वि० [अ० मुहासिल] तहसील वसूल करनेवाला। उगाहनेवाला।

संज्ञा पुं० प्यादा। फेरीदार। उ०—मैं न दियो, मन उन लियो, मुहसिल नैन पठाय।—रसनिधि।

मुहाफ़िज़-वि० [अ०] हिफ़ाजत करनेवाला। संरक्षक। रखवाला।

मुहाफ़िज़ख़ाना- संज्ञा पुं० [अ०+फ़ा०] कचहरी में वह स्थान जहाँ सब प्रकार की मिसलें आदि रहती हैं।

मुहाफ़िज़ दफ़्तर-संज्ञा पुं० [अ०] कचहरी का वह अधिकारी जिसके निरीक्षण में मुहाफ़िज़ख़ाना रहता है।

मुहाल-वि० [अ०] (१) असंभव। ना-मुमकिन। (२) कठिन। दुष्कर। दुःसाध्य।

संज्ञा पुं० (१) दे० "महाल"। (२) दे० "महला"।

मुहाला-संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+आला (प्रत्य०)] पीतल का वह बंद या चूड़ी जो हाथी के दाँत में शोभा के लिए चढ़ाई जाती है। उ०—बारन बदन सदंत बिराजहिं हाटक बँधे

मुहाके। मनहुँ द्वैज शशि श्याम मेघ मधि उभय नोक छबि माले।—रघुराज।

मुहावरा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली या लिखी जानेवाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो। किसी एक भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग। जैसे, "लाठी खाना" मुहावरा है; क्योंकि इसमें "खाना" शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज़ नहीं है, पर बोल-चाल में "लाठी खाना" का अर्थ "लाठी का प्रहार सहना" लिया जाता है। इसी प्रकार "गुल खिलाना", "घर करना", "चमड़ा खींचना", "चिकनी चुपड़ी बातें" आदि मुहावरे के अंतर्गत हैं। कुछ लोग इसे "रोजमर्रा" या "बोलचाल" भी कहते हैं। (२) अभ्यास। आदत। जैसे,—आजकल मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया है।

क्रि० प्र०—छूटना।—डालना।—पड़ना।

मुहासिब–संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब जाननेवाला। गणितज्ञ। (२) पड़ताल करनेवाला। आँकनेवाला। हिसाब लेनेवाला। उ०—सूर आप गुजरान मुहासिब लै जवाब पहुँचावै—सूर।

मुहासिबा–संज्ञा पुं० [अ०] (१) हिसाब। लेखा। उ०—सूरदास को यह मुहासिबा दस्तक कीजै माफ।—सूर। (२) पूछ-ताछ।

मुहासिरा–संज्ञा पुं० [अ०] युद्ध आदि के समय किले या शत्रु-सेना को चारों ओर से घेरने का काम। घेरा।

मुहासिल–संज्ञा पुं० [अ०](१) आय। आमदनी। (२) लाभ। मुनाफ़ा। नफ़ा। (३) बिक्री आदि से होनेवाली आय।

मुहिं*–सर्व० दे० "मोहिं"।

मुहिब्ब–संज्ञा पुं० [अ०] प्रेम रखनेवाला। दोस्ती रखनेवाला। दोस्त। मित्र

मुहिम–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) कोई कठिन या बड़ा काम। भारी, मारके का या जान जोखों का काम। (२) लड़ाई। युद्ध। समर। जंग। (३) फौज की चढ़ाई। आक्रमण। उ०—आये तेरे दृगन पै जे मुहीम अख़त्यार। कितेक मनसूबा गये इन सौं ज़ुरके हार।—रसनिधि।

मुहिर–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

वि० मूर्ख। जड़बुद्धि।

मुहीम–संज्ञा स्त्री० दे० "मुहिम"।

मुहुः–अव्य [सं०] बार बार। फिर फिर।

यौ०—मुहुर्मुहुः।

मुहुपुर्ची–संज्ञा स्त्री० [देश०] काले रंग का एक प्रकार का छोटा कीड़ा जो मूँगफली की फसल को नष्ट कर देता है। ये कीड़े रात को अधिक उड़ते हैं। ये पत्तियों पर अंडे देते हैं जिससे पत्तियाँ सूख जाती हैं। ये कीड़े धूप और साफ दिनों में बहुत हानि पहुँचाते हैं। इनसे खेत के खेत की फसल काली हो जाती है। पानी बरसने पर ये नष्ट हो जाते हैं। खुरल।

मुहूर्त–संज्ञा पुं० [सं०] (१) काल का एक मान। दिन रात का तीसवाँ भाग। (२) निर्दिष्ट क्षण या काल। समय। जैसे, शुभ मुहूर्त। (३) फलित ज्योतिष के अनुसार गणना करके निकाला हुआ कोई समय जिस पर कोई शुभ काम (यात्रा, विवाह) आदि किया जाय।

क्रि० प्र०—निकलना।—निकालना।—देखना।—दिखलाना।

मूँग–संज्ञा स्त्री० पुं० [सं० मुद्ग] एक अन्न जिसकी दाल बनती है।

विशेष—मूँग भादों में प्रायः साँवाँ आदि और अन्नों के साथ बोई जाती है और अगहन में कटती है। इसके पौधे की टहनियाँ लता के रूप में इधर उधर फैली होती हैं। एक एक सींके में सेम की तरह तीन तीन पत्तियाँ होती हैं। फूल नीले या बैंगनी होते हैं। फलियाँ ढाई तीन अंगुल की पतली पतली होती हैं और गुच्छों में लगती हैं। फलियों के भीतर ५-६ लंबे गोल दाने होते हैं, जिनके मुँह पर की बिंदी उर्द की तरह स्पष्ट नहीं होती। मूँग के लिए बलुई मिट्टी और थोड़ी वर्षा चाहिए। मूँग कई प्रकार की होती है—हरी, काली, पीली। हरी या पीली मूँग अच्छी समझी जाती है और सोना मूँग कहलाती है। वैद्यक में मूँग रूखी, लघु, धारक, कफघ्न, पित्तनाशक, कुछ वायुवर्द्धक, नेत्रों के लिए हितकर और ज्वरनाशक कही गई है। बनमूँग के भी प्रायः यही गुण हैं। मूँग की दाल बहुत हलकी और पथ्य समझी जाती है; इसी से रोगियों को प्रायः दी जाती है। इससे बड़ी, पापड़, लड्डू आदि भी बनते हैं।

पर्य्या०—सूपश्रेष्ठ। वर्णार्ह। रसोत्तम। भुक्तिप्रद। हयानंद। सुफल। वाजिभोजन।

मुहा०—छाती पर मूँग दलना=दे० "छाती"। मूँग की दाल खानेवाला=पुरुषार्थ-हीन। निर्बल। डरपोक।

मूँगफली–संज्ञा स्त्री० [हिं० मूँग+फली] (१) एक प्रकार का क्षुप जिसकी खेती फलों के लिए प्रायः सारे भारत में की जाती है। यह क्षुप तीन चार फुट तक ऊँचा होकर पृथ्वी पर चारों ओर फैल जाता है। इसके डंठल रोएँदार होते हैं और सींकों पर दो दो जोड़े पत्ते होते हैं, जो आकार में चकवँड़ के पत्तों के समान अंडाकार, पर कुछ लंबाई लिए होते हैं। सूर्यास्त होने पर इसके पत्तों के जोड़े आपस में मिल जाते हैं और सूर्योदय होने पर फिर अलग हो जाते हैं। इसमें अरहर के फूलों के से चमकीले पीले रंग के २-३ फूल एक साथ और एक जगह लगते हैं। इसकी जड़ में

मिट्टी के अंदर फल लगते हैं जिनके ऊपर कड़ा और खुरदुरा छिलका होता है तथा अंदर गोल, कुछ लंबोतरा और पतले लाल छिलकेवाला फल होता है, जो रूप-रंग तथा स्वाद आदि में बादाम से बहुत कुछ मिलता जुलता होता है। इसी कारण इसे चिनिया बादाम भी कहते हैं।

फागुन के आरंभ में ही ज़मीन को अच्छी तरह जोतकर दो दो फुट की दूरी पर छः छः इंच के गड्ढे बनाकर इसके बीज बो देते हैं; और यदि एक सप्ताह में बीज अंकुरित नहीं होता, तो कुछ सिंचाई करते हैं। आश्विन कार्त्तिक में पीले रंग के फूल लगते हैं जो मटर के फूलों के समान होते हैं। इसके डंठलों की गाँठों में से जो सोरें निकलती हैं, वही जमीन के अंदर जाकर फल बन जाती हैं। इस फल के पक जाने पर मिट्टी खोदकर उन्हें निकाल लेते हैं और धूप में सुखाकर काम में लाते हैं। ये फल या तो साधारणतः यों ही अथवा ऊपरी छिलकों समेत भाड़ में भूनकर खाए जाते हैं। इनसे तेल भी निकाला जाता है जो खाने तथा दूसरे अनेक कामों में आता है। यह तेल ज़ैतून के तेल की तरह का होता है और प्रायः उसके स्थान में काम आता है। वैद्यक में इसका फल मधुर, स्निग्ध, वात तथा कफकारक और कोष्ठ को बद्ध करनेवाला माना जाता है; और किसी किसी के मत से गरम है और मस्तक तथा वीर्य्य में गरमी उत्पन्न करनेवाला है। (२) इस क्षुप का फल। चिनिया बादाम। विलायती मूँग।

पर्य्या०—भूचणक। भूशिंबिका।

मूँगा-संज्ञा पुं० [हिं० मूँग] (१) समुद्र में रहनेवाले एक प्रकार के कृमियों के समूह-पिंड की लाल ठठरी जिसकी गुरिया बनाकर पहनते हैं। इसकी गिनती रत्नों में की जाती है।

विशेष—समुद्र-तल में एक प्रकार के कृमि खोलड़ी की तरह का घर बनाकर एक दूसरे से लगे हुए जमते चले जाते हैं। ये कृमि अचर जीवों में हैं। ज्यों ज्यों इनकी वंशवृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों इनका समूह-पिंड थूहर के पेड़ के आकार में बढ़ता चला जाता है। सुमात्रा और जावा के आस पास प्रशांत महासागर में समुद्र के तल में ऐसे समूह-पिंड हज़ारों मील तक खड़े मिलते हैं। इनकी वृद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है। इनके समूह एक दूसरे के ऊपर पटते चले जाते हैं जिससे समुद्र की सतह पर एक खासा टापू निकल आता है। ऐसे टापू प्रशांत महासागर में बहुत से हैं जो 'प्रवाल-द्वीप' कहलाते हैं। मूँगे की केवल गुरिया ही नहीं बनती; छड़ी, कुरसी आदि बड़ी बड़ी चीज़ें भी बनती हैं। आभूषण के रूप में मूँगे का व्यवहार भी मोती के समान बहुत दिनों से है। मोती और मूँगे का नाम प्रायः साथ साथ लिया जाता है। रत्न-परीक्षा की पुस्तकों में मूँगे का भी वर्णन रहता है। साधारणतः मूँगे का दाना जितना ही बड़ा होता है, उतना अधिक उसका मूल्य भी होता है। कवि लोग बहुत पुराने समय से ओठों की उपमा मूँगे से देते आए हैं।

पर्य्या०—प्रवाल। विद्रुम।

(२) एक प्रकार का रेशम का कीड़ा जो आसाम में होता है।

संज्ञा स्त्री० एक प्रकार का गन्ना जिसके रस का गुड़ अच्छा होता है।

मूँगिया-वि० [हिं० मूँग+इया (प्रत्य०)] मूँग का सा। मूँग के रंग का। हरे रंग का।

संज्ञा पुं० (१) एक प्रकार का अमौआ रंग जो मूँग का सा हरा होता है। (२) एक प्रकार का धारीदार चारखाना।

मूँछ-संज्ञा स्त्री० [सं० श्मश्रु, प्रा० मस्सु से मच्छु] ऊपरी ओंठ के ऊपर के बाल जो केवल पुरुषों के उगते हैं। ये बाल पुरुषत्व का विशेष चिह्न माने जाते हैं।

विशेष—'मूँछों पर हाथ फेरना' हिन्दुओं में बहुत दिनों से वीरता की अकड़ दिखाने का संकेत माना जाता है। रणक्षेत्र में वीर लोग मूँछों पर ताव देते हुए चढ़ाई करते कहे जाते हैं। किसी कठिन काम में सफलता होने पर भी लोग मूँछों पर ताव देते हैं। पृथ्वीराज के चाचा कराह के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी आँखों पर दरबार में सदा पट्टी बँधी रहती थी; क्योंकि जिस किसी का हाथ वे मूँछों पर जाते देखते थे, उसका सिर उड़ा देते थे।

मुहा०—**मूँछें उखाड़ना**=कठिन दंड देना। घमंड चूर करना। (गाली)। **मूँछों पर ताव देना**=अभिमान से मूँछ मरोड़ना। वीरता की अकड़ दिखाना। **मूँछें नीची होना**=(१)लज्जित होना। घमंड टूट जाना। (२) अप्रतिष्ठा होना। बेइज्जती होना। **मूँछों पर हाथ फेरना**=दे० "मूँछों पर ताव देना"। **मूँछों का कूँडा करना**=एक मुसलमानी रस्म जो बेटे के मूँछें निकलने पर होती है।

मूँछी-संज्ञा स्त्री० [देश०] बेसन की बनी हुई एक प्रकार की कढ़ी जिसमें बेसन के सेव या पकौड़ियाँ आदि पड़ी होती हैं। सेव या पकौड़ियों की कढ़ी।

मूँज-संज्ञा स्त्री० [सं० मुञ्ज] एक प्रकार का तृण जिसमें डंठल या टहनियाँ नहीं होतीं; जड़ से बहुत ही पतली (जौ भर से कम चौड़ी) दो दो हाथ लंबी पत्तियाँ चारों ओर निकली रहती हैं। ये पत्तियाँ बहुत घनी निकलती हैं जिससे पौधा बहुत सा स्थान घेरता है। पत्तियों के मध्य में एक सूत्र यहाँ से वहाँ तक रहता है। पौधे के बीचोबीच से एक सीधा कांड पतली छड़ के रूप में ऊपर निकलता है जिसके सिरे पर मंजरी या घूए के रूप में फूल लगते हैं। सरकंडे से इसमें यह भेद होता है कि इसमें गाँठें नहीं होतीं और

छाल बड़ी चमकीली तथा चिकनी होती है । सींक से यह छाल उतारकर बहुत सुंदर सुंदर डलियाँ बुनी जाती हैं । मूँज प्रायः ऊँचे ढालुएँ स्थानों पर बगीचे की बाढ़ों या ऊँची मेड़ों पर लगाई जाती है । मूँज बहुत पवित्र मानी जाती है । ब्राह्मणों के उपनयन संस्कार के समय वटु को मुंजमेखला (मूँज की करधनी) पहनाने का विधान है ।

पर्य्या०—मौंजीतृण । ब्राह्मण्य । तेजनाह्वय । वानीरक । मुंजनक । शीरी । दर्भाह्वय । दूरमूल । दृढमूल । वटुप्रज । रंजन । शत्रुभंग ।

मूँड़†–संज्ञा पुं० [सं० मुंड] सिर । कपाल । उ०—(क) तुलसी की बाजी राखी राम ही के नाम, नत भेंट पितरन को न मूँड़ हू में बारु है ।—तुलसी ।

मुहा०—**मूँड़ चढ़ना**=ढिठाई करना । सिर चढ़ना । **मूँड़ चढ़ाना**=ढीठ करना । निडर कर देना । सिर चढ़ाना । **मूँड़ मारना**=बहुत हैरान होना । बहुत कोशिश करना । उ०—मूँड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो ।—तुलसी । **मूँड़ मुड़ाना**=संन्यासी होना । वि० दे० "सिर" ।

मूँड़कटा–संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़+काटना] दूसरे का सिर काटनेवाला । दूसरे की हानि करनेवाला । धोखा देकर दूसरे को नुक़सान पहुँचानेवाला ।

मूँड़न–संज्ञा पुं० [सं० मुंडन] मुंडन जिसमें बालक के बाल पहले पहल मुँड़ाए जाते हैं । चूड़ाकरण संस्कार ।

मूँड़ना–क्रि० स० [सं० मुंडन] (१) सिर के बाल बनाना । हजामत करना । (२) धोखा देकर माल उड़ाना । ठगना । जैसे,—उसने १०) तुमसे मूँड़ लिए । (३) भेड़ों के शरीर पर से ऊन कतरना । (४) चेला बनाना । दीक्षित करना । जैसे, चेला मूँड़ना ।

मूँड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० मुंड] (१) सिर । मस्तक ।

मुहा०—**मूँड़ी काटे**=स्त्रियों की बोलचाल में पुरुषों के लिए एक गाली । **मूँड़ी मरोड़ना**=(१) गला दबाकर मार डालना । (२) धोखा देकर हानि पहुँचाना ।

(२) किसी वस्तु का शिरोभाग (जो मूँड़ के आकार का हो) ।

मूँड़ीबंध–संज्ञा पुं० [हिं० मूँड़ी+बंध] कुश्ती का एक पेंच जिसमें एक पहलवान दूसरे की पीठ पर चढ़कर उसकी बगलों के नीचे से अपने हाथ ले जाकर उसकी गर्दन दबाता है ।

मूँदना–क्रि० स० [सं० मुद्रण] (१) ऊपर से कोई वस्तु डाल या फैलाकर किसी वस्तु को छिपाना । आच्छादित करना । बंद करना । ढाँकना । जैसे, आँख मूँदना । उ०—मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ।—तुलसी । (२) छेद, द्वार, मुँह आदि पर कोई वस्तु फैला या रखकर उसे बंद करना । खुला न रहने देना । जैसे, नाक कान मूँदना, छेद मूँदना, खिड़की मूँदना, घड़े का मुँह मूँदना ।

क्रि० प्र०—देना ।—लेना ।

मूक–वि० [सं०] (१) जिसके मुँह से अलग अलग वर्ण न निकल सकते हों । गूँगा । अवाक् । उ०—मूक होइ बाचालु पंगु चढ़ै गिरिबर गहन ।—तुलसी ।

विशेष—सुश्रुत ने लिखा है कि गर्भवती को जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, उसके न मिलने से वायु कुपित होता है और गर्भस्थ शिशु कुबड़ा, गूँगा इत्यादि होता है ।

(२) दीन । विवश । लाचार ।

संज्ञा पुं० (१) दैत्य । दानव । (२) तक्षक के एक पुत्र का नाम ।

मूकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] गूँगापन ।

मूकना*†–क्रि० स० [सं० मुक्त] (१) दूर करना । अलग करना । छोड़ना । त्यागना । उ०—(क) पाल्यो तेरे टूक को परेहू चूक मूकिये न कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिये ।—तुलसी । (ख) अब जोर जरा जरि गात गयो मन मानि गलानि कुबानि न मूकी ।—तुलसी । (२) बंधन खोलना । बंधन हटाना । (३) बंधन खोलकर मुक्त करना । बंधन से छुड़ाना ।

मूकांबिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा का एक नाम । (२) एक प्राचीन नगरी का नाम ।

मूका†–संज्ञा पुं० [सं० मूषा=गवाक्ष] (१) किसी दीवार के आर पार बना हुआ छेद । (२) छोटा गोल झरोखा । मोखा । उ०—मूका मेलि गहे जु छिन हाथ न छोड़े हाथ ।—बिहारी ।

संज्ञा पुं० [हिं० मुक्का] बँधी हुई मुट्ठी का प्रहार । घूँसा ।

मूकिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूकता । गूँगापन ।

मूखना*–क्रि० स० दे० "मूसना" ।

मूचना*–क्रि० स० दे० "मोचना" ।

मूज़ी–संज्ञा पुं० [अ०] कष्ट पहुँचानेवाला । दुष्ट । दुर्जन । खल ।

मूठ–संज्ञा स्त्री० [सं० मुष्टि, प्रा० मुट्ठि] (१) उँगलियों को मोड़ कर बाँधी हुई हथेली । मुष्टि । मुट्ठी । वि० दे० "मुट्ठी" ।

मुहा०—**मूठ करना**=तीतर, बटेर आदि को मुट्ठी में पकड़कर उनके शरीर में गरमी पहुँचाना जिससे उनमें बल का आना माना जाता है । **मूठ मारना**=(१) कबूतर को मुट्ठी में पकड़ना । (२) हस्त-क्रिया करना ।

(२) किसी औज़ार या हथियार का वह भाग जो व्यवहार करते समय हाथ में रहता है । मुठिया । दस्ता । कब्जा । जैसे, तलवार की मूठ, छाते की मूठ, कमान की मूठ । उ०—(क) मूठि कुबुद्धि धार निठुराई । धरी कूबरी सान बनाई ।—तुलसी । (ख) टूटि टाटि गोसा गए, फूटि फाटि मूठ गई, जेवरि न राखो जोर जानत जगत है ।—हनुमन्नाटक । (३) [illegible] मुट्ठी में आ सके । (४)

एक प्रकार का जुआ जिसमें मुट्ठी में कौड़ियाँ बंद करके बुझाते हैं। (५) मंत्र तंत्र का प्रयोग। जादू। टोना।

मुहा०—मूठ चलाना या मारना=जादू करना। टोना मारना। तंत्र मंत्र का प्रयोग करना। उ०—(क) काहू देवननि मिलि मोटी मूठ मार दी।—तुलसी। (ख) पीठि दिए ही नेकु मुरि कर घूँघट-पट टारि। भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि।—बिहारी। (ग) कोउ पै कोउ मारै मूठ यथा।—गोपाल। (घ) अबिर उड़ावैं मूठि मूठि सी चलावैं, सखी देखिए लुनाई नटनागर गोपाल की।—दीनदयाल। मूठ लगना=जादू का असर होना। टोना लगना। मंत्र तंत्र का प्रभाव पड़ना। उ०—डीठि सी डीठि लगी उनको, इनको लगी मूठि सी मूठि गुलाल की।—पद्माकर।

मूठना*—क्रि० अ० [सं० मुष्ट, प्रा० मुट्ठ] नष्ट होना। मर मिटना। न रह जाना। उ०—दुइ तुरंग दुइ नाव पाँव धरि ते कहि कवन न मूठे।—सूर।

मूठा—संज्ञा पुं० [हिं० मूठ] घास फूस को रस्सी से बाँध बाँध कर बनाए हुए लट्ठे के आकार के लंबे लंबे पूले जो खपरैल की छाजन में लगाए जाते हैं। मुट्ठा।

मूठाली—संज्ञा स्त्री० [हिं० मूठ+आली (प्रत्य०)] तलवार। (डिं०)

मूठि—संज्ञा स्त्री० (१) दे० "मूठ"। (२) दे० "मुट्ठी"।

मूठी*†—संज्ञा स्त्री० दे० "मुट्ठी"।

मूड़—संज्ञा पुं० दे० "मूँड़"।

मूढ़—वि० [सं०] (१) अज्ञान। मूर्ख। जड़बुद्धि। बेवकूफ़। अहमक़। (२) ठक। स्तब्ध। निश्चेष्ट। (३) जिसे आगा-पीछा न सूझता हो। ठगमारा।

मूढ़गर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] गर्भ का बिगड़ना जिससे गर्भ-स्राव आदि होता है। बिगड़ा हुआ गर्भ।

विशेष—सुश्रुत में लिखा है कि रास्ता चलने, सवारी पर चढ़ने, गिरने-पड़ने, चोट लगने, उलटा लेटने, मलमूत्र का वेग रोकने, रूखा, कड़ुआ या तीखा भोजन करने, वमन, विरेचन, हिलने-डोलने आदि से गर्भ का बंधन ढीला हो जाता है और उसकी स्थिति बिगड़ जाती है। इससे पेट, पार्श्व, वस्ति आदि में पीड़ा होती है तथा और भी अनेक उपद्रव होते हैं। मूढ़गर्भ चार प्रकार का होता है—कील, प्रतिखुर, बीजक और परिघ। यदि गर्भ कील की तरह आकर योनि-मुख बंद कर दे, तो उसे कील कहते हैं। यदि एक हाथ, एक पैर और माथा भर बाहर निकले और बाकी देह रुकी रहे, तो उसे प्रतिखुर कहते हैं। यदि एक हाथ और माथा निकले, तो बीजक कहलाता है; और यदि भ्रूण डंडे की तरह आकर अड़े, तो वह गर्भ परिघ कहलाता है। इसमें प्रायः शल्य चिकित्सा की जाती है।

मूढ़ता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। अज्ञान। बेवकूफ़ी। उ०—ऐसी मूढ़ता या मन की। परिहरि रामभक्ति सुरसरिता आस करत ओस कन की।—तुलसी।

मूढ़वात—संज्ञा पुं० [सं०] किसी कोश में रुकी या बँधी हुई वायु।

मूढ़ात्मा—वि० [सं० मूढ़ात्मन्] निर्बोध। मूर्ख। अहमक़।

मूत—संज्ञा पुं० [सं० मूत्र] (१) वह जल जो शरीर के विषैले पदार्थों को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलता है। पेशाब। वि० दे० "मूत्र"।

मुहा०—मूत निकल पड़ना=डर के मारे बुरी दशा हो जाना। जैसे,—उसे देखोगे तो मूत निकल पड़ेगा। मूत से निकल कर गू में पड़ना=और भी बुरी दशा में जा पड़ना।

(२) पुत्र। संतान। (तिरस्कार)

मूतना—क्रि० अ० [मूत+ना (प्रत्य०)] शरीर के गंदे जल को उपस्थ मार्ग से निकालना। पेशाब करना।

संयो० क्रि०—देना।—लेना।

मुहा०—मूत मारना=मूत देना। मूत देना=डर से घबरा जाना।

मूतरी—संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का जंगली कौवा। महताब। महालत।

मूत्र—संज्ञा पुं० [सं०] शरीर के विषैले पदार्थ को लेकर प्राणियों के उपस्थ मार्ग से निकलनेवाला जल। पेशाब। मूत।

विशेष—मूत्र के द्वारा शरीर के अनावश्यक और हानिकारक क्षार, अम्ल या और विषैली वस्तुएँ निकलती रहती हैं; इससे मूत्र का वेग रोकना बहुत हानिकर होता है। कई प्रकार के प्रमेहों में मूत्र के मार्ग से विषैली वस्तुओं के अतिरिक्त शर्करा तथा शरीर की कुछ धातुएँ भी गल गल-कर गिरने लगती हैं। अतः मूत्र-परीक्षा चिकित्सा-शास्त्र का एक प्रधान अंग पहले भी था और अब भी है। भारत-वर्ष में गोमूत्र पवित्र माना गया है और पंचगव्य के अति-रिक्त धातुओं और ओषधियों के शोधने में भी उसका व्यवहार होता है। वैद्यक में गोमूत्र, महिषमूत्र, छागमूत्र, मेषमूत्र, अश्वमूत्र आदि सब के गुणों का विवेचन किया गया है और विविध रोगों में उनका प्रयोग भी कहा गया है। मूत्र-दोष से अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र आदि अनेक रोग हो जाते हैं।

मूत्रकृच्छ्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक रोग जिसमें पेशाब बहुत कष्ट से या रुक रुककर थोड़ा थोड़ा होता है।

विशेष—आयुर्वेद के अनुसार यह रोग अधिक व्यायाम करने, तीव्र औषध सेवन करने, बहुत तेज घोड़े पर चढ़ने, बहुत रूखा अन्न खाने, अधिक मद्य सेवन करने तथा अजीर्ण रहने से होता है। मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार का कहा गया है—वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, शल्यज, पुरीषज, शुक्रज और अश्मरीज। वातज में शिश्न और वस्ति

में बहुत पीड़ा होती है और मूत्र थोड़ा थोड़ा आता है। पित्तज में पीला या लाल पेशाब पीड़ा और जलन के साथ उतरता है। कफज में वस्ति और शिश्न में सूजन होती है और पेशाब कुछ झाग लिए होता है। सान्निपातिक में वायु के सब उपद्रव दिखाई देते हैं और यह बहुत कष्टसाध्य होता है। शल्यज मूत्र-नली में काँटे आदि के द्वारा घाव हो जाने से होता है और इसमें वातज के से लक्षण देखे जाते हैं। पुरीषज में मल-रोध होता है और वात की पीड़ा के साथ पेशाब भी रुक रुककर आता है। शुक्रज शुक्र-दोष से होता है और इसके पेशाब में वीर्य मिला आता है और पीड़ा भी बहुत होती है। अश्मरीज, अश्मरी या पथरी होने से होता है और मूत्र बहुत कष्ट से उतरता है। सुश्रुत के मत से शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र भी कई प्रकार का होता है। शर्करा भी एक प्रकार की अश्मरी ही है।

मूत्रक्षय—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्राघात रोग का एक भेद।

मूत्रग्रंथि—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्राघात रोग का एक भेद।

मूत्रग्रह—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का मूत्रसंग रोग जिसमें झाग लिए थोड़ा थोड़ा पेशाब आता है।

मूत्रजठर—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्राघात से उत्पन्न एक दोष।

मूत्रदशक—संज्ञा पुं० [सं०] हाथी, भेड़ा, ऊँट, गाय, बकरा, घोड़ा, भैंसा, गदहा, मनुष्य और स्त्री इन दश के मूत्रों का समूह।

मूत्रपतन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूत्र गिरना। (२) गंध मार्जार। गंधबिलाव।

मूत्रप्रसेक—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रनाली।

मूत्रफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] ककड़ी।

मूत्ररोध—संज्ञा पुं० [सं०] एकबारगी पेशाब रुक जाने का रोग।

मूत्रला—वि० [सं०] पेशाब लानेवाली। (ओषधि)
संज्ञा स्त्री० ककड़ी।

मूत्रविज्ञान—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्र-परीक्षा पर आयुर्वेद का एक ग्रंथ जो जातुकर्ण ऋषि का बनाया हुआ कहा जाता है। इसमें मूत्र-परीक्षा करने की अनेक प्रणालियों का सविस्तर वर्णन है। चरक, सुश्रुत आदि में इस विषय का विशेष विवेचन नहीं है; इससे नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ कहाँ तक प्राचीन है।

मूत्राघात—संज्ञा पुं० [सं०] पेशाब बंद होने का रोग। मूत्र का रुक जाना।

विशेष—वैद्यक में यह रोग बारह प्रकार का कहा गया है—(१) वातकुंडली, जिसमें वायु कुपित होकर वस्तिदेश में कुंडली के आकार में टिक जाती है, जिससे पेशाब बंद हो जाता है। (२) वातष्ठीला, जिसमें वायु मूत्र-द्वारा या वस्ति-देश में गाँठ या गोले के आकार में होकर पेशाब रोकती है। (३) वातवस्ति, जो मूत्र के वेग के साथ ही वस्ति की वायु वस्ति का मुख रोक देती है। (४) मूत्रातीत, जिसमें बार बार पेशाब लगता और थोड़ा थोड़ा होता है। (५) मूत्र-जठर, जिसमें मूत्र का प्रवाह रुकने से अधोवायु कुपित होकर नाभि के नीचे पीड़ा उत्पन्न करती है। (६) मूत्रोत्संग, जिसमें उतरा हुआ पेशाब वायु की अधिकता से मूत्रनाल या वस्ति में एक बार रुक जाता है और फिर बड़े वेग के साथ कभी कभी रक्त लिए हुए निकलता है। (७) मूत्रक्षय, जिसमें खुश्की के कारण वायु-पित्त के योग से दाह होता है और मूत्र सूख सा जाता है। (८) मूत्रग्रंथि, जिसमें वस्ति-मुख के भीतर पथरी की तरह गाँठ सी हो जाती है और पेशाब करने में बहुत कष्ट होता है। (९) मूत्रशुक्र, जिसमें इस मूत्र के साथ अथवा आगे पीछे शुक्र भी निकलता है। (१०) उष्णवात, जिसमें व्यायाम या अधिक परिश्रम करने, और गरमी या धूप सहने से पित्त कुपित होकर वस्तिदेश में वायु से आवृत हो जाता है। इसमें दाह होता है और मूत्र हलदी की तरह पीला और कभी कभी रक्त मिला आता है। इसे 'कड़क' कहते हैं। (११) पित्तज मूत्रौकसाद, जिसमें पेशाब कुछ जलन के साथ गाढ़ा गाढ़ा होकर निकलता है और सूखने पर गोरोचन के चूर्ण की तरह हो जाता है। और (१२) कफज मूत्रौकसाद जिसमें सफ़ेद और लुआबदार पेशाब कष्ट से निकलता है।

मूत्राशय—संज्ञा पुं० [सं०] नाभि के नीचे का वह स्थान जिसमें मूत्र संचित रहता है। मसाना। फुकना।

मूत्रासाद—संज्ञा पुं० [सं०] मूत्रौकसाद नामक मूत्राघात रोग।

मूत्रिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] सल्लकी वृक्ष। सलई का पेड़।

मूना—संज्ञा पुं० [देश०] (१) पीतल वा लोहे की अँकुसी जो टेकुए के सिरे पर जड़ी रहती है और जिसमें रस्सी या डोरा फँसा रहता है। (२) एक झाड़ी जिसके फल बेर के समान सुंदर सुंदर होते हैं।
†क्रि० अ० [सं० मृत, प्रा० मुअ+ना (प्रत्य०)] मरना। वि० दे० "मुवना"।

मूर*†—संज्ञा पुं० [सं० मूल] (१) मूल। जड़। (२) जड़ी। (३) मूलधन। असल। उ०—(क) दरस मूर देतो नहीं जौ लौं मीत चुकाय। बिरह ब्याज वाको अरे नितहू बाढ़त जाय।—रसनिधि। (ख) कोई चले लाभ सों कोई मूर गँवाय।—जायसी। (ग) चल्यौ बनिक जिमि मूर गँवाई।—तुलसी।

मूरख*‡—वि० दे० "मूर्ख"।

मूरखताई*‡—संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्खता+ई (प्रत्य०)] मूर्खता। अज्ञता। नासमझी। नादानी। उ०—(क) यौं पछितात कछु पदमाकर कासों कहौं निज मूरखताई।—पद्माकर। (ख) त्यौं वे सब बेदना खेद पीड़ा दुखदाई। जिन बखसीसनि सदा घमंडहिं मूरखताई।—श्रीधर पाठक।

मूरचा–संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मूरछना*–संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्च्छना"। उ०—(क) पंचम नाद निखादहि में सुर मूरछना गन ग्राम सुभावनि।—देव। (ख) मूरछना उघटैं उत वे इत मो हिय मूरछना सरसानी। —गुमान।

संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्च्छा"।

क्रि० अ० मूर्च्छित होना। बेहोश होना।

मूरछा*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्च्छा"। उ०—दिन दिन तनु तनुता गहौ लहौ मूरछा तापु। पिक द्विज ये बोलत न जनु बिरहिनि देत सरापु।—गुमान।

मूरत, मूरति*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्ति"।

मूरतिवंत*–वि० [सं० मूर्त्ति+वत् (प्रत्य०)] मूर्त्तिमान्। देहधारी। सशरीर। उ०—रिषिन गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिवंत तपस्या जैसी।—तुलसी।

मूरध–संज्ञा पुं० दे० "मूर्द्धा"। उ०—(क) कीन्हे बाहु ऊरध को मूरध के खोले केश, लेश ना दया को ताको कोपहि को भारा है।—रघुराज। (ख) मूरध ऊरधपुंड्र दिये अघ झुंड छीन कर।—गोपाल।

मूरा†–संज्ञा पुं० [सं० मूल] मूली।

मूरि*–संज्ञा स्त्री० [सं० मूल] (१) मूल। जड़। (२) जड़ी। बूटी। वनस्पति। जैसे, जीवनमूरि। उ०—सूरदास प्रभु बिन क्यों जीवों जात सजीवनमूरि।—सूर।

मूरी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मूली"।

मूरुख*‡–वि० दे० "मूर्ख"।

मूर्ख–वि० [सं०] बेवकूफ। अज्ञ। मूढ़। नादान। नासमझ। लंठ। अपढ़। जाहिल।

संज्ञा पुं० (१) उर्द। (२) बनमूँग।

मूर्खता–संज्ञा स्त्री० [सं०] अज्ञता। मूढ़ता। नासमझी। बेवकूफी।

मूर्खत्व–संज्ञा पुं० [सं०] नादानी। नासमझी। बेवकूफी। अज्ञता।

मूर्खिनी*–संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्ख] मूढ़ा स्त्री। बे-समझ औरत। उ०—लै ओदन तिय को दिखरायो। कह्यो मूर्खिनी कहँ ते आयो।—रघुराज।

मूर्खिमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्खता। जड़ता। बेवकूफी।

मूर्च्छन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संज्ञा लोप होना या करना। बेहोश करना। (२) मूर्च्छित करने का मंत्र वा प्रयोग। उ०—आजु हौं राज काज करि आऊँ। बेगि सँहारौ सकल घोष शिशु जो मुख आयसु पाऊँ। तौ मोहन मूर्छन वशीकरन पढ़ि अगित देह बढ़ाऊँ।—सूर। (३) पारे का तीसरा संस्कार जिसमें त्र्युष्ण त्रिफलादि में सात दिन तक भावना दी जाती है। (४) कामदेव का एक वाण।

मूर्च्छना–संज्ञा स्त्री० [सं०] संगीत में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में सातो स्वरों का आरोह-अवरोह। उ०—(क) सुर नाद ग्राम नृत्यति सताल। मुख वर्ग विविध आलाप काल। बहु कला जाति मूर्च्छना मानि। बड़ भाग गमक गुन चलत जानि।—केशव। (ख) सुर मूर्च्छना ग्राम लै ताला। गावत कृष्ण-चरित सब काला।—रघुराज।

विशेष—ग्राम के सातवें भाग का नाम मूर्च्छना है। भरत के मत से गाते समय गले को कँपाने से ही मूर्च्छना होती है; और किसी किसी का मत है कि स्वर के सूक्ष्म विराम को ही मूर्च्छना कहते हैं। तीन ग्राम होने के कारण २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं जिनका ब्योरा इस प्रकार है—

षड्ज ग्राम की	मध्यम ग्राम की	गांधार ग्राम की
ललिता	पंचमा	रौद्री
मध्यमा	मत्सरी	ब्राह्मी
चित्रा	मृदुमध्या	वैष्णवी
रोहिणी	शुद्धा	खेदरी
मतंगजा	अंता	सुरा
सौवीरी	कलावती	नादावती
षड्मध्या	तीव्रा	विशाला

अन्य मत से मूर्च्छनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

उत्तरमुद्रा	सौवीरी	नंदा
रजनी	हरिणाश्वा	विशाला
उत्तरायणी	कपोलनता	सोमपी
शुद्ध षड्जा	शुद्धमध्या	विचित्रा
मत्सरीक्रांता	मार्गी	रोहिणी
अश्वक्रांता	पौरवी	सुखा
अभिरुता	मंदाकिनी	अलापी

मूर्च्छा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्राणी की वह अवस्था जिसमें उसे किसी बात का ज्ञान नहीं रहता, वह निश्चेष्ट पड़ा रहता है। संज्ञा का लोप। अचेत होना। बेहोशी। उ०—गइ मूर्च्छा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत कहन अस लागे।—तुलसी।

क्रि० प्र०—आना।—खाकर गिरना।—होना।

विशेष—आयुर्वेद में मूर्च्छा रोग के ये कारण कहे गए हैं—विरुद्ध वस्तु का खा जाना, मल-मूत्र का वेग रोकना, अस्त्र-शस्त्र से सिर आदि मर्म स्थानों में चोट लगना अथवा सत्व गुण का स्वभावतः कम होना। इन्हीं सब कारणों से वातादि दोष मनोधिष्ठान में प्रविष्ट होकर अथवा जिन नाड़ियों द्वारा इंद्रियों और मन का व्यापार चलता है, उनमें अधिष्ठित होकर तमोगुण की वृद्धि करके मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं।

मूर्च्छा आने के पहले शैथिल्य होता है, जँभाई आती है और कभी कभी सिर या हृदय में पीड़ा भी जान पड़ती है। मूर्च्छा रोग सात प्रकार का कहा गया है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मद्यज और विषज। वातज

मूर्च्छा में रोगी को पहले आकाश नीला या काला दिखाई पड़ने लगता है और वह बेहोश हो जाता है; पर थोड़ी ही देर में होश में आ जाता है। इसमें कंप और अंग में पीड़ा भी होती है और शरीर भी बहुत दुर्बल और काला हो जाता है। पित्तज मूर्च्छा में बेहोशी के पहले आकाश लाल, पीला या हरा दिखाई पड़ता है और मूर्च्छा छूटते समय आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर में गरमी मालूम होती है, प्यास लगती है और शरीर पीला पड़ जाता है। श्लेष्मज मूर्च्छा में रोगी स्वच्छ आकाश को भी बादलों से ढका और अँधेरा देखते देखते बेहोश हो जाता है और बहुत देर में होश में आता है। मूर्च्छा छूटते समय शरीर ढीला और भारी मालूम होता है और पेशाब तथा वमन की इच्छा होती है। सन्निपातज में उपर्युक्त तीनों लक्षण मिले जुले प्रकट होते हैं और मिरगी के रोगी की तरह रोगी जमीन पर अकस्मात् गिर पड़ता है और बहुत देर में होश में आता है। मिरगी से भेद इतना होता है कि इसमें मुँह से फेन नहीं आता और दाँत नहीं बैठते। रक्तज मूर्च्छा में अंग ठक और दृष्टि स्थिर सी हो जाती है और साँस साफ़ चलती नहीं दिखाई देती। मद्यज मूर्च्छा में रोगी हाथ-पैर मारता और अनाप-शनाप बकता हुआ भूमि पर गिर पड़ता है। विषज मूर्च्छा में कंप, प्यास और झपकी मालूम होती है तथा जैसा विष हो, उसके अनुसार और भी लक्षण देखे जाते हैं।

मूर्छित, मूर्च्छित—वि० [सं०] (१) जिसे मूर्च्छा आई हो। बेसुध। बेहोश। अचेत। उ०—(क) सुनत गदाधर भट्ट तहाँ ही। मूर्छित गिरत भये महि माहीं।—रघुराज। (ख) यह सुन कंस मूर्च्छित हो गिरा।—लल्लूलाल। (२) मारा हुआ (पारे आदि धातुओं के लिये)। (३) मूढ़। (४) व्याप्त।

मूर्त्त—वि० [सं०] (१) जिसका कुछ रूप या आकार हो। साकार।

विशेष—नैयायिकों के मत से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन मूर्त्त पदार्थ हैं। इनके गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, स्नेह और वेग हैं।

(२) कठिन। ठोस। (३) मूर्च्छित।

मूर्त्तता—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्त्त होने का भाव।

मूर्त्ति—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कठिनता। ठोसपन। (२) शरीर। देह। (३) आकृति। शकल। स्वरूप। सूरत। जैसे,—उस मनुष्य की भयंकर मूर्त्ति देखकर वह डर गया। (४) किसी के रूप या आकृति के सदृश गढ़ी हुई वस्तु। प्रतिमा। विग्रह। जैसे, कृष्ण की मूर्त्ति, देवी की मूर्त्ति।

मुहा०—मूर्त्ति के समान=ठक। स्तब्ध। निश्चल।

(५) रंग या रेखा-द्वारा बनी हुई आकृति। चित्र। तसवीर। (६) ब्रह्म सावर्णि के एक पुत्र का नाम।

मूर्त्तिकार—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूर्त्ति बनानेवाला। (२) तसवीर बनानेवाला। मुसौवर।

मूर्त्तिप—संज्ञा पुं० [सं०] पुजारी।

मूर्त्तिपूजक—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो मूर्त्ति या प्रतिमा की पूजा करता हो। मूर्त्ति पूजनेवाला।

मूर्त्तिपूजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्त्ति में ईश्वर या देवता की भावना करके उसकी पूजा करना।

मूर्त्तिमान्—वि० [सं०] [स्त्री० मूर्त्तिमती] (१) जो रूप धारण किए हो। स-शरीर। (२) साक्षात्। गोचर। प्रत्यक्ष।

मूर्त्तिविद्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) प्रतिमा गढ़ने की कला। (२) चित्रकारी।

मूर्द्ध—संज्ञा पुं० [सं० मूर्द्धन्] मस्तक। सिर।

मूर्द्धक—संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रिय।

मूर्द्धकर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] छाता या और कोई वस्तु (जैसे, टोकरा) जो धूप, पानी आदि से बचने के लिये सिर पर रखा जाय।

मूर्द्धकपारी*—संज्ञा स्त्री० दे० "मूर्द्धकर्णी"।

मूर्द्धखोल—संज्ञा पुं० दे० "मूर्द्धकर्णी"।

मूर्द्धज—वि० [सं०] सिर से उत्पन्न होनेवाला।

संज्ञा पु० केश। बाल।

मूर्द्धज्योति—संज्ञा स्त्री० [सं० मूर्द्धज्योतिस्] ब्रह्मरंध्र। (योग)

मूर्द्धन्य—वि० [सं०] (१) मूर्द्धा से संबंध रखनेवाला। मूर्द्धासंबंधी। (२) सिर या मस्तक में स्थित।

मूर्द्धन्य वर्ण—संज्ञा पुं० [सं०] वे वर्ण जिनका उच्चारण मूर्द्धा से होता है।

विशेष—मूर्द्धन्य वर्ण ये हैं—ऋ, ॠ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष।

मूर्द्धन्वान्—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गंधर्व का नाम। (२) वामदेव ऋषि जो ऋग्वेद के दशम मंडल के अष्टम सूक्त के द्रष्टा थे।

मूर्द्धपिंड—संज्ञा पुं० [सं०] गजकुंभ। हाथी का मस्तक।

मूर्द्धपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष पुष्प।

मूर्द्धरस—संज्ञा पुं० [सं०] भात का फेन।

मूर्द्धा—संज्ञा पुं० [सं० मूर्द्धन्] मस्तक। सिर।

मूर्द्धाभिषिक्त—वि० [सं०] जिसके सिर पर अभिषेक किया गया हो।

संज्ञा पुं० (१) क्षत्रिय। (२) राजा। (३) एक मिश्र जाति जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण से विवाही क्षत्रिय स्त्री के गर्भ से कही गई है। इस जाति की वृत्ति हाथी, घोड़े और रथ की शिक्षा तथा शस्त्र-धारण है।

मूर्द्धाभिषेक—संज्ञा पुं० [सं०] सिर पर अभिषेक या जलसिंचन

होना (जैसा कि राजाओं के गद्दी पर बैठने के समय होता है)।

मूर्वा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मरोड़फली नाम की लता जो हिमालय के उत्तराखंड को छोड़ भारतवर्ष में और सब जगह होती है।

विशेष—इसमें सात आठ डंठल निकलकर इधर उधर लता की तरह फैलते हैं। फूल छोटे छोटे, हरापन लिए सफेद रंग के होते हैं। इसके रेशे बहुत मजबूत होते हैं जिससे प्राचीन काल में उन्हें बटकर धनुष की डोरी बनाते थे। उपनयन में क्षत्रिय लोग मूर्वा की मेखला धारण करते थे। एक मन पत्तियों से आध सेर के लगभग सूखा रेशा निकलता है, जिसमे कहीं कहीं जाल बुने जाते हैं। त्रिचिनापल्ली में मूर्वा के रेशों से बहुत अच्छा काग़ज़ बनता है। ये रेशे रेशम की तरह चमकीले और सफेद होते हैं। मूर्वा की जड़ औषध के काम में भी आती है। वैद्य लोग इसे यक्ष्मा और खाँसी में देते हैं। आयुर्वेद में यह अति तिक्त, कसैली, उष्ण तथा हृद्रोग, कफ, वात, प्रमेह, कुष्ट और विषम ज्वर को दूर करनेवाली मानी जाती है।

पर्य्या०—देवी। मधुरसा। मोरटा। तेजनी। स्रवा। मधुलिका। धनुःश्रेणी। गोकर्णी। पीलुकर्णी। स्रुवा। मूर्वी। मधुश्रेणी। सुरंगिका। पृथक्त्वचा। दिव्यलता। गोपवल्ली। ज्वलिनी।

मूर्विका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूर्वा।

मूल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेड़ों का वह भाग जो पृथ्वी के नीचे रहता है। जड़। उ०—एहि आसा अटक्यो रहै अलि गुलाब के मूल।—बिहारी। (२) खाने योग्य मोटी मीठी जड़। कंद। उ०—संबत सहस मूल फल खाए। साक खाइ सत वर्ष गँवाए।—तुलसी।

यौ०—कंद मूल।

(३) आदि। आरंभ। शुरू। उ०—(क) उमा संभु सीतारमन जो मोपर अनुकूल। तौ बरनौं सो होइ फुर अंत मध्य अरु मूल।—विश्राम। (ख) सेतु मूल सिव सोभिजै केसव परम प्रकास।—केशव। (४) आदि कारण। उत्पत्ति का हेतु। उ०—करम को मूल तन, तन मूल जीव जग, जीवन को मूल अति आनंद ही धरिबो।—पद्माकर। (५) असल जमा या धन जो किसी व्यवहार या व्यवसाय में लगाया जाय। असल। पूँजी। उ०—और बनिज में नाहीं लाहा, होत मूल में हानि।—सूर। (६) किसी वस्तु के आरंभ का भाग। शुरू का हिस्सा। जैसे, भुजमूल। (७) नीवँ। बुनियाद। (८) ग्रंथकार का निज का वाक्य या लेख जिस पर टीका आदि की जाय। जैसे,—इस संग्रह में रामायण मूल और टीका दोनों हैं। (९) सत्ताईस नक्षत्रों में से उन्नीसवाँ नक्षत्र।

विशेष—इस नक्षत्र के अधिपति निर्ऋति हैं। इसमें नौ तारे हैं जिनकी आकृति मिलकर सिंह की पूँछ के समान होती है। यह अधोमुख नक्षत्र है। फलित के अनुसार इस नक्षत्र में जन्म लेनेवाला वृद्धावस्था में दरिद्र, शरीर से पीड़ित, कलानुरागी, मातृपितृहंता और आत्मीय लोगों का उपकार करनेवाला होता है।

(१०) निकुंज। (११) पास। समीप। (१२) सूरन। ज़िमींकंद। (१३) पिप्पली मूल। (१४) पुष्करमूल। (१५) दुर्ग राष्ट्र। (१६) किसी देवता का आदि मंत्र या बीज।

वि० [सं०] मुख्य। प्रधान। खास। उ०—ल्याउ मूल बल बोलि हमारो सोई सैन्य हजूरी। पर घर दौरि बोलि ल्याये द्रुत सैन्य भयंकर भूरी।—रघुराज।

मूलक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूली। उ०—(क) काँचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।—तुलसी। (ख) जिनके दसन करालक फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे।—तुलसी। (२) चौंतिस प्रकार के स्थावर विषों में से एक प्रकार का विष। (३) मूल स्वरूप।

वि० उत्पन्न करनेवाला। जनक। जैसे,—अनर्थमूलक।

मूलकपर्णी–संज्ञा स्त्री० [सं०] शोभांजन। सहिंजन का पेड़।

मूलकर्म–संज्ञा पुं० [सं० मूलकर्मन्] (१) त्रासन, उच्चाटन, स्तंभन वशीकरण आदि का वह प्रयोग जो ओषधियों के मूल (जड़ों) द्वारा किया जाता है। मूठ। टोना। टोटका।

विशेष—मनु ने इसे उपपातकों में गिना है।

(२) प्रधान कर्म।

विशेष—पूजा आदि में कुछ कर्म प्रधान होते हैं और कुछ अंग।

मूलकारिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मूल ग्रंथ के पद्य। (२) मूल धन की एक विशेष प्रकार की वृद्धि। (३) चंडी।

मूलकृच्छ्र–संज्ञा पुं० [सं०] स्मृतियों में वर्णित ग्यारह प्रकार के पर्णकृच्छ्र व्रतों में से एक व्रत जिसमें मूली आदि कुछ विशेष जड़ों के क्वाथ या रस को पीकर एक मास व्यतीत करना पड़ता था। (मिताक्षरा)

मूलकेशर–संज्ञा पुं० [सं०] नीबू।

मूलखानक–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन वर्णसंकर जाति जो पेड़ों की जड़ खोदकर जीविका निर्वाह करती थी।

मूल ग्रंथ–संज्ञा पुं० [सं०] असल ग्रंथ जिसका भाषांतर, टीका आदि की गई हो।

मूलच्छेद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जड़ से नाश। (२) पूर्ण नाश।

मूलज–संज्ञा पुं० [सं०] अदरक।

मूलत्रिकोण–संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य आदि ग्रहों की कुछ विशेष राशियों में स्थिति। ग्रह जब मूलत्रिकोण में रहते हैं, तब मध्यम बल के माने जाते हैं।

विशेष—रवि का मूलत्रिकोण सिंह राशि, चंद्र का वृष, मंगल

का मेष, बुध का कन्या, बृहस्पति का धनु, शुक्र का तुला और शनि का कुंभ है। मतलब यह कि इन इन राशियों में यदि ये ये ग्रह होंगे, तो मूलत्रिकोण में कहे जायँगे। (फलित ज्योतिष)

मूलद्रव्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूल धन। (२) आदिम द्रव्य या भूत जिससे और द्रव्यों या भूतों की उत्पत्ति हुई हो।

मूलद्वार—संज्ञा पुं० [सं०] प्रधान द्वार। सिंहद्वार। सदर फाटक।

मूलद्वारावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] द्वारावती नगरी का प्राचीन अंश जो आजकल की द्वारका से कुछ दूर प्रायः समुद्र के भीतर पड़ती है।

मूलधन—संज्ञा पुं० [सं०] वह असल धन जो किसी व्यापार में लगाया जाय। पूँजी।

मूलधातु—संज्ञा स्त्री० [सं०] मज्जा।

मूलपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मंडूकपर्णी नाम की ओषधि।

मूलपुरुष—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वंश का आदि पुरुष। सब से पहला पुरखा जिससे वंश चला हो।

मूलपुष्कर—संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करमूल।

मूलपोती—संज्ञा स्त्री० [सं०] छोटी पोय नाम का शाक।

मूल प्रकृति—संज्ञा स्त्री० [सं०] संसार की बीज-शक्ति या वह आदिम सत्ता, संसार जिसका परिणाम या विकास है। आद्या शक्ति। वि० दे० "प्रकृति"।

मूलफलद—संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

मूलबंध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) हठ योग की एक क्रिया जिसमें सिद्धासन वा वज्रासन द्वारा शिश्न और गुदा के मध्यवाले भाग को दबाकर अपान वायु को ऊपर की ओर चढ़ाते हैं। (२) तंत्रोपचार पूजन में एक प्रकार का अंगुलिन्यास।

मूलबर्हण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मूलोच्छेदन। (२) मूल नक्षत्र।

मूलभृत्य—संज्ञा पुं० [सं०] पुश्तैनी नौकर।

मूलरस—संज्ञा पुं० [सं०] मोरट लता। मूर्वा।

मूलविष—संज्ञा पुं० [सं०] जिसकी जड़ विषैली हो। जैसे, कनेर।

मूलव्यसन—संज्ञा पुं० [सं०] वध का दंड। मारण।

मूलशाकट—संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें मूली, गाजर आदि मोटी जड़वाले पौधे बोए जायँ।

मूलशोधन—संज्ञा पुं० [सं०] पुंडरीक वृक्ष।

मूलसर्वास्तिवाद—संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों का एक संप्रदाय।

मूलस्थली—संज्ञा पुं० [सं०] थाला। आलबाल। उ०—कहूँ वृक्ष मूलस्थली तोय पीवैं। महामत्त मातंग सीमा न छीवैं।—केशव।

मूलस्थान—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आदि स्थान। बाप-दादा की जगह। पूर्वजों का स्थान। (२) प्रधान स्थान। (३) भीत। दीवार। (४) ईश्वर। (५) मुलतान नगर जहाँ भास्कर तीर्थ था।

मूला—संज्ञा स्त्री० [सं] (१) सतावर। (२) मूल नक्षत्र। (३) पृथ्वी। (डिं०)

मूलाधार—संज्ञा पुं० [सं०] योग में माने हुए मानव शरीर के भीतर के छः चक्रों में से एक चक्र जिसका स्थान गुदा और शिश्न के मध्य में है। इसका रंग लाल और देवता गणेश माने गए हैं। इसके दलों की संख्या ४ और अक्षर व, श, ष तथा स हैं।

मूलिक—वि० [सं०] मूल संबंधी।

संज्ञा पुं० कंद मूल खाकर रहनेवाला संन्यासी।

मूलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] औषधियों की जड़। जड़ी। उ०—(क) बैदिक बिधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानि कै। बलिदान पूजा मूलिका मनि साधि राखी आनि कै।—तुलसी। (ख) आन्यो सदन सहित सोवत ही जौ लौं पलक परै न। जियै कुँवर निमि मिलै मूलिका कीन्हीं बिनय सुखेन।—तुलसी।

मूलिनी वर्ग—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार ये सोलह प्रकार के मूल (जड़ें)—नागदंती, श्वेतवचा, श्यामा, त्रिवृत्, वृद्धदारका, सप्तला, श्वेतापराजिता, मूषकपर्णी, गोडुंबा, ज्योतिष्मती, बिंबी, क्षणपुष्पी, विषाणिका, अश्वगंधा, द्रवंती और क्षीरिणी।

मूली—संज्ञा स्त्री० [सं० मूलक] (१) एक पौधा जो अपनी लंबी मुलायम जड़ के लिए बोया जाता है। यह जड़ खाने में मीठी, चरपरी और तीक्ष्ण होती है।

विशेष—मूली साल में दो बार बोई जाती है, इससे प्रायः सब दिन मिलती हैं। मूली की जड़ नीचे की ओर पतली और ऊपर की ओर मोटी होती जाती है। इसकी कई जातियाँ होती हैं। साधारण मूली एक बालिश्त लंबी और दो ढाई अंगुल मोटी होती है। पर बड़ी मूली हाथ हाथ भर लंबी और चार पाँच अंगुल तक मोटी होती है। नैपाल देश में उत्पन्न होने के कारण इसे नेवाड़ या नेवार भी कहते हैं। यह खाने में मीठी होती है और इसमें कड़ुवापन या चरपराहट नहीं होती। मूली का रंग सफेद होता है; पर लाल रंग की मूली भी अब हिंदुस्तान में बोई जाने लगी है, जिसे विलायती मूली कहते हैं। जड़ से सरसों के से लंबे लंबे पत्ते ऊपर की ओर निकलते हैं। बीज छोटे और काले होते हैं। इन बीजों में से एक प्रकार का दुर्गंधयुक्त तेल निकलता है, जिसमें गंधक का बहुत कुछ अंश रहता है। मूल अधिकतर कच्चा या शाक के रूप में पकाकर खाया जाता है। बीज दवा के काम में आते हैं। मूली साधारणतः उत्तेजक, मूत्रकारक और अश्मरीनाशक होती

है । मूत्रकृच्छ् आदि रोगों में इसका सेवन हितकर है ।

भावप्रकाश के अनुसार छोटी मूली कटुरस, उष्णवीर्य, रुचिकारक, लघु, पाचक, त्रिदोषनाशक, स्वरप्रसादक तथा ज्वर, श्वास, नासा रोग कंठ रोग और चक्षु रोग को दूर करनेवाली है । बड़ी मूली या नेवाड़ रूखी, उष्णवीर्य, गुरु और त्रिदोषनाशक है ।

पर्य्या०—(छोटी मूली) शालाक । कटुक । मिश्र । वालेय । मरुसंभव । चाणक्यमूलक । मूलकपोतिका ।

मुहा०—(किसी को) मूली गाजर समझना=अति तुच्छ समझना । नाचीज गिनना ।

(२) एक प्रकार का बाँस । (३) जड़ी बूटी । मूलिका ।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ज्येष्ठी । (२) मत्स्यपुराण के अनुसार एक नदी का नाम ।

मूल्य—संज्ञा पुं० [सं०] किसी वस्तु के बदले में मिलनेवाला धन। दाम । क़ीमत ।

वि० (१) प्रतिष्ठा के योग्य । क़दर के लायक़ । (२) रोपने या लगाने योग्य (पौधा) । (३) जड़ से उखाड़ने योग्य (खेत की फ़सल, जैसे, उर्द, मूँग आदि) ।

मूल्यवान्—वि० [सं०] जिसका दाम बहुत अधिक हो । बड़े दाम का । क़ीमती ।

मूशली—संज्ञा स्त्री० [सं०] तालमूली ।

मूष, मूषक—संज्ञा पुं० [सं०] चूहा । उ०—खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ।—तुलसी ।

मूषककर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसाकानी नाम की लता । आखुकर्णी ।

मूषकवाहन—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश ।

मूषकमारी—संज्ञा स्त्री० [सं०] श्रुतश्रेणी नाम की लता ।

मूषा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोना आदि गलाने की घरिया । तैजसावर्त्तिनी । (२) देवताड़ वृक्ष । (३) गोखरू का पौधा। (४) गवाक्ष । झरोखा ।

मूषाकर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मूसा कानी लता ।

मूषातुत्थ—संज्ञा पुं० [सं०] नीला थोथा । तूतिया ।

मूषिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) चूहा । मूसा । (२) महाभारत के अनुसार दक्षिण के एक जनपद का प्राचीन नाम ।

मूषिकपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] जल में होनेवाला एक प्रकार का तृण ।

पर्य्या०—न्यग्रोधी । चित्रा । उपचित्रा । द्रवंती । संबरी । वृषा । वृषपर्णी । आखुपर्णी ।

मूषिकसाधन—संज्ञा पुं० [सं०] तंत्र का एक साधन जिसके सिद्ध हो जाने से, कहा जाता है कि मनुष्य चूहे की बोली समझ कर उससे शुभ-अशुभ फल कह सकता है ।

मूषिकांक—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश ।

मूषिकांचन—संज्ञा पुं० [सं०] गणेश ।

मूषिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) छोटा चूहा । चुहिया । (२) मूसाकानी लता ।

मूषी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सोना आदि गलाने की घरिया । (२) बड़ा चूहा ।

मूषीकरण—संज्ञा पुं० [सं०] घरिया में धातु गलाने की क्रिया ।

मूष्यायण—संज्ञा पुं० [सं०] गुप्त व्यभिचार से उत्पन्न पुरुष । वह जिसके बाप का पता न हो । दोगला ।

मूस—संज्ञा पुं० [सं० मूष] चूहा ।

मूसदानी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मूस+दानी (सं० आधान)] चूहा फँसाने का पिंजड़ा ।

मूसना—क्रि० स० [सं० मूषण] चुराकर उठा ले जाना । उ०—(क) मूसत पाँच चोर करि दंगा । रहत हितू ह्वै निसि दिन संगा ।—रघुनाथदास । (ख) सूरन के मिस ही मन मूसति होस मसूसन ही फिरै कोठनि ।—देव । (ग) सुनितय बिरद रूप रस नागरि लीन्ही पलटि कछू सी । तेरे हती प्रेम संपति सखि सो संपति केहि मूसी ।—सूर । (घ) दिया मँदिर निसि करै उजेरा । दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा ।—जायसी ।

संयो० क्रि०—ले जाना ।

मूसर—संज्ञा पुं० [हिं० मूसल] (१) दे० "मूसल" । उ०—गुन ज्ञान गुमान भभेरि बड़ी कल्पद्रुप काटत मूसर को ।—तुलसी । (२) गँवार । अपढ़ । असभ्य ।

मूसरचंद—संज्ञा पुं० [हिं० मूसर+चंद] (१) अपढ़ । गँवार । असभ्य । जड़ । (२) हट्टा कट्टा पर निकम्मा । मुसंडा ।

मूसल—संज्ञा पुं० [सं० मुशल] (१) धान कूटने का एक औज़ार जो लंबा मोटा डंडा सा होता है और जिसके मध्य भाग में पकड़ने के लिए खड्डा सा होता है और छोर पर लोहे की साम जड़ी रहती है । (२) एक अस्त्र जिसे बलराम धारण करते थे । (३) राम वा कृष्ण के पद का एक चिह्न ।

मूसलधार—क्रि० वि० [हिं० मूसल+धार] इतनी मोटी धार से, जितना मोटा मूसल होता है । बहुत अधिक वेग से । धारासार । जैसे, मूसलधार पानी बरसाना । उ०—उसने आते ही व्रजमंडल को घेर लिया और गरज गरज बड़ी बड़ी बूँदों लगा मूसलधार जल बरसाने ।—लल्लूलाल ।

मूसला—संज्ञा पुं० [हिं० मूसल] वह जड़ जो मोटी और सीधी कुछ दूर तक ज़मीन में चली गई हो, जिसमें इधर उधर सूत या शाखाएँ न फूटी हों । झखरा का उलटा ।

विशेष—जड़ दो प्रकार की होती हैं—एक झखरा, दूसरी मूसला ।

मूसली—संज्ञा पुं० [मुशली] हल्दी की जाति का एक पौधा जिसकी जड़ औषध के काम में आती है और पुष्टई मानी

जाती है। यह पौधा सीड़ की ज़मीन में उगता है और नदियों के कछारों में भी पाया जाता है। बिलासपुर ज़िले में अमरकंटक पहाड़ पर नर्मदा के किनारे यह बहुत मिलता है।

मूसा–संज्ञा पुं० [सं० मूषक] चूहा।

संज्ञा पुं० [इबरानी] यहूदी लोगों के एक पैगंबर जिनको .खुदा का नूर दिखाई पड़ा था। किताबी या पैगंबरी मतों का आदि प्रवर्त्तक इन्हीं को समझना चाहिए।

मूसाकानी–संज्ञा स्त्री० [सं० मूषाकर्णी] एक प्रकार की लता जो प्रायः सारे भारत की गीली भूमि में चौमासे में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ आकार में गोल और प्रायः आध से डेढ़ इंच तक की होती हैं, जो देखने में चूहे के कान के समान, बीच में कमानदार और रोएँदार होती हैं। इसकी शाखाएँ बहुत घनी होती हैं और इसकी गाँठों में से जड़ निकलकर ज़मीन में जम जाती है। इसमें बैंगनी या गुलाबी रंग के छोटे छोटे फूल और चने के समान गोल फल लगते हैं, जो पहले हरे अथवा बैंगनी रंग के और पकने पर भूरे रंग के हो जाते हैं। ये फल चीरने पर दो दलों में विभक्त हो जाते हैं और प्रत्येक दल में से एक बीज निकलता है। इसके प्रायः सभी अंग ओषधि के रूप में काम में आते हैं। विशेषतः चूहे के विष को दूर करने के लिए इसे लगाया और इसका काढ़ा पीया जाता है। वैद्यक में यह चरपरी, कड़वी, कसैली, शीतल, हलकी, दस्तावर, रसायन तथा कफ, पित्त, कृमि, शूल, ज्वर, ग्रंथि, सूजाक, प्रमेह, पांडु, भगंदर और कोढ़ आदि रोगों को दूर करनेवाली मानी जाती है। मूत्र रोग, उदर रोग, हृदय रोग आदि में भी इसका व्यवहार होता है और यह रक्त-शोधक भी होती है। यह बड़ी और छोटी दो प्रकार की होती है। इसके अतिरिक्त इसके और भी कई भेद होते हैं, जिनमें से एक भेद के पत्ते गोभी के पत्तों की तरह लंबे और किनारे पर कटावदार होते हैं। एक और भेद क्षुप जाति का होता है, जो एक से चार .फुट तक ऊँचा होता है। इसका डंठल पोला होता है, जिसमें से बहुत सी शाखाएँ निकलती हैं। इन सब का व्यवहार पथरी के समान होता है। इसे चूहा-कानी भी कहते हैं।

पर्य्या०—आखुकर्णी। द्रवंती। मूषिकपर्णी। मूषिकाह्वदा। उंदरकर्णी।

मृकंडु–संज्ञा पुं० [सं०] एक मुनि, जिनके पुत्र मार्कंडेय ऋषि थे।

मृग–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मृगी] (१) पशुमात्र, विशेषतः वन्य पशु। जंगली जानवर। (२) हिरन।

विशेष—मृग नौ प्रकार के कहे गये हैं—मसूरु, रोहित, न्यंकु, संबर, वभ्रुण, रुरु, शश, एण और हरिण। वि० दे० "हिरन"।

(३) हाथियों की एक जाति जिसकी आँखें कुछ बड़ी होती हैं और गंडस्थल पर सफ़ेद चिह्न होता है। (४) मार्गशीर्ष। अगहन का महीना। (५) मृगशिरा नक्षत्र। (६) एक यज्ञ का नाम। (७) मकर राशि। (८) अन्वेषण। खोज। (९) कस्तूरी का नाफ़ा। (१०) ज्योतिष में शुक्र की नौ वीथियों में से आठवीं वीथी जो अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल में पड़ती है। (११) पुरुष के चार भेदों में से एक। (मृग जाति का पुरुष मधुरभाषी, बड़ी आँखोंवाला, भीरु, चपल, सुन्दर और तेज चलनेवाला होता है। यह चित्रिणी स्त्री के लिए उपयुक्त कहा गया है)। (१२) वैष्णवों के तिलक का एक भेद।

मृगधर्मज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कस्तूरी का नाफ़ा। (२) जवादि नामक गंधद्रव्य।

मृगचर्म–संज्ञा पुं० [सं०] हिरन का चमड़ा जो पवित्र माना जाता है इसका व्यवहार उपनयन संस्कार में होता है और इसे साधु-संन्यासी बिछाते हैं।

मृगचेटक–संज्ञा पुं० [सं०] गंधबिलाव। मुश्क बिलाव। खट्टास।

मृगछाला–संज्ञा स्त्री० [सं० मृग+हिं० छाला] मृगचर्म।

मृगज रस–संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसका व्यवहार रक्तपित्त में होता है।

विशेष—शोधा हुआ पारा और मृत्तिका लवण (लोनी) बासे के रस में एक दिन तक घोटने से यह तैयार होता है।

मृगजल–संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा की लहरें। उ०—(क) सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई।—तुलसी। (ख) तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहि सस सीस बिषाना।—तुलसी।

मृगजा–संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी।

मृगजृंभ–संज्ञा स्त्री० [सं०] खोए या चोरी गए हुए धन की खोज।

मृगतृषा, मृगतृष्णा–संज्ञा स्त्री० [सं०] जल वा जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति जो कभी कभी ऊसर मैदानों में कड़ी धूप पड़ने के समय होती है। मृगमरीचिका।

विशेष—गरमी के दिनों में जब वायु की तहों का घनत्व उष्णता के कारण असमान होता है, तब पृथ्वी के निकट की वायु अधिक उष्ण होकर ऊपर को उठना चाहती है; परंतु ऊपर की तहें उसे उठने नहीं देतीं, इससे उस वायु की लहरें पृथ्वी के समानांतर बहने लगती हैं। यही लहरें दूर से देखने में जल की धारा सी दिखाई देती हैं। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं; इससे इसे मृगतृष्णा, मृगजल आदि कहते हैं।

मृगतृष्णिका–संज्ञा स्त्री० दे० "मृगतृष्णा"।

मृगदंशक–संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

मृगदाव–संज्ञा पुं० [सं० मृग+दाव=मृगों का वन] (१) वह बन जिसमें बहुत मृग हों। (२) काशी के पास 'सारनाथ' नामक स्थान का प्राचीन नाम।

मृगधर-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।
मृगधूम-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन तीर्थ का नाम ।
मृगधूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल ।
मृगनाथ-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।
विशेष—'मृग' शब्द के आगे पति, नाथ, राज आदि शब्द लगने से सिंहवाचक शब्द बनता है ।
मृगनाभि-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी ।
मृगनाभिजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।
मृगनेत्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र से युक्त रात्रि । अगहन महीने के बीसवें दिन के २० दंड के उपरांत से लेकर संक्रांति तक के काल को मृगनेत्रा कहते हैं, जिसमें श्राद्ध, नवान्न आदि वर्जित हैं ।
मृगपति-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।
मृगपद-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मृग का पैर । (२) मृग के खुर का चिह्न या गड्ढा जो ज़मीन पर पड़ गया हो ।
मृगपालिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी मृग ।
मृगपिप्लु-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।
मृगप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) भूतृण । (२) जल-कदली ।
मृगभक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जटामासी । (२) इंद्रवारुणी । इंद्रायन ।
मृगभद्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति । उ०—भद्र और मृगभद्र आदि बहु जे जग जाति विख्याती ।—रघुराज ।
मृगमंदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कश्यप ऋषि की क्रोधवशा नाम्नी पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में से एक जिससे ऋक्ष, स्मर और चमर जाति के मृग उत्पन्न हुए थे ।
मृगमंद्र-संज्ञा पुं० [सं०] हाथियों की एक जाति ।
मृगमद-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी ।
मृगमदा-संज्ञा स्त्री० [सं०] कस्तूरी ।
मृगमरीचिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] मृगतृष्णा ।
मृगमातृक-संज्ञा पुं० [सं०] लंबोदर मृग । कस्तूरी मृग ।
मृगमित्र-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा । उ०—मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चंद्र निशाचरपद्धति को ।—केशव ।
मृगमेद-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुश्क । उ०—(क) सब ओर लिप्यो मृगमेद महा । तम हेत भयो दिग भेद कहा ।—गुमान । (ख) पुन्यन के जल घोरि घने घनसार मिले मृगमेद दहाव्रत ।—गुमान । (ग) चोवा मिलै मृगमेद घस घन सार सों केसरि गारत डोलैं ।—देव ।
मृगया-संज्ञा पुं० [सं०] शिकार । अहेर । आखेट । उ०—(क) हम छत्री मृगया बन करहीं । तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं ।—तुलसी । (ख) एक दिवस मृगया को निकस्यो कंठ महामणि लाइ ।—सूर । (ग) भूलि परी मृग को मृग चाहि भई मृगया की मृगी मृगनैनी ।—देव ।
मृगयु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ब्रह्मा । (२) गीदड़ । (३) व्याध ।
मृगरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेइया नाम का पौधा । सहदेवी । महाबला ।
मृगराज-संज्ञा पुं० [सं०] सिंह ।
मृगराटिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] जीवंती ।
मृगरोग-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों का एक घातक रोग जिसमें वे जल्दी जल्दी साँस लेते हैं और उनके नथुने सूज से आते हैं ।
मृगरोचन-संज्ञा पुं० [सं०] कस्तूरी । मुश्क ।
मृगलांछन-संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा ।
मृगलेखा-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंद्रमा का धब्बा ।
मृगलोचना-वि० स्त्री० [सं०] हरिण के समान नेत्रवाली (स्त्री०) ।
मृगलोचनी-संज्ञा स्त्री० दे० "मृगलोचना" ।
मृगव-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्ध शास्त्रों के अनुसार एक बहुत बड़ी संख्या का नाम ।
मृगवल्लभ-संज्ञा पुं० [सं०] कुंदुरु तृण ।
मृगवारि-संज्ञा पुं० [सं०] मृगतृष्णा का जल । उ०—सूते सपने ही सहै संसृत संताप रे । बूड़ो मृगवारि खायो जेवरि के साँप रे ।—तुलसी ।
मृगवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] वायु ।
मृगवीथी-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार शुक्र की नौ वीथियों में से एक जिसमें शुक्र ग्रह अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल पर आता है ।
मृगशिरा-संज्ञा पुं० [सं० मृगशिरस्] सत्ताईस नक्षत्रों में से पाँचवाँ नक्षत्र ।
विशेष—इसके अधिपति चंद्रमा हैं और यह आड़ा या तिर्यंमुख नक्षत्र है । यह तीन तारों से मिलकर बना हुआ और बिल्ली के पैर के आकार का है । आकाश में यह नक्षत्र कन्या लग्न के बाईस पल बीतने पर उदित होता है । मृगशिरा नक्षत्र के पूर्वार्द्ध में (अर्थात् ३० दंड के बीच) वृष राशि और अपरार्द्ध में मिथुन राशि होती है । इस नक्षत्र में उत्पन्न मनुष्य मृगचक्षु, अति बलवान्, सुंदर कपोलवाला, कामुक, साहसी, स्थिर प्रकृति, मित्र-पुत्र से युक्त और थोड़ा धनवान् होता है ।
मृगशीर्ष-संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र ।
मृगसत्र-संज्ञा पुं० [सं०] उन्नीस दिन का एक सत्र ।
मृगांक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंद्रमा । उ०—द्विजराज ससधर उदधि-तनय ससांक मृगांक ।—नंददास । (२) एक रस जो सुवर्ण और रसादि से बनता है और क्षय रोग में विशेष उपकारी होता है । वि० दे० "मृगांक रस" । उ०—(क) राम की रजाइ ते रसाइनी समीर सूनु उतरि पयोधि पार सोधि ससांक सो । जातुधान बुट पुट पाक लंक जातरूप रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ।—तुलसी । (ख) किधौं

विराट के सुरारि राजरोग जानि जू। निमित्त तासु बैद ज्यों जन्यौ मृगांक ठानि जू।—रघुनाथ दास।

मृगांक रस—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रसौषध।

विशेष—पारा एक भाग, सोना एक भाग, मोती दो भाग, गंधक दो भाग और सोहागा एक भाग, इन सब चीजों को काँजी में पीसकर नमक के भाँडे में रखकर चार पहर पकाते हैं। चार रत्ती की मात्रा में सेवन करने से राजयक्ष्मा रोग नष्ट हो जाता है। राजमृगांक और महामृगांक रस भी होते हैं, जिनमें द्रव्यों की संख्या अधिक होती है।

मृगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] सहदेई का पौधा।

मृगाक्षी—संज्ञा स्त्री० [सं०] हरिण के से नेत्रोंवाली।

मृगाजीव—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वारुणी लता। (२) कस्तूरी।

मृगाद्—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह, चीता, बाघ इत्यादि बन जंतु जो मृगों को खाते हैं।

मृगादनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) इंद्रवारुणी। इंद्रायन। (२) सहदेई। (३) ककड़ी।

मृगाराति—संज्ञा पुं० [सं०] कुत्ता।

मृगाश, मृगाशन—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। उ०—(क) मूषकादि ग्रह में रहैं बहिर मृगाश शकुंतु। गो अश्वादिक जीव बहु जीवहिं सब लघु जंतु।—शंकर दि० वि०। (ख) दबति द्रौपदी देखि दुशासन। जिमि बन में लखि मृगी मृगाशन। —रघुराज।

मृगित—वि० [सं०] अन्वेषित।

मृगिनी*‡—संज्ञा स्त्री० [सं० मृग] हरिणी। उ०—(क) ज्यौं मृगिनी वृक झुंड के बासा। त्यों ये अंधसुतन के बासा। लल्लूलाल। (ख) मृग मृगिनी द्रुम बन सारस खग काहू नहीं बतायो री।—सूर। (ग) बाँसुरी को शब्द सुनिकै बधिक की मृगिनी भई।—सूर।

मृगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृग नामक वन्य पशु की मादा। हरिणी। हिरनी। उ०—मनहु मृगी मृग देखि दिया से।—तुलसी। (२) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक रगण (ऽ।ऽ) होता है। जैसे,—री प्रिया। मान तू। मान ना। ठान तू। इसे 'प्रिय वृत्त' भी कहते हैं। (३) कश्यप ऋषि की क्रोधवशा नाम्नी पत्नी से उत्पन्न दस कन्याओं में से एक, जिससे मृगों की उत्पत्ति हुई है और जो पुलह ऋषि की पत्नी थीं। (४) पीले रंग की एक प्रकार की कौड़ी जिसका पेट सफ़ेद होता है। (५) अपस्मार नामक रोग। (६) कस्तूरी।

मृगीपति—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

मृगेंद्र—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

मृगेंद्रचटक—संज्ञा पुं० [सं०] बाज पक्षी।

मृगेंद्रास्य—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मृगेल—संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो संयुक्त प्रांत, बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण की नदियों में पाई जाती है। इसकी आँखें सुनहरी होती हैं। यह डेढ़ हाथ के लगभग लंबी होती है और तौल में नौ या दस सेर होती है।

मृगेश—संज्ञा पुं० [सं०] सिंह।

मृगैर्वारु—संज्ञा पुं० [सं०] श्वेतेंद्रवारुणी। सफ़ेद इंद्रायन।

मृगोत्तम—संज्ञा पुं० [सं०] मृगशिरा नक्षत्र।

मृच्छकटिक—संज्ञा पुं० [सं०] संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक।

मृज—संज्ञा पुं० [सं०] मुरज नाम का बाजा।

मृड़—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० मृडानी] शिव। महादेव।

मृड़ा—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा। पार्वती। उ०—मृडा चंडिका अंबिका भवा भवानी सोय।—नंददास।

मृड़ानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा। भवानी। पार्वती। उ०—अदेवी नृदेवीन की होहु रानी। करैं सेव बानी मघौनी मृडानी।—केशव।

मृड़ीक—संज्ञा पुं० [सं०] हिरन।

मृणाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमल का डंठल जिसमें फूल लगा रहता है। कमलनाल। उ०—(क) तौ शिव धनुष मृणाल कि नाईं। तोरहिं राम गणेश गोसाँईं।—तुलसी। (ख) आई जु चलि गोपाल घरै ब्रजबाल बिशाल मृणाल सी बाहीं।—पद्माकर। (२) कमल की जड़। मुरार। भसींड़। (३) उशीर। खस।

मृणालकंठ—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का जलपक्षी।

मृणालिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल की डंठी। कमलनाल। उ०—भौंरिन ज्यौं भँवत रहत बन बीथिकान, हंसिनि ज्यौं मृदुल मृणालिका चहति है।—केशव।

मृणालिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कमलिनी। (२) वह स्थान जहाँ कमल हों। (३) कमलों का समूह।

मृणाली—संज्ञा स्त्री० [सं०] कमल का डंठल। कमलनाल। उ०—(क) धरे एक बेणी मिली मैल सारी। मृणाली मनों पंक सों काढ़ि डारी।—केशव। (ख) मैलते सहित मानों कंचन की लता लोनी, पंक लपटानी ज्यों मृणाली दरसाई है।—रघुराज।

मृत—वि० [सं०] (१) मरा हुआ। मुर्दा। (२) माँगा हुआ। याचित।

मृतकंबल—संज्ञा पुं० [सं०] वह कपड़ा जिससे मुर्दे को ढँकते हैं। कफन।

मृतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी। मुर्दा। (२) मरण का अशौच।

मृतक कर्म—संज्ञा पुं० [सं०] मृतक पुरुष की शुद्ध गति के लिये किया जानेवाला कृत्य। प्रेम कर्म। जैसे, दाह, षोडशी,

दशगात्र इत्यादि। उ०—तब सुग्रीवहिं आयसु दीन्हा। मृतककर्म विधिवत् सब कीन्हा।—तुलसी।

मृतकधूम–संज्ञा पुं० [सं०] राख। भस्म। उ०—जम्यो गाढ़ भर भर रुधिर ऊपर धूरि उड़ाय। जिमि अँगार रासीन्ह पर मृतकधूम रह छाय।—तुलसी।

मृतकांतक–संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल। गीदड़।

मृतजीव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मरा हुआ प्राणी। (२) तिलक वृक्ष।

मृतजीवनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह विद्या जिससे मुर्दे को जिलाया जाता है। उ०—क्यों न जिवावै असुर-गुरु तम असुरै परभात। संध्यावृत मृत-जीवनी विद्या कही न जात।—गुमान। (२) दुधिया घास। दुग्धिका।

मृतधर्मा–वि० [सं० मृतधर्मन्] नष्ट हो जानेवाला। नश्वर।

मृतमत्त–संज्ञा पुं० [सं०] शृगाल। गीदड़।

मृतवत्सा–वि० स्त्री० [सं०] (स्त्री) जिसकी संतति मर मर जाती हो।

मृतसंजीवन रस–संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जिसका व्यवहार ज्वर में होता है।

मृतसंजीवनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक बूटी जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि इसके खिलाने से मुर्दा भी जी उठता है। उ०—मृतसंजीवनि औषधी अरु करनी संधान। अरु विशलय करनी सुखद ल्यावहु द्रुत हनुमान।—रघुराज। (२) ज्वर का एक औषध जो सुरा के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

मृतसंजीवनी सुरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वाजीकरण औषध।

मृतसूत–संज्ञा पुं० [सं०] रससिंदूर।

मृतसूतक–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मृत संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री। (२) भस्म किया हुआ पारा।

मृतस्नात–वि० [सं०] (१) जिसने किसी सजाति या बंधु के मरने पर उसके उद्देश्य से स्नान किया हो। (२) वह मुरदा, जिसे दाह के पूर्व स्नान कराया गया हो।

मृतस्नान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी भाई बंधु के मरने पर किया जानेवाला स्नान। (२) मृतक का स्नान।

मृतामद–संज्ञा पुं० [सं०] तुत्थ। तूतिया।

मृतालक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अरहर। (२) गोपीचंदन।

मृताशौच–संज्ञा पुं० [सं०] वह अशौच (अपवित्रता) जो किसी आत्मीय, संबंधी, गुरु, पड़ोसी आदि के मरने पर लगता है और जिसमें शुद्ध होने तक ब्रह्मचर्य्य के साथ देव-कर्म्म तथा गृहकर्म से अलग रहना पड़ता है।

मृति–संज्ञा स्त्री० [सं०] मरण। मृत्यु।

मृत्तिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मिट्टी। खाक। उ०—(क) कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठशिला पहिचानत।—तुलसी। (ख) जथा हट तंतु घट मृत्तिका सर्प स्रग दारु करि कनक कटकांगदादी।—तुलसी। (२) अरहर।

मृत्तिका लवण–संज्ञा पुं० [सं०] मिट्टी का लोना। (पुराने घरों की मिट्टी की दीवारों पर सीड़ होने से एक प्रकार का नमक लग जाता है।)

मृत्तिकावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा के किनारे की एक प्राचीन नगरी। (महाभारत)

मृत्युंजय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जिसने मृत्यु को जीत लिया हो। (२) शिव का एक रूप। (३) शिव का एक मंत्र जिसके विधिपूर्वक जपने से अकाल मृत्यु टल जाती है।

मृत्युंजय रस–संज्ञा पुं० [सं०] ज्वर के लिए उपयोगी एक रसौषध।

विशेष—पारा एक माशा, गंधक दो माशे, सोहागा चार माशे, विष आठ माशे, धतूरे के बीज सोलह माशे तथा सोंठ, मिर्च और पीपल दस दस माशे सात सात रत्ती, इन सबको धतूरे की जड़ के रस में पीसकर माशे माशे भर की गोलियाँ बना ले; और जैसा ज्वर हो, उसके अनुसार अनुपान के साथ सेवन करे।

मृत्यु–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शरीर से जीवात्मा का वियोग। प्राण छूटना। मरण। मौत। (२) यमराज। (३) ग्यारह रुद्रों में से एक। (४) विष्णु। (५) ब्रह्मा। (६) माया। (७) कलि। (८) फलित ज्योतिष में आठवाँ ग्रह। (९) कामदेव। (१०) एक साम मंत्र। (११) बौद्ध देवता पद्मपाणि के एक अनुचर।

मृत्युनाशक–संज्ञा पुं० [सं०] पारा।

मृत्युपा–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

मृत्युपुष्प–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईख। गन्ना। (२) केला।

मृत्युफल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केला। (२) महाकाल नाम की लता।

मृत्युबंधु–संज्ञा पुं० [सं०] यम।

मृत्युबीज–संज्ञा पुं० [सं०] बाँस।

मृत्युरूपी–संज्ञा पुं० [सं० मृत्युरूपिन्] (१) यमदूत। (२) वर्ण-माला का "श" अक्षर।

मृत्युलोक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमलोक। ‡(२) मर्त्यलोक।

मृत्युसूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] केकड़े की मादा (जो अंडे देते ही मर जाती है)।

मृत्स–वि० [सं०] चिपचिपा।

मृथा*‡–क्रि० वि० (१) दे० "वृथा"। (२) दे० "मृषा"।

मृद्–संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्तिका। मिट्टी।

विशेष—इस शब्द का अधिकतर व्यवहार समस्त पद बनाने में होता है।

मृदंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का बाजा जो ढोलक से कुछ लंबा होता है। तबले की तरह इसके दोनों मुँह चमड़े से मढ़े जाते हैं। इसका ढाँचा पक्की मिट्टी का होता है, इससे यह मृदंग कहलाता है। उ०—(क) बाजहिं ताल मृदंग

अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा।—तुलसी। (ख) काहू बीन गहा कर काहू नाद मृदंग। सब दिन अनँद बधावा रहस कूद इक संग।—जायसी। (२) बाँस।

मृदंगफल—संज्ञा पुं० [सं०] कटहल। पनश।

मृदंगफलिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] तरोई। तोरई।

मृदंगी—संज्ञा स्त्री० [सं०] तरोई। तोरई।

मृदव—संज्ञा पुं० [सं०] नाटक की भाषा में गुण के साथ दोष के वैषम्य का प्रदर्शन (नाट्यशास्त्र)।

मृदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मृत्तिका। मिट्टी।

मृदाकर—संज्ञा पुं० [सं०] वज्र।

मृदिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अच्छी मिट्टी। (२) गोपीचंदन।

मृदु—वि० [सं०] [स्त्री० मृद्वी] (१) जो छूने में कड़ा न हो। कोमल। मुलायम। नरम। (२) जो सुनने में कर्कश या अप्रिय न हो। जैसे, मृदु वचन। (२) सुकुमार। नाजुक। (४) जो तीव्र या वेगयुक्त न हो। धीमा। मंद। जैसे, मृदु स्वर, मृदु गति।

संज्ञा स्त्री० (१) घृत कुमारी। घीकुआँर। (२) सफ़ेद जाति पुष्प। जूही नामक फूल का पौधा।

मृदुकंटक—संज्ञा पुं० [सं०] कटसरैया।

मृदुखुर—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के खुर का एक रोग।

मृदुगण—संज्ञा पुं० [सं०] नक्षत्रों का एक गण जिसमें चित्रा, अनुराधा, मृगशिरा और रेवती ये चार नक्षत्र हैं।

मृदुच्छद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) भोजपत्र का पेड़। (२) पीलू वृक्ष। (३) लाल लजालू।

मृदुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोमलता। मुलायमियता। (२) धीमापन। मंदता।

मृदुदर्भ—संज्ञा पुं० [सं०] सफ़ेद कुश।

मृदुपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] शिरीष वृक्ष। सिरिस।

मृदुफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मधु नारिकेल। नारियल। (२) विकंकत वृक्ष।

मृदुल—वि० [सं०] कोमल। मुलायम। नरम। उ०—सुमन सेज ते लगि रहे सुंदरि तेरे गात। सुरभित ह्वै मिढ़ि के भये मृदुल नाल जलजात।—लक्ष्मणसिंह। (२) कोमल हृदय। दयामय। कृपालु। उ०—मृदुल चित अजित कृत गरलपानं—तुलसी। (३) नाजुक। सुकुमार। उ०—मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता।—तुलसी।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। पानी। (२) अंजीर।

मृद्वी—वि० स्त्री० [सं०] (१) मृदु। कोमल। (२) कोमलांगी।

संज्ञा स्त्री० कपिल द्राक्षा। सफ़ेद अंगूर।

मृद्वीका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कपिल द्राक्षा। सफ़ेद अंगूर। (२) अंगूर की शराब। द्राक्षासव।

मृद्वीकासव—संज्ञा पुं० [सं०] द्राक्षासव। अंगूर की शराब।

मृध—संज्ञा पुं० [सं०] युद्ध। लड़ाई।

मृनाल*—संज्ञा पुं० दे० "मृणाल"।

मृन्मय—वि० [सं०] मिट्टी का बना हुआ।

मृन्मान—संज्ञा पुं० [सं०] कुआँ। कूप।

मृषा—अव्य० [सं०] झूठमूठ। व्यर्थ।

वि० असत्य। झूठ।

मृषात्व—संज्ञा पुं० [सं०] मिथ्यात्व। असत्यता। झूठपन।

मृषाभाषी—वि० [सं० मृषाभाषिन्] झूठ बोलनेवाला।

मृषालक—संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़। (इसमें थोड़े ही दिन मंजरियों का अलंकार रहता है, इसी से इसका यह नाम रखा गया है।)

मृषावाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) झूठ बोलना। (२) झूठ बात। असत्य वचन।

मृष्ट—वि० [सं०] शोधित।

संज्ञा पुं० मिर्च।

मृष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] परिशुद्धि। शोधन।

में—अव्य० [सं० मध्य, प्रा० मज्झ, पु० हिं० महँ] अधिकरण कारक का चिह्न जो किसी शब्द के आगे लगकर उसके भीतर, उसके बीच या उसके चारों ओर होना सूचित करता है। आधार या अवस्थान-सूचक शब्द। जैसे,—वह घर में बैठा है। घड़े में पानी है। वह चार दिन में आवेगा। पैर में मोजे या जूता पहनना।

संज्ञा पुं० [अनु०] बकरी के बोलने का शब्द।

मेंगनी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मींगी ?] ऐसे पशुओं की विष्ठा जो छोटी छोटी गोलियों के आकार में होती है। लेंडी। जैसे, बकरी की मेंगनी, ऊँट की मेंगनी।

मेंबर—संज्ञा पुं० [अं०] किसी सभा, समाज या गोष्ठी में सम्मिलित व्यक्ति। सभासद। सदस्य। जैसे, काउन्सिल का मेंबर।

मेकदार†—संज्ञा पुं० [अ० मिक़दार] परिमाण। मात्रा। अंदाज़।

मेकल—संज्ञा पुं० [सं०] विंध्य पर्वत का एक भाग जो रीवाँ राज्य के अंतर्गत है और जिसमें अमरकंटक है। इसी पर्वत से नर्मदा नदी निकली है। यह मेखला के आकार का है, इसी से इसे मेखल भी कहते हैं।

मेकलकन्यका—संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी।

मेकलसुता—संज्ञा स्त्री० [सं०] नर्मदा नदी।

मेक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञपात्र।

विशेष—यह चम्मच या करछी के आकार का और चार अंगुल चौड़ा तथा आगे की ओर निकला हुआ होता है।

मेख—संज्ञा पुं० दे० "मेष"।

संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) ज़मीन में गाड़ने के लिए एक ओर नुकीली गढ़ी हुई लकड़ी। खूँटा।

क्रि० प्र०—उखाड़ना।—गाड़ना।—ठोंकना।—मारना।

मुहा०—मेख ठोंकना=हाथ पैर में कील ठोंककर कहीं स्थिर कर देना। बहुत कठोर दंड देना। (इस प्रकार का दंड पहले प्रचलित था।) (२) हराना। दबाना। जेर करना। तोप के मुँह में मेख ठोंकना=तोप का मुँह बंद करके उसे निकम्मा कर देना। मेख मारना=(१) कील ठोंककर चलना या हिलना बंद कर देना। (२) कोई ऐसी बात बोल देना जिससे किसी का होता हुआ काम न हो। भाँजी मारना। (३) चलते हुए काम में रुकावट डालना।

(२) कील। काँटा। (३) लकड़ी की फट्टी जो किसी छेद में बैठाई हुई वस्तु को ढीली होने से रोकने के लिए इधर-उधर पेसी जाय। पच्चड़। (४) घोड़े का लँगड़ापन जो नाल जड़ते समय किसी कील के ऊपर ठुक जाने से होता है।

मेखड़ा-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] बाँस की वह फट्टी जिसे झले या झाबे के मुँह पर गोल घेरा बनाकर बाँध देते हैं।

मेखल-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] (१) करधनी। किंकिणी। उ०—कटि मेखल बर हार ग्रीव दइ रुचिर बाहु भूषन पहिराए।—तुलसी। (२) वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तु के मध्य भाग में उसे चारों ओर से घेरे हो। वि० दे० "मेखला"।

मेखला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तु के मध्य भाग में उसे चारों ओर से घेरे हुए पड़ी हो। (२) सिकड़ी या माला के आकार का एक गहना जो कमर को घेरकर पहना जाता है। करधनी। तागड़ी। किंकिणी।

पर्या०—सप्तकी। कांची। रशना। रसना। कक्षा। कलाप।

(३) कमर में लपेटकर पहनने का सूत या डोरी। करधनी। जैसे, मुंज मेखला। (४) कोई मंडलाकार वस्तु। गोल घेरा। मंडल। मँडरा। (५) पेटी या कमरबंद जिसमें तलवार बाँधी जाती है। (६) डंडे, मूसल आदि के छोर पर या औजारों की मूठ पर लगा हुआ लोहे आदि का घेरदार बंद। सामी। साम। (७) पर्वत का मध्य भाग। (८) नर्मदा नदी। (९) पृश्निपर्णी। (१०) होम-कुंड के ऊपर चारों ओर बना हुआ मिट्टी का घेरा। (११) यज्ञवेष्टन सूत्र। (१२) कपड़े का टुकड़ा जो साधु लोग गले में डाले रहते हैं। कफनी। अलफी।

मेखली-संज्ञा स्त्री० [सं० मेखला] (१) एक प्रकार का पहनावा जिसे गले में डालने से पेट और पीठ ढकी रहती है और दोनों हाथ खुले रहते हैं। यह देखने में तिकोना होता है और ऊपर चौड़ा तथा नीचे नुकीला होता है। इसे देव-मूर्त्तियों को रामलीला, रासलीला आदि में पहनाते हैं। प्रायः साधु भी पहनते हैं। (२) करधनी। कटिबंध। उ०—कबहुँक अपर खिरनहीं भावत कबहुँ मेखली उदर समानी।—सूर।

मेखवा†-संज्ञा पुं० [फ़ा० मेख] सवारी लेकर चलते वक्त, जब रास्ते में आगे खूँटा मिलता है, तब उससे बचने के लिए अगला कहार यह शब्द बोलता है।

मेगज़ीन-संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह स्थान जहाँ सेना के लिए बारूद रखी जाती है। बारूदखाना। (२) सामयिक पत्र, विशेषतः मासिक पत्र जिसमें लेख छपते हैं।

मेघ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश में घनीभूत जलवाष्प जिससे वर्षा होती है। बादल। उ०—कबहुँ प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ उड़ाहिं।—तुलसी। (२) संगीत में छः रागों में से एक।

विशेष—हनुमत् के मत से यह राग ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न है और किसी किसी के मत से आकाश से इसकी उत्पत्ति है। यह ओड़व जाति का राग है; और इसमें ध नि सा रे ग ये पाँच स्वर से लगते हैं। हनुमत् के मत से इसका स्वरग्राम इस प्रकार है—ध नि सा रे ग म प ध। वर्षा काल में रात के पिछले पहर इसे गाना चाहिए। इसकी स्त्रियाँ या रागिनियाँ मल्लारी, सोरठी, सारंगी या हंसिका और मधुमाधवी हैं (हनुमत्)। अन्य मत से ये रागिनियाँ हैं—मल्लारी, देशी, सोरठ, नाटिका, तरुणी और कादंबिनी। इसके पुत्र—मल्लार, गौर, कर्णाट, जलधर, सालाहक, तैलंग, कमल, कुसुम, मेघनाद, सामंत, लूम, भूपति, नाट और बंगाल हैं।

(३) मुस्तक। मोथा। (४) तंडुलीय शाक। (५) राक्षस।

मेघकर्णी-संज्ञा स्त्री० [सं०] स्कंदानुचर मातृभेद।

मेघकाल-संज्ञा पुं० [सं०] वर्षा ऋतु।

मेघगर्जन-संज्ञा पुं० [सं०] बादल की गरज।

विशेष—मेघगर्जन के समय वेदाध्ययन निषिद्ध है। उपनयन के दिन यदि बादल गरजे, तो उपनयन टाल देना चाहिए।

मेघज्योति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वज्राग्नि। बिजली।

मेघडंबर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन। (२) बड़ा चँदोवा। बड़ा शामियाना। दल बादल। (३) एक प्रकार का छत्र।

मेघडंबर रस-संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो श्वास और हिचकी के रोग में दी जाती है।

विशेष—बराबर बराबर पारे और गंधक की कजली चौलाई के रस में पाँच दिन खरल करके मज़बूत घरिया में रखकर बालुका यंत्र से एक दिन भर की आँच देने से यह बनता है। इसकी मात्रा ६ रत्ती है।

मेघदुंदुभि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ गर्जन। (२) एक राक्षस का नाम।

मेघद्वार-संज्ञा पुं० [सं०] आकाश।

मेघधनु-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रधनुष।

मेघनाट—संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो मेघ राग का पुत्र माना जाता है।

मेघनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र।

मेघनाद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ का गर्जन। (२) वरुण। (३) रावण का पुत्र इंद्रजित् जो लक्ष्मण के हाथ से मारा गया था। (४) पलाश का पेड़। (५) एक दानव। (हरिवंश) (६) मयूर। मोर। (७) बिडाल। बिल्ली।

मेघनादमूल—संज्ञा स्त्री० [सं०] चौलाई की जड़।

मेघनाद रस—संज्ञा पुं० [सं०] एक रसौषध जो ज्वर में दी जाती है। विशेष—एक एक तोला रूपा, काँसा और ताँबा तितराज की जड़ के काढ़े में डालकर छः बार गजपुट पाक करने से यह बनता है। इसकी मात्रा पान के साथ दो रत्ती है।

मेघनीलक—संज्ञा पुं० [सं०] तालीश वृक्ष।

मेघपटल—संज्ञा पुं० [सं०] बादल की घटा।

मेघपति—संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का राजा या स्वामी, इंद्र।

मेघपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र का घोड़ा। (२) श्रीकृष्ण के रथ के चार घोड़ों में से एक। उ०—शैव्य, बलाहक, मेघपुष्प, सुग्रीव बाजीरथ।—गोपाल। (३) वर्षा का जल। (४) बकरे का सींग। (५) मोथा। मुस्तक।

मेघपुष्पा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जल। (२) बेत। (३) ओला।

मेघपृष्ठि—संज्ञा पुं० [सं०] क्रौंच द्वीप के एक खंड का नाम।

मेघफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघ के वर्ण द्वारा वर्ष के शुभाशुभ फल का निर्णय। (२) विकंकत वृक्ष।

मेघभूति—संज्ञा स्त्री० [सं०] बिजली।

मेघमल्लार—संज्ञा पुं० [सं०] संपूर्ण जाति का एक राग जो मेघ राग और उसकी पत्नी मलारी के योग से बनता है। इसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं।

मेघमाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] बादलों की घटा। उ०—माली मेघमाल बनपाल विकराल भट नीके सब काल सींचैं सुधासार नीर के।—तुलसी।

संज्ञा पुं० (१) रंभा के गर्भ से उत्पन्न कल्कि के पुत्र का नाम। (कल्कि पुराण) (२) प्लक्ष द्वीप का एक पर्वत। (३) एक राक्षस का नाम।

मेघमाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बादलों की घटा। कादंबिनी। (२) स्कंद की अनुचरी एक मातृका का नाम।

मेघमाली—संज्ञा पुं० [सं० मेघमालिन्] (१) स्कंद का एक अनुचर। (२) एक असुर।

मेघयोनि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) धूआँ। (२) कुहरा।

मेघराज—संज्ञा पुं० [सं०] पुष्करावर्त्तक आदि मेघों के नायक, इंद्र।

मेघवर्णा—संज्ञा स्त्री० [सं०] नील का पौधा।

मेघवर्त्त—संज्ञा पुं० [सं०] प्रलय काल के मेघों में से एक का नाम। उ०—सुनि मेघवर्त्तक साजि सैन लै आए। जलवर्त्त वारिवर्त्त पवनवर्त्त वज्रवर्त्त आगिवर्त्तक जलद सँग लाए।—सूर।

मेघवाई*†—संज्ञा स्त्री० [हिं० मेघ+वाई (प्रत्य०)] बादल की घटा। उ०—चली सैन्य कछु बरनि न जाई। मनहुँ उठी पूरब मेघवाई।—रघुराज।

मेघवान्—संज्ञा पुं० [सं०] पश्चिम दिशा का एक पर्वत। (बृहत्संहिता।

मेघवाहन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) एक बौद्ध राजा का नाम।

मेघविस्फूर्जिता—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त का नाम जिसके प्रत्येक चरण में यगण, मगण, नगण, सगण, रगण, रगण और एक गुरु होता है।

मेघसार—संज्ञा पुं० [सं०] घनसार। चीनिया कपूर।

मेघस्वन—संज्ञा पुं० [सं०] बादलों का शब्द। मेघों का गर्जन। वि० बादल की तरह गरजनेवाला।

मेघस्वनांकुर—संज्ञा पुं० [सं०] वैदूर्य्य मणि। बिलौर। (ऐसा प्रवाद है कि बादल के गरजने पर वैदूर्य्य मणि की उत्पत्ति होती है।

मेघस्वर—संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

मेघा†—संज्ञा पुं० [सं० मेघ=बादल (के आने पर जो दिखाई दे)] मेढक। मंडूक।

मेघागम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) वर्षा काल। (२) धारा कदंब।

मेघाच्छन्न—वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ।

मेघाच्छादित—वि० [सं०] बादलों से ढका हुआ। बादलों से छाया हुआ।

मेघाडंबर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेघगर्जन। बादल की गरज। (२) बादल का फैलाव।

मेघानंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोर। मयूर। (२) बलाका। बगला।

मेघावरि*†—संज्ञा स्त्री० [सं० मेघावलि] बादलों की घटा। उ०—केस मेघावरि सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु कै नाईं।—जायसी।

मेघास्थि—संज्ञा पुं० [सं०] ओला।

मेच†—संज्ञा स्त्री० [सं० मंच] (१) पर्यंक। पलंग। (२) बेंत की बुनी हुई खाट।

† संज्ञा स्त्री० दे० "मेज़"।

संज्ञा पुं० [देश०] आसाम की एक पहाड़ी जाति।

मेचक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) अंधकार। अँधेरा। (२) नीलांजन। सुरमा। (३) मोर की चंद्रिका। (४) धूआँ। धूम। (५) मेघ। (६) शोभांजन। सहिंजन। (७) पीतशाल।

पियासाल। (८) काला नमक। (९) बिच्छू की एक छोटी जाति।

वि० श्यामल। काला। स्याह।

मेचकता–संज्ञा स्त्री० [सं०] कालापन। श्यामता।

मेचकताई*–संज्ञा स्त्री० दे० "मेचकता"।

मेज–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की पहाड़ी घास जो हिमालय पर ५००० फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है और जिसे घोड़े और चौपाए बड़े चाव से खाते हैं।

मेज़–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] लंबी चौड़ी चौकी जो बैठे हुए आदमी के सामने उस पर रखकर खाना खाने, लिखने पढ़ने या और कोई काम करने के लिए रखी जाती है। टेबुल।

मेज़पोश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] चौकी या मेज़ पर बिछाने का कपड़ा।

मेज़बान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] भोजन कराने या आतिथ्य करनेवाला। मेहमानदार। 'मेहमान' का उलटा।

मेजर–संज्ञा पुं० [अं०] फौज का एक अफसर।

मेजा†–संज्ञा पुं० [सं० मंडूक, हिं० मेढक पूरबी हिं० मेझुका] मेढक। मंडूक। उ०—केवट हँसे सो सुनत गवंजा। समुद न जानु कुवाँ कर मेजा।—जायसी।

मेट–संज्ञा पुं० [अं०] मजदूरों का अफसर या सरदार। टंडैल। जमादार।

मेटक*†–संज्ञा पुं० [हिं० मेटना (में क सं० प्रत्य०] नाशक। मिटानेवाला। उ०—देव जू को न हिये हुलसी तुलसी बन में कुलसीउ को मेटक।—देव।

मेटनहार, मेटनहारा*†–संज्ञा पुं० [हिं० मेटना+हार (प्रत्य०)] मिटानेवाला। दूर करनेवाला। हटानेवाला। उ०—बिधि कर लिखा को मेटनहारा।—तुलसी।

मेटना†–क्रि० स० [सं० मृष्ट=साफ किया हुआ, प्रा० मिट्ट+ना (प्रत्य०)] (१) घिस कर साफ करना। मिटाना। (२) दूर करना। न रहने देना। (३) नष्ट करना। वि० दे० "मिटाना"।

मेटिया†–संज्ञा स्त्री० [सं० मृत्कांस्य, हिं० मटका] घड़े से छोटा मिट्टी का बरतन जिसमें दूध, दही आदि रखते हैं। मटकी।

मेटी†–संज्ञा स्त्री० दे० "मेटिया"।

मेटुकी–संज्ञा स्त्री० दे० "मटकी"।

मेटुवा†–वि० [हिं० मेटना] किए हुए उपकार को न माननेवाला। कृतघ्न।

मेठ–संज्ञा पुं० [सं०] हाथीवान। फीलवान।

मेड़–संज्ञा पुं० [सं० भित्ति ?] (१) मिट्टी डालकर बनाया हुआ खेत या जमीन का घेरा। छोटा बाँध। (२) दो खेतों के बीच में हद या सीमा के रूप में बना हुआ रास्ता।

क्रि० प्र०—डालना।—बाँधना।

यौ०—मेड़बंदी।

(३) ऊँची लहर या तरंग। (लश०)

क्रि० प्र०—पड़ना।

मेड़बंदी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मेड़+फ़ा० बंद, या हिं० बँधना] (१) मिट्टी डालकर बनाया हुआ घेरा। (२) इस प्रकार घेरा बनाने की क्रिया। हदबंदी।

मेडक–संज्ञा पुं० दे० "मेढक"।

मेड़रा†–संज्ञा पुं० [सं० मंडल, हिं० मंडरा] [स्त्री० अल्पा० मेड़री] (१) किसी गोल वस्तु का उभरा हुआ किनारा। (२) किसी वस्तु का मंडलाकार ढाँचा। जैसे, छलनी या खँजरी का मेड़रा।

मेड़राना†–क्रि० अ० दे० "मँडराना"।

मेड़री†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मेड़रा] (१) किसी गोल या मंडलाकार वस्तु का उभरा हुआ किनारा। (२) मंडलाकार वस्तु का ढाँचा। (३) चक्की के चारों ओर का वह स्थान जहाँ आटा पिसकर गिरता है।

मेडल–संज्ञा पुं० [अं०] चाँदी, सोने आदि की वह विशेष प्रकार की मुद्रा जो कोई अच्छा या बड़ा काम करने अथवा विशेष निपुणता दिखाने पर किसी को दी जाय और जिस पर देनेवाले का नाम खुदा हो; तथा जिस बात के लिए वह दी गई हो, उसका भी उल्लेख हो। तमगा। पदक।

मेड़िया–संज्ञा स्त्री० [सं० मंडप, हिं० मढ़ी] मढ़ी। मंडप। छोटा घर। उ०—कहा चुनावै मेड़िया चूना माटी लाय। मीच चुनैगी पापिनी दौरि कै लैगी खाय।—कबीर।

मेढक–संज्ञा पुं० [सं० मंडूक] एक जलस्थल-चारी जंतु जो तीन चार अंगुल से लेकर एक बालिश्त तक लंबा होता है। यह पानी में तैरता है और ज़मीन पर कूद कूदकर चलता है। इसके चार पैर होते हैं जिनमें जालीदार पंजे होते हैं। यह फेफड़ों से साँस लेता है, मछलियों की तरह गलफड़ों से नहीं।

पर्य्या०—मंडूक। दर्दुर।

विशेष—विकास क्रम में यह जलचारी और स्थलचारी जंतुओं के बीच का माना जाता है। मछलियों से ही क्रमशः विकास परंपरानुसार जलस्थलचारी जंतुओं की उत्पत्ति हुई है, जिनमें सब से अधिक ध्यान देने योग्य मेढक है। रीढ़वाले जंतुओं में जो उन्नत कोटि के हैं, वे फेफड़ों से साँस लेते हैं। पर जिनका ढाँचा सादा है और जिन्हें जल ही में रहना पड़ता है, वे गलफड़ों से साँस लेते हैं। मछली के ढाँचे से उन्नति करके मेढक का ढाँचा बना है, इसका आभास मेढक की वृद्धि को देखने से मिल सकता है। अंडे के फूटने पर मेढक का डिंभकीट मछली के रूप में आता है, जल ही में रहता है, गलफड़ों से साँस लेता है और घास-पात खाता है। उसे लंबी पूँछ होती है, पैर नहीं होते। कहीं कहीं उसे "छुछ-

मछली" भी कहते हैं। धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ वह उभयचारी जंतु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजों से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला और कीड़े-पतिंगे खानेवाला मेढक हो जाता है।

मेढ़ा—संज्ञा पुं० [सं० मेढ़] [स्त्री० भेड़] सींगवाला एक चौपाया जो लगभग डेढ़ हाथ ऊँचा और घने रोयों से ढका होता है। इसका रोयाँ बहुत मुलायम होता है और ऊन कहलाता है। इसका माथा और सींग बहुत मजबूत होते हैं। ये आपस में बड़े वेग से लड़ते हैं, इससे बहुत से शौकीन इन्हें लड़ाने के लिए पालते हैं। मादा भेड़ जितनी ही सीधी होती है, उतने ही मेढ़े क्रोधी होते हैं। मेढ़े की एक जाति ऐसी होती है जिसकी पूँछ में चरबी का इतना अधिक संचय होता है कि वह चक्की के पाट की तरह फैलकर चौड़ी हो जाती है। ऐसा मेढ़ा "दुंबा" कहलाता है। वि० दे० "भेड़"।

मेढ़ासिंगी—संज्ञा स्त्री० [सं० मेढ़शृंगी] एक झाड़ीदार लता जो मध्य प्रदेश और दक्षिण के जंगलों में तथा बंबई के आस-पास बहुत होती है। इसकी जड़ औषध के काम में आती है और सर्प का विष दूर करने के लिए प्रसिद्ध है। इसकी पत्तियाँ चबाने से जीभ देर तक सुन्न रहती है। वैद्यक में यह तिक्त, वातवर्द्धक, श्वासकास-वर्द्धक, पाक में रूक्ष, कटु तथा व्रण, श्लेष्मा और आँख के दर्द को दूर करनेवाली मानी जाती है। इसके फल दीपन तथा कास, कृमि, व्रण, विष और कुष्ठ को दूर करनेवाले कहे जाते हैं।

मेढ़ी†—संज्ञा स्त्री० [सं० वेणी] (१) तीन लड़ियों में गूथी हुई चोटी। उ०—कटकन चारु, भृकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए।—तुलसी। (२) घोड़ों के माथे पर की एक भौंरी।

मेढ्र—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिश्न। लिंग। (२) मेढ़ा।

मेथिका—संज्ञा स्त्री० [स०] मेथी।

मेथी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक छोटा पौधा जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है और जिसकी पत्तियाँ कुछ गोल होती हैं और साग की तरह खाई जाती हैं। इसकी फलियों के दाने मसाले और औषध के काम में आते हैं और देखने में कुछ चौखूँटे होते हैं। इसकी फसल जाड़े में तैयार होती है। वैद्यक में इसका गुण कटु, उष्ण, अरुचिनाशक, दीप्तिकारक, वातघ्न तथा रक्त-पित्त-प्रकोपन माना गया है।

पर्य्या०—दीपनी। बहुमूत्रिका। गंधबीजा। ज्योति। गंधफला। वल्लरी। चंद्रिका। मंथा। मिश्रपुष्पा। कैरवी। बहुपर्णी। पीतबीजा।

मेथौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मेथी+बरी] मेथी का साग मिलाकर बनाई हुई उर्द की पीठी की बरी।

मेद—संज्ञा पुं० [सं० मेदस्, मेद] (१) शरीर के अंदर की वपा नामक धातु। चरबी।

विशेष—सुश्रुत के अनुसार मेद मांस से उत्पन्न धातु है जिससे अस्थि बनती है। भावप्रकाश आदि वैद्यक ग्रंथों में लिखा है कि जब शरीर के अंदर की स्वाभाविक अग्नि से मांस का परिपाक होता है, तब मेद बनता है। इसके इकट्ठा होने का स्थान उदर कहा गया है।

(२) मोटाई या चरबी बढ़ने का रोग। (३) कस्तूरी। उ०—(क) रचि रचि साजे चंदन चौरा। पोते अगर मेद औ गौरा।—जायसी। (ख) कहि केशव मेद जवादि सों माँजि इते पर आँजे में अंजन दै।—केशव। (४) नीलम की एक छाया। (रत्नपरीक्षा) (५) एक अंत्यज जाति जिसकी उत्पत्ति मनुस्मृति में वैदेहिक पुरुष और निषाद स्त्री से कही गई है।

मेदपुच्छ—संज्ञा पुं० [सं०] दुंबा मेढ़ा।

मेदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अष्टवर्ग में से एक प्रसिद्ध ओषधि जो ज्वर और राजयक्ष्मा में अत्यंत उपकारी कही गई है। कहते हैं कि इसकी जड़ अदरक की तरह, पर बहुत सफेद होती है और नाखून गड़ाने से उसमें से मेद के समान दूध निकलता है। वैद्यक में यह मधुर, शीतल तथा पित्त, दाह, खाँसी, ज्वर और राजयक्ष्मा को दूर करनेवाली कही गई है। यह मोरंग की ओर पाई जाती है।

संज्ञा पुं० [अ०] पाकाशय। पेट। कोठा। जैसे, मेदे की शिकायत।

मुहा०—मेदा कड़ा होना=आँतों की क्रिया इस प्रकार की होना कि जल्दी दस्त न हो। मेदा साफ होना=मलशुद्धि होना। दस्त होने से कोठा साफ़ होना।

मेदिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मेदा। (२) पृथ्वी। धरती। (पुराणों में मधुकैटभ के मेद से पृथ्वी की उत्पत्ति कही गई है, इसी से यह नाम पड़ा है।)

मेदुर—वि० [सं०] चिकना। स्निग्ध।

मेदोज—संज्ञा पुं० [सं०] हड्डी। अस्थि।

मेदधरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर की तीसरी कला या झिल्ली जिसमें मेद या चरबी रहती है।

मेदोर्बुद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेदयुक्त गाँठ या गिल्टी जिसमें पीड़ा हो। (२) ओठ का एक रोग।

मेदोवृद्धि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चरबी का बढ़ना। मोटाई। (२) अंडवृद्धि।

मेध—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) हवि। (३) यज्ञ में बलि दिया जानेवाला पशु।

मेधज—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

मेधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अंतःकरण की वह शक्ति जिससे जानी, देखी, सुनी या पढ़ी हुई बातें मन में बराबर बनी रहती हैं, भूलती नहीं। बात को स्मरण रखने की मानसिक

शक्ति। धारणावाली बुद्धि। (२) दक्ष प्रजापति की एक कन्या। (३) षोडश मातृकाओं में से एक जिसका पूजन नांदीमुख श्राद्ध में होता है। (४) छप्पय छंद का एक भेद।

मेधाजित्–संज्ञा पुं० [सं०] कात्यायन मुनि।

मेधातिथि–संज्ञा पुं० [सं०] एक नाम जो बहुत से लोगों का है—(१) काण्ववंश में उत्पन्न एक ऋषि जो ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १२-२३ सूक्तों के द्रष्टा थे। (२) कण्व मुनि के पिता। (महाभारत) (३) भट्ट वीरस्वामी के पुत्र जो मनु, संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। (४) प्रियव्रत के पुत्र और शाकद्वीप के अधिपति। (भागवत) (५) कर्दम प्रजापति के पुत्र।

मेधावती–संज्ञा स्त्री० [सं०] महाज्योतिष्मती लता।

मेधावान्–वि० [सं० मेधावत्] [स्त्री० मेधावती] जिसकी स्मरण शक्ति तीव्र हो। धारणाशक्तिवाला।

मेधावी–वि० [सं० मेधाविन्] [स्त्री० मेधाविनी] (१) मेधा शक्तिवाला। जिसकी धारणाशक्ति तीव्र हो। (२) बुद्धिमान्। चतुर। (३) पंडित। विद्वान्।

संज्ञा पुं० (१) शुक पक्षी। सूआ। तोता। (२) मद्य। शराब। (३) कश्यप के एक पुत्र। (४) च्यवन के एक पुत्र। उ०—च्यवनपुत्र मेधावी नामा। करै तपस्या विपिन अकामा।—विश्राम।

मेधि–संज्ञा पुं० [सं०] उस स्थान पर गड़ा हुआ खंभा जहाँ खेत से लाकर फ़सल फैलाई जाती है। दानेवाले बैल इसी खंभे में बँधे हुए चारों ओर घूमकर पैरों से डंठलों के दाने झाड़ते हैं।

मेधिर–वि० [सं०] तत्पर बुद्धिवाला। मेधावी। बुद्धिमान्।

मेध्य–वि० [सं०] (१) बुद्धि बढ़ानेवाला। मेधाजनक। (२) पवित्र। शुचि।

संज्ञा पुं० (१) खैर। कत्था। (२) जौ। (३) बकरा।

मेनका–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) स्वर्ग की एक अप्सरा जो इंद्र की आज्ञा से विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए गई थी और विश्वामित्र के संयोग से जिसे शकुन्तला नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी। (२) उमा या पार्वती की माता जो हिमवान् की पत्नी थी।

मेनकात्मजा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शकुंतला। (२) पार्वती। दुर्गा।

मेनकाहित–संज्ञा पुं० [सं०] रासक नामक नाटक का एक भेद।

मेना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पितरों की मानसी कन्या मेनका। (२) हिमवान् की स्त्री, मेनका। (३) स्त्री। (४) वृषणश्व की मानसी कन्या। (ऋग्वेद) (५) वाक्।

मेनाद–संज्ञा पुं० [अनु० मे+नाद] (१) बिल्ली। (२) बकरा। (३) मोर।

मेनाधव–संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय।

मेम–संज्ञा स्त्री० [अं० मैडम का संक्षिप्त रूप] (१) योरोप या अमेरिका आदि की स्त्री। (२) ताश का एक पत्ता जिसे बीबी या रानी भी कहते हैं। यह पत्ता बादशाह से छोटा और गुलाम से बड़ा माना जाता है।

मेमना–संज्ञा पुं० [अनु० मे में] (१) भेड़ का बच्चा। (२) घोड़े की एक जाति। उ०—कोइ काबुल कँबोज कोइ कच्छी। चोंत मेमना मुंजी लच्छी।—विश्राम।

मेमार–संज्ञा पुं० [अ०] भवन-निर्माण करनेवाला शिल्पी। इमारत बनानेवाला। थवई। राजगीर।

मेमोरियल–संज्ञा पुं० [अं०] (१) वह प्रार्थनापत्र जो किसी बड़े अधिकारी के पास विचारार्थ भेजा जाय। (२) स्मारक-चिह्न। यादगार।

मेय–वि० [सं०] (१) जिसकी नाप जोख हो सके। जिसका परिमाण या विस्तार ठीक बताया जा सके। (२) जो नापा जोखा जानेवाला हो।

मेर*†–संज्ञा पुं० दे० "मेल" उ०—(क) एहि सो कृष्ण बलराज जस कीन्ह चहै छर बाँध। मन बिचार हम आवहीं मेरहि दीज न काँध।—जायसी। (ख) अपने अपने मेरनि मानो उनि होरी हरख लगाई।—सूर।

मेरक–संज्ञा पुं० [सं०] एक असुर जिसे विष्णु ने मारा था।

मेरठी–संज्ञा पुं० [मेरठ नगर से] गन्ने की एक जाति जो मेरठ की ओर होती है।

मेरवना–क्रि० स० [सं० मेलन] (१) दो या कई वस्तुओं को एक में करना। मिश्रित करना। मिलना। उ०—ते मेरए धरि धूरि सुजोधन जे चलते बह छत्र की छाहीं।—तुलसी। (२) दो या कई व्यक्तियों को एक साथ करना। संयोग कराना। मिलाप कराना। उ०—(क) चतुरवेद हौं पंडित हीरामन मोहि नाउँ। पद्मावत सौं मेरवौ सेव करो तेहि ठाउँ।—जायसी। (ख) है मोहिं आस मिलै कै जौ मेरव करतार।—जायसी।

मेरा–सर्व० [हिं० मैं+रा (प्रा० केरिओ, हिं० केरा)] [स्त्री० मेरी] "मैं" के संबंधकारक का रूप। मुझसे संबंध रखनेवाला। मदीय। मम। जैसे,—यह घोड़ा मेरा है।

*†संज्ञा पुं० दे० "मेला"। उ०—यह संसार सुपन जस मेरा। अंत न आपन को केहि केरा।—जायसी।

मेराउ†–संज्ञा पुं० दे० "मेराव"। उ०—धनि ओहि जीव दीन्ह बिधि भाऊ। दहुँ का मउँ लेइ करइ मेराऊ।—जायसी।

मेराव–संज्ञा पुं० [हिं० मेर=मेल] मेल। मिलाप। समागम। उ०—पदुमावति पुनि पूजइ आवा। होइहि ओहि मिसु दिस्ट मेरावा।—जायसी।

मेरी–सर्व० "मेरा" का स्त्री० रूप।

संज्ञा स्त्री० अहंकार। उ०—मेरी मिटी मुक्ता भया पाया ब्रह्म विस्वास। मेरे दूजा कोउ नहीं एक तुम्हारी आस।—कबीर

मेरु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक पुराणोक्त पर्वत जो सोने का कहा गया है। वि० दे० "सुमेरु"।

पर्य्या०—हेमाद्रि। रत्नसानु। सुरालय।

(२) जपमाला के बीच का बड़ा दाना जो और सब दानों के ऊपर होता है। इसी से जप का आरंभ और इसी पर उस की समाप्ति होती है। सुमेरु (जप करते समय 'मेरु' का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।) उ०—कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेरु। माला फेरौ साँस की जामें गाँठि न मेरु।—कबीर। (३) एक विशेष ढाँचे का देवमंदिर।

विशेष—यह षट्कोण होता है और इसमें १२ भूमिकाएँ या खंड होते हैं। अंदर अनेक प्रकार के गवाक्ष (मोखे) और चारों दिशाओं में द्वार होते हैं। इसका विस्तार ३२ हाथ और ऊँचाई ६४ हाथ होनी चाहिए। (बृहत्संहिता)

(४) वीणा का एक अंग। (५) पिंगल या छंदःशास्त्र की एक गणना जिससे यह पता लगता है कि कितने कितने लघु गुरु के कितने छंद हो सकते हैं।

मेरुआ-संज्ञा पुं० [सं० मेरु+आ (प्रत्य०)] खेत बराबर करने के पाटे का छोर पर का भाग जिसमें रस्सियाँ बँधी होती हैं।

मेरुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ईशान कोण में स्थित एक देश। (बृहत्संहिता) (२) यज्ञधूम। धूना।

मेरुकल्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक बुद्ध का नाम।

मेरुदंड-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पीठ के बीच की हड्डी। रीढ़। (२) पृथ्वी के दोनों ध्रुवों के बीच गई हुई सीधी कल्पित रेखा।

मेरुदेवी-संज्ञा स्त्री० [सं०] मेरु की कन्या और नाभि की पत्नी जो विष्णु के अवतार ऋषभदेव की माता थी।

मेरुधामा-संज्ञा पुं० [सं० मेरुधामन्] शिव, महादेव।

मेरुपृष्ठ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आकाश। (२) स्वर्ग।

मेरुभूत-संज्ञा पुं० [सं०] एक जाति का नाम।

मेरुभूतसिंधु-संज्ञा पुं० [सं०] पह्लव देश का दूसरा नाम।

मेरुयंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) चरखा। (२) बीजगणित में एक प्रकार का चक्र।

मेरुशिखर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मेरु की चोटी। (२) हठ योग में माने हुए मस्तक के छः चक्रों में से सब से ऊपर का चक्र। इसका स्थान ब्रह्मरंध्र, रंग अवर्णनीय और देवता चिन्मय शक्ति है। इसके दलों की संख्या १०० और दलों का अक्षर ओंकार है। इसे 'सहस्त्रार' भी कहते हैं।

मेरुश्रीगर्भ-संज्ञा पुं० [सं०] एक बोधिसत्व का नाम।

मेरुसावर्ण-संज्ञा पुं० [सं०] ग्यारहवें मनु का नाम।

मेरे-सर्व० [हिं० मेरा] (१) 'मेरा' का बहुवचन। जैसे,—ये आम मेरे हैं। (२) 'मेरा' का वह रूप जो उसे संबंधवान् शब्द के आगे विभक्ति लगने के कारण प्राप्त होता है। जैसे,—मेरे घर पर आना।

मेल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो या अधिक वस्तुओं या व्यक्तियों के इकट्ठा होने का व्यापार अथवा भाव। मिलने की क्रिया या भाव। संयोग। समागम। मिलाप। जैसे,—(क) इधर से यह चला, उधर से वह; बीच में दोनों का मेल हो गया। (ख) इसी स्टेशन पर दोनों पर गाड़ियों का मेल होता है।

क्रि० प्र०—करना।—कराना।—रखना।—होना।

यौ०—मेल-मिलाप।

(२) एक साथ प्रीतिपूर्वक रहने का भाव। अनबन का न रहना। एकता। सुलह। जैसे,—दोनों भाइयों में बड़ा मेल है।

यौ०—मेल-जोल।

मुहा०—मेल करना=विरोध दूर करना और परस्पर हित-संबंध स्थापित करना। सुलह करना। संधि करना। मेल होना=झगड़ा मिटना। सुलह होना।

(३) पारस्परिक घनिष्ट व्यवहार। मैत्री। मित्रता। दोस्ती। प्रीति संबंध। जैसे,—उसने अब मेरे शत्रुओं से मेल किया है।

मुहा०—मेल बढ़ाना=घनिष्ट व्यवहार करना। अधिक परिचय और साथ करना। मैत्री करना। जैसे,—उससे बहुत मेल मत बढ़ाओ; नहीं तो धोखा खाओगे।

(४) अनुकूलता। अनुरूपता। उपयुक्तता। संगति। सामंजस्य। मुआफ़िक़त।

मुहा०—मेल खाना=(१) साथ का ठीक होना। संगति का उपयुक्त होना। पटरी बैठना। साथ निभना। जैसे,—हमारा उनका मेल नहीं खा सकता। (२) वस्तुओं की एक साथ स्थिति का अच्छा या ठीक होना। दो चीज़ों का जोड़ ठीक बैठना। जैसे,—इसका रंग कपड़े के रंग के साथ मेल नहीं खाता है। मेल बैठना=दे० "मेल खाना"। मेल मिलना=दे० "मेल बैठना"।

(५) जोड़। टक्कर। बराबरी। समता। जैसे,—इसके मेल की चीज़ का मिलना तो कठिन है। (६) ढंग। प्रकार। चाल। तरह। जैसे,—इसकी दूकान पर कई मेल की चीज़ें हैं। (७) दो वस्तुओं का एक में होना। मिश्रण। मिलावट। जैसे,—हरा रंग नीले और पीले रंगों के मेल से बनता है।

मेलक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) संग। सहवास। (२) मेला। (३) समूह। जमावड़ा। (४) मिलन। समागम। (५) वर और कन्या की राशि, नक्षत्र आदि का विवाह के लिए किया जानेवाला मिलान।

मेलन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ होना। इकट्ठा होना। मिलन। (२) जमावड़ा। (३) मिलाने की क्रिया या भाव।

मेलना⁕†–क्रि० स० [हिं० मेल+ना (प्रत्य०)] (१) मिलाना। (२) डालना। रखना। उ०—जे कर कनक कचोरा भरि भरि मेलत तेल फुलेल।—सूर। (३) धारण कराना। पहनाना। उ०—सिय जयमाल राम उर मेली।—तुलसी।

क्रि० अ० इकट्ठा होना। एकत्र होना। जुटना। उ०—बलसागर लछमन सहित कपिसागर रनधीर। जससागर रघुनाथ जू मेले सागर तीर।

मेलमल्लार–संज्ञा पुं० [सं०] एक रागिनी जिसकी स्वरलिपि इस प्रकार है—स स स रे म प ध स स ध प म ग रे स।

मेलांधु–संज्ञा पुं० [सं०] दवात।

मेला–संज्ञा पुं० [सं० मेलक] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा। भीड़-भाड़। (२) देवदर्शन, उत्सव, खेल, तमाशे आदि के लिये बहुत से लोगों का जमावड़ा। जैसे, माघमेला, हरिहर क्षेत्र का मेला।

यौ०—मेला-ठेला।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत से लोगों का जमावड़ा। (२) मिलन। समागम। मिलाप। (३) स्याही। रोशनाई। (४) अंजन। (५) महानीली।

मेला-ठेला–संज्ञा पुं० [हिं० मेला+ठेला=धक्का] भीड़ भाड़ और धक्का। जमावड़ा। जैसे,—मेले-ठेले में स्त्रियों का जाना ठीक नहीं।

मेलानंदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] दवात।

मेलाना†–क्रि० स० [हिं० मेल] (१) मेलना का प्रेरणार्थक रूप। (२) रेहन या गिरवी रखी हुई वस्तु को रुपया देकर छुड़ाना।

मेली–संज्ञा पुं० [हिं० मेल] वह जिससे मेल-जोल हो। वह जिससे घनिष्ट परिचय हो। मुलाक़ाती। संगी। साथी।

वि० हेल-मेल रखनेवाला। जल्दी हिल-मिल जानेवाला। जिसकी प्रवृत्ति लोगों को मित्र बनाने की हो। यारबाश। जैसे,—वह बड़ा मेली आदमी है।

मेल्टिंग केट्ल–संज्ञा पुं० [अं०] सरेस गलाने की देगची। यह एक ढकनेदार दोहरा बरतन होता है। नीचे के बरतन में पानी भरकर उसके अंदर दूसरा बरतन रखकर उसमें सरेस भर देते हैं और ढककर आँच पर चढ़ा देते हैं। पानी की भाप से सरेस गल जाता है। गल जाने पर उसे रोलर मोल्ड में ढाल देते हैं, जिससे वह जम जाता है और स्याही देने का बेलन तैयार होकर निकल आता है। (छापाखाना)

मेल्हना–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की नाव जिसका सिक्का खड़ा रहता है।

†–क्रि० अ० (१) क्लेश या पीड़ा से बार बार इस करवट से उस करवट होना। छटपटाना। बेचैन होना। (२) कोई काम करने में आनाकानी करके समय बिताना।

मेव–संज्ञा पुं० [देश०] राजपूताने की ओर बसनेवाली एक लुटेरी जाति। मेवाती। उ०—छवि-बन में दौरन लगे जब तें तव दृग मेव। तब तें कढ़े सनेहिया मन छन लै कै छेव।—रसनिधि।

विशेष—मेव पहले हिंदू थे और मेवात में बसते थे। पर मुसलमानी बादशाहत के ज़माने में ये मुसलमान हो गए। अब ये लोग लूट-पाट प्राय: छोड़ते जा रहे हैं।

मेवड़ी–संज्ञा स्त्री० [देश०] निर्गुंडी। सँभालू।

मेवा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) खाने का फल। (२) किशमिश, बादाम, अखरोट आदि सुखाए हुए बढ़िया फल।

संज्ञा पुं० [देश०] सूरत के गन्ने की एक जाति जिसे 'खजुरिया' भी कहते हैं।

मेवाटी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मेवा+बाटी] एक पकवान जिसके अंदर मेवे भरे रहते हैं। उ०—फूटि जाय फन फनीराज को समोसा सम फटि जाय कच्छप की पीठ हू मेवाटी सी।—गोपाल।

मेवाड़–संज्ञा पुं० [देश०] (१) राजपूताने का एक प्रांत जिसकी प्राचीन राजधानी चित्तौर थी और आजकल उदयपुर है। (२) एक राग जो मालकोस राग का पुत्र माना जाता है।

मेवाड़ी–संज्ञा पुं० [हिं० मेवाड़] मेवाड़ प्रदेश का निवासी।

वि० मेवाड़ में होनेवाला। मेवाड़ से संबंध रखनेवाला। मेवाड़ का।

मेवात–संज्ञा पुं० [सं०] राजपूताने और सिंध के बीच के प्रदेश का पुराना नाम।

मेवाती–संज्ञा पुं० [हिं० मेवात+ई० (प्रत्य०)] मेवात का रहनेवाला।

मेवाफरोश–संज्ञा पुं० [फ़ा०] फल या मेवे बेचनेवाला।

मेवासा⁕†–संज्ञा पुं० [हिं० मवासा] (१) क़िला। गढ़। (२) रक्षा का स्थान। (३) घर। उ०—कबीर हरि की गति का मन में बहुत हुलास। मेवासा भाँजै नहीं होन चहै निज दास।—कबीर।

मेवासी–संज्ञा पुं० [हिं० मेवासा] (१) घर में रहनेवाला। घर का मालिक। उ०—मन मेवासी मूड़िये केशहि मूड़े काहि। जो कुछ किया सो मन किया केशों किया कछु नाहिं।—कबीर। (२) किले में रहनेवाला। संरक्षित और प्रबल। उ०—कबिरा मन मेवासी भया बस करि सकै न कोय। सनकादिक रिषि सारखे तिनके गया बिगोय।—कबीर।

मेष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) भेड़। (२) बारह राशियों में से एक जिसके अंतर्गत अश्विनी, भरणी और कृत्तिका नक्षत्र का प्रथम पाद पड़ता है। इस राशि पर सूर्य्य वैशाख में रहते हैं। राशियों की गणना में इसका नाम सब से पहले पड़ता है। इसकी आकृति मेष के समान मानी गई है। यह राशि सूर्य का उच्च स्थान है। इसमें जब तक सूर्य

रहते हैं, तब तक बहुत प्रबल रहते हैं। उच्चांश काल वैशाख में प्रथम दस दिन तक रहता है। इसके उपरांत सूर्य उच्चांश-च्युत होने लगते हैं। (३) एक लग्न जो सूर्य के मेष राशि में रहने पर माना जाता है। जैसे,—यदि किसी का जन्म सूर्य्य के मेष राशि में रहने पर होगा, तो कहा जायगा कि उसका जन्म मेष लग्न में हुआ।

*मुहा०—मेष करना=मीन मेष करना। आगा-पीछा करना। संकल्प-विकल्प करना। उ०—कियो अक्रूर भोजन दुहुन संग लै, नर नारी ब्रज लोग सबै देखै। मनो आए संग, देखि ऐसे रंग, मनहि मन परस्पर करत मेषै।—सूर।

(४) एक ओषधि। (५) जीवशाक। सुसना।

मेषकुसुम–संज्ञा पुं० [सं०] चकवँड़ नाम का पौधा। चक्रमर्द।

मेषपाल–संज्ञा पुं० [सं०] गड़रिया।

मेषपुष्पा–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ासिंगी।

मेषलोचन–संज्ञा पुं० [सं०] चक्रमर्द। चकवँड़।

मेषवल्ली–संज्ञा स्त्री० सं०] मेढ़ासिंगी।

मेषविषाणिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ासिंगी।

मेषवृषण–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र का एक नाम। उ०—मेष वृषण अस नाम शक्र को हैहै सब संसारा। अवृषण मेष देव पितरन को दैहैं तोहि अपारा।—रघुराज।

मेषशृंग–संज्ञा पुं० [सं०] सिंगिया नामक स्थावर विष।

मेषशृंगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेढ़ासिंगी।

मेष संक्रांति–संज्ञा स्त्री० [सं०] मेष राशि पर सूर्य के आने का योग वा काल।

विशेष—इसी दिन से सौर मास के वैशाख का आरंभ होता है। इस दिन हिंदू लोग सत्तू दान करते हैं, इससे इसे 'सतुआ संक्रांति' भी कहते हैं।

मेषांड–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

मेषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गुजराती इलायची। (२) चमड़े का एक भेद जो लाल भेड़ की खाल से बनता है।

मेषालु–संज्ञा पुं० [सं०] बर्बरी। बन तुलसी। बबुई।

मेषी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भेड़। स्त्री मेष। (२) तिनिश वृक्ष। (३) जटामासी।

मेसूरण–संज्ञा पुं० [सं०] फलित ज्योतिष में दशम लग्न जो कर्म-स्थान कहा जाता है।

मेहँदी–संज्ञा स्त्री० [सं० मेन्धी] पत्ती झाड़नेवाली एक झाड़ी जो बलोचिस्तान के जंगलों में आप से आप होती है और सारे हिंदुस्तान में लगाई जाती है। इसमें मंजरी के रूप में सफ़ेद फूल लगते हैं जिनमें भीनी भीनी सुगंध होती है। फल गोल मिर्च की तरह के होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। इसकी पत्ती को पीसकर चढ़ाने से लाल रंग आता है, इसी से स्त्रियाँ इसे हाथ-पैर में लगाती हैं। बगीचे आदि के किनारे पर भी लोग शोभा के लिए एक पंक्ति में इसकी टट्टी लगाते हैं।

पर्य्या०—नखरंज। कोकदंता। रागगर्भा।

मुहा०—क्या पैर में मेहँदी लगी है?=क्या पैर काम में नहीं ला सकते जो उठकर नहीं आते? मेहँदी रचना–मेहँदी का अच्छा रंग आना। जैसे,—उसके पैर में मेहँदी खूब रचती है। मेहँदी बाँधना=मेहँदी की पत्तियाँ पीसकर लगाना। मेहँदी रचाना=मेहँदी लगाना। मेहँदी लगाना=मेहँदी की पत्तियाँ पीसकर हथेली या तलुए में लगाना।

मेह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रस्राव। मूत्र। (२) प्रमेह रोग। (३) मेष। मेढ़ा।

संज्ञा पुं० [सं० मेघ, प्रा० मेह] (१) मेघ। बादल। (२) वर्षा। झड़ी। मेंह।

क्रि० प्र०—आना।—पड़ना।—बरसना।

मेहतर–संज्ञा पुं [फ़ा०] (१) बुजुर्ग। सब से बड़ा। जैसे—सरदार, शहज़ादा, मालिक, हाकिम, अमीर आदि। (२) [स्त्री० मेहतरानी] नीच मुसलमान जाति जो झाड़ू देने, गंदगी उठाने आदि का काम करती है। मुसलमान भंगी। हलालखोर।

मेहन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिश्न। लिंग। (२) मूत्र। मूत।

मेहनत–संज्ञा स्त्री० [अ०] मिहनत। श्रम। प्रयास।

क्रि० प्र०—करना।—पड़ना।—लेना।—होना।

मेहनताना–संज्ञा पुं० [अ०+फ़ा०] किसी काम की मजदूरी। परिश्रम का मूल्य। जैसे,—वकील का मेहनताना।

मेहनती–वि० [अ० मेहनत] मेहनत करनेवाला। परिश्रमी।

मेहना–संज्ञा स्त्री० [सं०] महिला। स्त्री।

मेहमान–संज्ञा पुं० [फ़ा०] अतिथि। पाहुना।

मेहमानदारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] आतिथ्य। अतिथि-सत्कार। पहुनाई।

मेहमानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मेहमान+ई (प्रत्य०)] (१) आतिथ्य। अतिथि-सत्कार। पहुनाई।

मुहा०—मेहमानी करना=खूब गत बनाना। मारना-पीटना। दंड देना। (व्यंग्य)] उ०—नंदमहरि की कानि करति हौं ना तरु करति मेहमानी।—सूर।

‡ (२) मेहमान बनकर रहने का भाव। जैसे,—वह मेहमानी करने गए हैं।

मेहर–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] मेहरबानी। कृपा। अनुग्रह। दया।

मेहरबान–वि० [सं०] कृपालु। दयालु। अनुग्रह करनेवाला।

विशेष—बड़ों के संबोधन के लिए अथवा किसी के प्रति आदर दिखलाने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

मेहरबानगी–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहरबानी"।

मेहरबानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] दया। कृपा। अनुग्रह।

क्रि० प्र०—करना।—दिखलाना।—होना।

मेहरा–संज्ञा पुं० [हिं० मेहरी] (१) स्त्रियों की सी चेष्टावाला। स्त्री-प्रकृतिवाला। जनखा। (२) स्त्रियों में बहुत रहनेवाला। (३) जुलाहों की चरखी का घेरा।

संज्ञा पुं० [मेहरचंद (मूल पुरुष)] खत्रियों की एक जाति।

मेहराब–संज्ञा स्त्री० [अ०] द्वार के ऊपर का अर्द्धमंडलाकार बनाया हुआ भाग। दरवाजे के ऊपर का गोल किया हुआ हिस्सा।

विशेष—मेहराब बनाने की रीति प्राचीन हिन्दू-शिल्प में प्रचलित न थी। विदेशियों, विशेषतः मुसलमानों के द्वारा ही, इस देश में इसका प्रचार हुआ है।

मेहराबदार–वि० [अ०+फा०] ऊपर की ओर गोल कटा हुआ। (दरवाजा)

मेहरारू†–संज्ञा स्त्री० [सं० महिला] स्त्री। औरत।

मेहरिया†–संज्ञा स्त्री० दे० "मेहरी"।

मेहरी–संज्ञा स्त्री० [सं० महिला] (१) स्त्री। औरत। (२) पत्नी। जोरू। उ०—मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चंदन खेवरा देह।—जायसी।

मैं–सर्व० [सं० अहं] सर्वनाम उत्तम पुरुष में कर्त्ता का रूप। स्वयं। खुद।

* अव्य० दे० "में"।

मैंढल†–संज्ञा पुं० [हिं० मैनफल] मैनफल। मदनफल।

मैं*–अव्य० दे० "मय"। उ०—श्रम सीकर साँवरी देह लसै मनो रासि महातम तारक मैं।—तुलसी।

मैका–संज्ञा पुं० दे० "मायका"। उ०—(क) नेवते गहूलि नतँदिया मैके सासु। दुलहिनि तोरि खबरिया आवै आँसु।—रहीम। (ख) तेरे मैके ते हम आये। तुव ढिग जननी जनक पठाये।—रघुराज।

मैगल–संज्ञा पुं० [सं० मदकल] मत्त हाथी। मस्त हाथी। उ०—(क) माधव जू मन सब ही विधि पोच। अति उनमत्त निरंकुश मैगल चिंता-रहित असोच।—सूर। (ख) ऐंड़ति अड़ति पैंड मध्य मत्त मैगल सी, ग्वाय करि द्वै बल सी लचति लचाक लंक।—भुवनेश। (ग) भक्ति द्वार है साँकरा राई दसवें भाय। मन तो मैगल ह्वै रह्यौ कैसे होय समाय।—कबीर।

वि० मत्त। मस्त। (हाथी के लिए)

मैच–संज्ञा पुं० [अं०] किसी प्रकार के गेंद के खेल की अथवा इसी प्रकार के और किसी खेल की बाजी।

मैजल*†–संज्ञा स्त्री० [अ० मंजिल] (१) उतनी दूरी जितना कोई पुरुष एक दिन भर चलकर तै करे। मंजिल। (२) सफर। यात्रा। उ०—ग्रीष्म ऋतु पुनि मैजल भारी। पद झलकत झलका जनु वारी।—विश्राम।

मैत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अनुराधा नक्षत्र। (२) सूर्य-लोक। (३) मलद्वार। गुदा। (४) ब्राह्मण। (५) सूर्योदय के समय के उपरांत उससे तीसरा मुहूर्त्त। (६) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति। (७) मित्र का भाव। मित्रता। दोस्ती। (८) वेद की एक शाखा।

वि० मित्र-संबंधी। मित्र का।

मैत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] मित्रता। दोस्ती।

मैत्रभ–संज्ञा [सं०] अनुराधा नक्षत्र।

मैत्राक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का प्रेत।

मैत्राक्षज्योतिक–संज्ञा पुं० [सं०] मनु के अनुसार एक योनि जिसमें अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होनेवाला वैश्य जाता है।

मैत्रायण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गृह्यसूत्र के प्रणेता एक प्राचीन ऋषि। (२) मैत्र नामक वैदिक शाखा।

मैत्रायणि–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

मैत्रावरुणि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोलह ऋत्विजों में से पाँचवाँ ऋत्विज। (२) मित्र और वरुण के पुत्र, अगस्त्य। (कहते हैं कि उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण दोनों देवताओं का वीर्य एक जगह स्खलित हो गया था। उसी वीर्य से अगस्त्य और वशिष्ठ इन दो ऋषियों का जन्म हुआ था।)

मैत्रि–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक आचार्य जिनके नाम पर मैत्र्युपनिषद् की रचना हुई है।

मैत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] दो व्यक्तियों के बीच का मित्र भाव। मित्रता। दोस्ती।

मैत्रीबल–संज्ञा पुं० [सं०] बुद्ध का एक नाम। (मैत्री, मुदिता आदि योग के चार साधन कर्म हैं, जो बुद्ध को प्राप्त हो गए थे; इसी लिए उनका यह नाम पड़ा।)

मैत्रेय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक बुद्ध का नाम जो अभी होनेवाले हैं। (२) भागवत के अनुसार एक ऋषि का नाम जो पराशर के शिष्य थे और जिनसे विष्णुपुराण कहा गया था। (३) सूर्य्य। (४) प्राचीन काल की एक वर्णसंकर जाति जो वैदेह पिता और अयोगव माता से उत्पन्न कही गई है। इसका काम दिनरात की घड़ियों को पुकारकर बताना था।

मैत्रेयी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) याज्ञवल्क्य की स्त्री का नाम जो ब्रह्मवादिनी और बड़ी पंडिता थी। (२) अहल्या का एक नाम।

मैत्र्य–संज्ञा पुं० [सं०] मित्रता। दोस्ती।

मैथिल–वि० [सं०] (१) मिथिला देश का। (२) मिथिला-संबंधी।

संज्ञा पुं० (१) मिथिला देश का निवासी। (२) राजा जनक का एक नाम।

मैथिली–संज्ञा स्त्री० [सं०] मिथिला देश के राजा की कन्या, जानकी। सीता।

मैथुन—संज्ञा पुं० [सं०] स्त्री के साथ पुरुष का समागम। संभोग। रति-क्रीड़ा।

मैथुन्य—संज्ञा पुं० [सं०] गांधर्व विवाह।

मैदा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] बहुत महीन आटा। उ०—नेह मौन छबि मधुरता मैदा रूप मिलाय। बेंचत हलुवाई मदन हलुआ सरस बनाय।—रसनिधि।

मैदान—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) धरती का वह लंबा-चौड़ा विभाग जो समथल हो और जिसमें पहाड़ी या घाटी आदि न हो। दूर तक फैली हुई सपाट भूमि। उ०—जब कढ़ी कोशल नगर तें मैदान माहिं बरात। तब भयो देवन भोर मानहु सिंधु द्वितिय दिखात।—रघुराज।

मुहा०—मैदान छोड़ना या करना=किसी काम के लिए बीच में कुछ जगह खाली छोड़ना। मैदान जाना=शौचादि के लिए जाना। (विशेषतः बस्ती के बाहर)

(२) वह लंबी चौड़ी भूमि जिसमें कोई खेल खेला जाय अथवा इसी प्रकार का और कोई प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता का काम हो। उ०—(क) चहुँ दिसि आव अलोपत भानू। अब यह गोय यही मैदानू।—जायसी। (ख) श्री मनमोहन खेलत चौगान। द्वारावती कोट कंचन में रच्यौ रुचिर मैदान।—सूर।

मुहा०—मैदान में आना=मुकाबले पर आना। प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता के लिए सामने आना। मैदान साफ होना=मार्ग में कोई बाधा आदि न होना। मैदान मारना=प्रतियोगिता में जीतना। खेल, बाजी आदि में जीतना।

(३) वह स्थान जहाँ लड़ाई हो युद्ध-क्षेत्र। रण-क्षेत्र।

मुहा०—मैदान करना=लड़ना। युद्ध करना। उ०—जेहि पर चढ़ि करि मैं मैदाना। जीतहुँ सकल बीर बलवाना।—विश्राम। मैदान छोड़ना=लड़ाई के स्थान से हट जाना। मैदान मारना=विजय प्राप्त करना। मैदान हाथ रहना=लड़ाई में विजयी होना। जीतना। मैदान होना=युद्ध होना।

(४) किसी पदार्थ का विस्तार। (५) रत्न आदि का विस्तार जवाहिर की लंबाई चौड़ाई। (जौहरी)

मैदा लकड़ी—संज्ञा स्त्री० [स० मेदा+हिं० लकड़ी] एक प्रकार की जड़ी जो औषध के काम में आती है। यह सफेद रंग की और बहुत मुलायम होती है। वैद्यक में इसे मधुर, शीतल, भारी, धातुवर्धक, और पित्त, दाह, ज्वर तथा खाँसी आदि को दूर करनेवाली माना है।

मैन—संज्ञा पु० [सं० मदन] (१) कामदेव। मदन। (२) मोम। उ०—(क) मैन के दसन कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई।—तुलसी। (ख) जा सँग जागे हौ निसा जामों लागे नैन। जा पग गहि मति मैन भै मैन-बिबस सो मैं न।—रामसहाय। (ग) मैन बलित नव बसन सुदेश। भिदत नहीं जल ज्यौं उपदेश।—केशव। (घ) श्याम रँग रँगे रँगीले नैन। धोये छुटत नहीं यह कैसेहु मिलैं पिघिल ह्वै मैन।—सूर। (३) राल में मिलाया हुआ मोम जिससे पीतल वा ताँबे की मूर्त्ति बनानेवाले पहले उसका नमूना बनाते हैं और तब उस नमूने पर से उसका साँचा तैयार करते हैं।

मैनफर†—संज्ञा पुं० दे० "मैनफल"।

मैनफल—संज्ञा पुं० [सं० मदनफल] (१) मझोले आकार का एक प्रकार का झाड़दार और कँटीला वृक्ष जिसकी छाल खाकी रँग की, लकड़ी सफ़ेद अथवा हलके भूरे रंग की, पत्ते एक से दो इंच तक लंबे और अंडाकार तथा देखने में चिड़चिड़े के पत्तों के समान, फूल पीलापन लिए सफ़ेद रंग के, पाँच पँखड़ियोंवाले और दो या तीन एक साथ होते हैं। इसमें अखरोट की तरह के एक प्रकार के फल लगते हैं जो पकने पर कुछ पीलापन लिए सफेद रंग के होते हैं। इसकी छाल और फल का व्यवहार ओषधि के रूप में होता है। (२) इस वृक्ष का फल जिसमें दो दल होते हैं और जिसके बीज बिहीदाने के समान चिपटे होते हैं। इसका गूदा पीलापन लिए लाल रंग का और स्वाद कड़ुआ होता है। इस फल को प्रायः मछुए लोग पीसकर पानी में डाल देते हैं, जिससे सब मछलियाँ एकत्र होकर एक ही जगह पर आ जाती हैं और तब वे उन्हें सहज में पकड़ लेते हैं। यदि ये फल वर्षा ऋतु में अन्न की राशि में रख दिए जायँ, तो उसमें कीड़े नहीं लगते। वमन कराने के लिए मैनफल बहुत अच्छा समझा जाता है। वैद्यक में इसे मधुर, कड़ुआ, हलका, गरम, वमनकारक, रूखा, भेदक, चरपरा, तथा विद्रधि, जुकाम, घाव, कफ, आनाह, सूजन, त्वचा रोग, विषविकार, बवासीर और ज्वर का नाशक माना है।

मैनर†—संज्ञा पुं० दे० "मैनफल"।

मैनशिल—संज्ञा पुं० दे० "मैनसिल"।

मैनसिल—संज्ञा पुं० [सं० मनःशिला] एक प्रकार की धातु जो मिट्टी की तरह पीली होती है और जो नेपाल के पहाड़ों में बहुतायत से होती है। वैद्यक में इसे शोधकर अनेक प्रकार के रोगों पर काम में लाते हैं और इसे गुरु, वर्णकर, सारक, उष्णवीर्य, कटु, तिक्त, स्निग्ध और विष, श्वास, कुष्ठ, ज्वर, पांडु, कफ तथा रक्त दोष-नाशक मानते हैं।

पर्य्या०—मनोज्ञा। नागजिह्वा। नैपाली। शिला। कल्याणिका। रोगशिला। गोला। दिव्यौषधि। कुनटी। मनोगुप्ता।

मैना—संज्ञा स्त्री० [सं० मदना, मदनशलाका] काले रंग का एक प्रसिद्ध पक्षी जिसकी चोंच पीली या नारंगी रंग की होती है और जो सिखाने से मनुष्य की सी बोली बोलने लगती

है । यह इसी बोली के लिए प्रसिद्ध है । सारिका । सारो ।
संज्ञा स्त्री० [सं० मेनका] पार्वतीजी की माता, मेनका ।
संज्ञा पुं० [देश०] एक जाति जो राजपूताने में पाई जाती है और "मीना" कहलाती है । उ०—(क) कुच उतंग गिरिवर गह्यौ मैना मैन मवास ।—बिहारी । (ख) सुकवि गुलाब कहै अधिक उपाधिकारी मैना मारि मारि करे अखिल अभूत काज ।—गुलाब ।

मैनाक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो हिमालय का पुत्र माना जाता है । कहते हैं कि इंद्र से डरकर यह पर्वत समुद्र में जा छिपा था; इस कारण यह अब तक सपक्ष है । लंका जाते समय समुद्र की आज्ञा से इसने हनुमान जी को आश्रय देना चाहा था । उ०—सिंधु बचन सुनि कान तुरत उठ्यौ मैनाक तब ।—तुलसी ।
पर्य्या०—हिरण्यनाभ । सुनाभ । हिमवत् सुत ।
(२) हिमालय की एक ऊँची चोटी का नाम ।

मैनावली–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसका प्रत्येक चरण चार तगण का होता है ।

मैमंत*†–वि० [सं० मदमत्त] (१) मदोन्मत्त । मतवाला । उ०—कुंभ लसत दोउ गज मैमंता । (२) अहंकारी । अभिमानी । उ०—(क) बारि बैस गई प्रीति न जानी । तरुन भई मैमंत भुलानी ।—जायसी । (ख) अरी ग्वारि मैमंत बचन बोलत जो अनेरो ।—सूर ।

मैया–संज्ञा स्त्री० [सं० मातृका, प्रा० मातृआ, माइआ] माता । माँ । उ०—कहन लागे मोहन मैया मैया ।—सूर ।

मैयार†–संज्ञा पुं० [हिं० मटियार] एक प्रकार की मटियार ज़मीन जो बहुत ख़राब होती है ।

मैर†–संज्ञा पुं० [देश०] सोनारों की एक जाति ।
संज्ञा स्त्री० [सं० मृदर प्रा० मिअर=क्षणिक] साँप के विष की लहर । उ०—(क) तोहि बजे बिष जाइ चढ़ि आइ जात मन मैर । बंसी तेरे बैर को घर घर सुनियत घैर ।—रसनिधि । (ख) खेलि कै फागु भली बिधि सों तन सों दग देखिये मैर मढ़ो सो ।

मैरा–संज्ञा पुं० [सं० मयर, प्रा० मयड़] खेतों में वह छाया हुआ मचान जिस पर बैठकर किसान लोग अपने खेतों की रक्षा करते हैं ।

मैरेय–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मदिरा । शराब । (२) गुड़ और धौ के फूल की बनी हुई एक प्रकार की प्राचीन काल की मदिरा । (३) एक में मिला हुआ आसव और मद्य जिसमें ऊपर से शहद भी मिला दिया गया हो ।

मैलंद–संज्ञा पुं० [प्रा०] भ्रमर । भौंरा ।

मैल†–वि० [सं० मलिन, प्रा० मइल] मलिन । मैला । वि० दे० "मैला" ।
संज्ञा पुं० (१) गर्द, धूल, किट्ट आदि जिसके पड़ने या जमने से किसी वस्तु की शोभा वा चमक-दमक नष्ट हो जाती है । मलिन करनेवाली वस्तु । मल । गंदगी । जैसे,—(क) घड़ी के पुरजों में बहुत मैल जम गई है । (ख) आँख या कान आदि में मैल न जमने देनी चाहिए ।
यौ०—मैलखोरा ।
मुहा०—हाथ की मैल=तुच्छ वस्तु, जिसे जब चाहें तब प्राप्त कर लें । जैसे, रुपया पैसा हाथ की मैल है ।
(२) दोष । विकार । जैसे,—मन-मैल मिटे, तन-तेज बढ़े, करे भंग अंग को मोटा । (गीत)
मुहा०—मन में मैल रखना=मन में किसी प्रकार का दुर्भाव या वैमनस्य आदि रखना ।
संज्ञा पुं० [देश०] फीलवानों का एक संकेत जिसका व्यवहार हाथी को चलाने में होता है ।

मैलखोरा–वि० [हिं० मैल+फ़ा० खोर=खानेवाला] (रंग आदि) जिस पर जमी हुई मैल जल्दी दिखाई न दे । मैल को छिपा लेनेवाला (रंग) । जैसे,—काला या खाकी रंग मैलखोरा होता है ।
संज्ञा पुं० (१) वह वस्त्र जो शरीर की मैल से शेष कपड़ों की रक्षा करने के लिए अंदर पहना जाय । जैसे, गंजी, कमीज आदि । (२) काठी या जीन के नीचे रखा जानेवाला नमदा । (३) साबुन ।

मैला–वि० [सं० मलिन, प्रा० मइल] (१) जिस पर मैल जमी हो । जिस पर गर्द, धूल या कीट आदि हो । जिसकी चमक दमक मारी गई हो । मलिन । अस्वच्छ । साफ का उलटा ।
यौ०—मैला-कुचैला ।
(२) विकार-युक्त । सदोष । दूषित । (३) गंदा । दुर्गंधयुक्त
संज्ञा पुं० (१) गलीज । गू । विष्ठा । (२) कूड़ा-कर्कट । (३) दे० "मैल" ।

मैलाकुचैला–वि० [हिं० मैला+सं० कुचैल=गंदा वस्त्र] (१) जो बहुत मैले कपड़े आदि पहने हुए हो । (२) बहुत मैला । गंदा ।

मैलापन–संज्ञा पुं० [हिं० मैला+पन (प्रत्य०)] मैला होने का भाव । मलिनता । गंदापन ।

मैहर†–संज्ञा पुं० [हिं० मही=मट्ठा] वह तलछट जो घी वा मक्खन को गरम करने पर नीचे बैठ जाती है । घी वा मक्खन तपाने से निकला हुआ मट्ठा ।
संज्ञा पुं० दे० "नैहर" ।

मों*†–अव्य० दे० "में" । उ०—तनपोषक नारि नरा सिगरे । पर निंदक ते जग मों बगरे ।—तुलसी ।
सर्व० खड़ी बोली के 'मुझ' के समान ब्रज और अवधी में

'मैं' का वह रूप जो उसे कर्त्ता-कारक के अतिरिक्त और किसी कारक-चिह्न लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे, मोंको, मोंपै इत्यादि।

मोंगरा–संज्ञा पुं० [सं० मुग्दर] [स्त्री० मोंगरी] काठ का बना हुआ एक प्रकार का हथौड़ा जिससे मेख इत्यादि ठोंकी जाती है।

संज्ञा पुं० (१) दे० "मोगरा"। (२) दे० "मुँगरा"।

मोंगला–संज्ञा पुं० [देश०] मध्यम श्रेणी का और साधारणतः बाज़ार में मिलनेवाला केसर। वि० दे० "केसर"।

मोंछ–संज्ञा स्त्री० दे० "मूँछ"। उ०—इसके सहारे स्वदेश तक श्रीमान् मोंछों पर ताव देते चले जा सकते हैं।—बालमुकुंद गुप्त।

मोंढ़ा–संज्ञा पुं० [सं० मूर्द्धा, प्रा० मूड्ढा=आधार] (१) बाँस, सरकंडे या बेंत का बना हुआ एक प्रकार का ऊँचा गोलाकार आसन जो प्रायः तिरपाई से मिलता-जुलता होता है। (२) बाहु के जोड़ के पास कंधे का घेरा। कंधा।

यौ०—सीना-मोंढ़ा=छाती और कंधा।

मो*–सर्व० [सं० मम] (१) मेरा। उ०—मो संपति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार।—बिहारी। (२) अवधी और ब्रज भाषा में "मैं" का वह रूप जो उसे कर्त्ताकारक के अतिरिक्त और किसी कारक-चिह्न लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे, मोकों, मोसों इत्यादि।

मोई–संज्ञा स्त्री० [हिं० मोना] घी में साना हुआ आटा जो छींट की छपाई के लिए काला रंग बनाने में कसीस और धौ के फूलों के काढ़े में डाला जाता है।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की जड़ी जो मारवाड़ देश में होती है। कहीं कहीं इसे ग्वालिया भी कहते हैं।

मोकदमा‡–संज्ञा पुं० दे० "मुकदमा"।

मोकना†–क्रि० स० [सं० मुक्त, हिं० मुकना] (१) छोड़ना। परित्याग करना। उ०—कंपित स्वास त्रास अति मोकति ज्यों मृग केहरि कोर।—सूर। (२) क्षिप्त करना। फेंकना। उ०—ठाढ्यौ तहाँ एक बालै बिलोक्यौ। रोक्यो नहीं जोर नाराच मोक्यौ।—केशव।

मोकल*†–वि० [सं० मुक्त, हिं० मुकना] छूटा हुआ। जो बँधा न हो। आज़ाद। स्वच्छंद। उ०—(क) जोबन जरब महा रूप के गरब गति मदन के मद मद मोकल मतंग की।—मतिराम। (ख) गोकुल में मोकल फिरै गली गली गज प्रेम। ऊधो ह्याँ ते जाउ लै तुम अपनो सब नेम।—रसनिधि।

मोकला†–वि० [हिं० मोकल] (१) अधिक चौड़ा। कुशादा। (२) खुला हुआ। छुटा हुआ। स्वच्छंद। उ०—कबिरा सोई सूरमा जिन पाँचो राखे चूर। जिनके पाँचो मोकले तिनसूँ साहेब दूर।—कबीर।

† संज्ञा पुं० अधिकता। बहुतायत। ज़्यादती। जैसे,—वहाँ तो पशुओं के लिए चारे-पानी का बड़ा मोकला है।

मोखा–संज्ञा पुं० [देश०] मदरास, मध्य भारत और कुमायूँ के जंगलों में होनेवाला एक प्रकार का वृक्ष जिसके पत्ते प्रतिवर्ष झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी और सफेदी लिए भूरे रंग की होती है और आरायशी सामान बनाने के काम आती है। खरादने पर इसकी लकड़ी बहुत चिकनी निकलती है और इसके ऊपर रंग और रोगन अधिक खिलता है। इसकी लकड़ी न तो फटती है और न टेढ़ी होती है। यह वृक्ष वर्षा ऋतु में बीजों से उगता है। इसे गेठा भी कहते हैं।

† संज्ञा पुं० (१) दे० "मोखा"। (२) दे० "मौका"।

मोक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी प्रकार के बंधन से छूट जाना। मोचन। छुटकारा। (२) शास्त्रों और पुराणों के अनुसार जीव का जन्म और मरण के बंधन से छूट जाना। आवागमन से रहित हो जाना। मुक्ति। नजात।

विशेष—हमारे यहाँ दर्शनों में कहा गया है कि जीव अज्ञान के कारण ही बार बार जन्म लेता और मरता है। इस जन्म-मरण के बंधन से छूट जाने का ही नाम मोक्ष है। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब फिर उसे इस संसार में आकर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रकारों ने जीवन के चार उद्देश्य बतलाए हैं—धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से मोक्ष परम अभीष्ट अथवा परम पुरुषार्थ कहा गया है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय आत्मतत्व या ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् करना बतलाया गया है। न्याय-दर्शन के अनुसार दुःख का आत्यंतिक नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। सांख्य के मत से तीनों प्रकार के तापों का समूल नाश ही मुक्ति या मोक्ष है। वेदांत में पूर्ण आत्मज्ञान-द्वारा माया-संबंध से रहित होकर अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का बोध प्राप्त करना मोक्ष है। तात्पर्य्य यह कि सब प्रकार के सुख-दुःख और मोह आदि का छूट जाना ही मोक्ष है। मोक्ष की कल्पना स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना से पीछे की और उसकी अपेक्षा विशेष संस्कृत तथा परिमार्जित है। स्वर्ग की कल्पना में यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने किए हुए पुण्य या शुभ कर्म्म का फल भोगने के उपरांत फिर इस संसार में आकर जन्म ले; इससे उसे फिर अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ेंगे। पर मोक्ष की कल्पना में यह बात नहीं है। मोक्ष मिल जाने पर जीव सदा के लिए सब प्रकार के बंधनों और कष्टों आदि से छूट जाता है।

(३) मृत्यु। मौत। (४) पतन। गिरना। (५) पाँडर का वृक्ष।

मोक्षक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोखा नामक वृक्ष। (२) मोक्ष करने या देनेवाला। वह जो मोक्ष करता हो।

मोक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मोक्षणीय, मोक्षित, मोक्ष्य] मोक्ष देने की क्रिया।

मोक्षद–संज्ञा पुं० [सं०] मोक्ष देनेवाला। मोक्षदाता।

मोक्षदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] अगहन सुदी एकादशी तिथि।

मोक्षद्वार–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूर्य्य। (२) काशी तीर्थ।

मोक्षपति–संज्ञा पुं० [सं०] ताल के मुख्य साठ भेदों में से एक भेद। इसमें १६ गुरु, ३२ लघु और ६४ द्रुत मात्राएँ होती हैं।

मोक्षविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वेदांत शास्त्र।

मोक्षशिला–संज्ञा स्त्री० [सं०] जैन मतानुसार वह लोक जहाँ जैन धर्मावलंबी साधु पुरुष मोक्ष का सुख भोगते हैं। स्वर्ग।

मोक्षा–संज्ञा स्त्री० दे० "मोक्षदा"।

मोक्ष्य–वि० [सं०] जो मोक्ष के योग्य हो। मोक्ष का अधिकारी।

मोख*†–संज्ञा पुं० दे० "मोक्ष"। उ०—(क) मोहू दीजै मोख ज्यों अनेक अधमन दियो।—बिहारी। (ख) रानी धर्म सार पुनि साजा। बंदि मोख जेहि पावहि राजा।—जायसी।

मोखा–संज्ञा पुं० [सं० मुख] दीवार आदि में बना हुआ छेद जिसके द्वारा धूआँ निकलता है और प्रकाश तथा वायु आती है। छोटी खिड़की। झरोखा। उ०—(क) मोखा और झरोखा लखि लखि दृग दोउ बरसत।—व्यास। (ख) जाली, झरोखों, मोखों से धूप की सुगंध आय रही है।—लल्लूलाल।

मोगरा–संज्ञा पुं० [सं० मुद्गर] (१) एक प्रकार का बहुत बढ़िया और बड़ा बेला (पुष्प)। उ०—मंजुल मौलसिरी मोगरा मधुमालती के गजरा गुहि राखैं। (२) दे० "मोंगरा"।

मोगल–संज्ञा पुं० दे० "मुगल"।

मोगली–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो गुजरात में अधिकता से पाया जाता है। इससे एक प्रकार का कत्था बनाया जाता है और इसकी छाल चमड़ा सिझाने के काम में आती है।

मोघ–वि० [सं०] निष्फल। व्यर्थ। चूकनेवाला। उ०—पै यह वैष्णव धनु को सायक। कबहुँ न मोघ होन के लायक।—रघुराज।

मोघिया–संज्ञा स्त्री० [देश०] वह मोटी मजबूत और अधिक चौड़ी नरिया जो खपरैली छाजन में बँड़ेरे पर मँगरा बाँधने में काम आती है।

मोघ्य–संज्ञा पुं० [सं०] विफलता। अकृतकार्य्यता। नाकामयाबी।

मोच–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेमल का पेड़। (२) केला। (३) पाँडर का पेड़।

संज्ञा स्त्री० [सं०] शरीर के किसी अंग के जोड़ की नस का अपने स्थान से इधर उधर खिसक जाना। चोट या आघात आदि के कारण जोड़ पर की नस का अपने स्थान से हट जाना। (इसमें वह स्थान सूज आता है और उसमें बहुत पीड़ा होती है।) जैसे,—उनके पाँव में मोच आ गई है।

मोचक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) छुड़ानेवाला। (२) सेमल का पेड़। (३) केला। (४) विषय-वासना से मुक्त, संन्यासी।

मोचन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बंधन आदि से छुड़ाना। छुटकारा देना। मुक्त करना। (२) रिहा करना। (२) बंधन आदि खोलना। छुड़ाना। (३) दूर करना। हटाना। जैसे, संकट-मोचन, पाप-मोचन। (४) रहित करना। ले लेना। जैसे, वस्त्र-मोचन।

मोचना–क्रि० स० [सं० मोचन] (१) छोड़ना। (२) गिराना। बहाना। उ०—(क) मोच मति करै मति मोच आँसू बिभीषण, कहै रघुनाथ मतिमेष भेपि रंका को।—रघुनाथ। (ख) सरसीरुह लोचन मोचत नीर चितै रघुनायक सीय पै हैं।—तुलसी।—(३) छुड़ाना। मुक्त करना। उ०—अब तिनके बंधन मोचहिंगे।—सूर।

संज्ञा पुं० [सं० मोचन] (१) लोहारों का वह औजार जिससे वे लोहे के छोटे छोटे टुकड़े उठाते हैं। (२) हज्जामों का वह औजार जिससे वे बाल उखाड़ते हैं।

मोचरस–संज्ञा पुं० [सं०] सेमल वृक्ष का गोंद। सेमर का गोंद।

मोचा–संज्ञा पुं० [सं० मोचाट] केला।

मोचाट–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केला। (२) केले की पेड़ी के बीच का कोमल भाग। केले का गाभ।

मोचिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] पोई का पौधा।

मोची–संज्ञा पुं० [सं० मोचन=(चमड़ा) छुड़ाना] चमड़े का काम बनानेवाला। वह जो जूते आदि बनाने का व्यवसाय करता हो।

वि० [सं० मोचिन] [स्त्री० मोचिनी] (१) छुड़ानेवाला। (२) दूर करनेवाला।

मोच्छ*–संज्ञा पुं० दे० "मोक्ष"।

मोछ–संज्ञा स्त्री० दे० "मूँछ"।

*†संज्ञा पुं० दे० "मोक्ष"।

मोजरा–संज्ञा पुं० दे० "मुजरा"।

मोज़ा–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) पैरों में पहनने का एक प्रकार का बुना हुआ कपड़ा जिससे पैर के तलवे से लेकर पिंडली या घुटने तक ढक जाते हैं। पायताबा। जुर्राब। (२) पैर में पिंडली के नीचे का वह भाग जो गिट्टे के आसपास और उससे कुछ ऊपर होता है। (३) कुश्ती का एक पेंच। इसमें जब खिलाड़ी अपने विपक्षी की पीठ पर होता है, तब एक हाथ उसके पेट के नीचे से ले जाकर उसकी बगल में जमाता है और दूसरे हाथ से उसका मोजा या पिंडली के नीचे का भाग पकड़कर उसे उलट देता है।

मोट-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोटरी] गठरी । मोटरी । उ०—(क) जोग मोट सिर बोझ आनि तुम कत धौं घोष उतारी ।—सूर । (ख) नट न सीस साबित भई लुटी सुखन की मोट । चुप करिये चारी करति सारी परी सरोट ।—बिहारी । (ग) नाम ओट लेत ही निखोट होत खोटे खल, चोट बिनु मोट पाय भयो न निहाल को ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० चमड़े का बड़ा थैला जिसके द्वारा खेत सींचने के लिए कुएँ से पानी निकाला जाता है । चरसा । पुर । उ०—संगति छोड़ि करै असरारा । उबहे मोट नरक की धारा ।—कबीर ।

*†वि० [हिं० मोटा] (१) जो बारीक न हो । मोटा । (२) कम मोल का । साधारण । उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना । दिये डारि तन भूषन नाना ।—तुलसी । वि० दे० "मोटा" ।

मोटकी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी का नाम ।

मोटन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वायु । हवा । (२) मलना, रगड़ना या पीसना ।

मोटनक-संज्ञा पुं० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक तगण, दो जगण और अंत में एक एक लघु गुरु कुल मिलाकर ११ अक्षर होते हैं । जैसे,—आये दसरत्थ बरात सजे । दिग्पाल गयंदन देखि लजे । चाऱ्यो दल दूलह चारु बने । मोहे सुर औरन कौन गने ।—केशव ।

मोटर-संज्ञा पुं० [अं०] (१) एक विशेष प्रकार की कल या यंत्र जिससे किसी दूसरे यंत्र आदि का संचालन किया जाता है । चलानेवाला यंत्र । (२) एक प्रकार की प्रसिद्ध छोटी गाड़ी जो इस प्रकार के यंत्र की सहायता से चलती है । इस गाड़ी में तेल आदि की सहायता से चलनेवाला एक इंजिन लगा रहता है, जिसका संबंध उसके पहियों से होता है । जब यह इंजिन चलाया जाता है, तब उसकी सहायता से गाड़ी चलने लगती है । यह गाड़ी प्रायः सवारी और बोझ ढोने अथवा खींचने के काम में आती है ।

मोटरी-संज्ञा स्त्री० [तैलंग० मूटा=गठरी] गठरी । उ०—(क) आश्रय बरन कलि बिबस बिकल भये, निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी ।—तुलसी । (ख) अमृत केरी मोटरी सिर से धरी उतारि ।—कबीर ।

मोटा-वि० [सं० मुष्ट=मोटा ताजा आदमी, या हिं० मोट] [स्त्री० मोटी] (१) जिसके शरीर में आवश्यकता से अधिक मांस हो । जिसका शरीर चरबी आदि के कारण बहुत फूल गया हो । दुबला का उलटा । स्थूल शरीर-वाला । जैसे, मोटा आदमी, मोटा बंदर ।

यौ०—मोटा ताजा या मोटा झोटा=स्थूल शरीरवाला । (२) जिसकी एक ओर की सतह दूसरी ओर की सतह से अधिक दूरी पर हो । पतला का उलटा । दबीज । दलदार । गाढ़ा । जैसे, मोटा कागज, मोटा कपड़ा, मोटा तख्ता । (३) जिसका घेरा या मान आदि साधारण से अधिक हो । जैसे, मोटा डंडा, मोटा छड़, मोटी कलम ।

मुहा०—मोटा असामी=जिसके पास अधिक धन हो । अमीर । मोटा भाग्य=सौभाग्य । खुशकिस्मती । उ०—(क) सहज सँतोषहि पाइए दादू मोटे भाग ।—दादू । (ख) सूरदास प्रभु मुदित जसोदा भाग बड़े करमन की मोटी ।—सूर ।

(४) जो खूब चूर्ण न हुआ हो । जिसके कण खूब महीन न हो गए हों । दरदरा । जैसे,—यह आटा मोटा है ।

(५) बढ़िया या सूक्ष्म का उलटा । निम्न कोटि का । घटिया । खराब । जैसे, मोटा अनाज, मोटा कपड़ा, मोटी अक्ल । उ०—भूमि सयन पट मोट पुराना ।—तुलसी । (ख) तुम जानति राधा है छोटी । चतुराई अँग अंग भरी है, पूरण ज्ञान न बुद्धि की मोटी ।—सूर ।

मुहा०—मोटा झोटा=घटिया । खराब । मोटी बात=साधारण बात । मामूली बात । मोटे हिसाब से=अंदाज से । अटकल से । बिल्कुल ठीक ठीक नहीं । मोटे तौर पर=बहुत सूक्ष्म विचार के अनुसार नहीं । स्थूल रूप से ।

(६) जो देखने में भला न जान पड़े । भद्दा । बेडौल । उ०—मनौ बराह भूधर सहपति धरे दसनन की कोटी । शनि शिशुमेलि मुख अंबुज भीतर उपजी उपमा मोटी ।—सूर ।

मुहा०—मोटी चुनाई=बिना गढ़े हुए बेडौल पत्थरों की जोड़ाई । मोटी भूल=भद्दी या भारी भूल ।

(७) साधारण से अधिक । भारी या कठिन । जैसे, मोटी मार, मोटी हानि, मोटा खर्च । उ०—(क) बंदौं खल मल रूप जे काम भक्त अघ-खानि । पर दुख सोई सुख जिन्हैं पर सुख मोटी हानि ।—विश्राम । (ख) दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय । बिना जीव की स्वाँस से लोह भस्म ह्वै जाय ।—कबीर । (ग) नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोऊ, काहू देवननि मिलि मोटी मूठ मार दी ।—तुलसी ।

मुहा०—मोटा दिखाई देना=आँख की ज्योति में कमी होना । कम दिखाई देना । केवल मोटी चीजें दिखाई देना ।

(८) घमंडी । अहंकारी । उ०—मोटो दसकंध सो न दूबरो बिभीषण सो बूझि परी रावरे की प्रेम पराधीनता ।—तुलसी ।

संज्ञा पुं० मरवाँ ज़मीन । मार ।

†संज्ञा पुं० [हिं० मोट] बोझ । गट्ठड़ ।

मोटाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोटा+ई (प्रत्य०)] (१) मोटे होने का भाव । स्थूलता । पीवरता । (२) शरारत । पाजीपन ।

बदमाशी। उ०—डगर डगर में चलहु कन्हाई समुझि न लागै बहुत मोटाई।—रघुनाथदास।

मुहा०—मोटाई उतरना=शेखी किरकिरी होना। दुरुस्त होना। पाजीपन छूटना। मोटाई चढ़ना=पाजी, बदमाश या घमंडी होना। मोटाई झड़ना=(१) शरारत दूर होना। बदमाशी छूटना। (२) घमंड न रह जाना। ऐंठ निकल जाना।

मोटाना—क्रि० अ० [हिं० मोटा+आना (प्रत्य०)] (१) मोटा होना। स्थूलकाय हो जाना। (२) अहंकारी हो जाना। अभिमानी होना। (३) धनवान् हो जाना।

क्रि० स० दूसरे को मोटा करना। दूसरे को मोटे होने में सहायता देना।

मोटापन—संज्ञा पुं० [हिं० मोटा+पन (प्रत्य०)] मोटाई। स्थूलता।

मोटापा—संज्ञा पु० [हिं० मोटा+पा (प्रत्य०)] मोटे होने का भाव। मोटापन। मोटाई।

मोटिया—संज्ञा पुं० [हिं० मोटा+इया (प्रत्य०)] मोटा और खुरखुरा देशी कपड़ा। गाढ़ा। गजी। खद्दड़। सल्लम। जैसे,—वे मोटिया पहनना ही अधिक पसंद करते हैं।

संज्ञा पुं० [हिं० मोट=बोझ] बोझ ढोनेवाला कुली। मजदूर। उ०—मोटियों को भाड़े के कपड़े पहनाकर तिलंगा बनाते हैं।—शिवप्रसाद।

मोट्टायित—संज्ञा पुं० [सं०] साहित्य में एक हाव जिसमें नायिका अपने आंतरिक प्रेम को कटु भाषण आदि-द्वारा छिपाने की चेष्टा करने पर भी छिपा नहीं सकती। (केशवदास ने लिखा है कि स्तंभ, रोमांच आदि सात्विक भावों को बुद्धिबल से रोकने को 'मोट्टायित' हाव कहते हैं।)

मोठ—संज्ञा स्त्री० [सं० मकुष्ठ, प्रा० मउट्ठ] मूँग की तरह का एक प्रकार का मोटा अन्न, जो बन-मूँग भी कहा जाता है। यह प्रायः सारे भारत में होता है। इसकी बोआई ग्रीष्म ऋतु के अंत या वर्षा के प्रारंभ में और कटाई खरीफ की फसल के साथ जाड़े के आरंभ में होती है। यह बहुत ही साधारण कोटि की भूमि में भी बहुत अच्छी तरह होता है और प्रायः बाजरे के साथ बोया जाता है। अधिक वर्षा से यह खराब हो जाता है। इसकी फलियों में जो दाने निकलते हैं, उनकी दाल बनती है। यह दाल साधारण दालों की भाँति खाई जाती है; और मंदाग्नि अथवा ज्वर में पथ्य की भाँति भी दी जाती है। वैद्यक में इसे गरम, कसैली, मधुर, शीतल, मलरोधक, पथ्य, रुचिकारी, हलकी, बादी, कृमिजनक, तथा रक्तपित्त, कफ, बाव, गुदकील, वायुगोले, ज्वर, दाह और क्षयरोग की नाशक माना है। इसकी जड़ मादक और विषैली होती है। मोट। मुगानी। मोथी। बनमूँग।

मोठस—वि० [?] मौन। चुप। उ०—मोठस कै रघुनाथ रहौ बिनु मोठस कीन्हे ते जीबे को भैहै।—रघुनाथ।

मोड़—संज्ञा स्त्री० [हिं० मुड़ना] (१) रास्ते आदि में घूम जाने का स्थान। एक ओर फिर जाने का स्थान। वह स्थान जहाँ से किसी ओर को मुड़ा जाय। उ०—आज बड़े लाट अमुक मोड़ पर वेष बदले एक गरीब काले आदमी से बातें कर रहे थे—बालमुकुंद गुप्त। (२) घुमाव या मुड़ने की क्रिया। (३) घुमाव या मुड़ने का भाव। (४) कुछ दूर तक गई हुई वस्तु में वह स्थान जहाँ से वह कोना या घुमाव डालती हुई दूसरी ओर फिरी हो।

मोड़ना—क्रि० स० [हिं० मुड़ना का प्रेर०] (१) फेरना। लौटाना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

मुहा०—मुँह मोड़ना=(१) किसी काम के करने में आनाकानी करना। आगा पीछा करना। रुकना। (२) विमुख होना। पराङ्मुख होना। (३) किसी फैली हुई सतह का कुछ अंश समेट कर एक तह के ऊपर दूसरी तह करना। जैसे,—(क) चादर का कोना मोड़ दो। (ख) कागज़ किनारे पर मोड़ दो। (४) किसी छड़ की सी सीधी वस्तु का कुछ अंश दूसरी ओर फेरना। (५) धार भुथरी करना। कुंठित करना। जैसे, धार मोड़ना।

मोड़ा†—संज्ञा पुं० [सं० मुंड, मि० पं० मुंडा=लड़का] [स्त्री० मोड़ी] लड़का। बालक।

मोड़ी—संज्ञा स्त्री० [देश०] (१) घसीट या शीघ्र लिखने की लिपि। (२) दक्षिण भारत की एक लिपि जिसमें प्रायः मराठी भाषा लिखी जाती है।

मोण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सूखा फल। (२) कुंभीर। मगर। (३) मक्खी। (४) बाँस या सींक का बना ढक्कनदार टोकरा। झाबा। पिटारा। मौना।

मोतदिल—वि० [अ० मातदिल] जो न बहुत गरम और न बहुत सर्द हो। शीत और उष्णता आदि के विचार से मध्यम अवस्था का। (इस शब्द का व्यवहार प्रायः ओषधि या जल-वायु आदि के लिए होता है।)

मोतबर—वि० [अ०] (१) विश्वास करने योग्य। जिस पर विश्वास किया जा सके। (२) जिस पर विश्वास किया जाता हो। विश्वासपात्र।

मोतियदाम—संज्ञा पुं० [सं० मौक्तिकदाम, प्रा० मोत्तिअदाम] एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं। जैसे,—भजौ रघुनाथ धरे धनु हाथ। विराजत कंठ सु मोतियदाम।

मोतिया—संज्ञा पुं० [हिं० मोती+इया (प्रत्य०)] (१) एक प्रकार का बेला जिसकी कली मोती के समान गोल होती है। (२)

एक प्रकार का सलमा जिसके दाने गोल होते हैं और जो ज़रदोज़ी के काम में किनारे किनारे टाँका जाता है। (३) रूसा नाम की घास, जब तक वह थं.की अवस्था की और नीलापन लिए रहती है। (४) एक चिड़िया जिसका रंग मोती का सा होता है।

वि० (१) हलका गुलाबी, वा पीले और गुलाबी रंग के मेल का (रंग)। (२) छोटे गोल दानों का वा छोटी गोल कड़ियों का। जैसे, मोतिया सिकड़ी। (३) मोती संबंधी। मोती का।

मोतियाबिंद-संज्ञा पुं० [हिं० मोतिया+सं० विंदु] आँख का एक रोग जिसमें उसके एक परदे में गोल झिल्ली सी पड़ जाती है, जिसके कारण आँख से दिखाई नहीं पड़ता।

मोती-संज्ञा पुं० [सं० मौक्तिक, प्रा० मोत्तिअ] (१) एक प्रसिद्ध बहुमूल्य रत्न जो छिछले समुद्रों में अथवा रेतीले तटों के पास सीपी में से निकलता है।

विशेष—समुद्र में अनेक प्रकार के ऐसे छोटे छोटे जीव होते हैं, जो अपने ऊपर एक प्रकार का आवरण बनाकर रहते हैं। इस आवरण को प्रायः सीप और उन जीवों को सीपी कहते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि बालू का कण या कोई बहुत छोटा जीव सीप में प्रवेश कर जाता है, जिसके कारण सीपी के शरीर में एक प्रकार का प्रदाह उत्पन्न होने लगता है। उस प्रदाह के शांत करने के लिए सीपी अनेक प्रयत्न करती है; पर जब उसे सफलता नहीं होती, तब वह अपने शरीर में से एक प्रकार का सफेद, चिकना और लसीला पदार्थ निकालकर बालू के उस कण अथवा जीव को चारों ओर से ढकने लगती है, जो अंत में मोती का रूप धारण कर लेता है। तात्पर्य यह कि मोती की सृष्टि किसी स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार नहीं होती, बल्कि एक अस्वाभाविक रूप में होती है; और इसीलिये बहुत दिनों तक लोग यह समझते थे कि मोती की उत्पत्ति सीपी में किसी प्रकार का रोग होने से होती है। हमारे यहाँ प्राचीन काल में यह माना जाता था कि स्वाती की वर्षा के समय सीपी मुँह खोलकर समुद्र के ऊपर आ जाया करती है; और जब स्वाती की बूँद उसमें पड़ती है, तब मोती उत्पन्न होता है। साधारण मोती सुडौल और गोल होता है; पर कुछ मोती लंबोतरे, टेढ़े-मेढ़े या बेडौल भी होते हैं। मोती का रंग मटमैला, धूमिल, काला या कुछ हरापन अथवा नीलापन लिए हुए होता है; पर साफ करने पर वह खूब सफेद हो जाता है और उसमें एक विशेष प्रकार की "आब" या चमक आ जाती है। मोती जितना बड़ा या सुडौल होता है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। यों तो मोती संसार के अनेक भागों में पाए जाते हैं, पर लंका, फारस की खाड़ी तथा आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के मोती बहुत अच्छे समझे जाते हैं। इसके अतिरिक्त पनामा के पीले मोती तथा कैलिफ़ोर्निया की खाड़ी के काले और भूरे मोती भी बहुत अच्छे होते हैं। मोती प्रायः तौल के हिसाब से बिकते हैं; पर अन्यान्य रत्नों की भाँति मोती की दर भी उसके भार की वृद्धि के अनुसार बहुत बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ, यदि एक चौ के मोती का दाम ५०) होगा, तो उसी प्रकार के दो चौ के मोती का दाम २००) और पाँच चौ के मोती दाम १२५०) या इससे भी अधिक हो जायगा।

भारतवर्ष में मोती का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आता है। धनवान् लोग इसकी प्रायः मालाएँ बनवाते हैं, और इन्हें अँगूठियों तथा दूसरे आभूषणों में जड़वाते हैं। इसका व्यवहार वैद्यक में औषध रूप में भी होता है; और प्रायः वैद्य लोग इसका भस्म तैयार करते हैं। वैद्यक में मोती को शीतवीर्य्य, शुक्रवर्धक, आँखों के लिए हितकारी और शरीर को पुष्ट करनेवाला माना है। हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि सीपी और शंख आदि के अतिरिक्त हाथी, साँप, मछली, मेढक, सूअर, बाँस और बादल तक में मोती होते हैं; और इनको प्राप्त करनेवाला बहुत सौभाग्यशाली कहा गया है। इन सब मोतियों के अलग अलग गुण भी बतलाए गए हैं; पर ऐसे मोती कभी किसी के देखने में नहीं आते।

मुहा०—**मोती गरजना**=मोती में बाल पड़ जाना। मोती चटकना या कड़क जाना। **मोती ढलकाना**=रोना (व्यंग्य)। **मोती पिरोना**=(१) बहुत ही सुंदर और प्रिय भाषण करना। (२) बहुत ही सुंदर और स्पष्ट अक्षर लिखना। (३) रोना (व्यंग्य।) (४) कोई बारीक काम करना। **मोती बींधना**=(१) मोती को पिरोए जाने के योग्य बनाने के लिए उसके बीच में छेद करना। (२) कुमारी का कौमार्य्य भंग करना। योनि का क्षत करना। (बाजारू) **मोती रोलना**=बिना परिश्रम अथवा थोड़े परिश्रम से बहुत अधिक धन कमाना या प्राप्त करना। **मोतियों से मुँह भरना**=प्रसन्न होकर किसी को बहुत अधिक धन-संपत्ति देना।

पर्य्या०—मौक्तिक। शौक्तिक। मुक्ता। मुक्ताफल।

(२) कसेरों का एक औज़ार जिससे वे नक्काशी करते समय मोती की सी आकृति बनाते हैं।

संज्ञा स्त्री० बाली जिसमें बड़े बड़े मोती पड़े रहते हैं। उ०—छोटी छोटी मोती कान छोटे कठुला त्यों कंठ, छोटे से भिजायठ कटक दुति मोटे हैं।—रघुराज।

मोतीचूर-संज्ञा पुं० हिं० मोती+चूर] (१) छोटी बुँदियों का लड्डू।

यौ०—**मोतीचूर आँख**=गोल छोटी उभरी हुई चमकदार आँख। (जैसी कबूतर की होती है।)

(२) एक प्रकार का धान जिसकी फसल अगहन में तैयार होती है। (३) कुश्ती का एक पेच जिसमें प्रतिद्वंद्वी के बाएँ पैर को अपने दाहिने पैर में फँसाकर और हाथ से उसका गला लपेटकर उसे चित्त कर देते हैं।

मोतीज्वर–संज्ञा पु० [हि० मोती+सं० ज्वर] चेचक निकलने के पहले आनेवाला ज्वर।

मोतीझिरा–संज्ञा पु० [हि० मोती+झिरा ?] छोटी शीतला का रोग। मोतिया माता निकलने का रोग। मंथर ज्वर। मोतीमाती।

मोतीबेल–संज्ञा स्त्री० [हि० मोतिया+बेल] बेले का वह भेद जिसे मोतिया कहते हैं। मोतिया बेला। उ०—मोतीबेल कैसे फूल मोतिन के भूषन सुचीर गुलचाँदनी सी चंपक की डारी सी।—देव।

मोतीभात–संज्ञा पुं० [हि० मोती+भात] एक विशेष प्रकार का भात। उ०—परस्यो ओदन विविध प्रकारा। मोतीभात सुनाम उचारा। केसरिभात नाम मनिभातू। कनकभात पुनि बिमल विभातू।—रघुराज।

मोतीसिरी–संज्ञा स्त्री० [हि० मोती+सं० श्री] मोतियों की कंठी। मोतियों की माला। उ०—तोरि मोतीसिरी गुप्त करि धर्‍यौ कहूँ एहि मिस सकुचि रही मुख न बोलै।—सूर।

मोथरा†–वि० [हि० मुथरा] जिसकी धार तेज़ न हो। कुंठित। गोठिल। कुंद। उ०—भयो अबहुँ नहिं मोथरो मोर उदंड कुठार। उपज्यो अमरष तून अब करौं सकुल संहार।—रघुराज।

मोथा–संज्ञा पुं० [सं० मुस्तक, प्रा० मुत्थ] (१) नागरमोथा नामक घास। (२) उपर्युक्त घास की जड़ जो ओषधि की भाँति प्रयुक्त होती है।

विशेष—यह तृण जलाशयों में होता है। इसकी पत्तियाँ कुश की पत्तियों की तरह लंबी लंबी और गहरे हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़ें बहुत मोटी होती हैं, जिन्हें सूअर खोदकर खाते हैं।

मोद–संज्ञा पु० [सं०] [वि० मोदी] (१) आनंद। हर्ष। प्रसन्नता। खुशी। (२) पाँच भगण, एक मगण, एक सगण और एक गुरु वर्ण का एक वर्ण-वृत्त। उ०—भे सर में सिगरे गुण अर्जुन जाहिर भूपालौहु लजाने। ज्यौंहि स्वयंबर में मछरी दृढ़ बेधि सभा सों द्रौपदि आने। (३) सुगंध। महक। खुशबू।

मोदक–संज्ञा पु० [सं०] (१) लड्डू। (मिठाई) (२) ओषध आदि का बना हुआ लड्डू। जैसे,—मदनानंद मोदक। (३) गुड़। (४) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में चार भगण होते हैं। जैसे,—(क) भा चहु पार जु भौ निधि रावन। तो गहु राम पदै अति पावन। आय परे प्रभु ले चरनोदक। भूख लगे न भखै मन मोदक। छंद प्रभाकर। (ख) काहू कहँ शर आसर मारिय। आरत शब्द अकाश पुकारिय। रावण के वह कान पर्‍यो जब। छोंड़ि स्वयंबर जात भयो तब।—केशव। (५) एक वर्णसंकर जाति जिसकी उत्पत्ति क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता से मानी जाती है।

वि० मोद या आनंद देनेवाला।

मोदकर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन मुनि का नाम।

मोदकी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार की गदा। उ०—शिखरी त्यों मोदकी गदा युग दीपति भरी सदाई।—रघुराज। (ख) श्री लव वीर उदंड पुनि गदा मोदकी मारि। वीर विभीषण असुर कहँ दियो भूमि पै डारि। (२) मूर्वा।

मोदन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० मोदनीय, मोदित] (१) मुदित करना। प्रसन्न करना। (२) सुगंधि फैलाना। महकाना।

मोदना*–क्रि० अ० [सं० मोदन] (१) प्रसन्न होना। खुश होना। आनंदित होना। (२) सुगंधि फैलना। महकना। उ०—फूलि फूलि तरु फूल बढ़ावत। मोदत महा मोद उपजावत।—केशव।

क्रि० स० प्रसन्न करना। खुश करना। उ०—तुलसी सरिस अजान मान रिस पूरो हियरा। तऊ गोद लेइ पोंछि चूमि मुख मोदत जियरा।—सुधाकर।

मोदयंती–संज्ञा स्त्री० [सं० मोदयंती] वन-मल्लिका। जंगली चमेली।

मोदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। वन-अजवाइन। (२) सेमल का वृक्ष।

मोदाक–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक वृक्ष का नाम।

मोदाकी–संज्ञा पुं० [सं० मोदाकिन्] महाभारत के अनुसार एक पर्वत का नाम।

मोदाख्य–संज्ञा पुं० [सं०] आम का पेड़।

मोदाढ्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] अजमोदा। वन-अजवाइन।

मोदाद्रि–संज्ञा पुं० [सं०] मुँगेर के पास के एक पर्वत का पौराणिक नाम।

मोदित–वि० [सं०] हर्षित। आनंदित। प्रसन्न।

मोदिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) अजमोदा। (२) जूही। (३) कस्तूरी। (४) मदिरा। (५) चमेली।

मोदी–संज्ञा पुं० [सं० मोदक=लड्डू (बनानेवाला); अथवा अ० मद्द—जिस, रसद] (१) आटा, दाल, चावल आदि बेचनेवाला बनिया। भोजन-सामग्री देनेवाला बनिया। परचूनिया। उ०—(क) माया मेरे राम की मोदी सब संसार। जा की चीठी उतरी सोई खरचनहार।—कबीर। (ख) मदन के मोद भरी जोबन प्रमोद भरी मोदी की बहू की दुति देखे दिन दूनी सी। चूनरी सुरंग अंग ईंगुर के रंग देव बैठी परचूनी की दुकान पर चूनी सी।—देव। (ग) है अस-

पुरणा मोदी। दे सबै अहारै सोदी।—विश्राम। (२) वह जिसका काम नौकरों को भरती करना हो।

मोदीखाना-संज्ञा पुं० [हिं० मोदी+फ़ा० खाना] अन्नादि रखने का घर। भंडार। गोदाम।

मोधुक-संज्ञा पुं० [सं० मोदक=एक वर्णसकर जाति] मछली पकड़नेवाला, धीवर। मछुआ। उ०—एक मीन ने भक्ष किश्रो तब हरि रखवारी कीन्ही। सोई मत्स्य पकरि मोधुक ने जाय असुर को दीन्ही।—सूर।

मोधू†-वि० [स० मुग्ध] बेवकूफ़। मूर्ख। भोंदू। उ०—विदूषक—मित्र, यों मोधू बनकर बैठने से क्या होगा? कुछ उपाय करना चाहिए।—बालमुकुंद गुप्त।

मोन-संज्ञा पुं० दे० "मौना"। उ०—मानहुँ रतन मोन दुइ मूँदे।—जायसी।

मोनस-संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम।

मोना*†-क्रि० स० [हिं० मोयन] भिगोना। तर करना। उ०—(क) कह्यौ राम तहँ भरत सों काके बालक दोइ। मोर चरित गावत मधुर सुर संयुत रस मोइ।—विश्राम। (ख) नेह मोइ रस रेसमहिं गाँठ दई हित जोर। चाहत हैं गुरुजन तिन्हैं अनख नखन सों छोर।—रसनिधि। (ग) तुलसी मुदित मातु सुत गति लखि बिथकी है ग्वालि मैन मन मोए।—तुलसी।

† संज्ञा पुं० [सं० मोण] बाँस, मूँज आदि का ढकनदार डला। झाबा। पिटारा।

मोनाल-संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का महोख पक्षी जो शिमले के आस पास बहुत पाया जाता है। इसे 'नीलमोर' भी कहते हैं।

मोनिया†-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोना+इया (प्रत्य०)] बाँस या मूँज की बनी हुई पिटारी। छोटा मोना।

मोपला-संज्ञा पुं० [देश०] मुसलमानों की एक जाति जो मदरास में पाई जाती है।

मोम-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) वह चिकना और नरम पदार्थ जिससे शहद की मक्खियाँ अपना छत्ता बनाती हैं। मधुमक्खी के छत्ते का उपकरण।

विशेष—मोम प्रायः पीले रंग का होता है और इसमें से शहद की सी गंध आती है। साफ़ करने पर इसका रंग सफ़ेद हो जाता है। यह बहुत थोड़ी गरमी से गल या पिघल जाता है; और कोमल होने के कारण थोड़े से दबाव द्वारा भी, गीली मिट्टी या आटे आदि की भाँति, अनेक रूपों में परिवर्त्तित किया जा सकता है। इसकी बत्तियाँ बनाई जाती हैं, जो बहुत ही हलकी और ठंढी रोशनी देती हैं। ओषधि के रूप में भी इसका व्यवहार होता है और यह मरहमों आदि में डाला जाता है। खिलौने और ठप्पे आदि बनाने में भी इसका व्यवहार होता है।

यौ०—**मोम की नाक**=(१) जिसकी सम्मति बहुत जल्दी बदल जाती हो। अस्थिर मति। (२) वह जो जरा सी बात में मिजाज बदले। **मोम की मरियम**-बहुत ही कोमल और सुकुमार स्त्री।

मुहा०—**मोम करना या मोम बनाना**-द्रवीभूत कर लेना। दयार्द्र कर लेना। **मोम होना**=दयार्द्र हो जाना। कठोरता छोड़ देना।

(२) रूप, रंग और गुण आदि में इसी से मिलता जुलता वह पदार्थ जो मधु-मक्खी की जाति के तथा कुछ और प्रकार के कीड़े पराग आदि से एकत्र करते हैं अथवा जो वृक्षों पर लाख आदि के रूप में पाया जाता है। (३) मिट्टी के तेल में से, एक विशेष रासायनिक क्रिया के द्वारा, निकाला हुआ इसी प्रकार का एक पदार्थ। जमा हुआ मिट्टी का तेल।

विशेष—अंतिम दोनों प्रकार के मोमों का व्यवहार भी प्रायः पहले प्रकार के मोम के समान ही होता है।

मोमजामा-संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह कपड़ा जिस पर मोम का रोगन चढ़ाया गया हो। तिरपाल। (ऐसे कपड़े पर पड़ा हुआ पानी आर-पार नहीं होता।

मोमदिल-वि० [फ़ा०] दूसरों के दुःख से शीघ्र द्रवित होनेवाला। बहुत कोमल हृदयवाला।

मोमना†-वि० [हिं० मोम+ना (प्रत्य०)] मोम का सा। बहुत ही कोमल।

मोमबत्ती-संज्ञा स्त्री० [फ़ा० मोम+हिं० बत्ती] मोम या ऐसे ही किसी और जलनेवाले पदार्थ की बनी हुई बत्ती।

विशेष—इस प्रकार की बत्ती के बीच में एक मोटा डोरा होता है और उस पर मोम चढ़ा रहता है। जब वह डोरा जलाया जाता है, तब चारों ओर से मोम गल गलकर जलने लगता है, जिससे प्रकाश होता है। प्राचीन काल में फ़ारस आदि देशों में उत्सवों आदि पर इसका बहुत अधिक व्यवहार होता था।

मोमिन-संज्ञा पुं० [अ०] (१) धर्मनिष्ठ मुसलमान। (२) जोलाहों की एक जाति।

मोमियाई-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) कृत्रिम शिलाजतु। नकली शिलाजीत। उ०—वहाँ एक किस्म का पत्थर होता है। उसको पानी में उबालकर मोमियाई बनाते हैं।—शिवप्रसाद।

मुहा०—**मोमियाई निकालना**=(१) किसी से कठिन परिश्रम लेना। (२) किसी को खूब मारना-पीटना।

विशेष—कुछ लोगों का विश्वास है कि मोमियाई मनुष्य के

शरीर को आँच से तपाकर निकाली हुई चिकनाई से तैयार की जाती है; इसी से ये मुहावरे बने हैं।

(२) काले रंग की एक चिकनी दवा जो मोम की तरह मुलायम होती है। यह दवा घाव भरने के लिए प्रसिद्ध है।

मोमी—वि० [फ़ा] (१) मोम का बना हुआ। जैसे, मोमी मोती, मोमी पुतला। (२) मोम का सा।

मोयन—संज्ञा पुं० [हिं० मैन=मोम] माँड़े हुए आटे में घी या चिकना देना जिसमें उससे बनी वस्तु खसखसी और मुलायम हो।

यौ०—मोयनदार। जैसे, मोयनदार कचौरी।

मोयुम—संज्ञा पुं० [देश०] एक लता जो आसाम, सिकिम और भूटान में बहुतायत से उत्पन्न होती है। इस लता से अत्यंत चमकीला रंग तैयार किया जाता है, जिससे कपड़े रँगे जाते हैं।

मोरंग—संज्ञा पुं० [देश०] नैपाल देश का पूर्वी भाग जो कौशिकी नदी के पूर्व पड़ता है। संस्कृत ग्रंथों में इसी भाग को 'किरात देश' कहा गया है। इस देश में जंगल और पहाड़ियाँ बहुत हैं। इस देश का कुछ भाग जिला पुरनिया (बंगाल) में भी पड़ता है।

मोर—संज्ञा पुं० [सं० मयूर, प्रा० मोर] [स्त्री० मोरनी] (१) एक अत्यंत सुंदर बड़ा पक्षी जो प्रायः चार फुट लंबा होता है और जिसकी लंबी गर्दन और छाती का रंग बहुत ही गहरा और चमकीला नीला होता है। नर के सिर पर बहुत ही सुंदर कलगी या चोटी होती है। पंख छोटे तथा पूँछ लंबी और अत्यंत सुंदर होती है। नर जिस समय प्रसन्न होता है, उस समय अपनी पूँछ के पर खड़े करके मंडलाकार फैला देता है, जिससे यह बहुत ही सुंदर जान पड़ता है। पूँछ के परों पर बहुत सुंदर गोल दाग़ या चित्तियाँ होती हैं, जिनका रंग नीला होता है और जिन पर सुंदर सुनहरा मंडल होता है। इन्हें चंद्रिका कहते हैं। मोर सब पक्षियों में सुंदर पक्षी है। अनेक चटकीले रंगों का जैसा सुंदर मेल इसमें होता है, वैसा और किसी पक्षी में नहीं होता। प्राचीन यूनानी और रोमन इसे बहुत पवित्र मानते थे। राजपूताने में अब तक कोई इसकी हत्या नहीं करता। इसका स्वभाव है कि बादलों की गरज सुनते ही कूकता है। कहते हैं कि यह साँप को खा जाता है। मादा का रंग फीका होता है और वह देखने में वैसी सुंदर नहीं होती।

पर्य्या०—नीलकंठ। केकी। बरही। शिखी। शिखंडी। कलापी। शिवसुतवाहन। अहिभक्षी।

(२) नीलम की आभा, जो मोर के पर के समान होती है। उ०—मोर, विष्णु, नभ, कमल, अलि, कोकिल, कलरव, मेह। फूल सिरस, अरसी, अवनि, ग्यारह छाया एह।—रत्नपरीक्षा।

*†—सर्व० [स्त्री० मोरी] दे० "मेरा"।

संज्ञा स्त्री० [डिं०] सेना की अगली पंक्ति।

मोरचंग—संज्ञा पुं० दे० "मुरचंग"।

मोरचंदा—संज्ञा पुं० दे० "मोरचंद्रिका"। उ०—गावत गोपाल लाल नीके राग नट हैं।·········मोरचंदा चारु सिर मंजु गुंजा पुंज धरे, बनि बन धातु तन ओढ़े पीत पट हैं।—तुलसी।

मरोचंद्रिका—संज्ञा स्त्री० [हिं० मोर+चंद्रिका] मोर पंख के छोर की वह बूटी जो चंद्राकार होती है। उ०—मोरचंद्रिका श्याम सिर चढ़ि कत करत गुमान।—बिहारी।

मोरचा—संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) लोहे की ऊपरी सतह पर चढ़ जानेवाली वह लाल या पीले रंग की बुकनी की सी तह जो वायु और नमी के योग के रासायनिक विकार होने से उत्पन्न होती है। जंग। (यह लाल बुकनी वास्तव में विकार-प्राप्त लोहा ही है।) (२) दर्पण पर जमी हुई मैल। उ०—(क) जब लग हिय दरपन रहै कपट मोरचा छाइ। तब लग सुंदर मीत मुख कैसे दगन दिखाइ।—रसनिधि। (ख) पहिर न भूषन कनक के कहि आवत एहि हेत। दरपन के से मोरचा देह दिखाई देत।—बिहारी।

विशेष—प्राचीन काल में दर्पण लोहे को माँजते माँजते चमकाकर बनाए जाते थे; इसी से दर्पण के साथ 'मोरचा' शब्द का प्रयोग चला आ रहा है। "दर्पण" के लिए फ़ारसी का "आईना" शब्द वास्तव में "आहना" का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ "लोहे का" होता है।

क्रि० प्र०—जमना।—लगना।

मुहा०—मोरचा खाना=मोरचा लगने से खराब होना।

संज्ञा पुं० [फ़ा० मोरचाल] (१) वह गड्ढा जो गढ़ के चारों ओर रक्षा के लिए खोद दिया जाता है। (२) वह सेना जो गढ़ के अंदर रहकर शत्रु से लड़ती है। (३) वह स्थान जहाँ से सेना, गढ़ या नगर आदि की रक्षा की जाती है। वह स्थान जहाँ खड़े होकर शत्रु सेना से लड़ाई की जाती है।

मुहा०—मोरचाबंदी करना=गढ़ के चारों ओर गड्ढा खोदकर या टीले बनाकर यथास्थान सेना नियुक्त करना। मोरचा जीतना=शत्रु के मोरचे पर अधिकार कर लेना। मोरचा बाँधना=दे० "मोरचाबंदी करना"। मोरचा मारना=दे० "मोरचा जीतना"। मोरचा लेना=युद्ध करना।

मोरछड़—संज्ञा पुं० दे० "मोरछल"।

मोरछल—संज्ञा पुं० [हिं० मोर+छड़] मोर की पूँछ के परों को इकट्ठा बाँधकर बनाया हुआ लंबा चँवर जो प्रायः देवताओं

और राजाओं आदि के मस्तक के पास डुलाया जाता है। उ०—(क) अगल बगल बहु मनुज मोरछल चँवर डोलावत। —गोपाल। (ख) चारु चोर चहूँ ओर चलावैं मोरछलान डोलाई।—रघुराज।

मोरछली-संज्ञा पुं० दे० "मौलसिरी"। उ०—छड़, खिरैंटी, आँवले कुट और मोरछली की छाल, इनको जल के साथ महीन पीसकर लेप करो तो बाल बढ़ेंगे।—प्रतापसिंह।

संज्ञा पुं० [हिं० मोरछल+ई (प्रत्य०)] मोरछल हिलानेवाला।

मोरछाँह*-संज्ञा पुं० दे० "मोरछल"। उ०—का बरनउँ अस ऊँच तुषारा। दुइ बेरें पहुँचै असवारा। बाँधे मोरछाँह सिर सारहिं। भाजहि पूँछ चँवर जनु ढारहिं।—जायसी।

मोरजुटना-संज्ञा पुं० [हिं० मोर+जुटना] एक प्रकार का आभूषण जो सोने का बनता और रत्नजटित होता है। इसके बीच का भाग गोल बेंदे के समान होता है और दोनों ओर मोर बने रहते हैं। यह बेंदे के स्थान पर माथे पर पहना जाता है।

मोरट-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऊख की जड़। (२) अंकोल का फूल। (३) प्रसव से सातवीं रात के बाद का दूध। (४) एक प्रकार की लता जिसे कर्णपुष्प भी कहते हैं। वैद्यक में इसे मधुर, कषाय, वृष्य, बलवर्धक और पित्त, दाह तथा ज्वर के लिये नाशक माना है।

मोरटक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) दे० "मोरट"। (२) सफ़ेद खैर।

मोरटा-संज्ञा स्त्री० [सं०] दूर्वा। दूब।

मोरध्वज-संज्ञा पुं० [सं० मयूरध्वज] एक पौराणिक राजा का नाम जो बहुत प्रसिद्ध भक्त था। इसकी परीक्षा के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन इसके यहाँ गए थे। श्रीकृष्ण की बात मानकर यह राजा अपना जीवित शरीर आरे से चिरवाने के लिए तैयार हुआ था।

मोरन*-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोड़ना] मोड़ने की क्रिया या भाव। मोड़ना।

संज्ञा स्त्री० [सं० मोरट] बिलोया हुआ दही जिसमें मिठाई और कुछ सुगंधित वस्तुएँ (इलायची, लौंग इत्यादि) डाली गई हों। शिखरन। उ०—पुनि सँधान आने बहु साँधी। दूध दही की मोरन बाँधी।—जायसी।

मोरना*-क्रि० स० दे० "मोड़ना"। उ०—(क) फिर फिर सुंदर ग्रीवा मोरत। देखत रथ पाछे जो घोरत।—लक्ष्मणसिंह। (ख) चोरि चोरि चित चितवति मुँह मोरि मोरि काहे तें हँसति हिय हरष बढ़ायो है।—केशव। (ग) कर आँचर की ओट करि जमुहानी मुख मोरि।—बिहारी। (ख) नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंहैं।—बिहारी।

क्रि० स० [हिं० मोरन] दही को मथकर मक्खन निकालना। (बुंदेलखंड) उ०—डीठडोर नै मोर दिय छिरक रूपरस तोय। मथि मो घट प्रीतम लियो मन नवनीत बिलोय।—रसनिधि।

मोरनी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोर का स्त्री० रूप] (१) मोर पक्षी की मादा। उ०—चितै चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेत, हंस हंसिनी समेत सारिका सबै पढ़ैं।—केशव। (२) मोर के आकार का अथवा और किसी प्रकार का एक छोटा टिकड़ा जो नथ में पिरोया जाता है और प्रायः होंठों के ऊपर लटकता रहता है।

मोरपंख-संज्ञा पुं० [हिं० मोर+पंख=पर] मोर का पर जो देखने में बहुत अधिक सुंदर होता है, और जिसका व्यवहार अनेक अवसरों पर प्रायः शोभा या शृंगार के लिए अथवा कभी कभी औषध रूप में भी होता है।

मोरपंखी-संज्ञा स्त्री० [हिं० मोरपंख+ई (प्रत्य०)] (१) वह नाव जिसका एक सिरा मोर के पर की तरह बना और रंगा हुआ हो। (२) मलखंभ की एक कसरत जो बहुत फुरती से की जाती है; और जिसमें पैरों को पीछे की ओर से ऊपर उठाकर मोर के पंख की सी आकृति बनाई जाती है।

संज्ञा पुं० एक प्रकार का बहुत सुंदर, गहरा और चमकीला नीला रंग जो मोर के पर से मिलता-जुलता होता है।

वि० मोर के पंख के रंग का। गहरा चमकीला नीला।

मोरपखा*†-संज्ञा पुं० [हिं० मोरपंख] (१) मोर का पर। मोरपंख। (२) मोरपंख की कलगी जो प्रायः श्रीकृष्णजी मुकुट या चीर में खोंसा करते थे। उ०—(क) बाँसुरी कुंडल मोरपखा मधुरी मुसकानि भरी मुख है ये।—बेनी। (ख) पीत पटी लकुटी पदमाकर मोरपखा लै कहूँ गहि नाखी।—पद्माकर। (ग) क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसारैं। ते धनि जे ब्रजराज लखे गृह काज करैं अरु लाज सँभारैं।—मतिराम।

मोरपाँव-संज्ञा पुं० [हिं० मोर+पाँव] जंगी जहाज़ों के बावर्चीखाने की मेज़ पर खड़ा जड़ा हुआ लोहे का छड़ जिसमें मांस के बड़े बड़े टुकड़े लटकाए रहते हैं। (लश०)

मोरमुकुट-संज्ञा पुं० [हिं० मोर+मुकुट] मोर के पंखों का बना हुआ मुकुट जो प्रायः श्रीकृष्णजी पहना करते थे। उ०—मोरमुकुट की चंद्रिकन यौं राजत नँदनंद। मनु ससि-सेखर की अकस किये सिखर सत चंद।—बिहारी।

मोरवा*†-संज्ञा पुं० दे० "मोर"। उ०—कूक मोरवान की करेजा टूक टूक करैं, लागति है हूक सुनि धुनि धुरवान की।—दीनदयाल।

संज्ञा पुं० [देश०] वह रस्सी जो नाव की किलवारी में बाँधी जाती है और जिससे पतवार का काम लेते हैं।

मोरशिखा-संज्ञा स्त्री० [सं० मयूर-शिखा] एक जड़ी जिसकी

पत्तियाँ ठीक मोर की कल्गी के आकार की होती हैं। यह जड़ी बहुधा पुरानी दीवारों पर उगती है। इसकी सूखी पत्तियों पर पानी छिड़क देने से वे पत्तियाँ फिर तुरंत हरी हो जाती हैं। वैद्यक में इसे पित्त, कफ, अतिसार और बालग्रह दोष-निवारिणी माना गया है।

मोरा—संज्ञा पुं० [देश०] अकीक नामक रत्न का एक भेद जो प्रायः दक्षिण भारत में होता है और जिसे 'बाबाँघोड़ी' भी कहते हैं।

*† वि० दे० "मेरा"।

मोराना*†—क्रि० स० [हिं० मोड़ना का प्रेर०] (१) चारों ओर घुमाना। फिराना। उ०—आरति करि पुनि नरियल तबहिं मोराइये। पुरुष को भोग लगाइ सखा मिलि खाइये।—कबीर। (२) रस पेरने के समय ऊख की अँगारी को कोल्हू में दबाना।

मोरिया†—संज्ञा स्त्री० [हिं० मोरना ?] कोल्हू में कातर की दूसरी शाखा जो बाँस की होती है।

मोरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मोहरी] (१) किसी वस्तु के निकलने का तंग द्वार। (२) नाली जिसमें से पानी, विशेषतः गंदा और मैला पानी बहता हो। पनाली।

मुहा०—**मोरी छुटना**=दस्त आना। पेट चलना। **मोरी पर जाना**=पेशाब करने जाना। (स्त्री०)

(३) दे० "मोहरी"।

*†संज्ञा स्त्री० [हिं० मोर+ई (प्रत्य०)] मोर पक्षी की मादा। मयूरी। उ०—मोरी सी घन गरज सुनि तू ठाढ़ी अकुलात।—सीताराम।

संज्ञा स्त्री० [देश०] क्षत्रियों की एक जाति जो 'चौहान' जाति के अंतर्गत है।

मोर्चा—संज्ञा पुं० दे० "मोरचा"।

मोल—संज्ञा पुं० [सं० मूल्य, प्रा० मुल] (१) वह धन जो किसी वस्तु के बदले में बेचनेवाले को दिया जाय। क़ीमत। दाम। मूल्य।

क्रि० प्र०—करना।—चुकाना।—ठहराना।—देना।—लेना।

यौ०—अनमोल।

(२) दूकानदार की ओर से वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ाकर कहा जाना। जैसे,—मोल मत करो; ठीक ठीक दाम कहो।

यौ०—**मोल चाल**=(१) अधिक मूल्य। (२) किसी चीज का दाम घटा बढ़ाकर ते करना।

मुहा०—**मोल करना**=(१) किसी पदार्थ का उचित से अधिक मूल्य कहना। (२) मूल्य घटा बढ़ाकर तै करना।

मोलना†—संज्ञा पुं० [अ० मौलाना] मौलवी। मुल्ला। उ०—(क) बेद किताब पढ़ें वे खुतबा वे मोलना वे पाँड़े—कबीर। (ख) पंडित बेद पुराण पढ़ै औ मोलना पढ़ै कोराना।—कबीर।

मोलवी†—संज्ञा पुं० [अ० मौलवी] वह विद्वान् मुसलमान जो अपने धर्म्मशास्त्र का अच्छा ज्ञाता हो। मौलवी।

मोलाई—संज्ञा स्त्री० [हिं० मोल+आई (प्रत्य०)] मोल पूछने या ते करने की क्रिया। मूल्य कहना वा ठीक करना।

मोवना—क्रि० स० दे० "मोना"।

मोष—संज्ञा पुं० दे० "मोक्ष"।

संज्ञा पुं० [सं०] (१) चोरी। (२) लूटना। लूट। (३) वध। हत्या। (४) दंड देना।

मोषक—संज्ञा पुं० [सं०] चोर।

मोषण—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लूटना। (२) चोरी करना। (३) छोड़ना। (४) वध करना। (५) वह जो चोरी करता या डाका डालता हो।

मोह—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कुछ का कुछ समझ लेनेवाली बुद्धि। अज्ञान। भ्रम। भ्रांति। उ०—तुलसिदास प्रभु मोह-जनित भ्रम भेद-बुद्धि कब बिसरावहिंगे।—तुलसी। (२) शरीर और सांसारिक पदार्थों को अपना या सत्य समझने की बुद्धि जो दुःखदायिनी मानी जाती है। (३) प्रेम। मुहब्बत। प्यार। उ०—(क) साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया।—तुलसी। (ख) काशीराम कहै रघुवंशिन की रीति यहै जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिये। (ग) मोहू सों तजि मोहि दृग चले लागि उहि गैल।—बिहारी। (घ) रह्यो मोह मिलनो रह्यो यों कहि गहें मरोर।—बिहारी। (४) साहित्य में ३३ संचारी भावों में से एक भाव। भय, दुःख, घबराहट, अत्यंत चिंता आदि से उत्पन्न चित्त की विकलता। (५) दुःख। कष्ट। (६) मूर्च्छा। बेहोशी। गश। उ०—गिरयो हंस भू में भयो मोह भारी।—रघुराज।

मोहक—वि० [सं०] (१) मोह उत्पन्न करनेवाला। जिसके कारण मोह हो। (२) मन को आकृष्ट करनेवाला। लुभानेवाला।

मोहकार—संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+कंडा या कार (प्रत्य०)] पीतल या ताँबे के घड़े का गला समेत मुहँड़ा। (ठठेरा)

मोहठा—संज्ञा पुं० [सं०] दस अक्षरों का वह वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में तीन रगण और एक गुरु होता है। इसे 'बाला' भी कहते हैं। उ०—श्याम की मात बोली रिसाई। गोपि कोई करी है ढिठाई।

मोहड़ा—संज्ञा पुं० [हिं० मुह+ड़ा (प्रत्य०)] (१) किसी पात्र का मुँह या खुला भाग। (२) किसी पदार्थ का अगला या ऊपरी भाग।

मुहा०—**मोहड़ा लगाना**=अन्न से भरे हुए बोरे दूकान पर

रखकर उसका मुँह खोल देना। (अन्न के व्यापारी) मोहड़ा मारना=(१) किसी काम को सब से पहले कर डालना। (२) मुँह। मुख।

संज्ञा पुं० दे० "मोहरा"।

मोहताज-वि० [अ०] (१) धनहीन। निर्धन। ग़रीब। (२) जिसे किसी बात की अपेक्षा हो। जैसे,—वह आपकी मदद के मोहताज नहीं हैं।

मोहताजी-संज्ञा स्त्री० [हिं०मोहताज+ई (प्रत्य०)] मोहताज होने की क्रिया या भाव।

मोहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मोह लेनेवाला व्यक्ति। जिसे देखकर जी लुभा जाय। उ०—लखि मोहन जो मन रहै तो मन राखौं मान।—बिहारी। (२) श्रीकृष्ण। उ०—मोहन तेरे नाम को कढ़ो वा दिना छोर। ब्रजवासिन को मोह कै चलो मधुपुरी ओर।—रसनिधि। (३) एक वर्ण वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक सगण और एक जगण होता है। उ०—जन राजवंत। जग जोगवंत। तिनको उदोत। केहि भाँति होत।—केशव। (४) एक प्रकार का तांत्रिक प्रयोग जिससे किसी को बेहोश या मूर्च्छित करते हैं। उ०—मारन मोहन वसकरन उच्चाटन अस्थंभ। आकर्षन सब भाँति के पढ़ै सदा करि दंभ। (५) प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र जिससे शत्रु मूर्च्छित किया जाता था। उ०—वर विद्याधर अस्त्र नाम नंदन जो ऐसो। मोहन, स्वापन, समन, सौम्य, कर्षन पुनि तैसो।—पद्माकर। (६) कोल्हू की कोठी अर्थात् वह स्थान जहाँ दबने के लिए ऊख के गाँड़े डाले जाते हैं। इसे कुंडी और घगरा भी कहते हैं। (७) कामदेव के पाँच बाणों में से एक बाण का नाम। (८) धतूरे का पौधा। (९) बारह मात्राओं का एक ताल जिसमें सात आघात और पाँच खाली रहते हैं। इसका

मृदंग का बोल यह है—

	+		१		०		२		०		३	
	धा	धा	ता	गे	तेरे	कता	कता	गदि	घेने	नाग्	देत्	तेरे केरे
	०	४	५	०	६	०	+					

मृदंग का बोल यह है—धा धा ता गे तेरे कता कता गदि घेने नाग् देत् तेरे केरे। धा।

वि० [सं०] [स्त्री० मोहनी] मोह उत्पन्न करनेवाला। उ०—(क) मोहनि मूरति श्याम की यौं घट रही समाय।—बिहारी। (ख) सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै।—तुलसी।

मोहनभोग-संज्ञा पुं० [हिं० मोहन+भोग] (१) एक प्रकार का हलुआ। (२) एक प्रकार का केला (फल)। (३) एक प्रकार का आम।

मोहनमाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोने की गुरियों या दानों की बनी हुई माला। उ०—(क) मोहनलाल के मोहन को यह पैन्हति मोहनमाल अकेली।—देव। (ख) मोहनमाल बिसाल हिये पर सोहत नील सुपीन निचौरी।—दीनदयाल गिरि।

मोहना-क्रि० अ० [सं० मोहन] (१) किसी पर आशिक या अनुरक्त होना। मोहित होना। रीझना। उ०—(क) सुंदर वपु अति श्यामल सोहै। देखत सुर नर को मन मोहै।—केशव। (ख) देखत रूप सकल सुर मोहें।—तुलसी। (ग) चाल्यो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरन कौन गने।—केशव। (२) मूर्च्छित होना। बेहोश हो जाना। उ०—अष्टम सर्ग महा समर कुश लव भरतहि साथ। जुग बंधुन कर मोहिबो भरत नाम तिन हाथ।—शिरमौर।

क्रि० स० [सं० मोहन] (१) अपने ऊपर अनुरक्त करना। मुग्ध करना। मोहित करना। लुभा लेना। उ०—(क) पंडित अति सिगरी पुरी मनहु गिरा गति गूढ़। सिंहनियुत जनु चंडिका मोहति मूढ़ अमूढ़।—केशव। (ख) बैठे जराय जरे पलका पर रामसिया सबको मन मोहैं।—केशव। (ग) अहो भले लतिका-तरु सोहैं। कलित कोंपलन सों मन मोहैं।—प्रतापनारायण मिश्र। (२) भ्रम में डाल देना। संदेह पैदा कर देना। धोखा देना। उ०—(क) तुम आदि मध्य अवसान एक। जग मोहत हौ वपु धरि अनेक।—केशव। (ख) अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया।—तुलसी।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) तृण। (२) एक प्रकार की चमेली।

मोहनास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक प्रकार का अस्त्र। कहते हैं कि इसके प्रभाव से शत्रु मूर्च्छित हो जाता था।

मोहनिशा-संज्ञा स्त्री० दे० "मोहरात्रि"।

मोहनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैशाख सुदी एकादशी। (२) एक लंबा सूत सा कीड़ा जो हल्दी के खेतों में पाया जाता है। इसे पाकर तांत्रिक लोग वशीकरण यंत्र बनाते हैं। (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में सगण, भगण, तगण, यगण और सगण होते हैं। (४) भगवान् का वह स्त्री रूप जो उन्होंने समुद्र-मथन के उपरांत अमृत बाँटते समय धारण किया था। (५) एक प्रकार की मिठाई। (६) वशीकरण का मंत्र। लुभाने का प्रभाव। उ०—(क) जिन निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्ववस सकल नर नारी।—तुलसी। (ख) निरखि लखन राम जाने रितुपति काम मोहि मानो मदन मोहनी मूँड नाई है।—तुलसी।

मुहा०—मोहनी डालना या लाना=ऐसा प्रभाव डालना कि कोई एक दम मोहित हो जाय। माया के वश करना। जादू करना। उ०—नागरि मन गई अरुझाइ। अति विरह तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ। श्याम सुंदर मदनमोहन मोहनी सी लाइ। मातु पितु को त्रास मानत मन बिना भइ बाइ। जननि सों दोहनी माँगत बेगि दे री माइ। सूर प्रभु को

खोरि मिलिहौं गए मोहिं बुलाइ।—सूर। मोहनी लगना= जादू लगने के कारण मोहित होना। मोहित होना। लुभाना। उ०—आजु गई हौं नंद भवन में कहा कहौं ग्रह चैनु री। बहु अंग चतुरंग छल सो कोटिक दुहियत धेनु री।……बोलि लई नव बधू जानि कै खेलत जहाँ कँधाई री। मुख देखत मोहिनी सी लागत रूप न बरन्यो जाई री।—सूर।

(७) माया। (८) पोई का साग।

वि० स्त्री० [सं०] मोहित करनेवाली। चित्त को लुभानेवाली। अत्यंत सुंदरी।

मोहनीय–वि० [सं०] मोहित करने के योग्य। मोह लेने के योग्य।

मोहफिल–संज्ञा स्त्री० दे० "महफिल"।

मोहब्बत–संज्ञा स्त्री० दे० "मुहब्बत"। उ०—हमको अपना आप दे, इश्क मोहब्बत दर्द। सेज सुहाग सुख प्रेम रस मिलि खेलैं ला-पर्द।—दादू।

मोहर–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) किसी ऐसी वस्तु पर लिखा हुआ नाम, पता या चिह्न आदि जिससे कागज़ वा कपड़े आदि पर छाप सकें। अक्षर, चिह्न आदि दबाकर अंकित करने का ठप्पा। उ०—इस मोहर की अँगूठी से आपको विश्वास हो जायगा। (अँगूठी देता है)—हरिश्चंद्र।

क्रि० प्र०—करना।—छापना।—देना।—लगाना।

(२) उपर्युक्त वस्तु की छाप जो कागज़ वा कपड़े आदि पर ली गई हो। स्याही लगे हुए ठप्पे को दबाने से बने हुए चिह्न या अक्षर। उ०—मोहर में अपना नाम वा चिह्न होता है, जिससे पत्र पर लगी हुई मोहर देखते ही उस पत्र के पढ़ने के प्रथम परिज्ञान हो जाता है कि यह पत्र अमुक का है।—मुरारिदान। (३) स्वर्ण मुद्रा। अशरफी। उ०—(क) करि प्रणाम मोहर बहु दीन्हो। द्विभो असीस यतीश न लीन्हो।—रघुराज। (ख) जो कुजाति नहिं मानै बाता। गगरा खोदि दिखायौ ताता। गाड़े बीच अजिर के माहीं। मोहर भरे नृप जानत नाहीं।—रघुनाथदास।

मोहरा–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+रा (प्रत्य०)] [स्त्री० मोहरी] (१) किसी बरतन का मुँह या खुला भाग। (२) किसी पदार्थ का ऊपरी या अगला भाग। (३) एक प्रकार की जाली जो बैल, गाय, भैंस इत्यादि का मुँह कसकर गिराँव के साथ बाँधने के लिए होती है। यह मुँह पर बाँधकर कस दी जाती है, जिससे पशु खाने-पीने की चीजों पर मुँह नहीं चला सकता। (४) सेना की अगली पंक्ति जो आक्रमण करने और शत्रु को हटाने के लिए तैयार हो। (४) फ़ौज की चढ़ाई का रुख। सेना की गति। उ०—मही के महीपन को मोर्यो कैसे मोहरा।—रघुराज।

मुहा०—मोहरा लेना=(१) सेना का मुकाबला करना। (२) भिड़ जाना। प्रतिद्वंद्विता करना।

(५) कोई छेद वा द्वार जिससे कोई वस्तु बाहर निकले। (६) चोली आदि की तनी या बंद। उ०—कंचुकी सूही कसे मोहरा अति फैलि चली तिगुनी परभासी। मानिक के भुजबंद चुरी मणि कंचन कंकन ओप प्रकासी।—गुमान।

संज्ञा पुं० [फ़ा० मोहर] (१) शतरंज की कोई गोटी। (२) मिट्टी का साँचा जिसमें कड़ा, पछुआ इत्यादि ढालते हैं। (३) रेशमी वस्त्र घोटने का घोटना जो प्रायः बिल्लौर का बनता है। (४) सिंगिया विष। (५) सोने, चाँदी पर नक्काशी करनेवालों का वह औजार जिससे रगड़ कर नक्काशी को चमकाते हैं। दुआली। (६) जहरमोहरा

मोहरात्रि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह प्रलय जो ब्रह्मा के पचास वर्ष बीतने पर होता है। दैनंदिन प्रलय। (२) जन्माष्टमी की रात्रि। भाद्रपद कृष्णा अष्टमी।

मोहराना–संज्ञा पुं० [फ़ा० मुहर+आना (प्रत्य०)] वह धन जो किसी कर्म्मचारी को मोहर करने के लिए दिया जाय। मोहर करने की उजरत।

मोहरी–संज्ञा स्त्री० [हिं० मोहरा] (१) बरतन आदि का छोटा या खुला भाग। (२) पाजामे का वह भाग जिसमें टाँगें रहती हैं। (३) दे० "मोरी"।

संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मधुमक्खी जो खानदेश में होती है।

मोहर्रिर–संज्ञा पुं० [अ०] वह जो किसी के कागज़ आदि लिखने का काम करता हो। लेखक। मुंशी।

मोहलत–संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) फ़ुरसत। अवकाश। छुट्टी।

क्रि० प्र०—देना।—माँगना।—मिलना।—लेना।

(२) किसी काम को पूरा करने के लिए मिला हुआ या निश्चित समय। अवधि। जैसे,—चार दिन की मोहलत और दी जाती है। इस बीच में रुपया इकट्ठा करके दे दो।

मोहल्ला–संज्ञा पुं० दे० "महल्ला"।

मोहार†–संज्ञा पुं० [हिं० मुँह+आर (प्रत्य०)] (१) द्वार। दरवाज़ा। (२) मुँहड़ा। अगला भाग। उ०—रूप को कूप बखानत हैं कवि कोऊ तलाव सुधा ही के संग को। कोऊ सुरंग मोहार कहै दहला कलपद्रुम भाषत अंग को।—शंभु।

संज्ञा पुं० [सं० मधुकर, प्रा० महुअर] (१) मधुमक्खी की एक जाति जो सब से बड़ी होती है। सारंग। (२) मधु का छत्ता। (३) भौंरा।

मोहारनी†–संज्ञा स्त्री० [हिं० मुँह+सं० पारायण (प्रत्य०)] पाठशाला के बालकों का एक साथ खड़े होकर पहाड़े पढ़ना।

मोहाल–संज्ञा पुं० [अ० महाल] पूरा गाँव वा उसका एक भाग अथवा कई गाँवों का समूह जिसका बंदोबस्त किसी नंबरदार

के साथ एक बार किया गया हो। व्यवहार में 'मोहाल' पूरा माना जाता है और इसी विचार से उसकी पट्टी या हिस्सा बनाया जाता है।

संज्ञा पुं० [हिं० मोहार] (१) मधुमक्खी की एक जाति। मोहार। (२) मधुमक्खी का छत्ता।

मोहिं*–सर्व० [सं० मह्यं, पा० मय्हं] ब्रज भाषा और अवधी के उत्तम पुरुष "मैं" का वह रूप जो पहले सब कारकों में आता था, पर पीछे कर्म और संप्रदान में ही आने लगा। मुझको। मुझे। उ०—(क) मरूँ पर माँगौं नहीं अपने तन के काज। परमारथ के कारनै मोहिं न आवै लाज।—सूर। (ख) नैना कह्यौ न मानै मेरो। हारि मानि कै रही मौन ह्वै निकट सुनत नहिं टेरो। ऐसो भये मनों नहिं मेरे जबहिं श्याम मुख हेरो। मैं पछताति जबहिं सुधि आवति ज्यों दीन्हों मोहिं डेरो।—सूर।

मोहित–वि० [सं०] (१) मोह या भ्रम में पड़ा हुआ। मुग्ध। (२) मोहा हुआ। आसक्त।

मोहिनी–वि० स्त्री० [सं०] मोहनेवाली।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) त्रिपुरमाली नामक फूल। वटपत्रा। बेला। (२) विष्णु के एक अवतार का नाम। भागवत के अनुसार विष्णु ने यह अवतार उस समय लिया था, जब देवताओं और दैत्यों ने मिलकर रत्नों के निकालने के लिए समुद्र मथा था और अमृत के निकलने पर दोनों उसके लिए परस्पर झगड़ रहे थे। उस समय भगवान् ने मोहिनी अवतार धारण किया था और उन्हें देखते ही असुर मोहित होकर बोले थे कि अच्छा लाओ, हम दोनों दलों के लोग बैठ जायँ और मोहिनी अपने हाथ से हम लोगों को अमृत बाँट दे। दोनों दलों के लोग पंक्ति बाँधकर बैठ गए और मोहिनी रूप विष्णु ने अमृत बाँटने के बहाने से देवताओं को अमृत और असुरों को सुरा पिला दी। (३) माया। जादू। टोना। उ०—देवी ने ऐसी मोहिनी डाली थी कि यशोदा को लड़की के होने की भी सुध नहीं थी। (४) वैशाख शुक्ल एकादशी का नाम। (५) एक अर्द्धसम वृत्ति का नाम जिसके पहले और तीसरे चरणों में बारह और दूसरे तथा चौथे चरणों में सात मात्राएँ होती हैं; और प्रत्येक चरण के अंत में एक सगण अवश्य होता है। उ०—शंभु भक्तजन त्राता भव दुख हरैं। मन वांछित फल-दाता मुनि हिय धरैं। (६) पंद्रह अक्षरों के एक वर्णिक छंद का नाम जिसके प्रत्येक चरण में सगण, भगण, तगण, यगण और सगण होते हैं। उ०—सुभ तो ये सखि री आदिहुँ जो चित्त धरी। नर औ नारि पढ़ैं भारत के एक घरी।

मोही–वि० [सं० मोहिन्] [स्त्री० मोहिनी] मोहित करनेवाला।

वि० [हिं० मोह+ई (प्रत्य०)] (१) मोह करनेवाला। प्रेम करनेवाला। (२) लोभी। लालची। (३) भ्रम या अविद्या में पड़ा हुआ। अज्ञानी।

मोहेला–संज्ञा पुं० [अ० महल] एक प्रकार का चलता गाना।

मोहेली–संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जो हिमालय और सिंध की नदियों में मिलती है।

मोहोपमा–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक अलंकार का नाम जो केशवदास के अनुसार उपमा का एक भेद है; पर और आचार्य जिसे 'भ्रांति' अलंकार कहते हैं। वि० दे० "भ्रांति"।

मौंज–वि० [सं०] [स्त्री० मौंजी] मूँज का बना हुआ।

मौंजकायन–संज्ञा पुं० [सं०] मुंजक ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मौंजवान–वि० [सं० मौंजवत्] (१) मुंजवान् नामक पर्वत में उत्पन्न। (२) मुंजवान् नामक पर्वत संबंधी।

मौंजिबंधन–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत-संस्कार। व्रतबंध। जनेऊ।

मौंजी–संज्ञा स्त्री० [सं०] मूँज की बनी हुई मेखला।

यौ०—मौंजिबंधन।

वि० [सं० मौंजिन्] (१) जो मूँज की मेखला धारण किए हुए हो। जो मूँज की मेखला पहने हो। (२) दे० "मौंजीय"।

मौंजीपत्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वल्यजा।

मौंजीय–वि० [सं०] मूँज का बना हुआ।

मौंड़ा–*†–संज्ञा पुं० [सं० माणवक] [स्त्री० मौंड़ी] लड़का। उ०—(क) मैया बहुत बुरो बलदाऊ। कहन लगे बन बड़ो तमासो सब मौंड़ा मिलि आऊ।—सूर। (ख) बाट ही गोरस बेच री आज तू माय के मूँड़ चढ़ै मति मौंड़ी।—रसखानि।

संज्ञा पुं० दे० "मोहड़ा"।

मौका–संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह स्थान जहाँ कोई घटना संघटित हो। घटनास्थल। वारदात की जगह। उ०—वार्नस साहब ने मौके पर जाकर, अच्छी तरह तहकीकात की।—द्विवेदी। (२) देश। स्थान। जगह। जैसे,—मकान का मौका अच्छा नहीं है। (३) अवसर। समय। उ०—तब से बंबई जाने का हमें मौका ही न आया।—द्विवेदी।

मुहा०—मौका देना=अवकाश देना। समय देना। मौका देखना या तकना=दाँव में रहना। उपयुक्त अवसर की ताक में रहना। मौका पाना=(१) अवकाश पाना। फुरसत पाना। (२) उपयुक्त समय या अवसर पाना। मौका पाना, मौका मिलना या हाथ लगना–(१) अवकाश मिलना। समय या अवसर मिलना। (२) घात मिलना। दाँव पाना।

मौकुल–संज्ञा पुं० [सं०] कौआ।

मौकूफ़–वि० [अ०] (१) रोका हुआ। बंद किया हुआ। स्थगित किया हुआ। उ०—(क) सरकार ने अब इस सती होने की बुरी रस्म को मौकूफ़ कर दिया है।—शिव०। (ख) एक

भुनगा पास न पावेगा मौकूफ़ हुआ जब अन्न औ जल।—जर्जीर। (२) काम करने से रोका गया। नौकरी से अलग किया गया। बरखास्त। उ०—सन् १९१० ई० में बादशाह ने मुसलमान मुग़लों को, जो नौकर हो गए थे, यक कलम मौकूफ़ कर दिया।—शिवप्रसाद। (३) रद किया गया। मनसूख किया गया। (४) अधिष्ठित। मुनहसर। अवलंबित। आश्रित। निर्भर। उ०—दुःख और सुख तबीअत पर मौकूफ़ है।—शिवप्रसाद।

क्रि० प्र०—रहना।—होना।

मौकूफ़ी—संज्ञा [फ़ा०] (१) मौकूफ़ होने की क्रिया या भाव। (२) प्रतिबंध। रुकावट। (३) काम से अलग किया जाना। बरखास्तगी।

मौक्तिक—संज्ञा पुं० [सं०] मोती।

मौक्तिकतंडुल—संज्ञा पु० [सं०] सफ़ेद मक्का। बड़ी ज्वार।

मौक्तिकदाम—संज्ञा पुं० [सं०] बारह अक्षरों का एक वर्णिक छंद जिसके प्रत्येक चरण में दूसरा, पाँचवाँ, आठवाँ और ग्यारहवाँ वर्ण गुरु और शेष लघु होते हैं; अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं। उ०—दुख्यो हिय केतिक देखत भूप। कप्यो तब तापर रोप अनूप। वियोगिनि के उर भेदत रोजु। करै तुमको निज बाण मनोजु।—गुमान।

मौक्तिकमाला—संज्ञा स्त्री० [सं०] ग्यारह अक्षरों की एक वर्णिक वृत्ति का नाम जिसके प्रत्येक चरण का पहला, चौथा, पाँचवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ अक्षर गुरु और शेष लघु होते हैं तथा पाँचवें और छठे वर्ण पर यति होती है। इसे अनुकूला भी कहते हैं। उ०—भाति न गंगा जग तुव दाया। सेवत तोहीं मन बच काया।

मौक्तिकावलि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मोती की माला।

मौक्ष—संज्ञा पु० [सं०] एक प्रकार का साम गान।

मौख—संज्ञा पु० [सं०] मुख से होनेवाला पाप। जैसे, अभक्ष्य भोजन और अपशब्दों का उच्चारण आदि।

संज्ञा पु० एक प्रकार का मसाला। उ०—मौख मुनक्का मृत मुलतानी। मेथी मालकंगनी मानी।—सूदन।

मौखर—संज्ञा पु० [सं०] बहुत अधिक या बढ़ बढ़कर बातें करना। मुखरता। मुँहज़ोरी।

मौखरी—संज्ञा पु० [सं०] भारत के एक प्राचीन राजवंश का नाम जिसका शासन काल ईसवी पाँचवीं शताब्दी के अंत से लगभग ईसवी आठवीं शताब्दी तक था। इस वंश का राज्य पूर्व में मगध तक, दक्षिण में मध्य प्रांत और आंध्र तक, उत्तर में नेपाल तक तथा पश्चिम में थानेश्वर और मालवे तक था। इनकी राजधानी कन्नौज थी, परंतु बीच में उस पर बैस-वंशी राजा हर्ष ने अधिकार कर लिया था। इस वंश के लोग अपने आपको भद्रराज अश्वपति के वंशज मानते थे। इस वंश के बहुत प्राचीन होने के कई प्रमाण मिले हैं; पर इसका पुराना इतिहास अभी तक नहीं मिला है। हरिवर्म्मा, ईश्वरवर्म्मा, शर्ववर्म्मा, ग्रहवर्म्मा, यशोवर्म्मा आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे।

मौखर्य्य—संज्ञा पु० [सं०] बहुत अधिक वा बढ़ बढ़कर बोलना। मुखरता। वाचालता। प्रगल्भता।

मौखिक—वि० [सं०] (१) मुख संबंधी, मुख का। (२) जबानी। जैसे,—आप कुछ देते तो हैं नहीं, केवल मौखिक बातें करते हैं।

मौगा†—वि० [सं० मुग्ध] [स्त्री० मौगी] (१) मूर्ख। दुर्बुद्धि। (२) जनखा। हिजड़ा। मेहरा।

मौगी‡—संज्ञा स्त्री० [हिं० मौगा, मि० बँगला मागी=स्त्री।] स्त्री। औरत।

मौच—संज्ञा पु० [सं०] केले का फल।

मौज—संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लहर। तरंग। हिलोर।

क्रि० प्र०—आना।—उठना।

मुहा०—मौज मारना=लहराना। बहना। जैसे,—दरिया मौजें मार रहा है। मौज खाना=लहर मारना। हिलोरा लेना। (लश०) लंबी मौज=दूर तक का बहाव। (लश०)

(२) मन की उमंग। उछंग। जोश। उ०—(क) साहेब के दरबार में कमी काहु की नाहिं। बंदा मौज न पावही चूक चाकरी माँहिं।—कबीर। (ख) कहा कमी जाके राम धनी। मनसा नाथ मनोरथ पूरण सुख निधान जाकी मौज घनी।—सूर।

मुहा०—किसी को मौज आना वा किसी का मौज में आना=उमग में भरना। अचानक किसी काम के लिए उत्तेजना होना। धुन होना। मौज उठना=मन में उमंग उठना। किसी की मौज पाना=मरजी जानना। इच्छा से अवगत होना।

(३) धुन। (४) सुख। आनंद। मज़ा। उ०—(क) कबिरा हरि की भक्ति कर तजु विषया रस चौज। बार बार नहिं पाइए मानुष जनम की मौज।—कबीर। (ख) सोचु पर्‍यो मन राधिका कछु कहन न आवै। कछु हरखै कछु दुख करै मन मौज बढ़ावै।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—उड़ाना।—मारना।—मिलना।—लेना।

(५) प्रभूति। विभव। विभूति। उ०—रहति न रन जयसाहि मुख लखि लाखन की फौज। जाचि निराखर हू चलै लै लाखन की मौज।—बिहारी।

मौज़ा—संज्ञा पुं० [अ०] गाँव। ग्राम।

मौजी—वि० [हिं० मौज+ई (प्रत्य०)] (१) मनमाना काम करनेवाला। जो जी मे आवे, वही करनेवाला। (२) सदा

प्रसन्न रहनेवाला। आनंदी। (२) मन में कभी कुछ और कभी कुछ विचार करनेवाला।

मौजूद-वि० [अ०] (१) उपस्थित। हाजिर। विद्यमान। रहता हुआ। उ०—जहाँ हम लोग गए थे, वहाँ शांतिपुर का हमारा नायब गुमाश्ता मौजूद था।—सरस्वती। (२) प्रस्तुत। तैयार। जैसे,—आपका काम करने को मैं मौजूद हूँ।

विशेष—इसका प्रयोग विशेष्य के आदि में इस रूप में नहीं होता; और यदि होता भी है, तो होना क्रिया का रूप लुप्त रहता है। जैसे,—वहाँ पर मौजूद सिपाही ने उसे बहुत रोका।

मुहा०—**मौजूद रहना** (१) उपस्थित रहना। पास रहना। सामने रहना। (२) ठहरे रहना। जैसे,—मौजूद रहो; अभी उत्तर मिलेगा।

मौजूदगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] सामने रहने का भाव। उपस्थिति। विद्यमानता।

मौजूदा-वि० [अ०] वर्त्तमान काल का। जो इस समय मौजूद हो। प्रस्तुत। उ०—चूँकि उर्दू की एक बेनज़ीर तारीख (आबे हयात) मुल्क में मौजूद है; लेहाजा किताब का ज़ियादह हिस्सा संस्कृत, हिंदी और मौजूदा हिंदी के ज़िक्रे खैर से मामूर होगा।—ज़माना।

मौड़ा-*†-संज्ञा पुं० दे० "मौंड़ा"।

मौत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) मरने का भाव। मरण। मृत्यु। वि० दे० "मृत्यु"। उ०—अरे कंस! जिसे तू पहुँचाने चला है, तिसका आठवाँ लड़का तेरा काल उपजेगा। उसके हाथ तेरी मौत है।—लल्लू। (२) वह देवता जो मनुष्यों वा प्राणियों के प्राण निकालता है। मृत्यु। उ०—बिरह तेज तन में तपै अंग सबै अकुलाय। घट सूना जिव पीव में, मौति ढूँढ़ि फिर जाय।—कबीर।

मुहा०—**मौत आना**=मरने को होना। **मौत का पसीना आना**=आसन्न मरण होना। मरने के लक्षण दिखाई देना। **मौत का सिर पर खेलना**=(१) मरने को होना। मरने पर होना। (२) दुर्दिन आने को होना। आपत्ति काल समीप होना। (३) प्राण जाने का भय होना। जान जोखों होना। **मौत का तमाचा**=मृत्यु का स्मरण दिलानेवाला कार्य या घटना। **अपनी मौत मरना**=स्वाभाविक ढंग से मरना। प्राकृतिक नियम के अनुसार मरना। **मौत बुलाना**=ऐसा काम करना जिससे मृत्यु निश्चित हो। (३) मरने का समय। काल।

मुहा०—**मौत के दिन पूरे करना**=किसी प्रकार आयु बिताना। कठिनता से कालक्षेप करना। ऐसे दुःख से दिन बिताना, जिसमें बहुत दिन जीना असम्भव हो।

(४) अत्यंत कष्ट। आपत्ति। जैसे,—वहाँ जाना तो हमारे लिए मौत है।

मौताद-संज्ञा स्त्री० [अ०] मात्रा। उ०—चंग जो होता बैद की दिये दवा मौताद। क्यों नहिं सिर के दरद में मिर देता फिरहाद।—रसनिधि।

मौद्गल-संज्ञा पुं० [सं०] मद्गल ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। मौद्गल्य।

मौद्गल्य-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुद्गल ऋषि के पुत्र का नाम। ये एक गोत्रकार ऋषि थे। (२) मुद्गल ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

मौद्गल्यायन-संज्ञा पुं० [सं०] गौतम बुद्ध के एक प्रधान शिष्य का नाम।

मौद्गीन-संज्ञा पुं० [सं०] वह खेत जिसमें मूँग उत्पन्न होता हो।

मौन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) न बोलने की क्रिया या भाव। चुप रहना। चुप्पी। उ०—संपति अरु बिपति को मिलि चले प्रभु तहाँ जहाँ नहिं होइ सुमिरन तिहारो। करत दंडवत मैं तुमहिं करुणाकरन कृपा करि और मेरे निहारो। सुनत यह बचन हरि कह्यो अब मौन करि कृपा तोहिं पर बीर धारी। संपति अरु बिपति को भय न होइ है तिसै सुनै जो यह कथा चित्त धारी।—सूर।

क्रि० प्र०—करना।—रहना।

मुहा०—**मौन गहना वा ग्रहण करना**=चुप रहना। चुप्पी साधना। न बोलना। उ०—(क) देखत ही जेहि मौन गह्यो अरु मौन तजे कटु बोल उचारे।—केशव। (ख) मौन गहौं मन मारे रहौं निज पीतम की कहौं कौन कहानी।—व्यंग्यार्थ०। **मौन खोलना**=चुप रहने के उपरांत बोलना। उ०—खिनक मौन बाँध खिन खोला। गहेसि जीभ मुख जाइ न बोला।—जायसी। **मौन तजना**=चुप्पी छोड़ना। बोलने लगना। उ०—देखत ही जेहि मौन गह्यो अरु मौन तजे कटु बोल उचारे।—केशव। **मौन धरना वा धारण करना**=न बोलना। चुप होना। मौन होना। उ०—जहँ बैठी वृषभानु नंदिनी तँह आये धरि मौन। पड़े पायँ हरि चरण परसि कर छिन अपराध सलौन।—सूर। **मौन बाँधना**=चुप्पी साधना। चुप हो जाना। उ०—जो बोलै सो मानिक मूँगा। नाहिं तो मौन बाँधु होइ गूँगा।—जायसी। **मौन लेना वा साधना**=मौन धारण करना। चुप होना। न बोलना। उ०—जिय में न क्रोध करु जाहि अब केहू ठौर नगर जरावे जिन साध्यो हम मौन है।—हनुमन्नाटक। **मौन सँभारना***=मौन साधना। चुप होना।

(२) मुनियों का व्रत। मुनिव्रत। (३) फागुन महीने का पहला पक्ष।

वि० [सं० मौनी] जो न बोले। चुप। मौनी। उ०—(क) हमहुँ कहब अब ठकुर सुहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती।—तुलसी। (ख) इतनी सुनत नैन भरि आये प्रेम नंद के लालहि। सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै घोष बात जनि चालहि।—सूर।

*‡संज्ञा पुं० [सं० मौण] (१) बरतन। पात्र। उ०—काढ़ो कोरे कापर हो अरु काढ़ो घी को मौन। जाति पाँति पहिराय के सब समदि छतीसो पौन।—सूर।

(२) डब्बा। उ०—मानहुँ रतन मौन दुइ मूँदे।—जायसी। (३) मूँज आदि का बना टोकरा या पिटारा।

मौनता–संज्ञा स्त्री० [सं०] मौन होने या रहने का भाव। चुप होना। चुप्पी।

मौनव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] मौन धारण करने का व्रत। चुप रहने का व्रत।

मौना–संज्ञा पुं० [सं० मौण] [स्त्री० अल्पा० मौनी] (१) घी या तेल आदि रखने का एक विशेष प्रकार का बरतन। (२) काँस और मूँज से बुनकर बनाया हुआ टोकरा जिसमें अन्न आदि रखा जाता है। (३) सींक वा काँस और मूँज का तंग मुँह का ढक्कनदार टोकरा। पिटारी।

मौनी–वि० [सं० मौनिन्] (१) चुप रहनेवाला। न बोलनेवाला। मौन धारण करनेवाला। (२) मुनि।

संज्ञा स्त्री० [हिं० मौना] कटोरे के आकार की टोकरी जो प्रायः काँस और मूँज से बुनकर बनाई जाती है।

मौनेय–संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्वों और अप्सराओं आदि का एक मातृक गोत्र।

विशेष—इन जातियों में माता का गोत्र प्रधान होता है; क्योंकि इनके पिता अनिश्चित होते हैं।

मौर–संज्ञा पुं० [सं० मुकुट, प्रा० मउड़] [स्त्री० अल्पा० मौरी] (१) एक प्रकार का शिरोभूषण जो ताड़ पत्र या खुखड़ी आदि का बनाया जाता है। विवाह में वर इसे अपने सिर पर पहनता है। उ०—(क) अवधू बोत तुरावल राता। नाचै बाजन बाज बराता। मौर के माथे दूलह दीन्हों, अकथा जोरि कहाता। मड़ये के चारन समधी दीन्हों पुत्र बिआहल माता।—कबीर। (ख) सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे।—तुलसी। (ग) रामचंद्र सीता सहित शोभत हैं तेहि ठौर। सुवरणमय मणिमय खचित शुभ सुंदर सिर मौर।—केशव।

मुहा०—मौर बाँधना=विवाह के समय सिर पर मौर पहनना। उ०—पाँवरि तजहु देहु पग, पैरन-बाँक तुखार। बाँध मौर औ छत्र सिर बेगि होहु असवार।—जायसी।

(२) शिरोमणि। प्रधान। सरदार। उ०—(क) जो तुम राजा आप कहावत वृंदावन की ठौर। लूट लूट दधि खात सबन को सब चोरन के मौर।—सूर। (ख) साधू मेरे सब बड़े अपनी अपनी ठौर। शब्द बिवेकी पारखी वह माथे का मौर।—कबीर।

संज्ञा पुं० [सं० मुकुल, प्रा० मउल] छोटे छोटे फूलों वा कलियों से गुथी हुई लंबी लंबी लटोंवाला घौद। मंजरी। बौर। जैसे, आम का मौर, पयार का मौर, अशोक का मौर। उ०—(क) नंद महर घर के पिछवाड़े राधा आइ बतानी हो। मनों अंब-दल मौर देखिकै कुहकि कोकिला बानी हो।—सूर। (ख) चलत सुन्यो परदेश को हियरो रह्यौ न ठौर। लै मालिन मीतहि दियो नव रसाल को मौर।—मतिराम।

मुहा०—मौर बँधना=मौर निकलना। मंजरी लगना।

संज्ञा पुं० [सं० मौलि=सिर] गरदन का पिछला भाग जो सिर के नीचे पड़ता है। गरदन। उ०—(क) भौंह उँचै आँचरु उलटि मौर मोरि मुँह मोरि। (ख) मौर उँचै घूँटेन ते नारि सरोवर न्हाइ।—बिहारी।

मौरना–क्रि० स० [हिं० मौर+ना (प्रत्य०)] वृक्षों पर मंजरी लगना। आम आदि के पेड़ों पर बौर लगना। उ०—(क) काटे आँब न मौरिया फाटे जुरै न कान। गोरख पद परसे बिना कहौ कौन की हान।—कबीर। (ख) शिशिर होत पतझार, आँब कटाहर एक से। राह बसंत निहार, जग जाने मौरत प्रगट।—हनुमन्नाटक। (ग) बिलोके तहाँ आँब के साखि मौरे। चहूँधा भ्रमैं हुंकरैं भौंर बौरे। लगे पौन के झोंक डारैं झुकावैं। बिचारे वियोगीन को ज्यों डरावैं।—गुमान।

मौरसिरी*–संज्ञा स्त्री० दे० "मौलसिरी"। उ०—(क) जुही नसत तासों कहूँ प्रीति निबारी जाय। मौरसिरी दिन दिन चढ़ै सदा सुहागि लताहि।—रसनिधि। (ख) मौरसिरी ही को पैन्हि कै हार भई सब के सिर मौर-सिरी तू।—देव।

मौरी—संज्ञा स्त्री० [हिं० मौर+ई (प्रत्य०)] (१) छोटा मौर जो विवाह में बधू के सिर बाँधा जाता है।

मौरूसी–वि० [अ०] बाप दादा के समय से चला आया हुआ। पैतृक। जैसे,—(क) यह मौरूसी जायदाद है; इसमें सब का हक़ है। (ख) यह बीमारी तो उनके खानदान में मौरूसी है।

मौर्ख्य–संज्ञा पुं० [सं०] मूर्खता। बेवक़ूफ़ी।

मौर्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] क्षत्रियों के एक वंश का नाम। सम्राट् चंद्रगुप्त और अशोक इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। पुराणों में मौर्य्यों को वर्णसंकर लिखा है और मौर्य्य वंश का

मूलपुरुष 'चंद्रगुप्त' माना गया है। पुराणों के अनुसार चंद्रगुप्त का जन्म मुरा नामक शूद्रा से हुआ था और वह चाणक्य की सहायता से नंदों का नाश कर पाटलिपुत्र का सम्राट् हुआ था। (वि० दे० "चंद्रगुप्त"।) पर बौद्ध ग्रंथों में 'चंद्रगुप्त' को 'मोरिय' वंश का लिखा है और उसे शुद्ध क्षत्रिय माना है। मौर्य्य वंश के शुद्ध क्षत्रिय होने की पुष्टि दिव्यावदान में अशोक के मुँह से कहलाए हुए 'देवि अहं क्षत्रियः कथं पलांडुं परिभक्षयामि' से भी होता है, जिसमें अशोक कहता है—'देवि, मैं क्षत्रिय हूँ; मैं प्याज कैसे खाऊँ।' 'मुरा' शब्द में 'ण्य' प्रत्यय लगाने से 'मौर्य्य' शब्द बहुत खींच खाँच से बनता है; पर पाली भाषा में 'मोरिया' शब्द आया है, जिसकी सिद्धि पाली व्याकरण के अनुसार मोर शब्द से, जो 'मयूर' का पाली रूप है, की गई है। यह समझकर जैनियों ने चंद्रगुप्त की माता को नंद के मयूर-पालकों के सरदार की कन्या लिखा है। बुद्धघोष के विनयपिटक की अत्थकथा की टीका और महावंश की टीका में चंद्रगुप्त को मोरिय नगर के राजा की रानी का पुत्र लिखा है। यह मोरिय नगर हिन्दूकुश और चित्राल के मध्य उज्जानक (सं० उद्यान) देश में था। महापरिनिर्वाण सूत्र में लिखा है कि जिस समय महात्मा गौतम बुद्ध का कुशीनगर में निर्वाण हुआ था और मल्लराज ने उनकी अंत्येष्टि के अनंतर उनके भस्म और अस्थि को कुशीनगर में चैत्य बनाकर प्रतिष्ठित करना चाहा था, उस समय कपिलवस्तु, राजगृह आदि के राजाओं ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को बाँटकर अपने अपने भाग को अपने अपने देश में चैत्य बनाकर रखने के उद्देश्य से कुशीनगर पर चढ़ाई की थी, जिससे महान् उपद्रव की संभावना देख महात्मा द्रोण ने महात्मा बुद्धदेव के धातु को विभक्त कर प्रत्येक को कुछ कुछ भाग देकर झगड़ा शांत किया था। उन राजाओं में, जिन्हें महात्मा बुद्धदेव की चिता के भस्म का भाग दिया गया था, पिप्पलीकानन के मोरिया राजा का भी उल्लेख महापरिनिर्वाण सूत्र में है। इससे विदित होता है कि महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण काल में पिप्पलीकानन में मोरिय क्षत्रियों का निवास था। इससे मोरिय राजवंश की सत्ता का पता चंद्रगुप्त से बहुत पहले तक चलता है। ये मोरिय लोग शाक्य, लिच्छवि, मल्ल आदि वंश के क्षत्रियों के संबंधी थे। जान पड़ता है कि ये लोग काबुल के प्रदेशों के रहनेवाले क्षत्रिय थे; और जब पारसी आर्यों ने भारतीय आर्यों पर आक्रमण करना प्रारंभ किया, तब ये लोग भागकर नेपाल की तराई में चले आए और वहाँ के लोगों को अपने अधिकार में करके इन्होंने छोटे छोटे अनेक राज्य स्थापित किए। इनके आचार आदि पर पारसी आर्य्यों और मध्य एशिया की अन्य जातियों का प्रभाव पड़ा था; इसीलिए मनुजी ने उन्हें व्रात्य क्षत्रिय लिखा है—"झल्लोमल्लश्च राजन्या दूव्रात्याल्लिच्छिवि रेवच। नटश्च करणश्चैव खसोद्रविड़ एव च"। संभव है कि बौद्ध हो जाने के कारण ही संस्कार-च्युत होने पर इन जातियों को व्रात्यज लिखा गया हो; और इसीलिए पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य्य के वंश के लिए भी 'वृषल' वा वर्णसंकर लिखा गया हो। महावंश के टीकाकार और दिव्यावदान के टीकाकारों का कथन है कि चंद्रगुप्त मोरिय नगर के राजा का पुत्र था। जब मोरिय के राजा का ध्वंस हुआ, तब उसकी गर्भवती रानी अपने भाई के साथ बड़ी कठिनता से भागकर पुष्पपुर चली आई और वहीं चंद्रगुप्त का जन्म हुआ। यह चंद्रगुप्त गौएँ चराया करता था। इसे होनहार देख चाणक्य जी अपने आश्रम पर लाए और उपनयन कर अपने साथ तक्षशिला ले गए। जब सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया, तब तक्षशिला के ध्वंस होने पर चंद्रगुप्त आचार्य्य चाणक्य के साथ सिकंदर के शिविर में था। वील साहब का कथन है कि मोरिय नगर उज्जानक प्रदेश में था, जो हिंदूकुश और चित्राल के मध्य में था। इन सब बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि जिस प्रकार निस्विश से लिच्छवि, शक से शाक्य आदि राजवंशों के नाम पड़े, उसी प्रकार मोरिय नगर के प्रथम अधिवासी होने के कारण मौर्य्य राजवंश का भी नाम रखा गया; और आचार व्यवहार की विभिन्नता से पुराणों में उसे 'वृषल' आदि लिखा गया। पारस की सीमा पर रहने के कारण उनके आचार-व्यवहार और रहन सहन पर पारसियों का प्रभाव पड़ा था; और चंद्रगुप्त तथा अशोक के समय के गृहों और राजप्रासादों का भी निर्माण पारस के भवनों के ढंग पर ही किया गया था। चंद्रगुप्त के अनंतर अशोक मौर्य्य वंश का सब से प्रसिद्ध सम्राट् हुआ। मौर्य्य साम्राज्य का ध्वंश शुंगों ने किया। पर विक्रम की आठवीं शताब्दी तक इधर उधर मौर्य्यों के छोटे छोटे राज्यों का पता लगता है। ऐसा प्रसिद्ध है, और जैन ग्रंथों में भी लिखा है कि चित्तौड़ का गढ़ मौर्य्य या मोरी राजा चित्रांग ने बनवाया था।

मौर्वी—संज्ञा स्त्री० [सं०] धनुष की प्रत्यंचा। कमान की डोरी। ज्या।

मौल—वि० [सं०] (१) मूल से संबंध रखनेवाला। (२) मौरूसी। पैतृक।

संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक प्रकार के मंत्री।

मौलवी—संज्ञा पुं० [अ०] (१) अरबी भाषा का पंडित। (२) मुसलमान धर्म्म का आचार्य्य, जो अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं का ज्ञाता हो।

मौलसिरी-संज्ञा स्त्री० [सं० मौलि+श्री] एक प्रकार का बड़ा सदाबहार पेड़ जिसकी लकड़ी अंदर से लाल और चिकनी होती है और जिससे मेज, कुर्सी आदि बनाई जाती है। यह दरवाजे और सँगहे बनाने के भी काम आती है। इसके फूल मुकुट के आकार के, तारे की भाँति छोटे छोटे होते हैं और उनसे इत्र बनाया जाता है। इसके फल पकने पर खाने योग्य होते हैं और बीजों से तेल निकलता है। इसकी छाल ओषधियों में काम आती है। इसका पेड़ बीजों से उत्पन्न होता है और सब देशों में लगाया जा सकता है। पश्चिमी घाट और कनारा में यह जंगलों में स्वच्छंद रूप से उगता है। यह पेड़ बहुत दिनों में बढ़ता है। यह बरसात में फूलता और शरद ऋतु में फलता है। इसके फूल सफ़ेद, कटावदार और छोटे छोटे बहुत ही कोमल और मीठी सुगंधवाले होते हैं। उ०—पहिरत ही गोरे गरे यों दौरी दुति लाल। मनौ परसि पुलकित भई मौलसिरी की माल।—बिहारी।

पर्य्या०—बकुल। केसर। सीधगंध। मुकुल। मधुपुष्प। सुरभि। शारदिक। करक। चिरपुष्प।

मौलि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी पदार्थ का सब से ऊँचा भाग। चोटी। सिरा। चूड़ा। (२) मस्तक। सिर। (३) किरीट। (४) जूड़ा। जटाजूट। (५) अशोक का पेड़। (६) मुख्य वा प्रधान व्यक्ति। सरदार। (७) पृथिवी। भूमि। ज़मीन।

मौली-वि० [सं० मौलिन्] जिसके सिर पर मौलि या मुकुट हो। मुकुटधारी।

मौषल-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के एक पर्व का नाम।

मौषिकापुत्र-संज्ञा पुं० [सं०] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक आचार्य्य का नाम।

मौष्टा-संज्ञा स्त्री० [सं०] घूँसे की मार। घूँसघूँसा। मुक्कामुक्की।

मौष्टिक-संज्ञा पुं० [सं०] चोरी।

मौसम-संज्ञा पुं० दे० "मौसिम"।

मौसर*†-वि० [अ० मुयस्सर=प्राप्त] (१) जो सुगमता से मिल सके। सुप्राप्य।

मुहा०—मौसर आना=मिल सकना। उ०—समय की चूक हूक सालति प्रबीनन को मौसर न आवै बनै औसर जवाब को।—बलबीर।

(२) उपलब्ध। प्राप्त। उ०—(क) औसर के मौसर भये मत दे कर तें खोइ। जोबन औसर भावतो बार बार नहिं होइ।—रसनिधि। (ख) बार बार नहिं होत है औसर मौसर बार। सौ सिर देवै को अरे जौ फिर हूजै त्यार।—रसनिधि।

क्रि० प्र०—आना।—करना।—होना।

मौसल-वि० [सं०] मूसल संबंधी। मूसल का।

मौसली†-संज्ञा स्त्री० दे० "मौलसिरी"।

मौसा-संज्ञा पुं० [हिं० मौसी का पुं०] [स्त्री० मौसी] माता की बहिन का पति। मौसिया या मासी का पति।

मौसिम-संज्ञा पुं०[अ०] [वि० मौसिमी] (१) उपयुक्त समय। अनुकूल काल। (२) ऋतु।

मौसिमी-वि० [फ़ा०] (१) समयोपयोगी। काल के अनुकूल। (२) ऋतु-संबंधी। ऋतु का। जैसे, मौसिमी फल, मौसिमी मिठाई।

मौसिया-संज्ञा पुं० दे० "मौसा"।

वि० संबंध में मौसी या मौसा के स्थान का। मौसी के द्वारा संबंध रखनेवाला। जैसे, मौसिया सास, मौसिया ससुर। वि० दे० "मौसेरा"। जैसे, चोर चोर मौसिया भाई। (कहावत)

मौसियाउत†-वि० [हिं० मौसी+आउत (प्रत्य०)] मौसेरा।

मौसियायत-वि० दे "मौसियाउत"।

मौसी-संज्ञा स्त्री० [सं० मातृष्वसा प्रा० माउसिआ] [वि० मौसेरा, मौसियाउत] माता की बहिन। मासी। उ०—मातु मौसी बहिनि हूँ तें सासु तें अधिकाइ। करहि तापस तीय तनया सीय हित चित लाइ।—तुलसी।

मौसेरा-वि० [हिं० मौसी+एरा (प्रत्य०)] मौसी के द्वारा संबद्ध। मौसी के संबंध का। जैसे, मौसेरा भाई, मौसेरी बहिन, मौसेरा ससुर, मौसेरी सास इत्यादि। उ०—जब देवसरूप बैठ गये, उनके मौसेरे ससुर नंदकुमार अपनी ठौर से उठे और देखकर कहने लगे।—अधखिला फूल।

मौहूर्त्त-संज्ञा पुं० [सं०] मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी।

मौहूर्त्तिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मुहूर्त्त बतलानेवाला, ज्योतिषी। (२) दक्ष की मुहूर्त्ता नाम की कन्या से उत्पन्न एक देवगण। वि० मुहूर्त्त से उत्पन्न। मुहूर्त्तोद्भव।

म्याँव-संज्ञा स्त्री० [अनु०] बिल्ली की बोली।

मुहा०—म्याँव म्याँव करना=भयभीत होकर धीमी आवाज से बोलना। डर के मारे बोल बंद हो जाना। उ०—माधव जी सौ अपराधी हौं। जनम पाइ कछु भलो न कीन्हों कहा सो क्या निबहौं।……हँसि बोले जगदीश जगतपति बात तुम्हारी यौं। करुणासिंधु कृपालु कृपानिधि भजो शरण को क्यों। बात सुने ते बहुत हँसौगे चरण कमल की सौं। मेरी देह छुटत जम पठयै जितक हुते घर मौं। लै लै सब हथियार आपुने सान धराये त्यौं। जिनके दारुन दरस देखि के पतित करत म्यौं म्यौं।—सूर।

म्यान-संज्ञा पुं० [फ़ा० मियान] (क) कोष जिसमें तलवार, कटार आदि के फल रखे जाते हैं। तलवार, कटार आदि का फल रखने का खाना। उ०—(क) चाखा चाहै प्रेम रस

राखा चाहै मान। दोय खड्ग इक म्यान में देखा सुना न कान।—कबीर। (ख) जब माल इकट्ठा करते थे, अब तन का अपने ढेर करो। गढ़ टूटा लश्कर भाग चुका अब म्यान में तुम शम्शेर करो।—नज़ीर। (२) अन्नमय कोश। शरीर। उ०—(क) कबिरा सूता क्या करै, उठि न भजै भगवान। जम धरि जब ले जायँगे पड़ा रहैगा म्यान। —कबीर। (ख) चंचल मनुवाँ चेत रे सोवै कहा अजान। जम धर जब ले जायगा पड़ा रहेगा म्यान।—कबीर।

म्याना*–क्रि० स० [हिं० म्यान] म्यान में डालना। म्यान में रखना। उ०—(क) अस कहि अपनी काढ़ि कृपानी। म्यान्यौ ताहि विशेषि बखानी।—रघुराज। (ख) तासु तेजु सहि सक्यो न राना। खड्ग तुरंत म्यान महँ म्याना।—रघुराज।

*संज्ञा पुं० दे० "मियाना"।

म्यानी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] पाजामे की काट में एक टुकड़े का नाम जो दोनों पल्लों को जोड़ते समय रानों के बीच में जोड़ा जाता है।

म्युनिसिपैल्टी–संज्ञा स्त्री० [अं०] किसी नगर के नागरिकों की वह प्रतिनिधि सभा जिसे उस नगर के स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा अन्यान्य आंतरिक प्रबंधों का स्वतंत्र रूप से नियमानुसार अधिकार हो।

विशेष—प्राय: सभी बड़े नगरों में वहाँ की सफ़ाई, रोशनी, सड़कों और मकानों आदि की व्यवस्था तथा इसी प्रकार के और अनेक कार्य्यों के लिये म्युनिसिपैलिटी का संघटन होता है। इसके सदस्यों का चुनाव प्राय: प्रति तीसरे वर्ष कुछ विशिष्ट योग्यतावाले नागरिकों के द्वारा हुआ करता है।

म्युज़ियम–संज्ञा पुं० [अं०] वह स्थान जहाँ देश तथा विदेश के अनेक प्रकार के अद्भुत और विलक्षण पदार्थ संगृहीत हों। अद्भुत पदार्थों का संग्रहालय। अजायबघर।

म्यों–संज्ञा स्त्री० [अनु०] बिल्ली की बोली। उ०—मेरी देह छुटत जम पठए जितक हुते घर मों। तिनके दारुन दरस देखि कै पतित करत म्यों म्यों।—सूर। वि० दे० "म्याँव"।

म्योंड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं० निर्गुंडी] एक सदाबहार झाड़ का नाम जिसमें केसरिया रंग के छोटे छोटे फूलों की मंजरियाँ लगती हैं, इसकी डालियों में आमने सामने पत्तियाँ होती हैं, जिनके बीच से दूसरी शाखाएँ निकलती हैं। इसकी पत्तियों के बीच में एक सींक होती है जिसके सिरे पर एक और दोनों ओर दो दो पत्तियाँ होती हैं, जो कुल मिलकर पाँच पाँच होती हैं। यह झाड़ बनों में होता है और बागों के किनारे बाढ़ पर भी लगाया जाता है। वैद्यक में म्योंड़ी उष्ण और रूक्ष मानी गई है और इसका स्वाद कटु तथा तिक्त लिखा गया है। यह खाँसी, कफ, सूजन और अफरा को दूर करती है। इसका प्रयोग वात रोग में भी होता है और इसकी पत्तियों की भाप बवासीर की पीड़ा को दूर करती है।

पर्या०—नीलिका। नील निर्गुंडी। सिंहक। सिंदुवार। निर्गुंडी।

म्रक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अपने दोषों को छिपाना। मक्कारी। (२) तेल लगाना। (३) मसलना। मीजना।

म्रदिमा–संज्ञा पुं० [सं० म्रदिमन्] (१) मृदुता। कोमलता। (२) नम्रता। आजिज़ी।

म्रदिष्ट–वि० [सं०] अति मृदु। अत्यंत कोमल।

म्रातन–संज्ञा पुं० [सं०] कैवर्त्ती मुस्तक। केवटी मोथा।

म्लान–वि० [सं०] (१) मलिन। कुम्हलाया हुआ। (२) दुर्बल। कमज़ोर। (३) मैला। मलिन।

संज्ञा स्त्री० म्लानि।

म्लानता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) म्लान होने का भाव। मलिनता। (२) ग्लानि।

म्लानि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) मलिनता। कांतिक्षय। (२) ग्लानि। शोक।

म्लायी–वि० [सं० म्लायिन्] (१) म्लान। म्लानियुक्त। (२) दुःखी।

म्लिष्ट–वि० [सं०] (१) जो साफ़ न हो। अस्पष्ट। जैसे, म्लिष्ट वाणी। (२) अव्यक्त वाणी बोलनेवाला। जो स्पष्ट न बोलता हो।

म्लेच्छ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) मनुष्यों की वे जातियाँ जिनमें वर्णाश्रम धर्म्म न हो। इस शब्द का मुख्य अर्थ है—अस्पष्टभाषी अथवा ऐसी भाषा बोलनेवाला जिसमें वर्णों का व्यक्त उच्चारण न होता हो। प्राचीन ग्रंथों में म्लेच्छ शब्द का प्रयोग उन जातियों के लिए होता था, जिनकी भाषा के उच्चारण की शैली आर्य्यों की शैली से विलक्षण होती थी। ये जातियाँ प्राय: ऐसी थीं, जिनका आर्य्यों के साथ संपर्क था; इसीलिए म्लेछ देश भी भारतवर्ष के अंतर्गत माना गया है और म्लेच्छों को वर्णाश्रम-धर्म्म-रहित यज्ञ करनेवाला लिखा है। महाभारत के आदि पर्व में म्लेच्छों की उत्पत्ति, विश्वामित्र से छीनकर ले जाते समय वशिष्ठ की धेनु नंदिनी के अंग प्रत्यंग से लिखी गई है और पह्लव, द्रविड़, शक, यवन, शबर, पौंड़, किरात यवन, सिंहल, बर्बर, खस आदि म्लेच्छ माने गए हैं। पुराणों में म्लेच्छों की उत्पत्ति में मतभेद है। विष्णुपुराण में लिखा है कि सगर ने हैहय-वंशियों को पराजित कर उन्हें धर्म्मच्युत कर दिया था और वही लोग शक, यवन, कांबोज, पारद और पह्लव नामक म्लेच्छ जाति के हो गए। मत्स्यपुराण में राजा वेणु के शरीर-मंथन से म्लेच्छ जाति की उत्पत्ति लिखी गई है। बृहत्संहिता में हिमालय और विंध्यगिरि तथा विनशन और प्रयाग के मध्य के पवित्र देश के अतिरिक्त अन्यत्र को म्लेच्छ देश लिखा है।

बृहत्पाराशर में चातुर्वर्ण और अंतराल वर्णों के अतिरिक्त वर्णाचार-हीन को म्लेच्छ लिखा है; और प्रायश्चित्त तत्व में गोमांस-भक्षी, विरुद्ध भाषी और सर्वाचार विहीन ही म्लेच्छ कहे गए हैं। (२) हिंगु। हींग।
वि० (१) नीच। (२) जो सदा पाप-कर्म्म करता हो। पापरत।

म्लेच्छकंद-संज्ञा पुं० [सं०] लहसुन।
म्लेच्छभोजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यावक। बोरो। (२) गेहूँ।
म्लेच्छमुख-संज्ञा पुं० [सं०] ताँबा।
म्हा*†-सर्व० दे० "मुझ"। उ०—दास तुलसी सभय वदति मयनंदिनी संदमति कंत सतु मंत म्हा को।—तुलसी।
म्हारा*†-सर्व० दे० "हमारा"।

य

य–हिन्दी वर्णमाला का २६ वाँ अक्षर । इसका उच्चारण-स्थान तालु है। यह स्पर्श वर्ण और ऊष्म वर्ण के बीच का वर्ण है; इसीलिए इसे अंतःस्थ वर्ण कहते हैं । इसके उच्चारण में कुछ आभ्यंतर प्रयत्न के अतिरिक्त संवार, नाद और घोष नामक बाह्य प्रयत्न भी होते हैं । यह अल्पप्राण है ।

यंत, यंता–संज्ञा पुं० [सं०यंतृ] सारथी । (डिं०)

यंति–संज्ञा स्त्री० [सं०] दमन ।

यंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तांत्रिकों के अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार से बने हुए आकार या कोष्ठक आदि, जिनमें कुछ अंक या अक्षर आदि लिखे रहते हैं और जिनके अनेक प्रकार के फल माने जाते हैं । तांत्रिक लोग इनमें देवताओं का अधिष्ठान मानते हैं । लोग इन्हें हाथ या गले में पहनते भी हैं । जंतर ।

यौ०—यंत्र-मंत्र=जादू, टोना या टोटका आदि ।

(२) विशेष प्रकार से बना हुआ उपकरण, जो किसी विशेष कार्य के लिए प्रस्तुत किया जाय । औज़ार । जैसे,—(क) वैद्यक में तेल और आसव आदि तैयार करने के अनेक प्रकार के यंत्र होते हैं । (ख) प्राचीन काल में भी अनेक ऐसे यंत्र बनते थे, जिनसे दूर से ही शत्रुओं पर प्रहार किया जाता था । (३) किसी खास काम के लिये बनाई हुई कल या औज़ार । जैसे,—आजकल संसार में सैकड़ों प्रकार के यंत्र प्रचलित हैं, जिनकी सहायता से सैकड़ों हजारों आदमियों का काम एक या दो आदमी कर लेते हैं । (४) बंदूक । (५) बाजा । वाद्य । (६) बाजों के द्वारा होनेवाला संगीत । (७) वीणा । बीन । (८) ताला । एक प्रकार का बरतन । (१०) नियंत्रण ।

यंत्रक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार कपड़े का वह बंधन जो घाव आदि पर बाँधा जाता है । पट्टी । (२) वह शिल्पकार जो यंत्र आदि की सहायता से चीज़ें तैयार करता हो । (३) वह जो वशीकरण करता हो । वश में कर लेनेवाला ।

यंत्रकरंडिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बाजीगरों की पेटी जिसके द्वारा वे अनेक प्रकार के खेल करते हैं ।

यंत्रगृह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ यंत्र की सहायता से किसी प्रकार का कर्म होता हो अथवा कोई चीज़ तैयार की जाती हो । (२) वेध-शाला । (३) वह स्थान जिसमें प्राचीन काल में अपराधियों आदि को रखकर अनेक प्रकार की यंत्रणा दी जाती थी ।

यंत्रण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) रक्षा करना । (२) बाँधना । (३) नियम में रखना । नियम के अनुसार चलाना । नियंत्रण ।

यंत्रणा–संज्ञा स्त्री० [पुं०] (१) क्लेश । यातना । तकलीफ़ । (२) दर्द । वेदना । पीड़ा ।

यंत्रनाल–संज्ञा पुं० [सं०] वह नल जिसके द्वारा कुएँ आदि से जल निकाला जाता है ।

यंत्रपेषणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] चक्की ।

यंत्र मंत्र–संज्ञा पुं० [सं०] जादू । टोना । टोटका ।

यंत्रमातृका–संज्ञा स्त्री० [सं०] चौंसठ कलाओं में से एक कला, जिसमें अनेक प्रकार के यंत्र या कलें आदि बनाना और उनसे काम लेना सम्मिलित है ।

यंत्रराज–संज्ञा पुं० [सं०] ज्योतिष में एक यंत्र जिससे ग्रहों और तारों की गति जानी जाती है ।

यंत्रविद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] कलों के चलाने और बनाने की विद्या ।

यंत्रशाला–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वेधशाला । (२) वह स्थान जहाँ अनेक प्रकार के यंत्रादि हों ।

यंत्रसूत्र–संज्ञा पुं० [सं०] वह सूत्र जिसकी सहायता से कठपुतली नचाई जाती है ।

यंत्रापीड़–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसके कारण शरीर में बहुत अधिक पीड़ा होती है और रोगी का लहू पीले रंग का हो जाता है ।

यंत्रालय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कल या यंत्रादि हों । (२) छापाखाना । प्रेस ।

यंत्रारा–संज्ञा पुं० [सं०] एक राग जो हनुमत के मत से हिंडोल राग का पुत्र है ।

यंत्रिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] स्त्री की छोटी बहन । छोटी साली । संज्ञा स्त्री० छोटा ताला ।

यंत्रित–वि० [सं०] (१) जो यंत्र आदि की सहायता से बाँधा या बंद कर दिया हो । रोका या बंद किया हुआ । (२) ताला लगा हुआ । ताले में बंद । उ०—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । लोचन निज-पद-जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट ।—तुलसी ।

यंत्री–संज्ञा पुं० [सं० यंत्रिन्] (१) यंत्र मंत्र करनेवाला । तांत्रिक । (२) बाजा बजानेवाला । उ०—सूरदास स्वामी के चलिबे ज्यों यंत्री बिनु यंत्र सकात ।—सूर । (३) नियंत्रण करने या बाँधनेवाला ।

यंद–संज्ञा पु० [डिं०] स्वामी ।

य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यश । (२) योग । (३) यान । सवारी । (४) संयम । (५) छंद-शास्त्र में यगण का संक्षिप्त रूप । वि० दे० "यगण" । (६) यव । जौ । (७) यम । (८) त्याग । (९) प्रकाश ।

यक–वि० दे० "एक"।

यकअंगी–वि० [हिं० एक+अंगी] (१) एक अंगवाला। (२) एक (पत्नी या पति) के साथ रहनेवाला (या वाली) उ०—बहुरंगी जित तितहिं सुख यकअंगी कर अंत। जिमि गणिका निधरक रहति दहति सती बिनु कंत।—विश्राम। (३) एक ही के आश्रित। एक ही पर रहनेवाला। एकनिष्ठ। (४) दे० "एकांगी"।

संज्ञा स्त्री० दे० "एकांगी"

यकक़लम–क्रि० वि० [फ़ा०] (१) एक ही बार कलम चलाकर। एक ही बार लिखकर। (२) एक-बारगी। एकाएक। जैसे,—वह यहाँ से यकक़लम बरखास्त कर दिया गया।

यकता–वि० [फ़ा०] जो अपनी विद्या या विषय में एक ही हो। जिसके मुकाबले का और कोई न हो। अद्वितीय।

यकताई–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] यकता या अद्वितीय होने का भाव। अद्वितीयता।

यकपरा–संज्ञा पुं० [फ़ा० यक+पर+आ (प्रत्य०)] एक प्रकार का कबूतर जिसका सारा शरीर सफ़ेद होता है; केवल डैनों पर दो एक काली चित्तियाँ होती हैं।

यक-बयक–क्रि० वि० [फ़ा०] एक बारगी। यकायक। एक दम से।

यकबारगी–क्रि० वि० [फ़ा०] यकबयक। अचानक। एकाएक सहसा।

यकसाँ–वि० [फ़ा०] एक समान। एक सा। बराबर।

यकायक–क्रि० वि० [फ़ा०] एकाएक। अचानक। एक बारगी। सहसा।

यकार–संज्ञा पुं० [सं०] य का वर्ण।

यक़ीन–संज्ञा पु० [अ०] प्रतीति। विश्वास। एतबार।

यक़ीनन्–क्रि० वि० [अ०] अवश्य। निःसंदेह। बेशक। ज़रूर।

यकृत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पेट में दाहिनी ओर की एक थैली जिसमें पाचन रस रहता है और जिसकी क्रिया से भोजन पचता है; अर्थात् उसमें वह विकार उत्पन्न होता है, जिससे शरीर की धातुएँ बनती हैं। जिगर। कालखंड। (२) वह रोग जिसमें यह अंग दूषित होकर बढ़ जाता है। वर्म-जिगर। (३) पक्वाशय।

यकोला–संज्ञा पु० [देश०] एक प्रकार का मझोला पेड़ जिसके पत्ते प्रति वर्ष शिशिर ऋतु में झड़ जाते हैं। इसकी लकड़ी अंदर से सफ़ेद और बड़ी मज़बूत होती है और संदूक, आरायशी सामान आदि बनाने के काम आती है। इसे मसूरी भी कहते हैं।

यक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार की देवयोनि। एक प्रकार के देवता जो कुबेर के सेवक और उसकी निधियों के रक्षक माने जाते हैं। उ०—यक्ष प्रबल बाढ़े भुवमंडल तिन मान्यो निज भ्रात। जिनके काज अंस हरि प्रगटे ध्रुव जगत विख्यात।—सूर।

विशेष—पुराणानुसार यक्ष लोग प्रचेता की संतान माने जाते हैं। कहते हैं कि इनकी आकृति विकराल होती है, पेट फूला हुआ और कंधे बहुत भारी होते हैं और हाथ-पैर घोर काले रंग के होते हैं।

(२) कुबेर।

यक्षकर्दम–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का अंग-लेप जो कपूर, अगरु, कस्तूरी और कंकोल मिलाकर बनाया जाता है। कहते हैं कि यक्षों को यह अंगलेप बहुत प्रिय है। उ०—आजु आदित्य जल पवन पावन प्रबल चंद आनंदमय ताप जग को हरौ। गान किन्नर करहु, नृत्य गंधर्वकुल, यक्ष विधि लक्ष उर यक्षकर्दम धरौ।—केशव।

यक्षग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक प्रकार का कल्पित ग्रह। कहते हैं कि जब इस ग्रह का आक्रमण होता है, तब आदमी पागल हो जाता है।

यक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) पूजन करना। (२) भक्षण करना। खाना।

यक्षतरु–संज्ञा पुं० [सं०] वट-वृक्ष। बड़ का पेड़।

विशेष—कहते हैं कि वट का वृक्ष यक्षों को बहुत प्रिय होता है और उसी पर वे रहा करते हैं।

यक्षता–संज्ञा स्त्री० [सं०] यक्ष का भाव या धर्म्म। यक्ष-पन।

यक्षत्व–संज्ञा पुं० [सं०] यक्ष का भाव या धर्म्म।

यक्षधूप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) साधारण धूप जो प्रायः देवताओं आदि के आगे जलाया जाता है। (२) सरल वृक्ष का निर्यास। तारपीन का तेल।

यक्षनायक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यक्षों के स्वामी, कुबेर। (२) जैनों के अनुसार वर्त्तमान अवसर्पिणी के अर्हत के चौथे अनुचर का नाम।

यक्षप–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षपति, कुबेर।

यक्षपति–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर। उ०—मृत्यु कुबेर यक्षपति कहियत जहँ शंकर को धाम।—सूर।

यक्षपुर–संज्ञा पुं० [सं०] अलकापुरी।

यक्षरस–संज्ञा पुं० [सं०] फूलों से तैयार की हुई शराब। मध्वासव।

यक्षराज–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के राजा, कुबेर।

यक्षरात्रि–संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिक मास की पूर्णिमा जो यक्षों की रात मानी जाती है।

यक्षलोक–संज्ञा पुं० [सं०] वह लोक जिसमें यक्षों का निवास माना जाता है।

यक्षवित्त–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत धनवान् हो, पर अपने धन में से कुछ भी व्यय न करता हो।

यक्षस्थल–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक तीर्थ का नाम।

यक्षांगी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्राचीन नदी का नाम।

यक्षाधिप, यक्षाधिपति–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्षामलक–संज्ञा पुं० [सं०] पिंड खजूर।

यक्षवास–संज्ञा पुं० [सं०] वट का वृक्ष जिस पर यक्षों का निवास माना जाता है।

यक्षिणी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यक्ष की पत्नी। (२) कुबेर की पत्नी। (३) दुर्गा की एक अनुचरी का नाम।

यक्षी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुबेर की स्त्री। (२) यक्ष की स्त्री। यक्षिणी।

संज्ञा पुं० [सं० यक्ष+ई (प्रत्य०)] वह जो यक्ष की उपासना करता हो, अथवा उसे साधता हो। उ०—प्रजापती कहँ पूजहिं जोई। तिन कर वास यक्षपुर होई। भूती भूतँहि यक्षी यक्षन। प्रेती प्रेतन रक्षी रक्षन।—गिरधर।

यक्षु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। (२) एक प्राचीन जनपद का वैदिक नाम, जो वक्षु भी कहलाता था और इसी नाम की नदी के आस पास था। आक्सस नदी के आस पास का प्रदेश। बदख्शाँ। (३) इस जनपद का निवासी।

यक्षेंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्षेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] यक्षों के स्वामी, कुबेर।

यक्ष्मग्रह–संज्ञा पुं० [सं०] क्षय या यक्ष्मा नामक रोग।

यक्ष्मघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाख। अँगूर।

यक्ष्मा–संज्ञा पुं० [सं० यक्ष्मन्] क्षयी नामक रोग। तपेदिक। वि० दे० "क्षयी"।

यक्ष्मी–संज्ञा पुं० [सं० यक्ष्मिन्] वह जिसे यक्ष्मा रोग हुआ हो। यक्ष्मा रोग का रोगी। तपेदिक का बीमार।

यख़नी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) तरकारी आदि का रसा। शोरबा। झोल। (२) उबले हुए मांस का रसा। (३) वह मांस जो केवल लहसुन, प्याज, धनिया और नमक डालकर उबाल लिया जाय।

यगण–संज्ञा पुं० [सं०] छंदःशास्त्र में आठ गणों में से एक। यह एक लघु और दो गुरु मात्राओं का होता है (। ऽऽ)। इसका संक्षिप्त रूप 'य' है। जैसे, कमाना, चलाना।

विशेष—इसका देवता जल माना गया है और यह सुखदायक कहा गया है।

यगाना–वि० [फ़ा०] (१) जो बेगाना न हो। एक वंश का। अपना। आत्मीय। नातेदार। (२) अकेला। फर्द। (३) अनुपम। अद्वितीय। एकता।

संज्ञा पुं० (१) भाई-बंद। (२) परम मित्र।

यगूर–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का बहुत ऊँचा वृक्ष जिसकी लकड़ी का रंग अंदर से काला निकलता है। यह सिलहट की पूर्वी और दक्षिण पूर्वी पहाड़ियों में बहुत होता है। इसकी लकड़ी से कई तरह की सजावट की और बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती हैं। इसे आग में जलाने से बहुत उत्तम गंध निकलती है। इसे सेम्पी भी कहते हैं।

यग्य–संज्ञा पुं० दे० "यज्ञ"।

यच्छ*‡–संज्ञा पुं० दे० "यक्ष"।

यच्छिनी*‡–संज्ञा स्त्री० दे० "यक्षिणी"।

यजंत–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

यजत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ऋत्विक्। (२) एक वैदिक ऋषि का नाम जो ऋग्वेद के एक मंत्र के द्रष्टा थे।

यजति–संज्ञा पुं० दे० "यज्ञ"।

यजत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्निहोत्री। (२) वह जो यज्ञ करता हो।

यजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वेद-विधि के अनुसार होता और ऋत्विक् आदि के द्वारा काम्य और नैमित्तिक कर्मों का विधिपूर्वक अनुष्ठान करना। यज्ञ करना। (यह ब्राह्मणों के षट्कर्म्मों में से एक माना गया है।) (२) वह स्थान जहाँ यज्ञ होता हो।

यजनकर्त्ता–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ या हवन करनेवाला।

यजमान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो। दक्षिणा आदि देकर ब्राह्मणों से यज्ञ, पूजन आदि धार्मिक कृत्य करानेवाला व्रती। यष्टा। (२) वह जो ब्राह्मणों को दान देता हो। (३) महादेव की आठ प्रकार की मूर्त्तियों में से एक प्रकार की मूर्त्ति।

यजमानता–संज्ञा स्त्री० [सं०] यजमान का भाव या धर्म्म।

यजमानलोक–संज्ञा पुं० [सं०] वह लोक जिसमें यज्ञ करके मरनेवालों का निवास माना जाता है।

यजमानी–संज्ञा स्त्री० [सं० यजमान+ई (प्रत्य०)] (१) यजमान का भाव या धर्म्म। (२) यजमान के प्रति पुरोहित की वृत्ति। (३) वह स्थान जहाँ किसी विशेष पुरोहित के यजमान रहते हों।

यजी–संज्ञा पुं० [सं० यजिन्] वह जो यज्ञ करता हो। यज्ञ करनेवाला।

यजु–संज्ञा पुं० दे० "यजुर्वेद"।

यजुर्विद्–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यजुर्वेद का ज्ञाता हो। यजुर्वेद जाननेवाला।

यजुर्वेद–संज्ञा पुं० [सं०] भारतीय आर्य्यों के चार प्रसिद्ध वेदों में से एक वेद जिसमें विशेषतः यज्ञ-कर्म का विस्तृत विवरण है और जो इसीलिये वेद-त्रयी में भित्तिस्वरूप

माना जाता है। यज्ञों में अध्वर्यु जिन गद्य मंत्रों का पाठ करता था, वे यजु कहलाते थे। इस वेद में उन्हीं मंत्रों का संग्रह है, इसलिए इसे यजुर्वेद कहते हैं। इसके दो मुख्य भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी। कृष्ण यजुर्वेद में यज्ञों का जितना पूर्ण और विस्तृत वर्णन है, उतना और संहिताओं में नहीं है। इन दोनों की भी बहुत सी शाखाएँ हैं, जिनमें थोड़ा बहुत पाठ-भेद है। अब तक यजुर्वेद की जो संहिताएँ मिली हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—काठक, कपिस्थल-कठ, मैत्रायणी और तैत्तिरीय। ये चारों कृष्ण यजुर्वेद की हैं। शुक्ल या वाजसनेयी की काण्व और माध्यंदिनी दो शाखाएँ हैं। पतंजलि के मत से यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ हैं; पर चरणव्यूह में केवल ८६ शाखाएँ दी हैं: और वायुपुराण में २३ शाखाएँ गिनाई गई हैं। इसके संहिता भाग में ब्राह्मण और ब्राह्मण भाग में संहिता भी मिलती है। इस वेद में अनेक ऐसे विधि मंत्र भी हैं, जिनका अर्थ बहुत थोड़ा या कुछ भी नहीं ज्ञात होता। कुछ प्रार्थनाएँ भी ऐसी हैं, जो बिलकुल अर्थ-रहित जान पड़ती हैं। इसके कुछ मंत्र ऐसे हैं, जिनसे सूचित होता है कि उस समय लोगों में ब्रह्मज्ञान की बहुत कम चर्चा थी। इसमें देवताओं के नामों के साथ बहुत से विशेषण भी मिलते हैं, जिससे जान पड़ता है कि भक्ति की ओर भी लोगों की कुछ कुछ प्रवृत्ति हो चली थी। पुराणानुसार इस वेद के अधिपति शुक्र और वक्ता वैशंपायन माने जाते हैं। वि० दे० "वेद"।

यजुर्वेदी—संज्ञा पुं० [सं० यजुर्वेदिन्] (१) वह जो यजुर्वेद का ज्ञाता हो। (२) वह ब्राह्मण जो यजुर्वेद के अनुसार सब कृत्य करता हो।

यजुश्रुति—संज्ञा पु० [सं०] यजुर्वेद।

यजुष्पति—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यजुष्पात्र—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का यज्ञ-पात्र।

यजुष्य—वि० [सं०] यज्ञ संबंधी। यज्ञ का।

यजूवर—संज्ञा पुं० [सं०] ब्राह्मण।

यज्ञ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन भारतीय आर्यों का एक प्रसिद्ध वैदिक कृत्य जिसमें प्रायः हवन और पूजन हुआ करता था। मख। याग।

विशेष—प्राचीन भारतीय आर्यों में यह प्रथा थी कि जब उनके यहाँ जन्म, विवाह या इसी प्रकार का और कोई समारंभ होता था, अथवा जब वे किसी मृतक की अंत्येष्टि क्रिया या पितरों का श्राद्ध आदि करते थे, तब ऋग्वेद के कुछ सूक्तों और अथर्व वेद के मंत्रों के द्वारा अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ करते थे और आशीर्वाद आदि देते थे। इसी प्रकार पशुओं का पालन करनेवाले अपने पशुओं की वृद्धि के लिए तथा किसान लोग अपनी उपज बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के समारंभ करके स्तुति आदि करते थे। इन अवसरों पर अनेक प्रकार के हवन आदि भी होते थे, जिन्हें उन दिनों "गृह्यकर्म्म" कहते थे। इन्हीं ने आगे चलकर विकसित होकर यज्ञों का रूप प्राप्त किया। पहले इन यज्ञों में घर का मालिक या यज्ञकर्ता, यजमान होने के अतिरिक्त यज्ञ-पुरोहित भी हुआ करता था; और प्रायः अपनी सहायता के लिए एक आचार्य्य, जो "ब्राह्मण" कहलाता था, रख लिया करता था। इन यज्ञों की आहुति घर के यज्ञकुंड में ही होती थी। इसके अतिरिक्त कुछ धनवान् या राजा ऐसे भी होते थे, जो बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे। जैसे,—युद्ध के देवता इंद्र को प्रसन्न करने के लिए सोमयाग किया जाता था। धीरे धीरे इन यज्ञों के लिये अनेक प्रकार के नियम आदि बनने लगे; और पीछे से उन्हीं नियमों के अनुसार भिन्न भिन्न यज्ञों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की यज्ञ-भूमियाँ और उनमें पवित्र अग्नि स्थापित करने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ-कुंड बनने लगे। ऐसे यज्ञों में प्रायः चार मुख्य ऋत्विज् हुआ करते थे, जिनकी अधीनता में और भी अनेक ऋत्विज् काम करते थे। आगे चलकर जब यज्ञ करनेवाले यजमान का काम केवल दक्षिणा बाँटना ही रह गया, तब यज्ञ संबंधी अनेक कृत्य करने के लिए और लोगों की नियुक्ति होने लगी। मुख्य चार ऋत्विजों में पहला "होता" कहलाता था और वह देवताओं की प्रार्थना करके उन्हें यज्ञ में आने के लिये आह्वान् करता था। दूसरा ऋत्विज् "उद्‌गाता" यज्ञ-कुंड में सोम की आहुति देने के समय साम-गान करता था। तीसरा ऋत्विज् "अध्वर्यु" या यज्ञ करनेवाला होता था; और वह स्वयं अपने मुँह से गद्य मंत्र पढ़ता तथा अपने हाथ से यज्ञ के सब कृत्य करता था। चौथे ऋत्विज् "ब्रह्मा" अथवा महापुरोहित को सब प्रकार के विघ्नों से यज्ञ की रक्षा करनी पड़ती थी; और इसके लिए उसे यज्ञ कुंड की दक्षिण दिशा में स्थान दिया जाता था; क्योंकि वही यम की दिशा मानी जाती थी और उसी ओर से असुर लोग आया करते थे। इसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि कोई किसी मंत्र का अशुद्ध उच्चारण न करे। इसीलिए ब्रह्मा का तीनों वेदों का ज्ञाता होना भी आवश्यक था। जब यज्ञों का प्रचार बहुत बढ़ गया, तब उनके संबंध में अनेक स्वतंत्र शास्त्र भी बन गए; और वे शास्त्र "ब्राह्मण" तथा "श्रौत सूत्र" कहलाए। इसी कारण लोग यज्ञों को श्रौत कर्म्म भी कहने लगे। इसी के अनुसार यज्ञ अपने मूल गृह्य कर्म्म से अलग हो गए, जो केवल स्मरण के आधार पर होते थे। फिर इन गृह्य कर्मों के प्रतिपादक ग्रंथों को "स्मृति" कहने लगे। प्रायः सभी वेदों

का अधिकांश इन्हीं यज्ञ संबंधी बातों से भरा पड़ा है (दे० "वेद")। पहले तो सभी लोग यज्ञ किया करते थे, पर जब धीरे धीरे यज्ञों का प्रचार घटने लगा, तब अध्वर्यु और होता ही यज्ञ के सब काम करने लगे। पीछे भिन्न भिन्न ऋषियों के नाम पर भिन्न भिन्न नामोंवाले यज्ञ प्रचलित हुए, जिससे ब्राह्मणों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। इन वेदों में अनेक प्रकार के पशुओं की बलि भी होती थी, जिससे कुछ लोग असंतुष्ट होने लगे: और भागवत आदि नए संप्रदाय स्थापित हुए, जिनके कारण यज्ञों का प्रचार धीरे धीरे बंद हो गया। यज्ञ अनेक प्रकार के होते थे। जैसे,—सोमयाग, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, महाव्रत, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चातुर्मास्य सौत्रामणि, दशपेय, पुरुषमेध आदि आदि।

आर्य्यों की ईरानी शाखा में भी यज्ञ प्रचलित रहे और "यश्न" कहलाते थे। इस "यश्न" से ही फारसी का "जश्न" शब्द बना है। यह यज्ञ वास्तव में एक प्रकार के पुण्योत्सव थे। अब भी विवाह यज्ञोपवीत आदि उत्सवों को कहीं कहीं यज्ञ कहते हैं।

पर्य्या०—सव। अध्वर। सप्ततंतु। ऋतु। इष्टि। वितान। मन्यु। आहव। सवन। हव। अभिषव। होम। हवन। मह। (२) विष्णु।

यज्ञक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ। (२) वह जो यज्ञ करता हो।

यज्ञकर्ता–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला। याजक। यजमान।

यज्ञकर्म–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का काम।

यज्ञकल्प–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञकारी–संज्ञा पुं० [सं० यज्ञकारिन्] वह जो यज्ञ करता हो। यज्ञ करनेवाला।

यज्ञकाल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञादि के लिए शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट समय। (२) पौर्णमासी।

यज्ञकीलक–संज्ञा पुं० [सं०] काठ का वह खूँटा जिसमें यज्ञ के लिए बलि दिया जानेवाला पशु बाँधा जाता था। यूपकाष्ठ।

यज्ञकुंड–संज्ञा पुं० [सं०] हवन करने की वेदी या कुंड।

यज्ञकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ की क्रियाओं का ज्ञाता हो। (२) एक राक्षस का नाम।

यज्ञकोप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ से द्वेष करता हो। (२) रावण के दल का एक राक्षस, जिसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है।

यज्ञक्रतु–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञक्रिया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ के काम। (२) कर्मकांड।

यज्ञगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम।

यज्ञघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ विध्वंस करता हो। (२) राक्षस।

यज्ञज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यज्ञों के विधान आदि जानता हो।

यज्ञत्राता–संज्ञा पुं० [सं० यज्ञत्रातृ] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो। (२) विष्णु।

यज्ञदत्तक–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुत्र जो यज्ञ के प्रसाद स्वरूप प्राप्त हुआ हो।

यज्ञद्रुह–संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।

यज्ञधर–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यज्ञनेमि–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम।

यज्ञपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) वह जो यज्ञ करता हो, यजमान।

यज्ञपत्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यज्ञ की स्त्री, दक्षिणा। (२) पुराणानुसार यज्ञ करनेवाले माथुर ब्राह्मणों की वे स्त्रियाँ जो अपने पतियों के मना करने पर भी श्रीकृष्ण के लिये भोजन लेकर वन में गई थीं।

यज्ञपर्वत–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक पर्वत का नाम जो नर्म्मदा के उत्तर-पश्चिम में है।

यज्ञपशु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पशु जिसका यज्ञ में बलिदान किया जाय। (२) घोड़ा। (३) बकरा।

यज्ञपात्र–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ में काम आनेवाले काठ के बने हुए बरतन।

यज्ञपार्श्व–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम जिनका उल्लेख पराशर स्मृति में है।

यज्ञपाल–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का संरक्षक। यज्ञ की रक्षा करनेवाला।

यज्ञपुरुष–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु। उ०—यज्ञ पुरुष प्रसन्न जब भए। निकसि कुंड से दरशन दए।—सूर।

यज्ञफलद–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का फल देनेवाले, विष्णु।

यज्ञबाहु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अग्नि का एक नाम। (२) पुराणानुसार शाल्मलि द्वीप के एक राजा का नाम।

यज्ञभाग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ का अंश, जो देवताओं को दिया जाता है। (२) वे देवता जिन्हें यज्ञ का भाग मिलता है। जैसे, इंद्र।

यज्ञभाजन–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञपात्र।

यज्ञभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ होता हो। यज्ञक्षेत्र।

यज्ञभूषण–संज्ञा पुं० [सं०] कुश।

यज्ञभोक्ता–संज्ञा पुं० [सं० यज्ञभोक्तृ] विष्णु।

यज्ञमंडप–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करने के लिये बनाया हुआ मंडप।

यज्ञमंडल–संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जो यज्ञ करने के लिये घेरा गया हो।

यज्ञमंदिर–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला।

यज्ञमय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञमुख-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ का आरंभ ।

यज्ञयूप-संज्ञा पुं० [सं०] वह खंभा जिसमें यज्ञ का बलि-पशु बाँधा जाता था । यूपकाष्ठ ।

यज्ञयोग्य-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर का पेड़ ।

यज्ञरस-संज्ञा पुं० [सं०] सोम ।

यज्ञराज-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञराज्] चंद्रमा ।

यज्ञरुचि-संज्ञा पुं० [सं०] एक दानव का नाम ।

यज्ञलिंग-संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण का एक नाम ।

यज्ञवराह-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

विशेष—कहते हैं कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करने के उपरांत जब अपना शरीर छोड़ा, तब उनके भिन्न भिन्न अंगों से यज्ञ की सामग्री बन गई । इसी से उनका यह नाम पड़ा ।

यज्ञवल्क-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि जो प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ऋषि के पिता थे ।

यज्ञवल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोमलता ।

यज्ञवाह-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) कार्त्तिकेय के एक अनुचर का नाम ।

यज्ञवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करनेवाला । (२) ब्राह्मण । (३) विष्णु । (४) शिव ।

यज्ञवाही-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञवाहिन्] यज्ञ का सब काम करनेवाला ।

यज्ञवीर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञवृक्ष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बड़ का पेड़ । (२) विकंकत ।

यज्ञव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यज्ञ करता हो । यज्ञ करनेवाला ।

यज्ञशत्रु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस । (२) खर राक्षस का एक सेनापति, जिसे रामचंद्र ने मारा था ।

यज्ञशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] यज्ञ करने का स्थान । यज्ञमंडप ।

यज्ञशास्त्र-संज्ञा पुं० [सं०] वह शास्त्र जिसमें यज्ञों और उनके कृत्यों आदि का विवेचन हो । मीमांसा ।

यज्ञशील-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ करता हो । (२) ब्राह्मण ।

यज्ञशूकर-संज्ञा पुं० दे० "यज्ञवराह" ।

यज्ञश्रेष्ठा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

यज्ञसंस्तर-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ यज्ञ मंडप बनाया जाय । यज्ञभूमि । यज्ञस्थान ।

यज्ञसदन-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करने का स्थान या मंडप । यज्ञशाला ।

यज्ञसाधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो यज्ञ की रक्षा करता हो । (२) विष्णु ।

यज्ञसार-संज्ञा पुं० [सं०] गूलर का वृक्ष ।

यज्ञसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञोपवीत । जनेऊ ।

यज्ञसेन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) एक दानव का नाम ।

यज्ञस्तंभ-संज्ञा पुं० [सं०] वह खंभा जिसमें यज्ञ का पशु बाँधा जाता है । यूप ।

यज्ञस्थल-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञमंडप ।

यज्ञस्थाणु-संज्ञा पुं० दे० "यज्ञस्तंभ" ।

यज्ञस्थान-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञशाला ।

यज्ञहृदय-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञहोता-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञहोतृ] (१) यज्ञ में देवताओं का आवाहन करनेवाला । (२) भागवत के अनुसार उत्तम मनु के एक पुत्र का नाम ।

यज्ञांग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु । (२) गूलर का पेड़ । (३) खैर का पेड़ ।

यज्ञांगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सोम लता ।

यज्ञागार-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान या मंडप जहाँ यज्ञ होता हो । यज्ञशाला ।

यज्ञात्मा-संज्ञा पुं० [सं० यज्ञात्मन] विष्णु ।

यज्ञाधिपति-संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ के स्वामी, विष्णु । यज्ञपुरुष ।

यज्ञारि-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव । (२) राक्षस ।

यज्ञाशन-संज्ञा पुं० [सं०] देवता ।

यज्ञिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह पुत्र जो यज्ञ के प्रसाद स्वरूप मिला हो । (२) पलास का पेड़ ।

यज्ञीय-वि० [सं०] यज्ञ संबंधी । यज्ञ का ।

संज्ञा पुं० गूलर का पेड़ ।

यज्ञेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु ।

यज्ञेष्ट-संज्ञा पुं० [सं०] रोहिस नाम की घास ।

यज्ञोपवीत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जनेऊ । यज्ञसूत्र । (२) हिंदुओं में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का एक संस्कार, जो प्राचीन काल में उस समय होता था, जब बालक को विद्या पढ़ाने के लिए गुरु के पास ले जाते थे । इस संस्कार के उपरांत बालक को स्नातक होने तक ब्रह्मचर्य्यपूर्वक रहना पड़ता था और भिक्षा वृत्ति से अपना तथा अपने गुरु का निर्वाह करना पड़ता था । अन्यान्य संस्कारों की भाँति यह संस्कार भी आजकल नाम मात्र के लिए रह गया है । इसमें कुछ विशिष्ट धार्म्मिक कृत्य करके बालक के गले में जनेऊ पहना दिया जाता है । ब्राह्मण बालक के लिए आठवें वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए ग्यारहवें वर्ष और वैश्य बालक के लिए बारहवें वर्ष यह संस्कार करने का विधान है । व्रतबंध । उपनयन । जनेऊ ।

यज्य-वि० [सं०] यजन करने के योग्य ।

यज्यु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यजुर्वेदी ब्राह्मण । (२) यजमान ।

यज्वा–संज्ञा पुं० [सं० यज्वन्] यज्ञ करनेवाला ।

यड्र–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का पक्षी ।

यत–वि० [सं०] (१) नियंत्रित । नियमित । पाबंद । (२) (२) दमन किया हुआ । शासित । (३) प्रतिबद्ध । रोका हुआ ।

यतन–संज्ञा पुं० [सं०] [वि० यतनीय] यत्न करना । कोशिश करना ।

यतनीय–वि० [सं०] यत्न करने के योग्य । कोशिश करने लायक़ ।

यतमान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यत्न करता हुआ । कोशिश में लगा हुआ । (२) अनुचित विषयों का त्याग और उचित विषयों में मंद प्रवृत्ति के निमित्त यत्न करनेवाला ।

यतव्रत–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बहुत संयम से रहता हो ।

यति–संज्ञा पु० [सं०] (१) वह जिसने इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो और जो संसार से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने का उद्योग करता हो । संन्यासी । त्यागी । योगी । (२) भागवत के अनुसार ब्रह्मा के एक पुत्र का नाम । (३) महाभारत के अनुसार नहुष के एक पुत्र का नाम । (४) ब्रह्मचारी । (५) छप्पय के ६६ वें भेद का नाम, जिसमें ५ गुरु और १४२ लघु मात्राएँ अथवा किसी किसी के मत से ५ गुरु और १३६ लघु मात्राएँ होती हैं ।

संज्ञा स्त्री० [सं० यती] छंदों के चरणों में वह स्थान जहाँ पढ़ते समय, उनकी लय ठीक रखने के लिए, थोड़ा सा विश्राम होता है । विरति । विश्राम । विराम ।

यौ०—यतिभंग ।

यतिचांद्रायण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का चांद्रायण व्रत जिसका विधान यतियों के लिए है ।

यतित्व–संज्ञा पुं० [सं०] यति का धर्म्म, भाव या कर्म्म ।

यतिधर्म–संज्ञा पुं० [सं०] संन्यास ।

यतिनी–संज्ञा स्त्री०[सं०] (१) संन्यासिनी । (२) विधवा ।

यतिभंग–संज्ञा पुं० [सं०] काव्य का वह दोष जिसमें यति अपने उचित स्थान पर न पड़कर कुछ आगे या पीछे पड़ती है और जिसके कारण पढ़ने में छंद की लय बिगड़ जाती है ।

यतिभ्रष्ट–संज्ञा पुं० [सं०] वह छंद जिसमें यति अपने उपयुक्त स्थान पर न पड़कर कुछ आगे या पीछे पड़ी हो । यति-भंग दोष से युक्त छंद ।

यतिसांतपन–संज्ञा पुं० [सं०] एक व्रत जिसमें तीन दिन केवल पंचगव्य और कुश-जल पीकर रहना पड़ता है । शंखस्मृति के मत से तो यह व्रत तीन दिन का है; परंतु जाबाल के मत से सात दिन का है । गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत, कुश का जल इनमें से एक एक को प्रति दिन एक बार पीकर रात दिन उपवास करना पड़ता है । इसी का नाम सांतपन कृच्छ्र या यतिसांतपन है ।

यती–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रोक । रुकावट । (२) छंदों में विराम का स्थान । यति । (३) मनोराग । मनोविकार । (४) विधवा । (५) शलक राग का एक भेद । (६) मृदंग का एक प्रबंध । (७) संधि ।

संज्ञा पु० [सं० यतिन्] [स्त्री० यतिनी] (१) यति । संन्यासी । (२) जितेंद्रिय । (३) जैन मतानुसार श्वेतांबर जैन साधु ।

यतीम–संज्ञा पुं० [अ०] (१) मातृ-पितृ-हीन । जिसके माता पिता न हों । अनाथ । (२) कोई अनुपम और अद्वितीय रत्न । (३) वह बहुत बड़ा मोती, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि यह सीप में एक ही निकलता है ।

यतीमख़ाना–संज्ञा पुं० [अ० यतीम+फ़ा० ख़ाना] वह स्थान जहाँ माता-पिता-हीन बालक रखे जाते हैं । अनाथालय ।

यतुका–संज्ञा पुं० [सं०] चकवँड़ का पौधा । चक्रमर्द ।

यत्किंचित्–क्रि० वि० [सं०] थोड़ा सा । बहुत कम । कुछ ।

यत्न–संज्ञा पु० [सं०] (१) नैयायिकों के अनुसार रूप आदि २४ गुणों के अंतर्गत एक गुण जो तीन प्रकार का होता है—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवन योनि । (२) उद्योग । प्रयत्न । कोशिश । (३) उपाय । तदबीर । उ०—पाछे पृथु को रूप हरि लीन्हों नाना रस दुहि काढ़े । तापर रचना रची बिधाता बहु बिधि यतन बाढ़े ।—सूर । (४) रक्षा का आयोजन । हिफ़ाज़त । जैसे,—इस वस्तु को बड़े यत्न से रखना । (५) रोग-शांति का उपाय । चिकित्सा उपचार ।

यत्नवान्–वि० [सं० यत्नवत्] यत्न में लगा हुआ । यत्न करनेवाला ।

यत्र–क्रि० वि० [सं०] जिस जगह । जहाँ ।

संज्ञा पुं० [सं० सत्र] सामान्य यज्ञ ।

यत्रतत्र–क्रि० वि० [सं०] (१) जहाँ तहाँ । इधर उधर । कुछ यहाँ, कुछ वहाँ । (२) जगह जगह । कई स्थानों में ।

यत्रु–संज्ञा स्त्री० [सं०] छाती के ऊपर और गले के नीचे की मंडलाकार हड्डी । हँसली ।

यथा–अव्य० [सं०] जिस प्रकार । जैसे । ज्यों ।

यथाकामी–संज्ञा पु० [सं० यथाकामिन्] अपनी इच्छा के अनुसार काम करनेवाला । स्वेच्छाचारी ।

यथाकारी–संज्ञा पु० [यथाकारिन्] मनमाना काम करनेवाला स्वेच्छाचारी ।

यथाक्रम–क्रि० वि० [सं०] तरतीबवार । क्रमशः । क्रमानुसार ।

यथाख्यात चरित्र–संज्ञा पुं० [सं०] सब कषायों (काम,

क्रोधादि पातकों) का जिन साधुओं ने क्षय किया हो, उनका चरित्र। (जैन)

यथाजात–संज्ञा पुं० [सं०] मूर्ख। बेवकूफ। नीच।

यथातथ्य–अव्य० [सं०] जैसे का तैसा। ज्यों का त्यों। हूबहू। जैसा हो, वैसा ही।

यथानियम–अव्य० [सं०] नियमानुसार। क़ायदे के मुताबिक बाक़ायदा।

यथान्याय–अव्य० [सं०] न्याय के अनुसार। जो कुछ न्याय हो, वैसा। यथोचित।

यथापूर्व–अव्य० [सं०] (१) जैसा पहले था, वैसा ही। पहले की नाईं। पूर्ववत्। (२) ज्यों का त्यों।

यथाभाग–अव्य० [सं०] (१) भाग के अनुसार जितना चाहिए, उतना। हिस्से के मुताबिक। (२) यथोचित।

यथामति–अव्य० [सं०] बुद्धि के अनुसार। समझ के मुताबिक।

यथायोग्य–अव्य० [सं०] जैसा चाहिए, वैसा। उपयुक्त। यथोचित। मुनासिब।

यथारथ*–अव्य० दे० "यथार्थ"।

यथारुचि–अव्य० [सं०] रुचि के अनुसार। पसंद के मुताबिक। इच्छानुसार। मरजी के मुताबिक।

यथार्थ–अव्य० [सं०] (१) ठीक। वाजिब। उचित। जैसे,—आपका कहना यथार्थ है। (२) जैसा ठीक होना चाहिए, वैसा। ज्यों का त्यों। जैसे का तैसा।

यथार्थता–संज्ञा स्त्री० [सं०] यथार्थ का भाव। सचाई। सत्यता। सच्चापन।

यथालब्ध–वि० [सं०] (१) जितना प्राप्त हो, उसी के अनुसार। जो कुछ मिले, उसी के मुताबिक। (२) जैनियों के अनुसार, जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहने की वृत्ति।

यथालाभ–वि० [सं०] जो कुछ मिले, उसी के अनुसार। जो प्राप्त हो, उसी पर निर्भर। उ०—यथालाभ संतोष सदा परगुन नहिं दोष कहौंगो।—तुलसी।

यथावत्–अव्य० [सं०] (१) ज्यों का त्यों। जैसा था, वैसा ही। जैसे का तैसा। (२) जैसा चाहिए, वैसा। पूर्ण रीति से। अच्छी तरह। जैसे, यथावत् सत्कार करना।

यथावस्थित–अव्य० [सं०] (१) जैसा था, वैसा ही। (२) सत्य। ठीक। (३) स्थिर। अचल।

यथाविधि–अव्य० [सं०] विधि के अनुसार। विधिपूर्वक। विधिवत्।

यथाविहित–अव्य० [सं०] जैसा विधान हो, वैसा ही। विधि के अनुसार।

यथाशक्य–अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके। जहाँ तक संभव हो। जहाँ तक मुमकिन हो। सामर्थ्य भर। भरसक।

यथाशक्ति–अव्य० [सं०] सामर्थ्य के अनुसार। जितना हो सके। भरसक।

यथाशास्त्र–अव्य० [सं०] शास्त्र के अनुसार। शास्त्र के अनुकूल। जैसा शास्त्रों में वर्णित है वैसा।

यथासंभव–अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके। जितना हो सके। जितना मुमकिन हो।

यथासमय–अव्य० [सं०] (१) ठीक समय पर। ठीक वक्त पर। नियत समय पर। (२) समय के अनुसार। जैसा समय हो, वैसा।

यथासाध्य–अव्य० [सं०] जहाँ तक हो सके। जितना किया जा सके। यथाशक्ति।

यथास्थान–अव्य० [सं०] ठीक जगह पर। अपने स्थान पर। उचित स्थान पर।

यथेच्छ–अव्य० [सं०] जितना या जैसा जी में आवे, उतना या वैसा। इच्छा के अनुसार। मनमाना।

यथेच्छाचार–संज्ञा पुं० [सं०] जो जी में आवे, वही करना; और उचित अनुचित का ध्यान न करना। स्वेच्छाचार। मनमाना काम करना।

यथेच्छाचारी–संज्ञा पुं० [सं० यथेच्छाचारिन्] (१) मनमाना आचार करनेवाला। यथेच्छाचार करनेवाला। (२) जो कुछ जी में आवे, वही करनेवाला। मनमौजी।

यथेप्सित–वि० [सं०] इच्छानुसार। मनमाना। मनचाहा।

यथेष्ट–वि० [सं०] जितना इष्ट हो। जितना चाहिए, उतना। काफी। पूरा। जैसे,—(क) वे वहाँ से यथेष्ट धन ले आए। (ख) इस विषय में यथेष्ट कहा जा चुका है।

यथेष्टाचरण–संज्ञा पुं० [सं०] मनमाना काम करना। इच्छानुसार व्यवहार करना। स्वेच्छाचार।

यथेष्टाचार–संज्ञा पुं० दे० "यथेष्टाचरण"।

यथेष्टाचारी–संज्ञा पुं० [सं० यथेष्टाचारिन्] अपने मन के अनुसार व्यवहार करनेवाला। मनमाना काम करनेवाला।

यथोक्त–अव्य० [सं०] जैसा कहा गया हो। कहे हुए के अनुसार।

यथोक्तकारी–वि० [सं० यथोक्तकारिन्] (१) शास्त्रों में जो कुछ कहा गया हो, वही करनेवाला। (२) आज्ञाकारी।

यथोचित–वि० [सं०] जैसा चाहिए, वैसा। मुनासिब। ठीक। जैसे,—उसे यथोचित दंड मिलना चाहिए।

यदपि*–अव्य० दे० "यद्यपि"।

यदा–अव्य० [सं०] (१) जिस समय। जिस वक्त। जब। (२) जहाँ।

यदाकदा–अव्य० [सं०] जब तब। कभी कभी।

यदि–अव्य० [सं०] अगर। जो।

विशेष—इस अव्यय का उपयोग वाक्य के आरंभ में संशय अथवा किसी बात की अपेक्षा सूचित करने के लिए होता

है। जैसे,—(क) यदि वे न आए तो? (ख) यदि आप कहें, तो मैं दे दूँ।

यदिच, यदिचेत्–अव्य० [सं०] यद्यपि। अगरचे।

यदु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) ययाति राजा का बड़ा पुत्र जो देवयानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। महाभारत में लिखा है कि ययाति के शाप के कारण इनका राज्य नष्ट हो गया था; पर पीछे से इंद्र की कृपा से इन्हें फिर राज्य मिला था। शाप का कारण यह था कि ययाति ने वृद्ध होने पर इनसे कहा था कि तुम मेरा पाप और वृद्धावस्था ले लो, जिससे मैं फिर युवक हो जाऊँ। पर इसे इन्होंने स्वीकृत नहीं किया था। श्रीकृष्णचंद्र इन्हीं के वंश में हुए थे। (इस शब्द के साथ पति या राजा आदि का वाचक शब्द लगाने से श्रीकृष्ण का अर्थ होता है।) (२) पुराणानुसार हर्नश्व राजा के पुत्र का नाम।

यदुध्र–संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक ऋषि का नाम।

यदुनंदन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यदुकुल को आनंद देनेवाले, श्रीकृष्णचंद्र। (२) कृष्णचैतन्य के एक साथी भक्त।

यदुनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] यदुवंश के स्वामी, श्रीकृष्ण।

यदुपति–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुभूप–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुराई–संज्ञा पुं० [सं० यदु+हिं० राइ=राजा] श्रीकृष्ण।

यदुराज, यदुराट्–संज्ञा पुं० [सं०] यदुकुल के राजा, श्रीकृष्ण।

यदुवंश–संज्ञा पुं० [सं०] राजा यदु का कुल। यदु का खानदान।

यदुवंशमणि–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्णचंद्र।

यदुवंशी–संज्ञा पुं० [सं० यदुवंशिन्] यदुकुल में उत्पन्न। यदुकुल के लोग। यादव।

यदुवर–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदुवीर–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदूत्तम–संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण।

यदृच्छया–क्रि० वि० [सं०] (१) अकस्मात्। अचानक। (२) इत्तफ़ाक से। दैवसंयोग से। (३) मनमाने तौर पर। मन की मौज के अनुसार। बिना किसी नियम या कारण के।

यदृच्छयाभिज्ञ–संज्ञा पुं० [सं०] कृतसाक्षी के पाँच भेदों में से एक। वह साक्षी जो घटना के समय आप से आप या अकस्मात् आ गया हो।

यदृच्छा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केवल इच्छा के अनुसार व्यवहार। स्वेच्छाचरण। मनमाना-पन (२) आकस्मिक संयोग। इत्तफ़ाक़।

यद्वातद्वा–अव्य० [सं०] कभी कभी।

यम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक साथ उत्पन्न बच्चों का जोड़ा। यमज। (२) भारतीय आर्यों के एक प्रसिद्ध देवता जो दक्षिण दिशा के दिक्पाल कहे जाते हैं और आजकल मृत्यु के देवता माने जाते हैं।

विशेष—वैदिक काल में यम और यमी दोनों देवता, ऋषि और मंत्रकर्त्ता माने जाते थे और "यम" को लोग "मृत्यु" से भिन्न मानते थे। पर पीछे से यम ही प्राणियों को मारनेवाले अथवा इस शरीर में से प्राण निकालनेवाले माने जाने लगे। वैदिक काल में यज्ञों में यम की भी पूजा होती थी और उन्हें हवि दिया जाता था। उन दिनों वे मृत पितरों के अधिपति तथा मरनेवाले लोगों को आश्रय देनेवाले माने जाते थे। तब से अब तक इनका एक अलग लोक माना जाता है, जो "यमलोक" कहलाता है। हिंदुओं का विश्वास है कि मनुष्य मरने पर सब से पहले यमलोक में जाता है और वहाँ यमराज के सामने उपस्थित किया जाता है। वही उसके शुभ और अशुभ कृत्यों का विचार करके उसे स्वर्ग या नरक में भेजते हैं। ये धर्म्मपूर्वक विचार करते हैं, इसीलिए धर्म्मराज भी कहलाते हैं। यह भी माना जाता है कि मृत्यु के समय यम के दूत ही आत्मा को लेने के लिए आते हैं। स्मृतियों में चौदह यमों के नाम आए हैं, जो इस प्रकार हैं—यम, धर्म्मराज, मृत्यु, अंतक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुंबर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। तर्पण में इनमें से प्रत्येक के नाम भी तीन तीन अंजलि जल दिया जाता है। मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि जब विश्वकर्म्मा की कन्या संज्ञा ने अपने पति सूर्य्य को देखकर भय से आँखें बंद कर लीं, तब सूर्य्य ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया कि जाओ, तुम्हें जो पुत्र होगा, वह सब लोगों का संयमन करनेवाला (उनके प्राण लेनेवाला) होगा। जब इस पर संज्ञा ने उनकी ओर चंचल दृष्टि से देखा, तब फिर उन्होंने कहा कि तुम्हें जो कन्या होगी, वह इसी प्रकार चंचलतापूर्वक नदी के रूप में बहा करेगी। पुत्र तो यही यम हुए और कन्या यमी हुई, जो बाद में यमुना के नाम से प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि यमी और यम दोनों यमज थे। यम का वाहन भैंसा माना जाता है।

पर्य्या०—पितृपति। कृतांत। शमन। काल। दंडधर। श्राद्धदेव। धर्म्म। जीवितेश। महिषध्वज। महिषवाहन। शीर्णपाद। हरि। कर्म्मकर।

(३) मन, इंद्रिय आदि को वश या रोक में रखना। निग्रह। (४) चित्त को धर्म में स्थिर रखनेवाले कर्मों का साधन।

विशेष—मनु के अनुसार शरीर-साधन के साथ साथ इनका पालन नित्य कर्त्तव्य है। मनु ने अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य्य, अकल्कता और अस्तेय ये पाँच यम कहे हैं।

पर पारस्कर गृह्यसूत्र में तथा और भी दो एक ग्रन्थों में इनकी संख्या दस कही गई है और नाम इस प्रकार दिए गए हैं—ब्रह्मचर्य्य, दया, क्षांति, ध्यान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य्य और यम। 'यम' योग के आठ अंगों में से पहला अंग है। वि० दे० "योग"। (५) कौआ। (६) शनि। (७) विष्णु। (८) वायु। (९) यमज। जोड़े। (१०) दो की संख्या। (११) वायु। (जैन)

यमक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का शब्दालंकार या अनुप्रास जिसमें एक ही शब्द कई बार आता है; पर हर बार उसके अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं उ०—कनक कनक तें सौगुनो मादकता अधिकाइ। (२) एक वृत्त का नाम, जिसके प्रत्येक चरण में एक नगण और दो लघु मात्राएँ होती हैं। (३) सेना का एक प्रकार का व्यूह या जमाव। (४) वे दो बालक जो एक साथ ही उत्पन्न हुए हों। यमज। जोड़े। (५) संयम।

यमकात, यमकातर—संज्ञा पुं० [सं० यम+हिं० कातर] (१) यम का छुरा वा खाँड़ा (२) एक प्रकार की तलवार। उ०—(क) जनु यमकात करहिं सब भवाँ। जिउ लेइ जनहुँ स्वर्ग अपसवाँ।—जायसी। (ख) होय हनुमत यम-कातर धाऊँ। आज स्वामि संकर सिर नाऊँ।—जायसी।

यमकीट—संज्ञा पुं० [सं०] केचुवा।

यमघंट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक दुष्ट योग जो रविवार के दिन मघा या पूर्वाफाल्गुनी, सोमवार के दिन पुष्य या श्लेषा, मंगलवार को ज्येष्ठा, अनुराधा, भरणी या अश्विनी, बुधवार को हस्त या आर्द्रा, बृहस्पति को पूर्वाषाढ, रेवती या उत्तराभाद्रपद, शुक्र को स्वाति या रोहिणी, और शनिवार को शतभिषा या श्रवण नक्षत्र होने पर होता है। इस योग में शुभ काम वर्जित हैं। (२) दीपावली का दूसरा दिन। कार्त्तिक शुक्ला प्रतिपदा।

यमचक्र—संज्ञा पुं० [सं०] यमराज का शस्त्र।

यमज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक गर्भ से एक ही समय में और एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो संतानें। एक साथ जन्म लेनेवाले दो बच्चों का जोड़ा। जौआँ। (२) ऐसा घोड़ा जिसका एक ओर का अंग हीन और दुर्बल हो और दूसरी ओर का वही अंग ठीक हो। यह दोष माना जाता है। (३) अश्विनीकुमार।

यमजात—संज्ञा पुं० दे० "यमज"।

यमजातना—संज्ञा स्त्री० दे० "यमयातना"।

यमजित्—संज्ञा पुं० [सं०] मृत्यु को जीतनेवाले, मृत्युंजय।

यमत्व—संज्ञा पुं० [सं०] यम का भाव या धर्म्म।

यमदंड—संज्ञा पुं० [सं०] यमराज का डंडा। कालदंड।

यमदंष्ट्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार आश्विन, कार्त्तिक और अगहन के लगभग का कुछ विशिष्ट काल, जिसमें रोग और मृत्यु आदि का विशेष भय रहता है और जिसमें अल्प भोजन तथा विशेष संयम आदि का विधान है। कुछ लोगों के मत से यह समय कार्त्तिक के अंतिम आठ दिनों और अगहन के आरंभिक आठ दिनों का है; और कुछ लोगों के मत से आश्विन के अंतिम आठ दिन और पूरा कार्त्तिक मास इसके अंतर्गत है।

यमदग्नि—संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि जो परशुराम के पिता थे। वि० दे० "जमदग्नि"।

यमदुतिया—संज्ञा स्त्री० दे० "यमद्वितीया"।

यमदूतक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कौआ। (२) यम के दूत।

यमदूतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] इमली।

यमदेवता—संज्ञा स्त्री० [सं०] भरणी नक्षत्र, जिसके देवता यम माने जाते हैं।

यमद्रुम—संज्ञा पुं० [सं०] सेमर का पेड़। शाल्मलि वृक्ष। (इसका यह नाम इसलिए है कि इनमें फूल तो बड़े सुंदर देख पड़ते हैं, परंतु उनसे कोई खाने लायक फल नहीं उत्पन्न होता)।

यमद्वितीया—संज्ञा स्त्री० [सं०] कार्त्तिक शुक्ला द्वितीया। कहते हैं कि इस दिन यमराज ने अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन किया था। इसीलिए इस दिन बहन के यहाँ भोजन करना और उसे कुछ देना मंगलकारक और आयुवर्द्धक माना जाता है। भाई दूज।

यमधार—संज्ञा पुं० [सं०] ऐसी तलवार या कटारी आदि जिसके दोनों ओर धार हो।

यमन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रतिबंध वा निरोध करना। नियम से बाँधना। (२) बंधन। बाँधना। (३) विराम देना। ठहराना। (४) रोकना। बंद करना। (५) यमराज। संज्ञा पुं० दे० "यवन"।

यमनकल्यान—संज्ञा पुं० दे० "एमन"।

यमनक्षत्र—संज्ञा पुं० [सं०] भरणी नक्षत्र, जिसके देवता यम माने जाते हैं।

यमनाह*—संज्ञा पुं० [सं० यमनाथ, प्रा० जमनाह] यमों के स्वामी, धर्मराज। उ०—कह नारद हम कीजै काहा। जेहि ते मानि जाइ यमनाहा।—विश्राम।

यमनिका—संज्ञा स्त्री० दे० "यवनिका"।

यमनी—संज्ञा स्त्री० [यमन देश से] एक प्रकार का बहुमूल्य पत्थर जिसकी गणना रत्नों में होती है। (यह पत्थर अरब के यमन प्रदेश से आता है।)

यमपुर—संज्ञा पुं० [सं०] यम के रहने का स्थान, जिसके विषय में यह माना जाता है कि मरने पर यम के दूत प्रेतात्मा को

पहले यहाँ ले जाते हैं और तब उसे धर्म्मपुर में पहुँचाते हैं। यमलोक।

मुहा०—यमपुर पहुँचाना=मार डालना। प्राण ले लेना।

यमपुरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमलोक। यमपुर।

यम पुरुष-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यमराज। (२) यम के दूत।

यमप्रस्थ-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन नगर जो कुरुक्षेत्र के दक्षिण में था। कहते हैं कि वहाँ के निवासी यम के उपासक थे। शंकराचार्य्य ने वहाँ जाकर निवासियों को शैव बनाया था।

यमप्रिय-संज्ञा पुं० [सं०] वट वृक्ष। बड़ का पेड़।

यमभगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमुना नदी।

यमयन-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

यमया-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्योतिष के अनुसार एक प्रकार का नक्षत्र योग।

यमयातना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यम के दूतों की दी हुई पीड़ा। नरक की पीड़ा। (२) मृत्यु के समय की पीड़ा।

यमरथ-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा।

यमराज-संज्ञा पुं० [सं०] यमों के राजा धर्मराज, जो मरने के पीछे प्राणी के कर्मों का विचार करके उसे दंड या उत्तम फल देते हैं।

यमराज्य, यमराष्ट्र-संज्ञा पुं० [सं०] यमलोक।

यमल-संज्ञा पुं० [सं०] (१) युग्म। जोड़ा। (२) दो लड़के जो एक साथ ही पैदा हुए हों। यमज।

यमलच्छद-संज्ञा पुं० [सं०] कचनार।

यमलपत्रक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनेर। (२) अश्मंतक।

यमलसू-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह गौ जिसके दो बच्चे एक साथ उत्पन्न हुए हों।

यमला-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का हिक्का या हिचकी का रोग, जिसमें थोड़ी थोड़ी देर पर दो दो हिचकियाँ एक साथ आती हैं और सिर तथा गरदन काँपने लगती है। (२) एक प्राचीन नदी का नाम। (३) तांत्रिकों की एक देवी।

यमलार्जुन-संज्ञा पुं० [सं०] गोकुल के दो अर्जुन वृक्ष जो पुराणानुसार कुबेर के पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव थे। ये दोनों एक बार मद्य पीकर मत्त हो रहे थे और नंगे होकर नदी में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। इसी पर नारद ऋषि ने इन्हें शाप दिया, जिससे ये पेड़ हो गए थे। श्रीकृष्ण ने उस समय इनका उद्धार किया था, जब वे यशोदा-द्वारा बाँधे गए थे।

यमली-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक में मिली हुई दो चीज़ें। जोड़ी। (२) स्त्रियों का घाघरा और चोली।

यमलोक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह लोक जहाँ मरने के उपरांत मनुष्य जाते हैं। यमपुरी।

मुहा०—यमलोक भेजना या पहुँचाना=मार डालना। प्राण लेना।

(२) नरक।

यमवाहन-संज्ञा पुं० [सं०] भैंसा।

यमव्रत-संज्ञा पुं० [सं०] राजा का धर्म्म जिसके अनुसार उसे यमराज की भाँति निष्पक्ष होकर सब को दंड देना चाहिए। राजा का दंड-नियम।

यमसदन-संज्ञा पुं० [सं०] यमपुर।

यमसू-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य।

संज्ञा स्त्री० जिसके एक ही गर्भ से एक साथ दो संतानें हों।

यमसूर्य्य-संज्ञा पुं० [सं०] ऐसा घर जिसके पश्चिम उत्तर में शाला हो।

यमस्तोम-संज्ञा पुं० [सं०] एक दिन में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यमहंता-संज्ञा पुं० [सं० यमहंतृ] काल का नाश करनेवाला।

यमांतक-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

यमातिरात्र-संज्ञा पुं० [सं०] ४९ दिनों में होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यमादित्य-संज्ञा पुं० [सं०] सूर्य्य का एक रूप।

यमानिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यमानी-संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यमानुजा-संज्ञा स्त्री० [सं०] यमराज की छोटी बहन, यमुना।

यमारि-संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यमालय-संज्ञा पुं० [सं०] यम का घर, यमपुर।

यमिक-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

यमी-संज्ञा स्त्री० [सं०] यम की बहन, जो पीछे यमुना नदी होकर बही। यमुना नदी।

संज्ञा पुं० [सं० यमिन्] संयम करनेवाला मनुष्य। संयमी

यमुंड-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन ऋषि का नाम।

यमुना-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) यम की बहन यमी, जो सूर्य्य के वीर्य्य से संज्ञा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी और जो संज्ञा को सूर्य्य-द्वारा मिले हुए शाप के कारण पीछे से नदी हो गई थी। (३) उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध बड़ी नदी जो हिमालय के यमनोत्तरी नामक स्थान से निकलकर प्रयाग में गंगा में मिलती है। यह ८६० मील लंबी है और दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि नगर इसके किनारे बसे हुए हैं। हिंदू इसे बहुत पवित्र नदी और यम की बहन यमी का स्वरूप मानते हैं।

यमुनाभिद्-संज्ञा पुं० [सं०] कृष्ण के भाई बलराम जिन्होंने अपने हल से यमुना के दो भाग किए थे।

यमुनोत्तरी-संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय में गढ़वाल के पास का एक पर्वत जिससे यमुना नदी निकली है।

यमेरुका-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक घड़ियाल या बड़ी झाँझ जो प्राचीन काल में एक घड़ी पूरी होने पर बजाई जाती थी।

यमेश-संज्ञा पुं० [सं०] भरणी नक्षत्र।

यमेश्वर-संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

ययाति-संज्ञा पुं० [सं०] राजा नहुप के पुत्र जो चंद्रवंश के पाँचवें राजा थे और जिनका विवाह शुक्राचार्य्य की कन्या देवयानी के साथ हुआ था। इनको देवयानी के गर्भ से यदु और तुर्वसु नाम के दो तथा शर्म्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्यु, अनु और पुरु नाम के तीन पुत्र हुए थे। (दे० "देवयानी"।) इनमें से यदु से यादव वंश और पुरु से पौरव वंश का आरंभ हुआ। शर्म्मिष्ठा इन्हें विवाह के दहेज में मिली थी। शुक्राचार्य्य ने इन्हें कह दिया था कि शर्म्मिष्ठा के साथ संभोग न करना। पर जब शर्म्मिष्ठा ने ऋतुमती होने पर इनसे ऋतु-रक्षा की प्रार्थना की, तब इन्होंने उसके साथ संभोग किया और उसे संतान हुई। इस पर शुक्राचार्य्य ने इन्हें शाप दिया कि तुम्हें शीघ्र बुढ़ापा आ जायगा। जब इन्होंने शुक्राचार्य्य को संभोग का कारण बतलाया, तब उन्होंने कहा कि यदि कोई तुम्हारा बुढ़ापा ले लेगा, तो तुम फिर ज्यों के त्यों हो जाओगे। इन्होंने एक एक करके अपने चारों पुत्रों से कहा कि तुम हमारा बुढ़ापा लेकर अपना यौवन हमें दे दो, पर किसी ने स्वीकार नहीं किया। अंत में पुरु ने इनका बुढ़ापा आप ले लिया और अपनी जवानी इन्हें दे दी। पुनः यौवन प्राप्त करके इन्होंने एक सहस्र वर्ष तक विषय-सुख भोगा। अंत में पुरु को अपना राज्य देकर आप वन में जाकर तपस्या करने लगे और अंत में स्वर्ग चले गए। स्वर्ग पहुँचने पर भी एक बार यह इंद्र के शाप से वहाँ से च्युत हुए थे; क्योंकि इन्होंने इंद्र से कहा था कि जैसी तपस्या मैंने की है, वैसी और किसी ने नहीं की। जब ये स्वर्ग से च्युत हो रहे थे, तब मार्ग में इन्हें अष्टक ऋषियों ने रोककर फिर से स्वर्ग भेजा था। इनका उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है।

ययातिपतन-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम।

ययावर-संज्ञा पुं० दे० "यायावर"।

ययी-संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) घोड़ा। (३) मार्ग। पथ। रास्ता।

ययु-संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा। (२) घोड़ा।

यलधीस, यलनाथ-संज्ञा पुं० [सं० इला+धीश] राजा। (डिं०)

यला-संज्ञा स्त्री० [सं० इला] पृथ्वी। (डिं०)

यलाइंद-संज्ञा पुं० [सं० इला+इंद्र] राजा। (डिं०)

यलापत-संज्ञा पुं० [सं० इला+पति] राजा। (डिं०)

यव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ नामक अन्न। वि० दे० "जौ"। (२) १२ सरसों या एक जौ की तौल का एक मान। (३) लंबाई की एक नाप जो एक इंच की एक तिहाई होती है। (४) सामुद्रिक के अनुसार जौ के आकार की एक प्रकार की रेखा जो उँगली में होती है और जो बहुत शुभ मानी जाती है। कहते हैं कि यदि यह रेखा अँगूठे में हो, तो उसका फल और भी शुभ होता है। इस रेखा का रामचंद्र के दाहिने पैर के अंगूठे में होना माना जाता है। (५) वेग। तेज़ी। (६) वह वस्तु जो दोनों ओर उन्नतोदर हो।

यवकंठक-संज्ञा पुं० [सं०] खेत पापड़ा।

यवक-संज्ञा पुं० [सं०] जौ।

यवकलश-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्रजौ।

यवक्रीत-संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम जो भरद्वाज के पुत्र थे।

यवक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] महाभारत के अनुसार एक नदी का नाम।

यवक्षार-संज्ञा पुं० [सं०] जौ के पौधों को जलाकर निकाला हुआ खार। वि० दे० "जवाखार"।

यवचतुर्थी-संज्ञा स्त्री० [सं०] वैशाख शुक्ला चतुर्थी।

यवज-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यवक्षार। (२) गेहूँ का पौधा। (३) अजवायन।

यवतिक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] शंखिनी नाम की लता।

यवदोष-संज्ञा पुं० [सं०] जौ के आकार की एक रेखा, जो रत्नों में पड़ जाती है और जिससे वह रत्न कुछ दूषित हो जाता है।

यवद्वीप-संज्ञा पुं० [सं०] वर्त्तमान जावा द्वीप का प्राचीन नाम।

यवन-संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० यवनी] (१) वेग। तेज़ी। (२) तेज़ घोड़ा। (३) यूनान देश का निवासी। यूनानी।

विशेष—यूनान देश में "आयोनिया" नामक प्रांत या द्वीप है, जिसका लगाव पहले पूर्वीय देशों से बहुत अधिक था। उसी के आधार पर भारतवासी उस देश के निवासियों को, और तदुपरांत भारत में यूनानियों के आने पर उन्हें भी "यवन" कहते थे। पीछे से इस शब्द का अर्थ और भी विस्तृत हो गया और रोमन, पारसी आदि प्रायः सभी विदेशियों, विशेषतः पश्चिम से आनेवाले विदेशियों को लोग "यवन" ही कहने लगे; और इस शब्द का प्रयोग प्रायः "म्लेच्छ" के अर्थ में होने लगा। परंतु महाभारत काल में यवन और म्लेच्छ ये दोनों भिन्न भिन्न जातियाँ मानी जाती थीं।

पुराणों के अनुसार अन्यान्य म्लेच्छ जातियों (पारद, पह्लव आदि) के समान यवनों की उत्पत्ति भी वसिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़े के समय वसिष्ठ की गाय के शरीर से हुई थी। गाय के 'योनि' देश से यवन उत्पन्न हुए थे।

(४) मुसलमान। उ०—भूषण यों अवनी यवनी कहैं कोऊ कहै सरजा सो हहारे। तू सब को प्रतिपालनहार बिचारे भतार न मारु हमारे।—भूषण। (५) कालयवन नामक म्लेच्छ राजा जो कृष्ण से कई बार लड़ा था।

यवनप्रिय—संज्ञा पुं० [सं०] मिर्च।

यवनाचार्य्य—संज्ञा पुं० [सं०] यवन जाति का एक ज्योतिषाचार्य्य, जिसका उल्लेख वराहमिहिर आदि ने किया है। विद्वानों का अनुमान है कि यह संभवतः 'टालेमी' था।

यवनानी—वि० [सं०] यवन देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान की भाषा। (२) यूनान की लिपि।

विशेष—पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है।

यवनारि—संज्ञा पुं० [सं०] श्रीकृष्ण, जिनकी कालयवन से कई लड़ाइयाँ हुई थीं।

यवनाल—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जुआर का पौधा। (२) इस पौधे से उत्पन्न अन्न के दाने। जुआर। (३) जौ के डंठल जो सूखने पर चौपायों को खिलाए जाते हैं।

यवनालज—संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार। जवाखार।

यवनाश्व—संज्ञा पुं० [सं०] मिथिला देश के एक प्राचीन राजा का नाम जो बहुलाश्व का पिता था।

यवनिका—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कनात। (२) नाटक का परदा।

विशेष—प्राचीन काल में नाटक के परदे संभवतः यवन देश से आए हुए कपड़े से बनते थे; इसीलिए इनको यवनिका कहते थे।

यवनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] यवन की या यवन जाति की स्त्री।

यवनेष्ट—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सीसा। (२) मिर्च। (३) लहसुन। (४) नीम। (५) प्याज। (६) शलजम। (७) गाजर।

यवफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्रजौ। (२) कुटज। (३) प्याज। (४) जटामासी। (५) बाँस। (६) प्लक्ष वृक्ष। पाकड़ का पेड़।

यवबिंदु—संज्ञा पुं० [सं०] वह हीरा जिसमें बिंदु-सहित यवरेखा हो। कहते हैं कि ऐसा हीरा पहनने से देश छूट जाता है।

यवमंड—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का माँड़ जो नए ज्वर के रोगी को पथ्य के रूप में दिया जाता है। वैद्यक के अनुसार यह लघु, ग्राहक और शूल तथा त्रिदोष का नाश करनेवाला है।

यवमंथ—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का सत्तू।

यवमती—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वर्णवृत्त जिसके विषम चरणों में रगण, जगण, जगण होते और सम चरणों में जगण, रगण और एक गुरु होता है। जैसे,—त्यागि दे सबै जु है, असत्य काम। सुधार जन्म आपनो, न भूल राम।

यवमद्य—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का बनाया हुआ मद्य। जौ की शराब।

यवमध्य—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का चांद्रायण व्रत। (२) पाँच दिनों में समाप्त होनेवाला एक प्रकार का यज्ञ।

यवलक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का पक्षी जिसका मांस, सुश्रुत के अनुसार, मधुर, लघु, शीतल और कसैला होता है।

यवलास—संज्ञा पुं० [सं०] जवाखार।

यववर्णाभ—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का जहरीला कीड़ा।

यवशाक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साग जो वैद्यक के अनुसार मधुर, रूखा, शीतवीर्य्य और मलभेदक माना जाता है।

यवशूक—संज्ञा पुं० [सं०] जवाखार।

यवश्राद्ध—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का श्राद्ध जो वैशाख के शुक्ल पक्ष में कुछ विशिष्ट दिनों और योगों में और विषुव संक्रांति अथवा अक्षय तृतीया के दिन होता है और जिसमें केवल जौ के आटे का व्यवहार होता है।

यवस—संज्ञा पुं० [सं०] भूसा।

यवसुर—संज्ञा पुं० [सं०] जौ की शराब।

यवागू—संज्ञा पुं० [सं०] जौ या चावल का वह माँड़ जो सड़ाकर कुछ खट्टा कर दिया गया हो; अर्थात् जिसमें कुछ ख़मीर आ गया हो। माँड़ की काँजी।

विशेष—इसका व्यवहार वैद्यक में पथ्य के लिए होता है; और यह ग्राहक, बलकारक तथा वातनाशक माना जाता है।

यवाग्र—संज्ञा पुं० [सं०] जौ का भूसा।

यवाग्रज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) यवक्षार। (२) अजवायन।

यवान—वि० [सं०] वेगवान्। तेज़। क्षिप्र।

यवानिका, यवानी—संज्ञा स्त्री० [सं०] अजवायन।

यवाम्ल—संज्ञा पुं० [सं०] जौ की काँजी, जो वैद्यक में वात और श्लेष्मानाशक, रक्तवर्द्धक, भेदक तथा रक्त-दोषनाशक मानी जाती है।

यवाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कीड़ा जो जौ की फसल को हानि पहुँचाता है।

यवास—संज्ञा पुं० [सं०] जवासा नामक काँटेदार क्षुप। वि० दे० "जवासा"।

यविष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) छोटा भाई। (२) अग्नि। (३) ऋग्वेद के एक मंत्र के द्रष्टा ऋषि का नाम जिन्हें अग्नियविष्ठ भी कहते हैं।

वि० [सं०] सब से छोटा। कनिष्ठ।

यवीनर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार अजमीढ़ के एक पुत्र का नाम। (२) भागवत के अनुसार द्विमीढ़ के एक पुत्र का नाम।

यवोद्भव—संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार। जवाखार।

यव्यावती—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैदिक काल की एक नदी। (२) वैदिक काल की एक नगरी।

यश—संज्ञा पुं० [सं० यशस्] (१) अच्छा काम करने से होनेवाला नाम। नेकनामी। कीर्त्ति। सुख्याति। उ०—(क) यश अपयश देखत नहीं देखत साँवल गात।—बिहारी। (ख) रक्षहु मुनि जन यश लीजै। —केशव। (ग) हा पुत्र लक्ष्मण छुड़ावहु वेगि मोहीं। मार्तंडवंश यश की सब लाज तोहीं।—केशव।

क्रि० प्र०—पाना।—मिलना।

मुहा०—**यश कमाना या लूटना**=नाम प्राप्त करना। नाम हासिल करना।

(२) बड़ाई। प्रशंसा। महिमा।

मुहा०—**यश गाना**—(१) प्रशंसा करना। (२) कृतज्ञ होना। एहसान मानना। **यश मानना**=कृतज्ञ होना। निहोरा मानना। एहसान मानना।

यशव, यशम—संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का पत्थर जो हरा सा होता है। यह चीन और लंका में बहुत होता है। इसकी नादली बनती है, जिसे लोग छाती पर पहनते हैं। कलेजे, मेदे और दिमाग की बिमारियों को दूर करने का इस पत्थर में विलक्षण प्रभाव माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि जिसके पास यह पत्थर होता है, उस पर बिजली का कुछ प्रभाव नहीं होता। इसे "संगे-यशब" भी कहते हैं।

यशस्वान्—वि० [सं० यशस्वत्] [स्त्री० यशस्वती] यशस्वी। कीर्त्तिमान्।

यशस्विनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वन-कपास। (२) महा-ज्योतिष्मती। (३) गंगा।

वि० स्त्री० जिसे यश प्राप्त हो। कीर्त्तिमती।

यशस्वी—वि० [सं० यशस्विन्] जिसका खूब यश हो। कीर्त्तिमान।

यशी—वि० [सं० यश+ई (प्रत्य०)] यशस्वी। कीर्त्तिमान। उ०—ये जो पाँचों पुत्र तुम्हारे हैं, सो महाबली यशी होंगे।—लल्लू०।

यशील|※—वि० [सं० यश+ईल (प्रत्य०)] कीर्त्तिमान्। यशस्वी। उ०—अंबर चित्र विचित्र विराजत आयो सुशील यशील सभा में।—रघुराज।

यशुमति—संज्ञा स्त्री० दे० "यशोदा"।

यशोद—संज्ञा पुं० [सं०] पारा।

यशोदा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) नन्द की स्त्री जिन्होंने श्रीकृष्ण को पाला था। वि० दे० "नंद"। (२) दिलीप की माता का नाम। (३) एक वर्णवृत्त जिसके प्रत्येक चरण में एक जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं। जैसे,—जपौ गुपाला। सुभोर काला। कहै यशोदा। लहै प्रमोदा।

यशोधर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न कृष्ण के एक पुत्र का नाम। (२) उत्सर्पिणी के एक अर्हत् का नाम। (जैन) (३) कर्म्म अथवा सावन मास का पाँचवाँ दिन।

यशोधरा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गौतम बुद्ध की पत्नी और राहुल की माता का नाम। (२) कर्म्म अथवा सावन मास की चौथी रात।

यशोधरेय—संज्ञा पुं० [सं०] यशोधरा का पुत्र, राहुल।

यशोमति, यशोमती—संज्ञा स्त्री० दे० "यशोदा"।

यशोमत्य—संज्ञा पुं० [सं०] मार्कंडेय पुराण के अनुसार एक जाति का नाम।

यशोमाधव—संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

यष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाठी। छड़ी। लकड़ी। (२) पताका का डंडा। ध्वज। (३) टहनी। शाखा। डाल। (४) जेठी मधु। मुलेठी। (५) ताँत। (६) गले में पहनने का एक प्रकार का मोतियों का हार। (७) लता। बेल। (८) बाहु। बाँह।

यष्टिक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीतर पक्षी। (२) डंडा। (३) मजीठ।

यष्टिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) हाथ में रखने की छड़ी। लकड़ी। लाठी। (२) जेठी मधु। मुलेठी। (३) बावली। वापी। (४) गले में पहनने का हार। यष्टी।

यष्टिकाभरण—संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार जल को ठंढा करने का उपाय।

यष्टिमधु—संज्ञा पुं० [सं०] जेठी मधु। मुलेठी।

यष्टियंत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह धूप घड़ी जिसमें एक छड़ी सीधी खड़ी गाड़ दी जाती है और उसकी छाया से समय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

यष्टी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गले में पहनने का एक प्रकार का हार। मोतियों की ऐसी माला जिसमें बीच बीच में मणि भी हो। (२) मुलेठी।

यस्क—संज्ञा पुं० [सं०] एक गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि का नाम।

यह—सर्व० [सं० इदं] निकट की वस्तु का निर्देश करनेवाला एक सर्वनाम, जिसका प्रयोग वक्ता और श्रोता को छोड़कर और सब मनुष्यों, जीवों तथा पदार्थों आदि के लिए होता है। जैसे,—(क) यह कई दिनों से बीमार है। (ख) यह तो अभी चला जायगा।

विशेष—(क) जब इसमें विभक्ति लगती है, यह इसका रूप खड़ी बोली में "इस" और ब्रज भाषा में 'या' हो जाता है।

जैसे, इसको याकों। (ख) पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनामों को छोड़कर शेष सर्वनामों की भाँति इसका प्रयोग भी प्रायः विशेषण के समान होता है। जब यह अकेला रहता है, तब तो सर्वनाम होता है; और जब इसके साथ कोई संज्ञा आती है, तब यह विशेषण हो जाता है। जैसे,—"यह बाहर जायगा" में "यह" सर्वनाम है; और "यह लड़का पाजी है" में "यह" विशेषण है।

यहाँ–क्रि० वि० [सं० इह] इस स्थान में। इस जगह पर।

यहि–सर्व० वि० [हिं० यह] (१) 'यह' का वह रूप जो पुरानी हिन्दी में उसे कोई विभक्ति लगने के पहले प्राप्त होता है। जैसे, यहि कों, यहि तें। (२) 'ए' का विभक्तियुक्त रूप, जिसका व्यवहार पीछे कर्म और संप्रदान में ही प्रायः होने लगा। इसको।

यही–अव्य० [हिं० यह+ही (प्रत्य०)] निश्चित रूप से यह। यह ही। उ०—यही गोप यह ग्वाल इहै सुख, यह लीला कहुँ तजत न साथ।—सूर।

यहूद–संज्ञा पुं० [इब्रानी] वह देश जहाँ हजरत ईसा पैदा हुए थे और जहाँ के निवासी यहूदी कहलाते हैं। यह देश एशिया की पश्चिमी सीमा पर है।

यहूदी–संज्ञा पुं० [हिं यहूद] [स्त्री० यहूदिन] (१) यहूद देश का निवासी। (२) आर्य्य जाति से भिन्न शामी जाति के अंतर्गत एक जाति।

यहूयहू–संज्ञा पुं० [देश०] कबूतर की एक जाति।

याँ†–क्रि० वि० "यहाँ"। उ०—(क) याँ नम्र भाव ही से जाना मेरे मन भाया है—प्रतापनारायण मिश्र। (ख) फड़कता है क्यों हाथ दहना। याँ तपोवन में क्या होगा लहना।—प्रतापनारायण मिश्र।

याँचना*–संज्ञा स्त्री० दे० "याचना"।

क्रि० स० दे० "याचना"।

याँचा–संज्ञा स्त्री० [सं०] माँगने की क्रिया। प्रार्थनापूर्वक माँगना।

या–अव्य० [फ़ा०] विकल्प-सूचक शब्द। अथवा। वा। उ०—आप रहा है सीस नवाय। या प्रवाह ने दिया झुकाय।—प्रतापनारायण मिश्र।

सर्व० वि० 'यह' का वह रूप जो उसे ब्रज भाषा में कारक चिह्न लगने के पहले प्राप्त होता है। उ०—(क) या चौदहें प्रकास में ह्वैहै लंका दाह।—केशव। (ख) चलौ लाल या बाग में लख्यौ अपूरब केलि।—मतिराम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) योनि। (२) गति। चाल। (३) रथ। गाड़ी। (४) अवरोध। रोक। वारण। (५) ध्यान। (६) प्राप्ति। लाभ।

याक–संज्ञा पुं० [तिब्बती ग्याक, सं० गावक] हिमालय पर होनेवाला जंगली बैल जिसकी पूँछ का चँवर बनता है।

†वि० दे० "एक"। उ०—(क) कोऊ याको बात न समुझै चाहै बीसन दाँय कहन।—प्रतापनारायण मिश्र। (ख) डाढ़ी नाक याक माँ मिलिगै, बिनु दाँतन मुँह अस पोपलान।—प्रतापनारायण मिश्र।

याकूत–संज्ञा पुं० [अ०] एक प्रकार का लाल रंग का बहुमूल्य पत्थर। लाल।

याग–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ। उ०—योग याग व्रत दान जो कीजै।—केशव।

यागसंतान–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र के पुत्र जयंत का एक नाम।

याचक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो माँगता हो। माँगनेवाला। उ०—(क) चातक ज्यों कातिक के मेघ तें निराश होत, याचक त्यों तजत आस कृपण के दान की।—हृदयराम। (ख) जनि याँचै ब्रजपति उदार अति याचक फिरि न कहावै।—सूर। (ग) तोपि याचक सकल दादुर मयूर से।—केशव। (२) भिखमंगा।

याचना–क्रि० स० [सं० याचन] प्राप्त करने के लिए विनती करना। प्रार्थना करना। माँगना।

संज्ञा स्त्री० [सं०] माँगने की क्रिया।

याच्य–वि० [सं०] याचना करने के योग्य। माँगने के योग्य।

याज्–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करानेवाला। याजक।

याज–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अन्न। अनाज। (२) एक प्राचीन ऋषि का नाम।

याजक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करानेवाला। (२) राजा का हाथी। (३) मस्त हाथी।

याजन–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ की क्रिया।

याजि–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ करनेवाला।

याजी–संज्ञा पुं० [सं० याजिन्] यज्ञ करनेवाला।

याजुष–वि० [सं०] [स्त्री० याजुषी] यजुर्वेद संबंधी।

याजुषी अनुष्टुप–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सब मिलाकर आठ वर्ण होते हैं।

याजुषीउष्णिक्–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें सात वर्ण होते हैं।

याजुषीगायत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें छः वर्ण होते हैं।

याजुषीजगती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें बारह वर्ण होते हैं।

याजुषीत्रिष्टुप–संज्ञा पुं० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें ग्यारह वर्ण होते हैं।

याजुषीपंक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें दस वर्ण होते हैं।

याजुषीबृहती–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक वैदिक छंद जिसमें नौ वर्ण होते हैं।

याज्य–वि० [सं०] (१) यज्ञ कराने योग्य। (२) जो यज्ञ में दिया या चढ़ाया जानेवाला हो। (३) (दक्षिणा) जो यज्ञ कराने से प्राप्त हो।

याज्ञ–वि० [सं०] यज्ञ संबंधी। यज्ञ का।

याज्ञतुर–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

याज्ञदत्ति–संज्ञा पुं० [सं०] कुबेर।

याज्ञवल्क्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रसिद्ध ऋषि जो वैशम्पायन के शिष्य थे। कहते हैं कि एक बार वैशम्पायन ने किसी कारण से अप्रसन्न होकर इनसे कहा कि तुम मेरे शिष्य होने के योग्य नहीं हो; अतः जो कुछ तुमने मुझसे पढ़ा है, वह सब लौटा दो। इस पर याज्ञवल्क्य ने अपनी सारी पढ़ी हुई विद्या उगल दी, जिसे वैशंपायन के दूसरे शिष्यों ने तीतर बनकर चुग लिया। इसीलिए उनकी शाखाओं का नाम तैत्तिरीय हुआ। याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु का स्थान छोड़कर सूर्य की उपासना की और सूर्य्य के वर से वे शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिता के आचार्य हुए। इनका दूसरा नाम वाजसनेय भी था। (२) एक ऋषि जो राजा जनक के दरबार में रहते थे और जो योगीश्वर याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। मैत्रेयी और गार्गी इन्हीं की पत्नियाँ थीं। (३) योगीश्वर याज्ञवल्क्य के वंशधर एक स्मृतिकार। मनुस्मृति के उपरांत इन्हीं की स्मृति का महत्त्व है; और उसका दायभाग आज तक कानून माना जाता है।

याज्ञसेनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] द्रौपदी का एक नाम।

याज्ञिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ करने या करानेवाला। (२) गुजराती आदि ब्राह्मणों की एक जाति।

यातन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परिशोध। बदला। (२) पारितोषिक। इनाम।

यातना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) बहुत अधिक कष्ट। तकलीफ। पीड़ा। उ०—कोरि कोरि यातनानि फोरि फोरि मारिये।—केशव। (२) दंड की वह पीड़ा जो यमलोक में भोगनी पड़ती है।

यातव्य–वि० [सं०] (ऐसा शत्रु) जो पास होने के कारण चढ़ाई के योग्य हो।

याता–संज्ञा स्त्री० [सं० यातृ] पति के भाई की स्त्री। जेठानी वा देवरानी। उ०—सास ननँद यातान कों आई नीठि सुवाय। अब आली घर गवन की सुधि आये सुधि जाय।—मतिराम।

संज्ञा पुं० (१) जानेवाला। (२) रथ चलानेवाला। सारथी। (३) मार डालनेवाला। हत्या करनेवाला।

यातायात–संज्ञा पुं० [सं०] गमनागमन। आना जाना। आमद-रफ्त।

यातु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) आनेवाला। (२) रास्ता चलनेवाला। पथिक। (३) राक्षस। (४) काल। (५) वायु। हवा। (६) यातना। कष्ट। (७) हिंसा। (८) अस्त्र।

यातुघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] गुग्गुल।

यातुधान–संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस। उ०—पक्षिराज यक्षराज प्रेतराज यातुधान। देवता अदेवता नृदेवता जिते जहान।—केशव।

यात्निक–संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों का एक संप्रदाय।

यात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया। सफर। (२) प्रयाण। प्रस्थान। (३) दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना। तीर्थाटन। (४) उत्सव। (५) व्यवहार। (६) बंग देश में प्रचलित एक प्रकार का अभिनय, जिसमें नाचना और गाना भी रहता है। यह प्रायः रामलीला के ढंग का होता है।

यात्रावाल–संज्ञा पुं० [सं० यात्रा+हिं० वाल (प्रत्य०)] वह ब्राह्मण या पंडा जो तीर्थाटन करनेवालों को देव-दर्शन कराता हो।

यात्रिक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यात्रा का प्रयोजन। कहीं जाने का अभिप्राय या उद्देश्य। (२) वह जो जीवन धारण करने के लिए उपयुक्त हो। (३) यात्री। पथिक। (४) यात्रा की सामग्री। सफ़र का सामान।

वि० (१) यात्रा संबंधी। यात्रा का। (२) जो बहुत दिनों से चला आता हो। रीति के अनुसार। प्रथानुकूल।

यात्री–संज्ञा पुं० [सं० यात्रा] (१) एक स्थान से दूसरे स्थान को जानेवाला। यात्रा करनेवाला। मुसाफिर। (२) देव-दर्शन या तीर्थाटन के लिए जानेवाला।

याथातथ्य–संज्ञा पुं० [सं०] यथातथ्य होने का भाव। यथार्थता। ठीक-पन।

याथार्थ्य–संज्ञा पुं० [सं०] यथार्थ होने का भाव। यथार्थता।

यादःपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) समुद्र। (२) वरुण।

याद–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) स्मरण शक्ति। स्मृति। जैसे,—आपकी याद की मैं प्रशंसा करता हूँ। (२) स्मरण करने की क्रिया। जैसे,—मैं अभी आपको याद ही कर रहा था।

क्रि० प्र०—करना।—दिलाना।—पड़ना।—रखना।—रहना।—होना।

संज्ञा पुं० [सं० यादस्] मछली, मगर आदि जलजंतु।

यादगार–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] वह पदार्थ जो किसी की स्मृति के रूप में हो। स्मृति-चिह्न। स्मारक।

याददाश्त–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) स्मरण शक्ति। स्मृति। जैसे,—आपकी याददाश्त बहुत अच्छी है। (२) किसी घटना के स्मरणार्थ लिखा हुआ लेख। स्मरण रखने के लिए लिखी हुई कोई बात।

यादव–संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० यादवी] (१) यदु के वंशज। (२) श्रीकृष्ण।
वि० यदु संबंधी।

यादवगिरि–संज्ञा पुं० [सं०] एक पर्वत का नाम।

यादवी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) यदुकुल की स्त्री। (२) दुर्गा।

यादु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जल। पानी। (२) कोई तरल पदार्थ।

यादृश–वि० [सं०] जिस प्रकार का। जैसा।

याद्व–वि० [सं०] (१) यदुवंशी। (२) यदु संबंधी।

यान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गाड़ी, रथ आदि सवारी। वाहन। (२) विमान। आकाशयान। (३) शत्रु पर चढ़ाई करना, जो राजाओं के छः गुणों में से एक कहा गया है। (४) गति।

यानी, याने–अव्य० [अ०] तात्पर्य यह कि। मतलब यह कि। अर्थात्।

यापन–संज्ञा पुं० [सं०] वि० [यापित, याप्य] (१) चलाना। वर्तन। (२) व्यतीत करना। बिताना। जैसे, कालयापन। (३) निरसन। निबटाना। (४) परित्याग। छोड़ना। हटाना। (५) मिटाना।

यापना–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) चलाना। हाँकना। (२) कालक्षेप। दिन काटना। (३) वह धन जो किसी को जीविका-निर्वाह के लिए दिया जाय। (४) व्यवहार। बर्ताव।

यापनीय–वि० [सं०] यापन करने के योग्य। याप्य।

याप्ता–संज्ञा स्त्री० [सं०] जटा।

याप्य–वि० [सं०] (१) निंदनीय। निंदित। (२) यापन करने के योग्य। यापनीय। क्षेपणीय। (३) छिपाने के योग्य। गोपनीय। आवरणीय। (४) रक्षा करने के योग्य। रक्षणीय।
संज्ञा पुं० वैद्यक के अनुसार वह रोग जो साध्य न हो, पर चिकित्सा से प्राणघातक न होने पावे। ऐसा रोग जो अच्छा तो न हो, पर संयम द्वारा जिसका रोगी बहुत दिनों तक चला चले।

याबू–संज्ञा पुं० [फ़ा०] वह घोड़ा जो डील डौल में बहुत बड़ा न हो। टट्टू।

याभ–संज्ञा पुं० [सं०] मैथुन।

याम–संज्ञा पुं० [सं०] (१) तीन घंटे का समय। पहर। (२) एक प्रकार के देवगण। इनका जन्म मार्कंडेय पुराण के अनुसार स्वायंभुव मनु के समय यज्ञ और दक्षिणा से हुआ था। ये संख्या में बारह हैं। (३) काल। समय।
वि० यम संबंधी।
संज्ञा स्त्री० [सं० यामि] रात। उ०—दोऊ राजत श्यामा श्याम। व्रज युवती मंडली विराजत देखति सुरगन बाम। धन्य धन्य वृंदाबन को सुख सुरपुर कौने काम। धनि वृषभानु सुता धनि मोहन धनि गोपिन को काम। इनकी को दासी सरि ह्वैहै धन्य शरद की याम। कैसेहु सूर जनम व्रज पावै यह सुख नहिं तिहुँ धाम।—सूर।

यामक–संज्ञा पुं० [सं०] पुनर्वसु नक्षत्र।

यामकिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलवधू। कुल-स्त्री। (२) लड़के की स्त्री। पुत्र-वधू। (३) बहिन। भगिनी।

यामघोष–संज्ञा पुं० [सं०] मुर्गा।

यामघोषा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह घंटा जो बीच बीच में समय की सूचना देने के लिए बजता हो। घड़ियाल।

यामनाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] समय बतलानेवाली घड़ी।

यामनेमि–संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

यामल–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वे दो लड़के जो एक साथ उत्पन्न हुए हों। यमज संतान। जोड़ा। (२) एक प्रकार का तंत्र-ग्रंथ जिसमें सृष्टि, ज्योतिष, आख्यान, नित्य कृत्य, क्रमसूत्र, वर्ण-भेद, जाति-भेद और युगधर्म का वर्णन होता है। ये ग्रंथ संख्या में छः हैं—आदि यामल, ब्रह्म यामल, विष्णु यामल, रुद्र यामल, गणेश यामल और आदित्य यामल।

यामवती–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात। निशा।

यामाता–संज्ञा पुं० दे० "जामाता"।

यामायन–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो यम के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो।

यामार्द्ध–संज्ञा पुं० [सं०] पहर का आधा भाग।

यामि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुलवधू। कुल स्त्री। (२) बहिन। भगिनी। (३) यामिनी। रात। (४) अग्नि पुराण के अनुसार धर्म की एक पत्नी का नाम। इससे नागवीथी नामक कन्या उत्पन्न हुई थी। (५) पुत्री। कन्या। (६) पुत्रवधू। (७) दक्षिण दिशा।

यामिक–संज्ञा पुं० [सं०] पहरेदार। पहरुआ। चौकीदार।

यामिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

यामित्र–संज्ञा पुं० दे० "जामित्र"।

यामित्रवेध–संज्ञा पुं० दे० "जामित्रवेध"।

यामिन, यामिनि*–संज्ञा स्त्री० दे० "यामिनी"।

यामिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रात। (२) हल्दी। (३) कश्यप की एक स्त्री का नाम।

यामिनीचर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राक्षस। निशाचर। (२) गुग्गुल। (३) उल्लू पक्षी।

यामीर–संज्ञा पुं० [सं०] चंद्रमा।

यामीरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] रात।

यामुंदायनि–संज्ञा पुं० [सं०] यामुंद ऋषि के गोत्र में उत्पन्न अपत्य।

यामुन–वि० [सं०] यमुना नदी संबंधी। जैसे, यामुन जल।

संज्ञा पुं० (१) यमुना के किनारे बसनेवाले मनुष्य। (२) एक पर्वत का नाम। (३) महाभारत के अनुसार एक तीर्थ का नाम। (४) सुरमा। अंजन। (५) बृहत्संहिता के अनुसार एक जनपद का नाम। यह जनपद कृत्तिका, रोहिणी और मृगशीर्ष के अधिकार में माना जाता है। (६) एक वैष्णव आचार्य का नाम। ये दक्षिण के रंगक्षेत्र के रहनेवाले थे और रामानुजाचार्य के पूर्व हुए थे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनके रचे हुए आगम प्रामाण्य सिद्धित्रय, भगवद्गीता की टीका, भगवद्गीता संग्रह और आत्ममंदिर स्तोत्र आदि ग्रंथ अब तक मिलते हैं। कुछ लोग इन्हें रामानुजाचार्य का गुरु बतलाते हैं। यामुनाचार्य्य। यामुन मुनि।

यामुनेष्टक–संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

यामेय–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहन का लड़का। भानजा। (२) धर्म की पत्नी यामी के पुत्र का नाम।

याम्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चंदन। (२) शिव। (३) विष्णु। (४) अगस्त्य मुनि। (५) यमदूत।

वि० (१) यम संबंधी। यम का। (२) दक्षिण का। दक्षिणीय।

याम्यदिग्भवा–संज्ञा स्त्री० [सं०] तमालपत्री।

याम्यद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] सेमल का पेड़। शाल्मलि वृक्ष।

याम्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दक्षिण दिशा। (२) भरणी नक्षत्र।

याम्यायन–संज्ञा पुं० [सं०] दक्षिणायन।

याम्योत्तर दिगंश–संज्ञा पुं० [सं०] लंबांश। दिगंश। (भूगोल, खगोल)

याम्योत्तर रेखा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कल्पित रेखा जो किसी स्थान से आरंभ होकर सुमेरु और कुमेरु से होती हुई भूगोल के चारों ओर मानी गई हो।

विशेष—पहले भारतीय ज्योतिषी यह रेखा उज्जयिनी या लंका से गई हुई मानते थे। पर अब लोग योरप और अमेरिका आदि के भिन्न भिन्न नगरों से गई हुई मानते हैं। आज कल बहुधा इस रेखा का केन्द्र इंगलैण्ड का ग्रीनिच नगर माना जाता है।

यायावर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अश्वमेध का घोड़ा। (२) जरत्कारु मुनि। (३) मुनियों के एक गण का नाम। जरत्कारु जी इसी गण में थे। (४) एक स्थान पर न रहनेवाला साधु। सदा इधर उधर घूमता रहनेवाला संन्यासी। (५) याँचा। याचना। (६) वह ब्राह्मण जिसके यहाँ गार्हपत्य अग्नि बराबर रहती हो। साग्नि ब्राह्मण।

यायी–वि० [सं० यायिन्] [स्त्री० यायिनी] जानेवाला। जो जा रहा हो। गमनशील।

यार–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मित्र। दोस्त। उ०—(क) बाँका परदा खोलि के सनमुख लै दीदार। बाल सनेही साइयाँ आदि अंत का यार।—कबीर। (ख) रह्यौ रुक्यौ क्यों हू सुचलि आधिक राति पधारि। हरतु ताप सब द्यौस को उर लगि यार बयारि।—बिहारी। किसी स्त्री से अनुचित संबंध रखनेवाला पुरुष। उपपति। जार।

यारकंद–संज्ञा पुं० [तु० यारकंद (नगर)] एक प्रकार का बेल-बूटा जो कालीन में बनाया जाता है।

याराना–संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) यार होने का भाव। मित्रता। मैत्री। (२) स्त्री और पुरुष का अनुचित संबंध या प्रेम।

क्रि० प्र०—करना।—गठना।—रखना।—होना।

वि० मित्र का सा। मित्रता का। जैसे, याराना बर्त्ताव।

यारी–संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) मैत्री। मित्रता। उ०—यारि फेरि के आय पै जरति न मोरे अंग। रूप रोसनी पै झपै नेही नैन पतंग।—रसनिधि। (२) स्त्री और पुरुष का अनुचित प्रेम या संबंध।

क्रि० प्र०—गाँठना।—जोड़ना।

यार्कायन–संज्ञा पुं० [सं०] यर्क ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष वा अपत्य।

याल–संज्ञा स्त्री० [तु०] घोड़े की गर्दन के ऊपर के लंबे बाल। अयाल। बाग।

याव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ का सत्तू। (२) लाख। (३) महावर।

वि० (१) यव से बनाया हुआ। जौ का। (२) यव संबंधी। यव का।

यावक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जौ। (२) यव या जौ का सत्तू। (३) वह वस्तु जो जौ से बनाई गई हो। (४) कुल्माष। बोरो धान। (५) साठी धान। (६) उड़द। माष। (७) लाख। (८) महावर।

यावत्–वि० [सं०] (१) जितना।

विशेष—यह तावत् के साथ और उससे पहले आता है।

(२) सब। कुल।

क्रि० वि० (१) जब तक। (२) जहाँ तक।

यावन–संज्ञा पुं० [सं०] लोबान।

वि० [स्त्री० यावनी] यवन संबंधी। यवन का। जैसे, यावनी भाषा। यावनी सेना।

यावनक–संज्ञा पुं० [सं०] लाल अंडी। रक्त एरंड।

यावनकल्क–संज्ञा पुं० [सं०] शिलारस।

यावनाल–संज्ञा पुं० [सं०] जुआर। मक्का।

यावनाली–संज्ञा स्त्री० [सं०] मक्के से बनाई हुई चीनी। ज्वार की शकर।

यावनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] कांकशालि नाम की ईख। रसाल।

वि० स्त्री० यवन संबंधी। जैसे, यावनी भाषा।

याबर-वि० [फ़ा०] सहायक। मददगार।

याबरी-संज्ञा स्त्री० [सं०] याबर का भाव या धर्म्म। मित्रता। मैत्री।

यावशूक-संज्ञा पुं० [सं०] यवक्षार। जवाखार।

यावस-संज्ञा पुं० [सं०] घास, डंठल आदि का पूला। जूरा। जोरा।

यावास-संज्ञा पुं० [सं०] यवास से बनाया हुआ मद्य। जवासे की शराब।

याविक-संज्ञा पुं० [सं०] मक्का नामक अन्न।

यावी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शंखिनी। (२) यवतिक्ता नाम की लता।

याष्टीक-संज्ञा पुं० [सं०] लाठी बाँधनेवाला योद्धा। लठबंध। लठैत।

यास-संज्ञा पुं० [सं०] लाल धमासा।

यासा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोयल। (२) मैना।

यासु*-सर्व० दे० "जासु"।

यास्क-संज्ञा पुं० [सं०] (१) यस्क ऋषि के गोत्र में उत्पन्न पुरुष। (२) वैदिक निरुक्त के रचयिता एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम।

यास्कायनि-संज्ञा पुं० [सं०] यास्क के गोत्र में उत्पन्न पुरुष।

याहि*†-सर्व० [हिं० या+हि] इसको। इसे। उ०—जो यह मेरो बैरी कहियत ताको नाम पठायो। देहु गिराय याहि पर्वत तें क्षण गतजीव करायो।—सूर।

युंजान-संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारथी। (२) विप्र। (३) दो प्रकार के योगियों में से वह योगी जो अभ्यास कर रहा हो, पर मुक्त न हुआ हो। कहते हैं कि ऐसा योगी समाधि लगाकर सब बातें जान लेता है।

युंजानक-संज्ञा पुं० [सं०] युंजान नामक योगी। दे० "युंजान"।

युक्त-वि० [सं०] (१) एक साथ किया हुआ। जुड़ा हुआ। किसी के साथ मिला हुआ। (२) मिलित। सम्मिलित। (३) नियुक्त। मुकर्रर। (४) आसक्त। (५) सहित। संयुक्त। साथ। (६) संपन्न। पूर्ण। (७) उचित। ठीक। वाजिब। संगत। मुनासिब।

संज्ञा पुं० (१) वह योगी जिसने योग का अभ्यास कर लिया हो। (ऐसे योगी को, जो ज्ञान-विज्ञान से परितृप्त, कूटस्थ, जितेंद्रिय हो और जो मिट्टी और सोने को तुल्य जानता हो, युक्त कहा गया है।) (२) रैवत मनु के पुत्र का नाम। (३) चार हाथ का एक मान।

युक्तरथ-संज्ञा पुं० [सं०] एक औषध-योग जिसका प्रयोग वस्तिकरण में होता है। भावप्रकाश में रेंड़ की जड़ के क्वाथ, मधु, तेल, सेंधा नमक, बच और पिप्पली के योग को युक्तरथ कहा है।

युक्तरसा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) गंधरास्ना। गंधनाकुली। नाकुल कंद। (२) रास्ना। रासन।

युक्तश्रेयसी-संज्ञा स्त्री० [सं०] गंध रास्ना। नाकुली कंद।

युक्ता-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एलापर्णी। (२) एक वृत्त का नाम जिसमें दो नगण और एक मगण होता है।

युक्तायस-संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल के एक अस्त्र का नाम जो लोहे का होता था।

युक्तार्थ-वि० [सं०] ज्ञानी।

युक्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) उपाय। ढंग। तरकीब। (२) कौशल। चातुरी। (३) चाल। रीति। प्रथा। (४) न्याय। नीति। (५) अनुमान। अंदाजा। (६) उपपत्ति। हेतु। कारण। (७) तर्क। ऊहा। (८) उचित विचार। ठीक तर्क जैसे, युक्तियुक्त बात। (९) योग। मिलन। (१०) एक अलंकार का नाम, जिसमें अपने मर्म को छिपाने के लिए दूसरे को किसी क्रिया या युक्ति द्वारा वंचित करने का वर्णन होता है। उ०—लिखत रही पिय-चित्र तहँ आवत लखि सखि आन। चतुर तिया तेहि कर लिखे फूलन के धनुबान। (११) केशव के अनुसार उक्ति का एक भेद जिसे स्वभावोक्ति भी कहते हैं।

युक्तिकर-वि० [सं०] जो तर्क के अनुसार ठीक हो। उचित विचारपूर्ण। युक्ति-संगत। युक्तियुक्त।

युक्तियुक्त-वि० [सं०] उपयुक्त तर्क के अनुकूल। युक्ति-संगत। ठीक। वाजिब। जैसे,—आपकी सभी बातें बहुत ही युक्तियुक्त होती हैं।

युगंधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) कूबर। हरस। (२) गाड़ी का बम। (३) एक पर्वत का नाम। (४) हरिवंश के अनुसार तृणि के पुत्र और सात्यकि के पौत्र का नाम।

युग-संज्ञा पुं० [सं०] (१) एकत्र दो वस्तुएँ। जोड़ा। युग्म। (२) जुआ। जुआठा। (३) ऋद्धि और वृद्धि नामक दो ओषधियाँ। (४) पुरुष। पुश्त। पीढ़ी। (५) पाँसे के खेल की वे गोल गोल गोटियाँ, जो बिसात पर चली जाती हैं। (६) पाँसे के खेल की वे दो गोटियाँ जो किसी प्रकार एक घर में साथ आ बैठती हैं। (७) पाँच वर्ष का वह काल जिसमें बृहस्पति एक राशि में स्थित रहता है। (८) समय। काल। जैसे, पूर्व युग। (९) पुराणानुसार काल का एक दीर्घ परिमाण। ये संख्या में चार माने गए हैं, जिनके नाम सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग हैं। दे० "सत्ययुग" आदि।

मुहा०—युग युग=बहुत दिनों तक। अनंत काल तक। जैसे,—युग युग जीओ। युगधर्म=समय के अनुसार चाल या व्यवहार।

वि० जो गिनती में दो हो।

युगकीलक-संज्ञा पुं० [सं०] वह लकड़ी या खूँटा जो बम और जुए के मिले छेदों में डाला जाता है। सैल। सैला।

युगति*†–संज्ञा स्त्री० दे० "युक्ति"।

युगप–संज्ञा पुं० [सं०] गंधर्व।

युगपत्–अव्य० [सं०] एक ही समय में। एक ही क्षण में। साथ साथ। जैसे,—मन की दो क्रियाएँ युगपत् नहीं हो सकतीं।

युगपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोविदार। कचनार। (२) वह वृक्ष जिसमें दो दो पत्तियाँ आमने-सामने निकलती हों। युग्मपर्ण। युग्म-पत्र। (३) पहाड़ी आबनूस।

युगपत्रिका–संज्ञा पुं० [सं०] शीशम का पेड़।

युगबाहु–वि० [सं०] जिसके हाथ बहुत लंबे हों। दीर्घबाहु।

युगम*–संज्ञा पुं० दे० "युग्म"।

युगल–संज्ञा पुं० [सं०] वे जो एक साथ दो हों। युग्म। जोड़ा। जैसे, युगल छवि।

युगलक–संज्ञा पुं० [सं०] वह कुलक (पद्य) जिसमें दो श्लोकों वा पद्यों का एक साथ मिलकर अन्वय हो।

युगलाख्य–संज्ञा पुं० [सं०] बबूल का पेड़।

युगांत–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय। (२) युग का अंतिम समय।

युगांतक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्रलय काल। (२) प्रलय।

युगांतर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दूसरा युग। (२) दूसरा समय और ज़माना।

मुहा०—**युगांतर उपस्थित करना**=समय पलट देना। किसी पुरानी प्रथा को हटाकर उसके स्थान पर नई प्रथा (या उसका समय) लाना।

युगांशक–संज्ञा पुं० [सं०] वत्सर। वर्ष।

वि० युग का विभाजक।

युगाक्षिगंधा–संज्ञा स्त्री० [सं०] विधारा।

युगादि–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सृष्टि का प्रारंभ।

वि० युग के आरंभ का। पुराना।

संज्ञा स्त्री० दे० "युगाद्या"।

युगादिकृत्–संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

युगाद्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह तिथि जिससे युग का आरंभ हुआ हो। संवत्सर में ऐसी तिथियाँ चार हैं, जिनमें से प्रत्येक से एक एक युग का आरंभ माना जाता है। ये श्रेष्ठ और शुभ मानी जाती हैं, और इस प्रकार हैं—(१) वैशाख शुक्ल तृतीया, सत्ययुग के आरंभ की तिथि; (२) कार्त्तिक शुक्ल नवमी, त्रेतायुग के प्रारंभ की तिथि; (३) भाद्र कृष्ण त्रयोदशी द्वापर के प्रारंभ की तिथि; और (४) पूस की अमावस्या, कलियुग के प्रारंभ की तिथि।

युगेश–संज्ञा पुं० [सं०] बृहस्पति के साठ वर्ष के राशि-चक्र में गति के अनुसार पाँच पाँच वर्ष के युगों के अधिपति।

विशेष—यह चक्र उस समय से प्रारंभ होता है, जब बृहस्पति माघ मास में धनिष्ठा नक्षत्र के प्रथमांश में उदय होता है। बृहस्पति के साठ वर्ष के काल में पाँच वर्ष के बारह युग होते हैं, जिनके अधिपति विष्णु, सुरेज्य, बलभित, अग्नि, त्वष्टा, उत्तर प्रोष्ठपद, पितृगण, विश्व, सोम, शक्रानिल, अश्वि और भग हैं। प्रत्येक युग के पाँच वर्षों के युग क्रमशः संवत्सर परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर कहलाते हैं।

युगोरस्य–संज्ञा पुं० [सं०] सेना के सन्निवेश का एक भेद।

युग्म–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ा। युग। (२) अन्योन्याश्रित दो वस्तुएँ या बातें। द्वंद्व। (३) मिथुन राशि। (४) कुलक का एक भेद जिसे युगलक भी कहते हैं। वि० दे० "युगलक"।

युग्मकंटका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बेर।

युग्मक–संज्ञा पुं० [सं०] युगलक। युग्म। जोड़ा।

युग्मज–संज्ञा पुं० [सं०] एक साथ उत्पन्न दो बच्चे। यमल। यमज।

युग्मधर्मा–वि० [सं० युग्मधर्मन्] (१) जो स्वभावतः मिलता हो। मिलनशील। (२) मिथुनधर्मा।

युग्मपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कचनार का पेड़। (२) भोजपत्र का पेड़। (३) सतिवन। छतिवन। (४) वह पेड़ जिसकी शाखा में दो दो पत्ते एक साथ होते हों। युग्मपर्ण।

युग्मपर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कचनार। (२) सतिवन। छतिवन। (३) दे० "युग्मपत्र"।

युग्मपर्णा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली।

युग्मफला–संज्ञा स्त्री० [सं०] वृश्चिकाली।

युग्मफलिनी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुधिया। दुद्धी। गुदनी।

युग्मांजन–संज्ञा पुं० [सं०] स्रोतांजन और सौवीरांजन इन दोनों का समूह।

युग्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह गाड़ी जिसमें दो घोड़े या बैल जोते जाते हों। जोड़ी। (२) वे दो पशु जो एक साथ गाड़ी में जोते जाते हों। जोड़ी।

वि० (१) जो जोता जाने के योग्य हो। (२) जो जोता जानेवाला हो।

युग्यवाह–संज्ञा पुं० [सं०] (१) जोड़ी हाँकनेवाला। (२) गाड़ीवान्। सारथी।

युज्य–वि० [सं०] (१) मिला हुआ। संयुक्त। (२) मिलाने योग्य।

संज्ञा पुं० (१) संयोग। मिलाप। (२) एक प्रकार का साम।

युत–वि० [सं०] (१) युक्त। सहित। (२) जो अलग न हो। मिला हुआ। मिश्रित।

संज्ञा पुं० चार हाथ की एक नाप।

युतक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) संशय। संदेह। (२) युग। जोड़ा। (३) अंचल। दामन। (४) प्राचीन काल का एक प्रकार का वस्त्र जो पहनने के काम में आता था। (५) सूप के दोनों ओर के किनारे जो ऊपर उठे हुए होते हैं और पीछे के उठे

हुए भाग से जोड़कर बाँधे रहते हैं। (६) मैत्री-करण। (७) संश्रय।

युतबेध–संज्ञा पुं० [सं०] एक योग का नाम। यह योग उस समय होता है, जब चंद्रमा पाप-ग्रह से सातवें स्थान में होता है या पाप-ग्रह के साथ होता है। ऐसे योग के समय विवाहादि शुभ कर्मों का, फलित ज्योतिष में, निषेध है।

युति–संज्ञा स्त्री० [सं०] योग। मिलन। मिलाप।

युद्ध–संज्ञा पुं० [सं०] लड़ाई। संग्राम। रण।

विशेष—प्राचीन काल में युद्ध के लिए रथ, हाथी, घोड़े और पदाति ये चार सेना के प्रधान अंग थे और इसी कारण सेना को चतुरंगिणी कहते थे। इन चारों के संख्या-भेद के कारण पत्ति, गुल्म, गण आदि सेना के अनेक भेद और उनके सन्निवेश भेद से शूची, श्येन, मकरादि अनेक व्यूह थे। सैनिकों को शिक्षा संकेत-ध्वनियों से दी जाती थी, जिसे सुनकर सैनिकगण सम्मीलन, प्रसरण, प्रभ्रमण, आकुंचन, यान, प्रयाण, अपयान आदि अनेक चेष्टाएँ करते थे। संग्राम के दो भेद थे—एक द्वंद्व और दूसरा निर्द्वंद्व। जिस संग्राम में कृत्रिम वा अकृत्रिम दुर्ग में रहकर शत्रु से युद्ध करते थे, उसे द्वंद्व युद्ध कहते थे। पर जब दुर्ग से बाहर होकर आमने सामने खुले मैदान में लड़ते थे, तब उसे निर्द्वंद्व युद्ध कहते थे। निर्द्वंद्व युद्ध में समदेश में रथ-युद्ध, विषम में हस्ति-युद्ध, मरु भूमि में अश्व-युद्ध, पर्वतादि में पत्ति-युद्ध और जल में नौका-युद्ध किया जाता था। युद्ध के सामान्य नियम ये थे—(१) युद्ध उस अवस्था में किया जाता था, जब युद्ध से जीने की आशा और न युद्ध करने में नाश ध्रुव हो। (२) राजा और युद्ध शास्त्र के मर्मज्ञ पंडितों को युद्ध-क्षेत्र में नहीं जाने देते थे। उनसे यथासमय युद्ध-नीति का केवल परामर्श और मंत्र लिया जाता था। (३) रथहीन, अश्वहीन, गजहीन और शस्त्रहीन पर प्रहार नहीं होता था। (४) बाल, वृद्ध, नपुंसक और अभ्याहत पर तथा शाँति की पताका उठानेवाले के ऊपर शस्त्रास्त्र नहीं चलाया जाता था। (५) भयभीत, शरणप्राप्त, युद्ध से विमुख और विगत पर भी आघात नहीं किया जाता था। (६) संग्राम में मारनेवाले को ब्रह्महत्यादि दोष नहीं लगते थे। (७) लड़ाई से भागनेवाला बड़ा पातकी माना जाता था। ऐसे पातकी की शुद्धि तब तक नहीं होती थी, जब तक कि वह फिर युद्ध में जाकर शूरता न दिखलावे।

क्रि० प्र०—छिड़ना।—छेड़ना।—ठनना।—मचना।—मचाना।

मुहा०—युद्ध माँड़ना=लड़ाई ठानना। उ०—कुँअर तन श्याम मानों काम है दूसरो सपन में देखि ऊखा लुभाई। मित्ररेखा सकल जगत के नृपन की छिनिक में सुरति तक लिखि देखाई। निरखि यदुवंश को रहस मन में भयो देखि अनिरुद्ध युद्ध माँड्यो। सूर प्रभु ठटी ज्यों भयो चाहै सो त्यों फाँसि करि कुँअर अनिरुद्ध बाँध्यो।—सूर

युद्धप्राप्त–संज्ञा पुं० [सं०] वह पुरुष जो संग्राम में पकड़ा गया हो। यह दास के बारह भेदों में से एक है और ध्वजाहृत भी कहलाता है।

युद्धमय–वि० [सं०] (१) युद्ध संबंधी। (२) रणप्रिय। युद्ध-प्रिय।

युद्धमुष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] उग्रसेन के एक पुत्र का नाम।

युद्धरंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कार्तिकेय। स्कंध। (२) युद्ध-स्थल। रणभूमि। लड़ाई का मैदान।

युद्धसार–संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

युद्धाचार्य्य–संज्ञा पुं० [सं०] वह जो दूसरों को युद्ध विद्या की शिक्षा देता हो। युद्ध सिखलानेवाला।

युद्धाजि–संज्ञा पुं० [सं०] अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न एक ऋषि का नाम।

युद्धोन्मत्त–वि० [सं०] (१) युद्ध में लीन। लड़ाका। (२) जो युद्ध के लिए उतावला हो रहा हो।

संज्ञा पुं० रामायण के अनुसार एक राक्षस का नाम। इसका दूसरा नाम महोदर था। यह रावण का भाई था और इसे नील नामक वानर ने मारा था।

युध्–संज्ञा स्त्री० [सं०] युद्ध। लड़ाई।

युधांश्रौष्टि–संज्ञा पुं० [सं०] एक ऋषि का नाम।

युधाजि–संज्ञा पुं० दे० "युद्धाजि"।

युधाजित्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) केकयराज के पुत्र का नाम। यह भरत का मामा था। (२) कृष्ण के एक पुत्र का नाम। (३) क्रोष्टु नामक राजा के पुत्र का नाम।

युधान–संज्ञा पुं० [सं०] (१) क्षत्रिय। (२) रिपु। शत्रु। दुश्मन।

युधामन्यु–संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक राजा का नाम जो महाभारत युद्ध में पांडवों की ओर से लड़ा था।

युधासर–संज्ञा पुं० [सं०] नंद राजा का एक नाम।

युधिक–वि० [सं०] योद्धा।

युधिष्ठिर–संज्ञा पुं० [सं०] पाँच पांडवों में सब से बड़े का नाम जो कुंती से उत्पन्न धर्म्म के पुत्र थे और पांडु के क्षेत्रज पुत्र थे। ये सत्यवादी और धर्मपरायण थे; पर इन्हें जूए की लत थी, जिसके कारण यह अपना राज्य, भाइयों और स्वयं अपने आपको जूए में हार गए थे। महाभारत के संग्राम के अनंतर ये हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे थे। महाभारत के अनुसार अपनी धर्म्मपरायणता के कारण ये हिमालय होकर सदेह स्वर्ग गए थे। ये आजन्म सत्य

का पालन करते रहे। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण ने इनसे यह असत्य बात कहलानी चाही कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। इस कथन से द्रोण की मृत्यु निश्चित थी। इन्होंने बहुत आगा पीछा किया; पर अंत में इन्हें इतना कहना पड़ा—"अश्वत्थामा मारा गया, न जाने हाथी या मनुष्य"। यह पिछला वाक्य इन्होंने कुछ धीरे से कहा था। इनके जीवन भर में सत्य के अपलाप का केवल यही एक उदाहरण मिलता है।

युध्म—संज्ञा पुं० [सं०] (१) संग्राम। युद्ध। (२) धनुष। (३) बाण। (४) अस्त्र शस्त्र। (५) योद्धा। (६) शरभ।

युध्य—वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके।

युनिवर्सिटी—संज्ञा स्त्री० दे० "यूनिवर्सिटी"।

युयु—संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ा।

युयुकखुर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का छोटा बाघ।

युयुक्षमान—वि० [सं०] (१) मिलन या संयोग चाहनेवाला। (२) ईश्वर में लीन होने की कामना रखनेवाला।

युयुत्सा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युद्ध करने की इच्छा। लड़ने की इच्छा। (२) शत्रुता। विरोध।

युयुत्सु—वि० [सं०] लड़ने की इच्छा रखनेवाला। जो लड़ना चाहता हो।

संज्ञा पुं० धृतराष्ट्र के एक पुत्र का नाम।

युयुधान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) इंद्र। (२) क्षत्रिय। (३) योद्धा। (४) सात्यकी का एक नाम, जो कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडवों की ओर से लड़े थे।

युरेशियन—संज्ञा पुं० [अं० युरोप+एशिया] वह जिसके माता पिता में से कोई एक युरोप का और दूसरा एशिया का, विशेषतः भारतवर्ष का निवासी हो।

युरोप—संज्ञा पुं० [अं०] पूर्वी गोलार्ध के तीन महाद्वीपों में से सब से छोटा महाद्वीप, जो एशिया के पश्चिम में काकेशस और यूराल पर्वतों के उस पार से आरंभ होता है। इसके उत्तर में आर्कटिक, समुद्र, पश्चिम में एटलांटिक महासागर, दक्षिण में भूमध्य सागर और कृष्ण सागर तथा पूर्व में काकेशस और यूराल पर्वत पड़ता है। यह महाप्रदेश प्रायः २४०० मील चौड़ा और ३४०० मील लंबा है। एक प्रकार से यह एशिया का अंश और बहुत बड़ा प्रायःद्वीप ही है। फ्रांस, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया, पुर्त्तगाल, स्पेन इटली, यूनान आदि इसके प्रसिद्ध देश हैं।

युरोपियन—वि० [अं०] युरोप का। युरोप संबंधी। जैसे, युरोपियन सभ्यता, युरोपियन साहित्य।

संज्ञा पुं० युरोप महादेश के किसी देश का निवासी।

युवक—संज्ञा [सं०] सोलह वर्ष से लेकर पैंतीस वर्ष तक की अवस्थावाला मनुष्य। जवान। युवा।

युवगंड—संज्ञा पुं० [सं०] मुहाँसा।

युवति, युवती—वि० स्त्री० [सं०] प्राप्तयौवना। जवान (स्त्री)।

संज्ञा स्त्री० (१) जवान स्त्री। (२) प्रियंगु। (३) सोनजुही। (४) हलदी।

युवतीष्टा—संज्ञा स्त्री० [सं०] स्वर्ण यूथिका। सोनजुही।

युवनाश्व—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक सूर्यवंशी राजा का नाम जो प्रसेनजित् का पुत्र था। प्रसिद्ध मांधाता इसी का पुत्र था। (२) रामायण के अनुसार धुंधुमार के पुत्र का नाम।

युवन्यु—वि० [सं०] जवान।

युवराई*—संज्ञा स्त्री० [हिं० युवराज] युवराज का पद।

संज्ञा पुं० दे० "युवराज"।

युवराज—संज्ञा पुं० [सं०] [स्त्री० युवराज्ञी] राजा का वह राजकुमार जो उसके राज्य का उत्तराधिकारी हो। राजा का वह सब से बड़ा लड़का जिसे आगे चलकर राज्य मिलनेवाला हो।

युवराजत्व—संज्ञा पुं० [सं०] युवराज का भाव वा धर्म। युवराज्य।

युवराजी—संज्ञा स्त्री० [सं०युवराज+ई (प्रत्य०)] युवराज का पद। युवराज्य। उ०—जिनहिं देखि दशरथ नृप राजी। देन विचारत हे युवराजी।—पद्माकर।

युवा—वि० [सं० युवन्] [स्त्री० युवती] जिसकी अवस्था सोलह से लेकर पैंतिस वर्ष तक के अंदर हो। जवान। यौवनावस्था प्राप्त।

युवानपिड़िका—संज्ञा स्त्री० [सं०] मुहाँसा।

यूँ†—अव्य० दे० "यों"।

यू—संज्ञा स्त्री० [सं०] पकी हुई दाल का पानी। जूस।

यूक—संज्ञा पुं० [सं०] जूँ नामक कीड़े जो बाल या कपड़ों में पड़ जाते हैं। ढील। चीलर।

यूका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) एक प्रकार का परिमाण जो एक यव का आठवाँ भाग और एक लिक्षा का अठगुना होता है। (२) जूँ नाम का कीड़ा जो सिर के बालों में होता है। वि० दे० "जूँ"। (३) खटमल। (४) अजवायन। (५) गूलर।

युगंधर—संज्ञा पुं० [सं०] पंजाब के एक प्राचीन नगर का नाम, जिसका वर्णन महाभारत में आया है। आजकल इसे "धुरंधर" कहते हैं।

यूत—संज्ञा पुं० [सं० यूति] मिश्रण। मिलावट। मेल। उ०—बिचि बिचि प्रीति रहसि रस रीति की राग रागिनी के यूत बाढ़े।—स्वा० हरिदास।

यूति—संज्ञा स्त्री० [सं०] मिलाने की क्रिया। मिश्रण। मेल।

यूथ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक ही जाति या वर्ग के अनेक जीवों

का समूह। झुंड। गरोह। जैसे, गजयूथ। (२) दल। सेना। फ़ौज।

यूथग–संज्ञा पुं० [सं०] चाक्षुष मन्वंतर के एक प्रकार के देवता।

यूथनाथ–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यूथ का स्वामी। सरदार। (२) सेनापति। सेनाध्यक्ष। दलपति।

यूथप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सरदार। (२) सेनापति। (३) जंगली हाथियों का सरदार।

यूथपति–संज्ञा पुं० [सं०] सेना-नायक। सेनापति।

यूथपाल–संज्ञा पुं० दे० "यूथपति"।

यूथिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही नाम का फूल और उसका पौधा। उ०—सित अरु पीत यूथिका बेनी गूँथी विविध बनाय। रच्यो भाल निज तिलक मनोहर अंजन नयन सुहाय।—सूर।

यूथी–संज्ञा स्त्री० [सं०] जूही का पौधा या फूल। यूथिका।

यूनक–संज्ञा पुं० [?] गरी की खली।

यूनाइटेड–वि० [अं०] मिला हुआ। संयुक्त। जैसे, यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका), यूनाइटेड प्राविंसेज़ (संयुक्त-देश आगरा व अवध)।

यूनान–संज्ञा पुं० [ग्रीक आयोनिया] एशिया के सब से अधिक पास पड़नेवाला युरोप का प्रदेश जो प्राचीन काल में अपनी सभ्यता, शिल्पकला, साहित्य, दर्शन इत्यादि के लिए जगत् में प्रसिद्ध था। आयोनिया द्वीप इसी देश के अंतर्गत था, जिसके निवासियों का आना जाना एशिया के शाम, फ़ारस आदि देशों में बहुत था; इसी से सारे देश को ही यूनान कहने लगे थे। भारतीयों का यवन शब्द यूनान देश-वासियों का ही सूचक है। सिकंदर इसी देश का बादशाह था।

यूनानी–वि० [यूनान+ई (प्रत्य०)] यूनान देश संबंधी। यूनान का।

संज्ञा स्त्री० (१) यूनान देश की भाषा। (२) यूनान देश का निवासी। (३) यूनान देश की चिकित्सा-प्रणाली। हकीमी।

विशेष—फ़ारस के प्राचीन बादशाह अपने यहाँ यूनान के चिकित्सक रखते थे, जिससे वहाँ की चिकित्सा-प्रणाली का प्रचार एशिया के पश्चिमी भाग में हुआ। इस प्रणाली में क्रमशः देशी चिकित्सा भी मिलती गई। आजकल जिसे यूनानी चिकित्सा कहते हैं, वह मिली जुली है। ख़लीफ़ा लोगों के समय में भारतवर्ष से भी अनेक वैद्य बग़दाद गये थे, जिससे बहुत से भारतीय प्रयोग भी वहाँ की चिकित्सा में शामिल हुए।

यूनिवर्सिटी–संज्ञा स्त्री० [अं०] वह संस्था जो लोगों को सब प्रकार की उच्च कोटि की शिक्षाएँ देती, उनकी परीक्षाएँ लेती और उन्हें उपाधियाँ आदि प्रदान करती है। ऐसी संस्था या तो राजकीय हुआ करती है अथवा राज्य की आज्ञा से स्थापित होती है; और उसकी परीक्षाओं तथा उपाधियों आदि का सब जगह समान रूप से मान होता है। विश्वविद्यालय।

यूप–संज्ञा पुं० [सं०] (१) यज्ञ में वह खंभा जिसमें बलि का पशु बाँधा जाता है। (२) वह स्तंभ जो किसी विजय अथवा कीर्त्ति आदि की स्मृति में बनाया गया हो।

यूप-कटक–संज्ञा पुं० [सं०] लोहे या लकड़ी का कड़ा या छल्ला जो यूप के सिरे पर अथवा नीचे होता था।

यूपकर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] यूप का वह भाग जो घृत से अभिषिक्त किया जाता था।

यूपकेतु–संज्ञा पुं० [सं०] भूरिश्रवा का एक नाम।

यूपद्रु–संज्ञा पुं० [सं०] खैर का वृक्ष।

यूपध्वज–संज्ञा पुं० [सं०] यज्ञ।

यूपा†–संज्ञा पुं० [सं० द्यूत] जूआ। द्यूतकर्म। उ०—यहै मनोरथ जीतब यूपा। कहूँ कहेउ यह भेद न भूपा।—सबलसिंह।

यूपाक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] रावण की सेना का एक मुख्य नायक जिसको हनुमान् ने प्रमदा वन उजाड़ने के समय मारा था।

यूपाहुति–संज्ञा स्त्री० [सं०] वह कृत्य जो यज्ञ में यूप गाड़ने के समय किया जाता है।

यूप्य–संज्ञा पुं० [सं०] पलास।

यूरप–संज्ञा पुं० दे० "युरोप"।

यूराल–संज्ञा पुं० (१) बहुत बड़ा पहाड़ जो एशिया और युरोप के बीच में है। (२) इस पर्वत से निकलनेवाली एक नदी का नाम।

यूरोप–संज्ञा पुं० दे० "युरोप"।

यूरोपियन–संज्ञा पुं० दे० "युरोपियन"।

यूरोपीय–वि० [अं० युरोप+ईय (प्रत्य०)] युरोप संबंधी। युरोप का।

यूह*†–संज्ञा पुं० [सं० यूथ] समूह। झुंड।

ये–सर्व० दे० "यह"।

सर्व० [हिं० यह] "यह" का बहुवचन। यह सब।

येई*†–सर्व० [हिं० यह+ई (प्रत्य०)] यही।

येऊ*†–सर्व० [हिं० ये+ऊ (प्रत्य०)] यह भी।

येतो*†–वि० दे० "एतो"।

येह†–सर्व० दे० "यह"।

येहू*†–अव्य० [हिं० यह+हू] यह भी।

यों–अव्य० [सं० एवमेव, प्रा० एमेअ, अप० एमि] इस तरह पर। इस प्रकार से। इस भाँति। ऐसे। जैसे,—वह यों नहीं मानेगा।

योंही–अव्य० [हिं० यों+ही प्रत्य०] (१) इसी प्रकार से। ऐसे ही। इसी तरह से। (२) बिना काम। व्यर्थ ही। जैसे,—आप तो योंही किताबें उलटा करते हैं। (३) बिना विशेष

प्रयोजन या उद्देश्य के। केवल मन की प्रवृत्ति से। जैसे,—मैं उधर योंही चला गया; उससे मिलने नहीं गया था।

यो†–सर्व० दे० "यह"।

योगंधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) प्राचीन काल का एक मंत्र जो अस्त्र शस्त्र आदि के शोधन के लिए पढ़ा जाता था। (२) पीतल।

योग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) दो अथवा अधिक पदार्थों का एक में मिलना। संयोग। मिलान। मेल। (२) उपाय। तरकीब। (३) ध्यान। (४) संगति। (५) प्रेम। (६) छल। धोखा। दगाबाज़ी। जैसे, योग-विक्रय। (७) प्रयोग। (८) औषध। दवा। (९) धन। दौलत। (१०) नैयायिक (११) लाभ। फायदा। (१२) वह जो किसी के साथ विश्वासघात करे। दगाबाज़। (१३) कोई शुभ काल। अच्छा समय या अवसर। (१४) चर। दूत। (१५) छकड़ा। बैलगाड़ी। (१६) नाम। (१७) कौशल। चतुराई। होशियारी। (१८) नाव आदि सवारी। (१९) परिणाम। नतीजा। (२०) नियम। कायदा। (२१) उपयुक्तता। (२२) साम, दाम, दंड और भेद ये चारों उपाय। (२३) वह उपाय जिसके द्वारा किसी को अपने वश में किया जाय। वशीकरण। (२४) सूत्र। (२५) संबंध। (२६) सद्भाव। (२७) धन और संपत्ति प्राप्त करना तथा बढ़ाना। (२८) मेल-मिलाप। (२९) तप और ध्यान। वैराग्य। (३०) गणित में दो या अधिक राशियों का जोड़। (३१) एक प्रकार का छंद जिसके प्रत्येक चरण में १२, ८ के विश्राम से २० मात्राएँ और अंत में यगण होता है। (३२) ठिकाना। सुभीता। जुगाड़। तार-घात। उ०—नहिं लग्यो भोजन योग नहीं कहुँ मिल्यो निवसन ठौर।—रघुराज। (३३) फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट काल या अवसर जो सूर्य्य और चंद्रमा के कुछ विशिष्ट स्थानों में आने के कारण होते हैं और जिनकी संख्या २७ है। इनके नाम इस प्रकार हैं—विष्कंभ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगंड, सुकर्म्मा, धृति, शूल, गंड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, असृक, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्र, ब्रह्म, इंद्र और वैधृति। इनमें से कुछ योग ऐसे हैं, जो शुभ कार्य्यों के लिए वर्जित हैं और कुछ ऐसे हैं जिनमें से शुभ कार्य्य करने का विधान है। (३४) फलित ज्योतिष के अनुसार कुछ विशिष्ट तिथियों, वारों और नक्षत्रों आदि का एक साथ या किसी निश्चित नियम के अनुसार पड़ना। जैसे, अमृतयोग, सिद्धि योग। (३५) वह उपाय जिसके द्वारा जीवात्मा जाकर परमात्मा में मिल जाता है। मुक्ति या मोक्ष का उपाय। (३६) दर्शनकार पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को चंचल होने से रोकना। मन को इधर उधर भटकने न देना, केवल एक ही वस्तु में स्थिर रखना। (३७) छः दर्शनों में से एक जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन करने का विधान है।

विशेष—योग-दर्शनकार पतंजलि ने आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन और समर्थन किया है। उन्होंने भी वही पचीस तत्त्व माने हैं, जो सांख्यकार ने माने हैं। इनमें विशेषता यही है कि इन्होंने कपिल की अपेक्षा एक और छब्बीसवाँ तत्त्व 'पुरुष विशेष' या ईश्वर भी माना है, जिससे सांख्य के अनीश्वरवाद से ये बच गए हैं। पतंजलि का योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार पादों या भागों में विभक्त है। समाधि पाद में यह बतलाया गया है कि योग के उद्देश्य और लक्षण क्या हैं और उसका साधन किस प्रकार होता है। साधन पाद में क्लेश, कर्म्मविपाक और कर्म्मफल आदि का विवेचन है। विभूति पाद में यह बतलाया गया है कि योग के अंग क्या हैं, उसका परिणाम क्या होता है और उसके द्वारा अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों की किस प्रकार प्राप्ति होती है। कैवल्य पाद में कैवल्य या मोक्ष का विवेचन किया गया है। संक्षेप में योगदर्शन का मत यह है कि मनुष्य को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश होते हैं; और उसे कर्म्म के फलों के अनुसार जन्म लेकर आयु व्यतीत करनी पड़ती है तथा भोग भोगना पड़ता है। पतंजलि ने इन सब से बचने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग बतलाया है; और कहा है कि क्रमशः योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर के संबंध में पतंजलि का मत है कि वह नित्यमुक्त, एक, अद्वितीय और तीनों कालों से अतीत है और देवताओं तथा ऋषियों आदि को उसी से ज्ञान प्राप्त होता है। योगवाले संसार को दुःखमय और हेय मानते हैं। पुरुष या जीवात्मा के मोक्ष के लिए वे योग को ही एक मात्र उपाय मानते हैं। पतंजलि ने चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध और एकाग्र ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं, जिनका नाम उन्होंने चित्तभूमि रखा है; और कहा है कि आरंभ की तीन चित्तभूमियों में योग नहीं हो सकता, केवल अंतिम दो में हो सकता है। इन दो भूमियों में संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात ये दो प्रकार के योग हो सकते हैं। जिस अवस्था में ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता हो, उसे संप्रज्ञात कहते हैं। यह योग पाँच प्रकार के क्लेशों का नाश करने वाला है। असंप्रज्ञात उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें

किसी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता; अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह जाता, संस्कारमात्र बच रहता है। यही योग की चरम भूमि मानी जाती है और इसकी सिद्धि हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। योग-साधन का उपाय यह बतलाया गया है कि पहले किसी स्थूल विषय का आधार लेकर उसके उपरांत किसी सूक्ष्म वस्तु को लेकर और अंत में सब विषयों का परित्याग करके चलना चाहिए और अपना चित्त स्थिर करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों को रोकने के जो उपाय बतलाए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर का प्रणिधान, प्राणायाम और समाधि, विषयों से विरक्ति आदि। यह भी कहा गया है कि जो लोग योग का अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकार की विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। वि० दे० "सिद्धि" यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठों योग के अंग कहे गए हैं; और योग-सिद्धि के लिए इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य्य कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत कई बातें हैं। कहा गया है कि जो व्यक्ति योग के ये आठों अंग सिद्ध कर लेता है, वह सब प्रकार के क्लेशों से छूट जाता है, अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है और अंत में कैवल्य (मुक्ति) का भागी होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सृष्टि-तत्त्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है जो सांख्य का है; इससे सांख्य को ज्ञान-योग और योग को कर्म योग भी कहते हैं। पतंजलि के सूत्रों पर सब से प्राचीन भाष्य वेदव्यासजी का है। उस पर वाचस्पति का वार्त्तिक है। विज्ञानभिक्षु का 'योगसार-संग्रह' भी योग का एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। सूत्रों पर भोजराज की भी एक वृत्ति है। पीछे से योगशास्त्र में तंत्र का बहुत सा मेल मिला और 'कायव्यूह' का बहुत विस्तार किया गया, जिसके अनुसार शरीर के अंदर अनेक प्रकार के चक्र आदि कल्पित किये गये। क्रियाओं का भी अधिक विस्तार हुआ और हठ योग की एक अलग शाखा निकली, जिसमें नेती, धोती, वस्ती आदि षट्कर्म तथा नाड़ी-शोधन आदि का वर्णन किया गया। शिवसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, घेरंड संहिता आदि हठयोग के ग्रंथ हैं। हठयोग के बड़े भारी आचार्य्य मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) और उनके शिष्य गोरखनाथ हुए हैं।

योगकन्या—संज्ञा स्त्री० [सं०] यशोदा के गर्भ से उत्पन्न कन्या, वसुदेव जिसे ले जाकर देवकी के पास रख आए थे और जिसे कंस ने मार डाला था। योगमाया।

योगकुंडलिनी—संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम। (यह प्राचीन उपनिषदों में नहीं है।)

योगक्षेम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) जो वस्तु अपने पास न हो, उसे प्राप्त करना; और जो मिल चुकी हो, उसकी रक्षा करना। नया पदार्थ प्राप्त करना और मिले हुए पदार्थ की रक्षा करना।

विशेष—भिन्न भिन्न आचार्यों ने इस शब्द से भिन्न भिन्न अभिप्राय लिये हैं। किसी के मत से योग से अभिप्राय शरीर का है और क्षेम से उसकी रक्षा का; और किसी के मत से योग का अर्थ है धन आदि प्राप्त करना और क्षेम से उसकी रक्षा करना।

(२) जीवन-निर्वाह। गुज़ारा। (३) कुशल-मंगल। खैरियत। (४) दूसरे के धन या जायदाद की रक्षा। (५) लाभ। मुनाफ़ा। (६) ऐसी वस्तु जिसका उत्तराधिकारियों में विभाग न हो। (७) राष्ट्र की सुव्यवस्था। मुल्क का अच्छा इंतज़ाम।

योगचक्षु—संज्ञा पुं० [सं० योगचक्षुस्] ब्राह्मण।

योगचर—संज्ञा पुं० [सं०] हनुमान्।

योगज—संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग-साधन की वह अवस्था जिसमें योगी में अलौकिक वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर दिखलाने की शक्ति आ जाती है। युक्त और युंजान दोनों इसी के भेद हैं। (यह नैयायिकों के अलौकिक सन्निकर्ष के तीन विभागों में से एक है। शेष दो विभाग सामान्य लक्षण और ज्ञान लक्षण हैं।) (२) अगर लकड़ी। अगरु।

योगजफल—संज्ञा पुं० [सं०] वह अंक या फल जो दो अंकों को जोड़ने से प्राप्त हो। जोड़। योग। (गणित)

योगतत्त्व—संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम, जो प्राचीन दस उपनिषदों में नहीं है।

योगतारा—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी नक्षत्र में का प्रधान तारा। (२) एक दूसरे से मिले हुए तारे।

योगत्व—संज्ञा पुं० [सं०] योग का भाव।

योगदर्शन—संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र। वि० दे० "योग"।

योगदान—संज्ञा पुं० [सं०] (१) किसी काम में साथ देना। हाथ बँटाना। (२) कपट दान। (३) योग की दीक्षा।

योगधर्मी—संज्ञा पुं० [सं० योगधर्म्मिन्] योगी।

योगधारा—संज्ञा स्त्री० [सं०] ब्रह्मपुत्र की एक सहायक नदी का नाम।

योगनंद—संज्ञा पुं० [सं०] मगध के राजा नौ नंदों में से एक नंद का नाम। वि० दे० "नंद"।

योगनाथ—संज्ञा पुं० [सं०] शिव।

योगनाविक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की मछली।

योगनिद्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) युग के अंत में होनेवाली विष्णु की निद्रा, जो दुर्गा मानी जाती है। (२) रणभूमि में वीरों की मृत्यु। (३) योग की समाधि।

योगनिद्रालु–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु, जो प्रलय के समय योग-निद्रा लेते हैं।

योगनिलय–संज्ञा पुं० [सं०] महादेव।

योगपट्ट–संज्ञा पुं० [सं०] प्राचीन काल का एक पहनावा जो पीठ पर से जाकर कमर में बाँधा जाता था और जिससे घुटनों तक का अंग ढका रहता था। साधुओं का अँचला। (शास्त्रों का विधान है कि जिसके बड़े भाई और पिता जीवित हों उसे ऐसा वस्त्र नहीं पहनना चाहिए।)

योगपति–संज्ञा पुं० [सं०] (१) विष्णु। (२) शिव।

योगपत्नि–संज्ञा स्त्री० [सं०] योगमाता। पीवरी।

योगपदक–संज्ञा पुं० [सं०] पूजन आदि के समय पहनने का चार अंगुल चौड़ा एक प्रकार का उत्तरीय वस्त्र। (यह बाघ के चमड़े, हिरन के चमड़े अथवा सूत का बना हुआ होता था और यज्ञसूत्र की भाँति पहना जाता था।)

योगपाद–संज्ञा पुं० [सं०] जैनियों के अनुसार वह कृत्य जिससे अभिमत की प्राप्ति हो।

योगपारग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) पूर्ण योगी।

योगपीठ–संज्ञा पुं० [सं०] देवताओं का योगासन।

योगफल–संज्ञा पुं० [सं०] दो या अधिक संख्याओं को जोड़ने से प्राप्त संख्या।

योगबल–संज्ञा पुं० [सं०] वह शक्ति जो योग की साधना से प्राप्त हो। तपोबल।

योगभ्रष्ट–वि० [सं०] जिसकी योग की साधना चित्त-विक्षेप आदि के कारण पूरी न हुई हो। जो योग-मार्ग से च्युत हो गया हो।

योगमय–संज्ञा पुं० [सं०] विष्णु।

योगमाता–संज्ञा स्त्री० [सं० योगमातृ] (१) दुर्गा। (२) पीवरी।

योगमाया–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) भगवती, जो विष्णु की माया है। (२) वह कन्या जो यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई थी और जिसे कंस ने मार डाला था। कहते हैं कि यह स्वयं भगवती थीं। वि० दे० "कृष्ण"। उ०—देवी परी योग-माया वसुदेव गोद करि लीन्ही हो।—सूर।

योगमूर्त्तिधर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) शिव। (२) एक प्रकार के पितृ।

योगयात्रा–संज्ञा स्त्री० [सं०] फलित ज्योतिष के अनुसार वह योग जो यात्रा के लिए उपयुक्त हो।

योगयोगी–संज्ञा पुं० [सं० योगयोगिन्] वह योगी जो योगासन पर बैठा हो।

योगरंग–संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

योगरथ–संज्ञा पुं० [सं०] वह साधन जिससे योग की प्राप्ति हो।

योगराजगुग्गुल–संज्ञा पुं० [सं०] कई द्रव्यों के योग से बनी हुई एक प्रसिद्ध औषध जिसमें गुग्गुल (गूगल) प्रधान है। यह औषध गठिया, वात रोग और लकवे के लिए अत्यंत उपकारी है।

योगरूढ़ि–संज्ञा स्त्री० [सं०] दो शब्दों के योग से बना हुआ वह शब्द जो अपना सामान्य अर्थ छोड़कर कोई विशेष अर्थ बतावे। जैसे, त्रिशूलपाणि, चंद्रभाल, पंचशर इत्यादि।

योगरोचना–संज्ञा स्त्री० [सं०] इंद्रजाल करनेवालों का एक प्रकार का लेप। कहते हैं कि शरीर में यह लेप लगा लेने से आदमी अदृश्य हो जाता है।

योगवान्–संज्ञा पुं० [सं० योगवत् [स्त्री० योगवती] योगी।

योगवाणी–संज्ञा पुं० [सं०] हिमालय के एक तीर्थ का नाम।

योगवाशिष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रंथ जो वशिष्ठजी का बनाया कहा जाता है। इसमें वशिष्ठजी ने रामचंद्र को वेदांत का उपदेश किया है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण ये छः प्रकरण हैं। इसे लोग वाल्मीकि रामायण का उत्तरखंड मानते हैं और वशिष्ठ रामायण भी कहते हैं।

योगवाह–संज्ञा पुं० [सं०] अनुस्वार और विसर्ग।

योगवाही–संज्ञा पुं० [सं० योगवाहिन्] भिन्न गुणों की दो या कई ओषधियों को एक में मिलाने योग्य करनेवाली ओषधि या द्रव्य। योग का माध्यम।

संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) पारा। (२) सज्जीखार।

योगविक्रय–संज्ञा पुं० [सं०] धोखे या बेईमानी के साथ बिक्री। घाल-मेल का सौदा।

योगविद्–संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगशास्त्र का ज्ञाता। (२) महादेव। (३) ओषधियों को मिलाकर औषध बनानेवाला। (४) बाजीगर।

योगवृत्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] चित्त की वह शुभ वृत्ति जो योग के द्वारा प्राप्त होती है।

योगशक्ति–संज्ञा स्त्री० [सं०] योग के द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति। तपोबल।

योगशब्द–संज्ञा पुं० [सं०] वह यौगिक शब्द जो योगरूढ़ि न हो, बल्कि धातु के अर्थ (सामान्य अर्थ) का बोधक हो।

योगशरीरी–संज्ञा पुं० [सं० योगशरीरिन्] योगी।

योगशास्त्र–संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि ऋषि का बनाया हुआ योग-साधन पर एक बड़ा ग्रंथ जिसमें चित्तवृत्ति को रोकने के उपाय बतलाए गये हैं। यह छः दर्शनों में से एक दर्शन है। दे० "योग"।

योगशास्त्री–संज्ञा पुं० [सं०] योग-शास्त्र का ज्ञाता।

योगशिक्षा-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक उपनिषद् का नाम जिसे योग-शिखा भी कहते हैं।

योगसत्य-संज्ञा पुं० [सं०] किसी का वह नाम जो उसे किसी प्रकार के योग के कारण प्राप्त हो। जैसे,—दंड के योग से प्राप्त होनेवाला नाम "दंडी"।

योगसार-संज्ञा पुं० [सं०] वह उपाय या साधन जिससे मनुष्य सदा के लिए रोग से मुक्त हो जाय। वैद्यक में ऋतुचर्य्या के अंतर्गत ऐसे उपायों का वर्णन है। भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न भिन्न निषिद्ध पदार्थों का त्याग और संयम आदि इसके अंतर्गत हैं।

योगसिद्ध-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसने योग की सिद्धि प्राप्त कर ली हो। योगी।

योगसूत्र-संज्ञा पुं० [सं०] महर्षि पतंजलि के बनाए हुए योग-संबंधी सूत्रों का संग्रह। वि० दे० "योग"।

योगांग-संज्ञा पुं० [सं०] पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग जो इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हीं के पूर्ण साधन से मनुष्य योगी होता है।

योगांजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) आँखों का एक प्रकार का अंजन या प्रलेप जिसके लगाने से आँखों का रोग दूर होता है। (२) वह अंजन जिसे लगाने से पृथ्वी के अंदर की छिपी हुई वस्तुएँ भी दिखाई पड़ें। सिद्धांजन।

योगांत-संज्ञा पुं० [सं०] मंगल ग्रह की कक्षा के सातवें भाग का एक अंश। (ज्योतिष)

योगांतराय-संज्ञा पुं० [सं०] योग में विघ्न डालनेवाली आलस्य आदि दस बातें।

योगांता-संज्ञा स्त्री० [सं०] मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों से होती हुई बुध की गति, जो आठ दिन तक रहती है।

योगांबर-संज्ञा पुं० [सं०] बौद्धों के एक देवता का नाम।

योगा-संज्ञा स्त्री० [सं०] सीता की एक सखी का नाम।

योगाकर्षण-संज्ञा पुं० [सं०] वह आकर्षण शक्ति जिसके कारण परमाणु मिले रहते हैं और अलग नहीं होते।

योगागम-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र।

योगाचार-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग का आचरण। (२) बौद्धों का एक संप्रदाय, जिसका मत है कि पदार्थ (बाह्य) जो दिखाई पड़ते हैं, वे शून्य हैं। वे केवल अंदर ज्ञान में भासते हैं, बाहर कुछ नहीं हैं। जैसे,—'घट' का ज्ञान भीतर आत्मा में है, तभी बाहर भासता है; और लोग कहते हैं कि यह घट है। यदि यह ज्ञान अंदर न हो, तो बाहर किसी वस्तु का बोध न हो। अतः सब पदार्थ अंदर ज्ञान में भासते हैं और बाह्य शून्य है। इनका यह भी मत है कि जो कुछ है, वह सब दुःख स्वरूप है; क्योंकि प्राप्ति में संतोष नहीं होता, इच्छा बनी रहती है।

योगात्मा-संज्ञा पुं० [सं० योगात्मन्] योगी।

योगानुशासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र।

योगपत्ति-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह संस्कार जो प्रचलित प्रथाओं अथवा आचार-व्यवहार आदि के कारण उत्पन्न हो।

योगाभ्यास-संज्ञा पुं० [सं०] योग शास्त्र के अनुसार योग के आठ अंगों का अनुष्ठान। योग का साधन। उ०—बदरिकाश्रम रहे पुनि जाई। योग अभ्यास समाधि लगाई।—सूर।

योगाभ्यासी-संज्ञा पुं० [सं० योगाभ्यासिन्] योग की साधना करनेवाला, योगी।

योगारंग-संज्ञा पुं० [सं०] नारंगी।

योगाराधन-संज्ञा पुं० [सं०] योग का अभ्यास करना। योग-साधन।

योगारूढ़-संज्ञा पुं० [सं०] वह योगी जिसने इंद्रिय-सुख आदि की ओर से अपना चित्त हटा लिया हो। वह जिसने चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लिया हो। योगी।

योगासन-संज्ञा पुं० [सं०] योग-साधन के आसन, अर्थात् बैठने के ढंग।

योगित-वि० [सं०] (१) जो इंद्रजाल या मंत्र आदि की सहायता से अपने अधीन कर लिया गया हो अथवा पागल बना दिया गया हो। (२) जिस पर इंद्रजाल या मंत्र आदि का प्रयोग किया गया हो।

योगिता-संज्ञा स्त्री० [सं०] योगी का भाव या धर्म्म।

योगित्व-संज्ञा पुं० [सं०] योगी का भाव या धर्म्म।

योगिदंड-संज्ञा पुं० [सं०] बेंत।

योगिनिद्रा-संज्ञा स्त्री० [सं०] थोड़ी सी नींद। झपकी।

योगिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) रण-पिशाचिनी (२) एक लोक का नाम। (३) आषाढ़ कृष्णा एकादशी। (४) योगयुक्ता नारी। योगाभ्यासिनी। तपस्विनी। (५) आवर्ण देवता। ये असंख्य हैं जिनमें से चौंसठ मुख्य हैं। (६) आठ विशिष्ट देवियाँ जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) शैलपुत्री, (२) चंद्रघंटा, (३) स्कंदमाता, (४) कालरात्रि, (५) चंडिका, (६) कूष्मांडी, (७) कात्यायनी, और (८) महागौरी। (७) ज्योतिष-शास्त्रानुसार ये आठ देवियाँ—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, नारायणी, वाराही, इंद्राणी, चामुंडा, और महा-लक्ष्मी। (८) तिथि विशेष में दिग्विशेषावस्थित योगिनी। (९) तत्काल योगिनी। (१०) काली की एक सहचरी का नाम। (११) देवी। योगमाया।

योगिनी चक्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) तान्त्रिकों का वह चक्र जिससे वे योगिनियों का साधन करते हैं। (२) ज्योतिषी का वह

चक्र जिससे वह इस बात का पता लगाता है कि योगिनी किस दिशा में है।

योगिया–संज्ञा पुं० [सं० योगी+इया (प्रत्य०)] (१) संपूर्ण जाति का एक राग जिसमें गांधार के अतिरिक्त सब कोमल स्वर लगते हैं। इसके गाने का समय प्रातःकाल १ दंड से ५ दंड तक है। यह करुण रस का राग है। कुछ लोग इसे भैरव राग की रागिनी भी मानते हैं। (२) दे० "योगी"।

योगिराज–संज्ञा पुं० [सं०] योगियों में श्रेष्ठ। बहुत बड़ा योगी।

योगींद्र–संज्ञा पुं० [सं०] बहुत बड़ा योगी।

योगी–संज्ञा पुं० [सं० योगिन्] (१) वह जो भले-बुरे और सुख-दुःख आदि सब को समान समझता हो। वह जिसमें न तो किसी के प्रति अनुराग हो और न विराग। आत्मज्ञानी। (२) वह व्यक्ति जिसने योग सिद्ध कर लिया हो। वह जिसने योगाभ्यास करके सिद्धि प्राप्त कर ली हो।

विशेष—योग दर्शन में अवस्था के भेद से योगी चार प्रकार के कहे गए हैं—(१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यास का केवल आरंभ किया हो और जिनका ज्ञान अभी तक दृढ़ न हुआ हो; (२) मधु भूमिक, जो भूतों और इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहते हों; (३) प्रज्ञाज्योति, जिन्होंने इंद्रियों को भली भाँति अपने वश में कर लिया हो और (४) अतिक्रांतभावनीय, जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों और जिनका केवल चित्तलय बाकी रह गया हो।

(३) महादेव। शिव।

योगीकुंड–संज्ञा पुं० [सं० योगिकुंड] हिमालय के एक तीर्थ का नाम।

योगीनाथ–संज्ञा पुं० [सं० योगिनाथ] महादेव। शंकर।

योगीश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों के स्वामी। (२) बहुत बड़ा योगी। (३) याज्ञवल्क्य का एक नाम, जिन्हें योगी याज्ञवल्क्य भी कहते हैं।

योगीश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) योगियों में श्रेष्ठ। (२) याज्ञवल्क्य मुनि का एक नाम। (३) महादेव।

योगीश्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा।

योगेंद्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) वैद्यक में एक प्रकार का रस जो रस-सिंदूर से बनाया जाता है और जिसमें सोना, कांती लोहा, अभ्रक, मोती और वंग आदि पड़ते हैं। यह प्रमेह, मूर्च्छा, यक्ष्मा, पक्षाघात, उन्माद और भगंदर आदि के लिए बहुत उपयोगी माना जाता है।

योगेश–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बहुत बड़ा योगी। (२) योगी याज्ञवल्क्य का एक नाम।

योगेश्वर–संज्ञा पुं० [सं०] (१) श्रीकृष्ण। परमेश्वर। (२) शिव। (३) देवहोत्र के एक पुत्र का नाम। (४) बहुत बड़ा योगी। योगीश्वर। सिद्ध।

विशेष—पुराणों में नौ बहुत बड़े योगी अथवा योगेश्वर माने गए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) कवि (शुक्राचार्य), (२) हरि (नारायण ऋषि), (३) अंतरिक्ष, (४) प्रबुद्ध, (५) पिप्पलायन, (६) आविर्होत्र, (७) द्रुमिल (दुरमिल), (८) चमस और (९) कर भाजन।

(५) एक तीर्थ का नाम।

योगेश्वरत्व–संज्ञा पुं० [सं०] योगेश्वर का भाव या धर्म्म।

योगेश्वरी–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) दुर्गा। (२) शाक्तों की एक देवी का नाम जो दुर्गा का एक विशेष रूप है। (३) ककोंटकी। ककोड़ा।

योगोपनिषद्–संज्ञा पुं० [सं०] एक उपनिषद् का नाम।

योग्य–वि० [सं०] (१) किसी काम में लगाए जाने के उपयुक्त। ठीक (पात्र) काबिल। लायक। अधिकारी। जैसे,—वह इस काम के योग्य नहीं है। (२) शील, गुण, शक्ति, विद्या आदि से युक्त। श्रेष्ठ। अच्छा। जैसे,—वे बड़े योग्य आदमी हैं। (३) युक्ति भिड़ानेवाला। उपाय लगानेवाला। उपायी। (४) उचित। मुनासिब। ठीक। जैसे,—यह बात उनके योग्य ही है। (५) जोतने लायक। (६) जोड़ने लायक। (७) दर्शनीय। सुंदर। (८) आदरणीय। माननीय।

संज्ञा पुं० (१) पुष्य नक्षत्र। (२) ऋद्धि नामक ओषधि। (३) रथ। शकट। गाड़ी। (४) चंदन।

योग्यता–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) क्षमता। लायकी। (२) बड़ाई। (३) बुद्धिमानी। लियाकत। विद्वत्ता। (४) सामर्थ्य। (५) अनुकूलता। मुनासिबत। मुताबिकत। (६) औकात। (७) गुण। (८) इज़्ज़त। (९) उपयुक्तता। (१०) स्वाभाविक चुनाव। (११) तात्पर्य्य-बोध के लिए वाक्य के तीन गुणों में से एक। शब्दों के अर्थ-संबंध की संगति या संभवनीयता। जैसे,—"वह पानी में जल गया" इस वाक्य में यद्यपि अर्थ-सम्बन्ध है, पर वह अर्थ संभव नहीं; इससे यह वाक्य योग्यता के अभाव से ठीक वाक्य न हुआ।

योग्यत्व–संज्ञा पुं० [सं०] (१) योग्य होने का भाव। योग्यता। (२) लायक या काबिल होने का भाव। प्रवीणता।

योग्या–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कोई काम करने का अभ्यास। मश्क। (२) सुश्रुत के अनुसार शस्त्र-क्रिया या चीर-फाड़ करने का अभ्यास। (३) जवान स्त्री। युवती।

योजक–वि० [सं०] मिलानेवाला। जोड़नेवाला।

संज्ञा पुं० पृथ्वी का वह पतला भाग जो दो बड़े विभागों को मिलाता हो। भू-डमरूमध्य।

योजन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) परमात्मा। (२) योग। (३) एक में मिलाने की क्रिया या भाव। संयोग। मिलान। मेल। योग। (४) दूरी की एक नाप जो किसी के मत से दो कोस की, किसी के मत से चार कोस की और किसी के मत से

आठ कोश की होती है। (यहाँ एक कोश से अभिप्राय ४००० हाथ से है। जैनियों के अनुसार एक योजन १०००० कोस का होता है।)

योजनगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कस्तूरी। (२) सीता। (३) व्यास की माता और शांतनु की भार्या सत्यवती का एक नाम। वि० दे० "व्यास"।

योजनगंधिका—संज्ञा स्त्री० दे० "योजनगंधा"।

योजनपर्णी—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजनवल्ली—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

योजना—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) किसी काम में लगाने की क्रिया या भाव। नियुक्त करने की क्रिया। नियुक्ति। (२) प्रयोग। व्यवहार। इस्तेमाल। (३) जोड़। मिलान। मेल। मिलाप। (४) बनावट। रचना। (५) घटना। (६) स्थिति। स्थिरता। (७) व्यवस्था। आयोजन। जैसे,—उन्होंने इसकी सब योजना कर दी है।

योजनीय—वि० [सं०] (१) जो मिलाने अथवा योजना करने के योग्य हो। (२) जिसे मिलाना या जोड़ना हो।

योजन्य—वि० [सं०] योजन-संबंधी। योजन का।

योजित—वि० [सं०] (१) जिसकी योजना की गई हो। (२) जोड़ा हुआ। मिलाया हुआ। (३) नियम से बद्ध किया हुआ। नियमित। (४) रचा हुआ। बनाया हुआ। रचित। घटित।

योज्य—वि० [सं०] (१) जोड़ने के लायक़। मिलाने के योग्य, (२) व्यवहार करने के योग्य।

संज्ञा पुं० वे संख्याएँ जो जोड़ी जाती हैं। जोड़ी जानेवाली संख्याएँ। (गणित)

योत्र—संज्ञा पुं० [सं०] वह बंधन जो जुए को बैल की गरदन में जोड़ता है। जोत।

योद्धव्य—वि० [सं०] जिससे युद्ध करना हो।

योद्धा—संज्ञा पुं० [सं० योद्ध] वह जो युद्ध करता हो। युद्धकर्त्ता। भट। लड़ाका। सिपाही।

योध—संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही। वीर।

योधक—संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योधन—संज्ञा पुं० [सं०] (१) युद्ध की सामग्री। जैसे, अस्त्र-शस्त्र आदि। (२) युद्ध। रण। लड़ाई।

योधा—संज्ञा पुं० दे० "योद्धा"।

योधि बन—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्राचीन जंगल का नाम।

योधी—संज्ञा पुं० [सं० योधिन्] योद्धा। वीर।

योधेय—संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

योध्य—वि० [सं०] जिसके साथ युद्ध किया जा सके। युद्ध करने के योग्य।

योनल—संज्ञा पुं० [सं०] यवनाल। ज्वार। मक्का या जोन्हरी।

योनि—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) आकर। खानि। (२) वह जिसमें कोई वस्तु उत्पन्न हो। उत्पादक कारण। (३) उत्पत्ति स्थान। जहाँ से कोई वस्तु पैदा हो। उद्गम। (४) जल। पानी। (५) कुश द्वीप की एक नदी का नाम। (६) स्त्रियों की जननेंद्रिय। भग। (७) प्राणियों के विभाग, जातियाँ या वर्ग।

विशेष—पुराणानुसार इनकी संख्या चौरासी लाख है। कुछ लोगों के मत से अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज सब इक्कीस लाख हैं; और कहीं कहीं इनकी संख्या इस प्रकार लिखी है—

जलजंतु	...	...	...	...	नौ लाख
स्थावर	...	...	...	...	बीस लाख
कृमि	...	...	...	...	ग्यारह लाख
पक्षी	...	...	...	...	दस लाख
पशु	...	...	...	...	तीस लाख
मनुष्य	...	...	...	...	चार लाख
					कुल चौरासी लाख

यह भी कहा गया है कि जीव को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए इन सब योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। मनुष्य योनि इन सब में श्रेष्ठ और दुर्लभ मानी गई है।

(८) देह। शरीर। (९) गर्भ। (१०) जन्म। (११) गर्भाशय। (१२) अंतःकरण।

योनिकंद—संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें उसके अंदर एक प्रकार की गाँठ हो जाती है और उसमें से रक्त या पीब निकलता है।

योनिज—वि० [सं०] जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। योनि से उत्पन्न।

संज्ञा पुं० वह जीव जिसकी उत्पत्ति योनि से हुई हो। ऐसे जीव दो प्रकार के होते हैं—जरायुज और अंडज। जो जीव गर्भ में पूरा शरीर धारण करके योनि के बाहर निकलते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं; और जो अंडे से उत्पन्न होते हैं, वे अंडज कहलाते हैं।

योनिदेवता—संज्ञा पु० [सं०] पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र।

योनिदोष—संज्ञा पुं० [सं०] उपदंश रोग। गरमी। आतशक।

योनिफूल—संज्ञा पुं० [सं० योनि+हिं० फूल] योनि के अंदर की वह गाँठ जिसके ऊपर एक छेद होता है। इसी छेद में से होकर वीर्य गर्भाशय में प्रवेश करता है।

योनिभ्रंश—संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें गर्भाशय अपने स्थान से कुछ हट जाता है।

योनिमुक्त—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो बार बार जन्म लेने से मुक्त हो गया हो। जिसने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो।

योनिमुद्रा—संज्ञा स्त्री० [सं०] तांत्रिकों की एक मुद्रा जिसमें

वे पूजन के समय उँगलियों से प्रायः योनि का सा आकार बनाते हैं।

योनियंत्र-संज्ञा पुं० [सं०] कामाक्षा, गया आदि कुछ विशिष्ट तीर्थ स्थानों में बना हुआ एक प्रकार का बहुत ही संकीर्ण मार्ग, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि जो इस मार्ग से होकर निकल जाता है, उसका मोक्ष हो जाता है।

योनिवेश-संज्ञा पुं० [सं०] महाभारत के अनुसार एक देश का प्राचीन नाम जिसमें क्षत्रियों का निवास था।

योनिशूल-संज्ञा पुं० [सं०] योनि का एक रोग जिसमें बहुत पीड़ा होती है।

योनिशूलघ्नी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शतपुष्पा।

योनिसंकर-संज्ञा पुं० [सं०] वह जिसके पिता और माता दोनों भिन्न भिन्न जातियों के हों। वर्ण-संकर।

योनिसंकोचन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योनि को फैलाने और सिकोड़ने की क्रिया। (२) योनि के मुख को सिकोड़ने वा तंग करने की औषध।

विशेष—यह क्रिया अथवा इसका उपाय प्रायः संभोग-सुख के लिए किया जाता है।

योनिसंभव-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो योनि से उत्पन्न हुआ हो। योनिज।

योनिसंवरण-संज्ञा पुं० [सं०] गर्भवती स्त्रियों का एक प्रकार का रोग, जिसमें योनि का मार्ग सिकुड़ जाता है, गर्भाशय का द्वार रुक जाता है और गर्भ का मुँह बंद हो जाने से साँस रुककर बच्चा मर जाता है। इस रोग में गर्भिणी के भी मर जाने की आशंका रहती है।

योन्यर्श-संज्ञा पुं० [सं० योन्यर्शस्] योनि का एक रोग जिसमें उसके अंदर गाँठ सी हो जाती है। योनिकंद।

योम-संज्ञा पुं० [अ०] (१) दिन। रोज़। (२) तिथि। तारीख।

योरोप-संज्ञा पुं० दे० "युरोप"।

योरोपियन-संज्ञा पुं० दे० "युरोपियन"।

योषणा-संज्ञा स्त्री० [सं०] वह स्त्री जो सती और पतिव्रता न हो। दुश्चरित्रा स्त्री।

योषा-संज्ञा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योषित्-संज्ञा स्त्री० [सं०] नारी। स्त्री। औरत।

योषित्प्रिया-संज्ञा स्त्री० [सं०] हलदी।

यों*†-अव्य० दे० "यों"। उ०—पहिरत ही गोरे गरे यों दौरी दुति लाल। मनौ परसि पुलकित भई मौलसिरी की माल।—बिहारी।

यौ*†-सर्व० [हिं० यह] यह। उ०—ऐसी एक आप कहि राजा सों यौ बात कही, लैके जावौ बाग स्वामी नेकु देखौ प्रीति को।—प्रियादास।

यौक्ताश्व-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का साम।

यौक्तिक-वि० [सं०] जो युक्ति के अनुसार ठीक हो। युक्ति-युक्त। ठीक।

संज्ञा पुं० विनोद या क्रीड़ा का साथी। नर्म-सखा।

यौगंधर-संज्ञा पुं० [सं०] अस्त्रों के निष्फल करने का एक प्रकार का अस्त्र।

यौगंधरायण-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह जो युगंधर के गोत्र में उत्पन्न हुआ हो। (२) राजा उदयन के एक मंत्री का नाम।

यौग-संज्ञा पुं० [सं०] वह जो योग दर्शन के मत के अनुसार चलता हो।

यौगक-वि० [सं०] योग संबंधी। योग का।

यौगिक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) मिला हुआ। (२) प्रकृति और प्रत्यय से बना हुआ शब्द। (३) दो शब्दों से मिलकर बना हुआ शब्द। (४) अट्ठाइस मात्राओं के छंदों की संज्ञा।

यौजनिक-वि० [सं०] जो एक योजन तक जाता हो। एक योजन तक जानेवाला।

यौतक, यौतुक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह धन आदि जो विवाह के समय वर और कन्या को मिलता हो। दाइजा। जहेज। दहेज।

विशेष—ऐसे धन पर सदा बधू का ही अधिकार रहता है, घर के और लोगों का उस पर कोई अधिकार नहीं होता। यह स्त्री-धन माना जाता है।

(२) अन्न-प्राशन आदि संस्कारों के समय उसको मिलनेवाला धन, जिसका संस्कार होता हो।

यौथिक-वि० [सं०] (१) यूथ संबंधी। समूह का। (२) जो यूथ में रहता हो। झुंड बाँधकर रहनेवाला।

यौध-संज्ञा पुं० [सं०] योद्धा। सिपाही।

यौधेय-संज्ञा पुं० [सं०] (१) योद्धा। (२) प्राचीन देश का नाम। (३) प्राचीन काल की एक योद्धा जाति जो उत्तर-पश्चिम भारत में रहती थी और जिसका उल्लेख पाणिनि ने किया है। बौद्ध काल में इस जाति का बहुत जोर और आदर था। इस जाति के राजाओं के अनेक सिक्के भी पाए गए हैं। पुराणानुसार यह जाति युधिष्ठिर के वंशजों से उत्पन्न हुई थी (४) युधिष्ठिर का पुत्र जो राजा शैब्य का दौहित्र था।

यौन-वि० [सं०] योनि संबंधी। योनि का।

संज्ञा पुं० उत्तरापथ की एक प्राचीन जाति का नाम जिसका उल्लेख महाभारत में है। कदाचित् ये लोग यवन जाति के थे।

यौवत-संज्ञा पुं० [सं०] (१) स्त्रियों का समूह। (२) लास्य नृत्य का दूसरा भेद। वह नृत्य जिसमें बहुत सी नटियाँ मिल कर नाचती हों।

यौवन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अवस्था का वह मध्य भाग जो बाल्यावस्था के उपरांत आरंभ होता है और जिसकी समाप्ति पर वृद्धावस्था आती है। इस अवस्था के अच्छी तरह आ चुकने पर प्रायः शारीरिक बाढ़ रुक जाती है और शरीर बलवान तथा हृष्ट हो जाता है। साधारणतः यह अवस्था १६ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक मानी जाती है। (२) युवा होने का भाव। तारुण्य। जवानी। (३) दे० "जोबन"। (४) युवतियों का दल।

यौवनकंटक–संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा, जो युवावस्था में होता है।

यौवनपिड़का–संज्ञा पुं० [सं०] मुँहासा।

यौवनलक्षण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लावण्य। नमक। (२) स्त्रियों की छाती। स्तन। कुच।

यौवनाधिरूढ़ा–वि० [सं०] युवती। जवान (स्त्री)।

यौवनाश्व–संज्ञा पुं० [सं०] मांधाता राजा का एक नाम। वि० दे० "मांधाता"।

यौवनिक–वि० [सं०] यौवन संबंधी। यौवन का।

यौवनोद्भव–संज्ञा पुं० [सं०] कामदेव।

यौवराजिक–वि० [सं०] युवराज संबंधी। युवराज का।

यौवराज्य–संज्ञा पुं० [सं०] (१) युवराज होने का भाव। (२) युवराज का पद।

यौवराज्याभिषेक–संज्ञा पु० [सं०] वह अभिषेक और उसके संबंध का कृत्य तथा उत्सव आदि जो किसी के युवराज बनाए जाने के समय हो। युवराज के अभिषेक कृत्य।

र

र–हिंदी वर्णमाला का सत्ताईसवाँ व्यंजन जिसका उच्चारण जीभ के अगले भाग को मूर्द्धा के साथ कुछ स्पर्श कराने से होता है। यह स्पर्श वर्ण और ऊष्म वर्ण के मध्य का वर्ण है। इसका उच्चारण स्वर और व्यंजन का मध्यवर्त्ती है; इसलिए इसे अंतस्थ वर्ण कहते हैं। इसके उच्चारण में संवार, नाद और घोष नामक प्रयत्न होते हैं।

रंक–वि० [सं०] धनहीन। गरीब। दरिद्र। कंगाल। उ०—(क) बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।—सूर। (ख) ऊँचे नीचे बीच के धनिक रंक राजा राय हठनि बजाय करि डीठि पीठि दई है।—तुलसी। (२) कृपण। कंजूस। (३) सुस्त। काहिल। आलसी।

रंकु–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का हिरन जिसकी पीठ पर सफेद चित्तियाँ होती हैं।

रंग–संज्ञा पुं० [सं०] (१) राँगा नामक धातु। (२) नृत्य-गीत आदि। नाचना गाना।

यौ०—नाच रंग। जैसे,—वहाँ आजकल खूब नाच रंग हो रहा है।

(३) वह स्थान जहाँ नृत्य या अभिनय होता हो। नाचने, गाने, नाटक करने आदि के लिए बनाया हुआ स्थान।

यौ०—रंगमंच। रंगभूमि। रंगद्वार। रंगदेवता आदि।

(४) युद्धस्थल। रणक्षेत्र। लड़ाई का मैदान। (५) खदिर-सार। (६) किसी दृश्य पदार्थ का वह गुण जो उसके आकार से भिन्न होता है और जिसका अनुभव केवल आँखों से ही होता है। वर्ण।

विशेष—जब किसी पदार्थ पर पहले पहल हमारी दृष्टि जाती है, तब प्रायः हमें दो ही बातों का ज्ञान होता है। एक तो उसके आकार का और दूसरा उसके रंग का। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि रंग वास्तव में प्रकाश की किरणों में ही होता है; और वस्तुओं के भिन्न भिन्न रासायनिक गुणों के कारण ही हमारी आँखों को उनका अनुभव वस्तुओं में होता है। जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है, तब उस प्रकाश के तीन भाग होते हैं। पहला भाग तो परावर्त्तित हो जाता है; दूसरा वर्त्तित हो जाता है; और तीसरा उस वस्तु के द्वारा सोख लिया जाता है। परंतु सब वस्तुओं में ये गुण समान रूप में नहीं होते; किसी में कम और किसी में अधिक होते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनमें से प्रकाश परावर्त्तित होता ही नहीं, या तो वर्त्तित होता है या सोख लिया जाता है; जैसे, शुद्ध जल। ऐसे पदार्थ प्रायः बिना रंग के दिखाई देते हैं। जिन पदार्थों पर पड़नेवाला सारा प्रकाश परावर्त्तित हो जाता है, वे श्वेत दिखाई पड़ते हैं। और जो पदार्थ अपने ऊपर पड़नेवाला समस्त प्रकाश सोख लेते हैं, वे काले होते या दिखाई देते हैं।

प्रकाश का विश्लेषण करने से उसमें अनेक रंगों की किरणें मिलती हैं, जिनमें ये सात रंग मुख्य हैं—बैंगनी, नील, श्याम या आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल। जब ये सातों रंग मिलकर एक हो जाते हैं, तब हम उसे सफेद कहते हैं; और जब इन सातों में से एक भी रंग नहीं रहता, तब हम उसे काला कहते हैं। अब यदि किसी ऐसे पदार्थ पर श्वेत प्रकाश पड़े, जिसमें लाल किरणों को छोड़ कर और सब रंगों की किरणों को सोख लेने की शक्ति हो, तो स्वभावतः प्रकाश का केवल लाल ही अंश उस पर बच रहेगा; और उस दशा में हम उस पदार्थ को लाल रंग का

कहेंगे। अर्थात् प्रत्येक वस्तु हमें उसी रंग की देख पड़ती है, जिस रंग को वह न तो सोख सकती है और न वर्त्तित करती है, बल्कि जिसे वह परावर्त्तित करती है। कुछ रंग ऐसे भी होते हैं, जिनके मिलने से सफेद रंग बनता है। ऐसे रंग एक दूसरे के परिपूरक कहलाते हैं। जैसे,—यदि हरित-पीत रंग के प्रकाश के साथ ही लाल रंग का प्रकाश भी पहुँचने लगे, तो उस दशा में हमें सफेद रंग दिखाई पड़ेगा। इसलिए लाल और हरित-पीत दोनों एक दूसरे के परिपूरक रंग हैं। प्रायः दो रंगों के मिलने से एक नया तीसरा रंग भी पैदा हो जाता है; जैसे,—लाल और पीले के मिलने से नारंगी रंग बनता है। परंतु ये सब बातें केवल प्रकाश की किरणों के संबंध में हैं; बाजार में मिलने-वाली बुकनियों के संबंध में नहीं हैं। दो प्रकार की बुकनियों को एक साथ मिलाने से जो परिणाम होगा, वह दो रंगों की प्रकाश-किरणों को मिलाने के परिणाम से कभी कभी बिलकुल भिन्न होगा। इसका कारण यह है कि जब हम दो प्रकार की बुकनियों को एक में मिलाते हैं, उस समय हम वास्तव में एक रंग में दूसरा रंग जोड़ते नहीं हैं, बल्कि एक रंग में से दूसरा रंग घटाते हैं। जिस रंग की किरण को एक बुकनी परावर्त्तित करती है, उसे दूसरी बुकनी सोख लेती है। इसीलिए बुकनियों के संबंध में जो नियम हैं, वे प्रकाश की किरणों के संबंध के नियमों से भिन्न हैं।

(७) कुछ विशिष्ट रासायनिक क्रियाओं से बनाया हुआ वह पदार्थ जिसका व्यवहार किसी चीज को रँगने या रंगीन बनाने के लिए होता है। वह चीज जिसके द्वारा कोई चीज रँगी जाय या जिससे किसी चीज पर रंग चढ़ाया जाय।

विशेष—बाज़ारों में प्रायः अनेक प्रकार के कार्य्यों के लिए अनेक रूपों में बने बनाए रंग मिलते हैं, जिनका व्यवहार चीजों को रँगने या चित्रित करने के लिए होता है। जैसे, कपड़े रँगने का रंग, लकड़ी पर चढ़ाने का रंग, तसवीर बनाने का रंग आदि।

क्रि० प्र०—करना।—चढ़ना।—चढ़ाना।—पोतना।—होना।

यौ०—**रंग-बिरंगा**=जिसमें अनेक प्रकार के रंग हों। तरह तरह के रंगोंवाला। उ०—**रंग-बिरंग एक पक्षी बना। छोटी चोंच और काटें घना।** (पहेली)

मुहा०—**रंग आना या चढ़ना**=रंग अच्छी तरह लग जाना या प्रकट होना। **रंग उड़ना या उतरना**=धूप या जल आदि के संसर्ग से रंग का बिगड़ जाना या फीका पड़ जाना। **रंग खेलना**=होली के दिनों में पानी में रंग घोलकर एक दूसरे पर डालना। **रंग डालना या फेंकना**=(होली में) पानी में रंग घोलकर किसी पर डालना। **रंग निखरना**=रंग का शोख या चटकीला होना।

यौ०—**रंगदार**।

(८) **शरीर का ऊपरी वर्ण। बदन और चेहरे की रंगत। वर्ण।**

मुहा०—**(चेहरे का) रंग उड़ना या उतरना**=भय या लज्जा से चेहरे की रौनक का जाता रहना। चेहरा पीला पड़ना। कांतिहीन होना। **रंग निकलना**=दे० "रंग निखरना"। **रंग निखरना**=चेहरे के रंग का साफ होना। चेहरा साफ और चमकदार होना। चेहरे पर रौनक आना। **रंग फ़क़ होना**=दे० "रंग उड़ना"। **रंग बदलना**=लाल पीला होना। खफ़ा होना। क्रुद्ध होना। नाराज होना। **जैसे,—आप तो नाहक हम पर रंग बदल रहे हैं।**

(९) **यौवन। जवानी। युवावस्था।**

क्रि० प्र०—आना।—चढ़ना।—होना।

मुहा०—**रंग चूना**=युवावस्था का पूर्ण विकास होना। यौवन उमड़ना। **रंग टपकना**=दे० "रंग चूना"।

(१०) **शोभा। सौंदर्य्य। रौनक़। छवि।**

क्रि० प्र०—आना।—उतरना।—चढ़ना।—दिखाना।—होना।

मुहा०—**रंग पकड़ना**=रौनक़ या बहार पर आना। **रंग पर आना**=दे० "रंग पकड़ना"। **रंग फीका पड़ना या होना**=रौनक़ कम हो जाना। शोभा का घट जाना। **रंग बरसना**=अत्यंत शोभा होना। खूब रौनक होना। उ०—**सखी, सचमुच आज तो इस कदंब के नीचे रंग बरस रहा है।—हरिश्चंद्र। रंग है**—शाबाश। वाह वा। क्या बात है।

(११) **प्रभाव। असर।**

मुहा०—**रंग चढ़ना**=प्रभाव पड़ना। असर पड़ना। **जैसे,—इस लड़के पर भी अब नया रंग चढ़ रहा है। रंग जमना**=प्रभाव पड़ना। असर पड़ना।

(१२) **दूसरे के हृदय पर पड़नेवाली शक्ति, गुण या महत्त्व का प्रभाव। धाक। रोब।**

मुहा०—**रंग जमना**=धाक जमना। अनुकूल स्थिति उत्पन्न होना। उ०—**दोनों ने समझा कि रंग जैसा चाहिए, वैसा जम गया।—अयोध्या०। रंग उखड़ना**=धाक न रहना। स्थिति प्रतिकूल होना। दूसरों पर महत्त्व आदि का प्रभाव न रह जाना। **जैसे,—पहले यहाँ उसे बहुत आमदनी थी; पर अब रंग उखड़ गया। रंग जमाना**=प्रभाव डालना। धाक बाँधना। **रंग फीका रहना**=पूरा पूरा प्रभाव न पड़ना। **रंग बँधना**=रोब जमना। धाक बँधना। **रंग बाँधना**=(१) अपना महत्त्व दूसरे के हृदय में स्थापित करना। रोब गाँठना। धाक जमाना। उ०—**भाई मुझे तो एक दिन के लिए भी कहीं तख़्त मिल जाय, तो रंग बाँध दूँ।—राधाकृष्णदास।** (२) झूठा आडंबर रचना। ढोंग रचना। **रंग बिगड़ना**=रोब जाता रहना। प्रभाव नष्ट या कम हो जाना। **रंग बिगाड़ना**=(१)

प्रभाव नष्ट करना। महत्त्व घटाना। (२) शेखी किरकिरी करना। **रंग लाना**=अपना प्रभाव या गुण दिखलाना।

(१३) क्रीड़ा। कौतुक। खेल। आनंद-उत्सव। उ०—(क) दिन में सब लोग राग, रंग, नृत्य, दान, भोजन, पान इत्यादि में नियुक्त थे। (ख) बर अंग रंग करिबे चह्यौ मनहि सुढंग उमंग में।—गोपाल।

यौ०—रंग-रलियाँ=आमोद-प्रमोद। मौज। चैन।

क्रि० प्र०—करना।—मनाना।

मुहा०—रंग रलना=आमोद-प्रमोद करना। क्रीड़ा या भोग-विलास करना। उ०—भाव ही कह्यौ मन भाव दृढ़ राखिबो दे सुख तुमहिं सँग रंग रलिहैं।—सूर। **रंग में भंग पड़ना**=आमोद-प्रमोद के बीच कोई दुःख की बात आ पड़ना। हँसी और आनंद में विघ्न पड़ना।

(१४) युद्ध। लड़ाई। समर।

मुहा०—रंग मचाना=रण में खूब युद्ध करना। उ०—चढ़ि देहि समर उत्तर परन उत्तरद्वार मचाय रँग।—गोपाल।

(१५) मन की उमंग या तरंग। मन का वेग या स्वच्छंद प्रवृत्ति। मौज। उ०—(क) रत्नजटित किंकिणि पग नूपुर अपने रंग बजावहु।—सूर। (ख) अपने अपने रंग में सब रँगे हैं, जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है।—हरिश्चंद्र। (ग) चढ़े रंग सफजंग के हिंदू तुरुक अमान। उमड़ि उमड़ि दुहुँ दिस लगे कौरन लोहौ खान।—लाल।

मुहा०—(किसी के) रंग में ढलना=किसी के कहने या विचार के अनुसार कार्य करने लगना। किसी के प्रभाव में आना। उ०—तुरत मन सुख मानि लीन्हो नारि तेहि रँग ढरी।—सूर।

(१६) आनंद। मजा। उ०—(क) बहुत झरिया लागे संग। दाम न खरचैं लूटैं रंग।—देवस्वामी। (ख) खान पान सनमान राग रँग मनहिं न भावै।—गिरिधर। (ग) मोकों व्याकुल छाँड़िकै आपुन करैं जु रंग।—सूर।

विशेष—इस अर्थ में इस शब्द का और इसके मुहावरों का प्रयोग प्रायः नशे के संबंध में भी होता है।

मुहा०—रंग आना=मजा मिलना। आनंद मिलना। **रंग उखड़ना**=बने हुए आनंद का अचानक घटना या नष्ट हो जाना। **रंग जमना**=आनंद का पूर्णता पर आना। खूब मजा होना। **रंग मचाना**=धूम मचाना। उ०—असवारी में रंग मचावै। मन के संग तुरंग नचावै।—लाल। **रंग में भंग करना**=पूर्ण आनंद के समय उसमें विघ्न उपस्थित करना। बना बनाया मजा बिगाड़ना। **रंग रचाना**=उत्सव करना। जलसा करना।

(१७) दशा। हालत। उ०—कबहुँ नहिं यहि भाँति देख्यो, आज को सो रंग।—सूर।

मुहा०=रंग लाना=दशा उपस्थित करना। हालत करना। जैसे,—तुम्हारी ही शरारत यह सब रंग लाई है।

(१८) अद्भुत व्यापार। कांड। दृश्य। जैसे,—यह सब रंग उन्हीं की कृपा का फल है। (१९) प्रसन्नता। कृपा। दया। मेहरबानी। उ०—हम चाकर कलिराज के वृथा करत हौ दोष। ताकी मरजी को तकै करत रंग औ रोष।—गुमान। (२०) प्रेम। अनुराग। उ०—(क) जब हम रँगी श्याम के रंग। तब लिखि पठवा ज्ञान प्रसंगा।—रघुनाथदास। (ख) देखु जरनि जड़ नारि की जरत प्रेत के संग। चिता न चित फीको भयो रची जु पिय के रंग।—सूर। (ग) ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते।—तुलसी। (ख) गोरिन के रँग भींजिगो साँवरो साँवरे के रँग भींजी सु गोरी।—पद्माकर।

मुहा०—रंग देना=किसी को अपने प्रेम-पाश में फँसाने के लिए उसके प्रति प्रेम प्रकट करना। (बाजारू)

(२१) ढंग। ढब। चाल तर्ज उ०—(क) राजभवनाभ्यंतर तो यह उपकरण था और बाहर नभ-मंडल का और ही रंग दिखलाई देता था।—अयोध्यासिंह। (ख) जो तुम राजी हो इस रंग। तो खेलो फाग हमारे संग।—लल्लूलाल। (ग) त्यों पदमाकर यों मग में रँग देखत हौं कब को रुख राखे।—पद्माकर। (घ) हमारा प्रधान शासक न विक्रम के रंग ढंग का है, न हारूँ या अकबर के। उसका रंग ही निराला है।—बालमुकुंद। (ङ) सुनु जानकी कुरंगनैनी होय न कुरंग यह बड़ोई कुरंग है।—हृदयराम।

यौ०—रंग-ढंग=(१) दशा। हालत। (२) चाल-ढाल। तौर-तरीका। (३) व्यवहार। बरताव। जैसे,—आजकल उसके रंग-ढंग अच्छे नहीं दिखाई देते। (४) ऐसी बात जिससे किसी दूसरी बात का अनुमान हो। लक्षण। जैसे,—आसमान के रंग-ढंग से तो मालूम होता है कि आज पानी बरसेगा।

मुहा०—*रंग काछना=चाल चलना। ढंग अख्तियार करना। उ०—सूर श्याम जितने रँग काछत युवती जन मन के गोऊ हैं।—सूर। **(किसी को अपने) रंग में रँगना**=किसी को अपने ही विचारों का बना लेना। अपना सा कर लेना।

(२२) भाँति। प्रकार। तरह। उ०—दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल। प्रगटत निरगुन निकट रहि चंगरंग भूपाल।—बिहारी। (२३) चौपड़ की गोटियों के, खेल के काम के लिए किए हुए, दो कृत्रिम विभागों में से एक।

विशेष—चौपड़ की कुल गोटियाँ १६ होती हैं, जो चार रंगों में विभक्त होती हैं। इनमें से विशिष्ट दो रंग की आठ गोटियाँ "रंग" और शेष दो रंगों की आठ गोटियाँ "बद रंद" कहलाती हैं।

मुहा०—रंग जमना=चौपड़ में रंग की गोटी का किसी अच्छे और उपयुक्त घर में जा बैठना, जिसके कारण खेलाड़ी की जीत

अधिक निश्चित हो जाता है। **रंग मारना**=बाजी जीतना। विजय पाना। उ०—(क) यह होंठ जो कि पोपले यारो हैं हमारे इन होंठों ने बोसों के बड़े रंग हैं मारे।—नज़ीर। (ख) इश्क़बाज़ी के लिए हमने बिछाई चौसर। पासा गिरते ही गोया रंग हमारा मारा।

रंगई†–संज्ञा पुं० [हिं० रंग+ई (प्रत्य०)] धोबियों के अंतर्गत एक जाति जो केवल छपे हुए कपड़े धोने का काम करती है।

रंगकाष्ठ–संज्ञा पुं० [सं०] पतंग नाम की लकड़ी। बक्कम।

रंगक्षेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) अभिनय करने का स्थान। रंग-स्थल। नाट्यभूमि। (२) किसी उत्सव आदि के लिए सजाया हुआ स्थान।

रंगगृह–संज्ञा पुं० [सं०] रंगभूमि। नाट्यस्थल।

रंगचर–संज्ञा पुं० [सं०] नाटक में अभिनय करनेवाला। नट।

रंगज–संज्ञा पुं० [सं०] सिंदूर।

रंगजननी–संज्ञा स्त्री० [सं०] लाक्षा। लाख।

रंगजीवक–संज्ञा पुं० [सं०] (१) चित्रकार। मुसव्वर। (२) वह जो अभिनय करता हो। नट।

रंगत–संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग+त (प्रत्य०)] (१) रंग का भाव। जैसे,—इसकी रंगत कुछ काली पड़ गई है। (२) मजा। आनंद। जैसे,—जब आप वहाँ पहुँचेंगे, तभी रंगत आवेगी।

क्रि० प्र०—खिलाना।—खुलना।—जमना।

मुहा०—**रंगत आना** मजा होना। आनन्द होना।

(३) हालत। दशा। अवस्था। जैसे,—आजकल उनकी रंगत अच्छी नहीं है।

रंगतरा–संज्ञा पुं० [हिं० रंग] एक प्रकार की बड़ी और मीठी नारंगी। संगतरा।

रंगद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सोहागा। (२) खदिरसार।

रंगदलिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] नागवल्ली लता। नागबेल।

रंगदा–संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी।

रंगदायक–संज्ञा पुं० [सं०] कंकुष्ठ नाम की पहाड़ी मिट्टी।

रंगदृढ़ा–संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी, जिससे रंग पक्का होता है।

रंगदेवता–संज्ञा पुं० [सं०] वह कल्पित देवता जो रंगभूमि के अधिष्ठाता माने जाते हैं।

रंगन–संज्ञा पुं० [देश०] एक प्रकार का मझोला वृक्ष। इसके हीर की लकड़ी कड़ी, चिकनी और मजबूत होती है और इमारत के काम में आती है। बंगाल, मध्य प्रदेश और मदरास में यह पेड़ बहुतायत से होता है। इसे 'कोटा गंधल' भी कहते हैं।

रंगना–क्रि० स० [हिं० रंग+ना (प्रत्य०)] (१) किसी वस्तु पर रंग चढ़ाना। रंग में डुबाकर अथवा रंग चढ़ाकर किसी चीज़ को रंगीन करना। जैसे, कपड़ा रंगना। किवाड़े रंगना।

संयो० क्रि०—डालना।—देना।

(२) किसी को अपने प्रेम में फँसाना। (३) अपने कार्य्य-साधन के अनुकूल करने के लिए बातचीत का प्रभाव डालना। अपने अनुकूल करना। अपना सा बनाना। उ०—लाज गही मुख खोलै न बोलै कियो रघुनाथ उपाय दुनी को। कोटि रँगै नहिं एक लगै जिमि सूम के आगे सयान गुनी को।—रघुनाथ।

क्रि० अ० किसी के प्रेम में लिप्त होना। किसी पर आसक्त होना। उ०—(क) जनम तासु को सुफल जो रँगै राम के रंग।—रघुनाथदास। (ख) संतन के उपदेश तें रँग्यो कछुक हरि रंग।—रघुराज।

संयो० क्रि०—जाना।

रंगपत्री–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष।

रंगपुरी–संज्ञा स्त्री० [रंगपुर=बंगाल का एक नगर] एक प्रकार की छोटी नाव जिसके दोनों ओर की गलही एक सी होती है।

रंगपुष्पी–संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष।

रंगप्रवेश–संज्ञा पुं० [सं०] अभिनय करने के लिए किसी पात्र का रंगभूमि में आना।

रंगबदल–संज्ञा पुं० [हिं० रंग+बदलना] हल्दी। (साधू)

रंगबिरंग–वि० [हिं० रंग+बिरंग (अनु०)] (१) कई रंगों का। (२) भाँति भाँति के। तरह तरह के। अनेक प्रकार के। जैसे,—(क) उनके पास रंग बिरंग कपड़े हैं। (ख) माँ टेनी और बाप कुलंग उनके बच्चे रंग बिरंग।

रंगबिरंगा–वि० [हिं० रंगबिरंग] (१) अनेक रंगों का। कई रंगों का। चित्रित। (२) तरह तरह का। अनेक प्रकार का।

रंगभरिया†–संज्ञा पुं० [हिं० रंग+भरना] छत, किवाड़े, दीवार इत्यादि पर रंगों से चित्रकारी करनेवाला। रंग करने-वाला। रंगसाज।

रंगभवन–संज्ञा पुं० [सं०] आमोद-प्रमोद वा भोगविलास करने का स्थान। रंगमहल।

रंगभूति–संज्ञा स्त्री० [सं०] कोजागर पूर्णिमा। आश्विन की पूर्णिमा।

विशेष—कहते हैं कि जो लोग इस रात को जागते रहते हैं, उन्हें लक्ष्मी आकर धन देती हैं।

रंगभूमि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वह स्थान जहाँ कोई जलसा हो। उत्सव मनाने का स्थान। उ०—(क) रंगभूमि आये दोउ भाई। अस सुधि सब पुरबासिन पाई। (ख) ऐहैं रंग-भूमि चलि जबहीं। मल्ल युद्ध करि मारब तबहीं।—रघु-नाथदास। (२) खेल, कूद वा तमाशे आदि का स्थान। क्रीड़ास्थल। उ०—रंगभूमि रमणीक मधुपुरी बारि चढ़ाइ कहो दह कीजो।—सूर। (३) नाटक खेलने का स्थान।

नाट्यशाला। रंगस्थल। (४) वह स्थान जहाँ कुश्ती होती हो। अखाड़ा। (५) रणभूमि। युद्धक्षेत्र।

रंगमंडप-संज्ञा पुं० [सं०] रंगभूमि। रंगस्थल।

रंगमध्य-संज्ञा पुं० [सं०] रंगमंच। रंगस्थल।

रंगमल्ली-संज्ञा स्त्री० [सं०] वीणा। बीन।

रंगमहल-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+अ० महल] भोग-विलास करने का स्थान। आमोद प्रमोद करने का भवन। उ०—बैठी रंगमहल में राजति। प्यारी फेरि अभूषण साजति।—सूर।

रंगमाता-संज्ञा स्त्री० [सं० रंगमातृ] (१) कुटनी। (२) लाख। लाक्षा।

रंगमातृका-संज्ञा स्त्री० [सं०] लाक्षा। लाख।

रंगमार-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+मारना] ताश का एक खेल जो दो, तीन अथवा चार आदमियों में खेला जाता है। इसमें एक एक करके सब खेलनेवालों को बराबर बराबर पत्ते बाँट दिए जाते हैं और तब खेल होता है। इसमें जिस रंग का जो पत्ता चला जाता है, उसी रंग के उससे बड़े पत्ते से वह जीता जाता है। यह ताश का सब से सीधा खेल है।

रंगरली-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग+रलना] आमोद-प्रमोद। आनंद। क्रीड़ा। चैन। मौज। उ०—कुढंग कोप तजि रँगरली करति जुवति जग जोइ। पावस बात न गूढ़ यह बूढ़नि हू रँग होइ।—बिहारी।

मुहा०—रंगरलियाँ मचाना या करना=आनंद मंगल और आमोद प्रमोद करना। उ०—(क) तुम्हारे यही दिन हँसने बोलने और रंगरलियाँ करने के हैं।—अयोध्या०। (ख) तमाम शहर में हर सू मची है रँग रलियाँ। गुलाल अबीर से गुलज़ार हैं सभी गलियाँ।—नज़ीर।

रंगरस-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+रस] आमोद प्रमोद। आनंद मंगल। उ०—सुघराई के गरब भरी जानति सब रँग रस। —व्यास

रंगरसिया-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+रसिया] भोग-विलास करनेवाला व्यक्ति। विलासी पुरुष।

रंगराज-संज्ञा पुं० [सं०] संगीत दामोदर के अनुसार ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद।

रँगरूट-संज्ञा पुं० [अं० रिक्रूट] (१) सेना या पुलिस आदि में नया भर्ती होनेवाला सिपाही। (२) किसी काम में पहले पहल हाथ डालनेवाला आदमी। वह आदमी जो कोई काम सीखने लगा हो। जिसने कोई नया काम करना शुरू किया हो। वह जिसे कार्य्य का अनुभव न हो। जैसे,—वह अभी व्याख्यान देना क्या जानें, बिलकुल रंगरूट हैं।

रँगरेज़-संज्ञा पुं० [फ़ा] [स्त्री० रँगरेजिन] कपड़े रँगनेवाला। वह जो कपड़े रँगने का काम करता हो।

रंगरेली†-संज्ञा स्त्री० दे० "रंगरली"। उ०—भैंसन देहु करन रँगरेली। सींग पखारि कुंड बिच केली।—लक्ष्मणसिंह।

रँगरैनी†-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग+रैनी=जुगनू] एक प्रकार की लाल रंग की चुनरी।

रंगलता-संज्ञा स्त्री० [सं०] आवर्त्तकी लता। मरोड़फली।

रंगलासिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] शेफालिका।

रंगवल्लिका-संज्ञा स्त्री० [सं०] रंगवल्ली। नागवल्ली।

रँगवा†-संज्ञा पुं० [देश०] चौपायों का एक रोग।

रँगवाई-संज्ञा स्त्री० दे० "रँगाई"।

रँगवाना-क्रि० स० [हिं० रँगना का प्रेर० रूप] रँगने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को रँगने में प्रवृत्त करना।

रंगविद्याधर-संज्ञा पुं० [सं०] (१) ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद। इसमें दो खाली और दो प्लुत मात्राएँ होती हैं। (२) वह जो अभिनय करता हो। नट। (३) वह जो नाचने में कुशल हो।

रंगवीज-संज्ञा पुं० [सं०] चाँदी।

रंगशाला-संज्ञा स्त्री० [सं०] नाटक खेलने का स्थान। नाट्यशाला। रंगस्थल।

रंगसाज़-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मेज, कुरसी, किवाड़, दीवार इत्यादि पर रंग चढ़ानेवाला। वह जो चीज़ों पर रंग चढ़ाता हो। (२) उपकरणों से रंग तैयार करनेवाला। रंग बनानेवाला।

रंगसाज़ी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] रंगसाज का काम। रँगने का काम।

रंगागा-संज्ञा स्त्री० [सं०] फिटकरी।

रँगाई-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग+आई (प्रत्य०)] (१) रँगने का काम। रँगने की क्रिया। (२) रँगने का भाव। जैसे,—इसकी रँगाई बहुत अच्छी हुई है। (३) रँगने की मजदूरी।

रंगांगण-संज्ञा पुं० [सं०] रंगस्थल। नाट्यशाला।

रंगाजीव-संज्ञा पुं० [सं० रंगाजीविन्] वह जिसकी जीविका रँगाई से चलती हो। रंगसाज या रँगरेज।

रँगाना-क्रि० स० [हिं० रँगना का प्रेर० रूप] रँगने का काम दूसरे से कराना। दूसरे को रँगने में प्रवृत्त करना।

रंगाभरण-संज्ञा पुं० [सं०] ताल के साठ मुख्य भेदों में से एक भेद।

रंगार-संज्ञा पुं० [देश०] (१) वैश्यों की एक जाति का नाम। (२) राजपूतों की एक जाति। इस जाति के लोग मेवाड़ और मालवे में रहते हैं। (३) मध्य तथा दक्षिण भारत में रहनेवाली एक जाति। इस जाति के लोग अपने आपको ब्राह्मणों के अंतर्गत बतलाते और खेती-बारी करते हैं।

रंगारि-संज्ञा पुं० [सं०] करवीर। कनेर।

रंगालय-संज्ञा पुं० [सं०] वह स्थान जहाँ पर नाटक, कुश्ती या इसी प्रकार का और कोई खेल तमाशा हो। रंगभूमि।

रँगावट-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंग+आवट (प्रत्य०)] रँगने का भाव। रँगाई।

रंगावतारक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रँगरेज़। (२) अभिनय करनेवाला। नट।

रंगावतारी-संज्ञा पुं० [सं० रंगावतारिन्] अभिनय करनेवाला। नट।

रँगिया†-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+इया (प्रत्य०)] (१) कपड़े रँगनेवाला। रँगरेज़। (२) रंगसाज़।

रंगी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शतमूली। (२) कैवर्त्तिका नाम की लता। विशेष। दे० "कैवर्त्तिका"।

वि० [हिं० रंग+ई (प्रत्य०)] आनंदी। मौजी। विनोदशील।

रंगीन-वि० [फ़ा०] (१) जिस पर कोई रंग चढ़ा हो। रँगा हुआ। रंगदार। (२) विलास-प्रिय। आमोद-प्रिय। जैसे, रंगीन तबीयत, रंगीन आदमी। (३) जिसमें कुछ अनोखापन हो। चमत्कारपूर्ण। मज़ेदार। जैसे, रंगीन इबारत, रंगीन बातचीत।

रंगीनी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) रंगीन होने का भाव। (२) सजावट। बनाव सिंगार। (३) बाँकापन। (४) रसिकता। रँगीलापन।

रंगीरेटा-संज्ञा पुं० [देश०] एक जंगली वृक्ष जो दारजिलिंग में अधिकता से होता है। इसकी लकड़ी बहुत मज़बूत होती है और इमारत बनाने के काम में आती है। इससे मेज़, कुरसी आदि भी बनाई जाती है।

रँगीला-वि० [हिं० रंग+ईला (प्रत्य०)] [स्त्री० रँगीली] (१) आनंदी। मौजी। रसिया। रसिक। उ०—श्याम रँग रँगे रँगीले नैन।—सूर। (२) सुंदर। ख़ूबसूरत। जैसे, रँगीला जवान। उ०—कहै पदमाकर एते पैयो रँगीलो रूप देखे बिन देखे कहौ कैसे धीर धारिये।—पद्माकर। (३) प्रेमी। अनुरागी।

रँगीली टोड़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रँगीला+टोड़ी (रागिनी)] संपूर्ण जाति की एक रागिनी जिसमें सब शुद्ध स्वर लगते हैं। यह टोड़ी रागिनी का एक भेद है।

रँगैया†-संज्ञा पुं० [हिं० रंग+ऐया (प्रत्य०)] रँगनेवाला।

रंगोपजीवी-संज्ञा पुं० [सं० रंगोपजीविन्] वह जो रंगशाला में अभिनय करके अपनी जीविका का निर्वाह करता हो। नट।

रंच, रंचक*-वि० [सं० न्यंच, प्र० णंच] थोड़ा। अल्प। तनिक। उ०—(क) बंचन मेरो कियो सजनी यह रंचन न प्यारे दया मन कीन्ही।—सुंदर। (ख) प्रदुमन लरे ससदस दो दिन रंच हार नहिं माने।—सूर (ग) रंच न साध सुधै सुख की बिन राधिकै आधिक लाच न डाटे।—केशव। (घ) हिय अंचक रीति रची जब रंचक लाइ लई उर नाह तहीं।—केशव। (ङ) संग लिए विधु बैनी बधू रति हूँ जेहि रंचक रूप दियो है।—तुलसीदास।

रंज-संज्ञा पुं० [फ़ा०] [वि० रंजीदा] (१) दुःख। खेद। (२) शोक।

क्रि० प्र०—उठाना।—करना।—झेलना।—देना।—पहुँचना।—पहुँचाना।—सहना।

रंजक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रंगसाज। (२) रँगरेज। (३) हिंगुल। ईंगुर। (४) सुश्रुत के अनुसार पेट की एक अग्नि जो पित्त के अंतर्गत मानी जाती है। कहते हैं कि यह यकृत और प्लीहा के बीच में रहती है; और भोजन से जो रस उत्पन्न होता है, उसे रंजित करती है। (५) भिलावाँ। (६) मेंहदी।

वि० [सं०] (१) रँगनेवाला। जो रँगे। (२) आनंददकारक। प्रसन्न करनेवाला। जैसे, मनोरंजक।

संज्ञा स्त्री० [हिं० रंच=अल्प (१) वह थोड़ी सी बारूद जो बत्ती लगाने के वास्ते बंदूक की प्याली पर रखी जाती है। उ०—कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे रंजक दगनि मानो अगिनि रिसाने की।—भूषण।

क्रि०प्र०—देना।—भरना।

मुहा०—रंजक उड़ाना=(१) बंदूक या तोप की प्याली में बत्ती लगाने के लिए बारूद रखकर जलाना। (२) पादना। (बाजारू) रंजक चाट जाना=तोप या बंदूक की प्याली में रखी हुई बारूद का योंही जलकर रह जाना और उससे गोला या गोली न छूटना। रंजक पिलाना=तोप या बंदूक की प्याली में रंजक रखना।

(२) गाँजे, तमाखू या सुलफे का दम। (बाज़ारू)

मुहा०—रंजक देना=गाँजे आदि का दम लगाना।

(३) वह बात जो किसी को भड़काने या उत्तेजित करने के लिए कही जाय। (४) कोई तीखा या चटपटा चूर्ण।

रंजन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रँगने की क्रिया। (२) चित्त को प्रसन्न करने की क्रिया। (३) पित्त। सफरा। (४) रक्त चंदन। लाल चंदन। (५) छप्पय छंद के पचासवें भेद का नाम। (६) वे पदार्थ जिनसे रंग बनते हैं। जैसे,—हल्दी, नील, लाल चंदन, कुसुम, मजीठ इत्यादि। (७) मूँज। (८) सोना। (९) जायफल। (१०) कमीला वृक्ष।

रंजनक-संज्ञा पुं० [सं०] कटहल।

रंजनकेशी-संज्ञा स्त्री० [सं०] नीली वृक्ष।

रंजना*-क्रि० स० [सं० रंजन] (१) प्रसन्न करना। आनंदित करना। (२) भजना। स्मरण करना। उ०—आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोऊ।—सूर। (३) रँगना। उ०—यों सब के तन आनन में झलकी अरुणोदय की अरुनाई। अंतरते जनु रंजन को रजपूतन की रज ऊपर आई।—केशव।

रंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) ऋषभ स्वर की तीन श्रुतियों में से दूसरी श्रुति (संगीत)। (२) नीली वृक्ष। (३) मजीठ। (४) हलदी। (५) पँपटी। (६) नागवल्ली। (७) जतुका या पहाड़ी नाम की लता।

रंजनीपुष्प-संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का करंज या कंजा। पूतिकरंज।

रंजनीय-वि० [सं०] (१) जो रँगने के योग्य हो। (२) जो चित्त प्रसन्न कर सके। आनंद दे सकनेवाला।

रंजा-संज्ञा स्त्री० [देश०] एक प्रकार की मछली जिसे उलबी भी कहते हैं।

रंजित-वि० [सं०] (१) जिस पर रंग चढ़ा या लगा हो। रँगा हुआ। उ०—रंजित अंजन कंज बिलोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।—तुलसी।
(२) आनंदित। प्रसन्न। (३) प्रेम में पड़ा हुआ। अनुरक्त।

रंजिश-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) रंज होने का भाव। (२) मन-मुटाव। अनबन। (३) वैमनस्य। शत्रुता।

रंजीदगी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) रंजीदा होने का भाव। (२) रंजिश।

रंजीदा-वि० [फ़ा०] (१) जिसे रंज हो। दुःखित। (२) नाराज़। अप्रसन्न। असंतुष्ट।

रंड-वि० [सं०] (१) धूर्त्त। चालाक। (२) विकल। बेचैन।

रंडक-संज्ञा पुं० [सं०] वह पेड़ जिसमें फल न आते हों।

रंडा-वि० [सं०] राँड़। विधवा। बेवा।

रंडापा-संज्ञा पुं० [हिं० रांड़+आपा (प्रत्य०)] विधवा की दशा। वैधव्य। बेवापन।

रंडाश्रमी-संज्ञा पुं० [सं० रंडाश्रमिन्] वह जो ४८ वर्ष की अवस्था के उपरांत रँडुआ हुआ हो। ४८ वर्ष की उम्र के बाद जिसकी स्त्री मरे।

रंडी-संज्ञा स्त्री० [सं० रंडा] नाचने-गाने और धन लेकर संभोग करनेवाली स्त्री। वेश्या। कसबी।
यौ०—रंडीबाज़। रंडीबाज़ी। रंडी-मुंडी।
मुहा०—रंडी रखना=किसी रंडी को संभोग आदि के लिए अपने पास रखना।

रंडीबाज़-संज्ञा पुं० [हिं० रंडी+फ़ा० बाज] वह जो रंडियों से संभोग करता हो। वेश्यागामी।

रंडीबाज़ी-संज्ञा स्त्री० [हिं० रंडी+फ़ा बाजी] रंडी के साथ गमन करना। वेश्यागमन।

रँडुआ, रँडुवा-संज्ञा पुं० [हिं० राँड़+उआ (प्रत्य०)] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो।

रँडोरा‡-संज्ञा पुं० [हिं० राँड़+ओरा (प्रत्य०)] [स्त्री० रँडोरी] वह पुरुष जिसकी स्त्री मर गई हो। रँडुवा।

रंति-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केलि। क्रीड़ा। (२) विराम।

रंता*†-वि० [सं० रत] अनुरक्त। लगा हुआ। उ०—(क) मुनि मानस रंता जगत निरंता आदि न अंत न जाहि।—केशव। (ख) मुनिगण प्रतिपालक रिपुकुल घालक बालक ते रणरंता।—केशव।

रंतिदेव-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पुराणानुसार एक बड़े दानी राजा जिन्होंने बहुत अधिक यज्ञ किए थे। एक बार सब कुछ दे डालने पर इन्हें ४८ दिनों तक पीने को जल भी न मिला। उनचासवें दिन ये कुछ खाने पीने का आयोजन कर रहे थे कि क्रम से एक ब्राह्मण, एक शूद्र और कुत्ते को लिए हुए एक अतिथि आ पहुँचे। सब सामान उन्हीं के आतिथ्य में समाप्त हो गया; केवल जल बच रहा। उसे पीने के लिए ज्यों ही इन्होंने हाथ उठाया कि एक प्यासा चांडाल आ गया और पीने के लिए जल माँगने लगा। राजा ने वह जल भी दे दिया। अंत में भगवान् ने प्रसन्न होकर इन्हें मोक्ष दिया। (२) विष्णु। (३) कुत्ता।

रंतिनदी-संज्ञा स्त्री० [सं०] चंबल नदी।

रंतु-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) सड़क (२) नदी।

रंद-संज्ञा पुं० [सं० रंध्र] (१) बड़ी इमारतों की दीवारों के वे छेद जो रोशनी और हवा आने के लिए रखे जाते हैं। रोशन-दान। (२) किले की दीवारों का वह मोखा जिसमें से बाहर की ओर बंदूक वा तोप चलाई जाती है। मार। उ०—क्या रेनी खंदक रंद बड़ा क्या कोट कंगूरा अनमोला। क्या बुर्ज रहकला तोप किला क्या शीशा दारू और गोला।—नज़ीर।

रंदना-क्रि० स० [हिं० रंदा+ना (प्रत्य०)] रंदे से छीलकर लकड़ी की सतह चिकनी करना। रंदा फेरना या चलाना।

रंदा-संज्ञा पुं० [सं० रदन=काटना, चीरना] बढ़ई का एक औज़ार जिससे वह लकड़ी की सतह छीलकर बराबर और चिकनी करता है। इसमें एक चौपहल लंबी और चिकनी सतहवाली लकड़ी के बीच में एक छोटा लंबा छेद होता है; जिसमें एक तेज़ धारवाला फल जड़ा रहता है। इसे हाथ में लेकर किसी लकड़ी पर बार बार रगड़ने या चलाने से उसके ऊपर से उभरी हुई सतह उतरने लगती है और थोड़ी देर में लकड़ी की सतह चिकनी हो जाती है।

रंधक-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोई बनानेवाला। रसोइया। (२) नष्ट करनेवाला। नाशक।

रंधन-संज्ञा पुं० [सं०] (१) रसोई बनाने की क्रिया। पाक करना। राँधना। (२) नष्ट करना।

रंधित-वि० [सं०] (१) पकाया हुआ। राँधा हुआ। (२) नष्ट।

रंध्र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) छेद। सूराख़।
यौ०—ब्रह्मरंध्र।
(२) योनि। भग। (३) दोष। छिद्र।

रंध्रागत-संज्ञा पुं० [सं०] घोड़ों के गले में होनेवाला एक प्रकार का रोग।

रंबा-संज्ञा पुं० [हिं० रंभा] (१) दे० "रंभा"। (२) जुलाहों का लोहे का एक औज़ार जो लगभग एक गज़ लंबा होता है। यह जमीन में गाड़ दिया जाता है और इसमें तानी की रस्सी बाँधी जाती है।

रंभ-संज्ञा पुं० [सं०] (१) बाँस। (२) एक प्रकार का बाण। (३) पुराणानुसार महिषासुर के पिता का नाम। इसने महादेव से वर पाकर महिषासुर को पुत्र रूप में प्राप्त किया था। यह भी कहा जाता है कि यही दूसरे जन्म में रक्तबीज हुआ था। (४) भारी शब्द। कलकल। हलचल। उ०—माथे रंभ समुद जस होई।—जायसी।

रंभा-संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) केला (२) गौरी। (३) गौ,का रँभाना या चिल्लाना। (४) उत्तर दिशा। (५) वेश्या। (६) पुराणानुसार एक प्रसिद्ध अप्सरा।

संज्ञा पुं० [सं० रंभ] लोहे का वह मोटा भारी डंडा जिसकी सहायता से पेशराज आदि दीवारों में छेद करते या इसी प्रकार के और काम करते हैं।

रंभा तृतीया-संज्ञा स्त्री० [सं०] ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया। पुराणानुसार इस तिथि को व्रत करने का विधान है।

रँभाना-क्रि० अ० [सं० रंभण] गाय का बोलना। गाय का शब्द करना। उ०—बाजत बेगु बिषाण सबै अपने रँग गावत। मुरली धुनि गौ रंभि चलत पग धूरि उड़ावत।—सूर।

क्रि० स० गौ से रंभण कराना। गौ को शब्द करने में प्रवृत्त करना।

रंभापति-संज्ञा पुं० [सं०] इंद्र।

रंभाफल-संज्ञा पुं० [सं०] केला।

रंभित-वि० [सं०] (१) शब्द किया हुआ। बोलाया हुआ। (२) बजाया हुआ।

रंभिनी-संज्ञा स्त्री० [सं०] एक रागिनी जो भैरव राग की पुत्र-बधू मानी जाती है।

रंभी-संज्ञा पुं० [सं० रंभिन्] (१) वह जो हाथ में बेंत या दंड लिये हुए हो। (२) बुड्ढा आदमी। वृद्ध। (३) द्वारपाल। दरबान।

रंभोरु-वि० [सं०] (१) (स्त्री जिसकी) केले के वृक्ष के समान उतार चढ़ाववाली जाँघें हों। (२) सुंदर। खूबसूरत।

रँह-संज्ञा पुं० [सं० रंहस्] वेग। गति। तेजी।

रँहचटा-संज्ञा पुं० [हिं० रहस+चाट] मनोरथ-सिद्धि की लालसा। लालच। चस्का। उ०—(क) ज्यौं ज्यौं आवत निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल। झमकि झमकि टहलैं करै लगी रँहचटे बाल।—बिहारी (ख) कन दैबो सौंप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि। रूप रहँचटे लगि लग्यो माँगन सब जग आनि।—बिहारी।

र-संज्ञा पुं० [सं०] (१) पावक। अग्नि। (२) कामाग्नि। (३) सितार का एक बोल। (४) जलना। झुलसना। (५) आँच। ताप। गरमी।

वि० तीक्ष्ण। प्रखर।

रअय्यत-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) प्रजा। रिआया। (२) काश्तकार।

रइअत-संज्ञा स्त्री० दे० "रअय्यत"।

रइकौ*†-क्रि० वि० [हिं० रची+कौ (प्रत्य०)] ज़रा भी। तनिक भी। कुछ भी उ०—ऐसी अनहोन लाज मानति कह्यो न देव होन कहूँ पाप रइकौ सी होन पाउरी।—देव।

रइनि*†-संज्ञा स्त्री० [सं० रजनी+प्रा० रयणी] रात। रात्रि। निशि। उ०—(क) रइनि रेनु होइ रबिहि गरासा। मानुस पंखि लेहिं फिरि बासा।—जायसी। (ख) जहवाँ जात रइनियाँ तहँवाँ जाहु। जोरि नयन निरलजवा कत मुसुकाहु।—रहिमन।

रई-संज्ञा स्त्री० [सं० रय=हिलाना] दही मथने की लकड़ी। मथानी। खैलर। उ०—बासुकी नेति अरु मंदराचल रई कमठ में आपनी पीठ धार्‌यो।—सूर।

क्रि० प्र०—चलना।—चलाना।—फेरना।

संज्ञा स्त्री० [हिं० रवा] (१) गेहूँ का मोटा आटा। दरदरा आटा। (२) सूजी। (३) चूर्णमात्र। उ०—चूरी करिहैं रई।—हरिश्चंद्र।

वि० स्त्री० [हिं० रयना, रचना=सं० रंजन] (१) डूबी हुई। पगी हुई। (२) अनुरक्त। उ०—(क) कहत परस्पर आपुस में सब कहाँ रहीं हम काहि रई।—सूर। (ख) स्वाँग सूधो साधु को, कुचालि कलि तें अधिक, परलोक फीकी, मति लोक-रंग-रई।—तुलसी। (ग) उरहन दैन चलीं जसुमति को मनमोहन के रूप रई।—सूर। (घ) माधो राधा के रँग राचे राधा माधो रंग रई।—सूर। (३) युक्त। सहित। संयुक्त। उ०—(क) बीस बिसे बलवंत हुते जो हुती दग केशव रूप-रई जू।—केशव। (ख) करिये युत भूषण रूप रई। मिथिलेश सुता इक स्वर्गमई।—केशव। (४) मिली हुई।

रईस-संज्ञा पुं० [अ०] (१) वह जिसके पास रियासत या इलाक़ा हो। तअल्लुकेदार। भूस्वामी। सरदार। (२) प्रतिष्ठित और धनवान् पुरुष। बड़ा आदमी। अमीर। धनी। जैसे,—उसकी दावत में शहर के बड़े बड़े रईस आए थे।

रउताई*†-संज्ञा पुं० [हिं० रावत+आई (प्रत्य०)] मालिक होने का भाव। प्रभुत्व। स्वामित्व। उ०—धनि सो खेल खेल सह पेमा। रउताई अउ कुसल खेमा।—जायसी।

रउरे-†सर्व० [हिं० राव, रावल] मध्यम पुरुष के लिए आदर-सूचक शब्द। आप। जनाब। उ०—विप्र सहित परिवार गोसाईं। करहिं छोह सब रउरिहि नाईं।—तुलसी।

रऐयत-संज्ञा स्त्री० [अ०] प्रजा। रिआया।

रकछा†-संज्ञा पुं० [हिं० रिकवँच] पत्तों की पकौड़ी। पतौड़। उ०—पान कतरि छौंके रकछही डारि मिर्च औ आदि। एक खंड जो खावै पावै सहस सवादि।—जायसी।

रकत*-संज्ञा पुं० [सं० रक्त] लहू। खून। रुधिर।

वि० लाल। सुर्ख।

रकतकंद-संज्ञा पुं० [सं० रक्तकंद] (१) मूँगा। प्रवाल। विद्रुम। (डिं०) (२) राजपलांडु। रक्तालु। रतालू।

रकतांक*-संज्ञा पुं० [सं० रक्ताङ्क] (१) विद्रुम। प्रवाल। मूँगा। (डिं०) (२) कुंकुम। केसर। (३) रक्तचंदन। लाल चंदन।

रक़बा-संज्ञा पुं० [अ०] वह गुणन-फल जो किसी क्षेत्र की लंबाई और चौड़ाई को गुणा करने से प्राप्त हो। क्षेत्रफल।

रकबाहा-संज्ञा पुं० [देश०] घोड़ों का एक भेद। उ०—कर रकबाहे किलबाकी कुही काबिल के, खुरासानी खंजरीट खंजन खलक के।—सूदन।

रकमंजनी-संज्ञा स्त्री० [सं० रुक्म] एक प्रकार का पौधा।

रक़म-संज्ञा स्त्री० [अ०] (१) लिखने की क्रिया या भाव। (२) छाप। मोहर। (३) रुपया या बीघा-बिस्वा आदि लिखने के फारसी के विशिष्ट अंक जो साधारण संख्यासूचक अंकों से भिन्न होते हैं। (४) नियत संख्या का धन। संपत्ति। दौलत। (५) गहना। ज़ेवर। (६) धनवान। मालदार। (७) चलता-पुरजा। चालाक। धूर्त्त। (८) नवयौवना और सुन्दरी स्त्री। (बाज़ारू) (९) लगान की दर। (१०) प्रकार। तरह। भाँति।

रक़मी-संज्ञा पुं० [अ०] वह किसान जिसके साथ कोई ख़ास रिआयत की जाय।

रकाब-संज्ञा स्त्री० [फ़ा०] (१) घोड़ों की काठी का पावदान जिस पर पैर रखकर सवार होते हैं और बैठने में जिससे सहारा लेते हैं। घोड़ों की जीन का पावदान। यह लोहे का एक घेरा होता है, जो जीन में दोनों ओर रस्सी या तस्मे से लटका रहता है।

मुहा०—**रकाब पर पैर रखना**=जाने के लिए उद्यत होना। चलने के लिए बिलकुल तैयार होना। जैसे,—(क) आप तो पहले से ही रकाब पर पैर रखे हुए हैं। (ख) आप जब आते हैं, तब रकाब पर पैर रखे आते हैं।

(२) रकाबी। तश्तरी।

रकाबदार-संज्ञा पुं० [फ़ा०] (१) मुरब्बा, मिठाई आदि बनानेवाला। हलवाई। (२) रकाबियों में खाना चुनने और लगानेवाला। खानसामाँ (३) बादशाहों के साथ खाना लेकर चलनेवाला सेवक। खासाबरदार। (४) रकाब पकड़ कर घोड़े पर सवार करानेवाला नौकर। साईस।

रकावा-संज्ञा पुं० [फ़ा] बड़ी थाली। परात। तश्त।

रकाबी-संज्ञा स्त्री० [फ़ा] एक प्रकार की छिछली छोटी थाली, जिसकी दीवार बहुत कम ऊँची अथवा बाहर की ओर मुड़ी हुई होती है। तश्तरी।

रकार-संज्ञा पुं० [सं०] र वर्ण का बोधक अक्षर। र।

रक़ीक़-वि० [अ०] (१) पानी की तरह पतला। तरल। द्रव। (२) कोमल। मुलायम। नरम।

रक़ीब-संज्ञा पुं० [अ०] वह प्रतियोगी जो किसी प्रेमिका के प्रेम के संबंध में प्रतियोग करता हो। प्रेमिका का दूसरा प्रेमी। सपत्न।

रकेबी†-संज्ञा स्त्री० दे० "रकाबी"।

रक्खना-क्रि० स० दे० "रखना"।

रक्त-संज्ञा पुं० [सं०] (१) वह प्रसिद्ध तरल पदार्थ जो प्रायः लाल रंग का होता और शरीर की नसों आदि में से होकर बहा करता है। लहू। रुधिर। खून।

विशेष—साधारणतः रक्त से ही हमारे शरीर का पोषण और रक्षण होता है। यह हृदय द्वारा परिचालित होता और सदा सारे शरीर में चक्कर लगाया करता है। शरीर के अंगों में पोषक द्रव्य रक्त के द्वारा ही पहुँचता है; और जब रक्त कहीं से चलता है, तब उस स्थान के दूषित या परित्यक्त अंश को भी अपने साथ ले लेता है। इस प्रकार इसमें जो दूषित अंश या विष आ जाता है, वह फुफ्फुस की क्रिया से नष्ट हो जाता है; और फुफ्फुस में आने के उपरांत रक्त फिर शुद्ध हो जाता है। हृदय से जो साफ़ रक्त चलता है, वह लाल होता है। पर फिर जब शरीर के अंगों से वही रक्त फुफ्फुस की ओर चलता है, तब वह काला हो जाता है। रक्त जल से कुछ भारी होता है, स्वाद में कुछ नमकीन होता है। और पारदर्शी नहीं होता। साधारणतः इसका तापमान १००° फहरन हाइट होता है; पर रोगों में यह ताप घट या बढ़ जाता है। इसमें दो भाग होते हैं—एक तो तरल जिसे रक्त वारि कह सकते हैं; और दूसरे रक्त कण जो उक्त रक्त वारि में तैरते रहते हैं। ये कण दो प्रकार के होते हैं—श्वेत और लाल। ये कण वास्तव में सजीव अणुविड हैं। शरीर से बाहर निकलने पर अथवा मृत्यु के उपरांत शरीर के अंदर रहकर भी रक्त बिलकुल जम जाता है। प्रायः सारे शरीर का $\frac{१}{२०}$ वाँ भाग रक्त होता है। पशुओं का रक्त प्रायः चीनी आदि साफ़ करने और खाद तैयार करने के काम में आता है। हमारे यहाँ के वैद्यक

शास्त्र के अनुसार यह शरीर की सात मुख्य धातुओं में से एक है और यह स्निग्ध, गुरु, चलनशील और मधुर रस कहा गया है।

पर्य्या०—रुधिर। लोहित। अस्र। क्षतज। शोणित। रोहित। रंगक। कीलाल। अंगज। स्वज। शोण। लोह। चर्म्मज।

मुहा०—के लिए दे० "खून" के मुहा०।

(२) कुंकुम। केसर। (३) ताँबा। (४) पुराना और पका हुआ आँवला। (५) कमल। (६) सिंदूर। (७) हिंगुल। शिंगरफ। ईंगुर। (८) पतंग की लकड़ी। (९) लाल चंदन। कुचंदन। (१०) लाल रंग। (११) कुसुंभ। (१२) नदी-तट पर होनेवाला एक प्रकार का बेत। हिज्जल। (१३) बंधूक। गुलदुपहरिया। (१४) एक प्रकार की मछली। (१५) एक प्रकार का जहरीला मेंढक। (१६) एक प्रकार का बिच्छू।

वि० [सं०] (१) चाह या प्रेम में लीन। अनुरक्त। (२) रँगा हुआ। (३) लाल। सुर्ख। (४) विहार-मग्न। ऐयाश। (५) साफ़ किया हुआ। शोधित। शुद्ध।

रक्त आमातिसार—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें लहू के दस्त आते हैं।

रक्तकंगु—संज्ञा पुं० [सं०] साल का वृक्ष जिसमे राल निकलती है।

रक्तकंटा—संज्ञा स्त्री० [सं०] विकंकत वृक्ष।

रक्तकंठ—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कोयल (२) भाँटा। भंटा। बैंगन। उ०—रक्तकंठ तांबूल निवारे। पदाभ्यांग बसवाहन द्वारे।—विश्राम।

वि० जिसका कंठ लाल रंग का हो।

रक्तकंद—संज्ञा पुं० [सं०] (१) विद्रुम। मूँगा। (२) प्याज। (३) रतालू।

रक्तकंदल—संज्ञा पुं० [सं०] मूँगा। विद्रुम।

रक्तकंबल—संज्ञा पुं० [सं०] नीलोफ़र। कूँई।

रक्तक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) गुलदुपहरिया का पौधा या फूल। बंधूक। (२) लाल सहिंजन का वृक्ष। (३) लाल अंडी का वृक्ष। लाल रेंड। (४) लाल कपड़ा। (५) लाल रंग का घोड़ा। (६) केसर। कुंकुम।

वि० (१) लाल रंग का। (२) प्रेम करनेवाला। अनुरागी। (३) विनोदी। मसखरा।

रक्तकदंब—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का कदंब का वृक्ष जिसके फूल बहुत लाल रंग के होते हैं।

रक्तकदली—संज्ञा स्त्री० [सं०] चंपा-केला।

रक्तकमल—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का कमल। वैद्यक में यह कटु, तिक्त, मधुर, शीतल, रक्तदोष नाशक, बलकारक और पित्त, कफ तथा वात को शमन करनेवाला माना गया है।

रक्तकरवीर—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का कनेर। यह वैद्यक में कड़ुआ, तीक्ष्ण विशोधन और व्रण, कंडु, कुष्ट तथा विष का नाशक माना गया है।

रक्तकांचन—संज्ञा पुं० [सं०] कचनार का वृक्ष। कचनाल।

पर्य्या०—विदल। चमरिक। कांचनाल। ताम्रपुष्प। कुदार।

रक्तकांता—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल पुनर्नवा। लाल गदहपूरना।

रक्तका—संज्ञा स्त्री० [सं०] पानी आँवला।

रक्तकाश—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रोग जिसमें फेफड़े से मुँह के रास्ते खून निकलता है। यह रोग प्रायः बहुत ज़ोर से गाने, अधिक बंसी बजाने या खाँसी आदि रहने की दशा में तथा ऊँचे पर्वतों पर चढ़ने आदि से हो जाता है।

रक्तकाष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] पतंग की लकड़ी।

रक्तकुमुद—संज्ञा पुं० [सं०] कूँई। नीलोफर।

रक्तकुरुंडक—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कटसरैया।

रक्तकुष्ठ—संज्ञा पुं० [सं०] विसर्प नामक रोग, जिसमें सारे शरीर में बहुत जलन होती है, कभी कभी सारा शरीर लाल रंग का हो जाता है और कुष्ट की भाँति गलने भी लगता है।

रक्तकुसुम—संज्ञा पुं० [सं०] (१) कचनार। (२) आक। मदार। (३) धामिन का पेड़। (४) पारिभद्र या फरहद का पेड़।

रक्तकुसुमा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अनार का पेड़।

रक्तकृमिजा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाख। लाह।

रक्तकेशर—संज्ञा पुं० [सं०] पारिभद्रक वृक्ष। फरहद का पेड़।

रक्तकेशी—वि० [सं० रक्तकेशिन्] जिसके बाल लाल रंग के हों। तामड़े रंग के बालोंवाला।

रक्तकैरव—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कुमुद।

रक्तकोकनद—संज्ञा पुं० [सं०] लाल कमल।

रक्तक्षय—संज्ञा पुं० [सं०] लहू बहना। रक्त-स्राव।

रक्तक्षयशोषि—संज्ञा स्त्री० [सं०] वह यक्ष्मा रोग जो किसी कारणवश शरीर का रक्त कम हो जाने से उत्पन्न हो।

रक्तखदिर—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खैर का वृक्ष जिसके फूल लाल रंग के होते हैं। रक्तसार।

रक्तखांडव, रक्तखाड्व—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का खजूर का वृक्ष।

रक्तगंधक—संज्ञा पुं० [सं०] बोल नामक गंधद्रव्य।

रक्तगंधा—संज्ञा स्त्री० [सं०] अश्वगंधा। असगंध।

रक्तगत ज्वर—संज्ञा पुं० [सं०] वह ज्वर जो रोगी के रक्त में समा गया हो। इसमें रोगी खून थूकता है, अंड बंड बकता है, छटपटाता है और उसे बहुत अधिक दाह तथा तृष्णा होती है।

रक्तगर्भा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेंहदी का पेड़।

रक्तगुल्म—संज्ञा पुं० [सं०] स्त्रियों का एक रोग जिसमें उनके गर्भाशय में रक्त की एक गाँठ बँध जाती है। यह रोग ऋतु काल में अनुचित आहार-विहार करने अथवा समय से पहले

गर्भ गिर जाने से होता है। कभी कभी यह प्रसव के उपरांत भी होता है। इसमें गर्भाशय में बहुत दाह और पीड़ा होती है। जब यह रोग गर्भ न रहने की दशा में होता है, तब कभी कभी इसके कारण गर्भ रहने का भी धोखा होता है।

रक्तगैरिक–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तग्रंथि–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाल लज्जावंती। (२) वह रोग जिसमें शरीर में लहू की गाँठें बँध जायँ।

रक्तग्रीव–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कबूतर। (२) राक्षस।

रक्तघ्न–संज्ञा पुं० [सं०] रोहितक वृक्ष।
वि० जिससे रक्त का नाश हो।

रक्तघ्नी–संज्ञा स्त्री० [सं०] एक प्रकार की दूब। गंडदूर्वा।

रक्तचंचु–संज्ञा पुं० [सं०] शुक। तोता।

रक्तचंदन–संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का चंदन। वि० दे० "चंदन"।
पर्य्या०—तिलपर्ण। पत्रांक। रंजन। कुचंदन। ताम्रवृक्ष। लाल चंदन। देवी चंदन।

रक्तचित्रक–संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का चित्रक या चीता वृक्ष।

रक्तचूर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सेंदुर। सिंदूर। (२) कमीला।

रक्तच्छर्दि–संज्ञा स्त्री० [सं०] खून की कै होना। रक्त-वमन।

रक्तजंतुक–संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

रक्तज–वि० [सं०] (१) जो रक्त से उत्पन्न हो। लहू से उत्पन्न होनेवाला। (२) रक्त के विकार के कारण उत्पन्न होनेवाला (रोग)।

रक्तज कृमि–संज्ञा पुं० [सं०] वह कृमि रोग जो रक्त-विकार के कारण उत्पन्न होता है।

रक्तजपा–संज्ञा पुं० [सं०] अड़हुल। जवा। देवीफूल।

रक्तजिह्व–संज्ञा पुं० [सं०] सिंह। शेर।
वि० जिसकी जीभ लाल रंग की हो।

रक्तजूर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] ज्वार। जोन्हरी।

रक्ततर–संज्ञा पुं० [सं०] स्वर्ण गैरिक। गेरू।

रक्तता–संज्ञा स्त्री० [सं०] लालिमा। लाली। सुर्खी। ललाई।

रक्ततुंड–संज्ञा पुं० [सं०] शुक। तोता।
वि० जिसका मुँह लाल रंग का हो।

रक्ततुंडक–संज्ञा पुं० [सं०] सीसा।

रक्ततृण–संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का लाल रंग का तृण।

रक्ततृणा–संज्ञा स्त्री० [सं०] गोमूत्रिका नामक तृण।

रक्तदंतिका–संज्ञा स्त्री० [सं०] दुर्गा का वह रूप जो उन्होंने शुंभ और निशुंभ को खाने के समय धारण किया था। चंडिका।

रक्तदंती–संज्ञा स्त्री० दे० "रक्तदंतिका"।

रक्तदला–संज्ञा स्त्री० [सं०] नलिका नाम का गंध-द्रव्य।

रक्तदूषण–वि० [सं०] जिससे रक्त दूषित हो। खून खराब करनेवाला।

रक्तदृग–संज्ञा स्त्री० [सं० रक्तदृक्] कोयल। कोकिल।
वि० लाल आँखोंवाला। जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तद्रुम–संज्ञा पुं० [सं०] लाल बीजासन वृक्ष।

रक्तधरा–संज्ञा स्त्री० [सं०] वैद्यक के अनुसार मांस के भीतर की दूसरी कला या झिल्ली जो रक्त को धारण किये रहती है।

रक्तधातु–संज्ञा पुं० [सं०] (१) गेरू। (२) ताँबा।

रक्तनयन–संज्ञा पुं० [सं०] (१) कबूतर। (२) चकोर।

रक्तनाड़ी–संज्ञा स्त्री० [सं०] दाँतों की जड़ में होनेवाला एक प्रकार का रोग।

रक्तनाल–संज्ञा पुं० [सं०] जीवशाक। सुषना।

रक्तनासिक–संज्ञा पुं० [सं०] उल्लू।

रक्तनिर्यास–संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग का बीजासन वृक्ष।

रक्तनील–संज्ञा पुं० [सं०] सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का बहुत जहरीला बिच्छू।

रक्तनेत्र–संज्ञा पुं० [सं०] (१) सारस पक्षी। (२) कबूतर। (३) चकोर।
वि० जिसकी आँखें लाल हों।

रक्तप–संज्ञा पुं० [सं०] राक्षस।
वि० रक्त पीनेवाला।

रक्तपक्ष–संज्ञा पुं० [सं०] गरुड़।

रक्तपट–संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग के कपड़े पहननेवाला, श्रमण।

रक्तपत्र–संज्ञा पुं० [सं०] पिंडालू।

रक्तपत्रा–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल गदहपूरना। (२) नाकुली।

रक्तपदी–संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू। लज्जावंती।

रक्तपर्ण–संज्ञा पुं० [सं०] लाल गदहपूरना।

रक्तपल्लव–संज्ञा पुं० [सं०] अशोक का वृक्ष।

रक्तपा–संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जोंक। (२) डाकिनी।

रक्तपाका–संज्ञा स्त्री० [सं०] बृहती नाम की लता।

रक्तपात–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लहू का गिरना या बहना। रक्तस्राव। (२) ऐसा लड़ाई-झगड़ा जिसमें लोग जख्मी हों। खून-खराबी। (३) ऐसा प्रहार जिससे किसी का रक्त बहे।

रक्तपाता–संज्ञा पुं० [सं०] जोंक।

रक्तपाद–संज्ञा पुं० [सं०] (१) बरगद। (२) तोता।

रक्तपायी–वि० [सं० रक्तपायिन्] [स्त्री० रक्तपायिनी] रक्त पान करनेवाला। खून पीनेवाला।
संज्ञा पुं० मत्कुण। खटमल।

रक्तपारद–संज्ञा पुं० [सं०] हिंगुल। शिंगरफ। ईंगुर।

रक्तपाषाण–संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल पत्थर। (२) गेरू।

रक्तपिंड–संज्ञा पुं० [सं०] जवा का फूल।

रक्तपिंडक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रतालू। (२) जवा। अड़हुल।

रक्तपिंडालु—संज्ञा पुं० [सं०] रतालू।

रक्तपित्त—संज्ञा पुं० [सं०] (१) एक प्रकार का रोग जिसमें मुँह, नाक, गुदा, योनि आदि इंद्रियों से रक्त गिरता है। यह रोग धूप में अधिक रहने, बहुत व्यायाम करने, तीक्ष्ण पदार्थ खाने और बहुत अधिक मैथुन करने के कारण होता है। स्त्रियों को रजोधर्म ठीक न होने के कारण भी हो जाता है। यह रोग पित्त के कुपित होने से होता है। (२) नाक से लहू बहना। नकसीर।

रक्तपित्तहा—संज्ञा स्त्री० [सं०] रतघ्नी नाम की दूब।

रक्तपित्ती—संज्ञा पुं० [सं० रक्तपित्तिन्] जिसे रक्त पित्त रोग हो।

रक्तपुच्छक—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार का रेंगनेवाला कीड़ा।

रक्तपुनर्नवा—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग की पुनर्नवा या गदह-पूर्ना। वैद्यक में इसे तिक्त, सारक और रक्त-प्रदर, पाण्डु तथा पित्त आदि का नाशक माना है।

पर्य्या०—क्रूरा। मंडलपत्रिका। रक्तकांता। वर्षकेतु। लोहिता। रक्तपत्रिका। वैशाखी। पुष्पिका। विषघ्नी। सारिणी। वर्षाभव। भौम। पुनर्भव। नव। नव्य।

रक्तपुष्प—संज्ञा पुं० [सं०] (१) करवीर। कनेर। (२) अनार का पेड़। (३) बंधूक का पेड़। गुलदुपहरिया। (४) पुन्नाग।

रक्तपुष्पक—संज्ञा पुं० [सं०] (१) पलास का पेड़। (२) सेमल का पेड़। शाल्मलि।

रक्तपुष्पा—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) शाल्मली वृक्ष। सेमल। (२) पुनर्नवा। (३) सिंदूरी। (४) चंपा केला। (५) नागदौन।

रक्तपुष्पिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) लाल पुनर्नवा। (२) लजालू। लाजवंती।

रक्तपुष्पी—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) जवा। अड़हुल। (२) नागदौन। (३) धौ। (४) आवर्तकी नाम की लता। (५) पाँडर।

रक्तपूतिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल रंग की पूतिका। लाल पोई। वैद्यक में यह स्निग्ध और मूत्रवर्धक मानी गई है। बच्चों के कई रोगों में और सूजाक में इसका साग गुणकारी माना गया है। शास्त्र में इसका साग खाने का निषेध है।

रक्तपूय—संज्ञा पुं० [सं०] पुराणानुसार एक नरक का नाम।

रक्तपूरक—संज्ञा पुं० [सं०] इमली।

रक्तप्रतिश्याय—संज्ञा पुं० [सं०] प्रतिश्याय या जुकाम का एक भेद जिसमें नाक से खून जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं, छाती में पीड़ा होती है और मुँह तथा साँस से बहुत दुर्गंध आती है। बिगड़ा हुआ जुकाम।

रक्तप्रदर—संज्ञा पुं० [सं०] प्रदर रोग का वह भेद जिसमें स्त्रियों की योनि से रक्त बहता है। वि० दे० "प्रदर"।

रक्तप्रमेह—संज्ञा पुं० [सं०] पुरुषों का एक रोग जिसमें दुर्गंधि युक्त गरम, खारा और खून के रंग का पेशाब होता है।

रक्तप्रवृत्ति—संज्ञा पुं० [सं०] वह रोग जो पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हो।

रक्तप्रसव—संज्ञा पुं० [सं०] (१) लाल कनेर। (२) मुचकुंद वृक्ष।

रक्तफल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) शाल्मलि। सेमल। (२) वट का वृक्ष। बड़ का पेड़।

रक्तफला—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) कुँदरू। तुंडी। बिंबी। (२) स्वर्णवल्ली।

रक्तफूल—संज्ञा पुं० [सं० रक्त+हिं० फूल] (१) जवा पुष्प। अड़-हुल का फूल। (२) पलाश का वृक्ष।

रक्तफेनज—संज्ञा पुं० [सं०] फुप्फुस। फेफड़ा।

रक्तभव—संज्ञा पुं० [सं०] मांस। गोश्त।

रक्तमंजर—संज्ञा पुं० [सं०] (१) बेंत की लता। (२) नीम का पेड़।

रक्तमंजरी—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल कनेर।

रक्तमंडल—संज्ञा पुं० [सं०] (१) सुश्रुत के अनुसार एक प्रकार का साँप। (२) लाल कमल। (३) एक प्रकार का जहरीला पशु।

रक्तमंडलिका—संज्ञा स्त्री० [सं०] लाल लज्जावंती या लजालू।

रक्तमत्त—संज्ञा पुं० [सं०] वह जो रक्त पीकर तृप्त हो। जैसे, जोंक आदि।

रक्तमत्स्य—संज्ञा पुं० [सं०] एक प्रकार की लाल रंग की मछली जो बहुत बड़ी नहीं होती। वैद्यक में इसका मांस शीतल, रुचिकारक, पुष्टिकारक, अग्निदीपक और त्रिदोषनाशक माना गया है।

रक्तमस्तक—संज्ञा पुं० [सं०] लाल रंग के सिरवाला सारस पक्षी।

रक्तमातृका—संज्ञा स्त्री० [सं०] (१) वैद्यक के अनुसार वह रस नामक धातु जिसकी उत्पत्ति पेट में पचे हुए भोजन से होती है और जिससे रक्त बनता है। (२) तंत्र के अनुसार एक प्रकार का रोग।

रक्तमुख—संज्ञा पुं० [सं०] (१) रोहू मछली। (२) षष्टिक धान्य।

रक्तमूर्द्धा—संज्ञा पुं० [सं० रक्तमूर्द्धन्] सारस।

रक्तमूलक—संज्ञा पुं० [सं०] देवसर्षप नाम की सरसों का पेड़।

रक्तमूला—संज्ञा स्त्री० [सं०] लजालू।

रक्तमेह—संज्ञा पुं० दे० "रक्तप्रमेह"।

रक्तमोक्षण—संज्ञा पुं० [सं०] वैद्यक के अनुसार, शरीर का खून खराब हो जाने पर उसे बाहर निकालने की क्रिया। फ़स्द।

रक्तमोचन—संज्ञा पुं० [सं०] शरीर का खून निकालना। शीर। फस्द।

रक्तयष्टि—संज्ञा स्त्री० [सं०] मजीठ।

रक्तरंगा—संज्ञा स्त्री० [सं०] मेहँदी।

रक्तरज—संज्ञा पुं० [सं० रक्तरजस्] सिंदूर।

रक्तरस—संज्ञा पुं० [सं०] बिजैसार। रक्तासन।

रक्तरसा—संज्ञा स्त्री० [सं०] रास्ना।

मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचन्द्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४, ५, ६) आदर्श हिंदू, तीन भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दुबे।
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०।
(११) लालचीन—लेखक ब्रजनंदनसहाय।
(१२) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए०।
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमारदेव शर्म्मा।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०।
(१८) नेपोलियन बोनापार्ट-लेखक राधामोहन गोकुलजी।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।
(२०, २१) हिंदुस्तान दो खंड—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी० ए०।
(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद।
(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०।
(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०।
(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्म्मा बी० ए०।
(२६, २७) जर्मनी का विकास, दो भाग—लेखक सूर्यकुमार वर्म्मा।
(२८) कृषिकौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसादसिंह एल० ए-जी०।
(२९) कर्त्तव्यशास्त्र—लेखक गुलाबराय एम० ए०।
(३०, ३१) मुसलमानी राज्य का इतिहास, दो भाग—लेखक मन्नन द्विवेदी, बी० ए०।
(३२) महाराज रणजीतसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(३३, ३४) विश्वप्रपंच, दो भाग—लेखक रामचन्द्र शुक्ल।
(३५) अहिल्याबाई—लेखक गोविंदराम केशवराम जोशी।
(३६) रामचंद्रिका—संकलनकर्त्ता लाला भगवानदीन।
(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी।
(३८, ३९) हिंदी निबंधमाला, दो भाग—संग्रहकर्त्ता श्यामसुन्दरदास बी० ए०।
(४०) सूरसुधा—संपादक गणेशविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र।
(४१) कर्त्तव्य—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(४२) संक्षिप्त रामस्वयंवर—संपादक ब्रजरत्नदास।
(४३) शिशु-पालन—लेखक मुकुन्दस्वरुप वर्म्मा।

माला की प्रत्येक पुस्तक या उसके किसी भाग का मूल्य १) है; पर स्थायी ग्राहकों को सब पुस्तकें तीन चौथाई मूल्य पर दी जाती हैं।

एक कार्ड भेजकर उत्तमोत्तम पुस्तकों का बड़ा और नया सूचीपत्र मँगवाइए।

मिलने का पता—

मैनेजर, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

मुद्रा-शास्त्र

हिंदी में मुद्रा-शास्त्र संबंधी यह पहला और अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें बतलाया गया है कि मुद्रा का स्वरूप क्या है, उसका विकास किस प्रकार हुआ है, उसके प्रचार के क्या सिद्धांत हैं, उत्तम मुद्रा के क्या कार्य्य हैं, मुद्रा के लक्षण और गुण क्या हैं, राशि-सिद्धांत क्या हैं, मूल्य संबंधी सिद्धांत क्या है, मूल्य-सूची किसे कहते हैं, द्विधातवीय मुद्रा-विधि का स्वरूप क्या है, पत्र-मुद्रा के क्या क्या सिद्धांत हैं, आदि। पृष्ठ-संख्या ३२५ के लगभग, मूल्य २॥)

अकबरी दरबार (पहला भाग)

उर्दू, फ़ारसी आदि के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय शम्सुल उल्मा मौलाना मुहम्मद हुसेन साहब आज़ाद कृत दरबारे अकबरी नामक ग्रंथ का अनुवाद। इसमें बादशाह अकबर की पूरी जीवनी दी गई है और बतलाया गया है कि उसने कैसे कैसे युद्ध किए, अपने राज्य की किस प्रकार व्यवस्था की, उसके समय में देश की राजनीतिक, सामाजिक और साम्पत्तिक अवस्था कैसी थी, आदि आदि। पृष्ठ-संख्या चार सौ से ऊपर, मूल्य २॥)

अशोक की धर्म-लिपियाँ (पहला भाग)

इस पुस्तक में सम्राट् अशोक के प्रधान शिलालेखों की प्रतिलिपि, संस्कृत तथा हिंदी अनुवाद और स्थान स्थान पर अनेक बहुमूल्य टिप्पणियाँ दी गई हैं। अशोक की धर्मलिपियों का ऐसा अच्छा दूसरा संस्करण अभी कहीं नहीं निकला। प्रत्येक इतिहास-प्रेमी और विद्यानुरागी को इसकी एक प्रति अवश्य रखनी चाहिए। मूल्य ३)

बाँकीदास ग्रंथावली (पहला भाग)

डिंगल भाषा के महाकवि कविराज बाँकीदास कृत सूर छतीसी, सीह छतीसी, वीर-विनोद, धवल पचीसी, दातार बावनी, नीति मंजरी और सुपह छतीसी ये सात ग्रंथ अभी तक मिले हैं, जो इस पहले खंड में एक साथ ही छाप दिए गये हैं। आरंभ में बाँकीदास जी की जीवनी दे दी गई है और प्रत्येक पृष्ठ में कठिन शब्दों के अर्थ तथा उनके उपयोगी विवरण आदि पादटिप्पणियों में देकर पुस्तक सर्वसाधारण के लिए बहुत ही सुगम कर दी गई है। १०० पृष्ठों से ऊपर की जिल्द बँधी पुस्तक का मूल्य केवल ॥)

प्रेमसागर

सन् १८१० ई० की छपी प्रति के आधार पर प्रस्तुत, जिसे ग्रंथकर्त्ता ने अपने संस्कृत प्रेस, कलकत्ते में छपाया था। सन् १८४२ की छपी एक दूसरी प्रति से भी इसके संपादन में सहायता ली गई है। लल्लूलाल जी का जीवन-चरित्र और हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास भी दिया गया है। कृष्णकथा होने के सिवा साहित्य और भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या साढ़े चार सौ के लगभग; मजबूत जिल्द सहित; मूल्य केवल २)

जायसी ग्रंथावली

सभा ने जायसी कृत पद्मावत और अखरावट का बहुत सुन्दर और शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है और प्रतिपृष्ठ में कठिन शब्दों के अर्थ तथा दूसरे आवश्यक विवरण दे दिये हैं, जिससे यह काव्य साधारण विद्यार्थियों तक के समझने योग्य हो गया है। पुस्तक का पाठ बहुत परिश्रम से शुद्ध किया गया है। आरंभ में इसके सम्पादक और सिद्धहस्त समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रायः ढाई सौ पृष्ठों की इसकी मार्मिक आलोचना कर दी है, जिसके कारण सोने में सुगंध भी आ गई है। बड़े आकार के प्रायः ७०० पृष्ठों की जिल्द बँधी पुस्तक का मूल्य केवल ३)

मिलने का पता—

मैनेजर, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग